श्रीअरविंद

वेद-रहस्य

(पूर्वार्द्ध)

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

वेद-रहस्य

(पूर्वार्द्ध)

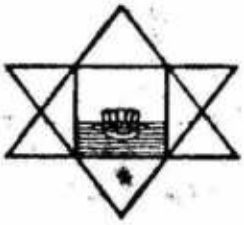

श्रीअरविंद

वेद-रहस्य

(पूर्वार्द्ध)

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

अनुवादक

स्व० आचार्य अभयदेव विद्यालंकार

जगन्नाथ वेदालंकार

प्रथम संस्करण : 1971

पुनर्मुद्रित : 1986

© स्वत्वाधिकार : श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-605002

प्रकाशक : श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी-605002

मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-605002

अध्याय-सूची

पहला अध्याय

प्राक्कथन ... 1–32

प्रश्न और उसका हल ... 33–41

दूसरा अध्याय

वैदिकवादका सिंहावलोकन (1) ... 42–50

वैदिकवादका सिंहावलोकन (2) ... 51–58

वैदिक विद्वान्

तीसरा अध्याय

आधुनिक मत ... 59–70

चौथा अध्याय

आध्यात्मिकवादके आधार ... 71–86

पांचवां अध्याय

वेदकी भाषावैज्ञानिक पद्धति ... 87–97

छठा अध्याय

अग्नि और सत्य ... 98–110

सातवां अध्याय

वरुण, मित्र और सत्य ... 111–121

आठवां अध्याय

अश्विन्, इन्द्र, विश्वेदेवाः ... 122–134

नवां अध्याय

सरस्वती और उसके सहचारी ... 135–144

दसवां अध्याय

समुद्रों और नदियोंका रूपक ... 145–154

ग्यारहवां अध्याय
सात नदियां ... 155–169

बारहवां अध्याय
उषाकी गौएँ ... 170–179

तेरहवां अध्याय
उषा और सत्य ... 180–187

चौदहवां अध्याय
आंगिरस उपाख्यान और गौओंका रूपक ... 188–201

पन्द्रहवां अध्याय
खोया हुआ सूर्य और खोई हुई गौएं ... 202–213

सोलहवां अध्याय
अंगिरस् ऋषि ... 214–230

सत्रहवां अध्याय
सात सिरोंवाला विचार, स्वः और दशग्वा ऋषि ... 231–246

अठारहवां अध्याय
मानव पितर ... 247–261

उन्नीसवां अध्याय
पितरोंकी विजय ... 262–277

बीसवां अध्याय
देवशुनी सरमा ... 278–293

इक्कीसवां अध्याय
अंधकारके पुत्र ... 294–305

बाईसवां अध्याय
दस्युओंपर विजय ... 306–319

तेईसवां अध्याय
परिणामोंका सार ... 320–326

खंड २

पहला अध्याय
इन्द्र और अगस्त्यका संवाद ... 329–333

दूसरा अध्याय
इन्द्र, दिव्य प्रकाशका प्रदाता ... 334–344

तीसरा अध्याय
इन्द्र और विचार-शक्तियां ... 345–355

चौथा अध्याय
अग्नि, प्रकाशपूर्ण संकल्प ... 356–369

पांचवां अध्याय
सूर्य सविता—रचयिता और पोषक ... 367–376

छठा अध्याय
दिव्य उषा ... 377–383

सातवां अध्याय
भग सविता, आनंदोपभोक्ता ... 384–391

आठवां अध्याय
वायु, प्राणशक्तियोंका अधिपति ... 392–401

नवां अध्याय
बृहस्पति, आत्माकी शक्ति ... 402–413

दसवां अध्याय
अश्वी देव—आनंदके अधिपति ... 414–424

ग्यारहवां अध्याय
ऋभु—अमरताके शिल्पी ... 425–431

बारहवां अध्याय
विष्णु—विश्वव्यापी देव ... 432–440

तेरहवां अध्याय
सोम—आनंद व अमरताका अधिपति ... 441–451

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावलि ... 453–469

प्राक्कथन[1]

वेदके विषयमें परंपरा

वेद प्राचीन कालमें ज्ञानकी एक पवित्र पुस्तकके रूपमें आदृत था, यह अंत:स्फुरित कविताका एक विशाल संग्रह माना जाता था, उन ऋषियोंकी—द्रष्टाओं तथा संतोंकी—कृति माना जाता था जिन्होंने अपने मन द्वारा कुछ घड़कर बनानेकी जगह एक महान्, व्यापक, शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्यको अपने आलोकित मुनीके अंदर ग्रहण किया और उसे 'मंत्र'में मूर्त्त किया, जिन्होंने ऐसे शक्तियुक्त मन्त्रोंको प्रकट किया जो किसी साधारण नहीं किन्तु दिव्य स्फुरण तथा दिव्य स्रोतसे आये थे। इन ऋषियोंको जो नाम दिया गया था वह था 'कवि', जिसका अर्थ यद्यपि पीछेसे कोई भी कविता करनेवाला हो गया, पर उस समयमें इसका अर्थ था 'सत्यका द्रष्टा'। स्वयं वेद इन्हें कहता है 'कवय: सत्यश्रुत:'[2] अर्थात् 'वे द्रष्टा जो दिव्य सत्यको श्रवण करनेवाले थे', और स्वयं वेदको ही 'श्रुति' नामसे पुकारा गया था जिसका अर्थ 'साक्षात्कृत (अन्त:श्रुत) धर्म-पुस्तक' हो गया। उपनिषदोंके ऋषियोंका भी वेदके विषयमे यही उच्च विचार था और वे अपने-आप जिन सत्योंको प्रतिपादित करती हैं उनकी प्रामाणिकताके लिये बार-बार वेदकी ही साक्षी प्रस्तुत करती हैं और पीछे जाकर ये उपनिषदें भी 'श्रुति'के रूपमें—'इलहामकी धर्म-पुस्तक'के रूपमें आदृत होने लगीं और पवित्र शास्त्रोंमें सम्मिलित कर ली गयीं।

वेदविषयक यह परम्परा ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी बराबर बनी रही है और याज्ञिक (कर्मकाण्डी) टीकाकारोंके द्वारा प्रत्येक बातकी व्याख्या गाथात्मक तथा यज्ञक्रिया-परक कर दिये जानेपर भी तथा पण्डितोंद्वारा ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डका विभेदक विभाजन (जिसमें मन्त्रमात्रको कर्मकाण्ड तथा उपनिषदोंको ज्ञानकाण्डमें ले लिया गया) कर दिये जानेपर भी, इस परम्पराने अपने-आपको कायम ही रखा। कर्मकाण्ड-विभागके अन्दर

---

[1] श्रीअरविन्दके ग्रन्थ 'Hymns to the Mystic Fire' (अग्नि-स्तुवि) की भूमिका उनद्वारा रचित वैदिक साहित्यमें प्रवेशके लिए अत्यन्त सहायक होनेसे यहां ज्योंकी-त्यों दी जा रही है। —अनुवादक

[2] जैसे ऋग्वेद 5-57-8, 6-49-6

ज्ञान-विभागके इस प्रकार डुबा दिये जानेकी कठोर शब्दोंमें भर्त्सना एक उपनिषद्में तथा गीतामें भी की गयी है, किन्तु ये दोनों (उपनिषद् और गीता) वेदको ज्ञानकी पवित्र पुस्तकके रूपमें ही देखती हैं। यही नहीं किन्तु श्रुतिको (जिसमें वेदके साथ उपनिषदें भी समाविष्ट हैं) आध्यात्मिक ज्ञानके लिये परम प्रमाण तथा अभ्रान्त माना गया है।

तो क्या वेदविषयक यह परंपरा केवल गप्प और हवाई कल्पना है, या बिल्कुल निराधार बल्कि मूर्खतापूर्ण बात है? अथवा क्या यह तथ्य है कि वेदके पीछेके कुछ मन्त्रोंमें उच्च विचारोंका जो एक केवल क्षुद्र-सा भाग है, उसीके कारण यह परंपरा चली? क्या उपनिषदोंके कर्ताओंने वैदिक ऋचाओंपर वह अर्थ मढ़ दिया है जो वहाँ असलमें कहीं नहीं है, क्या उन्होंने अपनी कल्पनाके द्वारा तथा मनमौजी व्याख्याके द्वारा उनमेंसे वह अर्थ निकाल लिया है? आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् आग्रह करते हैं कि यह ऐसी ही बात है और आधुनिक भारतीय मनको भी उन्होंने प्रभावित कर लिया है। इस दृष्टिकोणके पक्षमें यह तथ्य भी है कि वेदके ऋषि न केवल द्रष्टा थे, किन्तु वे गायक तथा यज्ञके पुरोहित भी थे, कि उनके गीत सार्वजनिक यज्ञोंमें गाये जानेके लिये लिखे गये थे और वे निरन्तर ही प्रचलित क्रिया-कलापकी ओर निर्देश करते हैं और इन यज्ञ-विधियोंके बाह्य उद्देश्यों—उद्दिष्ट पदार्थों—जैसे धन, समृद्धि, शत्रुपर विजय आदिकी ही प्रार्थना करते प्रतीत होते हैं। वेदका महान् टीकाकार सायण हमारे सामने सदा ऋचाओंका कर्मकाण्ड-सम्बंधी अर्थ ही प्रस्तुत करता है। जहाँ आवश्यक हो जाय वहीं और वह भी परीक्षणात्मक विचारके तौरपर वह एक गाथात्मक या ऐतिहासिक अर्थ भी उपस्थित करता है, पर कभी विरले ही अपनी टीकामें कोई उच्चतर अर्थ प्रदर्शित करता है, यद्यपि कभी-कभी वह किसी उच्चतर अभिप्रायकी झलक आ जाने देता है, या इस (उच्चतर अभिप्राय) को केवल एक विकल्पके रूपमें, मानों किसी याज्ञिक गाथात्मक व्याख्याके हो सकनेकी संभावनासे निराश होकर, विवश-सा होकर, प्रकट करता है। पर फिर भी वह वेदकी आध्यात्मिक रूपसे परम प्रामाणिकता मानता है, इससे विमुख नहीं होता और नाहीं वह इस बातसे इन्कार करता है कि ऋचाओंमें एक उच्चतर सत्य निहित है। यह अन्तिम कार्य (वेदकी आध्यात्मिक प्रामाणिकतासे इन्कार आदि) हमारे युगके लिये छोड़ दिया गया था और यह पाश्चात्य विद्वानोंने किया तथा अपने मन्तव्य का प्रचार भी किया।

पश्चिमी विद्वानोंका मत

योरुपीय विद्वानोंने कर्मकाण्डीय परम्पराको तो सायणसे ले लिया, परन्तु अन्य बातोंके लिये इसको (सायणको) नीचे धकेल दिया। और वे अपने ढंगसे शब्दोंकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्याको लेकर चलते गये, या अपने ही अनुमानात्मक अर्थोंके साथ वैदिक मन्त्रोंकी व्याख्या करते गये और उन्हें एक नया ही रूप प्रदान कर दिया, जो प्रायशः उच्छृंखल तथा कल्पनाप्रसूत था। वेदमें उन्होंने जो कुछ खोजा वह था भारतका प्रारम्भिक इतिहास, इसका समाज, संस्थाएँ, रीति-रिवाज तथा उस समयकी सभ्यताका चित्र। उन्होंने भाषाओंके विभेदपर आधारित एक मत, एक परिकल्पनाको घड़ा कि उत्तरके आर्योंके द्वारा द्राविड़ भारतपर आक्रमण किया गया था, जिसकी स्वयं भारतीयोंमें कोई स्मृति या परम्परा नहीं मिलती और जिसका भारतके किसी महाकाव्य या प्रमाणभूत साहित्यमें कहीं कुछ उल्लेखतक नहीं पाया जाता। उनके हिसाबसे वैदिक धर्म इसके सिवाय और कुछ नहीं कि यह प्रकृतिके देवताओंकी पूजा है जो सौर गाथाओंसे भरी हुई तथा यज्ञोंसे पवित्रकी गयी है, साथ ही यह एक याज्ञिक प्रार्थनाविधि है जो अपने विचारों तथा क्रियाओंमें पर्याप्त आरंभकालिक है और ये जंगली प्रार्थनाएँ ही बहु-प्रशंसित, इतना महिमायुक्त बनाया हुआ तथा दिव्यत्वापादित वेद हैं।

देवताओंका रूपपरिवर्तन और वेद

इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि आरंभमें भौतिक जगत्की शक्तियोंकी पूजा होती थी जैसे **सूर्य**, **चन्द्रमा**, **द्यौ** और **पृथ्वी**, **वायु**, **वर्षा** और **आंधी** आदिकी, पवित्र नदियोंकी तथा अनेक **देवों**की जो **प्रकृति**की क्रियाओंका अधिष्ठातृत्व करते हैं। ग्रीसमें, रोममें, भारतमें तथा अन्य पुरातन जातियोंमें प्राचीन पूजाका सामान्य स्वरूप यही था। परन्तु इन सभी देशोंमें इन देवताओंने एक उच्चतर आन्तरिक या आध्यात्मिक व्यापार ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था। पलास एथिनी (Pallas Athene) जो आरंभमें जीस (Zeus) के सिरसे, आकाश-देवतासे, वेदके '**द्यौ**'से ज्वालामय रूपमें उद्भूत होनेवाला **उषा**-देवता रहा होगा, प्राचीन अभिजात ग्रीसमें एक उच्चतर व्यापारको करनेवाला देवता हो गया और रोमन् लोगों द्वारा अपने मिनर्वा (Minerva) के, विद्या और ज्ञानके देवताके साथ एक कर दिया गया था। इसी तरह सरस्वती, एक नदी-देवता, भारतमें ज्ञान, विद्या, कला और कौशलकी देवी हो जाती है। सभी ग्रीक देवता इस दिशामें परिवर्त्तनको प्राप्त हुए हैं—अपोलो (Apollo), सूर्य देवता, कविता तथा

भविष्यवाणीका देवता हो गया है, हिफास्टस (Hiphaestus), अग्नि-देवता, दिव्य कारीगर, श्रमका देवता हो गया है। पर भारतमें यह प्रक्रिया अधबीचमें रुक गयी और यहाँ वैदिक देवोंने अपने आन्तरिक या आध्यात्मिक व्यापारोंको तो विकसित किया, किन्तु अपने बाह्यस्वरूपको भी अधिक स्थिरताके साथ कायम रखा और उच्चतर प्रयोजनोंके लिये एक नयी ही देवमालाको जन्म प्रदान किया। उन्हें उन पौराणिक देवताओंको प्राथमिकता देनी थी जिन्होंने अपने पहले साथियोंमेंसे विकसित होनेपर भी अधिक विस्तृत विश्व-व्यापारोंको धारण कर लिया था, अर्थात् विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा (जो वैदिक बृहस्पति या ब्रह्मणस्पतिसे विकसित हुआ), शिव, लक्ष्मी और दुर्गा। इस प्रकार भारतमें देवताओंमें परिवर्त्तन कम पूर्ण रहा। पहलेके देवता पौराणिक देवमालाके क्षुद्र देवता बन गये और इसका प्रमुख कारण था ऋग्वेदका बचे रहना, क्योंकि वेदमें देवताओंके आध्यात्मिक व्यापार तथा बाह्य व्यापार दोनों एक साथ विद्यमान थे और दोनों पर ही पूरा बल दिया गया था। ग्रीस और रोमके देवताओंके प्रारंभिक स्वरूपोंको सुरक्षित रखनेवाला इस तरहका (वेद जैसा) कोई साहित्यिक लेखा था ही नहीं।

रहस्यवादी

देवताओंमें इस परिवर्त्तनका कारण प्रत्यक्ष ही इन सब आदिकालीन जातियोंका सांस्कृतिक विकास था, क्योंकि ये जातियाँ क्रमशः अधिकाधिक मानसिकतापन्न और भौतिक जीवनमें उत्तरोत्तर कम रत रहनेवाली होती गयीं। ज्यों-ज्यों इन्होंने सभ्यतामें प्रगति की और अपने धर्ममें तथा अपने देवताओंमें ऐसे सूक्ष्मतर एवं परिष्कृततर पहलुओंको देखनेकी आवश्यकता अनुभव की, जो उनके अधिक उच्चतया मानसिकताप्राप्त विचारों तथा रुचियोंको आश्रय दे सकें और उनके लिये एक सच्ची आध्यात्मिक सत्ताको या किसी दैवी मूर्त्तिको, उनके अवलम्बन और प्रमाणके रूपमें, उपलब्ध कर सकें, त्यों-त्यों ये अधिकाधिक मानसिकतापन्न होती गयीं। परन्तु इस अन्तर्मुखी प्रवृत्तिको निर्धारित करनेमें और इसे ग्रहण करनेमें सबसे अधिक भाग लेनेका श्रेय रहस्यवादियोंको दिया जाना चाहिये, जिनका इन आदि सभ्यताओंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। निःसंदेह प्रायः सब जगह ही रहस्यमयताका एक युग रहा है जिसमें गंभीरतर ज्ञान और गूढ़-ज्ञान रखनेवाले लोगोंने अपने अभ्यास-साधन, अर्थपूर्ण विधिविधान तथा प्रतीकोंको स्थापित किया था, एवं अपने अपेक्षाकृत आदिकालीन बाह्य धर्मोंके अन्दर या उनके एक सिरेपर गुह्यविद्याको रखा था। इस (रहस्यवाद)

ने भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न रूप धारण किया। ग्रीसमें ऑर्फिक तथा एलुसीनियन रहस्य थे, मिश्र और खाल्दियामें पुरोहित तथा उनकी गुह्यविद्या और जादू थे, ईरानमें मागी तथा भारतमें ऋषि थे। ये रहस्यवादी आत्मज्ञान तथा गंभीरतर विश्वज्ञान पानेमें निमग्न रहे, इन्होंने खोज निकाला कि मनुष्योंमें एक गंभीरतर आत्मा और आन्तरतर सत्ता है जो बाह्य भौतिक मनुष्यके उपरितलके पीछे छिपी है और उसे ही खोजना और जानना उसका सर्वोच्च कार्य है। 'तू अपने-आपको जान' यह उनकी महान् शिक्षा थी, जैसे कि भारतमें स्वको, आत्माको जानना महान् आध्यात्मिक आवश्यकता, मनुष्यके लिये सर्वोच्च वस्तु हो गयी थी। उन्होंने विश्वके बाहरी रूपोंके पीछे एक सत्यको, एक सद्वस्तुको भी जाना था और इस सत्यको पा लेना, इसका अनुसरण करना तथा इसे सिद्ध करना उनकी महती अभीप्साका विषय था। उन्होंने प्रकृतिके रहस्यों तथा शक्तियोंको खोज निकाला था जो भौतिक जगत्के रहस्य और शक्तियां नहीं थीं परन्तु जिनके द्वारा भौतिक जगत् तथा भौतिक वस्तुओंपर गुप्त प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता था और इस गुह्य विद्या तथा शक्तिको व्यवस्थित रूप देना भी इन रहस्यवादियोंका एक प्रबल कार्य था, जिसमें वे व्यस्त रहते थे। परन्तु यह सब केवल एक कठोर और प्रमादरहित प्रशिक्षणद्वारा, नियंत्रण और प्रकृति-शोधनद्वारा ही सुरक्षित रूपसे किया जा सकता था। साधारण मनुष्य इसे नहीं कर सकता था। यदि मनुष्य बिना कठोरतापूर्वक परखे गये और बिना प्रशिक्षण पाये हुए इन बातोंमें पड़ जायं तो यह उनके लिये तथा अन्योंके लिये खतरनाक होता; क्योंकि इस ज्ञानका, इन शक्तियोंका दुरुपयोग किया जा सकता था, इनके अर्थका अनर्थ किया जा सकता था, इन्हें सत्यसे मिथ्याकी ओर, कल्याणसे अकल्याणकी ओर मोड़ा जा सकता था। इसलिये एक कठोर गुप्तता बरती जाती थी, ज्ञान पर्देकी ओट गुरुसे शिष्यको पहुँचाया जाता था। प्रतीकोंका एक पर्दा रचा गया था जिसकी ओटमें ये रहस्यमय बातें आश्रय ग्रहण कर सकती थीं, बोलनेके कुछ सूत्र भी बनाये गये थे जो दीक्षितोंद्वारा ही समझे जा सकते थे, जो अन्योंको या तो अविदित होते थे या उन द्वारा एक ऐसे बाह्य अर्थमें ही समझे जाते थे जिससे उनका असली अर्थ और रहस्य सावधानतापूर्वक छिपा रहता था। सब जगहके रहस्यवादका सारांश यही था।

वेदोंके गुह्यार्थक होनेकी परंपरा

भारतमें यह परंपरा प्राचीनतम कालसे चली आ रही है कि वेदके

ऋषि, कवि-द्रष्टा, उपर्युक्त प्रकारके थे, वे एक महान् आध्यात्मिक और गुह्य ज्ञानसे युक्त थे, जिसतक साधारण मानव-प्राणियोंकी गति नहीं होती; उन्होंने इस ज्ञानको और अपनी शक्तिको एक गुप्त दीक्षाके द्वारा अपने वंशजों तथा चुने हुए शिष्योंतक पहुँचाया था। यह मान लेना निरी कपोल-कल्पना होगा कि भारतमें चली आ रही यह उपर्युक्त परंपरा सर्वथा निराधार है, एवं एक अन्ध-विश्वास है जो एकदम या धीरे-धीरे एक शून्यमेंसे, बिना कुछ भी आधारके, बन गया है। इस परंपराका कुछ-न-कुछ आधार अवश्य होना चाहिये, वह चाहे कितना थोड़ा क्यों न हो या वह गाथाद्वारा तथा शताब्दियोंके उपचयद्वारा चाहे कितना बढ़ा-चढ़ा क्यों न दिया गया हो। और यदि वह ठीक है तो इन कविद्रष्टाओंने अवश्य ही वेदमें अपने गुह्य ज्ञानकी, अपनी रहस्यमय विद्याकी कुछ-न-कुछ बातें व्यक्त की होंगी और वेदमंत्रोंमें ऐसी कुछ वस्तु अवश्य विद्यमान होगी, चाहे वह गुह्य भाषाके द्वारा या प्रतीकोंके कौशलके पीछे कितनी सुगुप्त क्यों न रखी हुई हो और यदि वह वहाँ विद्यमान है तो वह कुछ हदतक उपलभ्य भी होनी चाहिये। यह ठीक है कि बहुत पुरानी भाषा और लुप्तप्राय शब्दोंके कारण (यास्कने चार सौसे ऊपर ऐसे शब्द गिनाये हैं जिनके अर्थ उसे ज्ञात नहीं थे) तथा एक कठिन और अप्रचलित भाषाशैलीके कारण वेदका अभिप्राय अंधकारमें पड़ गया है, वैदिक प्रतीकोंके अर्थोंके (जिनका कोष उन्हींके पास रहता था) खोये जानेसे ये आनेवाली संततियोंके लिये दुर्बोध हो गये। जब कि उपनिषदोंके कालमें भी उस युगके आध्यात्मिक जिज्ञासुओंको वेदके गुप्त ज्ञानमें प्रवेश पानेके लिये दीक्षा तथा ध्यान (योगाभ्यास) की शरण लेनी पड़ती थी तो बादके विद्वान् तो किंकर्तव्यविमूढ़ ही हो गये और उन्हें शरण लेनी पड़ी अटकलकी तथा वेदोंकी बौद्धिक व्याख्यापर ही अपना ध्यान केंद्रित करनेकी या इन्हें गाथाओं तथा ब्राह्मण-ग्रंथोंके कथानकों (जो स्वयं प्रायः प्रतीकात्मक तथा अस्पष्ट थे) द्वारा समझने-समझानेकी। किंतु फिर भी वेदके उस रहस्यको उपलब्ध करना ही एकमात्र उपाय है जिससे हम वेदके सच्चे अर्थ और सच्चे मूल्यको पा सकेंगे। हमें यास्क मुनिके दिये संकेतको गंभीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिये, वेदके अंदर क्या है इस विषयमें हमें ऋषिके इस वर्णनको कि ये "द्रष्टाका ज्ञान हैं, कवि-द्रष्टाके वचन हैं" स्वीकार करना चाहिये और इस प्राचीन धर्म-ग्रंथके अर्थोंमें प्रवेश पानेके लिये हम जो कोई भी सूत्र प्राप्त कर सकें उसे खोजकर पकड़ना चाहिये। यदि हम ऐसा न करेंगे तो वेद सदाके लिये मुहरबंद पुस्तक ही बने रहेंगे; व्याकरण-विशारद, व्युत्पत्ति-शास्त्री या विद्वानोंकी अटकलें हमारे लिये इन मुहरबंद कमरोंको कभी खोल नहीं सकेंगी।

क्योंकि यह एक तथ्य है कि वेदविषयक यह परंपरा कि प्राचीन वेदकी ऋचाओंमें एक गुह्य अर्थ और एक रहस्यमय ज्ञान निहित हैं इतनी पुरानी है जितने कि स्वयं वेद। वैदिक ऋषियोंका यह विश्वास था कि उनके मंत्र चेतनाके उच्चतर गुप्त स्तरोंसे अंत:प्रेरित हुए आये हैं और वे इस गुह्य ज्ञानको रखते हैं। वेदके वचन उनके सच्चे अर्थोंमें केवल उसीके द्वारा जाने जा सकते हैं जो स्वयं ऋषि या रहस्यवेत्ता (योगी) हो, अन्योंके प्रति मंत्र अपने गुह्य ज्ञानको नहीं खोलते। वामदेव ऋषि अपने चतुर्थ मंडलके एक मंत्र (4.3.16) में अपने-आपका इस रूपमें वर्णन करता है कि मैं अंत:प्रकाशसे युक्त विप्र अपने विचार (**मतिभि:**) तथा शब्दों (**उक्थै:**) के द्वारा पथप्रदर्शक (**नीथानि**) और गुह्य वचनोंको (**निण्या वचांसि**) व्यक्त कर रहा हूँ, ये द्रष्टृज्ञानके शब्द (**काव्यानि**) हैं जो द्रष्टा या ऋषिके लिये अपने आंतर अर्थको बोलनेवाले (**कवये निवचना**) हैं। ऋषि दीर्घतमा ऋचाओंके, वेद-मंत्रोंके, विषयमें कहता है कि '**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु:**' अर्थात् 'ऋचाएँ रहती हैं उस परम आकाशमें जो अविनाश्य व अपरिवर्तनीय है, जिसमें सबके सब देव स्थित हैं' और फिर कहता है कि '**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति**' अर्थात् 'वह जो उसको (उस आकाशको) नहीं जानता वह ऋचासे क्या करेगा?' (ऋग्वेद 1.164.39)। वह ऋषि आगे चार स्तरोंका उल्लेख करता है जहाँसे वाणी निकलती है, जिनमेंसे तीन तो गुहामें छिपे हुए हैं और चौथा स्तर मानवीय है, और वहींसे मनुष्योंके साधारण शब्द आते हैं, परंतु वेदके शब्द और विचार उन उच्चतर तीन स्तरोंसे संबंध रखते हैं (1.164.45)। इसी तरह अन्यत्र वेद (मंडल 10 सूक्त 71) में वेदवाणीको परम (**प्रथमम्**), वाणीका उच्चतम शिखर (**वाचो अग्रम्**), श्रेष्ठ तथा परम निर्दोष (**अरिप्रम्**) वर्णित किया गया है। यह (वेदवाणी) कुछ ऐसी वस्तु है जो गुहामें छिपी हुई है और वहाँसे निकलती है और अभिव्यक्त होती है (प्रथम मंत्र)। यह सत्यद्रष्टामें, ऋषियोंमें, प्रविष्ट हुई है और इसे उनकी वाणीकी पद्धति (पदचिह्नों) का अनुसरण करनेके द्वारा प्राप्त किया जाता है (तीसरा मंत्र)। परंतु सब कोई इसके गुह्य अर्थमें प्रवेश नहीं पा सकते। वे लोग जो आंतरिक अभिप्राय नहीं जानते ऐसे हैं जो देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते; कोई विरला ही होता है जिसे चाहती हुई वाणी अपने-आपको उसके संमुख प्रकट कर देती है, जैसे कि सुन्दर वस्त्र पहने हुई पत्नी अपने शरीरको पतिके सामने खोलकर रख देती है (चौथा मंत्र)। अन्य लोग जो 'वाणी'के—वेद-रूपी गौके—दूधको स्थिरतया

पीनेमें असमर्थ होते हैं, उसके साथ यों फिरते हैं मानो वह गौ दूध देनेवाली है ही नहीं, उनके लिये वाणी ऐसे वृक्षके समान है जो फलरहित और पुष्परहित है (पांचवां मंत्र)। वेदका यह सब कथन कितना स्पष्ट और यथार्थ है। इससे संदेहकी कुछ भी गुंजायशके बिना यह परिणाम निकलता है कि उस समय भी जब ऋग्वेद लिखा जा रहा था ऋचाओंके विषयमें यह माना जाता था कि उनका कुछ गुप्त अर्थ है जो सबके लिये खुला नहीं है। सचमुच पवित्र वेद-मंत्रोंके अंदर एक गुह्य और आध्यात्मिक ज्ञान था और ऐसा माना जाता था कि उस ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य सत्यको जान सकता है और एक उच्चतर अवस्थामें चढ़ सकता है। यह विश्वास कोई पीछेकी बनी परंपरा नहीं था किंतु इस विश्वासको संभवतः सभी ऋषि और प्रत्यक्षतः दीर्घतमा तथा वामदेव जैसे श्रेष्ठतम ऋषियोंमेंसे कुछ तो अवश्य रखते थे।

तो यह परंपरा पहलेसे विद्यमान थी और फिर यह वैदिक कालके पश्चात् भी चलती गयी। एवं हम देखते हैं कि यास्क मुनि अपने निरुक्तमें वेदकी व्याख्याके अनेक संप्रदायोंका उल्लेख करते हैं। एक याज्ञिक अर्थात् कर्मकांडीय व्याख्याका संप्रदाय था, एक ऐतिहासिक था जिसे गाथात्मक व्याख्याका संप्रदाय कहना चाहिये, एक वैयाकरणों तथा व्युत्पत्तिशास्त्रियों, नैरुक्तों एवं नैयायिकोंद्वारा व्याख्याका संप्रदाय और एक आध्यात्मिक व्याख्याका। यास्क स्वयं घोषित करता है कि ज्ञान त्रिविध है, अतएव सब वेदमंत्रोंके अर्थ भी त्रिविध होते हैं, एक अधियज्ञ या कर्मकांडीय ज्ञान, दूसरा अधिदैवत अर्थात् देवतासंबंधी ज्ञान और अंतमें आध्यात्मिक ज्ञान; परंतु इनमें से अंतिम अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञानका प्रतिपादक अर्थ ही वेदका सच्चा अर्थ है और जब यह प्राप्त हो जाता है तो शेष अर्थ झड़ जाते या कट जाते हैं। यह आध्यात्मिक अर्थ ही त्राण करनेवाला है, शेष सब बाह्य और गौण हैं। वह आगे कहता है कि 'ऋषियोंने सत्यको, वस्तुओंके सत्य धर्मको आंतर दृष्टिद्वारा प्रत्यक्ष देखा था', कि पीछेसे वह ज्ञान तथा वेदका आंतरिक अर्थ प्रायः लुप्त होते गये और जो थोड़ेसे ऋषि उन्हें तब भी जानते थे उन्हें इसकी रक्षा शिष्योंको दीक्षित करते जानेद्वारा करनी पड़ी और अंतमें वेदार्थको जाननेके लिये बाह्य और बौद्धिक उपायोंको, जैसे निरुक्त तथा अन्य वेदांगोंको, उपयोगमें लाना पड़ा। परंतु तो भी, वह कहता है, 'वेदका सच्चा अर्थ ध्यान-योग और तपस्याके द्वारा ही प्रत्यक्षतः जाना जा सकता है' और जो लोग, इन साधनोंको उपयोगमें ला सकते हैं उन्हें वेदज्ञानके लिये किन्हीं भी बाह्य सहायताओंकी आवश्यकता नहीं। सो यास्कका यह कथन भी पर्याप्त स्पष्ट और निश्चयात्मक है।

यह परंपरा कि वेदमें एक गुह्य तत्त्व है और वह भारतीय सभ्यता, भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृतिका मूल स्रोत है ऐतिहासिक तथ्यसे अधिक संगत है न कि यूरोपियनोंका इस परंपरागत विचारका उपहास करनेवाला मत। उन्नीसवीं शताब्दीके यूरोपियन पंडित जो भौतिकताप्रधान तर्कवादके युगके लेखक थे भारतजातिके इतिहासके विषयमें यह मानते थे कि यह एक प्रारंभिक जंगली या अर्द्ध-जंगली अवस्थामेंसे, एक अपरिपक्व सामाजिक जीवन और धर्ममेंसे और अंधविश्वासोंके समुदायमेंसे हुआ विकास है, जो बुद्धि और तर्ककी, कला, दर्शन तथा भौतिक विज्ञानकी, एक अधिक स्पष्ट और सयुक्तिक तथा अधिक तथ्यपरायण बुद्धिकी उन्नति द्वारा विकसित बाह्य सभ्य संस्थाओं, रीति-रिवाजों और आदतोंका परिणाम है। सो वेद-विषयक यह परंपरागत प्राचीन विचार उनके इस चित्रमें ठीक नहीं बैठ सकता था, उसे तो वे प्राचीन अंधविश्वासपूर्ण विचारोंका एक भाग और आदि जंगली लोगोंकी एक सहज भूल ही मानते थे। परंतु अब हम भारतजातिके विकासके विषयमें अधिक ठीक-ठीक विचार बना सकते हैं। यह कहना चाहिये कि प्राचीन आद्यतर सभ्यताएँ अपने अंदर भावी विकासके तत्त्वोंको रखे हुए थीं पर उनके आदिम ज्ञानी लोग वैज्ञानिक और दार्शनिक या ऊँची बौद्धिक तर्कणा-शक्तिवाले लोग नहीं थे किन्तु रहस्यवादी थे, बल्कि रहस्य-पुरुष, गुह्यवादी, धार्मिक जिज्ञासु थे। वे जिज्ञासु थे वस्तुओंके पीछे छिपे हुए सत्य के, न कि बाह्य ज्ञानके। वैज्ञानिक और दार्शनिक पीछेसे आये; उनके पूर्ववर्ती तो रहस्यवादी थे और प्रायः पाइथागोरस तथा प्लेटो जैसे दार्शनिक भी कुछ सीमातक या तो रहस्यवादी थे या उनके बहुतसे विचार रहस्यवादियोंसे लिये गये थे। भारतमें दार्शनिकता रहस्यवादियोंकी जिज्ञासामेंसे ही उदित हुई और भारतीय दर्शनोंने उनके (रहस्यवादियोंके) आध्यात्मिक ध्येयोंको कायम रखा तथा विकसित किया और उनकी पद्धतियोंमेंसे कुछको आगामी भारतीय आध्यात्मिक शिक्षणमें तथा योगमें भी पहुँचाया। वैदिक परंपरा, यह तथ्य कि वेदमें एक रहस्यवादी तत्त्व है, इस ऐतिहासिक सत्यके साथ पूरी तरह ठीक बैठती है और भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें अपना स्थान प्राप्त करती है। तो वेदविषयक यह परंपरा कि वेद भारतीय सभ्यताके मूल आधार हैं न कि केवल एक जंगली याज्ञिक पूजा-विधि, केवल परंपरासे कुछ अधिक वस्तु है, यह इतिहासका एक वास्तविक तथ्य है।

वेदोंके दोहरे और प्रतीकात्मक अर्थ

परंतु यदि कहीं वेदमंत्रोंमें उच्च आध्यात्मिक ज्ञानके कुछ अंश या

उच्च विचारोंसे पूर्ण कुछ वाक्य पाये भी जायँ तो यह कल्पना की जा सकती है कि वे तो शायद वेदका केवल एक स्वल्पसा भाग हैं, जब कि शेष सब याज्ञिक पूजाविधि ही है, देवताओंके प्रति की गयी प्रार्थना या प्रशंसाके मंत्र हैं जो देवताओंको यज्ञ करनेवालोंपर ऐसे भौतिक वरदानोंकी वर्षा करनेको प्रेरित करनेके लिये बोले जाते थे जैसे कि बहुत-सी गौएँ, घोड़े, लड़ाकू वीर, पुत्र, अन्न, सब प्रकारकी संपत्ति, रक्षा, युद्धमें विजय, या फिर आकाशसे वर्षाको ले आनेके लिये, सूर्यको बादलोंमेंसे या रात्रिके पंजेसे छुड़ा लानेके लिये, सात नदियोंके खुलकर प्रवाहित होनेके लिये, दस्युओंसे (या द्रविड़ोंसे) अपने पशुओंके छुड़ा लानेके लिये तथा अन्य ऐसे ही वरदानोंके लिये बोले जाते थे जो उपरितलपर इस याज्ञिक पूजाके उद्दिष्ट विषय प्रतीत होते हैं। तब इसके अनुसार तो वेदके ऋषि ऐसे लोग होने चाहियें जो कुछ आध्यात्मिक या रहस्यमय ज्ञानवाले होंगे किन्तु वैसे उस युगके अनुकूल सभी साधारण प्रचलित विचारोंके वशीभूत होंगे। तो इन दोनों ही तत्त्वोंको ऋषियोंने अपने वैदिक सत्यों में घुला-मिलाकर रखा होगा और ऐसा मान लेनेसे कम-से-कम अंशतः इसका भी कुछ कारण समझमें आ जायगा कि वेदमें इतनी अस्पष्टता, बल्कि इतनी विचित्र और कभी-कभी तो हास्यजनक अस्तव्यस्तता क्यों है, जैसी कि परंपरागत भाष्योंके अनुसार वेदमें हमें दिखाई देती है। परंतु यदि, इसके प्रतिकूल, वेदोंमें उच्च विचारोंका एक बहुत बड़ा समुदाय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता हो, यदि मंत्रोंका बहुत बड़ा भाग या समूचे-के-समूचे सूक्त केवल उनके रहस्यमय स्वरूप तथा अर्थोंको ही प्रकट करनेवाले हों, और अंततः यदि वेदमें आये कर्मकाण्डी तथा बाह्य ब्यौरे निरंतर ऐसे प्रतीकोंका रूप धारण करते पाये जाते हों जैसे कि रहस्यवादियोंद्वारा सदा प्रयुक्त किये जाते हैं और यदि स्वयं सूक्तोंके अंदर ही वैदिक शैलीके ऐसी ही होनेके अनेक स्पष्ट संकेत बल्कि कुछ सुस्पष्ट वचनतक मिलते हों, तब सब कुछ बदल जाता है। तब हम अपने सामने एक ऐसी महान् धर्मपुस्तक पाते हैं जिसके दोहरे अर्थ हैं—एक गुह्य अर्थ और दूसरा लौकिक अर्थ, स्वयं प्रतीकोंका भी वहाँ अपना अर्थ है जो उन्हें गुह्य अर्थोंका एक भाग, गुह्य शिक्षा तथा ज्ञानका एक तत्त्व बना देता है। संपूर्ण ही ऋग्वेद, शायद थोड़ेसे सूक्तोंको अपवाद-रूपमें छोड़कर, अपने आंतरिक अर्थमें एक ऐसी ही महान् धर्मपुस्तक बन जाता है। साथ ही यह आवश्यक नहीं कि उसका बाह्य लौकिक अर्थ केवल पर्देका ही काम करे, क्योंकि ऋचाएँ उनके निर्माताओं द्वारा शक्तिके ऐसे वचन मानी गयी थीं जो न केवल आंतरिक वस्तुओंके लिये किंतु बाह्य वस्तुओंके लिये भी शक्तिशाली थे। शुद्ध आध्यात्मिक

धर्मग्रंथ तो केवल आध्यात्मिक अर्थोंसे अपना वास्ता रखता, किंतु ये प्राचीन रहस्यवादी साथ ही वे भी थे जिन्हें 'आकल्टिस्ट' (गुप्तविद्यावित्) कहना चाहिये, ये ऐसे थे जिनका विश्वास था कि आंतर साधनोंद्वारा आंतरिक ही नहीं किन्तु बाह्य परिणाम भी उत्पन्न किये जा सकते हैं, विचार और वाणीका ऐसा प्रयोग किया जा सकता है जिससे इसके द्वारा प्रत्येक प्रकारकी—स्वयं वेदमें प्रचलित मुहावरेमें कहें तो 'मानुषी और दैवी' दोनों प्रकारकी—सिद्धि या सफलता प्राप्त की जा सकती है।

वैदिक शब्दोंके सीधे, स्वाभाविक, स्थायी अर्थ

परंतु प्रश्न होता है कि गुह्य अर्थोंका वह समुदाय वेदमें है कहाँ? वह हमें तभी मिलेगा यदि हम ऋषियोंद्वारा प्रयुक्त शब्दों और शब्द-सूत्रोंको एक स्थिर तथा बिलकुल सीधा अर्थ प्रदान करें, विशेषतया उन कुंजी-रूप शब्दोंको जो ऋषियोंके सिद्धांतोंके इस सारे भवनको उसकी केंद्र-शिलाओंकी तरह धारण करते हैं। ऐसा एक शब्द है महान् शब्द **'ऋतम्'** अर्थात् सत्य। सत्य रहस्यवादियोंकी खोजका केंद्रीय विषय था, एक आध्यात्मिक या आंतर सत्य, हमारे अपने आपका सत्य, वस्तुओंका सत्य, जगत्का तथा देवताओंका सत्य, हम जो कुछ हैं और वस्तुएँ जो कुछ हैं उन सबके पीछे विद्यमान सत्य। कर्मकांडीय व्याख्यामें वैदिक ज्ञान के इस 'गुर'-भूत शब्दकी व्याख्या व्याख्याकारकी सुविधा या मौजके अनुसार इसे सभी प्रकारके अर्थोंमें लेकर की गयी है—'सत्य', 'यज्ञ', 'जल', 'गया हुआ' और 'अन्न' तक, और जो अनेक अवांतर अर्थ किये गये हैं उनका तो कहना ही क्या है। यदि हम ऐसे ही अर्थ करेंगे तब तो वेदके साथ हमारे बरतनेमें कोई निश्चितता आ ही नहीं सकती। किंतु हम स्थिर रूपसे इस शब्दको वही प्रधान ('सत्य'का) अर्थ देकर देखें तो एक अद्भुत किंतु स्पष्ट परिणाम निकलेगा। यदि हम वेदमें स्थिर रूपसे आनेवाले अन्य शब्दोंके साथ भी ऐसे ही बर्तें, यदि हम उनका साधारण, स्वाभाविक और बिलकुल सीधा जो अर्थ है वही करें और वह अर्थ सतत तथा स्थिर रूपसे करें, उनके अर्थोंको लेकर इधर-उधर कूद-फांद न करें या उनको शुद्ध कर्मकांडी आशय देनेके लिये तोड़ें-मरोड़ें नहीं, यदि हम कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दोंको जैसे **'ऋतु'**, **'अवस्'** आदिको उनके वे आध्यात्मिक अर्थ देवें, जिनकी वे क्षमता रखते हैं और जो अर्थ ऐसे संदर्भोंमें जिनमें, उदाहरणार्थ, वेद अग्निका **'ऋतुर्हि'** कहकर वर्णन करता है, निःसंदेह हैं ही, तो यह परिणाम और भी अधिक स्पष्ट, विस्तृत और व्यापक हो जायगा। और इसके अतिरिक्त यदि हम उन संकेतोंका

अनुसरण करें जो बहुतायतसे मिलते हैं,—कई बार तो अपने प्रतीकोंके आंतरिक अर्थोंके विषयमें ऋषियोंके अपने सुस्पष्ट कथन ही मिल जाते हैं—और यदि हम अर्थपूर्ण कथानकों तथा रूपकोंकी व्याख्या उसी अभिप्रायमें करें जिसपर वे बार-बार लौटकर आते हैं, जैसे वृत्र पर विजय तथा वृत्रों (वृत्रकी शक्तियों) के साथ युद्ध, सूर्यकी, जलोंकी और गौओंकी पणियों तथा अन्य वस्तुओंसे पुनर्मुक्ति, तो संपूर्ण ही ऋग्वेद अपने-आपको ऐसे सिद्धांत तथा साधनाभ्यासकी पुस्तकके रूपमें प्रकट कर देगा, जो (सिद्धांत तथा अभ्यास) निगूढ़, गुह्य, आध्यात्मिक हैं, ऐसे जैसे कि किसी भी प्राचीन देशके रहस्यवादियोंद्वारा उपदिष्ट हुए हो सकते हैं, परंतु जो इस समय हमारे लिये केवल वेदमें ही उपलभ्य हैं। ये वहाँ जानबूझकर एक पर्देसे ढककर रखे हुए हैं, परंतु पर्दा इतना घना नहीं है जितना कि हम प्रारंभमें इसे कल्पित करते हैं। हमें केवल अपनी आँखोंको जरा खोलकर देखना होता है और वह पर्दा जाता रहता है, वेदवाणी, सत्य, वेद मूर्त्त रूपमें हमारे सामने आ खड़ा होता है।

वेदके गुह्य वचन—'निण्या वचांसि'

वेदके अनेक मंत्र हैं, अनेक समूचे सूक्ततक हैं जो ऊपरसे ही एक रहस्यवादी अर्थको प्रकट करते हैं, स्पष्ट ही एक गुह्य प्रकारके वचन हैं, एक आंतरिक अर्थ रखते हैं। जब ऋषि अग्निके विषयमें कहता है 'सत्यका चमकीला संरक्षक जो अपने निजी घरमें देदीप्यमान हो रहा है'[1] अथवा मित्र तथा वरुणके विषयमें या अन्य देवोंके विषयमें कहता है 'सत्यका स्पर्श करनेवाले और सत्यको बढ़ानेवाले'[2] अथवा 'सत्यमें उत्पन्न हुए'[3] तो ये एक रहस्यवादी कविके ही वचन हैं जो वस्तुओंके पीछे छिपे उस आंतर सत्यके विषयमें विचार कर रहा है जिसके प्राचीन संत जिज्ञासु होते थे। तब वह बाहरी अग्नि-तत्त्वकी अधिष्ठातृ-देवता-भूत प्राकृतिक शक्तिका या कर्मकाण्डीय यज्ञकी अग्निका विचार नहीं कर रहा। इसी तरह ऋषि सरस्वतीके विषयमें कहता है कि यह सत्यके वचनोंकी प्रेरयित्री[4] और ठीक विचारोंके जगानेवाली है या विचारोंसे समृद्ध है; कि सरस्वती हमें हमारी चेतनाके प्रति जगाती है या हमें 'महान् समुद्रसे' सचेतन करती है और

---

1 गोपामृतस्य दीदिविम्, बर्धमानं स्वे दमे। (1-1-8)
2 ऋतावृधौ ऋतस्पृशौ। (1-2-8)
3 ऋतजातः। (1-144-7)
4 1-3-10, 11, 12

'हमारे सब विचारोंको प्रकाशित कर देती है', तो निःसंदेह यह नदी-देवता नहीं है जिसकी स्तुतिमें वह सूक्त बोला जा रहा है, ऋषि तो स्तुति, प्रार्थना कर रहा है अंतःप्रेरणाकी शक्तिसे, (यदि उसे नदी कहें तो) अंतःप्रेरणाकी नदीसे, सत्यकी वाणीसे, जो हमारे विचारोंमें अपना प्रकाश ला रही है, हमारे अंदर उस सत्यकी, एक आंतरिक ज्ञानकी, रचना कर रही है। सतत ही देवता अपने आध्यात्मिक व्यापारोंके साथ सामने आ जाते हैं; यज्ञ एक आंतरिक कर्मका, देवों और मनुष्योंके बीच एक आंतरिक लेन-देनका बाह्य प्रतीक है, मनुष्य वह सब कुछ देता है, समर्पित करता है जो उसके पास है और बदलेमें उसे देवता शक्तिके घोड़ोंको, प्रकाशकी गौओंको, अनुचर होनेके लिये बलके वीरोंको देते हैं और इस प्रकार अंधकार, वृत्रों, दस्युओं और पणियोंकी सेनाओंके साथ उसके युद्धमें उसे विजय प्राप्त कराते हैं। जब ऋषि कहता है, "आओ हम चाहे युद्ध-अश्वके द्वारा या दिव्य शब्दके द्वारा मनुष्यसे परे स्थित शक्तिसे सचेतन बनें" (2-2-10), तो उसके वचन या तो रहस्यपूर्ण अर्थ रखते हैं या उनका कुछ भी संगत अर्थ नहीं है। इस पुस्तकमें ऋग्वेदके जिन अंशोंका अनुवाद दिया गया है उनमें भी ऐसे अनेक रहस्यमय मंत्र हैं और अनेक समूचे सूक्त हैं जो, वे चाहे कितने रहस्यपूर्ण हों, बाह्य याज्ञिक रूपकके उस पर्देको, जिसने वेदके असली अभिप्रायको ढक रखा है, फाड़ फेंक रहे हैं। ऋषि कहता है, 'विचारने हमारे लिये मानुषी वस्तुओंको अमृतोंमें, बृहत् द्युलोकोंमें पोषित किया है, यह विचार दूध देनेवाली धेनु है जो अपने-आप अनेकरूप ऐश्वर्यको देती है' (2–2–9)— अनेक प्रकारके ऐश्वर्योंको, गौओंको, घोड़ोंको और अन्य वस्तुओंको जिनकी यज्ञकर्ता प्रार्थना करता है। स्पष्ट है यह कोई भौतिक ऐश्वर्य नहीं है, ऐसी वस्तु है जिसे विचार, मन्त्रमें मूर्त हुआ विचार, दे सकता है और उसी विचारका परिणाम ही हमारी मानुषी वस्तुओंको अमृतोंमें, बृहत् द्युलोकोंमें पोषित करता है। यहाँ दिव्यीकरणकी प्रक्रियाका, महान् और प्रकाशमय ऐश्वर्योंके, यज्ञकी आन्तरिक क्रियाद्वारा देवोंसे प्राप्त की गयी निधियोंके नीचे उतार लानेकी प्रक्रियाका संकेत दिया गया है, किंतु ऐसे शब्दोंमें जो आवश्यकतावश रहस्यमय हैं, पर फिर भी उसके लिये जो इन गुह्य वचनोंको, इन 'निण्या वचांसि'को, पढ़ना जानता है काफी अर्थद्योतक हैं, 'कवये निवचना' हैं। और फिर एक और जगह कहा गया है कि रात्रि तथा उषा (उषासानक्ता), जो सनातन बहिनें हैं, खूब दूध देनेवाली दुधार गौएँ हैं, दो आनंदपूर्ण बुनकर स्त्रियोंके समान हैं, जो हमारे पूर्णतायुक्त कर्मोंके तानेको एक यज्ञके रूपमें (यज्ञस्य पेशः) बुन रही हैं (2–3–6)। फिर ये ऐसे ही

वचन हैं जिनका रूप और अर्थ रहस्यवादी हैं, परंतु यज्ञके आध्यात्मिक रूपको, और गौके, प्राप्तित ऐश्वर्योंके, महान् रयिकी बहुलताके वास्तविक अर्थको बतलानेवाला इससे अच्छा निश्चयात्मक कथन कठिनतासे ही मिलेगा।

प्रतीकोंका पर्दा—दोहरे अर्थ

अपने आशयको प्रतीकों तथा प्रतीकात्मक शब्दोंद्वारा आवृत करनेकी आवश्यकताके वश—क्योंकि गुप्तता रखनी आवश्यक थी—ऋषियोंने शब्दोंके दोहरे अर्थ नियत करनेकी विधिको अपनाया। यह ऐसी विधि है जिसे संस्कृत भाषामें सुगमतासे ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि वहाँ एक शब्द प्रायः अनेक विभिन्न अर्थोंका वाचक होता है, परंतु उसका अंगरेजी भाषामें अनुवाद करना सुगम नहीं है, प्रायः ही असंभव है। इस प्रकार "गौ" शब्द गायके अतिरिक्त 'प्रकाश' का या 'प्रकाशकी किरण'का भी वाचक है। यह कई ऋषियोंके नामोंमें भी प्रयुक्त हुआ दीखता है, जैसे, 'गोतम' अर्थात् प्रकाशिततम, 'गविष्ठिर' अर्थात् प्रकाशमें स्थिर। वेदोक्त गौवें सूर्यके **गोयूथ** हैं जो ग्रीक गाथा-शास्त्र तथा रहस्यवादमें भी सुपरिचित हैं; ये हैं **सत्य** और **प्रकाश** और **ज्ञान**के सूर्यकी किरणें। 'गौ' के इस अर्थको जो कुछ प्रकरणोंमें स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है सर्वत्र ही संगत रूपसे लगाया जा सकता है और इससे सुसंबद्ध अर्थ बनता जायगा। 'घृत' शब्दका अर्थ है घी, निर्मल किया हुआ मक्खन और यह याज्ञिक क्रियाके मुख्य साधनोंमेंसे एक था; परंतु घृतका अर्थ भी प्रकाश हो सकता है, यह 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातुसे बना है और प्रकाशके अर्थमें अनेक स्थलोंपर वेदमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे द्युलोकके अधिपति इंद्रके घोड़ोंके विषयमें कहा गया है कि ये 'घृतस्नू'[1] हैं (3.41.9) अर्थात् प्रकाशसे सने हुए—इसका निश्चय ही यह अर्थ नहीं कि वे घोड़े जब दौड़ते थे तो उनसे घी चूता था, यद्यपि इसी विशेषण 'घृतस्नुवः' का यह अर्थ ही प्रतीत होता है जब कि यह उस अन्न-धान्यके लिये प्रयुक्त हुआ है जिसका यज्ञमें आकर भाग लेनेके लिये इंद्रके घोड़े आहूत किये गये हैं। स्पष्ट ही यज्ञके प्रतीकवादमें घृत शब्द—

---

1. यद्यपि सायण कई स्थलोंपर घृतको प्रकाशके ही अर्थमें लेता है तथापि यहां वह घृतका अर्थ पानी (जल) करता है। वह यह समझता प्रतीत होता है कि वे (इन्द्रके) दिव्य घोड़े बहुत थक गये थे और उनसे पसीनेका पानी च रहा था। इसी तरह कोई प्रकृतिवादी व्याख्या करनेवाला यह तर्क कर सकता है कि क्योंकि इंद्र अंतरिक्षका देवता है इसलिये उस पुराने युगका कवि यह विश्वास रखता था कि वर्षा इन्द्रके घोड़ोंका पसीना ही होती है।

इस प्रकाशके अर्थके साथ घीके अर्थको जोड़कर—दोहरे अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। विचारकी या विचारके अभिव्यंजक शब्दकी शुद्ध घीसे तुलना की गयी है, और **'घियं घृताचीम्'** (अर्थात् प्रकाशमय विचार या समझ) जैसे प्रयोग हमें मिलते हैं। ऋ० 2–3–2 में एक विचित्र वाक्य आया है जिसमें अग्निको यज्ञके पुरोहितके रूपमें पुकारा गया है कि वह आकर हविको घृत चुवानेवाले मनसे (**घृतप्रुषा मनसा**) सिक्त करे और इस प्रकार धामों (स्थानों या स्तरों) को, एकैकशः तीनों द्युलोकोंको तथा देवोंको अभिव्यक्त करे[1]। परंतु घी चुवानेवाला मन क्या होगा और घी चुवानेके द्वारा कैसे कोई पुरोहित देवताओंको और त्रिविध द्युलोकोंको अभिव्यक्त कर सकता है? पर घृतके रहस्यमय तथा आंतरिक अर्थको स्वीकार कीजिये और तब सारा आशय स्पष्ट हो जायगा। ऋषि जो कहना चाहता है वह है 'प्रकाशकी वर्षा करनेवाला मन', प्रकाशित या प्रकाशप्राप्त मनकी निर्मलता लानेकी क्रिया। और यह कोई मनुष्य-पुरोहित नहीं है और न ही यह भौतिक यज्ञका अग्नि है, किंतु एक आंतरिक **ज्वाला** है, रहस्यमय द्रष्टृ-संकल्प, कविक्रतु है और वह निश्चय ही इस प्रक्रियाद्वारा **देवों** और **लोकों**को तथा सत्ताके सब स्तरोंको अभिव्यक्त कर सकता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक ऋषि न केवल संत थे किंतु द्रष्टा भी थे, वे ऐसे दिव्यदृष्टिसंपन्न थे कि वस्तुओंको अपने ध्यानमें आकृतियोंके रूपमें देखते थे, प्रायः ऐसी प्रतीकात्मक आकृतियोंके रूपमें जो किसी अनुभूतिकी पूर्ववर्ती या सहवर्ती हो सकती थीं और साथ ही वे इस अनुभूतिको मूर्त रूपमें उपस्थित भी करते थे, उसके विषयमें पहलेसे बता सकते या उसे गुह्य मूर्ति प्रदान कर सकते थे। इस प्रकार वैदिक ऋषिके लिये यह सर्वथा सम्भव था कि वह एक साथ ही आन्तरिक अनुभूतिको और आकृतिके रूपमें इसकी प्रतीकात्मक घटनाको देख सके, निर्मलताकारक प्रकाशके प्रवाहको और 'इस घृत (घी) को पुरोहित देव आन्तरिक आत्म-हविपर (जिसने उस अनुभूतिको जन्म दिया है) उंडेल रहा है इस घटनाको' एक साथ देख सके। यह बात बेशक पाश्चात्य मनको विचित्र लगेगी परन्तु भारतीय मनके लिये, जो भारतीय परम्पराका अभ्यस्त होता है या ध्यान तथा गुह्य दर्शनमें समर्थ है, पूरी तरह समझमें आने योग्य है। रहस्यवादी प्रतीकवादी होते थे और अब भी साधारणतया होते हैं; वे सब भौतिक वस्तुओं और घटनाओंतकको आन्तरिक सत्यों तथा सद्वस्तुओंके ही प्रतीक-रूपमें देख सकते हैं, अपने बाह्य

---

1 यह सायणकृत अनुवाद है जो सीधा शब्दोंसे ही निकलता है।

स्वरूपों, अपने जीवनकी बाह्य घटनाओं तथा अपने चारों तरफ जो कुछ है उसतकको। इससे एक वस्तु और उसके प्रतीकके विषयमें उनका तादात्म्य-करण या फिर साहचर्य-सम्बन्ध-स्थापन सहज हो जाता है, इसका अभ्यास संभव हो जाता है।

वेदके अन्य स्थायी शब्दों और प्रतीकोंके अर्थकी भी इसी प्रकारकी व्याख्या की जानी उचित है। जैसे वैदिक 'गौ' (गाय) प्रकाशका प्रतीक है, वैसे वैदिक अश्व (घोड़ा) शक्तिका, आध्यात्मिक सामर्थ्यका, तपस्याके बलका प्रतीक है। जब ऋषि 'अश्व-रूपवाले और गौएँ जिसके आगे हैं ऐसे दान'[1] को अग्निसे मांगता है तो वह वस्तुतः कुछ सौ-पचास घोड़ोंके समुदायको जिनके आगे कुछ गौवें चल रही हों दान-रूपमें नहीं मांग रहा होता, किन्तु वह मांगता है आध्यात्मिक शक्तिके महापुंजको जो प्रकाशद्वारा परिचालित हो या 'किरण-गौ जिसके आगे-आगे[2] चल रही हो',—ऐसा अनुवाद हम 'गोअग्र'का कर सकते हैं। जैसे एक सूक्तमें पणियोंसे मुक्त किये गये किरणोंके समुदायको 'गव्यम्' (गौवें, चमकीला गोयूथ) कहा गया है, वैसे दूसरे सूक्तमें अग्निसे 'अश्व्यम्' (अश्वकी शक्ति, उसके पुंज या प्राचुर्य) की प्रार्थना की गयी है। इसी तरह ऋषि कभी वीरोंकी या अपने अनुचर योद्धाओंकी प्रार्थना करता है तो कभी अपेक्षया अमूर्त भाषामें और बिना प्रतीकके पूर्ण योद्धृबलकी, 'सुवीर्य' की प्रार्थना करता है; कभी वह प्रतीक और वस्तुको जोड़ देता है। इसी तरह ऋषि देवताओंसे जिस ऐश्वर्यकी प्रार्थना करते हैं उसके एक तत्त्वके रूपमें वे पुत्र या पुत्रोंकी या सन्तान, 'अपत्य',की याचना करते हैं, पर यहाँपर भी एक गुह्य अर्थ देखा जा सकता है, क्योंकि कुछ संदर्भोंमें हमारा उत्पन्न हुआ पुत्र स्पष्ट ही किसी आन्तरिक जन्मका रूपक है : अग्नि स्वयं हमारा पुत्र होता है, हमारे कर्मोंका अपत्य, वह सूनु जो विश्वमय अग्निके रूपमें अपने पिताका भी पिता है, और अच्छे फल या परिणामवाली, 'स्वपत्य', वस्तुओंपर पैर रखनेसे ही हम सत्यके उच्चतर लोकका पथ खोज लेते या निर्मित कर लेते हैं (1–72–9)। फिर 'जल' भी वेदमें एक प्रतीकके तौरपर प्रयुक्त हुआ है। 'सलिलम् अप्रकेतम्' (ज्ञानरहित जल) यह निश्चेतन समुद्रके लिये कहा गया है जिसमें परमेश्वर विवर्तित हुआ है और जिसमेंसे वह अपनी महिमाद्वारा उत्पन्न होता है (10–120–3)। 'महो अर्णः' (महान् समुद्र) कहा गया है ऊपरके

---

1 गोअग्राम् अश्वपेशसं रातिम् (2. 2. 13)।

2 तुलना करो 'अर्व'को 'ज्योतिरग्र' कहा गया है—ज्योति द्वारा नीयमान।

समुद्रके लिये जिसे—जैसा कि एक जगह (1–3–12) आया है—सरस्वती हमारे लिये प्रचेतित कर देती है (प्रचेतयति) या जिससे वह हमें अन्तर्ज्ञानकी किरणके द्वारा (केतुना) सचेतन कर देती है। प्रसिद्ध सात नदियोंके विषयमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये उत्तर भारतकी नदियां हैं, परन्तु वेद वर्णन करता है सात महती दिव्य नदियोंका (सप्त यह्वी:) जो द्युलोकसे नीचे उतरती हैं, ये ऐसे जल हैं जो जानते हैं, जो सत्यके ज्ञाता, 'ऋतज्ञा:' हैं और जब वे मुक्त होते हैं, वे हमारे लिये महान् द्युलोकोंके पथको ढूंढ़ देते हैं। इसी तरह पराशर ऋषि ज्ञान तथा विश्वव्यापी प्राणके विषयमें कहते हैं कि यह 'जलोंके धरमें' है। इन्द्र वृत्रका वध करके वर्षाको मुक्त करता है, पर यह वर्षा भी दिव्य वर्षा है जो द्युलोकसे आती है और यह सात नदियोंको प्रवहमान कर देती है। इस प्रकार जलोंकी मुक्तिकी गाथा जिसका वेदमें इतने अधिक स्थानोंपर वर्णन है एक प्रतीकात्मक कथाका रूप धारण कर लेती है। इसीके साथ दूसरी प्रसिद्ध प्रतीकात्मक गाथा आती है जिसमें देवताओं और अंगिरस् ऋषियोंके द्वारा पर्वतकी अंधेरी गुफामेंसे सूर्यकी, उसकी गौओं या उसके गोयूथकी अथवा सूर्यलोक—स्वर्—की खोज एवं पुनरुद्धारका वर्णन है। सूर्यका प्रतीक सतत रूपसे उच्चतर प्रकाश और सत्यके साथ सम्बन्धित है : निम्न कोटिके सत्यके द्वारा ढके हुए सत्य में ही सूर्यके घोड़े खोल दिये जाते हैं : महान् गायत्री मंत्रमें हमारे विचारोंको प्रेरित करनेके लिये जिसका आवाहन किया गया है वह अपने उच्चतम प्रकाशमें स्थित सूर्य ही है। इसी प्रकार वेदमें शत्रुओंके विषयमें कहा गया है कि ये लुटेरे हैं, दस्यु हैं, जो गौओंको चुरा लेते हैं या ये हैं वृत्र और वेदकी साधारण व्याख्यामें इन्हें बिल्कुल मनुष्य-शत्रु ही मान लिया गया है, परंतु वृत्र एक असुर है जो प्रकाशको ढकता है और जलोंको रोके रखता है और वृत्रलोग (वृत्रा:) उसकी शक्तियां हैं जो इस व्यापारको सम्पन्न करती हैं। दस्यु अर्थात् लुटेरे या विनाशक हैं अंधकारकी शक्तियां जो प्रकाश और सत्यके उपासकोंका विरोध करनेवाली हैं। सदा ही वेदमें ऐसे संकेत विद्यमान हैं जो हमें बाह्य और ऊपरीसे एक आन्तरिक और गुह्य अर्थकी तरफ ले जाते हैं।

उपनिषदोंकी वेदव्याख्याका एक उदाहरण

सूर्यके प्रतीकके सम्बन्धमें पंचम-मंडलस्थ एक सूक्तके एक महत्त्वशाली और अत्यंत अर्थपूर्ण मन्त्रका यहां उल्लेख कर देना ठीक होगा, क्योंकि यह न केवल वैदिक कवियोंके गंभीर रहस्यमय प्रतीकवादको दिखलाता है बल्कि

यह भी दिखलाता है कि उपनिषदोंके रचयिताओंने ऋग्वेदको कैसा ठीक समझा था और यह उनकी अपने पूर्वज (वैदिक) ऋषियोंके अन्तःप्रेरित ज्ञान (वेद) में श्रद्धाको उचित ठहराता है। वेदमंत्र[1] (5–62–1) कहता है कि 'सत्यसे ढका हुआ एक सत्य है जहाँ वे सूर्यके घोड़ोंको खोल देते हैं। दश शत इकट्ठे ठहरे, वहाँ वह एक[2] था। मैंने सशरीर देवोंमेंसे महत्तम (श्रेष्ठ, सबसे अधिक महिमाशाली) को देखा"। अब देखिये कि उपनिषद्का ऋषि इस विचारको, इस रहस्यमय वचनको अपनी निजी पीछेकी शैलीमें किस प्रकार अनूदित करता है, वह सूर्यके केंद्रीय प्रतीकको तो वैसा ही कायम रखता है परंतु अर्थमें किसी प्रकार की गुप्तता नहीं बरतता। ईशोपनिषद्का वह वचन इस प्रकार है "सत्यका मुख ढका हुआ है एक सुनहरे पात्रसे, हे पूषन्, तू उसे हटा दे सत्यके नियम (धर्म) की दृष्टिके लिये[4]। हे पूषन्, एक ऋषि, हे यम, हे सूर्य, हे प्रजापतिके पुत्र, अपनी किरणोंका व्यूहन कर और उन्हें एकत्रित कर: मैं उस प्रकाशको देखता हूँ जो तेरा वह उत्कृष्टतम (कल्याणतम) रूप है; यह जो पुरुष है वह मैं हूँ"। सुनहरे पात्रसे मतलब वही है जो वेदमंत्रमें कहे निम्न कोटिके आवरक सत्य, 'ऋतेन'का है। वेदमंत्रका 'देवानां श्रेष्ठं वपुषाम्' उपनिषद्के (सूर्यके) 'कल्याणतम रूप'के समान है; यह परम प्रकाश है जो समस्त बाह्य प्रकाशसे भिन्न और बृहत्तर है। उपनिषद्का महावाक्य 'सोऽहमस्मि' वेदके 'तदेकं' (वह एक) के अनुरूप है। 'दशशतका इकट्ठा ठहरना'—(सायण भी कहता है कि ये सूर्यकी किरणें हैं और यही प्रत्यक्षतः अभिप्राय है)—इसे ही उपनिषद्की सूर्यके प्रति की गई प्रार्थनामें "किरणोंका व्यूहन करो और उन्हें एकत्र करो (जिससे कि परम रूप दृष्टिगोचर हो सके)" इस रूपमें ले आया गया है। इन दोनों ही (वेद और उपनिषद्के) सन्दर्भोंमें, वेदमें सतत रूपसे ही और उपनिषदमें प्रायशः, सूर्य परम सत्य और ज्ञानका अधिदेवता है और उसकी किरणें वह प्रकाश हैं जो उस परम सत्य और ज्ञानसे निकलता है। इस उदाहरणसे—और ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं—यह स्पष्ट है कि उपनिषदके ऋषिको अपने प्रभूत पाण्डित्य सहित मध्यकालीन, कर्मकांडी टीकाकारकी अपेक्षा प्राचीन वेदके अर्थ और

---

1. ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
   दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम् ॥
2. अथवा वह (परम सत्य) एक था।
3. अथवा इसका अर्थ है 'मैंने देवोंके शरीरोंमेंसे महत्तम (श्रेष्ठ) को देखा'।
4. अथवा सत्यके नियमके लिये, दृष्टिके लिये।

अभिप्रायका अधिक सच्चा ज्ञान था और आधुनिक तथा बहुत भिन्न प्रकार-के मनवाले योरोपियन विद्वानोंकी अपेक्षा तो बहुत ही अधिक सच्चा।

कुछ शब्दोंके आध्यात्मिक अर्थ

कतिपय आध्यात्मिक शब्द हैं जिन्हें कि हमें सतत रूपसे उनके सच्चे व ठीक अर्थमें लेना होगा यदि हमें वेदके आन्तरिक या गुह्य अर्थका पता लगाना अभीष्ट है। सत्य, 'ऋतं', के अतिरिक्त, हमें 'धी' शब्दको जो मंत्रोंमें बारबार प्रयुक्त हुआ है सदा 'विचार' के अर्थमें लेना होगा। 'धी' शब्दका, जो बादके 'बुद्धि' शब्दके अनुरूप है, स्वाभाविक अर्थ यही है। इसका अर्थ है विचार, समझ, प्रज्ञा और बहुवचनमें 'अनेक विचार' (धियः)। साधारण व्याख्याओंमें इस शब्दके भी सब प्रकारके अर्थ किये गये हैं—'जल', 'कर्म', 'यज्ञ', 'अन्न' आदि, और ऐसे ही विचार भी। परंतु हमें अपनी खोजमें इसे स्थिरतया इसके साधारण और स्वाभाविक अर्थ (विचार)में ही लेना है और देखना है कि इससे क्या परिणाम निकलता है। 'केतु' शब्दका बहुत सामान्य अर्थ 'किरण' होता है, परन्तु यह बुद्धि, निर्णय या बौद्धिक बोधका अर्थ भी रखता है। यदि वेदके उन वचनोंकी हम तुलना करें जिनमें 'केतु' शब्द आया है तो हम इस परिणामपर पहुँच सकते हैं कि इसका अर्थ बोधकी या अन्तर्ज्ञानकी किरण है; जैसे उदाहरणके तौरपर, अन्तःस्फुरित ज्ञानकी किरणसे ही (केतुना) सरस्वती हमें महान् समुद्रसे सचेतन करती है; उन किरणोंका भी संभवतः यही अभिप्राय है जो ऊपर स्थित परम आधारसे आती हैं और नीचेकी ओर प्रेरित की जाती हैं; वे हैं ज्ञानकी अन्तःस्फुरणायें, सत्य और प्रकाशके सूर्यकी किरणें। एवं 'क्रतु' शब्दका साधारण अर्थ है 'कर्म' या 'यज्ञ' परंतु इसका अर्थ प्रज्ञा, बल या निश्चय और विशेषतया प्रज्ञाका वह बल जो कर्मका निर्धारण करता है, अर्थात् 'संकल्प' भी होता है। इस अन्तिम अर्थ अर्थात् संकल्पके अर्थमें ही हम इस शब्दको वेदकी गुह्य व्याख्या करनेमें ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि अग्निको द्रष्टृसंकल्प, 'कविक्रतुः' कहा गया है, अग्नि 'हृदयका संकल्प' (क्रतुर्हृदि)[1] है। और अन्तमें 'श्रवः' शब्द है, जो वेदमें सतत रूपसे आता है और जिसका अर्थ 'कीर्ति' है, टीकाकारोंने इसे 'अन्न' अर्थमें भी लिया है, पर इन अर्थोंको सर्वत्र नहीं किया जा सकता और बहुत करके इनसे कुछ बात नहीं बनती और वाक्यमें एकान्वयका बल भी नहीं आता। परंतु

---

1. जैसे, 4-10-1, 4-41-1

'श्रवस्' 'श्रु श्रवणे'से (श्रु धातुसे जिसका अर्थ 'सुनना' है) बना है और स्वयं 'कान' (श्रवणेंद्रिय)के अर्थमें, तथा मंत्र या प्रार्थनाके अर्थमें—और इस अर्थको सायण भी स्वीकार करता है—प्रयुक्त हुआ है और इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि इसका अर्थ 'सुनी हुई वस्तु' है या उसका परिणामभूत ज्ञान जो हमें श्रवणके द्वारा प्राप्त होता है। ऋषिगण अपने-आपको 'सत्यश्रुतः' अर्थात् 'सत्यके सुननेवाले' कहते हैं और इस श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञानको 'श्रुति' नामसे पुकारते हैं। सो वेदकी गुह्य व्याख्या में हम 'श्रवः' शब्दको अन्तःप्रेरणा या अन्तःप्रेरित ज्ञानके अर्थमें ही ले सकते हैं और हम देखते हैं कि यह पूर्ण संगतिके साथ सब जगह ठीक बैठता है। एवं जब ऋषि 'श्रवांसि' के विषयमें कहता है कि उन्हें ऊपरकी तरफ ले जाया जाता है और नीचेकी तरफ लाया जाता है तो यह 'अन्न' या 'कीर्ति' के विषयमें लागू नहीं हो सकता परंतु यह बिल्कुल संगत और अर्थपूर्ण हो जाता है यदि ऋषि यह अन्तःप्रेरणाओंके लिये कह रहा है कि वे ऊपर सत्यतक चढ़ जाती हैं और सत्यको नीचे हमतक ले आती हैं। इसी पद्धतिको हम वेदमें सर्वत्र लागू कर सकते हैं। परंतु इस विषयको हम यहाँ और अधिक विस्तार नहीं दे सकते। इस प्राक्कथनकी लघु सीमाओंके अन्दर ये संक्षिप्त निर्देश ही पर्याप्त होने चाहियें; इन निर्देशोंको देनेका यहाँ प्रयोजन यही है कि इनसे पाठकको वेदकी व्याख्याकी गुह्यार्थ-पद्धतिके विषयमें प्रारम्भिक अन्तर्दृष्टि, अन्तःप्रवेशार्थ ज्ञान दिया जा सके।

वेदका गुह्य आशय

तो फिर वह गुप्त अर्थ, वह गुह्य आशय क्या है जो वेदके इस प्रकारके अध्ययनके द्वारा निकलता है? यह वही है जिसकी हम सभी जगहके रहस्य-वादियोंकी जिज्ञासाके स्वरूपसे अपेक्षा करेंगे। और यह वही है जिसकी भारतीय संस्कृतिके विकासकी वास्तविक पद्धतिसे भी हमें अपेक्षा करनी चाहिये, अर्थात् आध्यात्मिक सत्यका प्रारम्भिक रूप जो उपनिषदोंमें अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गया। वेदका गुह्य ज्ञान ही वह बीज है जो पीछे जाकर वेदान्तके अंदर विकसित हुआ। जिस विचारके चारों ओर शेष सब केंद्रित है वह है सत्य, प्रकाश, अमरत्वकी खोज। एक सत्य है जो बाह्य सत्ताके सत्यसे गम्भीरतर और उच्चतर है, एक प्रकाश है जो मानवीय समझके प्रकाशसे बृहत्तर और उच्चतर है एवं जो अंतःप्रेरणा तथा स्वतः-प्रकाशन (इलहाम) द्वारा आता है, एक अमरत्व है जिसकी तरफ आत्माको उठना है। इसके लिये हमें अपना रास्ता निकालना है, इस सत्य और

अमरत्वके स्पश (सम्पर्क) में आनेके लिये ('ऋतं सपन्तः अमृतम्'[1]), सत्यमें उत्पन्न होनेके लिये, उसमें बढ़नेके लिये, सत्यके लोकमें आत्मतः आरोहण करने और उसमें निवास करनेके लिये। ऐसा करना परमेश्वरके साथ अपनेको युक्त करना है और मर्त्य अवस्थासे अमरत्वमें पहुँच जाना है। यह वैदिक रहस्यवादियोंकी प्रथम और केंद्रीय शिक्षा हैं। प्लेटोके अनुयायी, जिन्होंने अपने सिद्धांतको प्राचीन रहस्यवादियोंसे लेकर विकसित किया था, मानते थे कि हम दो लोकोंके संबंधमें रहते हैं—एक उच्चतर सत्यका लोक जिसे आध्यात्मिक जगत् कहा जा सकता है और दूसरा जिसमें हम रहते हैं, शरीरधारी आत्माका लोक जो उच्चतर लोकसे ही निकला है किंतु जो उसका अवर कोटिके सत्य और अवर कोटिकी चेतनामें अपभ्रंश है। वैदिक रहस्यवादी इस सिद्धांतको अधिक मूर्त्त और अधिक व्यावहारिक रूपमें मानते थे, क्योंकि उन्हें इन दोनों लोकोंका अनुभव प्राप्त था। यहाँ इस लोकका एक अवर कोटिका सत्य है जो बहुतसे अनृत और भ्रांतिसे (अनृतस्य भूरेः, 7–60–5) मिश्रित है और वहाँ एक सत्यका घर या लोक (सदनम् ऋतस्य, 1–164–47 ; 4–21–3) है, 'सत्यम् ऋतं बृहत्' है (अथर्व० 12–1–1) जहाँ सब कुछ सत्य-सचेतन है, ऋत-चित् है (4–3–4)। इन दोनोंके बीचमें त्रिदिवृतक (त्रिविध द्युलोकोंतक) अनेक लोक हैं और उनके प्रकाश हैं परंतु यह है उच्चतम प्रकाशका लोक, सत्यके सूर्यका लोक, स्वर्लोक या बृहत् द्यौ। हमें उस बृहत् द्यौको ले जानेवाले मार्गकी खोज करनी है, सत्यके मार्गकी, 'ऋतस्य पंथा'की या, जैसे कि उसे कई बार कहा गया है, 'देवोंके मार्ग'की। यह हुआ रहस्यवादियोंका दूसरा सिद्धांत। तीसरा सिद्धांत यह है कि हमारा जीवन सत्य और प्रकाशकी शक्तियों, अर्थात् अमर देवों, तथा अंधकारकी शक्तियोंके बीच चलनेवाला युद्ध है। ये अंधकारकी शक्तियाँ विविध नामोंद्वारा पुकारी गयी हैं—वृत्र या वृत्राः, वल, पणयः, दस्यु तथा उनके राजगण। इन अंधकारकी शक्तियोंके विरोधको नष्ट करनेके लिये हमें देवोंकी सहायताकी पुकार करनी होती है क्योंकि ये विरोधी शक्तियाँ हमारे प्रकाशको छिपा देती हैं या इसे हमसे छीन लेती हैं, क्योंकि ये सत्यकी धाराओं ('ऋतस्य धाराः', 5–12–2 तथा 7–43–4), द्युलोककी धाराओंके बहनेमें बाधा डालती हैं और आत्माकी ऊर्ध्वगतिमें प्रत्येक प्रकारसे बाधक होती हैं। हमें आंतरिक यज्ञके द्वारा देवताओंका आवाहन करना है और शब्दके द्वारा उन्हें अपने अंदर पुकार लाना है—मंत्र (शब्द) में ऐसा कर

---

1. 1–68–2

सकनेकी विशेष शक्ति होती है—और उन्हें यज्ञकी हविकी भेंट अर्पण करनी है और इस यज्ञिय दानके द्वारा उनसे आनेवाले प्रतिदानको सुरक्षित कर लेना है जिससे इस प्रक्रियाके द्वारा हम लक्ष्यकी तरफ अपने आरोहणके मार्गका निर्माण कर सकें। बाह्य यज्ञके तत्त्वोंको वेदमें आंतरिक यज्ञ और आत्म-हवि (आत्म-समर्पण) के प्रतीकोंके रूपमें प्रयुक्त किया गया है; हम जो कुछ हैं और हमारे पास जो कुछ है उसे हम देते, प्रदान करते हैं जिससे दिव्य सत्य और ज्योतिके ऐश्वर्य हमारे जीवनमें अवतरित हो सकें और सत्यके अंदर हमारे आंतरिक जन्मके तत्त्व बन सकें—एक सच्चा विचार, एक सच्ची समझ, एक सच्ची क्रिया हमारे अंदर विकसित होनी चाहिये जो उस उच्चतर सत्यका विचार, प्रेरणा और क्रिया हो, 'ऋतस्य प्रेषा; ऋतस्य धीतिः' (1–68–3) और इसके द्वारा हमें अपने-आपको उस सत्यके अंदर निर्मित करना चाहिये। हमारा यज्ञ एक यात्रा है, तीर्थयात्रा है और एक युद्ध है—देवोंके प्रति गमन है और हम भी उस यात्राको करते हैं अग्निको, आंतरिक ज्वालाको अपना मार्गशोधक और नेता (अग्रणी) बनाकर। हमारी मानवीय वस्तुएँ उस रहस्यमय अग्निके द्वारा अमर सत्ताके अंदर, बृहत् द्यौके अंदर उठायी जाती हैं, उठाकर ले जायी जाती हैं और दिव्य वस्तुएँ हमारे अंदर नीचे उतरकर आती हैं। जैसे ऋग्वेदका सिद्धांत ही वेदांतकी शिक्षाका बीज है, वैसे ही वेदका आंतरिक अभ्यास और क्रिया पीछेके योगाभ्यास और योग-क्रियाका बीज है। और अंतमें, वैदिक रहस्यवादियोंकी शिक्षाका चरम शिखर है एक वस्तुसत्ताका रहस्य, 'एकं सत्' (1–164–46) या 'सत् एकम्' (10–129–2), जो उपनिषद्का महावाक्य (केंद्रीय वचन) बन गया। सब देव, प्रकाश और सत्यकी शक्तियाँ, एक (देव) के ही नाम और शक्तियाँ हैं, प्रत्येक देव स्वयं सब देवता है और उन्हें अपनेमें रखे हुए है। वह एक सत्य है, 'तत् सत्यम्' (3–39–5, 4–54–4 तथा 8–45–27 इत्यादि) और एक आनंद है जिसपर हमें पहुँचना है। परंतु फिर भी वेदमें यह अधिकतर पर्देके पीछेसे दिखाई देता है। इस विषयमें और भी बहुत कुछ वक्तव्य है परंतु सिद्धांतका सार, हार्द यही है।

इस ग्रन्थमें वेदमंत्रोंका जो अनुवाद दिया गया है वह पूरा-पूरा शब्दशः अनुवाद नहीं है अपितु एक साहित्यिक अनुवाद है। परंतु इस अनुवादमें शब्दोंके अर्थ एवं आशय के प्रति, और विचारकी रचनाके प्रति पूरी-पूरी निष्ठा रखी गयी है: वस्तुतः पद्धति ही यह बरती गयी है कि वास्तविक भाषाका बिना कुछ भी नमक-मिर्च लगाये, बहुत सावधानतापूर्वक यथातथ

अनुवाद करनेसे प्रारंभ किया जाय और व्याख्याके आधारके रूपमें इसीका निरंतर अनुसरण किया जाय; क्योंकि केवल इसी प्रकारसे हम इन प्राचीन रहस्यवादियोंके वास्तविक विचारोंका पता निकाल सकते हैं। परंतु ऋग्वेदके सूक्तों जैसी महान् कविताका, जो अपने रूपकों और अलङ्कारोंमें शोभाशालिनी है, अपनी लयमें उदात्त और सुन्दर है, अपनी भाषाशैलीमें पूर्ण है, कोई भी अनुवाद—यदि उसे केवल एक मृत पाण्डित्य-कृति ही न रहना हो—उसकी काव्यशक्तिकी कम-से-कम एक मन्द-सी प्रतिध्वनिको करनेवाला तो होना ही चाहिये। इससे अधिक तो एक गद्यानुवादमें और एक दूसरी भाषामें किया ही नहीं जा सकता। आङ्गलभाषा और वैदिक संस्कृतकी पदावलि एवं वाक्यरचना दो नितान्त भिन्न ध्रुव हैं; ऋषियोंकी शैली और उनके स्वाभाविक लेखनके भावकी कुछ सीमातक पहुँचनेके लिये अनुवादकको सतत ही वेदके संकेन्द्रित वचनको एक अधिक शिथिल और अधिक क्षीण रूपमें ले आना होता है। अनुवादककी एक दूसरी बड़ी कठिनाई वेदमें सर्वत्र पायी जानेवाली द्वयर्थकता है जिसमें एक ही शब्दद्वारा प्रतीक और प्रतीकसे अभिप्रेत वस्तु दोनों अभिहित होते हैं; जैसे प्रकाश-किरण और गौ, मनका निर्मल प्रकाश तथा साफ किया हुआ मक्खन (घृत), घोड़े और आध्यात्मिक शक्ति। अनुवादकको ऐसी शब्दावलिका जैसे 'प्रकाशके गोयूथ' या 'चमकती हुई गौएँ' आविष्कार करना पड़ता है या अन्य ऐसी विधि प्रयोगमें लानी होती है जैसे किन्हीं शब्दोंको मोटे अक्षरोंमें लिखना, मोटे अक्षरोंमें **'घोड़ा'** लिखनेसे यह पता लग जाता है कि यहाँ प्रतीकात्मक घोड़ा ही अभिप्रेत है न कि साधारण घोड़ा-नामक एक भौतिक पशु। परंतु बहुत बार प्रतीकको छोड़ ही देना होता है या फिर प्रतीकको कायम रखा जाता है और उसके आन्तरिक अर्थको यह मानकर छोड़ दिया जाता है कि वह स्वयं समझ लिया जायगा।[1] मैंने अनुवादमें सदा आशयकी समानताकी रक्षा करते हुए भी सब जगह एक ही शब्दावलि नहीं प्रयुक्त की है, किंतु शब्दके अनुवादको उस उस स्थलविशेषके अनुसार विविध प्रकारसे किया है। प्रायः मुझे मूलमंत्रके पूरे भाव या रंगतको प्रकट कर सकनेवाला (इंगलिशका) ठीक उपयुक्त शब्द नहीं मिल सका है; मैंने एककी जगह दो शब्द प्रयुक्त किये हैं या एक शब्दावलि प्रयुक्त की है या फिर वेद-वचनको ठीक-ठीक और पूरा अर्थ देनेके लिये कुछ अन्य उपायका आश्रयण

---

1. ऋषि कई बार दो भिन्न अर्थोंको एक ही शब्दमें संयुक्त करते प्रतीत होते हैं, मैंने यथावसर इस दोहरे अर्थको अनूदित करनेका यत्न किया है।

किया है।[1] इसके अतिरिक्त, बहुधा वेदमें उसके प्राचीन शब्दोंका या भाषाके घुमावोंका ऐसा प्रयोग हुआ है जिसका आशय वस्तुतः ज्ञात नहीं होता, उसका केवल अनुमान करना होता है या उसके भिन्न अनुवाद भी समानरूप से संभव हो सकते हैं। अनेक स्थलोंपर मुझे एक अस्थायी अनुवाद देकर छोड़ देना पड़ा है, विचार यह था कि उनका अन्तिम निर्णय उस समयतक स्थगित रहे जबतक वैदिक सूक्तोंके और अधिक बड़े समुदायका अनुवाद न हो जाय और वह प्रकाशनके लिये तैयार न हो जाय; पर वह समय अभी आया नहीं है।

जनवरी 1946 श्रीअरविन्द

---

1. यह और ऐसे अन्य कथन श्रीअरविन्दकृत मन्त्रोंके अंग्रेजी अनुवादसे सम्बन्ध रखते हैं और हिन्दी अनुवादमें भी आवश्यकतानुसार श्रीअरविन्दकी इस शैलीका अनुसरण किया गया है।

—अनुवादक

वैदिक यज्ञ और देवताओंके रूपक

यज्ञका निरूपण कभी-कभी यात्रा या समुद्रयात्राके रूपकके द्वारा किया जाता है; क्योंकि यह (यज्ञ) चलता है, यह आरोहण करता है; इसका एक लक्ष्य—विशालता, वास्तविक अस्तित्व, प्रकाश, आनन्द—है और इससे चाहा गया है कि यह अपने उस लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये एक उत्तम, सीधा और सुखमय मार्ग खोज निकाले और उसीपर चले,—यह है सत्यका कठिन किंतु आनंदपूर्ण पथ। इसे दिव्य संकल्पके जाज्वल्यमान बल द्वारा परिचालित होकर मानो पर्वतकी एक अधित्यकासे दूसरी अधित्यकापर चढ़ना होता है, इसे मानो एक पोतके द्वारा सत्ताके समुद्रको पार करना होता है, इसकी नदियोंको लांघना, इसके गहरे गड्ढों और वेगवती धाराओंका अतिक्रमण करना होता है; इसका उद्देश्य होता है असीमता और प्रकाशके सुदूरवर्ती समुद्रपर पहुँचना।

और यह कोई सरल या निष्कंटक प्रयाण नहीं है। यह लंबे समयोंतक एक भयंकर और क्रूर युद्ध होता है। निरंतर ही आर्यपुरुषको श्रम करना होता है और लड़ना होता है और विजय प्राप्त करनी होती है; उसे अथक परिश्रमी, अश्रांत पथिक और कठोर योद्धा होना होता है, उसे एकके बाद एक नगरीका भेदन करना, उसे आक्रांत करना और लूटना, एकके बाद एक राज्यको जीतना, एकके बाद एक शत्रुको पछाड़ना और उसे निर्दयतापूर्वक पददलित करना होता है। उसकी समग्र प्रगति होती है एक संग्राम—देवों और दानवोंका, देवों और दैत्योंका, इन्द्र और वृत्रका, आर्य और दस्युका संग्राम। उसे विरोधी आर्योंका भी खुले क्षेत्रमें सामना करना होता है, क्योंकि पहलेके मित्र और सहायक भी शत्रु बन जाते हैं, आर्य राज्योंके राजा जिन्हें उसे जीतना और अतिलंघन करना होता है, दस्युओंसे जा मिलते हैं और उसके मुक्त और पूर्ण अभिगमनको रोकनेके लिये चरम युद्धमें उसके विरोधमें जा खड़े होते हैं।

परंतु दस्यु है स्वाभाविक शत्रु। इन विभाजकों, लुटेरों, हानिकारक शक्तियोंको, इन दानवों, विभाजनकी माताके पुत्रोंको ऋषियोंने कई सामान्य संज्ञाओंद्वारा पुकारा है। ये हैं 'राक्षस'; ये हैं खानेवाले और हड़प

1. 'On the Veda' (ऑन दि वेद) में प्रकाशित अत्रियोंके सूक्तोंके भूमिका-भागमेंसे संकलित संदर्भ।

आनेवाले, भेड़िये (वृक) और चीर डालनेवाले; ये हैं क्षति पहुँचानेवाले, घृणा करनेवाले; ये हैं द्वेष करनेवाले; ये हैं सीमित करनेवाले या निंदा करनेवाले। पर ऋषि हमें कई विशेष नाम भी बताते हैं। उनमें 'वृत्र', वह सर्प, प्रधान शत्रु है; क्योंकि वह अपनी अंधकारकी कुंडलियोंद्वारा दिव्य सत्ता और दिव्य क्रियाकी सब संभावना को ही रोकता है। और जब प्रकाशके द्वारा वृत्रका वध कर दिया जाता है तो उसमेंसे उससे भी अधिक भयंकर शत्रु उठ खड़े होते हैं। उनमेंसे एक है **शुष्ण** जो हमें अपने अपवित्र और असिद्धिकर बलसे पीड़ित करता है, दूसरा है **नमुचि** जो मनुष्यसे उसकी दुर्बलताओंके द्वारा लड़ता है, और कुछ अन्य भी हैं जिनमेंसे प्रत्येक निजी विशेष बुराईके साथ आक्रमण करता है। और फिर हैं **वल** और **पणि**—इन्द्रिय-जीवनमें लेन-देन करनेवाले लोभी बनिये, उच्चतर प्रकाश और उसकी ज्योतियोंको चुराने और छुपानेवाले। ये प्रकाश और उसकी ज्योतियोंको केवल अन्धकारसे आवृत कर सकते हैं और उनका दुरुपयोग ही कर सकते हैं। ये हैं अशुचिगण जो देवोंकी संपदाके ईर्ष्यालु होते हैं किन्तु यज्ञ करके कभी उन्हें हवि प्रदान नहीं करना चाहते। हमारी अज्ञानता, बुराई, दुर्बलता तथा अनेकानेक सीमाओंका साकार रूप रखनेवाले ये तथा अन्य व्यक्तित्व—जो इन अज्ञानता आदि पर व्यक्तित्वारोप या इनके मानवीकरणसे कहीं अधिक कुछ हैं—मनुष्यके साथ निरन्तर युद्ध करते रहते हैं। ये उसे समीपतासे घेरे रहते हैं या उसपर दूरसे अपने तीर मारते रहते हैं अथवा यहाँ तक कि उसके द्वारोंवाले घरमें देवोंके स्थानमें रहते हैं और अपने आकाररहित और हकलाते हुए मुखोंद्वारा तथा अपने बलके अपर्याप्त निःश्वासके द्वारा उसके आत्म-अभिव्यंजनको दूषित करते हैं। इन्हें निकाल बाहर करना होगा, वशमें करके मार डालना होगा, महान् और साहाय्यकारक देवताओंकी सहायताके द्वारा इन्हें इनके निम्न अंधकारमें धकेल देना होगा।

वैदिक देवता विश्वव्यापी **देवताके** नाम, शक्तियाँ और व्यक्तित्व हैं और वे **दिव्य सत्ताके** किसी विशेष सारभूत बलका प्रतिनिधित्व करते हैं। ये देव विश्वको अभिव्यक्त करते हैं और इसमें अभिव्यक्त हुए हैं। **प्रकाशकी** संतान और **असीमताके** पुत्र ये मनुष्यकी आत्माके अंदर अपने बंधुत्व और सख्यको पहचानते हैं और उसे सहायता पहुँचाना और उसके अंदर अपने-आपको बढ़ानेके द्वारा उसे बढ़ाना चाहते हैं जिससे कि उसके जगत्को वे अपने प्रकाश, बल और सौंदर्यके द्वारा अभिव्याप्त कर सकें। देवता मनुष्यको पुकारते हैं एक दिव्य सख्य और साथीपनके लिये, वे उसे अपने प्रकाशमय

भ्रातृत्वके लिये आकृष्ट करते और ऊपर उठाते हैं, वे अंधकार और विभाजनके पुत्रोंके विरोधमें उसकी सहायता आमंत्रित करते और अपनी सहायता उसे प्रदान करते हैं। बदलेमें मनुष्य देवताओंको अपने यज्ञमें आहूत करता है, उन्हें अपनी तीव्रताओं और अपने बलोंकी, अपनी निर्मलताओं और अपनी मधुरताओंकी हवि भेंट करता है—प्रकाशमय गौके दूध और घीकी, आनंदके पौधेके निचोड़े हुए रसोंकी, यज्ञके अश्वकी, अपूप और सुराकी, दिव्य-मनके चमकीले हरिओं (घोड़ों) के लिये अन्नकी भेंट चढ़ाता है। वह उन्हें (देवोंको) अपनी सत्तामें ग्रहण करता है और उनकी देनोंको अपने जीवनमें; वह उन्हें मंत्रों और सोमरसोंसे बढ़ाता है और उनके महान् तथा प्रकाशमय देवत्वोंको पूर्णतया रचता है; वेद कहता है कि वह उन्हें ऐसे रचता है 'जैसे लोहार लोहेको घड़ता है'।

इस सब वैदिक रूपकको समझना हमारे लिये सुगम है, यदि एक बार हमें इसकी कुंजी मिल जाय, परंतु इसे केवल रूपकमात्र मान लेना गलती होगी। देवता निर्विशेष भावोंके या प्रकृतिके मनोवैज्ञानिक और भौतिक व्यापारोंके केवल कविकृत मानवीकरण नहीं हैं। वैदिक ऋषियोंके लिये वे सजीव सद्वस्तुएँ हैं। मानव आत्माके उलट-फेर, अवस्थान्तर एक वैश्व संघर्षके निदर्शक होते हैं, न केवल सिद्धांतों और प्रवृत्तियोंके संघर्षके किंतु उनको आश्रय देनेवाली तथा उन्हें मूर्त्त करनेवाली वैश्व शक्तियोंके संघर्षके भी। वे वैश्व शक्तियाँ ही हैं देव और दैत्य। वैश्व रंगमंचपर और वैयक्तिक आत्मामें दोनों जगह एक ही वास्तविक नाटक उन्हीं पात्रोंके द्वारा खेला जा रहा है।

* * * *

वे देव कौनसे हैं जिनका यजन करना है? वे कौन हैं जिनका यज्ञमें आवाहन करना है जिससे कि यह वर्धनशील देवत्व मानवसत्ताके अंदर अभिव्यक्त हो सके और रक्षित रह सके?

सबसे पहला है अग्नि, क्योंकि उसके बिना यज्ञिय ज्वाला आत्माकी वेदी पर प्रदीप्त ही नहीं हो सकती। अग्निकी वह ज्वाला है संकल्पकी सप्तजिह्व शक्ति; परमेश्वरकी एक ज्ञान-प्रेरित शक्ति। यह सचेतन (जागृत) तथा बलशाली संकल्प हमारी मर्त्यसत्ताके अंदर अमर्त्य अतिथि है, एक पवित्र पुरोहित और दिव्य कार्यकर्त्ता है, पृथिवी और द्यौके बीच मध्यस्थता करनेवाला है। जो कुछ हम हवि प्रदान करते हैं उसे यह उच्चतर शक्तियोंतक ले जाता है और बदलेमें उनकी शक्ति और प्रकाश और आनंद हमारी मानवताके अंदर ले आता है।

दूसरा देव है शक्तिशाली इन्द्र। वह शुद्ध सत्की शक्ति है जो भागवत मन के रूपमें स्वतः-अभिव्यक्त है। जैसे अग्नि एक ध्रुव है, ज्ञानसे आविष्ट शक्तिका ध्रुव, जो अपनी धाराको ऊपर पृथ्वीसे द्यौकी तरफ भेजता है, वैसे ही इन्द्र दूसरा ध्रुव है, शक्तिसे आविष्ट प्रकाशका ध्रुव, जो द्यौसे पृथ्वीपर उतरता है। वह हमारे इस जगत्में एक पराक्रमी वीर योद्धाके रूपमें अपने चमकीले घोड़ोंके साथ उतरता है, और अपनी विद्युतों, वज्रोंके द्वारा अंधकार तथा विभाजनका विनाश करता है, जीवनदायक दिव्य जलोंकी वर्षा करता है, शुनी (अंतर्ज्ञान) की खोजके द्वारा खोयी या छिपी हुई ज्योतियोंको ढूंढ़ निकालता है, हमारी मनोमयसत्ताके द्युलोकमें सत्यके सूर्यको ऊँचा चढ़ा देता है।

सूर्य-देवता है उस परम सत्यका स्वामी—सत्ताके सत्य, ज्ञानके सत्य, क्रिया और प्रक्रियाके, गति और व्यापारके सत्यका स्वामी। इसलिये सूर्य है सब वस्तुओंका स्रष्टा, बल्कि अभिव्यंजक (क्योंकि सर्जनका अर्थ है बाहर ले आना, सत्य और संकल्पके द्वारा प्रकट कर देना), और यह हमारी आत्माओंका पिता, पोषक तथा प्रकाशप्रदाता है। जिन ज्योतियोंको हम चाहते हैं वे इसी सूर्यके गोयूथ हैं, गौएँ हैं। यह सूर्य हमारे पास दिव्य उषाओंके पथसे आता है और हमारे अंदर रात्रिमें छिपे पड़े जगतोंको एकके बाद एक खोलता तथा प्रकाशित करता जाता है जबतक कि यह हमारे लिये सर्वोच्च, परम आनंदको नहीं खोल देता।

इस आनंदकी प्रतिनिधिभूत देवता है सोम। उसके आनंदका रस (सुरा) छिपा हुआ है पृथिवीके प्ररोहोंमें, पौधोंमें और सत्ताके जलोंमें; यहाँ हमारी भौतिक सत्तातकमें उसके अमरतादायक रस हैं और उन्हें निकालना है, उनका सवन करना है और उन्हें सब देवताओंको हविरूपमें प्रदान करना है, क्योंकि सोमरसके बलसे ही ये देव बढ़ेंगे और विजयशाली होंगे।

इन प्राथमिक देवोंमेंसे प्रत्येकके साथ अन्य देव जुड़े हैं जो उसके अपने व्यापारसे उद्गत व्यापारोंको पूरा करते हैं। क्योंकि यदि सूर्यके सत्यको हमारी मर्त्य प्रकृति में दृढ़तया स्थापित होना है तो कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएँ हैं जिनका स्थापित हो जाना अनिवार्य है; एक बृहत् पवित्रता और स्वच्छ विशालता जो समस्त पाप और कुटिल मिथ्यात्वकी विनाशक है—यह है वरुण देव; प्रेम और समग्रबोधकी एक प्रकाशमय शक्ति जो हमारे विचारों, कर्मों और आवेगोंको आगे ले जाती और उन्हें सामंजस्य-युक्त कर देती है;—यह है मित्र देव; सुस्पष्ट-विवेचनशील अभीप्सा तथा प्रयत्नकी एक अमर शक्ति, पराक्रम—यह है अर्यमा; सब वस्तुओंका

समुचित उपभोग करनेकी एक सुखमय सहज अवस्था जो पाप, भ्रांति और पीड़ाके दुःस्वप्नका निवारण करती है—यह है भग। ये चारों सूर्यके सत्यकी शक्तियाँ हैं।

सोमका समग्र आनंद हमारी प्रकृतिमें पूर्णतया स्थापित हो जाय इसके लिये मन, प्राण और शरीरकी एक सुखमय, प्रकाशमान और अविकलांग अवस्थाका होना आवश्यक है। यह अवस्था हमें प्रदान की जाती है युगल अश्विनोंके द्वारा। प्रकाशकी दुहितासे विवाहित, मधुको पीनेवाले, पूर्ण संतुष्टियोंको लानेवाले, व्याधि और अंगभंगके भैषज्यकर्त्ता ये अश्विनौ हमारे ज्ञानके भागों और हमारे कर्मके भागोंको अधिष्ठित करते हैं और हमारी मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ताको एक सुगम और विजयशाली आरोहणके लिये तैयार कर देते हैं।

मानसिक रूपोंके निर्माताके तौरपर इन्द्रके, दिव्य मनके सहायक होते हैं उसके शिल्पी ऋभुगण। ये ऋभु हैं मानवीय शक्तियाँ जिन्होंने यज्ञके संपादनसे और सूर्यके ऊँचे निवासस्थानतक अपने उज्ज्वल आरोहणके द्वारा अमरत्व प्राप्त किया है और जो अपनी इस सिद्धिकी पुनरावृत्ति किये जानेमें मनुष्यजातिकी सहायता करते हैं। ये मनके द्वारा इन्द्रके घोड़ोंका निर्माण करते हैं, अश्विनौके रथका, देवताओंके शस्त्रोंका तथा यात्रा एवं युद्धके समस्त साधनोंका निर्माण करते हैं। परंतु सत्यके प्रकाशके प्रदाता तथा वृत्रहंताके रूपमें इन्द्रके सहायक हैं मरुत्। ये मरुत् संकल्पकी तथा वातिक या प्राणिक बलकी शक्तियाँ हैं जिन्होंने विचारके प्रकाश और आत्मप्रकटनकी गिराको प्राप्त किया है। ये समस्त विचार और वाणीके पीछे उसके प्रेरकके रूपमें रहते हैं और परम चेतनाके प्रकाश, सत्य और आनंदको पहुँचनेके लिये युद्ध करते हैं।

और फिर स्त्रीलिंगी शक्तियाँ भी हैं; क्योंकि देव पुरुष और स्त्री दोनों है और देवता भी या तो सक्रिय करनेवाली आत्माएँ हैं या निष्प्रतिरोध रूपसे कार्य संपन्न करनेवाली और यथाक्रम विन्यास करनेवाली शक्तियां हैं। उनमें सबसे पहले आती है अदिति, देवोंकी असीम माता, और फिर उसके अतिरिक्त सत्य चेतनाकी पाँच शक्तियाँ भी हैं—मही अथवा भारती है वह विशाल वाणी जो सब वस्तुओंको दिव्य स्रोतसे हमारे लिये ले आती है; इड़ा है सत्यकी वह दृढ़ आदिम वाणी जो हमें इसका सक्रिय दर्शन प्रदान करती है; सरस्वती है इस (सत्य) की बहती हुई धारा और इसकी अंतःप्रेरणाकी वाणी; सरमा, अंतर्ज्ञानकी देवी है वह द्युलोककी शुनी जो अवचेतनाकी गुफामें उतर आती है और वहाँ छिपी हुई ज्योतियोंको ढूंढ़

लेती है; फिर है **दक्षिणा** जिसका व्यापार होता है ठीक-ठीक विवेचन करना, क्रिया और हविका विनियोग करना तथा यज्ञमें प्रत्येक देवताको उसका भाग वितीर्ण करना। इसी प्रकार प्रत्येक देवकी भी अपनी-अपनी एक स्त्रीलिंगी शक्ति है।

इस सब क्रिया और संघर्ष और आरोहणके आधार हैं हमारा **पिता द्यौ** और हमारी **माता पृथिवी, देवोंके पितरौ**, जो क्रमशः हमारी शुद्ध मानसिक एवं आंतरात्मिक चेतनाको तथा भौतिक चेतनाको धारण करते हैं। इनका विस्तृत और मुक्त अवकाश हमारी सिद्धिके लिये एक आवश्यक अवस्था है। **वायु**, प्राणका अधिपति, इन दोनोंको अंतरिक्ष, प्राणशक्तिके लोक, के द्वारा जोड़ता है। और फिर अन्य देवता भी हैं—**पर्जन्य**, द्युलोककी वर्षा देनेवाला; **दधिक्रावा**, दिव्य युद्धाश्व, अग्निकी एक शक्ति; **आधारका** रहस्यमय **सर्प** (अहिर्बुध्न्य), त्रित आप्त्य जो भुवनके तीसरे लोकमें हमारी त्रिविध सत्ताको निष्पन्न करता, सिद्ध करता है; इनके अतिरिक्त और भी हैं।

इन सभी देवत्वोंका विकास हमारी पूर्णताके लिये आवश्यक है। और वह पूर्णता हमें प्राप्त करनी चाहिये अपने सभी स्तरोंपर—पृथ्वीकी विस्तीर्णतामें, हमारी भौतिक सत्ता और चेतनामें; प्राणिक वेग और क्रिया और उपभोगके तथा वातिक स्पंदनके पूर्ण बलमें, जो **घोड़े (अश्व)**के रूपकसे निरूपित किया गया है, जिस घोड़ेको हमें अपने प्रयत्नोंको आश्रय देनेके लिये अवश्य सामने लाना चाहिये; भावमय हृदयके पूर्ण आनंदमें और मनकी एक चमकीली उष्णता और निर्मलतामें, हमारी समस्त बौद्धिक और अंतर्मानसिक सत्ताभरमें; अतिमानस **प्रकाश**के आगमनमें, **उषा** तथा **सूर्य**के एवं गौओंकी ज्योतिर्मयी **माता**के आगमनमें, जो हमारी सत्ताका रूपांतर करनेके लिये आते हैं; क्योंकि इसी प्रकार हम **सत्य**को अधिकृत करते हैं, **सत्य**के द्वारा **आनंद**की अद्‌भुत महान् लहरको, **आनंद**में निरपेक्ष अस्तित्वकी असीम **चेतना**को आयत्त करते हैं।

तीन महान् देवता, जो पौराणिक त्रिमूर्त्तिके मूल हैं और परम **देव**की तीन बृहत्तम शक्तियाँ हैं, इस क्रमोन्नति और ऊर्ध्वमुख विकासको संभव बनाते हैं; ये ही ब्रह्मांडकी इन सब जटिलताओंको उसकी विशाल रूप-रेखाओंमें और मूलभूत शक्तियोंमें धारण करते हैं। उनमेंसे पहला **बृहस्पति** है **स्रष्टा**, वह शब्दके द्वारा, अपने रवके द्वारा सर्जन करता है—इसका अभिप्राय हुआ कि वह अभिव्यक्त करता है, समस्त सत्ताको और सब सचेतन ज्ञानको तथा जीवनकी गतिको और अंतिम परिणत रूपोंको निश्चेतनाके अंधकारमेंसे बाहर निकालकर प्रकट कर देता है। फिर है

रुद्र, प्रचंड और दयालु, ऊर्जस्वी देव, जो जीवनके अपने आपको सुस्थित करनेके लिये होनेवाले संघर्षका अधिष्ठाता है; वह है **परमेश्वरकी** शस्त्रसज्जित, मन्युयुक्त तथा कल्याणकरी शक्ति जो सृष्टिको जबर्दस्ती ऊपरकी ओर उठाती है, जो कोई विरोध करता है उस सबपर प्रहार करती है, जो कोई गलती करता है या प्रतिरोध करता है उस सबको चाबुक लगाती है, जो कोई क्षत हुआ है और दुःखी है और शिकायत करता है तथा शरण आता है उस सबकी मरहमपट्टी करती, उसे चंगा कर देती है। तीसरा, विशाल व्यापक गतिवाला **विष्णु** है जो अपने तीन पद-क्रमोंमें इन सब लोकोंको धारण करता है। यह विष्णु ही हमारी सीमित मर्त्यसत्ताके अंदर इन्द्रकी क्रिया होनेके लिये विस्तृत स्थान बनाता है; उसके द्वारा और उसके साथ ही हम उसके उच्चतम पदोंतक आरोहण कर पाते हैं जहाँ उस **मित्र, प्रिय, परम सुखदाता देवको** हम अपनी प्रतीक्षा करते हुए पाते हैं।

हमारी यह पृथ्वी, जो सत्ताके अंधकारमय निश्चेतन समुद्रमेंसे निर्मित हुई है, अपनी उच्च रचनाओंको और अपने चढ़ते हुए शिखरोंको द्युलोककी ओर ऊपर उठाती है। मनके द्युलोककी अपनी ही निजी रचनाएँ हैं, पर्जन्य हैं जो अपने विद्युत्-प्रकाशोंको तथा अपने जीवनजलोंको प्रदान करते हैं; निर्मलताकी तथा मधुकी धाराएँ नीचेके अवचेतन समुद्रमेंसे उठकर ऊपर चढ़ती हैं और ऊपरके अतिचेतन समुद्रको पहुँचना चाहती हैं; और ऊपरसे वह समुद्र अपनी प्रकाशकी और सत्य और आनंदकी नदियोंको नीचेकी ओर, हमारी भौतिक सत्ताके अंदरतक भी, बहाता है। इस प्रकार भौतिक प्रकृतिके रूपकोंके द्वारा वैदिक कवि हमारे आध्यात्मिक आरोहणका गीत-गान करते हैं।

वह आरोहण **प्राचीन** पुरुषों, मानव-पूर्वपितरों, द्वारा पहले ही संपन्न किया जा चुका है और उन महान् पूर्वजोंकी आत्मा अब भी अपनी संतानोंकी सहायता करती है; क्योंकि नवीन उषाएँ पुरानियोंकी पुनरावृत्ति करनेवाली होती हैं तथा भविष्यकी उषाओंसे मिलनेके लिये प्रकाशमें आगे झुकती हैं: कण्व, कुत्स, अत्रि, कक्षीवान्, गोतम, शुनःशेप आदि ऋषि विशेष प्रकारकी आध्यात्मिक विजयें प्राप्त करके आदर्श स्थापित कर चुके हैं जिनकी वे विजयें मानवजातिकी अनुभूतिमें सतत पुनरावृत्त होनेकी प्रवृत्ति रखती हैं। सप्त ऋषि, वे अंगिरस् मंत्रगान करने, गुफाको तोड़ने, खोयी हुई गौओंको खोजने, छिपे हुए सूर्यको पुनः प्राप्त करनेको उद्यत अब भी और सदैव प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार आत्मा सहायता करनेवालों और हानि पहुँचानेवालों, मित्रों और शत्रुओंसे भरा हुआ एक युद्धक्षेत्र है। यह सब सजीव है, भरपूर है, वैयक्तिक है,

सचेतन है, सक्रिय है। यज्ञ और शब्दके द्वारा हम अपने लिजके लिये प्रकाशयुक्त द्रष्टाओंको, हमारे लिये लड़नेवाले वीरोंको, अपने कार्योंकी संतानोंको उत्पन्न करते हैं। ऋषिवृंद और देवता हमारे लिये चमकीली गौएँ खोज लाते हैं; ऋभुगण मनके द्वारा देवोंके रथ और उनके घोड़ों और उनके चमकते हुए शस्त्र निर्मित करते हैं। हमारा जीवन एक घोड़ा है जो हिनहिनाता हुआ और सरपट दौड़ता हुआ आगे-आगे और ऊपर-ऊपर हमें चढ़ाये लिये जा रहा है; इसकी शक्तियाँ द्रुतगामी अश्व हैं, मनकी मुक्त हुई शक्तियाँ विस्तृत पंखोंवाले पक्षी हैं; यह मानसिक सत्ता या यह आत्मा ऊपरकी ओर उड़नेवाला हंस या श्येन है जो सैकड़ों लोह-भित्तियोंको तोड़कर बाहर निकल आता है और आनंद-धामके ईर्ष्यालु संरक्षकोंसे सोमकी सुराको छीन लाता है। प्रत्येक प्रकाशपूर्ण परमेश्वरोन्मुख विचार जो हृदयकी गुप्त अगाध गहराइयोंसे निकलता है एक पुरोहित है और एक स्रष्टा है और वह प्रकाशमय सिद्धि तथा पराक्रमपूर्ण कृतार्थताके दिव्य गीतका गान करता है। हम सत्यके चमकीले सुवर्णको खोजते हैं; हम द्युलोककी निधिकी कामना करते हैं।

मनुष्यका आत्मा सत्ताओंसे भरा एक संसार है, एक राज्य है जिसमें परम विजय पानेके लिये या उसमें बाधाएँ डालनेके लिये सेनाएँ संघर्ष करती हैं, एक घर है जिसमें देवता हमारे अतिथि हैं और जिसे असुर अधिकृत कर लेना चाहते हैं; इसकी शक्तियोंकी पूर्णता और इसकी सत्ताकी विशालता दिव्यसत्रके लिये (देवताओंके आकर बैठनेके लिये) यज्ञका आसन (बर्हिः) बिछाकर उसे व्यवस्थित और पवित्र कर देती हैं।

ये हैं वेदके कुछ एक मुख्य रूपक और हैं उन पूर्व-पुरुषोंकी शिक्षाकी बहुत संक्षिप्त और अपर्याप्त रूपरेखा। इस प्रकार समझा हुआ ऋग्वेद एक अस्पष्ट, गड़बड़से भरा और जंगली गीतावलि नहीं रहता, यह मनुष्यजातिका एक ऊँची अभीप्सासे युक्त गीतपाठ बन जाता है, इसके सूक्त हैं आत्माकी अपना अमर आरोहण करते हुए गायी जाती वीरगाथाके आख्यान।

कम-से-कम यह है; वेदमें और जो कुछ प्राचीन विज्ञान, लुप्त विद्या, पुरानी मनोभौतिक परंपरा आदि हों उन्हें अभी खोजना शेष ही है।

—श्रीअरविन्द

पहला अध्याय

प्रश्न और उसका हल

वेदमें कुछ रहस्यकी बात है भी कि नहीं, अथवा क्या अब भी वेदमें कुछ रहस्यकी बात रह गयी है?

यह है प्रश्न जिसका उत्तर साधारणतया 'नकार' में दिया जाता है, क्योंकि प्रचलित विचारोंके अनुसार तो उस पुरातन गुह्यका—वेदका—हृदय निकालकर बाहर रख दिया गया है और उसे सबके दृष्टिगोचर बना दिया गया है, बल्कि अधिक ठीक यह है कि उसमें वास्तविक रहस्यकी कुछ बात कभी कोई थी ही नहीं। वेदके सूक्त एक ऐसी आदिम जातिकी यज्ञ-बलिदान-विषयक रचनाएँ हैं जो अभी तक जंगलीपन से नहीं उठीं। वे धर्मानुष्ठान तथा शान्तिकरण-संबंधी रीति-रिवाजोंकी एक परिपाटीकी रटमें लिखे गये हैं, प्रकृतिकी शक्तियोंको सजीव देवता मानकर उन्हें सम्बोधित किये गये हैं और अधकचरी गाथाओं तथा अभी बन रहे अधूरे नक्षत्रविद्या-संबंधी रूपकोंकी गड़बड़ और अव्यवस्थित सामग्रीसे भरपूर हैं। केवल अन्तिम सूक्तोंमें हमें कुछ गंभीरतर आध्यात्मिक तथा नैतिक विचारोंका प्रथम आविर्भाव देखनेको मिलता है—ये विचार भी कइयोंकी सम्मतिमें उन विरोधी द्रविड़ोंसे लिये गये हैं, जो "लुटेरे" और "वेदद्वेषी" थे, जिन्हें इन सूक्तोंमें ही जी भरकर कोसा गया है—और ये चाहे किसी तरह प्राप्त किये गये हों, आगे आनेवाले वैदान्तिक सिद्धान्तोंका प्रथम बीज बने। वेदके सम्बन्ध में यह आधुनिकवाद उस स्वीकृत विचारके अनुसार है, जो मानता है कि मनुष्यका विकास बिल्कुल हालकी जंगली अवस्थासे शीघ्रता-पूर्वक हुआ है और इस वादका समर्थन समालोचनात्मक अनुसन्धानकी एक रोबदाबवाली साधन-सामग्री द्वारा किया गया है तथा अनेक शास्त्रोंकी साक्षी द्वारा इसे पुष्ट भी किया गया है। दुर्भाग्यवश ये शास्त्र अभी तक बाल-अवस्थामें हैं और इनके तरीके अभी तक बहुत कुछ अटकल लगानेवाले तथा इनके परिणाम बदलनेवाले हैं। ये हैं—तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक गाथाशास्त्र तथा तुलनात्मक धर्मका शास्त्र।

'वेदरहस्य' नामसे इन अध्यायोंके लिखनेका मेरा उद्देश्य यह है कि मैं इस पुरातन प्रश्नके लिए एक नयी दृष्टिका निर्देश करूँ। अभी तक इस

प्रश्नके जो हल प्राप्त हुए हैं उनके विरुद्ध एक अभावात्मक और खण्डनात्मक तरीका इस्तेमाल करनेका मेरा इरादा नहीं है, मैं तो यहाँ केवल भावात्मक और रचनात्मक रूपमें एक कल्पना उपस्थित करूँगा, एक स्थापना (प्रतिज्ञा) करूँगा, जो अधिक विस्तृत आधारपर रची गयी है और जो बृहत्तर तथा एक प्रकारसे पूरक स्थापना है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि यह स्थापना प्राचीन विचार और मतके इतिहासमें एक-दो ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर भी प्रकाश डाल सके, जो अभीतक के सामान्य वादों द्वारा ठीक तरह हल नहीं किये जा सके हैं।

योरोपियन विद्वानोंके ख्यालमें ऋग्वेद ही एकमात्र सच्चा वेद है। इसमें हमें यज्ञसम्बन्धी सूक्तोंका जो समुदाय मिलता है वह एक ऐसी अति प्राचीन भाषा में निबद्ध है जो बहुत-सी लगभग न हल होने लायक कठिनाइयाँ उपस्थित करती है। यह ऐसे शब्दों और शब्दरूपोंसे भरा पड़ा है जो आगेकी भाषामें नहीं पाये जाते और जिन्हें प्रायः बौद्धिक अटकल द्वारा कुछ सन्देहयुक्त अर्थमें लेना पड़ता है। ऐसे बहुतसे शब्द भी जो वेदकी तरह अभिजात संस्कृतमें भी वैसे ही पाये जाते हैं वेदमें उनसे कुछ भिन्न अर्थ रखते प्रतीत होते हैं या कम-से-कम उनसे भिन्न अर्थवाले हो सकते हैं जो आगेकी साहित्यिक संस्कृतमें उनके अर्थ हुए हैं। और इसकी शब्दावलीका एक बहुत बड़ा भाग, विशेषतया अतिसामान्य शब्द, वे जो कि अर्थकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, आश्चर्यजनक रूपसे इतने विविध प्रकारके परस्पर असम्बद्धसे अर्थ देनेवाले होते हैं कि उनसे, चुनावकी अपनी पसंदगीके अनुसार, संपूर्ण मंत्रको, संपूर्ण सूक्तको बल्कि संपूर्ण वैदिक अभिप्राय को एक बिल्कुल दूसरी रंगत दी जा सकती है। इन वैदिक प्रार्थनाओंके अभिप्राय और अर्थको निश्चित करनेके लिये पिछले कई हजार वर्षोंमें कम-से-कम तीन गम्भीर प्रयत्न किये जा चुके हैं। इनमेंसे एक तो—

(1) ऐतिहासिक कालसे पूर्वका है और यह केवल विच्छिन्न रूपमें ब्राह्मणों और उपनिषदोंमें मिलता है।

(2) परंतु भारतीय विद्वान् सायणका परंपरागत भाष्य संपूर्ण रूपमें उपलब्ध है, तथा—

(3) आज अपने ही समयमें आधुनिक योरोपियन विद्वन्मण्डली द्वारा तुलना और अटकलके महान् परिश्रमके उपरांत तैयार किया गया भाष्य भी विद्यमान है।

इन पिछले दोनों (सायण और योरोपियन) भाष्योंमें एक विशेषता समान रूपसे दिखाई देती है—असाधारण असंबद्धता और अर्थलाघव।

वेदमें कहे गये विचार अत्यंत असंबद्ध हैं और उनमें कोई अर्थगौरव नहीं है, यह है छाप जो परिणामतः इन भाष्यों द्वारा उन प्राचीन सूक्तों (वेद) पर लग जाती है। एक वाक्यको जुदा लेकर उसे, चाहे स्वाभाविकतया अथवा अटकलके जोरपर, एक उत्कृष्ट अर्थ दिया जा सकता है या ऐसा अर्थ दिया जा सकता है जो संगत लगे; शब्दविन्यास जो बनता है वह चाहे चटकीली-भड़कीली शैलीमें है, चाहे फालतू और शोभापरक विशेषणोंसे भरा है, चाहे तुच्छसे भावको असाधारण तौरपर मनमौजी अलंकार या शब्दाडंबरके आश्चर्यकर विशाल रूपमें बढ़ा दिया गया है, फिर भी उसे बुद्धिगम्य वाक्योंमें रखा जा सकता है, परंतु जब हम सूक्तोंको इन भाष्योंके अनुसार समूचे रूपमें पढ़कर देखते हैं, तो हमें प्रतीत होता है कि इनके रचयिता ऐसे लोग थे जो, अन्य जातियोंके ऐसे प्रारंभिक रचयिताओंके विसदृश, संगत और स्वाभाविक भावप्रकाशन करने या सुसंबद्ध विचार करनेके अयोग्य थे। कुछ छोटे और सरल सूक्तोंको छोड़कर, इनकी भाषा या तो धुंधली है या कृत्रिम; विचार या तो संबंध-रहित हैं या व्याख्या करनेवाले द्वारा जबरदस्ती और ठोक-पीटकर ठीक बनाये गये हैं। ऐसा मालूम देता है कि मूल मंत्रोंको लेकर बैठे विद्वान्‌को इस बातके लिये बाधित-सा होना पड़ा है कि उनकी व्याख्या करनेके स्थानपर वह लगभग नयी गढ़न्त करनेकी प्रक्रियाको स्वीकार करे। हम अनुभव करते हैं कि भाष्यकार वेदके ही अर्थको उतना प्रकट नहीं कर रहा जितना कि वह काबूमें न आनेवाली इसकी सामग्रीको पकड़कर उससे कुछ शकल बनाने और उसे संगत करनेके लिये उसे ठोक-पीट रहा और कुछ बना रहा है।

तो भी इन धुंधली और जंगली रचनाओंको समस्त साहित्यके इतिहासमें एक अत्यंत शानदार उत्तम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ये न केवल संसारके कुछ सर्वोत्कृष्ट और गंभीरतम धर्मोंके अपितु उनके कुछ सूक्ष्मतम पराभौतिक दर्शनोंके भी सुविख्यात आदिस्रोतके रूपमें मानी जाती रही हैं। सहस्रों वर्षोंसे चली आयी परंपराके अनुसार, ब्राह्मणों और उपनिषदोंमें, तंत्रों और पुराणोंमें, महान् दार्शनिक संप्रदायोंके सिद्धांतोंमें तथा प्रसिद्ध संतों-महात्माओंकी शिक्षाओंमें जो कुछ भी प्रामाणिक और सत्य करके माना जा सकता है, उस सबके मूलस्रोत और आदर्श मानदंडके रूपमें ये सदा आदृत की गयी हैं। इन्होंने जो नाम पाया वह था वेद अर्थात् ज्ञान,—वेद यह उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्यके लिये माना हुआ नाम है जहाँतक कि मनुष्यके मनकी गति हो सकती है। किंतु यदि हम प्रचलित भाष्योंको—वे चाहे सायणके हों या आधुनिक सिद्धांतके माननेवाले विद्वानोंके,—स्वीकार करते हैं तो

वेदकी यह सब-की-सब अत्युत्कृष्ट और पवित्र ख्याति एक बड़ी भारी गप्प हो जाती है। तब तो उलटे वेदमंत्रोंमें इससे अधिक और कुछ नहीं है कि ये ऐसे अशिक्षित और भौतिकवादी जंगलियोंकी अनाड़ी और अंध-विश्वास-पूर्ण कल्पनाएँ हैं जिन्हें केवल अत्यंत स्थूल लाभों और भोगोंसे ही मतलब था और जो अत्यंत प्रारंभिक नैतिक विचारों तथा धार्मिक भावनाओंके सिवाय और किसी भी बातसे अनभिज्ञ थे। और इन भाष्यों द्वारा वेदके विषयमें हमारे मनोंपर जो यह अखंड छाप पड़ती है, उसमें कहीं-कहीं आ जानेवाले कुछ भिन्न प्रकारके वेदवाक्योंके कारण, जो कि वेदकी अन्य सामान्य भावनाके बिलकुल विसंवादी होते हैं, कुछ भंग नहीं पड़ता। उनके इस विचारके अनुसार आगे आनेवाले धर्मों और दार्शनिक विचारोंके सच्चे आधार या उद्गम-स्थान तो उपनिषदें हैं न कि वेद। और फिर, उपनिषदोंके विषयमें हमें यह कल्पना करनी पड़ती है कि ये दार्शनिक और विचारशील प्रवृत्ति रखनेवाले मनस्वी पुरुषों द्वारा वेदके कर्मकांडमय भौतिकवादके विरुद्ध किये गये विद्रोहके परिणाम हैं।

परंतु इस कल्पनासे, जिसका योरोपीय इतिहासके समानान्तर उदाहरणों द्वारा जो कि भ्रमोत्पादक हैं समर्थन भी किया गया है, वस्तुतः कुछ सिद्ध नहीं होता। ऐसे गंभीर और चरम सीमा तक पहुंचे हुए विचार, ऐसी सूक्ष्म और महाप्रयत्न द्वारा निर्मित अध्यात्मविद्याकी पद्धति जैसी कि सारतः उपनिषदोंमें पायी जाती है, किसी पूर्ववर्ती शून्यसे नहीं निकल आयी है। प्रगति करता हुआ मानव मन एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञान तक पहुँचता है या किसी ऐसे पूर्ववर्ती ज्ञानको जो धुंधला पड़ गया और ढक गया होता है, फिरसे नया और वृद्धिगत करता है अथवा किन्हीं पुराने अधूरे सूत्रोंको पकड़ता और उनके द्वारा नये आविष्कारोंको प्राप्त करता है। उपनिषदोंकी विचारधारा अपनेसे पहले विद्यमान किन्हीं महान् उद्गमोंकी कल्पना करती है और प्रचलित वादोंके अनुसार ये उद्गम कोई हैं ही नहीं। इस रिक्त स्थानको भरनेके लिये जो यह कल्पना गढ़ी गयी है कि ये विचार जंगली आर्य आक्रान्ताओंने सभ्य द्राविड़ लोगोंसे लिये थे, एक ऐसी अटकल है जो केवल दूसरी अटकलों द्वारा ही संपुष्ट की गयी है। सचमुच अब इस प्रकारका संदेह किया जाने लगा है कि पंजाबसे होकर आर्योंके आक्रमण करनेकी सारी कहानी ही कहीं भाषाविज्ञानियोंकी गढ़न्त तो नहीं है। अस्तु।

प्राचीन योरुपमें जो बौद्धिक दर्शनोंके संप्रदाय हुए थे, उनसे पहले रहस्य-वादियोंके गुह्य सिद्धान्तोंका एक समय रहा था; ऑर्फिक (Orphic) और एलूसिनियन (Elcusinian) रहस्यविद्याने उस उपजाऊ मानसिक

क्षेत्रको तैयार किया था जिसमेंसे पिथागोरस और प्लेटोकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकारका उद्गमस्थान भारतमें भी आगेके विचारोंकी प्रगतिके लिये रहा हो यह बहुत संभवनीय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदोंमें हम विचारोंके जो रूप और प्रतीक पाते हैं उनका बहुत-सा भाग तथा ब्राह्मणोंकी विषय-सामग्रीका बहुत-सा भाग भी भारतमें एक ऐसे कालकी कल्पना करता है जिसमें विचारोंने उस प्रकारकी गुह्य शिक्षाओंका रूप या आवरण धारण किया था जैसी ग्रीक रहस्यविद्याओंकी शिक्षायें थीं।

दूसरा रिक्त स्थान, जो अभीतक माने गये वादों द्वारा भरा नहीं जा सका है, एक ऐसी खाई है जो कि एक तरफ वेदमें पायी जाती बाह्य प्राकृतिक शक्तियोंकी जड़-पूजाको और दूसरी तरफ ग्रीक लोगोंके विकसित धर्मको तथा उपनिषदों और पुराणोंमें जिन्हें हम पाते हैं ऐसे देवताओंके कार्योंके साथ सम्बन्धित किये गये मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विचारोंको विभक्त करती है। क्षण भरके लिये यहाँ हम इस मतको भी स्वीकार किये लेते हैं कि मानवधर्मका सबसे प्रारम्भिक पूर्णतया बुद्धिगम्य रूप अवश्यमेव प्रकृति-शक्तियोंकी पूजा ही होता है, जिसमें वह इन शक्तियोंको वैसी ही चेतना और व्यक्तित्वसे युक्त मानता है जैसी वह अपनी निजी सत्तामें देखता है। धर्मका प्रारंभिक रूप ऐसा इसलिए होता है कि पार्थिव मनुष्य बाह्यसे प्रारंभ करता है और आंतरकी तरफ जाता है।

यह तो मान ही रखा है कि वेदका अग्नि देवता आग है, सूर्य देवता सूर्य है, पर्जन्य बरसनेवाला मेघ है, उषा प्रभात है, और यदि किन्हीं अन्य देवताओंका भौतिक रूप या कार्य इतना अधिक स्पष्ट नहीं है, तो यह आसान काम है कि उस अस्पष्टताको भाषाविज्ञान की अटकल या कुशल कल्पना द्वारा दूर कर उसे स्पष्ट भौतिक अर्थ में ठीक कर लिया जाय। पर जब हम ग्रीक लोगोंकी देव-पूजापर आते हैं, जो आधुनिक कालगणनाके विचारोंके अनुसार वेदके कालसे अधिक पीछेकी नहीं है, तो हम महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन पाते हैं। देवताओंके भौतिक गुण बिल्कुल मिट गये हैं या वे उनके आध्यात्मिक रूपोंके गौण अंग हो गये हैं। तीव्र-वेगशाली अग्नि-देवता बदलकर पंगु श्रम-का-देवता हो गया है। सूर्य-देवता अपोलो (Apollo) कविता और भविष्यवाणीसम्बन्धी अन्तःस्फुरणाका अधिष्ठातृ-देवता हो गया है। एथिनी (Athene) जिसे प्रारंभिक अवस्थामें हम सम्भवतः उषादेवी करके पहचान सकते हैं, अब अपने भौतिक व्यापारोंकी सब याद भूल गयी है और बुद्धिशालिनी, बलधारिणी, शुद्ध ज्ञानकी देवी हो गयी है। इसी तरह अन्य देवता भी हैं, जैसे युद्धके, प्रेमके, सौंदर्यके देवता जिनके भौतिक व्यापार

यदि कभी थे भी तो अब दिखाई नहीं देते। इसके स्पष्टीकरणमें इतना कह देना पर्याप्त नहीं है कि ऐसा परिवर्तन मानव-सभ्यताकी प्रगतिके साथ-साथ होना अवश्यंभावी ही था, इस परिवर्तनकी प्रक्रिया भी खोज और स्पष्टीकरण चाहती है। हम देखते हैं कि इस प्रकारकी क्रान्ति पुराणोंमें भी हुई जो कि कुछ तो कई एक पुरानोंकी जगह नये नामों और रूपोंवाले अन्य देवताओंके आ जानेसे, पर कुछ उसी अविज्ञात प्रक्रियाके द्वारा हुई जिसे हम ग्रीक देवताख्यानके विकासमें देखते हैं। नदी सरस्वती म्यूज (Muse) और विद्याकी देवी बन गयी है, वेदके विष्णु और रुद्र अब सर्वोच्च देवता, देवतात्रयीमेंसे दो अर्थात् क्रमशः जगत्की संरक्षिका और विनाशिका प्रक्रियाके द्योतक बन गये हैं। ईशोपनिषद्में हम देखते हैं कि वहाँ सूर्यसे एक ऐसे स्वयंप्रकाश दिव्यज्ञानके देवताके रूपमें प्रार्थना की गयी है जिसके कार्य द्वारा हम सर्वोत्कृष्ट सत्यको पा सकते हैं। और सूर्यका यही व्यापार गायत्री नामसे प्रसिद्ध उस पवित्र वैदिक मंत्रमें है जिसका जप न जाने कितने सहस्रों वर्षोंसे प्रत्येक ब्राह्मण अपने दैनिक सन्ध्यानुष्ठानमें करता आया है, और यहाँ यह भी ध्यान देने लायक है कि यह मंत्र ऋग्वेदका, ऋग्वेदमें ऋषि विश्वामित्रके एक सूक्तका है। इसी उपनिषद्में अग्निसे विशुद्ध नैतिक कार्योंके लिये प्रार्थनाकी गयी है, उसे पापोंसे पवित्र करनेवाला एवं आत्माको सुपथ द्वारा दिव्य आनंदके प्रति ले जानेवाला माना गया है और यहाँ अग्नि संकल्पकी शक्तिके साथ एकात्मता रखनेवाला तथा मानवकर्मोंके लिये उत्तरदाता प्रतीत होता है। अन्य उपनिषदोंमें यह स्पष्ट है कि देवता मानवदेहमें होनेवाले ऐन्द्रियिक व्यापारोंके प्रतीक हैं। सोम, जो वैदिक यज्ञके लिये सोमरस (मदिरा) देनेवाला पौधा (वल्ली) था, न केवल चन्द्रमाका देवता हो गया है अपितु मनुष्यमें वह अपनेको मनके रूपमें अभिव्यक्त करता है।

शब्दोंके इस प्रकारके विकास कुछ कालकी अपेक्षा करते हैं, जो काल वेदोंके बाद और पुराणोंसे पहले बीता है, जिससे पहले भौतिक पूजा या सर्वदेवतावादी चेतनावाद था, जिसके साथ वेदका संबंध जोड़ा जाता है और जिसके बाद वह विकसित पौराणिक देवगाथाशास्त्र निर्मित हुआ जिसमें देवता और अधिक गम्भीर मनोवैज्ञानिक व्यापारोंवाले हो गये। और यह बीचका समय, बहुत सम्भव है, एक रहस्यवादका युग रहा हो। नहीं तो जो कुछ अबतक माना जाता है उसके अनुसार या तो बीचमें यह रिक्त स्थान छूटा रहता है या फिर यह रिक्त स्थान हमने बना लिया है, इस कारण बना लिया है क्योंकि हम वैदिक ऋषियोंके धर्मके विषयमें अनन्य रूपसे एकमात्र प्रकृतिवादी तत्त्वके साथ आबद्ध हो गये हैं।

मेरा निर्देश यह है कि यह रिक्त स्थान हमारा अपना बनाया हुआ है और असलमें उस प्राचीन, पवित्र साहित्यमें ऐसे किसी रिक्त स्थानकी सत्ता है ही नहीं। मैं जो मत प्रस्तुत करता हूँ वह यह है कि स्वयं ऋग्वेद मानव-विचारके उस प्रारम्भकालसे आया एक बड़ा भारी विविध उपदेशोंका ग्रन्थ है, जिस विचारके ही टूटे-फूटे अवशेष वे ऐतिहासिक एलूसिनियन तथा औफिक रहस्य-वचन थे और यह वह काल था जब जातिका आध्यात्मिक और सूक्ष्म मानसिक ज्ञान स्थूल और भौतिक अलंकारों तथा प्रतीकचिह्नोंके एक ऐसे पर्देके पीछे छुपा हुआ था जो उसके तत्त्वको अनधिकारी पुरुषोंसे सुरक्षित रखता था तथा दीक्षितोंके संमुख प्रकट कर देता था। पर किन कारणोंसे ज्ञानको इस प्रकार छुपाया जाता था इसका निश्चय करना अब कठिन है।

आत्मज्ञानकी तथा देवताओं-विषयक सत्यज्ञानकी गुप्तता एवं पवित्रता रखना—यह रहस्यवादियोंके प्रमुख सिद्धान्तोंमेंसे एक था। उनका विचार था कि ऐसा ज्ञान साधारण मानवमनको दिये जानेके अयोग्य, बल्कि उसके लिये शायद खतरनाक भी था; कुछ भी हो, यह ज्ञान यदि लौकिक और अपवित्रित आत्माओंके प्रति प्रकट किया जाय तो इसके बिगड़ जाने और दुरुपयुक्त होने तथा विगुण हो जानेका भय तो था ही। इसलिये उन्होंने प्राकृतजनोंके लिये एक बाह्य पूजाविधिका रखना पसंद किया था जो प्रभावकारी होते हुए भी अपूर्ण थी, पर दीक्षितोंके लिए उन्होंने एक आंतरिक अनुशासन-पद्धतिको रखना पसंद किया, और अपनी भाषाको ऐसे शब्दों और अलंकारोंसे आवृत कर दिया था जो एक ही साथ विशिष्ट लोगोंके लिये आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजार्थियों के समुदायके लिये एक स्थूल अर्थ प्रकट करती थी। वैदिक सूक्त इसी सिद्धान्तको विचारमें रखकर रचे गये थे। वैदिक कंडिकाएँ और विधि-विधान ऊपरसे तो सर्वेश्वरवादकी प्रकृतिपूजाके लिये, जो उस समयका सामान्य धर्म थी, आयोजित किये गये एक बाह्य कर्मकाण्डके विस्तृत आचार थे, पर गुप्त तौरसे ये पवित्र वचन थे, आध्यात्मिक अनुभूति और ज्ञानके प्रभावोत्पादक प्रतीकचिह्न और आत्मसाधनाके आन्तरिक नियम थे जो उस समय मानवजातिकी सर्वोच्च उपलब्ध वस्तुएँ थे।

सायण द्वारा अभिमत कर्मकाण्डप्रणाली अपने बाह्य रूपमें बेशक टिक सकती है, योरोपियन विद्वानों द्वारा प्रकट किया गया प्रकृतिपरक आशय भी सामान्य रूपमें माना जा सकता है, पर फिर भी इनके पीछे सदा ही एक सच्चा और अभीतक भी छिपा हुआ वेदका रहस्य है, अर्थात् वे रहस्यमय

वचन, 'निण्या वचांसि'[1] हैं, जो कि आत्मामें पवित्र और ज्ञानमें जागे हुए पुरुषोंके लिये कहे गये थे। वैदिक शब्दोंके आशयों, वैदिक प्रतीकचिह्नोंके अभिप्रायों और देवताओंके अध्यात्मव्यापारोंको निश्चित करके वेदके इस कम प्रकट किंतु अधिक आवश्यक गुह्य तत्त्वको आविष्कृत कर देना एक बड़ा कठिन किन्तु अति आवश्यक कार्य है। ये अध्याय तथा इसके साथमें दी गयी वैदिक सूक्तोंकी व्याख्यायें इस (कठिन और आवश्यक) कार्यकी तैयारीके रूपमें ही हैं।

वेदके विषयमें मेरी यह स्थापना यदि प्रामाणिक सिद्ध होती है तो इससे तीन लाभ होंगे। इससे जहाँ उपनिषदोंके वे भाग, जो अभीतक अविज्ञात पड़े हैं या ठीक तरह समझे नहीं गये हैं, खुल जायँगे वहाँ पुराणोंके बहुतसे मूलस्रोत भी आसानीसे और सफलतापूर्वक खुल जायँगे। दूसरे, इससे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय परम्परा युक्तिपूर्वक स्पष्ट हो जायगी और सत्य प्रमाणित हो जायगी; क्योंकि इससे यह सिद्ध हो जायगा कि गम्भीर सत्यके अनुसार वेदान्त, पुराण, तन्त्र, दार्शनिक सम्प्रदाय, सब महान् भारतीय धर्म अपने मौलिक प्रारम्भमें वस्तुतः वैदिक स्रोत तक जा पहुंचते हैं। तब हम आगे आये भारतीय विचार के सब आधारभूत सिद्धान्तोंको उनके मूल बीजमें या उनके प्रारम्भिक बल्कि आदिम रूपमें वेदमें देख सकेंगे। इस तरह भारतीय क्षेत्रमें तुलनात्मक धर्मका अधिक ठीक अध्ययन कर सकनेके लिये एक स्वाभाविक प्रारम्भबिन्दु उपलब्ध हो जायगा। इसके स्थानपर कि हम असुरक्षित कल्पनाओंमें भटकते रहें अथवा असंभावित विपर्ययोंके लिये और ऐसे संक्रमणोंके लिये जिनका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता उत्तरदायी बनें, हमें एक ऐसे स्वाभाविक और क्रमिक विकासका संकेत मिल जायगा जो बुद्धिको सर्वथा संतोष देनेवाला होगा। इससे प्रसंगवश, अन्य प्राचीन जातियोंकी प्रारम्भिक गाथाओं और देवताख्यानोंमें जो कुछ अस्पष्टताएं हैं, उनपर भी प्रकाश पड़ सकता है। और अन्तमें इससे, मूल वेदमें जो असंगतियाँ दीखती हैं उनका एकदम स्पष्टीकरण हो जायगा और वे जाती रहेंगी। ये असंगतियाँ ऊपर-ऊपर ही दीखती हैं, क्योंकि वैदिक अभिप्रायका असली सूत्र तो इसके आन्तरिक अर्थोंमें ही पाया जा सकता है। वह सूत्र ज्यों ही मिल जाता है त्यों ही वैदिक सूक्त बिल्कुल युक्तियुक्त और सर्वांगपूर्ण लगने लगते हैं, इनकी भावप्रकाशनशैली यद्यपि हमारे आधुनिक विचारने और बोलनेके तरीकेकी दृष्टिसे कुछ विचित्र ढंगकी

1. ऋग्वेद 4-3-16। इसका अर्थ है 'गुह्य या गुप्त वचन'।

लगे फिर भी अपने ढंगसे ठीक-ठीक और यथोचित हो जाती है। इसे शब्दावली की अधिकता की अपेक्षा शब्दसंकोच की तथा अर्थलाघवकी जगह अर्थगांभीर्यके आधिक्यकी ही दोषिणी माना जा सकता है। वेद तब जंगली-पनके केवल एक मनोरंजक अवशेष नहीं रहते, बल्कि जगत्की प्रारम्भिक धर्मपुस्तकोंमेंसे सर्वश्रेष्ठोंकी गिनतीमें जा पहुँचते हैं।

दूसरा अध्याय

वैदिकवादका सिंहावलोकन

(1)

तो वेद एक ऐसे युगकी रचना है जो हमारे बौद्धिक दर्शनोंसे प्राचीन था। उस प्रारम्भिक युगमें विचार हमारे तर्कशास्त्रकी युक्तिप्रणालीकी अपेक्षा भिन्न प्रणालियोंसे आरम्भ होता था और भाषाकी अभिव्यक्तिके प्रकार ऐसे होते थे जो हमारी वर्तमान आदतोंमें बिल्कुल अस्वीकार्य ही ठहरेंगे। उस समय बुद्धिमान्‌से बुद्धिमान् मनुष्य अपने सामान्य व्यावहारिक बोधों तथा दैनिक क्रियाकलापोंसे परेके बाकी सब ज्ञानके लिये आभ्यन्तर अनुभूतिपर और अन्तर्ज्ञानियुक्त मनकी सूझोंपर निर्भर करते थे। उनका लक्ष्य था ज्ञानालोक, न कि तर्कसम्मत निर्णय; उनका आदर्श था अन्तःप्रेरित द्रष्टा, न कि यथार्थ तार्किक। भारतीय परम्पराने वेदोंके उद्भवके इस तत्त्वको बड़ी सच्चाईके साथ संभालकर रखा है। ऋषि स्वयं वैयक्तिक रूपसे सूक्तका निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्यका और एक अपौरुषेय ज्ञान का। वेदकी भाषा स्वयं 'श्रुति' है, एक छन्द है जिसका बुद्धि द्वारा निर्माण नहीं हुआ बल्कि जो श्रुतिगोचर हुआ, एक दिव्य वाणी है जो असीममेंसे स्पंदित होती हुई आयी और उस मनुष्यके अंतःश्रवणमें पहुँची जिसने पहलेसे ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञानका पात्र बना रखा था। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, ये शब्द स्वयं वैदिक मुहावरे हैं; ये और इनके सजातीय शब्द, मंत्रोंके गूढ़ परिभाषाशास्त्रके अनुसार, स्वतःप्रकाश ज्ञानको और दिव्य अन्तःश्रवणके विषयोंको बताते हैं।

स्वतःप्रकाश ज्ञान (इलहाम या ईश्वरीय ज्ञान) की वैदिक कल्पनामें किसी चमत्कार या अलौकिकताका निर्देश नहीं मिलता। जिस ऋषिने इन शक्तियों का उपयोग किया उसने एक उत्तरोत्तर वृद्धिशील आत्मसाधनाके द्वारा इन्हें पाया था। ज्ञान स्वयं एक यात्रा और लक्ष्यप्राप्ति थी, एक अन्वेषण और एक विजय थी; स्वतःप्रकाशकी अवस्था केवल अन्तमें आयी; यह प्रकाश एक अन्तिम विजयका पुरस्कार था। वेदमें यात्राका यह अलंकार, सत्यके पथपर आत्मा का प्रयाण, सतत रूपसे मिलता है। उस पथपर जैसे यह अग्रसर होता है,

वैसे ही आरोहण भी करता है; शक्ति और प्रकाशके नवीन क्षेत्र इसकी अभीप्साओंके लिये खुल जाते हैं; यह एक वीरतामय प्रयत्नके द्वारा अप विस्तृत हुए आध्यात्मिक ऐश्वर्योंको जीत लेता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे ऐसा माना जा सकता है कि ऋग्वेद उस महान् उत्कर्षका एक लेखा है जिसे मानवीयताने अपनी सामूहिक प्रगतिके किसी एक कालमें विशेष उपायोंके द्वारा प्राप्त किया था। अपने गूढ़ अर्थमें भी, जैसे कि अपने साधारण अर्थमें, यह कर्मोंकी पुस्तक है; आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञकी पुस्तक है; यह है आत्माका संग्राम और विजयका स्तोत्र जब कि वह विचार और अनुभूतिके उन स्तरोंको खोजकर पा लेता है और उनमें आरोहण करता है जो भौतिक अथवा पाशविक मनुष्यसे दुष्प्राप्य हैं; यह है मनुष्यकी तरफ से उस दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाकी स्तुति जो मर्त्यमें कार्य करती है। इसलिये इस बातसे यह बहुत दूर है कि यह कोई ऐसा प्रयास हो जिसमें बौद्धिक या कल्पनात्मक विचारोंके परिणाम प्रतिपादित किये गये हों; नाहीं यह किसी आदिम धर्मके विधि-नियमोंको बतलानेवाली पुस्तक है। केवल इतना ही है कि अनुभवकी एकरूपतामेंसे, प्राप्त हुए ज्ञानकी निर्व्यक्तिकतामेंसे विचारोंका एक नियत समुदाय निरन्तर दोहराया जाता हुआ उद्गत हुआ है और एक नियत प्रतीकमय भाषा उद्गत हुई है, जो सम्भवतः उस आदिम मानवीय बोलीमें इन विचारोंका अनिवार्य रूप थी। क्योंकि केवल यही अपनी मूर्त्तरूपताके और अपनी रहस्यमय संकेतकी शक्तिके—इन-दोनोंके संयुक्त होनेके कारण इस योग्य थी कि उसे अभिव्यक्त कर सके जिसका व्यक्त करना जातिके साधारण मनके लिये अशक्य था। चाहे कुछ भी हो, हम एक ही विचारोंको सूक्त-सूक्तमें दुहराया हुआ पाते हैं, एक ही नियत परिभाषाओं और अलंकारोंके साथ और बहुधा एकसे ही वाक्यांशोंमें और किसी कवितात्मक मौलिकताकी खोजके प्रति या विचारोंकी अपूर्वता और भाषाकी नवीनताकी मांग के प्रति बिल्कुल उदासीनताके साथ दुहराया हुआ पाते हैं। सौंदर्यमय सौष्ठव, आडम्बर या लालित्यका किसी प्रकारका भी अनुसरण इन रहस्यवादी कवियोंको इसके लिये नहीं उकसाता कि वे उन पवित्र प्रतिष्ठापित रूपोंको बदल दें जो उनके लिये, ज्ञानके सनातन सूत्रोंको दीक्षितोंकी अविच्छिन्न परंपरामें पहुँचाते जानेवाले एक प्रकारके दिव्य बीजगणितसे बन गये थे।

वैदिक मंत्र वस्तुतः ही एक पूर्ण छंदोबद्ध रूप रखते हैं, उनकी पद्धतिमें एक सतत सूक्ष्मता और चातुर्य है, उनमें शैलीकी तथा काव्यमय व्यक्तित्वकी महान विविधताएँ हैं; वे असभ्य, जंगली और आदिम कारीगरोंकी कृति

नहीं हैं बल्कि वे एक परम कला और सचेतन कलाके सजीव निःश्वास हैं, जो कला अपनी रचनाओंको एक आत्मदर्शिका अंतःप्रेरणाकी सबल किंतु सुनियन्त्रित गतिमें उत्पन्न करती है। फिर भी ये सब उच्च उपहार जानबूझकर एक ही अपरिवर्तनीय ढांचेके बीचमें और सर्वदा एक ही प्रकारकी सामग्रीसे रचे गये हैं। क्योंकि व्यक्त करनेकी कला ऋषियोंके लिये केवल एक साधनमात्र थी न कि लक्ष्य; उनका मुख्य प्रयोजन अविरत रूपसे व्यावहारिक था, बल्कि उपयोगिताके उच्चतम अर्थमें लगभग उपयोगितावादी था।

वैदिक मंत्र उस ऋषिके लिये जिसने उसकी रचना की थी, स्वयं अपने लिये तथा दूसरोंके लिये आध्यात्मिक प्रगतिका साधन था। यह उसकी आत्मामेंसे उठा था, यह उसके मनकी एक शक्ति बन गया था, यह उसके जीवनके आंतरिक इतिहासमें कुछ महत्त्वपूर्ण क्षणोंमें अथवा संकट तकके क्षणमें उसकी आत्माभिव्यक्तिका माध्यम था। यह उसे अपने अंदर देवको अभिव्यक्त करनेमें, भक्षकको, पापके अभिव्यंजकको विनष्ट करनेमें सहायक था; पूर्णताकी प्राप्ति के लिये संघर्ष करनेवाले आर्यके हाथमें यह एक शस्त्रका काम देता था; इन्द्रके वज्रके समान यह आध्यात्मिक मार्गमें आनेवाले ढालू भूमिके आच्छादक पर, रास्तेके भेड़ियेपर, नदी-किनारेके लुटेरोंपर चमकता था।

वैदिक विचारकी अपरिवर्तनीय नियमितताको जब हम इसकी गंभीरता, समृद्धता और सूक्ष्मताके साथ लेते हैं तो इससे कुछ रोचक विचार निकलते हैं। क्योंकि हम युक्तियुक्त रूपसे यह तर्क कर सकते हैं कि एक ऐसा नियत रूप और विषय उस कालमें आसानीसे संभव नहीं हो सकता था जो विचार तथा आध्यात्मिक अनुभवका आदिकाल था, अथवा उस कालमें भी जब कि उनका प्रारंभिक उत्कर्ष और विस्तार हो रहा था। इसलिये हम यह अनुमान कर सकते हैं कि हमारी वास्तविक संहिता एक युगकी समाप्तिको सूचित करती है, न कि इसके प्रारंभको और न ही इसकी क्रमिक अवस्थाओंमें से किसी एक कालको। यह भी संभव है कि इसके प्राचीनतम सूक्त अपनसे भी अधिक प्राचीन[1] उन गीतिमय छंदोंके अपेक्षाकृत नवीन विकसित रूप अथवा पाठांतर हों जो और भी पहलेकी मानवीय भाषाके अधिक स्वच्छंद तथा सुनम्य रूपोंमें ग्रथित थे। अथवा यह भी हो सकता

1. वेद में स्वयं सतत रूप से "प्राचीन" और "नवीन" (पूर्व···नूतन) ऋषियों का वर्णन आया है, इनमेंसे प्राचीन इतने अधिक पर्याप्त दूर हैं कि उन्हें एक प्रकार के अर्ध-देवता, ज्ञानके प्रथम संस्थापक समझना चाहिये।

है कि इसकी प्रार्थनाओंका संपूर्ण विशाल समुदाय आर्योंके अधिक विविधतया समृद्ध भूतकालीन वाङ्मयमेंसे वेदव्यासके द्वारा किया गया केवल एक संग्रह हो। प्रचलित विश्वासके अनुसार उस परंपरागत महर्षि कृष्ण द्वैपायन, उस महान् संहिताकार (व्यास)के द्वारा कलियुगके आरंभकी ओर, बढ़ती हुई संध्याकी तथा उत्तरवर्ती अंधकारकी शताब्दियोंकी ओर, मुँह मोड़कर बनाया हुआ यह संग्रह शायद दिव्य अंतर्ज्ञानके युगकी, पूर्वजोंकी ज्योतिर्मयी उषाओंकी केवल अंतिम ही वसीयत है जो अपने वंशजोंको दी गयी है, उस मानव-जातिको दी गयी है जो पहलेसे ही आत्मामें निम्नतर स्तरोंकी ओर तथा भौतिक जीवनकी, बुद्धि और तर्कशास्त्रकी युक्तियोंकी अधिक सुगम और सुरक्षित—शायद केवल दीखनेमें ही सुरक्षित—प्राप्तियोंकी ओर मुख मोड़ रही थी।

परंतु ये केवल कल्पनाएँ और अनुमान ही हैं। निश्चित तो इतना ही है कि मानव विकासक्रमके नियमके अनुसार जो यह माना जाता है कि वेद उत्तरोत्तर अंधकारमें आते गये और उनका विलोप होता गया, यह बात घटनाओंसे पूरी तौरपर प्रमाणित होती है। यह वेदोंका अंधकारमें आना पहलेसे ही प्रारंभ हो चुका था, उससे बहुत पहले जब कि भारतीय आध्यात्मिकताका अगला महान् युग, वैदांतिक युग, आरंभ हुआ, जिसने उस समयकी परिस्थितियोंके अनुसार इस पुरातन ज्ञानके यथासंभव अधिकसे अधिक अंशको सुरक्षित या पुनः प्राप्त करनेके लिये संघर्ष किया। और तब कुछ और हो सकना प्रायः असंभव ही था। क्योंकि वैदिक रहस्यवादियोंका सिद्धांत अनुभूतियोंपर आश्रित था। ये अनुभूतियाँ साधारण मनुष्यके लिये बड़ी कठिन होती हैं और रहस्यवादियोंको ये उन शक्तियोंकी सहायतासे होती थीं, जो हममेंसे बहुतोंके अंदर केवल प्रारंभिक अवस्थामें होती हैं और अभी अधूरी विकसित हैं। ये शक्तियाँ यदि कभी हमारे अंदर सक्रिय होती भी हैं तो मिले-जुले रूपमें ही और अतएव ये अपने व्यापारमें अनियमित होती हैं। एवं एक बार जब सत्यके अन्वेषणकी प्रथम तीव्रता समाप्त हो चुकी, तो उसके बाद थकावट और शिथिलताका काल बीचमें आना अनिवार्य था, जिस कालमें पुरातन सत्य आंशिक रूपसे लुप्त हो ही जाने थे। और एक बार लुप्त हो जानेपर वे प्राचीन सूक्तोंके आशयकी छानबीनके द्वारा आसानीसे पुनरुज्जीवित नहीं किये जा सकते थे; क्योंकि वे सूक्त ऐसी भाषामें ग्रथित थे जो जानबूझकर संदिग्धार्थक रखी गयी थी।

एक ऐसी भाषा भी जो हमारी समझके बाहर है, ठीक-ठीक समझमें

आ सकती है यदि एक बार उसका मूलसूत्र पता लग जाय; पर एक भाषा जो जानबूझकर संदिग्धार्थक रखी गयी है, अपने रहस्यको अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता और सफलताके साथ छिपाये रख सकती है, क्योंकि यह इन प्रलोभनों और निर्देशोंसे भरी रहती है जो भटका देते हैं। इसलिये जब भारतीय मन फिरसे वेदके आशयके अनुसंधानकी ओर मुड़ा तो यह कार्य दुस्तर था और इसमें जो कुछ सफलता मिली वह केवल आंशिक थी। प्रकाशका एक स्रोत अब भी विद्यमान था, अर्थात् वह परंपरागत ज्ञान जो उनके हाथमें था जिन्होंने मूलवेदको कण्ठस्थ कर रखा था और जो उसकी व्याख्या करते थे, अथवा जिनके जिम्मे वैदिक कर्मकाण्ड था—ये दोनों कार्य प्रारंभमें एक ही थे, क्योंकि पुराने दिनोंमें जो पुरोहित होता था वही शिक्षक और द्रष्टा भी होता था। परंतु इस प्रकाशकी स्पष्टता पहलेसे ही धुंधली हो चुकी थी। बड़ी ख्याति पाये हुए पुरोहित भी जिन शब्दोंका वे बार-बार पाठ करते थे, उन पवित्र शब्दोंकी शक्ति और उनके अर्थका बहुत ही अधूरा ज्ञान रखते हुए याज्ञिक क्रियाएँ करते थे। क्योंकि वैदिक पूजाके भौतिक रूप बढ़कर आंतरिक ज्ञानके ऊपर एक मोटी तहके रूपमें चढ़ गये थे और वे उसीका गला घोंट रहे थे जिसकी किसी समय वे रक्षा करनेका काम करते थे। वेद पहले ही गाथाओं और यज्ञविधियोंका एक समुदाय बन चुका था। इसकी शक्ति प्रतीकात्मक विधियोंके पीछेसे ओझल होने लग गयी थी; रहस्यमय अलंकारोंमें जो प्रकाश था वह उनसे पृथक् हो चुका था और केवल एक प्रत्यक्ष असंबद्धता और कलारहित सरलताका ऊपरी स्तर ही अवशिष्ट रह गया था।

ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदें उस एक जबरदस्त पुनरुज्जीवनके लेखचिह्न हैं जो मूलवेद तथा कर्मकाण्डको आधार रखकर प्रारंभ हुआ और जो आध्यात्मिक विचार तथा अनुभवको एक नवीन रूपमें लेखबद्ध करनेके लिये था। इस पुनरुज्जीवनके ये दो परस्परपूरक रूप थे, एक था कर्मकाण्डसंबंधी विधियोंकी रक्षा और दूसरा वेदकी आत्माका पुनः प्रकाश—पहलेके द्योतक हैं ब्राह्मणग्रन्थ[1], दूसरेकी उपनिषदें।

ब्राह्मणग्रन्थ वैदिक कर्मकाण्डकी सूक्ष्म विधियोंको, उनकी भौतिक फलोत्पादकताकी शर्तोंको, उनके विविध अंगों, क्रियाओं व उपकरणोंके प्रतीकात्मक अर्थ और प्रयोजनको, यज्ञके लिये जो महत्त्वपूर्ण मूल मंत्र हैं

1. निश्चय ही, ये तथा इस अध्यायमें किये गये दूसरे विवेचन कुछ मुख्य प्रवृत्तियों के सारभूत और संक्षिप्त आलोचन ही हैं। उदाहरणतः ब्राह्मणग्रन्थों में हम दार्शनिक संदर्भ भी पाते हैं।

उनके तात्पर्यको, धुंधले संकेतोंके आशयको तथा पुरातन गाथाओं और परिपाटियोंकी स्मृतिको नियत और सुरक्षित करनेका प्रयत्न करते हैं। उनमें आनेवाले कथानकोंमेंसे बहुत-से तो स्पष्ट ही मंत्रोंकी अपेक्षा उत्तरकालके हैं, जिनका आविष्कार उन संदर्भोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये किया गया था जो तब समझमें नहीं आते थे, दूसरे कथानक संभवतः मूलगाथा और अलंकारकी उस सामग्रीके अंग हैं जो प्राचीन प्रतीकवादियोंके द्वारा प्रयुक्तकी गयी थी, अथवा उन वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थितियोंकी स्मृतियाँ हैं जिनके बीचमें सूक्तोंका निर्माण हुआ था।

मौखिक रूपसे चली आ रही परंपरा सदा एक ऐसा प्रकाश होती है जो वस्तुको धुंधला दिखाता है; जब एक नया प्रतीकवाद उस प्राचीन प्रतीकवादपर कार्य करता है, जो कि आधा लुप्त हो चुका है, तो संभवतः वह उसे प्रकाशमें लानेकी अपेक्षा उसके ऊपर उगकर उसे अधिक आच्छादित ही कर देता है। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थ यद्यपि बहुत-से मनोरंजक संकेतोंसे भरे हुए हैं, फिर भी हमारे अनुसंधानमें वे हमें बहुत ही थोड़ी सहायता पहुँचाते हैं, न ही वे पृथक् मूलमंत्रोंके अर्थके लिये एक सुरक्षित पथप्रदर्शक होते हैं जब कि वे मंत्रोंकी एक यथातथ और शाब्दिक व्याख्या करनेका प्रयत्न करते हैं।

उपनिषदोंके ऋषियोंने एक दूसरी प्रणालीका अनुसरण किया। उन्होंने विलुप्त हुए या क्षीण होते हुए ज्ञानको ध्यान-समाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूतिके द्वारा पुनरुज्जीवित करनेका यत्न किया और प्राचीन मंत्रोंके मूलग्रन्थ (मूलवेद) को अपने निजी अन्तर्ज्ञान तथा अनुभवोंके लिये आधार या प्रमाणके रूपमें प्रयुक्त किया, अथवा यूँ कहें कि वेदवचन उनके विचार और दर्शनके लिये एक बीज था, जिससे कि उन्होंने पुरातन सत्योंको नवीन रूपोंमें पुनरुज्जीवित किया।

जो कुछ उन्होंने पाया उसे उन्होंने ऐसी दूसरी परिभाषाओंमें व्यक्तकर दिया जो उस युगके लिये जिसमें वे रहते थे अपेक्षाकृत अधिक समझमें आने योग्य थीं। एक अर्थमें उनका वेदमंत्रोंको हाथमें लेना बिल्कुल निःस्वार्थ नहीं था, इसमें विद्वान् ऋषिकी वह सतर्क सूक्ष्मदर्शिनी इच्छा नियन्त्रण नहीं कर रही थी जिससे वह शब्दोंके यथार्थ भाव तक और वाक्योंकी वास्तव रचनामें उनके ठीक-ठीक विचारतक पहुँचनेका यत्न करता है। वे शाब्दिक सत्यकी अपेक्षा एक उच्चतर सत्यके अन्वेषक थे और शब्दोंका प्रयोग केवल उस प्रकाशके संकेतके रूपमें करते थे जिसकी ओर वे जानेका प्रयत्न कर रहे थे। वे शब्दोंके उनकी व्युत्पत्तिसे बने अर्थोंको या तो जानते ही नहीं थे या उनकी उपेक्षा कर देते थे और बहुधा वे शब्दोंकी घटक अक्षरध्वनियोंको

लेकर प्रतीकात्मक व्याख्या करनेकी सरणि का ही प्रयोग करते थे, जिसे उन्हें समझना बड़ा कठिन पड़ जाता है।

इस कारणसे, उपनिषदें जहाँ इसलिये अमूल्य हैं कि वे प्रधान विचारों तथा प्राचीन ऋषियोंकी आध्यात्मिक पद्धतिपर प्रकाश डालती हैं, वहाँ वे जिन वेदमंत्रोंको उद्धृत करती हैं उनके यथार्थ आशयको निश्चित करनेमें हमारे लिये उतनी ही कम सहायक हैं जितने ब्राह्मण-ग्रन्थ। उनका असली कार्य वेदान्तकी स्थापना करना था, न कि वेद की व्याख्या करना।

इस महान् आन्दोलनका फल हुआ विचार और आध्यात्मिकताकी एक नवीन तथा अपेक्षाकृत अधिक स्थिर शक्तिशाली स्थापना, वेदकी वेदान्तमें परिसमाप्ति। और इसके अन्दर दो ऐसी प्रबल प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं जिन्होंने पुरातन वैदिक विचार तथा संस्कृतिके विघटनकी दिशामें कार्य किया। प्रथम यह कि इसकी प्रवृत्ति बाह्य कर्मकाण्डको, मंत्र और यज्ञकी भौतिक उपयोगिताको अधिकाधिक गौण करके अधिक विशुद्ध रूपसे आध्यात्मिक लक्ष्य और अभिप्रायको प्रधानता देनेकी थी। प्राचीन रहस्यवादियोंने बाह्य और आभ्यन्तर, भौतिक और आत्मिक जीवनमें जो संतुलन, जो समन्वय कर रखा था, उसे स्थानच्युत और अस्तव्यस्त कर दिया गया। एक नवीन संतुलन, एक नवीन समन्वय स्थापित किया गया जो अन्ततोगत्वा संन्यास और त्यागकी ओर झुक गया और उसने अपने-आपको तबतक कायम रखा, जबतक वह समय आनेपर बौद्धधर्ममें आयी हुई उसकी अपनी ही प्रवृत्तियोंकी अतिके द्वारा स्थानच्युत और अस्तव्यस्त नहीं कर दिया गया।

यज्ञ, प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड अधिकाधिक निरर्थक-सा अवशेष और यहाँतक कि भारभूत हो गये तो भी, जैसा कि प्रायः हुआ करता है, यन्त्रवत् और निष्फल हो जानेका ही परिणाम यह हुआ कि उनकी प्रत्येक बाह्यसे बाह्य वस्तुकी भी महत्ताको बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाने लगा और उनकी सूक्ष्म विधियों को राष्ट्र-मनके उस भाग द्वारा जो अब तक उनसे चिपटा हुआ था, बिना युक्तिके ही बल-पूर्वक थोपा जाने लगा। वेद और वेदान्तके बीच एक तीव्र व्यावहारिक भेद अस्तित्वमें आया, जो क्रियामें था यद्यपि सिद्धान्त-रूपसे कभी भी पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया, जिसे इस सूत्रमें व्यक्त किया जा सकता है "वेद पुरोहितोंके लिये, वेदान्त सन्तोंके लिये"।

वैदान्तिक हलचलकी दूसरी प्रवृत्ति थी अपने-आपको प्रतीकात्मक भाषाके भारसे क्रमशः मुक्त करना, अपने ऊपरसे स्थूल गाथाओं और कवितात्मक अलंकारोंके उस पर्देको हटाना, जिसमें रहस्यवादियोंने अपने विचारको छिपा रखा था और उसका स्थान एक अधिक स्पष्ट प्रतिपादन और अपेक्षाकृत

अधिक दार्शनिक भाषाको प्रदान करना। इस प्रवृत्तिके पूर्ण विकासने न केवल वैदिक कर्मकाण्डकी बल्कि मूल वेदकी भी उपयोगिताको विलुप्त कर दिया। उपनिषदें जिनकी भाषा बहुत ही स्पष्ट और सीधी-सादी थी, सर्वोच्च भारतीय विचारका मुख्य स्रोत हो गयीं और उन्होंने वसिष्ठ तथा विश्वामित्रकी अन्तःश्रुत ऋचाओंका स्थान ले लिया।[1]

वेद शिक्षाके अनिवार्य आधारके रूपमें क्रमशः कम और कम बरते जानेके कारण अब वैसे उत्साह और बुद्धिचातुर्यके साथ पढ़े जाने बंद हो गये थे; उनकी प्रतीकमय भाषाने, प्रयोगमें न आनेसे, नयी सन्ततिके आगे अपने आन्तरिक आशयके अवशेषको भी खो दिया, जिस सन्ततिकी सारी ही विचारप्रणाली वैदिक पूर्वजोंकी प्रणालीसे भिन्न थी। दिव्य अन्तर्ज्ञान के युग बीत रहे थे और उनके स्थान पर तर्कके युगकी प्रथम उषा का आविर्भाव हो रहा था।

बौद्धधर्मने इस क्रान्तिको पूर्ण किया और प्राचीन युगकी बाह्य परिपाटियोंमेंसे केवल कुछ एक अत्यादृत आडम्बर और कुछ एक यन्त्रवत् चलती हुई रूढ़ियाँ ही अवशिष्ट रह गयीं। इसने वैदिक यज्ञको लुप्त कर देना चाहा और साहित्यिक भाषाके स्थानपर प्रचलित लोक-भाषाको प्रयोगमें लानेका यत्न किया। और यद्यपि इसके कार्यकी पूर्णता, पौराणिक सम्प्रदायोंमें हिन्दूधर्मके पुनरुज्जीवन के कारण, कई शताब्दियों तक रुकी रही, तो भी वेदने स्वयं इस अवकाशसे न के बराबर ही लाभ उठाया। नये धर्मके प्रचारका विरोध करनेके लिये यह आवश्यक था कि पूज्य किन्तु दुर्बोध मूल वेदके स्थानपर ऐसी धर्म-पुस्तकें सामने लायी जायें जो अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन संस्कृतमें सरल रूपमें लिखी गयी हों। ऐसी परिस्थितिमें देशके सर्वसाधारण लोगोंके लिये पुराणोंने वेदोंको एक तरफ धकेल दिया और नवीन धार्मिक पूजा-पाठके तरीकोंने पुरातन विधियोंका स्थान ले लिया। जैसे वेद ऋषियोंके हाथसे पुरोहितोंके पास पहुंचा था, वैसे ही अब यह पुरोहितोंके हाथसे निकलकर पण्डितोंके हाथमें जाना शुरू हो गया। और उस रक्षणमें इसने अपने अर्थोंके अन्तिम अंगच्छेदनको और अपनी सच्ची शान और पवित्रताकी अन्तिम हानि को सहा।

यह बात नहीं कि वेदोंका यह पण्डितोंके हाथमें जाना और भारतीय

---

1. यहाँ फिर इस कथनसे मुख्य प्रवृत्ति ही सूचित होती है और इसे कुछ विशेषणोंसे सीमित करनेकी अपेक्षा है। वेदोंको प्रमाण-रूपसे भी उद्धृत किया गया है, पर सर्वांगरूपसे कहें तो उपनिषदें ही अपेक्षाकृत ज्ञानके ग्रन्थ बन गयीं, वेद अपेक्षाकृत कर्मकाण्डकी पुस्तक ही रह गया।

पाण्डित्यका वेदमन्त्रोंके साथ व्यवहार, जो ईसा के पूर्वकी शताब्दियोंसे प्रारम्भ हो गया था, सर्वथा एक घाटेका ही लेखा हो। इसकी अपेक्षा ठीक तो यह है कि पण्डितोंके सतर्क अध्यवसाय तथा उनकी प्राचीनताको रक्षित रखने और नवीनतामें अप्रीतिकी परिपाटीके हम ऋणी हैं कि उन्होंने वेदकी सुरक्षा की, इस बातके बावजूद भी रक्षा की कि इसका रहस्य लुप्त हो चुका था और वेदमन्त्र स्वयं क्रियात्मक रूपमें एक सजीव धर्मशास्त्र समझे जाने बन्द हो गये थे। और साथ ही लुप्त रहस्यके पुनरुज्जीवनके लिये भी पाण्डित्यपूर्ण कट्टरताके ये दो सहस्र वर्ष हमारे लिये कुछ अमूल्य सहायतायें छोड़ गये हैं अर्थात् मूल वेदोंके संहिता आदि पाठ जिनके ठीक-ठीक स्वर-चिह्न बड़ी सतर्कताके साथ निश्चित किये हुए हैं, यास्कका महत्त्वपूर्ण कोष और सायणका वह विस्तृत भाष्य जो अनेक और प्रायः चौंका देनेवाली अपूर्णताओंके होते हुए भी अन्वेषक विद्वान्के लिये गंभीर वैदिक शिक्षाके निर्माणकी ओर एक अनिवार्य पहला कदम है।

दूसरा अध्याय

वैदिकवादका सिंहावलोकन

(2)

वैदिक विद्वान्

जो मूल वेद इस समय हमारे पास है उसमें दो सहस्र वर्षोंसे अधिक कालसे कोई विकार नहीं आया है। जहाँतक हम जानते हैं, इसका काल भारतीय बौद्धिक प्रगतिके उस महान् युगसे प्रारम्भ होता है जो यूनानके संविकासके समकालीन किंतु अपने प्रारंभिक रूपोंमें इससे पहलेका है और जिसने देशके संस्कृत-साहित्यमें लेखबद्ध पायी जानेवाली संस्कृति और सभ्यताकी नींव डाली। हम नहीं कह सकते कि इससे कितनी अधिक प्राचीन तिथि तक हमारे इस मूल वेदको ले जाया जा सकता है। पर कुछ ऐसे विचार हैं, जो इसके विषयमें हमारे इस मन्तव्यको प्रमाणित करते हैं कि यह अत्यन्त ही प्राचीन कालका होना चाहिये। वेदका एक शुद्धग्रंथ जिसका प्रत्येक अक्षर शुद्ध हो, प्रत्येक स्वर शुद्ध हो, वैदिक कर्मकाण्डियोंके लिये बहुत ही अधिक महत्त्वका विषय था, क्योंकि सतर्कतायुक्त शुद्धतापर ही यज्ञकी फलोत्पादकता निर्भर थी। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें हमें त्वष्टाकी कथा मिलती है कि वह इस उद्देश्यसे यज्ञकर रहा था कि इन्द्रसे उसके पुत्रवधका बदला लेनेवाला कोई उत्पन्न हो, पर स्वरकी एक अशुद्धिके कारण इन्द्रका वध करनेवाला तो पैदा नहीं हुआ, किन्तु वह पैदा हो गया जिसका कि इन्द्र वध करनेवाला बने। प्राचीन भारतीय स्मृति-शक्तिकी असाधारण शुद्धता भी लोकविश्रुत है। और वेदके साथ जो पवित्रताकी भावना जुड़ी हुई है उसके कारण इसमें वैसे प्रक्षेप, परिवर्तन, नवीन संस्करण नहीं हो सके, जैसोंके कारण कि कुरुवंशियोंका प्राचीन महाकाव्य बदलता-बदलता महाभारतके वर्तमान रूपमें आ गया है। इसलिये यह सर्वथा सम्भव है कि हमारे पास व्यासकी संहिता साररूपमें वैसीकी वैसी हो जैसा कि इसे उस महान् ऋषि और संग्रहीताने क्रमबद्ध किया था।

मैंने कहा है 'साररूपमें', न कि इसके वर्तमान लिखित रूप में। क्योंकि वैदिक छन्दःशास्त्र कई अंशोंमें संस्कृतके छन्दःशास्त्रसे भिन्नता रखता था

और विशेषकर, पृथक्-पृथक् शब्दोंकी सन्धि करनेके नियमोंको जो कि साहित्यिक भाषाका एक विशेष अंग हैं, बड़ी स्वच्छन्दताके साथ काममें लाता था। वैदिक ऋषि, जैसा कि एक जीवित भाषामें होना स्वाभाविक ही था, नियत नियमोंकी अपेक्षा श्रुतिका ही अधिक अनुसरण करते थे; कभी वे पृथक् शब्दोंमें सन्धि कर देते थे और कभी वे उन्हें बिना सन्धि किये वैसे ही रहने देते थे। परन्तु जब वेदका लिखित रूपमें आना शुरू हुआ, तब सन्धिके नियमका भाषाके ऊपर और भी अधिक निष्प्रतिबन्ध आधिपत्य हो गया और प्राचीन मूल वेदको वैयाकरणोंने, जहाँतक हो सका, इसके नियमोंके अनुकूल बनाकर लिखा। फिर भी, इस बातमें वे सचेत रहे कि इस संहिताके साथ उन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ भी बना दिया, जिसे 'पदपाठ' कहा जाता है और जिसमें सन्धिके द्वारा संयुक्त सभी शब्दोंका फिरसे उनके मूल तथा पृथक्-पृथक् शब्दोंमें सन्धिच्छेद कर दिया गया है और यहाँतक कि समस्त शब्दके अंगभूत पदोंका भी निर्देश कर दिया गया है।

वेदोंको स्मरण रखनेवाले प्राचीन पण्डितोंकी वेदभक्तिके विषयमें यह एक बड़ी उल्लेखयोग्य प्रशंसाकी बात है कि उस अव्यवस्थाके स्थान पर जो इस वैदिक रचनामें बड़ी आसानीसे पैदा की जा सकती थी, यह सदा पूर्ण रूपसे आसान रहा है कि इस संहितात्मक वेदको वैदिक छन्दःशास्त्रके अनुसार मौलिक स्वर-संगतियोंमें परिणत किया जा सके। और बहुत ही कम ऐसे उदाहरण हैं जिनमें पदपाठकी यथार्थता अथवा उसके युक्तियुक्त निर्णयपर आपत्ति उठायी जा सके।

तो, हमारे पास अपने आधारके रूपमें वेदका एक ग्रन्थ है जिसे हम विश्वासके साथ स्वीकार कर सकते हैं, और चाहे इसे हम कुछ थोड़ेसे अवसरोंपर सन्दिग्ध या दोषयुक्त भी क्यों न पाते हों, यह किसी प्रकारसे भी संशोधनके उस प्रायः उच्छृंखल प्रयत्नके योग्य नहीं है जिसके लिये कुछ यूरोपियन विद्वान् अपने-आपको प्रस्तुत करते हैं। प्रथम तो यही एक अमूल्य लाभ है जिसके लिये हम प्राचीन भारतीय पाण्डित्यकी सत्यनिष्ठाके प्रति जितने कृतज्ञ हों, उतना ही थोड़ा है।

कुछ अन्य दिशाओंमें, जैसे वैदिक सूक्तोंके उनके ऋषियोंके साथ संबंधमें जहाँ कहीं प्राचीन परंपरा पुष्ट और युक्तियुक्त नहीं है वहाँ, संभवतः यह सर्वदा सुरक्षित नहीं होगा कि पण्डितोंकी परंपराका हमेशा निर्विवाद रूपसे अनुसरण किया जाय। परंतु ये सब ब्योरेकी बातें हैं जो बहुत ही कम महत्त्वकी हैं। न ही मेरी दृष्टिमें इसमें सन्देह करनेका कोई युक्तियुक्त कारण है कि वेदके सूक्त अधिकतर अपनी ऋचाओंके सही क्रममें और

अपनी यथार्थ सम्पूर्णतामें बद्ध हैं। अपवाद यदि कोई हों भी तो वे संख्या और महत्त्वकी दृष्टिसे उपेक्षणीय हैं। जब सूक्त हमें असंबद्धसे प्रतीत होते हैं, तो उसका कारण यह होता है कि वे हमारी समझमें नहीं आ रहे होते। एक बार जब मूल सूत्र हाथ लग जाय, तो हम पाते हैं कि वे पूर्ण अवयवी हैं, जो जैसे कि अपनी भाषा और अपने छन्दोंमें वैसे ही अपनी विचार-रचनामें भी आश्चर्यजनक हैं।

किंतु जब हम वेदकी व्याख्याकी ओर आते हैं और इसमें प्राचीन भारतीय पाण्डित्यसे सहायता लेना चाहते हैं, तो हम अधिकसे अधिक संकोच करनेके लिये अपनेको बाध्य अनुभव करते हैं। क्योंकि प्रथम श्रेणीके पाण्डित्यके प्राचीनतर कालमें भी वेदोंके विषयमें कर्मकाण्डपरक दृष्टिकोण पहलेसे ही प्रधान था, शब्दोंका, पंक्तियोंका, संकेतोंका मौलिक अर्थ तथा विचार-रचना का मूल सूत्र चिरकालसे लुप्त हो चुका था या धुंधला पड़ गया था, न ही उस समय के विद्वान्में वह अन्तर्ज्ञान या वह आध्यात्मिक अनुभूति थी जो लुप्त रहस्यको अंशतः पुनरुज्जीवित कर सके। ऐसे क्षेत्रमें केवलमात्र पाण्डित्य जितनी बार पथप्रदर्शक होता है, उतनी ही बार उलझानेवाला जाल भी बन जाता है, विशेषकर तब जब कि इसके पीछे एक कुशल विद्वत्ताशाली मन हो।

यास्कके कोषमें, जो हमारे लिये सबसे आवश्यक सहायता है, हमें दो बहुत ही असमान मूल्यवाले अंगोंमें भेद करना चाहिये। जब यास्क एक कोषकारकी हैसियतसे वैदिक शब्दोंके विविध अर्थोंको देता है, तो उसकी प्रामाणिकता बहुत बड़ी है और जो सहायता वह देता है वह प्रथम महत्त्वकी है। यह प्रतीत नहीं होता कि वह सभी प्राचीन अर्थोंपर अधिकार रखता था, क्योंकि उनमेंसे बहुतसे अर्थ कालक्रमसे और युगपरिवर्तनके कारण विलुप्त हो चुके थे और एक वैज्ञानिक भाषाविज्ञानकी अनुपस्थितिमें उन्हें फिरसे प्राप्त नहीं किया जा सकता था। पर फिर भी परम्पराके द्वारा बहुत कुछ सुरक्षित था। जहाँ कहीं यास्क इस परम्पराको कायम रखता है और एक व्याकरणज्ञके बुद्धिकौशलको काममें नहीं लाता, वहाँ वह शब्दोंके जो अर्थ निश्चित करता है, वे चाहे, जिन मंत्रोंके लिये वह उनका निर्देश करता है उनमें सदा न भी लग सकते हों, फिर भी युक्तियुक्त भाषाविज्ञानके द्वारा इसकी पुष्टि की जा सकती है कि वे अर्थ संगत हैं। परन्तु निरुक्तिकार यास्क कोषकार यास्ककी कोटिमें नहीं आता। वैज्ञानिक व्याकरण पहले-पहल भारतीय पाण्डित्यके द्वारा विकसित हुआ, परन्तु सुव्यवस्थित भाषा-विज्ञानके प्रारंभके लिये हम आधुनिक अनुसंधानके ऋणी हैं। प्राचीन निरुक्तकारोंसे लेकर 19वीं शताब्दीतक भी भाषाविज्ञानमें केवलमात्र

बुद्धिकौशलकी जो प्रणालियां प्रयुक्त की गयी हैं, चाहे वे योरुपमें की गयी हों, चाहे भारतमें, उनसे अधिक मनमौजी तथा नियमरहित अन्य कुछ नहीं हो सकता। और जब यास्क इन प्रणालियोंका अनुसरण करता है तो हम सर्वथा उसका साथ छोड़नेके लिये बाध्य हो जाते हैं। न ही वह किन्हीं अमुक-अमुक मन्त्रोंकी अपनी व्याख्यामें उत्तरकालीन सायणके पाण्डित्यकी अपेक्षा अधिक विश्वासोत्पादक है।

सायणका भाष्य वेदपर मौलिक तथा सजीव पाण्डित्यपूर्ण कार्यके उस युगको समाप्त करता है, जिसका प्रारंभक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थोंके साथमें यास्कके निरुक्तको कहा जा सकता है। यह कोष (यास्कका निघण्टु-निरुक्त) भारतीय मनके प्रारंभिक उत्साहके दिनोंमें संगृहीत किया गया था, जब कि भारतीय मन मौलिकताके एक नवीन उद्भवके लिये साधनोंके रूपमें प्रागैतिहासिक प्राप्तियोंको संचित करनेमें लगा हुआ था। यह भाष्य (सायणका वेदभाष्य) अपने प्रकारका लगभग एक अंतिम महान् प्रयत्न है, जिसे पाण्डित्यपरंपरा दक्षिण भारतमें अपने अंतिम अवलंब और केंद्रके रूपमें हमारे लिये छोड़ गयी थी, इसके बाद तो पुरातन संस्कृति मुसलिम विजयके धक्केके द्वारा अपने स्थानसे च्युत हुई और टूटकर भिन्न-भिन्न प्रादेशिक खण्डोंमें बंट गयी। और फिर तबसे समय-समयपर दृढ़ और मौलिक प्रयत्न कहीं-कहीं फूट निकलते रहे हैं, नयी रचना और नवीन संघटनके लिये बिखरे हुए यत्न भी किये गये हैं पर बिलकुल इस प्रकारका सर्वसाधारण, महान् तथा स्मारकभूत कार्य नहीं ही तैयार हो सका।

भूतकालकी इस महान् वसीयतकी प्रभावशालिनी विशेषताएँ स्पष्ट ही हैं। उस समयके विद्वान्-से-विद्वान् पण्डितोंकी सहायतासे सायणके द्वारा निर्माण किया गया यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो पाण्डित्यके एक बहुत ही महान् प्रयासका द्योतक है, शायद ऐसे किसी भी प्रयाससे अधिक जो उस कालमें किसी अकेले मस्तिष्कके द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता था। फिर भी इसपर, सब वैषम्य हटाकर एक प्रकारकी समरसता ले आनेवाले मन की छाप दिखाई देती है। समूहरूपमें यह संगत है, यद्यपि विस्तारमें जानेपर इसमें कई असंगतियाँ दीखती हैं। यह एक विशाल योजनाके अनुसार पर बहुत ही सरल तरीकेसे बना हुआ है, एक ऐसी शैलीमें रचा गया है जो स्पष्ट है, संक्षिप्त है और लगभग एक ऐसी साहित्यिक छटासे युक्त है जिसे भारतीय भाष्य करनेकी परंपरागत प्रणालीमें कोई असंभव ही समझता। इसमें कहींपर भी विद्यावलेपका दिखावा नहीं है, मंत्रोंमें उपस्थित होनेवाली कठिनाइयोंके साथ जो संघर्ष होता उसपर बड़े चातुर्यके साथ पर्दा डाला

गया है और इसमें एक स्पष्ट कुशाग्रताका तथा एक विश्वासपूर्ण, पर फिर भी सरल प्रामाणिकताका भाव है, जो अविश्वासीपर भी अपनी छाप डाल देता है। यूरोपके सर्वप्रथम वैदिक विद्वानोंने सायणकी व्याख्याओंमें युक्तियुक्तताकी विशेष रूपसे प्रशंसा की है।

तो भी, वेदके बाह्य अर्थके लिये भी यह संभव नहीं है कि सायणकी प्रणालीका या उसके परिणामोंका बिना बड़े-से-बड़े संकोचके अनुसरण किया जाय। यही नहीं कि वह अपनी प्रणालीमें भाषा और रचनाकी ऐसी स्वच्छंदता स्वीकार करता है जो अनावश्यक है और कभी-कभी अविश्वसनीय भी होती है, न केवल यही है कि वह बहुधा अपने परिणामोंपर पहुँचनेके लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओंकी और नियत वैदिक सूत्रों तककी अपनी व्याख्यामें आश्चर्यजनक असंगति दिखाता है। ये तो ब्योरेकी त्रुटियाँ हैं, जो संभवत: उस सामग्रीकी अवस्थामें जिससे उसने कार्य शुरू किया था, अनिवार्य थीं। परंतु सायणकी प्रणालीकी केंद्रीय त्रुटि यह है कि वह सदा कर्मकाण्ड-विधिमें ही ग्रस्त रहता है और निरंतर वेदके आशयको बलपूर्वक कर्मकाण्डके संकुचित सांचेमें डालकर वैसा ही रूप देनेका यत्न करता है। इसलिये वह उन बहुतसे मूल सूत्रोंको खो देता है जो इस पुरातन धर्मपुस्तकके बाह्य अर्थके लिये—जो बिलकुल वैसा ही रोचक प्रश्न है जैसा कि इसका आंतरिक अर्थ—बहुत बड़े निर्देश दे सकते हैं और बहुत ही महत्त्वके हैं। परिणामत: सायणभाष्य द्वारा ऋषियोंका, उनके विचारोंका, उनकी संस्कृतिका, उनकी अभीप्साओंका एक ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है जो इतना संकुचित और दारिद्र्योपहत है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय, तो वह वेदके संबंधमें प्राचीन पूजाभावको, इसकी पवित्र प्रामाणिकताको, इसकी दिव्य ख्यातिको बिलकुल अबुद्धिगम्य कर देता है, या उसे इस रूपमें रखता है कि इसकी व्याख्या केवलमात्र यही हो सकती है कि यह उस श्रद्धाकी एक अंधी और बिना ननुनच किये मानी गयी परंपरा है जिस श्रद्धाका प्रारंभ एक मौलिक भूलसे हुआ है।

इस भाष्यमें अवश्य ही अन्य पहलू और तत्त्व भी हैं, परंतु वे मुख्य विचारके सामने गौण हैं या उसके ही अनुवर्ती हैं। सायण और उसके सहायकों को बहुधा परस्पर टकरानेवाले विचारों और परंपराओंके विशाल समुदायपर जो भूतकालसे आकर तब तक बचा रह गया था, कार्य करना पड़ा था। इनके तत्त्वोंमेंसे कुछको उन्होंने नियमित स्वीकृति देकर कायम रखा, दूसरोंके लिये उन्होंने छोटी-छोटी छूटें देनेके लिये अपनेको बाध्य अनुभव किया। यह हो सकता है कि पुरानी अनिश्चितता या गड़बड़ तकमेंसे एक ऐसी

व्याख्या निकाल लेनेमें जिसकी स्थिर आकृति हो और जिसमें एकात्मता हो, सायणका जो बुद्धि-कौशल है, उसीके कारण उसके कार्यकी यह महान् और चिरकाल तक अशंकित प्रामाणिकता बनी हो।

प्रथम तत्त्व जिससे सायणको वास्ता पड़ा और जो हमारे लिये बहुत अधिक रोचक है, श्रुतिकी प्राचीन आध्यात्मिक, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक व्याख्याओंका अवशेष था, जो इसकी पवित्रताका असली आधार है। उस अंश तक जहाँ तक कि ये प्रचलित अथवा कट्टरपंथी[1] (Orthodox) विचारमें प्रविष्ट हो चुकी थीं, सायण उन्हें स्वीकार करता है, परंतु वे उसके भाष्यमें एक अपवादात्मक तत्त्व ही हैं, जो मात्रा तथा महत्त्व की दृष्टिसे तुच्छ है। कहीं-कहीं प्रसंगवश वह अपेक्षया कम प्रचलित आध्यात्मिक अर्थोंका चलते-चलते जिक्र कर जाता है या उन्हें स्वीकृति दे देता है। उदाहरणतः, उसने 'वृत्र' की उस प्राचीन व्याख्याका उल्लेख किया है, पर उसे स्वीकार करनेके लिये नहीं, जिसमें कि 'वृत्र' वह आच्छादक (आवरक) है, जो मनुष्यकी कामना और अभीप्साओंके विषयोंको उसके पास पहुँचनेसे रोके रखता है। सायणके लिये 'वृत्र' या तो केवलमात्र शत्रु है या भौतिक मेघरूपी असुर है, जो जलोंको रोक रखता है और जिसका वर्षा करनेवाले (इन्द्र)को भेदन करना पड़ता है।

दूसरा तत्त्व है गाथात्मक या इसे पौराणिक भी कहा जा सकता है—देवताओंकी गाथाएँ और कहानियाँ जो उनके बाह्य रूपमें दी गयी हैं, बिना उस गंभीरतर आशय और प्रतीकात्मक तथ्यके जो समस्त पुराण[2]के औचित्यको सिद्ध करनेवाला एक सत्य है।

तीसरा तत्त्व आख्यानात्मक या ऐतिहासिक है, प्राचीन राजाओं और ऋषियोंकी कहानियाँ जो वेदके अस्पष्ट वर्णनोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये ब्राह्मणग्रन्थोंमें दी गयी हैं या उत्तरकालीन परंपराके द्वारा आयी हैं। इस तत्त्वके साथ सायणका बर्ताव कुछ हिचकिचाहट से युक्त है। बहुधा वह उन्हें मंत्रोंकी उचित व्याख्याके रूपमें ले लेता है; कभी-कभी वह विकल्पके

---

1. इस शब्दका मैं शिथिलताके साथ प्रयोग कर रहा हूँ। कट्टरपंथी (Orthodox) और धर्मविरोधी (Heterodox) ये पारिभाषिक शब्द यूरोपियन या साम्प्रदायिक अर्थमें भारतके लिये, जहाँ सम्मति हमेशा स्वतंत्र रही है, सच्चे अर्थोंमें प्रयुक्त नहीं होते।
2. यह मान लेना युक्तियुक्त है कि पुराण (आख्यान तथा उपाख्यान) और इतिहास (ऐतिहासिक परंपरा) वैदिक संस्कृतिके ही अंग थे, उससे बहुत पूर्वकालसे जब कि पुराणोंके और ऐतिहासिक महाकाव्योंके वर्तमान स्वरूपोंका विकास हुआ।

तौर पर एक दूसरा अर्थ भी देता है जिसके साथ कि स्पष्ट तौरसे वह अपनी अधिक बौद्धिक सहानुभूति रखता है, परंतु उन दोनोंमेंसे किसे प्रामाणिक माने इस विषयमें वह दोलायमान ही रहता है।

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रकृतिवादी व्याख्या का तत्त्व। न केवल वहाँ स्पष्ट या परंपरागत तद्रूपताएँ हैं, इन्द्र है, मरुत् हैं, त्रित अग्नि है, सूर्य है, उषा है, परंतु हम देखते हैं कि मित्रको दिनके साथ तद्रूप मान लिया गया है, वरुणको रात्रिके साथ, अर्यमा तथा भगको सूर्यके साथ और ऋभुओंको इसकी रश्मियोंके साथ। हम यहाँ वेदके संबंधमें उस प्रकृतिवादी सिद्धांतके बीज पाते हैं जिसे यूरोपियन पाण्डित्यने बहुत ही बड़ा विस्तार दे दिया है। प्राचीन भारतीय विद्वान् अपनी कल्पनाओंमें वैसी स्वतंत्रता और वैसी क्रमबद्ध सूक्ष्मताका प्रयोग नहीं करते थे। तो भी सायणके भाष्यमें पाया जानेवाला यह तत्त्व ही योरोपके तुलनात्मक गाथाविज्ञानका असली जनक है।

परंतु जो तत्त्व व्यापक रूपसे सारे भाष्यमें छाया हुआ है वह है कर्मकाण्डका विचार; यही स्थिर स्वर है जिसमें अन्य सब अपने-आपको खो देते हैं। वेदोंके सूक्त भले ही ज्ञानके लिये सर्वोच्च प्रमाण-रूपसे उपस्थित हों, तो भी दार्शनिक मतोंके अनुसार वे प्रधान रूपसे और सैद्धांतिक रूपसे कर्मकाण्डके साथ, कर्मोंके साथ, संबद्ध हैं और 'कर्मोंसे' समझा जाता था मुख्य रूपसे वैदिक यज्ञोंका कर्मकाण्डमय अनुष्ठान। सायण सर्वत्र इसी विचारके प्रकाशमें प्रयत्न करता है। इसी साँचेके अन्दर वह वेदकी भाषाको ठोक-पीटकर ढालता है, इसके विशिष्ट शब्दोंके समुदायको भोजन, पुरोहित, दक्षिणा देनेवाला, धन-दौलत, स्तुति, प्रार्थना, यज्ञ, बलिदान—इन कर्मकाण्ड-परक अर्थोंका रूप देता है।

धन-दौलत (वसु) और भोजन (अन्नम्) इनमें मुख्य हैं। क्योंकि अधिकसे अधिक स्वार्थसाधक तथा भौतिकतम पदार्थ ही यज्ञके ध्येयके तौरपर चाहे गये हैं, जैसे स्वामित्व, बल, शक्ति, बाल-बच्चे, सेवक, सोना, घोड़े, गौएँ, विजय, शत्रुओंका वध तथा लूट, प्रतिस्पर्धी तथा विद्वेषी आलोचकका विनाश। जब कोई व्यक्ति पढ़ता है और मन्त्रके बाद मन्त्रको लगातार इसी एक अर्थमें व्याख्या किया हुआ पाता है, तो उसे गीताकी मनोवृत्तिमें ऊपरसे दिखाई देनेवाली यह असंगति और भी अच्छी तरह समझमें आने लगती है कि गीता एक तरफ तो वेदकी एक दिव्य ज्ञान (गीता 15–15)के रूपमें प्रतिष्ठा करती है, फिर भी दूसरी तरफ केवलमात्र उस वेदवादके रक्षकोंका दृढ़ताके साथ तिरस्कार करती है (गीता 2–42) जिसकी सब

पुष्पित शिक्षायें केवल भौतिक धन-दौलत, शक्ति और भोगका प्रतिपादन करती हैं।

वेदके सब संभव अर्थोंमेंसे इस निम्नतर अर्थके साथ ही वेदको अन्तिम तौरपर और प्रामाणिकतया बाँध देना—यह सायणके भाष्यका सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ। कर्मकाण्डपरक व्याख्याकी प्रधानताने पहले ही भारतवर्षको अपने सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र (वेद) के सजीव उपयोगसे और उपनिषदोंके समस्त आशयको बतानेवाले सच्चे मूलसूत्रसे वंचित कर रखा था। सायणके भाष्यने पुरानी मिथ्या धारणाओंपर प्रामाणिकताकी मुहर लगा दी, जो कई शताब्दियों तक नहीं तोड़ी जा सकी। और इसके दिये हुए निर्देश, उस समय जब कि एक दूसरी सभ्यताने वेदको ढूँढ़कर निकाला और इसका अध्ययन प्रारम्भ किया, यूरोपियन विद्वानोंके मनमें नयी-नयी गलतियोंके कारण बने।

तथापि यदि सायणका ग्रन्थ एक ऐसी चाबी है जिसने वेदके आन्तरिक आशयपर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षाकी प्रारम्भिक कोठरियोंको खोलनेके लिये अत्यन्त अनिवार्य है। यूरोपियन पाण्डित्यका सारा-का-सारा विशाल प्रयास भी इसकी उपयोगिताका स्थान लेने योग्य नहीं हो सका है। प्रत्येक पगपर हम इसके साथ मतभेद रखनेके लिये बाध्य हैं, पर प्रत्येक पगपर इसका प्रयोग करनेके लिये भी बाध्य हैं। यह एक आवश्यक कूदने-का-तख्ता है, या फिर यह एक सीढ़ी है जिसका हमें प्रवेशके लिये उपयोग करना पड़ता है, यद्यपि इसे हमें अवश्य ही पीछे छोड़ देना चाहिये, यदि हम आगे बढ़कर आन्तरिक अर्थकी गहराईमें गोता लगाना चाहते हैं, मन्दिरके भीतरी भागमें पहुँचना चाहते हैं।

तीसरा अध्याय

आधुनिक मत

सायणने वेदकी कर्मकाण्डपरक व्याख्यापर जो अंतिम प्रामाणिकताकी मुहर लगा दी थी उसे कई शताब्दियों बाद एक विदेशी संस्कृतिकी वेदोंके प्रति जिज्ञासाने आकर तोड़ा। वेदकी प्राचीन धर्मपुस्तक उस पाण्डित्य के हाथमें आयी जो परिश्रमी, विचारमें साहसी, अपनी कल्पनाकी उड़ानमें प्रतिभाशाली, अपने निजी प्रकाशोंके अनुसार सच्चा, परन्तु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियोंकी प्रणालीको समझनेके अयोग्य था। क्योंकि यह उस पुरातन स्वभावके साथ किसी प्रकारकी भी सहानुभूति नहीं रखता था, वैदिक अलंकारों और रूपकोंके अंदर छिपे हुए विचारोंको समझनेके लिये अपने बौद्धिक या आत्मिक वातावरणमें इसके पास कोई मूलसूत्र नहीं था। इसका परिणाम दोहरा हुआ है, एक ओर तो वैदिक व्याख्याकी समस्याओंपर जहाँ अधिक स्वाधीनताके साथ वहाँ अधिक सूक्ष्मता, पूर्णता और सावधानताके साथ विचार और दूसरी ओर इसके बाह्य भौतिक अर्थकी चरम अतिशयोक्ति तथा इसके असली और आन्तरिक रहस्यका अविकल विलोप।

अपने विचारोंकी साहसिक दृढ़ता तथा अनुसंधान या आविष्कारकी स्वाधीनताके होते हुए भी योरोपके वैदिक पाण्डित्यने वस्तुतः सब जगह अपने-आपको सायणके भाष्यमें रक्खे हुए परम्परागत तत्त्वोंपर ही अवलंबित रक्खा है और इस समस्या पर सर्वथा स्वतन्त्र विचार करनेका प्रयत्न नहीं किया है। जो कुछ इसने सायणमें और ब्राह्मणग्रन्थोंमें पाया, उसीको इसने आधुनिक सिद्धांतों और आधुनिक विज्ञानोंके प्रकाशमें लाकर विकसित कर दिया है। भाषाविज्ञान, गाथाशास्त्र और इतिहासमें प्रयुक्त होनेवाली तुलनात्मक प्रणालीसे निकाले हुए गवेषणापूर्ण निगमनोंके द्वारा, प्रतिभाशाली कल्पनाकी सहायतासे विद्यमान विचारोंको विशाल रूप देकर और इधर-उधर बिखरे हुए उपलब्ध निर्देशोंको एकत्रित करके इसने वैदिक गाथाशास्त्र, वैदिक इतिहास, वैदिक सभ्यताके एक पूर्ण वादको खड़ा कर लिया है, जो अपने ब्योरेकी बातों तथा पूर्णताके द्वारा मोह लेता है और अपनी प्रणालीकी ऊपरसे दिखाई देनेवाली निश्चयात्मकताके द्वारा इस वास्तविकतापर पर्दा डाले रखता है कि यह भव्य-भवन अधिकतर कल्पनाकी रेतपर खड़ा हुआ है।

वेदके विषयमें आधुनिक सिद्धांत इस विचारसे प्रारम्भ होता है कि वेद एक ऐसे आदिम, जंगली और अत्यधिक बर्बर समाजकी स्तोत्र-संहिता है, जिसके नैतिक तथा धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओरके जगत्के विषयमें जिसका दृष्टिकोण बिलकुल बच्चोंका सा था। इस विचारके लिये उत्तरदायी है सायण। यज्ञ-यागको सायणने एक दिव्य ज्ञानका अंग तथा एक रहस्यमय प्रभावोत्पादकतासे युक्त स्वीकार किया था, योरोपियन पाण्डित्यने इसे इस रूपमें स्वीकार किया कि यह उन प्राचीन जंगली शान्तिकरणसंबन्धी यज्ञ-बलिदानोंका श्रम-साधित विस्तृतरूप था, जो काल्पनिक अतिमानुष व्यक्ति-सत्ताओंको समर्पित किये जाते थे, क्योंकि ये सत्ताएँ लोगोंद्वारा की गयी इनकी पूजा या उपेक्षाके अनुसार हितैषी अथवा विद्वेषी हो सकती थीं।

सायणसे अंगीकृत ऐतिहासिक तत्त्वको उसने तुरन्त ग्रहण कर लिया और मंत्रोंमें आये प्रसंगोंके नये अर्थ और नयी व्याख्याएँ करके उसे विस्तृत रूप दे दिया। ये नये अर्थ और नयी व्याख्याएँ इस प्रबल अभिलाषाको लेकर विकसित की गयी थीं कि वेदमन्त्र उन बर्बर जातियोंके प्रारम्भिक इतिहास, रीतिरिवाजों तथा उनकी संस्थाओंका पता देनेवाले सिद्ध हो सकें। प्रकृतिवादी तत्त्वने और भी अधिक महत्त्वका हिस्सा लिया। वैदिक देवताओंका अपने बाह्य रूपोंमें स्पष्टतया किन्हीं प्राकृतिक शक्तियोंके साथ तद्रूपताका जो सम्बन्ध है उसका प्रयोग उसने इस रूपमें किया कि उससे आर्यन गाथाशास्त्रोंके तुलनात्मक अध्ययनका प्रारम्भ किया गया; अपेक्षया कम प्रधान देवताओंमेंसे कुछ की, जैसे सूर्य-शक्तियोंकी, जो कुछ संदिग्ध तद्रूपता है, वह इस रूपमें दिखाई गयी कि उससे प्राचीन गाथा-निर्माण किये जानेकी पद्धतिका पता चलता है और तुलनात्मक गाथाशास्त्रकी बड़े परिश्रमसे बनायी हुई जो सूर्य-गाथा तथा नक्षत्र-गाथा की कल्पनायें हैं, उनकी नींव डाली गयी।

इस नये प्रकाशमें वेद-रूपी स्तोत्र-ग्रन्थकी व्याख्या इस रूपमें की जाने लगी है कि यह प्रकृतिका एक अर्ध-अंधविश्वासयुक्त तथा अर्ध-कवितायुक्त रूपक है, जिसमें साथ ही महत्त्वपूर्ण नक्षत्र-विद्यासंबन्धी तत्त्व भी है। इनसे जो अवशिष्ट बचता है उसमें से कुछ अंश तो उस समयका इतिहास है और कुछ अंश यज्ञबलिदानविषयक कर्मकाण्डके नियम और विधियाँ हैं, जो रहस्यमय नहीं हैं, बल्कि केवलमात्र जंगलीपन तथा अन्ध-विश्वाससे भरी हुई हैं।

पश्चिमी पण्डितोंकी वेदविषयक यह व्याख्या आदिम मानवसंस्कृति-सम्बन्धी और निपट जंगलीपनसे हाल हीमें हुए उत्थान-संबंधी उनकी वैज्ञानिक

कल्पनाओंसे पूरी तरह मेल खाती है, जो कल्पनाएँ संपूर्ण 18वीं शताब्दीमें प्रचलित रही हैं और अब भी प्रधानता रखती हैं। परन्तु हमारे ज्ञानकी वृद्धिने इस पहले-पहलके और अत्यन्त जल्दबाजीमें किये गये सामान्य अनुमानको अब अत्यधिक हिला दिया है। अब हम जानते हैं कि कई सहस्र वर्ष पूर्व चीनमें, मिश्रमें, खाल्दियामें, ऐसीरियामें अपूर्व सभ्यताएँ विद्यमान थीं और अब इसपर आमतौरसे लोग सहमत होते जा रहे हैं कि एशियामें तथा भूमध्य तटवर्ती जातियोंमें जो सामान्य उच्च संस्कृति थी, ग्रीस और भारत उसके अपवाद नहीं थे।

इस संशोधित ज्ञानका लाभ यदि वैदिक कालके भारतीयोंको नहीं मिला है तो इसका कारण उस कल्पनाका अभीतक बचे रहना है जिससे योरोपियन पाण्डित्यने शुरुआत की थी, अर्थात् यह कल्पना कि वे तथाकथित आर्यजातिके थे और पुराने आर्यन ग्रीक लोगों, कैल्ट लोगों तथा जर्मन लोगोंके साथ-साथ संस्कृतिके उसी स्तरपर थे जिसका वर्णन हमें होमरकी कविताओंमें, प्राचीन नौर्स संतोंमें तथा प्राचीन गौल (Gaul) और टयूटनों (Teuton) के रोमन उपाख्यानोंमें किया गया मिलता है। इसीसे उस कल्पनाका प्रादुर्भाव हुआ है कि ये आर्यन जातियाँ उत्तरकी बर्बर जातियाँ थीं जो शीतप्रधान प्रदेशोंसे आकर भूमध्यतटवर्ती योरोपकी और द्राविड़ भारतकी प्राचीन तथा समृद्ध सभ्य जातियोंके अन्दर आ घुसी थीं।

परन्तु वेदमें वे निर्देश, जिनसे इस हालके आर्यन आक्रमणकी कल्पनका निर्माण हुआ है, संख्यामें बहुत ही थोड़े हैं और अपने अर्थमें अनिश्चित हैं। वहाँ ऐसे किसी आक्रमणका वास्तविक उल्लेख कहीं नहीं मिलता। बहुतसे प्रमाणोंसे यह प्रतीत होता है कि आर्यों और अनार्योंके बीचका भेद जिसपर इतना सब कुछ निर्भर है कोई जातीय भेद नहीं, बल्कि सांस्कृतिक भेद था[1]।

---

1. यह कहा जाता है कि गौर वर्णवाले और उभरी हुई नासिकावाले आर्यों के प्रतिकूल दस्युओंका वर्णन इस रूपमें आता है कि वे काली त्वचावाले और बिना नासिकावाले (अनस्) हैं। परन्तु इनमें जो पहला सफेद और कालेका भेद है, वह तो निश्चय ही 'आर्य देवों' तथा 'दासशक्तियों' के लिये क्रमशः 'प्रकाश' और 'अन्धकार' से युक्त होनेके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। और दूसरेके विषयमें पहिली बात यह है कि 'अनस्' शब्दका अर्थ 'बिना नासिका' वाला नहीं है। पर यदि इसका यह अर्थ होता, तो भी यह द्राविड़ जातियोंके लिये तो कभी भी प्रयुक्त नहीं हो सकता था, क्योंकि दक्षिणके लोगोंकी नासिका अपने होनेका वैसा ही अच्छा प्रमाण दे सकती है, जैसा कि उत्तर देशोंमें आर्यों की शुण्डाकार उभरी हुई कोई भी नाक दे सकती है।

सूक्तोंकी भाषा स्पष्ट तौरपर संकेत करती है कि एक विशेष प्रकारकी पूजा या आध्यात्मिक संस्कृति ही आर्योंका भेदक चिह्न थी—प्रकाशकी और उसकी शक्तियोंकी पूजा तथा एक आत्म-नियन्त्रण जो 'सत्य'के संवर्धन और अमरताकी अभीप्सा, ऋतम् और अमृतम्, पर आश्रित था। किसी जातीय भेदका कोई भी विश्वसनीय निर्देश वेदमें नहीं मिलता। यह हमेशा सम्भव है कि इस समय भारतमें बसनेवाले जन-समुदायका प्रधान भाग उस एक नयी जातिका वंशज हो जो अधिक उत्तरीय अक्षोंसे आयी थी—या यह भी हो सकता है, जैसा कि श्रीयुत तिलकने युक्तियों द्वारा सिद्ध करनेका यत्न किया है कि उत्तरीय ध्रुवके प्रदेशोंसे आयी थी, परन्तु वेदमें इस विषयमें कुछ नहीं है, जैसे कि देशकी वर्तमान जातिविज्ञान-सम्बन्धी[1] मुखाकृतियोंमें भी यह सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण नहीं है कि यह आर्योंका नीचे उतरना वैदिक सूक्तोंके कालके आसपास हुआ अथवा यह गौरवर्णवाले बर्बर लोगोंके एक छोटेसे समुदायका सभ्य द्राविड़ प्रायद्वीपके अन्दर शनैः प्रवेश था।

यह मानकर भी कि कैल्ट, टयूटन, ग्रीक तथा भारतीय संस्कृतियाँ एक ही साधारण सांस्कृतिक उद्गमको सूचित करती हैं, हमारे पास अनुमान करनेके जो आधार हैं उनसे यह निश्चित परिणाम नहीं निकलता कि प्राचीन आर्य संस्कृतियाँ अविकसित तथा जंगली थीं।

उनके बाहरी जीवनमें तथा जीवनके संगठनमें एक विशुद्ध तथा उच्च सरलताका होना, जिन देवताओंकी वे पूजा किया करते थे उनके प्रति अपने विचारमें तथा उनके साथ अपने सम्बन्धोंमें एक निश्चित मूर्तरूपता तथा स्पष्ट मानवीय परिचयका होना, आर्य सभ्यताके स्वरूपको उससे अधिक शानदार और भौतिकवादी मिश्र-खाल्दियन (Egypto-chaldean) सभ्यतासे तथा इसके गम्भीरता दिखानेवाले और गुह्यता रखनेवाले धर्मोंसे भिन्न करता है। परन्तु (आर्य संस्कृतिकी) वे विशेषताएँ एक उच्च आन्तरिक संस्कृतिके साथ असंगत नहीं हैं। इसके विपरीत एक महान्

---

1. भारतमें हम प्रायः भारतीय जातियोंके उन पुराने भाषाविज्ञानमूलक विभागोंसे और मिस्टर रिसले (Mr. Risley) की उन कल्पनाओंसे ही परिचित हैं, जो पहिलेके किये गये उन्हीं साधारणीकरणों पर आश्रित हैं। परन्तु अपेक्षाकृत अधिक उन्नत जाति-विज्ञान अब सभी शब्दव्युत्पत्ति-सम्बन्धी कसौटियोंको माननेसे इन्कार करता है और इस विचारकी ओर अपना झुकाव रखता है कि भारतके प्रायद्वीपपर एक ही प्रकारकी जाति निवास करती थी।

आध्यात्मिक परम्पराके चिह्न हमें वहाँ बहुतसे स्थलोंपर मिलते हैं और वे इस साधारण कल्पनाका प्रतिषेध करते हैं।

पुरानी कैल्टिक जातियोंमें निश्चय ही कुछ उच्चतम दार्शनिक विचार पाये जाते थे और वे अबतक उन विचारोंपर अंकित उस आदिम रहस्यमय तथा अन्तर्ज्ञानमय विकासके परिणामको सुरक्षित रखे हुए हैं, जिसे ऐसे चिरस्थायी परिणामोंको पैदा करनेके लिये चिरकालसे स्थिर और अत्यधिक विकसित हो चुकना चाहिये था। यह बहुत सम्भव है कि ग्रीसमें हैलेनिक रूप (Hellenic Type) को उसी तरह और्फिक और ऐलुसीनियन (orphic and eleusinian) प्रभावोंके द्वारा ढाला गया हो और ग्रीक गाथा-शास्त्र, जैसा कि यह सूक्ष्म आध्यात्मिक निर्देशोंसे भरा हुआ हमें प्राप्त हुआ है, और्फिक शिक्षाकी ही वसीयत हो।

सामान्य परम्पराके साथ इसकी संगति तभी लग सकती है, यदि यह सिद्ध हो जाय कि शुरूसे आखिरतक सारी-की-सारी भारतीय सभ्यता उन प्रवृत्तियों और विचारोंका विस्तार रही है, जिन्हें हमारे अन्दर वैदिक पुरुषाओं, 'पितरोंने' बोया था। ये प्राचीन संस्कृतियाँ अबतक हमारे लिये आधुनिक मनुष्यके मुख्य रूपोंका, उसके स्वभावके मुख्य अंगोंका, उसके विचार, कला और धर्मकी मुख्य प्रवृत्तियोंका निर्धारण करती हैं। अतः इन संस्कृतियोंकी असाधारण जीवन-शक्ति किसी आदिम जंगलीपनसे निकली हुई नहीं हो सकती। ये एक गभीर और प्रबल प्रागैतिहासिक विकासके परिणाम हैं।

तुलनात्मक गाथाशास्त्रने मानवीय उन्नतिकी इस महत्त्वपूर्ण अवस्थाकी उपेक्षा करके मनुष्यके प्रारम्भिक परम्पराओं-सम्बन्धी ज्ञानको विकृत कर दिया है। इसने अपनी व्याख्याका आधार एक ऐसे सिद्धान्तको बनाया है जिसने प्राचीन जंगलियों और प्लेटो या उपनिषदोंके बीचमें और कुछ भी नहीं देखा। इसने यह कल्पना की है कि प्राचीन धर्मोंकी नींव जंगली लोगोंके उस महान् आश्चर्यपर पड़ी हुई है, जो उन्हें तब हुआ जब कि उन्हें अचानक ही इस आश्चर्यजनक तथ्यका बोध हुआ कि उषा, रात्रि और सूर्य जैसी अद्भुत वस्तुएँ विद्यमान हैं, और उन्होंने उनकी सत्ताको एक असंस्कृत, जंगली और काल्पनिक तरीकेसे शब्दोंमें प्रकट करनेका यत्न किया। और इस बच्चोंकेसे आश्चर्यसे उठकर हम अगले ही कदममें छलांग मारकर ग्रीक दार्शनिकों तथा वैदान्तिक ऋषियोंके गम्भीर सिद्धांतोंतक पहुँच जाते हैं। तुलनात्मक गाथाशास्त्र यूनानी भाषा-विज्ञोंकी एक कृति है, जिसके द्वारा गैरयूनानी बातोंकी व्याख्या की गयी है और वह भी एक ऐसे

दृष्टिबिन्दुसे जिसका स्वयं आधार ही ग्रीक मनको गलत तौरसे समझनेपर है। इसकी प्रणाली कोई धीरतापूर्ण वैज्ञानिक अन्वेषण होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक कवितामय कल्पनाका एक प्रतिभासूचक खेल है।

इस प्रणालीके परिणामोंपर यदि हम दृष्टि डालें, तो हम वहाँ रूपकोंकी और उनकी व्याख्याओंकी एक असाधारण गड़बड़ पाते हैं जिनमें कहीं भी कोई संगति या सामञ्जस्य नहीं है। यह ऐसे विस्तृत वर्णनोंका समुदाय है जो एक दूसरेमें प्रवेश कर रहे हैं, गड़बड़ीके साथ एक दूसरेके मार्गमें आ रहे हैं, एक दूसरेके साथ असहमत हैं तो भी उसके साथ उलझे हुए हैं और उनकी प्रामाणिकता निर्भर करती है केवल उन काल्पनिक अटकलोंपर जिन्हें ज्ञानका एकमात्र साधन समझकर खुली छुट्टी दे दी गयी है। यहाँतक कि इस असंगतिको इतने उच्च पदपर पहुँचा दिया गया है कि इसे सच्चाईका एक मानदण्ड समझा गया है, क्योंकि प्रमुख विद्वानोंने यह गम्भीरतापूर्वक युक्ति दी है कि अपेक्षाकृत अधिक तर्कसम्मत और सुव्यवस्थित परिणामपर पहुँचनेवाली कोई प्रणाली इसी कारण खण्डित और अविश्वसनीय साबित हो जाती है कि उसमें संगति पायी जाती है, क्योंकि (वे कहते हैं) यह अवश्य मानना चाहिये कि गड़बड़ीका होना प्राचीन गाथाकवितात्मक योग्यताका एक आवश्यक तत्त्व ही था। परन्तु ऐसी अवस्थामें कोई भी चीज़ तुलनात्मक गाथा-विज्ञानके परिणामोंमें नियन्त्रण करनेवाली नहीं हो सकती और एक कल्पना वैसी ही ठीक होगी, जैसी कोई दूसरी ; क्योंकि इसमें कोई युक्ति नहीं है कि क्यों असंबद्ध वर्णनोंके किसी एक विशेष समुदायको उससे भिन्न प्रकारसे प्रस्तुत किये गये असम्बद्ध वर्णनोंके किसी दूसरे समुदायकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक समझा जावे।

तुलनात्मक गाथा-विज्ञानकी मीमांसाओंमें ऐसा बहुत कुछ है जो उपयोगी है, परन्तु इसके लिये कि इसके अधिकतर परिणाम युक्तियुक्त और स्वीकार करने लायक हो सकें, इसे एक अपेक्षाकृत अधिक धैर्यसाध्य और संगत प्रणालीका प्रयोग करना चाहिये और अपना संगठन एक सुप्रतिष्ठित धर्म-विज्ञान (Science of Religion) के अंगके रूपमें ही करना चाहिये। हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि प्राचीन धर्म कुछ ऐसे विचारोंपर आश्रित सुघटित संस्थान थे, जो कम-से-कम उतने ही संगत थे जितने कि हमारे धर्मविश्वासोंके आधुनिक संस्थानोंको बनानेवाले विचार हैं। हमें यह भी मानना चाहिये कि धार्मिक संप्रदाय और दार्शनिक विचारके पहिलेके संस्थानोंसे लेकर बादमें आनेवाले संस्थानोंतक सर्वथा बुद्धिगम्य, क्रमिक विकास ही हुआ है। इस भावनाके साथ जब हम प्रस्तुत सामग्रीका विस्तृत

और गंभीर रूपसे अध्ययन करेंगे तथा मानवीय विचार और विश्वासके सच्चे विकासका अन्वेषण करेंगे, तभी हम वास्तविक सत्यतक पहुँच सकेंगे।

ग्रीक और संस्कृत नामोंकी केवलमात्र तद्रूपता और इन बातोंका चातुर्य-पूर्ण अन्वेषण कि हैरेकलकी चिता (Heracle's pyre) अस्त होते हुए सूर्यका प्रतीक है या पारिस (Paris) और हैलन (Helen) वेदके 'सरमा' और 'पणियों'के ही ग्रीक अपभ्रंश हैं, कल्पना-प्रधान मनके लिये एक रोचक मनोरञ्जनका विषय अवश्य है, परन्तु अपने-आपमें ये बातें किसी गंभीर परिणामपर नहीं पहुँचा सकतीं, चाहे यह भी सिद्ध क्यों न हो जाय कि ये ठीक हैं। न ही वे ऐसी ठीक ही हैं कि उनपर गंभीर सन्देहकी गुञ्जाइश न हो, क्योंकि उस अधूरी तथा कल्पनात्मक प्रणालीका, जिसके द्वारा सूर्य और नक्षत्र-गाथाकी व्याख्याएँ की गयी हैं, यह एक दोष है कि वे एक-सी ही सुगमता और विश्वासजनकताके साथ किसी भी, और प्रत्येक ही मानवीय परम्परा, विश्वास या इतिहासकी वास्तविक घटना[1] तक के लिये प्रयुक्त की जा सकती हैं। इस प्रणालीको लेकर हम कभी भी निश्चयपर नहीं पहुँच सकते कि कहाँ हमने वस्तुतः किसी सत्यको जा पकड़ा है और कहाँ हम केवलमात्र बुद्धिचातुर्यकी बातें सुन रहे हैं।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान (comparative philology) सचमुच हमारी कुछ सहायता कर सकता है, परन्तु अपनी वर्तमान अवस्थामें वह भी बहुत ही थोड़ी निश्चयात्मकताके साथ हमारी सहायता कर सकता है। उन्नीसवीं शताब्दीसे पहले भाषाशास्त्रका जो ज्ञान हमारे पास था उसकी अपेक्षा आज आधुनिक भाषाविज्ञानने बड़ी भारी उन्नति कर ली है। इसने इसमें एकमात्र कल्पना या मनमौजके स्थानपर एक नियम और प्रणालीकी भावनाको ला दिया है। इसने हमें भाषाके शब्दरूपोंके अध्ययनके विषयमें और शब्दव्युत्पत्ति-विज्ञानमें क्या सम्भव है और क्या सम्भव नहीं, इस विषयमें अपेक्षया अधिक ठीक विचारोंको दिया है। इसने कुछ नियम निर्धारित कर दिये हैं, जिनके अनुसार कोई भाषा शनैः-शनैः बदलते-बदलते दूसरीमें आ जाया करती है और वे नियम इस बातमें हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं कि एक ही शब्द या उससे सम्बन्धित दूसरे शब्द, जैसे कि वे भिन्न-भिन्न परन्तु सजातीय भाषाओंके परिवर्तित रूपोंमें दिखाई देते हैं,

---

1. उदाहरणार्थ, एक बड़ा विद्वान् हमें यह निश्चय दिलाता है कि ईसा और उसके 12 देवदूत सूर्य और 12 महीने हैं। नेपोलियनका चरित्र समस्त आख्यान-परंपरा या इतिहासमें सबसे अधिक पूर्ण सूर्यगाथा है।

किन शब्दोंके तद्रूप हैं। तथापि यहाँ आकर इसके लाभ रुक जाते हैं। वे ऊँची-ऊँची आशाएँ जो इसकी उत्पत्तिके समय थीं, इसकी प्रौढ़ताके द्वारा पूर्ण नहीं हुई हैं। भाषाके विज्ञानकी रचना कर सकनेमें यह असफल रहा है और अब भी हम इसके प्रति उस क्षमायाचनापूर्ण वर्णनको प्रयुक्त करनेके लिये बाध्य हैं, जो एक प्रमुख भाषाविज्ञानवेत्ताने अपने अत्यधिक प्रयासके कुछ दशकोंके पश्चात् प्रयुक्त किया था, जब वह अपने परिणामोंके विषयमें यह कहनेके लिये बाध्य हुआ था कि "हमारे क्षुद्र कल्पनामूलक विज्ञान"। परन्तु कोई कल्पनामूलक विज्ञान तो विज्ञान ही नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानके अधिक यथार्थ और सूक्ष्मतया विशुद्ध रूपोंका अनुसरण करनेवाले लोग तुलनात्मक भाषाविज्ञानको 'विज्ञान' यह नाम देनेसे सर्वथा इन्कार करते हैं और यहाँतक कि वे भाषा-सम्बन्धी किसी विज्ञानकी संभवनीयतासे ही इन्कार करते हैं।

सच तो यह है कि भाषाविज्ञानसे जो परिणाम निकले हैं उनमें अभीतक कोई वास्तविक निश्चयात्मकता नहीं है, क्योंकि सिवाय एक या दो नियमोंके, जिनका प्रयोग बिल्कुल सीमित है, उसमें कहीं भी कोई निश्चित आधार नहीं है। कल हम सबको यह विश्वास था कि वरुण और औरेनस (ouranos)—ग्रीक आकाश—एक ही हैं, आज यह समानता, यह कहकर दोषयुक्त ठहरा दी गयी है कि, इसमें भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी गलती है, कल यह हो सकता है कि इसे फिरसे मान लिया जाय। 'परमे व्योमन्' एक वैदिक मुहावरा है, जिसका कि हममेंसे अधिकांश "उच्चतम आकाशमें" यह अनुवाद करेंगे, परन्तु श्रीयुत टी० परम शिव अय्यर अपने बौद्धिक चमक-दमकसे युक्त और आश्चर्यजनक ग्रंथ "दि ऋक्स" (ऋग्वेदके मंत्र)में हमें बताते हैं कि इसका अर्थ है, "निम्नतम गुहामें" क्योंकि 'व्योमन्'का अर्थ होता है "विच्छेद, दरार" और शाब्दिक अर्थ है, "रक्षा (ऊमा)का अभाव" और जिस युक्ति-प्रणालीका उन्होंने प्रयोग किया है वह आधुनिक विद्वान्की प्रणालीके ऐसी अनुरूप है कि भाषाविज्ञानी इसे यह कहकर अमान्य नहीं कर सकता कि "रक्षाके अभाव"का अर्थ दरार होना संभव नहीं है और यह कि मानवीय भाषाका निर्माण ऐसे नियमोंके अनुसार नहीं हुआ है।

यह इसीलिये है क्योंकि भाषा-विज्ञान उन नियमोंका पता लगानेमें असफल रहा है जिन नियमोंपर भाषाका निर्माण हुआ है, या यह कहना अधिक ठीक है कि जिन नियमोंसे भाषाका शनैः-शनैः विकास हुआ है; और दूसरी ओर इसने एकमात्र कल्पना और बुद्धिकौशलकी पुरानी भावनाको पर्याप्त रूपमें कायम रखा है और यह संदिग्ध अटकलोंकी ठीक इस प्रकारकी

(जैसी कि श्री अय्यरने दिखलाई है) बौद्धिक चमक-दमकसे ही भरा पड़ा है। लेकिन तब हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि हमें इस बातके निर्णयमें सहायता देनेके लिये इसके पास कुछ नहीं है कि वेदका 'परमे व्योमन्' 'उच्चतम आकाश'की ओर निर्देश करता है या 'निम्नतम खाई'की ओर। यह स्पष्ट है कि ऐसा अपूर्ण भाषा-विज्ञान वेदका आशय समझनेके लिये कहीं-कहीं एक उज्ज्वल सहायक तो हो सकता है, परन्तु एक निश्चित पथ-प्रदर्शक कभी नहीं हो सकता।

यह बात वस्तुतः हमें माननी चाहिये कि वेदके संबंधमें विचार करते हुए योरोपियन पाण्डित्यको, योरोपमें हुई वैज्ञानिक प्रगतिके साथ उसका जो सम्बन्ध है उसके कारण, आम जनताके मनोंमें कुछ अतिरिक्त प्रतिष्ठा मिल जाती है। पर सत्य यह है कि स्थिर, निश्चित और यथार्थ भौतिक विज्ञानोंके तथा जिनपर वैदिक पाण्डित्य निर्भर करता है ऐसी इन विद्वत्ताकी दूसरी उज्ज्वल किन्तु अपरिपक्व शाखाओंके बीच एक बड़ी भारी खाई है! वे (भौतिक-विज्ञान) अपनी स्थापनामें सतर्क, व्यापक सिद्धान्त बनानेमें मंद, अपने परिणामोंमें सबल हैं और ये (विद्वत्ताकी दूसरी शाखाएँ) कुछ थोड़ेसे स्वीकृत तत्त्वोंपर विशाल और व्यापक सिद्धांतोंको बनानेके लिये बाध्य हुई हैं और किन्हीं निश्चित निर्देशोंको न दे सकनेकी अपनी कमीको अटकलों और कल्पनाओंके अतिरेक द्वारा पूरी करती हैं। ये ज्वलन्त प्रारम्भोंसे तो भरी पड़ी हैं, पर किसी सुरक्षित परिणामपर नहीं पहुँच सकतीं। ये विज्ञान (पर चढ़ने) के लिये प्रारंभिक असंस्कृत मञ्च अवश्य हैं, पर अभीतक विज्ञान नहीं बन पायी हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि वेदकी व्याख्याकी सम्पूर्ण समस्या अबतक एक खुला क्षेत्र है जिसमें किसी भी सहायक कृतिका, जो इस समस्यापर प्रकाश डाल सके, स्वागत किया जाना चाहिये। इस प्रकारकी तीन कृतियोंका उद्भव भारतीय विद्वानोंसे हुआ है। उनमें दो योरोपियन अनुसन्धानके पद-चिह्नों या प्रणालियोंका अनुसरण करती हैं, फिर भी उन नयी कल्पनाओंको प्रस्तुत करती हैं जो यदि सिद्ध हो जायें तो मंत्रोंके बाह्य अर्थके विषयमें हमारे दृष्टिकोणको बिल्कुल बदल दें। श्रीयुत तिलकने "वेदमें आर्योंका उत्तरीय-ध्रुवनिवास" (Arctic Home in the Vedas) नामक पुस्तकमें योरोपियन पाण्डित्यके सामान्य परिणामोंको स्वीकार कर लिया है, परन्तु वैदिक उषाकी, वैदिक गौओंके अलंकारकी और मंत्रोंके नक्षत्र-विद्या-सम्बन्धी तत्त्वोंकी नवीन परीक्षाके द्वारा यह स्थापना की है कि, कम-से-कम इस बातकी बहुत अधिक सम्भावना तो है ही कि

आर्यजातियाँ प्रारम्भमें, हिम-युगमें, उत्तरीय ध्रुवके प्रदेशोंसे उतरकर आयीं।

श्रीयुत टी० परम शिव अय्यरने और भी अधिक साहसके साथ योरोपियन पद्धतियोंसे अपनेको जुदा करते हुए यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि सारा-का-सारा ऋग्वेद आलंकारिक रूपसे उन भू-गर्भ-संबंधी घटनाओंका वर्णन है, जो उस समयमें हुईं जब चिरकालसे जारी हिम-संहतिका विनाश समाप्त हुआ और उसके पश्चात् भौमिक विकासके उसी युगमें हमारे ग्रहका नवीन जन्म हुआ था। यह कठिन है कि श्रीयुत अय्यरकी युक्तियों और परिणामोंको सामूहिक रूपमें स्वीकार कर लिया जाय, परन्तु यह तो है कि कम-से-कम उसने वेदकी 'अहि-वृत्र'की महत्त्वपूर्ण गाथापर और सात नदियोंके विमोचनपर एक नया प्रकाश डाला है। उसकी व्याख्या प्रचलित कल्पना (theory) की अपेक्षा कहीं अधिक संगत और सम्भव है, जब कि प्रचलित कल्पना मंत्रोंकी भाषासे कदापि पुष्ट नहीं होती। तिलकके ग्रंथके साथ मिलाकर देखनेसे यह इस प्राचीन धर्मशास्त्र वेदकी एक नवीन बाह्य व्याख्याके लिये प्रारम्भ-बिन्दुका काम दे सकती है और इससे उस बहुतसे अंशका स्पष्टीकरण हो जायगा जो अबतक अव्याख्येय बना हुआ है, तथा यह हमारे लिये यदि प्राचीन आर्यजगत्की वास्तविक भौतिक परिस्थितियोंको नहीं तो कम-से-कम उसके भौतिक प्रारम्भोंको तो नया रूप प्रदान कर देगी।

तीसरी भारतीय सहायता तिथिमें अपेक्षया कुछ पुरानी है, परन्तु मेरे वर्तमान प्रयोजनके अधिक नजदीक है। यह है वेदको फिरसे एक सजीव धर्म-पुस्तकके रूपमें स्थापित करनेके लिये आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी दयानन्दके द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्दने पुरातन भारतीय भाषा-विज्ञानके स्वतन्त्र प्रयोगको अपना आधार बनाया, जिसे उन्होंने निरुक्तमें पाया था। स्वयं संस्कृतके एक महाविद्वान् होते हुए उन्होंने उनके पास जो सामग्री थी, उसपर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनताके साथ विचार किया। विशेषकर प्राचीन संस्कृत-भाषाके अपने उस विशिष्ट तत्त्वका उन्होंने रचनात्मक प्रयोग किया जो सायणके "धातुओंकी अनेकार्थता" इस एक वाक्यांशसे बहुत अच्छी तरहसे प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि इस तत्त्वका, इस मूल-सूत्रका ठीक-ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियोंकी निराली प्रणाली समझनेके लिये बहुत अधिक महत्त्व रखता है।

दयानन्दकी मन्त्रोंकी व्याख्या इस विचारसे नियन्त्रित है कि वेद धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक सत्यका एक पूर्ण ईश्वरप्रेरित ज्ञान है। वेदकी धार्मिक शिक्षा एकदेवतावादकी है और वैदिक देवता एक ही देवके भिन्न-भिन्न

वर्णनात्मक नाम हैं, साथ ही वे देवता उसकी उन शक्तियोंके सूचक भी हैं जिन्हें हम प्रकृतिमें कार्य करता हुआ देखते हैं, और वेदोंके आशयको सच्चे रूपमें समझकर हम उन सभी वैज्ञानिक सचाइयोंपर पहुँच सकते हैं जिनका आधुनिक अन्वेषण द्वारा आविष्कार हुआ है।

इस प्रकारके सिद्धांतकी स्थापना करना, स्पष्ट ही, बड़ा कठिन काम है। अवश्य ही ऋग्वेद स्वयं कहता है[1] कि देवता एक ही विश्वव्यापक सत्ताके केवल भिन्न नाम और अभिव्यक्तियाँ हैं जो सत्ता अपनी निजी वास्तविकतामें विश्वको अतिक्रमण किये हुए है; परन्तु मंत्रोंकी भाषासे देवताओंके विषयमें निश्चित रूपसे हमें यह पता लगता है कि वे न केवल एक देवके भिन्न-भिन्न नाम, किन्तु साथ ही उस देवके भिन्न-भिन्न रूप, शक्तियाँ और व्यक्तित्व भी हैं। वेदका एकदेवतावाद विश्वकी अद्वैतवादी, सर्व-देवतावादी और यहाँतक कि बहुदेवतावादी दृष्टियोंको भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है और यह किसी भी प्रकारसे आधुनिक ईश्वरवादका कटा-छँटा और सीधा-सा रूप नहीं है। यह केवल मूल वेदके साथ जबर्दस्ती करनेसे ही हो सकता है कि हम इसपर ईश्वरवादके इसकी अपेक्षा किसी कम जटिल रूपको मढ़ देनेमें कामयाब हो सकें।

यह बात भी मानी जा सकती है कि प्राचीन जातियाँ भौतिक विज्ञानमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत थीं जितना कि अभीतक स्वीकार किया जाता है। हमें मालूम है कि मिश्र और खाल्दियाके निवासी बहुतसे आविष्कार कर चुके थे जिन्हें विज्ञानने आधुनिक विज्ञानके द्वारा पुनराविष्कृत किया है और उनमेंसे बहुतसे ऐसे भी हैं जो फिरसे आविष्कृत नहीं किये जा सके हैं। प्राचीन भारतवासी, कम-से-कम, कोई छोटे-मोटे ज्योतिर्विद् नहीं थे और वे सदा कुशल चिकित्सक थे। न ही हिन्दु वैद्यक-शास्त्र तथा रसायनशास्त्रका उद्भव विदेशसे हुआ प्रतीत होता है। यह संभव है कि भौतिक विज्ञानकी अन्य शाखाओंमें भी भारतवासी प्राचीन कालमें भी उन्नत रहे हों। परन्तु यह सिद्ध करनेके लिये कि वेदोंमें वैज्ञानिक ज्ञान बिल्कुल पूर्ण रूपमें प्रकट हुआ, जैसा कि स्वामी दयानन्दका कथन है, बहुत अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता होगी।

वह स्थापना जिसे मैं अपनी परीक्षाका आधार बनाऊँगा, यह है कि वेद द्विविध रूप रखता है और उन दोनों रूपोंको, यद्यपि वे परस्पर बहुत

---

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋग्० 1-164-46)

घनिष्ठताके साथ सम्बद्ध हैं, हमें पृथक्-पृथक् ही रखना चाहिये। ऋषियोंने अपनी विचारकी सामग्रीको एक समानान्तर तरीकेसे व्यवस्थित किया था, जिसके द्वारा वही-के-वही देवता एक साथ विराट् प्रकृतिकी आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों शक्तियोंके रूपमें प्रकट हो जाते थे और उन्होंने इसे एक ऐसी द्व्यर्थक प्रणालीसे अभिव्यक्त किया जिससे एक ही भाषा दोनों रूपोंमें उनकी पूजाके प्रयोजनको सिद्ध कर देती थी। परन्तु भौतिक अर्थकी अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान है और अपेक्षया अधिक व्यापक घनिष्ठताके साथ ग्रथित तथा अधिक संगत है। वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्म-साधनाके लिये अभिप्रेत है। इसलिये यही अर्थ है जिसे हमें प्रथम पुनरुज्जीवित करना चाहिये।

इस कार्यमें व्याख्याकी प्रत्येक, प्राचीन तथा आधुनिक, प्रणाली एक अनिवार्य सहायता देती है। सायण और यास्क बाह्य प्रतीकोंके कर्मकाण्डमय ढाँचेको और अपनी परम्परागत व्याख्याओं तथा स्पष्टीकरणोंके बड़े भारी भण्डारको प्रस्तुत करते हैं। उपनिषदें प्राचीन ऋषियोंके आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारोंको जाननेके लिये अपने मूलसूत्र हमें पकड़ाती हैं और आध्यात्मिक अनुभूति तथा अन्तर्ज्ञानकी अपनी प्रणालीको हमतक पहुँचाती हैं। योरोपियन पाण्डित्य तुलनात्मक अनुसन्धानकी एक आलोचनात्मक प्रणाली को देता है। वह प्रणाली यद्यपि अभीतक अपूर्ण है, तो भी जो साधन अबतक प्राप्य हैं उन्हें बहुत अधिक उन्नत कर सकती है और अन्तमें जाकर वह निश्चित रूपसे एक वैज्ञानिक निश्चयात्मकता तथा दृढ़ बौद्धिक आधारको दे सकेगी जो अबतक प्राप्त नहीं हुआ है। दयानन्दने ऋषियोंके भाषा-सम्बन्धी रहस्यका मूलसूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिक धर्मके एक केन्द्रभूत विचारपर फिरसे बल दिया है, इस विचारपर कि जगत्में एक ही देवकी सत्ता है और भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपोंसे उस एक देवकी ही अनेकरूपताको प्रकट करते हैं।

मध्यकालीन भूतसे इतनी सहायता लेकर हम अब भी इस सुदूरवर्ती प्राचीनताका पुनर्निर्माण करनेमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं और वेदके द्वारसे प्रागैतिहासिक ज्ञानके विचारों तथा सचाइयोंके अन्दर प्रवेश पा सकते हैं।

चौथा अध्याय

आध्यात्मिकवाद के आधार

वेदोंके अर्थके विषयमें कोई वाद निश्चित और युक्तियुक्त हो सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसे आधारपर टिका हो जो स्पष्ट तौरपर स्वयं वेदकी ही भाषामें विद्यमान हो। वेदमें जो सामग्री है उसका अधिक भाग चाहे प्रतीकों और अलंकारोंका एक समुदाय हो, जिसका आशय खोजकर पता लगानेकी आवश्यकता है, तो भी मंत्रोंकी स्पष्ट भाषामें ही हमें साफ साफ निर्देश मिलने चाहियें जो वेदका आशय समझनेमें हमारा पथप्रदर्शन करें। नहीं तो, क्योंकि प्रतीक स्वयं संदिग्ध अर्थको देनेवाले हैं, यह खतरा है कि ऋषियोंने जिन अलंकारोंको चुना है उनके वास्तविक अभिप्रायको ढूंढ़ निकालनेके बजाय कहीं हम अपनी स्वतंत्र कल्पनाओं और पसंदगीके बलपर कुछ और ही वस्तु न गढ़ डालें। उस अवस्थामें, हमारा सिद्धांत चाहे कितना ही पूर्ण और बुद्धिकौशलसे युक्त क्यों न हो, यह हवाई किले बनानेके समान होगा जो बेशक शानदार हो पर उसमें कोई वास्तविकता या सार नहीं होगा।

इसलिये हमारा सबसे पहिला कर्तव्य यह है कि हम इस बातका निश्चय करें कि अलंकारों और प्रतीकोंके अतिरिक्त, वेदमंत्रोंकी स्पष्ट भाषामें आध्यात्मिक विचारोंका पर्याप्त बीज विद्यमान है या नहीं, जो कि हमारी इस कल्पनाको न्यायोचित सिद्ध कर सके कि वेदका जंगली और अनघड़ अर्थकी अपेक्षा एक उच्चतर अर्थ है। और इसके बाद हमें, जहाँ तक हो सके स्वयं सूक्तोंकी अन्तः-साक्षीके ही द्वारा, प्रत्येक प्रतीक और अलंकारका वास्तविक अभिप्राय क्या है तथा वैदिक देवताओंमेंसे प्रत्येकका अलग-अलग ठीक-ठीक आध्यात्मिक व्यापार क्या है यह मालूम करना होगा। वेदकी प्रत्येक नियत परिभाषाका एक स्थिर, न कि इच्छानुसार बदलता रहनेवाला, अर्थ पता लगाना होगा जिसकी प्रामाणिकता ठीक-ठीक भाषाविज्ञानसे पुष्ट होती हो और जो उस प्रकरणमें जहाँ कि वह शब्द आता है स्वभावतः ही बिल्कुल उपयुक्त बैठता हो। क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वेदमंत्रोंकी भाषा एक नियत तथा अपरिवर्तनीय भाषा है, यह सावधानीके साथ सुरक्षित तथा निर्दोष रूपसे आदर पायी हुई वाणी है, जो या तो एक

विधिविधानसंबंधी संप्रदाय और याज्ञिक कर्मकांडको अथवा एक परंपरागत सिद्धांत और सतत अनुभूतिको संगतिपूर्वक अभिव्यक्त करती है। यदि वैदिक ऋषियोंकी भाषा स्वच्छन्द तथा परिवर्तनीय होती, यदि उनके विचार स्पष्ट तौरसे तरल अवस्थामें, अस्थिर और अनियत होते, तब तो हम जो ऐसा कहते हैं कि उनकी परिभाषाओंमें जैसा चाहो वैसा अर्थ कर लेनेकी सुलभ छूट है तथा असंगति है यह बात एवं उनके विचारोंमें हम जो कुछ संबन्ध निकालते हैं, वह सब न्याय्य अथवा सह्य हो सकता था। परंतु वेदमंत्र स्वयं बिल्कुल प्रत्यक्ष ही ठीक इसके विरुद्ध साक्षी देते हैं। इसलिये हमें यह मांग उपस्थित करनेका अधिकार है कि व्याख्याकारको अपनी व्याख्या करते हुए वैसी ही सचाई और सतर्कता रखनी चाहिये जैसी उस मूलमें रखी गयी है जिसकी वह व्याख्या करना चाहता है। वैदिक धर्मके विभिन्न विचारों और उसकी अपनी परिभाषाओंमें स्पष्ट ही एक अविच्छिन्न संबंध है। उनकी व्याख्यामें यदि असंगति और अनिश्चितता होगी, तो उससे केवल यही सिद्ध होगा कि व्याख्याकार ठीक-ठीक सम्बन्धको पता लगानेमें असफल रहा है, न कि यह कि वेदकी प्रत्यक्ष साक्षी भ्रान्तिजनक है।

इस प्रारम्भिक प्रयासको सतर्कता तथा सावधानीके साथ कर चुकनेके पश्चात् यदि मंत्रोंके अनुवादके द्वारा यह दिखाया जा सके कि जो अर्थ हमने निश्चित किये थे वे स्वाभाविकतया और आसानीके साथ किसी भी प्रकरणमें ठीक बैठते हैं, यदि उन अर्थोंको हम ऐसे पायें कि उनसे धुंधले दीखनेवाले प्रकरण स्पष्ट हो जाते हैं और जहाँ पहिले केवल असंगति और अव्यवस्था मालूम होती थी वहाँ उनसे समझमें आने योग्य और स्पष्ट-स्पष्ट संगति दीखने लगती है, यदि पूरे-के-पूरे सूक्त इस प्रकार एक स्पष्ट और सुसंबद्ध अभिप्रायको देने लग जायं और क्रमबद्ध मन्त्र सम्बद्ध विचारोंकी एक युक्तियुक्त शृंखलाको दिखाने लगें, और कुल मिलाकर जो परिणाम निकले वह यदि सिद्धांतोंका एक गम्भीर, संगत तथा पूर्ण समुदाय हो, तो हमारी कल्पनाको यह अधिकार होगा कि वह दूसरी कल्पनाओंके मुकाबलेमें खड़ी हो और जहाँ वे इसके विरोधमें जाती हों वहाँ उन्हें ललकारे या जहाँ वे इसके परिणामोंसे संगति रखती हों वहाँ उन्हें पूर्ण बनाये। और तब यदि यह पता लगे कि इस प्रकार वेदमें विचारों और सिद्धांतोंका जो समुदाय प्रकट हुआ है वह उस उत्तरवर्ती भारतीय विचार और धार्मिक अनुभूतिका एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रूप है, जो स्वभावतः वेदान्त और पुराणके जनक हुए हैं, तो इससे हमारी स्थापना की संभवनीयता कुछ कम नहीं हो जायगी, बल्कि इसके विपरीत उसकी प्रामाणिकता पुष्ट ही होगी।

ऐसा बड़ा और सूक्ष्म प्रयास इस छोटी-सी और संक्षिप्त लेखमालाके क्षेत्रसे बाहर की बात है। इन अध्यायोंको लिखनेका मेरा प्रयोजन केवल यह है कि जो सूत्र स्वयं मुझे मिला है उसका जो लोग अनुसरण करना चाहते हैं उनके लिये मार्गका और उसमें आनेवाले मुख्य-मुख्य मोड़ोंका दिग्दर्शन कराऊँ—साथ ही उन परिणामोंका दिग्दर्शन कराऊँ जिनपर मैं पहुँचा हूँ और उन मुख्य निर्देशोंका भी जिनके द्वारा वेद स्वयमेव उन परिणामों तक पहुँचनेमें हमारी सहायता करता है। और सबसे पहिले, मुझे यह उचित प्रतीत होता है कि मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि यह कल्पना मेरे अपने मनमें किस प्रकार उदित हुई, जिससे पाठक उस दिशाको अधिक अच्छी प्रकार समझ सके, जिसे मैंने अपनाया है, अथवा यदि वह चाहे तो, मुझसे जो कोई पक्षपात हो गये हों या मेरी जो कोई वैयक्तिक अभिरुचियाँ हों जिन्होंने इस कठिन प्रश्नपर युक्ति-शृंखलाके यथोचित प्रयोगको सीमित कर दिया हो या प्रभावित किया हो उनका वह निवारण कर सके।

जैसा कि अधिकांश शिक्षित भारतीय करते हैं, मैंने भी स्वयं वेदको पढ़नेसे पहले ही बिना परीक्षा किये योरोपियन विद्वानोंके परिणामोंको जो प्राचीन मन्त्रोंकी धार्मिक दृष्टि तथा ऐतिहासिक व जाति-विज्ञानसंबंधी दृष्टि दोनोंके विषयमें थे, कुछ भी प्रतिकार किये बगैर वैसाका वैसा ही स्वीकार कर लिया था। इसके फलस्वरूप, फिर आधुनिक रंगमें रंगे हिन्दू-मतसे स्वीकृत सामान्य दिशाका ही अनुसरण करते हुए, मैंने उपनिषदोंको ही भारतीय विचार और धर्मका प्राचीन स्रोत, सच्चा वेद, ज्ञानकी आदिपुस्तक समझ लिया था। ऋग्वेदके जो आधुनिक अनुवाद प्राप्त हैं, केवल उन्हींको मैं इस गंभीर धर्मपुस्तकके विषयमें जानता था और इस ऋग्वेदको मैं यही समझता था कि यह हमारे राष्ट्रीय इतिहासका एक महत्त्वपूर्ण लेखा है, परन्तु विचारके इतिहास या एक सजीव आत्मिक अनुभूतिके रूपमें मुझे इसका मूल्य या इसकी महत्ता बहुत थोड़ी प्रतीत होती थी।

वैदिक विचारके साथ मेरा प्रथम परिचय अप्रत्यक्ष रूपसे उस समय हुआ जब मैं भारतीय योग-विधिके अनुसार आत्मविकासकी किन्हीं दिशाओंमें अभ्यास कर रहा था। आत्मविकासकी ये दिशाएँ स्वतः ही हमारे पूर्व पितरोंसे अनुसृत, प्राचीन और अब अनभ्यस्त मार्गोंकी ओर मेरे अनजाने ही प्रवृत्ति रखती थीं। इस समय मेरे मनमें प्रतीकरूप नामोंकी एक शृंखला उठनी शुरू हुई। ये प्रतीक किन्हीं ऐसी आध्यात्मिक अनुभूतियोंसे सम्बद्ध थे जो मुझे नियमित रूपसे होनी आरम्भ हो चुकी थीं, और उनके बीचमें तीन स्त्रीलिंगी शक्तियों इळा, सरस्वती, सरमाके प्रतीक भी आये। ये

शक्तियाँ अन्तर्ज्ञानमय बुद्धिकी चार शक्तियोंमेंसे तीनकी-क्रमशः स्वतःप्रकाश (Revelation), अन्तःप्रेरणा (Inspiration) और अन्तर्ज्ञान (Intuition) की द्योतक थीं। इनके नामोंमेंसे दो मुझे इस रूपमें सुपरिचित नहीं थे कि ये वैदिक देवियोंके नाम हैं, बल्कि इससे कहीं अधिक इन शक्तियोंके विषयमें मैं यह समझता था कि ये प्रचलित हिंदुधर्म या प्राचीन पौराणिक कथानकोंके साथ संबंध रखती हैं अर्थात् 'सरस्वती' विद्याकी देवी है और 'इळा' चन्द्रवंशकी माता है। परंतु तीसरी 'सरमा' से मैं पर्याप्त रूपसे परिचित था। तथापि इसकी जो आकृति मेरे अंदर उठी थी उसमें और स्वर्गकी कुतिया ('सरमा') में मैं कोई संबंध निश्चित नहीं कर सका। 'सरमा' मेरी स्मृतिमें आर्गिव हैलन (Argive Helen)[1] के साथ जुड़ी हुई थी और केवल उस भौतिक उषाके रूपककी द्योतक थी, जो खोयी हुई प्रकाशकी गौओंको खोजते-खोजते अंधकारकी शक्तियोंकी गुफामें घुस जाती है। एक बार यदि मूलसूत्र मिल जाता, इस बातका सूत्र कि भौतिक प्रकाश मानसिक प्रकाशको निरूपित करता है, तो यह समझ जाना आसान था कि स्वर्गकी कुतिया ('सरमा') हो सकती है अन्तर्ज्ञान, जो अवचेतन मन (Subconscious mind) की अंधेरी गुफाओंके अंदर प्रवेश करता है, ताकि उन गुफाओंमें बंद पड़े हुए ज्ञानके चमकीले प्रकाशोंको छुटकारा दिलानेकी और छूटकर उनके जगमगानेकी तैयारी करे। परंतु वह सूत्र नहीं मिला और मैं प्रतीकके किसी सादृश्यके बिना केवल नामके सादृश्यको कल्पित करनेके लिये बाध्य हुआ।

पहिले-पहल गंभीरतापूर्वक मेरे विचार वेदकी ओर तब आकृष्ट हुए जब मैं दक्षिण भारतमें रह रहा था। दो बातोंने जो बलात् मेरे मनपर आकर पड़ीं, उत्तरीय आर्य और दक्षिणीय द्रविड़ियोंके बीच जातीय विभागके मेरे विश्वासपर, जिसे मैंने दूसरोंसे लिया था, एक भारी आघात पहुँचाया। मेरा यह जातीय विभागका विश्वास पूर्णतः निर्भर करता था उस कल्पित भेदपर जो आर्यों तथा द्रविड़ियोंके भौतिक रूपोंमें किया गया है, तथा उस अपेक्षाकृत अधिक निश्चित विसंवादितापर जो उत्तरीय संस्कृतजन्य तथा दक्षिणीय संस्कृतभिन्न भाषाओंके बीचमें पायी जाती है। मैं उन नये मतोंसे तो अवश्य परिचित था जिनके अनुसार भारतके प्रायद्वीपपर एक ही सवर्ण-जाति, द्रविड़-जाति या भारत-अफगान (Indo-Afghan) जाति, निवास करती है, परंतु अबतक मैंने इनको कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया था।

---

1. ग्रीक गाथाशास्त्रकी एक देवी।

पर दक्षिण भारतमें मुझपर यह छाप पड़नेमें बहुत समय नहीं लगा कि तामिल जातिमें उत्तरीय या 'आर्य' रूप विद्यमान है। जिधर भी मैं मुड़ा, एक चकित कर देनेवाली स्पष्टताके साथ मुझे यह प्रतीत हुआ कि मैं न केवल ब्राह्मणोंमें किंतु सभी जातियों और श्रेणियोंमें महाराष्ट्र, गुजरात, हिंदुस्थानके अपने मित्रोंके उन्हीं पुराने परिचित चेहरों, रूपों, आकृतियोंको पहिचान रहा हूँ, बल्कि अपने प्रांत बंगालके भी यद्यपि यह बंगालकी समानता अपेक्षाकृत कम व्यापक रूपमें फैली हुई थी। जो छाप मुझपर पड़ी वह यह थी कि मानो उत्तरकी सभी जातियों, उपजातियोंकी एक सेना दक्षिणमें उतरकर आयी हो और आकर जो कोई भी लोग यहाँ पहिले से बसे हुए हों उन्हें अपने अंदर निमज्जित कर लिया हो। दक्षिणीय रूप (type) की एक सामान्य छाप बची रही, परंतु व्यक्तियोंकी मुखाकृतियोंका अध्ययन करते हुए उस रूपको दृढ़ताके साथ स्थापित कर सकना असंभव था। और अंतमें यह धारणा बनाये बिना मैं नहीं रह सका कि जो कुछ भी संकर हो गये हों, चाहे जो भी प्रादेशिक भेद विकसित हो गये हों, सब विभेदोंके पीछे सारे भारतमें जैसे एक सांस्कृतिक वैसे ही एक भौतिक रूप (type)[1] की एकता भी अवश्य है। शेषतः, यह है परिणाम जिसकी ओर पहुँचनेकी स्वयं जाति-विज्ञान-संबंधी विचार[2] भी बहुत अधिक प्रवृत्ति रखता है।

तो फिर उस तीव्र भेदका क्या होगा जो भाषाविज्ञानियोंने आर्य तथा द्राविड़ जातियोंके बीच बना रखा है? वह समाप्त हो जाता है। यदि किसी तरह आर्यजातिके आक्रमणको मान ही लिया जाय, तो हमें या तो यह मानना होगा कि इसने भारतको आर्योंसे भर दिया और इस तरह बहुत थोड़े-से अन्य परिवर्तनोंके साथ इसीने यहाँके लोगोंके भौतिक रूपको निश्चित किया, अथवा यह मानना पड़ेगा कि एक कम सभ्य जातिके छोटे-

---

1. मैंने यह पसंद किया है कि यहां जाति (race) शब्द का प्रयोग न करूं क्योंकि जाति एक ऐसी चीज है जो, जैसा कि इसके विषय में साधारणतया समझा जाता है। उसकी अपेक्षा, बहुत अधिक अस्पष्ट है और इसका निश्चय करना बहुत कठिन है। 'जाति' के विषय में सोचते हुए सर्वसाधारण मन में जो तीव्र भेद प्रचलित हैं वे यहाँ कुछ भी प्रयोजन के नहीं।
2. ऐसा मैंने सदा यह मानते हुए कहा है कि कम-से-कम जातिविज्ञानसंबंधी कल्पनाएँ किसी प्रमाण पर आश्रित हैं। जातिविज्ञान का एकमात्र ठोस आधार यह मत है कि मनुष्य का कपाल वंशपरंपरा से अपरिवर्तनीय है पर इस मत को अब ललकारा जाने लगा है। यदि यह असिद्ध हो जाता है तो इसके साथ यह सारा-का-सारा विज्ञान ही असिद्ध हो जाता है।

छोटे दल ही यहाँ आ घुसे थे, जो बदलकर धीरे-धीरे आदिम निवासियों जैसे हो गये। तो फिर आगे हमें यह कल्पना करनी पड़ती है कि ऐसे विशाल प्रायद्वीपमें आकर भी जहाँ कि सभ्य लोग रहते थे, जो बड़े-बड़े नगरोंको बनानेवाले थे, दूर-दूर तक व्यापार करनेवाले थे, जो मानसिक तथा आत्मिक संस्कृतिसे भी शून्य नहीं थे, उनपर वे आक्रान्ता अपनी भाषा, धर्म, विचारों और रीति-रिवाजोंको थोप देनेमें समर्थ हो सके। ऐसा कोई चमत्कार तभी संभव हो सकता था, यदि आक्रान्ताओंकी बहुत ही अधिक संगठित अपनी भाषा होती, रचनात्मक मनकी अधिक बड़ी शक्ति होती और अपेक्षाकृत अधिक प्रबल धार्मिक विधि और भावना होती।

और दो जातियोंके मिलानेकी कल्पनाको पुष्ट करनेके लिये भाषाके भेदकी बात तो सदा विद्यमान थी ही। परंतु इस विषयमें भी मेरे पहिलेके बने हुए विचार गड़बड़ और भ्रांत निकले। क्योंकि तामिल शब्दोंकी परीक्षा करनेपर, जो यद्यपि देखनेमें संस्कृतके रूप और ढंगसे बहुत अधिक भिन्न प्रतीत होते थे, मैंने यह पाया कि वे शब्द या शब्द-परिवार जो विशुद्ध रूपसे तामिल ही समझे जाते थे, संस्कृत तथा इसकी दूरवर्ती बहिन लैटिनके बीचमें और कभी-कभी ग्रीक तथा संस्कृतके बीचमें नये संबंधोंकी स्थापना करनेमें मेरा पथप्रदर्शन करते थे। कभी-कभी तामिल शब्द न केवल शब्दोंके परस्पर-संबंधका पता देते थे, बल्कि संबद्ध शब्दोंके परिवारमें किसी ऐसी कड़ीको भी सिद्ध कर देते थे जो मिल नहीं रही होती थी। और इस द्राविड़ भाषाके द्वारा ही मुझे पहिले-पहल आर्य भाषाओंके नियमका जो मुझे अब सत्य नियम प्रतीत होता है, आर्य भाषाओंके उत्पत्ति-बीजोंका, या यों कहना चाहिये कि, मानो इनकी गर्भविद्याका पता मिला था। मैं अपनी जांचको पर्याप्त दूर तक नहीं ले जा सका जिससे कि कोई निश्चित परिणाम स्थापित कर सकता, परंतु यह मुझे निश्चित रूपसे प्रतीत होता है कि द्राविड़ और आर्य भाषाओंके बीचमें मौलिक संबंध उसकी अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ और विस्तृत था, जितना प्रायः माना जाता है और संभावना तो यह प्रतीत होती है कि वे एक ही लुप्त आदिम भाषासे निकले हुए दो विभिन्न परिवार हों। यदि ऐसा हो तो द्राविड़ भारतपर आर्योंके आक्रमण होनेके विषयमें एकमात्र अवशिष्ट साक्षी यही रह जाती है कि वैदिक सूक्तोंमें इसके निर्देश पाये जाते हों।

इसलिये मेरी दोहरी दिलचस्पी थी, जिससे प्रेरित होकर मैंने पहिले-पहल मूल वेदको अपने हाथमें लिया, यद्यपि उस समय मेरा कोई ऐसा इरादा नहीं था कि मैं वेदका सूक्ष्म या गंभीर अध्ययन करूँगा। मुझे यह देखनेमें

अधिक समय नहीं लगा कि वेदमें कहे जानेवाले आर्यों और दस्युओंके बीचमें जातीय विभाग-सूचक निर्देश तथा यह बतानेवाले निर्देश कि दस्यु और आदिम भारतनिवासी एक ही थे, जितनी कि मैंने कल्पना की हुई थी, उससे भी कहीं अधिक निःसार हैं। परंतु इससे भी अधिक दिलचस्पीका विषय मेरे लिये यह था कि इन प्राचीन सूक्तोंके अंदर गंभीर अध्यात्मिक विचारों और अनुभूतियोंका जो बड़ा भारी समुदाय उपेक्षित पड़ा था उसका मुझे पता लग गया और इस अंगकी महत्ता तब मेरी दृष्टिमें और भी बढ़ गई जब पहिले तो, मैंने यह देखा कि वेदके मंत्र एक स्पष्ट और ठीक प्रकाशके साथ मेरी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियोंको प्रकाशित करते हैं, जिनके लिये न तो योरोपियन अध्यात्म-विज्ञानमें, न ही योग की या वेदांतकी शिक्षाओंमें जहाँतक मैं इनसे परिचित था, मुझे कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता था। और दूसरे यह कि वे उपनिषदोंके उन धुंधले संदर्भों और विचारों पर प्रकाश डालते थे जिनका पहिले मैं कोई ठीक-ठीक अर्थ नहीं कर पाता था, और इसके साथ ही इनसे पुराणोंके भी बहुतसे भागका एक नया अभिप्राय पता लगता था।

इस परिणाम पर पहुँचनेमें, सौभाग्यवश मैंने जो सायणके भाष्यको पहिले नहीं पढ़ा था, उसने मेरी बहुत मददकी। क्योंकि मैं स्वतन्त्र था कि वेदके बहुतसे सामान्य और बार-बार आनेवाले शब्दोंको उनका जो स्वाभाविक आध्यात्मिक अर्थ है वह दे सकूं, जैसे कि 'धी'का अर्थ विचार या समझ, 'मनस्'का अर्थ मन, 'मति'का अर्थ विचार, अनुभव या मानसिक अवस्था, 'मनीषा'का अर्थ बुद्धि, 'ऋतम्'का अर्थ सत्य ; और मैं स्वतन्त्र था कि शब्दों-को उनके अर्थकी वास्तविक प्रतिच्छाया दे सकूं, 'कवि'को द्रष्टाकी, 'मनीषी'-को विचारककी, 'विप्र, विपश्चित्'को प्रकाशित मनसे युक्तकी, इसी प्रकारके और भी कई शब्दोंको; और मैं स्वतन्त्र था कि कुछ शब्दोंका एक आध्यात्मिक अर्थ—जिसे मेरे अधिक व्यापक अध्ययनने भी युक्तियुक्त ही प्रमाणित किया था—प्रस्तुत करनेका साहस करूं जैसे कि 'वक्ष'का जिसका कि सायणके अनुसार 'बल' अर्थ है और 'अवस्'का जिसके सायणने धन, दौलत, अन्न या कीर्ति ये अर्थ किये हैं। वेदके विषयमें आध्यात्मिक अर्थका सिद्धान्त इन शब्दोंका स्वाभाविक अर्थ ही स्वीकार करनेके हमारे अधिकारपर आधार रखता है।

सायणने 'धी', 'ऋतम्' आदि शब्दोंके बहुत ही परिवर्तनशील अर्थ किये हैं। 'ऋतम्' शब्दका, जिसे हम मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक व्याख्याकी लगभग कुञ्जी कह सकते हैं, सायणने कभी कभी 'सत्य', अधिकतर 'यज्ञ'

और किसी-किसी जगह 'जल' अर्थ किया है। आध्यात्मिक व्याख्याके अनुसार निश्चित रूपसे इसका अर्थ सत्य होता है। 'धी'के सायणने 'विचार', 'स्तुति', 'कर्म', 'भोजन' आदि अनेक अर्थ किये हैं। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार नियत रूपसे इसका अर्थ विचार या समझ है। और यही बात वेदकी अन्य नियत संज्ञाओंके सम्बन्धमें है। इसके अतिरिक्त, सायणकी प्रवृत्ति यह है कि वह शब्दोंके अर्थोंकी छायाओंको और उनमें जो सूक्ष्म अन्तर होता है उसे बिल्कुल मिटा देता है और उनका जो अधिक-से-अधिक स्थूल सामान्य अर्थ होता है वही कर देता है। सारे-के-सारे विशेषण जो किसी मानसिक क्रियाके द्योतक हैं, उसके लिये एकमात्र 'बुद्धिशाली' अर्थको देते हैं, सारे-के-सारे शब्द जो शक्तिके विभिन्न विचारोंके सूचक हैं—और वेद उनसे भरा पड़ा है—बलके स्थूल अर्थमें परिणत कर दिये गये हैं। इसके विपरीत, वेदाध्ययनसे मुझपर तो इस बातकी छाप पड़ी कि वेदके अर्थोंकी ठीक-ठीक छायाको नियत करने तथा उसे सुरक्षित रखनेकी और विभिन्न शब्दोंके अपने ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्ध क्या हैं उन्हें निश्चित करनेकी बड़ी भारी महत्ता है, चाहे वे शब्द अपने सामान्य अभिप्रायमें परस्पर कितना ही निकट सम्बन्ध क्यों न रखते हों। सचमुच, मैं नहीं समझ पाता कि हमें क्यों यह कल्पना कर लेनी चाहिये कि वैदिक ऋषि, काव्यात्मक शैलीमें सिद्धहस्त अन्य रचयिताओंके विसदृश, शब्दोंको अव्यवस्थित रूपसे और अविवेकपूर्णताके साथ प्रयुक्त करते थे, उनके ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्धोंको अनुभव किये बिना ही और शब्दोंकी शृंखलामें उन्हें उनका ठीक-ठीक और यथोचित बल प्रदान किये बिना ही प्रयुक्त करते थे।

इस नियमका अनुसरण करते-करते मैंने पाया कि शब्दों और वाक्य-खण्डोंके सरल, स्वाभाविक और सीधे अभिप्रायको बिना छोड़े ही, न केवल पृथक्-पृथक् ऋचाओंका बल्कि सम्पूर्ण सन्दर्भोंका एक असाधारण विशाल समुदाय तुरन्त ही बुद्धिगोचर हो गया, जिसने वेदके सारे स्वरूपको ही पूर्णरूपसे बदल दिया। क्योंकि तब यह धर्म-ग्रन्थ वेद ऐसा प्रतीत होने लग गया कि यह अत्यन्त बहुमूल्य विचार-रूपी सुवर्णकी एक स्थिर रेखाको अपने अन्दर रखता है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अंश-अंशमें चमकती हुई प्रवाहित हो रही है, जो कहीं छोटी-छोटी रेखाओंमें, कहीं बड़े-बड़े समूहोंमें, इसके अधिकांश सूक्तोंमें दिखाई देती है। साथ ही, उन शब्दोंके अतिरिक्त जो अपने स्पष्ट और सामान्य अर्थसे तुरन्त ही अपने प्रकरणोंको आध्यात्मिक अर्थकी सुवर्णीय रंगत दे देते हैं, वेद अन्य भी ऐसे बहुतसे शब्दोंसे भरा पड़ा है जिनके लिये यह सम्भव है कि, वेदके सामान्य अभिप्रायके विषयमें

हमारी जो भी धारणा हो उसीके अनुसार, चाहे तो उन्हें बाह्य और प्रकृति-वादी अर्थ दिया जा सके, चाहे एक आभ्यन्तर और आध्यात्मिक अर्थ। उदाहरणार्थ, इस प्रकारके शब्द जैसे कि रै, रयि, राधस्, रत्न केवल भौतिक समृद्धि या धनदौलतके वाचक भी हो सकते हैं और आन्तरिक ऐश्वर्य तथा समृद्धिके भी। क्योंकि ये मानसिक जगत् और बाह्य जगत् दोनोंके लिये एकसे प्रयुक्त हो सकते हैं। धन, वाज, पोषका अर्थ बाह्य धनदौलत, समृद्धि और पुष्टि भी हो सकता है अथवा सभी प्रकारकी सम्पत्तियाँ चाहे वे आन्तरिक हों चाहे बाह्य, और व्यक्तिके जीवनमें उनकी प्रचुरता और वृद्धि। उपनिषद्में ऋग्वेदके एक उद्धरणकी व्याख्या करते हुए 'रायें'को आध्यात्मिक सम्पत्तिके अर्थमें प्रयुक्त किया है, तो फिर मूल वेदमें इसका यह अर्थ क्यों नहीं हो सकता? 'वाज' बहुधा ऐसे सन्दर्भमें आता है जिसमें अन्य प्रत्येक शब्द आध्यात्मिक अभिप्राय रखता है, जहाँ भौतिक समृद्धिका उल्लेख समस्त एकरस विचारके अन्दर असंगतिका एक तीव्र बेसुरापन लादेगा। इसलिये सामान्य बुद्धिकी मांग है कि वेदमें इन शब्दोंके प्रयोगको आध्यात्मिक अभिप्राय देनेवाला ही स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यदि यह संगतिपूर्वक किया जा सके तो इससे न केवल समूची ऋचाएं और संदर्भ, बल्कि समूचे सूक्त तुरन्त आध्यात्मिक रंगसे रंग जाते हैं। एक ही शर्त है जिसपर वेदोंका यह आध्यात्मिक रंगमें रंगा जाना प्रायः पूर्ण होगा, एक भी शब्द या एक भी वाक्यखण्ड इससे प्रभावित हुए बिना नहीं बचेगा, वह शर्त यह है कि हमें वैदिक 'यज्ञ'को प्रतीकरूपमें स्वीकार करना चाहिये। गीतामें हम पाते हैं कि 'यज्ञ'का प्रयोग उन सभी कर्मोंके प्रतीकके रूपमें किया गया है, चाहे वे आन्तर हों चाहे बाह्य, जो देवोंको या ब्रह्मको समर्पित किये जाते हैं। इस शब्दका यह प्रतीकात्मक प्रयोग क्या उत्तरकालीन दार्शनिक बुद्धिका पैदा किया हुआ है, अथवा यह यज्ञके वैदिक विचारमें पहिलेसे अन्तर्निहित था? मैंने देखा कि स्वयं वेदमें ही ऐसे सूक्त हैं जिनमें 'यज्ञ'का अथवा बलिका विचार खुले तौरपर प्रतीकात्मक है, और दूसरे कुछ सूक्तोंमें यह प्रतीकात्मकता अपने ऊपर पड़े आवरणमेंसे स्पष्ट दिखाई देती है। तब यह प्रश्न उठा कि क्या ये सूक्त बादकी रचनाएं हैं जो पुराने अन्धविश्वासपूर्ण विधि-विधानोंमेंसे एक प्रारम्भिक प्रतीकवादको विकसित करती हैं अथवा, इसके विपरीत, क्या ये अवसर पाकर कहीं-कहीं उस अर्थका अधिक स्पष्ट रूपमें प्रतिपादन करते हैं जो अधिकतर सूक्तोंमें कम-अधिक सावधानीके साथ अलंकारके पर्देसे ढका हुआ रखा है। यदि वेदमें आध्यात्मिक संदर्भ सतत रूपसे न पाये जाते तो

निस्संदेह पहिले स्पष्टीकरणको ही स्वीकार किया जाता। परन्तु इसके विपरीत, सारे सूक्त स्वभावतः एक आध्यात्मिक अर्थको लिये हुए हैं जिनमें एकसे दूसरे मन्त्रमें एक पूर्ण और प्रकाशमय संगति है, अस्पष्टता केवल वहां आती है जहां यज्ञका उल्लेख है या हविका अथवा कहीं-कहीं यज्ञ-संचालक पुरोहितका, जो या तो मनुष्य हो सकता है या देवता। यदि मैं इन शब्दों-की प्रतीकात्मक व्याख्या कर पाता था तो मैं हमेशा यह देखता था कि विचारकी शृंखला अधिक पूर्ण, अधिक प्रकाशमय, अधिक संगत हो जाती थी और पूरे-के-पूरे सूक्तका आशय उज्ज्वल रूपसे पूर्ण हो जाता था। इस-लिये स्वस्थ समालोचनाके प्रत्येक नियमके द्वारा मैंने इसे न्यायोचित अनुभव किया कि मैं अपनी कल्पनाके अनुसार आगे चलता चलूं और इसमें वैदिक यज्ञके प्रतीकात्मक अभिप्रायको भी सम्मिलित कर दूं।

तो भी यहीं पर आध्यात्मिक व्याख्याकी सर्वप्रथम वास्तविक कठिनाई आकर उपस्थित हो जाती है। अबतक तो मैं एक पूर्ण रूपसे सीधी और स्वाभाविक व्याख्यापद्धतिसे चल रहा था जो शब्दों और वाक्योंके ऊपरी अर्थ पर निर्भर थी। पर अब मैं एक ऐसे तत्त्व पर आ गया जिसमें एक दृष्टिसे ऊपरी अर्थ को अतिक्रमण कर जाना पड़ता था, और यह ऐसी पद्धति थी जिसमें प्रत्येक समालोचक और सदसद्विवेकी व्यक्तिका मन अवश्य अपने-आपको निरन्तर सन्देहोंसे आक्रान्त पावेगा। इस तरह कोई भी, चाहे वह कितनी भी सावधानी रक्खे, इस बातमें सदा निश्चित नहीं हो सकता कि उसने ठीक सूत्र ही पकड़ा है और उसे ठीक व्याख्या ही सूझी है।

वैदिक यज्ञके अन्तर्गत—एक क्षणके लिये देवता और मन्त्रको छोड़ दें तो—तीन अंग हैं, हवि देनेवाले, हवि और हविके फल। यदि 'यज्ञ' एक कर्म है जो देवताओंको समर्पित किया जाता है तो 'यजमान'को, हवि देनेवालेको मैं यह समझे बिना नहीं रह सकता कि वह उस कर्मका कर्ता है। 'यज्ञ'-का अभिप्राय है कर्म, वे कर्म आन्तरिक हों या बाह्य, इसलिये 'यजमान' होना चाहिये आत्मा अथवा वह व्यक्तित्व जो कर्ता है। परंतु साथ ही यज्ञ-संचालक, पुरोहित भी होते थे, होता, ऋत्विक्, पुरोहित, ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि। इस प्रतीकवादमें उनका कौन-सा भाग था? क्योंकि एक बार यदि यज्ञके लिये हम प्रतीकात्मक अभिप्रायकी कल्पना कर लेते हैं तो इस यज्ञ-विधिके प्रत्येक अंगका हमें प्रतीकात्मक मूल्य कल्पित करना चाहिये। मैंने पाया कि देवताओंके विषयमें सतत रूपसे यह कहा गया है कि वे यज्ञके पुरोहित हैं और बहुतसे संदर्भोंमें तो प्रकट रूपसे एक अमानुषी सत्ता या शक्ति ही यज्ञका अधिष्ठान करती है। मैंने यह भी देखा कि सारे वेदमें

हमारे व्यक्तित्वको बनानेवाले तत्त्व स्वयं सतत रूपसे सजीव शरीरधारी मानकर वर्णित किये गये हैं। मुझे इस नियमको केवल उलट करके प्रयुक्त करना था और यह कल्पना करनी थी कि बाह्य अलंकारमें जो पुरोहितका व्यक्तित्व है वह आभ्यंतर क्रियाओंमें आलंकारिक रूपसे एक अमानुषी सत्ता या शक्तिको अथवा हमारे व्यक्तित्वके किसी तत्त्वको सूचित करता है। फिर अवशिष्ट रह गया पुरोहितसंबंधी भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये आध्यात्मिक अभिप्राय नियत करना। यहाँ मैंने पाया कि वेद स्वयं अपने भाषासंबंधी निर्देशों और दृढ़ उक्तियोंके द्वारा हमें मूलसूत्रको पकड़ा रहा है, जैसे, 'पुरोहित' शब्दका प्रतिनिधिके भावके साथ अपने असमस्त रूपमें, पुरः-हित "आगे रखा हुआ" इस अर्थमें प्रयुक्त होना और प्रायः इससे अग्निदेवताका संकेत किया जाना; यह अग्नि मानवतामें उस दिव्य संकल्प या दिव्य शक्तिका प्रतीक है जो यज्ञरूपसे किये जानेवाले सब पवित्र कर्मोंमें क्रियाकी सञ्चालिका होती है।

हवियोंको समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम-सुरा भी, जिन प्रकरणोंमें इसका वर्णन है उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभावके द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दोंसे मिलनेवाले भाषा-विज्ञान-संबंधी निर्देशके द्वारा स्वयं अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञके घी, 'घृतम्'का क्या अभिप्राय लिया जाना संभव था? तो भी वेदमें यह शब्द जिस रूपमें प्रयुक्त हुआ है वह इसीपर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या ही होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अंतरिक्षसे बूंदरूपमें गिरनेवाले घृतका या इन्द्रके घोड़ोंमेंसे क्षरित होनेवाले अथवा मनसे क्षरित होनेवाले घृतका क्या अर्थ हो सकता था? स्पष्ट ही यह एक बिलकुल असंगत और व्यर्थकी बात होती, यदि घी अर्थको देनेवाले 'घृत' शब्दका इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बातके लिए एक ऐसा प्रतीक है जिसका प्रयोग बहुत शिथिलताके साथ किया गया है, यहांतक कि विचारक को बहुधा अपने मनमें इसके बाह्य अर्थको सर्वांशमें या आंशिक रूपसे अलग रख देना चाहिये। निःसंदेह यह भी संभव था कि आसानीके साथ इन शब्दोंके अर्थको प्रसंगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत'को कहीं घी और कहीं पानीके अर्थमें ले लिया जाय तथा 'मनस्'का अर्थ कहीं मन और कहीं अन्न या अपूप कर लिया जाय। परंतु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूपसे विचार या मनके साथ प्रयुक्त हुआ है तथा वेदमें 'द्यौ' मनका प्रतीक है और 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्तिका प्रतिनिधि है और उसके दो घोड़े उस मनोवृत्तिकी द्विविध शक्तियां हैं। मैंने यहांतक देखा कि वेद कहीं-कहीं साफ

तौरसे बुद्धि (धिषणा)की शोधित घृतके रूपमें देवोंके लिये हवि देनेको कहता है, 'घृतं न पूतं धिषणाम्' (3-2-1)। 'घृत' शब्दकी भाषाविज्ञानकी दृष्टि-से जो व्याख्याएं की जाती हैं, उनमें भी इसका एक अर्थ अत्यधिक या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशोंकी अनुकूलताके आधार पर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत'के प्रतीककी यदि मैं कोई आध्यात्मिक व्याख्या करता हूं, तो मैं ठीक रास्ते पर हूं। और इसी नियम तथा इसी प्रणालीको मैंने यज्ञ-के दूसरे अंगोंमें भी प्रयुक्त करने योग्य पाया।

हविके फल देखनेमें विशुद्ध रूपसे भौतिक प्रतीत होते थे—गौएँ, घोड़े, सोना, अपत्य, मनुष्य, शारीरिक बल, युद्धमें विजय। यहाँ कठिनाई और भी दुस्तर हो गयी। पर यह मुझे पहले ही दीख चुका था कि वेद की 'गौ' बहुत ही पहेलीदार प्राणी है, यह किसी पार्थिव गोशालासे नहीं आया है। 'गो' शब्द के दोनों अर्थ हैं, गाय और प्रकाश, और कुछ एक संदर्भों में तो, चाहे हम गाय के प्रतीकको अपने सामने रखें भी, तो भी स्पष्ट ही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था। यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है जब हम सूर्यकी गौओं—होमर (Homer) कविकी हीलियसकी गौओं—और उषा की गौओं पर विचार करते हैं। आध्यात्मिक रूपमें, भौतिक प्रकाश ज्ञानके —विशेषकर दिव्य ज्ञानके—प्रतीकके रूपमें अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। परंतु यह तो केवल संभावनामात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाणसे स्थापना कैसे होती? मैंने पाया कि ऐसे संदर्भ आते हैं, जिनमें आसपासका सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गौ'का प्रतीक ही अपने अड़ियल भौतिक अर्थके साथ बीचमें आकर बाधा डालता है। इन्द्रका आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपोंके निर्माता, 'सुरूपकृत्नु'के तौर पर किया गया है कि वह आकर सोमरसको पिये; उसे पीकर वह आनन्दमें भर जाता है और गौओंको देनेवाला (गोदाः) हो जाता है, तब हम उसके समीपतम या चरम सुविचारोंको प्राप्त कर सकते हैं, तब हम उससे प्रश्न करते हैं और उसका स्पष्ट विवेक हमें हमारे सर्वोच्च कल्याणको प्राप्त कराता है[1]। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारके संदर्भोंमें गौएं भौतिक गायें नहीं हो सकतीं, नाहीं 'भौतिक प्रकाशको देनेवाला' यह अर्थ प्रकरणमें किसी अभिप्रायको लाता है। कम-से-कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया जिसने मेरे मनमें यह निश्चित रूपसे स्थापित कर दिया कि वहाँ वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीक ही है। तब मैंने इसे उन दूसरे संदर्भोंमें प्रयुक्त किया जहाँ 'गौ' शब्द

---

1. यह ऋग्वेद मंडल 1 सूक्त 4 के आधारपर है। —अनुवादक

आता था और सर्वदा मैंने यही पाया कि परिणाम यह होता था कि इससे प्रकरणका अर्थ अच्छे-से-अच्छा हो जाता था और उसमें अधिक-से-अधिक संभवनीय संगति आ जाती थी।

गाय और घोड़ा, 'गो' और 'अश्व' निरन्तर इकट्ठे आते हैं। उषाका वर्णन इस रूपमें हुआ है कि वह 'गोमती अश्वावती' है, उषा यज्ञकर्त्ता (यजमान)को घोड़े और गौएं देती है। प्राकृतिक उषाको लें तो 'गोमती'का अर्थ है प्रकाशकी किरणोंसे युक्त या प्रकाशकी किरणोंको लाती हुई और यह मानवीय मनमें होनेवाली प्रकाशकी उषाके लिये एक रूपक है। इसलिए 'अश्वावती' विशेषण भी एकमात्र भौतिक घोड़ोंका निर्देश करनेवाला नहीं हो सकता, साथमें इसका कोई आध्यात्मिक अर्थ भी अवश्य होना चाहिये। वैदिक 'अश्व'का अध्ययन करने पर मैं इस परिणामपर पहुंचा कि 'गौ' और अश्व' वहां प्रकाश और शक्तिके, ज्ञान और बलके दो सहचर विचारोंके प्रतिनिधि हैं जो वैदिक और वैदांतिक मनके लिये सत्यकी सभी क्रियाओंके द्विविध या युगलरूप पक्ष होते थे।

इसलिए यह स्पष्ट हो गया कि वैदिक यज्ञके दो मुख्य फल, गौओंकी संपत्ति और घोड़ोंकी संपत्ति, क्रमशः मानसिक प्रकाशकी समृद्धि और जीवनशक्तिकी बहुलताके प्रतीक हैं। इससे परिणाम निकला कि वैदिक कर्म (यज्ञ)के इन दो मुख्य फलोंके साथ निरन्तर संबद्ध जो दूसरे फल हैं उनकी भी अवश्यमेव आध्यात्मिक व्याख्या हो सकनी चाहिये। शेष केवल यह रह गया कि उन सबका ठीक-ठीक अभिप्राय नियत किया जाय।

वैदिक प्रतीकवादका एक दूसरा अत्यावश्यक अंग है लोकोंका संस्थान और देवताओंके व्यापार। लोकोंके प्रतीकवादका सूत्र मुझे 'व्याहृतियों'के वैदिक विचारमें, "ओ३म् भूर्भुवः स्वः" इस मंत्रके तीन प्रतीकात्मक शब्दोंमें और चौथी व्याहृति 'महः'का आध्यात्मिक अर्थ रखनेवाले 'ऋत' शब्दके साथ जो संबंध है उसमें मिल गया। ऋषि विश्वके तीन विभागोंका वर्णन करते हैं, पृथिवी, अंतरिक्ष या मध्यस्थान और द्यौ, परंतु साथ ही एक आध्यात्मिक बड़ा द्यौ (बृहत् द्यौ) भी है, जिसे विस्तृत लोक (बृहत्) भी कहा गया है और कहीं-कहीं जिसे महान् जल, 'महो अर्णः'के रूपमें भी वर्णित किया गया है। फिर इस 'बृहत्'का 'ऋतम् बृहत्' इस रूपमें अथवा 'सत्यम् ऋतम् बृहत्'[1] इन तीन शब्दोंकी परिभाषाके रूपमें वर्णन मिलता है। और क्योंकि तीन लोक प्रारंभिक तीन व्याहृतियोंसे सूचित होते हैं,

---

1. सत्यम् बृहत ऋतम्। अथर्व० 12-1-1

इसलिये 'बृहत्'के और 'ऋत'के इस चौथे लोकका संबंध उपनिषदोंमें उल्लिखित चौथी व्याहृति 'महः'से होना चाहिये। पौराणिक सूत्रमें ये चार तीन अन्य—'जनः', 'तपः', 'सत्यम्'से मिलकर पूर्ण होते हैं, जो तीन कि हिंदू सृष्टि-विज्ञानके तीन उच्च लोक हैं। वेदमें भी हमें तीन सर्वोच्च लोकोंका उल्लेख मिलता है, यद्यपि उनके नाम नहीं दिये गये हैं। परंतु वैदांतिक और पौराणिक सम्प्रदायमें ये सात लोक सात आध्यात्मिक तत्त्वों या सत्ताके सात रूपों—सत्, चित्, आनंद, विज्ञान, मन, प्राण, अन्न—को सूचित करते हैं। अब यह मध्यका लोक विज्ञान, जो 'महः'का लोक है, एक महान् लोक है, वस्तुओंका सत्य है, और यह तथा वैदिक 'ऋतम्' जो 'बृहत्'का लोक है, दोनों एक ही हैं, और जहाँ पौराणिक संप्रदायमें 'महः'के बाद, यदि नीचेसे ऊपरका क्रम लें तो, 'जनः' आता है, (जो आनन्दका, दिव्य सुखका लोक है) वहाँ वेदमें भी 'ऋतम्' अर्थात् सत्य ऊपरकी ओर 'मयः' तक, सुख तक, ले जाता है। इसलिये हम उचित रूपसे इस निश्चय पर पहुंच सकते हैं कि (पौराणिक तथा वैदिक) ये दोनों सम्प्रदाय इस विषयमें एक हैं और दोनोंका आधार इस एक विचार पर है कि अन्दर अपनी चेतनाके सात तत्त्व हैं जो बाहर सात लोकोंके रूपमें अपने-आपको प्रकट करते हैं। इस सिद्धान्त पर मैं वैदिक लोकोंकी तदनुसारी चेतनाके आध्यात्मिक स्तरोंके साथ एकता स्थापित-कर सका और तब सारा ही वैदिक संस्थान मेरे मनमें स्पष्ट हो गया।

जब इतना सिद्ध हो चुका, तो जो बाकी था वह स्वभावतः और अनिवार्य रूपसे होने लगा। मैं यह पहिले ही देख चुका था कि वैदिक ऋषियोंका केन्द्रीभूत विचार था—मिथ्याके बदले सत्यको, विभक्त तथा सीमाबद्ध जीवनके बदले समग्रता तथा असीमताको लाकर, मानवीय आत्माको मृत्युकी अवस्थासे अमरताकी अवस्थामें पहुँचा देना। मृत्यु है मन और प्राणको अपने अंदर आवेष्टित रखनेवाले जड़तत्त्वकी मर्त्य अवस्था, अमरता है असीम सत्ता, चेतना और आनन्दकी अवस्था। मनुष्य द्यौ और पृथ्वी, मन और शरीर इन दो लोकों, 'रोदसी'से ऊपर उठकर सत्यकी असीमतामें, 'महः'में और इस प्रकार दिव्य सुखमें पहुँच जाता है। यही वह 'महापथ' है जिसे ऋषियोंने खोजा था।

देवोंके विषयमें मैंने यह वर्णन पाया कि वे प्रकाशसे उत्पन्न हुए हैं, 'अदिति'के, अनन्तताके पुत्र हैं, और बिना अपवादके उनका इस प्रकार वर्णन आता है कि वे मनुष्यकी उन्नति करते हैं, उसे प्रकाश देते हैं, उसपर पूर्ण जलोंकी, द्यौके ऐश्वर्यकी वर्षा करते हैं, उसके अन्दर सत्यकी वृद्धि करते हैं, दिव्य लोकोंका निर्माण करते हैं, उसे सब आक्रमणोंसे बचाकर महान् लक्ष्य

तक, अखण्ड समृद्धि तक, पूर्ण सुख तक पहुँचाते हैं। उनके पृथक्-पृथक् व्यापार उनकी क्रियाओंसे, उनके विशेषणोंसे, उनसे सम्बद्ध कथानकोंका जो अध्यात्मपरक आशय होता था उससे, उपनिषदों और पुराणोंके निर्देशोंसे तथा ग्रीक गाथाओं द्वारा कभी-कभी पड़नेवाले आंशिक प्रकाशोंसे निकल आते थे। दूसरी ओर दैत्य जो उनके विरोधी हैं, सबके सब विभाग तथा सीमाकी शक्तियाँ हैं, वे जैसा कि उनके नाम सूचित करते हैं, आच्छादक हैं, विदारक हैं, हड़प लेनेवाले हैं, घेरनेवाले हैं, द्वैध पैदा करनेवाले हैं, प्रतिबन्धक हैं, वे ऐसी शक्तियाँ हैं जो जीवनकी स्वतंत्र तथा एकीभूत सम्पूर्णताके विरुद्ध कार्य करती हैं। ये वृत्र, पणि, अत्रि, राक्षस, शम्बर, वल, नमुचि कोई द्राविड़ राजा और देवता नहीं हैं, जैसा कि आधुनिक मन अपनी अतिको पहुँची हुई ऐतिहासिक दृष्टिसे चाहता है कि ये हों; ये एक अधिक प्राचीन भावके द्योतक हैं जो हमारे पूर्व पितरोंके प्रबल, धार्मिक और नैतिक कार्य-व्यापारोंके अधिक अनुकूल था। ये उच्चतर भद्रकी तथा निम्नतर इच्छाकी शक्तियोंके बीचमें होनेवाले संघर्षके द्योतक हैं और ऋग्वेदका यह विचार तथा पुण्य और पापका इसी प्रकारका विरोध जो अपेक्षाकृत कम आध्यात्मिक सूक्ष्मताके साथ तथा अधिक नैतिक स्पष्टताके साथ पारसियोंके—हमारे इन प्राचीन पड़ोसियों और सजातीय बन्धुओंके—धर्मशास्त्रोंमें दूसरे प्रकारसे प्रकट किया गया है, सम्भवतः एक ही आर्यसंस्कृतिके मौलिक शिक्षणसे प्रादुर्भूत हुआ था।

अन्तमें मैंने देखा कि वेदका नियमित प्रतीकवाद विस्तार पाकर उन कथानकोंमें भी पहुँचा हुआ है जिनमें देवोंका तथा प्राचीन ऋषियोंके साथ उनके संबंधका वर्णन है। इसकी पूर्ण सम्भावना है कि इन गाथाओंमेंसे यदि सबका नहीं तो कुछका मूल तो प्रकृतिवादी तथा नक्षत्रविद्यासम्बन्धी रहा हो, पर यदि ऐसा रहा हो तो इनके प्रारम्भिक अर्थकी आध्यात्मिक प्रतीकवादके द्वारा पूर्ति की गयी थी। एक बार यदि वैदिक प्रतीकोंका अभिप्राय ज्ञात हो जाय तो इन कथानकोंका आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट तथा सुनियत हो जाता है। वेद का प्रत्येक तत्त्व उसके दूसरे प्रत्येक तत्त्वके साथ अवियोज्य रूपसे गुंथा हुआ है और इन रचनाओंका स्वरूप ही हमें इसके लिये बाध्य करता है कि हमने एक बार व्याख्याके जिस नियमको स्वीकार कर लिया है उसे हम अधिक-से-अधिक युक्तिसंगत दूरी तक ले जायँ। इनकी सामग्री बड़ी चतुराईके साथ दृढ़ हाथोंके द्वारा मिलाकर जोड़ दी गयी है और इनपर हमारे काम करनेमें यदि कोई असंगति बरती जाती है तो उससे इनके अभिप्राय और इनकी सुसम्बद्ध विचार-शृंखलाका सारा ताना-बना ही टूट जाता है।

इस प्रकार वेद, मानो अपनी प्राचीन ऋचाओंमेंसे अपने-आपको प्रकट करता हुआ, मेरे मनके सामने इस रूपमें उभर आया कि यह सारा-का-सारा ही एक महान् और प्राचीन धर्मकी, जो पहिलेसे ही एक गम्भीर आध्यात्मिक शिक्षणसे विभूषित था, धर्मपुस्तक है, ऐसी धर्मपुस्तक नहीं जो गड़बड़ विचारोंसे भरी हो या जिसकी प्रतिपाद्य सामग्री आदिम हो, या जो परस्पर-विरुद्ध तथा जंगली तत्त्वोंकी खिचड़ी हो, बल्कि ऐसी धर्मपुस्तक है जो अपने लक्ष्य और अभिप्रायमें पूर्ण है तथा अपने आपसे अभिज्ञ है; यह अवश्य है कि यह एक दूसरे और भौतिक अर्थके आवरणसे ढकी हुई है, जो आवरण कहीं घना है और कहीं स्पष्ट, परन्तु यह क्षणभरके लिये भी अपने उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य तथा प्रवृत्तिको दृष्टिसे ओझल नहीं होने देती।

पाँचवाँ अध्याय

वेदकी भाषावैज्ञानिक पद्धति

वेदकी कोई भी व्याख्या प्रामाणिक नहीं हो सकती, यदि वह सबल तथा सुरक्षित भाषावैज्ञानिक आधारपर टिकी हुई न हो, तो भी यह धर्म-पुस्तक (वेद) अपनी उस धुंधली तथा प्राचीन भाषाके साथ जिसका केवलमात्र यही लेख अवशिष्ट रह गया है अपूर्व भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयोंको प्रस्तुत करती है। भारतीय विद्वानोंके परम्परागत तथा अधिकतर काल्पनिक अर्थोंपर पूर्णरूपसे विश्वास कर लेना किसी भी समालोचनाशील मनके लिये असम्भव है। दूसरी तरफ आधुनिक भाषा-विज्ञान यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित और वैज्ञानिक आधारको पानेके लिये प्रयत्नशील है, पर अभी तक वह इसे पा नहीं सका है।

वेदकी अध्यात्मपरक व्याख्यामें विशेषतया दो कठिनाइयाँ ऐसी हैं जिनका सामना केवलमात्र सन्तोषप्रद भाषावैज्ञानिक समाधानके द्वारा ही किया जा सकता है। पहली यह कि इस व्याख्यापद्धतिको वेदकी बहुत-सी नियत संज्ञाओं के लिये—उदाहरणार्थ, ऊति, अवस्, वयस् आदि संज्ञाओंके लिये—कई नये अर्थोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता पड़ती है। हमारे ये नये अर्थ एक परीक्षामें तो पूरे उतरते हैं, जिसकी न्यायोचित रूपसे मांगकी जा सकती है, अर्थात् वे प्रत्येक प्रकरणमें ठीक बैठते हैं, आशय को स्पष्ट कर देते हैं और हमें इससे मुक्त कर देते हैं कि वेद जैसे अत्यधिक निश्चित स्वरूपवाले ग्रन्थमें हमें एक ही संज्ञाके बिल्कुल भिन्न-भिन्न अर्थ करनेकी आवश्यकता पड़े। परन्तु यही परीक्षा पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, अवश्य ही हमारे पास भाषाविज्ञानका आधार भी होना चाहिये, जो न केवल नये अर्थका समाधान करे, परन्तु साथ ही इसका भी स्पष्टीकरण कर दे कि किस प्रकार एक ही शब्द इतने सारे भिन्न-भिन्न अर्थोंको देने लगा—इस अर्थको जो अध्यात्मपरक व्याख्याके अनुसार होता है, उन अर्थोंको जो प्राचीन वैयाकरणोंने किये हैं और उन अर्थोंको भी जो (यदि वे कोई हों) बादकी संस्कृतमें हो गये हैं। परंतु यह तबतक आसानीसे नहीं हो सकता जबतक हम अपने भाषाविज्ञानसम्बन्धी परिणामोंके लिये उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक आधार नहीं पा लेते जो हमारे अबतकके ज्ञानसे प्राप्त है।

दूसरे यह कि अध्यात्मपरक व्याख्याका सिद्धांत अधिकतर मुख्य शब्दोंके—उन शब्दोंके जो रहस्यमय वैदिक शिक्षामें कुञ्जीरूप शब्द हैं—द्व्यर्थक प्रयोग पर आश्रित है। यह वह अलंकार है जो परम्परा द्वारा संस्कृतसाहित्यमें भी आ गया है और कहीं कहीं पीछेके संस्कृतग्रंथोंमें अत्यधिक कुशलताके साथ प्रयुक्त हुआ है, यह है श्लेष या द्विविध अर्थका अलंकार। परन्तु इसकी यह कुशलतापूर्ण कृत्रिमता ही हमें यह विश्वास करनेके लिये प्रवृत्त करती है कि यह कवितामय चातुर्य अवश्य ही अपेक्षाकृत उत्तरकालका तथा अधिक मिश्रित व कृत्रिम संस्कृतिका होना चाहिये। तो अधिकतम प्राचीन कालके किसी ग्रन्थमें इसकी सतत रूपसे उपस्थितिका हम कैसे समाधान कर सकते हैं? इसके अतिरिक्त वेदमें तो हम इसके प्रयोगको अद्भुत रूपसे फैला हुआ पाते हैं, वहाँ संस्कृत धातुओंकी "अनेकार्थता"के नियमको जानबूझकर इस प्रकार प्रयुक्त किया गया है जिससे एक ही शब्दमें जितने भी सम्भव अर्थ हो सकते हैं वे सब-के-सब आकर संचित हो जायँ, और इससे, प्रथम दृष्टिमें ऐसा लगता है कि, हमारी समस्या और भी असाधारण रूपसे बढ़ गयी है।

उदाहरणके तौर पर 'अश्व' शब्द जिसका साधारणतः घोड़ा अर्थ होता है, आलंकारिक रूपसे प्राणके लिये प्रयुक्त हुआ है—प्राण जो कि वात-शक्ति है, जीवन-श्वास है, मन तथा शरीरको जोड़नेवाली एक अर्धमानसिक, अर्धभौतिक क्रियामयी शक्ति है। 'अश्व' शब्दके धात्वर्थसे इसके अन्य अभिप्रायोंके साथ-साथ प्रेरणा, शक्ति, प्राप्ति और सुख-भोगके भाव भी निकलते हैं और इन सभी अर्थोंको हम जीवनरूपी अश्व (घोड़े)में एकत्रित हुआ पाते हैं, ये सब अर्थ प्राण-शक्तिकी मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियोंको सूचित करते हैं। भाषाका इस प्रकारका प्रयोग संभव नहीं हो सकता था, यदि हमारे आर्य पूर्वजोंकी भाषा उन्हीं रूढ़ अर्थोंको देती होती जिन्हें हमारी आधुनिक भाषा देती है अथवा यदि वह विकासकी उसी अवस्थामें होती जिसमें हमारी वर्तमान भाषा है। पर यदि हम यह कल्पना कर सकें कि प्राचीन आर्योंकी भाषामें, जैसी कि यह वैदिक ऋषियोंके द्वारा प्रयुक्तकी गयी है, कोई विशेषता थी जिसके द्वारा शब्द अपेक्षाकृत अधिक सजीव अनुभूत होते थे, वे विचारोंके लिये केवलमात्र रूढ़ सांकेतिक शब्द नहीं थे, अर्थको संक्रान्त करनेमें उसकी अपेक्षा अधिक स्वतंत्र थे जैसे कि वे हमारी भाषाके बादके प्रयोगमें हैं, तो हम यह पायंगे कि ये शब्दरूपी साधन इनका प्रयोग करनेवालोंके लिये जरा भी कृत्रिम अथवा खींचातानीसे युक्त नहीं थे, बल्कि ये तो इस बातके सर्वप्रथम स्वाभाविक साधन थे कि ये उत्सुक मनुष्योंको उन आध्यात्मिक विचारोंको व्यक्त करनेके लिये जो प्राकृत मनुष्योंकी समझके बाहर हैं, एकदम

नवीन, संक्षिप्त और यथोचित भाषासूत्रोंको पकड़ा दें और उन सूत्रोंमें जो विचार अंतर्निहित हैं, उन्हें ये अधार्मिक बुद्धिवालोंसे छिपाये रखें। मेरा विश्वास है कि यही सच्चा स्पष्टीकरण है और मैं समझता हूँ कि यदि हम आर्योंकी भाषाके विकासका अध्ययन करें तो यह सिद्ध हो सकता है कि अवश्य भाषा उस अवस्थामेंसे गुजरी है जो शब्दोंके इस प्रकारके रहस्यमय तथा अध्यात्मपरक प्रयोगके लिये अद्‌भुत रूप से अनुकूल थी, यद्यपि ये शब्द वैसे अपने प्रचलित व्यवहारमें एक सरल, निश्चित तथा भौतिक अर्थ को देते थे।

यह मैं पहिले ही बतला चुका हूँ कि तामिल शब्दोंके मेरे सर्वप्रथम अध्ययनने मुझे वह चीज प्राप्त करा दी थी जो प्राचीन संस्कृतभाषाके उद्‌गमों तथा उसकी बनावटका पता देनेवाला सूत्र प्रतीत होती थी और यह सूत्र मुझे यहाँ तक ले गया कि मैं अपनी रुचिके मूल विषय 'आर्य तथा द्राविड़ भाषाओंमें संबंध'को बिलकुल ही भूल गया और एक उससे भी अधिक रोचक विषय 'मानवीय भाषाके ही उद्‌गमों और उसके विकासके नियमोंके अन्वेषण' में तल्लीन हो गया। मुझे लगता है कि यह महान् परीक्षा ही किसी भी सच्चे भाषाविज्ञानका सर्वप्रथम और मुख्य लक्ष्य होना चाहिये, न कि वे सामान्य बातें जिनमें भाषाविज्ञ विद्वानोंने अभीतक अपने-आपको बांध रखा है।

आधुनिक भाषाविज्ञानके जन्मके समय जो प्रथम आशाएँ इससे लगायी गयी थीं उनके पूर्ण न होनेके कारण, इसके सारहीन परिणामोंके कारण, इसके एक "क्षुद्र कल्पनात्मक विज्ञान"के रूपमें आ निकलनेके कारण, अब भाषाका भी कोई विज्ञान है इस विचारको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा जाने लगा है और इसकी संभवनीयता ही से बिलकुल इन्कार किया जाने लगा है, यद्यपि इसके लिये युक्तियाँ बिलकुल अपर्याप्त हैं। इस प्रकार इसके अंतिम रूपमें इन्कार कर दिये जानेसे सहमत होना मुझे असंभव प्रतीत होता है। यदि कोई एक वस्तु ऐसी है जिसे आधुनिक विज्ञानने सफलताके साथ स्थापित कर दिया है, तो वह है संपूर्ण पार्थिव वस्तुओंके इतिहासमें विकासकी प्रक्रिया तथा नियमका शासन। भाषाका गंभीरतर स्वभाव कुछ भी हो, मानवीय भाषाके रूपमें अपनी बाह्य अभिव्यक्तियोंमें यह एक सावयव रचना है, एक वृद्धि है, एक लौकिक विकास है। वस्तुतः ही इसके अंदर एक स्थिर मनोवैज्ञानिक तत्त्व है और इसलिये यह विशुद्ध भौतिक रचनाकी अपेक्षा अधिक स्वतंत्र, लचकीली और ज्ञानपूर्वक अपने-आपको परिस्थितिके अनुकूल कर लेनेवाली है; इसके रहस्यको समझना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है, इसके घटकोंको केवल अपेक्षया अधिक सूक्ष्म तथा कम तीक्ष्ण विश्लेषण-प्रणालियोंके द्वारा ही काबू किया

जा सकता है। परंतु नियम तथा प्रक्रिया मानसिक वस्तुओंमें भौतिक वस्तुओंकी अपेक्षा किसी हालतमें कम नहीं होते, यद्यपि ऐसा है कि वहाँ वे अपेक्षाकृत अधिक चंचल और अधिक परिवर्तनशील प्रतीत होते हैं। भाषाके उद्गम और विकासके भी अवश्य ही कोई नियम और प्रक्रिया होने चाहियें। आवश्यक सूत्र और पर्याप्त प्रमाण यदि मिल जायं तो वे नियम और प्रक्रिया पता लगाये जा सकते हैं। मुझे प्रतीत होता है कि संस्कृत-भाषामें वह सूत्र मिल सकता है, प्रमाण वहाँ तैयार रखे हैं कि उन्हें खोज निकाला जाय।

भाषाविज्ञानकी भूल, जिसने इस दिशामें अपेक्षाकृत अधिक संतोषजनक परिणामपर पहुंचनेसे इसे रोके रखा, यह थी कि इसने अपने आपको व्यवहृत भाषाके भौतिक अंगोंके विषयमें भाषाके बाह्य शब्दरूपोंके अध्ययनमें ही लगाये रखा, इसी प्रकार भाषाके मनोवैज्ञानिक अंगोंके विषयमें भी रचित शब्दोंके तथा सजातीय भाषाओंमें व्याकरणसंबंधी विभक्तियोंके बाह्य संबंधों-में ही अपने-आपको व्यापृत रखा। परंतु विज्ञानकी वास्तविक पद्धति तो है मूल तक जा पहुंचना, गर्भ तक, घटनाओंके तत्त्वों तक तथा उनकी अपेक्षा-कृत छिपी हुई विकासप्रक्रियाओं तक पहुंच जाना। बाह्य प्रत्यक्ष दृष्टिसे तो हम स्थूल दृष्टिसे दीखनेवाली तथा ऊपर-ऊपरकी वस्तुको ही देख पायेंगे। घटनाओंके गंभीर तत्त्वोंको, उनके वास्तविक तथ्योंको ढूंढ़ निकालनेका सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन छिपे हुए रहस्योंके अंदर प्रवेश किया जाय जो घटनाओंके बाह्य रूपसे ढके रहते हैं, पहले हो चुके उनके उस विकासके अंदर घुसकर देखा जाय जिसके विषयमें उनके ये वर्तमान परिसमाप्त रूप केवल गूढ़ तथा विकीर्ण निर्देशोंको ही देते हैं, अथवा उन संभावनाओंके अंदर प्रवेश किया जाय जिनमेंसे आये कुछ वास्तविक तथ्य जिन्हें हम देखते हैं केवल एक संकुचित चुनाव ही होते हैं। इस प्रकारकी प्रणाली ही यदि वह मानव-भाषाके प्राचीनरूपोंपर प्रयुक्तकी जाय तो, हमें भाषाके एक सच्चे विज्ञानको दे सकती है। इन रूपरेखाओंके आधारपर मैंने जो कार्य करनेका यत्न किया है उसके परिणामोंको इस लेखामालाके, जो स्वयं ही छोटी-सी है और जिसका असली विषय दूसरा है, एक छोटेसे अध्यायमें उपस्थित करना जरा भी संभव नहीं है।[1] मैं केवल संक्षेपसे एक या दो विशिष्ट अंगोंका ही दिग्दर्शन करा सकता हूं, जो सीधे तौर पर वैदिक

---

1. मेरा विचार है कि मैं इनपर एक पृथक् ही पुस्तकमें जो 'आर्यों की भाषाके उद्गमों' के संबंध में होगी, चर्चा करूंगा। (देखो परिशिष्ट)

व्याख्याके विषय पर लागू होते हैं। और यहाँ मैं उनका उल्लेख केवल इसलिये करूंगा कि मेरे पाठकोंके मनमें से ऐसी किसी भी धारणाका परिहार हो सके कि मैंने जो किन्हीं वैदिक शब्दोंके ठीक माने जानेवाले अर्थों-को स्वीकार नहीं किया है वह मैंने केवल उस बुद्धिपूर्ण अटकल लगानेकी स्वाधीनताका लाभ उठाया है जो आधुनिक भाषाविज्ञानके जहाँ बड़े भारी आकर्षणोंमेंसे एक है, वहाँ साथ-ही-साथ उस भाषाविज्ञानकी सबसे अधिक गंभीर कमजोरियोंमेंसे भी एक है।

मेरे अन्वेषणोंने प्रथम मुझे यह विश्वास करा दिया कि शब्द पौधोंकी तरह, पशुओंकी तरह, किसी भी अर्थमें कृत्रिम उत्पत्ति नहीं हैं, किन्तु उपचय हैं, वृद्धि हैं—ध्वनिकी सजीव वृद्धि हैं और कुछ एक बीजभूत ध्वनियाँ उनका आधार हैं। इन बीजभूत ध्वनियोंसे कुछ प्रारंभिक मूलशब्द अपनी संततियों सहित विकसित होते हैं जिनकी परंपरागत पीढ़ियाँ चलती हैं और जो जातियोंमें, वर्गोंमें, परिवारोंमें, चुने हुए गणोंमें, अपने-आपको व्यवस्थित कर लेते हैं, जिनमेंसे प्रत्येकका एक साधारण शब्द-भण्डार तथा साधारण मनो-वैज्ञानिक इतिहास होता है। क्योंकि भाषाके विकास पर अधिष्ठान करने-वाला तत्त्व है साहचर्य—किन्हीं सामान्य अभिप्रायोंका, वरंच किन्हीं सामान्य उपयोगिताओं तथा ऐन्द्रियक मूल्योंका स्पष्ट विविक्त ध्वनियोंके साथ साहचर्य, जो आदिकालके मनुष्यके नाड़ीप्रधान (प्राण-प्रधान) मनके द्वारा स्थापित किया जाता था। यह साहचर्यकी पद्धति भी किसी भी अर्थमें कृत्रिम नहीं बल्कि स्वाभा-विक होती थी और सरल तथा निश्चित मनोवैज्ञानिक नियमोंसे नियंत्रित थी।

अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें भाषा-ध्वनियाँ उसे व्यक्त करनेके काममें नहीं आती थीं जिसे हम विचारके नामसे कहते हैं; बल्कि वे किन्हीं सामान्य इंद्रियानुभवों तथा भावावेशोंके शाब्दिक पर्याय थीं। भाषाकी रचना करनेवाले थे ज्ञानतन्तु, न कि बुद्धि। वैदिक प्रतीकोंका प्रयोग करें तो 'अग्नि' और 'वायु', न कि 'इंद्र', मानवीय भाषाके आदिम रचयिता थे। मन निकला है प्राणकी तथा इन्द्रियानुभवकी क्रियाओंमेंसे। मनुष्यमें रहने-वाली बुद्धिने अपना निर्माण इन्द्रियकृत साहचर्यों तथा ऐन्द्रियक ज्ञानकी प्रतिक्रियाओंके आधार पर किया है। इसी प्रकारकी प्रक्रियाद्वारा भाषाका बौद्धिक प्रयोग इंद्रियानुभव-सम्बन्धी तथा भावावेशसम्बन्धी प्रयोगमेंसे एक स्वाभाविक नियमके द्वारा विकसित हुआ है। शब्द अपनी प्रारम्भिक अवस्था में इंद्रियानुभवों व अर्थोंकी अस्पष्ट संभावनासे भरे, प्राणप्रेरित आत्म-निस्सरण-रूप थे। पीछे वे विकसित होकर ठीक-ठीक बौद्धिक अर्थोंके नियत प्रतीकोंके रूपमें परिणत हो गये हैं।

फलतः, शब्द प्रारम्भमें किसी निश्चित विचारके लिये नियत नहीं किया हुआ था। इसका एक सामान्य स्वरूप था, सामान्य 'गुण' था, जो बहुत प्रकारसे प्रयोगमें लाया जा सकता था और इसीलिये बहुतसे सम्भव अर्थोंको दे सकता था। और अपने इस 'गुण'को तथा इसके परिणामोंको यह अनेक सजातीय ध्वनियोंके साथ साझेमें रखता था, इसमें अनेक सजातीय ध्वनियाँ भागीदार होती थीं। इसलिये सर्वप्रथम शब्दवर्गोंने, अनेक शब्दपरिवारोंने एक प्रकारकी सामाजिक (सामुदायिक) पद्धतिसे अपना जीवन प्रारम्भ किया जिसमें उनके लिये संभव तथा सिद्ध अर्थोंका एक सर्वसाधारण भंडार था और उन अर्थोंके प्रति सबका एक-सा सर्वसाधारण अधिकार था। उनका व्यक्तित्व किसी एक ही विचारको अभिव्यक्त करनेके एकाधिकारमें नहीं, किन्तु इससे कहीं अधिक उसी एक विचारके अभिव्यक्त करनेके अपने छायाभेदमें प्रकट होता था।

भाषाका प्राचीन इतिहास एक विकास है, जो शब्दोंके इस सामाजिक (सामुदायिक) पद्धतिके जीवनसे निकलकर एक या अधिक बौद्धिक अर्थोंको रखनेकी एक वैयक्तिक संपत्तिकी पद्धति तक आनेमें हुआ है। अर्थ-विभाग का नियम पहले-पहल बहुत लचकीला था, फिर उसकी कठोरता बढ़ती गई, जबतक कि शब्दपरिवार और अन्तमें पृथक्-पृथक् शब्द अपने ही द्वारा अपना निजी जीवन आरम्भ करने योग्य नहीं हो गये। भाषाकी बिल्कुल स्वाभाविक वृद्धिकी अन्तिम अवस्था तब आती है जब शब्दका जीवन पूर्णरूपसे उस विचारके जीवनके अधीन हो जाता है जिसका वह द्योतक है। क्योंकि भाषाकी प्रथम अवस्थामें शब्द वैसी ही सजीव अथवा उससे भी अधिक सजीव शक्ति होता है, जैसा कि इसका विचार; ध्वनि अर्थको निश्चित करती है। इसकी अन्तिम अवस्थामें ये स्थितियाँ उलट जाती हैं, सारा-का-सारा महत्त्व विचार-को मिल जाता है, ध्वनि गौण हो जाती है।

भाषाके प्रारम्भिक इतिहासका दूसरा विशिष्ट अंग यह है कि पहिले-पहल यह विचारोंके विलक्षणतया बहुत-ही-छोटे भंडारको प्रकट करती है और ये विचार अधिकसे अधिक जितने सामान्य हो सकते हैं उतने सामान्य प्रकारके होते हैं और सामान्यतया अधिक-से-अधिक मूर्त भी होते हैं, जैसे कि प्रकाश, गति, स्पर्श, पदार्थ, विस्तार, शक्ति, वेग इत्यादि। इसके बाद विचारकी विविधता और निश्चिततामें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि होती है सामान्यसे विशेषकी ओर, अनिश्चितसे निश्चितकी ओर, भौतिकसे मानसिककी ओर, मूर्तसे अमूर्तकी ओर, और सदृश वस्तुओंके विषयमें इन्द्रियानुभवोंकी अत्यधिक विविधताके व्यक्तीकरणसे सदृश वस्तुओं,

अनुभवों और क्रियाओंके बीच निश्चित भेदके व्यक्तीकरणकी ओर। यह प्रगति सम्पन्न होती है विचारोंमें साहचर्यकी प्रक्रियाओंके द्वारा, जो सदा एक-सी होती हैं, सदा लौट-लौटकर आती हैं और जिनमें (यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ये भाषाको बोलनेवाले मनुष्यकी परिस्थितियों तथा उसके वास्तविक अनुभवोंके कारण ही बनती हैं तो भी) विकासके स्थिर स्वाभाविक नियम दिखलाई देते हैं। और आखिरकार नियम इसके अतिरिक्त और क्या है कि यह एक प्रक्रिया है जो वस्तुओंकी प्रकृतिके द्वारा उनकी परिस्थितियों-की आवश्यकताओंके उत्तरमें निर्मित हुई है और उनका अपनी क्रिया करनेका एक स्थिर अभ्यास बन गयी है?

भाषाके इस भूतकालीन इतिहाससे कुछ परिणाम निकलते हैं जो वैदिक व्याख्याकी दृष्टिसे अत्यधिक महत्त्वके हैं। प्रथम तो यह कि इन नियमोंके ज्ञानके द्वारा जिनके अनुसार कि ध्वनि तथा अर्थके संबंध संस्कृतभाषामें बने हैं तथा इसके शब्द-परिवारोंके एक सतर्क और सूक्ष्म अध्ययनके द्वारा बहुत हद तक यह संभव है कि पृथक् शब्दोंके अतीत इतिहासको फिरसे प्राप्त किया जा सके। यह संभव है कि शब्द असलमें जिन अर्थोंको रखते हैं उनका कारण बताया जा सके, यह दिखाया जा सके कि किस प्रकार वे अर्थ भाषाविकासकी विविध अवस्थाओंमेंसे गुजरकर बने हैं, शब्दके भिन्न-भिन्न अर्थोंमें पारस्परिक संबंध स्थापित किया जा सके और इसकी व्याख्या की जा सके कि किस प्रकार विस्तृत भेदके होते हुए तथा कभी-कभी उनके अर्थ-मूल्योंमें स्पष्ट विपरीतता तक होते हुए भी उसी शब्दके वे अर्थ हैं। यह भी सम्भव है कि एक निश्चित तथा वैज्ञानिक आधार पर शब्दोंके लुप्त अर्थ फिरसे पाये जा सकें और उन्हें साहचर्यके उन दृष्ट नियमोंके प्रमाण द्वारा जिन्होंने प्राचीन आर्य भाषाओंके विकासमें काम किया है तथा स्वयं शब्दकी ही छिपी हुई साक्षीके द्वारा और इसके आसन्नतम सजातीय शब्दकी समर्थन करनेवाली साक्षीके द्वारा प्रमाणित किया जा सके। इस प्रकार वैदिक भाषाके शब्दों पर विचार करनेके लिये एक बिल्कुल अस्थिर तथा आनुमानिक आधारके स्थान पर हम विश्वासके साथ एक सुदृढ़ और भरोसे के लायक आधार पर खड़े होकर काम कर सकते हैं।

स्वभावतः, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि क्योंकि एक वैदिक शब्द एक संमयमें शायद या अवश्य ही किसी विशेष अर्थको रखता था, इसलिये वह अर्थ सुरक्षित रूपसे वेदके असली मूलग्रन्थमें प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु हम शब्दके एक युक्तियुक्त अर्थको और वेदमें उसका वही ठीक अर्थ है इसकी स्पष्ट संभावनाको अवश्य स्थापित करते हैं। शेष जो रह

जाता है वह विषय है उन सन्दर्भोंके तुलनात्मक अध्ययनका जिनमें वह शब्द आता है, और इसका कि प्रकरणमें वह अर्थ निरंतर ठीक बैठता है या नहीं। मैंने लगातार यह पाया है कि एक अर्थ जो इस प्रकार प्राप्त किया जाता है जहाँ कहीं भी लगाकर देखा जाता है सदा ही प्रकरणको प्रकाशित कर देता है और दूसरी ओर मैंने यह देखा है कि प्रकरणके द्वारा सदा जिस अर्थकी मांग होती है, वह ठीक वही अर्थ होता है जिसपर हमें शब्दका इतिहास पहुंचाता है। नैतिक निश्चयात्मकताके लिये तो यह पर्याप्त आधार है, बिल्कुल निश्चयात्मकताके लिये चाहे न भी हो।

दूसरे, भाषाके उद्गमकालमें उसकी एक विलक्षण विशेषता यह थी कि एक ही शब्द बहुत सारे भिन्न-भिन्न अर्थोंको दे सकता था और साथ ही बहुत सारे शब्द ऐसे थे जो एक ही विचारको देनेके लिये प्रयुक्त होते थे। पीछेसे शब्दों और अर्थोंकी यह आलङ्कारिक बहुलता घटने लगी। बुद्धि अपनी निश्चयात्मकताकी बढ़ती हुई मांग और मितव्ययताकी बढ़ती हुई दृष्टिके साथ बीचमें आयी। शब्दोंकी धारण-क्षमता उत्तरोत्तर कम होती गयी; और यह कम और कम सह्य होता गया कि एक ही विचारके लिये अपने ऊपर आवश्यकतासे अधिक शब्दोंका बोझ लादा जाय, एक ही शब्दके द्वारा आवश्यकतासे अधिक भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये जायं। इस विषयमें एक बहुत बड़ी परिमितता, इस मांगके द्वारा नियमित होकर कि विभिन्नताका समर्याद वैभव होना ही चाहिये, भाषाका अन्तिम नियम हो गयी, यद्यपि वह परिमितता अत्यधिक कठोरतापूर्ण नहीं थी। परन्तु संस्कृतभाषा इस विकासकी अन्तिम अवस्थाओं तक पूर्ण रूपसे कभी नहीं पहुंची; बहुत जल्दी ही यह प्राकृत भाषाके अन्दर विलीन हो गयी। इसके अधिक-से-अधिक उत्तरकालीन और अधिक-से-अधिक साहित्यिक रूप तकमें एक ही शब्दके लिये अत्यधिक विभिन्न अर्थ पाये जाते हैं, यह आवश्यकता-से अधिक पर्यायोंकी सम्पत्तिसे लदी हुई है। इसलिये आलंकारिक प्रयोगोंके लिये संस्कृत भाषा असाधारण क्षमता रखती है, जिसका किसी दूसरी भाषामें होना एक कठिन, जबर्दस्तीसे किया गया, तथा निराशाजनक रूपसे कृत्रिम कार्य ही होगा, और यह क्षमता संस्कृतमें द्वयर्थकताके अलंकार, श्लेष, के लिये विशेष रूपसे पायी जाती है।

फिर वेदकी संस्कृत तो भाषाके विकासमें और भी अधिक प्राचीन स्तरको सूचित करती है। अपने बाह्य रूपोंतकमें किसी भी प्रथम वर्गकी भाषाकी अपेक्षा यह अपेक्षाकृत कम नियत है; यह रूपों और विभक्तियोंकी विविधता से भरी पड़ी है, यह द्रवकी तरह अस्थिर और आकारमें अनिश्चित है, फिर

भी अपने कारकों तथा कालोंके प्रयोगमें यह अत्यधिक सूक्ष्म है। यह अपने मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक पार्श्वमें अभी नियमिताकार नहीं हुई है, यह बौद्धिक निश्चयात्मकताके दृढ़ रूपोंमें जमकर अभी पूर्ण रूपसे कठोर नहीं बनी है। वैदिक ऋषियोंके लिये शब्द अब भी एक सजीव वस्तु है, एक शक्तिमय वस्तु है जो सर्जनशील और निर्माणकारी है। अब भी यह विचारके लिये एक रूढ़िसंकेत नहीं है, बल्कि स्वयं विचारोंका जनक और निर्माता है। यह अपने अंदर अपनी मूल धातुओंकी स्मृतिको रखे हुए है, अबतक भी यह अपने इतिहाससे अभिज्ञ है।

ऋषियोंका भाषाका प्रयोग शब्दके इस प्राचीन मनोविज्ञानके द्वारा शासित था। जब अंग्रेजी भाषामें हम 'वुल्फ' (wolf) या 'काउ' (cow) शब्दका प्रयोग करते हैं तो हमें इनसे केवलमात्र वे पशु (भेड़िया या गाय) अभिप्रेत होते हैं जिनके वाचक ये शब्द हैं, हमें इस बातका ज्ञान नहीं होता कि किस कारण हमें अमुक ध्वनि अमुक विचारके लिये प्रयुक्त करनी चाहिये, सिवाय इसके कि हम कहें कि भाषाका स्मरणातीत अतिप्राचीन व्यवहार ऐसा ही चला आता है; और हम इसे किसी दूसरे अर्थ या अभिप्रायके लिये भी व्यवहृत नहीं कर सकते, सिवाय किसी कृत्रिम भाषाशैलीके कौशलके तौर पर। परन्तु वैदिक ऋषिके लिये 'वृक'का अभिप्राय था 'विदारक' और इसलिये इस अर्थके दूसरे विनियोगोंमें यह भेड़ियेका वाची भी हो जाता था; 'धेनु'का अर्थ था 'प्रीणयित्री', 'पालयित्री' और इसीलिये इसका अर्थ गाय भी था। परंतु मौलिक और सामान्य अर्थ मुख्य है, निष्पन्न और विशेष अर्थ गौण है। इसलिये सूक्तके रचयिताके लिये यह संभव था कि वह इन सामान्य शब्दोंको एक बड़ी लचकके साथ प्रयुक्त करे, कभी वह भेड़िये या गाय की प्रतिमाको अपने सामने रखे, कभी इसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सामान्य अर्थकी रंगत देनेके लिये करे, कभी वह इसे उस आध्यात्मिक विचारके लिये जिसपर उसका मन काम कर रहा है केवल एक रूढ़िसंकेतके तौरपर रखे, कभी प्रतिमाको दृष्टिसे सर्वथा ओझल कर दे। प्राचीन भाषाके इस मनोविज्ञानके प्रकाशमें ही हमें वैदिक प्रतीकवादके अद्भुत संकेतोंको समझना है, जैसा कि ऋषियोंने उन्हें प्रयुक्त किया है, यहाँ तक कि जो संकेत अत्यंत प्रत्यक्षरूपसे सामान्य और मूर्त प्रतीत होते हैं उन्हें भी इसी प्रकाशमें समझना है। इस प्रकारके शब्द जैसे कि "घृतम्", घी, "सोम", पवित्र सुरा, तथा अन्य बहुतसे शब्द भी इसी (सांकेतिक) रूपमें प्रयुक्त किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त, एक ही शब्दके विभिन्न अर्थोंके बीचमें विचारके द्वारा किये गये विभाग उसकी अपेक्षा बहुत कम भेदात्मक होते थे जैसे कि वे

आधुनिक बोलचालकी भाषामें होते हैं। अंग्रेजी भाषामें "फ्लीट" (fleet) जिसका अर्थ जहाजोंका बेड़ा है और "फ्लीट" (fleet) जिसका अर्थ तेज है, दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, जब हम पहले अर्थमें "फ्लीट"का प्रयोग करते हैं तब हम जहाजकी गतिकी तेजीको विचारमें नहीं लाते, नाहीं जब हम इस शब्दको दूसरे अर्थमें प्रयुक्त करते हैं तो उस समय हम समुद्रमें जहाजके तेजीके साथ चलनेको ध्यानमें लाते हैं। परन्तु ठीक यही बात भाषाके वैदिक प्रयोगमें प्रायः होती है। 'भग' जिसका अर्थ 'आनन्द' है और "भग" जिसका अर्थ 'भाग' है, वैदिक मनके लिये दो भिन्न-भिन्न शब्द नहीं हैं, परन्तु एक ही शब्द है जो इस प्रकार विकसित होते-होते दो भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होने लग पड़ा है। इसलिए ऋषियोंके लिये यह आसान था कि वे इसे दोनोंमेंसे किसी एक अर्थमें प्रयुक्त करें और साथमें उसके पृष्ठमें दूसरा अर्थ भी रहे और वह इसके प्रत्यक्ष वाच्यार्थको अपनी रंगत देता रहे अथवा यहाँ तक हो सकता था कि इसे वे किसी समुच्चय-बोधक अर्थके अलंकार द्वारा एक ही समय एकसमान दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त करें। "चनस्" का अर्थ था 'भोजन' परन्तु साथ ही इसका अर्थ 'आनन्द, सुख' भी होता था, इसलिये ऋषि इसका प्रयोग इस रूपमें कर सकते थे कि असंस्कृत मनके लिये इससे केवल उस भोजनका ग्रहण हो जो यज्ञमें देवताओंको दिया जाता था, पर दीक्षितके लिये इसका अर्थ हो आनन्द, भौतिक चेतनाके अंदर प्रविष्ट होता हुआ दिव्य सुखका आनन्द, और इसके साथ ही यह सोम-रसके रूपककी ओर संकेत करता हो, जो कि एक साथ देवोंका भोजन तथा आनंदका वैदिक प्रतीक दोनों है।

हम देखते हैं कि भाषाका इस प्रकारका प्रयोग वैदिक मंत्रोंकी वाणीमें सर्वत्र प्रधान रूपसे पाया जाता है। यह एक बड़ा अच्छा उपाय था जिसके द्वारा प्राचीन रहस्यवादी अपने कार्यकी कठिनाईको दूर कर पाये थे। सामान्य पूजकके लिये 'अग्नि'का अभिप्राय केवलमात्र वैदिक आगका देवता हो सकता था, या इसका अभिप्राय भौतिक प्रकृतिमें काम करनेवाला ताप या प्रकाशका तत्त्व हो सकता था अथवा अत्यंत अज्ञानी मनुष्यके लिये इसका अर्थ केवल एक अतिमानुष व्यक्तित्व हो सकता था जो 'धन-दौलत देनेवाले', मनुष्यकी कामना को पूर्ण करनेवाले ऐसे अनेक व्यक्तित्वोंमें से एक है। पर जो व्यक्ति अधिक गंभीर विचार करनेमें समर्थ थे उनके लिये इस शब्दसे परमेश्वरके आध्यात्मिक व्यापारोंको कैसे सूचित किया जाय? इस कामको यह शब्द स्वयं कर देता था। क्योंकि 'अग्नि'का अर्थ होता था "बलवान्", इसका अर्थ था "चमकीला" या यह भी कह सकते हैं कि शक्ति,

तेजस्विता। इसलिये यह जहाँ कहीं भी आये, आसानीसे दीक्षितको एक प्रकाशमय शक्तिके विचारका स्मरण करा सकता था, जो लोकोंका निर्माण करती है और मनुष्यको ऊँचा उठाकर सर्वोच्च को प्राप्त करा देती है, महान् कर्मका अनुष्ठान करनेवाली है, मानवयज्ञकी पुरोहित है।

और श्रोताके मनमें यह कैसे बैठता कि ये सब देवता एक ही विश्वव्यापक देवके व्यक्तित्व हैं? देवताओंके नाम, अपने अर्थमें ही, इसका स्मरण कराते हैं कि ये केवल विशेषण हैं, अर्थसूचक नाम हैं, वर्णन हैं न कि किसी स्वतंत्र व्यक्तिके वाचक नाम। मित्र देवता प्रेम और सामंजस्यका अधिपति है, भग सुखोपभोगका अधिपति है, सूर्य प्रकाशका अधिपति है, वरुण है परमदेवकी सर्वव्यापक विशालता और पवित्रता जो जगत्को धारण तथा पूर्ण करती है। 'सत् तो एक ही है', ऋषि दीर्घतमस् कहता है, 'पर संत लोग उसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट करते हैं; वे उसे 'इन्द्र' कहते हैं, 'वरुण' कहते हैं, 'मित्र' कहते हैं, 'अग्नि' कहते हैं, वे उसे 'अग्निके' नामसे पुकारते हैं, 'यम'के नामसे, 'मातरिश्वा'के नामसे'।[1] वैदिक ज्ञानके प्राचीनतर कालमें दीक्षित इस स्पष्ट स्थापनाकी आवश्यकता नहीं रखता था। देवताओंके नाम स्वयं ही उसे अपने अर्थ बता देते थे और उसे उस महान् आधारभूत सत्यका स्मरण कराये रहते थे जो सदा उसके साथ रहता था।

परंतु बादके युगोंमें यह उपाय ही, जो ऋषियों द्वारा प्रयुक्त किया गया था, वैदिक ज्ञानकी सुरक्षाके प्रतिकूल पड़ गया। क्योंकि भाषाने अपना स्वरूप बदल लिया, अपनी प्रारंभिक लचकको छोड़ दिया, अपने पुराने परिचित अर्थोंको उतारकर रख दिया; शब्द संकुचित हो गया और सिकुड़कर वह अपने अपेक्षाकृत बाह्य तथा स्थूल अर्थमें सीमित हो गया। आनंदका अमृत-रसपान भुला दिया जाकर भौतिक हवि-प्रदान मात्र रह गया, 'घृत'का रूपक केवल गाथाशास्त्रके देवताओंकी तृप्तिके लिये किये जानेवाले स्थूल निषेकका ही स्मरण कराने लग गया, आग, बादल और आंधीके देवता केवलमात्र ऐसे देवता रह गये, जिनमें भौतिक शक्ति और बाह्य प्रतापके सिवाय और कोई शक्ति नहीं बची। अक्षरार्थ मात्र प्रचलित रहे, जब कि प्राणरूप असली अर्थोंको भुला दिया गया। प्रतीक, वैदिक वादका शरीर बचा रहा, पर ज्ञानकी आत्मा इसके अंदरसे निकल गयी।

---

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० १-१६४-४६)

छठा अध्याय

अग्नि और सत्य

ऋग्वेद अपने सब भागों (मंडलों)में एकवाक्यता रखता है। इसके दस मंडलोंमेंसे हम कोई-सा लें, उसमें हम एक ही तत्त्व, एक ही विचार, एक-से अलंकार और एक ही से वाक्यांश पाते हैं। ऋषिगण एक ही सत्यके द्रष्टा हैं और उसे अभिव्यक्त करते हुए वे एकसमान भाषाका प्रयोग करते हैं। उनका स्वभाव और व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है, कोई-कोई अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध, सूक्ष्म और गंभीर अर्थोंमें वैदिक प्रतीकवादका प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति रखते हैं; दूसरे अपने आत्मिक अनुभवको अधिक सादी और सरल भाषामें प्रकट करते हैं, जिसमें विचारोंकी उर्वरता, कवितामय अलंकारकी अधिकता या भावों की गंभीरता और पूर्णता अपेक्षया कम होती हैं। अधिकतर एक ऋषिके सूक्त विभिन्न प्रकारके हैं, वे अत्यधिक सरलतासे लेकर बहुत ही महान् अर्थगौरव तक शृंखलाबद्ध हैं। अथवा एक ही सूक्तमें चढ़ाव-उतार देखनेमें आते हैं; वह यज्ञके सामान्य प्रतीककी बिलकुल साधारण पद्धतियोंसे शुरू होता है और एक सघन तथा जटिल विचार तक पहुँच जाता है। कुछ सूक्त बिलकुल स्पष्ट हैं और उनकी भाषा लगभग आधुनिक-सी है, दूसरे कुछ ऐसे हैं जो पहले-पहल अपनी दीखनेवाली विचित्र-सी अस्पष्टतासे हमें गड़बड़में डाल देते हैं। परंतु वर्णनशैलीकी इन विभिन्नताओं से आध्यात्मिक अनुभवोंकी एकताका कुछ नहीं बिगड़ता, न ही उनमें कोई ऐसा पेचीदापन है जो नियत परिभाषाओं और सामान्य सूत्रोंके ही कहीं बदल जानेके कारण आता हो। जैसे मेधातिथि काण्वके गीतिमय स्पष्ट वर्णनोंमें वैसे ही दीर्घतमस् औचथ्यकी गंभीर तथा रहस्यमय शैलीमें, और जैसे वसिष्ठकी एकरस समस्वरताओंमें वैसे ही विश्वामित्रके प्रभावोत्पादक शक्तिशाली सूक्तोंमें हम ज्ञानकी वही दृढ़ स्थापना और दीक्षितोंकी पवित्र विधियोंका वही सतर्कतायुक्त अनुवर्तन पाते हैं।

वैदिक रचनाओंकी इस विशेषतासे यह परिणाम निकलता है कि व्याख्याकी वह प्रणाली भी जिसका मैंने उल्लेख किया है एक ही ऋषिके छोटे-से सूक्त-समुदायके द्वारा वैसी ही अच्छी तरह उदाहरण देकर पुष्टकी जा सकती है जैसे कि दसों मंडलोंसे चुनकर इकट्ठे किये हुए कुछ सूक्तोंके द्वारा। यदि

मेरा प्रयोजन यह हो कि व्याख्याकी अपनी इस शैलीको जिसे मैं दे रहा हूँ इतनी अच्छी तरह स्थापित कर दूँ कि इसपर किसी प्रकारकी आपत्तिकी कोई संभावना न रहे, तो इससे कहीं अधिक ब्यौरेवार और बड़े प्रयत्नकी आवश्यकता होगी। सारे-के-सारे दसों मंडलोंकी एक आलोचनात्मक परीक्षा अनिवार्य होगी। उदाहरणके लिये, वैदिक पारिभाषिक शब्द 'ऋतम्', सत्य, के साथ मैं जिस भावको जोड़ता हूँ अथवा प्रकाशकी गौओंके प्रतीककी मैं जो व्याख्या करता हूँ उसे ठीक सिद्ध करनेके लिये मेरे लिये यह आवश्यक होगा कि मैं उन सभी स्थलोंको, चाहे वे किसी भी महत्त्वके हों, उद्धृत करूँ जिनमें सत्यका विचार अथवा गौका अलंकार आता है और उनकी आशय व प्रकरणकी दृष्टिसे परीक्षा करके अपनी स्थापनाकी पुष्टि करूँ। अथवा यदि मैं यह सिद्ध करना चाहूँ कि वेदका इन्द्र असलमें अपने आध्यात्मिक रूपमें प्रकाशयुक्त मनका अधिपति है, जो प्रकाशयुक्त मन 'द्यौः' या आकाश द्वारा निरूपित किया गया है, जिसमें तीन प्रकाशमान लोक, 'रोचना' हैं, तो मुझे उसी प्रकारसे उन सूक्तोंकी जो इन्द्रको संबोधित किये गये हैं और उन सन्दर्भोंकी जिनमें वैदिक लोक-संस्थानका स्पष्ट उल्लेख मिलता है, परीक्षा करनी होगी। और वेदके विचार ऐसे परस्पर-ग्रथित और अन्योन्याश्रित हैं कि केवल इतना करना भी पर्याप्त नहीं हो सकता, जबतक कि अन्य देवताओंकी तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिभाषाओंकी जिनका सत्यके विचारके साथ कुछ सम्बन्ध है और उस मानसिक प्रकाशके साथ सम्बन्ध है जिसमेंसे गुजरकर मनुष्य उस सत्य तक पहुँच पाता है, कुछ आलोचनात्मक परीक्षा न कर ली जाय। मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि अपनी स्थापनाको प्रमाणित करनेका ऐसा कार्य किये जानेकी आवश्यकता है और वैदिक सत्यपर, वेदके देवताओंपर तथा वैदिक प्रतीकोंपर अपने अनुशीलन लिखकर इसे पूरा करनेकी मैं आशा भी रखता हूँ। परन्तु उस उद्देश्यके लिये किया गया प्रयत्न इस कार्यकी सीमासे बिल्कुल बाहरका होगा जिसे इस समय मैंने अपने हाथमें लिया है और जो केवल यहीं तक सीमित है कि मैं अपनी प्रणालीका सोदाहरण स्पष्टीकरण करूँ और मेरी कल्पनासे जो परिणाम निकलते हैं उनका संक्षिप्त वर्णन करूँ।

अपनी प्रणालीका स्पष्टीकरण करनेके लिये मैं चाहता हूँ कि प्रथम मंडलके पहले ग्यारह सूक्त मैं लूँ और दिखाऊँ कि किस प्रकारसे आध्यात्मिक व्याख्याके कुछ केन्द्रभूत विचार किन्हीं महत्त्वपूर्ण संदर्भोंमेंसे या अकेले सूक्तोंमेंसे निकलते हैं और किस प्रकार गम्भीरतर विचारशैलीके प्रकाशमें उन सन्दर्भोंके आसपासके प्रकरण और सूक्तोंका सामान्य विचार एक बिल्कुल नया ही रूप धारण कर लेते हैं।

ऋग्वेदकी संहिता, जैसी कि हमारे हाथमें है, दस भागों या मण्डलोंमें क्रमबद्ध है। इस क्रमविभाजनमें दो प्रकारका नियम दिखाई देता है। इन मण्डलोंमेंसे ६ मण्डल ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येकके सूक्तोंका ऋषि एक ही है, या एक ही ऋषि-परिवारका कोई ऋषि है। इस प्रकार दूसरे मण्डलमें मुख्यतया गृत्समद ऋषिके सूक्त हैं, ऐसे ही तीसरे और सातवें मण्डलके सूक्तोंके ऋषि क्रमसे ख्यातनामा विश्वामित्र और वशिष्ठ हैं। चौथा मण्डल वामदेव ऋषिका तथा छठा भरद्वाजका है। पाँचवाँ अत्रि-परिवारके सूक्तोंसे व्याप्त है। इन मण्डलोंमें से प्रत्येकमें अग्निको संबोधित किये गये सूक्त सबसे पहिले इकट्ठे करके रख दिये गये हैं, उसके बाद वे सूक्त आते हैं जिनका देवता इंद्र है, अन्य देवताओं—बृहस्पति, सूर्य, ऋभुगण, उषा आदि—के आवाहनोंसे मण्डल समाप्त होता है। नवाँ मण्डल सारा ही अकेले सोम-देवताको दिया गया है। पहले, आठवें और दसवें मण्डलमें भिन्न-भिन्न ऋषियोंके सूक्तोंका संग्रह है, परन्तु प्रत्येक ऋषिके सूक्त सामान्यतः उनके देवताओंके क्रमसे इकट्ठे रखे गये हैं, सबसे पहले अग्नि आता है, उसके पीछे इंद्र और अन्तमें अन्य देवता। इस प्रकार प्रथम मण्डलके प्रारम्भमें विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दस् ऋषिके दस सूक्त हैं और ग्यारहवाँ सूक्त जेतृका है, जो मधुच्छन्दस्का पुत्र है। फिर भी यह अन्तिम सूक्त शैली, प्रकार और भावमें उन दसके जैसा ही है, जो इससे पहिले आये हैं और इसलिये इन ग्यारहों सूक्तोंको इकट्ठा मिलाकर इन्हें एक ऐसा सूक्तसमुदाय समझा जा सकता है जो भाव और भाषामें एक-सा है।

इन वैदिक सूक्तोंको क्रमबद्ध करनेमें विचारोंके विकासका भी कोई नियम अवश्य काम कर रहा है। प्रारम्भके मण्डलका रूप ऐसा रखा गया प्रतीत होता है कि अपने अनेक अंगोंमें वेदका जो सामान्य विचार है वह निरन्तर अपने आपको खोलता चले, उन प्रतीकोंकी आड़में जो स्थापित हो चुके हैं और उन ऋषियोंकी वाणी द्वारा अपने-आपको खोलता चले जिनमें प्रायः सभीको विचारक और पवित्र गायकका उच्च पद प्राप्त है और जिनमें-से कुछ तो वैदिक परम्पराके सबसे अधिक यशस्वी नामोंमेंसे हैं। न ही यह अकस्मात् हो सकता है कि दसवें या अन्तिम मण्डलमें जिसमें ऋषियों-की अधिक विविधता भी पायी जाती है, हमें वैदिक विचार अपने अन्तिम विकसित रूपोंमें दिखाई देता है और ऋग्वेदके उन सूक्तोंमेंसे जो भाषाकी दृष्टिसे अधिकसे-अधिक आधुनिक हैं, कुछ इसी मण्डलमें हैं। पुरुष-यज्ञका सूक्त और सृष्टिसम्बन्धी महान् सूक्त हम इसी मण्डलमें पाते हैं। साथ

ही, आधुनिक विद्वान् यह समझते हैं कि इसीमें उन्होंने वैदान्तिक दर्शनका, ब्रह्मवादका, मूल उद्भव खोज निकाला है।

कुछ भी हो, विश्वामित्रके पुत्र तथा पौत्रके ये सूक्त जिनसे ऋग्वेद प्रारम्भ होता है आश्चर्यजनक उत्कृष्टताके साथ वैदिक समस्वरताके प्रथम मुख्य स्वर निकालते हैं। अग्निको सम्बोधित किया गया पहला सूक्त सत्यके केन्द्रभूत विचारको प्रकट करता है और यह विचार दूसरे व तीसरे सूक्तोंमें और भी दृढ़ हो जाता है, जहाँ अन्य देवताओंके साथमें इंद्रका आवाहन किया गया है। शेष आठ सूक्तोंमें जिनमें अकेला इन्द्र देवता है, एक (छठे)को छोड़कर जहाँ वह मरुतोंके साथ मिल गया है, हम सोम और गौके प्रतीकोंको पाते हैं, प्रतिबन्धक वृत्रको और इन्द्रके उस अपने महान् कृत्यको पाते हैं जिसके द्वारा वह मनुष्यको प्रकाशकी ओर ले जाता है और उसकी उन्नतिमें जो विघ्न आते हैं उन्हें हटाकर परे फेंक देता है। इस कारण ये सूक्त वेदकी अध्यात्मपरक व्याख्याके लिये निर्णयकारक महत्त्वके हैं।

अग्निके सूक्तमें पाँचवीं ऋचासे लेकर आठवीं तक, ये चार ऋचायें हैं, जिनमें आध्यात्मिक आशय बड़े बलके साथ और बड़ी स्पष्टताके साथ प्रतीकके आवरणको पार करके बाहर निकल रहा है—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥

इस संदर्भमें हम पारिभाषिक शब्दोंकी एक माला पाते ह जिसका सीधा ही एक अध्यात्मपरक आशय है, अथवा वह स्पष्ट तौरसे इस योग्य है कि उसमेंसे अध्यात्मपरक आशय निकल सके और इस शब्दावलिने अपनी इस रंगतसे सारे-के-सारे प्रकरणको रंगा हुआ है। पर फिर भी सायण इसकी विशुद्ध कर्मकाण्डपरक व्याख्या पर ही आग्रह करता है और यह देखना मजेदार है कि वह इसतक कैसे पहुंचता है। पहले वाक्यमें हमें 'कवि' शब्द मिलता है जिसका अर्थ द्रष्टा है और यदि हम 'क्रतु'का अर्थ यज्ञ-कर्म ही

मान लें तो भी परिणामतः इसका अभिप्राय होगा—"अग्नि, वह ऋत्विक् जिसका कि कर्म या यज्ञ द्रष्टाका है।" और यह ऐसा अनुवाद है जो तुरन्त यज्ञको एक प्रतीकका रूप दे देता है और अपने-आपमें इसके लिये पर्याप्त है कि वेदको और भी गम्भीर रूपसे समझनेमें बीजका काम दे सके। सायण अनुभव करता है कि उसे इस कठिनाईको जिस किसी प्रकारसे भी परे हटाना चाहिये और इसलिये वह 'कवि' में जो द्रष्टाका भाव है, उसे छोड़ देता है और इसका एक दूसरा ही नया-सा अप्रचलित अर्थ कर देता है[1]। आगे फिर वह व्याख्या करता है कि 'अग्नि' 'सत्य' है, सच्चा है, क्योंकि वह यज्ञके फलको अवश्य देता है। 'श्रवस्'का अनुवाद सायण करता है "कीर्ति", अग्निकी अत्यन्त ही चित्र-विचित्र कीर्ति है। निश्चय ही यहाँ इस शब्दको धन-संपत्तिके अर्थमें लेना अधिक उपयुक्त होता, जिससे 'सत्य'-की उपर्युक्त व्याख्याकी असंगति दूर हो जाती। तब हम पांचवीं ऋचाका यह फलितार्थ निकालेंगे—"अग्नि जो होता है, यज्ञोंमें कर्मशील है, जो (अपने फलोंमें) सच्चा है—क्योंकि उसकी ही यह अत्यन्त विविध संपत्ति है, वह देव अन्य देवोंके साथ आये।"

भाष्यकार सायणने छठी ऋचाका एक बहुत अनुपयुक्त और बेजोड़-सा अन्वय कर डाला है और इसके विचारको बदलकर बिल्कुल तुच्छ रूप दे दिया है, जो ऋचाके प्रवाहको सर्वथा तोड़ देता है। "(विविध सम्पत्तियोंके रूपमें) वह भलाई जो तू हवि देनेवालेके लिये करेगा, वह तेरी ही होगी। यह सच है, हे अंगिरः[2]।" अभिप्राय यह है कि इस सचाईके बारेमें कोई सन्देह नहीं है कि अग्नि यदि धन-दौलत देकर हवि देनेवालेका भला करता है तो बदलेमें वह भी उस अग्निके प्रति नये-नये यज्ञ करेगा और इस प्रकार यज्ञकर्त्ताकी भलाई अग्निकी ही भलाई हो जाती है। यहाँ फिर इसका इस रूपमें अनुवाद करना अधिक अच्छा होता—"वह भलाई जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वह तेरा वह सत्य है, हे अंगिरः", क्योंकि इस प्रकार हमें एकदम एक अधिक स्पष्ट आशय और अन्वय पता लग जाता है और यज्ञिय अग्निदेवताके लिये जो 'सत्य', सच्चा, यह विशेषण लगाया है उसका स्पष्टी-

---

1. "कविशब्दोऽत्र क्रांतवचनो न तु मेधाविनाम"।—सायण
2. "हे अग्ने, त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय, तत्प्रीत्यर्थं, यद् भद्रं वित्त-गृह-प्रजा-पशुरूपं कल्याणं करिष्यसि तद् भद्रं तवेत् तवैव सुखहेतुरिति शेषः। हे अङ्गिरोऽग्ने! एतच्च सत्यं, न त्वत्र विसंवादोऽस्ति, यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरकालानुष्ठानेन अग्नेरेव सुखं भवति।"—सायण

करण हो जाता है। यही अग्निका सत्य है कि वह यज्ञकर्ताके लिये निश्चित रूपसे बदलेमें भला ही करता है।

सातवीं ऋचा कर्मकाण्डपरक व्याख्यामें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती, सिवाय इस अद्भुत वाक्यांशके कि "हम नमस्कारको धारण करते हुए आते हैं।" सायण यह स्पष्टीकरण करता है कि यहाँ धारण करनेका अभिप्राय सिर्फ 'करना' है, और वह इस ऋचाका अनुवाद इस प्रकार करता है—"तेरे पास हम प्रतिदिन, रातको और दिनमें, बुद्धिके साथ, नमस्कारको करते हुए आते हैं[1]।" आठवीं ऋचामें 'ऋतस्य'को वह सत्यके अर्थमें लेता है और इसकी व्याख्या यह करता है कि इसका अभिप्राय है यज्ञकर्मके सच्चे फल। "तेरे पास हम आते हैं, जो तू दीप्यमान है, यज्ञोंका रक्षक है, सर्वदा उनके सत्यका (अर्थात् उनके अवश्यम्भावी फलका) द्योतक है, अपने घरमें वृद्धिको प्राप्त हो रहा है[2]।" यहाँ फिर, यह अधिक सरल और अधिक अच्छा होता कि 'ऋतम्'को यज्ञके अर्थमें लिया जाता और इसका अनुवाद यह किया जाता—"तेरे पास, जो तू यज्ञमें प्रदीप्त हो रहा है, यज्ञ (ऋत)का रक्षक है, सदा प्रकाशमान है, अपने घरमें वृद्धिको प्राप्त हो रहा है।" अग्निका "अपना घर", भाष्यकार कहता है, यज्ञशाला है, और वस्तुतः ही इसे संस्कृतमें प्रायः 'अग्नि-गृह' कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस संदर्भ तकका जो पहले-पहल देखने पर आध्यात्मिक अर्थकी एक बड़ी भारी सम्पत्तिको देता हुआ लगता है, हम थोड़ा-सा ही जोड़-तोड़ करके एक विशुद्ध कर्मकाण्डपरक, किन्तु बिल्कुल अर्थ-शून्य, आशय गढ़ सकते हैं। तो भी यह काम कितनी ही निपुणताके साथ क्यों न किया जाय, इसमें दोष और कमियाँ रह ही जाती हैं और उनसे इसकी कृत्रिमताका पता लग जाता है। हम देखते हैं कि हमें 'कवि'के उस सीधे अर्थको दूर फेंक देना पड़ा है जो इसके साथ सारे वेदमें जुड़ा हुआ है और इसके मत्थे एक अवास्तविक अर्थको मढ़ना पड़ा है। या तो हमें 'सत्य' और 'ऋत' इन दो शब्दोंका एक दूसरेसे सम्बन्धविच्छेद करना पड़ा है जब कि वेदमें ये दोनों शब्द अत्यन्त सम्बद्ध पाये जाते हैं या ऋतको

---

1. "हे अग्ने, वयमनुष्ठातारो दिवेदिवे प्रतिदिनं, दोषावस्तः रात्रावहनि च, धिया बुद्ध्या, नमो मरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्तः, उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः"।—सायण
2. "दीप्यंतं त्वां! राजन्तं दीप्यमानं अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां, गोपां रक्षकम्, ऋतस्य सत्यस्य अवश्यम्भाविनः कर्मफलस्य, दीदिविं पौनः-पुन्येन भृशं वा द्योतकं,……, स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिर्वर्धमानम्"।—सायण

जबर्दस्ती कोई नया अर्थ देना पड़ा है और शुरूसे अन्त तक हमने उन सब स्वाभाविक निर्देशोंकी उपेक्षाकी है जिनके लिये ऋषिकी भाषा हमपर दबाव डालती है।

तो अब हमें इस सिद्धान्तको छोड़कर इसके स्थान पर दूसरे सिद्धान्तका अनुसरण करना चाहिये। और ईश्वर-प्रेरित मूल वेदके शब्दोंको उनका आध्यात्मिक मूल्य पूर्ण रूपसे देना चाहिये। 'क्रतु'का अर्थ संस्कृतमें कर्म या क्रिया है, विशेषकर यज्ञ-रूप कर्म, परन्तु इसका अर्थ वह शक्ति या बल (ग्रीक क्रटोस 'Kratos') भी होता है जो क्रियाको साधित करनेमें समर्थ हो। आध्यात्मिक रूपमें यह शक्ति, जो क्रियाको साधित करनेमें समर्थ होती है, संकल्प है। इस शब्दका अर्थ मन या बुद्धि भी हो सकता है और सायण स्वीकार करता है कि इसका एक संभव अर्थ विचार या ज्ञान भी है। 'श्रवस्'का शाब्दिक अर्थ सुनना है और इस मुख्य अर्थसे ही इसका आनुषंगिक अर्थ 'कीर्ति' लिया गया है। पर अध्यात्मरूपसे, इसमें जो सुननेका भाव है वह संस्कृतमें एक दूसरे ही भावको देता है, जिसे हम 'श्रवण', 'श्रुति', 'श्रुत'—ईश्वरीय ज्ञान या अन्तःप्रेरणासे प्राप्त होनेवाले ज्ञान—में पाते हैं। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, स्वतःप्रकाश और अन्तःस्फुरणा—ये उस अतिमानस सामर्थ्यकी दो शक्तियाँ हैं जिसका संबंध सत्यके, 'ऋतम्' के प्राचीन वैदिक विचारसे है। कोषकारोंने 'श्रवस्' शब्दको इस अर्थमें नहीं दिखाया है, परन्तु 'वैदिक ऋचा, एक वदिक सूक्त, वेदके ईश्वरप्रेरित शब्द' इस अर्थमें यह शब्द स्वीकार किया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी समयमें यह शब्द अन्तःप्रेरित ज्ञानके या किसी ऐसी वस्तुके भावको देता था जो अन्तःस्फुरित हुई हो, चाहे वह शब्द हो या ज्ञान हो। तो इस अर्थको, कम-से-कम अस्थायी तौर पर ही सही, हमें प्रस्तुत संदर्भमें लगानेका अधिकार है, क्योंकि दूसरा कीर्तिका अर्थ इस प्रकरणमें बिलकुल असंगत और निरर्थक लगता है। फिर नमस् शब्दका भी आध्यात्मिक आशय लेना चाहिये, क्योंकि इसका शाब्दिक अर्थ है "नीचे झुकना" और इसका प्रयोग देवताके प्रति की गयी सत्कारसूचक नम्रताकी क्रियाके लिये होता है जो भौतिक रूपसे शरीरको दण्डवत् करके की जाती है। इसलिये जब ऋषि "विचार द्वारा अग्निके लिये नमः धारण करने"की बात कहता है तो इसपर हम मुश्किलसे ही संदेह कर सकते हैं कि वह 'नमस्'को आध्यात्मिक तौर पर आन्तरिक नमस्कारके, देवताके प्रति हृदयसे नत हो जाने या आत्म-समर्पण करनेके अर्थमें प्रयुक्त कर रहा है।

तो हम उपर्युक्त चार ऋचाओंका यह अर्थ पाते हैं—

"अग्नि, जो यज्ञका होता है, कर्मके प्रति जिसका संकल्प द्रष्टाका-सा है, जो सत्य है, नानाविध अन्तःप्रेरणाका जो महाधनी है, वह देव देवोंके साथ आवे।"

"वह भलाई जो तू हवि देनेवालेके लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अंगिरः!"

"तेरे प्रति दिन-प्रतिदिन, हे अग्ने! रात्रिमें और प्रकाशमें, हम विचारके द्वारा अपने आत्म-समर्पणको धारण करते हुए आते हैं।"

"तेरे प्रति, जो तू यज्ञोंमें देदीप्यमान होता है (या जो यज्ञों पर राज्य करता है), सत्यका और इसकी ज्योतिका संरक्षक है, अपने घरमें बढ़ रहा है।"

हमारे इस अनुवादमें यह त्रुटि है कि हमें 'सत्यम्' और 'ऋतम्' दोनोंके लिये एक ही शब्द प्रयुक्त करना पड़ा है, जब कि, जैसे कि हमें 'सत्यम् ऋतम् बृहत्' इस सूत्रमें देखनेसे पता चलता है, वैदिक विचारमें इन दोनों शब्दोंके ठीक-ठीक अर्थोंमें अंतर था।

तो फिर यह अग्निदेवता कौन है जिसके लिये ऐसी रहस्यमयी तेजस्विताकी भाषा प्रयुक्त की गयी है, जिसके साथ इतने महान् और गंभीर कार्योंका संबंध जोड़ा गया है? यह सत्य का संरक्षक कौन है जो अपने कार्यमें इस सत्यका प्रकाशरूप है, कर्ममें जिसका संकल्प एक ऐसे द्रष्टाका संकल्प है जो अपनी समृद्धतया विविध अन्तःप्रेरणाओं पर शासन करनेवाली दिव्य बुद्धिसे युक्त है? वह सत्य क्या वस्तु है जिसकी वह रक्षा करता है? और वह भद्र क्या है जिसे वह उस हवि देनेवालेके लिये करता है जो उसके पास सदा, दिनरात, विचारमें हविरूपसे नमन और आत्म-समर्पणको धारण किए हुए आता है? क्या यह सोना है और घोड़े हैं और गौएं हैं जिन्हें वह लाता है, अथवा ये कोई अधिक दिव्य ऐश्वर्य हैं?

यह यज्ञकी अग्नि नहीं है जो इन सब कार्योंको कर सके, न ही यह कोई भौतिक ज्वाला अथवा भौतिक ताप और प्रकाशका कोई तत्त्व हो सकता है। तो भी सर्वत्र यज्ञिय अग्निके प्रतीकका अवलंबन किया गया है। यह स्पष्ट है कि हमारे सामने एक रहस्यमय प्रतीकवाद है, जिसमें अग्नि, यज्ञ, होता, ये सब एक गंभीरतर शिक्षणके केवल बाह्य अलंकारमात्र हैं और फिर भी ऐसे अलंकार हैं जिनका अवलंबन करना और निरंतर अपने सामने रखना आवश्यक समझा गया था।

उपनिषदोंकी प्राचीन वैदान्तिक शिक्षामें सत्यका एक विचार देखनेमें आता है जो अधिकतर सूत्रोंके द्वारा प्रकट किया गया है और वे सूत्र वेदकी

ऋचाओंमेंसे लिये गये हैं, जैसे कि एक वाक्य जिसे हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं वह है, "सत्यम् ऋतम् बृहत्"—सच, ठीक और महान्। वेदमें इस सत्यके विषयमें कहा गया है कि यह एक मार्ग है जो सुखकी ओर ले जाता है, अमरताकी ओर ले जाता है। उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि सत्यके मार्ग द्वारा ही सन्त या द्रष्टा, ऋषि या कवि पार पहुंचता है, वह असत्यको पार कर लेता है, मर्त्य अवस्थाको पार करके अमर सत्तामें पहुंच जाता है। इसलिये हमें यह कल्पना करनेका अधिकार है कि यह एक ही विचार है जिसपर वेदमें और वेदान्तमें दोनों जगह चर्चा चल रही है।

यह आध्यात्मिक विचार उस सत्यके विषयमें है जो दिव्य तत्त्वका सत्य है, न कि जो मर्त्य संवेदन और बाह्य रूपोंका सत्य है। वह 'सत्यम्' है, सत्ताका सत्य है, अपनी क्रियाके रूपमें वह 'ऋतम्' है, व्यापारका सत्य है,—दिव्य सत्ताका सत्य जो मन और शरीर दोनोंकी सही क्रियाको नियमित करता है, वह 'बृहत्' है, अर्थात् सार्वत्रिक सत्य है जो असीममेंसे सीधा और अविकृत रूपसे निकलता है। वह चेतना भी, जो इसके अनुरूप होती है, असीम है। ऐन्द्रिय मनकी चेतना तो सीमा पर आधारित है, इसके विपरीत वह सत्यकी चेतना बृहत् अर्थात् विशाल है। एकको 'भूमा', विशाल कहा गया है, दूसरीको 'अल्प', छोटा। इस अतिमानस या सत्य-चेतनाका एक दूसरा नाम 'महः' है और इसका अर्थ भी है 'महान्', 'विशाल'। और जिस प्रकार इन्द्रियानुभव एवं बाह्य प्रतीतिके तथ्योंके लिये जो नाना प्रकारके मिथ्यात्वसे (अनृतम्, अर्थात् असत्यसे या मानसिक तथा शारीरिक क्रियामें सत्यम्के अशुद्ध प्रयोगसे) भरे होते हैं, हमारे पास उपकरण हैं इन्द्रियाँ, ऐन्द्रियमन (मनस्) और बुद्धि (जो उनकी साक्षीके आधार पर कार्य करती है), उसी प्रकार सत्य-चेतनाके लिये उसीके अनुरूप शक्तियाँ हैं—'दृष्टि', 'श्रुति', 'विवेक', सत्यका अपरोक्ष दर्शन, इसके शब्दका अपरोक्ष श्रवण, और जो ठीक हो उसकी अपरोक्ष विवेचन द्वारा पहिचान। जो कोई इस सत्य चेतनासे युक्त होता है या इस योग्य होता है कि ये शक्तियाँ उसमें अपनी क्रिया करें, वह ऋषि या 'कवि' है, सन्त या द्रष्टा है। सत्यके, 'सत्यम्' और 'ऋतम्'के इन विचारों को ही हमें वेदके इस प्रारम्भिक सूक्तमें लगाना चाहिये।

अग्नि वेदमें हमेशा शक्ति और प्रकाशके द्विविध रूपमें आता है। यह वह दिव्य शक्ति है जो लोकोंका निर्माण करती है, वह शक्ति है जो सर्वदा पूर्ण ज्ञानके साथ क्रिया करती है, क्योंकि यह 'जातवेदस्' है, सब जन्मोंको जाननेवाली है, 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्'—यह सब व्यक्त रूपों या घटनाओंको

जानती है अथवा दिव्य बुद्धिके सब रूपों और व्यापारोंसे यह युक्त है। इसके अतिरिक्त, यह बार-बार कहा गया है कि अग्निको देवोंने मर्त्योंमें अमृत रूपसे स्थापित किया है, उसे मनुष्यमें दिव्य शक्तिके रूपमें, उस पूर्ण करनेवाली, सिद्ध करनेवाली शक्तिके रूपमें रखा है जिसके द्वारा वे देवता उस मनुष्यके अन्दर अपना कार्य करते हैं। इसी कार्यका प्रतीक यज्ञको बनाया गया है।

तो आध्यात्मिक रूपसे अग्निका अर्थ हम दिव्य संकल्प ले सकते हैं, वह दिव्य संकल्प जो पूर्ण रूपसे दिव्य बुद्धिके द्वारा प्रेरित होता है। और असलमें यह संकल्प इस बुद्धिके साथ एक है, यह वह शक्ति है जिससे सत्य चेतना क्रिया करती है या प्रभाव डालती है। 'कविक्रतु' शब्दका स्पष्ट आशय है, वह जिसका क्रियाशील संकल्प या प्रभावक शक्ति द्रष्टाकी है, अर्थात् वह उस ज्ञानके साथ कार्य करता है जो सत्य-चेतनासे आनेवाला ज्ञान है और जिसमें कोई भ्रान्ति या गलती नहीं है। आगे जो विशेषण आये हैं वे इस व्याख्या को और भी पुष्ट करते हैं। अग्नि 'सत्य' है, अपनी सत्तामें सच्चा है; अपने निजी सत्यपर और वस्तुओंके सारभूत सत्यपर जो इसका पूर्ण अधिकार है उसके कारणसे इसमें यह सामर्थ्य है कि वह इस सत्यका शक्तिकी सब क्रियाओं और गतियोंमें पूर्णताके साथ उपयोग कर सकता है। इसके पास दोनों हैं, 'सत्यम्' और 'ऋतम्'।

इसके अतिरिक्त वह 'चित्रश्रवस्तमः' है; 'ऋतम्' से उसमें अत्यधिक प्रकाशमय और विविध अन्तःप्रेरणाओंकी पूर्णता आती है, जो उसे पूर्ण कार्य करनेकी क्षमता प्रदान करती है। क्योंकि ये सब विशेषण उस अग्निके हैं जो 'होता' है, यज्ञ का पुरोहित है, जो हवि प्रदान करनेवाला है। इसलिये यज्ञके प्रतीकसे सूचित होनेवाले कार्य (कर्म या अपस्)में सत्यका प्रयोग करनेकी उसकी शक्ति ही अग्निको मनुष्य द्वारा यज्ञमें आहूत किये जानेका पात्र बनाती है। बाह्य यज्ञोंमें यज्ञिय अग्निकी जो महत्ता है उसके अनुरूप ही आभ्यन्तर यज्ञमें इस एकीभूत ज्योति और शक्तिके आन्तरिक बलकी महत्ता है। इस आभ्यन्तर यज्ञके द्वारा मर्त्य और अमर्त्यमें परस्पर संसर्ग और एक दूसरेके साथ आदान-प्रदान होता है। अन्य स्थलोंमें ऐसा वर्णन बहुतायतके साथ पाया जाता है कि अग्नि 'दूत' है, उस संसर्ग और आदान-प्रदानका माध्यम है।

तो हम देखते हैं कि किस योग्यतावाले अग्निको यज्ञके लिये पुकारा गया है, "वह देव अन्य देवोंके साथ आये।" "देवो देवेभिः" इस पुनरुक्तिके द्वारा जो दिव्यताके विचारपर विशेष बल दिया गया है वह तब बिल्कुल साफ समझमें

आने लगता है जब हम अग्निके इस नियत वर्णनको स्मरण करते हैं कि वह मनुष्योंमें रहनेवाला देव है, मर्त्योंमें अमर्त्य है, दिव्य अतिथि है। इसे हम पूर्ण आध्यात्मिक रंग दे सकते हैं यदि हम इसका यह अनुवाद करें, 'वह दिव्य शक्ति दिव्य शक्तियोंके साथ आये।' क्योंकि वेदार्थकी बाह्य दृष्टिमें देवता भौतिक प्रकृतिकी सार्वत्रिक शक्तियाँ हैं जिन्हें अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व प्राप्त है, अतः किसी भी आन्तरिक दृष्टिमें ये देवता अवश्य ही प्रकृति की वे सार्वत्रिक शक्तियाँ, संकल्प, मन आदि होने चाहियें जिनके द्वारा प्रकृति हमारे अन्दरकी हलचलोंमें काम करती है।

परन्तु वेदमें इन शक्तियोंकी साधारण मनःसीमित या मानवीय क्रियामें, 'मनुष्वत्', और इनकी दिव्य क्रियामें सर्वदा भेद किया गया है। यह कल्पना की गयी है कि मनुष्य देवताओंके प्रति अपने आन्तरिक यज्ञमें अपनी मानसिक क्रियाओंका सही उपयोग करे तो उन्हें वह उनके सच्चे अर्थात् दिव्य रूपमें रूपान्तरित कर सकता है, मर्त्य अमर बन सकता है। इस प्रकार ही ऋभुगण जो पहले मानव सत्ताएं थे या मानव शक्तियोंके द्योतक थे, कर्मकी पूर्णताके द्वारा—'सुकृत्यया', 'स्वपस्यया'—दिव्य और अमर शक्तियाँ बन गये। मानवका दिव्यको सतत आत्म-समर्पण और दिव्यका मानवके अन्दर सतत अवतरण ही यज्ञके प्रतीकसे प्रकट किया गया प्रतीत होता है।

इस अमरताकी अवस्थाको जो इस प्रकार प्राप्त होती है आनन्द और परम सुखकी अवस्था समझा गया है जिसका आधार एक पूर्ण सत्यानुभव और सत्याचरण, 'सत्यम्' और 'ऋतम्' है। मैं समझता हूँ इससे अगली ऋचाको हमें अवश्य इसी अर्थमें लेना चाहिये। "वह भलाई (सुख) जो तू हवि देनेवालेके लिये करेगा, वह है तेरा वही सत्य हे अग्ने!" दूसरे शब्दोंमें, इस सत्यका (जो इस अग्निका स्वभाव है) सार है अभद्रसे मुक्ति, पूर्ण भद्र और सुखकी अवस्था जो 'ऋतम्'के अन्दर रहती है और जिसका मर्त्यमें सृजन होना निश्चित है, जब वह मर्त्य अग्निको दिव्य होता बनाकर उसकी क्रिया द्वारा यज्ञमें हवि देता है। 'भद्रम्'का अर्थ है कोई वस्तु जो भली, शिव, सुखमय हो, और स्वयं इसे अपने अन्दर कोई गम्भीर अर्थ रखनेकी आवश्यकता नहीं। परन्तु वेदमें हम इसे 'ऋतम्'की तरह एक विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ पाते हैं।

एक सूक्त (5–82) में इसका इस रूपमें वर्णन किया गया है कि यह बुरे स्वप्न (दुःष्वप्न्यम्) का, 'अनृतम्'की मिथ्या-चेतनाका और 'दुरितम्' का, मिथ्या आचरणका विरोधी है[1], जिसका अभिप्राय होता है कि यह सब

---

1. प्रजावत सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ (ऋ० 5–82-4)

प्रकारके पाप और कष्टका विरोधी है। इसलिये 'भद्रम्'[1] 'सुवितम्'का (सत्य आचरणका) समानार्थक है, जिसका अर्थ है वह सब भलाई और सुख-कल्याण जो सत्यकी, 'ऋतम्'की अवस्थासे सम्बन्ध रखता है। यह 'मयस्' है, सुख-कल्याण है, और देवताओंको, जो सत्य-चेतनाका प्रतिनिधित्व करते हैं, 'मयोभुवः' कहा गया है अर्थात् वे जो सुख-कल्याण लाते हैं या जो अपनी सत्तामें सुख-कल्याण रखते हैं। इस प्रकार वेदका प्रत्येक भाग, यदि वह अच्छी तरहसे समझ लिया जाय तो, प्रत्येक दूसरे भाग पर प्रकाश डालता है। इसमें परस्पर असंगति हमें तभी दीखती है जब इसपर पड़े हुए आवरणके कारण हम भटक जाते हैं।

अगली ऋचामें, यह प्रतीत होता है कि फलोत्पादक यज्ञकी शर्त बतायी गयी है। वह यह है कि मानवके अंदर अवस्थित विचार (धी) दिन-प्रतिदिन, रातको और प्रकाशमें नमन, आराधन और आत्मसमर्पणके साथ निरन्तर उस दिव्य **संकल्प** और **प्रज्ञा**का आश्रय ले जिसका प्रतिनिधि अग्नि है, रात और दिन, नक्तोषासा', भी वेदके अन्य सब देवोंकी तरह प्रतीकरूप ही हैं और आशय यह प्रतीत होता है कि चेतनाकी सभी अवस्थाओंमें, चाहे वे प्रकाशमय हों चाहे धुंधली, समस्त क्रियाओंकी दिव्य नियन्त्रणके प्रति सतत वशवर्तिता और अनुरूपता होनी चाहिये।

क्योंकि चाहे दिन हो चाहे रात, अग्नि यज्ञोंमें प्रदीप्त होता है, वह मनुष्यके अन्दर सत्यका, 'ऋतम्'का रक्षक है और अंधकारकी शक्तियोंसे इसकी रक्षा करता है, वह इस सत्यका सतत प्रकाश है जो मनकी धुंधली और पर्याक्रान्त दशाओंमें भी प्रदीप्त रहता है। ये विचार जो इस प्रकार आठवीं ऋचामें संक्षेपसे दर्शाये गये हैं, ऋग्वेदमें अग्निके जितने सूक्त हैं उन सबमें स्थिर रूपसे पाये जाते हैं।

अन्तमें अग्निके विषयमें यह कहा गया है कि वह अपने घरमें वृद्धिको प्राप्त होता है। अब हम अधिक देर तक इस व्याख्यासे सन्तुष्ट नहीं रह सकते कि अग्निका अपना घर वैदिक गृहस्थाश्रमीका 'अग्नि-गृह' है। हमें स्वयं वेदमें ही इसकी कोई दूसरी व्याख्या ढूंढ़नी चाहिये, और वह हमें प्रथम मंडलके 75वें सूक्तमें मिल भी जाती है।

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्। ऋ० १।७५।५

'यज्ञ कर हमारे लिये मित्र और वरुणके प्रति, यज्ञ कर देवोंके प्रति, सत्यके, बृहत्के प्रति, हे अग्ने! स्वकीय घरके प्रति यज्ञ कर।'

---

1. दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ (ऋ० 5—82—5)

यहाँ 'ऋतं, बृहत्' और 'स्वं दमम्' यज्ञके लक्ष्यको प्रकट करते हुए प्रतीत होते हैं और ये पूर्णतया वेदके उस अलंकारके अनुरूप हैं जिसमें यह कहा गया है कि यज्ञ देवोंकी ओर यात्रा है और मनुष्य स्वयं एक यात्री है जो सत्य, ज्योति या आनन्दकी ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'सत्यं', 'बृहत्' और 'अग्नि का स्वकीय घर' एक ही है। अग्नि और अन्य देवताओंके बारेमें बहुधा यह कहा गया है कि वे सत्यमें उत्पन्न होते हैं, 'ऋतजात', विस्तार या बृहत्के अन्दर रहते हैं। तो हमारे इस संदर्भका आशय यह होगा कि अग्नि जो मनुष्यके अन्दर दिव्य संकल्प और दिव्य शक्ति-रूप है, सत्य-चेतनामें जो इसका अपना वास्तविक क्षेत्र है, बढ़ता है, जहाँ मिथ्या बन्धन विस्तृत और असीममें, 'उरौ अनिबाधे', टूटकर गिर जाते हैं।

इस प्रकार वेदके प्रारम्भिक सूक्तकी इन चार ऋचाओंमें हमें वैदिक ऋषियोंके प्रधानभूत विचारोंके प्रथम चिह्न देखनेको मिलते हैं,—अतिमानस और दिव्य सत्यचेतनाका विचार, सत्यकी शक्तियोंके रूपमें देवताओंका आवाहन, इसलिये कि वे मनुष्यको मर्त्य मनके मिथ्यारूपोंमेंसे निकालकर ऊपर उठायें, इस सत्यके अन्दर और इसके द्वारा पूर्ण भद्र और कल्याणकी अमर अवस्थाको पाना और दिव्य पूर्णताके साधनके रूपमें मर्त्यका अमर्त्यके प्रति आभ्यन्तर यज्ञ करना तथा उसके पास जो कुछ है एवं वह अपने आप जो कुछ है उसका उस यज्ञमें हवि-रूपसे उत्सर्ग कर देना। शेष सब वैदिक विचार अपने आध्यात्मिक रूपोंमें इन्हीं केंद्रभूत विचारोंके चारों तरफ एकत्रित हो जाते हैं।

सातवाँ अध्याय

वरुण, मित्र और सत्य

यदि सत्यका यह विचार जिसे हमने वेदके पहले-पहले ही सूक्तमें पाया है अपने अंदर वस्तुतः उस आशयको रखता है जिसकी हमने कल्पनाकी है और उस अतिमानस चैतन्यके विचार तक पहुँचता है जो अमरता या परम पदको पानेकी शर्त है और यदि यही वैदिक ऋषियोंका मुख्य विचार है तो हमें अवश्य सारे-के-सारे सूक्तोंके अंदर यह विचार बार-बार आया हुआ मिलना चाहिये, अध्यात्म-विज्ञान-संबंधी अन्य सिद्धियों तथा तदाश्रित सिद्धियोंके लिये केंद्रभूत विचारके तौरपर मिलना चाहिये। ठीक अगले ही सूक्तमें, जो इन्द्र और वायुको संबोधित किया गया मधुच्छंदस्का दूसरा सूक्त है, हम एक और संदर्भ पाते हैं जो स्पष्ट और बिलकुल ही अकाट्य आध्यात्मिक निर्देशोंसे भरा पड़ा है, जिसमें 'ऋतम्'का विचार अग्निसूक्तकी अपेक्षा भी अधिक बलके साथ रखा गया है। इस संदर्भमें इस सूक्तकी अंतिम तीन ऋचाएँ आती हैं—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥
ऋतेन मित्रावरुणा ऋतावृधा ऋतस्पृशा।
ऋतुं बृहन्तमाशाथे॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम्॥ (1.2.7–9)

इस संदर्भकी पहिली ऋचामें एक शब्द 'दक्ष' आया है जिसका अर्थ सायणने प्रायः बल किया है, पर वस्तुतः जो अध्यात्मपरक व्याख्याके योग्य है, एक महत्त्वपूर्ण शब्द 'घृत' आया है जो 'घृताची' इस विशेषणमें है और एक अपूर्व वाक्यांश है–'धियं घृताचीम्'। शब्दशः इस ऋचाका यह अनुवाद किया जा सकता है—"मैं मित्रका आह्वान करता हूँ, जो पवित्र बलवाला (अथवा, पवित्र विवेकशक्तिवाला) है और वरुणका जो हमारे शत्रुओंका नाशक है, (जो दोनों) प्रकाशमय बुद्धिको सिद्ध करनेवाले (या पूर्ण करनेवाले) हैं।"

दूसरी ऋचामें हम देखते हैं कि 'ऋतम्'को तीन बार दोहराया गया है और 'बृहत्' तथा 'ऋतु' शब्द आये हैं, जिन दोनोंको ही वेद की अध्यात्मपरक व्याख्यामें हम बहुत ही अधिक महत्त्व दे चुके हैं। 'ऋतु'का अर्थ यहाँ या तो यज्ञका कर्म हो सकता है या सिद्धिकारक शक्ति। पहले अर्थके पक्षमें हम वेदमें इस-जैसा ही एक और संदर्भ पाते हैं जिसमें वरुण और मित्र को कहा गया है कि वे 'ऋतु'के द्वारा यज्ञको अधिगत करते हैं या उसका भोग करते हैं, 'ऋतुना यज्ञमाशाथे' (ऋ० 1-15-6)। परंतु यह समानान्तर संदर्भ निर्णायक नहीं है; क्योंकि एक प्रकरणमें यदि स्वयं यज्ञका ही उल्लेख किया गया है, तो दूसरे प्रकरणमें उस शक्ति या बलका उल्लेख हो सकता है जिससे यज्ञ सिद्ध होता है। और यज्ञके साथ 'ऋतुना' शब्द वहाँ भी है ही। इस दूसरी ऋचाका अनुवाद शब्दशः यह हो सकता है—"सत्यके द्वारा मित्र और वरुण, जो सत्यको बढ़ानेवाले हैं, सत्यका स्पर्श करनेवाले हैं, एक बृहत् कर्मका अथवा एक विशाल (साधक) शक्तिका भोग करते हैं (या उन्हें अधिगत करते हैं)।"

अंतमें तीसरी ऋचामें हमें फिर 'दक्ष' शब्द मिलता है, 'कवि' शब्द मिलता है जिसका अर्थ 'द्रष्टा' है और जिसे पहले ही मधुच्छंदस् 'ऋतु'के कर्म या संकल्पके साथ जोड़ चुका है, सत्यका विचार मिलता है और 'उरुक्षया' यह प्रयोग मिलता है। 'उरुक्षया'में 'उरु' (अर्थात् विस्तृत या विशाल) 'महान्'के वाचक उस 'बृहत्'का पर्यायवाची हो सकता है जो अग्निके 'स्वकीय घर' सत्यचेतनाके लोक या स्तरका वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त हुआ है। शब्दशः मैं इस ऋचाका अनुवाद यों करता हूं—"हमारे लिये मित्र और वरुण, जो द्रष्टा हैं, बहु-जात हैं, विशाल घरवाले हैं, उस बल (या विवेक-शक्ति)को धारण करते हैं जो कर्म करनेवाली है।"

यह एकदम स्पष्ट हो जायगा कि दूसरे सूक्तके इस संदर्भमें हमें विचारोंका ठीक वही क्रम मिलता है और बहुत-से वैसे ही भाव प्रकाशित किये गये हैं जिन्हें पहले सूक्तमें हमने अपना आधार बनाया था। पर उनका प्रयोग भिन्न प्रकारका है और पवित्रीकृत विवेकका विचार, अत्यधिक प्रकाशमय बुद्धि, 'धियं घृताचीम्'का विचार और यज्ञकर्ममें सत्यकी क्रिया, 'अपस्'का विचार कुछ अन्य नवीन यथार्थ तथ्योंको प्रस्तुत करते हैं, जिनसे ऋषियोंके जो केंद्रभूत विचार हैं उनपर और अधिक प्रकाश पड़ता है।

दक्ष शब्द ही इस संदर्भमें अकेला ऐसा है जिसके आशयके संबंधमें वस्तुतः ही संदेहकी गुंजाइश हो सकती है, और इसका अनुवाद सायणने प्रायशः 'बल' किया है। यह एक ऐसी धातुसे बनता है जिसका अपनी

सजातीय अन्य धातुओंमेंसे अनेकों (जैसे दश्, दिश्, दह्)की तरह मूलमें अपने विशेष अर्थोंमेंसे एक अर्थ 'आक्रामक दबाव' था और इस कारण पीछे से किसी भी प्रकारकी क्षति पहुंचाना इससे प्रकट होने लगा, पर विशेषकर विभाग करने, काटने, कुचलने या कभी-कभी जलानेकी क्षति पहुंचाना। बलके वाचक बहुतसे शब्द ऐसे हैं जो मूलमें 'क्षति पहुंचानेका सामर्थ्य' इस अर्थको रखते थे, योद्धा और घातककी आक्रामक शक्तिके द्योतक थे, जो एक ऐसी शक्ति थी जिसकी आदिकालके मनुष्यके लिये बहुत अधिक कीमत थी, क्योंकि उससे वह बलके प्रयोगसे उस भूमि पर अपना स्थान बना सकता था जिसे उसने उत्तराधिकारमें पाया होता था। इस शृंखलाको हम साधारण संस्कृतके शक्तिवाची शब्द 'बलम्'में भी देखते हैं जो उसी परिवार-का है, जिसका ग्रीक शब्द 'बलो' (Ballo) जिसका अर्थ है 'प्रहार करना' और बैलोस (Belos) जिसका अर्थ है शस्त्र। 'दक्ष' शब्दका जो 'बल' अर्थ लिया जाता है उसका भी मूल यही है।

पर विभाग करनेका यह विचार भाषा-विकासके मनोविज्ञानमें हमें एक बिल्कुल दूसरे ही विचार-क्रमकी ओर भी ले गया, क्योंकि जब मनुष्यकी यह इच्छा हुई कि उसके पास मानसिक विचारोंके लिये भी शब्द हों तो उसके पास सबसे सुलभ प्रणाली यह थी कि वह भौतिक क्रियाके रूपोंको ही मानसिक क्रियामें भी प्रयुक्त करने लगे। इस प्रकार भौतिक विभाग या पृथक्करणको मानसिक क्रियामें प्रयुक्त किया गया, जो वहाँ परिवर्तित होकर 'भेद करना' इस अर्थको देने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले तो यह चाक्षुष प्रत्यक्षके द्वारा भेद करनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ और पीछेसे मानसिक पृथक्करण, विवेचन, निर्धारणके अर्थको देने लगा। इसी प्रकार 'विद्' धातु जिसका संस्कृतमें अर्थ पाना या जानना है, ग्रीक और लेटिनमें 'देखना' अर्थको देती है। दर्शनार्थक 'दृश्' धातुका मूलमें अर्थ था चीरना, फाड़ डालना, पृथक् करना; दर्शनार्थक 'पश्' धातुमें भी मूल अर्थ यही था। हमारे सामने लगभग एक-सी ही तीन धातुएं हैं जो इस विषयमें बहुत बोध-प्रद हैं,—'पिस्' चोट मारना, क्षति पहुंचाना, बलवान् होना; 'पिष्' चोट मारना, क्षति पहुंचाना, बलवान् होना, कुचलना, चूरा करना; और 'पिश्' रूप देना, आकृति गढ़ना, निर्माण करना, घटक अवयवोंमें पृथक् होना। इन सारे अर्थोंसे पृथक् करने, विभाजित करने, काटकर टुकड़े करनेका जो मौलिक अर्थ है उसका पता चल जाता है। इसके साथ हम देखें इन धातुओंसे बने यौगिक शब्द 'पिशाच'को जो असुरके अर्थमें आता है और 'पिशुन'को जिसका अर्थ एक तरफ तो कठोर, क्रूर, दुष्ट, धोखेबाज, चुगल-

खोर है,—ये सारे अर्थ क्षति पहुंचानेके विचारमें से ही लिये गये हैं,—तथा साथ ही दूसरी तरफ इसके अर्थ, 'सूचना देनेवाला, व्यक्त करनेवाला, दर्शानेवाला, स्पष्ट करनेवाला' भी हैं, जो कि दूसरे 'भेद'के अर्थसे निकले हैं। ऐसे ही 'कृ' धातु जिसका अर्थ क्षति पहुंचाना, विभक्त करना, बखेरना है, ग्रीक क्रिनो (Krino)में देखनेमें आती है जिसका अर्थ है मैं छानता हूं, चुनता, निर्धारण करता, निश्चय करता हूं। दक्षका भी यही इतिहास है। इसका सम्बन्ध 'दश्' धातुसे है जिसका लैटिनमें एक रूप है 'डोसियो' (Docco) अर्थात् मैं सिखाता हूं और ग्रीक में है 'डोकिओ' (Dokeo) अर्थात् मैं विचारता, परखता हूं, गिनता हूं और 'डोकाजो' (Dokazo), मैं निरीक्षण करता हूं, सम्मति रखता हूं।

इसी प्रकार हमारे पास इसकी सजातीय धातु 'दिश्' है, जिसका अर्थ होता है अंगुलिनिर्देश करना या सिखाना, ग्रीकमें 'डेक्नुमि' (Deiknumi)। स्वयं दक्ष शब्दके ही लगभग बिल्कुल समरूप ग्रीक 'डौक्स' (Doxa) है जिसका अर्थ होता है सम्मति, निर्णय और 'डैक्सिअस' (Dexios) है जिसका अर्थ है चतुर, कुशल, दक्षिण-हस्त। संस्कृतमें दक्ष धातुका अर्थ चोट मारना, मार डालना है, साथ ही समर्थ होना, योग्य होना भी है। विशेषणरूपमें 'दक्ष'का अर्थ होता है चतुर, प्रवीण, समर्थ, योग्य, सावधान, सचेत। 'दक्षिण'का अर्थ 'डेक्सिअस'की तरह चतुर, कौशलयुक्त, दक्षिण-हस्त है, और संज्ञावाची 'दक्ष'का अर्थ बल तथा दुष्टता भी होता ही है जो चोट पहुंचानेके अर्थसे निकलता है, पर इसके अतिरिक्त इस परिवारके अन्य शब्दोंकी तरह इसका अर्थ मानसिक क्षमता या योग्यता भी होता है। हम इसके साथ 'दशा' शब्दकी भी तुलना कर सकते हैं जो मन, बुद्धिके अर्थमें आता है। इन सब प्रमाणोंको इकट्ठा कर लेने पर पर्याप्त स्पष्ट तौरसे यह निर्देश मिलता प्रतीत होता है कि एक समयमें 'दक्ष'का अर्थ विवेचन, निर्धारण, विवेचक विचारशक्ति अवश्य रहा होगा और इसका मानसिक क्षमताका अर्थ मानसिक विभाजन (विवेचन)के इस अर्थसे लिया गया है, न कि यह बात है कि शारीरिक बलका विचार मनकी शक्तिमें बदल गया और इस तरीकेसे यह अर्थ निकला।

इसलिये वेदमें दक्षके लिये तीन अर्थ सम्भव हो सकते हैं, सामान्यतः बल, मानसिक शक्ति या विशेषतः निर्धारणकी शक्ति—विवेचन। 'दक्ष' निरन्तर 'क्रतु'के साथ मिला हुआ आता है, ऋषि इन दोनोंकी एक साथ अभीप्सा करते हैं 'दक्षाय क्रत्वे' (जैसे 1-111-2, 4-37-2, 5-43-5 में) जिसका सीधा अर्थ हो सकता है, 'क्षमता और साधक शक्ति' अथवा 'विवेक

और संकल्प'। लगातार हम इस शब्दको उन संदर्भोंमें पाते हैं जहाँ सारा प्रकरण मानसिक व्यापारोंका वर्णन कर रहा होता है। अन्तिम बात यह है कि हमारे सामने देवी 'दक्षिणा' है जो 'दक्ष'का ही स्त्रीलिंग रूप हो सकती है, जो दक्ष अपने-आपमें एक देवता था और बादमें पुराणमें आदिम पिता, प्रजापतियोंमेंसे एक माना जाने लगा। हम देखते हैं कि 'दक्षिण'का सम्बन्ध ज्ञानके अभिव्यक्तीकरणके साथ है और कहीं-कहीं हम यह भी पाते हैं कि उषाके साथ इसकी एकात्मता कर दी गयी है, उस दिव्य उषाके साथ जो प्रकाशको लानेवाली है। मैं यह सुझाव दूँगा कि 'दक्षिणा' अपेक्षया अधिक प्रसिद्ध 'इळा', 'सरस्वती' और 'सरमा'के समान ही उन चार देवियोंमेंसे एक है जो 'ऋतम्' या सत्यचेतनाकी चार शक्तियोंकी द्योतक हैं; 'इळा' सत्य-दर्शन या दिव्य स्वतःप्रकाश (Revelation)की द्योतक है; 'सरस्वती' सत्य-श्रवण, दिव्य अन्तःप्रेरणा (Inspiration) या दिव्य शब्दकी, 'सरमा' दिव्य अन्तर्ज्ञान (Intuition) की और 'दक्षिणा' विभेदक अन्तर्ज्ञानमय विवेक (Separative intuitional discrimination) की। तो 'दक्ष'का अर्थ होगा यह विवेक, चाहे यह मनोमय स्तरमें होनेवाला मानसिक निर्धारण हो अथवा 'ऋतम्'के स्तरका अन्तर्ज्ञानमय विवेचन।

ये तीन ऋचाएं, जिनके सम्बन्धमें हम विचार कर रहे हैं, उस एक सूक्तका अन्तिम संदर्भ हैं जिसकी सबसे पहली तीन ऋचाएं अकेले वायुको सम्बोधित करके कही गयी हैं और उससे अगली तीन इन्द्र और वायुको। मन्त्रोंकी अध्यात्म-परक व्याख्याके अनुसार इन्द्र, जैसा कि हम आगे देखेंगे, मनःशक्तिका प्रतिनिधि है। ऐन्द्रियक ज्ञानकी साधनभूत शक्तियोंके लिये प्रयुक्त होनेवाला 'इंद्रिय' शब्द इस 'इन्द्र'के नामसे ही लिया गया है। उसका मुख्य लोक 'स्वः' है, इस 'स्वः' शब्दका अर्थ सूर्य या प्रकाशमान है, यह सूर्यवाची 'सूर' और 'सूर्य'का सजातीय है और तीसरी वैदिक व्याहृति तथा तीसरे वैदिक लोकके लिये प्रयुक्त होता है जो विशुद्ध, अन्धकाररहित व अनाच्छादित मनका लोक है। सूर्य द्योतक है 'ऋतम्'के उस प्रकाशका जो मन पर उदित होता है, 'स्वः' मनोमय चेतनाका वह लोक है जो साक्षात् रूपसे इस प्रकाशको ग्रहण करता है। दूसरी ओर 'वायु'का सम्बन्ध हमेशा प्राण या जीवन-शक्तिके साथ है। यह जीवन-शक्ति हमारे नाड़ी-संस्थानको वे सारी-की-सारी वातिक क्रियाएँ प्रदान करती है जो मनुष्यके अन्दर इन्द्रके द्वारा अधिष्ठित मानसिक शक्तियोंका अवलम्ब होती हैं। इन दोनों, इन्द्र और वायुके संयोगसे ही मनुष्यकी साधारण मनोवृत्ति बनी है। इस सूक्तमें इन दोनों देवताओंको निमन्त्रित किया गया है कि वे आयें और

दोनों मिलकर सोम-रसको पीनेमें हिस्सा लें। यह सोम-रस उस आनन्दकी मस्तीका, सत्ताके उस दिव्य आनन्दका प्रतिनिधि है जो अतिमानस चेतनासे उद्भूत होकर 'ऋतम्' या सत्यमेंसे होता हुआ मनमें प्रवाहित होता है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें हमें वेदमें असंख्यों प्रमाण मिलते हैं; विशेषकर नवम मण्डलमें जिसमें सोमदेवताको कहे गये सौसे ऊपर सूक्तोंका संग्रह है। यदि हम इन व्याख्याओंको स्वीकार कर लें, तो हम आसानीके साथ इस सूक्तको इसके अध्यात्म-परक अर्थमें अनूदित कर सकते हैं।

इन्द्र और वायु, सोम-रसके प्रवाहोंके प्रति चेतनामें जागृत रहते हैं (चेतथः); अभिप्राय यह कि मनःशक्ति और प्राण-शक्तिको मनुष्यकी मनोवृत्तिमें एक साथ कार्य करते हुए, ऊपरसे आनेवाले इस आनन्दके, इस अमृतके, इस परम सुख और अमरताके अन्तःप्रवाहके प्रति जागृत होना है। वे उसे मनोमय तथा वातिक शक्तियोंकी पूर्ण प्रचुरतामें अपने अन्दर ग्रहण करती हैं, **चेतथः सुतानां वाजिनीवसू** (पाँचवां मन्त्र)। इस प्रकार ग्रहण किया हुआ आनन्द एक नयी क्रिया करता है, जो मर्त्यके अन्दर अमर चेतनाका सृजन करती है और इन्द्र तथा वायुको निमन्त्रित किया गया है कि वे आयें और विचारके योगदान द्वारा इन नयी क्रियाओंको शीघ्रताके साथ पूर्ण करें, **आयातम् उप निष्कृतम् मक्षु धिया** (छठा मंत्र)। क्योंकि 'धी' है विचार-शक्ति, बुद्धि या समझ। यह 'धी' इन्द्र तथा वायुकी संयुक्त क्रिया द्वारा प्रदर्शित होनेवाली साधारण मनोवृत्तिके और 'ऋतम्' या सत्य-चेतनाके मध्य-वर्तिनी है, इन दोनोंके बीच में स्थित है।

ठीक इसी स्थल पर वरुण और मित्र बीचमें आते हैं और हमारा संदर्भ शुरू होता है। अध्यात्म-सम्बन्धी उपर्युक्त सूत्रको बिना पाये इस सूक्तके पहिले हिस्से और अन्तिम हिस्सेमें परस्परसम्बन्ध बहुत स्पष्ट नहीं होता, न ही वरुण-मित्र तथा इन्द्र-वायु इन युगलोंमें कोई स्पष्ट सम्बन्ध दीखता है। उस सूत्रके पा लेने पर दोनों सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं; वस्तुतः वे एक दूसरे पर आश्रित हैं। क्योंकि सूक्तके पहले भागका विषय है—पहले तो प्राण-शक्तियोंकी तैयारी, जिनका द्योतक वायु है, जिस अकेले का पहिली तीन ऋचाओंमें आह्वान किया गया है, फिर मनोवृत्तिकी तैयारी जो इन्द्र-वायुके जोड़ेसे प्रकटकी गयी है, जिससे मनुष्यके अन्दर सत्यचेतना-की क्रियाएं हो सकें; सूक्तके अन्तिम भागका विषय है—मानसिक वृत्ति पर इस प्रकार सत्यकी क्रियाका होना जिससे कि बुद्धि पूर्ण हो और कार्यों-का रूप व्यापक हो। वरुण और मित्र उन चार देवताओंमेंसे दो हैं जो मनुष्यके मन और स्वभावमें होनेवाली सत्यकी इस क्रियाके प्रतिनिधि हैं।

यह वेदकी शैली है कि उसमें जब कोई इस प्रकारका विचार-संक्रमण होता है—विचारकी एक धारा उसमेंसे विकसित हुई दूसरी धारामें बदलती है—तो उनके सम्बन्धकी कड़ी प्रायः इस प्रकार दर्शाई जाती है कि नयी धारामें एक ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्दको दुहरा दिया जाता है जो पूर्ववर्ती धारा-की समाप्तिमें पहले भी आ चुका होता है। इस प्रकार यह नियम, जिसे कोई 'प्रतिध्वनि द्वारा सूचना देनेका नियम' यह नाम दे सकता है, सूक्तोंमें व्यापक रूपसे पाया जाता है और यह सभी ऋषियोंकी एक-सी पद्धति है। दो धाराओंको जोड़नेवाला शब्द यहाँ 'धी' है, जिसका अर्थ है विचार या बुद्धि। 'धी' मतिसे भिन्न है, जो अपेक्षया अधिक साधारण शब्द है। मति शब्दका अर्थ होता है, सामान्यतया मानसिक वृत्ति या मानसिक क्रिया, और यह कभी विचारका, कभी अनुभवका तथा कभी सारी ही मानसिक दशाका निर्देश करता है। 'धी' है विचारक मन या बुद्धि, बुद्धि (समझ)के रूपमें यह जो इसके पास आता है उसे धारण करती है, प्रत्येक वस्तुका स्वरूप निर्धारित करती है और उसे उचित स्थानमें रखती है,[1] अथवा यों कहना चाहिये कि 'धी' प्रायः बुद्धिकी, विशिष्ट विचार या विचारोंकी क्रियाको निर्दिष्ट करती है। विचार (धी)के द्वारा ही इन्द्र और वायुका आवाहन किया गया है कि वे आकर वातिक (प्राणमय) मनोवृत्तिको पूर्णता प्राप्त करायें, **निष्कृतं धिया**। पर यह उपकरण, 'विचार', स्वयं ऐसा है जिसे पूर्ण करनेकी, समृद्ध करनेकी, शुद्ध करनेकी आवश्यकता है, इससे पहिले कि मन सत्यचेतनाके साथ निर्बाध संसर्ग करनेके योग्य हो सके। इसलिये वरुण और मित्रका, जो सत्यकी शक्तियाँ हैं, इस रूपमें आवाहन किया गया है कि वे 'एक अत्यधिक प्रकाशमय विचारको पूर्ण करनेवाले' **धियं घृताचीं साधन्ता** हैं।

वेदमें यहीं पहले-पहल घृत शब्द आया है, एक प्रकारसे परिणत हुए विशेषणके रूपमें आया है और यह अर्थपूर्ण बात है कि वेदमें बुद्धिके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'धी'का विशेषण होकर आया है। दूसरे संदर्भोंमें भी हम इसे सतत रूपसे 'मनस्', 'मनीषा' शब्दोंके साथ संबद्ध पाते हैं अथवा उन प्रकरणोंमें देखते हैं जहाँ विचारकी किसी क्रियाका निर्देश है। 'घृ' धातुसे एक तेज चमक या प्रचण्ड तापका विचार प्रकट होता है, वैसी चमक या तापका जैसा अग्नि या ग्रीष्मकालीन सूर्यका होता है। इसका अर्थ सिंचन या अभ्यंजन भी है जो ग्रीक धातु 'क्रिओ' (chrio)का अर्थ है। एवं

---

1. 'धी' धातुका अर्थ होता है धारण करना या रखना।

इसका प्रयोग किसी तरल (क्षरित होनेवाले) पदार्थके लिये हो सकता है, पर मुख्यतया चमकीले, घने द्रवके लिये। तो इन दो संभावित अर्थोंके कारण घृत शब्दकी जो द्वयर्थकता है उसका ऋषियोंने यह लाभ उठाया कि बाह्य रूपसे तो इस शब्दसे यज्ञमें काम आनेवाला घी सूचित हो और आभ्यन्तर रूपमें मस्तिष्क-शक्ति, मेधाकी समृद्ध और उज्ज्वल अवस्था या क्रिया जो प्रकाशमय विचारका आधार और सार है। इसलिये धियं घृताचीम्से अभिप्राय है वह बुद्धि जो समृद्ध और प्रकाशमय मानसिक क्रियासे भरपूर हो।

वरुण और मित्रकी जो बुद्धिकी इस अवस्थाको सिद्ध या परिपूर्ण करते हैं, दो पृथक्-पृथक् विशेषणोंसे विशेषता बतायी गयी है। मित्र है पूतदक्ष, एक पवित्रीकृत विवेकसे युक्त, वरुण रिशादस् है, सब हिंसकों या शत्रुओंका विनाश करनेवाला है। वेदमें कोई भी विशेषण सिर्फ शोभाके लिये नहीं लगाया जाता। प्रत्येक शब्द कुछ अभिप्राय रखता है, अर्थमें कुछ नयी बात जोड़ता है और जिस वाक्यमें यह आता है, उस वाक्यसे प्रकट होनेवाले विचारके साथ इसका घनिष्ठ संबंध होता है। दो बाधाएँ हैं जो बुद्धिको सत्य-चेतनाका पूर्ण और प्रकाशमय दर्पण बननेसे रोकती हैं। पहली तो है विवेक या विवेचनाशक्तिकी अपवित्रता जिसका परिणाम सत्यमें गड़बड़ी पड़ जाना होता है। दूसरे वे अनेक कारण या प्रभाव हैं जो सत्यके पूर्ण प्रयोगको सीमामें बाँधकर अथवा इसे व्यक्त करनेवाले विचारोंके संबंधों और सामंजस्योंको तोड़कर सत्यकी वृद्धिमें हस्तक्षेप करते हैं और इस प्रकार, परिणामतः, इसके विषयोंमें दरिद्रता तथा मिथ्यापन ले आते हैं। जैसे देवता वेदमें सत्य-चेतनासे अवतरित हुई उन सार्वत्रिक शक्तियोंके प्रतिनिधि हैं जो लोकोंके सामंजस्यका और मनुष्यमें उसकी वृद्धिशील पूर्णताका निर्माण करती हैं, ठीक वैसे ही जो विरोधी शक्तियाँ इन उद्देश्योंके विरोधमें काम करनेवाले प्रभावोंका प्रतिनिधित्व करती हैं वे 'दस्यु' और 'वृत्र' हैं, जो तोड़ना, सीमित करना, रोक रखना और निषेध करना चाहती हैं। वरुणकी वेदमें सर्वत्र यह विशेषता दिखलाई गयी है कि वह विशालता तथा पवित्रताकी शक्ति है, इसलिये जब वह मनुष्यके अंदर सत्यकी जागृत शक्तिके रूपमें आकर उपस्थित हो जाता है तब उसके संस्पर्शसे वह सब जो दोष, पाप, बुराईके प्रवेश द्वारा स्वभावको सीमित करनेवाला और क्षति पहुँचानेवाला होता है, विनष्ट हो जाता है। वह 'रिशादस्' है, शत्रुओंका, उन सबका जो वृद्धिको रोकना चाहते हैं, विनाश करनेवाला है। मित्र जो वरुणकी तरह प्रकाश और सत्यकी एक शक्ति है, मुख्यतया प्रेम, आह्लाद, समस्वरताका द्योतक है, जो वैदिक निःश्रेयस 'मयस्'का आधार हैं। वरुणकी पवित्रताके

साथ कार्य करता हुआ और उस पवित्रताको विवेकमें लाता हुआ वह विवेकको इस योग्य कर देता है कि यह सब बेसुरेपन और गड़बड़ीसे मुक्त हो जाय तथा दृढ़ और प्रकाशमय बुद्धिके सही व्यापारको स्थापित कर सके।

यह प्रगति सत्यचेतनाको, 'ऋतम्'को मनुष्यकी मनोवृत्तिमें कार्य करने योग्य बना देती है। सत्यरूपी साधनसे, 'ऋतेन', मनुष्यके अन्दर सत्यकी क्रियाको बढ़ाते हुए, 'ऋतावृधा', सत्यका स्पर्श करते हुए या सत्य तक पहुँचते हुए, अभिप्राय यह कि मनोमय चेतनाको सत्यचेतनाके साथ सफल संस्पर्शके योग्य और उस सत्यचेतनाको अधिगत करने योग्य बनाते हुए, ऋतस्पृशा', मित्र और वरुण विशाल कार्यसाधक संकल्पशक्तिको उपयोगमें लानेका आनंद लेने योग्य होते हैं, **क्रतुं बृहन्तम् आशाथे**। क्योंकि संकल्प ही आभ्यन्तर यज्ञका मुख्य कार्य-साधक अंग है, परन्तु संकल्प ऐसा जो सत्यके साथ समस्वर है और इसीलिये जो पवित्रीकृत विवेक द्वारा ठीक मार्ग में प्रवर्तित है। यह संकल्प जितना ही अधिकाधिक सत्यचेतनाके विस्तारमें प्रवेश करता है, उतना ही वह स्वयं भी विस्तृत और महान् होता जाता है, अपने दृष्टिकोणकी सीमाओंसे तथा अपनी कार्यसिद्धिमें रुकावट डालनेवाली बाधाओंसे मुक्त होता जाता है। यह कार्य करता है "उरौ अनिबाधे", उस विस्तारमें जहाँ कोई भी बाधा या सीमाकी दीवार नहीं है।

इस प्रकार दो अनिवार्य चीजें जिनपर वैदिक ऋषियोंने सदा बल दिया है, प्राप्त हो जाती हैं, प्रकाश और शक्ति, ज्ञानमें कार्य करता हुआ सत्यका **प्रकाश, धियं घृताचीम्**, और कार्यसाधक तथा प्रकाशमय संकल्पमें कार्य करती हुई सत्यकी **शक्ति, क्रतुं बृहन्तम्**। परिणामतः, सूक्तकी अन्तिम ऋचामें मित्र और वरुणको अपने सत्यके पूर्ण अर्थमें कार्य करते हुए दर्शाया गया है, **कवी तुविजाता उरुक्षया**। हम देख चुके हैं कि 'कवि'का अर्थ है सत्यचेतनासे युक्त और दर्शन, अन्तःप्रेरणा, अन्तर्ज्ञान, विवेककी अपनी शक्तियोंका उपयोग करनेवाला। 'तुविजाता' है "बहुरूपमें उत्पन्न", क्योंकि 'तुवि' जिसका मूल अर्थ है बल या शक्ति, फ्रेंच शब्द फोर्स (Force) के समान 'बहुत'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। पर देवताओंके उत्पन्न होनेका अभिप्राय वेदमें हमेशा उनके अभिव्यक्त होनेसे होता है, इस प्रकार 'तुविजाता' का अभिप्राय निकलता है "बहुत प्रकारसे अभिव्यक्त हुए", बहुत-से रूपोंमें और बहुत-सी क्रियाओंमें अभिव्यक्त हुए। 'उरुक्षया'का अर्थ है विस्तारमें निवास करनेवाले, यह एक ऐसा विचार है जो वेदमें बहुधा आता है, 'उरु' बृहत् अर्थात् महान्का पर्यायवाची है और यह सत्यचेतनाकी निःसीम स्वाधीनताको सूचित करता है।

इस प्रकार 'ऋतम्'की बढ़ती हुई क्रियाओंका परिणाम हम यह पाते हैं कि मानवसत्तामें विस्तार और पवित्रताकी, आह्लाद और समस्वरताकी शक्तियोंका व्यक्तीकरण होता जाता है, एक ऐसा व्यक्तीकरण जो रूपोंमें समृद्ध, 'ऋतम्'की विशालतामें प्रतिष्ठित और अतिमानस चेतनाकी शक्तियोंका उपयोग करनेवाला होता है।

सत्यकी शक्तियोंका यह व्यक्तीकरण, जिस समय यह कार्य कर रहा होता है, विवेकको धारित करता है या इसे दृढ़ करता है, **'दक्षं दधाते अपसम्'**। विवेक जो अब पवित्र और सुधृत हो गया है, सत्यकी शक्तिके रूपमें सत्यकी भावनामें कार्य करता है और विचार तथा संकल्प को उन सब त्रुटियों तथा गड़बड़ियोंसे मुक्त करता है जो उनकी क्रिया और परिणामों में आनेवाली होती हैं और इस प्रकार इन्द्र और वायुकी क्रियाओंकी पूर्णताको सिद्ध करता है।

इस संदर्भके पारिभाषिक शब्दोंकी हमने जो व्याख्याकी है उसे पुष्ट करनेके लिये हम चौथे मण्डलके दसवें सूक्तकी एक ऋचा उद्धृत कर सकते हैं।

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥ ४. १०. २

"वस्तुतः तभी, हे अग्ने, तू सुखमय संकल्पका, सिद्ध करनेवाले विवेकका, विशाल सत्यका रथी होता है।" यहाँ हम वही विचार पाते हैं जो प्रथम मण्डलके महिले सूक्तमें है अर्थात् कार्यसाधक संकल्पका जो सत्यचेतनाका स्वभाव है, 'कविक्रतुः', और इसलिये जो महान् सुखकी एक अवस्थामें भलाई को, 'भद्रम्'को निष्पन्न करता है। 'दक्षस्य साधोः' इस वाक्यांशमें हम दूसरे सूक्तके अन्तिम वाक्यांश, 'दक्षम् अपसम्'का एक मिलता-जुलता रूप तथा स्पष्टीकरण पाते हैं, 'दक्षस्य साधोः'का अर्थ है वह विवेक जो मनुष्यमें आन्तरिक कार्यको पूर्ण और सिद्ध करता है। बृहत् सत्यको हम इन दो क्रियाओंकी, बलक्रिया और ज्ञानक्रियाकी, संकल्प और विवेककी, 'क्रतु' और 'दक्ष'की पूर्णावस्थाके रूपमें पाते हैं।

इस प्रकारसे एक-सी संज्ञाओंको और एक-से विचारोंको तथा विचारोंके एक-से परस्पर संबंधको फिर-फिर प्रस्तुत करते हुए वैदिक सूक्त सदा एक-दूसरेको पुष्ट करते हैं। यह सम्भव नहीं हो सकता था यदि उनका आधार कोई ऐसा सुसम्बद्ध न होता जिसमें इस प्रकारकी स्थायी संज्ञाओं जैसे कवि, क्रतु, दक्ष, भद्रम्, ऋतम् आदिके कोई निश्चित ही अर्थ होते हों। स्वयं ऋचाओंकी अन्तःसाक्षी ही इस बातको स्थापित कर देती है कि उनके ये अर्थ अध्यात्म-

परक हैं, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो परिभाषाएं, संज्ञाएं अपने निश्चित महत्त्वको, नियत अर्थको और अपने आवश्यक पारस्परिक संबंधको खो देती हैं, और एक दूसरेके साथ संबद्ध होकर उनका बार-बार आना केवल आकस्मिक तथा युक्ति या प्रयोजनसे शून्य हो जाता है।

तो हम यह देखते हैं कि दूसरे सूक्तमें हम फिर उन्हीं प्रधान नियामक विचारोंको पाते हैं जिन्हें पहले सूक्तमें। सब कुछ अतिमानस या सत्यचेतना के उस केन्द्रभूत वैदिक विचारपर आश्रित है जिसकी ओर कि क्रमशः पूर्ण होती जाती हुई मानवीय मनोवृत्ति इस रूपमें पहुँचनेका यत्न करती है कि वह परिपूर्णताकी ओर और अपने लक्ष्यकी ओर जा रही है। प्रथम सूक्तमें इसका प्रतिपादन केवल इस रूपमें किया गया है कि यह यज्ञका लक्ष्य है और अग्निका विशेष कार्य है। दूसरा सूक्त मनुष्यकी साधारण मनोवृत्तिकी तैयारीके प्राथमिक कार्यका निर्देश करता है, यह तैयारी इन्द्र और वायु द्वारा, मित्र और वरुण द्वारा आनन्दकी शक्तिसे और सत्यकी प्रगतिशील वृद्धिसे संपन्न की जाती है।

हम यह पायेंगे कि सारा-का-सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूपसे इस द्विविध विषयपर ही सतत रूपसे चक्कर काट रहा है, मनुष्यकी अपने मन और शरीरमें तैयारी और सत्य तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति और विकासके द्वारा अपने अन्दर देवत्व या अमरत्वकी परिपूर्णता साधित करना।

आठवां अध्याय

अश्विन्, इन्द्र, विश्वेदेवाः

मधुच्छन्दस्का तीसरा सूक्त फिर सोमयज्ञका सूक्त है। इसके पूर्ववर्ती दूसरे सूक्तकी तरह यह भी तीन-तीन मन्त्रोंकी शृंखलाओंसे जुड़कर बना है। इसमें ऐसी चार शृंखलाएं हैं। पहिली शृंखला अर्थात् पहिले तीन मन्त्र अश्विनोंको संबोधित किये गये हैं, दूसरे इन्द्रको, तीसरे 'विश्वेदेवाः'को और चौथे देवी सरस्वतीको। इस सूक्तमें भी हमें अन्तकी कड़ी में, जिसमें सरस्वतीका आवाहन है, एक ऐसा संदर्भ मिलता है जो स्पष्ट अध्यात्मपरक भाव रखता है, और वस्तुतः वह उनकी अपेक्षा कहीं अधिक साफ है जो संदर्भ अबतक हमें वेदके रहस्यमय विचारको समझनमें सहायक हुए हैं।

परन्तु यह सारा-का-सारा सूक्त अध्यात्मपरक संकेतोंसे भरा हुआ है और इसमें हम वह परस्पर घनिष्ठ संबन्ध, बल्कि वह तादात्म्य पाते हैं जिसे वैदिक ऋषि मानव-आत्माकी रुचिके तीन मुख्य विषयोंमें स्थापित करना और पूर्ण करना चाहते थे, वे तीन विषय ये ह—**विचार** तथा इसके अन्तिम विजयशाली **प्रकाश, कर्म** तथा इसके चरम श्रेष्ठतम सर्वसाधक बल, **भोग** तथा इसके सर्वोच्च आत्मिक आनन्द। सोम-रस प्रतीक है हमारे सामान्य ऐन्द्रियक सुखभोगको दिव्य आनन्दमें रूपान्तरित कर देनेका। यह रूपान्तर हमारी विचारमय क्रियाको दिव्य बनानेके द्वारा सिद्ध होता है, और जैसे-जैसे यह क्रमशः बढ़ता है वैसे-वैसे यह अपनी उस दिव्यीकरणकी क्रियाको भी पूर्ण बनानेमें सहायक होता है जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जाता है। गौ, अश्व, सोमरस ये इस त्रिविध यज्ञके प्रतीकचिह्न हैं। 'घृत' अर्थात् घीकी हवि जो गायसे मिलती है, घोड़ेकी हवि, 'अश्वमेध', सोमके रसकी हवि—ये इसके तीन रूप या अंग हैं। अपेक्षाकृत कम प्रधान एक और हवि है अपूपकी, जो संभवतः शरीरका, भौतिक वस्तुका प्रतीक है।

प्रारम्भमें दो अश्विनोंका आवाहन किया गया है जो अश्वोंवाले हैं, 'घुड़सवार' हैं, प्राचीन भूमध्यतटवर्ती गाथाशास्त्रके कैस्टर (Castor) तथा पोलीडयूसस (Polydeuces) हैं। तुलनात्मक गाथाशास्त्रोंकी कल्पना यह है कि ये अश्विन् दो युगल तारोंको सूचित करते हैं, जो तारे किसी कारण आकाशीय तारासमूहके अन्य तारोंकी अपेक्षा अधिक भाग्यवान् थे

कि आर्यलोग इनकी विशेष पूजा करते थे। तो भी आइये हम देखें कि जिस सूक्तका हम अध्ययन कर रहे हैं उसमें इनके विषयमें क्या-क्या वर्णन किया गया है। सबसे पहले इनका वर्णन आता है, "अश्विन्, तीव्रगामी, सुखके देवता, बहुत आनन्द-भोग करनेवाले—द्रवत्पाणी शुभस्पती पुरुभुजा।" 'रत्न' और 'चन्द्र' शब्दोंके समान 'शुभ' शब्दका अर्थ किया जा सकता है या तो प्रकाश या भोग; परन्तु इस संदर्भमें यह "पुरुभुजा,—बहुत सुखभोग करनेवाले" इस विशेषणके साथ और "धनस्यतम्,—आनन्द लो" इस क्रियाके साथ आया है और इसलिये इसे 'भला' या 'सुख'के अर्थमें लेना चाहिये।

आगे इन युगलदेवताओंका वर्णन आता है, "अश्विन्, जो बहुकर्मा दिव्य आत्माएं हैं—'पुरुदंससा नरा', विचारको धारण करनेवाले हैं—'धिष्ण्या', जो मन्त्रकी वाणियोंको स्वीकार करते हैं और उनमें प्रमुदित होते हैं—'वनतं गिरः', एक बलवान् विचारके साथ 'शवीरया धिया'।" 'नृ' वेदमें देवताओं और मनुष्यों दोनोंके लिये प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ खाली मनुष्य ही नहीं होता, मैं समझता हूं, प्रारम्भमें इसका अर्थ था 'बलवान्' या 'क्रियाशील' और फिर इसका अर्थ हो गया 'पुरुष', और इसका प्रयोग पुल्लिग देवोंके लिये, कर्मण्य दिव्य आत्माओं या शक्तियोंके लिये, 'पुरुषाः' के लिये हुआ है जो उन स्त्रीलिंगी देवताओं, 'ग्ना'से उल्टे हैं, जो उन पुल्लिग देवोंकी शक्तियां हैं। फिर भी ऋषियोंके मनोंमें बहुत अंशोंमें इसका प्रारंभिक मौलिक अर्थ सुरक्षित रहा, जैसे कि हमें बलवाची 'नृम्ण' शब्दसे और "नृतमो नृणाम्" अर्थात् दिव्य शक्तियोंमें सबसे अधिक बलवान्, इस वाक्यांश से पता लगता है। 'शवस्' और इससे बना विशेषणरूप 'शवीर' बलके भाव को देते हैं, परन्तु ज्वाला और प्रकाशका अगला विचार भी सदा इसके साथ रहता है; इसलिये 'शवीर' 'धी'के लिये बहुत ही उपयुक्त विशेषण है, विचार जो प्रकाशमय या विद्योतमान शक्तिसे भरपूर है। 'धिष्ण्या'का संबन्ध 'धिषणा' अर्थात् बुद्धि या समझके साथ है और इसका सायणने अनुवाद किया है, बुद्धिसे युक्त, 'बुद्धिमन्तौ'।

आगे फिर अश्विनोंका वर्णन आता है, 'जो कर्ममें सही उतरनेवाले हैं, गतिकी शक्तियां हैं, अपने मार्ग पर भीषणताके साथ गति करनेवाले हैं',—दस्रा, नासत्या, रुद्रवर्तनी। 'दस्र', 'दस्म' इन वैदिक विशेषणोंका अनुवाद निरपेक्ष भावसे सायणने अपनी मनकी मौज या सुभीतेके अनुसार 'नाशक' या 'दर्शनीय' या 'दानी' कर दिया है। मैं इसे 'दस्' धातुके साथ जोड़ता हूं, पर 'दस्'का अर्थ मैं यहां काटना या विभक्त करना नहीं लेता जिससे कि नाश करने और दान करनेके दो अर्थ निकलते हैं, नाहीं इसका अर्थ

'विवेक, दर्शन' लेता हूं जिससे सायणने सुन्दरका, 'दर्शनीय'का अर्थ लिया है, परन्तु मैं इसे कर्म करने, क्रिया करने, आकृति देने, पूर्ण करनेके अर्थमें लेता हूं, जैसा कि दूसरी ऋचामें 'पुरुदंससा'में है। नासत्याके विषयमें कइयोंने यह कल्पनाकी है कि यह गोत्र-नाम है, प्राचीन वैयाकरणोंने बड़े बुद्धिकौशलके साथ इसके लिये 'सच्चे, जो असत्य नहीं हैं' यह अर्थ गढ़ लिया था; परन्तु मैं इसकी निष्पत्ति चलनार्थक 'नस्' धातुसे करता हूं। हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि अश्विन् घुड़सवार हैं, कि उनका वर्णन बहुधा गतिसूचक विशेषणोंसे हुआ है, जैसे 'तीव्रगामी' (द्रवत्पाणी), 'अपने मार्ग पर रुद्रताके साथ चलनेवाले' (रुद्रवर्तनी); कि ग्रीसो-लैटिन (Graeco-Latin) गाथाशास्त्रमें कैस्टर (Castor) और पोलक्स (Pollux) समुद्रयात्रामें नाविकोंकी रक्षा करते हैं और तूफानमें तथा जहाज टूट जाने पर उन्हें बचाते हैं, और यह कि ऋग्वेदमें भी ये उन शक्तियोंके सूचक हैं जो ऋषियोंको नौकाकी तरह पार ले जाती हैं अथवा उन्हें समुद्रमें डूबनेसे बचाती हैं। इसलिये 'नासत्या'का यह बिल्कुल उपयुक्त अर्थ जान पड़ता है कि जो समुद्रयात्राके, प्रयाणके देवता हैं या प्रगतिकी शक्तियां हैं। 'रुद्र-वर्तनी'का भाष्य अर्वाचीन विद्वानोंने किया है "लाल रास्तेवाले" और यह मान लिया है कि यह विशेषण तारोंके लिये बिल्कुल उपयुक्त है और वे उदाहरणके लिये इसके समान दूसरे शब्द 'हिरण्यवर्तनी'को प्रस्तुत करते हैं, जिसका अर्थ होता है 'सुनहरे या चमकीले रास्तेवाले'। 'रुद्र'का अर्थ एक समयमें "चमकीला, गहरे रंगका, लाल" यह अवश्य रहा होगा, जैसे 'रुष्' और 'रुश्' धातु इस अर्थके वाचक हैं, जैसे रुधिर, 'रक्त' या 'लाल'का वाचक है, अथवा जैसे लैटिन भाषाके रुबर (ruber), रुटिलस (rutilus) रुफस (rufus)—इन सबका अर्थ 'लाल' है। 'रोदसी'का, जो आकाश तथा पृथिवीके अर्थमें एक द्वन्द्ववाची शब्द है, संभवतः अर्थ था, "चमकीले" जैसे कि आकाशीय तथा पार्थिव लोकोंके वाचक दूसरे वैदिक शब्दों 'रजस्' और 'रोचना'का है। दूसरी ओर क्षति और हिंसाका अर्थ भी इस शब्द-परिवारमें समान रूपसे अन्तर्निहित है और लगभग उन सब विविध धातुओंमें जिनसे ये बनते हैं, पाया जाता है। इसलिये 'रुद्र'का 'भीषण' या 'प्रचण्ड' यह अर्थ भी उतना ही उपयुक्त है, जितना "लाल"। अश्विन् दोनों हैं 'हिरण्यवर्तनी' तथा 'रुद्रवर्तनी', क्योंकि वे प्रकाशकी और प्राण-बलकी, दोनों-की शक्तियां हैं; पहले रूपमें उनकी चमकीली सुनहरी गति होती है, पिछले रूपमें वे अपनी गतियोंमें प्रचण्ड होते हैं। एक मन्त्र (5.75.3)में हम स्पष्ट इकट्ठा पाते हैं 'रुद्रा हिरण्यवर्तनी', रौद्र तथा प्रकाशके मार्गमें चलने-

वाले, अब इस मन्त्रवचनमें अभिप्रायकी संगतिका यदि जरा भी ख्याल किया जाय तो यह अर्थ हमारी समझमें नहीं आ सकता कि तारे तो लाल हैं पर उनकी गति या उनका मार्ग सुनहरा है।

फिर यहाँ, इन तीन ऋचाओंमें आध्यात्मिक व्यापारोंकी एक असाधारण शृंखला है, क्या वह एक आकाशीय तारामण्डलके दो तारों पर लागू होगी! यह स्पष्ट है कि यदि अश्विनोंका प्रारम्भिक भौतिक स्वरूप कभी यह था भी, तो वे ग्रीक गाथाशास्त्रकी भांति यहाँ भी अपने विशुद्ध तारासंबंधी स्वरूपको चिरकालसे खो चुके हैं और उन्होंने एथेनी (Athene), उषाकी देवी,की तरह एक आध्यात्मिक स्वरूप और व्यापारोंको पा लिया है। वे घोड़ेकी, 'अश्व'की सवारी करनेवाले हैं, जो अश्व शक्तिका और विशेषकर जीवन-शक्ति और वातशक्तिका—प्राणका—प्रतीक है। उनका सामान्य स्वरूप यह है कि वे आनन्द-भोगके देवता हैं, मधुको खोजनेवाले हैं, वे वैद्य हैं, वे फिरसे बूढ़ेको जवानी, रोगीको आरोग्य, अंगहीनको संपूर्णांगता प्राप्त करा देते हैं। उनका एक दूसरा स्वरूप तीव्र, प्रचण्ड, अधृष्य गतिका है, उनका वेगवान् अजेय रथ स्तुतिका सतत पात्र है और यहाँ उनका वर्णन इस रूप-में किया गया है कि वे तीव्रगामी हैं और अपने मार्ग पर प्रचण्डतासे चलने-वाले हैं। वे अपनी तीव्रतामें पक्षियोंके समान, मनके समान, वायुके समान हैं (देखो 5.77.3 और 78-1)[1]। वे अपने रथमें मनुष्यके लिये परिपक्व या परिपूर्ण सन्तुष्टियोंको भरकर लाते हैं, वे आनन्दके, 'मयस्'के, निर्माता हैं। ये निर्देश पूर्णरूपसे स्पष्ट हैं।

इनसे मालूम होता है कि अश्विन् दो युगल दिव्य शक्तियाँ हैं, जिनका मुख्य व्यापार है मनुष्यके अन्दर क्रिया तथा आनन्दभोगके रूपमें वातमय या प्राणमय सत्ताको पूर्ण करना। परन्तु साथ ही वे सत्यकी, ज्ञानयुक्त कर्म-की ओर यथार्थ भोगकी शक्तियाँ भी हैं। ये वे शक्तियाँ हैं जो उषा के साथ प्रकट होती हैं, क्रियाकी वे अमोघ शक्तियाँ हैं जो चेतनाके समुद्रमेंसे पैदा हुई हैं (सिंधुमातरा), और जो दिव्य (देवा) होनेके कारण सुरक्षित रूपसे उच्चतर सत्ताके ऐश्वर्योंको मनोमय कर सकती हैं (मनोतरा रयीणाम्), उस विचार-शक्तिके द्वारा मनोमय कर सकती हैं जो उस सच्चे तत्त्वको और सच्चे ऐश्वर्यको पा लेती है या जान लेती है (धिया वसुविदा)—

या वत्रा सिन्धुमातरा, मनोतरा रयीणाम् ।
धिया देवा वसुविदा ॥ (१.४६.२)

---

1. मनोजवा अश्विना वातरंहा, 5.77.3 ; ईसाविव पततम्, 5.78.1

इस महान् कार्यके लिये वे उस प्रेरक शक्ति (इषम्)को देते हैं (रास्) जो अपने स्वरूप और सारवस्तुके रूपमें अपनेमें सत्यकी ज्योतिको रखती हुई (ज्योतिष्मती) मनुष्यको अन्धकारसे परे ले जाती है (तमस्तिरः पीपरत्),

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः।
तामस्मे रासाथामिषम्॥ (1. 46. 6)

वे मनुष्यको अपनी नौकामें बैठाकर उस परले किनारे पर पहुंचा देते हैं जो विचारों तथा मानव मनकी अवस्थाओंसे परे है, अर्थात् जो अतिमानस चेतना है—नावा मतीनां पाराय (1. 46. 7)। 'सूर्या' जो सत्यके देवता सूर्यकी दुहिता है, उनकी वधू बनकर उनके रथ पर आरूढ़ होती है।

प्रस्तुत सूक्तमें अश्विनोंका आवाहन इस रूपमें किया गया है कि वे आनन्दके तीव्रगामी देवता हैं, वे अपने साथ अनेक सुखभोगोंको रखते हैं, वे आकर यज्ञकी प्रेरक शक्तियोंमें आनन्द लेवें—**यज्वरीः इषः...धत्तमस्मत्।** ये प्रेरक शक्तियाँ, स्पष्ट ही, सोमरसके पीनेसे अर्थात् दिव्य आनन्दके अन्तःप्रवाहसे उत्पन्न होती हैं। क्योंकि अर्थपूर्ण वाणियाँ (गिरः) जिन्हें चेतनामें नवीन रचनाओंको करना है, पहलेसे ही उठ रही हैं, यज्ञका आसन बिछाया जा चुका है, सोमके शक्तिशाली रस निचोड़े जा चुके हैं[1]। अश्विनोंको क्रियाकी अमोघ शक्तियोंके, 'पुरुदंससा नरा'के रूपमें आना है वाणियोंमें आनन्द लेनेके लिये और उन्हें बुद्धिके अन्दर स्वीकार करनेके लिये जहाँ कि वे प्रकाशमय शक्तिसे परिपूर्ण विचारके द्वारा क्रियाके लिये धारित रखी जायंगी।[2] उन्हें सोम-रसकी हविके समीप आना है, इसलिये कि वे यज्ञकी क्रियाको निष्पन्न कर सकें, 'दस्रा', उन्हें क्रियाको पूर्ण करनेवालोंके रूपमें आना है और उन्हें इसे पूर्ण करना है क्रियाके आनंदको अपनी वह भीषण गति प्रदान करके 'रुद्रवर्तनी' जो उन्हें बेरोकटोक उनके मार्ग पर ले जाती है और सब विरोधोंको दूर कर देती है। वे आते हैं इस रूपमें कि वे आर्योंकी यात्राकी शक्तियाँ हैं, महान् मानवीय प्रगतिके अधिपति हैं, नासत्या। सब जगह हम देखते हैं कि जो चीज इन घोड़ेके सवारोंको देनी है वह शक्ति ही है; उन्हें आनन्द लेना है यज्ञिय शक्तियोंमें, वाणीको ग्रहण करना है एक शक्तिशाली विचारमें ऊपर ले जानेको, यज्ञको वह गति देनी है जो मार्ग पर चलनेकी उनकी अपनी भीषण गति है। और शक्तिकी इस मांगका उद्देश्य यह है कि क्रिया कार्य-साधक बन जाय और महान् यात्रामें वेग आ जाय।

---

1. युवाकवः सुता वृक्तबर्हिषः।
2. शवीरया धिया धिष्ण्या वनतं गिरः।

मैं पाठकके ध्यानको विचारकी उस स्थिरताकी ओर और रचनाकी उस संगतिकी ओर तथा रूपरेखाकी उस सुबोध स्पष्टता और निश्चयात्मकताकी ओर सतत रूपसे आकर्षित करूंगा जो अध्यात्मपरक व्याख्याके द्वारा ऋषियों-के विचारमें आ जाती हैं, और इस अध्यात्मपरक व्याख्यासे कितनी भिन्न हैं वे उलझी हुई, अव्यवस्थित और असंगत तथा असंबद्ध व्याख्याएं जो वेदों-की इस अत्युच्च परंपराकी उपेक्षा कर देती हैं कि वेद विद्याकी और गंभीर-तम ज्ञानकी पुस्तक है।

तो हम पहली तीन ऋचाओंका यह अर्थ पाते हैं—

"ओ घोड़ेके सवारो, तेज चालवालो, बहुत अधिक आनन्द लेनेवालो, सुखके अधिपतियो, तुम आनन्द लो यज्ञकी शक्तियोंमें।"

"ओ घोड़ेके सवारो, अनेकरूप कर्मोंको निष्पन्न करनेवाले नर आत्माओ, वाणियोंका आनन्द लो, ओ तुम प्रकाशमय शक्तिसे युक्त विचारके द्वारा बुद्धि-में धारण करनेवालो।"

"मैंने यज्ञका आसन बिछा दिया है, मैंने शक्तिशाली सोमरसोंको निचोड़ लिया है; क्रियाको पूर्ण करनेवालो, प्रगतिकी शक्तियो! उन रसोंके पास तुम आओ, अपनी उस भीषण गतिके साथ जिससे तुम मार्ग पर चलते हो।"

जैसे कि दूसरे सूक्तमें वैसे ही इस तीसरेमें भी ऋषि प्रारम्भमें उन देवताओंका आवाहन करता है जो वातिक या प्राणिक शक्तियोंमें कार्य करते हैं। पर वहाँ उसने पुकारा था 'वायु'को जो प्राणकी शक्तियोंको देता है, अपने जीवनके घोड़ोंको लाता है; यहाँ वह "अश्विनौ"को पुकारता है जो प्राणकी शक्तियोंका प्रयोग करते हैं, उन घोड़ों पर सवार होते है। जैसे कि दूसरे सूक्तमें वह प्राण-क्रिया या वातिक क्रियासे मानसिक क्रिया पर आया था, वैसे ही यहाँ वह अपनी दूसरी शृंखलामें 'इन्द्र'की शक्तिका आवाहन करता है। निचोड़े हुए आनन्द-रस उसे चाहते हैं, **सुता इमे त्वायवः**। वे प्रकाशयुक्त मनको चाहते हैं कि वह आवे और आकर अपनी क्रियाओंके लिये उन्हें अपने अधिकारमें ले ले। वे शुद्ध किये हुए हैं 'अग्वीभिस्तना', सायणकी व्याख्याके अनुसार, "अंगुलियों द्वारा और शरीर द्वारा" पर जैसा मुझे इसका अर्थ प्रतीत होता है उसके अनुसार "पवित्र मनकी सूक्ष्म विचार-शक्तियोंके द्वारा और भौतिक चेतनामें हुए विस्तारके द्वारा"। क्योंकि ये "दस अंगुलियाँ", यदि ये अंगुलियाँ ही हों तो, सूर्याकी दस अंगुलियाँ हैं, जो सूर्या सूर्यकी दुहिता है, अश्विनोंकी वधू है। नवम मण्डलके प्रथम सूक्तमें यही ऋषि मधुच्छंदस् इसी विचारको विस्तारसे कहता है, जिसे यहाँ वह इतने अधिक संक्षेपसे कह गया है। वह 'सोम'के देवताको संबोधित करता

हुआ कहता है, "सूर्यकी दुहिता तेरे सोमको शुद्ध करती है, जब कि यह सतत विस्तारके द्वारा इसके छाननेकी चलनीमें बहकर चारों ओर फैल जाता है", **वारेण शश्वता तना।**[1] तुरंत इसके साथ ही वह यह भी कह जाता है, "सूक्ष्म शक्तियाँ अपने प्रयत्नमें (या महान् कार्यमें, संघर्षमें, अभीप्सामें, 'समर्ये') इसे ग्रहण करती हैं, जो दस वधुएं हैं, बहिनें हैं, उस आकाशमें जिसे पार करना है।"[2] यह एक ऐसा वाक्य है जो एकदम अश्विनोंकी उस नौकाका स्मरण करा देता है जो हमें विचारोंसे परे उस पार पहुंचा देती है; क्योंकि आकाश (द्यौ) वेदमें विशुद्ध मानसिक चेतनाका प्रतीक है, जैसे कि पृथिवी भौतिक चेतनाका। ये बहिनें जो विशुद्ध मनके अन्दर रहती हैं, जो सूक्ष्म, 'अप्वी:' हैं, दस वधुएं, 'दश योषणा:' हैं, दूसरी जगह कही गयी हैं दस प्रक्षेप्त्री, 'दश क्षिप:', क्योंकि ये सोमको ग्रहण करती और इसे अपने मार्गमें गति दे देती हैं। ये संभवत: वे ही हैं जिन्हें वेदमें कहीं-कहीं **दस किरणें, दश गाव:** कहा गया है। वे इस रूपमें वर्णित की गयी प्रतीत होती हैं कि वे सूर्यकी पौत्रियाँ या संतान हैं, **नप्तीभि: विवस्वत:** (9-14-5)। उपर्युक्त शुद्ध किये जानेके कार्यमें विचारमय चेतनाके सात रूप, 'सप्त धीतय:' इनकी सहायता करते हैं। आगे हमें यह कहा गया है कि "अपने आशुगामी रथोंके साथ शूरवीर हुआ-हुआ सोम सूक्ष्म विचारकी शक्तिके द्वारा, 'धिया अप्व्या', आगे बढ़ता है और इन्द्रकी पूर्ण क्रियाशीलता (या उसके पूर्ण क्षेत्र) तक पहुंचता है और दिव्यताके उस विशाल विस्तार (या निर्माण) तक पहुंचनेमें, जहाँ अमर देवता रहते हैं, वह विचारके अनेक रूपोंको ग्रहण करता है"। (9-15-1,2)

एष पुरू धियायते बृहते देवतातये।
यत्रामृतास आसते॥

मैंने इस विषयपर कुछ विस्तारसे विचार इसलिये किया है कि यह दिखा सकूं कि किस प्रकार वैदिक ऋषियोंका सोमवर्णन पूर्णतया प्रतीकात्मक है और कितना अधिक यह अध्यात्मपरक विचारोंसे घिरा हुआ है, जैसा कि उसे अच्छी प्रकार पता लग जायगा, जो नवम मण्डलमेंसे गुजरनेका यत्न करेगा, जिसमें प्रतीकात्मक अलंकारोंकी शोभा अत्यधिक प्रकट हुई है और जो अध्यात्मपरक संकेतोंसे भरपूर है।

वह चाहे कैसे भी क्यों न हो, यहाँ मुख्य विषय सोम और इसका

---

1. पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥ 9-1-6
2. तमीमण्वीः समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश। स्वसारः पार्ये दिवि॥ 9-1-7

शोधन नहीं है, बल्कि इन्द्रका आध्यात्मिक व्यापार है। इन्द्रको इस रूपमें संबोधित किया गया है कि वह अत्यधिक चित्रविचित्र दीप्तियोंवाला है, **इन्द्र चित्रभानो**। सोमरस उसे चाहते हैं। वह आता है विचार से प्रेरित किया हुआ, प्रकाशयुक्त विचारकसे अंदरसे आगे गति दिया हुआ, **धियेषितो विप्रजूतः**, उस ऋषिके आत्मिक विचारोंके पास जो आनन्दकी मदिराको निचोड़ चुका है, और उन विचारोंको वाणीमें, अन्तःप्रेरित मंत्रोंमें व्यक्त करना चाहता है, **सुतावतः उप ब्रह्माणि वाघतः**। वह आता है उन विचारोंके पास, प्रकाशयुक्त मनःशक्तिकी गति और वेगके साथ, अपने उज्ज्वल घोड़ोंसे युक्त, **तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः**। और ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि वह आकर सोमकी हविमें आनन्दको दृढ़ करे या थामे, **सुते दधिष्व नश्चनः**। अश्विनौ आनन्दकी क्रियामें प्राण-संस्थानके सौख्यको ले आये हैं और उसे शक्ति दे दी है। ऋषिको इन्द्रकी आवश्यकता है कि वह आकर उस सौख्यको प्रकाशयुक्त मनके अंदर दृढ़तासे थाम ले, ताकि वह चेतनामेंसे निकलकर गिर न पड़े।

"आ, हे इन्द्र! अपनी अत्यधिक दीप्तियोंके साथ, ये सोमरस तुझे चाह रहे हैं; ये शुद्ध किये हुए हैं सूक्ष्म शक्तियोंके द्वारा और शरीरमें हुए विस्तारके द्वारा।"

"आ, हे इन्द्र! मेरे आत्मिक विचारोंके पास आ, मन द्वारा प्रेरित हुआ-हुआ, प्रकाशयुक्त विचारके द्वारा आगे गति दिया हुआ, जिस मैंने सोमरसको अभिषुत कर लिया है और जो मैं अपने उन आत्मिक विचारोंको वाणीमें व्यक्त करना चाह रहा हूँ।"

"आ, हे इन्द्र! अपनी वेगवान् गतिके साथ मेरे आत्मिक विचारोंके पास आ, हे चमकीले घोड़ोंके अधिपति! तू आ; आनन्दको दृढ़ताके साथ सोमरसमें थाम ले।"

आगे चलकर ऋषि "विश्वेदेवाः" सभी देवताओं अथवा किन्हीं विशेष 'सब देवताओं' पर आता है। इस विषयमें विवाद है कि इन 'विश्वेदेवाः'की अपनी कोई विशेष श्रेणी है अथवा यह शब्द केवल सामान्य रूपसे सभी देवताओंका वाचक है। मैं इसे इस रूपमें लेता हूँ कि इस पदका अर्थ है सामूहिक रूपमें विश्वकी सब दिव्य शक्तियाँ, क्योंकि जिन मन्त्रोंमें इनका आवाहन किया गया है उन मन्त्रोंके वास्तविक अर्थप्रकाशनमें यह भाव मुझे अधिक-से-अधिक अनुकूल प्रतीत होता है। इस सूक्तमें उन्हें एक सामान्य क्रियाके लिये पुकारा गया है जो अश्विनों तथा इन्द्रके व्यापारोंमें सहायक होती है और उन्हें पूर्ण करती है। उन्हें सामूहिक रूपसे यज्ञमें आना है

और उस सोमको अपने बीचमें बाँट लेना है जिसे यज्ञकर्त्ता उन्हें समर्पित करता है; **विश्वे देवास आगत, दाश्वांसो दाशुषः सुतम्**; स्पष्ट ही इसलिये कि प्रत्येक अपने उचित व्यापारको दिव्य रूपसे तथा आह्लादक रूपसे कर सके। अगली ऋचामें और अधिक आग्रहके साथ इसी प्रार्थनाको दोहराया गया है; वे सोमकी हविके पास जल्दीसे पहुँचें, **तूर्णयः**, अथवा इसका यह अर्थ हो सकता है कि वे आवें चेतनाके सभी स्तरों, 'जलों', के बीचमेंसे अपना मार्ग बनाते हुए, उन्हें पार करके आते हुए, जो स्तर कि मनुष्यकी भौतिक प्रकृतिको उनके देवत्वसे पृथक् किये हुए हैं और पृथ्वी तथा आकाशके बीचमें संसर्ग स्थापित करनेमें बाधाओंसे भरे हुए हैं; **अप्तुरः सुतमागन्त तूर्णयः**। वे आयें, उन गौओंकी तरह जो सांध्य वेलामें अपने आश्रय-स्थानों पर पहुँचनेकी जल्दीमें होती हैं, **उस्रा इव स्वसराणि**। इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक पहुँचकर वे प्रसन्नतापूर्वक यज्ञको स्वीकार करें और यज्ञसे संलग्न रहें तथा यज्ञको वहन करें, जिससे कि लक्ष्यकी तरफ अपनी यात्रामें, देवोंके प्रति या देवोंके घर—**सत्य, बृहत्**—के प्रति अपने आरोहणमें इस यज्ञ को वहन करते हुए वे इसे अन्त तक पहुँचा दें, **मेधं जुषन्त वह्नयः**।

इसी प्रकार 'विश्वेदेवाः'के विशेषण भी, जो उनके उन स्वरूप तथा व्यापारों-को बताते हैं जिनके लिये वे सोम-हविके पास निमन्त्रित किये गये हैं, सबके लिये समान हैं; वे सब देवताओंके लिये एकसे हैं और सारे वेदमें वे उनमेंसे किसीके लिये भी अथवा सभीके लिये समान रूपसे प्रयुक्त किये गये हैं। वे हैं मनुष्यके प्रतिपालक या परिवर्द्धक और कर्ममें, यज्ञमें उसके श्रम तथा प्रयत्नको अवलंब देनेवाले, **ओमासश्चर्षणीधृतः**। सायणने इन शब्दोंका अर्थ किया है, रक्षक तथा मनुष्योंके धारक। यहाँ इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि इन शब्दोंको मैं जो अर्थ देना पसंद करता हूं उसके विषयमें पूरे-पूरे प्रमाण उपस्थित करनेमें प्रवृत्त होऊं; क्योंकि भाषा-विज्ञान-की जिस प्रणालीका मैं अनुसरण करता हूं उसे मैं पहले ही दिखा चुका हूं। सायणको स्वयमेव यह अशक्य प्रतीत हुआ है कि वह उन शब्दोंका सदा रक्षा अर्थ ही करे, जो अव् धातुसे बने अवस्, ऊति, ऊमा आदि शब्द हैं, जिनका वेदमन्त्रोंमें बहुत ही बाहुल्य पाया जाता है, और वह बाध्य होकर एक ही शब्दका भिन्न-भिन्न संदर्भोंमें अत्यधिक भिन्न तथा संबन्धरहित अर्थ करता है। इसी प्रकार, जहाँ 'चर्षणि' और 'कृष्टि' इन दो सजातीय शब्दों-के लिये जब ये अकेले आते हैं यह आसान है कि इन्हें 'मनुष्य'का अर्थ दे दिया जाय, वहाँ यह 'मनुष्य' अर्थ इनके समस्त रूपोंमें, जैसे कि 'विचर्षणि', 'विश्वचर्षणि', 'विश्वकृष्टि'में बिना किसी कारणके विलुप्त हो जाता है।

सायण स्वयं इसके लिये बाध्य हुआ है कि वह विश्व-चर्षणिका अर्थ 'सर्वद्रष्टा' करे, न कि 'सब मनुष्य' या 'सर्व-मानवीय'। मैं यह नहीं मानता कि नियत वैदिक संज्ञाओंके अर्थोंमें इस प्रकारकी बिलकुल निराधार विभिन्नताएं संभव हो सकती हैं। 'अव्'के अर्थ हो सकते हैं होना, रखना, रख छोड़ना, धारण करना, रक्षा करना, बन जाना, रचना करना, पोषण करना, वृद्धि करना, फलना-फूलना, समृद्ध होना, खुश करना, खुश होना; पर वृद्धि करने या पालन-पोषण करनेका अर्थ ही मुझे वेदमें प्रधानतया प्रचलित प्रतीत होता है। 'चर्ष्' और 'कृष्' ये धातुएं मूलमें 'चर्' तथा 'कृ'से निकली थीं, जिन दोनोंका ही अर्थ है 'करना', और श्रमसाध्य क्रिया या गतिका अर्थ 'कृष्' (खींचना, हल जोतना)में अब भी विद्यमान है। इसलिये 'चर्षणि' और 'कृष्टि'का अर्थ है प्रयत्न, श्रमसाध्य क्रिया या कर्म अथवा इस प्रकारकी क्रियाको करनेवाले। ये उन अनेक शब्दों (कर्म, अपस्, कार, कीरि, दुवस् आदि)मेंसे दो हैं जो वैदिक कर्मको, यज्ञको, अभीप्सा करती हुई मानवताके प्रयासको, आर्योंकी 'अरति'को दर्शानेके लिये प्रयुक्त किये गये हैं।

मनुष्यकी जो सारभूत वस्तु है उस सबमें और उसकी सब प्राप्तियोंमें उसका पोषण या वृद्धि करना, बृहत् सत्य-चेतनाकी पूर्णता और समृद्धताकी ओर उसे सतत वृद्धिगत करना, उसके महान् संघर्ष और प्रयासमें उसे सहारा देना—यह है वैदिक देवताओंका सामान्य व्यापार। फिर वे हैं 'अप्तुरः', वे जो जलोंको पारकर जाते हैं, या जैसा सायण इसका अर्थ करता है, वे जो जलोंको देते हैं। इसका अर्थ वह "वृष्टि-दाता" समझता है, और यह पूर्णतया सच है कि सभी वैदिक देवता वर्षाके, आकाशसे आनेवाली बहुतायत-के (क्योंकि 'वृष्टि'के दोनों अर्थ होते हैं) देनेवाले हैं। इस बहुतायतका कहीं-कहीं इस रूपमें वर्णन हुआ है—सौर जल, 'स्वर्वतीः अपः' (ऋ. 5-2-11) अथवा वे जल जो ज्योतिर्मय आकाशके, 'स्वः'के प्रकाशको अपने अन्दर रखते हैं। परन्तु वेदमें समुद्र और उसके जल, जैसा कि यह वाक्यांश स्वयं ही निर्देश करता है, प्रतीक हैं चेतनामय सत्ताके, उसके समुदायके और उसकी गतियोंके। देवता इन जलोंकी पूर्णताको बरसाते हैं, विशेषकर उपरले जलोंकी, उन जलोंकी जो आकाशके जल हैं, सत्यकी धाराएं हैं, 'ऋतस्य धाराः', और वे सब बाधाओंको पार करके मानवीय चेतनाके अन्दर जा पहुंचते हैं। इस अर्थमें वे सब 'अप्तुरः' हैं। परन्तु साथ ही मनुष्यका भी इस रूपमें वर्णन हुआ है कि वह जलों को पार करके सत्य-चेतनाके अपने घरमें पहुंचता है और वहाँ देवता उसे पार पहुंचाते हैं; यह विचारणीय है कि कहीं 'अप्तुरः'का वास्तविक अर्थ यहाँ यह ही तो नहीं है, विशेषकर जब कि

'अप्तुरः.....तूर्णयः' इन दो शब्दोंको हम एक दूसरेके आसपास एक ऐसे सम्बन्ध में रखा हुआ पाते हैं जो बड़ी अच्छी तरह अर्थपूर्ण हो सकता है।

फिर ये सभी देवता किन्हीं आक्रामकोंके (स्निध्) आक्रमण हो सकनेसे सर्वथा मुक्त हैं, चोट पहुंचानेवाली या विरोधी शक्तियोंकी हानि (द्रोह)से रहित हैं और इसलिये उनके सचेतन ज्ञानकी सर्जक रचनाएँ, उनकी 'मायाः' स्वच्छन्द रूपसे, व्यापक रूपसे गति करती हैं, अपने ठीक उद्देश्यको प्राप्त कर लेती हैं—**अस्निध एहिमायासो अद्रुहः**। यदि हम वेदके उन अनेक संदर्भोंको ध्यानमें लायें जिनमें यह निर्देश किया गया है कि यज्ञ, कर्म, यात्रा, प्रकाशकी वृद्धि तथा जलोंकी अधिकताका सामान्य उद्देश्य सत्यचेतना, 'ऋतम्' की इसके परिणामभूत सुख, 'मयस्'के सहित प्राप्ति है, तथा इस बातपर विचार करें कि 'विश्वेदेवाः'के ये विशेषण सामान्य रूपसे असीम, पूर्ण सत्य-चेतनाकी शक्तियों पर घटते हैं, तो हम यह समझ सकते हैं कि सत्यकी यह उपलब्धि ही इन तीन ऋचाओंमें निर्दिष्ट हुई है। ये 'विश्वेदेवाः' मनुष्यकी वृद्धि करते हैं, ये उसे महान् कार्यमें सहारा देते हैं, ये उसके लिये 'स्वः'के जलोंकी प्रचुरताको, सत्यकी धाराओंको लाते हैं, ये सत्य-चेतनाकी अधृष्य रूपसे पूर्ण तथा व्यापक क्रियाका इसके ज्ञानकी विशाल रचनाओं, 'मायाः'के साथ संसर्ग स्थापित करते हैं।

'उस्रा इव स्वसराणि' इस वाक्यांशका अनुवाद मैंने यथासंभव अधिक-से-अधिक बाह्य अर्थमें किया है; पर वेदमें काव्यमय उपमाएं भी केवलमात्र शोभाके लिये बहुत ही कम या कहीं भी नहीं प्रयुक्त की गई हैं; उनका प्रयोग भी आध्यात्मिक अर्थको गहरा करनेके लिये एक प्रतीकात्मक अथवा दोहरे अर्थके अलंकारके साथ किया गया है। वेदमें 'उस्रा' शब्द 'गो' शब्दके समान ही, हर जगह दोहरे अर्थमें प्रयुक्त होता है, अर्थात् यह मूर्त आलंकारिक रूप या प्रतीक, बैल या गाय, के अर्थको देता है और साथ ही आध्यात्मिक अभिप्रायका, चमकीली या ज्योतिर्मय वस्तुओंका, मनुष्यके अन्दर जो सत्यकी प्रकाशमय शक्तियाँ हैं उनका भी निर्देश करता है। ऐसी प्रकाशमय शक्तियों-के तौर पर ही 'विश्वेदेवाः'को आना होता है, और वे सोम-रसोंके पास आते हैं, 'स्वसराणि', मानो कि वे शान्ति या सुखके आसनों या रूपों पर आ रहे हों; क्योंकि 'स्वस्' धातु, 'सस्' तथा अन्य कई धातुओंके समान, दोनों अर्थ रखती है, विश्राम करना और आनन्द लेना। वे विश्वेदेवाः सत्य-की शक्तियां हैं जो मनुष्यके अन्दर होनेवाले आनन्दके सतत प्रवाहोंमें प्रवेश करती हैं, ज्यों ही कि इस कार्यकी अश्विनोंकी प्राण-क्रिया तथा मानसिक क्रियाकेद्वारा और इन्द्रकी विशुद्ध मानसिक क्रियाके द्वारा तैयारी हो चुकी होती है।

"ओ पालन-पोषण करनेवालो, जो कर्ताको उसके कर्ममें सहारा दिये रहते हो, धारे रखते हो, ओ सब-देवो, आओ और बाँट लो उस सोमरसको, जिसे मैं वितरित कर रहा हूं।"

"ओ सब-देवताओ, जो हमें जलोंको ऊपरसे लाकर देते हो, पार उतरकर आते हुए तुम मेरी सोमकी हवियोंके पास आओ, प्रकाशमय शक्तियोंके तौर पर अपने सुखके स्थानों पर आओ।"

"ओ सब-देवताओ, तुम जो आक्रांत नहीं हो सकते हो, जिनको हानि नहीं पहुंचायी जा सकती है, अपने ज्ञानके रूपोंमें स्वच्छन्दताके साथ गति करते हुए तुम आकर मेरे यज्ञके साथ संलग्न रहो, उसके वहन करनेवाले होकर।"

और अन्तमें, सूक्तकी अन्तिम शृंखलामें हम सत्य-चेतनाका इस रूपमें स्पष्ट और असंदिग्ध निर्देश पाते हैं कि वह यज्ञका ध्येय है, सोम-हविका उद्दिष्ट लक्ष्य है, प्राणशक्तिमें और मनमें अश्विनोंका, इन्द्रका और विश्वेदेवाःका जो कार्य है उसकी चरम कोटि है। क्योंकि ये तीन ऋचाएं 'सरस्वती'को, दिव्य वाणीको अर्पितकी गई हैं, जो अन्तःप्रेरणाकी उस धाराको सूचित करती है जो सत्यचेतनासे अवरोहण करती है, उतरती है, और इस प्रकार निर्मल स्पष्टताके साथ उन ऋचाओंका आशय यह निकलता है—

"पावक सरस्वती, समृद्धिके अपने रूपोंकी संपूर्ण समृद्धताके साथ, विचारके द्वारा साररूपी ऐश्वर्यवाली होकर हमारे यज्ञको चाहे।"

"वह, सुखमय सत्योंकी प्रेरयित्री, चेतनामें सुमतियोंको जागृत करनेवाली सरस्वती यज्ञको धारण करती है।"

"सरस्वती ज्ञानद्वारा, बोधद्वारा चेतनाके अन्दर बड़ी भारी बाढ़को (ऋतम्‌की व्यापक गतिको) जागृत करती है और समस्त विचारोंको प्रकाशित कर देती है।"

इस सूक्तका यह स्पष्ट और उज्ज्वल अन्त उस सबपर अपना प्रकाश डालता है जो इस सूक्तमें पहले आ चुका है। यह वैदिक यज्ञ के तथा मन और आत्माकी एक अवस्थाके बीच घनिष्ठ संबन्ध दर्शाता है, घी और सोम-रसकी हवि और प्रकाशयुक्त विचार, आध्यात्मिक अन्तर्निहित ऐश्वर्यकी समृद्धि, मनकी सम्यक् अवस्थाएं और सत्य तथा प्रकाशकी ओर इसकी जागृति और प्रवृत्ति, इनमें अन्योन्याश्रयता दर्शाता है। यह सरस्वतीकी प्रतिमाको इस रूपमें प्रकट करता है कि वह अन्तःप्रेरणाकी, 'श्रुति'की देवी है। और यह वैदिक नदियों तथा मनकी आध्यात्मिक अवस्थाओंके बीच संबन्ध स्थापित करता है। यह संदर्भ उन प्रकाशभरे संकेतोंमेंसे एक है जिन्हें

ऋषियोंने अपनी प्रतीकात्मक शैलीकी जानबूझकर रची गयी अस्पष्टार्थताओंके बीचमें कहीं-कहीं बिखरे रूपमें रख छोड़ा है, ताकि वे हमें उनके रहस्य तक पहुंचानेमें हमारे पथप्रदर्शक हो सकें।

नवां अध्याय

सरस्वती और उसके सहचारी

वेदका प्रतीकवाद देवी सरस्वतीके अलंकारमें अपने आपको अत्यधिक स्पष्टताके साथ प्रकट कर देता है, छुपा नहीं रख सकता। बहुतसे अन्य देवताओंमें आन्तरिक अर्थका तथा बाह्य अलंकारका संतुलन बड़ी सावधानीके साथ सुरक्षित रखा गया है। वेदवाणीके सामान्य श्रोता तकके लिये ऐसा तो होता है कि अलंकारका वह आवरण कहीं-कहीं पारदर्शक हो जाता है या कहीं-कहींसे उसके कोने उठ जाते हैं, पर यह कभी नहीं होता कि वह बिलकुल ही हट जाय। कोई यह संदेह कर सकता है कि 'अग्नि' क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि यज्ञिय आगका या पदार्थोंमें रहनेवाले प्रकाश या ताप के भौतिक तत्त्वका मानवीकृत रूप है; अथवा 'इन्द्र' क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि वह आकाश और वर्षाका या भौतिक प्रकाश (विद्युत्) का देव है; अथवा 'वायु' इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि वह आंधी और पवनमें रहनेवाला या अधिक-से-अधिक भौतिक जीवन-श्वासका देवता है। पर अपेक्षाकृत छोटे देवताओंके विषयमें प्रकृतिवादी व्याख्यापर विश्वास करनेके लिये बहुत कम आधार है। क्योंकि यह प्रकट है कि 'वरुण' केवल वेदका यूरेनस (Uranus) या नैपचून (Neptune) ही नहीं है, परंतु वह एक ऐसा देवता भी है जिसके बड़े महान् और महत्त्वपूर्ण नैतिक व्यापार हैं। 'मित्र' और 'भग' का भी इसी प्रकारका आध्यात्मिक स्वरूप है। 'ऋभु' जो मनके द्वारा वस्तुओंकी रचना करते हैं और कर्मोंके द्वारा अमरताका निर्माण करते हैं, कठिनतासे ही कूटे-पीटे जाकर प्रकृतिवादी गाथाशास्त्रके प्रोक्रस्टियन[1] सांचेमें ढाले जा सकते हैं। फिर भी वैदिक ऋचाओंके कवियोंके सिर पर विचारोंकी अस्तव्यस्तता और गड़बड़ीका दोष मढ़कर इस कठिनताको हटाया नहीं तो कुचला तो जा ही सकता है।

---

1. ग्रीक गाथाशास्त्रमें प्रोक्रस्टी नामक एक असुर था जो सब लोगों को अपनी चारपाईके बिलकुल अनुकूल कर लेता था, जो लंबे होते थे उनके पैर काट देता था, जो छोटे होते थे उनको खींचकर उतना लम्बा कर देता था। उससे प्रोक्रस्टियन शब्द बना है, जिसका अर्थ है जबरदस्ती काट-छांटकर, खींचतान कर अनुकूल बनानेवाला।
—अनुवादक

पर 'सरस्वती' तो इस प्रकारके किसी भी उपायके वशमें नहीं होगी। वह तो सीधे तौरसे और स्पष्ट ही वाणी की देवी है, एक दिव्य अन्तःप्रेरणाकी देवी है।

यदि सब कुछ इतना ही होता, तो यह हमें इस स्पष्ट तथ्यसे विशेष अधिक दूर नहीं ले जाता कि वैदिक ऋषि केवल प्रकृतिवादी जंगली नहीं थे, बल्कि वे अपने आध्यात्मिक विचार रखते थे और गाथात्मक प्रतीकोंकी रचना करनेमें समर्थ थे, जो प्रतीक कि न केवल भौतिक प्रकृतिके उन स्पष्ट व्यापारोंको सूचित करते थे जिनका सरोकार उनके कृषिसंबंधी, पशुपालन-संबंधी तथा उनके खुली हवामें रहनेके जीवनसे था पर साथ ही वे मन तथा आत्माके आन्तरिक व्यापारोंके सूचक भी थे। यदि हम प्राचीन धार्मिक विचारके इतिहासको यों समझें कि यह एक क्रमिक विकास है जो प्रकृति और जगत् तथा देवताओंके संबंधमें भौतिकसे आध्यात्मिककी ओर, विशुद्ध प्रकृतिवादसे एक उत्तरोत्तर बढ़ते हुए नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणकी ओर हुआ है (और यही, इस समय माना हुआ दृष्टिकोण है,[1] यद्यपि यह किसी भी प्रकार निश्चित नहीं है) तो हमें अवश्यमेव यह कल्पना करनी चाहिये कि वैदिक कवि कमसे-कम पहलेसे ही देवताओंके सम्बन्धमें भौतिक और प्रगतिवादी विचारसे नैतिक तथा आत्मिक विचारकी ओर प्रगति कर रहे थे। परन्तु 'सरस्वती' केवल अन्तःप्रेरणाकी देवी ही नहीं है, इसीके साथ-साथ वह प्राचीन आर्य जगत्की सात नदियोंमेंसे भी एक है। यहाँ तुरन्त यह प्रश्न उठता है कि यह असाधारण एकरूपता—अन्तःप्रेरणा और नदीकी एकरूपता कहाँसे आ गई? और किस प्रकार इन दो विचारोंका सम्बन्ध वैदिक मंत्रोंमें आ पहुंचा? और इतना ही नहीं, कुछ और भी है; क्योंकि 'सरस्वती' केवल अपने आपमें ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि अपने संबन्धोंके कारण भी महत्त्वपूर्ण है। आगे चलनेसे पहले हम उन सम्बन्धों पर भी शीघ्रताके साथ एक स्थूल दृष्टि डाल जायं, यह देखनेके लिये कि उनसे हमें क्या पता लगता है।

---

1. मैं नहीं समझता कि हमारे पास कोई वास्तविक सामग्री है जिससे हम धार्मिक विचारोंके प्रारम्भिक उद्गम तथा उनके आदिम इतिहासका निश्चय कर सकें। असलमें तथ्य जिसकी ओर संकेत करते हैं वह यह है कि एक प्राचीन शिक्षा थी जो एक साथ ही आध्यात्मिक और प्रकृतिवादी दोनों थी अर्थात् उसके दो पार्श्व थे, जिनमेंसे पहला कम या अधिक धुंधला पड़ चुका था, परन्तु पूर्ण रूपसे लुप्त तो वह जंगली जातियोंमें भी कभी नहीं हुआ था, वैसी जातियों तकमें भी नहीं जैसी उत्तरीय अमेरिका की थीं। पर यह शिक्षा यद्यपि प्रागैतिहासिक थी, तथापि किसी भी प्रकारसे आदिम नहीं थी।

कविताकी अन्त:प्रेरणाके साथ नदीका साहचर्य ग्रीक गाथाशास्त्रमें भी आता है; पर वहाँ म्यूजिज (Muses) नदियोंके रूपमें नहीं समझी गयी हैं, उनका सम्बन्ध केवल एक विशेष पार्थिव धाराके साथ है, वह भी बहुत सुबोध रूपमें नहीं। वह धारा है 'हिप्पोक्रेन' (Hippocrene) नदी, घोड़ेकी धारा, और इसके नामकी व्याख्या करनेके लिये एक कहानी है कि यह दिव्य घोड़े पैगेसस (pégasus)के सुमसे निकली थी; क्योंकि उसने अपने सुमसे चट्टान पर प्रहार किया और उसमेंसे अन्त:प्रेरणाके जल वहाँसे बह निकले जहाँ चट्टान पर इस प्रकार प्रहार किया गया था। क्या यह कथानक केवल एक यूनानी परी-कथा ही था? अथवा इसका कुछ विशेष अर्थ था? और यह स्पष्ट है कि यदि इसका कुछ अर्थ था, तो क्योंकि यह स्पष्ट ही एक आध्यात्मिक घटना का, अन्त:प्रेरणाके जलोंकी उत्पत्तिका संकेत करती है इसलिये वह अर्थ अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थ होना चाहिये था; अवश्य ही यह किन्हीं आध्यात्मिक तथ्योंको मूर्त्त रूपोंके अन्दर रखनेका एक प्रयास होना चाहिये था। हम इसपर ध्यान दे सकते हैं कि पैगेसस (pegasus) शब्दको यदि प्रारंभिक आर्यजातीय स्वरशास्त्रके अनुसार लिखें, तो यह पाजस बन जाता है और स्पष्ट ही इसका संबन्ध संस्कृतके 'पाजस्' शब्द-से लगता है जिसका मूल अर्थ था शक्ति, गति या कभी-कभी पैर रखना। स्वयं ग्रीक भाषामें भी इसका संबंध पैगे (pege) अर्थात् धाराके साथ है। इसलिये इस कथानकके शब्दोंमें अन्त:प्रेरणाकी शक्तिशाली गतिके रूपकके साथ इसका सतत संबंध है। यदि हम वैदिक प्रतीकोंकी ओर आएं तो हम देखते हैं कि वहाँ 'अश्व' या घोड़ा जीवनकी महान् क्रियाशील शक्ति-की, प्राणमय या वातिक शक्तिकी मूर्त प्रतिमा है और निरंतर उन दूसरी प्रतिमाओंके साथ जुड़ा हुआ है जो चेतनाकी द्योतक हैं। 'अद्रि', पहाड़ी या चट्टान, साकार सत्ताका और विशेषकर भौतिक प्रकृतिका प्रतीक है और इसी पहाड़ी या चट्टानमेंसे सूर्यकी गौएं छूटकर आती हैं और जल प्रवाहित होते हैं। 'मधु'की, शहदकी, 'सोम'की धाराओंके लिये भी कहा गया है कि वे इस पहाड़ी या चट्टानमेंसे दुही जाती हैं। इस प्रकार चट्टान पर घोड़े के सुमका प्रहार,' जिससे अन्त:प्रेरणाके जल छूट निकलते हैं, एक बहुत ही स्पष्ट आध्यात्मिक रूपक हो जाता है। न ही इसमें कोई युक्ति है कि यह कल्पनाकी जाय कि प्राचीन ग्रीक और भारतीय इस योग्य नहीं थे कि वे इस प्रकारका आध्यात्मिक निरूपण कर सकें या इसे कवितात्मक और रहस्यमय अलंकारमें रख सकें जो प्राचीन रहस्यवादका असली कलेवर ही था।

अवश्य ही हम और दूर तक जा सकते हैं और इसकी पड़ताल कर सकते हैं कि वीर बैलेरोफन (Bellerophon)का, जो बैलेरस (Bellerus)का वध करनेवाला है और जो दिव्य घोड़े पर सवार होता है, कुछ मौलिक संबन्ध उस 'वलहन् इन्द्र'के साथ तो नहीं था जो वेदमें 'वल'का घातक है, उस 'वल' शत्रुका जो प्रकाशको अपने कब्जेमें कर रखता है। पर यह हमें हमारे विषयकी सीमासे परे ले जायगा। न ही 'पैगेसस'के कथानककी यह व्याख्या इसकी अपेक्षा किसी और सुदूर परिणाम पर पहुंचा सकती है कि यह पूर्वजोंकी स्वाभाविक कल्पना-पद्धतिको दर्शाये और उस प्रणालीको दर्शाये जिसमें वे अन्तःप्रेरणाकी धाराको बहते हुए पानीकी एक सचमुचकी धाराके रूपमें चित्रित कर सके। 'सरस्वती'का अर्थ है "वह जो धारावाली है, प्रवाहकी गतिसे युक्त है", और इसलिये यह दोनोंके लिये एक स्वाभाविक नाम है, नदीके लिये और अन्तःप्रेरणाकी देवीके लिये। परन्तु विचारणा या साहचर्यकी किस प्रक्रियाके द्वारा यह सम्भव हुआ कि अन्तःप्रेरणाकी नदीके सामान्य विचारका सम्बन्ध एक विशेष पार्थिव धाराके साथ जुड़ गया? और वेदमें यह एक ही नदीका प्रश्न नहीं है, जो अपने चारों ओरकी प्राकृतिक और गाथात्मक परिस्थितियोंके द्वारा पवित्र अन्तः-प्रेरणाके विचारके साथ किसी अन्य नदीकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त रूपसे सम्बद्ध प्रतीत होती हो। क्योंकि यहाँ यह एकका नहीं अपितु सात नदियों-का प्रश्न है, जो सातों कि ऋषियोंके मनोंमें सदा परस्पर-संबद्ध रूपसे रहती हैं और वे सारी ही इकट्ठी 'इंद्र' देवताके प्रहारके द्वारा छूटकर निकली हैं, जब उसने 'पाइथन'[1] (Python, बड़े भारी सांप, अजगर, वेदके 'अहि') पर प्रहार किया, जो उनके स्रोतके चारों ओर कुंडली मारकर बैठा हुआ था और जिसने उनके बाह्य प्रवाहको रोक रखा था। यह असम्भव प्रतीत होता है कि हम यह कल्पना कर लें कि इन सप्तविध प्रवाहोंमेंसे केवल एक नदी आध्यात्मिक अभिप्राय रखती थी और शेषका सम्बन्ध केवल पंजाब-में प्रति वर्ष आनेवाले वर्षाके आगमनसे था। जब हम 'सरस्वती'की अध्यात्म-परक व्याख्या करते हैं, तो इसके साथ ही यह आवश्यक हो जाता है कि हम वैदिक "जलों"के संपूर्ण प्रतीककी ही आध्यात्मिक व्याख्या करें।[2]

---

1. ग्रीक गाथाशास्त्रमें यह एक भीषणकाय सांप या दैत्य था, जिसे अपोलो (Apollo) ने, जो सूर्यका देवता है, मारा था। यही समानता वेदमें इस रूपमें पायी जाती है कि वहां 'इन्द्र'ने 'अहि'का वध किया है। —अनुवादक
2. नदियां उत्तरकालके भारतीय विचारमें एक प्रतीकात्मक अर्थ रखती हैं; उदाहरणके लिये, गङ्गा, यमुना और सरस्वती और उनके सङ्गम तांत्रिक कल्पनामें यौगिक

'सरस्वती'का सम्बन्ध न केवल अन्य नदियोंके साथ है, किन्तु अन्य देवियोंके साथ भी है जो देवियाँ स्पष्ट तौरसे आध्यात्मिक प्रतीक हैं, और विशेषकर 'भारती' और 'इळा'के साथ। बादके पौराणिक पूजा-रूपोंमें 'सरस्वती' वाणीकी, विद्याकी और कविताकी देवी है और 'भारती' उसके नामोंमेंसे ही एक है, पर वेदमें 'भारती' और 'सरस्वती' भिन्न-भिन्न देवियाँ हैं। 'भारती'को 'मही' अर्थात् विशाल, महान् या विस्तीर्ण भी कहा गया है। 'इळा', 'मही' या 'भारती' और 'सरस्वती' ये तीनों उन प्रार्थनामन्त्रोंमें जिनमें 'अग्नि'के साथ देवताओंको यज्ञमें पुकारा गया है, एक स्थिर सूत्रके रूपमें इकट्ठी आती हैं।

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ (ऋ. 1-13-9)

"'इळा', 'सरस्वती' और 'मही' ये तीन देवियाँ जो सुखको उत्पन्न करनेवाली हैं, यज्ञिय आसन पर आकर बैठें, वे जो स्खलनको प्राप्त नहीं होतीं, या 'जिनको हानि नहीं पहुंचती' अथवा 'जो हानि नहीं पहुंचातीं'।" इस अन्तिम विशेषण 'अस्रिधः'का अभिप्राय मेरे विचारमें यह है—वे जिनमें कोई भी मिथ्या गति और फलतः उसका कोई बुरा परिणाम—'दुरितम्' नहीं होता, जिनका पाप और भ्रांतिके अन्ध कूपोंमें किसी प्रकारका स्खलन नहीं होता। दशम मण्डलके 110वें सूक्तमें यह सूत्र और विस्तारके साथ आता है—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेतु इळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥ (ऋ. 10-110-8)

"'भारती' शीघ्रताके साथ हमारे यज्ञमें आवे और 'इळा' यहाँ मनुष्योचित प्रकारसे हमारी चेतनाको (या ज्ञानको अथवा बोधोंको) जागृत करती हुई आवे, और 'सरस्वती' आवे,—ये तीनों देवियाँ इस सुखमय आसन पर बैठें, कर्मको अच्छे प्रकार करती हुई।"

यह स्पष्ट है तथा और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा कि ये तीनों देवियाँ परस्पर अत्यधिक संबद्ध व्यापारोंको रखती हैं, जो 'सरस्वती'की अन्तःप्रेरणाकी शक्तिके सजातीय हैं। 'सरस्वती' वाणी है, अन्तःप्रेरणा है जो जैसा कि मेरा विचार है, 'ऋतम्'से, सत्यचेतनासे आती है। 'भारती' और 'इळा' भी अवश्यमेव उसी वाणी या ज्ञानके विभिन्न रूप होने चाहियें।

प्रतीक हैं और वे सामान्य रूपसे यौगिक प्रतीकवादमें प्रयुक्त किये गये हैं, यद्यपि एक भिन्न तरीके से।

मवुच्छंदस्के आठवें सूक्तमें हमें एक ऋचा मिलती है जिसमें 'भारती'का 'मही' नामसे उल्लेख हुआ है—

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे॥ (ऋ. 1-8-8)

'इस प्रकार 'मही' इन्द्रके लिये किरणोंसे भरपूर, अपनी बहुलतामें उमड़ती हुई, एक सुखमय सत्यके स्वरूपवाली, हवि देनेवालेके लिये इस प्रकारकी हो जाती है मानो वह पके फलोंसे लदी हुई कोई शाखा हो।'

किरणें वेदमें 'सूर्य'की किरणें हैं। क्या हम यह कल्पना करें कि यह देवी भौतिक प्रकाशकी कोई देवी है, अथवा 'गो'का अनुवाद हम गाय करें और इस प्रकार यह कल्पना करें कि 'मही'के पास यज्ञके लिये गायें भरी पड़ी हैं? 'सरस्वती'का आध्यात्मिक स्वरूप हमारे सामने आकर हमें इस दूसरी बेहूदी कल्पनासे मुक्त करा देता है, पर साथ ही यह पहली प्रकृतिवादी व्याख्याका भी उसी प्रकार प्रतिषेध करता है। 'मही'का, जो यज्ञमें सरस्वतीकी सहचारिणी है, अन्तःप्रेरणाकी देवीकी बहिन है, उत्तरकालीन गाथाशास्त्रमें जो सरस्वतीके साथ बिलकुल एक कर दी गयी है इस प्रकारसे वर्णित होना दूसरे सैंकड़ों प्रमाणोंके बीचमें इसका एक और प्रमाण है कि वेदमें प्रकाश ज्ञानका, आत्मिक ज्योतिका प्रतीक है। 'सूर्य' अधिपति है अत्युच्च दृष्टिका, महान् प्रकाशका, 'बृहज्ज्योतिः' अथवा जैसा कि कहीं-कहीं इसके लिये कहा गया है, 'ऋतं ज्योतिः', सच्चे प्रकाशका। और 'ऋतम्' तथा 'बृहत्' इन शब्दोंमें संबंध वेदमें सतत रूपसे पाया जाता है।

यह मुझे असंभव प्रतीत होता है कि इन शब्दप्रयोगोंका इसके अतिरिक्त कुछ और अर्थ समझा जाय कि इनमें प्रकाशमय चेतनाकी अवस्थाका निर्देश है, जिसका स्वरूप यह है कि वह विस्तृत या विशाल है 'बृहत्', सत्ताके सत्यसे भरपूर है, 'सत्यम्', और ज्ञान तथा क्रियाके सत्यसे युक्त है, 'ऋतम्'। देवताओंके पास यही चेतना होती है। उदाहरणके लिये 'अग्नि'को 'ऋतचित्' कहा गया है, अर्थात् वह जो सत्यचेतनावाला है। 'मही' इस सूर्यकी किरणोंसे भरपूर है, वह अपने अन्दर इस प्रकाशको रखती है। इसके अतिरिक्त वह 'सूनृता' है, सुखमय सत्यकी वाणी है, ऐसे ही जैसे कि सरस्वतीके विषयमें भी कहा गया है कि वह सुखमय सत्योंकी प्रेरयित्री है, चोदयित्री सूनृतानाम्। अंतमें वह 'विरप्शी' है, विशाल है या प्रचुरतामें फूट निकलनेवाली है और यह शब्द हमें इसका स्मरण करा देता है कि सत्य विशालतारूप भी है 'ऋतम् बृहत्'। और एक दूसरे मंत्र (ऋ. 1-22-10)में उसका वर्णन इस रूपमें आता है कि वह 'वरूत्री धिषणा' है, विचार-शक्तिको विशाल

रूपसे ओढ़े हुए या आलिंगन किये हुए है। तो 'मही' सत्यकी प्रकाशमय व्यापकता है, हमारे अन्दर अपनेमें सत्यको, 'ऋतम्'को धारण किये हुए जो अतिचेतन (Superconscient) है उसकी विशालताको, 'बृहत्'को प्रकट करनेवाली वह है। इसलिये वह यज्ञकर्ताके लिये पके फलोंसे लदी हुई एक शाखाके समान है।

'इळा' भी सत्यकी वाणी है, उत्तरकालमें होनेवाली अस्तव्यस्तताम इसका नाम वाक्का समानार्थक हो गया है। जैसे सरस्वती है सत्य विचारों या मनकी सत्य अवस्थाओंकी ओर चेतनाको जागृत करनेवाली, **चेतन्ती सुमतीनाम्**, उसी प्रकार 'इळा' भी चेतनाको ज्ञानके प्रति जागृत करती हुई, 'चेतयन्ती', यज्ञमें आती है। वह शक्ति से भरपूर है, 'सुवीरा', और ज्ञान-को लाती है। उसका भी सम्बन्ध 'सूर्य'के साथ है, जैसे ५-४-४ में 'अग्नि'-का, संकल्पशक्तिका, आवाहन किया गया है कि वह 'इळा'के साथ समना होकर सूर्यकी, सत्य प्रकाशके अधिपतिकी, किरणोंके द्वारा यत्न करता हुआ आवे, **इळया सजोषा यतमानो रश्मिभिः सूर्यस्य**। वह किरणों की, 'सूर्य'की गौओंकी, माता है। उसके नामका शब्दार्थ है—वह जो कि खोजती है और पा लेती है और यह नाम या शब्द अपने अन्दर उसी विचार-साहचर्य-को रखता है, जो 'ऋतम्' और 'ऋषि' शब्द में है। 'इळा'को इसलिये ठीक-ठीक यह समझा जा सकता है कि यह द्रष्टाकी दर्शनशक्ति है जो सत्य-को पा लेती है।

जैसे सरस्वती सत्यश्रवणकी, 'श्रुति'की सूचक है जो अन्तःप्रेरणाकी वाणी को देती है, वैसे ही इळा 'दृष्टि'को, सत्य-दर्शनको सूचित करती है। यदि ऐसा हो, तो क्योंकि 'दृष्टि' और 'श्रुति' ये ऋषि, कवि, सत्यके द्रष्टाकी दो शक्तियाँ हैं, इसलिये हम 'इळा' और 'सरस्वती'के घनिष्ठ सम्बन्धको समझ सकते हैं। 'भारती' या 'मही' सत्यचेतनाकी विशालता है, जो मनुष्यके सीमित मनमें उदित होकर उक्त दो शक्तियोंको, जो दो बहिनें हैं, अपने साथ लाती है। यह भी हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार ये सूक्ष्म और सजीव अन्तर पीछे जाकर उपेक्षित हो गये, जब कि वैदिक ज्ञानका ह्रास हुआ और 'भारती', 'सरस्वती', 'इळा' तीनों एकमें परिणत हो गयीं।

हम इसपर भी ध्यान दे सकते हैं कि इन तीन देवियोंके विषयमें यह कहा गया है कि ये मनुष्यके लिये सुख, 'मयस्'को उत्पन्न करती हैं। वैदिक ऋषियोंकी धारणानुसार जो सत्य और सुख या आनन्द के बीचमें सतत सम्बन्ध है उसपर मैं पहले ही बल दे चुका हूं। मनुष्य अपने अन्दर स्थित सत्यमय या असीम चेतनाके उदयके द्वारा ही पीड़ा और कष्टके इस दुःस्वप्न

मेंसे; इस विभक्त (द्वन्द्वमय) रचनामेंसे निकलकर उस आनन्दमें, सुखमय अवस्थामें पहुंच जाता है जिसका वर्णन वेदमें 'भद्रम्', 'मयस्' (प्रेम और आनन्द), 'स्वस्ति' (सत्ताकी उत्तम अवस्था, सम्यक् अस्तित्व) शब्दोंसे तथा अन्य कई अपेक्षाकृत कम पारिभाषिक रूपमें प्रयुक्त 'वार्यम्', 'रयिः', 'रायः' जैसे शब्दोंसे किया गया है। वैदिक ऋषिके लिये सत्य एक रास्ता है तथा प्रारंभिक कोठरी है और दिव्य सत्ताका आनन्द लक्ष्य है, अथवा यों कहें कि सत्य है नींव, आनन्द है सर्वोच्च परिणाम।

तो यह है आध्यात्मिकवादके अनुसार 'सरस्वती'का स्वरूप, उसका अपना विशिष्ट व्यापार और देवताओंके बीचमें जो उसके अधिकतम निकट सहचारी हैं उनके साथ उसका सम्बन्ध। वैदिक नदीके रूपमें उसका अपनी छः बहिन नदियोंके साथ जो सम्बन्ध है उसपर ये कहाँ तक कुछ प्रकाश डालते हैं? सातकी संख्याका वैदिक संप्रदायमें एक बहुत ही मुख्य स्थान है, जैसा कि अधिकतर अति प्राचीन विचार-संप्रदायोंमें है। हम उसे निरन्तर आता देखते हैं—सात आनन्द, **सप्त रत्नानि**, सात ज्वालाएं, अग्निकी जिह्वाएं या किरणें, **सप्त अर्चिषः**, **सप्त ज्वालाः**, विचार-तत्त्वके सात रूप, **सप्त धीतयः**, सात **किरणें** या गौएं, जो अवध्य **गौ**, 'अदिति', देवोंकी माताके रूप हैं, **सप्त गावः**, सात नदियाँ, सात माताएं या प्रीणयित्री गौएं, **सप्त मातरः**, **सप्त धेनवः**, जो शब्द कि समान रूपसे किरणों और नदियों दोनोंके लिये प्रयुक्त किया गया है। ये सब सातके समुदाय, मुझे प्रतीत होता है, सत्ताके आधारभूत तत्त्वोंके वैदिक वर्गीकरण पर आश्रित हैं। इन तत्त्वोंकी संख्याका अन्वेषण पूर्वजोंके विचारशील मनके लिये बहुत ही रुचिकर था और भारतीय दर्शनशास्त्रमें हम इसके विभिन्न उत्तर पाते हैं जो 'एक' से शुरू होकर 20 से ऊपर तक पहुंचते है। वैदिक विचारमें इसके लिये जो आधार चुना गया था वह आध्यात्मिक तत्त्वोंकी संख्या था, क्योंकि ऋषियोंके विचारमें सम्पूर्ण अस्तित्व एक सचेतन सत्ताकी ही हलचल-रूप था। आधुनिक मनको ये विचार और वर्गीकरण चाहे केवल कौतूहल-पूर्ण या निस्सार ही क्यों न प्रतीत हों, पर ये केवल शुष्क दार्शनिक भेद नहीं थे, बल्कि एक सजीव आध्यात्मिक अभ्यास-पद्धतिके साथ निकट रूपसे सम्बन्ध रखते थे, जिसके ये बहुत अंशोंमें विचारमय आधार थे, और चाहे कुछ भी हो, यदि हम इस प्राचीन और दूरवर्ती संप्रदायके विषयमें कुछ भी यथार्थताके साथ अपना विचार बनाना चाहते हों तो हमें अवश्यमेव इन्हें साफ-साफ समझ लेना चाहिये।

तो हम वेदमें तत्त्वोंकी संख्याको विविध रूपमें प्रतिपादित हुआ पाते हैं।

'एक'को समझा गया था मूल और सर्वाधार, इस 'एक'के अन्दर दो तत्त्व रहते थे दिव्य तथा मानव, मर्त्य तथा अमर्त्य। यह द्वित्वसंख्या अन्य प्रकारसे भी दो तत्त्वोंमें प्रयुक्तकी गयी है, आकाश और पृथ्वी, मन और शरीर, आत्मा और प्रकृति, जो सब प्राणियोंके पिता और माता समझे गये हैं। तो भी यह अर्थपूर्ण है कि आकाश और पृथ्वी जब कि वे प्राकृतिक शक्तिके दो रूपों, मानसिक तथा भौतिक चेतनाके प्रतीक होते हैं, तब वे पिता और माता नहीं बल्कि दो माताएँ होते हैं। तीनका तत्त्व दो रूपोंमें समझा गया था, प्रथम तो त्रिविध **दिव्य** तत्त्वके रूपमें, जो बादके **सच्चिदानन्द**, दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना और दिव्य आनन्दके अनुरूप है और दूसरे त्रिविध लौकिक तत्त्व—मन, प्राण, शरीरके रूपमें, जिसपर वेद और पुराणोंका त्रिविध लोक-संस्थान निर्मित है। परन्तु पूर्ण संख्या जो सामान्यतः मानी गयी है वह है 'सात'। यह सातका अंक बना है तीन लौकिक तत्त्वोंके साथ तीन दिव्य तत्त्वोंके योग करने तथा एक सातवें या संयोजक तत्त्वके अन्तर्निवेशसे जो कि ठीक-ठीक सत्यचेतनाका, 'ऋतम् बृहत्' का तत्त्व है और आगे चलकर जो 'विज्ञान' या 'महः' के रूपमें जाना गया है। इनमेंसे पिछले शब्द (महः) का अर्थ है विशाल और इसलिये यह 'बृहत्'का समानार्थक है। वेदमें और भी वर्गीकरण आते हैं, पाँचका, आठका, नौका और दसका तथा जैसा कि प्रतीत होता है, बारहका भी; पर इस समय हमारा इनसे सम्बन्ध नहीं है।

यह ध्यान देने योग्य है कि ये सब तत्त्व वास्तवमें अवियोज्य और सर्वत्र व्यापक समझे गये हैं और इसलिए प्रकृतिकी प्रत्येक पृथक् रचनामें लागू होते हैं। उदाहरणार्थ सात **विचार** (**सप्त धीतयः**) हैं **मन**, जो अपने-आपको, जैसा कि अब हम कह सकते हैं, सात भूमिकाओंमेंसे प्रत्येकमें विनियुक्त करता है और भौतिक मन (यदि हम इसे यह नाम दे सकें), वातिक मन, विशुद्ध मन, सत्य मन आदि-आदिके रूपमें अपनेको विन्यस्त करता हुआ सप्तम भूमिकामें सर्वोच्च शिखर, 'परम परावत्' तक पहुँचता है। सात किरणें या गौएं हैं **अदिति** जो असीम माता है, अवध्य गाय है, परम प्रकृति या असीम चेतना है, बादके प्रकृति या शक्तिके विचारका आदिस्रोत है, (और इस प्राचीन पशुपालनसंबंधी रूपकमालाके अनुसार **पुरुष** है **बैल, वृषभ**) और फिर यह अदिति वस्तुओंकी माता है जो अपनी सृष्टि-क्रियाकी सात भूमिकाओंपर सचेतन सत्ताकी शक्तिके रूपमें आकार धारण कर लेती है। इसी प्रकार सात नदियाँ चेतन धाराएँ हैं, ये सत्ताके समुद्रके उन सप्तविध तत्त्वोंके अनुरूप हैं जो पुराणोंमें परिगणित सात लोकोंके रूपमें

सूत्रबद्ध हो हमारे सामने प्रकट होते हैं। मानवीय चेतनामें उन नदियोंका पूर्ण प्रवाह ही मनुष्यकी पूर्ण क्रियाशीलताका कारण होता है, सारभूत तत्त्वके उसके पूर्ण खजानेको बनाता है, उसकी शक्तिकी पूर्ण क्रीड़ाको चलाता है। वैदिक अलंकारमें, उसकी ये गौएँ उन सात नदियोंका जल पीती हैं।

यदि नदियोंकी इस रूपक-कल्पनाको स्वीकार कर लिया जाय,—और यदि एक बार इस प्रकारके विचारोंका अस्तित्व मान लिया जाय तो यह स्पष्ट है कि उन लोगोंके लिये जो प्राचीन आर्योंका जीवन बिताते थे और वैसी परिस्थितियों में रहते थे, एकमात्र यही रूपक-कल्पना स्वाभाविक हो सकती थी (उनके लिये वह ऐसी स्वाभाविक और अनिवार्य थी, जैसी आजकलके हम लोगोंके लिये 'प्लेन्स' [planes=भूमिकाओं]की रूपक-कल्पना जिससे थियोसोफिकल विचारोंने हमें परिचित कराया है), हाँ तो, यदि इस कल्पनाको स्वीकार कर लिया जाय तो सात नदियोंमेंसे एकके रूपमें 'सरस्वती'का स्थान स्पष्ट हो जाता है। 'सरस्वती' वह धारा है जो सत्य तत्त्वसे, 'ऋतम्' या 'महः'से आती है और वस्तुतः ही वेदमें इस तत्त्वका वर्णन—उदाहरणार्थ हमारे तीसरे सूक्त (1.3)के अन्तिम संदर्भ में—हम इस प्रकार किया गया पाते हैं कि वह महान् जल, 'महो अर्णः' है, ('महो अर्णः' यह एक ऐसा प्रयोग है जो एकदम हमें बाद की 'महस्' इस संज्ञाके उद्गम को बता देता है) या कहीं-कहीं इस रूपमें कि वह 'महाँ अर्णवः' है। तीसरे सूक्तमें हम 'सरस्वती' तथा इन महान् जलोंमें निकट सम्बन्ध देखते हैं। तो इस संबन्धकी हमें जरा और निकटताके साथ परीक्षा कर लेनी चाहिये, इससे पहले कि हम वैदिक गौओंके विचारपर तथा 'इंद्र' देवता और सरस्वतीकी सखी संबंधिनी देवी 'सरमा'के साथ उन गौओंके सम्बन्धपर आवें। क्योंकि यह आवश्यक है कि पहले हम इन सम्बन्धोंकी परिभाषा कर लें, जिससे हम मधुच्छन्दस्के शेष सूक्तोंकी परीक्षा कर सकें। वे सूक्त बिना अपवादके उस महान् वैदिक देवता, द्यौके अधिपति (इंद्र)को संबोधित किये गये हैं जो हमारी कल्पनाके अनुसार मनुष्यके अन्दर मनकी शक्तिका और विशेषकर दिव्य या स्वतःप्रकाश मनका प्रतीक है।

दसवां अध्याय

समुद्रों और नदियोंका रूपक

मधुच्छन्दस्के तीसरे सूक्तकी वे तीन ऋचाएँ जिनमें सरस्वतीका आवाहन किया गया है इस प्रकार हैं–

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ।।
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ।।
महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ।।

प्रथम दो ऋचाओंका आशय पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है जब हम यह जान लेते हैं कि सरस्वती सत्य की वह शक्ति है जिसे हम अन्तःप्रेरणा कहते हैं। सत्यसे आनेवाली अन्तःप्रेरणा हमें संपूर्ण मिथ्यात्वसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है (पावका), क्योंकि भारतीय विचारके अनुसार सब पाप केवल मिथ्यापन ही है, मिथ्या रूपसे प्रेरित भाव, मिथ्या रूपसे संचालित संकल्प और क्रिया ही है। जीवनका और हमारे अपने-आपका केंद्रभूत विचार, जिसको लेकर हम चलते हैं, एक मिथ्यात्व है और वह अन्य सबको भी मिथ्यारूप दे देता है। सत्य हमारे अंदर आता है एक प्रकाश, एक वाणीके रूपमें, और वह आकर हमारे विचारको बदलनेके लिये बाधित कर देता है, हमारे अपने विषयमें और जो कुछ हमारे चारों ओर है उसके विषयमें एक नवीन विवेकदृष्टि ला देता है। विचारका सत्य दर्शन (Vision) के सत्यको रचता है और दर्शन का सत्य हमारे अंदर सत्ताके सत्यका निर्माण करता है और सत्ताके सत्य (सत्यम्)मेंसे स्वभावतः भावनाका, संकल्पका और क्रियाका सत्य प्रवाहित होता है। यह है वास्तवमें वेदका केंद्रभूत विचार।

सरस्वती, अन्तःप्रेरणा, प्रकाशमय समृद्धताओंसे भरपूर हैं (वाजेभिर्वाजिनीवती), विचारकी संपत्तिसे ऐश्वर्यवती (धियावसुः) है। वह यज्ञको धारण करती है, देवके प्रति दी गयी मर्त्य जीवकी क्रियाओंकी हविको धारण करती है, एक तो इस प्रकार कि वह मनुष्यकी चेतनाको जागृत कर देती

है (चेतन्ती सुमतीनाम्), जिससे वह चेतना भावना की समुचित अवस्थाओंको और विचारकी समुचित गतियोंको पा लेती है, जो अवस्थाएँ और गतियाँ उस सत्यके अनुरूप होती हैं जहाँसे सरस्वती अपने प्रकाशोंको उँडेला करती है और दूसरे इस प्रकार कि वह मनुष्यकी इस चेतनाके अंदर उन सत्योंके उदय होनेको प्रेरित कर देती है (चोदयित्री सूनृतानाम्), जो सत्य कि वैदिक ऋषियोंके अनुसार जीवन और सत्ताको असत्य, निर्बलता और सीमा से छुड़ा देते हैं और उसके लिये परम सुखके द्वारोंको खोल देते हैं।

इस सतत जागरण और प्रेरण (चेतन और चोदन)के द्वारा जो 'केतु' (अर्थात् बोधन) इस एक शब्दमें संगृहीत हैं,–जिस 'केतु'को वस्तुओंके मिथ्या मर्त्यदर्शनसे भेद करनेके लिये 'दैव्य-केतु' (दिव्य बोधन) करके प्रायः कहा गया है,–सरस्वती मनुष्यकी क्रियाशील चेतनाके अंदर बड़ी भारी बाढ़को या महान् गतिको, स्वयं सत्य-चेतनाको ही, ला देती है और इससे वह हमारे सब विचारोंको प्रकाशमान कर देती है (तीसरा मंत्र)। हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक ऋषियोंकी यह सत्य-चेतना एक अति-मानस (मनसे परेका, मनोतीत) स्तर है, जीवनकी पहाड़ीकी सतहपर है (अद्रेः सानुः) जो हमारी सामान्य पहुँचसे परे है और जिसपर हमें बड़ी कठिनतासे चढ़कर पहुँचना होता है। यह हमारी जागृत सत्ताका भाग नहीं है, यह हमसे छिपा हुआ अति-चेतनकी निद्रामें रहता है। तो अब हम समझ सकते हैं कि मधुच्छंदस्का क्या आशय है, जब वह कहता है कि सरस्वती अन्तःप्रेरणाकी सतत क्रियाके द्वारा सत्यको हमारे विचारोंमें चेतनाके प्रति जागृत कर देती है।

परंतु जहाँ तक केवल व्याकरणके रूपका संबंध है, इस पंक्तिका इसकी अपेक्षा बिलकुल भिन्न अनुवाद भी किया जा सकता है; हम "महो अर्णः" को सरस्वतीके समानाधिकरण मानकर इस ऋचाका यह अर्थ कर सकते हैं कि "सरस्वती जो बड़ी भारी नदी है, बोधन (केतु)के द्वारा हमें ज्ञानके प्रति जागृत करती है और हमारे सब विचारोंमें प्रकाशित होती है।" यदि हम यहाँ "बड़ी भारी नदी" इस मुहावरेको भौतिक अर्थमें लें और इससे पंजाबकी भौतिक नदी समझें, जैसा कि सायण समझता प्रतीत होता है, तो यहाँ हमें विचार और शब्द-प्रयोगकी एक बड़ी असंगति दिखायी पड़ने लगेगी, जो किसी भयंकर स्वप्न या पागलखानेके अतिरिक्त कहीं संभव नहीं हो सकती। यर यह कल्पनाकी जा सकती है कि इसका अभिप्राय है, अन्तःप्रेरणाका बड़ा भारी प्रवाह या समुद्र और यह कि यहाँ सत्य-चेतनाके महान् समुद्रका कोई संकेत नहीं है। तो भी, दूसरे ऐसे स्थलोंमें देवताओंके

संबंधमें यह संकेत बार-बार आता है कि वे महान् प्रवाह या समुद्रकी विशाल शक्तिके द्वारा कार्य करते हैं, (**मह्ना महतो अर्णवस्य** 10-67-12), जहाँ कि सरस्वतीका कोई उल्लेख नहीं होता और यह असंभव होता है कि वहाँ उससे अभिप्राय हो। यह सच है कि वैदिक लेखोंमें सरस्वतीके विषयमें यह कहा गया है कि वह 'इन्द्र'की गुप्त आत्मशक्ति है (यहाँ हम यह भी देख सकते हैं कि यह एक ऐसा प्रयोग है जो कि अर्थशून्य हो जाता है, यदि सरस्वती केवल एक उत्तरकी नदी हो और इन्द्र आकाशका देवता हो, पर तब इसका एक बड़ा गंभीर और हृदयग्राही अर्थ हो जाता है यदि इन्द्र हो प्रकाशयुक्त मन और सरस्वती हो वह अन्तःप्रेरणा जो अतिमानस सत्यके गुह्य स्तरसे निकलकर आती है)। परंतु इससे यह नहीं हो सकता कि सरस्वतीको अन्य देवोंकी अपेक्षा इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया जाय जितना कि तब उसे मिल जाता है यदि "मह्ना महतो अर्णवस्य"का यह अनुवाद करें कि "सरस्वतीकी महानताके द्वारा"। यह तो बार-बार प्रतिपादित किया गया है कि देवता सत्य की शक्तिके द्वारा, 'ऋतेन', कार्य करते हैं, पर सरस्वती तो सत्यके देवताओंमेंसे केवल एक है, यह भी नहीं कि वह उनमेंसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण या व्यापक हो। इसलिये 'महो अर्णः'का जो अर्थ मैंने किया है वही एकमात्र ऐसा अर्थ है जो वेदकके सामान्य विचारके साथ और दूसरे संदर्भोंमें जो इस वाक्यांशका प्रयोग हुआ है उसके साथ संगति रखता है।

तो चाहे हम यह समझें कि यह बड़ा भारी प्रवाह, "महो अर्णः", स्वयं सरस्वती ही है और चाहे हम इसे सत्यका समुद्र समझें, यह एक निश्चयात्मक तथ्य है, जो इस संदर्भके द्वारा असंदिग्ध रूपमें स्थापित हो जाता है कि वैदिक ऋषि जलके, नदीके या समुद्रके रूपकको आलंकारिक अर्थमें और एक आध्यात्मिक प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त करते थे। तो इसको लेकर हम आगे विचार प्रारम्भ कर सकते हैं और देख सकते हैं कि यह हमें कहाँतक ले जाता है। प्रथम तो हम यह देखते हैं कि हिंदू लेखोंमें, वेदमें, पुराण में और दार्शनिक तर्कों तथा दृष्टांतों तकमें सत्ताको स्वयं एक समुद्रके रूपमें वर्णित किया गया है। वेद दो समुद्रोंका वर्णन करता है, उपरले जल और निचले जल। ये समुद्र हैं—एक तो अवचेतनका जो अंधकारमय और अभिव्यक्ति-रहित है और दूसरा अतिचेतनका जो प्रकाशमय है और नित्य अभिव्यक्त है, पर है मानवमनसे परे।

ऋषि वामदेव चतुर्थ मण्डलके अंतिम सूक्तमें इन दो समुद्रोंका वर्णन करता है। वह कहता है कि एक मधुमय लहर समुद्रसे ऊपरको आरोहण

करती है और इस आरोहण करती हुई लहर के द्वारा जो कि 'सोम' (अंशु) है, मनुष्य पूर्ण रूपसे अमरताको पा लेता है; वह लहर या वह सोम निर्मलताका ('घृतस्य', जो शुद्ध किये हुए मक्खनका, घीका, सूचक है) गुह्य नाम है; वह देवताओंकी जिह्वा है, वह अमरताकी नाभि है।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारद् उपांशुना समममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ (4-58-1)

मैं समझता हूँ कि इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि समुद्र, मधु, सोम, घृत ये सब कम-से-कम इस संदर्भमें तो अवश्य आध्यात्मिक प्रतीक हैं। निश्चय ही वामदेवका यह आशय नहीं है कि शराबकी एक लहर या प्रवाह हिन्दमहासागर या बंगालकी खाड़ीके खारे पानीसे निकलकर अथवा यह भी सही कि, सिन्ध नदीके या गंगा नदीके ताजे पानीसे निकलकर ऊपर चढ़ती हुई आयी, और यह शराब घीका गुह्य नाम है। जो वह कहना चाहता है वह स्पष्ट यह है कि हमारे अन्दर जो अवचेतनकी गहराइयाँ हैं उनमेंसे आनन्दकी या सत्ताके विशुद्ध आह्लादकी एक मधुमय लहर उठती है और इसी आनन्दके द्वारा हम अमरता तक पहुंच पाते हैं, यह आनन्द वह रहस्यमय सत्ता है, वह गुह्य वास्तविकता है, जो अपनी चमकती हुई निर्मलताओंसे युक्त मनकी क्रियाके पीछे छिपी हुई है। वेदान्त भी हमें बताता है कि इस आनन्दका देवता 'सोम' वह वस्तु है जो मन या संवेदनात्मक बोध बन गया है। दूसरे शब्दोंमें, समस्त मानसिक संवेदन अपने अन्दर सत्ताके एक गुप्त आनन्दको रखता है और अपने ही अस्तित्वके उस रहस्यको व्यक्त करना चाहता है। इसलिये आनन्द देवताओंकी जिह्वा है, जिससे वे सत्ताके आनन्द का आस्वादन करते हैं; यह नाभि है जिसमें अमर अवस्था या दिव्य सत्ताकी सब क्रियाएं इकट्ठी बंधी हुई हैं। वामदेव अपने कथनको जारी रखता हुआ आगे कहता है, "आओ, हम निर्मलता (घृत)के इस रहस्यमय नामको व्यक्त करें,—अभिप्राय यह कि हम इस सोम-रसको, सत्ताके इस गुह्य आनन्दको, बाहर निकालें; इसे इस विश्व-यज्ञमें अग्निके प्रति, अर्थात् उस दिव्य संकल्प या सचेतन-शक्तिके प्रति जो सत्ताका स्वामी (ब्रह्मा) है, अपने समर्पणों या प्रणतियोंके द्वारा (नमोभिः) थाम लें। वह लोकोंका चार सींगोंवाला बैल है, और जब वह मनुष्यके व्यक्त होते हुए आत्मिक विचारोंको सुनता है तब वह आनन्दके इस गुह्य नामको इसकी गुहासे बाहर निकाल देता है (अवमीत्)।"

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्य अस्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्॥ (4-58-2)

यहाँ हम इस बातकी तरफ भी ध्यान देते चलें कि क्योंकि सोमरस और घृत प्रतीकात्मक हैं इसलिये यज्ञको भी अवश्यमेव प्रतीकात्मक ही होना चाहिये। इस प्रकारके सूक्तोंमें जैसा यह वामदेवका सूक्त है कर्मकांडका आवरण जिसे वैदिक रहस्यवादियोंने ऐसे प्रयत्नपूर्वक बुना था इस प्रकार विलुप्त हो जाता है जैसे हमारी आंखोंके सामनेसे विलीन होता हुआ कोहरा और वहाँ वैदांतिक सत्य, वेदका रहस्य स्पष्ट दीखने लगता है।

वामदेव हमें अपने द्वारा वर्णित इस समुद्रके स्वरूपके विषयमें बिल्कुल भी सन्देहका अवकाश नहीं देता; क्योंकि पांचवी ऋचामें उसने साफ ही इसे हृदयका समुद्र कह दिया है, "हृद्यात् समुद्रात्", जिसमेंसे निर्मलताकी धाराएं, "घृतस्य धारा:", उठती हैं। वह कहता है कि वे मन और आन्तरिक हृदयके द्वारा उत्तरोत्तर पवित्रकी जाती हुई बहती हैं, "अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना:"। और अन्तिम ऋचामें वह सारी ही सत्ताको तीन स्थानोंमें स्थित हुआ वर्णित करता है, प्रथम तो 'अग्नि'के धाममें जिसके विषयमें दूसरी ऋचाओंसे हम यह जानते हैं कि वह सत्यचेतना है, अग्निका अपना घर है, "स्वं दमम्, ऋतम् बृहत्", —दूसरे, हृदयमें, समुद्रमें जो स्पष्ट ही वह है जो कि 'हृद्य समुद्र'—तीसरे, मनुष्यके जीवनमें (आयुषि)।

धामन् ते विश्वं भुवनम् अधि श्रितम्, अन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि।

(4-58-11)

(1) अतिचेतन और (2) अवचेतनका समुद्र, तथा (3) इन दोनोंके मध्यमें प्राणीका जीवन,—यह (तीनों मिलकर) है सत्ताका वैदिक विचार।

अतिचेतनका समुद्र निर्मलताकी नदियोंका, मधुमय लहरका, लक्ष्य है, जैसे कि हृदयके अन्दरका अवचेतनका समुद्र उनके उठनेका स्थान है। इस उपरले समुद्रको "सिन्धु" कहा गया है और 'सिन्धु' शब्दके नदी या समुद्र दोनों अर्थ हो सकते हैं; पर इस सूक्तमें स्पष्ट ही इसका अर्थ समुद्र है। आइये, जरा हम इस अद्भुत भाषा पर दृष्टि डालें जिस भाषामें कि वामदेव निर्मलताकी इन नदियोंका वर्णन करता है। सबसे पहले वह यह कहता है कि देवताओंने उस निर्मलताको, 'घृतम्'को खोजा और पा लिया, जो 'घृत' तीन रूपोंमें स्थित था, तथा जिसे पणियोंने गौके अन्दर, 'गवि', छिपाया हुआ था।[1] यह निःसंदिग्ध है कि 'गौ' वेदमें दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है, गाय और प्रकाश; गाय बाह्य प्रतीक है, आन्तरिक अर्थ है प्रकाश। गौओं-

---

1. त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
(इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः)॥ (4-58-4)

का अलंकार कि उन्हें पणि चुरा ले गये थे और ले जाकर छिपा लिया था, वेदमें निरन्तर आता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि क्योंकि 'समुद्र' एक आध्यात्मिक प्रतीक है—हृदयका समुद्र "समुद्रे हृदि",—और 'सोम' एक आध्यात्मिक प्रतीक है तथा 'घृत' एक आध्यात्मिक प्रतीक है इसलिये वे गौएं भी जिनमें देवता पणियों द्वारा छिपाये गये 'घृत'को ढूंढ़कर पा लेते हैं अवश्य ही एक आन्तरिक प्रकाशका प्रतीक होनी चाहियें, न कि भौतिक प्रकाशकी सूचक। गौ वास्तवमें 'अदिति' है, असीम चेतना है जो अवचेतन-के अन्दर छिपी हुई है, और त्रिविध घृत है त्रिविध निर्मलता, एक तो मुक्त संवेदनकी जो अपने आनन्दके रहस्यको पा लेता है, दूसरे, उस विचारात्मक मनकी जो प्रकाश और अन्तर्ज्ञानको उपलब्ध करता है और तीसरे, स्वयं सत्यकी, चरम अतिमानसिक साक्षात्कारकी। यह इस ऋचा (4-58-4) के उत्तरार्धसे स्पष्ट हो जाता है, जिसमें यह कहा गया है कि "एकको इन्द्रने पैदा किया, एकको सूर्यने, एकको देवताओंने 'वेन'के स्वाभाविक विकाससे रचा"; क्योंकि 'इंद्र' विचारशील मनका, 'सूर्य' अतिमानस प्रकाशका अधि-पति है और वेन है सोम, सत्ताके मानसिक आनन्दका अधिपति, इन्द्रिय-मनका रचयिता।

अब यहाँ हम यह भी देख सकते हैं कि यहाँपर वर्णित 'पणि' अवश्य और बलात् आध्यात्मिक शत्रु, अन्धकारकी शक्तियाँ ही होने चाहियें, न कि द्राविड़ देवता या द्राविड़ जातियाँ या द्राविड़ सौदागर। अगली (पांचवीं) ऋचामें वामदेव 'घृतम्'की धाराओंके विषयमें कहता है कि वे हृदयके समुद्रसे चलती हैं, जहाँ वे शत्रु द्वारा सैंकड़ों कारागारों ('व्रजों', बाड़ों)में इस प्रकार बंदकी हुई पड़ी हैं कि वे दिखायी नहीं देतीं। निश्चय ही, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि घीकी या पानीकी नदियाँ हृदय-समुद्रसे या किसी भी समुद्रसे उठती हुई बीचमें दुष्ट और अन्यायी द्रविड़ियोंसे पकड़ ली गयीं और सैंकड़ों बाड़ोंमें बन्द कर दी गयीं, जिससे कि आर्य लोगोंको या आर्योंके देव-ताओंको उनकी झांकी तक न मिल सके। तुरन्त हम अनुभव करते हैं कि यह शत्रु, वेदमंत्रोंका पणि, वृत्र एक विशुद्ध आध्यात्मिक विचार है न कि यह बात है कि हमारे पूर्वजोंका प्राचीन भारतीय इतिहासके तथ्योंको अपनी सन्ततिसे छिपानेके लिये उन्हें जटिल और दुर्गम्य गाथाओंके बादलोंसे ढक देनेका एक प्रयास हो। ऋषि वामदेव हक्का-बक्का रह जाता, यदि वह कहीं देख पाता कि उसके यज्ञसंबन्धी रूपकोंको आज ऐसा अप्रत्याशित उपहास-रूप दिया जा रहा है। इससे भी कुछ बात नहीं बनती यदि हम 'घृत'को पानीके अर्थमें लें, 'हृद्य समुद्र'को मनोहर झीलके अर्थमें और यह कल्पना

कर लें कि द्रविड़ियोंने नदियोंके पानीको सैकड़ों बांध लगाकर बन्द कर लिया था, जिससे कि आर्य लोग उनकी एक झांकी तक नहीं पा सकते थे। क्योंकि यदि पंजाबकी नदियां सब-की-सब हृदयको आनन्द देनेवाली एक मनोहर झील-से निकलती भी हों, तो भी यह नहीं हो सकता कि उनकी पानीकी धाराओं को बहुत ही चालाक तथा अत्यन्त उपायकुशल द्रविड़ियोंने इस प्रकारसे एक गायके अन्दर तीन रूपोंमें रख दिया हो और उस गायको ले जाकर एक गुफामें छिपा दिया हो।

वामदेव कहता है, "ये हृदय-समुद्रसे चलती हैं, शत्रु द्वारा सैकड़ों बाड़ोंमें बंदकी हुई ये दीख नहीं सकतीं। मैं निर्मलता (घृत)की धाराओंकी ओर देखता हूं, क्योंकि उनके मध्यमें सुनहरा बेंत रखा हुआ है (5वां मंत्र)। अन्तःस्थ हृदय और मनके द्वारा पवित्रकी जाती हुई ये बहती हुई नदियोंकी तरह सम्यक् प्रकारसे स्रवण करती हैं; ये निर्मलताकी लहरें ऐसे चलती हैं जैसे पशु अपने हांकनेवालेकी अध्यक्षतामें चलते हैं (6ठा मंत्र)। ये महती धाराएं, निर्मलता (घृत)की धाराएं वेगयुक्त गतिसे भरपूर, किन्तु प्राणकी शक्ति (वात, वायु)से सीमित हुई-हुई चलती हैं, मानो कि ये उस रास्ते पर चल रही हों जो समुद्र ('सिन्धु' उपरले समुद्र) के सामने है; ये एक जोर मारते हुए घोड़ेके समान हैं जो अपने सीमित करनेवाले बंधनोंको तोड़ फेंकता है, जब कि वह लहरों द्वारा परिपुष्ट हो जाता है, (7वां मंत्र[1])।" देखते ही यह मालूम हो जाता है कि यह एक रहस्यवादीकी कविता है, जो अपने अभिप्रायको अधार्मिकोंसे छिपानेके लिये रूपकोंके आवरणके नीचे ढक रहा है, जिसे वह कहीं-कहीं पारदर्शक हो जाने देता है ताकि जो देखना चाहते हैं वे उसमेंसे देख सकें।

जो वह कहना चाहता है वह यह है कि दिव्य ज्ञान हर समय हमारे विचारोंके पीछे सतत रूपसे प्रवाहित हो रहा है, परंतु आन्तरिक शत्रु उसे हमसे रोके रखते हैं। वे हमारे मनके तत्त्वको इन्द्रिय-क्रिया और इंद्रियाश्रित बोध तक ही सीमित कर देते हैं जिससे कि, यद्यपि हमारी सत्ताकी लहरें

---

1. एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥५॥
सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥६॥
सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥७॥ (4-58)

उन किनारों पर टकराती हैं जो अतिचेतन तक, असीम तक पहुंचते हैं तो भी वे इन्द्रियाश्रित मनकी स्नायवीय क्रिया द्वारा सीमित हो जाती हैं और अपने रहस्यको प्रकट नहीं कर पातीं। वे उन घोड़ोंके समान हैं जो नियंत्रण से काबूमें रखे हुए और लगामसे रोके हुए हैं; जब प्रकाशकी धाराएं अपनी शक्तिको बढ़ाकर भरपूर कर लेती हैं, केवल तभी जोर मारता हुआ घोड़ा इन बंधनोंको तोड़ पाता है और वे धाराएं स्वच्छंदतापूर्वक उस ओर बहने लगती हैं, जहांसे सोमरस अभिषुत हुआ है और यज्ञ पैदा हुआ है—

यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत् पवन्ते। (9)

फिर यह लक्ष्य इस रूपमें व्याख्यात हुआ है कि यह सारा मधु-ही-मधु है—घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते (10); यह आनन्द है, दिव्य परम-सुख है। और यह कि यह लक्ष्य 'सिंधु' है, अतिचेतन समुद्र है, अंतिम ऋचामें स्पष्ट कर दिया गया है जहां वामदेव कहता है "तेरी मधुमय लहरका हम आस्वादन कर सकें"—तेरी अर्थात् 'अग्नि'की जो दिव्य पुरुष है, लोकोंका चार सींगोंवाला बैल है, "जो लहर जलोंकी शक्ति में, जहां वे इकट्ठे होते हैं, धारणकी हुई है।"

अपामनीके समिथे य आभृतः तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम्। (11)

वैदिक ऋषियोंके इस आधारभूत विचारको हम 'सृष्टि-सूक्त' (10-129) में प्रतिपादित पाते हैं, जहां अवचेतनका इस प्रकार वर्णन किया गया है, "अंधकारसे घिरा हुआ अंधकार, यही सब कुछ था जो प्रारम्भमें था, एक समुद्र था जो बिना मानसिक चेतनाके था...इसमेंसे एक पैदा हुआ, अपनी शक्तिकी महत्ताके द्वारा। (3)। पहले-पहल इसके अन्दर इसने इच्छा (काम)के रूपमें गतिकी, जो इच्छा मनका प्रथम बीज थी। उन्होंने जो बुद्धिके स्वामी थे असत्में से उसे पा लिया जो सत्का निर्माण करता है; हृदयके अन्दर उन्होंने इसे सोद्देश्य अन्तःप्रवृत्तिके द्वारा और विचारात्मक मन द्वारा पाया। (4)। उनकी किरण दिगन्तसम रूप-से फैली हुई थी; उसके ऊपर भी कुछ था, उसके नीचे भी कुछ था[1]। (5)।" इस संदर्भमें वे ही विचार प्रतिपादित हैं जो वामदेवके सूक्तमें,

---

1. तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
(तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्) तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।....॥५॥

परन्तु रूपकोंका आवरण यहाँ नहीं है। अचेतनके समुद्रमेंसे 'एक तत्त्व' हृदयमें उठता है जो सर्वप्रथम इच्छा (काम)के रूपमें आता है; वहाँ हृदय-समुद्रमें वह सत्ताके आनंदकी एक अव्यक्त इच्छाके रूपमें गति करता है और यह इच्छा उसका प्रथम बीज है जो बादमें इन्द्रियाश्रित मनके रूपमें प्रकट होता है। इस प्रकार देवताओंको अवचेतनके अंधकारमेंसे सत्को, सचेतन सत्ताको, निर्मित कर लेनेका एक साधन मिल जाता है, वे इसे हृदयमें पाते हैं और विचारके तथा सोद्देश्य प्रवृत्तिके विकासके द्वारा बाहर निकाल लाते हैं, 'प्रतीष्या', इस शब्दसे मनोमय इच्छाका ग्रहण करना अभिप्रेत है, वह उस पहली अस्पष्ट इच्छासे भिन्न है जो अवचेतनमेंसे प्रकृतिकी केवल प्राणमय गतियोंमें उठती है। सचेतन सत्ता, जिसे वे इस प्रकार रचते हैं, इस प्रकार विस्तृत होती है मानो वह अन्य दो विस्तारोंके बीचमें दिगन्तसम रूपमें हो; नीचे अवचेतनकी अंधकारमय निद्रा होती है, ऊपर होती है अतिचेतनकी प्रकाशपूर्ण रहस्यमयता। ये ही उपरले और निचले समुद्र हैं।

यह वैदिक अलंकार पुराणोंके इसी प्रकारके प्रतीकात्मक अलंकारोंपर भी एक स्पष्ट प्रकाश डालता है, विशेषकर 'विष्णु'के इस प्रसिद्ध प्रतीक पर कि वह प्रलयके बाद क्षीरसागरमें 'अनंत' सांपकी कुण्डलीमें शयन करता है। यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि पुराण तो उन अंधविश्वासी हिंदू पुरोहितों या कवियों द्वारा लिखे गये थे जो यह विश्वास रखते थे कि ग्रहणोंका कारण यह है कि एक दैत्य सूर्य और चन्द्रमाको ग्रसता (खा जाता) है और वे आसानीसे ही इसपर भी विश्वास कर सकते थे कि प्रलयके समय-में परमात्मा भौतिक शरीरमें सचमुचके दूधके भौतिक समुद्रमें एक भौतिक सांपके ऊपर सोने जाता है और इसलिये यह व्यर्थका बुद्धिकौशल दिखाना है कि इन कहानियोंका कोई आध्यात्मिक अभिप्राय खोजा जाय। मेरा उत्तर यह होगा कि वस्तुतः ही उनमें ऐसे अभिप्राय खोजनेकी, ढूंढनेकी आव-श्यकता नहीं है; क्योंकि इन्हीं 'अंधविश्वासी' कवियोंने ही वहाँ स्पष्ट रूपसे कहानियोंके उपरिपृष्ठ पर ही उन अभिप्रायोंको रख दिया है जिससे उन्हें प्रत्येक व्यक्ति, जो जानबूझकर अंधा नहीं बनता, देख सकता है। क्योंकि उन्होंने विष्णुके सांपका एक नाम भी रखा है, वह-नाम है 'अनंत', जिसका अर्थ है असीम; इसलिये उन्होंने हमें पर्याप्त स्पष्ट रूपमें कह दिया है कि यह कल्पना एक अलंकार ही है और विष्णु, अर्थात् सर्वव्यापक देवता, प्रलय-कालमें अनंतकी अर्थात् असीमकी कुण्डलियोंके अन्दर शयन करता है। बाकी क्षीरसमुद्रके विषयमें यह कि वैदिक अलंकार हमें यह दर्शाता है कि यह असीम सत्ताका समुद्र होना चाहिये और यह असीम सत्ताका समुद्र है नितान्त

मधुरताका, दूसरे शब्दोंमें विशुद्ध सुखका एक समुद्र। क्योंकि क्षीर या मधुर दूध (जो स्वयं भी एक वैदिक प्रतीक है) स्पष्ट ही एक ऐसा अर्थ रखता है जो वामदेवके सूक्तके 'मधु', शहद या मधुरतासे सारतः भिन्न नहीं है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वेद और पुराण दोनों एक ही प्रतीकात्मक अलंकारोंका प्रयोग करते हैं; समुद्र उनके लिये असीम और शाश्वत सत्ताका प्रतीक है। हम यह भी पाते हैं कि नदी या बहनेवाली धाराके रूपकको सचेतन सत्ताके प्रवाहका प्रतीकात्मक वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त किया गया है। हम देखते हैं कि सरस्वती, जो सात नदियोंमेंसे एक है, अन्तःप्रेरणा-की नदी है जो सत्यचेतनासे निकलकर बहती है। तो हमें यह कल्पना करनेका अधिकार है कि अन्य छः नदियां भी आध्यात्मिक प्रतीक होनी चाहियें।

पर हमें सर्वथा कल्पना और अटकल पर ही निर्भर रहनेकी आवश्यकता नहीं है, वे चाहे कितनी ही दृढ़ और सर्वथा विश्वासजनक क्यों न हों। जैसे कि वामदेवके सूक्तमें हम देख आये हैं कि नदियां, 'घृतस्य धाराः', वहां घीकी नदियां या भौतिक पानीकी नदियां नहीं हैं पर आध्यात्मिक प्रतीक हैं, वैसे ही हम अन्य सूक्तोंमें सात नदियोंके प्रतीक होनेके संबंधमें बड़ी जबर्दस्त साक्षी पाते हैं। इस प्रयोजनके लिये मैं एक और सूक्तकी परीक्षा करूंगा; तृतीय मण्डलके प्रथम सूक्तकी जो ऋषि विश्वामित्रके द्वारा अग्निदेवताके प्रति गाया गया है; क्योंकि यहां वह सात नदियोंका वर्णन वैसी ही अद्भुत और असंदिग्ध भाषामें करता है, जैसी घृतकी नदियोंके विषयमें वामदेवकी भाषा है। हम देखेंगे कि इन दो पवित्र गायकोंकी गीतियोंमें ठीक एकसे ही विचार बिलकुल भिन्न प्रकरणोंमें आते हैं।

ग्यारहवां अध्याय

सात नदियां

वेद सतत रूपसे जलों या नदियोंका वर्णन करता है, विशेषकर दिव्य जलोंका, 'आपो देवीः' या 'आपो दिव्याः', और कहीं-कहीं उन जलोंका जो अपने अन्दर प्रकाशमय सौर लोकके प्रकाशको या सूर्यके प्रकाशको रखते हैं, 'स्वर्वतीरपः'। जलोंका संचरण, जो देवताओंके द्वारा या देवताओंकी सहायतासे मनुष्योंके द्वारा किया जाता है, एक नियत प्रतीक है। जिनकी मनुष्य अभीप्सा करता है, जिन्हें मनुष्यको दिलानेके लिये देवता वृत्रों और पणियोंके साथ निरन्तर युद्धमें संलग्न रहते हैं, वे तीन महान् विजयें हैं गौएँ, जल और सूर्य या सौर लोक "गाः, अपः, स्वः"। प्रश्न यह है कि क्या ये संकेत आकाशकी वर्षाओंके लिये हैं, उत्तर भारतकी नदियोंके लिये हैं जिनपर द्रविड़ोंने अधिकार कर लिया था या आक्रमण किया था, जब कि वृत्र थे कभी द्रविड़ लोग और कभी उनके देवता, गौएँ थीं वे पशु जिनको वहाँ के मूल निवासी "डाकुओं" ने बाहरसे आकर बसनेवाले आर्योंसे छीनकर हस्तगत कर लिया था या लूट लिया था—और फिर पणि भी जो गौओंको छीनते या चुराते हैं, वे ही थे, कभी द्रविड़ और कभी उनके देवता ;—क्या यही तथ्य है अथवा इसका एक गम्भीरतर एवं आध्यात्मिक अर्थ है। क्या 'स्वः'को विजित कर लेनेका अभिप्राय केवल यह है कि सूर्य जो उमड़ते हुए बादलोंसे ढक गया था या ग्रहणसे अभिभूत था या रात्रिके अन्धकारसे घिरा हुआ था, फिरसे पा लिया गया? क्योंकि यहाँ तो कम-से-कम यह नहीं हो सकता कि सूर्यको आर्योंके पाससे "काली चमड़ीके" और "बिना नाकवाले" मनुष्य-शत्रुओंने छीन लिया हो। अथवा 'स्वः'की विजयका अभिप्राय केवल यज्ञके द्वारा स्वर्गको जीतनेसे है? और इन दोनों अभिप्रायोंमेंसे चाहे जो भी ठीक हो, गौ, जल, सूर्यके अथवा गौ, जल और आकाशके इस विचित्रसे जोड़का क्या अभिप्राय है? इसकी अपेक्षा क्या यह ठीक नहीं है कि यह प्रतीकात्मक अर्थोंको देनेवाली एक पद्धति है, जिसमें गौएँ, जो 'गाः' इस शब्दके द्वारा 'गायें' और 'प्रकाशकी किरणें' दोनों अर्थोंमें निर्दिष्ट हुई हैं, उच्चतर चेतनासे आनेवाले प्रकाश हैं, जिनका मूल उद्गम प्रकाशका सूर्य, सत्यका सूर्य है? क्या 'स्वः' स्वयं अमरताका लोक या स्तर

नहीं है, जो उस सर्वप्रकाशमय सूर्यके प्रकाश या सत्यसे शासित है जिसे वेदमें महान् सत्य, 'ऋतम् बृहत्' और सच्चा प्रकाश कहा गया है? और क्या दिव्य जल, 'आपो देवीः, दिव्याः या स्वर्वतीः', इस उच्चतर चेतनाके प्रवाह नहीं हैं जो मर्त्य मनपर उस अमरताके लोकसे धाराके रूपमें गिरते हैं?

निस्संदेह यह आसान है कि ऐसे सन्दर्भ या सूक्त बताये जा सकें जिनमें ऊपरसे देखनेपर इस प्रकारकी किसी व्याख्याकी आवश्यकता प्रतीत न होती हो और उस सूक्तको यह समझा जा सकता हो कि वह वर्षाको देनेकी प्रार्थना या स्तुति है अथवा पंजाबकी नदियोंपर हुए युद्धका एक लेखा है। परन्तु वेदकी व्याख्या जुदा-जुदा संदर्भों या सूक्तोंको लेकर नहीं की जा सकती। यदि इसका कोई संगत और संबद्ध अर्थ होना है, तो हमें इसकी व्याख्या समग्र रूपमें करनी चाहिये। हो सकता है कि हम 'स्वः' और 'गाः'को भिन्न-भिन्न संदर्भोंमें बिल्कुल ही भिन्न-भिन्न अर्थ देकर अपनी कठिनाइयोंसे पीछा छुड़ा लें—ठीक वैसे ही जैसे सायण 'गाः' में कभी गायका अर्थ पाता है, कभी किरणोंका और कभी एक कमालके हृदयलाघवके साथ वह जबर्दस्ती ही इसका अर्थ जल कर लेता है।[1] परन्तु व्याख्याकी यह पद्धति केवल इस कारण ही युक्तियुक्त नहीं हो जाती, क्योंकि यह 'तर्कवाद-संमत' और 'सामान्य बुद्धिके गोचर' परिणामपर पहुँचाती है। इसकी अपेक्षा ठीक तो यह है कि यह तर्क और सामान्य बुद्धि दोनों की ही अवज्ञा करती है। अवश्य ही इसके द्वारा हम जिस भी परिणामपर चाहें पहुंच सकते हैं, परन्तु कोई भी न्यायानुकूल और निष्पक्षपात मन पूरे निश्चयके साथ यह अनुभव नहीं कर सकता कि वही परिणाम वैदिक सूक्तोंका असली मौलिक अर्थ है।

परन्तु यदि हम एक अपेक्षाकृत अधिक संगत प्रणालीको लेकर चलें तो अनेकों दुर्लंघ्य कठिनाइयां विशुद्ध भौतिक अर्थके विरोधमें आ खड़ी होती हैं। उदाहरणके लिये हमारे सामने वसिष्ठका एक सूक्त (7-49) है, जो दिव्य जलों, 'आपो देवीः, आपो दिव्याः'के लिये है, जिसमें द्वितीय ऋचा इस प्रकार है, 'दिव्य जल जो या तो खोदे हुए या अपने आप बन गये नालोंमें प्रवाहित होते हैं, वे जिनकी गति समुद्रकी ओर है, जो पवित्र हैं, पावक हैं,—वे दिव्य जल मेरी पालना करें।' यहाँ तो यह कहा जायगा कि अर्थ

---

1. इसी प्रकार वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द 'ऋतम्' का कभी यज्ञ, कभी सत्य, कभी जल अर्थ करता है और आश्चर्य तो यह कि ये सब भिन्न-भिन्न अर्थ एक ही सूक्त में और वह भी कुल पांच या छः ऋचाओंवाले!

बिल्कुल स्पष्ट है; ये भौतिक जल हैं, पार्थिव नदियाँ या नहरें हैं—या यदि 'खनित्रिमाः' शब्दका अर्थ केवल "खोदे हुए" यह हो तो ये कुएँ हैं—जिन्हें वसिष्ठ अपने सूक्तमें संबोधित कर रहा है और 'दिव्याः', दिव्य, यह स्तुतिका केवल एक शोभापरक विशेषण है, अथवा यह भी संभव है कि हम इस ऋचा का दूसरा ही अर्थ कर लें और यह कल्पना करें कि यहाँ तीन प्रकारके जलोंका वर्णन है,—आकाशके जल अर्थात् वर्षा, कुओंका जल, नदियोंका जल। परंतु जब हम इस सूक्तका समग्र रूपमें अध्ययन करते हैं, तब यह अर्थ अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। क्योंकि सारा सूक्त इस प्रकार है—

"वे दिव्य जल मेरी पालना करें, जो समुद्रके सबसे ज्येष्ठ (या सबसे महान्) जल हैं, जो गतिमय प्रवाहके मध्यमेंसे पवित्र करते हुए चलते हैं, जो कहीं टिक नहीं जाते, जिन्हें वज्रधारी, वृषभ इन्द्रने काटकर बाहर निकाला है (1)। दिव्य जल जो या तो खोदी हुई या स्वयं बन गई नहरोंमें बहते हैं, जिनकी गति समुद्रकी ओर है, जो पवित्र हैं, पावक हैं, वे दिव्य जल मेरी पालना करें (2)। जिनके मध्यमें राजा वरुण प्राणियोंके सत्य और अनृतको देखता हुआ चलता है, वे जो मधु-स्रावी हैं और पवित्र तथा पावक हैं—वे दिव्य जल मेरी पालना करें (3)। जिनमें वरुण राजा, जिनमें सोम, जिनमें सब देवता शक्तिका मद पाते हैं, जिनके अंदर वैश्वानर अग्नि प्रविष्ट हुआ है, वे दिव्य जल मेरी पालना करें (4)।"[1]

यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ यहाँ उन्हीं जलों, उन्हीं धाराओंके विषयमें कह रहा है जिनका वामदेवने वर्णन किया है—जल जो समुद्रसे उठते हैं और बहकर समुद्रमें चले जाते हैं, मधुमय लहर जो समुद्रसे, उस प्रवाहसे जो वस्तुओंका हृदय है, ऊपरको उठती है, जल जो निर्मलताकी धाराएँ हैं, 'घृतस्य धाराः'। वे परमोच्च और वैश्व चेतन सत्ताके प्रवाह हैं, जिनमें वरुण मर्त्योंके सत्य और अनृतका अवलोकन करता हुआ गति करता

---

1. समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥१॥
या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥२॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥३॥
यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥४॥ (ऋ०7-49)

है (देखिये, यह एक ऐसा वाक्यांश है जो न तो नीचे आती हुई वर्षाओंकी ओर लग सकता है न ही भौतिक समुद्रकी ओर)। वेदका 'वरुण' भारतका नैपचून (Neptune) नहीं है, नाहीं वह ठीक-ठीक, जैसी कि पहले-पहल योरोपीय विद्वानोंने कल्पना की थी, ग्रीक औरेनस (Ouranos); आकाश है। यह है आकाशीय विस्तारका, एक उपरले समुद्र का, सत्ताकी विस्तीर्णताका, इसकी पवित्रताका अधिपति; दूसरी जगह यह कहा गया है कि उस विस्तीर्णतामें उसने पथरहित अनन्तमें पथ बनाया है जिसके अनुसार सूर्य, सत्य और प्रकाशका अधिपति, गति कर सकता है। वहाँसे वह मर्त्य चेतनाके मिश्रित सत्य और अनृतपर दृष्टि डालता है...। और आगे इसपर ध्यान देना चाहिये कि ये दिव्य जल वे हैं जिनको इन्द्रने काटकर बाहर निकाला है और पृथ्वीपर प्रवाहित किया है—यह एक ऐसा वर्णन है जो सारे वेदमें सात नदियोंके संबंधमें किया गया है।

यदि इस विषयमें कोई संदेह हो भी कि वसिष्ठकी स्तुतिके ये जल वे ही हैं जो वामदेवके महत्त्वपूर्ण सूक्तके जल हैं, 'मधुमान् ऊर्मिः, घृतस्य धाराः', तो यह संदेह ऋषि वसिष्ठके एक दूसरे सूक्त 7.47 से पूर्णतया दूर हो जाता है। 49वें सूक्तमें उसने संक्षेपसे दिव्य जलोंके विषयमें यह संकेत किया है कि वे मधुस्रावी हैं, 'मधुश्चुतः', और यह वर्णन किया है कि देवता उनमें शक्तिके मदका आनंद लेते हैं, 'ऊर्जं मदन्ति'; इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि मधु या मधुरता वह 'मधु' है जो 'सोम' है, आनंदकी मदिरा है, जिसका देवताओंको मद चढ़ा करता है। परंतु 47वें सूक्तमें वह अपने अभिप्रायको असंदिग्धरूपसे स्पष्ट कर देता है।

"हे जलो! तुम्हारी उस प्रधान लहरका जो इन्द्रका पेय है, जिसे देवत्व-के अन्वेषकोंने अपने लिये रचा है, तुम्हारी उस पवित्र, अदूषित, निर्मलताकी प्रवाहक (घृतप्रुषम्), मधुमय (मधुमन्तम्), लहरका आज हम आनन्द ले सकें (1)। हे जलो! जलोंका पुत्र (अग्नि), वह जो आशुकारी है, तुम्हारी उस अति मधुमय लहरकी पालना करे; हम जो देवत्वके अन्वेषणमें लगे हैं आज तुम्हारी उस लहरका आस्वादन कर पायें जिसमें इन्द्र वसुओं सहित मदमस्त हो जाता है (2)। सौ शोधक चालनियोंमेंसे छानकर पवित्रकी हुई, स्वप्रकृतिसे ही मदकारक, वे (नदियाँ) दिव्य हैं और देवताओं की गतिके लक्ष्यस्थान (उच्च समुद्र)को जाती हैं, वे इन्द्रके कर्मोंको सीमित नहीं करतीं, ऐसी नदियोंके लिये हवि दो जो निर्मलतासे भरपूर हो (घृतवत्) (3)। वे नदियां जिन्हें सूर्यने अपनी किरणोंसे रचा है, जिनमेंसे इन्द्रने एक गतिमय लहरको काटकर निकाला है, हमारे लिये उच्च हित (वरिवः)-

को स्थापित करें। और तुम, हे देवो, सुखकी अवस्थाओंके द्वारा सदा हमारी रक्षा करते रहो (4)।"[1]

यहाँ हमें वामदेवकी 'मधुमान् ऊर्मिः', मधुमय मदजनक लहर मिलती है और यह साफ-साफ कहा गया है कि यह मधु, यह मधुरता, सोम है, इन्द्रका पेय है। आगे चलकर 'शतपवित्राः' इस विशेषणके द्वारा यह और भी स्पष्ट हो गया है, क्योंकि यह विशेषण वैदिक भाषामें केवल 'सोम'को ही सूचित कर सकता है; और हमें यह भी ध्यानमें लाना चाहिये कि यह विशेषण स्वयं नदियों ही के लिये है और यह कि मधुमय लहर इन्द्र द्वारा उन नदियोंमेंसे बहाकर लायी गयी है, जब कि इसका मार्ग पर्वतों पर वज्र द्वारा वृत्रका वध करके काटकर निकाला गया है। फिर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये जल सात नदियां हैं, जो इन्द्र द्वारा 'वृत्र'के, अवरोधकके, आच्छादकके, पंजेसे छुड़ाकर लायी गयी हैं और नीचे को बहाकर पृथ्वी पर भेजी गयी हैं।

ये नदियां क्या हो सकती हैं जिनकी लहर 'सोम'की मदिरासे भरपूर है, 'घृत'से भरपूर है, 'ऊर्ज्'से, शक्तिसे, भरपूर है? ये जल क्या हैं जो देवोंकी गतिके लक्ष्यकी ओर प्रवाहित होते हैं, जो मनुष्यके लिये उच्च हित-को स्थापित करते हैं? पंजाबकी नदियां नहीं, वैदिक ऋषियोंकी मनोवृत्तिमें जंगलियों जैसी असंबद्धता और विक्षिप्तचित्तोंकी सी असंगति रहती थी, इस प्रकारकी कोई जंगली-से-जंगली कल्पना भी हमें इसके लिये प्रेरित नहीं कर सकती कि हम उनके इस प्रकारके वचनों पर अपना इस प्रकारका अभि-प्राय बना सकें। स्पष्ट ही ये सत्य और सुखके जल हैं जो उच्च, परम समुद्रसे प्रवाहित होते हैं। ये नदियां पृथ्वी पर नहीं, बल्कि द्युलोकमें बहती हैं; 'वृत्र', जो अवरोधक है, आच्छादक है, उस पार्थिव-चेतना पर जिसमें हम मर्त्य रहते हैं, इनके बहकर आनेको रोके रखता है, जब तक कि 'इन्द्र',

---

1. आपो यं वः प्रथमं देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळः।
तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम ॥१॥
तमूर्मिमापो मधुमत्तमं वोऽपां नपादवत्वाशुहेमा।
यस्मिन्निन्द्रो वसुभिर्मादयाते तमश्याम देवयन्तो वो अद्य ॥२॥
शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथः।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत ॥३॥
याः सूर्यो रश्मिभिराततान माभ्य इन्द्रो अरदद् गातुमूर्मिम्।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥४॥ (ऋ.7-47)

देवरूप मन, अपने चमकते हुए विद्युद्बाणोंसे इस आच्छादकका वध नहीं कर देता और उस पार्थिव चेतनाके शिखरों पर काट-काटकर वह मार्ग नहीं बना देता जिसपर नदियोंको बहकर आना होता है। वैदिक ऋषियोंके विचार और भाषाकी एकमात्र इसी प्रकारकी व्याख्या युक्तियुक्त, संगत और बुद्धि-गम्य हो सकती है। बाकी जो रहा उसे वसिष्ठ हमारे लिये पर्याप्त स्पष्ट कर देता है; क्योंकि वह कहता है कि ये वे जल हैं जिन्हें सूर्यने अपनी किरणों द्वारा रचा है और जो पार्थिव गतियोंके विसदृश, 'इन्द्र'के, परम मनके, व्यापारोंको सीमित या क्षीण नहीं करते। दूसरे शब्दोंमें ये महान् सत्य, 'ऋतम् बृहत्'के जल हैं और जैसा कि हमने सर्वत्र देखा है कि यह सत्य सुखको रचता है, वैसा ही यहाँ हम पाते हैं कि ये सत्यके जल, 'ऋतस्य धाराः', जैसा कि दूसरे सूक्तोंमें उन्हें स्पष्ट ही कहा गया है, (उदाहरणार्थ : 5-12-2 में कहा गया है, 'ओ सत्यके द्रष्टा, केवल सत्यका ही दर्शन कर, सत्यकी अनेक धाराओंको—ऋतस्य धाराः—काटकर निकाल')[1], मनुष्यके लिये उच्च हित (वरिवः)को स्थापित करते हैं और उच्च हित है सुख[2], दिव्य सत्ताका आनंद।

तो भी न इन सूक्तोंमें, न ही वामदेवके सूक्तमें सात नदियोंका कोई सीधा उल्लेख आया है। इसलिये हम विश्वामित्रके प्रथम सूक्त (3.1) पर आते हैं जो अग्निके प्रति कहा गया है, और इसकी दूसरीसे लेकर चौदहवीं ऋचा तकको देखते हैं। यह एक लंबा संदर्भ है, परंतु यह पर्याप्त आवश्यक है कि इसे उद्धृत किया जाय और इस सारेका ही अनुवाद किया जाय।

प्राञ्चं यज्ञं चकृम वर्धतां गीः समिद्भिरग्निं नमसा दुवस्यन्।
दिवः शशासुर्विदथा कवीनां गृत्साय चित् तवसे गातुमीयुः ॥२॥
मयो दधे मेधिरः पूतदक्षो दिवः सुबन्धुर्जनुषा पृथिव्याः।
अविन्दद्दु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसृणाम् ॥३॥
अवर्धयन् त्सुभगं सप्त यह्वीः श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा।
शिशुं न जातमभ्यारुरश्वा देवासो अग्निं जनिमन् वपुष्यन् ॥४॥
शुक्रेभिरङ्गैः रज आततन्वान् कृतुं पुनानः कविभिः पवित्रैः।
शोचिर्वसानः पर्यायुरपां श्रियो मिमीते बृहतीरनूनाः ॥५॥
वव्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः।
सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः ॥६॥

---

1. ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धि ऋतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
2. निःसंदेह 'वरिवः' शब्द का अभिप्राय प्रायः 'सुख' होता भी है।

स्तीर्णा अस्य संहतो विश्वरूपा घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम् ।
अस्थुरत्र धेनवः पिन्वमाना महो रसस्य मातरा समीची ॥७॥
बभ्राणः सूनो सहसो व्यद्यौद् दधानः शुक्रा रभसा वपूंषि ।
श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन ॥८॥
पितुश्चिदूधर्वनुवा विवेद व्यस्य धारा असृजद् वि धेनाः ।
गुहा चरन्तं सक्षिभिः शिवेभिर्दिवो यह्वीभिर्न गुहा बभूव ॥९॥
पितुश्च गर्भं जनितुश्च बभ्रे पूर्वीरेको अधयत् पीप्यानाः ।
वृष्णे सपत्नी शुचये सबन्धू उभे अस्मै मनुष्ये३ नि पाहि ॥१०॥
उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धाऽऽपो अग्निं यशसः सं हि पूर्वीः ।
ऋतस्य योनावशयद् वमूना जामीनामग्निरपसि स्वसृणाम् ॥११॥
अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनां विदुक्षेयः सूनवे भाऋजीकः ।
उदुस्रिया जनिता यो जजानाऽपां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः ॥१२॥
अपां गर्भं दर्शतमोषधीनां वना जजान सुभगा विरूपम् ।
देवासश्चिन्मनसा सं हि जग्मुः पनिष्ठं जातं तवसं दुवस्यन् ॥१३॥
बृहन्त इद् भानवो भाऋजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः ।
गुहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः ॥१४॥

"हमने (प्राञ्चं) प्रकृष्टतमकी तरफ आरोहण करनेके लिये (यज्ञं चक्रम) यज्ञ किया है, हम चाहते हैं कि (गीः) वाणी (वर्धतां) वृद्धिको प्राप्त हो। उन्होंने [देवोंने] ('अग्निं') 'अग्नि'को, (समिद्धिः) उसकी ज्वालाओंकी प्रदीप्तिके साथ, (नमसा) आत्मसमर्पणके नमस्कारके साथ, (दुवस्यन्) उसके व्यापारोंमें प्रवृत्त किया है, उन्होंने (कवीनां) द्रष्टाओंके (विदथा) ज्ञानोंको (दिवः) द्यौ से (शशासुः) अभिव्यक्त किया है और वे उस [अग्नि]के लिये (गातुं) एक मार्गको (ईर्षुः) चाहते हैं, (तवसे) इसलिये कि उसकी शक्ति प्रकाशित हो सके, (गृत्साय चित्) इसलिये कि उसकी शब्दको पानेकी इच्छा पूरी हो सके।(२)

"(मेधिरः) मेधासे भरपूर (पूतदक्षः) शुद्ध विवेकवाला (जनुषा) अपने जन्मसे (दिवः) द्यौका (पृथिव्याः) और पृथिवीका (सुबन्धुः) पूर्ण सखा या पूर्ण निर्माता वह [अग्नि] (मयः) सुखको (दधे) स्थापित करता है, (देवासः) देवोंने (अप्सु अन्तः) 'जलों'के अंदर, (स्वसृणाम् अपसि) 'बहिनों'की क्रियाके अंदर (दर्शतं) सुदृश्य रूपमें (अग्निम्) 'अग्नि'को (अविन्दन् उ) पा लिया।(३)

"(सप्त) सात (यह्वीः) शक्तिशाली [नदियों]ने उसे [अग्निको] (अवर्धयन्) प्रवृद्ध किया, (सुभगं) उसे जो पूर्ण रूपसे सुखका उपभोग करता

है, (श्वेतं जज्ञानं) जो अपने जन्मसे सफेद है, (बरुषं महित्वा) बड़ा होकर अरुण हो जाता है। वे [नदियां] (अभ्यारुः) उसके चारों ओर गयीं और उन्होंने उसके लिये प्रयत्न किया; (शिशुं न जातम् अश्वाः) उन्होंने जो नवजात शिशुके पास घोड़ियोंके तुल्य थीं; (देवासः) देवोंने (अग्निं) अग्निको (जनिमन्) उसके जन्मकालमें (वपुष्यन्) शरीर दिया। (४)

"(पवित्रैः कविभिः) पवित्र कवियों [ज्ञानाधिपतियों]की सहायतासे (ऋतुं) कर्मपरक संकल्पको (पुनानः) पवित्र करते हुए उसने [अग्नि ने] (शुक्रैः अङ्गैः) अपने साफ, चमकीले अंगोंसे (रजः) मध्यलोकको (आततन्वान्) ताना और रचा; (अपाम् आयुः परि) जलोंके समस्त जीवनके चारों ओर (शोचिः वसानः) चोगेकी तरह प्रकाशको पहने हुए उसने अपने अंदर (श्रियः) कान्तियोंको (मिमीते) रचा जो (बृहतीः) विशाल तथा (अनूनाः) न्यूनता-रहित थीं। (५)

"अग्निने (दिवः यह्वीः) द्युलोककी शक्तिशाली [नदियों]के इधर-उधर (सीं वव्राज) सर्वत्र गतिकी जो [नदियां] (अनदतीः) निगलती नहीं, (अदब्धाः) न ही वे आक्रान्त होती हैं, [अवसनाः] वे वस्त्र नहीं पहने हुई थीं, (अनग्नाः) न ही वे नंगी थीं। (अत्र) यहाँ (सना) उन शाश्वत (युवतयः) और सदा-युवती देवियोंने (सयोनीः) जो समान गर्भसे उत्पन्न हुई हैं, (सप्त वाणीः) जो सात वाणी-रूप थीं (एकं गर्भं दधिरे) एक शिशुको गर्भरूपसे धारण किया है। (६)

"(अस्य) इसके (संहतः) पुंजीभूत समुदाय, (विश्वरूपाः) जो विश्वरूप थे, (घृतस्य योनौ) निर्मलताके गर्भमें, (मधूनां स्रवथे) मधुरताके प्रवाहमें (स्तीर्णाः) फैले पड़े थे, (अत्र) यहाँ (धेनवः) प्रीणयित्री नदियां (पिन्वमानाः) अपने-आपको पुष्ट करती हुई (अस्थुः) स्थित हुईं और (दस्मस्य) कार्यको पूरा करनेवाले देव [अग्नि]की (मातरा) दो माताएँ (मही) विशाल तथा (समीची) समस्वर हो गयीं। (७)

"(बभ्राणः) उनसे धारण किया हुआ तू, (सहसः सूनो) ओ शक्तिके पुत्र! (शुक्रा रभसा वपूंषि दधानः) चमकीले और हर्षोन्मादी शरीरोंको धारण किये हुए (व्यद्यौत्) विद्योतमान हुआ। (मधुनः) मधुरताकी (घृतस्य) निर्मलताकी (धाराः) धाराएँ (श्चोतन्ति) निकलकर प्रवाहित हो रही हैं, (यत्र) जहाँ (वृषा) समृद्धिका 'बैल' (काव्येन) ज्ञानके द्वारा (वावृधे) बढ़कर बड़ा हुआ है। (८)

"(जनुषा) जन्म लेते ही उसने (पितुः चित्) पिताके (ऊधः) समृद्धिके स्रोतको (विवेद) ढूंढ़ निकाला और उसने (अस्य) उस [पिता]की (धाराः)

धाराओंको (वि असृजत्) खुला कर दिया, उस [पिता]की (धेनाः) नदियों को (वि [असृजत्]) खुला कर दिया। (शिवेभिः सखिभिः) अपने हितकारी सखाओंके द्वारा और (दिवः यह्वीभिः) आकाशकी महान् [नदियों]के द्वारा उसने (गुहा चरन्तं) सत्ताके रहस्यमय स्थानोंमें विचरते हुए उसे [पिताको] पा लिया (न गुहा बभूव) तो भी स्वयं वह उसकी रहस्यमयताके अंदर नहीं खो गया। (९)

"उसने (पितुः च) पिताके और (जनितुः च) जनिता, उत्पन्न करनेवालेके (गर्भं) गर्भस्थ शिशुको (बभ्रे) धारण किया, (एकः) उस एकने (पूर्वीः) अपनी अनेक माताओंका (पीप्यानाः) जो वृद्धिको प्राप्त हो रही थीं, (अधयत्) दुग्धपान किया, सुखोपभोग प्राप्त किया। (अस्मै शुचये वृष्णे) इस पवित्र 'पुरुष'में ['पुरुष'के लिये] (मनुष्ये उभे) मनुष्यके अंदर रहनेवाली ये जो दो शक्तियाँ [द्यौ और पृथिवी] (सपत्नी सबंधू) एकसमान पतिवाली, एकसमान प्रेमीवाली होती हैं, [उभे निपाहि] उन दोनोंकी तू रक्षा कर।(१०)

"(अनिबाधे उरौ) निर्बाध विस्तीर्णतामें (महान्) महान् वह (ववर्ध) वृद्धिको प्राप्त हुआ (हि) निश्चयसे (पूर्वीः आपः) अनेक जलोंने (यशसः) यशस्विताके साथ (अग्निं) अग्निको (सं) सम्यक्तया प्रवृद्ध किया। (ऋतस्य योनौ) सत्यके स्रोतमें वह (अशयत्) स्थित हुआ, (दमूनाः) वहाँ उसने अपना घर बना लिया, (अग्निः) अग्निने (जामीनां स्वसृणाम् अपसि) अविभक्त हुई बहिनोंके व्यापारमें। (११)

"(अक्रः) वस्तुओंमें गति करनेवाले और (बभ्रिः न) उन्हें थामनेवाले के रूपमें वह (महीनाम्) महान् [नदियों]के (समिथे) संगममें (दिदृक्षेयः) दर्शनकी इच्छावाला, (सूनवे) सोम-रसके अभिषोताके लिये (भाऋजीकः) अपनी दीप्तियोंमें ऋजु (यः जनिता) वह, जो किरणोंका पिता था, उसने अब (उस्रियाः) उन किरणोंको (उत् जजान) उच्चतर जन्म दे दिया,– (अग्निः) उस अग्निने (अपां गर्भः) जो जलोंका शिशु था, (यह्वः) शक्तिशाली और (नृतमः) सबसे अधिक बलवान् था। (१२)

"(अपां) जलोंके और (ओषधीनां) ओषधियोंके, पृथ्वीके उद्भिदोंके (दर्शतं) सुदृश्य (गर्भं) गर्भजातको (वना) आनंदकी देवीने अब (विरूपं जजान) अनेक रूपोंमें पैदा कर दिया, (सुभगा) उसने जो नितान्त सुखवाली है। (देवासः चित्) देवता भी (मनसा) मनके द्वारा (सं जग्मुः हि) उसके चारों ओर एकत्रित हुए और (दुवस्यन्) उन्होंने उसे उसके कार्यमें लगाया (पनिष्ठं तवसं जातम्) जो प्रयत्न करनेके लिये बड़ा बलवान् और बड़ा शक्तिशाली होकर पैदा हुआ था। (१३)

"(बृहन्त इत् भानवः) वे विशाल दीप्तियां (अग्निम्) अग्निके साथ (सचन्त) संसक्त हो गयीं, जो अग्नि (भाऋजीकं) अपने प्रकाशोंमें ऋजु था, वे (विद्युतः न शुक्राः) चमकीली विद्युतोंके समान थीं, (अपारे ऊर्वे) अपार विस्तारमें (स्वे सदसि अन्तः) अपने स्वकीय स्थानमें, अंदर (गुहेव) सत्ताके गुह्य स्थानोंमें, मानो गुहामें (वृद्धं) बढ़ते हुए उस [अग्नि]से उन्होंने (अमृतं दुहानाः) अमरताको दुहकर निकाला। (१४)"

इस संदर्भका कुछ भी अर्थ क्यों न हो,—और यह पूर्ण रूपसे स्पष्ट है कि इसका कोई रहस्यमय अभिप्राय है और यह केवल कर्मकाण्डी जंगलियों की याज्ञिक स्तुतिमात्र नहीं है,—सात नदियां, जल, सात बहिनें यहाँ पंजाबकी सात नदियां नहीं हो सकतीं। वे जल जिनमें देवोंने सुदृश्य अग्निको खोजकर पाया है, पार्थिव और भौतिक धाराएँ नहीं हो सकतीं; यह अग्नि जो ज्ञान द्वारा प्रवृद्ध होता है और सत्यके स्रोतमें अपना घर तथा विश्रामस्थान बनाता है, जिसकी आकाश और पृथ्वी दो स्त्रियाँ तथा प्रेमिकाएँ हैं, जो दिव्य जलों द्वारा अपने निजी घर, निर्बाध विस्तीर्णताके अंदर प्रवृद्ध हुआ है और उस अपार असीमतामें निवास करता हुआ जो प्रकाशयुक्त देवोंको परम अमरता प्रदान करता है, भौतिक आगका देवता नहीं हो सकता। अन्य बहुतसे संदर्भोंकी भाँति ही इस संदर्भमें वेदके मुख्य प्रतिपाद्य विषयका रहस्यमय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक स्वरूप अपने-आपको प्रकट कर देता है, यह नहीं कि ऊपरी सतहके नीचे रहकर, यह नहीं कि निरे कर्मकाण्डके आवरणके पीछे छिपकर, किंतु खुले तौरपर, बलपूर्वक—बेशक एक प्रच्छन्न रूपमें, पर वह प्रच्छन्नता ऐसी है जो पारदर्शक है, जिससे वेदका गुह्य सत्य यहाँ, विश्वामित्रके सूक्तकी नदियोंके समान, "न आवृत, न ही नग्न" दिखायी देता है।

हम देखते हैं कि ये जल वे ही हैं जो वामदेवके सूक्त और वसिष्ठके सूक्तके हैं, 'घृत' और 'मधु'से इनका निकट सम्बन्ध है,—"घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्, श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य"; वे सत्यकी ओर ले जाते हैं, वे स्वयं सत्यका स्रोत हैं, वे निर्बाध और अपार विस्तीर्णताके लोकमें तथा यहाँ पृथ्वीपर प्रवाहित होते हैं। उन्हें अलंकाररूपमें प्रीणयित्री गौएँ (धेनवः), घोड़ियाँ (अश्वाः) कहा गया है, उन्हें 'सप्त वाणीः', रचनाशक्ति रखनेवाली 'वाग्'-देवीके सात शब्द कहा गया है,—यह 'वाग्'देवी है 'अदिति'की, परम प्रकृतिकी, अभिव्यंजक शक्ति जिसका 'गाय' रूपसे वर्णन किया गया है, ठीक जैसे कि देव या पुरुषको वेदमें 'वृषभ' या 'वृष्ण' अर्थात् 'बैल' कहा गया है। इसलिये वे सम्पूर्ण सत्ताके सात तार हैं, एक सचेतन सद्वस्तुके व्यापारकी सात नदियाँ, धाराएँ या रूप हैं।

हम देखेंगे कि उन विचारोंके प्रकाशमें जिन्हें हमने वेदके प्रारंभमें ही मधुच्छन्दस्के सूक्तमें पाया है और उन प्रतीकात्मक व्याख्याओंके प्रकाशमें जो अब हमें स्पष्ट होने लगी हैं, यह संदर्भ जो इतना अधिक अलंकारमय, रहस्यमय, पहेली-सा प्रतीत होता है, बिल्कुल ही सरल और संगत लगने लगता है, जैसे कि वस्तुतः ही वेद के सभी संदर्भ जो पहिले लगभग अबुद्धिगम्यसे प्रतीत होते हैं तब सरल और संगत लगने लगते हैं जब उनका ठीक मूलसूत्र मिल जाता है। हमें बस केवल अग्निके आध्यात्मिक व्यापारभरको नियत करना है, उस अग्निके जो पुरोहित है, युद्ध करनेवाला है, कर्मकर्त्ता है, सत्यको पानेवाला है, मनुष्यके लिये आनन्दको अधिगत करानेवाला है; और अग्निका यह आध्यात्मिक व्यापार हमारे लिये ऋग्वेदके प्रथम सूक्तमें अग्निविषयक मधुच्छन्दस्के वर्णन द्वारा पहले से ही नियत है,—"वह जो कर्मोंमें द्रष्टाका संकल्प है, जो सत्य है और नानाविध अन्तःप्रेरणाका महाधनी है।"[1] अग्नि है देव, सर्व-द्रष्टा, जो सचेतन शक्तिके रूपमें व्यक्त हुआ है अथवा, आधुनिक भाषामें कहें तो, जो 'दिव्य-संकल्प' या 'विश्व-संकल्प' है, जो पहले गुहामें छिपा होता है और शाश्वत लोकोंका निर्माण कर रहा होता है, फिर व्यक्त होता है, 'उत्पन्न' होता है और मनुष्यके अन्दर सत्य तथा अमरत्वका निर्माण करता है।

इसलिये विश्वामित्र इस सूक्तमें जो कहता है वह यह है कि देवता और मनुष्य आन्तरिक यज्ञकी अग्नियोंको जलाकर इस दिव्य शक्ति (अग्निदेव) को प्रदीप्त कर लेते हैं, वे इसके प्रति अपने पूजन और आत्म-समर्पणके द्वारा इसे कार्य करने योग्य बना लेते हैं, वे आकाशमें अर्थात् विशुद्ध मनोवृत्तिमें, जिसका प्रतीक 'द्यौ' है, द्रष्टाओंके ज्ञानोंको, दूसरे शब्दोंमें जो मनसे अतीत है उस सत्य-चेतनाके प्रकाशोंको, अभिव्यक्त करते हैं और ऐसा वे इसलिए करते हैं कि वे इस दिव्य शक्तिके लिये मार्ग बना सकें, जो अपने पूरे बलके साथ, सच्ची आत्माभिव्यक्तिके शब्दको निरन्तर पाना चाहती हुई, मनसे परे पहुंचनेकी अभीप्सा रखती है। यह दिव्य संकल्प अपनी सब क्रियाओंमें दिव्य ज्ञानके रहस्यको रखता हुआ, 'कविक्रतुः', मनुष्यके अन्दर मानसिक एवं भौतिक चेतनाका, 'दिवः पृथिव्याः', मित्रवत् सहायक होता है या उसका निर्माण करता है, बुद्धिको पूर्ण करता है, विवेकको शुद्ध करता है, जिससे वे विकसित होकर "द्रष्टाओंके ज्ञानों"को ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं और उस अतिचेतन सत्यके द्वारा जो इस प्रकार हमारे लिये

1· कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।

चेतनागम्य कर दिया जाता है, वह दृढ़ रूपसे हममें आनन्दको स्थापित कर देता है, (ऋचा २, ३)।

इस संदर्भके अवशिष्ट भागमें इस दिव्य सचेतन-शक्ति, 'अग्नि', के मर्त्य और भौतिक चेतनासे उठकर सत्य तथा आनन्दकी अमरताकी ओर आरोहण करनेका वर्णन है, जो अग्नि मर्त्योंमें अमर है, जो यज्ञमें मनुष्यके सामान्य संकल्प और ज्ञानका स्थान लेता है। वेदके ऋषि मनुष्यके लिये पांच जन्मों-का वर्णन करते हैं, प्राणियोंके पांच लोकोंका जहां कर्म किये जाते हैं, "पञ्च-जनाः, पञ्चकृष्टीः या पञ्चक्षितीः।" द्यौ और पृथ्वी विशुद्ध मानसिक और भौतिक चेतनाके द्योतक हैं, उनके बीचमें है अन्तरिक्ष, प्राणमय या वातमय चेतनाका मध्यवर्ती या संयोजक लोक। द्यौ और पृथिवी हैं 'रोदसी', हमारे दो लोक; पर इनको हमें पार कर जाना है, क्योंकि तभी हम उस अन्य लोकमें प्रवेश पा सकते हैं जो विशुद्ध मनके द्युलोकसे अतिरिक्त एक और ऊपरका द्युलोक है—बृहत्, विशाल द्यौ है जो असीम चेतना, 'अदिति', का आधार, बुनियाद (बुध्न) है। यह 'बृहत्' द्यौ है वह सत्य जो सर्वोच्च त्रिविध लोकको, 'अग्नि'के, 'विष्णु' के उन उच्चतम पदों या स्थानों (पदानि, सदांसि)को, माताके, गौके, 'अदिति'के उन परम 'नामों'को थामता है। यह बृहत् या सत्य 'अग्नि'का निजी या वास्तविक स्थान अथवा घर कहा गया है, 'स्वं दमम्, स्वं सदः'। 'अग्नि'को इस सूक्तमें पृथिवीसे अपने स्व-कीय स्थानकी ओर आरोहण करता हुआ वर्णित किया गया है।

इस दिव्य शक्तिको देवोंने जलोंमें, बहिनोंकी क्रियामें सुदृश्य हुआ पाया है। ये जल सत्यके सप्तविध जल हैं, दिव्य जल हैं, जो हमारी सत्ताके उच्च शिखरोंसे इन्द्र द्वारा नीचे लाये गये हैं। यह दिव्य शक्ति पार्थिव उद्भिदों, 'ओषधीः'के अन्दर, उन वस्तुओंके अन्दर जो पृथ्वीकी गर्मी (ओष) को धारे रखती हैं, छिपी होती है और एक प्रकारकी शक्तिके द्वारा, दो 'अरणियों'—पृथिवी और आकाश—के घर्षण द्वारा इसे प्रकट करना होता है। इसलिये इसे पार्थिव उद्भिदों (ओषधियों)का पुत्र और पृथिवी तथा द्यौःका पुत्र कहा गया है; इस अमर शक्ति को मनुष्य बड़े परिश्रम और बड़ी कठिनाईसे भौतिक सत्ता पर पवित्र मनकी क्रियाओंसे पैदा करता है। परन्तु दिव्य जलोंके अन्दर 'अग्नि' सुदृश्य रूपमें पाया गया है (ऋचा ३का उत्तरार्ध) और अपने सारे बलसहित तथा अपने सारे ज्ञानसहित और अपने सारे सुखोप-भोगसहित आसानीसे पैदा हो गया है, वह पूर्णतया सफेद और शुद्ध है, अपनी क्रियासे वह अरुण हो जाता है जब कि वह प्रवृद्ध होता है। उसके जन्मसे ही देवता उसे शक्ति, तेज और शरीर दे देते हैं; सात शक्तिशाली

नदियाँ उसके सुखमें उसे प्रवृद्ध करती हैं; वे इस महिमाशाली नवजात शिशुके चारों ओर गति करती हैं और उसपर घोड़ियों, 'अश्वाः' के रूपमें प्रयत्न करती हैं (ऋचा ४)।

नदियाँ जिनको बहुधा 'धेनवः' अर्थात् 'प्रीणयित्री गौएं' यह नाम दिया गया है, यहाँ 'अश्वाः' अर्थात् 'घोड़ियां' इस नामसे वर्णित हुई हैं, क्योंकि जहाँ 'गौ' ज्ञानरूपिणी चेतनाका एक प्रतीक है, वहाँ 'अश्व', घोड़ा, प्रतीक है शक्तिरूपिणी चेतना का। 'अश्व', घोड़ा, जीवनकी क्रियाशील शक्ति है, और नदियाँ जो पृथिवी पर अग्निके चारों ओर प्रयत्न करती हैं, जीवनके जल बन जाती हैं, उस जीवनके, प्राणमय क्रिया या गतिके, उस 'प्राण'के जो गति करता है और क्रिया करता है और इच्छा करता है तथा भोगता है। अग्नि स्वयं प्रारंभमें भौतिक ताप या शक्ति-रूप होता है, फिर अपने-आपको घोड़ेके रूपमें प्रकट करता है और तभी वह फिर द्यौःकी अग्नि बन पाता है। उसका पहला कार्य यह है कि जलोंके शिशुके रूपमें वह मध्यलोक-को, प्राणमय या क्रियाशील लोकको उसका पूर्ण रूप और विस्तार और पवित्रता प्रदान करे, रज आततन्वान्, अपने विशुद्ध, चमकीले अंगोंसे मनुष्य-के अन्दर व्याप्त होता हुआ, इसकी अन्तः-प्रवृत्तियोंको और इच्छाओंको, कर्मोंमें इसके पवित्र हुए संकल्पको (क्रतुम्), अतिचेतन सत्य और ज्ञानकी पवित्र शक्तियोंके द्वारा, 'कविभिः पवित्रैः', ऊपर उठाता हुआ वह मनुष्यके वातमय जीवनको पवित्र करता है। इस प्रकार वह जलोंके समस्त जीवनके चारों ओर अपनी विशाल कांतियोंको ओढ़ता है, धारण करता है, जो कांतियाँ अब 'बृहतीः' विशाल हो गयी हैं, वासनाओं और अन्ध-प्रेरणाओंकी जीर्ण-शीर्ण तथा सीमित गतिमात्र नहीं रही हैं। (ऋचा ४, ५)

सप्तविध जल इस प्रकार ऊपर उठते हैं और विशुद्ध मानसिक क्रियाएं, द्युलोककी शक्तिशाली नदियाँ (दिवः यह्वीः) बन जाते हैं। वे नदियाँ वहाँ अपने-आपको प्रथम, शाश्वत, सदा-युवती शक्तियोंके रूपमें, दिव्य मन-की सात वाणियों या आधारभूत रचनाशील ध्वनियों, 'सप्त वाणीः'के रूपमें प्रकट करती हैं, जो यद्यपि भिन्न धाराएं हैं, पर उनका उद्गम एक ही है—क्योंकि वे सब एक ही पराचेतन सत्यके गर्भमेंसे निकली हैं। विशुद्ध मनका यह जीवन वातमय जीवनके सदृश नहीं है, जो अपनी मर्त्य सत्ताको स्थिर रखनेके लिये अपने उद्देश्योंको निगलता रहता है; इसके जल निगलते नहीं, पर वे विनष्ट, विफल भी नहीं होते। वे हैं शाश्वत सत्य जो मानसिक रूपोंके एक पारदर्शक आवरणमें ढके हुए हैं; इसलिये यह कहा गया है, न वे वस्त्र पहने हुए हैं न ही नग्न हैं (ऋचा ६)।

पर यह अंतिम अवस्था नहीं है। यह शक्ति उठकर इस मानसिक निर्मलताके (घृतस्य) गर्भ या जन्मस्थानके अन्दर चली जाती है, जहाँ जल दिव्य मधुरताकी धाराओंके रूपमें प्रवाहित होते हैं (स्रवथे मधूनाम्); वहाँ जिन रूपोंको यह धारण करती है वे विश्वरूप हैं, विशाल और असीम चेतनाके पुंजीभूत समुदाय हैं। परिणामतः निम्नतर लोककी जो प्रीणयित्री नदियां हैं वे इस अवरोहण करती हुई उच्चतर मधुरताके द्वारा पुष्ट हो जाती हैं, और मानसिक तथा भौतिक चेतनाएं, जो सर्वसाधक संकल्पकी दो प्रथम माताएं हैं, सत्यके इस प्रकाश द्वारा, असीम सुखसे आनेवाले इस पोषणके द्वारा अपनी समग्र विशालताके साथ पूर्ण रूपसे सम तथा सम्स्वर हो जाती हैं। वे 'अग्नि'की पूर्ण शक्तिको, उसकी विद्युतोंकी चमकको, उसके व्यापक रूपों, विश्वरूपोंकी महिमा और हर्षोन्मादको धारण करती हैं। क्योंकि जहाँ स्वामी, 'पुरुष', 'समृद्धिका बैल', अतिचेतन सत्यके ज्ञान द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है, वहाँ सदा ही निर्मलताकी धाराएं और सुखकी धाराएं बहा करती हैं। (ऋचा ७, ८)

सब वस्तुओंका 'पिता' है स्वामी और पुरुष; वह वस्तुओंके गुह्य स्रोतके अन्दर, अतिचेतनके अन्दर छिपा हुआ है; 'अग्नि' अपने साथी देवोंके साथ और सप्तविध 'जलों'के साथ अतिचेतनके अन्दर प्रवेश करता है, पर इसके कारण हमारी सचेतन सत्तासे बिना अदृश्य हुए ही वह वस्तुओंके 'पिता'के मधुमय ऐश्वर्यके स्रोतको पा लेता है और उसे पाकर हमारे जीवन पर प्रवाहित कर देता है। वह गर्भ धारण करता है और वह स्वयं ही पुत्र—पवित्र 'कुमार', पवित्र पुरुष, वह एक, अपने विश्वमय रूपमें आविर्भूत मनुष्यका अन्तःस्थ आत्मा—बन जाता है; मनुष्यके अन्दर रहनेवाली मानसिक और भौतिक चेतनाएं उसे अपने स्वामी और प्रेमीके रूपमें स्वीकार करती हैं; परंतु यद्यपि वह एक है, तो भी वह नदियोंकी, बहुरूप विराट् शक्तियोंकी अनेकविध गतिका आनंद लेता है। (ऋचा ९, १०)

उसके बाद हमें स्पष्ट रूपसे यह कहा गया है कि यह असीम जिसके अन्दर वह प्रविष्ट हुआ है और जिसके अन्दर वह बढ़ता है, जिसमें अनेक 'जल' विजयशालिनी यशस्विताके साथ अपने लक्ष्य पर पहुंचते हुए (यशसः) उसे प्रवृद्ध करते हैं, वह निर्बाध विशालता है जहाँ 'सत्य' पैदा हुआ है, जो अपार निःसीमता है, उसका निजी स्वाभाविक स्थान है जिसमें अब वह अपना घर बनाता है। वहाँ 'सात नदियां', 'बहिनें', एक उद्गमवाली होती हुई भी अब पृथक्-पृथक् होकर कार्य नहीं करतीं जैसा कि वे पृथिवी पर और मर्त्य जीवनमें करती हैं, बल्कि इसके विपरीत वे वहाँ अविच्छेद्य

सहेलियोंके रूपमें कार्य करती हैं (जामीनाम् अपसि स्वसृणाम्)। इन शक्तिशाली नदियोंके उस पूर्ण संगम पर 'अग्नि' सब वस्तुओंमें गति करता है और सब वस्तुओंको थामता है; उसके दर्शन (दृष्टि)की किरणें पूर्णतया ऋजु, सरल होती हैं, अब वे निम्नतर कुटिलतासे प्रभावित नहीं होतीं; वह जिसमेंसे ज्ञानकी किरणें, जगमगाती हुई गौएं, पैदा हुई थीं, अब उन्हें (किरणों या गौओंको) यह नया, उच्च और सर्वश्रेष्ठ जन्म दे देता है; अर्थात् वह उन्हें दिव्य ज्ञानमें, अमर चेतनामें परिणत कर देता है। (ऋचा ११, १२)

यह भी उसका अपना ही नवीन और अंतिम जन्म है। वह जो पृथिवीके उद्भिदोंसे शक्तिके पुत्रके रूपमें पैदा हुआ था, वह जो जलोंके शिशुके रूपमें पैदा हुआ था अब अपार, असीममें, 'सुखकी देवी'के द्वारा, उसके द्वारा जो समग्र रूपसे सुख ही सुख है अर्थात् दिव्य सचेतन आनन्दके द्वारा, अनेक रूपोंमें जन्म लेता है। देवता या मनुष्यके अन्दरकी दिव्य शक्तियां मनका एक उपकरणके तौर पर प्रयोग करके वहां उसके पास पहुंचती हैं, उसके चारों ओर एकत्र हो जाती हैं, तथा इस नवीन, शक्तिशाली और सफलतादायक जन्ममें उसको जगत्के महान् कार्यमें लगाती हैं। वे, उस विशाल चेतनाकी दीप्तियां, इस दिव्य शक्तिके साथ संसक्त होती हैं तथा इसकी चमकीली बिजलियोंके समान लगती हैं और उसमेंसे जो अतिचेतनमें, अपार विशालतामें, अपने निजी घरमें रहता है, वे मनुष्यके लिये अमरताको दुहती हैं, ले आती हैं। (१३, १४)

तो यह है अलंकारोंके पर्दके पीछे छिपा हुआ गंभीर, संगत, प्रकाशमय अर्थ जो सात नदियोंके, जलोंके, पांच लोकोंके, 'अग्नि'के जन्म तथा आरोहण के वैदिक प्रतीकका वास्तविक आशय है, जिसे इस रूपमें भी प्रकट किया गया है कि यह मनुष्यकी तथा देवताओंकी—जिनकी प्रतिकृति मनुष्य अपने अन्दर बनाता है—ऊर्ध्वमुख यात्रा है जिसमें वह सत्ताकी विशाल पहाड़ीके सानुसे सानु तक (सानोः सानुम्) पहुंचता है। एक बार यदि हम इस अर्थको प्रयुक्त कर लें और 'गौ'के प्रतीक तथा 'सोम'के प्रतीकके वास्तविक अभिप्रायको हृदयंगम कर लें और देवताओंके आध्यात्मिक व्यापारोंके विषयमें ठीक-ठीक विचार बना लें, तो इन प्राचीन वेदमंत्रोंमें जो ऊपरसे दीखनेवाली असंगतियां, अस्पष्टताएं तथा क्लिष्ट क्रमहीन अस्तव्यस्तता प्रतीत होती हैं वे सब क्षण भरमें लुप्त हो जाती हैं। वहां स्पष्ट रूपमें, बड़ी आसानीके साथ, बिना खींचातानीके प्राचीन रहस्यवादियोंका गंभीर और उज्ज्वल सिद्धान्त, वेदका रहस्य, अपने स्वरूपको खोल देता है।

बारहवां अध्याय

उषाकी गौएं

वेदकी सात नदियोंको, जलोंको, 'आपः'को वेदकी आलंकारिक भाषामें अधिकतर सात माताएँ या सात पोषक **गौएं**, 'सप्त धेनवः', कहकर प्रकट किया गया है। स्वयं 'आपः' शब्दमें ही दो अर्थ गूढ़ रूपसे रहते हैं; क्योंकि **'अप्'** धातुके मूलमें केवल बहना अर्थ ही नहीं है जिससे, बहुत सम्भवतः, जलोंका भाव लिया गया है किंतु इसका एक और अर्थ 'जन्म होना', 'जन्म देना' भी है, जैसा कि हम सन्तानवाचक 'अपत्य' शब्दमें और दक्षिण भारतके पिता अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले 'अप्पा' शब्दमें पाते हैं। सात जल सत्ताके जल हैं; ये वे माताएँ हैं जिनसे सत्ताके सब रूप पैदा होते हैं। परन्तु और प्रयोग भी हमें मिलते हैं—'सप्त गावः', सात गौएँ या सात ज्योतियाँ और 'सप्तगु' यह विशेषण अर्थात् वह जिसमें सात किरणें रहती हैं। **गु (ग्वः)** और **गौ (गावः)** ये दोनों आदिसे अन्त तक सारे वैदिक मन्त्रोंमें दो अर्थोंमें आये हैं, गाय और किरणें। प्राचीन भारतीय विचार-धाराके अनुसार सत्ता और चेतना दोनों एक दूसरेके रूप थे। और अदितिको, जो वह अनन्त सत्ता है जिससे देवता उत्पन्न हुए हैं और जो अपने सात नामों और स्थानों (धामानि)के साथ माताके रूपमें वर्णितकी गयी है,—यह भी माना गया है कि वह अनन्त चेतना है, **गौ** है या वह आद्या ज्योति है जो सात किरणों, 'सप्त गावः', में व्यक्त होती है। इसलिये सत्ताके सप्तरूप होनेके विचारको एक दृष्टिकोणसे तो समुद्रसे निकलनेवाली नदियों, 'सप्त धेनवः',के अलंकारमें चित्रित कर दिया गया है और दूसरी दृष्टिके अनुसार इसे सबको रचनेवाले पिता, सूर्य सविताकी सात किरणों, 'सप्त गावः', के अलंकारका रूप दे दिया गया है।

गौका अलंकार वेदमें आनेवाले सब प्रतीकोंमें सबसे अधिक महत्त्वका है। कर्मकाण्डीके लिये 'गौ'का अर्थ भौतिक गायमात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं; वैसे ही जैसे उसके लिये इसके साथ आनेवाले 'अश्व' शब्दका अर्थ केवल भौतिक घोड़ा ही है, इससे अधिक इसमें कुछ अभिप्राय नहीं है, अथवा जैसे 'घृत'का अर्थ केवल पानी या घी है और 'वीर'का अर्थ केवल पुत्र या अनुचर या सेवक है। जब ऋषि उषाकी स्तुति करता है—"गोमद् वीरवद् धेहि

रत्नम् उषो अश्वावत्" उस समय कर्मकाण्डपरक व्याख्याकारको इस प्रार्थना-में केवल उस सुखमय धन-दौलतकी ही याचना दीखती है जो गौओं, वीर मनुष्यों (या पुत्रों) और घोड़ोंसे युक्त हो। दूसरी तरफ यदि ये शब्द प्रतीकरूप हों, तो इसका अभिप्राय होगा—"हमारे अन्दर आनन्दकी उस अवस्थाको स्थिर करो जो ज्योतिसे, विजयशील शक्तिसे और प्राणबलसे भरपूर हो।" इसलिये यह आवश्यक है कि एक बार सभी स्थलोंके लिये वेद-मन्त्रोंमें आनेवाले 'गौ' शब्दका अर्थ क्या है, इसका निर्णय कर लिया जाय। यदि यह सिद्ध हो जाय कि यह प्रतीकरूप है, तो निरन्तर इसके साथ आनेवाले—अश्व (घोड़ा), वीर (मनुष्य या शूरवीर), अपत्य या प्रजा (औलाद), हिरण्य (सोना), वाज (समृद्धि, या सायणके अनुसार, अन्न),—इन दूसरे शब्दोंका अर्थ भी अवश्य प्रतीकरूप और इसका सजातीय ही होगा।

'गौ' का अलंकार वेदमें निरन्तर उषा और सूर्यके साथ संबद्ध मिलता है। इसे हम उस कथानकमें भी पाते हैं जिसमें इन्द्र और बृहस्पतिने सरमा कुतिया (देवशुनी) और अंगिरस् ऋषियोंकी मददसे पणियोंकी गुफामेंसे खोयी हुई गौओंको फिरसे प्राप्त किया है। उषाका विचार और अङ्गिरसों का कथानक ये मानो वैदिक संप्रदायके हृदयस्थानीय हैं और इन्हें करीब-करीब वेदके अर्थोंके रहस्यकी कुंजी समझा जा सकता है। इसलिये इन दोनों की हमें अवश्य परीक्षा कर लेनी चाहिये, जिससे आगे अपने अनुसंधानके लिये हमें एक दृढ़ आधार मिल सके।

अब वेदके उषासंबंधी सूक्तोंको बिलकुल ऊपर-ऊपरसे जांचने पर भी इतना बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उषाकी गौएं या सूर्यकी गौएं 'ज्योति'-का प्रतीक हैं, इसके सिवाय वे और कुछ नहीं हो सकतीं। सायण खुद इन मंत्रोंका भाष्य करते हुए विवश होकर कहीं इस शब्दका अर्थ 'गाय' करता है और कहीं 'किरणें', हमेशाकी अपनी आदतके अनुसार परस्पर संगति बैठानेकी भी कुछ पर्वाह नहीं रखता; कहीं वह यह भी कह जाता है कि 'गौ'का अर्थ सत्यवाची 'ऋत' शब्दकी तरह पानी होता है। असलमें देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि इस शब्दसे दो अर्थ लिये जाने अभिप्रेत हैं—(१) 'प्रकाश' इसका असली अर्थ है और (२) 'गाय' इसका स्थूल रूपक-रूप और शाब्दिक-अलंकारमय अर्थ है।

ऐसे स्थलोंमें जैसा कि इन्द्रके विषयमें मधुच्छन्दस् ऋषिके सूक्त (१.७)का तीसरा मंत्र है जिसमें यह कहा गया है—'इन्द्रने दीर्घ दर्शनके लिये सूर्यको द्युलोकमें चढ़ाया, उसने उसे उसकी गौओं (किरणों)के

द्वारा सारे पहाड़ पर पहुंचा दिया—वि गोभिः अद्रिम् ऐरयत्,[1] गौओंका अर्थ 'किरणें' है इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता।' परन्तु इसके साथ ही सूर्यकी किरणें 'सूर्य' देवताकी गौएं हैं, हीलियस (Helios) की वे गौएं हैं जिनका ओडिसी (Odyssey) में ओडिसस (Odysseus) के साथियोंने वध किया है, जिन्हें हर्मिज (Hermes) के लिये कहे गये होमरके गीतोंमें हर्मिजने अपने भाई अपोलो (Apollo) के पास-से चुराया है। ये वे गौएं हैं जिन्हें 'वल'नामक शत्रुने या पणियोंने छिपा लिया था। जब मधुच्छन्दस् इन्द्रको कहता है—'तूने वलकी उस गुफाको खोल दिया, जिसमें गौएं बंद पड़ी थीं'—तब उसका यही अभिप्राय होता है कि वल गौओंको कैद करनेवाला है, प्रकाशको रोकनेवाला है और उस रोके हुए प्रकाशको इन्द्र यज्ञ करनेवालोंके लिये फिरसे ला देता है। खोयी हुई या चुरायी हुई गौओंको फिरसे पा लेनेका वर्णन वेदके मंत्रोंमें लगातार आया है और इसका अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा जब कि हम पणियों और अंगिरसोंके कथानककी परीक्षा करना शुरू करेंगे।

एक बार यदि यह अभिप्राय, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है, स्थापित हो जाता है तो 'गौओं'के लिये की गयी वैदिक प्रार्थनाओंकी जो भौतिक व्याख्या-की जाती है वह एकदम हिल जाती है। क्योंकि खोयी हुई गौएं जिन्हें फिरसे पा लेनेके लिये ऋषि इन्द्रका आह्वान करते हैं, वे यदि द्राविड़ लोगों द्वारा चुरायी गयी भौतिक गौएं नहीं हैं किन्तु सूर्यकी या ज्योतिकी चमकती हुई गौएं हैं, तो हमारा यह विचार बनाना न्यायसंगत ठहरता है कि जहां केवल गौओंके लिये ही प्रार्थना है और साथमें कोई विरोधी निर्देश नहीं है वहां भी यह अलंकार लगता है, वहां भी गौ भौतिक गाय नहीं है। उदा-हरणके लिये ऋ. १.४.१,२[2] में इन्द्रके विषयमें कहा गया है कि वह पूर्ण रूपोंको बनानेवाला है और दोहनेवालेके लिये भरपूर दूध देनेवाली गौके समान है, कि उसका सोम-रससे चढ़नेवाला मद सचमुच गौओंको देनेवाला है, 'गोदा इद् रेवतो मदः'। यदि इस कथनका यह अर्थ समझा जाय कि

---

1. इसका अनुवाद हम यह भी कर सकते हैं कि "उसने अपने वज्र (अद्रि) को उससे निकलती हुई दीप्तियों के साथ चारों ओर भेजा"। पर यह अर्थ उतना अच्छा और सङ्गत नहीं लगता। किन्तु यदि हम इसे ही मानें, तो भी 'गोभिः'का अर्थ 'किरणें' ही होता है, गाय पशु नहीं।

2. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद्रेवतो मदः॥ १.४.१,२

इन्द्र कोई बड़ा समृद्धिशाली देवता है और जब वह पिये होता है उस समय गौओंके दान करनेमें बड़ा उदार हो जाता है, तो निरर्थकता और असंगतता-की हद ही हो जायगी। यह स्पष्ट है कि जैसे पहली ऋचामें गौओंका दोहना एक अलंकार है, वैसे ही दूसरीमें गौओंका देना भी अलंकार ही है। और यदि हम वेदके दूसरे संदर्भोंसे यह जान लें कि 'गौ' प्रकाशका प्रतीक है तो यहाँ भी हमें अवश्य यही समझना चाहिये कि इन्द्र जब सोम-जनित आनंदमें भरा होता है तब वह निश्चित ही हमें ज्योतिरूप गौएं देता है।

.उषाके सूक्तोंमें भी गौएं ज्योतिका प्रतीक हैं यह भाव वैसा ही स्पष्ट है। उषाको सब जगह 'गोमती' कहा गया है, जिसका स्पष्ट ही अवश्य यही अभिप्राय होना चाहिये कि वह ज्योतिर्मय या किरणोंवाली है क्योंकि यह तो बिलकुल मूर्खतापूर्ण होगा कि उषाके साथ एक नियत विशेषणके तौर पर 'गौओंसे पूर्ण' यह विशेषण शाब्दिक अर्थमें ही प्रयुक्त किया जाय। पर वहाँ विशेषणमें गौओंका रूप प्रतीकात्मक है, क्योंकि उषा केवल 'गोमती' ही नहीं है वह 'गोमती अश्वावती' है, वह हमेशा अपने साथ अपनी गौएं और अपने घोड़े रखती है। 'वह सारे संसारके लिये ज्योतिको रचती है और अंधकारको 'गौ'के बाड़ेकी न्याईं खोल देती है।' 1.92.4[1]। यहाँ हम देखते हैं कि बिना किसी भूलचूककी संभावनाके गौ ज्योतिका प्रतीक ही है। हम इसपर भी ध्यान दे सकते हैं कि इस सूक्त (मंत्र १६)में अश्विनोंको कहा गया है कि वे अपने रथको उस पथ पर हांककर नीचे ले जायें जो ज्योतिर्मय और सुनहरा है[2]— 'गोमद् हिरण्यवद्'। इसके अति-रिक्त उषाके संबंधमें कहा गया है कि उसके रथको अरुण गौएं खींचती हैं और कहीं यह भी कहा गया है कि अरुण घोड़े खींचते हैं। 'वह अरुण गौओंके समूहको अपने रथमें जोतती है–युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्', 1.124. 11। यहाँ 'अरुण किरणोंके समूहको' यह दूसरा अर्थ भी स्थूल अलंकारके पीछे स्पष्ट ही रखा हुआ है। उषाका वर्णन इस रूपमें हुआ है कि वह गौओं या किरणोंकी माता है, 'गवां जनित्री अकृत प्र केतुम्, 1.124.5— गौओं (किरणों)की माता ने अन्तर्दर्शन (Vision)को रचा है।' और दूसरे स्थान पर उसके कार्यके विषयमें कहा गया है 'अब अन्तर्दर्शन या बोध उदित हो गया है, जहाँ पहले कुछ नहीं (असत्) था।'[3] इससे

1. ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः। १.९२.४
2. अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद् दस्रा हिरण्यवत्।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम्। (१.९२.१६)
3. वि नूनमुच्छाद् असति प्र केतुः। (१.१२४.११)

पुनः यह स्पष्ट है कि 'गौएं' प्रकाशकी ही चमकती हुई किरणें हैं। उषाकी इस रूपमें भी स्तुतिकी गयी है कि वह 'चमकती हुई गौओंका नेतृत्व करनेवाली है (नेत्री गवाम्, ७.७६.६)', और एक दूसरी ऋचा इसपर पूरा ही प्रकाश डाल देती है जिसमें ये दोनों ही विचार इकट्ठे आ गये हैं, "गौओं की माता, दिनों की नेत्री" (गवां माता नेत्री अह्नाम्, ७-७७-२)। अन्तमें मानों इस अलंकार परसे आवरणको कतई हटा देनेके लिये ही वेद स्वयं हमें कहता है कि गौएं प्रकाशकी किरणोंके लिये एक अलंकार हैं, "उसकी सुखमय किरणें दिखाई दीं, जैसे छोड़ी हुई गौएं"—प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः, 4.52.5। और हमारे सामने इससे भी अधिक निर्णयात्मक एक दूसरी ऋचा (7.79.2) है—"तेरी गौएं (किरणें) अन्धकारको हटा देती हैं और ज्योतिको फैलाती हैं", सं ते गावस्तम आवर्त्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति।[2]

लेकिन उषा इन प्रकाशमय गौओं द्वारा केवल खींची ही नहीं जाती, वह इन गौओंको यज्ञ करनेवालोंके लिये उपहाररूपमें देती भी है। वह जब इन्द्रकी ही भांति सोमके आनन्दमें होती है, तो ज्योतिको देती है। वसिष्ठके एक सूक्त (७.७५)में उसका वर्णन इस रूपमें है कि वह देवोंके कार्यमें हिस्सा लेती है और उससे वे दृढ़ स्थान जहां गौएं बन्द पड़ी हैं, टूटकर खुल जाते हैं और गौएं मनुष्योंको दे दी जाती हैं। "वह" सच्चे देवोंके साथ सच्ची है, महान् देवोंके साथ महान् है, वह दृढ़ स्थानोंको तोड़कर खोलती है और प्रकाशमय गौओंको दे देती है, गौएं उषाके प्रति रँभाती हैं"—रुजद् दृळ्हानि ददद् उस्रियाणाम्, प्रति गाव उषसं वावशन्त, 7.75.7। और ठीक अगली ही ऋचामें उससे प्रार्थनाकी गयी है कि वह यज्ञकर्त्ताके लिये आनन्दकी उस अवस्थाको स्थिर करे या धारण करावे, जो प्रकाशसे (गौओं)से, अश्वोंसे (प्राणशक्तिसे) और बहुत-से सुख-भोगोंसे परिपूर्ण हो—"गोमद् रत्नम् अश्वावत् पुरुभोजः"। इसलिये जिन गौओंको

---

1. निस्सन्देह इसमें तो मतभेद हो ही नहीं सकता कि वेदमें गौका अर्थ प्रकाश है; उदाहरणके लिये जब यह कहा जाता है कि 'गवा', 'गौ'से, प्रकाशसे, वृत्रको मारा गया तो वहां गाय पशुका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि प्रश्न है तो यह कि 'गौ'का प्रयोग द्वयर्थक है या नहीं और गौ प्रतीकरूप है कि नहीं।

2. सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
रुजद् दृळ्हानि ददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ॥ (७.७५.७)
नू नो गोमद् वीरवद् धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे। (७.७५.८)

उषा देती है वे गौएं ज्योतिकी ही चमकती हुई सेनाएं है, जिन्हें देवता और अंगिरस् ऋषि वल और पणियोंके दृढ़ स्थानोंसे उद्धार करके लाये हैं। साथ ही गौओं (और अश्वों)की सम्पत्ति जिसके लिये ऋषि लगातार प्रार्थना करते हैं उसी ज्योतिकी सम्पत्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती; क्योंकि यह कल्पना असंभव-सी है कि जिन गौओंको देनेके लिये इस सूक्त की सातवीं ऋचामें उषाको कहा गया है वे उन गौओंसे भिन्न हों जो ८वीं में मांगी गयी हैं, कि पहले मन्त्रमें 'गौ' शब्दका अर्थ है 'प्रकाश' और अगलेमें 'गाय', और यह कि ऋषि मुखसे निकालते ही उसी क्षण यह भूल गया कि किस अर्थमें वह शब्द का प्रयोग कर रहा था।

कहीं-कहीं ऐसा है कि प्रार्थना ज्योतिर्मय आनन्द या ज्योतिर्मय समृद्धिके लिये नहीं है, बल्कि प्रकाशमय प्रेरणा या बलके लिये है, 'हे द्युकी पुत्री उषः! तू हमारे अन्दर सूर्यकी रश्मियोंके साथ प्रकाशमय प्रेरणाको ला'—'गोमतीरिष आवह दुहितर्दिवः, साकं सूर्यस्य रश्मिभिः', 5.79.8। सायणने 'गोमतीः इषः'का अर्थ किया है 'चमकता हुआ अन्न'[1]। परन्तु यह स्पष्ट ही एक निरर्थक-सी बात लगती है कि उषासे कहा जाय कि वह सूर्यकी किरणोंके साथ, किरणोंसे (गौओंसे) युक्त अन्नोंको लाये। यदि 'इष्'का अर्थ अन्न है, तो हमें इस प्रयोगका अभिप्राय लेना होगा 'गोमांसरूपी अन्न', परन्तु यद्यपि प्राचीन कालमें, जैसा कि ब्राह्मण-ग्रंथोंसे स्पष्ट है, गोमांसका खाना निषिद्ध नहीं था, फिर भी उत्तरकालीन हिंदुओंकी भावनाको चोट पहुंचानेवाला होनेसे जिस अर्थको सायणने नहीं लिया है, वह अभिप्रेत ही नहीं है और यह भी वैसा ही भद्दा है जैसा कि पहला अर्थ। यह बात ऋग्वेदके एक दूसरे मन्त्रसे सिद्ध हो जाती है जिसमें अश्विनोंका आह्वान किया गया है कि वे उस प्रकाशमय प्रेरणाको दें जो हमें अंधकारमेंसे पार कराकर उसके दूसरे किनारे पर पहुंचा देती है—'या नः पीपरद् अश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः, ताम् अस्मे रासाथाम् इषम्', 1.46.6।

इन नमूनेके उदाहरणोंसे हम समझ सकते हैं कि प्रकाशकी गौओंका यह अलंकार कैसा व्यापक है और कैसे अनिवार्य रूपसे यह वेदके लिये एक अध्यात्मपरक अर्थकी ओर निर्देश कर रहा है। एक सन्देह फिर भी बीचमें आ अपस्थित होता है। हमने माना कि यह एक अनिवार्य परिणाम है कि 'गौ' प्रकाशके लिये प्रयुक्त हुआ है, पर इससे हम क्यों न समझें कि इसका सीधा-सादा मतलब दिनके प्रकाशसे है, जैसा कि वेद की भाषासे निकलता

---

1. गोमतीर्गोभिरुपेतानि इषोऽन्नानि आवह आनय—सायण।

प्रतीत होता है? वहाँ किसी प्रतीककी कल्पना क्यों करें, जहाँ केवल एक अलंकार ही है? हम उस दुहरे अलंकारकी कठिनाईको निमंत्रण क्यों दें जिसमें 'गौ'का अर्थ तो हो 'उषाका प्रकाश' और उषाके प्रकाशको 'आन्तरिक ज्योति'का प्रतीक समझा जाय? यह क्यों न मान लें कि ऋषि आत्मिक ज्योतिके लिये नहीं, बल्कि दिनके प्रकाशके लिये प्रार्थना कर रहे थे?

ऐसा मानने पर अनेक प्रकारके आक्षेप आते हैं और उनमें कुछ तो बहुत प्रबल हैं। यदि हम यह मानें कि वैदिक सूक्तोंकी रचना भारतमें हुई थी और यह उषा भारतकी उषा है और यह रात्रि वही यहाँ की दस या बारह घण्टेकी छोटी-सी रात है, तो हमें यह स्वीकार करके चलना होगा कि वैदिक ऋषि जंगली थे, अन्धकारके भयसे बड़े भयभीत रहते थे और समझते थे कि इसमें भूत-प्रेत रहते हैं, वे दिन-रातकी परम्पराके प्राकृतिक नियमसे भी—जिसका अबतक बहुतसे सूक्तोंमें बड़ा सुन्दर चित्र खिंचा मिलता है—अनभिज्ञ थे और उनका ऐसा विश्वास था कि आकाशमें जो सूर्य निकलता था और उषा अपनी बहिन रात्रिके आलिंगनसे छूटकर प्रकट होती थी, वह सब केवल उनकी प्रार्थनाओंके कारण से ही होता था। पर फिर भी वे देवोंके कार्यमें अटल नियमोंका वर्णन करते हैं और कहते हैं कि उषा हमेशा शाश्वत सत्य व दिव्य नियमके मार्गका अनुसरण करती है! हमें यह कल्पना करनी होगी कि ऋषि जब उल्लासमें भरकर पुकार उठता है 'हम अन्धकारको पार करके दूसरे किनारे पहुंच गये हैं'! तो यह केवल दैनिक सूर्योदय पर होनेवाला सामान्य जागना ही है। हमें यह कल्पना करनी होगी कि वैदिक लोग उषा निकलने पर यज्ञके लिये बैठ जाते थे और प्रकाशके लिये प्रार्थना करते थे, जब कि वह पहलेसे ही निकल चुका होता था। और यदि हम इन सब असभव कल्पनाओंको मान भी लें, तो आगे हमें यह एक स्पष्ट कथन मिलता है कि नौ या दस महीने बैठ चुकनेके उपरान्त ही यह हो सका कि अंगिरस् ऋषियोंको खोया हुआ प्रकाश और खोया हुआ सूर्य फिर से मिल पाया। और जो पितरों के द्वारा 'ज्योति' के खोजे जाने का कथन लगातार मिलता है, उसका हम क्या अर्थ लगायेंगे? जैसे :—

"हमारे पितरोंने छिपी हुई ज्योतिको ढूंढ़कर पा लिया, उनके विचारोंमें जो सत्य था, उसके द्वारा उन्होंने उषाको जन्म दिया—गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमन्त्रा अजनयन् उषासम्, ७.७६.४।" यदि हम किसी भी साहित्यके किसी कविता-संग्रहमें इस प्रकारका कोई पद्य पावें, तो तुरन्त हम उसे एक मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक रूप दे देंगे, तो फिर वेदके साथ हम दूसरा ही बर्ताव करें इसमें कोई युक्तियुक्त कारण नहीं दीखता।

फिर भी यदि हमें वेदके सूक्तोंकी प्रकृतिवादी ही व्याख्या करनी है और कोई नहीं, तो भी यह बिलकुल साफ है कि वैदिक उषा और रात्रि कम-से-कम भारतकी रात्रि और उषा तो नहीं हो सकतीं। यह केवल उत्तरी ध्रुवके प्रदेशोंमें ही हो सकता है कि इन प्रकृतिकी घटनाओंके संबंधमें ऋषियोंकी जो मनोवृत्ति है और अंगिरसोंके विषयमें जो बातें कही गयी हैं वे कुछ समझमें आने लायक बन सकें। प्राचीन वैदिक आर्य उत्तरीय ध्रुवसे आये, इस कल्पना (वाद) को क्षणभरके लिए मान लेनेपर यह बहुत अधिक संभव हो सकता है कि उत्तरीय ध्रुवकी स्मृतियाँ वेदके बाह्य अर्थमें आ गयी हों, फिर भी यह कल्पना उस आन्तरिक अर्थका निराकरण नहीं करती जो प्रकृतिसे लिये गये इन प्राचीन अलंकारोंके पीछे छिपा है, न ही इसके मान लेनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि उषासंबंधी ऋचाओंकी इसकी अपेक्षा और अधिक सुसंबद्ध और सीधी-स्पष्ट किसी दूसरी व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है।

उदाहरणके लिये हमारे सामने अश्विनोंको कहा गया प्रस्कण्व काण्वका सूक्त (१.४६) है जिसमें उस ज्योतिर्मय अन्तःप्रेरणाका संकेत है जो हमें अन्धकारमेंसे पार कराके परले किनारेपर पहुँचा देती है। इस सूक्तका उषा और रात्रिके वैदिक विचारके साथ घनिष्ठ संबंध है। इसमें वेदमें नियत रूपसे आनेवाले बहुतसे अलंकारोंका संकेत मिलता है; जैसे ऋतके मार्गका, नदियोंको पार करनेका, सूर्यके उदय होनेका, उषा और अश्विनोंमें परस्पर-संबंधका, सोम-रसके रहस्यमय प्रभावका और उसके सामुद्रिक रसका।

"देखो, आकाशमें उषा खिल रही है, जिससे अधिक उच्च और कोई वस्तु नहीं है, जो आनन्दसे भरी हुई है। हे अश्विनो! मैं तुम्हारी महान् स्तुति करता हूं (1)।[1] तुम जिनकी सिंधु माता है, जो कार्यको पूर्ण

---

1 एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्॥ (१-४६-१)
या वत्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा॥२॥
आवारो वां मतीनां नासत्या मतवचसा। पातं सोमस्य धृष्णुया॥५॥
या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम्॥६॥
आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम्॥७॥
अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः॥८॥
दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूनां पदे। स्वं व्रिं कुह धित्सथः॥९॥
अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वयासितः॥१०॥
अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः॥११॥
ततं दिवश्विनोरथो जरिता प्रति भूषति। मदे सोमस्य पिप्रतोः॥१२॥

करनेवाले हो, जो मनमेंसे होते हुए उस पार पहुंचकर ऐश्वर्यों (रयि)को पा लेते हो, जो दिव्य हो और उस ऐश्वर्य (वसु)को विचारके द्वारा पाते हो (2)। हे समुद्रयात्राके देवो जो शब्दको मनोमय करनेवाले हो! यह तुम्हारे विचारोंको भंग करनेवाला है—तुम प्रचंड रूपसे सोमका पान करो (5)। हे अश्विनो! हमें वह ज्योतिष्मती अन्तःप्रेरणा दो, जो हमें तमस्से निकालकर पार पहुंचा दे (6)। हमारे लिये तुम अपनी नाव पर बैठकर चलो, जिससे हम मनके विचारोंसे परे परले पार पहुंच सकें। हे अश्विनो! तुम अपने रथको जोतो (7)। अपने उस रथको जो द्युलोकमें इसकी नदियोंको पार करनेके लिये एक बड़े पतवारवाले जहाजका काम देता है। विचारके द्वारा आनन्दकी शक्तियां जोती गयी हैं (8)। जलोंके स्थान (पद) पर द्युलोकमें आनन्दरूपी सोम-शक्तियां ही वह ऐश्वर्य (वसु) हैं। पर अपने उस आवरणको तुम कहां रख दोगे, जो तुमने अपने-आपको छिपानेके लिये बनाया है (9)। नहीं, सोमका आनन्द लेनेके लिये प्रकाश उत्पन्न हो गया है,—सूर्यने, जो अन्धकारमय था, अपनी जिह्वाको हिरण्यकी ओर लपलपाया है (10)। ऋतका मार्ग प्रकट हो गया है, जिससे हम उस पार पहुंचेगे; द्युके बीच का सारा खुला मार्ग दिखलायी पड़ गया है (11)। खोजनेवाला अपने जीवनमें अश्विनोंके निरन्तर एकके बाद दूसरे आविर्भावकी ओर प्रगति किये चलता है ज्यों-ज्यों वे सोमके आनन्दमें तृप्ति-लाभ करते हैं (12)। उस सूर्यमें जिसमें सब ज्योति ही ज्योति है, तुम निवास करते हुए (या चमकते हुए), सोम-पानके द्वारा, वाणीके द्वारा हमारी मानवीयतामें सुखका सर्जन करनेवाले के रूपमें आओ (13)। तुम्हारी कीर्त्ति और विजयके अनुरूप उषा हमारे पास आती है जब तुम हमारे सब लोकोंमें व्याप्त हो जाते हो और तुम रात्रिमेंसे सत्योंको विजय कर लाते हो (14)। दोनों मिलकर हे अश्विनो, सोम-पान करो, दोनों मिलकर हमारे अंदर शान्तिको प्राप्त कराओ उन विस्तारोंके द्वारा जिनकी पूर्णता सदा अविच्छिन्न रहती है (15)।"

यह इस सूक्तका सीधा और स्वाभाविक अर्थ है और हमें इसका भाव समझनेमें कठिनाई नहीं होगी, यदि हम वेदके मूलभूत विचारों और अलंकारोंको स्मरण रखेंगे। 'रात्रि' स्पष्ट ही आन्तरिक अंधकारके लिये आलंकारिक

वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा। मनुष्वच्छंभू आ गतम् ॥१३॥
युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत्। ऋता वनथो अक्तुभिः ॥१४॥
उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरुतिभिः ॥१५॥

रूपसे कहा गया है; उषाके आगमनके द्वारा रात्रिमेंसे 'सत्यों'को जीतकर हस्तगत किया जाता है। यही उस सूर्यका, सत्य के सूर्यका उदय होना है जो अंधकारके बीचमें खो गया था—यही उस खोये हुए सूर्यका परिचित अलंकार है जिसे देवों और अङ्गिरस् ऋषियोंने फिरसे पाया—और अब यह अपनी अग्निकी जिह्वाको स्वर्णीय ज्योतिके प्रति, हिरण्यके प्रति, लपलपाता है। क्योंकि हिरण्य, सुवर्ण उच्चतर ज्योतिका स्थूल प्रतीक है, यह सत्यका सोना है और यही वह निधि है, न कि कोई सोनेका सिक्का, जिसके लिये वैदिक ऋषि देवोंसे प्रार्थना करते हैं। आन्तरिक अंधकारमेंसे निकालकर ज्योतिमें लानेके इस महान् परिवर्तनको अश्वी करते हैं, जो मन-की और प्राण-शक्तियोंकी प्रसन्नतायुक्त ऊर्ध्वगतिके देवता हैं, और इसे वे इस प्रकार करते हैं कि आनन्दका अमृतरस मन और शरीरमें उँडेला जाता और वहाँ वे इसका पान करते हैं। वे व्यंजक शब्दको मनोमय रूप देते हैं, वे हमें विशुद्ध मनके उस स्वर्गमें ले जाते हैं जो इस अंधकारसे परे है और वहाँ वे विचारके द्वारा आनन्दकी शक्तियोंको काममें लाते हैं।

पर वे द्युके जलोंको भी पार करके उससे भी ऊपर चले जाते हैं, क्योंकि सोमकी शक्ति उन्हें सब मानसिक रचनाओंको तोड़ डालनेमें सहायता देती है और वे इस आवरणको भी उतार फेंकते हैं। वे मनसे परे चले जाते हैं और सबसे अन्तिम चीज जो वे प्राप्त करते हैं वह 'नदियोंका पार करना' कही गयी है, जो कि विशुद्ध मनके द्युलोकमेंसे गुजरनेकी यात्रा है, वह यात्रा है जिससे सत्यके मार्ग पर चलकर परले किनारे पर पहुंचा जाता है और जबतक अन्तमें हम उच्चतम पद, परमा परावत्, पर नहीं पहुंच जाते तबतक हम इस महान् मानवीय यात्रासे विश्राम नहीं लेते।

हम देखेंगे कि न केवल इस सूक्तमें बल्कि सब जगह उषा सत्यको लाने-वालीके रूपमें आती है, स्वयं वह सत्यकी ज्योतिसे जगमगानेवाली है। वह दिव्य उषा है और यह भौतिक उषा (प्रभात होना) उसकी केवल छायामात्र है और प्राकृतिक जगत्में उसका प्रतीक है।

तेरहवां अध्याय

उषा और सत्य

उषाका वर्णन बार-बार इस रूपमें किया गया है कि वह गौओंकी माता है। तो यदि 'गौ' वेदमें भौतिक प्रकाश या आध्यात्मिक ज्योतिका प्रतीक हो, तब इस वाक्यका या तो यह अभिप्राय होगा कि वह, दिनके प्रकाशकी जो भौतिक किरणें हैं उनकी माता या स्रोत है, अथवा इसका यह अर्थ होगा कि वह दिव्य दिनके ज्योतिःप्रसारको अर्थात् आन्तरिक प्रकाशकी प्रभा तथा निर्मलताको रचती है। परंतु वेदमें हम देखते हैं कि देवोंकी माता अदितिका वर्णन दोनों रूपोंमें हुआ है, गौरूपमें और सबकी सामान्य माताके रूपमें; वह **परा ज्योति** है और अन्य सब ज्योतियां उसीसे निकलती हैं। आध्यात्मिक रूपमें अदिति, दनु या दितिके विपरीत, परा या असीम चेतना है, देवोंकी माता है, उधर 'दनु' या 'दिति'[1] विभक्त चेतना है और वृत्र तथा उन दूसरे दानवोंकी माता है जो देवताओंके एवं प्रगति करते हुए मनुष्यके शत्रु होते हैं। और अधिक सामान्य रूपमें कहें, तो वह 'अदिति' भौतिक चेतनासे प्रारम्भ करके जगत्स्तर-संबंधिनी जितनी चेतनाएं हैं उन सबका आदिस्रोत है; सात गौएं, 'सप्त गावः', उसीके रूप हैं और हमें बताया गया है कि उस माताके सात नाम या स्थान हैं। तो उषा जो गौओंकी माता है, केवल इसी **परा ज्योतिका, इसी परा चेतनाका**, अदितिका कोई रूप या शक्ति हो सकती है और सचमुच हम उसे 1.113.19 में इस रूपमें वर्णित हुई पाते हैं—**माता देवानामदितेरनीकम्**। 'देवोंकी माता, अदितिका रूप (या शक्ति)।'

पर उस उच्चतर या अविभक्त चेतनाकी ज्योतिर्मयी उषाका उदय सर्वदा सत्यरूपी उषाका उदय होता है और यदि वेदका उषादेवता यही ज्योतिर्मयी उषा है, तो ऋग्वेदके मंत्रोंमें हमें अवश्यमेव इसका उदय या आविर्भाव बहुधा सत्यके—ऋतके—विचारके साथ संबद्ध मिलना चाहिये।

---

1. यह न समझ लिया जाय कि 'अदिति' व्युत्पत्तिशास्त्रानुसार 'दिति' का अभावात्मक है; ये दोनों शब्द बिलकुल ही भिन्न-भिन्न दो धातुओं '—अद्' और 'दि' से बने हैं।

और इस प्रकारका संबंध हमें स्थान-स्थान पर मिलता है। क्योंकि सबसे पहले तो हम यही देखते हैं कि उषाको कहा गया है कि वह 'ठीक प्रकारसे ऋतके पथका अनुसरण करती है', (**ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु**, 1-124-3)। यहाँ 'ऋत'के जो कर्मकाण्डपरक वा प्रकृतिवादी अर्थ किये जाते हैं उनमेंसे कोई भी ठीक नहीं घट सकता; यह बार-बार कहे चले जानेमें कुछ अर्थ नहीं बनता कि उषा यज्ञके मार्गका अनुसरण करती है, या पानीके मार्गका अनुसरण करती है। तो इसके स्पष्ट मतलबको हम केवल इस प्रकार टाल सकते हैं कि 'पन्था ऋतस्य'का अर्थ हम सत्यका मार्ग नहीं, बल्कि सूर्यका मार्ग समझें। लेकिन वेद तो इसके विपरीत यह वर्णन करता है कि सूर्य उषा के मार्ग का अनुसरण करता है (न कि उषा सूर्यके) और भौतिक उषाके अवलोकन करनेवालेके लिये यही वर्णन स्वाभाविक भी है। इसके अतिरिक्त, यदि यह स्पष्ट न भी होता कि इस प्रयोगका अर्थ दूसरे संदर्भोंमें सत्यका मार्ग ही है, फिर भी आध्यात्मिक अर्थ बीचमें आ ही जाता है; क्योंकि तब 'उषा सूर्यके मार्गका अनुसरण करती है' इसका अभिप्राय यही होता है कि उषा उस मार्गका अनुसरण करती है जो सत्यमयका या सत्यके देवका, सूर्य-सविताका मार्ग है।

हम देखते ह कि उपर्युक्त 1-124-3में इतना ही नहीं कहा है, बल्कि वहाँ अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और अधिक पूर्ण आध्यात्मिक निर्देश विद्यमान है—क्योंकि '**ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु**', के आगे साथ ही कहा है '**प्रजानतीव न दिशो मिनाति।**' "उषा सत्यके मार्गके अनुसार चलती है और जानती हुईके समान वह प्रदेशोंको सीमित नहीं करती।" 'दिशः' शब्द दोहरा अर्थ देता है यह हम ध्यानमें रखें, यद्यपि यहाँ इस बातपर बल-देनेकी विशेष आवश्यकता नहीं है। उषा सत्यके पथकी दृढ़ अनुगामिनी है और चूँकि इस बातका उसे ज्ञान या बोध रहता है, इसलिये वह असीमता को, बृहत्को, जिसकी वह ज्योति है, सीमित नहीं करती। यही इस मंत्र-का असली अभिप्राय है, यह बात ५म मण्डलकी एक ऋचा (5-80-1)से निर्विवाद रूपसे स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है और इसमें भूलचूककी कोई संभावना नहीं रह जाती। इसमें उषाके लिये कहा है—**द्युतद्यामानं बृहतीम् ऋतेन ऋतावरीं...स्वरावहन्तीम्**। "वह प्रकाशमय गतिवाली है, ऋतसे महान् है, ऋतमें सर्वोच्च (या ऋतसे युक्त) है, अपने साथ स्वःको लाती है।" यहाँ हम बृहत्का विचार, सत्यका विचार, स्वर्लोकके सौर प्रकाश का विचार पाते हैं; और निश्चय ही ये सब विचार इस प्रकार अनिष्ठता और दृढ़तासे एकमात्र भौतिक उषाके साथ संबद्ध नहीं रह सकते। इसके

साथ हम 7-75-1के वर्णनकी भी तुलना कर सकते हैं—**व्युषा आवो दिविजा ऋतेन, आविष्कृण्वाना महिमानमागात्।** "द्यौमें प्रकट हुई उषा सत्यके द्वारा वस्तुओंको खोल देती है, वह महिमाको व्यक्त करती हुई आती है।" यहाँ पुनः हम देखते हैं कि उषा सत्यकी शक्तिके द्वारा सब वस्तुओंको प्रकट करती है और इसका परिणाम यह बताया गया है कि एक प्रकारकी महत्ता-का आविर्भाव हो जाता है।

अन्तमें इसी विचारको हम आगे भी वर्णित किया गया पाते हैं, बल्कि यहाँ सत्यके लिये 'ऋत'के बजाय सीधा 'सत्य' शब्द ही है, जो 'ऋतम्'की तरह दूसरा अर्थ किये जा सकनेकी संभावनाके लिये अवकाश ही नहीं देता, **सत्या सत्येभि मंहती महद्भिर्देवी देवेभिः...** (7-75-7), "अपनी सत्तामें सच्ची उषा देवी सच्चे देवोंके साथ, महान् देवी महान् देवोंके साथ...।" वामदेवने अपने एक सूक्त ४-५१में उषाके इस "सत्य" पर बहुत बल दिया है, क्योंकि वहाँ वह उषाओंके बारेमें केवल इतना ही नहीं कहता कि "तुम सत्यके द्वारा जोते हुए अश्वोंके साथ जल्दीसे लोकोंको चारों ओरसे घेर लेती हो"[1], **ऋतयुग्भिः अश्वैः** (तुलना करो 6.65.2),[2] परन्तु वह उनके लिये यह भी कहता है—**भद्रा ऋतजातसत्याः** (4.51.7), "वे सुखमय हैं और सत्यसे उत्पन्न हुई सच्ची हैं।" और एक दूसरी ऋचामें वह उनका वर्णन इस रूपमें करता है कि "वे देवियां हैं जो ऋतके स्थानसे प्रबुद्ध होती हैं।"[3]

'भद्र' और 'ऋत'का यह निकट संबंध हमें अग्निको कहे गये मधुच्छन्दस्-के सूक्तमें विचारोंके इसी प्रकारके परस्परसंबंधका स्मरण करा देता है। वेदकी अपनी आध्यात्मिक व्याख्यामें हम प्रत्येक मोड़ पर इस प्राचीन विचार-को पाते हैं कि 'सत्य' आनन्दको प्राप्त करनेका मार्ग है। तो उषाको, सत्यकी ज्योतिसे जगमगाती उषाको, भी अवश्य **सुख** और **कल्याण**को लाने-वाला होना चाहिए। उषा आनन्दको लानेवाली है, यह विचार वेदमें हम लगातार पाते हैं और वसिष्ठने 7-81-3 में इसे बिलकुल स्पष्ट रूपमें कह दिया है—**या वहसि पुरु स्पार्हं रत्नं न दाशुषे मयः।** "तू जो देनेवाले-को ऐसा कल्याण-सुख प्राप्त कराती है, जो अनेकरूप और स्पृहणीय आनंद ही है।"

वेदका एक सामान्य शब्द '**सूनृता**' है जिसका अर्थ सायणने "मधुर और

---

1. **यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः।** (4-51-5)
2. **वि तद्ययुरुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः।** (6-65-2)
3. **ऋतस्य देवीः सदसो बुधानाः।** (4-51-8)

सत्य वाणी" किया है, परंतु प्रतीत होता है कि इसका प्रायः और भी अधिक व्यापक अभिप्राय "सुखमय सत्य" है। उषाको कहीं-कहीं यह कहा गया है कि वह "**ऋतावरी**" है, सत्यसे परिपूर्ण है और कहीं उसे "**सूनृतावती**" कहा गया है। वह आती है सच्चे और सुखमय शब्दोंको उच्चारित करती हुई, "**सूनृता ईरयन्ती**"। जैसे उसका यह वर्णन किया गया है कि वह जगमगाती हुई गौओंकी नेत्री है और दिनोंकी नेत्री है, वैसे ही उसे सुखमय सत्योंकी प्रकाशवती नेत्री भी कहा गया है, **भास्वती नेत्री सूनृतानाम्** (1-92-7), और वैदिक ऋषियोंके मनमें ज्योति, किरणों या गौओंके विचार और सत्यके विचारमें जो परस्पर गहरा संबंध है, वह एक दूसरी ऋचा १.९२.१४में और भी अधिक स्पष्ट तथा असंदिग्ध रूपसे पाया जाता है—**गोमति अश्वावति विभावरि, सूनृतावति**। "हे उषः, जो तू अपनी जगमगाती हुई गौओंके साथ है, अपने अश्वोंके साथ है, अत्यधिक प्रकाशमान है और सुखमय सत्योंसे परिपूर्ण है।" इसी-जैसा पर इससे अधिक स्पष्ट वाक्यांश 1-48-2 में है, जो इन विशेषणोंके इस प्रकार रखे जानेके अभिप्रायको सूचित कर देता है—"**गोमतीरश्वावतीर्विश्वसुविदः**"। "उषाएं जो अपनी ज्योतियों (गौओं)के साथ हैं, अपनी त्वरित गतियों (अश्वों)के साथ हैं और जो सब वस्तुओंको ठीक प्रकारसे जानती हैं।"

वैदिक उषाके आध्यात्मिक स्वरूपका निर्देश करनेवाले जो उदाहरण ऋग्वेदमें पाये जाते हैं, वे किसी भी प्रकार यहीं तक सीमित नहीं हैं। उषाको निरन्तर इस रूपमें प्रदर्शित किया गया है कि वह दर्शन व बोधको तथा ठीक दिशामें गतिको जागृत करती है। गोतम राहूगण कहता है, "वह देवी सब भुवनोंको सामने होकर देखती है, वह दर्शनरूपी आंख अपनी पूर्ण विस्तीर्णतामें चमकती है; ठीक दिशामें चलनेके लिये संपूर्ण जीवनको जगाती हुई वह सब विचारशील लोगोंके लिये वाणीको प्रकट करती है।"[1] **विश्वस्य वाचमविदन् मनायोः** (1-92-9)।

यहां हम उषाको इस रूपमें पाते हैं कि वह जीवन और मनको बंधन-मुक्त करके अधिक-से-अधिक पूर्ण विस्तारमें पहुंचा देती है और यदि हम इस उपर्युक्त निर्देशको यहीं तक सीमित रखें कि यह केवल भौतिक उषाके उदय होने पर पार्थिव जीवनके पुनः जाग उठनेका ही वर्णन है तो हम ऋषिके चुने हुए शब्दों और वाक्यांशोंमें जो बल है उस सारेकी उपेक्षा ही कर

---

1. **विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुर्विषया वि भाति।**
विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः॥ (ऋ.1-92-9)

रहे होंगे और यद्यपि, उषासे लाये जानेवाले दर्शनके लिये यहाँ जो शब्द प्रयुक्त किया गया है, 'चक्षुः', उसे केवल भौतिक दर्शनशक्ति को ही सूचित कर सकने योग्य माना जा सकता है तो भी दूसरे संदर्भोंमें हम इसके स्थान पर 'केतु' शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ है बोध, मानसिक चेतनामें होनेवाला बोधयुक्त दर्शन, ज्ञानकी एक शक्ति। उषा है 'प्रचेताः', इस बोधयुक्त ज्ञानसे पूर्ण। उषाने, जो ज्योतियोंकी माता है, मनके इस बोधयुक्त ज्ञानको रचा है, **गवां जनित्री अकृत प्र केतुम्** (1-124-5)। वह स्वयं ही दर्शनरूप है—"अब बोधमय दर्शनकी उषा खिल उठी है, जहाँ कि पहले कुछ नहीं (असत्) था", **वि नूनमुच्छादसति प्र केतुः** (1-124-11)। वह अपनी बोधयुक्त शक्तिके द्वारा सुखमय सत्योंवाली है, **चिकित्वित् सूनृतावरि** (4-52-4)।

हमें बताया गया है कि यह बोध, यह दर्शन, अमरत्वका है—**अमृतस्य केतुः** (3.61.3)। दूसरे शब्दोंमें यह उस **सत्य** और **सुख**की ज्योति है जिससे उच्चतर या अमर चेतनाका निर्माण होता है। **रात्रि** वेदमें हमारी उस अंधकारमय चेतनाका प्रतीक है जिसके ज्ञानमें अज्ञान भरा पड़ा है और जिसके संकल्प तथा क्रियामें स्खलनपर स्खलन होते रहते हैं और इसलिये जिसमें सब प्रकारकी बुराई, पाप तथा कष्ट रहते हैं। **प्रकाश** है ज्योतिर्मयी उच्चतर चेतनाका आगमन जो **सत्य** और **सुख**को प्राप्त कराता है। हम निरन्तर 'दुरितम्' और 'सुवितम्' इन दो विरुद्धार्थक शब्दोंका प्रयोग पाते हैं। दुरितम्का शाब्दिक अर्थ है स्खलन, गलत रास्ते पर जाना और औपचारिक रूपसे वह सब प्रकारकी गलती और बुराई, सब पाप, भूल और विपत्तियोंका सूचक है। 'सुवितम्'का शाब्दिक अर्थ है ठीक और भले रास्ते पर जाना और यह सब प्रकारकी अच्छाई तथा सुखको प्रकट करता है और विशेषकर इसका अर्थ वह सुख-समृद्धि है जो सही मार्ग पर चलनेसे मिलती है। सो वसिष्ठ इस देवी उषाके विषयमें (7.78.2) में इस प्रकार कहता है—"दिव्य उषा अपनी ज्योतिसे सब अंधकारों और बुराइयोंको हटाती हुई आ रही है"[1] (**विश्वा तमांसि दुरिता**), और बहुतसे मंत्रोंमें इस देवीका वर्णन इस रूपमें किया गया है कि वह मनुष्योंको जगा रही है, प्रेरित कर रही है, ठीक मार्गकी ओर, सुखकी ओर (**सुविताय**)।

इसलिये वह केवल सुखमय सत्योंकी ही नहीं, किन्तु हमारी आध्यात्मिक समृद्धि और उल्लासकी भी नेत्री है, उस आनंदको लानेवाली है जिसतक

---

1. **उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी।** (7.78.2)

मनुष्य सत्यके द्वारा पहुंचता है या जो सत्यके द्वारा मनुष्यके पास लाया जाता है, (**एषा नेत्री राधसः सूनृतानाम्**, 7.76.7)। यह समृद्धि जिसके लिये ऋषि प्रार्थना करते हैं भौतिक ऐश्वर्योंके अलंकारसे वर्णितकी गयी है; यह '**गोमद् अश्वावद् वीरवद्**' है, या यह '**गोमद् अश्वावद् रथवच्च राधः**' है। गौ (गाय), अश्व (घोड़ा), प्रजा या अपत्य (संतान), नृ या वीर (मनुष्य या शूरवीर), हिरण्य (सोना), रथ (सवारीवाला रथ), श्रवः (भोजन या कीर्त्ति)—याज्ञिक संप्रदायवालोंकी व्याख्याके अनुसार ये ही उस संपत्तिके अंग हैं जिसकी वैदिक ऋषि कामना करते थे। यह लगेगा कि इससे अधिक ठोस दुनियावी, पार्थिव और भौतिक दौलत कोई और नहीं हो सकती थी; निःसंदेह ये ही वे ऐश्वर्य हैं जिनके लिये कोई बेहद भूखी, पार्थिव वस्तुओंकी लोभी, कामुक, जंगली लोगोंकी जाति अपने आदि देवोंसे याचना करती। परंतु हम देख चुके हैं कि 'हिरण्य' वेदमें भौतिक सोनेकी अपेक्षा दूसरे ही अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। हम देख आये हैं कि 'गौएं' निरन्तर उषाके साथ संबद्ध होकर बार-बार आती हैं, कि यह प्रकाशके उदय होने का आलंकारिक वर्णन होता है और हम यह भी देख चुके हैं कि इस प्रकाशका संबंध मानसिक दर्शनके साथ है और उस सत्यके साथ है जो सुख लाता है। और अश्व, घोड़ा, आध्यात्मिक भावोंके निर्देशक इन मूर्त्त अलंकारोंमें सर्वत्र गौके प्रतीकात्मक अलंकारके साथ जुड़ा हुआ आता है; उषा '**गोमती अश्वावती**' हैं। वसिष्ठ ऋषि-की एक ऋचा (7.77.3) है जिसमें वैदिक अश्वका प्रतीकात्मक अभिप्राय बड़ी स्पष्टता और बड़े बलके साथ प्रकट होता है—

देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती, श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता, चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता॥

'देवोंकी दर्शनरूपी आंखको लाती हुई, पूर्ण दृष्टिवाले सफेद घोड़ेका नेतृत्व करती हुई सुखमय उषा रश्मियों द्वारा व्यक्त होकर दिखायी दे रही है; यह अपने चित्रविचित्र ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण है, अपने जन्मको सब वस्तुओंमें अभिव्यक्त कर रही है।' यह पर्याप्त स्पष्ट है कि 'सफेद घोड़ा' पूर्णतया प्रतीकरूप ही है[1] (सफेद घोड़ा यह मुहावरा अग्निदेवताके लिये प्रयुक्त

---

1. घोड़ा प्रतीकरूप ही है, यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है दीर्घतमस् के सूक्तों में जो कि यज्ञ के घोड़े के सम्बन्ध में हैं, अश्व दधिक्रावन्-विषयक भिन्न भिन्न ऋषियों के सूक्तों में और फिर बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में जहाँ वह जटिल आलंकारिक वर्णन है जिसका आरम्भ "उषा घोड़े का सिर है" (उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः) इस वाक्य से होता है।

किया गया है जो अग्नि कि 'द्रष्टाका संकल्प' है, कविक्रतु है, दिव्य संकल्प-की अपने कार्योंको करनेकी पूर्ण दृष्टि-शक्ति है। (5.1.4)[1] और ये 'चित्र-विचित्र ऐश्वर्य' भी आलंकारिक ही हैं जिन्हें वह अपने साथ लाती है, निश्चय ही उनका अभिप्राय भौतिक धन-दौलतसे नहीं है।

उषाका वर्णन किया गया है कि वह **'गोमती अश्वावती वीरवती'** है और क्योंकि उसके साथ लगाये गये 'गोमती' और 'अश्वावती' ये दो विशेषण प्रतीकरूप हैं और इनका अर्थ यह नहीं है कि वह 'भौतिक गौओं और भौतिक घोड़ोंवाली' है बल्कि यह अर्थ है कि वह ज्ञानकी ज्योतिसे जगमगानेवाली और शक्तिकी तीव्रतासे युक्त है, तो 'वीरवती'का अर्थ भी यह नहीं हो सकता कि वह 'मनुष्योंवाली है या शूरवीरों, नौकर-चाकरों वा पुत्रोंसे युक्त' है, बल्कि इसकी अपेक्षा इसका अर्थ यह होगा कि वह विजयशील शक्तियोंसे संयुक्त है अथवा यह शब्द बिल्कुल इसी अर्थमें नहीं तो कम-से-कम किसी ऐसे ही और प्रतीकरूप अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात 1.113.18 में बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। **'या गोमतीरुषसः सर्ववीराः...ता अश्वदा अश्वनवत् सोमसुत्वा।'** इसका यह अर्थ नहीं है कि 'वे उषाएं जिनमें कि भौतिक गायें हैं और सब मनुष्य या सब नौकर-चाकर हैं, उन्हें सोम अर्पित करके मनुष्य उनका भौतिक घोड़ोंको देनेवाली के रूपमें उपभोग करता है।' उषा देवी यहाँ आन्तरिक उषा है जो कि मनुष्यके लिये उसकी बृहत्तम सत्ताकी विविध पूर्णताओंको, शक्तिको, चेतना को और प्रसन्नताको लाती है; यह अपनी ज्योतियोंसे जगमग है, सब संभव शक्तियों और बलोंसे युक्त है, यह मनुष्यको जीवन-शक्तिका पूर्ण बल प्रदान करती है, जिससे कि वह उस बृहत्तर सत्ताके असीम आनंदका स्वाद ले सके।

अब हम अधिक देर तक **'गोमद् अश्वावद् वीरवद् राधः'**को भौतिक अर्थोंमें नहीं ले सकते; वेदकी भाषा ही हमें इससे बिलकुल भिन्न तथ्यका निर्देश कर रही है। इस कारण देवों द्वारा दी गयी इस संपत्तिके अन्य अंगोंको भी हमें इसीकी तरह अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थोंमें ही लेना चाहिये; संतान, सुवर्ण, रथ ये प्रतीकरूप ही हैं; 'श्रवः' कीर्त्ति या भोजन नहीं है, बल्कि इसमें आध्यात्मिक अर्थ अन्तर्निहित है और इसका अभिप्राय है वह उच्चतर दिव्य ज्ञान जो इन्द्रियों या बुद्धिका विषय नहीं है बल्कि

---

[1] **अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति।**
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम्॥ (5.1.4)

जो सत्यकी दिव्य श्रुति है और सत्यके दिव्य दर्शन से प्राप्त होता है; 'राधः दीर्घश्रुतम्' (7.81.5) 'रयिं अवस्युम्' (7.75.2) सत्ताकी वह संपन्न अवस्था है, आध्यात्मिक समृद्धिसे युक्त वह वैभव है जो दिव्य ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होता है (अवस्यु) और जिसमें उस दिव्य शब्दके कम्पनोंको सुननेके लिये सुदीर्घ, दूर तक फैली श्रवणशक्ति है, जो दिव्य शब्द हमारे पास असीमके प्रदेशों (दिशः)से आता है। इस प्रकार उषाका यह उज्ज्वल अलंकार हमें वेदसंबंधी उन सब भौतिक, कर्मकाण्डिक, अज्ञानमूलक भ्रांतियों-से मुक्त कर देता है जिनमें यदि हम फँसे रहते तो वे हमें असंगति और अस्पष्टताकी रात्रिमें ठोकरों-पर-ठोकरें खिलाती हुई एकसे दूसरे अंधकूपम ही गिराती रहतीं; यह हमारे लिये बंद द्वारोंको खोल देती है और वैदिक ज्ञानके हृदयके अंदर हमारा प्रवेश करा देती है।

चौदहवाँ अध्याय

आंगिरस उपाख्यान और गौओं का रूपक

अब हमें गौके इस रूपकको, जिसे हम वेदके आशयकी कुंजीके रूपमें प्रयुक्त कर रहे हैं, अंगिरस् ऋषियोंके उस उद्‌भुत उपाख्यान या कथानकमें देखना है जो सामान्य रूपसे कहें तो सारीकी सारी वैदिक गाथाओंमें सबसे अधिक महत्त्वका है।

वेदके सूक्त, वे और जो कुछ भी हों सो हों, वे सारे-के-सारे मनुष्यके सखा और सहायकभूत कुछ "आर्य" देवताओंके प्रति प्रार्थनारूप हैं, प्रार्थना उन बातोंके लिये है जो मंत्रोंके गायकोंको—या द्रष्टाओंको, जैसा कि वे अपने-आपको कहते हैं (कवि, ऋषि, विप्र)—विशेष रूपसे वरणीय (वर, वार), अभीष्ट होती थीं। उनकी ये अभीष्ट बातें, देवताओंके ये वर संक्षेपसे 'रयि', 'राधस्' इन दो शब्दोंमें संगृहीत हो जाते हैं, जिनका अर्थ भौतिक रूपसे तो धन-दौलत या समृद्धि हो सकता है और आध्यात्मिक रूपसे एक आनन्द या सुख-लाभ जो आत्मिक संपत्तिके किन्हीं रूपोंका आधिक्य होनेसे होता है। मनुष्य यज्ञके कार्यमें, स्तोत्रमें, सोमरसमें, घृत या घीमें, सम्मिलित प्रयत्नके अपने हिस्सेके तौरपर, योग-दान करता है। देवता यज्ञमें जन्म लेते हैं, वे स्तोत्रके द्वारा, सोम-रसके द्वारा तथा घृतके द्वारा बढ़ते हैं और उस शक्तिमें तथा सोमके उस आनंद और मदमें भरकर वे यज्ञकर्ताके उद्देश्योंको पूर्ण करते हैं। इस प्रकार जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है उसके मुख्य अंग 'गौ' और 'अश्व' हैं; पर इनके अतिरिक्त और भी हैं, हिरण्य (सोना), वीर (मनुष्य या शूरवीर), रथ (सवारी करनेका रथ), प्रजा या अपत्य (संतान)। यज्ञके साधनोंको भी—अग्निको, सोमको, घृत को—देवता देते हैं और वे यज्ञ में इसके पुरोहित, पवित्रता-कारक, सहायक बनकर उपस्थित होते हैं, तथा यज्ञमें होनेवाले संग्राममें वीरोंका काम करते हैं,—क्योंकि कुछ शक्तियां एसी होती हैं जो यज्ञ तथा मंत्रसे घृणा करती हैं, यज्ञकर्तापर आक्रमण करती हैं और उसके अभीप्सित ऐश्वर्योंको उससे जबर्दस्ती छीन लेती या उसके पास पहुँचनेसे रोके रखती हैं। ऐसी उत्कण्ठासे जिस ऐश्वर्यकी कामनाकी जाती है उसकी मुख्य शर्तें हैं उषा तथा सूर्यका उदय होना और द्युलोककी वर्षाका और सात नदियों—भौतिक या रहस्यमय—

(जिन्हें कि वेदमें द्युलोककी शक्तिशालिनी वस्तुएँ 'दिवो यह्वीः' कहा गया है) का नीचे आना। पर यह ऐश्वर्य भी, गौओंकी, घोड़ोंकी, सोनेकी, रथोंकी, संतानकी यह परिपूर्णता भी अपने-आपमें अंतिम उद्देश्य नहीं है; यह सब एक साधन है दूसरे लोकोंको खोल देनेका, 'स्वः' को अधिगत कर लेनेका, सौर लोकोंमें आरोहण करनेका, सत्यके मार्ग द्वारा उस ज्योतिको और उस स्वर्गीय सुखको पा लेनेका जहाँ मर्त्य अमरतामें पहुँच जाता है।

यह है वेदका असंदिग्ध सारभूत तत्त्व। कर्मकाण्डपरक और गाथापरक अभिप्राय जो इसके साथ बहुत प्राचीन कालसे जोड़ा जा चुका है, बहुत प्रसिद्ध है और उसका यहाँ विशेष रूपसे वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। संक्षेपमें, यह यज्ञिय पूजाका अनुष्ठान है जिसे मनुष्यका मुख्य कर्तव्य माना गया है और इसमें दृष्टि यह है कि इससे इहलोकमें धन-दौलतका उपभोग प्राप्त होगा और यहाँके बाद परलोकमें स्वर्ग मिलेगा। इस संबंधमें हम आधुनिक दृष्टिकोणको भी जानते हैं, जिसके अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, तारे, उषा, वायु, वर्षा, अग्नि, आकाश, नदियों तथा प्रकृतिकी अन्य शक्तियोंको सजीव देवता मानकर उनकी पूजा करना, यज्ञके द्वारा इन देवताओंको प्रसन्न करना, इस जीवनमें मानव और द्राविड़ शत्रुओंसे और प्रतिपक्षी दैत्यों तथा मर्त्य लुटेरोंका मुकाबला करके धन-दौलतको जीतना और अपने अधिकारमें रखना और मरनेके बाद मनुष्यका देवोंके स्वर्गको प्राप्त कर लेना, बस यही वेद है। अब हम पाते हैं कि अतिसामान्य लोगोंके लिये ये विचार चाहे कितने ही युक्तियुक्त क्यों न रहे हों, वैदिक युगके द्रष्टाओंके लिये, ज्ञान-ज्योतिसे प्रकाशित मनों (कवि, विप्र) के लिये वे वेदका आन्तरिक अभिप्राय नहीं थे। उनके लिये तो ये भौतिक पदार्थ किन्हीं अभौतिक वस्तुओंके प्रतीक थे; 'गौएँ' दिव्य उषाकी किरणें या प्रभाएँ थीं, 'घोड़े' और 'रथ' शक्ति तथा गतिके प्रतीक थे, 'सुवर्ण' था प्रकाश, एक दिव्य सूर्यकी प्रकाशमय संपत्ति—सच्चा प्रकाश, "ऋतं ज्योतिः", यज्ञसे प्राप्त होनेवाली धन-संपत्ति और स्वयं यज्ञ ये दोनों अपने सब अंग-उपांगोंके साथ, एक उच्चतर उद्देश्य—अमरताकी प्राप्ति—के लिये मनुष्यका जो प्रयत्न है और उसके जो साधन हैं, उनके प्रतीक थे। वैदिक द्रष्टाकी अभीप्सा थी मनुष्यके जीवनको समृद्ध बनाना और उसका विस्तार करना, उसके जीवन-यज्ञमें विविध दिव्यत्वको जन्म देना और उसका निर्माण करना, उन दिव्यत्वोंकी शक्तिभूत जो बल, सत्य, प्रकाश, आनन्द आदि हैं उनकी वृद्धि करना जबतक कि मनुष्यका आत्मा अपनी सत्ताके परिवर्धित और उत्तरोत्तर खुलते जानेवाले लोकोंमेंसे होता हुआ ऊपर न चढ़ जाय, जबतक वह यह न देख ले कि दिव्य द्वार

(देवीर्द्वारः) उसकी पुकारपर खुलकर झूलने लगते हैं और जबतक वह उस दिव्य सत्ताके सर्वोच्च आनंदके अंदर प्रविष्ट न हो जाय जो द्यौ और पृथिवीसे परेका है। यह ऊर्ध्व-आरोहण ही अंगिरस् ऋषियोंकी रूपककथा है।

वैसे तो सभी देवता विजय करनेवाले और गौ, अश्व तथा दिव्य ऐश्वर्योंको देनेवाले हैं, पर मुख्य रूपसे यह महान् देवता इन्द्र है जो इस संग्रामका वीर और योद्धा है और जो मनुष्यके लिये प्रकाश तथा शक्तिको जीतकर देता है। इस कारण इन्द्रको निरन्तर गौओंका स्वामी 'गोपति' कहकर संबोधित किया गया है; उसका ऐसा भी आलंकारिक वर्णन आता है कि वह स्वयं गौ और घोड़ा है; वह अच्छा दोग्धा है जिसकी कि ऋषि दुहनेके लिये कामना करते हैं और जो कुछ वह दुहकर देता है वे हैं पूर्ण रूप और अंतिम विचार; वह 'वृषभ' है, गौओंका सांड है; गौओं और घोड़ोंकी वह संपत्ति जिसके लिये मनुष्य इच्छा करता है, उसीकी है। 6.28.5 में यह कहा भी है—'हे मनुष्यो! ये जो गौएँ हैं, वे इन्द्र हैं; इन्द्रको ही मैं अपने हृदय से और मनसे चाहता हूँ।'[1] गौओं और इन्द्रकी यह एकात्मता महत्त्वकी है और हमें इसपर फिर लौटकर आना होगा जब हम इन्द्रको कहे मधुच्छन्दस्के सूक्तोंपर विचार करेंगे।

पर साधारणतया ऋषि इस ऐश्वर्यकी प्राप्तिका इस तरह अलंकार खींचते हैं कि यह एक विजय है, जो कि कुछ शक्तियोंके मुकाबलेमें की गयी है; वे शक्तियाँ 'दस्यु' हैं, जिन्हें कहीं इस रूपमें प्रकट किया गया है कि वे अभीप्सित ऐश्वर्योंको अपने कब्जेमें किये होते हैं जिन ऐश्वर्योंको फिर उनसे छीनना होता है और कहीं इस रूपमें वर्णन है कि वे उन ऐश्वर्योंको आर्योंके पाससे चुराते हैं और तब आर्योंको देवोंकी सहायतासे उन्हें खोजना और फिरसे प्राप्त करना होता है। इन दस्युओंको जो कि गौओंको अपने कब्जेमें किये होते हैं या चुराकर लाते हैं 'पणि' कहा गया है। इस 'पणि' शब्दका मूल अर्थ कर्ता, व्यौहारी या व्यापारी रहा प्रतीत होता है, पर इस अर्थको कभी-कभी इससे जो और दूरका 'कृपण'का भाव प्रकट होता है उसकी रंगत दे दी जाती है। उन पणियोंका मुखिया है 'वल' एक दैत्य जिसके नामसे संभवतः 'चारों ओरसे घेर लेनेवाला' या 'अंदर बन्द कर लेनेवाला' यह अर्थ निकलता है, जैसे 'वृत्र'का अर्थ होता है विरोधी, विघ्न डालनेवाला या सब ओरसे बन्द करके ढकनेवाला।

यह सलाह देना बड़ा आसान है कि पणि तो द्रवीड़ी-लोग हैं और

---

[1] इमा या गावः स जनास इन्द्रः, इच्छामि-इद्-हृदा मनसा चिदिन्द्रम्।

'वल' उनका सरदार या देवता है, जैसा कि वे विद्वान् जो वेद में प्रारंभिक से प्रारंभिक इतिहासको पढ़नेकी कोशिश करते हैं, कहते भी हैं। पर यह आशय जुदा करके देखे गये संदर्भोंमें ही ठीक ठहराया जा सकता है; अधिकतर सूक्तोंमें तो ऋषियोंके वास्तविक शब्दोंके साथ इसकी संगति ही नहीं बैठती और इससे उनके प्रतीक तथा अलंकार नुमायशी निरर्थक बातोंके एक गड़बड़ मिश्रणसे दीखने लगते हैं। इस असंगतिमें की कुछ बातोंको हम पहले ही देख चुके हैं; यह हमारे सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती चलेगी, ज्यों-ज्यों हम खोयी हुई गौओंके कथानककी और अधिक नजदीकसे परीक्षा करेंगे।

'वल' एक गुफामें, पहाड़ोंकी कंदरा (बिल) में रहता है; इन्द्र और अंगिरस् ऋषियोंको उसका पीछा करके वहाँ पहुँचना है और उसे अपनी दौलतको छोड़ देनेके लिये बाध्य करना है; क्योंकि वह गौओंका 'वल' है–'वलस्य गोमतः' (1.11.5)। पणियोंको भी इसी रूपमें निरूपित किया गया है कि वे चुरायी हुई गौओंको पहाड़की एक गुफामें छिपा देते हैं, जो उनका छिपानेका कारागार 'वव्र', या गौओंका बाड़ा 'व्रज', कहलाता है या कभी-कभी सार्थक मुहावरे में उसे 'गव्यम् ऊर्वम्' (1.72.8) कह दिया जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'गौओंका विस्तार' या यदि 'गो'का दूसरा भाव लें, तो "ज्योतिर्मय विस्तार", जगमगाती गौओंकी विस्तृत संपत्ति। इस खोयी हुई संपत्तिको फिरसे पा लेनेके लिये 'यज्ञ' करना पड़ता है; अंगिरस् या बृहस्पति और अंगिरस् सच्चे शब्दका, मन्त्रका, गान करते हैं; सरमा, स्वर्गकी कुतिया, ढूँढ़कर पता लगाती है कि गौएँ पणियोंकी गुफामें हैं; सोम-रससे बली हुआ इन्द्र और उसके साथी द्रष्टा अंगिरस् पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए गुफामें जा घुसते हैं, या बलात् पहाड़के मजबूत स्थानोंको तोड़कर खोल देते हैं, पणियोंको हराते हैं और गौओंको छुड़ाकर ऊपर हाँक ले जाते हैं।

पहले हम इससे संबंध रखनेवाली कुछ उन बातोंको ध्यानमें ले आवें जिनकी कि उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये, जब कि हम इस रूपक या कथानकका असली अभिप्राय निश्चित करना चाहते हैं। सबसे पहली बात यह कि यह कथानक अपने रूपवर्णनोंमें चाहे कितना यथार्थ क्यों न हो तो भी वेदमें यह एक निरी गाथात्मक परंपरामात्र नहीं है, बल्कि वेदमें इसका प्रयोग एक स्वाधीनता और तरलताके साथ हुआ है जिससे कि पवित्र परंपराके पीछे छिपा हुआ इसका सार्थक आलंकारिक रूप दिखायी देने लगता है। बहुधा वेदमें इसपरसे इसका गाथात्मक रूप उतार डाला गया है और इसे मंत्र-गायककी वैयक्तिक आवश्यकता या अभीप्साके अनुसार प्रयुक्त

किया गया है। क्योंकि यह एक क्रिया है जिसे इन्द्र सदैव कर सकनेमें समर्थ है; यद्यपि वह इसे एक बार हमेशाके लिये नमूनेके रूपमें अंगिरसोंके द्वारा कर चुका है फिर भी वह वर्तमानमें भी इस नमूनेको लगातार दोहराता है, वह निरन्तर गौओंको खोजनेवाला—'गवेषणा' करनेवाला है और इस चुरायी हुई संपत्तिको फिरसे पा लेनेवाला है।

कहीं-कहीं हम केवल इतना ही पाते हैं कि गौएं चुरायी गयीं और इन्द्रने उन्हें फिरसे पा लिया; सरमा, अंगिरस् या पणियोंका कोई उल्लेख नहीं होता। पर सर्वदा यह इन्द्र भी नहीं होता जो कि गौओंको फिरसे छुड़ाकर लाता है। उदाहरणके लिये, हमारे पास अग्निदेवताका एक सूक्त है, पंचम मण्डलका दूसरा सूक्त, जो अत्रियोंका है। इसमें गायक चुरायी हुई गौओंके अलंकारको खुद अपनी ओर लगाता है, ऐसी भाषामें जो इसके प्रतीकात्मक होनेके रहस्यको स्पष्ट तौरसे खोल देती है।

'अग्नि'को बहुत काल तक माता पृथ्वी भींचकर अपने गर्भमें छिपाये रहती है, वह उसे उसके पिता द्यौको नहीं देना चाहती; वहां वह तबतक छिपा पड़ा रहता है, जबतक कि वह माता सीमित रूपमें संकुचित रहती है (पेषी), अंतमें जब वह बड़ी और विस्तीर्ण (महिषी) हो जाती है तब उस अग्निका जन्म होता है।[1] अग्निके इस जन्मका संबंध चमकती हुई गौओंके प्रकट होने या दर्शन होनेके साथ दिखाया गया है। "मैंने दूर पर एक खेतमें एक को देखा, जो अपने शस्त्रोंको तैयार कर रहा था, जिसके दांत सोनेके थे, रंग साफ चमकीला था; मैंने उसे पृथक्-पृथक् हिस्सोंमें अमृत (अमर रस, सोम) दिया; वे मेरा क्या कर लेंगे जिनके पास इन्द्र नहीं है और जिनके पास स्तोत्र नहीं है? मैंने उसे खेतमें देखा, जैसे कि यह एक निरन्तर विचरता हुआ, बहुरूप, चमकता हुआ सुखी गौओंका झुंड हो; उन्होंने उसे पकड़ा नहीं, क्योंकि 'वह' पैदा हो गया था; वे (गौएं) भी जो बूढ़ी थीं, फिरसे जवान हो जाती हैं।"[2] परन्तु यदि इस समय ये दस्यु जिनके पास न इन्द्र है और न स्तोत्र है, इन चमकती हुई गौओंको

---

1. कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे....5.2.1
कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान।....5.2.2

2. हिरण्यवर्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत् किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः॥
क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद्यूथं न पुरु शोभमानम्।
न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि वः पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति॥ 5.2.3,4

पकड़नेमें अशक्त हैं, तो इससे पहले वे सशक्त थे जब कि यह चमकीला और जबर्दस्त देवत्व उत्पन्न नहीं हुआ था। "वे कौन थे जिन्होंने मेरे बल-को (मर्यकम्; मेरे मनुष्योंके समुदायको, मेरे वीरोंको) गौओंसे अलग किया? क्योंकि उन (मेरे मनुष्यों)के पास कोई योद्धा और गौओंका रक्षक नहीं था। जिन्होंने मुझसे उनको लिया है, वे उन्हें छोड़ दें, वह जानता है और पशुओंको हमारे पास हांकता हुआ आ रहा है।"[1]

हम उचित रूपसे प्रश्न कर सकते हैं कि ये चमकनेवाले पशु क्या हैं, ये गौएं कौन हैं जो पहले बूढ़ी थीं और फिरसे जवान हो जाती हैं? निश्चित ही वे भौतिक गौएं नहीं हैं, न ही यह खेत कोई यमुना या जेहलम-के पासका पार्थिव खेत है, जिसमें कि ऋषिको सोनेके दांतोंवाले योद्धा देव-का और चमकनेवाले पशुओंका भव्य दर्शन हुआ है। वे हैं या तो भौतिक उषाकी या दिव्य उषाकी गौएं, पर इनमेंसे पहला अर्थ लें तो भाषा ठीक नहीं जंचती; सो यह रहस्यमय दर्शन निश्चित रूपसे दिव्य प्रकाशका दर्शन है, जिसे कि यहाँ आलंकारिक रूपसे वर्णित किया गया है। वे (गौएं) हैं ज्योतियां जिन्हें कि अन्धकारकी शक्तियोंने चुरा लिया था और जो अब फिरसे दिव्य रूपमें प्राप्त कर ली गयी हैं, भौतिक अग्निके देवता द्वारा नहीं, बल्कि जाज्वल्यमान शक्ति (अग्नि देव)के द्वारा जो कि पहले भौतिक सत्ताकी क्षुद्रतामें छिपी पड़ी थी और अब उससे मुक्त होकर प्रकाश-मय मानसिक क्रियाकी निर्मलताओंमें प्रकट होती है।

तो केवल इन्द्र ही ऐसा देवता नहीं है जो इस अन्धकारमयी गुफाको तोड़ सकता है और खोयी हुई ज्योतियोंको फिरसे ला सकता है। और भी कई देवता हैं जिनके साथ भिन्न-भिन्न सूक्तोंमें इस महान् विजयका संबंध जोड़ा गया है। उषा उनमेंसे एक है, वह दिव्य उषा जो इन गौओंकी माता है। "सच्चे देवोंके साथ जो सच्ची है, महान् देवोंके साथ जो महान् है, यज्ञिय देवोंके साथ यज्ञिय देवत्ववाली है, वह दृढ़ स्थानोंको तोड़कर खोल देती है, वह चमकीली गौओंको दे देती है; गौएं उषाके प्रति रंभाती हैं।"[2] अग्नि एक दूसरा है, कभी वह स्वयं अकेला युद्ध करता है, जैसे कि हम पहले देख चुके हैं, और कभी इन्द्रके साथ मिलकर जैसे—'हे इन्द्र,

---

1. के मे मर्यकं वियवन्त गोभिर्न येषां गोपा अरणश्चिदास।
   य ईं जगृभुरव ते सृजन्त्वाजाति पश्व उप नश्चिकित्वान्॥ 5.2.5
2. सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
   रुजद् वृळ्हानि दयदुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त॥ 7.75.7

हे अग्नि, तुम दोनोंने गौओंके लिये युद्ध किया है (6.60.2)[1] या फिर सोमके साथ मिलकर जैसे—'हे अग्नि और सोम! वह तुम्हारी वीरता ज्ञात हो गयी थी, जब कि तुमने पणियोंसे गौओंको लूटा था। (1-93-4)।'[2] सोमका संबंध एक दूसरे संदर्भमें इस विजयके लिये इन्द्रके साथ जोड़ा गया है; 'इस देव (सोम) ने शक्तिसे उत्पन्न होकर, अपने साथी इन्द्रके साथ पणियोंको ठहराया'[3] और दस्युओंके विरुद्ध लड़ते हुए देवोंके सब वीरतापूर्ण कार्योंको किया (6.44.22, 23, 24)। 6.62.11में अश्विनोंको भी इस कार्यसिद्धिको करनेका गौरव दिया गया है—'तुम दोनों गौओंसे परिपूर्ण मजबूत बाड़ेके दरवाजोंको खोल देते हो।'[4] और फिर 1.112.18 में पुनः कहा है, 'हे अंगिरः! (युगल अश्विनोंको कभी-कभी इस एकत्ववाची नाममें संगृहीतकर दिया जाता है) तुम दोनों मनके द्वारा आनन्द लेते हो और तुम सबसे पहले गौओंकी धारा—गोअर्णसः—के विवरमें प्रवेश करते हो',[5] 'गोअर्णसः'का अभिप्राय स्पष्ट है कि प्रकाशकी उन्मुक्त हुई, उमड़ती हुई धारा या समुद्र।

बृहस्पति और भी अधिकतर इस विजयका महारथी है। "बृहस्पति-न, जो सर्वप्रथम परम व्योममें महान् ज्योतिमेंसे पैदा हुआ, जो सात मुखों-वाला है, बहुजात है, सात किरणोंवाला है, अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर दिया; उसने स्तुभ् और ऋक्को धारण करनेवाले अपने गणके साथ, अपनी गर्जना द्वारा 'वल'के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। गर्जता हुआ बृहस्पति हव्यको प्रेरित करनेवाली चमकीली गौओंको ऊपर हाँक ले गया और वे गौएं प्रत्युत्तरमें रंभायीं (4.50.4, 5)' और 6.73.1 और 3 में फिर कहा है, "बृहस्पति जो पहाड़ी (अद्रि)को तोड़नेवाला है, सबसे पहले उत्पन्न हुआ है, आंगिरस है...उस बृहस्पतिने खजानोंको (वसूनि) जीत लिया,

---

1. ता योधिष्टमभि गाः।
2. अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
3. अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्। 6.44.22
4. बृहस्पत्य चिद् गोमतो वि व्रजस्य दुरो वर्तम्।
5. याभिरङ्गिरो मनसा निरण्यथोऽग्रं गच्छथो विवरे गो-अर्णसः।
6. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
   सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि॥
   स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
   बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत्॥

इस देवने गौओंसे भरे हुए बड़े-बड़े बाड़ोंको जीत लिया।"[1] मरुत् भी जो कि बृहस्पतिकी तरह ऋक्के गायक हैं, इस दिव्य क्रियासे संबंध रखते हैं, यद्यपि अपेक्षाकृत कम साक्षात् रूपसे। 'वह, जिसका हे मरुतो! तुम पालन करते हो, बाड़ेको तोड़कर खोल देगा,' (6.66.8)[2]। और एक दूसरे स्थान पर मरुतोंकी गौएं सुननेमें आती हैं (1.38.2)[3]।

पूषाका भी, जो कि पुष्टि करनेवाला है, सूर्य देवताका एक रूप है, आवाहन किया गया है कि वह चुरायी हुई गौओंका पीछा करे और उन्हें फिरसे ढूंढ़कर लाये, (6.54)—'पूषा हमारी गौओंके पीछे-पीछे जाये, पूषा हमारे युद्धके घोड़ोंकी रक्षा करे (5)...हे पूषन्, तू गौओंके पीछे जा (6)...जो खो गया था उसे फिरसे हमारे पास हांककर ला दे (10)[4]।' सरस्वती भी पणियोंका वध करनेवालीके रूपमें आती है। और मधुच्छन्दस्-के सूक्त (1.11.5)में हमें अद्भुत अलंकार मिलता है, 'ओ वज्रके देवता, तूने गौओंवाले बलकी गुफाको खोल दिया; देवता निर्भय होकर शीघ्रतासे गति करते हुए (या अपनी शक्तिको व्यक्त करते हुए) तेरे अंदर प्रविष्ट हो गये।"[5]

क्या इन सब विभिन्न वर्णनोंमें कुछ एक निश्चित अभिप्राय निहित है, जो इन्हें परस्पर इकट्ठा करके एक संगतिमय विचारके रूपमें परिणत कर देगा, अथवा यह बिना किसी नियमके यूं ही हो गया है कि ऋषि अपने खोये हुए पशुओंको ढूंढ़नेके लिये और युद्ध करके उन्हें फिरसे पानेके लिये कभी इस देवताका आवाहन करने लगते हैं और कभी उस देवताका? बजाय इसके कि हम वेदके अंशोंको पृथक्-पृथक् लेकर उनके विस्तारमें अपने-आपको भटकावें, यदि हम वेद के विचारोंको एक संपूर्ण अवयवीके रूपमें लेना स्वीकार करें तो हमें इसका बड़ा सीधा और संतोषप्रद उत्तर मिल जायगा। खोयी हुई गौओंका यह वर्णन परस्परसंबद्ध प्रतीकों और अलंकारोंके पूर्ण संस्थानका अंगमात्र है। वे गौएँ यज्ञके द्वारा फिरसे प्राप्त होती हैं और आगका

---

1. यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।.... बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।...6.73.1,3
2. मरुतो यमवथ...स व्रजं वर्ता। 3. क्व वो गावो न रण्यन्ति।
4. पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः (5) ...पूषन्नु प्र गा इहि (6) पुनर्नो नष्टमाजतु (10)
5. त्वं बलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः॥

देवता अग्नि इस यज्ञकी ज्वाला है, शक्ति है और पुरोहित है,—मंत्र (स्तोत्र) के द्वारा ये प्राप्त होती हैं और बृहस्पति इस मंत्रका पिता है, मरुत् इसके गायक या ब्रह्मा हैं, (ब्रह्माणो मरुतः), सरस्वती इसकी अन्तःप्रेरणा है;—रस द्वारा ये प्राप्त होती हैं और सोम इस रसका देवता है, तथा अश्विन् इस रसके खोजनेवाले, पा लेनेवाले, देनेवाले और पीनेवाले हैं। गौएँ हैं प्रकाशकी गौएँ, और प्रकाश उषा द्वारा आता है, या सूर्य द्वारा आता है, जिस सूर्यका कि पूषा एक रूप है और अन्तिम यह कि इन्द्र इन सब देवताओंका मुखिया है, प्रकाशका स्वामी है, 'स्वः' कहानेवाले ज्योतिर्मय लोकका अधिपति है,—हमारे कथनानुसार वह प्रकाशमय या दिव्य मन है; उसके अंदर सब देवता प्रविष्ट होते हैं और छिपे हुए प्रकाशको खोल देनेके उसके कार्यमें हिस्सा लेते हैं।

इसलिये हम समझ सकते हैं कि इसमें पूर्ण औचित्य है कि एक ही विजयके साथ इन भिन्न-भिन्न देवताओंका संबंध बताया गया है और मधुच्छन्दस्के आलंकारिक वर्णनमें इन देवताओंके लिये यह कहा गया है कि ये 'वल' पर प्रहार करनेके लिये इन्द्रके अंदर प्रविष्ट हो जाते हैं। कोई भी बात बिना किसी निश्चित विचारके यूं ही अटकलपच्चूसे या विचारोंकी एक गड़बड़ अस्थिरताके वशीभूत होकर नहीं कही गयी है। वेद अपने वर्णनोंकी संगतिमें और अपनी एकवाक्यतामें पूर्ण तथा सुरम्य है।

इसके अतिरिक्त, यह जो प्रकाशको विजय करके लाना है वह वैदिक यज्ञकी महान् क्रियाका केवल एक अंग है। देवताओंको इस यज्ञके द्वारा उन सब वरोंको (विश्वा वार्या) जीतना होता है जो कि अमरताकी विजयके लिये आवश्यक हैं और छिपे हुए प्रकाशोंका आविर्भाव करना केवल इनमेंसे एक वर है। शक्ति (अश्व) भी वैसी ही आवश्यक है जैसा कि प्रकाश (गौ); केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि 'वल'के पास पहुंचा जाय और उसके जबर्दस्त पंजेसे प्रकाशको जीता जाय, वृत्रका वध करना और जलोंको मुक्त करना भी आवश्यक है; चमकती हुई गौओंके आविर्भावका अभिप्राय है उषाका और सूर्यका उदय होना; यह फिर अधूरा रहता है, बिना यज्ञ, अग्नि और सोमरसके। ये सब वस्तुएं एक ही क्रियाके विभिन्न अंग हैं, कहीं इनका वर्णन जुदा-जुदा हुआ है, कहीं वर्गोंमें, कहीं सबको इकट्ठा मिलाकर इस रूपमें कि मानो यह एक ही क्रिया है, एक महान् पूर्ण विजय है। और उन्हें अधिगत कर लेनेका परिणाम यह होता है कि बृहत् सत्यका आविर्भाव हो जाता है और 'स्वः'की प्राप्ति हो जाती है, जो कि ज्योतिर्मय लोक है और जिसे जगह-जगह 'विस्तृत दूसरा लोक', उरुम् उ लोकम् या केवल

देवता **अग्नि** इस यज्ञकी ज्वाला है, शक्ति है और पुरोहित है,—मंत्र (स्तोत्र) के द्वारा ये प्राप्त होती हैं और बृहस्पति इस मंत्रका पिता है, **मरुत्** इसके गायक या ब्रह्मा हैं, (ब्रह्माणो मरुतः), **सरस्वती** इसकी अन्तःप्रेरणा है;—**रस द्वारा** ये प्राप्त होती हैं और सोम इस रसका देवता है, तथा **अश्विन्** इस रसके खोजनेवाले, पा लेनेवाले, देनेवाले और पीनेवाले हैं। गौएँ हैं **प्रकाश**की गौएँ, और **प्रकाश उषा** द्वारा आता है, या सूर्य द्वारा आता है, जिस सूर्यका कि **पूषा** एक रूप है और अन्तिम यह कि **इन्द्र** इन सब देवताओंका मुखिया है, **प्रकाश**का स्वामी है, 'स्वः' कहानेवाले ज्योतिर्मय लोकका अधिपति है,—हमारे कथनानुसार वह प्रकाशमय या दिव्य **मन** है;. उसके अंदर सब देवता प्रविष्ट होते हैं और छिपे हुए **प्रकाश**को खोल देनेके उसके कार्यमें हिस्सा लेते हैं।

इसलिये हम समझ सकते हैं कि इसमें पूर्ण औचित्य है कि एक ही विजयके साथ इन भिन्न-भिन्न देवताओंका संबंध बताया गया है और मधुच्छन्दस्के आलंकारिक वर्णनमें इन देवताओंके लिये यह कहा गया है कि ये 'वल' पर प्रहार करनेके लिये इन्द्रके अंदर प्रविष्ट हो जाते हैं। कोई भी बात बिना किसी निश्चित विचारके यूं ही अटकलपच्चूसे या विचारोंकी एक गड़बड़ अस्थिरताके वशीभूत होकर नहीं कही गयी है। वेद अपने वर्णनोंकी संगतिमें और अपनी एकवाक्यतामें पूर्ण तथा सुरम्य है।

इसके अतिरिक्त, यह जो प्रकाशको विजय करके लाना है वह वैदिक यज्ञकी महान् क्रियाका केवल एक अंग है। देवताओंको इस यज्ञके द्वारा उन सब वरोंको (विश्वा वार्या) जीतना होता है जो कि अमरताकी विजयके लिये आवश्यक हैं और छिपे हुए **प्रकाशों**का आविर्भाव करना केवल इनमेंसे एक वर है। शक्ति (अश्व) भी वैसी ही आवश्यक है जैसा कि प्रकाश (गौ); केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि 'वल'के पास पहुंचा जाय और उसके जबर्दस्त पंजेसे प्रकाशको जीता जाय, वृत्रका वध करना और जलोंको मुक्त करना भी आवश्यक है; चमकती हुई गौओंके आविर्भावका अभिप्राय है **उषा**का और **सूर्य**का उदय होना; यह फिर अधूरा रहता है, बिना यज्ञ, अग्नि और सोमरसके। ये सब वस्तुएं एक ही क्रियाके विभिन्न अंग हैं, कहीं इनका वर्णन जुदा-जुदा हुआ है, कहीं वर्गोंमें, कहीं सबको इकट्ठा मिलाकर इस रूपमें कि मानो यह एक ही क्रिया है, एक महान् पूर्ण विजय है। और उन्हें अधिगत कर लेनेका परिणाम यह होता है कि **बृहत् सत्य**का आविर्भाव हो जाता है और **'स्वः'**की प्राप्ति हो जाती है, जो कि ज्योतिर्मय लोक है और जिसे जगह-जगह 'विस्तृत दूसरा लोक', **उरुम् उ लोकम्** या केवल

'दूसरा लोक', उ लोकम् कहा है। पहले हमें इस एकताको अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिये यदि हम ऋग्वेदके विविध संदर्भोंमें आनेवाले इन प्रतीकोंका पृथक्-पृथक् परिचय हृदयंगम करना चाहते हैं।

इस प्रकार 6.73 में जिसका हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं, हम तीन मंत्रोंका एक छोटा सा सूक्त पाते हैं जिसमें ये प्रतीक-शब्द संक्षेपमें अपनी एकताके साथ इकट्ठे रखे हुए हैं; इसके लिये यह भी कहा जा सकता है कि यह वेदके उन स्मारक सूक्तोंमेंसे एक है जो वेदके अभिप्रायकी और इसके प्रतीकवादकी एकताको स्मरण कराते रहनेका काम करते हैं।

"वह जो पहाड़ीको तोड़नेवाला है, सबसे पहले उत्पन्न हुआ, सत्यसे युक्त, बृहस्पति जो आंगिरस है, हविको देनेवाला है, दो लोकोंमें व्याप्त होनेवाला, (सूर्यके) ताप और प्रकाशमें रहनेवाला, हमारा पिता है, वह वृषभकी तरह दो लोकों (द्यावापृथिवी)में जोरसे गर्जता है (1)। बृहस्पति, जिसने कि यात्री मनुष्यके लिये, देवताओंके आवाहनमें, उस दूसरे लोकको रचा है, वृत्रशक्तियोंका हनन करता हुआ नगरोंको तोड़कर खोल देता है, शत्रुओंको जीतता हुआ और अमित्रोंका संग्रामोंमें पराभव करता हुआ (2)। बृहस्पति उसके लिये खजानोंको जीतता है, यह देव गौओंसे भरे हुए बड़े-बड़े बाड़ोंको जीत लेता है, 'स्वः'के लोककी विजयको चाहता हुआ, अपराजेय, बृहस्पति प्रकाशके मंत्रों द्वारा (अर्कैः) शत्रुका वध कर देता है (3)।"[1] एक साथ यहाँ हम इस अनेकमुख प्रतीकवादकी एकताको देखते हैं।

एक दूसरे स्थलमें जिसकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक रहस्यमय है, उषाके विचारका और सूर्यके लुप्त प्रकाशकी पुनः प्राप्ति या नूतन उत्पत्तिका वर्णन आता है, जिसका कि बृहस्पतिके संक्षिप्त सूक्तमें स्पष्ट तौरसे जिक्र नहीं आ सका है। यह सोमकी स्तुतिमें है, जिसका प्रारंभिक वाक्य पहले भी उद्धृत किया जा चुका है, (6.44.22) "इस देव (सोम) ने शक्ति द्वारा पैदा होकर अपने साथी इन्द्रके साथ पणिको ठहराया; इसीने अपने अशिव

---

1. यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥१॥
जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूंरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२॥
बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥३॥ (6.73)

पिता (विभक्त सत्ता)के पाससे युद्धके हथियारोंको और ज्ञानके रूपोंको (मायाः) छीना।22। इसीने उषाओंको शोभन पतिवाला किया, इसीने सूर्यके अन्दर ज्योतिको रचा, इसीने द्युलोकमें—इसके दीप्यमान प्रदेशों (स्वः के तीन लोकों)में—(अमरत्वके) त्रिविध तत्त्वको, और त्रिविभक्त लोकोंमें छिपे हुए अमरत्वको पाया (यह अमृत का पृथक्-पृथक् हिस्सोंमें देना है जिसका कि अत्रिके अग्निको संबोधित किये गये सूक्तमें वर्णन आया है, सोम-का त्रिविध हव्य है जो कि तीन स्तरों पर, 'त्रिषु सानुषु', शरीर, प्राण और मन पर दिया गया है)।23। इसीने द्यावापृथिवीको थामा, इसीने सात रश्मियोंवाले रथको जोड़ा। इसीने अपनी शक्तिके द्वारा (मधु या घृत के) पके फलको गौओंमें रखा और दस गतियोंवाले स्रोतको भी।"[1]

यह मुझे सचमुच बड़ी हैरानीकी बात लगती है कि इतने तेज और आला दिमाग ऐसे सूक्तोंको जैसे कि ये हैं, पढ़ गये और उन्हें यह समझ-में न आया कि ये प्रतीकवादियों और रहस्यवादियोंकी पवित्र, धार्मिक कवि-ताएं हैं, न कि प्रकृति-पूजक जंगलियोंके गीत और न उन असभ्य आर्य आक्रान्ताओंके जो कि सभ्य और वैदान्तिक द्रविड़ियोंसे लड़ रहे थे।

अब हम शीघ्रताके साथ कुछ दूसरे स्थलोंको देख जायं जिनमें कि इन प्रतीकोंका अपेक्षाकृत अधिक बिखरा हुआ संकलन पाया जाता है। सबसे पहले हम यह पाते हैं कि पहाड़ीमें बने हुए गुफारूपी बाड़ेके इस अलंकार-में गौ और अश्व इकट्ठे आते हैं, जैसे कि अन्यत्र भी हम यही बात देखते हैं। यह हम देख चुके हैं कि पूषाको पुकारा गया है कि वह गौओंको खोजकर लाये और घोड़ोंकी रक्षा करे। आर्योंकी संपत्तिके ये दो रूप हमेशा लुटेरों ही की दया पर? पर आइये, हम देखें। "इस प्रकार सोमके आनंदमें आकर तूने, ओ वीर (इन्द्र)! गाय और घोड़ेके बाड़ेको तोड़कर खोल दिया, एक नगरकी न्याईं (8.32.5)।[2] हमारे लिये तू बाड़ेको तोड़कर सहस्रों गायों और घोड़ोंको खोल दे। (8.34.14)।"[3] "हे

---

1. अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्।
अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः ॥२२॥
अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम् ॥२३॥
अयं द्यावापृथिवी विष्कभायदयं रथमयुनक् सप्तरश्मिम्।
अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः दाधार दशयन्त्रमुत्सम् ॥२४॥ (6. 44)
2. स गोरश्वस्य वि व्रजं मन्दानः सोम्येभ्यः। पुरं न शूर दर्षसि॥
3. आ नो गव्यान्यश्वा सहस्रा शूर दर्दृहि।

इन्द्र ! तू जिस गौ, अश्व और अविनश्वर सुखको धारण करता है, उसे तू यज्ञकर्त्ताके अन्दर स्थापित कर, पणिके अन्दर नहीं, उसे जो नींदमें पड़ा है, कर्म नहीं कर रहा है और देवोंको नहीं ढूंढ़ रहा है, अपनी ही चालोंसे मरने दे; उसके पश्चात् (हमारे अन्दर) निरन्तर ऐश्वर्यको रख जो अधिकाधिक पुष्ट होते जानेवाला हो, (8.97.2-3)।"[1]

एक दूसरे मंत्रमें पणियोंके लिये कहा गया है कि वे गौ और घोड़ोंकी संपत्तिको रोक रखते हैं, अवरुद्ध रखते हैं। हमेशा ये वे शक्तियाँ होती हैं जो अभीप्सित संपत्तिको पा तो लेती हैं, पर इसे काममें नहीं लातीं, नींदमें पड़े रहना पसंद करती हैं, दिव्य कर्म (व्रत)की उपेक्षा करती हैं और ये ऐसी शक्तियाँ हैं जिन्हें अवश्य नष्ट हो जाना या जीत लिया जाना चाहिये इससे पहले कि संपत्ति सुरक्षित रूपसे यज्ञकर्त्ताके हाथमें आ सके और हमेशा ये 'गौ' और 'घोड़े' उस संपत्तिको सूचित करते हैं जो छिपी पड़ी है और कारागारमें बन्द है और जो किसी दिव्य पराक्रमके द्वारा खोले जाने तथा कारागारसे छुड़ाये जानेकी अपेक्षा रखती है।

चमकनेवाली गौओंकी इस विजयके साथ **उषा** और **सूर्य**की विजयका या उनके जन्म होनेका अथवा प्रकाशित होनेका भी संबंध जड़ा हुआ है, पर यह एक ऐसा विषय चल पड़ता है जिसके अभिप्राय पर हमें एक दूसरे अध्यायमें विचार करना होगा। और गौओं, उषा तथा सूर्यके साथ संबंध जुड़ा हुआ है जलोंका; क्योंकि जलोंके बंधनमुक्त होनेके साथ वृत्रका वध होना और गौओंके बंधन-मुक्त होनेके साथ 'वल'का पराजित होना ये दोनों परस्पर सहचरी गाथाएं हैं। ऐसी बात नहीं कि ये दोनों कथानक बिलकुल एक दूसरेसे स्वतंत्र हों और आपसमें इनका कोई संबंध न हो। कुछ स्थलोंमें, जैसे 1.32.4 में, हम यहाँतक देखते हैं कि वृत्रके वधको सूर्य, उषा और द्युलोकके जन्मका पूर्ववर्ती कहा गया है और इसी प्रकार कुछ अन्य संदर्भोंमें पहाड़ीके खुलनेको जलोंके प्रवाहित होनेका पूर्ववर्ती समझा गया है। दोनोंके सामान्य संबंधके लिये हम निम्नलिखित संदर्भों पर ध्यान दे सकते हैं—

(7.90.4) 'पूर्ण रूपसे जगमगाती हुई और अहिंसित उषाएं खिल उठीं; ध्यान करते हुए उन्होंने (अंगिरसोंने) विस्तृत ज्योतिको पाया;

---

1. **यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।**
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ।
य इन्द्र सस्त्यव्रतोऽनुष्वापमदेवयुः।
स्वैः ष एवैर्मुमुरत् पोष्यं रयिं सनुतर्धेहि तं ततः॥

उन्होंने जो इच्छुक थे, गौओंके विस्तारको खोल दिया और उनके लिये द्युलोक से जल प्रस्रवित हुए।'[1]

(1.72.8) 'यथार्थ विचारके द्वारा द्युलोककी सात (नदियों)ने सत्य-को जान लिया और सुखके द्वारोंको जान लिया; सरमाने गौओंके दृढ़ विस्तारको ढूँढ़ लिया और उसके द्वारा मानवी प्रजा सुख भोगती है।'[2]

(1.100.18) इन्द्र तथा मरुतोंके विषयमें, 'उसने अपने चमकते हुए सखाओंके साथ क्षेत्रको अधिगत किया, सूर्यको अधिगत किया, जलोंको अधि-गत किया।'[3]

(5.14.4) अग्निके विषयमें, 'अग्नि उत्पन्न होकर, दस्युओंका हनन करता हुआ, ज्योतिसे अन्धकारका हनन करता हुआ, चमकने लगा; उसने गौओंको, जलोंको और स्वःको पा लिया।'[4]

(6.60.2) इन्द्र और अग्निके विषयमें, 'तुम दोनोंने युद्ध किया। गौओंके लिये, जलोंके लिये, स्वःके लिये, उषाओंके लिये जो छिन गयी थीं; हे इन्द्र! हे अग्ने! तू (हमारे लिये) प्रदेशोंको, स्वःको, जगमगाती उषाओंको, जलोंको और गौओंको एकत्र करता है।'[5]

(1.32.12) इन्द्रके विषयमें, 'ओ वीर! तूने गौको जीता, तूने सोम-को जीता; तूने सात नदियोंको अपने स्रोतमें बहनेके लिये ढीला छोड़ दिया।'[6]

अन्तिम उद्धरणमें हम देखते हैं कि इन्द्रकी विजित वस्तुओंके बीचमें सोम भी गौओंके साथ जुड़ा हुआ है। प्रायशः सोमका मद ही वह शक्ति होती है जिसमें भरकर इन्द्र गौओंको जीतता है; उदाहरणके लिये देखो—3.43.7, सोम 'जिसके मदमें तूने गौओंके बाड़ोंको खोल दिया';[7] 2.15.8, 'उसने अंगिरसोंसे स्तुत होकर, 'वल'को छिन्न-भिन्न कर दिया और पर्वतके

---

1. उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः।
   गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः॥
2. स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
   विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट्॥
3. सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत् सूर्यं सनदपः सुवज्रः।
4. अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तमः। अविन्दद् गा अपः स्वः॥
5. ता योधिष्टमभि गा इन्द्र नूनमपः स्वरुषसो अग्न ऊळ्हाः।
   दिशः स्वरुषस इन्द्र चित्रा अपो गा अग्ने युवसे नियुत्वान्॥
6. अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्।
7. यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ।

दृढ़ स्थानोंको उछाल फेंका; उसने इनकी कृत्रिम बाधाओंको अलग हटा दिया; ये सब काम इन्द्रने सोमके मदमें किये।"[1] फिर भी, कहीं-कहीं यह क्रिया उलट गयी है और प्रकाश सोम-रसके आनंदको लानेवाला हो गया है, अथवा ये दोनों एक साथ आते हैं, जैसे 1.62.5 में "ओ कार्योंको पूर्ण करनेवाले! अंगिरसोंसे स्तुति किये गये तूने उषाके साथ (या उषाके द्वारा), सूर्यके साथ (या सूर्यके द्वारा) और गौओंके साथ (या गौओंके द्वारा) सोम-को खोल दिया।"[2]

अग्नि भी, सोमकी तरह, यज्ञका एक अनिवार्य अंग है और इसलिये हम अग्निको भी परस्पर संबंध प्रदर्शित करनेवाले इन सूत्रोंमें सम्मिलित हुआ पाते हैं, जैसे 7.99.4 में, 'सूर्य, उषा और अग्निको प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोने विस्तृत दूसरे लोकको यज्ञके लिये (यज्ञके उद्देश्यके रूपमें) रचा।'[3] और इसी सूत्रको हम 3.31.15[4] में पाते हैं, फर्क इतना है कि वहाँ इसके साथ 'मार्ग' (गातु) और जुड़ गया है, और यही सूत्र 7.44.3[5]में भी है, पर वहाँ इनके अतिरिक्त 'गौ'का नाम अधिक है।

इन उद्धरणोंसे यह प्रकट हो जायगा कि वेदके भिन्न-भिन्न प्रतीक और रूपक कैसी घनिष्ठताके साथ आपसमें जुड़े हुए हैं। और इसलिये हम वेद-की व्याख्याके सच्चे रास्तेसे चूक जायँगे यदि हम अंगिरसों तथा पणियोंके कथानकको इस रूपमें लेंगे कि यह एक औरोंसे अलग ही स्वतंत्र कथानक है, जिसकी हम अपनी मर्जीसे जैसी चाहें व्याख्या कर सकते हैं, बिना ही इस बातकी विशेष सावधानी रखे कि हमारी व्याख्या वेदके सामान्य विचार-के साथ अनुकूल भी बैठती है, और बिना ही उस प्रकाशका ध्यान रखे जो वेदके इस सामान्य विचार द्वारा कथानककी उस आलंकारिक भाषा पर जिसमें कि यह वर्णित किया गया है पड़ता है।

---

1. भिनद् वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत्।
   रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥
2. गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
3. उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्।
4. इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम्।
5. अग्निमुप ब्रुव उषसं सूर्यं गाम्।

पन्द्रहवाँ अध्याय

खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौएं

सूर्य और उषाका विजय कर लेना या इनका फिरसे प्रकट होना इस विषयका वर्णन ऋग्वेदके सूक्तोंमें बहुत पाया जाता है। कहीं तो यह इस रूपमें मिलता है कि 'सूर्य'को ढूंढ़कर प्राप्त कर लिया गया और कहीं 'स्वः' अर्थात् सूर्यके लोकको प्राप्त किया गया या इसे विजित किया गया, ऐसा वर्णन है। सायणने यद्यपि 'स्वः'को 'सूर्य'का पर्याय मान लिया है, फिर भी कई स्थलोंसे यह बिलकुल स्पष्ट है कि 'स्वः' एक लोकका नाम है, उस उच्च लोकका जो सामान्य पृथ्वी और आकाशसे ऊपर है। कहीं-कहीं अवश्य इस 'स्वः'का प्रयोग 'सौर ज्योति'के लिये हुआ है, जो सूर्यकी और इसके प्रकाशसे निर्मित लोककी—दोनोंकी ज्योतिके लिये है। हम देख चुके हैं कि वह जल जो स्वर्गसे नीचे उतरता है और जो इन्द्र और उसके मर्त्य साथियों द्वारा जीता जाकर उपभोग किया जाता है 'स्वर्वतीः आपः'के रूपमें वर्णित किया गया है। सायण इस 'आपः'को भौतिक जल मानकर 'स्वर्वतीः'का कोई दूसरा अर्थ निकालनेके लिये बाध्य था और इसलिये वह लिखता है कि इसका अर्थ है, 'सरणवतीः' अर्थात् बहनेवाले। परंतु यह स्पष्ट ही एक खींचातानीका अर्थ है, जो मूल शब्दसे निकलता हुआ प्रतीत नहीं होता और जो शायद किया भी नहीं जा सकता। इन्द्रके वज्रको स्वर्लोकका पत्थर, **स्वर्य अश्मा**, कहा गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसका प्रकाश वही है जो सौर ज्योतिसे जगमगाते इस लोकसे आता है। इन्द्र स्वयं 'स्वर्पति' अर्थात् इस ज्योतिर्मय लोक 'स्वः'का अधिपति है।

इसके अतिरिक्त, जैसे हम देखते हैं कि गौओंको खोजना और फिरसे प्राप्त कर लेना यह सामान्यतया इन्द्रका कार्य वर्णित किया जाता है और वह बहुधा अंगिरस् ऋषियोंकी सहायतासे तथा अग्नि और सोमके मंत्र व यज्ञके द्वारा होता है, वैसे ही सूर्यके खोजने और फिरसे पा लेनेका संबंध भी उहीं साधनों और हेतुओंके साथ है। साथ ही इन दोनों क्रियाओंका एक दूसरेके साथ निरन्तर संबंध है। मुझे लगता है कि स्वयं वेदमें ही इस बातकी पर्याप्त साक्षी है कि ये सब वर्णन असलमें एक ही महान् क्रिया-के अंगभूत हैं। गौएं उषा या सूर्यकी छिपी हुई किरणें हैं और अंधकारसे उनकी

मुक्ति उस सूर्यके जो कि अंधकारमें छिपा हुआ था उदय हो जानेका कारण होती है या चिह्न है। यही उच्च ज्योतिर्मय लोक 'स्वः'की विजय है, जो हमेशा यज्ञकी, यज्ञिय अवस्थाओं और यज्ञके सहायक देवोंकी सहायतासे होती है। मैं समझता हूं इतने परिणाम निःसंदेह स्वयं वेदकी भाषासे निकलते हैं। परन्तु साथ ही वेदकी उस भाषासे इस बातका भी संकेत मिलता है कि यह 'सूर्य' दिव्य-ज्योतिको देनेवाली शक्तिका प्रतीक है और 'स्वः' दिव्य सत्यका लोक है और इस दिव्य सत्यकी विजय ही वैदिक ऋषियोंका वास्तविक लक्ष्य और उनके सूक्तोंका मुख्य विषय है। अब मैं यथासंभव शीघ्रताके साथ उस साक्षीकी परीक्षा करूंगा जिससे हम इन परिणामों पर पहुंचते हैं।

सबसे पहले, हम देखते हैं कि वैदिक ऋषियोंके विचारमें 'स्वः' और 'सूर्य' भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं, पर साथ ही इन दोनोंमें एक घनिष्ठ संबंध भी है। उदाहरणके लिये भरद्वाजके सूक्त (6.72.1) में सोम और इन्द्रको कहा गया है—"तुमने सूर्यको प्राप्त किया, तुमने स्वःको प्राप्त किया, तुमने सब अंधकार और सीमाओंको छिन्न-भिन्न कर दिया।"[1] इसी प्रकार वामदेवके सूक्त[2] 4.16.4 में इन्द्रको कहा है—"जब प्रकाशके सूक्तों द्वारा (अर्कैः) स्वः सुदृश्य रूपमें पा लिया गया और जब उन (अंगिराओंने) रात्रिमेंसे महान् ज्योतिको चमकाया उस समय उस (इन्द्र)ने अंधकारके सब बंधनोंको ढीला कर दिया जिससे कि मनुष्य अच्छी तरह देख सकें।" पहले वर्णनमें हम यह देखते हैं कि 'स्वः' और 'सूर्य' परस्पर भिन्न हैं न कि 'स्वः' सूर्यका ही एक दूसरा नाम है। पर साथ ही 'स्वः'का पाया जाना और 'सूर्य'का पाया जाना दोनों क्रियाओंमें बहुत निकट संबंध है, बल्कि असलमें ये दोनों मिलकर एक ही प्रक्रिया हैं और इनका परिणाम यह है कि सब अंधकार और सीमाएं नष्ट हो जाती हैं। वैसे ही दूसरे स्थलमें 'स्वः'के सुदृश्य रूपमें प्रकट होनेको रात्रिमेंसे महान् ज्योतिके चमक निकलनेके साथ जोड़ा गया है, जिसे हम अन्य स्थलोंके इस वर्णनके साथ मिला सकते हैं कि अंगिरसोंने अंधकारसे ढके हुए सूयको फिरसे प्रकट किया। सूर्यको अंगिरसोंने अपनी सूक्तों या सत्य मंत्रोंकी शक्ति द्वारा प्राप्त किया और

---

1. युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्वर्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च। (ऋ. 6.72.1)
2. स्वर्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ॥
(ऋ. 4.16.4)

'स्वः' भी अंगिरसोंके सूक्तोंके द्वारा (अर्कैः) प्राप्त और प्रकट (सुदृश्य) किया गया। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'स्वः'में रहनेवाला पदार्थ एक महान् ज्योति है और वह ज्योति सूर्यकी ज्योति है।

यदि दूसरे वर्णनोंसे यह स्पष्ट न होता कि 'स्वः' एक लोकका नाम है तो शायद हम यह भी कल्पना कर सकते थे कि यह 'स्वः' शब्द सूर्य, प्रकाश या आकाशका ही वाचक एक दूसरा शब्द होगा। पर बार-बार 'स्वः'के विषयमें कहा गया है कि यह एक लोक है जो कि रोदसी अर्थात् द्यावापृथिवीसे परे है या दूसरे शब्दोंमें इसे विस्तृत लोक 'उरु लोक' या विस्तृत दूसरा लोक 'उरु उ लोक' या केवल वह (दूसरा) लोक 'उ लोक' कहा है। इसका वर्णन यों किया गया है कि यह महान् ज्योतिका लोक है, जहाँ भयसे नितान्त मुक्ति है और जहाँ गौएँ अर्थात् सूर्यकी किरणें स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करती हैं।

ऋग्[1] 6.47.8 में कहा है—"हे इन्द्र! जानता हुआ तू हमें उस उरु लोकको, 'स्व' तकको प्राप्त कराता है, जो ज्योतिर्मय है, जहाँ भय नहीं है और जो सुखी जीवन (स्वस्ति)से युक्त है।" ऋग् 3.2.7 में वैश्वानर अग्निको द्यावापृथिवी और महान् 'स्वः'में आपूरित होता हुआ वर्णन किया गया है—"आ रोदसी अपृणदा स्वर्महत्"। इसी प्रकार वसिष्ठ अपने सूक्तमें विष्णुको कहता है—"ओ विष्णु! तुमने दृढ़तासे इस द्यावापृथिवीको थाम रखा है और (सूर्यकी) किरणों द्वारा पृथिवीको धारण कर रखा है और सूर्य, उषा और अग्निको प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोने, यज्ञके लिये (अर्थात् यज्ञके परिणामस्वरूप) इस दूसरे विस्तृत लोक **(उरुम् उ लोकम्)** को रचा है",[2] ऋग्. 7.99.3,4। यहाँ भी हम सूर्य और उषाकी उत्पत्ति या आविर्भावके साथ विस्तृत लोक स्वःका निकट सम्बन्ध देखते हैं।

इस 'स्वः'के विषयमें कहा गया है कि यह यज्ञके द्वारा मिलता है, यहीं हमारी जीवनयात्राका अन्त है, यह वह बृहत् निवासस्थान है जहाँ हम पहुँचते हैं, वह महान् लोक है जिसे सुकर्मा लोग प्राप्त करते हैं **(सुकृतामु लोकम्)**। अग्नि द्यु और पृथिवीके बीचमें दूत होकर विचरता है और तब इस बृहत् निवासस्थान 'स्वः'को अपनी सत्ता द्वारा चारों ओरसे घेर लेता है, **"क्षयं बृहन्तं परि भूषति"** 3.3.2। यह 'स्वः' आनन्दका लोक है और उन सब

---

1. **उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।**
2. **"व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः"।**
   "उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्" ॥(ऋ. 7.99.3,4)

ऐश्वर्योंसे भरपूर है जिनकी वैदिक ऋषियोंको अभीप्सा होती है। ऋग्.[1] 5.4.11 में कहा है—

"हे जातवेदः अग्नि! जिस पुरुषको तू, उसके सुकर्मा होनेके कारण, वह सुखमय लोक प्रदान करता है वह पुरुष अश्व, पुत्र, वीर, गौ आदिसे युक्त ऐश्वर्य और स्वस्ति प्राप्त करता है।"

यह आनन्द मिलता है ज्योतिका उदय होनेसे। अंगिरस् इसे **इच्छुक** मनुष्यजातिके लिये तब ला पाते हैं जब वे सूर्य, उषा और दिनको प्रकट कर लेते हैं। "स्वःको जीतनेवाले इंद्रने दिनोंको प्रकट करके इच्छुकोंके द्वारा– **उशिग्भिः**[2]– उन सेनाओंको जीत लिया है जिनपर उसने आक्रमण किया है, उसने मनुष्यके लिये दिनोंके प्रकाशको **(केतुम् अह्नाम्)** उद्भासित किया है और बृहत् सुखके लिये ज्योतिको अधिगत किया है"—**अविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय**, 3-34-4।[3]

यदि इन और इसी प्रकारके अन्य केवल खण्डशः उद्धृत वैदिक वाक्योंको देखा जाय, तो अबतक हमने जो कुछ कहा है उस सबकी व्याख्या बेशक इस प्रकार भी की जा सकती है कि, रैड इण्डियन लोगोंकी एक धारणाके सदृश, आकाश और पृथ्वीसे परे सूर्यकी किरणोंसे रचा हुआ एक भौतिक लोक है; यह एक विस्तृत लोक है, वहाँ मनुष्य सब भय और बाधाओंसे स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छाओंको तृप्त करते हैं और उन्हें असंख्य घोड़े, गौ, पुत्र, सेवक आदि मिलते हैं। परन्तु जो कुछ हम सिद्ध करना चाहते हैं वह यह नहीं है। बल्कि इसके विपरीत यह विस्तृत लोक, 'बृहद् द्यौ' या 'स्वः', जो हमें द्यु और पृथ्वीसे परे पहुँचकर पाना है, यह अतिस्वर्गिक महान् विस्तार, यह असीम प्रकाश एक अतिमानस उच्चलोक है, मनोतीत दिव्य 'सत्य' और अमर आनन्दका अत्युच्च लोक है और इसमें रहनेवाली ज्योति, जो इसकी सारवस्तु और इसकी तात्त्विक वास्तविकता है, 'सत्य'की ज्योति है। इस लोकके बारेमें ऐसा अनेक बार कहा गया है कि द्यु और पृथ्वीको पार करके ही इस तक पहुँचा जा सकता है। उदाहरणके लिये,

---

1. **यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।**
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥ (5.4.11)
2. 'उशिग्भिः' शब्द 'नृ'की तरह मनुष्यों और देवताओंके लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु 'नृ'के समान ही कभी-कभी विशेषकर 'अंगिराओं'का ही निर्देश करता है।
3. **इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।**
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय॥ (3.34.4)

"मनुष्योंने वृत्रका हनन करके, आकाश और पृथ्वी दोनोंको पार करके अपने निवासके लिए बृहत् लोकको बनाया", **घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे।** (ऋ. 1.36.4)

परन्तु इस समय तो इतने पर ही बल देना पर्याप्त है कि यह एक लोक है जो किसी अन्धकारके कारण हमारी दृष्टिसे ओझल है, इसे हमें पाना है तथा स्पष्ट रूपसे देखना है और यह देखना व पाना इस बातपर आश्रित है कि उषाका जन्म हो, सूर्यका उदय हो और सूर्यकी गौएँ अपनी गुप्त गुहासे निकलकर बाहर आवें। वे आत्माएँ जो यज्ञमें सफल होती हैं 'स्वर्दृश्' हो जाती हैं, 'स्वः'को देख लेती हैं और 'स्वर्विद्' हो जाती हैं अर्थात् 'स्वः'को पा लेती हैं या जान लेती हैं। 'स्वर्विद्'में 'विद्' धातु है जिसके पाना और जानना दोनों ही अर्थ हैं और एक दो स्थलोंमें तो इसके स्थानपर स्पष्ट ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातुका ही प्रयोग हुआ है और वेदमें ही यह भी कहा है कि अन्धकारमेंसे प्रकाशको जाना गया।

अब 'स्वः' या इस बृहत् लोकका स्वरूप क्या है, यह प्रश्न है जो शेष रहता है और इसका निर्णय वेदकी व्याख्याके लिये बहुत ही महत्त्वका है। क्योंकि 'वेद जंगलियोंके गीत हैं' और 'वेद प्राचीन सत्य ज्ञानकी पुस्तक है' इन दोनों अति विभिन्न कल्पनाओंमेंसे किसी एकका ठीक होना इस प्रश्नके निर्णयपर इधर या उधर हो सकता है। परन्तु इस प्रश्नका पूरा-पूरा निर्णय तो इस बृहत् लोकका वर्णन करनेवाले सैकड़ों बल्कि अधिक प्रकरणोंके विवादमें पड़े बिना नहीं हो सकता और यह इन अध्यायोंके क्षेत्रसे बिल्कुल बाहरका विषय हो जाता है। पर फिर भी आंगिरस सूक्तोंपर विचार करते हुए और उसके बाद हम इस प्रश्नको फिर उठायेंगे।

तो यह सिद्ध हुआ कि 'स्वः'को देखने या प्राप्त करनेके लिये सूर्य और उषाके जन्मको एक आवश्यक शर्त मानना चाहिये और इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेदोंमें इस सूर्यकी कथाको या आलंकारिक वर्णनको तथा 'सत्य मंत्रों'के द्वारा अंधकारमें से ज्योतिको चमकाने, पाने और जन्म देनेके विचारको क्यों इतना महत्त्व दिया गया है? इस कार्यको करनेवाले इन्द्र और अंगिरस् हैं और ऐसे स्थल बहुतसे हैं जिनमें इसका वर्णन हुआ है। यह कहा गया है कि इन्द्र और अंगिराओंने 'स्वः' या 'सूर्य'को पाया (अविदत्), इसे चमकाया या प्रकाशित किया (अरोचयत्), इसे जन्म दिया[1]

---

1. हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यज्ञमें देवताओंके प्रकट होनेको वेदमें उनके जन्मके रूपमें वर्णित किया गया है।

(अजनयत्) और इसे जीतकर अधिगत किया (सनत्)। वास्तवमें अधिकतर अकेले इन्द्रका ही वर्णन आता है। इन्द्र वह है जो रात्रिमेंसे प्रकाशका उदय करता है और सूर्यको जन्म देता है—**"क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य"**, 3.49.4। उसने सूर्य और उषाको उत्पन्न किया है,[1] (2.12.7)। या और विस्तृत रूपमें कहें तो उसने सूर्य, द्यौ और उषा तीनोंको इकट्ठा जन्म दिया है,[2] (6.30.5)। स्वयं चमकता हुआ वह उषाको चमकाता है, स्वयं चमकता हुआ वह सूर्यको प्रकाशमय करता है—**"हर्यश्वुषसमर्चयः सूर्यं हर्यन्नरोचयः"**, 3.44.2। ये सब उस इन्द्रके महान् कर्म हैं, 'जजान सूर्यम् उषसं सुदंसाः', (3.32.8)।[3] वह सुवज्र इन्द्र अपने शुभ्रवर्ण (चमकते हुए) सखाओंके क्षेत्र[4]को जीतकर अपने अधिकारमें कर लेता है, सूर्यको अधिकृत करता और जलोंको अधिकृत करता है—**'सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत् सूर्यं सनदपः सुवज्रः'**, 1.100.18। वह इन्द्र दिनोंको जन्म देने द्वारा 'स्वः'को भी जीतनेवाला है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं (**स्वर्षाः**)। वेदके इन सब पृथक्-पृथक् वाक्योंमें सूर्यके जन्मका अर्थ हम यह भी ले सकते हैं कि यह सूर्यकी प्रारंभिक उत्पत्तिका वर्णन है, जो सूर्य पहले नहीं था उसे देवताओंने रचा; परंतु जब हम इन वाक्योंका दूसरे वाक्योंके साथ समन्वय करके देखेंगे तो हमारा यह भ्रम दूर हो जायगा। सूर्यका यह जन्म उषाके साथ उसका जन्म है, उदय है, रात्रिमेंसे उसका जन्म है। यह जन्म यज्ञके द्वारा होता है—**"इन्द्रः सुयज्ञ उषसः स्वर्जनत्"**, (2.21.4)। "इन्द्रने अच्छी प्रकार यज्ञ करके उषाओं और सूर्यको उत्पन्न किया।" और मनुष्यकी सहायतासे यह संपन्न होता है—**"अस्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत्"**—हमारे 'मनुष्यों'के द्वारा उसने सूर्यको जीता (1.100.6)। और बहुतसे मंत्रोंमें इसे अंगिरसोंके कार्यका फल वर्णित किया गया है और इसका संबंध गौओंके मुक्त होने और पहाड़ियोंके तोड़े जानेके साथ है।

ये तथा ऐसे ही अन्य स्थल हमें ऐसी कल्पना नहीं करने दे सकते—जो अन्यथा की जा सकती थी—कि सूर्यका जन्म या प्राप्ति केवल उस आकाश (इन्द्र)का वर्णन है जो प्रतिदिन उषाकालमें सूर्यको पुनः प्राप्त कर लेता

---

1. **यः सूर्यः य उषसं जजान।** (ऋ० 2.12.7)
2. **साकं सूर्यं जनयन् द्यामुषासम्।**
3. **इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।**
   दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः॥ (ऋ० 3.32.8)
4. क्या यह वही क्षेत्र नहीं है जिसमें अत्रिने चमकती हुई गौओंको देखा था?

है। जब इन्द्रके बारेमें यह कहा जाता है कि वह घने अंधकारमें भी ज्योतिको पा लेता है (**सो अंधे चित्तमसि ज्योतिर्विदत्**) तो यह स्पष्ट है कि यह उसी ज्योतिकी ओर संकेत है जिस एक ज्योतिको—इन सब अनेकानेक प्राणियोंके लिये एक ही साझी ज्योतिको—अग्नि और सोमने पाया था—"**अविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः**", 1.93.4), जब उन्होंने पणियोंकी गौओंको चुराया था।[1] यह "वह जागृत ज्योति है जिसे सत्य की वृद्धि करनेवालोंने उत्पन्न किया था, एक देवको देव (इन्द्र)के लिये उत्पन्न किया था",[2] (8.89.1)। यह वह गुप्त ज्योति (**गुह्यं ज्योतिः**) है जिसे पितरोंने, अंगिरसोंने उस समय पाया था जब उन्होंने अपने सत्य मंत्रोंके द्वारा उषाको जन्म दिया था। यह वही ज्योति है जिसका वर्णन मनु वैवस्वत या कश्यप ऋषिके 'विश्वेदेवाः'-देवताक रहस्यमय सूक्तमें है, जिसमें कहा गया है—"उनमेंसे कुछने ऋक्का गायन करते हुए महत् सामको सोच निकाला और उससे उन्होंने सूर्यको चमकाया", 8.29.10।[3] और यह ज्योति मनुष्यकी सृष्टिसे पहले हुई हो ऐसा नहीं है, क्योंकि ऋ.[4] 7.91.1 में कहा है—"हमारे नमस्कारसे वृद्धिको पानेवाले, प्राचीन और निष्पाप देवोंने (अंधकारकी शक्तियोंसे) आच्छादित मनुष्यके लिये सूर्यसे उषाको चमकाया।" यह उस सूर्यकी प्राप्ति है जो अंधकारके अंदर रह रहा था और यह प्राप्ति अंगिराओंने अपने दस महीनोंके यज्ञके द्वारा की। वेदकी इस कहानी या अलंकार-वर्णनाका प्रारंभ कहींसे भी क्यों न हुआ हो, यह बहुत प्राचीन है और बहुत जगह फैली हुई है और इसमें यह कल्पनाकी गयी है कि सूर्य एक लंबे काल तक लुप्त (खोया हुआ) रहा और इस बीचमें मनुष्य अंधकारसे आच्छादित रहा। यह कहानी भारतवर्षके आर्य लोगोंमें ही नहीं, किंतु अमेरिकाके उन 'मय' लोगोंमें भी पायी जाती है जिनकी सभ्यता अपेक्षाकृत जंगली और संभवतः इजिप्शियन संस्कृतिका पुराना रूप थी। वहाँ भी यही किस्सा है कि सूर्य कई महीनों तक अंधेरेमें छिपा रहा और बुद्धिमान् लोगों (अंगिरस् ऋषियों?) की प्रार्थनाओं और पवित्र गीतोंसे

---

1. **अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।**
   अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥ 1.93.4
2. **येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि।** ऋ० 8.89.1
3. **अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्।** 8.29.10
4. **कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन्।**
   ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषसं सूर्येण॥ ऋ० 7.91.1

वह फिर प्रकट हुआ। वेदके अनुसार ज्योतिका यह पुनरुदय पहिले-पहल आंगिरस नामक सप्तर्षियोंसे हुआ है, जो मनुष्योंके पूर्व पितर हैं, और फिर इसे उनसे लेकर निरंतर मनुष्यके अनुभवमें दोहराया गया है।

इस विश्लेषण द्वारा हमें यह मालूम हो जायगा कि वेदमें जो ये दो कहानियाँ आती हैं—पहिली यह कि सूर्य लुप्त था और यज्ञ तथा मंत्र द्वारा इन्द्र और आंगिरसोंने उसे पुनः प्राप्त किया और दूसरी यह कि गौएं लुप्त थीं और उन्हें भी मंत्र द्वारा इन्द्र और आंगिरसोंने ही पुनः प्राप्त किया—ये दो अलग-अलग गाथाएँ नहीं, किंतु वास्तवमें एक ही गाथा हैं। इस एकात्मता पर हम पहले ही बल दे चुके हैं, जब हमने गौओं और उषाके परस्पर-संबंधके विषयमें विवाद चलाया था। गौएँ उषाकी किरणें हैं, सूर्यकी 'गौएँ' हैं; वे भौतिकशरीरधारी पशु नहीं हैं। लुप्त गौएँ सूर्यकी लुप्त किरणें हैं और उनका फिरसे उदय होना लुप्त सूर्यके पुनरुदयकी पहलेसे सूचना देता है। परंतु अब यह आवश्यक है कि स्वयं वेदकी ही स्पष्ट स्थापनाओंके आधारपर इस एकात्मताको सिद्ध करके उन सब संदेहोंको दूर कर दिया जाय जो यहाँ उठ सकते हैं।

वस्तुतः वेद हमें स्पष्ट रूपसे कहता है कि गौएँ ज्योति हैं और वह बाड़ा (व्रज) जिसमें वे छिपी हुई हैं अंधकार है। ऋ० 1.92.4 में जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं, यह दिखा ही दिया गया है कि गौ और उनके बाड़ेका वर्णन विशुद्ध रूपसे एक रूपक ही है—"उषाने गौ के बाड़ेकी तरह अंधकारको खोल दिया।"[1] गौओंकी पुनःप्राप्तिकी कहानीके साथ ज्योतिके पुनरुदयका संबंध भी सतत पाया जाता है; जैसे कि ऋ० 1.93.4 में कहा है—'तुम दोनोंने पणियोंके यहाँसे गौओंको चुराया...तुमने बहुतोंके लिये एक ज्योतिको पाया।" अथवा जैसे कि ऋ. 2.24.3[2] में वर्णन है—"देवोंमें सबसे श्रेष्ठ देवका यह कार्य है; उसने दृढ़ स्थानोंको ढीला कर दिया, कठोर स्थानोंको मृदु कर दिया। वह बृहस्पति गौओं (किरणों) को हाँक लाया; उसने मंत्रोंके द्वारा (ब्रह्मणा) वलका भेदन किया, उसने अंधकारको अदृश्य कर दिया और 'स्वः' को प्रकाशित किया।" और ऋ. 5.31.3[3] में हम देखते हैं कि—"उस (इन्द्र)ने दोग्ध्री गौओंको

---

1. ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः ॥
2. तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।
   उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः ॥ 2.24.3
3. प्राचोवयत् सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा संववृत्वत्तमोऽवः। 5.31.3

आवरण कर लेनेवाले बाड़ेके अंदर प्रेरित किया, उसने ज्योतिके द्वारा अंधकार के आवरणको खोल दिया।" पर इतना ही नहीं, बल्कि यदि कोई कहे कि वेदमें एक वाक्यका दूसरे वाक्यके साथ कोई संबंध नहीं है और वेदके ऋषि भाव और युक्तिके बंधनोंसे सर्वथा स्वतंत्र होकर अपनी मानसिक कल्पनासे गौओंसे सूर्य तक और अंधकारसे द्राविड़ लोगोंकी गुफा तक मनमौजी उड़ानें ले रहे हैं, तो इसके उत्तरमें हम निश्चयपूर्वक एकात्मताको सिद्ध करनेवाले वेदके दूसरे प्रमाण भी दे सकते हैं। ऋ. 1.33.10[1]में कहा है—"वृषभ इन्द्रने वज्रको अपना साथी बनाया अथवा उसका प्रयोग किया (युजम्), उसने ज्योतिके द्वारा अंधकारमेंसे किरणों (गौओं) को दुहा।" हमें स्मरण रखना चाहिये कि वज्र 'स्वर्यं अश्मा' है और इसके अंदर 'स्वः' की ज्योति रहती है। फिर 4.51.2[2] में जहाँ पणियोंका प्रश्न है, कहा गया है—"स्वयं पवित्र रूपमें उदित होती हुई और दूसरोंको भी पवित्र करनेवाली उषाओंने बाड़े (व्रज) के दरवाजोंको खोल दिया और अंधकारको भी खोल दिया"—(**व्रजस्य तमसो द्वारा**)। यदि इन सब स्थलोंके उपस्थित होनेपर भी हम इसपर आग्रह करें कि वेदमें आयी गौओं और पणियोंकी कहानी एक ऐतिहासिक किस्सा है तो इसका कारण यही हो सकता है कि स्वयं वेदकी अन्तःसाक्षीके होते हुए भी हम वेदोंसे अपना वैसा ही अर्थ निकालनेपर तुले हुए हैं। नहीं तो हमें अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि पणियोंकी यह परम गुप्त निधि—**"निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्"**—पार्थिव पशुओं की संपत्ति नहीं है, किंतु जैसा कि परुच्छेप दैवोदासिने ऋ. 1.30.3 में स्पष्ट किया है, "यह द्यु की निधि, पक्षीके बच्चेकी तरह, गुप्त गुहामें छिपी पड़ी है; गौओंके बाड़ेकी तरह, अनंत चट्टानके बीचमें, ढकी पड़ी है"—(**अविन्दद् दिवो निहितं गुहा निधिं वेनं गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि। व्रजं वज्री गवामिव सिषासन्**)।

ऐसे स्थल वेदमें बहुतसे हैं जिनसे दोनों कहानियोंमें परस्पर संबंध या एकात्मता प्रकट होती है। मैं नमूनेके लिये केवल दो-चारका ही उल्लेख करूँगा। जिन सूक्तोंमें इस कहानीके विषयमें कुछ विस्तारसे कहा गया है उनमेंसे एक है ऋ० 1.62। उसमें हम यह पाते हैं "हे शक्तिशाली इन्द्र! तूने दशग्वाओं (अंगिरसों) के साथ मिलकर बड़े शब्दके साथ वलका विदारण किया। अंगिराओंसे स्तुति किये जाते हुए तूने उषा, सूर्य और गौओंके

---

1. **युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्।** 1.33.10
2. **व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः।** 4.51.2

द्वारा सोमको प्रकाशित किया।"[1] ऋ. 6.17.3[2] में कहा है—"हे इन्द्र! तू स्तोत्रोंको सुन और हमारी वाणियोंके द्वारा बढ़, सूर्यको प्रकट कर, शत्रुओंका हनन कर और गौओंको भेदन करके निकाल ला।" ऋ. 7.98.6[3] में हम देखते हैं—"ओ इन्द्र! गौओंकी यह सब संपत्ति जो तेरे चारों तरफ है और जिसे तू सूर्यरूपी आँखसे देखता है, तेरी ही है। तू इन गौओंका अकेला स्वामी है **(गवामसि गोपतिरेक इन्द्र)**।" और किस प्रकारकी गौओंका वह इन्द्र स्वामी है, यह हमें सरमा और गौओंके वर्णनवाले सूक्त 3.31 से मालूम होता है—"विजेत्री (उषाएँ) उसके साथ संगत हुईं और उन्होंने अन्धकारमें से महान् ज्योतिको जाना। उसे जानती हुई उषाएँ उसके पास गयीं; इन्द्र गौओंका एकमात्र स्वामी हो गया—**(पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः)**"। इसी सूक्तमें आगे बताया गया है कि किस प्रकार मनके द्वारा और सत्य (ऋत) के सारे मार्गको खोज लेने द्वारा सप्त ऋषि अंगिरस् गौओंको उनके दृढ़ कारागारसे निकालकर बाहर लाये और किस प्रकार सरमा, जानती हुई, पर्वतकी गुफा तक और उन अविनश्वर गौओंके शब्द तक पहुँच पायी।[4] उषाओं और 'स्वः'की बृहत् सौर ज्योतिकी प्राप्तिके साथ इन्द्र और अंगिरसोंका वही संबंध हम 7.90.4 में पाते हैं—'अपने पूर्ण प्रकाशमें, बिना किसी दोष, छिद्र या त्रुटिके, उषाएँ निकल पड़ीं; उन (अंगिराओं)ने ध्यान करके बृहत् ज्योति **(उरु ज्योतिः)** को पाया। कामना करनेवालोंने गौओंके विस्तारको खोल दिया; आकाशसे उनके ऊपर जलोंकी वर्षा हुई'।[5]

---

1. **सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः॥**
   गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः॥1.62.4-5
2. **श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः।**
   आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूंरभि गा इन्द्र तृन्धि॥ 6.17.3
3. **तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।**
   गवामसि गोपतिरेक इन्द्र॥ 7.98.6
4. **अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन्।**
   तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः॥
   वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्राः।
   विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश॥
   विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्यक् कः।
   अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥(ऋ० 3.31.4-6)
5. **उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः।**
   गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवं सस्रुरापः॥ 7. 90. 4

इसी प्रकार 2.19.3में भी दिन, सूर्य और गौओंका वर्णन है—'उसने सूर्यको जन्म दिया, गौओंको पाया और रात्रिमेंसे दिनोंके प्रकाशको प्रकट किया।'[1] 4.1.13में, यदि इसका दूसरा अर्थ न हो तो, उषाओं और गौओंको एक मानकर कहा गया है—'चट्टान जिनका बाड़ा है, दोग्ध्री (दोहन देनेवाली), अपने ढकनेवाले कारागारमें चमकती हुई, उनकी पुकारका उत्तर देती हुई उषाओंको उन्होंने बाहर निकाला।'[2] परन्तु इस मन्त्रका यह अर्थ भी हो सकता है कि, हमारे पूर्वपितर अंगिराओं द्वारा, जिनका इससे पहले मन्त्रमें वर्णन हुआ है, पुकारी हुई उषाओंने उनके लिये गौओंको बाहर निकाला। फिर 6.17.5में हम देखते हैं कि उस बाड़ेका भेदन सूर्यके चमकनेका साधन हुआ है—'तूने सूर्य और उषाको चमकाया, दृढ़ स्थानोंको तोड़ते हुए; उस बड़ी और दृढ़ चट्टानको अपने स्थानसे हिला दिया, जिसने गौओंको घेर रखा था।'[3] अन्तमें 3.39 में हमें कहानीके रूपम दोनों अलंकारोंकी बिल्कुल एकात्मता मिलती है—'मर्त्योंमें कोई भी हमारे इन पितरोंकी निन्दा करनेवाला नहीं है (अथवा मैं इसे इस प्रकार कहूँ, कोई मानवीय शक्ति इनको बद्ध या अवरुद्ध करनेवाली नहीं) जो हमारे पितर (पणियोंकी) गौओंके लिये लड़े हैं। बड़े-बड़े कामोंको करनेवाले और महिमाशाली इन्द्रने उनके लिये गौओंके दृढ़ बाड़ोंको खोल दिया। तब अपने सखाओं नवग्वाओंके साथ एक सखा इन्द्रने अपने घुटनोंके बल गौओंको ढूंढ़ते हुए, तब दस दशग्वाओंके साथ इन्द्रने अन्धकारमें रहते हुए असली सूर्यको (अथवा मेरी व्याख्यामें, 'सत्य'के सूर्यको) पा लिया। 3.39. 4, 5।'[4] यह स्थल पूर्ण रूपसे निर्णायक है। गौएँ पणियोंकी गौएँ हैं, जिनका पीछा करते हुए अंगिरस् हाथों और घुटनोंके बल गुफामें घुसते हैं। पता लगानेवाले इन्द्र और अंगिरस् हैं, जिन्हें दूसरे मन्त्रोंमें नवग्वा और

---

1. अजनयत् सूर्यं विदद् गा अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत्॥ 2.19.3
2. अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋतमाशुषाणाः।
   अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः॥ 4.1.13
3. येभिः सूर्यमुषसं मन्दसानोऽवासयोऽप वृळ्हानि वर्व्रत्।
   महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात्॥ 6.17.5
4. नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।
   इन्द्र एषां दंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥
   सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
   सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ 3.39.4.5

दशग्वा कहा गया है। और वह वस्तु जो पर्वतकी गुफामें पणियोंके बाड़ेमें घुसनेपर मिलती है, पणियों द्वारा चुराई गयी कोई आर्योंकी धनदौलत या भौतिक गौएँ नहीं, बल्कि 'सूर्य है, जो अन्धकारमें छिपा हुआ है' (**सूर्यः तमसि क्षियन्**)।

इसलिये इस स्थापनामें अब कोई प्रश्न शेष नहीं रहता कि वेद की गौएँ, पणियोंकी गौएँ, वे गौएँ जो चुरायीं गयीं, जिनके लिये लड़ा गया, जिनका पीछा किया गया और जिन्हें फिरसे पा लिया गया, वे गौएँ जिनकी ऋषि कामना करते हैं, जो मन्त्र व यज्ञ के द्वारा और प्रज्वलित अग्नि और देवोंको बढ़ानेवाले छन्दों और देवोंको मस्त करनेवाले सोमके द्वारा जीती गयीं, प्रतीकरूप गौएँ हैं, वे 'प्रकाश' की गौएँ हैं। और वेदके 'गो', 'उस्रा', 'उस्रिया' आदि अन्य शब्दोंके आंतरिक भावके अनुसार वे चमकनेवाली, प्रकाशमान, सूर्यकी गौएँ (किरणें) हैं, उषाके चमकीले रूप हैं। अबतकके विवेचनके इस अपरिहार्य परिणामसे हम यह समझ सकते हैं कि वेदकी व्याख्याका रहस्यमय आधार जंगलियोंकी पूजाके स्थूल प्रकृति-वादसे कहीं अधिक ऊपर सुरक्षित है। वेद अपने-आपको प्रतीक-रूप वर्णनकी पवित्र, धार्मिक पुस्तकके रूपमें प्रकट करते हैं, जिसमें सूर्यकी पूजा या उषाकी पूजाका अथवा उस आन्तरिक ज्योति, सत्यके सूर्य (**सत्यम् सूर्यम्**)का पावन आलंकारिक वर्णन है जो हमारे अज्ञानरूपी अन्धकारसे ढका हुआ है और जड़प्राकृतिक सत्ताकी अनन्त चट्टानके अन्दर—"अनन्ते अन्तरश्मनि" (1.130.3)—उस दिव्य सुपर्ण, दिव्य हंसके शिशुके रूपमें छुपा हुआ है।

यद्यपि इस अध्यायमें मैंने अपने-आपको कुछ कठोरताके साथ इस विषयके प्रमाणों तक ही सीमित रखा है कि गौएँ उस सूर्यकी ज्योति हैं जो कि अन्धकारमें छिपा हुआ है; फिर भी 'सत्य' की ज्योति और ज्ञानके सूर्यके साथ उनका संबंध उद्धृत किये गये एक-दो मन्त्रोंमें स्वयं ही स्पष्ट हो गया है। हम देखेंगे कि यदि हम अलग-अलग मन्त्रोंको न लेकर आंगिरस सूक्तोंके सभी स्थलोंकी परीक्षा करें, तो जो संकेत हमने इस अध्यायमें पाया है, वह अधिकाधिक स्पष्ट और निश्चित रूपमें हमारे सामने आयेगा। परन्तु पहले हमें अंगिरस् ऋषियों और गुहाके निवासी उन रहस्यपूर्ण पणियोंपर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये, जो अन्धकारके साथी हैं और जिनसे छीनकर ये अंगिरस् ऋषि खोयी हुई चमकीली गौओंको और खोये हुए सूर्यको पुनः प्राप्त करते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

अंगिरस् ऋषि

'अंगिरस्' नाम वेदमें एकवचनमें या बहुवचनमें—अधिकतर बहुवचनमें—बहुत जगह आया है। पैतृक नाम या गोत्रसूचक नामके तौरपर 'आंगिरस' यह शब्द भी कई जगह **बृहस्पति** देवताके विशेषणके तौरपर वेदमें आया है। पीछेसे अंगिरस् (भृगु तथा अन्य मंत्रद्रष्टा ऋषियोंकी तरह) उन वंशप्रवर्तक ऋषियोंमें गिना जाने लगा था जिनके नामसे वंश तथा गोत्र चले और पुकारे जाते थे, जैसे 'अंगिराः' से आंगिरस, 'भृगु'से भार्गव। वेदमें भी ऐसे ऋषियोंके कुल हैं, जैसे अत्रयः, भृगवः, कण्वाः। अत्रियोंके एक सूक्तमें (5.11.6) अंगिरस् ऋषियोंको **अग्नि** (पवित्र आग) को खोज निकालनेवाले कहा गया है, एक दूसरेमें (10.46.9) भृगुओंको।[1] बहुधा सात आदिम अंगिरसोंका वर्णन इस रूपमें हुआ है कि वे मनुष्य पुरखा हैं, 'पितरो मनुष्याः', जिन्होंने **प्रकाश**को खोज निकाला, सूर्यको चमकाया और **सत्य**के स्वर्लोकमें चढ़ गये। दशम मण्डलके कुछ सूक्तोंमें अंगिरसोंको कव्यभुक् पितरोंके तौरपर यम (एक देवता जो कि पीछेके सूक्तोंमें ही प्रधानतामें आया है)के साथ संबंधित किया गया है, वहाँ ये अंगिरस्-गण देवताओंके साथ बर्हिपर बैठते हैं और यज्ञमें अपना भाग ग्रहण करते हैं।

यदि अंगिरस् ऋषियोंके विषयमें संपूर्ण तथ्य इतना ही होता तो इन्होंने **गौओं**के खोजनेमें जो भाग लिया है उसकी व्याख्या करना बड़ा आसान था; बल्कि उसकी व्याख्यामें कुछ खास कहनेकी जरूरत ही न थी, तब तो इतना ही है कि ये पूर्वपुरुष हैं, वैदिक धर्मके संस्थापक हैं, जिन्हें इनके वंशजोंने आंशिक रूपसे देवत्व प्रदान कर दिया है और जो उत्तरी ध्रुवकी लंबी रात्रिमें से **उषा** और **सूर्य**की पुनःप्राप्तिके कार्यमें या **प्रकाश** और **सत्य**की विजयमें देवोंके साथ सतत रूपसे संबन्धित हैं। परन्तु इतना ही सब कुछ नहीं है, वैदिक गाथा इसके और गम्भीर पहलुओंका भी वर्णन करती है।

पहिले तो यह कि अंगिरस् केवल देवत्वप्राप्त मानुष पितर ही नहीं हैं

---

1. बहुत संभव है, अंगिरस् ऋषि अग्निकी ज्वलत् (अंगार) शक्तियां हैं और भृगुगण सूर्यकी सौर शक्तियां हैं।

किन्तु वे हमारे सामने इस रूपमें भी दिखाये गये हैं कि वे द्युलोकके द्रष्टा हैं (दिव्य ऋषि हैं), देवताओंके पुत्र हैं, वे द्यौके पुत्र हैं और असुरके, बलाधिपतिके वीर हैं या शक्तियाँ हैं। **'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः'** यह एक ऐसा वर्णन है जो, अंगिरसोंके संख्यामें सात होनेके कारण, तत्सदृश ईरानियन गाथाके अहुरमज्द (Ahura Mazda)के सात देवदूतोंका शायद केवल आकस्मिक रूपसे, पर प्रबलतासे स्मरण करा देता है और फिर ऐसे संदर्भ भी हैं जिनमें अंगिरस् बिल्कुल प्रतीकात्मक हो गये दीखते हैं, वे मूल अंगिरस् **अग्नि**के पुत्र और शक्तियाँ हैं, वे प्रतीकभूत **प्रकाश** और **ज्वाला**की शक्तियाँ हैं और वे उस सात मुखवाले, अपनी नौ और अपनी दश **प्रकाश**-किरणोंवाले एक अंगिरस्में, **नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये**, एकीभूत भी हो जाते हैं जिसपर और जिस द्वारा **उषा** अपने संपूर्ण आनन्द और वैभवके साथ खिल उठती है। ये तीनों स्वरूपवर्णन एक ही और उन्हीं अंगिरसोंके प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनमें उनके विशेष गुण और उनके कार्य अन्य फर्कके होते हुए भी अभिन्न ही रहते हैं।

अंगिरस् ऋषि दैव भी हैं और मनुष्य भी हैं, उनके इस प्रकार दुहरे स्वरूपवाले होनेकी व्याख्या दो बिलकुल विपरीत तरीकोंसे की जा सकती है। हो सकता है कि वे मूलतः मनुष्य-ऋषि रहे हों और उनके वंशजोंने उन्हें देवताका रूप दे दिया हो और इस देवत्वापादनमें उन्हें दिव्य कुल-परम्परा तथा दिव्य व्यापार भी दे दिये गये हों; या फिर वे मूलतः अर्धदेव हों, **प्रकाश** और **ज्वाला**की शक्तियाँ हों, जिनका मनुष्य-जातिके पितरों तथा उसके ज्ञानके आविष्कारकोंके रूपमें मानुषीकरण हो गया हो। ये दोनों ही प्रक्रियाएँ प्राथमिक गाथाविज्ञानमें स्वीकार की जाने योग्य हैं। उदाहरणार्थ, ग्रीक कथानकके कैस्टर (Castor) और पोलीडूसस (Polydeuces) और उनकी बहिन हेलेन (Helen) मानुष प्राणी थे, यद्यपि ये जुस (Zeus) के पुत्र थे, और मृत्युके बाद ही देव हुए। परन्तु बहुत सम्भावना यह है कि ये तीनों मूलतः ही देव थे—लगभग निश्चयसे कहा जा सकता है कि युगल, घोड़ेपर चढ़नेवाले, समुद्रमें नाविकोंकी रक्षा करनेवाले कैस्टर और पोलीडूसस वैदिक अश्विनौ हैं जो घुड़सवार हैं जैसा कि 'अश्विन्' यह नाम ही बताता है, अद्भुत रथपर चढ़नेवाले हैं, युगल भी हैं, समुद्रमें 'भुज्यु' की रक्षा करनेवाले हैं, अपार जलराशिपर से पार तरानेवाले, उषाके भाई हैं; और कैस्टर एवं पोलीडूससकी बहन हेलेन **उषा** है या वह देवशुनी 'सरमा' ही है जो **दक्षिणा**की तरह उषाकी शक्ति, लगभग उसकी मूर्त्ति (प्रतिमा) है। पर इनमेंसे कुछ भी मानें इसके आगे एक और विकासक्रम

हुआ है, जिसके द्वारा ये देव या अर्धदेव आध्यात्मिक व्यापारोंसे युक्त हो गये हैं, शायद उसी प्रक्रिया द्वारा जिससे ग्रीकधर्ममें Athene, उषा, का ज्ञानकी देवीके रूपमें परिवर्तन तथा Apollo, सूर्य, का दिव्य गायक और द्रष्टाके, भविष्यवाणी और कविताके प्रेरक-देवके रूपमें परिवर्तन हो गया।

वेदमें यह संभव है कि एक और ही प्रवृत्ति काम कर रही हो—अर्थात् उन प्राचीन रहस्यवादियोंके मनोंमें प्रधानतया विद्यमान, सतत और सर्वत्र पायी जानेवाली प्रतीकवादकी प्रवृत्ति या आदत। हर एक बात, उनके अपने नाम, राजाओं और याजकोंके नाम, उनके जीवनकी साधारणसे साधारण परिस्थितियाँ—ये सब प्रतीकोंके रूपमें ले आयी गयी थी और वे प्रतीक उनके असली गुप्त अभिप्रायोंके लिये आवरणका काम देते थे। जैसे वे 'गौ' शब्दकी द्वयर्थकताका उपयोग करते थे, जिसका अर्थ 'किरण' और 'गाय' ये दोनों होते थे, जिसमें गाय (उनके पशुपाल-जीवनसम्बन्धी संपत्तिके मुख्य रूप)की मूर्त प्रतिमा उसके छिपे हुए अभिप्राय **आन्तरिक प्रकाश**के लिये (जो उनकी उस आध्यात्मिक संपत्तिका मुख्य तत्त्व था) जिसकी वे अपने देवोंसे प्रार्थना करते थे आवरण बन सके, वैसे ही वे अपने नामोंका भी उपयोग करते थे, उदाहरणार्थ, **गोतम** 'प्रकाशसे अधिक-से-अधिक भरा हुआ', **गविष्ठिर** 'प्रकाशमें स्थिर', एवं ऊपरसे देखनेमें जो निजी दावा या इच्छा-सी प्रतीत होती है, उसके नीचे वे अपने विचारमें रहनेवाले विस्तृत और व्यापक अभिप्रायको छिपाये होते थे। इसी प्रकार वे बाह्य तथा आन्तर अनुभूतियोंका भी, वे चाहे अपनी हों या दूसरे ऋषियोंकी, उपयोग करते थे। यज्ञस्तम्भके साथ बाँधे गये शुनःशेपकी प्राचीन कथामें यदि कुछ सत्य है तो, जैसा कि हम अभी देखेंगे, यह बिल्कुल निश्चित है कि ऋग्वेदमें यह घटना या गाथा एक प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त की गयी है। शुनःशेप है मानवीय आत्मा जो पापके त्रिविध बन्धनसे बद्ध है और अग्नि, सूर्य तथा वरुणकी दिव्य शक्तियों द्वारा वह इससे उन्मुक्त होता है। इसी प्रकार कुत्स, कण्व, उशना काव्य जैसे ऋषि भी किन्हीं आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा विजयोंके प्रतीक या आदर्श बने हैं और उस स्थितिमें इन्होंने देवताओंके साथ स्थान प्राप्त किया है। तो फिर इसमें कुछ आश्चर्यकी बात नहीं कि सात अंगिरस् ऋषि भी इस रहस्यमय प्रतीकवादमें, अपने परंपरागत या ऐतिहासिक मानुष स्वरूपका सर्वथा त्याग किये बिना ही, दिव्य शक्तियों और आध्यात्मिक जीवनके जीवन्त बल बन गये हों। तो भी हम यहाँ इन अटकलों और अनुमानोंको एक तरफ छोड़ देंगे और इनकी जगह इस परीक्षामें प्रवृत्त होंगे कि अंगिरसोंके व्यक्तित्वके उपर्युक्त तीन तत्त्वों या पहलुओंका गौओंके तथा

अन्धकारमेसे सूर्य और उषाको फिरसे प्राप्त करनेके अलंकार में क्या-क्या भाग रहा है।

सबसे पहिल हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि वेदमें अंगिरस् शब्द विशेषणके तौरपर प्रयुक्त हुआ है, अधिकतर उषा और गौओंके रूपक के प्रकरणमें। दूसरे, यह अग्निके नामके तौरपर आया है, इन्द्रके विषयमें कहा गया है कि वह अङ्गिरस् बन जाता है और बृहस्पतिको भी अंगिरस् या आंगिरस पुकारा गया है, जो स्पष्ट ही केवल भाषालंकारके तौरपर या गाथात्मक तौरपर नहीं कहा गया है बल्कि विशेष अर्थ सूचित करनेके लिये और इस शब्दके साथ जो आध्यात्मिक या दूसरे भाव जुड़े हुए हैं उनको लक्षित करनेके लिये ही ऐसा कहा गया है। यहाँ तक कि अश्विन् देव भी सामूहिक रूपसे अंगिरस् करके संबोधित किये गये हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि अंगिरस् शब्द वेदमें केवल ऋषियोंके एक कुलके नामके तौरपर नहीं किन्तु इस शब्दके अन्दर निहित एक विशिष्ट अर्थको लेकर प्रयुक्त हुआ है। यह भी बहुत संभव है कि यह शब्द जब एक संज्ञा, नामके तौरपर प्रयुक्त किया गया है तब भी इसके अन्तर्निहित भावको स्पष्ट गृहीत करते हुए ही ऐसा किया गया है, बहुत संभव तो यहाँ तक है कि वेदमें आनेवाले नाम ही, यदि हमेशा नहीं तो सामान्यतया, अपने अर्थपर बलप्रदानपूर्वक प्रयुक्त किये गये हैं, विशेषतया देवों, ऋषियों और राजाओंके नाम। वेदमें इन्द्र शब्द सामान्यतया एक नामके तौरपर प्रयुक्त हुआ है तो भी हम वेदकी शैलीकी कुछ अर्थपूर्ण झांकियाँ पाते हैं जैसे कि उषाका वर्णन करते हुए उसे 'इन्द्रतमा, अङ्गिरस्तमा' कहा गया है, —'सबसे अधिक इन्द्र', 'सबसे अधिक अंगिरस्'; और पणियोंको 'अनिन्द्राः' अर्थात् इन्द्ररहित वर्णित किया गया है। ये स्पष्ट ही ऐसे शब्दप्रयोग हैं जो इन्द्र या अंगिरस्से निरूपित होनेवाले व्यापारों, शक्तियों या गुणोंसे युक्त होने या इनसे रहित होनेके भाव को सूचित करनेके अभिप्रायसे किये गये हैं। तो हमें अब यह देखना है कि वे अभिप्राय क्या हैं और अंगिरस् ऋषियोंके गुणों या व्यापारोंपर उन द्वारा क्या प्रकाश पड़ता है।

'अङ्गिरस्' शब्द अग्निका सजातीय है, क्योंकि यह जिस धातु 'अगि' (अंग्)से निकला है वह अग्निकी धातु 'अग्'का केवल सानुनासिक रूप है। इन धातुओंका आन्तरिक अर्थ प्रतीत होता है प्रमुख या प्रबल अवस्था, भाव, गति, क्रिया, प्रकाश।[1] और इनमेंसे अन्तिम अर्थात् 'प्रदीप्त या

1. प्रमुख या प्रबल अवस्थाके लिये संस्कृत शब्द है 'अग्र', जिसका अर्थ होता है अगला या शिखर और ग्रीकमें 'अगन' जिसका अर्थ है 'अधिकतासे'। प्रमुख भावके लिये

जलता हुआ प्रकाश' इस अर्थसे ही **'अग्नि'**, आग, **'अंगार'** (दहकता कोयला, अंगारा) और **'अंगिरस्'** शब्द बने हैं। अतः अंगिरस्का अर्थ होना चाहिये ज्वालामय या दीप्त। वेदमें और ब्राह्मण-ग्रंथोंकी परंपरामें भी अंगिरस् मूलतः अग्निसे निकट-संबद्ध माने गये हैं। ब्राह्मणोंमें यह कहा गया है कि अग्नि आग है, अंगिरस् अंगारे हैं, पर स्वयं वेदका निर्देश ऐसा प्रतीत होता है कि वे (अंगिरस्) अग्निकी ज्वालाएँ हैं या ज्योतियाँ हैं। ऋ० 10.62 में अंगिरस् ऋषियोंकी एक ऋचामें उनके बारेमें कहा गया है कि वे अग्निके पुत्र हैं और अग्निसे उत्पन्न हुए हैं, वे अग्निके चारों ओर और विविध रूपवाले होकर सारे द्युलोकके चारों ओर उत्पन्न हुए हैं।[1] और फिर इससे अगली पंक्तिमें इनके विषयमें सामुदायिक रूपसे एकवचनमें बोलते हुए कहा है—**'नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते'**, अर्थात् नौ किरणोंवाला, दश किरणोंवाला सबसे अधिक अंगिरस् (यह अंगिरस्-कुल) देवोंके साथ या देवोंमें समृद्धिको प्राप्त होता है। इन्द्रकी सहायतासे ये अंगिरस् गौओं और घोड़ोंके बाड़ेको खोल देते हैं, ये यज्ञ करनेवालोंको रहस्य-मय आठ कानोंवाला गो-समूह प्रदान करते हैं और उसके द्वारा देवताओंमें 'श्रवस्' अर्थात् दिव्य श्रवण या सत्य की अन्तःप्रेरणा उत्पन्न करते हैं (10.62. 5, 6, 7)। तो यह काफी स्पष्ट है कि अंगिरस् ऋषि यहाँ दिव्य अग्निकी प्रसरणशील ज्योतियाँ हैं जो द्युलोकमें उत्पन्न होती हैं, इसलिये ये दिव्य ज्वालाकी ज्योतियाँ हैं न कि किसी भौतिक आगकी। ये प्रकाशकी नौ किरणोंसे और दश किरणोंसे संनद्ध होते हैं, अंगिरस्तम बनते हैं अर्थात् अग्निकी, दिव्य ज्वाला की जाज्वल्यमान अर्चियोंसे पूर्णतम होते हैं और इसलिये कारागारमें बन्द प्रकाश और बलको मुक्त करनेमें तथा अतिमानस (विज्ञानमय) ज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं।

चाहे यह स्वीकार न किया जाय कि प्रतीकपरक यही अर्थ ठीक है,

ग्रीक शब्द 'अगपे' है जिसका अर्थ है प्रेम और शायद संस्कृत 'अंगना' अर्थात् स्त्री। इसी तरह प्रमुख गति तथा क्रियाके लिये भी इसी प्रकारके कई संस्कृत, ग्रीक तथा लेटिनके शब्द हैं।

1. **ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥5॥**
ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥6॥
इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ॥7॥

पर यह तो स्वीकार करना होगा कि यहाँपर कोई प्रतीकात्मक अर्थ ही है। ये अंगिरस् कोई यज्ञ करनेवाले मनुष्य नहीं हैं, किंतु द्युलोकमें उत्पन्न हुए अग्निके पुत्र हैं, यद्यपि इनका कार्य बिल्कुल मनुष्य अंगिरसोंका है जो पितर हैं, (**पितरो मनुष्याः**); ये विविध रूप लेकर उत्पन्न हुए हैं (विरूपासः)। इस सबका यही अभिप्राय हो सकता है कि ये अग्निकी शक्तिके विविध रूप हैं। प्रश्न होता है कि किस अग्निके, क्या यज्ञशालाकी ज्वालाके, सामान्य अग्नि-तत्त्व के या फिर उस दूसरी पवित्र ज्वालाके जिसका वर्णन किया गया है 'द्रष्टृ-संकल्पसे युक्त होता' या 'जो द्रष्टाका कार्य करता है, सत्य है, अन्तःप्रेरणाओंके विविध प्रकाशसे समृद्ध है' (**अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः**)। यदि यह अग्नि-तत्त्व है तो अंगिरस्से सूचित होनेवाली जोज्वल्यमान चमक सूर्यकी चमक होनी चाहिये अर्थात् अग्नि-तत्त्वकी वह आग जो सूर्यकिरणोंके रूपमें प्रसृत हो रही है और इन्द्रसे, आकाशसे संबद्ध होकर उषाको उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भौतिक व्याख्या नहीं हो सकती, जो अंगिरस् गाथाकी परिस्थितियों तथा विवरणोंसे संगत हो। परंतु यह भौतिक व्याख्या अंगिरस्-ऋषियोंसंबंधी अन्य वर्णनोंका कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं दे सकती कि वे द्रष्टा हैं, वैदिक सूक्तोंके गायक हैं, कि वे जैसे सूर्यकी और उषाकी वैसे बृहस्पतिकी भी शक्तियाँ हैं।

वेदका एक और संदर्भ है, (6.6.3,4,5)[1] जिसमें इन अंगिरस् ऋषियोंका अग्निकी ज्वालामय अर्चियोंके साथ तादात्म्य बिल्कुल स्पष्टतया और अभ्रान्त रूपसे प्रकट हो जाता है। '(**शुचे अग्ने**) हे पवित्र और चमकीले अग्नि! (**ते**) तेरे (**शुचयः भामासः**) पवित्र और चमकीले प्रकाश (**वातजूतासः**) वायुसे प्रेरित होकर (**विष्वक्**) चारों तरफ (**विचरन्ति**) दूर-दूर तक पहुँचते हैं; (**तुविम्रक्षासः**) प्रबलतासे अभिभूत करनेवाले (**दिव्या नवग्वाः**) दिव्य[2] नौ किरणोंवाले (**वना[3] धृषता रुजन्तः वनन्ति**) वनोंको बलपूर्वक तोड़ते-फोड़ते हुए उनका उपभोग करते हैं। ('**वना**

---

1. **वि ते विश्वग्वातजूतासो अग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति।**
   तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्तः ॥३॥
   ये ते शुक्रासः शुचयः शुचिष्मः क्षां वपन्ति विषितासो अश्वाः।
   अध भ्रमस्त ऊर्विया वि भाति यातयमानो अधि सानु पृश्नेः ॥४॥
   अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना।
2. नवग्वाका दिव्य विशेषण ध्यान देने योग्य है।
3. 'वना'का अर्थ सायणने 'यज्ञिय अग्निके लिये लकड़' ऐसा किया है।

वनन्ति' शब्द अत्यंत अर्थपूर्ण रूपसे इस ढके हुए अभिप्रायको दे रहे हैं कि 'उपभोग-योग्य वस्तुओंका उपभोग करते हैं'।) ।3। (**शुचिष्मः**) ओ पवित्र प्रकाशवाले! (**ये ते शुक्राः शुचयः**) जो तेरे चमकीले और पवित्र प्रकाश (**क्षां**) सम्पूर्ण पृथ्वीको (**वपन्ति**)[1] आक्रान्त या अभिभूत करते हैं, (**विषितासः अश्वाः**) वे तेरे सब दिशाओंमें दौड़नेवाले घोड़े हैं। (**अथ**) तब (**ते भ्रमः**) तेरा भ्रमण (**पृश्नेः**) चित्रविचित्र रंगवाली [मरुतोंकी माता, पृश्नि, गौ]की (**सानोः अधि**) उच्चतर भूमिकी तरफ (**यातयमानः**) यात्राका मार्ग दिखलाता हुआ (**उर्विया विभाति**) विस्तृत रूपमें चमकता है। ।4। (**अध**) तब (**जिह्वा**) तेरी जीभ (**प्रपापतीति**) ऐसे लपलपाती है (**गोषुयुधो वृष्णः सृजाना अशनिः न**) जैसे गौओंके लिये युद्ध करनेवाले वृषासे छोड़ा हुआ वज्र ।5।' यहाँ अंगिरस् ऋषियोंकी ज्वालाओं (**भामासः, शुचयः**) से जो स्पष्ट अभिन्नता है उसे सायण '**नवग्वाः**' का अर्थ 'नवजात किरणें' करके टालना चाहता है। परंतु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यहाँके '**दिव्याः नवग्वाः**' तथा 10.62 में वर्णित 'अग्निके पुत्र, द्युलोकमें उत्पन्न होनेवाले **नवग्वाः**' एक ही हैं, इनका भिन्न होना संभवित नहीं है। यदि इस अभिन्नताके लिये किसी पुष्टिकी जरूरत है तो यह उपर्युक्त संदर्भमें आये इस कथनसे और भी पुष्ट हो जाती है कि नवग्वोंकी क्रिया द्वारा होनेवाले **अग्निके** इस भ्रमणमें उसकी जिह्वा इन्द्रके (गौओंके लिये लड़नेवाले और वृषा इन्द्रके) अपने हाथोंसे छूटे हुए वज्रका रूप धारण करती है और यह तेजीसे लपलपाती हुई आगे बढ़ती है, निःसंदेह द्युलोककी पहाड़ी में अंधकारकी शक्तियोंपर आक्रमण करनेके लिये ही आगे बढ़ती है; क्योंकि अग्नि और नवग्वोंका प्रयाण (भ्रमण) यहाँ इस रूपमें वर्णित किया गया है कि यह पृथ्वी पर घूम चुकनेके उपरान्त पहाड़ीपर (**सानु पृश्नेः**) चढ़ना है।

यह स्पष्ट ही **ज्वाला** और **प्रकाश**का प्रतीकात्मक वर्णन है—दिव्य ज्वाला पृथ्वीको दग्ध करती है और फिर वह द्युलोककी विद्युत् तथा सौर शक्तियोंकी दीप्ति बनती है; क्योंकि वेदमें अग्नि जहाँ जलमें उपलब्ध होनेवाली तथा पृथ्वीपर चमकनेवाली ज्वाला है वहाँ वह सूर्यकी ज्योति तथा विद्युत् भी है। अंगिरस् ऋषि भी, अग्निकी शक्तियाँ होनेके कारण, अग्निके इस अनेकविध स्वरूप व व्यापारको ग्रहण करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रदीप्तकी गयी दिव्य ज्वाला इन्द्रको विद्युत्की सामग्री भी प्रदान करती है, विद्युत्की, वज्रकी,

---

1. 'क्षां वपन्ति'का अर्थ सायणने 'पृथ्वीके बालोंको मूंडते हैं'ऐसा किया है।

'स्वर्य अश्मा'की जिसके द्वारा वह अंधकारकी शक्तियों का विनाश करता है और गौओंको, सौर ज्योतियोंको, जीत लेता है।

अग्नि, अंगिरसोंका पिता, न केवल इन दिव्य ज्वालाओंका मूल और उद्गम-स्थान है किन्तु वह स्वयं भी वेदमें पहिला अंगिरस् (प्रथमो अंगिराः) अर्थात् परम और आदिम अंगिरा वर्णित किया गया है। इस वर्णन द्वारा वैदिक कवि हमें क्या अभिप्राय जताना चाहते हैं? यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि हम उन वाक्योंमेंसे कुछ एक पर जरा दृष्टिपात करें जिनमें इस प्रकाशमान और ज्वालायुक्त देवताको 'अंगिराः' विशेषण दिया गया है। पहिले तो यह कि यह दो बार अग्निके एक अन्य नियत विशेषण **'सहसः सूनुः ऊर्जो नपात्'** (बलके पुत्र या शक्तिके पुत्र)के साथ संबद्ध होकर आया है। जैसे 8.60.2 में संबोधित किया गया है 'हे अंगिरः, बलके पुत्र' **(सहसः सूनो अङ्गिरः)**[1] और 8.84.4 में 'हे अग्ने! अंगिरः! शक्तिके पुत्र!' **(अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपात्)**।[2] और 5.11.63[3] में कहा गया है "तुझे हे अग्ने! अंगिरसोंने, गुप्त स्थानोंमें स्थापित तुझे **(गुहा हितं)** प्राप्त कर लिया, जंगल-जंगलमें **(वने-वने,** अथवा यदि हम उस छिपे हुए अर्थके संकेतको स्वीकार करें जिसे हम **'वना वनन्ति'** इस शब्दावलि में पहिले देख चुके हैं तो 'प्रत्येक उपभोग्य पदार्थमें') स्थित तुझको। सो तू मथा जाकर (मथ्यमान) एक महान् शक्ति होकर उत्पन्न होता है, तुझे वे बलका पुत्र कहते हैं, हे अंगिरः!" तो इसमें संदेहका अवकाश नहीं कि यह बलका विचार अंगिरस् शब्दकी वैदिक धारणामें एक आवश्यक तत्त्व है और, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह इस शब्दके अर्थका एक भाग ही है। अग्नि, अंगिरस् जिन धातुओंसे बने हैं उन 'अग्', 'अगि (अंग्)' में बलका भाव निहित है; अवस्थामें, क्रियामें, गतिमें, प्रकाशमें, अनुभवमें प्रबलता इन धातुओंके अर्थका अन्तर्निहित गुण है। **बलके** साथ-साथ इन शब्दोंमें **प्रकाशका** अर्थ भी है। अग्नि, पवित्र ज्वाला, प्रकाशकी ज्वलन्त शक्ति है और अंगिरस् भी **प्रकाशके** ज्वलन्त बल हैं।

परंतु किस प्रकाशके, भौतिक या आलंकारिक? हमें यह कल्पना नहीं

---

1. **अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।**
   ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्नि यज्ञेषु पूर्व्यम्॥ (ऋ० 8.60.2)
2. **कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्। वराय देव मन्यवे॥**(ऋ.8.84.4)
3. **त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितम् अन्वविन्दन् शिश्रियाणं वने वने।**
   स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्र अङ्गिर॥(ऋ. 5.11.6)

कर लेनी चाहिये कि वैदिक कवि इतनी अपक्व तथा जंगली बुद्धिवाले थे कि वे सभी भाषाओंमें सामान्यरूपसे पाये जानेवाले ऐसे स्पष्ट आलंकारिक वर्णन कर सकनेमें भी असमर्थ थे जिनमें भौतिक प्रकाश आलंकारिक रूपसे मानसिक तथा आत्मिक प्रकाशका, ज्ञानका, आन्तरिक-प्रकाश-युक्तताका वर्णन करनेको प्रयुक्त किया जाता है। वेद बिल्कुल साफ कहता है **'द्युमतो विप्राः'** अर्थात् प्रकाशयुक्त ज्ञानी और **'सूरि'** शब्द (जिसका अर्थ होता है ऋषि) व्युत्पत्ति-शास्त्रके अनुसार 'सूर्य' से संबद्ध है और इसलिये मूलतः इसका अर्थ अवश्य 'प्रकाशयुक्त' ऐसा होना चाहिये। 1.31.1[1] में इस **ज्वाला**के **देव**के विषयमें कहा गया है, 'हे अग्ने! तू प्रथम अंगिरस् हुआ है, ऋषि, देवोंका देव, शुभ सखा है। तेरी क्रियाके नियममें (व्रतमें) मरुत् अपने चमकीले भालोंके साथ उत्पन्न होते हैं, जो क्रान्तदर्शी हैं और ज्ञानके साथ कर्म करनेवाले हैं।' तो स्पष्ट है कि 'अग्नि अंगिराः' में दो भाव विद्यमान हैं, ज्ञान और क्रिया; प्रकाशयुक्त अग्नि और प्रकाशयुक्त मरुत् अपने प्रकाश द्वारा ज्ञानके द्रष्टा, ऋषि, 'कवि' हुए हैं। और ज्ञानके प्रकाश द्वारा शक्तिशाली मरुत् अपना कार्य करते हैं क्योंकि वे **अग्नि** के 'व्रतमें'—उसकी क्रियाके नियममें—उत्पन्न हुए हैं या आविर्भूत हुए हैं। क्योंकि स्वयं अग्नि हमारे सम्मुख इस रूपमें वर्णित किया गया है कि वह द्रष्टृ-संकल्पवाला है, **'कविक्रतुः'** है, क्रियाका वह बल है जो अन्तःप्रेरित या अतिमानस ज्ञानके (**श्रवस् के**) अनुसार कार्य करता है, कारण 'कवि' शब्द द्वारा यह (अन्तःप्रेरित या अतिमानस) ज्ञान ही अभिप्रेत होता है न कि बौद्धिक ज्ञान। तो यह 'अग्नि अंगिरस्'-नामक महान् बल, **'सहो महत्'**, इसके सिवाय और क्या है कि यह दिव्य चेतनाका ज्वलन्त बल है, पूर्ण सामंजस्यमें कार्य करनेवाले प्रकाश और शक्तिके अपने दोनों युगल गुणोंसे युक्त दिव्य चेतनाकी जाज्वल्यमान शक्ति है ठीक ऐसे ही जैसे कि मरुतोंका वर्णन किया गया है कि वे **'कवयो विद्मनापसः'** हैं, क्रान्तदर्शी हैं, ज्ञानके साथ कार्य करनेवाले? इस परिणामपर पहुँचनेके लिये तो हम युक्ति देख ही चुके हैं कि उषा **दिव्य प्रभात** है न कि केवल भौतिक सूर्योदय, कि उसकी गौएँ या **उषा** तथा **सूर्य** की किरणें उदय होती हुई दिव्य चेतनाकी किरणें व प्रकाश हैं और कि इसलिये **सूर्य ज्ञान**के अधिपतिके रूपमें **प्रकाशप्रदाता** है और कि 'स्वः', द्यावा-पृथिवीके परेका सौर लोक, दिव्य **सत्य** और **आनन्द**का लोक है, एक शब्दमें

---

1. **त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।**
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥ (ऋ. 1.31.1)

कहें तो यह कि वेदमें प्रकाश व ज्योति ज्ञानका, दिव्य सत्यके प्रकाशनका प्रतीक है। अब हमें यह परिणाम निकालनेके लिये भी युक्ति प्राप्त हो रही है कि ज्वाला—जो प्रकाशका ही एक दूसरा रूप है—दिव्य चेतना (अतिमानस सत्य) के बलके लिये वैदिक प्रतीक है।

एक दूसरी ऋचा (6.11.3)में आया है, **'वेपिष्ठो अङ्गिरसां यद्ध विप्रः'** अर्थात् "अंगिरसोंमें सबसे अधिक प्रकाशयुक्त द्रष्टा"। यह किसकी तरफ निर्देश है यह स्पष्ट नहीं है। सायण **'वेपिष्ठो विप्रः'** इस विन्यासकी तरफ ध्यान नहीं देता, जिससे **'वेपिष्ठः'**का अर्थ एकदम स्पष्ट तौरसे स्वयमेव निश्चित हो जाता है कि 'विप्रतम, सबसे अधिक द्रष्टा, सबसे अधिक प्रकाश-युक्त'। सायण यह कल्पना करता है कि यहाँ भारद्वाज, जो इस सूक्तका ऋषि है, स्वयं अपने-आपकी स्तुति करता हुआ अपनेको देवोंका 'सबसे बड़ा स्तोता' कहता है। पर यह निर्देश शंकनीय है। यहाँ **अग्नि** ही 'होता' है, पुरोहित है (देखो पहिले दूसरे मन्त्रोंमें **'यजस्व होतः'**, **'त्वं होता'**), अग्नि ही देवोंका यजन कर रहा है, अपने ही तनूभूत देवोंका (**'तन्वं तव स्वां'**, दूसरा मन्त्र), मरुतों, मित्र, वरुण, द्यौ और पृथिवीका यजन कर रहा है (पहिला मन्त्र)। क्योंकि इस ऋचामें कहा है—

'(**त्वे हि**) तुझमें ही (**धिषणा**) बुद्धि (**धन्याचित्**) यद्यपि यह धन्या है, धनसे पूर्ण है तो भी (**देवान् प्रवष्टि**) देवोंको चाहती है, (**गृणते जन्म यजध्यै**)[1] मंत्रगायकके लिये [दिव्य] जन्म चाहती है जिससे वह देवोंका यजन कर सके; (**यद्ध विप्रः अङ्गिरसां वेपिष्ठः रेभः**) जब कि, विप्र, अंगिरसोंमें विप्रतम [सबसे अधिक प्रकाशयुक्त] स्तोता (**इष्टौ मधु च्छन्दः भनति**) यज्ञमें मधुर छन्द उच्चारण करता है।' इससे लगेगा कि **अग्नि** ही स्वयं विप्र है, अंगिरसोंमें वेपिष्ठ (विप्रतम) है। या फिर दूसरी तरफ यह वर्णन **बृहस्पतिके** लिये उपयुक्ततम लगेगा।

क्योंकि बृहस्पति भी एक अंगिरस् है और वह है जो अंगिरस् बनता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वह प्रकाशमान पशुओंके जीतनेके कार्यमें अंगिरस् ऋषियोंके साथ निकटतया संबद्ध है और वह संबद्ध है **ब्रह्मणस्पतिके** तौर पर, ब्रह्मन् (पवित्र वाणी या अन्तःप्रेरितं वाणी) के पतिके तौर पर; क्योंकि उसके शब्द द्वारा (**रवेण**) वल टुकड़े-टुकड़े हो गया और गौओंने इच्छाके साथ रंभाते हुए उसकी पुकारका उत्तर दिया। अग्निकी शक्तियोंके तौर

---

1. **धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवान् जन्म गृणते यजध्यै।**
वेपिष्ठो अङ्गिरसां यद्ध विप्रः मधु च्छन्दो भनति रेभ इष्टौ॥ (ऋ. 6.11.3)

पर ये अंगिरस् ऋषि उसकी तरह ही कविक्रतु हैं, वे दिव्य प्रकाशसे युक्त हैं और उसके द्वारा दिव्य शक्तिके साथ काम करते हैं; वे केवल ऋषि ही नहीं हैं, किंतु वैदिक युद्धके वीर हैं, **'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः** (3-53-7)', अर्थात् द्यौके पुत्र हैं, बलाधिपतिके वीर हैं, वे हैं (जैसा 6.75.9[1] में वर्णित है) 'पितर जो माधुर्य (आनन्दके जगत्) में बसते हैं, जो विस्तृत जीवनको स्थापित करते हैं, कठिन स्थानोंपर विचरते हैं, शक्तिवाले हैं, गम्भीर[2] हैं, चित्र सेनावाले हैं, इषुबलवाले हैं, अजेय हैं, अपनी सत्तामें वीर हैं, विशाल हैं, शत्रुसमूहका अभिभव करनेवाले हैं', पर साथ ही वे हैं (जैसा कि अगली ऋचामें उनके विषयमें कहा गया है) **'ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः'** अर्थात् वे दिव्य वाणी (ब्रह्म) वाले हैं और इस वाणीके साथ रहनेवाले अन्तःप्रेरित ज्ञानसे युक्त हैं[3]। यह दिव्य वाणी है 'सत्य मन्त्र', यह है विचार (बुद्धि) जिसके सत्य द्वारा अंगिरस् उषाको जन्म देते हैं और खोये हुए सूर्यको द्युलोकमें उदित करते हैं। इस दिव्य वाणी **(ब्रह्म)** के लिये दूसरा शब्द जो वेदमें प्रयुक्त होता है वह है **'अर्क'**, जिसके अर्थ दोनों होते हैं मन्त्र और प्रकाश, और जो कभी-कभी सूर्यका भी वाचक होता है। इसलिये यह है प्रकाशकी दिव्य वाणी (ब्रह्म), वह वाणी (ब्रह्म) जो उस **सत्य**को प्रकाशित करती है जिसका कि सूर्य अधिपति है, और **सत्य**के गुह्य स्थानसे इसका उद्भूत होना सूर्य द्वारा अपनी गोरूप ज्योतियोंकी वर्षा करनेसे संबद्ध है, सो हम 7.36.1 में पढ़ते हैं 'सत्यके सदनसे ब्रह्म उद्भूत हो, सूर्यने अपनी रश्मियों द्वारा गौओंको उन्मुक्त कर दिया है।'

प्र ब्रह्मैतु सदनाद् ऋतस्य, वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः।

इस (ब्रह्म)को भी वैसे ही प्राप्त करना, अधिगत करना होता है जैसे स्वयं सूर्यको और इसकी प्राप्तिके लिये भी **(अर्कस्य सातौ)** देवोंको अपनी सहायता वैसे ही देनी होती है, जैसे सूर्यकी प्राप्ति **(सूर्यस्य सातौ)** और स्वः की प्राप्ति के लिये **(स्वर्षातौ)**।

---

1. **स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।**
   चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः॥ (ऋ० 6.75.9)
2. तुलनीय : 10.62 में किया गया अंगिरसोंका यह वर्णन कि ये अग्निके पुत्र हैं, रूप में विभिन्न हैं, पर ज्ञानमें गम्भीर हैं-'गम्भीर-वेपसः'। (मंत्र 5)
3. वेदमें ब्राह्मण शब्दका यही अर्थ प्रतीत होता है। यह तो निश्चित है कि जातसे ब्राह्मण या पेशेसे पुरोहित इसका अभिप्राय बिलकुल नहीं है। यहां पितर योद्धा भी हैं, और विप्र भी। चार वर्णोंका वर्णन ऋग्वेदमें एक ही जगह आया है, उस गंभीर पर अपेक्षाकृत पीछेकी रचना पुरुषसूक्त में।

इसलिये अङ्गिरा न केवल अग्नि-बल है किंतु बृहस्पति-बल भी है। बृहस्पतिको अनेक वार 'आंगिरस' करके पुकारा गया है जैसे कि, 6.73.1 में–

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।

'बृहस्पति, जो पहाड़ीको (पणियोंकी गुफाको) तोड़नेवाला, प्रथम उत्पन्न हुआ, सत्यवाला, आंगिरस और हविवाला है' और 10.47.6 में हम बृहस्पति का आंगिरस रूपमें और भी अधिक अर्थपूर्ण वर्णन पाते हैं।

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।

य आङ्गिरसः नमसोपसद्यः.....

'विचार (बुद्धि) बृहस्पतिकी तरफ जाता है, सात किरणोंवाले, सत्य धारणावाले, पूर्ण मेधावालेकी तरफ, जो आंगिरस है, नमस्कार द्वारा पास पहुँचने योग्य।' 2.23.18 में भी गौओंकी उन्मुक्ति और जलोंकी उन्मुक्तिके प्रकरणमें बृहस्पतिको 'अंगिरः' संबोधित किया गया है।

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।

इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥

'तेरी विभूतिके लिये पर्वत जुदा-जुदा फट गया जब कि, हे अंगिरः! तूने गौओंके बाड़ेको ऊपर उन्मुक्त कर दिया, इन्द्रके साथमें, हे बृहस्पति! तूने जलोंके पूरको बलपूर्वक खोल दिया जो अन्धकारसे सब तरफसे आवृत था।'

हम यहाँ प्रसंगवश इस बातकी तरफ भी ध्यान दे सकते हैं कि जलोंकी उन्मुक्ति जो वृत्रगाथाका विषय है कितनी घनिष्ठताके साथ गौओंकी उन्मुक्तिके साथ संबद्ध है जो अंगिरस् ऋषियोंकी और पणियोंकी गाथाका विषय है तथा यह कि वृत्र और पणि दोनों ही अंधकारकी शक्तियाँ हैं। गौ सत्यकी, सच्चे प्रकाशकर्त्ता सूर्यकी (**सत्यं तत्...सूर्ये**) ज्योतियाँ हैं; और वृत्रके आवरक अंधकारसे उन्मुक्त हुए जलोंको कभी सत्यकी धाराएँ (**ऋतस्य धाराः**) कहा गया है तो कभी '**स्वर्वतीः अपः**' अर्थात् स्वःके, प्रकाशमय सौर लोकके जल।

तो हम देखते हैं कि प्रथम तो अंगिरस् अग्निकी–द्रष्टृसंकल्पकी–शक्ति है, वह ऋषि है जो प्रकाश द्वारा, ज्ञान द्वारा काम करता है। वह अग्निके पराक्रमकी ज्वाला है; उस अग्निके जो महान् शक्तिके रूपमें यज्ञका पुरोहित होनेके लिये और यात्राका नेता बननेके लिये जगत्में उत्पन्न हुआ है, अग्नि जो कि वह पराक्रम है जिसके विषयमें वामदेव (4.1.1) देवोंसे प्रार्थना करता है कि वे उसे यहाँ मर्त्योंमें अमर्त्यके तौरपर स्थापित करें, वह बल है जो महान् कार्य (अरति) को संपन्न करता है। फिर दूसरे स्थानपर

अंगिरस् बृहस्पतिकी शक्ति है या कम-से-कम बृहस्पतिकी शक्तिसे युक्त है, वह बृहस्पति जो सत्य विचारनेवाला और सात किरणोंवाला है, जिसकी प्रकाशमय सात किरणें उस सत्यको धारण करती हैं जिसे वह विचारता है (सप्तधीति), और जिसके सात मुख उस शब्द (मन्त्र)को जपते हैं जो सत्यका प्रकाश करता है, वह देव जिसके विषयमें (4.50.4-5 में) कहा गया है—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि॥
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।.....

'बृहस्पतिने महान् **प्रकाशमेंसे** उच्चतम आकाशमें प्रथम उत्पन्न होकर,— बहुतसे रूपोंमें उत्पन्न होनेवाले, सात मुखवाले, सात रश्मिवाले बृहस्पतिने अपने शब्दसे अंधकारको छिन्न-भिन्न कर दिया। अपने ऋक् तथा स्तुभ् (प्रकाशके मंत्र तथा देवोंके पोषक छंद) वाले गण (सेना) द्वारा उसने वलको अपने शब्दसे भग्न कर दिया।' इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि बृहस्पतिके इस गण या सेनासे (**सुष्टुभा ऋक्वता गणेन**) यहाँ अभिप्राय अंगिरस् ऋषियोंसे ही है जो सत्य मंत्र द्वारा इस महान् विजयमें सहायता करते हैं।

इन्द्रके लिये भी वर्णन आता है कि वह अंगिरस् बनता है या अंगिरस्-गुणोंसे युक्त होता है।[1] 'वह अंगिरसोंके साथ अंगिरस्तम होवे, वृषोंके साथ वृषा (रश्मियों और 'अपः', जलोंके विचारसे, जो कि गौएँ, **गावः, धेनवः** हैं, वृषा है पुंशक्ति या **पुरुष, नृ**), सखाओंके साथ सखा होता हुआ, ऋक्वालोंके साथ ऋक्वाला वह यात्रा करनेवालोंके साथ (**गातुभिः**—जो आत्माएँ **विशाल** और **सत्यस्वरूप** तक पहुँचानेवाले मार्गपर अग्रसर होती हैं उनके साथ) सबसे बड़ा है, वह इन्द्र हमारे फलने-फूलनेके लिये मरुत्वान् (मरुतोंसे संयुक्त) होवे।' यहाँ प्रयुक्त किये गये विशेषण सब अंगिरस् ऋषियोंके अपने निजी विशेषण हैं और यह कल्पना तथा आशाकी गयी है कि अंगिरस्त्व (अंगिरसने) को बनानेवाले जो संबंध या गुण हैं उन्हें इन्द्र अपनेमें धारण कर लेवे। इसी तरह ऋ. 3.31.7 में कहा है—

अगच्छदु विप्रतमः सखीयन् असूदयत् सुकृते गर्भमद्रिः।
ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन् अथाभवद् अङ्गिराः सद्यो अर्चन्॥

---

1. **सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन्।**
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ऋ० 1.100.4

'सबसे अधिक ज्ञान-प्रकाशवाला (**विप्रतमः**, यह 6.11.3 के **'वेपिष्ठो अङ्गिरसां विप्रः'**का संवादी प्रयोग है), मित्र होता हुआ (**सखीयन्**, अंगिरस् महान् युद्धमें मित्र या साथी होते हैं) वह चला (**अगच्छत्**, उस मार्ग पर—**गातुभिः**–जिसे सरमाने खोज निकाला था), पहाड़ीने सुकर्म करनेवालेके लिये अपनी गर्भित वस्तु (**गर्भम्**)को तुरंत प्रस्तुत कर दिया ; जवानों सहित उस मर्दने (**मर्यो युवभिः**– युवा शब्द अजर-अक्षीण शक्तिके भावको भी प्रकट करता है) संपत्ति की पूर्णताको चाहते हुए उसे अधिगत कर लिया (**मखस्यन् ससान**), इस तरह एकदम स्तोत्र गाते हुए (**अर्चन्**) वह अंगिरस् हो गया।'

यह इन्द्र जो अंगिरस्के सब गुणोंको धारण कर लेता है, हमें स्मरण रखना चाहिए, **स्वः** का (**सूर्य** या **सत्य**के विस्तृत लोकका) अधिपति है और यह हमारे पास नीचे उतर आता है अपने दो चमकीले घोड़ों (हरियों) के साथ—जिन घोड़ोंको एक जगह **'सूर्यस्य केतू'** पुकारा गया है अर्थात् सूर्यकी बोधकी या ज्ञानगत दृष्टिकी दो शक्तियाँ—इसलिये उतर आता है कि यह अंधकारके पुत्रोंके साथ युद्ध करे और महान् यात्रामें सहायता पहुँचावे। वेदके गुह्य अर्थके संबंधमें हम जिन परिणामोंपर पहुँचे हैं वे सब यदि ठीक हैं तो इन्द्र अवश्य ही दिव्य मनकी शक्ति (इन्द्र, पराक्रममूर्ति, शक्तिशाली[1] देव) होना चाहिये, उस दिव्य मनकी जो मनुष्यके अंदर जन्म ग्रहण करता है और वहाँ अपनी दिव्य पूर्णताकी प्राप्ति तक **शब्द** (ब्रह्म, मंत्र) तथा **सोम**के द्वारा बढ़ता रहता है। यह वृद्धि प्रकाशके जीतने तथा बढ़नेके द्वारा जारी रहती है, बढ़ती जाती है, जबतक कि इन्द्र अपने-आपको पूर्णतया उस संपूर्ण प्रकाशमय गोसमूहके अधिपतिके रूपमें प्रकट नहीं कर देता जिसे वह 'सूर्यकी आँख' द्वारा देखता है, जबतक कि वह ज्ञानके संपूर्ण प्रकाशोंका स्वामी दिव्य **मन** नहीं बन जाता।

इन्द्र अंगिरस् बननेमें मरुत्वान् होता है अर्थात् मरुतोंवाला या 'मरुत् हैं सहचारी जिसके ऐसा' बनता है, और ये मरुत्, आंधी और विद्युत्के चमकीले तथा रौद्र देव, वायुकी अर्थात् प्राण या जीवनके अधिष्ठातृ-देवकी जबर्दस्त शक्तिको और अग्नि अर्थात् द्रष्टृ-संकल्प की शक्तिको अपने अंदर एक किये हुए हैं। अतएव ये ऋषि, कवि हैं जो ज्ञानसे (अपना) कार्य करते हैं (**कवयो विप्रनापसः**), जब कि ये साथ ही युद्ध करनेवाली शक्तियाँ भी हैं जो दृढ़तया स्थापित वस्तुओंको, कृत्रिम बाधाओंको (**कृत्रिमाणि**

1. पर साथ ही शायद 'चमकीला' भी ; जैसे इन्दु, चन्द्रमा ; इन, तेजस्वी, सूर्य : इन्ध्, प्रदीप्त करना।

रोधांसि), जिनमें **अन्धकार**के पुत्रोंने अपने को सुरक्षित रूपसे जमा रखा है, द्युलोकके प्राणकी और द्युलोककी विद्युत्की शक्तिके द्वारा उखाड़ फेंकती हैं, और वृत्र तथा दस्युओंको जीतनेमें इन्द्रको सहायता देती हैं। गुह्य वेदके अनुसार ये मरुत् वे **जीवन-शक्तियाँ** प्रतीत होते हैं जो मर्त्य-चेतनाके अपने-आपको **सत्य** और **आनन्द** की अमरतामें बढ़ाने या विस्तृत करनेके प्रयत्नमें विचारके कार्य को अपनी वातिक या प्राणिक शक्तियों द्वारा पोषण प्रदान करती हैं। कुछ भी हो, उन्हें भी 6.49.11 में अंगिरस्के गुणोंके साथ काम करते हुए (**अङ्गिरस्वत्**) वर्णित किया गया है—'हे जवानो और ऋषियो तथा यज्ञकी शक्तियो, मरुतो! (दिव्य) शब्दका उच्चारण करते हुए उच्च स्थानपर (या पृथ्वीके वरणीय स्तरपर या पहाड़ी पर, '**अधि सानु पृश्नेः**' जो बहुत संभवतः '**वरस्याम्**'का अभिप्राय है) आओ, शक्तियो जो कि बढ़ती हो, अंगिरस्[1] के समान ठीक-ठीक चलती हो (मार्गपर, **गातु**), उसको भी जो प्रकाशयुक्त नहीं है (**अचित्रम्**, जिसने उषाके चित्र-विचित्र प्रकाशको नहीं पाया है उसे, हमारे साधारण अन्धकारकी रात्रिको) प्रसन्नता देते हो।'[2] यहाँ हम अंगिरस्-कार्यकी उन्हीं विशेषताओंको देखते हैं, अग्निकी नित्य जवानी और शक्ति (**अग्ने यविष्ठ**), शब्दको प्राप्त करना और उसका उच्चारण करना, ऋषित्व (द्रष्टृत्व), यज्ञके कार्यको करना, महान् मार्गपर ठीक-ठीक चलना जो जैसा कि हम देखेंगे, सत्यके शब्दकी ओर, बृहत् और प्रकाशमय आनन्दकी ओर ले जाता है। मरुतोंको ऐसा भी कहा गया है (10.78.5) कि मानो वे वास्तवमें "अपने सामसूक्तों सहित अंगिरस् हों, वे जो सब रूपोंको धारण करते हैं", (**विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः**)।

यह सब कार्य और प्रगति तब संभव बतायी गयी है जब **उषा** आती है। उषाका भी '**अङ्गिरस्तमा**' कहके और साथ ही '**इन्द्रतमा**' भी कहके वर्णन किया गया है। अग्निकी शक्ति, अंगिरस्-शक्ति, अपने-आपको इन्द्रकी विद्युत्में तथा उषाकी किरणोंमें भी व्यक्त करती है। दो

---

1. यह ध्यान देने योग्य है कि सायण यहां इस विचारको पेश करने का साहस करता है कि अंगिरस्का अर्थ है गतिशील किरण (अंग्, गति करना इस धातुसे) या अंगिरस् ऋषि। यदि वह महान् पंडित अपने विचारोंका और भी अधिक साहसके साथ अनुसरण करता हुआ उनके तार्किक परिणाम तक पहुंचनेमें समर्थ होता, तो वह आधुनिक वादका उसके मुख्य मूलभूत अंगोंमें पहलेसे ही पता पा लेता।

2. **आ युवानः कवयो यज्ञियासो मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम्।**
अचित्रं चिद्धि जिन्वथा वृधन्त इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत्॥
ऋ० 6.49.11

ऐसे संदर्भ उद्धृत किये जा सकते हैं जो अंगिरस्-शक्तिके इस पहलूपर प्रकाश डालते हैं। पहला है 7.79. 2-3[1] में—"उषाएँ अपनी किरणोंको द्युलोकके प्रांतों, छोरों तक चमकने देती हैं, वे उन लोगोंके समान मेहनत करती हैं जो किसी कामपर लगाये गये होते हैं। तेरी किरणें अन्धकारको भगा देती हैं, वे **प्रकाशको** ऐसे फैलाती हैं मानो कि सूर्य अपनी दो बाहुओंको फैला रहा हो। उषा हो गयी है (या उत्पन्न हुई है) इन्द्र-शक्तिसे अधिक-से-अधिक पूर्ण (इन्द्रतमा), ऐश्वर्योंसे समृद्ध; और उसने हमारे कल्याण-जीवनके लिये (या भलाई और आनन्दके लिये) ज्ञानकी अन्तःप्रेरणाओं, श्रुतियोंको जन्म दिया है। देवी, द्युलोककी पुत्री, अङ्गिरस-पनेसे अधिकसे अधिक भरी हुई (अङ्गिरस्तमा) उषा अच्छे कामोंको करनेवालेके लिये अपने ऐश्वर्योंका विधान करती है।" वे ऐश्वर्य जिनसे उषा समृद्धिशालिनी है **प्रकाश**के ऐश्वर्य और **सत्य**की **शक्ति**के सिवाय और कुछ नहीं हो सकते। इन्द्र-शक्तिसे अर्थात् दिव्य ज्ञानदीप्त मनकी शक्तिसे परिपूर्ण वह उषा उस दिव्य मनकी अन्तःप्रेरणाओं, श्रुतियोंको (**श्रवांसि**) देती है जो श्रुतियाँ हमें आनन्दकी तरफ ले जाती हैं। अपनेमें विद्यमान ज्वालामय, देदीप्यमान अंगिरस्-शक्तिके द्वारा वह अपने खजानोंको उनके लिये प्रदान करती और विधान करती है जो महान् कार्यको ठीक ढंगसे करते हैं और इस प्रकार मार्गपर ठीक तरीकेसे चलते हैं—(**इत्था नक्षन्तो अङ्गिरस्वत्**)।

दूसरा संदर्भ 7-75 में है—"द्युलोकसे उत्पन्न हुई उषाने सत्यके द्वारा (अन्धकारके आवरणको) खोल दिया है और वह विशालता (**महिमानम्**) को व्यक्त करती हुई आती है, उसने द्रोहों और अंधकार (**द्वहस्तमः**) के तथा उस सबके जो अप्रिय (**अजुष्टं**) है, आवरणको हटा दिया है, अंगिरस्-पनेसे अधिक-से-अधिक परिपूर्ण वह (महान् यात्राके) मार्गोंको दिखलाती है।१। आज हे उषः! हमें महान् आनन्द की यात्राके लिये (**महे सुविताय**) जगाओ, सुखभोगकी महान् अवस्थाके लिये (अपने ऐश्वर्यको) विस्तारित करो, हममें अन्तःप्रेरित ज्ञानसे पूर्ण (**श्रवस्युम्**), विविध दीप्तिवाले (**चित्रम्**) धनको धारण कराओ, हे हम मर्त्योंमें मानुषि और देवि! ।२। ये हैं दृश्य उषाकी दीप्तियाँ जो विविधतया दीप्त (**चित्राः**) और अमर रूपमें

---

1. **व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।**
सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू॥
अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि॥ ऋ० 7.79.2-3

आयी हैं, दिव्य कार्योंको जन्म देती हुई वे अपने-आपको प्रसारित करती हैं, अन्तरिक्षके कार्योंको उनसे भरती हुई,"—

जनयन्ता दैव्यानि व्रतानि, आपृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः[1]।

हम फिर अंगिरस्-शक्तिको यात्रासे सम्बन्धित पाते हैं, अन्धकारको दूर करने द्वारा तथा उषाकी ज्योतियोंको लाने द्वारा इस यात्राके मार्गोंका प्रकाशित होना पाते हैं। पणि प्रतिनिधि हैं उन हानियोंके (**द्रुहः**, क्षतियाँ या वे जो क्षति पहुँचाते हैं) जो दुष्ट शक्तियों द्वारा मनुष्यको पहुँचायी जाती हैं, अन्धकार उनकी गुफा है; यात्रा वह है जो प्रकाश और शक्ति और ज्ञानके हमारे बढ़ते हुए घनके द्वारा हमें दिव्य सुख और अमर आनन्दकी अवस्थाकी ओर ले जाती है। उषाकी अमर दीप्तियाँ जो मनुष्यमें दिव्य कार्यों (व्रतों) को जन्म देती हैं और पृथ्वी तथा द्यौके बीचमें स्थित अन्तरिक्ष के कार्योंको (अर्थात्, उन प्राणमय स्तरोंके व्यापारको जो वायुसे शासित होते हैं और हमारी भौतिक तथा शुद्ध मानसिक सत्ताको जोड़ते हैं) उनसे (अपने दिव्य कार्योंसे) आपूरित कर देती हैं वे ठीक ही अंगिरस्-शक्तियाँ हो सकती हैं। क्योंकि वे (अंगिरस्) भी दिव्य कार्योंको अक्षत बनाये रखकर (**अमर्धन्तो दैव्या व्रतानि**) सत्यको प्राप्त करते और बनाये रखते हैं। निश्चय ही यह उनका (अंगिरसोंका) व्यापार है कि वे दिव्य उषाको मर्त्य (मानुष्र) प्रकृतिके अन्दर उतार लावें जिससे वह दृश्य (प्रकट) देवी अपने ऐश्वर्योंको उँडेलती हुई वहाँ उपस्थित हो सके, जो एक साथ ही देवी और मानुषी है, (**देवि मर्तेषु मानुषि**), देवी जो मर्त्योंमें मानुषी होकर आयी है।

---

1. **व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाऽऽविष्कृण्वाना महिमानमागात्।**
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः॥
महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्र यन्धि।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम्॥
एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः॥ (ऋ० 7.75.1-3)

सत्रहवाँ अध्याय

सात-सिरोंवाला विचार, स्वः और दशग्वा ऋषि

तो वैदिक मंत्रोंकी भाषा अंगिरस् ऋषियोंके द्विविध रूपका प्रतिपादन करती है। एकका संबंध वेदके बहिरंगसे है; इसमें **सूर्य, ज्वाला, उषा, गौ, अश्व, सोमसुरा,** यज्ञिय **मन्त्र** ये सब एक-दूसरेसे गुंथकर एक प्रकृतिवादसुलभ रूपक बनाते हैं, दूसरे अंतरंग रूपमें इस रूपकमेंसे इसका आन्तरिक आशय निकाला जाता है। **अंगिरस् ज्वाला**के पुत्र हैं, **उषा**की ज्योतियाँ हैं, **सोमरस** पीनेवाले और देनेवाले हैं, मंत्रके गायक हैं, सदा युवा रहनेवाले और ऐसे वीर हैं कि **सूर्य, गौओं** एवं **घोड़ों**को और सारे ही खजानों-को अंधकारके पुत्रोंके पंजेसे हमारे लिये छीन लाते हैं। पर साथ ही ये **सत्य**के द्रष्टा, **सत्य**के शब्दको पा लेनेवाले और उसके बोलनेवाले हैं, और **सत्य**की शक्तिके द्वारा ये **प्रकाश** और **अमरता**के उस विशाल लोकको हमारे लिये जीत लाते हैं जिसका वेदमें इस रूपमें वर्णन हुआ है कि वह **बृहत्** है, **सत्य** है, **ऋत** है और उस **ज्वाला**का स्वकीय घर है जिसके कि ये अंगिरस् पुत्र हैं। यह भौतिक रूपक और ये आध्यात्मिक निर्देश आपसमें बड़ी घनिष्ठताके साथ गुंथे हुए हैं और ये एक दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते।

इसलिये हम सामान्य बुद्धिके आधार पर ही इस परिणाम पर पहुँचनेके लिये बाध्य होते हैं कि वह **ज्वाला** जिसका कि **ऋत** और **सत्य** अपना घर है स्वयं उस ऋत और सत्यकी ही **ज्वाला** है, कि वह **प्रकाश** जो सत्यसे और सत्य विचारकी शक्तिसे जीतकर प्राप्त किया जाता है सिर्फ भौतिक प्रकाश नहीं है, वे गौएं जिन्हें **सरमा सत्य**के पथ पर चलकर पाती है केवल भौतिक पशु नहीं हैं, **घोड़े** केवल द्राविड़ लोगोंकी भौतिक पशुओंकी वह संपत्ति नहीं हैं जिसे आक्रांता आर्य-जातियोंने जीतकर अपने अधीन कर लिया था, न ही ये सब केवलमात्र भौतिक **उषा**, इसके प्रकाश और इसकी तेजी से गति करती हुई किरणोंके ही रूपकात्मक वर्णन हैं, और न वह अंधकार जिसके कि पणि तथा वृत्र रक्षक हैं केवल भारतकी या उत्तरीय ध्रुवकी रात्रियोंका अंधकारमात्र है। हम तो अब यहाँ तक बढ़ चुके हैं कि इस

विषयमें एक युक्तियुक्त कल्पना प्रस्तुत करनेमें समर्थ हैं, जिसके द्वारा हम इस सब आलंकारिक रूपकके असली अभिप्रायको सुलझा सकते हैं और इन ज्योतिर्मय देवों तथा इन दिव्य प्रकाशमान ऋषियोंकी (अर्थात् अंगिरसोंकी) वास्तविक दिव्यताको खोज निकाल सकते हैं।

अंगिरस् ऋषि एक साथ दिव्य और मानव दोनों प्रकारके द्रष्टा हैं। वेदमें ऐसा द्विविध स्वरूप अपने-आपमें केवल इन ऋषियोंके लिये ही असाधारण या विशिष्ट धर्म नहीं है। वैदिक देवताओंकी भी दो प्रकारकी क्रिया होती है; ये दिव्य हैं और अपने स्वरूपमें पहिलेसे विद्यमान हैं, पर वे मर्त्य स्तर पर अपनी क्रिया करते हुए मानव हो जाते हैं जब कि ये मनुष्यके अन्दर महान् उत्थानके लिये क्रमशः बढ़ रहे होते हैं। **उषा** देवीकी स्थितिका वर्णन करते हुए यह भाव बहुत सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया गया है, 'देवी जो मर्त्योंके अन्दर मानुषी है', **(देवि मर्तेषु मानुषि)**; पर अंगिरस् ऋषियोंके रूपकमें यह द्विविध स्वरूप एक परम्पराके द्वारा और अधिक पेचीदा हो गया है, उस परम्पराके अनुसार ये मानव पितर हैं, **प्रकाशके, मार्गके और लक्ष्यके** अन्वेषक हैं। हमें देखना होगा कि यह पेचीदगी वैदिक संप्रदाय और वैदिक प्रतीकवादकी हमारी कल्पना पर क्या प्रभाव डालती है।

अंगिरस् ऋषि सामान्यतः संख्यामें सात वर्णित किये गये हैं, वे **'सप्त विप्राः'** हैं जो पौराणिक परम्परा[1] द्वारा हम तक सप्तर्षि (सात ऋषियों)के रूपमें पहुंचे हैं और जिन्हें भारतीय नक्षत्र-विद्याने बृहत् ऋक्षके तारा-मण्डलमें बैठा दिया है। पर साथ ही उन्हें 'नवग्वा' और 'दशग्वा'के रूपमें भी वर्णित किया गया है। यद्यपि ऋ. 6.22.2 में उन प्राचीन पितरोंके विषयमें कहा गया है कि सात द्रष्टा जो नवग्वा थे, **(पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासः)** तो भी 3.39.5में हम नवग्वा तथा दशग्वा इन दो विभिन्न श्रेणियोंका उल्लेख पाते हैं, जिनमें दशग्वा संख्यामें दस हैं और नवग्वा शायद नौ हैं, यद्यपि इनके नौ होनेके बारेमें स्पष्ट वर्णन नहीं है—

सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥

"जहाँ अपने सखाओं नवग्वाओंके साथ एक सखा इन्द्रने गौओंका अनुसरण करते हुए दस दशग्वाओंके साथ उस सत्यको पा लिया, और उस सूर्यको भी पा लिया जो अंधकारमें रह रहा था।" दूसरी ओर ऋ. 4.51.4

---

1. यह आवश्यक नहीं है कि सप्तर्षियोंके जो नाम पुराणमें आते हैं वे वही हों जो वैदिक परम्परामें हैं।

में हमें अंगिरसोंके बारेमें एक सामूहिक, एकवचनात्मक वर्णन मिलता है कि ये सात चेहरोंवाले या सात मुखोंवाले, नौ किरणोंवाले और दस किरणोंवाले हैं—(**नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये**)। 10.108.8में हमें एक दूसरे ऋषि 'अयास्य'का नाम मिलता है जो नवग्वा अंगिरसोंके साथ जुड़ा हुआ है।[1] 10.67में इस 'अयास्य'के लिये कहा गया है कि यह हमारा पिता है जिसने सत्यमेंसे उत्पन्न होनेवाले सात सिरोंके महान् विचारको पाया है और यह अयास्य इन्द्रके लिये स्तुति-मंत्रोंका गान करता[2] है। इसके अनुसार कि नवग्वा सात या नौ हैं, अयास्य आठवां या दसवां ऋषि होगा।

परम्परा यह बताती है कि अंगिरस् ऋषियोंकी दो श्रेणियोंका पृथक्-पृथक् अस्तित्व है, एक तो नवग्वा जिन्होंने नौ महीने यज्ञ किया और दूसरे दशग्वा जिनके यज्ञका कार्यकाल दस महीने रहा। इस व्याख्याके अनुसार हमें नवग्वा और दशग्वाको इस रूपमें लेना होगा कि ये 'नौ गौओं वाले' और 'दस गौओं वाले' हैं और प्रत्येक गौ तीस उषाओंकी द्योतक है जिनसे मिलकर यज्ञके वर्षका एक महीना बनता है। परन्तु कम-से-कम एक संदर्भ तो ऋग्वेदका ऐसा है जो कि ऊपरसे देखनेमें इस परम्परागत व्याख्याके सीधा विरोधमें जाता है। क्योंकि 5.45की 7वीं ऋचा में और फिर 11वींमें यह कहा गया है कि वे नवग्वा थे, न कि दशग्वा, जिन्होंने दस महीने यज्ञ किया या स्तुति-मंत्रोंका गान किया। यह ७वीं ऋचा इस प्रकार है—

अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन दश मासो नवग्वाः।
ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार॥

"यहाँ हाथसे हटाये हुए पत्थरने आवाजकी (या वह हिला), जिससे कि **नवग्वा दश मास** तक मंत्रपाठ करते रहे। सत्यकी ओर यात्रा करती हुई सरमाने गौओंको पा लिया; अंगिरस्ने सब वस्तुओंको सत्य कर दिया।" और ११वीं ऋचामें इस कथनको फिर दोहराया गया है—

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन् दश मासो नवग्वाः।
अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः॥

'मैं तुम्हारे लिये जलोंमें (अर्थात् सात नदियोंमें) उस विचारको रखता हूं जो स्वर्गको जीतकर हस्तगत कर लेता है[3], (यह एक बार फिर उस

1. **एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।** (10.108.8)
2. **इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।**
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्॥ (10.67.1)
3. सायणने इसका अर्थ यह लिया है कि 'मैं जलोंके निमित्तसे स्तुति करता हूं' अर्थात् इसलिये कि वर्षा हो,—'धियं स्तुतिम् अप्सु अप्निमित्तं···दधिषे धारयामि।' पर

सात सिरोंके विचारका वर्णन आ गया जो **सत्यसे** उत्पन्न हुआ है और जिसे **अयास्यने** पाया है), जिसके द्वारा **नवग्वाओंने दस महीनों को** पार किया। इस विचारके द्वारा हम देवोंको अपने रक्षकके रूपमें पा सकें, इस विचारके द्वारा हम पापका अतिक्रमण कर सकें।' कथन बिल्कुल स्पष्ट है। सायण-ने अवश्य सातवें मन्त्रकी व्याख्या करते हुए एक हलका सा प्रयत्न यह किया है कि 'दश मास' दस महीनेको उसने विशेषण मान लिया है और फिर उसका अर्थ किया है 'दस महीनोंवाले अर्थात् दशग्वा', पर उसने भी इस असंभवसे अर्थको वैकल्पिक रूपमें ही ग्रहण किया है और ग्यारहवीं ऋचामें इसे बिल्कुल छोड़ दिया है, वैकल्पिक रूपमें भी नहीं लिया है।

तो क्या हम यह अनुमान करें कि इस सूक्तका कवि परम्पराको भूल गया था और इसलिये वह दशग्वा तथा नवग्वामें गड़बड़ कर रहा था? ऐसी कोई कल्पना मानने योग्य नहीं है। कठिनाई हमारे सामने इसलिये उपस्थित होती है कि हम यह समझ बैठते हैं कि वैदिक ऋषियोंके मनमें नवग्वा तथा दशग्वा ये अंगिरस् ऋषियोंकी दो अलग-अलग श्रेणियाँ थीं। परन्तु इसकी अपेक्षा प्रतीत यह होता है कि वे दोनों अंगिरस्त्वकी (अंगि-रसपनेकी) दो अलग-अलग शक्तियाँ थीं और ऐसी अवस्थामें नवग्वा ऋषि ही दशग्वा हो सकते थे, यदि ये अपने यज्ञके कालको बढ़ाकर नौके स्थान पर दस महीनेका कर लेते। सूक्तमें 'दश मासो अतरन्' इस प्रयोगसे यह भाव प्रकट होता है कि पूरे दस महीनेके समयको पार कर लेनेमें कोई कठिनाई सामने आती थी। प्रतीत होता है कि यही काल था जिसके बीच-में अन्धकारके पुत्रोंको यज्ञ पर आक्रमण करनेका सामर्थ्य या हौसला हो सकता था; क्योंकि यह सूचित किया गया है कि ऋषि दस महीनोंको केवल तभी पार कर सकते हैं जब वे उस विचारको अपने अन्दर धारण कर लेते हैं जो 'स्वः' अर्थात् सौर लोकको जीत लानेवाला है, पर एक बार जब ये इस विचारको पा लेते हैं तब निश्चित ही ये देवताओंकी छत्रच्छायामें आ जाते हैं और पापके आक्रमणोंसे पार हो जाते हैं, पणियों और वृत्रोंके द्वारा हो सकनेवाली क्षतियोंसे परे हो जाते हैं।

यह **'स्वः'**को जीत लानेवाला विचार (**स्वर्षा धीः**) निश्चयसे वही है जो कि सात-सिरोंवाला विचार (**सप्तशीर्ष्णी धीः**) है, सात-शिरोंवाला वह

यहां कारक अधिकरण-बहुवचन है और 'दधिषे' का अर्थ है 'मैं रखता हूं' या थामता हूं' अथवा अध्यात्मपरक अभिप्रायको लें तो 'विचारता हूं' या 'विचार में थामता हूं' अर्थात् ध्यान करता हूं'।' 'धी' की तरह 'धिषणा' का अर्थ है 'विचार'; इस प्रकार 'धियं दधिषे' का अर्थ होगा 'मैं विचारता हूं' या 'विचार का ध्यान करता हूं।'

विचार जो सत्यमेंसे पैदा हुआ है और जिसे नवग्वाओंके साथी अयास्यने खोज निकाला है। क्योंकि हमें बताया गया है कि अयास्य इसके द्वारा 'विश्वजन्य' हो गया और सब लोकोंके जन्मोंका आलिंगन करते हुए उसने एक चौथे लोकको या चतुर्व्यूढ लोकको उत्पन्न किया और यह चौथा लोक निचले-तीन लोकों—द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी—से परेका अतिमानस लोक ही होना चाहिये जो घोरके पुत्र कण्वके अनुसार वह लोक है जहाँ मनुष्य वृत्र का वध कर चुकनेके बाद द्यावा-पृथिवीको पार करके पहुंचते हैं। इसलिये यह चौथा लोक 'स्वः' ही होगा। अयास्यका सात-सिरोंवाला विचार उसे 'विश्वजन्य' बन जाने योग्य बना देता है, जिसका संभवतः यह अभिप्राय है कि वह आत्माके सब लोकों या जन्मोंको अधिगत (प्राप्त) कर लेता है, और वह विचार उसे इस योग्य कर देता है कि वह किसी चौथे लोक (स्वः)को प्रकट या उत्पन्न कर सके (**तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्यः**), और वह विचार भी जो सात नदियोंमें स्थापित किया गया है और जिससे नवग्वा ऋषि दस महीनोंको पार कर लेने योग्य हो जाते हैं 'स्वर्षा' है अर्थात् वह 'स्वः' पर अधिकार करा देता है। वे दोनों स्पष्टतया एक ही हैं। तो क्या इससे हम इस परिणाम पर नहीं पहुँचते कि वह अयास्य ही है जिसके नवग्वाके साथ आ मिलनेसे नवग्वाओंकी संख्या बढ़कर दस हो जाती है, और जो 'स्वः'को जीत लेनेवाले सात-सिरोंवाले विचारकी अपनी खोजसे उन्हें इस योग्य बना देता है कि वे नौ महीनेके यज्ञको लंबा करके दसवें महीने तक ले जा सकें? इस प्रकार वे दस दशग्वा हो जाते हैं। इस प्रकरणमें हम इसपर भी ध्यान दे सकते हैं कि सोमके मदका, जिससे इन्द्र '**स्वः**'की **शक्ति** (स्वर्णर)को प्रकट करता है या बढ़ाता है, इस रूपमें वर्णन हुआ है कि वह दस किरणोंवाला है और प्रकाशक है (**दशग्वं वेपयन्तम्** 8.12.2)।

यह परिणाम 3.39.5 के संदर्भसे, जिसे हम पहले ही उद्धृत कर आये हैं, पूरे तौरसे पुष्ट हो जाता है। क्योंकि वहाँ हम पाते हैं कि इन्द्र खोयी हुई गौओंके पद-चिह्नोंका अनुसरण तो नवग्वाओंकी सहायतासे करता है, पर यह केवल दस दशग्वाओंकी मददसे ही हो पाता है कि वह उस अनुसरणके उद्देश्यमें सफल होता है और उस **सत्यको, सत्यं तत्**, उस सूर्यको जो अन्धकारमें पड़ा हुआ था, पा लेता है। दूसरे शब्दोंमें जब नौ महीने का यज्ञ लंबा होकर दसवें महीनेमें पहुंच जाता है, जब नवग्वा दसवें ऋषि अयास्यके सात-सिरोंवाले विचारके द्वारा दस दशग्वा बन जाते हैं, तभी 'सूर्य' मिल पाता है और 'स्वः'का प्रकाशमान लोक खुल जाता है तथा जीत

लिया जाता है। 'स्वः'की यह विजय ही यज्ञका और अंगिरस् ऋषियोंसे पूर्ण किये जानेवाले महान् कार्यका लक्ष्य है।

पर महीनोंके अलंकारका क्या अभिप्राय है? क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह एक अलंकार है, एक रूपक है; इसलिये वर्ष यहाँ प्रतीकरूप है और महीने भी प्रतीकरूप हैं[1]। यह एक वर्षके चक्करमें हो पाता है कि खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौएं फिरसे प्राप्त होती हैं, क्योंकि 10.62.2 में हम स्पष्ट कथन पाते हैं—

ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्।

"'सत्यके द्वारा, एक वर्षके चक्करमें', अथवा सायणने जैसी इसकी व्याख्याकी है कि 'उस यज्ञके द्वारा जो एक वर्ष तक चला', उन्होंने वलका भेदन किया।" यह संदर्भ अवश्य उत्तरीय ध्रुववाली कल्पनाका अनुमोदन करता प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ सूर्यके दैनिक नहीं, वार्षिक प्रत्यावर्तन का उल्लेख है। लेकिन अलंकारके इस बाह्य रूपसे हमारा कोई संबंध नहीं; न ही इसका प्रमाणित हो जाना हमारी अपनी कल्पना पर किसी प्रकारसे असर डालता है; क्योंकि यह बड़ी अच्छी प्रकार हो सकता है कि उत्तरीय ध्रुवकी लंबी रात्रि, वार्षिक सूर्योदय तथा अविच्छिन्न उषाओंके अद्भुत अनुभवको रहस्यवादियोंने आत्मिक रात्रि तथा इसमेंसे कठिनतासे होनेवाले प्रकाशोदयका अलंकार बना लिया हो। पर समयका, महीनों तथा वर्षोंका यह विचार प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त किया गया है, यह बात वेदके दूसरे संदर्भोंसे स्पष्ट होती है, विशेषकर बृहस्पतिको कहे गये गृत्समद-के सूक्त 2.24 से।

इस सूक्तमें बृहस्पतिका वर्णन इस रूपमें किया गया है कि उसने गौओं-को हांका, दिव्य शब्दके द्वारा, **ब्रह्मणा**, वलको तोड़ डाला, अन्धकारको छिपा दिया और **'स्वः'**को सुदृश्य कर दिया[2]। इसका पहिला परिणाम यह होता है कि वह कुआं बलपूर्वक तोड़ा जाकर (**यमोजसातृणत्**) खुल जाता है, जिसके मुंह पर चट्टान पड़ी हुई है और जिसकी धाराएं शहदकी, मधुकी, सोमके माधुर्यकी हैं, (**'अश्मास्यम् अवतं मधुधारम्'**, 2.24.4)। चट्टानसे ढका यह शहदका कुआं अवश्य वह **आनन्द** है या दिव्य मोक्षसुख है जो आनन्दमय अत्युच्च त्रिगुणित लोकमें रहता है, यह त्रिगुणित लोक

---

1. देखो कि पुराणों में युग, पल, मास आदि सब प्रतीकरूप हैं और यह कहा गया है कि मनुष्य का शरीर संवत्सर है।
2. **उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः।** (ऋ. 2.24.3)

है पौराणिक संप्रदायके **सत्य, तपस्** और **जन**-लोक जो **सत्, चित्-तपस्** और **आनन्द** इन तीन उच्चतम तत्त्वों पर आश्रित हैं। इन तीनके अधोभागमें चौथा वेद का 'स्वः' और उपनिषद् और पुराणोंका 'महः' है, जो सत्यका लोक है।[1] इन चारोंसे मिलकर चतुर्गुणित चौथा लोक बनता है, (तुरीय, नीचेके तीन लोकोंकी अपेक्षासे भी चौथा)। ऋग्वेदमें इन चारका वर्णन इस रूपमें आया है कि ये चार अत्युच्च तथा गुह्य स्थान हैं और 'उच्चतर चार नदियों'के आदिस्रोत हैं। तो भी यह ऊपरका चतुर्गुणित लोक कहीं-कहीं दोमें विभक्त हुआ प्रतीत होता है, 'स्वः' जिसका अधोभाग है और 'मयः' या दिव्य मोक्षसुख शिखर है, जिससे कि आरोहण करते हुए आत्माके पांच लोक या जन्म (दो ये और तीन निम्नतर) हो जाते हैं। अन्य तीन नदियां सत्ताकी तीन निम्नतर शक्तियाँ हैं, जिनसे तीन निम्न लोकोंके तत्त्व निर्मित होते हैं।

इस रहस्यमय शहदके कुएंको वे सब पीते हैं जो 'स्वः'को देखनेमें समर्थ होते हैं और वे इसके लहराते हुए माधुर्यके स्रोतको खोलकर एक साथ कई धाराओंमें प्रवाहित कर देते हैं :—

तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥ 2.24.4 ॥

एक साथ प्रवाहित की गयी बहुत-सी धाराएँ वे ही सात नदियाँ हैं जो इन्द्रके द्वारा वृत्रका वधकर चुकनेके बाद पर्वतसे नीचेकी ओर बहाई जाती हैं। ये सत्यकी धाराएँ या नदियाँ हैं (ऋतस्य धाराः), और ये हमारी कल्पनाके अनुसार सचेतन सत्ताके उन सात तत्त्वोंकी द्योतक हैं जो **सत्य** और **आनन्द**में अपनी दिव्य परिपूर्णतामें प्रतिष्ठित होते हैं। यही कारण है कि सात-सिरोंवाले विचारको (सात-सिरोंवाले विचारसे अभिप्राय है दिव्य सत्ताका ज्ञान जिसके सात सिर या शक्तियाँ हैं, या बृहस्पतिका वह ज्ञान जो सात-किरणोंवाला है, '**सप्तगुम्**') जलोंमें, सात नदियोंमें सुदृढ़ करना या विचार द्वारा स्थापित करना होता है, भाव यह है कि दिव्य

---

1. उपनिषद् तथा पुराणोंमें 'स्व' और 'द्यौ' में कोई फर्क नहीं किया गया है। इसलिये यह आवश्यक हुआ कि 'सत्यके लोक' के लिये एक चौथा नाम ढूँढ़ा जाय और यह 'महः' मिल गया है, जिसके विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् में यह कहा है कि महाचमस्यने इसे चौथी व्याहृतिके रूपमें जाना था, जब कि शेष तीन व्याहृतियां थीं, स्वः, भुवः और भूः अर्थात् वेदके द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी। (देखो, तैत्तिरीय 5.1— **भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं महाचमस्यः प्रवेदयते मह इति।**)

चेतनाके सात रूपोंको दिव्य सत्ताके सात रूपों या गतियोंमें रखना होता है; (**घियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षाम्**) 'मैं स्वर्विजयी विचारको जलोंमें रखता हूँ।'

स्वर्द्रष्टाओं (**स्वर्दृशः**) की आंखोंके सामने 'स्वः' के सुदृश्य हो जानेसे और उनके मधुके कुएँको पीनेसे तथा उसमेंसे दिव्य जलोंको बाहर प्रवाहित करनेसे यह होता है कि नये लोक या सत्ताकी नयी अवस्थाएँ प्रकाशमें आ जाती हैं, यह बात हमें अगली ऋचा 2.24.5 में स्पष्ट रूपसे कही मिलती है—

सना ता काचिद् भुवना भवीत्वा माद्भिः शरद्भि र्दुरो वरन्त वः।
अयतन्ता चरतो अन्यदन्यदिद् या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः॥

'ये कोई सनातन लोक (सत्ताकी अवस्थाएँ) हैं जिन्हें आविर्भूत होना है; महीनों और वर्षोंके द्वारा उनके द्वार तुम्हारे लिये बन्द[1] हैं (या खुले हैं); बिना ही प्रयत्नके एक (लोक) दूसरे में चला जाता है, और इन्हींको ब्रह्मणस्पतिने ज्ञानके लिये व्यक्त किया है।' ये चार (या दो) सनातन लोक हैं जो 'गुहा'में छिपे हुए हैं, सत्ताके ये गुह्य, अनभिव्यक्त या पराचेतन अंश हैं जो यद्यपि अपने-आपमें सत्ताकी सनातन रूपसे विद्यमान अवस्थाएँ (सना भुवना) हैं पर हमारे लिये ये असत् हैं और भविष्यमें हैं, इन्हें सद्रूपमें लाया जाना या रचा जाना है। इसलिये वेदमें स्वःके लिये कहीं तो यह कहा गया है कि उसे दृश्य किया गया (जैसे यहाँ, **व्यचक्षयत् स्वः**) या ढूंढ़ लिया गया और हस्तगत कर लिया गया (**अविदत्, असनत्**), और कहीं यह कहा गया है कि उसे रचा गया (**भू, कृ**)।

ऋषि कहता है कि वे गुह्य सनातन लोक **समय**की गतिके द्वारा, महीनों और वर्षों द्वारा, हमारे लिये बन्द पड़े हैं; इसलिये स्वभावतः हमें **समय**की गति द्वारा ही इन्हें अपने अन्दर खोज लेना है, प्रकाशित करना है, जीतना है, रचना है, फिर भी, एक अर्थमें, समयके विरोधमें जाकर। मुझे लगता है कि एक आन्तरिक या आध्यात्मिक **समय**में होनेवाला यह विकास वही है जिसे यज्ञिय वर्षके और दस महीनेके प्रतीकोंसे प्रकट किया गया है, जो

---

1. सायणका कहना है कि यहां 'वरन्त' का अर्थ है 'खुले हुए' जो बिल्कुल सम्भव है। पर आम तौर से 'वृ' का अर्थ भेड़ना, बन्द करना, ढक देना यही होता है, विशेषकर तब जब कि इसका प्रयोग उस पहाड़ी के द्वारों के लिये आता है जहाँसे नदियां निकलकर बहती हैं और गौएं बाहर आती हैं; वृत्र दरवाजों को बन्द करनेवाला है। खोलना अर्थ 'वि-वृ' और 'अप-वृ' का होता है। तो भी यदि यहां 'वरन्त' का अर्थ खोलना ही हो, तो उससे हमारा पक्ष और अधिक प्रबल ही होता है।

वर्ष और महीने उससे पहले बिताने होते हैं जब कि आत्माका प्रकाशक मन्त्र (ब्रह्म) सात-सिरोंवाले उस स्वर्विजयी विचारको ढूँढ़ लेने योग्य होता है जो अन्तमें चलकर हमें वृत्र और पणियोंकी सब क्षतियोंसे पार कर देता है।

नदियों और लोकोंका सम्बन्ध हमें 1.62 में स्पष्ट रूपसे मिलता है, जहाँ इन्द्रके विषयमें यह वर्णन आया है कि वह नवग्वाओंकी सहायतासे पर्वतको तोड़ता है और दशग्वाओंकी सहायतासे वलका भेदन करता[1] है। अंगिरस् ऋषियोंसे स्तुति किया गया **इन्द्र उषा, सूर्य** और गौओंके द्वारा अन्धकारको खोल देता है, वह पार्थिव पर्वतकी ऊपरकी चौरस भूमिको फैलाकर विस्तृत कर देता है और द्यौके उच्चतर लोकको थाम लेता है[2]। क्योंकि चेतनाके उच्चतर स्तरोंको खोल देनेका परिणाम होता है भौतिक स्तरके विस्तारका बढ़ना और मानसिक स्तरकी उच्चताका और ऊँचा होना। ऋषि नोधा आगे कहता है, "यह सचमुच उसका सबसे अधिक महान् कार्य है, उस कर्ताका सुन्दरतम कर्म है **(दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः)** कि चार उच्चतर नदियाँ मधुकी धाराएँ बहाती हुई कुटिलताके दो लोकोंको पोषण देती हैं।"

उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः। (1.62.5)

यह फिर वही मधुकी धाराओंवाला कुआँ आ गया जो अपनी अनेक धाराओंको एक साथ नीचे प्रवाहित करता है, ये धाराएँ दिव्य सत्ता, दिव्य चेतनाशक्ति, दिव्य आनन्द, दिव्य सत्यकी वे चार उच्चतर नदियाँ हैं जो अपने माधुर्यके प्रवाहके साथ मन और शरीरके दो लोकोंके अन्दर उतरकर उन्हें पालती-पोसती हैं। ये दो लोक, ये रोदसी, साधारणतः कुटिलताके अर्थात् अनृतके लोक हैं—ऋत या सत्य सरल है और अनृत या असत्य कुटिल है—क्योंकि ये लोक अदिव्य शक्तियों, वृत्रों तथा पणियों, अन्धकार तथा विभक्तताके पुत्रोंसे होनेवाली क्षतियोंके लिये खुले होते हैं। ये अब ऐसे सत्य एवं ज्ञानके रूप, **वयुना**, बन जाते हैं जो बाह्य कर्मके साथ संगति रखता है। गृत्समदके **'चरतो अन्यद् अन्यद्'** और **'या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः'**—इन वचनोंका अभिप्राय स्पष्टतः यही है। ऋषि आगे चलकर अयास्यके उस कर्मका परिणाम बताता है जिसे वह पृथिवी और द्यौके सत्य, सनातन तथा एकीभूत रूपको खोलकर प्रकट करनेके लिये करता है।

---

1. **स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो नवग्वैः।**
   सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः॥ (1.62.4)
2. **गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।**
   वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः॥ (1.62.5)

"अयास्यने अपने स्तुतिमंत्रोंसे सनातन और एक घोंसलेमें रहनेवाले दोको खोलकर उनके द्विविध रूपों (दिव्य तथा मानवीय?) में प्रकट कर दिया, पूर्ण रूपसे कार्यसिद्धि करते हुए उसने पृथिवी और द्यौको (व्यक्त हुए पराचेतनके, 'परमं गुह्यम्'के) सर्वोच्च व्योममें थाम लिया, जैसे भोक्ता अपनी दो पत्नियोंको।"[1] आत्मिक जीवनके सनातन आह्लादमें भरकर आत्माका अपनी दिव्य रूपमें परिणत हुई मानसिक तथा शारीरिक सत्तामें रस लेनेका इससे अधिक स्पष्ट और सुन्दर आलंकारिक वर्णन नहीं हो सकता था।

ये विचार और इसमें आये कई वाक्यांश बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे गृत्समदके सूक्तमें आते हैं। नोधा **रात्रि** और **उषा**के, काली भौतिक चेतना तथा चमकीली मानसिक चेतनाके संबंधमें कहता है कि वे फिर नवीन रूपमें जन्म लेकर (**पुनर्भुवा**) द्यौ और पृथिवीके इधर-उधर अपनी स्वकीय गतियोंसे एक दूसरीके अन्दर चली जाती हैं[2], **स्वेभिरेवैः.....चरतो अन्यान्या;** एक ऐसी सनातन मित्रतामें आबद्ध होकर एक दूसरीके अंदर चली जाती हैं जिस मित्रताको उनका पुत्र उच्च कार्यसिद्धि द्वारा करता है और वह उन्हें इस प्रकार थामता है। **सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः सूनुर्दाधार शवसा सुदंसाः ।९।** नोधाके सूक्तकी ही तरह गृत्समदके सूक्तमें भी अंगिरस् सत्यकी प्राप्ति और असत्यके अनुसंधान द्वारा **'स्वः'** अधिगत करते हैं,—उस सत्यको अधिगत करते हैं जहाँसे वे मूलतः आये हैं और जो सभी दिव्य **'पुरुषों'**का 'स्वकीय घर' है। 'वे जो लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते हैं और पणियोंकी निधिको पा लेते हैं, उस परम निधिको जो गुहामें छिपी पड़ी थी; वे ज्ञानको अपने अन्दर रखते हुए और अनृतोंको देखते हुए फिर उठकर वहाँ चले जाते हैं जहाँसे वे आये थे और उस लोकमें प्रविष्ट हो जाते हैं। सत्यसे युक्त असत्यों पर दृष्टि डालते हुए वे द्रष्टा फिर उठकर महान् पथपर आ जाते हैं–;[3] **महस्पथः**, सत्यके पथपर या महान् विस्तृत लोकमें जो उपनिषदोंका 'महः' है।

---

1. **द्विता वि वव्रे सनजा सनीडे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।**
   भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः॥ (1.62.7)
2. **सनाद् दिवं परि भूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती स्वेभिरेवैः।**
   कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या॥ (1.62.8)
3. **अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्।**
   ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन् तदुदीयुराविशम्॥
   ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आ तस्थुः कवयो महस्पथः।
   (2.24.6-7)

अब हम वेदके इस रूपककी गुत्थीको सुलझाना आरम्भ करते हैं। बृहस्पति है सात किरणोंवाला **विचारक**, **'सप्तगुः'**, **'सप्तरश्मिः'**, वह सात चेहरों या सात मुखोंवाला अंगिरस् है, जो अनेक रूपोंमें पैदा हुआ है, **'सप्तास्यः तुविजातः'**, नौ किरणोंवाला है, दस किरणोंवाला है। सात मुख सात अंगिरस् हैं, वे उस दिव्य शब्द (ब्रह्म)को दुहराते हैं जो **सत्य**के स्थानसे, **'स्वः'**से आता है और जिसका स्वामी है बृहस्पति (ब्रह्मणस्पतिः)। साथ ही प्रत्येक मुख बृहस्पतिकी सात किरणोंमेंसे एक-एकका सूचक है, इसलिए ये सात द्रष्टा, **'सप्त विप्राः'**, **'सप्त ऋषयः'** हैं, जो ज्ञानकी इन सात किरणोंको पृथक्-पृथक् शरीरधारी बना देते हैं। फिर ये सात किरणें सूर्यके सात चमकीले घोड़े, **'सप्त हरितः'** हैं और इनके आपसमें मिलकर पूर्णतया एक हो जानेसे अयास्यका सात-सिरोंवाला विचार बन जाता है, जिसके द्वारा खोया हुआ सूर्य फिरसे प्राप्त होता है। फिर वह विचार सात नदियोंमें, सत्ताके (दिव्य और मानव) सात तत्त्वोंमें स्थापित किया जाता है, जिनकी समष्टि (जोड़) परिपूर्ण आत्मिक सत्ताका आधार बनती है। यदि हम अपनी सत्ताकी इन सात नदियोंको जीत लेते हैं जिन्हें वृत्रने रोक रखा है और इन सात किरणोंको जीत लेते हैं जिन्हें वलने रोक रखा है, अपनी उस पूर्ण दिव्य चेतनाको अधिगत कर लेते हैं जो सत्यके स्वतन्त्र अवतरणके द्वारा सारे अनृतसे मुक्त हो गयी है, तो इससे 'स्वः'का लोक सुरक्षित रूपसे हमारे अधिकारमें हो जाता है और हमारी मानसिक तथा भौतिक सत्ता हमारे दिव्य तत्त्वोंके अन्तःप्रवाह द्वारा अन्धकार, असत्य व मृत्युसे ऊपर उठकर दिव्य सत्तामें परिणत हो जाती है और हमें उससे मिलनेवाला आनन्द उपलब्ध हो जाता है। यह विजय ऊर्ध्वयात्राके बारह काल-विभागोंमें समाप्त होती है, इन बारह काल-विभागोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले यज्ञिय वर्षके बारह महीने हैं; यह एक एक काल-विभाग एकके बाद एक सत्यकी अधिकाधिक बृहत् उषाको लाता हुआ आता है, तबतक जबतक कि दसवेंमें पहुँचकर विजय सुरक्षित तौरसे नहीं हो जाती। नौ किरणोंका और दस किरणोंका बिलकुल ठीक-ठीक अभिप्राय क्या हो सकता है, यह अपेक्षाकृत अधिक कठिन प्रश्न है और अबतक हम इस स्थितिमें नहीं हैं कि इसे हल कर सकें; पर अभी तक जो प्रकाश हमें मिल चुका है, वह भी ऋग्वेदके इस संपूर्ण रूपकके प्रधान भागको प्रकाशित कर देनेके लिये पर्याप्त है।

वेदके प्रतीकवादका आधार यह है कि मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है। प्राचीन रहस्यवादी अपने सूक्तोंका विषय मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनको बनाते थे, पर उनके अपने लिये वे मूर्त रूप-

में आ जायें और जो अपात्र हैं उनसे इनका रहस्य छिपा रहे इन दोनों उद्देश्योंसे वे इसे कवितामय अलंकारोंमें चित्रित करते थे और उन अलंकारोंको वे अपने युगके बाह्य जीवनमेंसे लिया करते थे। वह जीवन मुख्यतया पशुपालकों और कृषकोंका जीवन था, क्योंकि उस समयका जनसमुदाय युद्धोंके कारण और जातियोंके एक स्थानसे उठकर अपने राजाओंके नीचे दूसरे स्थान पर जाते रहनेके कारण बदलता रहता था। और इस सारी क्रियामें यज्ञके द्वारा देवताओंकी पूजा सबसे अधिक गंभीर और उज्ज्वल वस्तु हो गयी थी, शेष सब क्रियाएं इसीमें आकर इकट्ठी हो गयी थीं। क्योंकि यज्ञके द्वारा वर्षा होती थी जिससे भूमि उपजाऊ बनती थी, यज्ञ द्वारा पशुओंके रेवड़ और घोड़े मिलते थे जिनका होना शान्तिकालमें और युद्धमें आवश्यक था, सोना मिलता था, भूमि (क्षेत्र) मिलती थी, नौकर-चाकर मिलते थे, वीर योद्धा लोग मिलते थे जो महत्ता और प्रभुताको कायम करते थे, रणमें विजय मिलती थी, स्थल-यात्रा और जल-यात्रामें सुरक्षा मिलती थी, जो यात्रा उस जमानेमें बड़ी मुश्किल और खतरनाक होती थी, क्योंकि आवागमनके साधन बहुत कम थे और अन्तर्जातीय संगठन बड़ा ढीला था। उस बाह्य जीवनके सारे मुख्य-मुख्य रूपोंको जो उन्हें अपने चारों ओर दिखायी देते थे रहस्यवादी कवियोंने ले लिया और उन्हें आन्तरिक जीवनके सार्थक अलंकारोंमें परिणत कर दिया। मनुष्यके जीवनको इस रूपमें रखा गया है कि वह देवोंके प्रति एक यज्ञ है, या इस रूपमें कहा गया है कि वह एक यात्रा है और इस यात्राको कहीं खतरनाक जलोंको पार करनेके अलंकारसे प्रकट किया गया है और कहीं इस रूपसे कि वह जीवनकी पहाड़ीके एक स्तरसे दूसरे स्तर पर आरोहण करना है, और, तीसरे इस मनुष्य-जीवनको इस तरह प्रकट किया गया है कि वह शत्रु-राष्ट्रोंके विरुद्ध एक संग्राम है। पर इन तीनों अलंकारोंको जुदा-जुदा नहीं रखा गया है। यज्ञ भी एक यात्रा है; सचमुच यज्ञको स्वयं इस रूपमें वर्णित किया गया है कि वह है दिव्य लक्ष्यकी ओर चलना, यात्रा करना; इस यात्रा और इस यज्ञ दोनोंके विषयमें लगातार यह कहा गया है कि ये अंधकारमयी शक्तियोंके विरुद्ध एक संग्राम हैं।

अंगिरसोंके कथानकमें वैदिक रूपकके ये तीनों प्रधान रूप आ गये हैं और आकर इकट्ठे जुड़ गये हैं। अंगिरस् 'प्रकाश'के यात्री हैं। **'नक्षन्तः'** और **'अभिनक्षन्तः'** ये दोनों उनकी विशेष स्वाभाविक क्रियाका वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त किये गये हैं। वे ऐसे हैं जो लक्ष्यकी ओर यात्रा करते हैं और सर्वोच्च लक्ष्यको पा लेते हैं :—

अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं परमम्। (2.24.6)

उनकी क्रियाका इसलिये आवाहन किया गया है कि वे मनुष्यके जीवनको उसके लक्ष्यकी ओर और अधिक आगे ले चलें :—

सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः। (3.53.7)

पर यह यात्रा भी, यदि मुख्यतः यह एक खोज है, छिपे हुए प्रकाशकी खोज है, तो अंधकारकी शक्तियोंके विरोधके कारण एक साहस-कार्य और एक संग्राम बन जाती है। अंगिरस् उस संग्रामके वीर और योद्धा हैं, **'गोषु योधाः'**। इन्द्र उनके साथ प्रयाण करता है, उनके इस रूपमें कि वे पथके यात्री हैं, **'सरण्युभिः'**, इस रूपमें कि वे सखा हैं, **'सखिभिः'**, इस रूपमें कि वे द्रष्टा हैं और पवित्र गानके गायक हैं, **'ऋग्मिभिः'**, **'कविभिः'**, पर साथ ही इस रूपमें भी कि वे संग्रामके योद्धा हैं, **'सत्वभिः'**। जब इन अंगिरसोंके बारेमें कुछ कहना होता है तो इन्हें प्रायः 'नृ' या 'वीर' नामसे याद किया जाता है, जैसे इन्द्रके लिये कहा गया है कि उसने जगमगाती हुई गौओंको **'अस्माकेभिः नृभिः'**, "हमारे नरोंके द्वारा" जीता। उनकी सहायतासे शक्तिशाली बनकर इन्द्र यात्रामें विजय पाता है और लक्ष्य तक पहुँचता है, **'नक्षद्दाभं ततुरिम्'**। पर यह यात्रा या प्रयाण उस मार्ग पर होता है जिस मार्गको स्वर्गकी कुतिया सरमाने खोजकर पाया है, जो सत्यका मार्ग है, **"ऋतस्य पन्थाः"**, और जो सत्यके लोकोंकी ओर लेजानेवाला महान् पथ, **'महस्पथः'** है। अर्थात् साथ ही यह यात्रा यज्ञिय यात्रा है; क्योंकि इस यात्राकी मंजिलें वैसी ही हैं जैसे नवग्वाओंके यज्ञके कालविभाग हैं; और यह यात्रा यज्ञकी तरह ही सोमरस तथा पवित्र शब्दकी शक्तिसे संपन्न होती है।

शक्ति, विजय और सिद्धिके लिये साधन-रूपसे सोम-रस का पान करना वेदके व्यापक अलंकारोंमेंसे एक है। इन्द्र और अश्विन् अव्वल दर्जेके सोमपायी हैं, पर वैसे सभी देवता इसके अमरत्व प्रदान करनेवाले घूंट में हिस्सा लेते हैं। अंगिरस् भी सोमकी शक्तिमें भरकर विजयी होते हैं। सरमा पणियोंको भय दिखाती है कि देखो, अयास्य और नवग्वा अंगिरस् अपने सोम-जनित आनन्दकी तीक्ष्ण तीव्रतासे युक्त होकर आयेंगे :—

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः (10.108.8)

यह वह महती शक्ति है जिससे मनुष्योंमें सत्यके मार्गका अनुसरण करनेका बल आ जाता है। "सोमके उस आनंदको हम चाहते हैं जिससे, ओ इन्द्र! तूने **'स्वः'**की शक्तिको (या स्वःकी आत्माको, **स्वर्णरम्**) समृद्ध किया है, दस किरणोंवाले और ज्ञानका प्रकाश देनेवाले **(दशग्वं वेपयन्तम्)**,

उस आनंदको जिससे तूने समुद्रको पोषित किया है; सोमके उस मदको जिसके द्वारा तू महान् जलों (सात नदियों)को रथोंकी तरह आगे हांककर समुद्रमें पहुँचा देता है—उसे हम चाहते हैं, इसलिये कि हम सत्यके मार्ग पर यात्रा कर सकें।"[1] **पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे।** सोमकी शक्ति आने पर ही पहाड़ी टूटकर खुल जाती है, अंधकारके पुत्र पराजित हो जाते हैं। यह सोम-रस वह माधुर्य है जो ऊपरके गुह्य लोक की धाराओंमेंसे बहकर आता है, यह वह है जो सात नदियोंमें प्रवाहित होता है, यह वह है जिसके साथ होने पर घृत, रहस्यमय यज्ञका घी, सहज प्रेरणा बन जाता है, यह वह मधुमय लहर है जो जीवन-समुद्रसे उठती है। ऐसे अलंकारों-का केवल एक ही अर्थ हो सकता है; यह (सोम) दिव्य आनंद है, जो सारी सत्तामें छिपा हुआ है, जो यदि एक बार अभिव्यक्त हो जाय, तो यह जीवनकी सब ऊँची, उत्कृष्ट क्रियाओंको सहारा देता रहता है और यह वह शक्ति है जो अंतमें मर्त्यको अमर कर देती है, यह **'अमृतम्'** है, देवोंका अमृत है।

पर वह वस्तु जो अंगिरसोंके पास रहती है मुख्यतः **शब्द** है; उनका द्रष्टा (ऋषि) होना उनका सबसे अधिक विशिष्ट स्वरूप है। वे हैं—**ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः.....ऋतावृधः** (6.75.10)

अर्थात् वे पितर हैं जो सोमसे भरपूर हैं और जिनके पास **शब्द** है और इसी कारण जो सत्यको बढ़ानेवाले हैं। इन्द्र उन्हें (अंगिरसोंको) मार्ग पर प्रेरित करनेकी इच्छा रखता हुआ उनके गाकर व्यक्त किये गये विचारोंके साथ अपने-आपको जोड़ता है और उनकी आत्माके शब्दोंको पूर्णता व शक्ति देता है:—

सो अङ्गिरसामुचथा जुजुष्वान् ब्रह्मा तूतोदिन्द्रो गातुमिष्णन्। (2.20.2)

जब इन्द्र अंगिरसोंकी सहायतासे ज्योतिमें और विचारकी शक्तिमें समृद्ध हो जाता है तभी वह अपनी विजय-यात्राको पूर्ण कर पाता है और पर्वत पर स्थित अपने लक्ष्य तक पहुंच पाता है, 'उसमें हमारे पूर्व पितर, सात द्रष्टा, नवग्वा, अपनी समृद्धिको बढ़ाते हैं, उसे बढ़ाते हैं जो अपने प्रयाणमें विजयी होनेवाला है, जो विघ्न-बाधाओंको तोड़फोड़कर (अपने लक्ष्य तक) तैर जाता है, पर्वत पर खड़ा हुआ है, जिसकी वाणी अहिंसित है, जो अपने विचारोंसे सबसे अधिक ज्योतिष्मान् और बलवान् है।'

---

1. **येना दशग्वमधिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे॥**
येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः। पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे॥
(8.12.2-3)

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः।
नक्षद्दाभं तदुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ (6.22.2)॥

'ऋक्'के, प्रकाशके मन्त्रके गानसे ही वे हमारी सत्ताकी गुहामें छिपी हुई सौर ज्योतियोंको पा लेते हैं, **अर्चन्तो गा अविन्दन्।** **'स्तुभ्'**से, सात द्रष्टाओंके मन्त्रोंके आधारभूत छन्दसे, नवग्वाओंके कम्पन करते हुए स्वरसे ही इन्द्र 'स्वः'की शक्तिसे परिपूर्ण हो जाता है, **'स्वरेण स्वर्यः'**, और दशग्वाओंकी आवाजसे, 'रव'से ही वह 'वल'के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है (1.62.4), क्योंकि यह 'रव' उच्चतर लोककी आवाज है, वह वज्र-निर्घोष है जो इन्द्रकी विद्युत्प्रभामें होता है, अंगिरसोंकी अपने मार्ग पर प्रगति द्युलोकोंके इस 'रव'की अग्रगामिनी होती है।

प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु। (7.42.1)

बृहस्पतिकी आवाज द्यौकी गर्जना है, बृहस्पति वह अंगिरस् है जो सूर्यको, उषाको, गौको और शब्दके प्रकाशको खोज लेता है, **'बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः।'** सत्य-मंत्रके, उस सत्य विचारके जो सत्यके छन्दमें प्रकट होता है, परिणामस्वरूप ही, छिपी हुई ज्योति मिल जाती है और उषाका जन्म हो जाता है;

गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्। (7.76.4)

क्योंकि वे अंगिरस् हैं जो यथातथ वचन बोलते हैं, **इत्था वदद्भिः अङ्गिरोभिः।** (6.18.5)

जो ऋक्के स्वामी हैं, जो पूर्ण रूपसे अपने विचारोंको रखते हैं;

स्वाधीभिर्ऋक्वभिः। (6.32.2)

"वे द्यौके पुत्र हैं, शक्तिशाली देवके वीर सिपाही हैं, जो सत्य कथन करते हैं और सरलताका विचार करते हैं और इस कारण जो इस योग्य हैं कि जगमगाते हुए ज्ञानके स्थानको धारण कर सकें और यज्ञके अत्युच्च धामको मनोगत कर सकें";

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त॥ (10.67.2)

यह असंभव है कि ये सब इस प्रकारके वर्णन केवल यही अर्थ देनेवाले हों कि कुछ आर्य ऋषियोंने एक देवता और उसके कुत्तेका अनुसरण करके गुफामें रहनेवाले द्रविड़ोंसे चुरायी हुई गौएं फिर प्राप्त कर लीं या रात्रिके अंधकारके बाद उषाका फिर उदय हो गया। उत्तरी ध्रुवकी उषाकी अद्भुतताएं भी स्वयं इनका कुछ स्पष्टीकरण देनेमें सर्वथा अपर्याप्त हैं। इन अलंकारोंमें जो साहचर्य है, इनमें जो **शब्द** (ब्रह्म), **विचार** (धी), **सत्य,**

यात्रा करने और असत्य पर विजय पा लेने आदिका विचार है—जो विचार कि हमें इन सूक्तोंमें सर्वत्र मिलता है और जिसपर इन सूक्तोंमें लगातार जोर दिया गया है—उसका स्पष्टीकरण इस तरह किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता।

जिस कल्पनाको हम प्रस्थापित कर रहे हैं केवल वही इस बहुविध रूपकको खोल सकती है, इसमें एकता स्थापित कर सकती है और यह जो असंगतियोंका मिश्रण-सा दिखायी देता है उसमें आसानीसे दीख जानेवाली स्पष्टता और संगति ला सकती है और यह एक ऐसी कल्पना है जो कहीं बाहरसे नहीं लायी गयी बल्कि स्वयं मन्त्रोंकी ही भाषा तथा निर्देशोंसे सीधी निकलती है। सचमुच, यदि एक बार हम केंद्रभूत विचारको पकड़ लें और वैदिक ऋषियोंकी मनोवृत्ति तथा उनके प्रतीकवादके नियमको समझ लें तो कोई भी असंगति और अव्यवस्था शेष नहीं रहती। वेदमें प्रतीकोंकी एक नियत पद्धति है जिसमें कि, सिवाय बादके कुछ-एक सूक्तोंके, कहीं कोई महत्त्वपूर्ण फेरफार होना संभव नहीं हुआ है और जिसके प्रकाशमें वेदका आन्तरिक अभिप्राय सब जगह अपने-आपको इस तरह तुरंत प्रकट कर देता है मानो वह इसके लिये तैयार ही हो। अवश्य ही वेदमें भी प्रतीकोंके परस्पर मिलाने व जोड़नेमें कुछ सीमित स्वतंत्रता है, जैसे कि किसी भी नियत कविग्रामय रूपकमें होती है,—उदाहरणके लिये, वैष्णवोंकी धार्मिक कविताओंमें; पर इसके पीछे जो सारभूत विचार है वह सदा स्थिर तथा संगत है और परिवर्तित नहीं होता।

अठारहवां अध्याय

मानव पितर

अंगिरस् ऋषियोंकी ये विशेषताएं प्रथम दृष्टिमें यह दर्शाती प्रतीत होती हैं कि अंगिरस् वैदिक संप्रदायमें अर्द्ध-देवताओंकी एक श्रेणी हैं, अपने बाह्य रूपमें वे **प्रकाश** और **वाणी** और **ज्वाला**के सजीव शरीरधारी रूप हैं या यह कहना चाहिये कि वे इन प्रकाश आदि के साकार व्यक्तित्व हैं पर अपने आन्तरिक रूपमें वे **सत्य**की शक्तियां हैं जो युद्धोंमें देवताओंकी सहायता करती हैं। किन्तु दिव्य द्रष्टाके तौर पर भी, द्यौके पुत्र और **देव**के वीर योद्धाके तौर पर भी, ये ऋषि अभीप्सायुक्त मानवताको सूचित करते हैं। यह सच है कि मूल-रूपमें वे देवोंके पुत्र हैं, **'देवपुत्राः'**, अग्निके कुमार हैं, अनेक रूपोंमें पैदा हुए बृहस्पतिके रूप हैं और **सत्य**के लोकके प्रति अपने आरोहणमें उनका इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वे फिरसे उस स्थान पर आरोहण कर पहुंच जाते हैं जहाँसे वे आये थे; पर अपने इन स्वरूपों तकमें वे भलीभाँति उस मानवीय आत्माके द्योतक हो सकते हैं जो स्वयं उस लोकसे अवरोहण करके नीचे आया है और जिसे अब पुनः आरोहण करके वहाँ पहुंचना है, क्योंकि अपने उद्गममें यह एक मानसिक सत्ता है; अमरता का पुत्र है (**अमृतस्य पुत्रः**), द्यौका कुमार है जो द्यौमें पैदा हुआ है और मर्त्य केवल उन शरीरोंमें है जिन्हें यह धारण करता है। यज्ञमें अंगिरस् ऋषियोंका भाग मानवीय भाग है और वह यह है—शब्दको पाना, देवोंके प्रति आत्माकी सूक्तिका गायन करना, प्रार्थनाके द्वारा, पवित्र भोजन तथा सोमरस द्वारा दिव्य शक्तियोंको स्थिर करना और बढ़ाना, अपनी सहायतासे **दिव्य उषा**को जन्म देना, पूर्ण रूपसे जगमगाते हुए **सत्य**के प्रकाशमय रूपोंको जीतना और आरोहण करके इसके रहस्य तक, सुदूरवर्ती तथा उच्च स्थान पर स्थित घर तक पहुंचना।

यज्ञके इस कार्यमें वे द्विविध रूपमें प्रकट होते हैं,[1] एक तो दिव्य

---

1. यहां यह ध्यान देने योग्य है कि पुराण विशेष तौरसे पितरोंकी दो श्रेणियोंके बीचमें भेद करते हैं, एक तो दिव्य पितर हैं जो देवताओंकी एक श्रेणी है, दूसरे हैं मानव पुरखा, इन दोनोंके लिये ही पिण्डदान किया जाता है। पुराणोंने स्पष्ट ही इस विषयमें केवल प्रारंभिक वैदिक परम्पराको ही जारी रखा है।

अंगिरसोंके रूपमें **'ऋषयो दिव्याः'**, जो देवोंके समान किन्हीं अध्यात्मशक्तियों तथा क्रियाओंके प्रतीक हैं और उनका अधिष्ठातृत्व करते हैं, और दूसरे मानव पितरोंके रूपमें, **'पितरो मनुष्याः'**, जो ऋभुओंके समान मानवप्राणियोंके रूपमें भी वर्णित किये गये हैं या कम-से-कम इस रूपमें कि वे मानवीय शक्तियां हैं जिन्होंने अपने कार्यसे अमरताको जीता है, लक्ष्यको प्राप्त किया है और उनका इसलिये आवाहन किया गया है कि वे उसी दिव्यप्राप्तिमें बादमें आनेवाली मर्त्यजातिकी सहायता करें। दशम मण्डलके पिछले यम-सूक्तोंमें तो ऋभुओं और अथर्वणोंके साथ अंगिरसोंको भी **'बर्हिषद्'** कहा गया है और यह कहा गया है कि वे यज्ञमें अपने निजी विशेष भागको ग्रहण करते हैं, पर इसके अतिरिक्त अवशिष्ट वेदमें भी हम देखते हैं कि एक अपेक्षाकृत कम निश्चित पर अधिक व्यापक और अधिक अभिप्रायपूर्ण अलंकारमें उनका आवाहन किया गया है। और यह आवाहन महान् मानवीय यात्रा के लिये ही किया गया है, क्योंकि मृत्युसे अमरताकी ओर, अनृतसे सत्यकी ओर मानवीय यात्राको ही इन पूर्व पुरुषोंने पूर्ण किया है और अपने वंशजोंके लिये मार्ग खोल दिया है।

उनके कार्यके इस स्वरूपको हम 7.42 तथा 7.52 में पाते हैं। वसिष्ठ के इन दो सूक्तोंमेंसे प्रथममें ठीक इसी महान् यात्राके लिये, 'अध्वरयज्ञ'[1]के लिये देवोंका आवाहन किया गया है। 'अध्वर यज्ञ' वह यज्ञ है जो दिव्यताओंके घरकी ओर यात्रा करता है या जो उस घर तक पहुँचनेके लिये एक यात्रारूप है और साथ ही जो एक युद्ध है; क्योंकि यह वर्णन आता है कि 'हे अग्ने! तेरे लिये यात्रामार्ग सुगम है और सनातन कालसे वह तुझे ज्ञात है। सोम-सवनमें तू अपनी उन रोहित (या शीघ्रगामी) घोड़ियोंको जोत जिनपर वीर सवार है। वहाँ स्थित हुआ मैं दिव्य जन्मोंका

---

1. सायण 'अध्वर यज्ञ'का अर्थ करता है 'अहिंसित यज्ञ'; पर 'अहिंसित' इस अर्थवाला शब्द कभी भी यज्ञके लिये पर्यायरूपमें प्रयुक्त हुआ नहीं हो सकता। 'अध्वर' है 'यात्रा', 'गमन', इसका संबंध 'अध्वन्'से है, जिसका अर्थ मार्ग या यात्रा है, यह 'अध्' धातुसे बना है जो इस समय लुप्त हो चुकी है, जिसका अर्थ था चलना, फैलाना, चौड़ा होना, घना होना इत्यादि। 'अध्वन्' और 'अध्वर' इन दो शब्दों का संबंध हमें इससे पता चल जाता है कि 'अध्व'का अर्थ वायु या आकाश है और 'अध्वर' भी इस अर्थमें आता है। ऐसे संदर्भ वेदमें अनेकों हैं, जिनमें 'अध्वर' या 'अध्वर यज्ञ'का संबंध यात्रा करने, पर्यटन करने, मार्ग पर अग्रसर होनेके विचारके साथ है।

आवाहन करता हूँ (ऋचा 2)।"[1] यह मार्ग कौनसा है? यह वह मार्ग है जो देवताओंके घर तथा हमारी पार्थिव मर्त्यताके बीचमें है, जिस मार्गसे देवता अन्तरिक्षके, प्राण-प्रदेशोंके बीचमेंसे होते हुए नीचे पार्थिव यज्ञमें उतर आते हैं और जिस मार्गसे यज्ञ और साथ ही यज्ञके द्वारा मनुष्य ऊपर आरोहण करता हुआ देवताओंके घर तक पहुँचता है। 'अग्नि' अपनी घोड़ियोंको अर्थात् वह जिस दिव्य बल का द्योतक है उसकी बहुरूप शक्तियों या विविध रंगवाली ज्वालाओंको जोतता है, और वे घोड़ियाँ 'वीर'को अर्थात् हमारे अंदरकी उस संग्रामकारिणी शक्तिको वहन करती हैं जो यात्राका कार्य सफलतापूर्वक चलाती है। और दिव्य जन्म स्वत: देव हैं तथा साथ ही मनुष्यमें प्रकट होनेवाली दिव्य जीवनकी वे अभिव्यक्तियाँ हैं जो वेदमें देवत्व करके समझी जाती हैं। यहाँ अभिप्राय यही है, यह बात चौथी ऋचासे स्पष्ट हो जाती है, "जब सुखमें निवास करनेवाला **अतिथि** उस वीरके,–जो (आनन्दमें) समृद्ध है,—द्वारोंसे युक्त घरमें चेतनापूर्ण ज्ञानवाला हो जाता है, जब अग्नि पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है और घरमें स्थिरतापूर्वक निवास करने लगता है, तब वह उस प्राणीके लिये अभीप्सित वर प्रदान करता है जो यात्रा करनेवाला है",[2] या यह अर्थ हो सकता है कि उसकी यात्राके लिये **(इयत्यै)** अभीष्ट वर देता है।

इसलिये यह सूक्त परम कल्याणकी तरफ यात्रा करनेके लिये, दिव्य जन्मके लिये, आनन्दके लिये अग्निका एक आवाहन है। और इसकी प्रारम्भिक ऋचा उस यात्राके लिये जो आवश्यक शर्तें हैं उनकी प्रार्थना है, अर्थात् इसमें उन बातोंका उल्लेख है जिनसे इस यात्रा-यज्ञका रूप, **'अध्वरस्य पेश:'**, बनता है और इनमें सर्वप्रथम वस्तु आती है अंगिरसोंकी अग्रगामी गति; "आगे-आगे अंगिरस् यात्रा करें, जो अंगिरस् 'ब्रह्म' **(शब्द)** के पुरोहित हैं, आकाशकी (या आकाशीय वस्तु बादल या बिजलीकी) गर्जना आगे-आगे जाय, प्रीणयित्री **गौएं** आगे-आगे चलें जो अपने जलोंको बिखेरती हैं और दो पत्थर, सिलबट्टे (अपने कार्यमें)—यात्रामय यज्ञके रूपको बनानेमें लगाये जायँ।"

---

1. **सुगस्ते अग्ने सनवित्तो अध्वा युक्ष्वा सुते हरितो रोहितश्च।**
   ये वा सद्मन्नरुषा वीरवाहो हुवे देवानां जनिमानि सत्त:॥
2. **यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत्।**
   सुप्रीतो अग्नि: सुधितो दम आ स विशे वाति वार्यमियत्यै॥ ऋ. 7.42.4

प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त, प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु ।
प्र धेनव उदप्रुतो नवन्त, युज्यातामद्री अध्वरस्य पेशः ।। 7.42.1 ।।

प्रथम, दिव्य शब्दसे युक्त **अंगिरस्**, दूसरे, आकाशकी गर्जना जो ज्योतिष्मान् लोक **'स्वः'** की तथा शब्दमेंसे वज्रनिर्घोष करके निकलती हुई इसकी बिजलियोंकी आवाज है, तीसरे, दिव्य जल या सात नदियाँ जो प्रवाहित होनेके लिये **'स्वः'** के अधिपति **इन्द्र**की उस आकाशीय विद्युत् द्वारा मुक्तकी गई हैं, और, चौथे, दिव्य जलोंके निकलकर प्रवाहित होनेके साथ-साथ अमरताको देनेवाले **सोम**का निचोड़ा जाना, ये चीजें हैं जो 'अध्वर यज्ञ' के रूप, **'पेशः'**को निर्मित करती हैं। और इसका सामान्य स्वरूप है अग्रगामी गति, दिव्य लक्ष्यकी ओर सबकी प्रगति, जैसा कि यहाँ सूचित किया गया है गतिवाची तीन क्रियापदों **'नक्षन्त', 'वेतु', 'नवन्त'** द्वारा और उनके साथ उनके अर्थपर बल देनेके लिये अग्रवाची 'प्र' उपसर्ग लगाकर, जो मन्त्रके प्रत्येक वाक्यांशको प्रारम्भ करता और उसे स्वर प्रदान करता है।

परन्तु 52वाँ सूक्त और भी अधिक अर्थपूर्ण तथा निर्देशक है। प्रथम ऋचा इस प्रकार है "हे असीम माता अदितिके पुत्रो **(आदित्यासः)**, हम असीम बन जायँ **(अदितयः स्याम)**, 'वसु' दिव्यता तथा मर्त्यतामें हमारी रक्षा करें **(देवत्रा मर्त्यत्रा)**, हे मित्र और वरुण! अधिगत करनेवाले हम तुम्हें अधिगत कर लें, हे द्यौ और पृथिवी! होनेवाले हम 'तुम' हो जायें",

सनेम मित्रावरुणा सनन्तो भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः । 7.52,1 ।

स्पष्ट ही अभिप्राय यह है कि हमें असीमको या अदितिके पुत्रोंको, देवत्वोंको अधिगत करना है और स्वयं असीम, अदितिके पुत्र, **'अदितयः, आदित्यासः'**, हो जाना है। मित्र और वरुणके विषयमें हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ये **प्रकाश** तथा **सत्य**के अधिपति 'सूर्य सविता'की शक्तियाँ हैं। और तीसरी ऋचा इस प्रकार है, "अंगिरस्, जो लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये शीघ्रता करते हैं, अपनी यात्रा करते हुए, देव सविताके सुखकी तरफ गति करें और उस (सुख) को हमारा महान् यज्ञिय **पिता** और सब देवता एक मनवाले होकर हृदयमें स्वीकार करें",

तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त रत्नं देवस्य सवितुरियानाः ।
पिता च तन्नो महान् यजत्रो विश्वे देवाः समनसो जुषन्त ।। (ऋ. 7.52.3)

इसलिये यह बिलकुल स्पष्ट है कि अंगिरस् सौरदेवताके उस प्रकाश तथा सत्यके यात्री हैं जिसमेंसे वे जगमगानेवाली गौएँ पैदा हुई हैं जिन गौओंको अंगिरस् पणियोंसे छीनकर लाते हैं, और उस सुखके यात्री हैं, जो, जैसा कि हम सर्वत्र देखते हैं, उस प्रकाश तथा सत्यपर आश्रित है। साथ ही यह

भी स्पष्ट है कि इस यात्राका अर्थ है देवत्वमें, असीम सत्तामें, विकसित होना (**आदित्याः स्याम**), जिसके लिये इस सूक्त (ऋचा 1) में यह कहा गया है कि जो देवत्व तथा मर्त्यत्वमें हमारी रक्षा करते हैं ऐसे मित्र, वरुण और वसुओंकी हमारे अन्दर क्रिया द्वारा दिव्य शांति तथा दिव्य सुखकी वृद्धिसे यह अवस्था आती है।

इन दो सूक्तोंमें अंगिरस् ऋषियोंका सामान्यतः उल्लेख हुआ है, पर अन्य सूक्तोंमें हमें इन मानव पितरोंका निश्चित उल्लेख मिलता है जिन्होंने सर्वप्रथम **प्रकाश**को खोजा था और **विचार**को और **शब्द**को अधिगत किया था और प्रकाशमान **सुख**के गुह्य लोकोंकी यात्रा की थी। उन परिणामोंके प्रकाशमें जिनपर हम पहुँचे हैं, अब हम अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण संदर्भोंका अध्ययन कर सकते हैं जो गंभीर, सुन्दर तथा उज्ज्वल हैं और जिनमें मानवीय पूर्वपुरुषोंकी इस महान् खोजका गान किया गया है। उनमें हम उस महान् आशाका सारभूत वर्णन पायेंगे जिसे वैदिक रहस्यवादी सदा अपनी आँखोंके सामने रखते थे; वह यात्रा, वह विजय प्राचीन, प्रथम प्राप्ति है जिसे प्रकाशयुक्त पितरोंने अपने बाद आनेवाली मर्त्य जातिके लिये एक आदर्शके रूपमें स्थापित किया था। यह विजय थी उन शक्तियों पर जो चारों ओरसे घेर लेनेवाली **रात्रि** (**रात्री परितक्म्या**, 5.30.14) की शक्तियाँ हैं, **वृत्र, शम्बर, वल** हैं, ग्रीक गाथाशास्त्रके टाइटन, जायंट, पाइथन, (Titans, Giants, Pythons) ह, अवचेतनाकी शक्तियाँ हैं जो प्रकाश और बलको अपने अन्दर, अपनी अन्धकार तथा भ्रांतिकी नगरियोंके भीतर रोक लेती हैं, पर न तो इन्हें उचित प्रकारसे उपयोगमें ला सकती हैं, न ही इन्हें मनुष्यको, मनोमय प्राणीको, देना चाहती हैं। उनके अज्ञान, पाप और ससीमताको न केवल हमें अपने पाससे काटकर दूर कर देना है, बल्कि उनका भेदन कर डालना है और भेदन करके उनके अन्दर जा घुसना है, तथा उसमेंसे प्रकाश, भद्र और असीमताके रहस्यको निकाल लाना है। इस मृत्युमेंसे उस अमरताको जीत लाना है। इस अज्ञानके पीछे एक रहस्यमय ज्ञान और सत्यका एक महान् प्रकाश बन्द पड़ा है। इस पापने अपने अन्दर अपरिमित भद्रको कैद कर रखा है, सीमित करनेवाली इस मृत्युमें असीम, अपार अमरताका बीज छिपा पड़ा है। उदाहरणके लिये, 'वल' ज्योतियोंका वल है (**वलस्य गोमतः**, 1.11.5), उसका शरीर प्रकाशका बना हुआ है (**गोवपुषः वलस्य**, 10.68.9), उसका बिल या उसकी गुफा खजानोंसे भरा एक नगर है; उस शरीरको तोड़ना है, उस नगरको भेदन करके खोलना है, उन खजानोंको हस्तगत करना है। यह कार्य है जो मानवजातिके लिये नियत

किया गया है और पूर्वपुरुष इस कार्यको मानवजातिके लाभके लिये एक बार कर चुके हैं, जिससे उसे करनेका मार्ग पता लग जाय और फिर उन्हीं उपायों द्वारा तथा उसी प्रकार प्रकाशके देवताओंके साथ मैत्री द्वारा लक्ष्यपर पहुँचा जा सके। "वह पुरातन साख्यभाव तुम देवताओंके तथा हमारे बीचमें हो जाय, जैसा कि तब था जब उन अंगिरसोंके साथ मिलकर जो (शब्दको) ठीक प्रकारसे बोलते थे, (हे इन्द्र!), तूने उसे च्युत कर दिया था जो अच्युत था; और हे कार्योंको पूर्ण करनेवाले! तूने 'वल'का वध कर दिया था, जब कि वह तुझपर झपटा था और तूने उसके नगरके सब द्वारोंको खोल डाला था।"[1] सभी मानवपरम्पराओंके उद्गममें यह प्राचीन स्मृति जुड़ी हुई है। यह इन्द्र तथा वृत्र-सर्प है, यह अपोलो (Apollo) तथा पाइथन (Python) है, ये थॉर (Thor) तथा जायन्ट (Giants) हैं, सिगर्ड (Sigurd) और फाफ्नर (Fafner) हैं, ये खाल्दियन गाथाशास्त्र (Celtic mythology) के परस्परविरोधी देवता हैं। पर इस रूपककी कुंजी हमें केवल वेदमें ही उपलब्ध होती है, जिस रूपकमें प्रागैतिहासिक मानवताकी वह आशा या विद्या छिपी रखी है।

प्रथम सूक्त जिसे हम लेंगे महान् ऋषि विश्वामित्रका सूक्त 3.39 है; क्योंकि वह हमें सीधा हमारे विषयके हृदयमें ले जाता है। यह प्रारम्भ होता है **'पित्र्या धीः'** अर्थात् पितरोंके विचारके वर्णनसे और यह विचार उस स्वः-युक्त ('स्वः'वाले) विचारसे भिन्न नहीं हो सकता जिसका अत्रियोंने गायन किया है, जो वह सात-सिरोंवाला विचार है जिसे अयास्यने नवग्वाओंके लिये खोजा था, क्योंकि इस सूक्तमें भी विचार का वर्णन अंगिरसों, पितरोंके साथ जुड़ा हुआ आता है। "विचार हृदयसे प्रकट होता हुआ, स्तोमके रूपमें रचा हुआ, अपने अधिपति इन्द्रकी ओर जाता है।"[2] इन्द्र, हमारी स्थापनाके अनुसार, प्रकाशयुक्त मनकी शक्ति है, प्रकाशके तथा इसकी विद्युत्के लोकका स्वामी है, शब्द या विचार सतत् रूपसे गौओं या स्त्रियोंके रूपमें कल्पित किये गये हैं, 'इन्द्र' वृषभ या पतिके रूपमें, और शब्द उसकी कामना करते हैं और इस रूपमें उनका वर्णन भी मिलता है कि वे उसे (इन्द्रको) खोजनेके लिये ऊपर जाते हैं, उदाहरणार्थ देखो 1.9.4, **गिरः प्रति त्वामुवहासत...वृषभं पतिम्।** 'स्वः'के प्रकाशसे प्रकाशमय मन ही लक्ष्य है जो

---

1. **तन्नः प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः।**
   हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः॥ (6.18.5)
2. **इन्द्रं मति र्ह्रद आ वच्यमानाच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति।** (3.39.1)

वैदिक विचार द्वारा तथा वैदिक वाणी द्वारा चाहा गया है, जो विचार और वाणी **प्रकाशों**की गौओंको आत्मासे, अवचेतनाकी गुफासे जिसमें कि वे बन्द पड़ी थीं, ऊपर को धकेलकर प्रकट कर देते हैं, स्व:का अधिपति इन्द्र है **वृषभ**, गौओंका स्वामी, **'गोपतिः'**।

ऋषि इस **विचार**के वर्णनको जारी रखता हुआ आगे कहता है—यह है "वह विचार जो जब व्यक्त हो रहा होता है तब ज्ञानमें जागृत होकर रहता है", अपने आपको पणियोंकी निद्राके सुपुर्द नहीं करता—**या जागृविर्विदथे शस्यमाना**, "वह जो तुझसे (या तेरे लिये) पैदा होता है, हे इन्द्र! उसका तू ज्ञान प्राप्त कर।"[1] यह वेदमें सतत् रूपसे पाया जानेवाला एक सूत्र है। देवताको, देवको उसका ज्ञान रखना होता है जो मनुष्यके अंदर उसके प्रति उद्बुद्ध होता है, उसे हमारे अंदर ज्ञानमें उसके प्रति जागृत होना होता है (**विद्धि, चेतथः** इत्यादि), नहीं तो यह एक मानवीय वस्तु ही रह जाती है और यह नहीं होता कि वह "देवोंके प्रति जाय", (**देवेषु गच्छति**)। और उसके बाद ऋषि कहता है "यह प्राचीन (या सनातन) है, यह द्युलोक से पैदा हुआ है; जब यह प्रकट हो जाता है तब यह ज्ञानमें जागृत रहता है, सफेद तथा सुखमय वस्त्रोंको पहिने हुए **यह हमारे अंदर पितरोंका प्राचीन विचार है।**"[2] **सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः।**

और फिर ऋषि इस **विचार**के विषयमें कहता है कि यह "यमोंकी माता है जो यहाँ यमोंको जन्म देती है, जिह्वाके अग्रभागपर यह उतरती है और खड़ी हो जाती है; युगल शरीर पैदा होकर एक दूसरेके साथ संयुक्त हो जाते हैं और अंधकारके घातक होते हैं और जाज्वल्यमान शक्तिके आधारमें गति करते हैं।"[3] मैं यहाँ इसपर विचार-विमर्श नहीं करूँगा कि ये प्रकाशमान युगल क्या हैं, क्योंकि इससे हम अपने उपस्थित विषयकी सीमासे परे चले जायँगे, इतना ही कहना पर्याप्त है कि दूसरे स्थलोंमें उनका वर्णन अंगिरसोंके साथ तथा अंगिरसोंकी उच्च जन्मकी (सत्यके लोककी) स्थापनाके साथ संबद्ध होकर आता है और वे इस रूपमें कहे गये हैं कि 'वे युगल हैं, जिनमें इन्द्र अभिव्यक्त किये जानेवाले शब्दको रखता है", (1.83.3);

---

1. **इन्द्र यत्ते जायते विद्धि तस्य।** (3.39.1)
2. **दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना वि जागृविर्विदथे शस्यमाना।**
   भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः॥ (3.39.2)
3. **यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात्।**
   वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता॥ (3.39.3)

और वह जाज्वल्यमान शक्ति जिसके आधारमें वे गति करते हैं, स्पष्ट ही सूर्यकी शक्ति है, जो (सूर्य) अंधकारका घातक है और इसलिये यह आधार और वह आधार एक ही हैं जो सर्वोच्च लोक है, सत्यका आधार, **ऋतस्य बुध्नः** है, और अंतिम बात यह है कि यह कठिन है कि इन युगलोंका उनके साथ बिल्कुल कुछ भी संबंध न हो जो सूर्यके युगल शिशु हैं, यम और यमी,—यम जो दशम मण्डलमें अंगिरस् ऋषियोंके साथ संबद्ध आता है।[1]

इस प्रकार अंधकारके घातक अपने युगल शिशुओं सहित पित्र्य विचारका वर्णन कर चुकनेपर आगे विश्वामित्र उन पूर्वपितरोंका वर्णन करता है जिन्होंने सर्वप्रथम इसे निर्मित किया था और उस महान् विजयका जिसके द्वारा उन्होंने "उस सत्यको, अंधकारमें पड़े हुए सूर्यको" खोज निकाला था। "मर्त्योंमें कोई ऐसा नहीं है जो हमारे उन पूर्वपितरोंकी निन्दा कर सके (अथवा, जैसा कि इसकी अपेक्षा मुझे इसका अर्थ प्रतीत होता है कि मर्त्यताकी कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उन पूर्वपितरोंको सीमित या बद्ध कर सके), जो हमारे पितर गौओंके लिये युद्ध करनेवाले हैं। महिमावाले, महा-पराक्रमकार्यको करनेवाले इन्द्रने उनके लिये दृढ़ बाड़ोंको ऊपरकी तरफ खोल दिया—वहाँ जहाँ एक सखाने अपने सखाओंके साथ, योद्धा नवग्वाओंके साथ घुटनोंके बल गौओंका अनुसरण करते हुए, दस दशग्वाओंके साथ मिलकर उस (इन्द्र)ने उस सत्यको, **'सत्यं तद्'**, पा लिया, सूर्यको भी जो अंधकारमें रह रहा था।"[2]

यही है जगमगाती हुई गोओंकी विजयका तथा छिपे हुए सूर्यकी प्राप्तिका अलंकार जो प्रायशः आता है; परंतु अगली ऋचामें इसके साथ दो इसी प्रकारके अलंकार और जुड़ गये हैं और वे भी वैदिक सूक्तोंमें प्रायः पाये जाते हैं, वे हैं गौका चरागाह या खेत तथा मधु जो गौके अंदर पाया जाता है। "इन्द्रने मधुको पा लिया जो **जगमगानेवाली**के अंदर इकट्ठा किया

---

1. इन तथ्योंके प्रकाशमें ही हमें दशम मण्डलमें आये यम और यमीके संवादको समझना चाहिये जिसमें बहिन अपने भाईसे संयोग करना चाहती है और फिर इसे आगामी युग की संततियोंके लिये छोड़ दिया गया है, जहां आगामी युगोंका अभिप्राय वस्तुतः प्रतीकरूप कालपरिमाण से है, क्योंकि आगामीके लिये जो शब्द 'उत्तर' आया है उसका अर्थ आगामीके बजाय "उच्चतर" अधिक ठीक है।

2. **नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।**
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥
सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिश्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥(3.39.4-5)

हुआ था, गौके चरागाह[1] में पैरोंवाली तथा खुरोंवाली (दौलत) को।"[2] जगमगानेवाली **'उस्रिया'** (साथ ही 'उस्रा' भी) एक दूसरा शब्द है जो 'गो'के समान दोनों अर्थ रखता है, किरण तथा गाय, और वेदमें 'गो'के पर्यायवाचीके तौरपर प्रयुक्त हुआ है। सतत रूपसे यह हमारे सुननेमें आता है कि 'घृत' या साफ किया हुआ मक्खन गौमें रखा गया है, वामदेवके अनुसार वह वहाँ तीन हिस्सोंमें पणियों द्वारा छिपाया गया है; पर कहीं यह मधुमय घृत है और कहीं केवल मधु है, **'मधुमद् घृतम्'** और **'मधु'**। हम देख चुके हैं कि गौकी देन घी और सोमलताकी देन (सोमरस) अन्य सूक्तोंमें कैसी घनिष्ठताके साथ जुड़े आते हैं और अब जब कि हम निश्चित रूपसे जानते हैं कि **गौ**का क्या अभिप्राय है तो यह अद्भुत तथा असंगत लगनेवाला संबंध पर्याप्त स्पष्ट और सरल हो जाता है। 'घृत'का अर्थ भी 'चमकदार' होता है, यह चमकीली गौकी चमकदार देन है; यह मानसिक सत्तामें सचेतन ज्ञानका वह निर्मित प्रकाश है जो प्रकाशमय चेतनाके अंदर सम्भृत (रखा हुआ) है और गौकी मुक्तिके साथ यह भी मुक्त हो जाता है। **'सोम'** है आह्लाद, दिव्य सुख, दिव्य आनंद जो सत्ताकी प्रकाशमय अवस्थासे भिन्न नहीं किया जा सकता और जैसे वेदके अनुसार हमारे अंदर मानसिक सत्ताके तीन स्तर हैं वैसे ही घृतके भी तीन भाग हैं, जो तीन देवताओं सूर्य, इन्द्र और सोमपर आश्रित हैं और सोम भी तीन हिस्सोंमें प्रदान किया जाता है, पहाड़ीके तीन स्तरोंपर, **'त्रिषु सानुषु'**। इन तीनों देवताओंके स्वरूपका ख्याल रखते हुए हम यह कल्पना प्रस्तुत कर सकते हैं कि 'सोम' इन्द्रियाश्रित मन (Sense mentality) से दिव्य प्रकाशको उन्मुक्त करता है, 'इन्द्र' सक्रिय गतिशील मन (Dynamic mentality) से; 'सूर्य' विशुद्ध विचारात्मक मन (pure reflective mentality) से। और गौके चरागाहसे तो हम पहलेसे ही परिचित हैं; यह वह 'क्षेत्र' है जिसे इन्द्र अपने चमकीले सखाओंके लिये 'दस्यु'से जीतता है और जिसमें अत्रिने योद्धा अग्निको तथा जगमगाती हुई गौओंको देखा था, उन गौओंको जिनमें वे भी जो बूढ़ी थीं फिरसे जवान हो गयी थीं। यह खेत, 'क्षेत्र', केवल एक दूसरा रूपक है उस प्रकाशमय घर (क्षय)के लिये जिस तक कि देवता यज्ञ द्वारा मानवीय आत्माको ले जाते हैं।

---

1. **नमे गोः**। 'नम' बना है 'नम्' धातुसे, जिसका अर्थ है चलना, घूमना, विचरना; ग्रीकमें नेमो (Namo) धातु है; 'नम' शब्दका अर्थ है घूमनेका प्रदेश, चरागाह, जो ग्रीकमें नैमोज (Namos) है।
2. **इन्द्रो मधु संभृतमुस्रियायां पद्वद्विवेद शफवन्नमे गोः ॥6॥**

आगे विश्वामित्र इस सारे रूपकके वास्तविक रहस्यवादी अभिप्रायको दर्शाना आरंभ करता है। 'दक्षिणासे युक्त उसने (इन्द्रने) अपने दक्षिण हाथमें **(दक्षिणे दक्षिणावान्)** उस गुह्य वस्तुको थाम लिया, जो गुप्त गुहामें रखी थी और जलोंमें छिपी थी। पूर्ण रूपसे जानता हुआ वह (इन्द्र) अंधकारसे ज्योतिको पृथक् कर दे, **ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्,** हम पापकी उपस्थिति से दूर हो जायँ।'[1] यहाँ हमें इस देवी दक्षिणाके आशयको बतानेवाला एक सूत्र मिल जाता है, जो दक्षिणा कुछ संदर्भोंमें तो यों प्रतीत होती है कि यह उषाका एक रूप या विशेषण है और अन्य संदर्भोंमें यह यज्ञमें हवियोंका संविभाजन करनेवाली प्रतीत होती है। उषा है दिव्य आलोक और **दक्षिणा** है वह विवेचक ज्ञान जो 'उषा'के साथ आता है और मनकी **शक्ति**को, इन्द्र को, इस योग्य बना देता है कि वह यथार्थको जान सके और प्रकाशको अंधकारसे, सत्यको अनृतसे, सरलको कुटिलसे विविक्त करके वरण कर सके, **'वृणीत विजानन्'**। इन्द्रके दक्षिण और वाम हाथ ज्ञानमें उसकी क्रियाकी दो शक्तियाँ हैं; क्योंकि उसकी दो बाहुओंको कहा गया है **'गभस्ति'** और **'गभस्ति'** एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ सामान्यतः तो सूर्यकी किरण होता है पर साथ ही इसका अर्थ अग्रबाहु भी होता है, और इन्द्रकी ये दो शक्तियाँ उसकी उन दो बोधग्राहक शक्तियोंके, उसके उन दो चमकीले घोड़ों, 'हरी'के अनुरूप हैं जो इस रूपमें वर्णित किये गये हैं कि वे सूर्यचक्षु, **'सूरचक्षसा'** हैं और सूर्यकी दर्शन-शक्तियाँ (Vision powers), **'सूर्यस्य केतू'** हैं। दक्षिणा दक्षिण हाथकी शक्तिकी—'दक्षिण'की—अधिष्ठात्री है, और इसलिये हम यह शब्द-विन्यास पाते हैं—**'दक्षिणे दक्षिणावान्'**। यही (दक्षिणा) वह विवेकशक्ति है जो यज्ञकी यथातथ क्रिया पर तथा हवियोंके यथातथ संविभागपर अधिष्ठातृत्व करती है और यही इन्द्रको इस योग्य बना देती है कि वह पणियोंकी झुंडमें इकट्ठी हुई दौलतको सुरक्षित रूपसे, अपने दाहिने हाथमें, थाम ले। और अंतमें हमें यह बतलाया गया है कि वह रहस्यमय वस्तु क्या है जो हमारे लिये गुफामें रखी गयी थी और जो सत्ताके जलोंके अंदर छिपी है, उन जलोंके अंदर जिनमें पितरोंका विचार रखा जाना है, **अप्सु धियं दधिषे**। यह है छिपा हुआ **सूर्य,** हमारी दिव्य सत्ताका गुप्त **प्रकाश,** जिसे पाना है और ज्ञान द्वारा उस अंधकारमेंसे निकालना है जिसमें यह छिपा पड़ा है। यह प्रकाश भौतिक प्रकाश नहीं है, यह तो एक

---

1. **"गुहाहितं गुह्यं गूळ्हमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान् ॥6॥"**
"ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके ॥7॥"

विजानन् शब्दसे पता लग जाता है क्योंकि इस प्रकाशकी प्राप्ति होती है यथार्थ ज्ञान द्वारा और दूसरे इससे कि इसका परिणाम नैतिक होता है, अर्थात् हम पापकी उपस्थितिसे दूर हो जाते हैं, **'दुरिताद्'**, शाब्दिक अर्थ लें तो विपरीत गतिसे, स्खलनसे, जो हमारी सत्ताकी रात्रिमें हमें तब तक वशमें किये रहता है, जबतक **सूर्य** उपलब्ध नहीं हो जाता और जबतक दिव्य **उषा** उदित नहीं हो जाती।

एक बार यदि हमें वह कुंजी मिल जाती है जिससे **गौओंका, सूर्यका, मधुमदिराका** अर्थ खुल जाय, तो अंगिरसोंके कथानककी तथा पितरोंके जो कार्य हैं उनकी सभी घटनाएँ (जो वेदमंत्रोंकी कर्मकाण्डीय या प्रकृतिवादी व्याख्यामें ऐसी लगती हैं मानो जहाँ-तहाँ के टुकड़ोंको इकट्ठा जोड़कर एक बिल्कुल असंगत-सी चीज तैयार कर दी गयी हो और जो ऐतिहासिक या आर्य-द्राविड़ व्याख्यामें अत्यंत ही निराशाजनक तौरपर दुर्घट प्रतीत होती हैं, इसके विपरीत) पूर्णतया स्पष्ट तथा संबद्ध लगने लगती हैं और प्रत्येक दूसरीपर प्रकाश डालती हुई नजर आती है। प्रत्येक सूक्त अपनी संपूर्णताके साथ तथा दूसरे सूक्तोंसे जो इसका संबंध है उसके साथ हमारी समझमें आ जाता है; वेदकी प्रत्येक जुदा-जुदा पंक्ति, प्रत्येक संदर्भ, जहाँ-तहाँ बिखरा हुआ प्रत्येक संकेत मिलकर अनिवार्य रूपसे और समस्वरताके साथ एक सामान्य संपूर्णताका, समग्रताका अंगभूत दीखने लगता है। यहाँ हम यह जान चुके हैं कि क्यों मधुको, दिव्य **आनन्द**को यह कहा जा सकता है कि उसे **गौ**के अंदर, **सत्य**के जगमगाते हुए **प्रकाश**के अंदर रखा गया; **मधु**को धारण करनेवाली **गौ**का **प्रकाश**के अधिपति तथा उद्गमस्थान **सूर्य**के साथ क्या संबंध है; क्यों अंधकारमें पड़े हुए **सूर्य**की पुनःप्राप्तिका संबंध पणियोंकी गौओंकी उस विजय या पुनःप्राप्तिके साथ है जो अंगिरसों द्वारा की जाती है; क्यों इसे **सत्य**की पुनःप्राप्ति कहा गया है; पैरोंवाली और खुरोंवाली दौलतका तथा गौके खेत या चरागाहका क्या अभिप्राय है। अब हम यह देखने लगे हैं कि पणियोंकी गुफा क्या वस्तु है और क्यों उसे जो 'वल' की गुहामें छिपा है यह भी कहा गया है कि वह उन जलोंके अंदर छिपा है जिन्हें इन्द्र 'वृत्र'के पंजेसे छुड़ाता है, उन सात नदियोंके अंदर छिपा है जो नदियाँ अयास्यके सात-सिरोंवाले स्वर्विजयी विचारसे युक्त हैं; क्यों गुफामेंसे सूर्यके छुटकारेको, अंधकारमेंसे प्रकाशके पृथक्करण या वरणको यह कहा गया है कि यह सर्वविवेचक ज्ञान द्वारा किया जाता है; 'दक्षिणा' तथा 'सरमा' कौन हैं और इसका क्या अभिप्राय है कि इन्द्र खुरोंवाली दौलतको अपने दाहिने हाथमें थामता है। और इन परिणामोंपर

पहुँचनेके लिये हमें शब्दोंका अभिप्राय खींचतान करके नहीं निकालना है, यह नहीं करना है कि एक ही नियत संज्ञाके, जहाँ जैसी सुविधा होती हो उसके अनुसार, भिन्न-भिन्न अर्थ मान लें, अथवा एक ही वाक्यांश या पंक्तिके भिन्न-भिन्न सूक्तोंमें भिन्न-भिन्न अर्थ कर लें अथवा असंगतिको ही वेदमें सही व्याख्याका मानदण्ड मान लें; बल्कि इसके विपरीत ऋचाओंके शब्द तथा रूपके प्रति जितनी ही अधिक सचाई बरती जायगी उतना ही अधिक विशद रूपमें वेदका सामान्य तथा व्योरेवार अभिप्राय एक सतत स्पष्टता और पूर्णताके साथ प्रकट हो जायगा।

इसलिये हमें यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि जो अभिप्राय हमारी खोजसे निकला है उसे हम अन्य संदर्भोंमें भी प्रयुक्त करें, जैसे कि वसिष्ठके सूक्त 7.76में, जिसकी मैं अब परीक्षा करूँगा। यद्यपि उसमें ऊपर-ऊपरसे देखने पर केवल भौतिक उषाका एक आनंदसे पुलकित कर देनेवाला चित्र ही प्रतीत होगा पर जब हम इस सूक्तकी परीक्षा करते हैं तो यह प्रथम छाप मिट जाती है। हम देखते हैं कि यहाँ सतत रूपसे एक गंभीरतर अर्थ सूचित होता है और जिस क्षण हम उस चाबीका उपयोग करते हैं जो हमें मिली है उसी क्षण वास्तविक अभिप्रायकी समस्वरता दिखायी देने लगती है। यह सूक्त प्रारम्भ होता है परम **उषा**के प्रकाशके रूपमें **सूर्य**के उस उदयके वर्णनसे जिस उदयको देवता तथा अंगिरस् साधित करते हैं।

[1]'सविता, जो देव है, विराट् **नर** है, उस **प्रकाश**में ऊपर चढ़ गया है जो अमर है और सब जन्मोंवाला है, **ज्योतिरमृतं विश्वजन्यम्**; (यज्ञके) कर्म द्वारा देवोंकी आंख पैदा हो गयी है (अथवा, देवोंकी संकल्प-शक्ति द्वारा अन्तर्दर्शन पैदा हो गया है); उषाने संपूर्ण लोकको (या उस सबको जो अस्तित्वमें आता है, सब सत्ताओंको, **विश्वं भुवनम्**) अभिव्यक्त कर दिया है।' यह अमर प्रकाश जिसमें सूर्य उदित होता है, अन्य स्थलोंमें सच्चा प्रकाश, **ऋतं ज्योतिः**, कहा गया है; और वेदमें **सत्य** तथा **अमरत्व** सतत रूपसे संबद्ध पाये जाते हैं। यह है ज्ञानका प्रकाश जो सात-सिरोंवाले विचारके द्वारा दिया गया, जिस विचारको अयास्यने पाया था जब कि वह 'विश्वजन्य' अर्थात् विराट् सत्तावाला हो गया था, इसीलिये इस प्रकाशको भी 'विश्वजन्य' कहा गया है, क्योंकि यह अयास्यके चतुर्थ लोक, **'तुरीयं स्विद्'**से संबंध रखता है जिस लोकसे शेष सब पैदा होते हैं और जिसके

---

1. **उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।**
कृत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥ (ऋ. 7.76.1)

सत्यसे शेष सब अपने विशाल विराट्रूपमें अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं, न कि पहलेकी तरह अनृत और कुटिलताकी सीमित अवस्थाओंमें। इसीलिये इसे यह भी कहा गया है कि यह देवोंकी आंख है और दिव्य उषा है जो संपूर्ण सत्तामात्रको अभिव्यक्त कर देती है।

दिव्य दर्शनके इस जन्मका परिणाम यह होता है कि मनुष्यका मार्ग उसके लिये अपने-आपको प्रकट कर देता है तथा देवोंकी या देवोंके प्रति की जानेवाली उन यात्राओं (**देवयानाः**)को प्रकट कर देता है, जो यात्राएं दिव्य सत्ताके अनंत- विस्तारकी ओर ले जाती हैं। 'मेरे सामने देवोंकी यात्राओंके मार्ग प्रत्यक्ष हो गये हैं, उन यात्राओंके जो सत्य नियमका उल्लङ्घन नहीं करतीं, जिनकी गति वसुओं द्वारा निर्मित की गयी थी। यह सामने उषाकी आंख पैदा हो गयी है और वह हमारे घरोंके ऊपर (पहुंचती हुई) हमारी तरफ आ गयी है।'[1] घर वेदमें एक स्थिर प्रतीक है उन शरीरोंके लिये जो आत्माके निवास-स्थान हैं, ठीक वैसे ही जैसे खेत (क्षेत्र) या आश्रय-स्थान (क्षय)से अभिप्राय होता है वे स्तर जिनमें आत्मा आरोहण करता है तथा जिनमें वह ठहरता है। मनुष्यका मार्ग वह मार्ग है जिसपर वह सर्वोच्च लोकमें पहुंचनेके लिये यात्रा करता है, और वह वस्तु जिसे देवोंकी यात्राएं हिंसित नहीं करतीं देवों की क्रियाएं हैं, जीवनका दिव्य नियम है जिसमें आत्माको बढ़ना होता है, जैसा कि हम पांचवीं ऋचामें देखते हैं जहाँ इसी वाक्यांशको फिर दोहराया गया है।

इसके बाद हम एक विचित्र आलंकारिक वर्णन पाते हैं, जो आर्योंके उत्तरीय ध्रुव-निवासकी कल्पनाको पुष्ट करता प्रतीत होता है। "वे दिन बहुत-से थे जो सूर्यके उदयके पहले थे (अथवा, जो सूर्यके उदय तक प्राचीन हो गये थे), जिनमें हे उषः! तू दिखायी पड़ी, मानो कि अपने प्रेमीके चारों ओर घूम रही हो और तुझे पुनः न आना हो।"[2] सचमुच ही यह ऐसी उषाओंका चित्र है जो अविच्छिन्न हैं, जिनके बीचमें रात्रि व्यवधान नहीं डालती, वैसी जैसी कि उत्तरीय ध्रुवके प्रदेशोंमें दृष्टिगोचर होती हैं। अध्यात्मपरक आशय जो इस ऋचासे निकलता है वह तो स्पष्ट ही है।

---

1. **प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः।**
   अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः॥ (ऋ. 7.76.2)
2. **तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।**
   यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ववक्षे न पुनर्यतीव॥ (ऋ. 7.76.3)

ये उषाएं क्या थीं? ये वे थीं जो पितरों, प्राचीन अंगिरसोंकी क्रियाओं द्वारा रची गयी थीं। "वे सचमुच देवोंके साथ (सोमका) आनंद लेते थे,[1] वे प्राचीन द्रष्टा थे जो सत्यसे युक्त थे, उन पितरोंने छिपी हुई ज्योतिको पा लिया; सत्य विचारसे युक्त हुए-हुए (**सत्यमन्त्राः**, उस सत्य विचारसे जो अन्तःप्रेरित **वाणी**, मंत्र, में अभिव्यक्त हुआ था) उन्होंने उषाको पैदा कर दिया।"[2] और यह उषा, यह मार्ग, यह दिव्य यात्रा, पितरोंको कहाँ ले गयी? समतल विस्तारमें, **'समाने ऊर्वे'**, जिसे अन्य स्थलोंमें 'निर्बाध विस्तार' नाम दिया गया है, **'उरौ अनिबाधे'**, यह स्पष्ट ही वही वस्तु है जो वह विशाल सत्ता वा विशाल लोक है जिसे कण्वके अनुसार मनुष्य तब रचते हैं जब वे वृत्रका वध कर लेते हैं और द्यावापृथिवीके पार चले जाते हैं; यह है बृहत् सत्य तथा 'अदिति'की असीम सत्ता। "समतल विस्तारमें वे परस्पर संगत होते हैं और अपने ज्ञानको एक करते हैं (अथवा पूर्णतया ज्ञान रखते हैं), और परस्पर होड़ या संघर्ष नहीं करते; वे देवोंकी क्रियाओंको क्षीण नहीं करते (सीमित या क्षत नहीं करते), उनमें बाधा न डालते हुए वे वसुओं (की शक्ति) द्वारा (अपने लक्ष्यकी तरफ) गति करते हैं।"[3] यह स्पष्ट है कि सात अंगिरस्, चाहे वे मानव हों चाहे दिव्य, **ज्ञान, विचार** या **शब्द**के, सात सिरों-वाले विचारके, बृहस्पतिके सात-मुखोंवाले शब्दके भिन्न-भिन्न सात तत्त्वोंको सूचित करते हैं और समतल विस्तारमें आकर वे एक विराट् ज्ञानमें समस्वर हो जाते हैं। स्खलन, कुटिलता, असत्य जिनके द्वारा मनुष्य देवोंकी क्रियाओंका उल्लङ्घन करते हैं तथा जिनके द्वारा उनकी सत्ता, चेतना व ज्ञानके विभिन्न तत्त्व एक दूसरेके साथ अंधे संघर्षमें जुट जाते हैं, दिव्य उषाकी आंख या दर्शन (Vision) द्वारा परे हटा दिये जाते हैं।

सूक्त समाप्त होता है वसिष्ठोंकी इस अभीप्साके साथ कि उन्हें वह दिव्य तथा सुखमयी उषा प्राप्त हो जो गौओंकी नेत्री तथा समृद्धिकी पत्नी

---

1. मैं थोड़ी देरके लिये 'सधमादः'के परम्परागत अर्थको ही स्वीकार किये लेता हू, यद्यपि मुझे यह निश्चय नहीं कि यह अर्थ शुद्ध ही है।
2. त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्॥
(ऋ. 7.76.4)
3. समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः॥ (ऋ. 7.76.4)

है और साथ ही जो आनंद तथा सत्योंकी (सूनृतानाम्) नेत्री है।[1] वे वही महाकार्य करना चाहते हैं जिसे पूर्व द्रष्टाओंने, पितरोंने, किया था, और इससे यह परिणाम निकलेगा कि ये अंगिरस् मानवीय हैं, न कि दिव्य। कुछ भी हो, अंगिरसोंके कथानकका अभिप्राय इसके सब अंग-उपांगोंसहित नियत हो गया है, सिवाय इसके कि पणियोंका तथा कुक्कुरी सरमाका ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, और अब हम इस ओर प्रवृत्त हो सकते हैं कि चतुर्थ मण्डलके प्रारम्भके सूक्तोंमें जो संदर्भ आते हैं उनपर विचार करें, जिनमें मानव पितरोंका साफ-साफ उल्लेख हुआ है और उनके महान् कार्यका वर्णन किया गया है। वामदेवके ये सूक्त अंगिरसोंके कथानकके इस अंग पर अत्यधिक प्रकाश डालनेवाले तथा इस दृष्टिसे अत्यावश्यक हैं और अपने-आपमें भी वे ऋग्वेदके अधिक-से-अधिक रोचक सूक्तोंमेंसे हैं।

1, प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व॥
एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिम्यते वसिष्ठैः।
(ऋ. 7.76.6-7)

उन्नीसवां अध्याय

पितरोंकी विजय

महान् ऋषि वामदेवके द्वारा दिव्य ज्वाला को, द्रष्टृसंकल्प (Seer-Will) को, 'अग्नि'को, संबोधित किये गये सूक्त ऋग्वेदके उन सूक्तोंमेंसे हैं जो अधिक-से-अधिक रहस्यवादी उद्‌गारवाले हैं और यदि हम ऋषियों द्वारा प्रयुक्तकी गयी अर्थपूर्ण अलंकारोंकी पद्धतिको दृढ़तापूर्वक अपने मनोंमें बैठा लेवें तो ये सूक्त अपने अभिप्रायमें बिलकुल सरल हो जाते हैं। किन्तु यदि हम ऐसा न कर सकें तो ये हमें बेशक ऐसे प्रतीत होंगे मानो ये केवल शब्दरूपकोंकी चमक-दमकवाली एक धुन्धमात्र हैं, जो हमारी समझको चक्कर-में डाल देते हैं। पाठकको प्रतिक्षण उस नियत संकेत-पद्धतिको काममें लाना होता है जो वेदमंत्रोंके आशयको खोलनेकी चाबी है; नहीं तो वह उतना ही अधिक घाटेमें रहेगा, जितना कि वह रहता है जो तत्त्वज्ञान-शास्त्रको पढ़ना चाहता है पर जिसने उन दार्शनिक पारिभाषिक-संज्ञाओंके अभिप्रायको अच्छी तरह नहीं समझा जो उस शास्त्रमें सतत रूपसे प्रयुक्त होती हैं, अथवा हम यह कहें कि जितना वह रहता है जो पाणिनिके सूत्रोंको पढ़नेका यत्न करता है पर यह नहीं जानता कि व्याकरणसंबंधी संकेतोंकी वह विशेष पद्धति क्या है जिसमें वे सूत्र प्रकट किये गये हैं। तो भी आशा है वैदिक रूपकोंकी इस पद्धति पर पहले ही हम पर्याप्त प्रकाश प्राप्त कर चुके हैं, जिससे कि वामदेव हमें मानवीय पूर्वपितरोंके महाकार्यके विषयमें क्या कहना चाहता है इसे हम काफी अच्छी तरह समझ सकते हैं।

प्रारम्भमें अपने मनमें यह बात बैठा लेनेके लिये कि वह महाकार्य क्या था, हम उन स्पष्ट तथा स्वतः-पर्याप्त सूत्र-वचनोंको अपने सामने रख सकते हैं जिनमें पराशर शाक्त्यने उन विचारोंको प्रकट किया है। 'हमारे पितरोंने अपने शब्दों द्वारा (**उक्थैः**) अचल तथा दृढ़ स्थानोंको तोड़कर खोल दिया; तुम अंगिरसोंने अपनी आवाजसे (**रवेण**) पहाड़ीको तोड़कर खोल दिया; उन्होंने हमारे अंदर महान् द्यौके लिये मार्ग बना दिया; उन्होंने दिनको, स्वःको और अन्तर्दर्शन (Vision) को और जगमगानेवाली गौओंको पा लिया।'

चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुत्राः ॥ (ऋ. 1.71.2)[1]

यह मार्ग, वह कहता है, वह मार्ग है जो अमरताकी ओर ले जाता है; 'उन्होंने जो उन सब वस्तुओंके अन्दर जा घुसे थे जो यथार्थ फल देनेवाली हैं, अमरताकी तरफ ले जानेवाला मार्ग बनाया; महत्ताके द्वारा तथा महान् (देवों)के द्वारा पृथिवी उनके लिये विस्तीर्ण होकर खड़ी हो गयी, माता **अदिति** अपने पुत्रोंके साथ उन्हें थामनेके लिये आयी (या, उसने अपने-आपको प्रकट किया)' (ऋ० 1.72.9[2])। कहनेका अभिप्राय यह है कि भौतिक सत्ता ऊपरके असीम स्तरोंकी महत्तासे आविष्ट होकर तथा उन महान् देवताओंकी शक्तिसे आविष्ट होकर जो उन स्तरों पर शासन करते हैं, अपनी सीमाओंको तोड़ डालती है, **प्रकाश**को लेनेके लिये खुल जाती है और अपनी इस नवीन विस्तीर्णतामें वह असीम **चेतना, 'माता अदिति**'के द्वारा तथा उसके पुत्रों, **परमदेव**की दिव्य शक्तियों द्वारा थामी जाती है। यह है वैदिक अमरता।

इस प्राप्ति तथा विस्तीर्णताके उपाय भी पराशरने अति संक्षेपसे अपनी रहस्यमयी, पर फिर भी स्पष्ट और हृदयस्पर्शी शैलीमें प्रतिपादित कर दिये हैं। 'उन्होंने सत्यको धारण किया, उन्होंने इसके विचारको समृद्ध किया; तभी वस्तुतः उन्होंने, अभीप्सा करती हुई आत्माओंने (**अर्यः**) इसे विचारमें धारण करते हुए, अपनी सारी सत्तामें फैले हुए इसे थामा।'

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः। (ऋ. 1.71.3)

'**विभृत्राः**'में जो अलंकार है वह **सत्य**के विचारको हमारी सत्ताके सारे तत्त्वोंमें थामनेको सूचित करता है, अथवा यदि इसे सामान्य वैदिक रूपकमें रखें, तो इस रूपमें कह सकते हैं कि यह सात-सिरोंवाले विचारको सातोंके सातों जलोंके अन्दर धारण करनेको, **अप्सु धियं धिषे**, सूचित करता है, जैसा कि अन्यत्र इसे हम लगभग ऐसी ही भाषामें प्रकट किया गया देख चुके हैं। यह इस अलंकारमय वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है जो तुरन्त इसके बाद इसी ऋचाके उत्तरार्द्धमें आया है,—'जो कर्मके करनेवाले हैं वे तृष्णा-

---

1. यह पूरा मंत्र इस प्रकार है—
वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुत्राः ॥
2. **आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।**
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः ॥

रहित (जलों)की तरफ जाते हैं, जो जल आनन्दकी तुष्टि द्वारा दिव्य जन्मों-को बढ़ानेवाले हैं',

अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः।

तुष्टि पायी हुई सप्तविध सत्य-सत्तामें रहनेवाली सप्तविध सत्य-चेतना, आनन्दको पानेके लिये जो आत्माकी भूख है उसे शांत करके हमारे अन्दर दिव्य जन्मोंको बढ़ाती है, यह है अमरताकी वृद्धि। यह है दिव्य सत्ता, दिव्य प्रकाश और दिव्य सुखके उस त्रैतका व्यक्तीकरण जिसे बादमें चलकर वेदान्तियोंने सच्चिदानन्द कहा है।

सत्यके इस विराट् फैलावके तथा हमारे अन्दर सब दिव्यताओंकी उत्पत्ति तथा क्रियाके (जो हमारे वर्तमान सीमित मर्त्य जीवनके स्थान पर हमें व्यापक और अमर जीवन प्राप्त हो जानेका आश्वासन दिलानेवाले हैं) अभिप्रायको पराशरने 1.68 में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। 'अग्नि', दिव्य द्रष्टृ-संकल्प (Seer-Will)का वर्णन इस रूपमें किया गया है कि वह द्युलोकमें आरोहण करता है तथा उस सबमेंसे जो स्थिर है और उस सबमें-से जो चंचल है रात्रियोंके पर्देको समेट देता है, 'जब वह ऐसा एक देव हो जाता है कि अपनी सत्ताकी महिमासे इन सब दिव्यताओंको चारों ओरसे घेर लेता है।'[1]

"तभी वस्तुतः सब संकल्पको (या कर्मको) स्वीकार करते हैं और उसके साथ संसक्त हो जातें हैं, जब हे देव! तू शुष्कतामेंसे (अर्थात् भौतिक सत्तामेंसे, जिसे एक ऐसी मरुभूमि कहा गया है जो सत्यकी धाराओंसे असिञ्चित है) एक सजीव आत्माके रूपमें पैदा हो जाता है, सब अपनी गतियों द्वारा सत्य तथा अमरताको अधिगत करते हुए दिव्यताका आनन्द लेते हैं।"[2]

भजन्त विश्वे देवत्वं नाम, ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः।

"सत्यकी प्रेरणा, सत्यका विचार एक व्यापक जीवन हो जाता है (या सारे जीवनको व्याप्त कर लेता है), और इसमें सब अपनी क्रियाओंको पूर्ण करते हैं।"

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीति विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः। (ऋ. 1.68.3)

---

1. श्रीणन् उप स्थाद् दिवं भुरण्युः स्थातुश्चरथमक्तून् व्यूर्णोत्।
"परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवानां महित्वा" ॥ (ऋ. 1.68.1)
2. आदित्ते विश्वे ऋतं जुषन्त शुष्काद्यद्देव जीवो जनिष्ठाः।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः ॥ (ऋ. 1.68.2)

और वेदकी उस दुर्भाग्यपूर्ण भ्रांत व्याख्याके शिकार होकर जिसे यूरोपीय पाण्डित्यने आधुनिक मन पर थोप रखा है, कहीं हम अपने मनमें यह विचार न बना लें कि ये पंजाबकी ही सात भूमिष्ठ नदियां हैं जो मानव पूर्व-पितरोंके अतिलौकिक महाकार्यमें काम आती हैं, इसके लिये हमें ध्यान देना चाहिये कि पराशर अपनी स्पष्ट और प्रकाशकारिणी शैलीमें इन सात नदियोंके बारेमें क्या कहता है। "सत्यकी प्रीणयित्री गौओंने ('धेनवः', एक रूपक है जो नदियोंके लिये प्रयुक्त किया गया है, जब कि 'गावः' या 'उस्राः' शब्द सूर्यकी प्रकाशमान गौओंको प्रकट करता है) रंभाते हुए, सुखमय ऊधसोंसे उसकी पालनाकी, उन्होंने द्यौमें आनन्द लिया; सुविचारको सर्वोच्च (लोक)से वर रूपमें प्राप्त करके नदियां पहाड़ीके ऊपर विस्तीर्ण होकर तथा समताके साथ प्रवाहित हुईं",

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः, स्मदूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः।
परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् ॥ (ऋ. 1.73.6)

और 1.72.8में एक ऐसी शब्दावलिमें उनका वर्णन करता हुआ जो दूसरे सूक्तोंमें नदियोंके लिये प्रयुक्त हुई है, वह कहता है, "विचारको यथार्थ रूपसे रखनेवाली, सत्यको जाननेवाली, द्यौकी सात शक्तिशाली नदियों ने आनन्दके द्वारोंको ज्ञानमें प्रत्यक्ष किया, 'सरमा'ने जगमगाती गौओंके दृढ़त्वको, विस्तारको पा लिया; उसके द्वारा मानुषी प्रजा आनन्द भोगती है।"

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वीः, रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं, येना नु क मानुषी भोजते विट्॥

स्पष्ट ही ये पंजाबकी नदियां नहीं हैं, बल्कि आकाश (द्यौ)की नदियां हैं, सत्यकी धाराएं हैं,[1] सरस्वती जैसी देवियां हैं जो ज्ञानमें सत्यसे युक्त हैं और जो इस सत्यके द्वारा मानुषी प्रजाके लिये आनन्दके द्वारोंको खोल देती हैं। यहाँ भी हम वही देखते हैं, जिसपर मैं पहले ही बल दे चुका हूँ, कि गौओंके ढूंढ़ निकाले जानेमें तथा नदियोंके बह निकलनेमें एक गहरा सम्बन्ध है; ये दोनों एक ही कार्यके, महाकार्यके अंगभूत हैं, और वह है मनुष्यों द्वारा सत्य तथा अमृतकी प्राप्तिका महाकार्य, **ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः**।

अब यह पूर्णतया स्पष्ट है कि अंगिरसोंका महाकार्य है सत्य तथा अमरता की विजय; 'स्वः' जिसे महान् लोक, **बृहद् द्यौः**, भी कहा गया है सत्यका

1. देखो ऋ. 1.32.8 में हिरण्यस्तूप आंगिरस् 'वृत्र'से मुक्त होकर आये हुए जलोंका इस रूपमें वर्णन करता है कि वे "मनकी ओर आरोहण करते हैं", मनो रुहाणाः ; और अन्यत्र वे इस रूपमें कहे गये हैं कि ये वे जल हैं जो अपने अन्दर ज्ञानको रखते हैं, आपो विचेतसः (1.83.1)।

लोक है जो सामान्य द्यौ और पृथिवीसे ऊपर है, जो द्यौ तथा पृथिवी इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकते कि ये सामान्य मानसिक तथा भौतिक सत्ता हों; बृहत् द्यौका मार्ग, **सत्य**का मार्ग जिसे अंगिरसोंने रचा है और सरमाने जिसका अनुसरण किया है वह मार्ग है जो अमरताकी तरफ ले जाता है, **अमृतत्वाय गातुम्**; उषाका दर्शन (केतु), अंगिरसों द्वारा जीता गया दिन वह अन्तर्दर्शन है जो **सत्य-चेतना**को अपने स्वभावसे ही होता है; **सूर्य** तथा **उषा**की जगमगाती हुई गौएं, जो पणियोंसे जबर्दस्ती छीनी गयी हैं, इसी **सत्य-चेतना**की ज्योतियां हैं जो **सत्य**के विचार, **ऋतस्य धीतिः**को रचनेमें सहायक होती हैं, यह सत्यका विचार अयास्यके सात-सिरोंवाले विचारमें पूर्ण होता है; वेदकी **रात्रि** मर्त्य सत्ताकी अंधकारावृत चेतना है जिसमें **सत्य** अवचेतन बना हुआ है, पहाड़ीकी गुफामें छिपा हुआ है; **रात्रि**के इस अंधकारमें पड़े हुए खोये सूर्यकी पुनःप्राप्तिका अभिप्राय है अंधकारपूर्ण अवचेतन अवस्थामेंसे **सत्य**के सूर्यकी पुनःप्राप्ति; और सात नदियोंके भूमिकी ओर अधःप्रवाह होनेका मतलब होना चाहिये हमारी सत्ताके सप्तगुण तत्त्वकी उस प्रकारकी बहिःप्रवाही क्रिया जैसी वह दिव्य या अमर सत्ताके **सत्य**में व्यवस्थितकी जा चुकी है। और फिर इसी प्रकार, पणि होने चाहियें वे शक्तियां जो **सत्य**को अवचेतन अवस्थामेंसे बाहर निकलनेसे रोकती हैं और जो सतत रूपसे इस (सत्य)के प्रकाशोंको मनुष्यके पास से चुरानेका प्रयत्न करती हैं और मनुष्यको फिरसे **रात्रि**में ढकेल देती हैं और **वृत्र** वह शक्ति होनी चाहिये जो **सत्य**की प्रकाशमान नदियोंकी स्वच्छन्द गतिमें बाधा डालती है और उसे रोकती है, हमारे अंदर **सत्य**की अन्तःप्रेरणा, **ऋतस्य प्रेषा**में बाधा पहुंचाती है, उस ज्योतिर्मयी अन्तःप्रेरणा, **ज्योतिर्मयीम् इषम्**में जो हमें रात्रिसे पार कराके **अमरता** प्राप्त करा सकती है। और इसके विपरीत, देवता, 'अदिति'के पुत्र, होने चाहियें वे प्रकाशमयी दिव्यशक्तियां जो असीम चेतना 'अदिति'से पैदा होती हैं, जिनकी रचना और क्रिया हमारी मानवीय तथा मर्त्य सत्ताके अंदर आवश्यक हैं, जिससे कि हम विकसित होते-होते दिव्य रूपमें, देवकी सत्ता (**देवत्वम्**)में परिणत हो जायं, जो कि **अमरता**की अवस्था है। 'अग्नि' सत्य-चेतनामय द्रष्टृ-संकल्प है, वह प्रधान देवता है जो हमें यज्ञको सफलतापूर्वक करनेमें समर्थ बना देता है; वह यज्ञको **सत्य**के मार्ग पर ले जाता है, वह संग्रामका योद्धा है, कर्मका अनुष्ठाता है और अपने अंदर अन्य सब दिव्यताओंको ग्रहण किये हुए उस 'अग्नि'की हमारे अंदर एकता तथा व्यापकताका होना ही **अमरता**का आधार है। **सत्य**का लोक जहां हम पहुंचते हैं उसका अपना घर है तथा अन्य देवोंका

अपना घर है और वही मनुष्यके आत्माका अंतिम प्राप्तव्य घर है। और यह **अमरता** वर्णितकी गयी है एक परम सुख के रूपमें, असीम आत्मिक संपत्ति तथा समृद्धिकी अवस्था, **रत्न, रयि, राधस्** आदिके रूपमें, हमारे दिव्य घरके खुलनेवाले द्वार हैं आनंद-समृद्धिके द्वार, **रायो दुरः**, वे दिव्य द्वार जो उनके लिये झूलते हुए सपाट खुल जाते हैं जो **सत्य**को बढ़ानेवाले (ऋतावृधः) हैं, और जिन द्वारोंको हमारे लिये सरस्वतीने और इसकी बहिनोंने, सात सरिताओंने, सरमाने खोजा है; इन द्वारोंकी तरफ और उस विशाल चरागाह (क्षेत्र)की तरफ जो विस्तीर्ण **सत्य**की निर्बाध तथा सम निःसीमताओंमें स्थित है बृहस्पति और इन्द्र चमकीली गौओंको ऊपरकी ओर ले जाते हैं।

इन विचारोंको यदि हम स्पष्टतया अपने मनोंमें गड़ा लेवें तो हम इस योग्य हो जायंगे कि वामदेवकी ऋचाओंको समझ सकें, जो उसी विचार-सामग्रीको प्रतीकमयी भाषामें बार-बार दोहराती हैं जिसे पराशरने अपेक्षाकृत अधिक खुले तौर पर व्यक्त कर दिया है। वामदेवके प्रारंभिक सूक्त 'अग्नि'[1]-को, द्रष्टृ-संकल्पको ही संबोधित किये गये हैं। उसका इस रूपमें स्तुति-गान किया गया है कि वह मनुष्यके यज्ञका बंधु या निर्माता है, जो मनुष्य-को साक्षाद् दर्शन (Vision)के प्रति, ज्ञान (केतु)के प्रति जागृत करता है, **स चेतयन् मनुषो यज्ञबन्धुः** (ऋ. 4.1.9)। ऐसा करता हुआ, "वह इस मनुष्यके द्वारोंवाले घरोंमें कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्न करता हुआ निवास करता है; वह जो देव है, मर्त्यकी कार्यसिद्धिमें साधन बननेके लिये आया है।"

स क्षेति अस्य दुर्यासु साधन् देवो मर्तस्य सधनित्वमाप॥ (4.1.9)

वह क्या है जिसे यह सिद्ध करता है? यह अगली ऋचा हमें बताती है। "यह **'अग्नि'** जानता हुआ हमें अपने उस आनंदकी तरफ ले जाय जिसका देवोंने आस्वादन किया है, जिसे सब अमर्त्योंने विचार द्वारा रचा है और **'द्यौष्पिता'**, जो जनिता है, सत्यका सिञ्चन कर रहा है।"

स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्नं देवभक्तं यदस्य।
धिया यद् विश्वे अमृता अकृण्वन् द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्॥

(ऋ. 4.1.10)

यही है पराशर द्वारा वर्णित **अमरता**का परम सुख जिसे अमरदेवकी सभी शक्तियोंने **सत्य**के विचारमें तथा इसकी प्रेरणामें अपना कार्य करके रचा है, और सत्यका सिञ्चन स्पष्ट ही जलोंका सिञ्चन है जैसा कि **'उक्षन्'** शब्दसे सूचित होता है, यह वही है जिसे पराशरने पहाड़ीके ऊपर सत्यकी सात नदियोंका समतायुक्त प्रसार कहा है।

वामदेव अपने कथनको जारी रखता हुआ आगे हमें इस महान्, प्रथम या सर्वोच्च शक्ति, 'अग्नि'के जन्मके बारेमें कहता है, जो जन्म सत्यमें होता है, इसके जलोंमें, इसके आदिम घरमें होता है। 'प्रथम वह (अग्नि) पैदा हुआ जलोंके अंदर, बृहत् लोक (स्वः)के आधारके अंदर, इसके गर्भ (अर्थात् इसके वेदि-स्थान और जन्म-स्थान, इसके आदिम घर)के अंदर; वह बिना सिर और पैरके था, अपने दो अंतोंको छिपा रहा था, वृषभकी मांदमें अपने आपको कार्यमें लगा रहा था।'[1] वृषभ है देव या पुरुष, उसकी मांद है सत्यका लोक, और अग्नि, जो 'द्रष्टृ-संकल्प'है, सत्य-चेतनामें कार्य करता हुआ लोकोंको रचता है; पर वह अपने दो अंतोंको, अपने सिर और पैरको, छिपाता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि उसके व्यापार पराचेतन तथा अवचेतन (Superconscient and subconscient)के बीचमें क्रिया करते हैं, जिनमें उसकी उच्चतम और निम्नतम अवस्थाएं क्रमशः छिपी रहती हैं, एक तो पूर्ण प्रकाशमें दूसरी पूर्ण अंधकारमें। वहाँसे फिर वह प्रथम और सर्वोच्च शक्तिके रूपमें आगे प्रस्थान करता है और सुखकी सात शक्तियों, सात प्रियाओंकी, क्रियाके द्वारा वह वृषभ या देवके यहाँ पैदा हो जाता है। 'प्रकाशमय ज्ञान द्वारा जो प्रथमशक्तिके रूपमें आया था, वह (अग्नि) आगे गया और सत्यके स्थानमें, वृषभकी मांदमें, वांछनीय, युवा, पूर्ण शरीरवाला, अतिशय जगमगाता हुआ, वह पहुंच गया; सात प्रियाओंने उसे देवके यहाँ पैदा कर दिया।'[2]

इसके बाद ऋषि आता है मानवीय पितरोंके महाकार्यकी ओर, **अस्माकमत्र पितरो मनुष्याः, अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः**। "यहाँ हमारे मानव पितर सत्यको खोजना चाहते हुए इसके लिये आगे बढ़े; अपने आवरक कारागारमें बन्द पड़ी हुई चमकीली गौओंको, चट्टानके बाड़ेमें बन्द अच्छी दुधार गौओंको वे ऊपरकी तरफ (सत्यकी ओर) हाँक ले गये, उषाओंने उनकी पुकारका उत्तर दिया[3] ।13। उन्होंने पहाड़ीको विदीर्ण कर दिया और उन्हें (गौओंको) चमका दिया; अन्य जो उनके चारों तरफ थे उन

---

1. स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे ।। (ऋ. 4.1.11)
2. प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे ।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे ।। (ऋ. 4.1.12)
3. अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः ।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ।। (ऋ. 4.1.13)

सबने उनके इस (**सत्य**)को खुले तौर पर उद्घोषित कर दिया; पशुओंको हांकनेवाले उन्होंने कर्मोंके कर्त्ता (अग्नि)के प्रति स्तुति-गीतोंका गान किया, उन्होंने प्रकाशको पा लिया, वे अपने विचारोंमें जगमगा उठे (अथवा, उन्होंने अपने विचारों द्वारा कार्यको पूर्ण किया)[1]।14। उन्होंने उस मनसे जो प्रकाशकी (गौओंकी, **गव्यता मनसा**) खोज करता है, उस दृढ़ और निबिड़ पहाड़ीको तोड़ डाला जिसने प्रकाशमयी गौओंको घेर रखा था; इच्छुक आत्माओंने दिव्य शब्द द्वारा, **वचसा दैव्येन,** गौओंसे भरे हुए दृढ़ बाड़ेको खोल दिया[2] 15।" ये अंगिरसोंके कथानकके सामान्य आलंकारिक वर्णन हैं, पर अगली ऋचामें वामदेव अपेक्षाकृत और भी अधिक रहस्यमयी भाषाका प्रयोग करता है। "उन्होंने प्रीणयित्री गौके प्रथम नामको मनमें धारण किया, उन्होंने **माता**के त्रिगुणित सात उच्च (स्थानों)को पा लिया; मादा गायोंने उसे जान लिया और उन्होंने इसका अनुसरण किया, **प्रकाशरूपी** गौकी शानदार प्राप्ति (या शोभा)के द्वारा एक अरुण वस्तु आविर्भूत हुई।"

ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्।
तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः॥ (ऋ. 4.1.16)

यहाँ **माता** है 'अदिति', असीम चेतना, जो **'धेनु'** या प्रीणयित्री **गौ** है, जिसके साथ अपने सप्तगुण प्रवाहके रूपमें सात सरिताएं हैं, साथ ही वह **प्रकाशकी 'गौ'** भी है जिसके साथ उषाएं है, जो उसके शिशुओंके रूपमें हैं; वह **अरुण** वस्तु है दिव्य **उषा** और गायें या किरणें हैं उसके खिलते हुए प्रकाश। जिस माताके त्रिगुणित सात परम स्थान हैं जिन्हें उषाएं या मानसिक प्रकाश जानते हैं और उनकी ओर गति करते हैं, उस **माता**का प्रथम नाम होना चाहिये परम **देव**का नाम या देवत्व, वह **देव** है असीम सत्ता और असीम चेतना और असीम सुख, और तीन वेदि-स्थान हैं तीन दिव्य लोक जिन्हें इसके पहले इसी सूक्तमें अग्निके तीन उच्च जन्म कहा[3] है, जो पुराणोंके 'सत्य', 'तपस्' और 'जन' हैं, जो देवकी इन तीन असीमताओंके अनुरूप हैं और इनमेंसे प्रत्येक अपने-अपने तरीकेसे हमारी

---

1. **ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो वि वोचन्।**
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन् विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः॥
(ऋ. 4.1.14)

2. **ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धं गा येमानं परि षन्तमद्रिम्।**
दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः॥ (ऋ. 4.1.15)

3. देखो मंत्र ७,—"त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः।"

सत्ताके सप्तगुण तत्त्वको पूर्ण करता है। इस प्रकार हम अदितिके त्रिगुणित सात स्थानोंकी श्रेणियां पाते हैं जो **सत्य**की दिव्य **उषा**मेंसे खुलकर अपनी संपूर्ण शोभामें प्रकट हो गयी हैं[1]। साथ ही हम देखते हैं कि मानवीय पितरों द्वाराकी गयी **प्रकाश** तथा **सत्य**की उपलब्धि भी एक आरोहण है, जो परम तथा दिव्य पदकी अमरताकी तरफ होता है, सर्वस्रष्ट्री असीम **माता** के प्रथम नामकी ओर होता है, इस आरोहण करनेवाली सत्ताके लिये उस (माता)के जो त्रिगुणित सात उच्च पद हैं उनकी ओर होता है और सनातन पहाड़ी (**अद्रि**)के सर्वोच्च सम-प्रदेशों (**सानु**)की ओर होता है।

यह अमरता वह आनंद है जिसका देवोंने आस्वादन किया है, जिसके विषयमें वामदेव हमें पहले ही बतला चुका है कि यह वह वस्तु है जिसे 'अग्नि'को यज्ञ द्वारा सिद्ध करना है, यह वह सर्वोच्च सुख है जो ऋ 1.20.7 के अनुसार अपने त्रिगुणित सात आनन्दोंसे युक्त है। क्योंकि आगे वह कहता है: "अन्धकार नष्ट हो गया, जिसका आधार हिल चुका था; द्यौ चमक उठा (**रोचत द्यौः**, अभिप्राय प्रतीत होता है स्वःके तीन प्रकाशमाय लोकों, **दिवो रोचनानि**, की अभिव्यक्तिसे); दिव्य **उषा**का प्रकाश ऊपर उठा; **सूर्य** (**सत्य**के) विस्तीर्ण क्षेत्रोंमें प्रविष्ट हुआ, मर्त्योंके अन्दर सरल तथा कुटिल वस्तुओंको देखता हुआ[2] ।17। इसके पश्चात् सचमुच वे जाग गये और वे (सूर्य द्वारा किये गये कुटिलसे सरलके, अनृतसे सत्यके पार्थक्य द्वारा) विशेष रूपसे देखने लगे; तभी वस्तुतः उन्होंने उनके अन्दर उस सुखको थामा जिसका द्युलोकमें आस्वादन किया गया है, **रत्नं धारयन्त द्युभक्तम्**। (हम चाहते हैं कि) सबके सब देव हमारे सब घरोंमें होवें, हे मित्र, हे वरुण, वहाँ हमारे विचारके लिये सत्य होवे[3]।" **विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु** ।।18।। यह स्पष्ट वही बात है जो पराशर शाक्त्य द्वारा इसकी अपेक्षा भिन्न भाषामें व्यक्तकी जा चुकी है,

---

1. इसी विचार को मेधातिथि काण्व ने (ऋ. 1.20.7 में) दिव्य सुखके त्रिगुणित सात आनंदों, रत्नानि त्रिः साप्तानि, के रूपमें व्यक्त किया है, अथवा यदि और अधिक शाब्दिक अनुवाद लें, तो इस रूपमें कि आनन्द जो अपनी सात-सातकी तीन श्रेणियोंमें है, जिनमेंसे प्रत्येकको ऋभु अपने पृथक्-पृथक् तथा पूर्ण रूपमें प्रकट कर देते हैं, एकमेकं सुशस्तिभिः।

2. **नेशत् तमो दुधितं रोचत द्यौरुद् देव्या उषसो भानुरर्त।**
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ।। (ऋ. 4.1.17)

3. **आदित् पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद् रत्नं धारयन्त द्युभक्तम्।**
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु ।। (ऋ. 4.1.18)

अर्थात् **सत्य**के विचार और प्रेरणा द्वारा सारी सत्ताकी अभिव्याप्ति हो जाना और उस विचार तथा प्रेरणामें सब देवत्वोंका व्यापार होने लगना जिससे हमारी सत्ताके अंग-अंगमें दिव्य सुख और अमरताका सृजन हो जावे।

सूक्त समाप्त इस प्रकार होता है, 'मैं **अग्नि**के प्रति शब्द बोल सकूँ, जो अग्नि विशुद्ध रूपमें चमक रहा है, जो हवियोंका पुरोहित (होता) है, जो यज्ञमें सबसे बड़ा है, जो हमारे पास सब कुछ लानेवाला है; वह दोनों-को हमारे लिये निचोड़ देवे, **प्रकाश**की **गौओं**के पवित्र ऊधस्को और आनन्दके पौदे (सोम)के पवित्रीकृत भोजनको जो सर्वत्र परिषिक्त है[1] ।19। वह यज्ञके सब अधिपतियोंकी (देवोंकी) असीम सत्ता (अदिति) है और सब मनुष्योंका अतिथि है; (हम चाहते हैं कि) अग्नि जो अपने अन्दर देवोंकी वृद्धिशील अभिव्यक्तिको स्वीकार करता है, जन्मोंको जाननेवाला है, सुखका देनेवाला होवे ।20।'[2]

चतुर्थ मण्डलके दूसरे सूक्तमें हम बहुत ही स्पष्ट तौर पर और अर्थ-सूचक रूपसे सात ऋषियोंकी समरूपता पाते हैं जो ऋषि कि दिव्य अंगिरस् हैं तथा मानवीय पितर हैं। उस संदर्भसे पहले, 4.2.11 से 14 तक ये चार ऋचाएं आती हैं जिनमें **सत्य** तथा दिव्य **सुख**की अन्वेषणाका वर्णन है। 'जो ज्ञाता है वह **ज्ञान** तथा **अज्ञान**का, विस्तृत पृष्ठोंका तथा कुटिल पृष्ठोंका जो मर्त्योंको अन्दर बन्द करते हैं, पूर्णतया विवेक कर सके; और हे **देव**, संतानमें सुफल होनेवाले सुखके लिये 'दिति'को हमें दे डाल और 'अदिति'की रक्षा कर।'[3] यह ग्यारहवीं ऋचा अपने अर्थमें बड़ी ही अद्भुत है। यहाँ हम **ज्ञान** तथा **अज्ञान** की विरोधिता पाते हैं जो वेदान्तमें मिलती है; और ज्ञानकी समता दिखायी गयी है विशाल खुले पृष्ठोंसे जिनका वेदमें बहुधा संकेत आता है; ये वे विशाल पृष्ठ हैं जिनपर वे आरोहण करते हैं जो यज्ञमें श्रम करते हैं और वे वहाँ **अग्नि**को 'आत्मानन्दमय' (**स्व-जेन्य**) रूपमें बैठा पाते हैं (5.7.5); वे हैं विशाल अस्तित्व जिसे वह अपने निजी शरीरके लिये रचता है (5.4.6), वे सम-विस्तार हैं, निर्बाध बृहत् हैं।

---

1. अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम्।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः ।। (ऋ. 4.1.19)
2. विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः ।। 4.1.20
3. चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ।। 4.2.11

इसलिये जिसे हम **सत्य**के लोकमें पहुंचकर पाते हैं, वह देवकी असीम सत्ता ही है और यह **अदिति माता**के त्रिगुणित सात उच्च स्थानोंसे युक्त है, 'अग्नि'के तीन जन्मोंसे युक्त है, जो अग्नि असीमके अंदर रहता है; **अनन्ते अन्तः** (4.1.7)। दूसरी तरफ अज्ञानकी तद्रूपता दिखायी गयी है कुटिल या विषम पृष्ठों[1]से जो मर्त्योंको अंदर बन्द करते हैं और इसीलिये यह सीमित विभक्त मर्त्य सत्ता है। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि यह **अज्ञान** ही अगले मंत्रार्धका **दिति** है, **दितिं च रास्व अदितिम् उरुष्य,** और **ज्ञान** है **अदिति**। **'दिति'**का, जिसे **दनु** भी कहा गया है, अर्थ है विभाग; और बाधक शक्तियां या **'वृत्र'** हैं उसकी संतानें जिन्हें **दनवः, दानवाः, दैत्याः** कहा गया है, जब कि **अदिति** है वह सत्ता जो अपनी असीमतामें रहती है और देवोंकी माता है। ऋषि एक ऐसे सुखकी कामना कर रहा है जो संतानमें अर्थात् दिव्य कार्यों और उनके फलोंमें सुफल हो; और यह सुख प्राप्त किया जाना है एक तो इस प्रकार कि उन सब ऐश्वर्योंको जीता जाय जिन्हें हमारी विभक्त मर्त्य सत्ताने अपने अंदर धारण कर रखा है पर 'वृत्रों' तथा 'पणियों'ने जिन्हें हमसे छिपा रखा है, और दूसरे इस प्रकार कि उन्हें असीम दिव्य सत्तामें धारित किया जाय। उन ऐश्वर्योंके धारणको हमें अपनी मानवीय सत्ताकी सामान्य प्रवृत्तिसे, 'दनु' या 'दिति'के पुत्रोंकी अधीनतासे बचाना होगा, रक्षित रखना होगा। यह विचार स्पष्ट ही ईश उपनिषद्के उस विचारसे मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि **ज्ञान** (विद्या) और **अज्ञान** (अविद्या), एकता और बहुरूपता ये दोनों ब्रह्ममें निहित हैं और इनका इस प्रकार धारण करना अमरताकी प्राप्तिकी शर्त है।[2]

इसके बाद हम सात दिव्य द्रष्टाओं पर आते हैं। "अपराजित द्रष्टाओंने **द्रष्टा**को (**देव**को, **अग्नि**को) कहा, उसे अंदर मानव सत्ताके घरोंमें धारण करते हुए; यहाँसे (इस शरीरधारी मानव सत्तासे) हे अग्ने! कर्म द्वारा अभीप्सा करता हुआ (**अर्यः**), तू अपनी उन्नतिशील गतियोंसे उन्हें देख

---

1. 'बृजिना'का अर्थ है कुटिल, और यह वेदमें अनृतकी कुटिलताको सूचित करनेके लिये प्रयुक्त हुआ है जो सत्यकी सरलता (ऋजुता)से विपरीत है, पर यहां कवि स्पष्ट ही अपने मनके अन्दर 'बृज्'के धात्वर्थको रखे हुए है, अर्थात् पृथक् करना, पर्दा डालकर विभक्त करना, और इससे बने विशेषण-शब्द 'बृजिन'का यह शाब्दिक अर्थ ही 'मर्तान्' को विशेषित करता है।

2. **विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह।**
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ईश. 11

सके जिनका तुझे दर्शन (Vision) प्राप्त करना चाहिये, जो सबसे अतिक्रान्त, अद्भुत हैं, (देवके देवत्व हैं)।"

कविं शशासुः कवयोऽदब्धाः, निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः॥ (4.2.12)

अब यह पुनः देवत्वके दर्शन (Vision)की यात्रा है। "तू, हे अग्ने! सर्वाधिक युवा शक्तिवाले! उसके लिये जो शब्द का गान करता है और सोमकी हवि देता है और यज्ञका विधान करता है, (उस यात्रामें) पूर्ण पथ-प्रदर्शक है। उस आरोचमानके लिये जो कर्मको पूर्ण करता है, तू सुख ला, जो सुख उसके आगे बढ़नेके लिये बृहत् आनंदसे युक्त हो, कर्मके कर्त्ताको (या, मनुष्यको) तुष्टि देनेवाला हो (**चर्षणिप्राः**)।13।[1] अब ओ अग्ने! उस सबको जिसे हमने अपने हाथों और पैरोंसे और अपने शरीरोंसे रचा है, सच्चे विचारक (**अंगिरस्**) इस रूपमें कर देते हैं, मानो कि यह तेरा रथ है, जो दो भुजाओंके (द्यौ और पृथिवीके, **भुरिजोः**) व्यापार द्वारा बना है। सत्यको अधिगत करना चाहते हुए उन्होंने इसके प्रति अपना मार्ग बना लिया है, (या इस सत्य पर वश प्राप्त किया है) **ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः**।14।[2] अब **उषा माता**के सात द्रष्टा, (यज्ञके) सर्वोत्कृष्ट विनियोक्ता, हम पैदा हो जायं जो अपने-आपमें देव हैं; हम अंगिरस्, द्यौके पुत्र, बन जायं, पवित्र रूपमें चमकते हुए हम धन-दौलतसे भरपूर पहाड़ीको तोड़ डालें।15।"[3] यहाँ हम बहुत ही स्पष्ट रूपमें सात **दिव्य द्रष्टाओं**को इस रूपमें पाते हैं कि वे विश्व-यज्ञके सर्वोत्तम विधायक हैं और इस विचारको पाते हैं कि मनुष्य ये सात द्रष्टा "बन जाता है", अर्थात् वह उन द्रष्टाओंको अपने अंदर रचता है और स्वयं उनके रूपमें परिणत हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे वह **द्यौ** और **पृथिवी** तथा अन्य देव बन जाता है, अथवा जैसा इसे दूसरे रूपमें यों प्रतिपादित किया गया है कि वह अपनी स्वकीय सत्तामें दिव्य जन्मोंको पैदा कर लेता है, रच लेता है या निर्मित कर लेता है, (जन्, कृ, तन्)।

---

1. **त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विषते यविष्ठ।**
रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथु श्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः॥ (4.2.13)
2. **अधा ह यद् वयमग्ने त्वाया षड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।**
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः॥ (4.2.14)
3. **अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।**
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥ (4.2.15)

आगे मानवीय पितरोंका उदाहरण इस रूपमें दिया गया है कि उन्होंने इस महान् "बन जाने"के और इस महाप्राप्ति व महाकार्यके आदिम आदर्श (नमूने)को उपस्थित किया है। "अब भी, हे अग्ने! जैसे हमारे उत्कृष्ट पूर्व पितरोंने, **सत्य**को अधिगत करना चाहते हुए, **शब्द**को अभिव्यक्त करते हुए, पवित्रता और प्रकाशकी ओर यात्राकी थी; उन्होंने पृथिवीको (भौतिक सत्ताको) तोड़कर उनको जो अरुण थीं (उषाओंको, गौओंको) खोल दिया ।16।[1] पूर्ण कर्मोंवाले तथा पूर्ण प्रकाशवाले, दिव्यताओंको पाना चाहते हुए वे देव **जन्मों**को लोहेके समान घड़ते हुए (या दिव्य जन्मोंको लोहेके समान घड़ते हुए), 'अग्नि'को एक विशुद्ध ज्वाला बनाते हुए, 'इन्द्र'को बढ़ाते हुए, **प्रकाश**के विस्तारको (**गौओं**के विस्तारको, **गव्यम् ऊर्वम्**) पहुंच गये और उन्होंने उसे पा लिया ।17।[2] अंदर जो **देवों** के **जन्म** हैं वे अन्तर्दर्शन (Vision)में अभिव्यक्त हो गये, मानो ऐश्वर्योंके खेतमें गौओंके झुण्ड हों, ओ शक्तिशालिन्! (उन देवोंने दोनों कार्य किये) मर्त्योंके विशाल सुखभोगोंको (या उनकी इच्छाओंको) पूर्ण किया और उच्चतर सत्ताकी वृद्धिके लिये भी अभीप्सुके तौर पर कार्य किया।"

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां यज्जनिमान्त्युग्र।
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्, वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ।। (ऋ. 4. 2. 18)

स्पष्ट ही यह इस द्विविध विचारकी पुनरुक्ति है, जो दूसरे शब्दोंमें रख दी गयी है, कि **दिति**के ऐश्वर्योंको धारण करना और फिर भी **अदिति**को सुरक्षित रखना। "हमने तेरे लिये कर्म किया है, हम कर्मोंमें पूर्ण हो गये हैं, खुली चमकती हुई उषाओंने **सत्य**में अपना घर आयत्त कर लिया है, (या सत्यके चोगेसे अपने आपको आच्छादित कर लिया है), अग्निकी परिपूर्णतामें और उसके बहुगुणित आनंदमें, अपनी संपूर्ण चमकसे युक्त जो देवकी चमकती हुई आँख है, उसमें (उन्होंने अपना घर बना लिया है) ।19।"[3]

ऋचा 4.3.11 में फिर अंगिरसोंका उल्लेख आया है, और जो वर्णन इस ऋचा तक हमें ले जाते हैं उनमेंसे कुछ विशेष ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि

---

1. **अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।**
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ।। (4.2.16)
2. **सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः।**
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परि षदन्तो अग्मन् ।। (ऋ. 4.2.17)
3. **अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः।**
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षुः ।। (ऋ. 4.2.19)

इस बातको जितना दोहराया जाय उतना थोड़ा है कि वेदकी कोई भी ऋचा तबतक भली भांति नहीं समझी जा सकती जबतक कि इसका प्रकरण न मालूम हो, सूक्तके विचारमें उसका क्या स्थान है यह न मालूम हो, उसके पहले और पीछे जो कुछ वर्णन आता है वह सब न मालूम हो। सूक्त इस प्रकार प्रारंभ होता है कि मनुष्योंको पुकारकर कहा गया है कि वे उस 'अग्नि' को रचें जो सत्यमें यज्ञ करता है, उसे उसके सुनहरी प्रकाशके रूपमें रचें, (**हिरण्यरूपम्**, हिरण्य सर्वत्र **सत्य**के सौर प्रकाश, **ऋतं ज्योतिः**, के लिये प्रतीकके तौर पर आया है) इससे पहले कि **अज्ञान** अपने-आपको रच सके, **पुरा तनयित्नोरचित्तात्** (4.3.1), उसे रच लें। इस अग्निदेवको कहा गया है कि वह मनुष्यके कर्मके प्रति और इसके अंदर जो सत्य है उसके प्रति जागृत हो, क्योंकि वह स्वयं '**ऋतचित्**' है, सत्य-चेतनामय है, विचारको यथार्थ रूपसे धारण करनेवाला है, **ऋतस्य बोधि ऋतचित् स्वाधीः** (4.3.4)—क्योंकि सारा अनृत केवल **सत्य**का एक अयथार्थ धारण ही है। उसे मनुष्यके अंदरके सब दोष और पाप और न्यूनताओंको विभिन्न देवत्वों या **परम देव**की दिव्य शक्तियोंको सौंपना होता है, जिससे कि उन्हें दूर किया जा सके और अंततः मनुष्यको **असीम माता**के सम्मुख निर्दोष घोषित किया जा सके—**अदितये अनागसः**, (1.24.15), अथवा उसे 'असीम सत्ता'के लिये, जैसा कि इसे अन्यत्र प्रकट किया गया है, निर्दोष घोषित किया जा सके।

इसके बाद नौवीं तथा दसवीं ऋचामें हम, अनेकविध सूत्रोंमें प्रकट किये गये, संयुक्त मानवीय तथा दिव्य सत्ताके, 'दिति' और 'अदिति'के विचारको पाते हैं जिनमेंसे पिछली अर्थात् अदिति अपने साथ पहली अर्थात् दितिको प्रतिष्ठित करती है, उसे नियंत्रित और अपने प्रवाहसे आपूरित करती है। '**सत्य** जो कि **सत्य**से नियमित है, उसे मैं चाहता हूँ (अभिप्राय है, मानवीय सत्य जो दिव्य सत्यसे नियमित है), **गौ** की अपक्व वस्तुएँ और उसकी परिपक्व तथा मधुमय देन (पुनः, अभिप्राय यह होता है कि अपूर्ण मानवीय फल तथा विराट् चेतना व सत्ता के पूर्ण और आनंदमय दिव्य फल) एक साथ हों; वह (गौ) काली (अंधेरी और विभक्त सत्ता, दिति) होती हुई आधारके चमकीले जल द्वारा, सहचरी धाराओंके जल द्वारा (**जामर्येण पयसा**) पालित होती है।9।[1] **सत्य**के द्वारा **वृषभ व नर**, 'अग्नि' अपने

1, **ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने।**
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥ (ऋ. 4.3.9)

पृष्ठोंके जलसे सिक्त हुआ, न कांपता हुआ, विस्तारको (विशाल स्थान या अभिव्यक्तिको) स्थापित करता हुआ विचरता है; चितकबरा बैल विशुद्ध चमकीले स्तनको दुहता है।10।"[1] उस एककी जो मूलस्रोत है, धाम है, आधार है, चमकीली सुफेद पवित्रता और त्रिविध लोकमें अभिव्यक्त हुए **जीवन**की चितकबरी रंगत—इन दोनोंके बीच प्रतीकात्मक विरोधका वर्णन वेदमें जगह-जगह आता है; इसलिये चितकबरे बैलका और विशुद्ध चमकीले ऊधस् या जलोंके स्रोतका यह अलंकार, अन्य अलंकारोंकी तरह, केवल मानवीय जीवनके बहुरूप, अनकविध अभिव्यक्तिकरणके विचारको ही दोहराता है,—ऐसे मानवीय जीवनके जो पवित्र, अपनी क्रियाओंमें शान्तियुक्त एवं **सत्य** और **असीमता**के जलोंसे परिपुष्ट है।

अंतमें ऋषि प्रकाशमय **गौओं** और **जलों**का इकट्ठा वर्णन (जैसा वर्णन वेदमें बार-बार और जगह-जगह हुआ है) करने लगता है, "**सत्य**के द्वारा अंगिरसोंने पहाड़ीको तोड़कर खोल दिया और उछालकर अलग फेंक दिया और गौओंके साथ वे संयुक्त हो गये; उन मानवीय आत्माओंने सुखमयी उषामें अपना निवास बनाया, '**स्वः**' अभिव्यक्त हो गया जब कि **अग्नि** पैदा हुआ।11।[2] हे अग्ने! **सत्य**के द्वारा दिव्य अमर जल, जो अक्षत थे, अपनी मधुमय बाढ़से युक्त, एक शाश्वत प्रवाहमें प्रवाहित हो पड़े, जैसे कि अपनी सरपट चालमें तेजीसे दौड़ता हुआ घोड़ा।12।"[3] ये चार (9.10. 11.12) ऋचाएँ वास्तवमें **अमरता**-प्राप्तिके महाकार्य की प्रारंभिक शर्तोंको बतानेके लिये अभिप्रेत हैं। ये महान् गाथाके प्रतीक हैं, रहस्यवादियोंकी उस गाथाके जिसके अंदर उन्होंने अपने अत्युच्च आध्यात्मिक अनुभवको अधार्मिकोंसे छिपाकर रखा था, पर जो, शोकसे कहना पड़ता है, उनकी संततिसे भी काफी अच्छी तरहसे छिपा रहा। ये रहस्यमय प्रतीक थे, जिनसे उस सत्यको व्यक्त करना अभिप्रेत था जिसकी उन्होंने अन्य सबसे रक्षाकी थी और जिसे वे केवल दीक्षितको, ज्ञानीको, द्रष्टाको देना चाहते थे, इस बातको वामदेव स्वयं इसी सूक्तकी अंतिम ऋचामें अत्यधिक सरल

---

1. ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद् वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः॥ (ऋ. 4.3.10)
2. ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परि षदन्नुषासमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ॥ (ऋ. 4.3.11)
3. ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित् स्रवितवे दधन्युः॥ (ऋ. 4.3.12)।

और जोरदार भाषामें हमें बताता है—"ये सब रहस्यमय शब्द हैं जिनका मैंने तेरे प्रति उच्चारण किया है, जो तू ज्ञानी है, हे अग्ने ! हे विनियोजक ! जो आगे ले जानेवाले शब्द हैं, द्रष्टा-ज्ञानके शब्द हैं, जो द्रष्टाके लिये अपने अभिप्रायको प्रकट करते हैं,—मैंने उन्हें अपने शब्दों और अपने विचारोंमें प्रकाशित होकर बोला है।"

एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि।
निवचना कवये काव्यान्यशंसिषं मतिभि विप्र उक्थैः॥ (ऋ. 4.3.16)

ये रहस्यमय शब्द हैं, जिन्होंने सचमुच रहस्यार्थको अपने अंदर छुपा रखा है, जो रहस्यार्थ पुरोहित, कर्मकाण्डी, वैयाकरण, पंडित, ऐतिहासिक, गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात ही रहा है, जिनके लिये वे शब्द अंधकारके शब्द या अस्तव्यस्तताकी मुहरें ही सिद्ध हुए हैं, न कि वैसे जैसे कि वे महान् प्राचीन पूर्वपितरों और उनकी प्रकाशपूर्ण संततिके लिये थे, **निण्या वचांसि नीथानि निवचना काव्यानि** (अर्थात् रहस्यमय शब्द जो आगे ले जानेवाले हैं, अपने अभिप्रायको प्रकट कर देनेवाले, द्रष्टा-ज्ञानसे युक्त शब्द)।

बीसवां अध्याय

देवशुनी सरमा

अब भी अंगिरसोंके कथनाकके दो स्थिरभूत अंग अवशिष्ट हैं जिनके सम्बन्धमें हमें थोड़ा और अधिक प्रकाश प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, जिससे हम **सत्य**के, और प्राचीन पितरोंके द्वारा **उषा**की ज्योतियोंकी पुनः-प्राप्तिके इस वैदिक विचारको पूर्णतया अधिकृत कर सकें; अर्थात् हमें सरमाका स्वरूप और पणियोंका ठीक-ठीक व्यापार नियत करना है, ये दो वैदिक व्याख्याकी ऐसी समस्याएँ हैं जो परस्पर घनिष्ठताके साथ सम्बद्ध हैं। यह कि सरमा **प्रकाश**की और संभवतः **उषा**की कोई शक्ति है बहुत ही स्पष्ट है; क्योंकि एक बार जब हम यह जान लेते हैं कि वह संघर्ष जिसमें इन्द्र तथा आदिम आर्य-ऋषि एक तरफ थे और 'गुफा' के पुत्र दूसरी तरफ थे कोई आदिकालीन भारतीय इतिहासका अनोखा विकृत रूप नहीं है बल्कि वह **प्रकाश** और **अंधकार**की शक्तियोंके बीच होनेवाला एक आलंकारिक युद्ध है, तो सरमा जो जगमगानेवाली गौओंकी खोजमें आगे-आगे जाती है और मार्ग तथा पर्वतका गुप्त दुर्ग इन दोनोंको खोज लेती है, अवश्यमेव मानवीय मनके अन्दर **सत्य**की उषाकी अग्रदूती होनी चाहिये। और यदि हम अपने-आपसे पूछें कि **सत्यान्वेषिणी** कार्यशक्तियोंमेंसे वह कौनसी शक्ति है जो इस प्रकार हमारी सत्तामें अज्ञानके अन्धकारमें छिपे पड़े सत्यको वहाँसे खोज लाती है तो तुरन्त हमें अन्तर्ज्ञान (Intuition) का स्मरण आयेगा। क्योंकि 'सरमा' सरस्वती नहीं है, वह अन्तःप्रेरणा (Inspiration) नहीं है, यद्यपि ये दोनों नाम हैं सजातीय से। सरस्वती देती है ज्ञानके पूर्ण प्रवाहको; वह महती धारा, **'महो अर्णः'** है, या महती धाराको जगानेवाली है और वह सब विचारोंको पूर्णरूपसे प्रकाशित कर देती है, **'विश्वा धियो वि राजति'**। 'सरस्वती' सत्यके प्रवाहसे युक्त हैं और **स्वयं सत्यका प्रवाह** है; 'सरमा' है सत्यके मार्गपर यात्रा करनेवाली और इसे खोजनेवाली, जो स्वयं इससे युक्त नहीं है बल्कि जो (सत्य) खोया हुआ है उसे ढूंढ़कर पानेवाली है। नाहीं वह 'इडा' देवीके समान, स्वतःप्रकाश-ज्ञान (Revelation) की सम्पूर्ण वाणी, मनुष्यकी दिव्य **गुरु** है; क्योंकि जिसे वह खोजना चाहती है उसका पता पा लेनेके बाद

भी वह उसे अधिगत नहीं कर लेती, बल्कि सिर्फ यह खबर ऋषियोंको तथा उनके दिव्य सहायकोंको पहुँचा देती है, जिन्हें उस प्रकाशको जिसका पता लग गया है अधिगत करनेके लिये फिर भी युद्ध करना पड़ता है।

तो भी हम देखते हैं कि वेद स्वयं सरमाके बारेमें क्या कहता है? सूक्त 1.104 में एक ऋचा (5वीं) है जिसमें सरमाके नामका उल्लेख नहीं है, नाहीं वह सूक्त स्वयं अंगिरसों या पणियोंके विषयमें है, तो भी उसकी एक पंक्ति ठीक उसी बातका वर्णन कर रही है जो वेदमें सरमाका कार्य बताया गया है–"जब यह पथप्रदर्शक प्रत्यक्ष हो गया, वह, जानती हुई, उस सदनकी तरफ गयी जो मानो 'दस्यु'का घर था।"

प्रति यत् स्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदनं जानती गात्।

सरमाके ये दो स्वरूप हैं: (1) ज्ञान उसे प्रथम ही, दर्शनसे पहिले, हो जाता है, न्यूनतम संकेतमात्रपर सहज रूपसे वह उसे उद्भासित हो जाता है, तथा (2) उस ज्ञानसे वह बाकीकी कार्यशक्तियोंका और दिव्य-शक्तियोंका जो उस ज्ञानको खोजनेमें लगी होती हैं पथप्रदर्शन करती है। और वह उस स्थान, **'सदनम्'** को, **विनाशकों**के घरको ले जाती है जो **सत्य**के स्थान, **'सदनम् ऋतस्य'**, की अपेक्षा सत्ताके दूसरे ध्रुव (Pole) पर है अर्थात् अन्धकारकी गुफा या गुह्यस्थानमें—**गुहायाम्**—है, ठीक वैसे ही जैसे देवोंका घर प्रकाशकी गुफा या गुह्यतामें है। दूसरे शब्दोंमें, वह एक शक्ति है जो पराचेतन **सत्य** (Superconscient Truth) से अवतीर्ण होकर आयी है और हमें उस प्रकाश तक ले जाती है जो हमारे अन्दर अवचेतन (Subconscient) में छिपा पड़ा है। ये सब लक्षण अन्तर्ज्ञान (Intuition) पर बिल्कुल घटते हैं।

सरमा नाम लेकर वेदके बहुत थोड़े सूक्तोंमें उल्लिखित हुई है और वह नियत रूपसे अंगिरसोंके महाकार्यके या सत्ताके सर्वोच्च स्तरोंकी विजयके साथ संबंद्ध होकर आयी है। इन सूक्तोंमें सबसे अधिक आवश्यक सूक्त है अत्रियोंका सूक्त 5.45, जिसपर हम नवग्वा तथा दशग्वा अंगिरसोंकी अपनी परीक्षाके प्रसंगमें पहले भी ध्यान दे चुके हैं। प्रथम तीन ऋचाएँ उस महाकार्यको संक्षेपमें वर्णित करती हैं–"शब्दोंके द्वारा द्यौकी पहाड़ीका भेदन करके उसने उन्हें पा लिया, हाँ, आती हुई उषाकी चमकीली (ज्योतियाँ) खुलकर फैल गयीं, उसने उन्हें खोल दिया जो बाड़ेके अन्दर थीं, स्वः ऊपर उठ गया; एक देवने मानवीय द्वारोंको खोल दिया[1] ॥1॥

---

1. **विदा दिवो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनो गुः।**
अपावृत व्रजिनीरुत् स्वर्गाद् वि दुरो मानुषीर्देव आवः॥ 5.45.1॥

सूर्यने बल और शोभाको प्रचुर रूपमें पा लिया; **गौओंकी माता** (उषा) जानती हुई विस्तीर्णता (के स्थान) से आयी; नदियाँ तीव्र प्रवाह बन गयीं, ऐसे प्रवाह जिन्होंने (अपनी प्रणालीको) काटकर बना लिया; द्यौ एक सुघड़ स्तम्भके समान दृढ़ हो गया ॥2॥[1] इस शब्दके प्रति गर्भिणी पहाड़ीके गर्भ **महतियों**के (नदियोंके या अपेक्षाकृत कम संभव है कि उषाओंके) उच्च जन्मके लिये (बाहर निकल पड़े)। पहाड़ी पृथक्-पृथक् विभक्त हो गयी, द्यौ पूर्ण हो गया (या उसने अपने-आपको सिद्ध कर लिया); वे (पृथिवीपर) बस गये और उन्होंने विशालताको बाँट दिया[2] ॥3॥" यहाँ ऋषि जिनके संबन्धमें कह रहा है वे हैं इन्द्र तथा अंगिरस्, जैसा कि बाकी सारा सूक्त दर्शाता है और जैसा वस्तुतः ही प्रयोग किये गये मुहावरोंसे स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि ये आंगिरस गाथामें आम तौरसे प्रयुक्त होनेवाले सूत्र हैं और ये ठीक उन्हीं मुहावरोंको दोहरा रहे हैं, जो मुहावरे उषा, गौओं और सूर्यकी मुक्तिके सूक्तोंमें सतत रूपसे प्रयुक्त हुए हैं।

इनका अभिप्राय क्या है, यह हम पहलेसे ही जानते हैं। हमारी पहलेसे बनी हुई त्रिगुण (मनःप्राणशरीरात्मक) सत्ताकी पहाड़ी, जो अपने शिखरोंसे आकाश (द्यौ) में उठी हुई है, इन्द्र द्वारा विदीर्ण कर दी जाती है और उसमें छिपी हुई ज्योतियाँ खुली फैल जाती हैं; **'स्वः'** पराचेतनाका उच्चतर लोक, चमकीली गौओं (ज्योतियों) के ऊर्ध्वमुख प्रवाहके द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। **सत्य**का सूर्य अपने प्रकाशकी संपूर्ण शक्ति और शोभाको प्रसृत कर देता है, आन्तरिक उषा ज्ञानसे भरी हुई प्रकाशमान विस्तीर्णतासे उदित होती है,—**'जानती गात्'** यह वही वाक्यांश है जो 1.104.5 में उसके लिये प्रयुक्त हुआ है जो 'दस्यु' के घरको ले जाती है; और 3.31.6 में सरमाके लिये,—सत्यकी नदियाँ जो इसकी सत्ता तथा इसकी गतिके बहिःप्रवाह (**ऋतस्य प्रेषा**) को सूचित करती हैं अपनी द्रुत धाराओंमें नीचे उतरती हैं और अपने जलोंके लिये यहाँ एक प्रणालीका निर्माण करती हैं; द्यौ अर्थात् मानसिक सत्ता पूर्ण बन जाती है और एक सुघड़ स्तम्भकी न्याईं सुदृढ़ हो जाती है जिससे कि वह उस उच्चतर या अमर जीवनके बृहत् सत्यको थाम सके जो अब अभिव्यक्त कर दिया गया है और उस

---

1 **वि सूर्यो अमति न श्रियं सादोर्वाद् गवां माता जानती गात्।**
धन्वर्णसो नद्यः स्वादोअर्णाः स्थूणेव सुमिता दृंहत द्यौः॥ 5.45.2 ॥

2. **अस्मा उक्थाय पर्वतस्य गर्भो महीनां जनुषे पूर्व्याय।**
वि पर्वतो जिहीत साधत द्यौराविवासन्तो दसयन्त भूम॥ 5.45.3 ॥

सत्यकी विशालता यहाँ सारी भौतिक सत्ताके अंदर बस गयी है। पहाड़ीके गर्भों, **'पर्वतस्य गर्भः'**का जन्म, उन ज्योतियोंका जन्म जो सात-सिरोंवाले विचार, **'ऋतस्य धीतिः'** को निर्मित करती हैं और जो अन्तःप्रेरित शब्दके प्रत्युत्तरमें निकलती हैं, उन सात महान् नदियोंके उच्च जन्मको प्राप्त कराता है जो नदियां क्रियाशील गतिमें वर्तमान **सत्य**के सार-तत्त्व, **'ऋतस्य प्रेषा'**को निर्मित करती हैं।

फिर ऋषि 'पूर्ण वाणीके उन शब्दों द्वारा जो देवोंको प्रिय हैं' इन्द्र और अग्निका आवाहन करता है,—क्योंकि इन्हीं शब्दों द्वारा मरुत्[1] यज्ञ करते हैं, उन द्रष्टाओंके रूपमें जो अपने द्रष्टृ-ज्ञान द्वारा सुचारु रूपसे यज्ञिय कर्म करते हैं (**उक्थेभि हि ष्मा कवयः सुयज्ञाः. . . . .मरुतो यजन्ति** ।4।) इसके बाद ऋषि मनुष्योंके मुखसे एक उद्‌बोधन और पारस्परिक प्रोत्साहनके वचन कहलाता है कि वे भी क्यों न पितरोंके समान कार्य करें और उन्हीं दिव्य फलोंको प्राप्त कर लें। 'अब आ जाओ, आज हम विचारमें पूर्ण हो जायँ, कष्ट और असुविधा को नष्ट कर डालें, उच्चतर सुख अपनायें,'।

एतो न्वद्य सुध्यो भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः।

'सब प्रतिकूल वस्तुओंको (उन सब वस्तुओंको जो आक्रमण करती और विभक्त कर देती हैं, **द्वेषांसि**) अपनेसे सदा बहुत दूर रखें; हम यज्ञके **पति**की तरफ आगे बढ़ें ।।5।।[2] आओ, मित्रो, हम विचारको रचें (स्पष्ट ही जो अंगिरसोंका सात-सिरोंवाला विचार है), जो माता (अदिति या उषा) है और जो गौड़े आवरक बाड़ेको हटा देता है।'[3] अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट है, निःसंदेह ऐसे ही संदर्भोंमें वेदका आन्तरिक आशय अपने-आपको प्रतीकके आवरणसे आधा मुक्त कर लेता है।

इसके बाद ऋषि उस महान् और प्राचीन उदाहरणका उल्लेख करता है जिसके लिये मनुष्योंको पुकारा गया है कि वे उसे दोहरायें, वह है अंगिरसोंका उदाहरण, सरमाका महापराक्रमकार्य। "यहाँ पत्थर गतिमय किया गया, जिसके द्वारा नवग्वा दस महीनों तक मंत्रका गान करते रहे, सरमाने **सत्य**के पास जाकर गौओंको पा लिया, अंगिरसोंने सब वस्तुओंको सत्य कर दिया[4] ।।7।। जब कि इस एक **महती** (**उषा** जो कि असीम **अदिति**को

---

1. जीवन की विचार-साधक शक्तियां, जैसा कि आगे चलकर प्रकट हो जायगा।
2. **आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम, अयाम प्राञ्चो यजमानमच्छ ।।5।।**
3. **एता धियं कृणवामा सखायोऽप या मातां ऋणुत व्रजं गोः ।।6।।**
4. **अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन दश मासो नवग्वाः।**
   ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार ।।5.45.7।।

सूचित करती है, **माता गवामदितेरनीकम्**)के उदयमें सब अंगिरस् गौओंके साथ (अथवा इसकी अपेक्षा शायद यह ठीक हो कि 'प्रकाशोंके द्वारा', जो प्रकाश गौओं या किरणोंके प्रतीकसे सूचित होते हैं) मिलकर इकट्ठे हो गये ; इन (प्रकाशों)का स्रोत उच्च लोकमें था ; सत्यके मार्ग द्वारा सरमाने गौओं-को पा लिया ।।8।।"[1] यहाँ हम देखते हैं कि सरमाकी गति द्वारा, जो सरमा, **सत्य**के मार्ग द्वारा सीधी **सत्य**को पहुंच जाती है, यह हुआ है कि सात ऋषि, जो अयास्य और बृहस्पतिके सात-सिरोंवाले या सात-गौओंवाले विचारके द्योतक हैं, सब छिपे हुए प्रकाशोंको पा लेते हैं और इन **प्रकाशों**के बलसे वे सब इकट्ठे मिल जाते हैं, जैसा कि हमें पहले ही वसिष्ठ कह चुका है कि, वे समविस्तारमें, **'समाने ऊर्वे'** इकट्ठे होते हैं, जहाँसे **उषा** ज्ञानके साथ उतरकर आयी है, **(ऊर्वाद् जानती गात्,** ऋचा 2) या जैसा कि यहाँ इस रूपमें प्रकट किया गया है कि इस एक **महती**के उदयमें अर्थात् **'असीम चेतना'** में इकट्ठे होते हैं। वहाँ, जैसा कि वसिष्ठ कहता है, वे संयुक्त हुए-हुए ज्ञानमें सम्मत हो जाते हैं (इकट्ठे जानते हैं) और परस्पर सघर्ष नहीं करते, **'संगतासः संजानत न यतन्ते मिथस्ते'**, अभिप्राय यह है कि वे सातों एक हो जाते हैं, जैसा कि एक दूसरी ऋचामें सूचित किया गया है; वे सात-मुखों-वाला एक अंगिरस् हो जाते हैं—यह ऐसा रूपक है जो सात-सिरोंवाले विचारके रूपकके अनुसार ही है—और यही अकेला संयुक्त अंगिरस् है जो सरमाकी खोजके फलस्वरूप सब वस्तुओंको सत्यकर देता है (ऋचा 7)। समस्वर, संयुक्त, पूर्णताप्राप्त **द्रष्टा-संकल्प** सब मिथ्यात्व और कुटिलताको ठीक कर देता है, और सब विचार, जीवन, क्रियाको **सत्य**के नियमोंमें परिणत कर देता है। इस सूक्तमें भी सरमाका कार्य ठीक वही है जो अन्तर्ज्ञान (Intuition)का होता है, जो कि सीधा **सत्य** पर पहुंचता है, **सत्य**के सरल मार्ग द्वारा न कि संशय और भ्रांतिके कुटिल मार्गों द्वारा और जो अंधकार तथा मिथ्या प्रतीतियोंके आवरणके अन्दरसे **सत्य**को निकालकर मुक्त कर देता है; उस (सरमा)से खोजे और पाये गये प्रकाशोंके द्वारा ही द्रष्टा-मन **सत्य**के पूर्ण स्वतः-प्रकाश-ज्ञान (Revelation) को पानेमें समर्थ होता है।

सूक्तका अवशिष्ट अंश वर्णन करता है सात-घोड़ोंवाले सूर्यके अपने उस खेतकी ओर उदय होनका "जो खेत लम्बी यात्राकी समाप्ति पर उसके

---

1. **विश्वे अस्या व्युषि माहिनायाः सं यद् गोभिरङ्गिरसो नवन्त ।**
उत्स आसां परमे सधस्थ ऋतस्य पथा सरमा विवद् गाः ।।5.45.8।।

लिये विशाल होकर फैल जाता है", वेगवान् पक्षी (श्येन)की सोम-प्राप्तिका, और युवा द्रष्टाके द्वारा देदीप्यमान गौओंवाले उस खेतको पा लिये जानेका, सूर्यके "प्रकाशमय समुद्र" पर आरोहणका, "विचारकों द्वारा नीयमान जहाजकी तरह" सूर्यके इस समुद्रको पार कर लेनेका और उनकी पुकारके प्रत्युत्तरमें उस समुद्रके जलोंका मनुष्यमें अवतरण होनेका। उन जलोंमें अंगिरस्का सप्त-गुणित विचार मनुष्य द्रष्टा द्वारा स्थापित किया गया है। यदि हम यह याद रखें कि सूर्य द्योतक है पराचेतना या सत्यचेतनामय ज्ञानके प्रकाशका और 'प्रकाशमय समुद्र' द्योतक है **माता आदिति**के अपने त्रिगुणित सात स्थानोंके साथ पराचेतनके लोकोंका, तो इन प्रतीकात्मक[1] उक्तियोंका अभिप्राय समझ लेना मुश्किल नहीं होगा। यह उच्चतम प्राप्ति है उस परम लक्ष्यकी जो अंगिरसोंकी पूर्ण कार्यसिद्धिके बाद, **सत्य**के लोक पर उनके संयुक्त आरोहणके बाद प्राप्त होता है, ठीक वैसे ही जैसे वह कार्यसिद्धि सरमाके द्वारा गौओंका पता पा लिये जानेके बाद प्राप्त होती है।

एक और सूक्त जो इस संबंधमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण है तृतीय मण्डलका 31वां सूक्त है, जिसका ऋषि विश्वामित्र है। "अग्नि (दिव्य-शक्ति) पैदा हो गया है, **अरुष** (आरोचमान **देव, रुद्र**) के महान् पुत्रोंके प्रति यज्ञ करनेके लिये जो हवि दी गयी है उससे उठती हुई अपनी ज्वालासे वह कंपायमान हो रहा है, उनका शिशु बड़ा महान् है, एक व्यापक जन्म हुआ है, चमकीले घोड़ोंको हांकनेवालेकी (इन्द्रकी, दिव्य मनकी) यज्ञोंके द्वारा बहुत महान् गति हो रही है[2] ।।3।। विजेत्री (उषाएं) स्पर्धामें उसके साथ संसक्त हो गयीं, वे ज्ञान द्वारा अंधकारमें से एक महान् प्रकाशको छुड़ा लाती हैं; जानती हुई उषाएं उसके प्रति उद्गत हो रही हैं, इन्द्र जगमगाती गौओंका एकमात्र स्वामी बन गया है ।4।[3] 'उन गौओंको जो (पणियोंके) दृढ़ स्थानके अन्दर थीं, विचारक विदीर्ण करके बाहर निकाल लाये; मनके द्वारा सात द्रष्टाओंने आगेकी ओर (या ऊपर उच्च लक्ष्यकी ओर) उन्हें गति दी,

---

1. वेद की अन्य अनेक अबतक धुंधली दीखनेवाली उक्तियोंको भी हम इसी आशयमें सुगमतासे समझ सकते हैं, उदाहरणार्थ 8.68.9, "हम अपने युद्धोंमें तेरी सहायता से उस महान् दौलतको जीत लेवें जो जलोंमें और सूर्यमें रखी है—अप्सु सूर्ये महद् धनम्" इत्यादि को।
2. **अग्निर्जज्ञे जुह्वा3 रेजमानो महस्पुत्रो अरुषस्य प्रयक्षे।**
महान् गर्भो मह्या जातमेषां मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञैः ।। (ऋ. 3.31.3)
3. **अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन्।**
तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः ।। 3.31.4 ।।

उन्होंने सत्यके संपूर्ण मार्ग (यात्राके लक्ष्य-क्षेत्र)को पा लिया, उन (सत्यके परम स्थानों)को जानता हुआ इन्द्र **नमन** द्वारा उनके अन्दर प्रविष्ट हो गया।"

वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्राः।
विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता मनसा विवेश ।। (ऋ. 3.31.5)

जैसा कि हमें सर्वत्र पाते हैं, यह महान् जन्म, महान् प्रकाश, सत्य ज्ञान-की महान् दिव्यगतिका वर्णन् है, जिसके साथ लक्ष्य-प्राप्ति और देवों तथा द्रष्टाओं (ऋषियों)का ऊपरके उच्च स्तरोंमें प्रवेश भी वर्णित है। आगे हम इस कार्यमें सरमाका जो भाग है उसका उल्लेख पाते हैं। "जब सरमा-ने पहाड़ीके भग्न स्थानको ढूंढ़कर पा लिया, तब उस इन्द्रने (या संभव है, उस सरमाने) महान् तथा उच्च लक्ष्यको सतत बना दिया। वह सुन्दर परोंवाली सरमा उसे (इन्द्रको) अविनाश्य गौओं (उषाकी अवध्य गौओं)के आगे ले गयी, प्रथम जानती हुई वह उन गौओंके शब्दकी तरफ गयी ।।6।।"[1] यह पुनः **अन्तर्ज्ञान** (Intuition) है जो इस प्रकार पथप्रदर्शन करता है; जानती हुई वह तुरन्त और सबके सामने जा पहुंचती है, बन्द पड़े हुए प्रकाशोंके शब्दकी ओर—उस स्थानकी ओर जहाँ खूब मजबूत बनी हुई और अभेद्य प्रतीत होनेवाली (**वीळु**, दृढ़) पहाड़ी टूटी हुई है और जहाँसे अन्वे-षक उसके अन्दर घुस सकते हैं।

सूक्तका शेष भाग अंगिरसों और इन्द्रके इस पराक्रम-कार्यके वर्णनको जारी रखता है। "वह (इन्द्र) जो उन सबमें महत्तम द्रष्टा था, उनसे मित्रता करता हुआ गया, गर्भिता पहाड़ीने अपन गर्भोंको पूर्ण कर्मोंके कर्त्ताके लिय बाहरकी ओर प्रेरित कर दिया; मनुष्यत्वके बलमें, युवा (अंगिरसों)-के साथ एश्वर्योंकी समृद्धिको चाहते हुए उसने (इन्द्रने) उसे अधिगत कर लिया, तब प्रकाशके मन्त्र (अर्क)का गान करता हुआ वह तुरन्त अंगिरस् हो गया ।।7।।[2] हमारे सामने प्रत्येक सत् वस्तुका रूप और माप होता हुआ वह सारे जन्मोंको जान लेता है, वह शुष्णका वध कर देता है।"[3] अभिप्राय यह है कि **दिव्य मन** (इंद्र) एक ऐसा रूप धारण करता है जो संसारकी प्रत्येक सत् वस्तुके अनुरूप होता है और उसके सच्चे दिव्य रूपको

---

1. **विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रे र्महि पाथः पूर्व्यं सध्यक्कः।**
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ।। 3.31.6 ।।
2. **अगच्छदु विप्रतमः सखीयन्नसूदयत् सुकृते गर्भमद्रिः।**
ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन् ।। 3.31.7 ।।
3. **सतः सतः प्रतिमानं पुरोभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम्।**

तथा अभिप्रायको प्रकट करता है और उस मिथ्या-शक्तिको नष्ट कर देता है जो ज्ञान तथा क्रियाको विरूप, विकृत करनेवाली है। "गौओंका अन्वेष्टा, द्यौके स्थान (**पदं**)का यात्री, मन्त्रोंका गान करता हुआ वह **सखा** अपने सखाओंको (सच्ची आत्माभिव्यक्तिकी) सारी कमियोंसे मुक्त कर देता है ॥8॥[1] उस मनके साथ जिसने **प्रकाशको** (गौओंको) खोजा था, वे प्रकाशक **अमरता**की ओर मार्ग बनाते हुए शब्दों द्वारा अपने स्थानों पर स्थित हो गये, (**नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्**)। यह है उनका वह विशाल स्थान, वह सत्य, जिसके द्वारा उन्होंने महीनोंको (दशग्वाओंके दश मासोंको) अधिगत किया था ॥9॥[2] साक्षात् दर्शन (Vision)में समस्वर हुए (या पूर्णतया देखते हुए) वे (वस्तुओंके)पुरातन बीज-का दूध दुहते हुए अपने स्वकीय (घर, **स्वः**)में आनन्दित हुए। उनके (**शब्द**की) आवाजने सारे द्यावापृथिवीको तपा दिया (अर्थात् तपती हुई निर्मलताको, '**घर्म, तप्तं घृतं**', रच दिया, जो सूर्यके गौओंकी देन है); उसमें जो कि पैदा हो गया था, उन्होंने उसे रखा जो दृढ़स्थित था और गौओंमें वीरोंको स्थापित किया (अभिप्राय है कि युद्ध-शक्ति ज्ञानके प्रकाशके अन्दर रखी गयी) ॥10॥[3]

"वृत्रहा इंद्रने, उनके द्वारा जो कि पैदा हुए थे (यज्ञके पुत्रोंके द्वारा), हवियोंके द्वारा, प्रकाशके मन्त्रों द्वारा चमकीली गौओंको ऊपरकी ओर मुक्त कर दिया, विस्तीर्ण और आनन्दमयी गौ (**अदितिरूपी गौ, बृहत् तथा सुखमय** उच्चतर चेतना) ने उसके लिये मधुर अन्नको, घृत-मिश्रित मधुको लाते हुए, अपने दूधके रूपमें उसे प्रदान किया ॥11॥[4] इस **पिता**के लिये (द्यौके लिय) भी उन्होंने विस्तीर्ण तथा चमकीले स्थानको रचा, पूर्ण कर्मोंके करने-वाले उन्होंने इसका सम्पूर्ण दर्शन (Vision) पा लिया। अपने अवलम्बन से मातापिताओं (पृथिवी और द्यौ) को खुला सहारा देते हुए वे उस उच्चलोकमें स्थित हो गये और इसके सारे आनन्दसे सराबोर हो गये ॥12॥[5]

---

1. **प्र णो दिवः पदवीर्गव्युरर्चन् त्सखा सखीरमुञ्चन्निरवद्यात्** ॥ 3.31.8 ॥
2. **नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।**
   इदं चिन्नु सदनं भूर्येषां येन मासां असिषासन्नृतेन ॥ 3.31.9 ॥
3. **संपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः।**
   वि रोदसी अतपद् घोष एषां जाते निःष्ठामदधुर्गोषु वीरान् ॥ 3.31.10 ॥
4. **स जातेभिर्वृत्रहा सेदु हव्यैरुक्थिया असृजदिन्द्रो अर्कैः।**
   उरुव्यस्मै घृतवद् भरन्ती मधु स्वादुम दुदुहे जेन्या गौः ॥3.31.11॥
5. **पित्रे चिच्चक्रुः सदनं समस्मै महि त्विषीमत् सुकृतो वि हि ख्यन्।**
   विष्कम्नन्तः स्कम्भनेना जनित्री आसीना ऊर्ध्वं रभसं वि मिन्वन् ॥3.31.12॥

जब (पाप और अनृतको) हटानेके लिये महान् **विचार** पृथिवी तथा द्यौको व्याप्त करनेके अपने कार्यमें एकदम बढ़ते हुए उसको थामता है, धारण करता है—तब इन्द्रके लिये, जिसमें सम तथा निर्दोष वाणियाँ रहती हैं, सब अधृष्य शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥13॥[1] उसने महान्, बहु-रूप और सुखमय खेतको (गौओंके विशाल खेतको, **स्व:**को) पा लिया है; और उसने एक साथ सारे गतिमय गोव्रजको अपने सखाओंके लिये प्रेरित कर दिया है। इन्द्रने मानवीय आत्माओं (अंगिरसों) द्वारा देदीप्यमान होकर एक साथ **सूर्य**को, **उषा**को, **मार्ग**को और **ज्वाला**को पैदा कर दिया है ॥15॥"[2]

अवशिष्ट ऋचाओंमें यही अलंकार जारी है, केवल वर्षाका वह सुप्रसिद्ध रूपक और बीचमें आ गया है जो इतना अधिक गलत तौर पर समझा जाता रहा है। "प्राचीन पैदा हुएको मैं नवीन बनाता हूँ जिससे मैं विजयी हो सकूँ। तू अवश्य हमारे अनेक अदिव्य घातकोंको हटा दे और स्व: को हमारे अधिगत करनेके लिये धारण कर ॥19॥[3] पवित्र करनेवाली वर्षाएँ हमारे सामने (जलोंके रूपमें) फैल गयी हैं; हमें तू आनन्दकी अवस्थाको ले जा जो उनका परला किनारा है। हे इन्द्र! अपने रथमें बैठकर युद्ध करता हुआ तू शत्रुसे हमारी रक्षा कर, शीघ्रातिशीघ्र हमें गौओंका विजेता बना दे ॥20॥[4] वृत्रके वधकर्त्ता, **गौओंके स्वामीने** (मनुष्योंको) गौओंका दर्शन करा दिया; अपने चमकते हुए नियमों (या दीप्तियों) के साथ वह उनके अन्दर जा घुसा है जो काले हैं (प्रकाशसे खाली हैं, जैसे कि पणि); **सत्य**के द्वारा सत्योंको (सत्यकी गौओंको) दिखाकर उसने अपने सारे द्वारोंको खोल दया है, **'प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ॥21॥"** अभिप्राय यह है कि वह हमारे अन्धकारके अन्दर प्रवेश करके **(अन्तः कृष्णान्**

---

1. **महो यदि धिषणा शिश्नथे धात् सद्योवृधं विम्वं रोदस्योः।**
   गिरो यस्मिन्ननवद्याः समीचीर्विश्वा इन्द्राय तविषीरनुत्ताः ॥3.31.13॥
2. **महि क्षेत्रं पुरु श्चन्द्रं विविद्वानादित् सखिभ्यश्चरथं समैरत्।**
   इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम् ॥3.31.15॥
3. **तमङ्गिरस्वन्नमसा सपर्यन् नव्यं कृणोमि सन्यसे पुराजाम्।**
   द्रुहो वि याहि बहुला अदेवीः स्वश्च नो मघवन् त्सातये धाः ॥3.31.19॥
4. **मिहः पावकाः प्रतता अभूवन् त्स्वस्ति नः पिपृहि पारमासाम्।**
   इन्द्र त्वं रथिरः पाहि नो रिषो मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो नः ॥3.31.20॥
5. **अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णां अरुषैर्धामभिर्गात्।**
   प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ॥3.31.21॥

गात्) उन 'मानवीय द्वारोंको' जिन्हें पणियोंने बन्द कर रखा था, तोड़कर खोल डालता है और उसके बाद अपने निजलोक, स्वःके द्वारोंको भी खोल देता है।

सो यह है वर्णन इस अद्भुत सूक्तका, जिसके अधिकांशका मैंने अनुवाद कर दिया है क्योंकि यह वैदिक कविताके रहस्यवादी तथा पूर्णतया आध्यात्मिक दोनों ही प्रकारके स्वरूपको चामत्कारिक रूपसे खोलकर सामने रख देता है और ऐसा करते हुए यह उस रूपकके स्वरूपको भी स्पष्टतया प्रकट कर देता है जिसमें सरमा का अलंकार आया है। सरमाके विषयमें ऋग्वेदमें जो अन्य उल्लेख आते हैं वे इस विचारमें कोई विशेष महत्त्वकी बात नहीं जोड़ते। एक संक्षिप्त उल्लेख हम 4.16.8 में पाते हैं, 'जब तू हे इन्द्र (पुरुहूत) पहाड़ीका विदारण करके उसके अन्दरसे जलोंको निकाल लाया तब तेरे सामने सरमा आविर्भूत हुई; इसी प्रकार हमारा नेता बनकर अंगिरसोंसे स्तुति किया जाता हुआ तू बड़ोंको तोड़कर हमारे लिये बहुतसी दौलतको निकाल ला'।[1] यह अन्तर्ज्ञान (Intiution) है जो **दिव्य मन**के सामने इसके अग्रदूतके रूपम आविर्भूत होता है, जब कि जलोंका **सत्य**की उन प्रवाह-रूप गतियोंका प्रादुर्भाव होता है जो इस पहाड़ीको तोड़कर निकलती हैं जिसमें वे वृत्र द्वारा दृढ़तासे बन्दकी हुई थीं (ऋचा 7); और इस **अन्तर्ज्ञान** द्वारा ही यह देव (दिव्य मन, इन्द्र) हमारा नेता बनता है, इसके लिये कि वह **प्रकाश**को मुक्त कराये और उस बहुतसी दौलतको अधिगत कराये जो पणियोंके दुर्गद्वारोंके पीछे चट्टानके अन्दर छिपी पड़ी है।

सरमाका एक और उल्लेख हम पराशर शाक्त्यके एक सूक्त, ऋ. 1.72 में पाते हैं। यह सूक्त उन सूक्तोंमेंसे है जो निःसंदेह पराशरके अन्य बहुत से सूक्तोंकी ही भांति वैदिक कल्पनाके आशयको अत्यधिक स्पष्टताके साथ प्रकट कर देते हैं, पराशर बहुत विशद-प्रकाश-युक्त कवि है और उसे यह सदा प्रिय है कि रहस्यवादीके पर्देके एक कोनेको ही नहीं किंतु कुछ अधिकको हटाकर वणन करे। यह सूक्त छोटा-सा है और मैं इस पूरेका ही अनुवाद करूँगा।

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरुणि।
अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ।। (ऋ. 1.72.1)

अपने हाथमें अनेक शक्तियोंको, **दिव्य पुरुषों**की शक्तियोंको (**नर्या पुरूणि**), धारण करते हुए उसने, अपने अंदर, वस्तुओंके शाश्वत **विधाता**के द्रष्टा-ज्ञानोंको

---

1. **अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते।**
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ।।4.16.8।।

रचा है; अग्नि अपने साथ सारी अमरताओंको रचता हुआ (दिव्य) ऐश्वर्योंका स्वामी हो जाता है ।।1।।

अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः ।
श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः ।।2।।

सब अमर्त्योंने, उन्होंने जो (अज्ञान द्वारा) सीमित नहीं हैं, इच्छा करते हुए, उसे हमारे अंदर पा लिया, मानो वह (अदितिरूपी गौका) बछड़ा हो, जो सर्वत्र विद्यमान है; श्रम करते हुए, परम पदकी ओर यात्रा करते हुए, विचारको धारण करते हुए उन्होंने परम स्थानमें 'अग्नि' की जगमगाती हुई (शोभा) को अधिगत कर लिया ।।2।।

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचिं घृतेन शुचयः सपर्यान् ।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्वः सुजाताः ।।3।।

हे अग्ने ! जब तीन वर्षों तक (तीन प्रतीकरूप ऋतुओं या काल-विभागों तक जो संभवतः तीन मानसिक लोकोंमेंसे गुजरनेके कालके अनुरूप हैं) उन पवित्रोंने तुझ पवित्रकी 'घृत' से सेवाकी, तब उन्होंने यज्ञिय नामोंको धारण किया और सुजात रूपोंको (उच्च लोककी ओर) गति दी ।।3।।

आ रोदसी बृहती वेविदानाः प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियासः ।
विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसम् ।।4।।

वे महान् द्यावापृथिवीका ज्ञान रखते थे और उन रुद्रके पुत्रों, यज्ञके अधिपतियोंने उन्हें आगेकी ओर धारण किया; मर्त्य मानव अन्तर्दर्शन (Vision) के प्रति जाग गया और उसने अग्निको पा लिया, जो अग्नि परम स्थानमें स्थित था ।।4।।

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन् ।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः ।।5।।

पूर्णतया (या समस्वरताके साथ) जानते हुए उन्होंने उसके प्रति घुटने टेक दिये; उन्होंने अपनी पत्नियों (देवोंकी स्त्रीलिंगी शक्तियों) सहित उस नमस्य को नमस्कार किया ; अपने-आपको पवित्र करते हुए (या संभव है, यह अर्थ हो कि द्यौ और पथ्वीकी सीमाओंको अतिक्रमण करते हुए) उन्होंने, सखाकी निर्निमेष दृष्टिमें रक्षित रहते हुए प्रत्येक सखाने, अपने निज (अपने असली या दिव्य) रूपोंको रचा ।।5।।

त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत्पदाविदन्निहिता यज्ञियासः ।
तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातृञ्चरथं च पाहि ।।6।।

तेरे अंदर यज्ञके देवोंने अंदर छिपे हुए त्रिगुणित सात गुह्य स्थानोंको पा लिया; वे एक हृदयवाले होकर, उनके द्वारा अमरताकी रक्षा करते हैं।

रक्षा कर तू उन पशुओंकी जो स्थित हैं और उसकी जो गतिमय है ।।6।।

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धाः ।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् ।।7।।

हे अग्ने ! लोकोंमें सब अभिव्यक्तियों (या जन्मों) के ज्ञान को रखता हुआ (अथवा मनुष्योंके सारे ज्ञानको जानता हुआ), तू अपनी शक्तियोंको सतत रूपसे जीवनके लिये धारण कर। अंदर, देवोंकी यात्राके मार्गोंको जानता हुआ, तू उनका अतन्द्र दूत और हवियोंका वाहक हो जाता है ।।7।।

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन् ।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट् ।।8।।

विचारको यथार्थ रूपसे धारण करती हुई, **सत्य** को जानती हुई द्युलोककी सात शक्तिशाली (नदियों) ने आनंद (सम्पत्) के द्वारोंको जान लिया; सरमाने गौओंकी दढ़ताको, विस्तीर्णताको पा लिया, जिसके द्वारा अब मानुषी प्रजा (उच्च ऐश्वर्योंका) आनंद लेती है ।।8।।

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम् ।
महा महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः ।।9।।

जिन्होंने यथार्थफल (अपत्य) वाली सभी वस्तुओंका आश्रय लिया था उन्होंने **अमरता**की ओर मार्ग बनाया ; महान् (देवों)के द्वारा और महत्ताके द्वारा पृथिवी विस्तृत रूपमें स्थित हुई; माता **अदिति**, अपने पुत्रोंके साथ, धारण करनेके लिये आयी ।।9।।

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन् ।
अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टा प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन् ।।10।।

अमर्त्योंने उसके अंदर चमकती हुई शोभाको निहित किया, जब कि उन्होंने द्यौकी दो आंखोंको (जो संभवतः **सूर्य**की दो दर्शन-शक्तियों, इन्द्रके दो घोड़ोंसे अभिन्न हैं) बनाया ; नदियां मानो मुक्त होकर नीचेको प्रवाहित होती हैं; आरोचमान (गौओं)ने, जो यहां नीचे थीं, जान लिया हे अग्ने ! ।।10।।

यह है पराशरका सूक्त जिसका मैंने यथासंभव अधिक-से-अधिक शब्दशः अनुवाद किया है, यहाँ तक कि इसके लिये भाषामें कुछ थोड़ेसे असौष्ठवको भी सहन करना पड़ा है। प्रथम दृष्टिमें ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सारे-के-सारे सूक्तमें **ज्ञान**का, **सत्य**का, दिव्य **ज्वाला**का प्रतिपादन है, जो (**ज्वाला**) कदाचित् ही सर्वोच्च **देव**से भिन्न हो सकती है, इसमें अमरताका और इस बातका प्रतिपादन है कि देव (अर्थात् दिव्य शक्तियाँ) यज्ञ द्वारा आरोहण करके अपने देवत्वको, अपने परम नामोंको, अपने वास्तविक रूपोंको, **दिव्यता**के अपने त्रिगुणित सात स्थानों सहित परमावस्थाकी जो जगमगाती

हुई शोभा है उसको पहुँच जाते हैं। इस प्रकारके आरोहणका इसके सिवाय कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता कि यह मनुष्यके अंदरकी दिव्य शक्तियोंका, जगत्में सामान्यतया उनके जो रूप दिखायी देते हैं उनसे उठकर, परे जगमगाते हुए सत्यकी तरफ आरोहण है, जैसा कि सचमुच पराशर स्वयं ही हमें कहता है कि देवोंकी इस क्रिया द्वारा मर्त्य मनुष्य ज्ञानके प्रति जागृत हो जाता है और परम पदमें स्थित अग्निको पा लेता है;

विदन् मर्तो नेमधिता चिकित्वान् अग्निम् पदे परमे तस्थिवांसम्।

इस प्रकारके सूक्तमें सरमाका और क्या मतलब है, यदि वह सत्यकी कोई शक्ति नहीं है, यदि उसकी गौएँ प्रकाशकी दिव्य उषाकी किरणें नहीं हैं? प्राचीन लड़ाकू जातियोंकी गायोंका तथा हमारे आर्य और द्राविड़ पूर्वजोंके अपनी पारस्परिक लूटों और पशुहरणोंपर किये जानेवाले रक्तपातमय कलहोंका अमरता तथा देवत्वके इस जगमगाते हुए स्वतःप्रकाश ज्ञानसे क्या संबंध हो सकता है? अथवा ये नदियाँ क्या होंगी जो विचार करती हैं और सत्यको जानती हैं और छिपे हुए द्वारोंका पता लगा लेती हैं? या क्या अब भी हम यही कहेंगे कि ये पंजाबकी नदियाँ थीं जिन्हें द्रविड़ोंने बाँध लगाकर रोक दिया था, या जो अनावृष्टिके कारण रुक गयी थीं और सरमा आर्योंके दूत-कर्मके लिये एक गाथाकी पात्र थी, या केवल भौतिक उषा, थी?

दशम मण्डलमें एक सूक्त पूरा-का-पूरा सरमा के इस "दूत-कर्म"का वर्णन करता है, यह सरमा और पणियोंका संवाद है; परंतु सरमा के विषयमें जितना हम पहलेसे जानते हैं उसमें यह कुछ और विशेष नयी बात नहीं जोड़ता और इस सूक्तका महत्त्व इसमें है कि यह गुफाके खजानेके जो स्वामी हैं उनके बारेमें विचार बनानेमें हमें सहायता देता है। तो भी, हम यह देख सकते हैं कि न तो इस सूक्तमें, न ही दूसरे सूक्तोंमें जिन्हें हम देख चुके हैं, सरमाके देवशुनी (द्युलोककी कुतिया) के रूपमें चित्रणका जरा भी निर्देश हमें मिलता है, जो संभव है कि वैदिक कल्पनाके बादमें होनेवाले विकासमें सरमाके साथ संबद्ध हो गया होगा। यह निश्चित ही चमकीली सुन्दर-पैरों-वाली देवी है, जिसकी ओर पणि आकृष्ट हुए हैं और जिसे वे अपनी बहिन बना लेना चाहते हैं—इस रूपमें नहीं कि वह एक कुतिया है जो अनेक पशुओंकी रखवाली करेगी, बल्कि एक ऐसी देवीके रूपमें जो उनके ऐश्वर्योंकी प्राप्तिमें हिस्सा लेगी। तो भी इसका द्युलोककी कुतियाके रूपक द्वारा वर्णन अत्यधिक उपयुक्त और चित्ताकर्षक है और कथनकमेंसे उसका विकसित हो जाना अनिवार्य था।

प्राचीनतर सूक्तोंमेंसे एकमें सचमुच हम एक पुत्रका उल्लेख पाते हैं जिसके लिये सरमाने "भोजन प्राप्त कर लिया था",–यह अर्थ उस प्राचीन व्याख्याके अनुसार है जो इस शब्दावलीकी व्याख्याके लिये एक कहानी प्रस्तुत करती है कि सरमाने कहा था कि मैं खोयी हुई गौओंको तो ढूंढ़ लूंगी पर शर्त यह है कि यज्ञमें मेरी संतानको भोजन मिलना चाहिये। पर यह स्पष्ट ही एक कल्पनामात्र है जो इस व्याख्याको प्रमाणित करनेके लिये गढ़ ली गयी है और जिसका स्वयं ऋग्वेदमें किसी भी स्थान पर उल्लेख नहीं आता। जिसमें उपर्युक्त शब्दावली आयी है वह ऋचा इस प्रकार है—

इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ विदत् सरमा तनयाय धासिम्। (ऋ. 1.62.3)

इसमें वेद कहता है "यज्ञमें–या अधिक संभवतः इसका यह अर्थ है कि इन्द्र और अंगिरसोंकी (गौओंके लिये की जानेवाली) खोजमें—सरमाने पुत्रके लिये एक आधारको ढूंढ़ लिया", **(विदत् सरमा तनयाय धासिम्)**, क्योंकि यहाँ **धासिम्** शब्दका आशय अधिक संभवतः 'आधार' ही प्रतीत होता है। यह पुत्र, पूरी सभावना है कि, वह पुत्र है जो यज्ञसे पैदा हुआ है, जो वैदिक कल्पनाका एक स्थिर तत्त्व है, न कि यह कि पुत्रसे अभिप्राय यहाँ सरमासे पैदा हुई कुत्तोंकी संतति हो। वेदमें इस जैसे वाक्यांश और भी आते हैं, जैसे ऋ. 1.96.4 में **स मातरिश्वा पुरुवार-पुष्टिर्विदद् गातुं तनयाय स्वर्वित्।** "मातरिश्वा (प्राणके देवता, वायु) ने बहुतसे वरणीय पदार्थोंको (जीवनके उच्चतर विषयोंको) बढ़ाते हुए, पुत्रके लिये मार्गको ढूंढ़ लिया, स्वःको ढूंढ़ लिया।" यहाँ विषय स्पष्ट ही वही है, पर पुत्रका किसी पिल्लोंकी सन्ततिसे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

दशम मण्डलमें एक बादके सूक्तमें यमके दूतोंके रूपमें दो सारमेय कुत्तोंका उल्लेख आता है, पर उनकी माताके रूपमें सरमाका वहाँ कोई संकेत नहीं है। यह आता है प्रसिद्ध 'अन्त्येष्टिसूक्त' (10.14) में और यहाँपर ध्यान देने योग्य है कि 'यम' का तथा उसके दो कुत्तोंका ऋग्वेदमें वास्तविक स्वरूप क्या है। बादके विचारोंमें यम 'मृत्यु' का देवता है और उसका एक अपना विशेष लोक है; पर ऋग्वेदमें प्रारंभतः यह सूर्यका एक रूप रहा प्रतीत होता है, यहाँतक कि इतनी पीछे जाकर भी जब कि ईशोपनिषद् की रचना हुई, इस नामको हम सूर्यवाची नामके रूपमें प्रयुक्त किया गया पाते हैं,–और फिर सत्यके अतिरोचमान देवके युगल शिशुओं (यम-यमी) में से एक। वह धर्मका संरक्षक है, उस सत्यके नियम, सत्यधर्मका जो अमरताकी शर्त है और इसलिये वह स्वयं अमरताका ही संरक्षक है। उसका लोक है **स्वः** जो अमरताका लोक है, **अमृते लोके अक्षिते,** जैसा कि हमें 9.113.7 में

बताया गया है, जहाँ **अजस्र ज्योति** है, जहाँ **स्वः** स्थित है, **यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्**। सू. 10.14 वास्तवमें उतना **मृत्यु**का सूक्त नहीं है जितना कि **जीवन** और **अमरता**का सूक्त है। यमने और पूर्वपितरोंने मार्गको ढूंढ़ लिया है जो मार्ग उस लोकको जाता है जो **गौओं**की चरागाह है, जहाँसे शत्रु उन चमकती हुई गौओंका हरण नहीं कर सकता—

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ, यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। (10.14.2)

द्यौके प्रति आरोहण करते हुए मर्त्यके आत्माको आदेश दिया गया है कि 'चार आंखोंवाले, चितकबरे दो सारमेय कुत्तोंको उत्तम (या, कार्यसाधक) मार्गपर दौड़कर अतिक्रमण कर जा'[1]। द्यौको जानेवाले उस मार्गके वे चार आँखोंवाले संरक्षक हैं, वे अपने दिव्य दर्शन द्वारा उस मार्गपर मनुष्योंकी रक्षा करते हैं,

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। (10.14.11)

और यमको कहा गया है कि वह इन्हें अपने मार्गपर जाते हुए आत्माके लिये रक्षकके तौरपर देवे। ये कुत्ते हैं "विशाल गतिवाले, आसानीसे तृप्त न होनेवाले" और **नियमके देवता (यम)**के दूतोंके तौरपर ये मनुष्योंके अन्दर विचरते हैं।[2] और सूक्तोंमें प्रार्थना है कि 'वे (कुत्ते) हमें यहाँ असुखमय (लोक) में फिरसे सुख प्राप्त करा देवें जिससे हम **सूर्य**को देख सकें।'[3]

यहाँ फिर हम प्राचीन वैदिक विचारोंके क्रमको पाते हैं, **प्रकाश** और **सुख** और **अमरता**; और ये सारमेय कुत्ते सरमाके प्रधानभूत गुणोंको रखते हैं, अर्थात् दिव्य दर्शन, विशाल रूपसे विचरण करनेवाली गति, जिस मार्ग द्वारा लक्ष्यपर पहुँचा जाता है उस मार्गपर यात्रा करनेकी शक्ति। सरमा गौओं के विस्तारकी तरफ ले जाती है, ये कुत्ते आत्माकी रक्षा करते हैं जब कि वह चमकीली और अनश्वर गौओंके दुर्जेय चरागाह, खेत (क्षेत्र) की यात्रा कर रहा होता है। सरमा हमें **सत्य** प्राप्त कराती है, सूर्यका दर्शन प्राप्त कराती है जो सुखको पानेका मार्ग है; ये कुत्ते दुःख-पीड़ाके इस लोकमें पड़े हुए मनुष्यके लिये चैन लाते हैं ताकि वह सूर्य का दर्शन पा ले। चाहे सरमा इस रूपमें चित्रित की जाय कि वह सुन्दर पैरोंवाली देवी है जो मार्गपर तेजीसे जाती है और सफलता प्राप्त कराती है, चाहे इस रूपमें कि वह

---

1. **अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।** 10.14.10
2. **उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।** (10.14.12) (क)
3. **तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥** (10.14.12) (ख)

देवशुनी है जो मार्गके इन विशाल गतिवाले संरक्षकों (सारमेयों)की माता है, विचार एक ही है कि वह सत्य की एक शक्ति है, जो खोजती है और पता पा लेती है, जो अन्तर्दृष्टिकी एक दिव्य शक्ति द्वारा छिपे हुए प्रकाशका और अप्राप्य अमरताका पता लगा देती है। पर उसका व्यापार खोजने और पता पा लेने तक ही सीमित है।

इक्कीसवां अध्याय

अन्धकारके पुत्र

एक बार नहीं बल्कि बार-बार हम यह देख चुके हैं कि यह संभव ही नहीं है कि अंगिरसों, इन्द्र और सरमाकी कहानीमें हम पणियोंकी गुफासे **उषा, सूर्य** व **गौओं**की विजय करनेका यह अर्थ लगावें कि यह आर्य आक्रांताओं तथा गुहानिवासी द्रविड़ोंके बीच होनवाले राजनैतिक व सैनिक संघर्षका वर्णन है। यह तो वह संघर्ष है जो **प्रकाश**के अन्वेष्टाओं और **अंधकार**की शक्तियोंके बीच होता है; गौएँ हैं **सूर्य** तथा **उषा**की ज्योतियाँ, वे भौतिक गायें नहीं हो सकतीं; गौओंका विशाल भयरहित खेत जिसे इन्द्रने आर्योंके लिए जीता **'स्वः'** का विशाल लोक है, सौर **प्रकाश**का लोक है, द्यौका त्रिगुण प्रकाशमय प्रदेश है। इसलिये इसके अनुरूप ही पणियोंको इस रूपमें लेना चाहिये कि वे अन्धकार-गुहाकी शक्तियाँ हैं। यह बिलकुल सच है कि पणि 'दस्यु' या 'दास' हैं; इस नामसे उनका वर्णन सतत रूपसे देखनेमें आता है, उनके लिये यह वर्णन मिलता है कि वे **आर्य-वर्ण**के प्रतिकूल **दास-वर्ण** हैं, और रंगवाची 'वर्ण' शब्द ब्राह्मणग्रंथोंमें तथा पीछेके लेखोंमें जाति या श्रेणीके लिये प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि इससे परिणाम नहीं निकलता कि ऋग्वेदमें इसका यह अर्थ है। दस्यु हैं पवित्र **वाणी**से घृणा करनेवाले; ये वे हैं जो हवि या सोमरसको देवोंके लिये अर्पित नहीं करते, जो गौओं व घोड़ोंकी दौलत तथा अन्य खजाने अपने ही लिये रख लेते हैं और उन चीजोंको द्रष्टाओं (ऋषियों)के लिये नहीं देते; ये वे हैं जो यज्ञ नहीं करते। यदि हम चाहें तो यह भी कल्पना कर सकते हैं कि भारतमें दो एसे विभिन्न संप्रदायोंके बीच एक संघर्ष हुआ करता था और इन संप्रदायोंके मानवीय प्रतिनिधियोंके बीच होनेवाले इस भौतिक संधर्षको देखकर उससे ही ऋषियोंने अपने प्रतीकों को लिया तथा उन्हें आध्यात्मिक संघर्षमें प्रयुक्त कर दिया, वैसे ही जैसे उन्होंने अपने भौतिक जीवनके अन्य अंग-उपांगोंको आध्यात्मिक यज्ञ, आध्यात्मिक दौलत और आध्यात्मिक युद्ध व यात्राके लिये प्रकीकके रूपमें प्रयुक्त किया। यह कल्पना ठीक हो या न हो, इतना तो पूर्णतया निश्चित है कि कम-से-कम ऋग्वेदमें जिस युद्ध और विजयका वर्णन हुआ है वह कोई भौतिक युद्ध और लूटमार नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है।

यदि हम इक्के-दुक्के संदर्भोंको लेकर उन्हें कोई-सा एक विशेष अर्थ दे डालें जो केवल उसी जगह ठीक लग सके जब कि हम उन बहुतसे अन्य संदर्भोंकी उपेक्षा कर देते हों जिनमें वह अर्थ स्पष्ट ही अनुपपन्न ठहरता है तो अर्थ करनेकी यह प्रणाली या तो विचारतुलापर ठीक न उतरनेवाली होगी या एक कपटपूर्ण प्रणाली होगी। हमें वेदके उन सभी उल्लेखोंको इकट्ठे लेना चाहिये जिनमें पणियोका, उनकी दौलतका, उनके विशेष गुणोंका और उन पणियोंपर प्राप्तकी गयी देवों, द्रष्टाओं तथा आर्योंकी विजयका वर्णन है और इस प्रकार उन सभी संदर्भोंको इकट्ठा लेकर देखनेसे जो परिणाम निकले उसे सर्वत्र एकसमान स्वीकार करना चाहिये। जब हम इस प्रणालीका अनुसारण करते हैं तो हम देखते हैं कि इन संदर्भोंमेंसे कई संदर्भ ऐसे हैं जिनमें पणियोंके संबन्ध में यह विचार कि ये मानवप्राणी हैं पूर्णतया असम्भव लगता है और उन सन्दर्भोंसे यह प्रतीत होता है कि पणि या तो भौतिक अन्धकारकी या आध्यात्मिक अन्धकारकी शक्तियाँ हैं; दूसरे कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं जिनमें पणि भौतिक अन्धकारकी शक्तियाँ सर्वथा नहीं हो सकते; या तो वे देवान्वेषकों और यज्ञकर्ताओंके मानवीय शत्रु हो सकते हैं या आध्यात्मिक **प्रकाश**के शत्रु; फिर अन्य कुछ संदर्भ हमें ऐसे मिलते हैं जिनमें वे न तो मानवीय शत्रु हो सकते हैं न भौतिक **प्रकाश**के शत्रु, बल्कि निश्चित तौर पर वे आध्यात्मिक **प्रकाश**, दिव्य **सत्य** और दिव्य **विचार**के शत्रु हैं। इन तथ्योंसे केवल एक ही परिणाम निकल सकता है कि पणि वेदमें सदा आध्यात्मिक प्रकाशके और केवल आध्यात्मिक प्रकाशके शत्रु हैं—

इन दस्युओंका सामान्य स्वरूप बतलानेवाले मूलसूत्रके तौरपर हम ऋक् 5.14.4 को ले सकते हैं, "**अग्नि** पैदा होकर चमका, **ज्योति**से दस्युओंका, अन्धकारका हनन करता हुआ ; उसने **गौ**ओंको, **जल**ोंको, **स्व**:को पा लिया।"

अग्निर्जातो अरोचत, घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तमः।
अविन्दद् गा अपः स्वः॥ (5.14.4)

दस्युओंके दो बड़े विभाग हैं, एक तो 'पणि' जो गौओं तथा जलों दोनोंको अवरुद्ध करते हैं पर मुख्यतः जिनका संबंध गौओंके रोधनसे है, दूसरे, 'वृत्र' जो जलोंको और प्रकाशको अवरुद्ध करते हैं पर मुख्य रूपसे जिनका संबंध जलोंके रोधनसे है; सभी दस्यु निरपवाद रूपसे 'स्वः' को आरोहण करनेके मार्गमें आकर खड़े हो जाते हैं और वे आर्य द्रष्टाओं द्वारा की जानेवाली ऐश्वर्यकी प्राप्तिका विरोध करते हैं। प्रकाशके रोधनसे अभिप्राय है उन द्वारा 'स्वः' के दर्शन, **स्वर्दृश्**, और सूर्यके दर्शनका, ज्ञानके उच्च दर्शन, **उपमा**

केतुः (5.34.9 तथा 7.30.3) का विरोध; जलोंके रोधनसे अभिप्राय है उन द्वारा 'स्वः' की विपुल गति **'स्वर्वतीः अपः'** का, **सत्य** की गति या प्रवाहों, **ऋतस्य प्रेषा, ऋतस्य धाराः** का विरोध; ऐश्वर्य-प्राप्तिसे विरोधका अभिप्राय है 'स्वः'के विपुल सारपदार्थ **वसु, धन, वाज, हिरण्य**का उन द्वारा रोधन, उस महान् संपत्तिका रोधन जो संपत्ति सूर्यमें और जलोंमें निहित है, **(अप्सु सूर्ये महद् धनम्)**। तो भी क्योंकि सारी लड़ाई **प्रकाश** और **अंधकार**के बीच, **सत्य** और **अनृत**के बीच, दिव्य **माया** और अदिव्य मायाके बीच है, इसलिये सभी दस्यु यहाँ एकसमान अंधकारसे अभिन्नरूप मान लिये गये हैं; और अग्निके पैदा होने और चमकने लगनेपर ही **ज्योति** उत्पन्न होती है जिसके द्वारा वह (अग्नि) दस्युओंका और अंधकारका हनन करता है। ऐतिहासिक व्याख्यासे यहाँ बिल्कुल भी काम नहीं चलेगा, यद्यपि प्रकृतिवादी व्याख्याको रास्ता मिल सकता है यदि हम इस संदर्भको अन्य वर्णनसे जुदा रूपमें ही देखें और यह मान लें कि यज्ञिय अग्निको प्रज्वलित करना दैनिक सूर्योदयका कारण होता है; पर हमें वेदके तुलनात्मक अध्ययनसे किसी निर्णयपर पहुँचना है न कि जुदा-जुदा संदर्भोंके बल पर।

आर्यों और पणियों या दस्युओंके बीचका विरोध पांचवें मण्डलके एक अन्य सूक्त (5.34) में स्पष्ट हो गया है, और 3.34 में हमें **आर्यवर्ण** यह प्रयोग मिलता है। यह हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि 'दस्यु' अंधकारसे अभिन्न-रूप बताये गये हैं, इसलिये आर्योंका संबंध प्रकाशसे होना चाहिये, और वस्तुतः ही हम पाते हैं कि स्पष्टतया **दास-अंधकार**की कल्पनाके मुकाबलेमें सूर्यके प्रकाशको वेदमें **आर्य-प्रकाश** कहा गया है। वसिष्ठ भी तीन आर्यजनोंका वर्णन करता है जो **"ज्योतिरग्राः"** अर्थात् प्रकाशको अपना नेता बनानेवाले हैं, जो **प्रकाश**को अपने आगे-आगे रखते हैं (7.33.7)। आर्य-दस्यु प्रश्नपर यथोचित रूपसे तभी विचार हो सकता है यदि एक व्यापक विवाद चलाया जाय जिसमें सभी प्रसंगप्राप्त संदर्भोंकी परीक्षाकी जाय और जो कठिनाइयाँ आवें उनका मुकाबला किया जाय। परंतु मेरे वर्तमान प्रयोजनके लिये यह प्रारंभिक-बिन्दु पर्याप्त है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेदमें हमें **'ऋतं ज्योतिः'**, **'हिरण्यं ज्योतिः'**, 'सत्य प्रकाश', 'सुनहला प्रकाश' ये मुहाविरे मिलते हैं जो हमारे हाथमें एक और सूत्र पकड़ाते हैं। अब सौर प्रकाशके ये तीन विशेषण, **आर्य, ऋत, हिरण्य**, मेरी रायमें परस्पर एक दूसरेके अर्थ के द्योतक हैं और लगभग समानार्थक हैं। सूर्य सत्यका देवता है, इसलिये इसका प्रकाश **'ऋतं ज्योतिः'** है, यह सत्यका प्रकाश वह है जिसे आर्य, वह देव हो या मनुष्य, धारण करता है और जिससे उसका आर्यत्व

बनता है, फिर 'सूर्य'के लिये 'सुनहला' यह विशेषण सतत रूपसे प्रयुक्त हुआ है और 'सोना' वेदमें संभवतः सत्यके सारका प्रतीक है, क्योंकि सत्यका सार है प्रकाश, यह वह सुनहरा ऐश्वर्य है जो सूर्यमें और 'स्वः' के जलोंमें (**अप्सु सूर्ये**) पाया गया है,–इसलिये हम **'हिरण्यं ज्योतिः'** यह विशेषण पाते हैं। यह सुनहला या चमकीला प्रकाश सत्यका रंग, **'वर्ण'** है; साथ ही यह उन विचारोंका भी रंग है जो विचार उस प्रकाशसे परिपूर्ण हैं जिसे आर्योंने जीता था, उन गौओंका जो रंगमें चमकीली, **शुक्र,** श्वेत हैं, वैसी जैसा कि **प्रकाशका** रंग होता है; जब कि दस्यु, क्योंकि वह अंधकारकी एक शक्ति है, रंगमें काला है। मेरी सम्मतिमें सत्यके प्रकाशका, आर्यज्योति का, चमकीलापन ही **आर्यवर्ण** है अर्थात् उन आर्योंका वर्ण जो **'ज्योतिरग्राः'** हैं; अज्ञानकी रात्रिका कालापन पणियोंका रंग है, **दासवर्ण**। इस प्रकार प्रायः 'वर्ण'का अर्थ होगा 'स्वभाव' अथवा वे सब जो उस विशेष स्वभाववाले हैं, क्योंकि रंग स्वभावका द्योतक है; और यह बात कि यह विचार प्राचीन आर्योंके अंदर एक प्रचलित विचार था मुझे इससे पुष्ट होती प्रतीत होती है कि बादके कालमें भिन्न-भिन्न रंग–सफेद, लाल, पीला, काला––चार जातियों (वर्णों) में भेद करनेके लिये व्यवहृत हुए हैं।

ऋ. 5.34 का संदर्भ निम्न प्रकार है—

"वह (इन्द्र) पाँचके साथ और दसके साथ आरोहण करनेकी इच्छा नहीं करता; वह उसके साथ संयुक्त नहीं होता जो सोमकी हवि नहीं देता, चाहे वह वृद्धिको ही क्यों न प्राप्त हो रहा हो; वह उसे पराजित कर देता है या अपनी वेगयुक्त गतिसे उसका वध कर देता है, वह देवत्वके अभिलाषी (**देवयुः**) को उसके सुखभोगके लिये गौओंसे परिपूर्ण बाड़ा देता है।" (मंत्र 5)

"युद्ध-संघट्टमें (शत्रुका) विदारण करनेवाला, चक्र (या पहिये) को दृढ़तासे थामनेवाला, जो सोमरस अर्पित नहीं करता उससे पराङ्मुख पर सोमरस अर्पित करनेवालेको बढ़ानेवाला वह इन्द्र बड़ा भीषण है और सबका दमन करनेवाला है; वह 'आर्य' इन्द्र 'दास' को पूर्णतया अपने वशमें कर लेता है।" (मंत्र 6)

"पणिके इस सुखभोगको उत्सारित करता हुआ, उसका अपहरण करता हुआ वह (इन्द्र) आता है और वह देनेवालेको (दाशुषे) उसके सुखके लिये **'सूनरं वसु'** बाँटता है अर्थात् वह दौलत बांटता है जो वीर-शक्तियोंसे (शब्दार्थतः, मनुष्योंसे) समृद्ध है (यहाँ **'सूनरम्'** का अर्थ मैंने 'वीर-शक्तियोंसे समृद्ध' किया है, क्योंकि 'वीर' और 'नृ' बहुधा पर्यायरूपमें प्रयुक्त होते हैं)।

वह मनुष्य जो इन्द्रके बलको क्रुद्ध करता है एक दुर्गम यात्रामें अनेकरूपसे रुकावटें पाता है।" (दुर्गे चन ध्रियते आ पुरु) (मंत्र 7)।

"जब मघवा (इन्द्र) ने चमकीली गौओंके अंदर उन दो (जनों)को जान लिया जो भरपूर दौलतवाले (सुधनौ) और सब बलोंसे युक्त (विश्वशर्धसौ) हैं, तब वह ज्ञानमें बढ़ता हुआ एक तीसरे (जन) को अपना सहायक बनाता है और तेजीसे गति करता हुआ अपने योद्धाओंकी सहायतासे गौओंके समुदाय को (गव्यन्) ऊपरकी तरफ खोल देता है।" (मंत्र 8)[2]

और इस सूक्तकी अंतिम ऋचा आर्य (चाहे वह देव हो या मनुष्य)के विषयमें यह वर्णन करती है कि वह सर्वोच्च ज्ञानदर्शन पर पहुंच जाता है (उपमां केतुम् अर्यः), जल अपने संगमोंमें उसे पालित करते हैं और उसके अन्दर बलवती तथा जाज्वल्यमान संग्राम-शक्ति (क्षत्रम् अमवत् त्वेषम्) रहती है[3]।

जितना कुछ इन प्रतीकोंके बारेमें हम पहलेसे ही जानते हैं उतनेसे हम इस सूक्तका आन्तरिक आशय सुगमतासे समझ सकते हैं। इन्द्र, जो दिव्य मनः-शक्ति है, अज्ञानकी शक्तियोंके पाससे उनकी छिपाकर रखी हुई दौलत ले लेता है और जब वे अज्ञान-शक्तियाँ प्रचुर और पुष्टियुक्त होती हैं तब भी वह उनसे संबंध स्थापित करनेको तैयार नहीं होता, वह प्रकाशमयी उषाकी बन्द पड़ी गौओंको उस यज्ञ करनेवाले को दे देता है जो देवत्वोंका अभिलाषी है। वह (इन्द्र) स्वयं आर्य है जो अज्ञानके जीवनको पूर्ण तौरसे

---

1. ऋषि देवोंसे सदा यह प्रार्थना करते हैं कि वे 'सर्वोच्च सुख' की ओर उनका मार्ग बना देवें जो मार्ग सुगम और अकण्टक, 'सुग' हो; 'दुर्ग' इस सुगमका उलटा है, यह वह मार्ग है जो अनेकविध (पुरु) आपत्तियों और कष्टों व कठिनाइयोंसे भरा पड़ा है।

2. न पञ्चभिर्दशभिर्वष्टधारभं नासुन्वता सचते पुष्यता चन।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे ॥5॥
वित्वक्षणः समृतौ चक्रमासजोऽसुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः।
इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणो यथावशं नयति दासमार्यः ॥6॥
समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत् ॥7॥
सं यज्जनौ सुधनौ विश्वशर्धसाववेदिन्द्रो मघवा गोषु शुभ्रिषु।
युजं ह्य१न्यमकृत प्रवेपन्युदीं गव्यं सृजते सत्वभिर्धुनिः ॥8॥ (ऋ. 5.34)

3. सहस्रसामाग्निवेशि गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः।
तस्मा आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन् क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु ॥9॥ (ऋ.5.34)

उच्चतर जीवनके वशमें कर देता है, जिससे यह अज्ञानका जीवन उस सारी दौलतको जो इसके कब्जेमें थी इस उच्चतर जीवनके हाथमें सौंप देता है। देवोंको निरूपित करनेके लिये 'आर्य' तथा 'अर्य' शब्दोंका प्रयोग, न केवल यहीं पर बल्कि अन्य संदर्भोंमें भी, अपने-आपमें यह दर्शानेकी प्रवृत्ति रखता है कि आर्य तथा दस्युका विरोध एक राष्ट्रीय या जातिगत अथवा केवलमात्र मानवीय भेद नहीं है, बल्कि इसका एक गंभीरतर अर्थ है।

योद्धा यहाँ निश्चित ही सात अंगिरस् हैं, क्योंकि वे ही, न कि 'मरुत्' जैसा कि सायणने 'सत्वभिः'का अर्थ लिया है, गौओंकी मुक्तिमें इन्द्रके सहायक होते हैं। पर जिनको इन्द्र चमकीली गौओंके अन्दर प्रविष्ट होकर अर्थात् विचारके पुञ्जीभूत प्रकाशोंको अधिगत करके पाता है या जानता है, वे तीन जन यहाँ कौन हैं इसका निश्चय कर सकना अधिक कठिन है। बहुत अधिक संभव यह है कि वे तीन हैं जिनके द्वारा अंगिरस्-ज्ञानकी सात किरणें बढ़कर दस हो जाती हैं, जिससे अंगिरस् सफलतापूर्वक दस महीनोंको पार कर लेते हैं और सूर्य तथा गौओंको मुक्त करा लेते हैं; क्योंकि यहाँ भी दो (जनों)को पा लेने या जान लेने और तीसरे (जन)की मदद पा लेनेके बाद ही इन्द्र पणियोंके पाससे गौओंको छुड़ा पाता है। इन तीन जनोंका सम्बन्ध प्रकाशको नेता बनानेवाले (ज्योतिरग्राः) तीन आर्यजनों (7.33.7)के प्रतीकवादके साथ तथा 'स्वः'के तीन प्रकाशमान लोकोंके प्रतीकवादके साथ भी जुड़ सकता है, क्योंकि सर्वोच्च ज्ञान-दर्शन (उपमा केतुः)की उपलब्धि उनकी क्रियाका अन्तिम परिणाम है और यह सर्वोच्च ज्ञान वह है जो 'स्वः'के दर्शनसे युक्त है तथा अपने तीन प्रकाशमान लोकों (रोचनानि)में स्थित है जैसा कि हम 2.3.14 में पाते हैं, स्वर्दृशं केतुं दिवो रोचनस्थामुषर्बुधम्, "वह ज्ञान-दर्शन जो 'स्वः'को देखता है, जो प्रकाशमान लोकोंमें स्थित है, जो उषामें जागृत होता है।"

ऋ. 3.34में विश्वामित्रने 'आर्यवर्ण' यह पदप्रयोग किया है, और साथ ही वहाँ उसने इसके अध्यात्मपरक अर्थ की कुञ्जी भी हमें दे दी है। इस सूक्तकी (8 से 10 तक) तीन ऋचाएं निम्न प्रकारसे हैं—

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्वरपश्च देवीः।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥8॥

"(वे स्तुति करते हैं) अतिशय वांछनीय, सदा अभिभव करनेवाले, बलके देनेवाले, 'स्वः' तथा दिव्य जलोंको जीतकर अधिगत करनेवाले (इन्द्र)

की; विचारक लोग उस इन्द्रके आनन्दमें आनन्दित होते हैं, जो पृथिवी तथा द्यौको अधिकृत कर लेनेवाला है ॥8॥"

ससानात्यां उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥9॥

"इन्द्र घोड़ोंको अधिगत कर लेता है, सूर्यको अधिगत कर लेता है, अनेक सुख-भोगोंवाली गौको अधिगत कर लेता है; वह सुनहले सुख-भोगों-को जीत लेता है, दस्युओंका वध करके वह 'आर्य वर्ण'की पालना करता है (या रक्षा करता है) ॥9॥"

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम्।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥10॥

"इन्द्र ओषधियोंको और दिनोंको जीत लेता है, वनस्पतियों और अन्त-रिक्षको जीत लेता है, वह 'वल'का भेदन कर डालता है और वाणियोंके वक्ताको आगेकी तरफ प्रेरणा दे देता है, इस प्रकार वह उनका दमन-कर्ता बन जाता है जो उसके विरुद्ध कर्म करनेका संकल्प रखनेवाले हैं (**अभि-क्रतूनाम्**) ॥10॥"

यहाँ हम देखते हैं कि उस सारी दौलतके प्रतीकमय तत्त्व आ गये हैं जिसे इन्द्रने आर्यके लिये जीता है और उस दौलतमें सम्मिलित हैं सूर्य, दिन, पृथिवी, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, घोड़े, पार्थिव उद्भिद्, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ (**'वनस्पतीन्'** यहाँ द्वयर्थक है, वनके अधिपति और सुखभोगके अधिपति); और 'वल' तथा उसके सहायक दस्युओंके विरोधी रूपमें यहाँ हम 'आर्यवर्ण'को पाते हैं।

परन्तु इससे पूर्ववर्ती ऋचाओंमें (4-6में) पहले ही 'वर्ण' शब्द इस अर्थमें आ चुका है कि यह आर्यके विचारोंका रंग है, उन विचारोंका जो सच्चे तथा प्रकाशसे परिपूर्ण हैं। 'स्व:के विजेता इन्द्रने, दिनोंको पैदा करके, इच्छुकों (अंगिरसों)को साथ लेकर (दस्युओंकी) इन सेनाओं पर आक्रमण किया और इन्हें जीत लिया; उसने मनुष्यके लिये दिनोंके ज्ञान-दर्शनको (**केतुम् अह्नां**) प्रकाशित कर दिया, उसने विशाल आनन्दके लिये प्रकाशको पा लिया (ऋचा 4)। उसने अपने उपासकके लिये इन विचारोंको ज्ञान-चेतनासे युक्त किया, जागृत किया, उसने इन (विचारों)के चमकीले 'वर्ण'-को आगे (दस्युओंकी बाधासे परे) पहुंचा दिया (**अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्**) (ऋचा 5)। वे महान् इन्द्रके अनेक महान् और पूर्ण कर्मोंको प्रवर्तित करते हैं (या उनकी स्तुति करते हैं); अपने बलसे, अपनी अभिभूत कर देनेवाली शक्तिमें भरकर, अपनी ज्ञान-की-क्रियाओं

द्वारा (मायाभिः) वह कुटिल दस्युओंको पीस डालता है (ऋचा 6)।"[1]

यहाँ हम **'केतुम् अह्नाम्'** अर्थात् 'दिनोंका ज्ञान-दर्शन' इस वैदिक मुहावरे-को पाते हैं, जिससे **सत्य**के सूर्यका वह प्रकाश अभिप्रेत है जो विशाल दिव्य आनन्द प्राप्त कराता है, क्योंकि 'दिन' वे हैं जो मनुष्यके लिये इन्द्रसे की गयी 'स्वः'की विजय द्वारा उस समय उत्पन्न किये गये हैं जब, जैसा कि हम जानते हैं, इन्द्रने पहले उत्पन्न अंगिरसोंकी सहायतासे पणि-सेनाओंका विनाश कर लिया तथा **सूर्य** और प्रकाशमय गौओंका उदय हो चुका। यह सब कुछ देव मनुष्यके लिये और मनुष्यकी शक्तियोंका रूप धारण करके करते हैं, न कि स्वयं अपने लिये क्योंकि वे तो पहलेसे ही इन ऐश्वर्योंसे युक्त हैं;—मनुष्यके लिये वह इन्द्र 'नृ' अर्थात् दिव्य मनुष्य या पुरुष बनकर उस पौरुषके अनेक बलोंको धारण करता है (**नृवद् ···· नर्या पुरूणि**—मंत्र 5), मनुष्यको वह इसके लिये जागृत करता है कि वह इन विचारोंका ज्ञान प्राप्त करे, जिन विचारोंको यहाँ प्रतीकरूपमें पणियोंके पाससे छुड़ायी गयी चमक-दार गौएं कहा गया है; और इन विचारोंका चमकीला रंग (**शुक्रं वर्णमासाम्**) स्पष्टतः वही है जो 'शुक्र' या 'श्वेत' आर्य-रंग है, जिसका नौवीं ऋचामें उल्लेख हुआ है। इन्द्र इन विचारोंके 'रंग'को आगे ले जाकर या वृद्धिंगत करके पणियोंके विरोधसे परे कर देता है (**प्र वर्णमतिरच्छुक्रम्**), ऐसा करके वह दस्युओंको मार डालता है और आर्यके 'रंग'की रक्षा करता है या पालना करता है और वृद्धि करता है, (**हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्** ।9।)। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि ये दस्यु कुटिल हैं (**वृजिनान्**), तथा ये जीते जाते हैं इन्द्रके कर्मों या ज्ञानके रूपों द्वारा, उसकी 'मायाओं' द्वारा, जिन मायाओंसे, जैसा कि अन्य कई स्थानों पर कहा मिलता है, वह इन्द्र दस्युओंकी, 'वृत्र'की या 'वल'की विरोधिनी 'मायाओं'को अभिभूत करता है। 'ऋजु' और 'कुटिल' ये वेदमें सततरूपसे क्रमशः 'सत्य' और 'अनृत'के पर्यायवाचीके तौर पर आते हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि ये 'पणि-दस्यु'

---

1. **इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।**
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ।।4।।
(इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवत् दधानो नर्या पुरूणि)।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ।।5।।
महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान् त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूंरभिभूत्योजाः ।।6।।
(ऋ. 3. 34. 4 6)

अनृत और अज्ञानकी कुटिल शक्तियाँ हैं जो अपने मिथ्या ज्ञानको, अपने मिथ्या बल, संकल्प और कर्मोंको देवों तथा आर्योंके सच्चे ज्ञान, सच्चे बल, सच्चे संकल्प और कर्मोंके विरोधमें लगाती हैं। **प्रकाश**की विजयका अभिप्राय है इस मिथ्या ज्ञान या दानवीय ज्ञान पर **सत्य**के दिव्य ज्ञानकी विजय; और उस विजयका मतलब है **सूर्य**का ऊर्ध्वारोहण, **दिनों**का जन्म, **उषा**का उदय, प्रकाशमान किरणों रूपी गौओंकी मुक्ति और उन गौओंका **प्रकाश**के लोकमें चढ़ना।

ये गौएं सत्यके विचार हैं, यह हमें सोम देवताके एक सूक्त 9.111 में पर्याप्त स्पष्ट रूपमें बता दिया गया है।

'इस जगमगानेवाले प्रकाशसे अपनेको पवित्र करता हुआ, अपने स्वयं जुते घोड़ों द्वारा वह सब विद्वेषिणी शक्तियोंको चीरकर पार निकल जाता है, मानो उसके वे घोड़े **सूर्य**के स्वयं जुते घोड़े हों। निचोड़े हुए सोमकी धारारूप, अपनेको पवित्र करता हुआ, आरोचमान, जगमगानेवाला **वह** चमक उठता है, जब कि वह ऋक्के वक्ताओंके साथ, सात-मुखों-वाले ऋक्के वक्ताओं (अंगिरस्-शक्तियों)के साथ, (वस्तुओंके) सब रूपोंको चारों ओरसे घेरता है।' (ऋचा 1)

'तू, हे सोम! पणियोंकी वह दौलत पा लेता है; तू अपने आपको 'माताओं'के द्वारा (अर्थात् पणियोंकी गौओंके द्वारा, क्योंकि दूसरे सूक्तोंमें पणियोंकी गौओंको 'माता' यह नाम कई जगह दिया गया है) अपने स्वकीय घर (**स्वः**)में चमका लेता है, '**सत्य के विचारों**'के द्वारा अपने घरमें (चमका लेता है), **सं मातृभिर्मर्जयसि, स्व आ दमे, ऋतस्य धीतिभिर्दमे**। मानो उच्चतर लोकका (**परावतः**) 'साम' (समतापूर्ण निष्पत्ति या सिद्धि, [**समाने ऊर्वे**], समतल विस्तारमें) वह (**स्वः**) है जहाँ (**सत्य**के) विचार आनन्द लेते हैं। त्रिगुण लोकमें रहनेवाली (या तीन मूलतत्त्वोंवाली) उन आरोचमान (गौओं) द्वारा वह (ज्ञानकी) विशाल अभिव्यक्तिको धारण करता है, वह जगमगाता हुआ विशाल अभिव्यक्तियोंको धारण करता है।' (ऋचा 2)[1]

---

1. **अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः।**
सूरो न स्वयुग्वभिः।
धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः॥1॥
त्वं त्यत् पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम

यहाँ हम देखते हैं कि पणियोंकी गौएं वे विचार हैं जो **सत्यको** प्राप्त कर लेते हैं। पणियोंकी जिन गौओंके विषयमें यहाँ यह कहा गया है कि इनके द्वारा सोम अपने निज घरमें [अर्थात् उस घरमें जो 'अग्नि' तथा अन्य देवोंका घर है और जिस घरसे हम इस रूपमें परिचित हैं कि वह **'स्वः'का बृहत् सत्य (ऋतं बृहत्)** है] साफ और चमकीला हो जाता है और यह कहा गया है कि ये जगमगानेवाली गौएं अपने अन्दर सर्वोच्च लोकके त्रिगुण स्वभावको रखती हैं **(त्रिधातुभिः अरुषीभिः)** और जिनके द्वारा सोम उस सत्यके जन्मको या उसकी विशाल अभिव्यक्ति'को धारण करता है, उन गौओंसे वे विचार अभिप्रेत हैं जो **सत्यको** प्राप्त कर लेते हैं। यह 'स्वः', जो उन तीन प्रकाशमान लोकोंवाला है जिनकी विशालतामें "त्रिधातु"की समतापूर्ण निष्पन्नता रहती है (**'त्रिधातु'** यह मुहावरा प्रायः उस त्रिविध परम तत्त्वके लिये प्रयुक्त हुआ है जिससे त्रिगुणित सर्वोच्च लोक, **तिस्रः परावतः** बना है), अन्यत्र इस रूपमें वर्णित किया गया है कि यह विशाल तथा भयरहित चरागाह है जिसमें **गौएं** इच्छानुसार विचरण करती हैं और आनंद लेती हैं **(रण्यंति)** और यहाँ भी यह **(स्वः)** वह प्रदेश है जहाँ **सत्यके विचार** आनन्द लेते हैं **(यत्र रणन्ति धीतयः)**। और अगली (तीसरी) ऋचामें यह कहा गया है कि 'सोम'का दिव्य रथ ज्ञानको प्राप्त करता हुआ, प्रकृष्ट (परम) दिशाका अनुसरण करता है और अन्तर्दर्शन (Vision) से युक्त होकर किरणों द्वारा आगे बढ़नेका यत्न करता है, **(पूर्वामनु प्रदिशं याति चेकितत् सं रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः)**। यह परम दिशा स्पष्ट ही दिव्य या बृहत् सत्य की दिशा है; ये किरणें स्पष्टतः दिव्य **उषाकी** या **सत्यके सूर्यकी** किरणें हैं, वे गौएं हैं जिन्हें पणियोंने छिपा रखा है, ये हैं प्रकाशमान विचार, चमकीले रंगकी **'धियः', 'ऋतस्य धीतयः'**।

वेदकी सारी अन्तःसाक्षी जहाँ कहीं भी पणियों, गौओं, अंगिरसोंका उल्लेख हुआ है, नियत रूपसे इसी परिणामको संपुष्ट करती है, स्थापित

ऋतस्य धीतिभिर्दमे।
परावतो न साम तद् यत्रा रणन्ति धीतयः।
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥2॥ (ऋ. 9.111)

1. वयः, तुलना करो 6.21.2-3 से; जहां यह कहा गया है कि जो इन्द्र ज्ञानी है और जो हमारे शब्दों (वाणियों) को वहन करता है और उन शब्दों द्वारा यशमें प्रवृद्ध होता है (इन्द्रं यो विदानो गिर्वाहसं गोर्मिर्यशवृद्धम्), वह इन्द्र उस अंधकारको जो ज्ञानसे शून्य फैला पड़ा था सूर्य के द्वारा उस रूपमें परिणत कर देता है जो ज्ञानकी अभिव्यक्तिसे युक्त है, (स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार)।

करती है। पणि हैं सत्यके विचारोंके अवरोधक, ज्ञान-रहित अंधकार (**तमोऽवयुनम्**)में निवास करनेवाले, जिस अंधकारको इन्द्र और अंगिरस् **दिव्य शब्दके** द्वारा, **सूर्यके** द्वारा हटाकर उसके स्थानमें **प्रकाशको** ले आते हैं, ताकि जहाँ पहले अंधकार था वहाँ सत्यका विस्तार अभिव्यक्त हो जाय। इन्द्र पणियोंके साथ भौतिक आयुधोंसे नहीं बल्कि **शब्दों**से युद्ध करता है (देखो ऋ. 6.39.2); **पणींर्वचोभिः अभि योधदिन्द्रः**। जिस सूक्तमें यह वाक्यांश आया है उस सूक्त (6.39)का बिना कोई टिप्पणी किये केवल अनुवाद कर देना पर्याप्त होगा, जिससे इस प्रतीकवादका स्वरूप अंतिम रूपसे प्रकट हो जाय।

'उस दिव्य और आनंदमग्न क्रान्तदर्शी (सोम)की, उसकी जो यज्ञका वाहक है, उसकी जो प्रकाशमान विचारवाला मधुमय वक्ता है; प्रेरणाओंको, हे देव! हमसे, **शब्दके** वक्तासे संयुक्त कर, उन प्रेरणाओंको जिनके आगे-आगे प्रकाशकी गौएं हैं **(इषो गोअग्राः)**।' (मंत्र 1)

'यह था जिसने चमकीली (गौओं, **'उस्राः'**)को, जो पहाड़ीके चारों ओर थीं चाहा, जो **सत्यको** जीतनेवाला, **सत्यके** विचारोंसे अपने रथको जोते हुए था **(ऋतधीतिभिर्ऋतयुग् युजानः)**। (तब) इन्द्रने 'वल'के अभग्न पहाड़ी-सम प्रदेश (सानु)को तोड़ा, **शब्दों**के द्वारा उसने पणियोंके साथ युद्ध किया।' (मंत्र 2)

'यह (सोम) था जिसने, **चन्द्र-शक्ति (इन्दु)**के रूपमें, दिन-रात लगकर और वर्षोंमें, प्रकाशरहित रात्रियोंको चमकाया, और वे (रात्रियां) दिनोंके साक्षाद् दर्शन (Vision, **केतु**)को धारण करने लग पड़ीं, उसने **उषाओं**को रचा जो उषाएं जन्ममें पवित्र थीं।' (मंत्र 3)।

'यह था जिसने आरोचमान होकर प्रकाशरहितोंको प्रकाशसे परिपूर्ण किया; उसने सत्यके द्वारा अनेकों (उषाओं)को चमकाया, वह **सत्यसे** जोते हुए घोड़ोंके साथ, **'स्वः'**को पा लेनेवाले पहियेके साथ चल पड़ा, कर्मोंके कर्त्ताको (ऐश्वर्यसे) परितृप्त करता हुआ **(चर्षणिप्राः)**।'(मंत्र 4)[1]

---

1. **मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः।**
अपा नस्तस्य सचनस्य देवेषो युवस्व गृणते गोअग्राः ॥1॥
अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिर्ऋतयुग्युजानः।
रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणींर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः ॥2॥
अयं द्योतयदद्युतो व्य१क्तून् दोषा वस्तोः शरद इन्दुरिन्द्र।
इमं केतुमदधुर्नू चिदह्नां शुचिजन्मन उषसश्चकार ॥3॥
अयं रोचयदरुचो रुचानो३ऽयं वासयद् व्यू१तेन पूर्वीः।
अयमीयत ऋतयुग्भिरश्वैः स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्राः ॥4॥

सर्वत्र विचार, सत्य व शब्द ही पणियोंकी गौओंके साथ संबद्ध पाया जाता है; दिव्य-मनःशक्ति-रूप इन्द्रके शब्दों द्वारा वे जीते जाते हैं जो गौओं-को अवरुद्ध करते हैं, जो अंधकारपूर्ण था वह प्रकाशमय हो जाता है; सत्यसे जोते गये घोड़ोंसे खिचनेवाला रथ (ज्ञानके द्वारा, स्वर्विदा नाभिना) सत्ताकी, चेतना और आनंदकी प्रकाशमय विस्तीर्णताको पा लेता है जो अबतक हमारी दृष्टिसे ओझल है। 'ब्रह्म' (विचार)के द्वारा इन्द्र 'वल'का भेदन करता है, अंधकारको ओझल करता है, 'स्वः'को सुदृश्य करता है ।

उद् गा आजद् अभिनद् ब्रह्मणा वलम् ।
अगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः ।। (ऋ. 2. 24. 3)

सारा ऋग्वेद प्रकाशकी शक्तियोंका एक विजयगीत है और गीत है प्रकाशकी शक्तियोंके ऊर्ध्वारोहणका, जो आरोहण सत्यके बल तथा दर्शनके द्वारा होता है और जो इस उद्देश्यसे होता है कि सत्यके स्रोत व घरमें, जहाँ कि सत्य अनृतके आक्रमणसे स्वतंत्र रहता है, पहुँचकर उस सत्यको अधिगत कर लिया जाय। 'सत्यके द्वारा गौएं (प्रकाशमान विचार) सत्य-में प्रविष्ट होती हैं, सत्यकी तरफ जानेका यत्न करता हुआ व्यक्ति सत्यको जीतता है; सत्यका अग्रगामी बल प्रकाशकी गौओंको पाना चाहता है और (शत्रुको) बीचमेंसे चीरता हुआ चला जाता है; सत्यके लिये दो विस्तृत लोक (द्यौ व पृथिवी) बहुल, बहुविध और गभीर हो जाते हैं, सत्यके लिये दो परम माताएं अपना दूध देती हैं।'

ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ।
ऋतं येमान ऋतमिद् वनोति, ऋतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः ।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे, ऋताय धेनू परमे दुहाते ।।
(ऋ. 4. 23. 9-10)

बाईसवां अध्याय

दस्युओंपर विजय

दस्यु आर्य-देवों तथा आर्य-ऋषियों दोनोंके विरोधमें खड़े होते हैं। देव पैदा हुए हैं 'अदिति'से वस्तुओंके उच्चतम (परम) **सत्य**में, दस्यु या दानव पैदा हुए हैं 'दिति'से निम्नतर (अवर) **अंधकार**में, देव हैं **प्रकाश**के अधिपति तथा दस्यु **रात्रि**के, और पृथिवी, द्यौ तथा मध्यके लोक (शरीर, मन तथा इनको जोड़नेवाले जीवन-प्राण)—इस त्रिविध लोकके आरपार इन दोनोंका आमना-सामना होता है। सूक्त 10.108 में आता है कि सरमा सर्वोच्च लोकसे, **पराकात्**, उतरती है; उसे 'रसा'के जलोंको पार करना पड़ता है, उसे '**रात्रि**' मिलती है जो अपने अतिलंघन किये जानेके भयसे (**अतिष्कदो भियसा**) उसे स्थान दे देती है; वह दस्युओंके घर पहुंचती है, (**दस्योरोको न...सदनं**। 1.104.5), जिस घरको स्वयं दस्युओंने ही इस रूपमें वर्णित किया है कि वह '**रेकु पदम् अलकम्**' (10.108.7) है, अर्थात् अनृतका लोक जो वस्तुओंकी सीमासे परे है। है तो **उच्च लोक** भी वस्तुओंकी सीमासे परे गया हुआ क्योंकि वह इस सीमासे आगे बढ़ा हुआ या इस सीमाको लांघे हुए है; है यह भी "**रेकु पदम्**" पर 'अलकम्' नहीं किंतु 'सत्यम्' है, **सत्य**का लोक है न कि अनृतका लोक। अनृतका लोक है अंधकार जो कि ज्ञानरहित है (**तमो अवयुनं ततन्वत्**)। जब इन्द्रकी विशालता बढ़कर द्यौ, पृथिवी और मध्यलोक (अन्तरिक्ष) को लांघ जाती है (**रिरिचे**), तब वह (इन्द्र) **आर्य**के लिये, इस (अनृतलोक) के विपरीत, सत्य और ज्ञानके लोक (**वयुनवत्**) को रचता है, जो ज्ञान और सत्यका लोक इन तीन लोकोंसे परे है और इसलिये '**रेकु पदम्**' है। इस अन्धकारको, इस अधोलोकको जो **रात्रि** और **निश्चेतन** का लोक है (वस्तुओंकी साकार सत्तामें इस रात्रि और अचेतनाको प्रतीकके तौरपर इस रूपमें वर्णित किया गया है कि यह वह पर्वत है जो पृथिवीके अभ्यन्तरसे उठता है और द्यौ के पृष्ठ तक जाता है) उस गुप्त गुफासे निरूपित किया गया है जो पहाड़ीके अधोभागमें है और जो अन्धकारकी गुफा है।

पर वह गुफा पणियोंका केवल घर है, पणियोंका क्रिया-क्षेत्र तो है

पृथिवी, द्यौ और मध्य-लोक। पणि अचेतनाके पुत्र हैं, पर स्वयं अपनी क्रियामें वे पूरे-पूरे अचेतन नहीं हैं; वे प्रतीयमान ज्ञानके रूपों (मायाः)को धारण करते हैं, पर ये रूप वस्तुतः अज्ञानके रूप हैं जिनका सत्य अचेतनके अन्धकारमें छिपा हुआ है और इनका उपरितल या अग्रभाग अनृत है, न कि सत्य। क्योंकि संसार जैसा यह हमें दीखता है उस अन्धकारमेंसे निकला है जो अन्धकारमें छिपा हुआ था (**तम आसीत् तमसा गूढम्**), उस गम्भीर तथा अगाध जल-प्रवाहमेंसे निकला है जिसने सब वस्तुओंको आच्छादित कर रखा था, अचेतन समुद्र (**अप्रकेतं सलिलम्**) में से निकला है (देखो 10.129.3)।[1] उस असत्के अन्दर द्रष्टाओं (कवियों)ने हृदयमें इच्छा करके और मनमें विचारके द्वारा उसे पाया जिससे सत्य सत्ता रचित होती है[2]। वस्तुओंके सत्यका यह अनस्तित्व (**असत्**) उनका प्रथम रूप है, जो अचेतन समुद्रसे उद्भूत होता है; और इसका महान् अन्धकार ही वैदिक **रात्रि** है जो '**जगतो निवेशनी**' है, जगत्को तथा जगत्की सारी अव्यक्त संभाव्य वस्तुओंको अपने अन्धकारमय हृदय (वक्षःस्थल)में धारण किये हुए है (**रात्रिम् जगतो निवेशनीम्**)। यह **रात्रि** हमारे इस त्रिगुण लोकपर अपना राज्य फैलाती है और इस **रात्रि**के अन्दरसे **द्यौ** में, मानसिक सत्तामें, **उषा** पैदा होती है जो **उषा सूर्य**को अन्धकारमें से छुड़ाती है जहाँ वह छिपा हुआ तथा ग्रहणको प्राप्त हुआ पड़ा था, और जो 'असत्' में, **रात्रि**में, **परम दिन**के साक्षात् दर्शनको रचती है (**असति प्र केतुम्**)। इसलिये इन तीन लोकोंके अन्दर ही **प्रकाश**के अधिपतियों (देवों) तथा **अज्ञान**के अधिपतियों (दस्युओं)के बीच युद्ध चलता है, अपने सतत उतार-चढ़ावोंमेंसे गुजरता हुआ चलता रहता है।

'पणि' शब्दका अर्थ है व्यवहारी, व्यापारी, जो 'पण' धातुसे (तथा 'पन'[3]से, तुलना करो तामिल 'पण'—करना और ग्रीक 'पोनोस (Ponos)' —श्रम करना) बनता है और पणियोंको हम संभवतः यह समझ सकते

---

1. **तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
2. **सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥** (ऋ. 10.129.4)
3. सायण 'पन' धातुका अर्थ वेदमें 'स्तुति करना' यह लेता है, पर एक स्थान पर उसने 'व्यवहार' अर्थ भी स्वीकार किया है। मुझे प्रतीत होता है कि अधिकांश सन्दर्भोंमें इसका अर्थ 'क्रिया' है। क्रियार्थक 'पण'से ही, हम देखते हैं, कर्मेन्द्रियोंके प्राचीन नाम बने हैं, जैसे 'पाणि' अर्थात् हाथ, पैर या खुर, लैटिन पेनिस (Penis), इसके साथ 'पायु'की भी तुलना कर सकते हैं।

हैं कि ये वे शक्तियाँ हैं जो जीवनकी उन सामान्य अप्रकाशमान इन्द्रिय-क्रियाओंकी अधिष्ठात्रियाँ हैं जिनका सीधा मूल अन्धकारमय अवचेतन भौतिक सत्तामें होता है, न कि दिव्य मनमें। मनुष्यका सारा संघर्ष इसके लिये है कि वह इस क्रियाको हटाकर इसके स्थानपर मन और प्राणकी प्रकाशयुक्त दिव्य क्रिया ले आये जो ऊपरसे और मानसिक सत्ताके द्वारा आती है। जो कोई इस प्रकारकी अभीप्सा रखता है, इसके लिये यत्न करता है, युद्ध करता है, यात्रा करता है, जीवनकी पहाड़ीपर आरोहण करता है, वह है **आर्य** (**आर्य, अर्य, अरि**के अनेक अर्थ हैं, श्रम करने, लड़ने, चढ़ने या उदय होने, यात्रा करने, यज्ञ रचनेवाला)। आर्यका कर्म है यज्ञ, जो एक साथ एक युद्ध और एक आरोहण तथा एक यात्रा है, एक युद्ध है अन्धकारकी शक्तियोंके विरुद्ध, एक आरोहण है पर्वतकी उन उच्चतम चोटियोंपर जो द्यावापृथिवीसे परे **'स्वः'**के अन्दर चली गयी हैं, एक यात्रा है नदियों तथा समुद्रके परले पारकी, वस्तुओंकी सुदूरतम **असीमता**के अन्दर। **आर्य**में इस कर्मके लिये संकल्प होता है, वह इस कर्मका कर्ता (**कारु, किरि** इत्यादि) है, देव जो उसके कर्ममें अपना बल प्रदान करते हैं **'सुक्रतु'** हैं, यज्ञके लिये अपेक्षित शक्तिमें पूर्ण हैं; **दस्यु** या **पणि** इन दोनोंसे विपरीत है, वह 'अक्रतु' है। आर्य है यज्ञकर्ता **'यजमान', 'यज्यु'**; **देव** जो उसके यज्ञको ग्रहण करते हैं, धारण करते हैं, प्रेरित करते हैं, **'यजत', 'यजत्र'** हैं, यज्ञकी शक्तियाँ हैं; **दस्यु** इन दोनोंसे विपरीत है, वह **'अयज्यु'** है।

आर्य यज्ञमें दिव्य शब्द, **गीः, मन्त्र, ब्रह्म, उक्थ**को प्राप्त करता है, वह **ब्रह्मा** अर्थात् **शब्द**का गायक है; **देव** शब्दमें आनन्द लेते हैं और शब्दको धारित करते हैं (**गिर्वाहसः, गिर्वणसः**)। दस्यु शब्दसे द्वेष करनेवाले और उसके विनाशक हैं (**ब्रह्मद्विषः**), वाणीको दूषित या विकृत करनेवाले हैं (**मृध्रवचसः**)। दस्युओंके पास दिव्य प्राणकी शक्ति नहीं है या मुख नहीं है जिससे वे शब्द बोल सकें, वे **अनासः** (5.29.10) हैं; और उनके पास **शब्द**को तथा **शब्द**के अन्दर जो सत्य रहता है उसे विचारनेकी, मनोमय करनेकी शक्ति नहीं है, वे **'अमन्यमानाः'** हैं, पर आर्य **शब्द**के विचारक हैं, **'मन्यमानाः'** हैं, विचारको, विचारशील मनको और द्रष्टा-ज्ञानको धारण करनेवाले, **'धीर, मनीषी, कवि'** हैं; साथ ही देव भी **विचार**के अत्युच्च विचारक हैं (**प्रथमो मनोता धियः, काव्यः**)। आर्य देवत्वोंके इच्छुक (**देवयुः, उशिजः**) हैं, वे **यज्ञ** द्वारा, **शब्द** द्वारा, **विचार** द्वारा, अपनी सत्ताको तथा अपने अन्दरके देवत्वोंको वृद्धिगत करना चाहते हैं। दस्यु हैं देवोंके द्वेषी (**देवद्विषः**), देवत्वके बाधक (**देवनिदः**), जो किसी प्रकारकी

भी वृद्धि नहीं चाहते (**अवृधः**)। 'देव' आर्यपर ऐश्वर्य बरसाते हैं, आर्य अपना ऐश्वर्य देवोंको देता है, दस्यु अपनी दौलतको आर्यके पास जानेसे रोकता है जबतक कि वह उससे जबर्दस्ती छीन ही नहीं ली जाती, और वह देवोंके लिये अमृतरूप सोम-रसको नहीं निचोड़ता जो देव इस सोमके आनंदको मनुष्यके अन्दर पैदा करना चाहते हैं; यद्यपि वह **'रेवान्'** है, यद्यपि उसकी गुफा गौओं, घोड़ों और खजानोंसे भरी पड़ी है (**गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टम्**), तो भी वह **अराधस्** है, क्योंकि उसकी दौलत मनुष्यको या स्वयं उसे किसी प्रकारकी समृद्धि या आनन्द नहीं देती—पणि सत्ताका कृपण है। और आर्य तथा दस्युके बीच संघर्षमें पणि सदा आर्यकी प्रकाशमान गौओंको लूट लेना और नष्ट कर देना, चुरा लेना तथा उन्हें फिरसे गुफाके अंधकारमें छिपा देना चाहता है। "भक्षकको, पणिको, मार डालो; क्योंकि वह भेड़िया है (विदारक, **'वृक'** है)।"[1]

यह स्पष्ट है कि ये वर्णन आसानीके साथ मानवीय शत्रुओंकी ओर भी लगाये जा सकते हैं और यह कहा जा सकता है कि दस्यु या पणि मानवीय शत्रु थे जो आर्यके संप्रदायसे तथा उसके देवोंसे द्वेष किया करते थे, पर हम देखेंगे कि इस प्रकारकी कोई व्याख्या बिल्कुल असंभव है, क्योंकि सूक्त 1.33 में जहाँ ये विभेद अत्यधिक स्पष्टताके साथ चित्रित किये गये हैं और जहाँ इन्द्र तथा उसके मानवीय सखाओंका दस्युओंके साथ युद्ध अत्यन्त यत्नपूर्वक वर्णित किया गया है, यह संभव नहीं है कि ये दस्यु, पणि और वृत्र मानवीय योद्धा, मानवीय जातियाँ या मानवीय लुटेरे हो सकें। हिरण्यस्तूप आंगिरसके इस सूक्तमें पहिली दस ऋचाएँ स्पष्टतया गौओंके लिये होनेवाले युद्धके विषयमें हैं और अतएव पणियोंके विषयमें हैं।

"एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति।
अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केतं परमावर्जते नः॥ (1.33.1)

आओ, गौओंकी इच्छा रखते हुए हम इन्द्रके पास चलें; क्योंकि वही हमारे अंदर विचारको प्रवृद्ध करता है; वह अजेय है और उसकी सुख-समृद्धियाँ (रायः) पूर्ण हैं, वह प्रकाशमान गौओंके उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शनको हमारे लिये मुक्त कर देता है (उसे अंधकारसे जुदा कर देता है)। **गवां केतं परमावर्जते नः** (ऋचा 1)।

उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्॥ (1.33.2)

---

1. **जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥** (6.51.14)

मैं अधर्षणीय ऐश्वर्यप्रदाता (इन्द्र)की ओर शीघ्रतासे जाता हूँ, जैसे कोई पक्षी अपने प्यारे घोंसलेकी ओर उड़कर जाता है, प्रकाशके परम शब्दोंके साथ इन्द्रके प्रति नत होता हुआ, उस इन्द्रके प्रति जो अपने स्तोताओं द्वारा अपनी यात्रामें अवश्य पुकारा जाता है (नत होता हुआ उसकी ओर जाता हूँ) (ऋचा 2)।

नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध॥ (1.33.3)

वह (इन्द्र) अपनी सब सेनाओंके साथ आता है और उसने अपने तूणीरोंको दृढ़तासे बाँध रखा है; वह योद्धा है (आर्य है) जो, जिसके लिये वह चाहता है, गौएँ ला देता है। (हमारे शब्द द्वारा) प्रवृद्ध हुए ओ इन्द्र! अपने प्रचुर आनंदको हमसे अपने लिये मत रोक रख, हमारे अंदर पणि मत बन। **चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध** (ऋचा 3)।"

यह अंतका वाक्यांश सहसा ध्यान खींचनेवाला है। पर प्रचलित व्याख्यामें इसे यह अर्थ देकर कि "हमारे लिये तू कृपण मत हो" इसके वास्तविक बलको खो दिया गया है। इस अर्थसे यह तथ्य ध्यानमें नहीं आता कि पणि दौलतके अवरोधक हैं, वे दौलतको अपने लिये रख लेते हैं और इस दौलतको न वे देवको देते हैं न ही मनुष्यको। इस वाक्यांशका अभिप्राय स्पष्टतः यही है कि "आनंदकी अपनी भरपूर दौलत रखता हुआ तू **पणि** मत बन, अर्थात् ऐसा मत बन जैसा पणि होता है कि वह अपने हाथमें आयी दौलतोंको केवल अपने ही लिये रखता है और मनुष्यके पास जानेसे बचाता है; अभिप्राय हुआ कि आनंदको हमसे दूर छिपाकर अपनी पराचेतन गुहामें मत रख जैसे पणि अपनी अवचेतन गुफामें रखे रखता है।"

इसके बाद सूक्त पणिका, दस्युका तथा पृथिवी और द्यौको अधिगत करनेके लिये उस पणि या दस्युके साथ इन्द्रके युद्धका वर्णन करता है।

"वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र।
धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः॥ (1.33.4)

वरंच, अपनी उन शक्तियोंके साथ जो तेरा कार्य सिद्ध करती हैं एकाकी विचरता हुआ तू, हे इन्द्र! अपने वज्र द्वारा दौलतसे भरे दस्युका वध कर डालता है; वे (बाणरूप शक्तियाँ) जो तेरे धनुषपर चढ़ी हुई थीं पृथक्-पृथक् सब दिशाओंमें तेजीसे गयीं और वे जो ऐश्वर्यवाले होते हुए भी यज्ञ नहीं करते थे अपनी मौत मारे गये। (ऋचा 4)

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।
प्र यद् दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रतां अधमो रोदस्योः॥ (1.33.5)

वे जो स्वयं यज्ञ नहीं करते थे और यज्ञकर्ताओंसे स्पर्धा करते थे, उनके सिर उनसे अलग होकर दूर जा पड़े, जब कि, ओ चमकीले घोड़ोंके स्वामिन्! ओ द्यौमें दृढ़तासे स्थित होनेवाले! तूने द्यावापृथिवीसे उन्हें बाहर निकाला जो तेरी क्रियाके नियमका पालन नहीं करते (अव्रतान्)। (ऋचा 5)

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वाः।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन्॥ (1.33.6)

उन्होंने निर्दोष (इन्द्र)की सेनासे युद्ध ठाना था; नवग्वाओंने उस (इन्द्र)को प्रयाणमें प्रवृत्त किया; उन बधिया बैलोंकी तरह जो साँड़ (वृषा)से लड़ते हैं वे बाहर निकाल दिये गये, वे जान गये कि इन्द्र क्या है और ढलानोंसे उसके पाससे नीचे भाग आये। (ऋचा 6)

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे।
अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः॥ (1.33.7)

ओ इन्द्र! तूने उनसे युद्ध किया जो मध्यलोकके परले किनारेपर (रजसः पारे, अर्थात् द्यौके सिरेपर) हँस रहे थे और रो रहे थे, तूने उच्च द्यौसे दस्युको बाहर निकालकर जला डाला, तूने उसके कथनकी पालना की जो तेरी स्तुति करता है और सोम अर्पित करता है। (ऋचा 7)

चक्राणासः परीणहं पृथिव्याः हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण॥ (1.33.8)

पृथिवीके चारों ओर चक्र बनाते हुए वे सुनहरी मणि ('मणि' यह सूर्यके लिये एक प्रतीक-शब्द है)के प्रकाशमें चमकने लगे; पर अपनी सारी दौड़-धूप करते हुए भी वे इन्द्रको लाँघकर आगे नहीं जा सके, क्योंकि उस (इन्द्र)ने सूर्य द्वारा चारों तरफ गुप्तचर बैठा रखे थे। (ऋचा 8)

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजो महिना विश्वतः सीम्।
अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र॥ (1. 33. 9)

जब तूने द्यावापृथिवीको चारों तरफ अपनी महत्तासे व्याप्त कर लिया तब जो (सत्यको) नहीं विचार सकते उनपर विचार करनेवालों द्वारा आक्रमण करके (**अमन्यमानान् अभि मन्यमानैः**) तूने ओ इन्द्र! शब्दके वक्ताओं द्वारा (**ब्रह्मभिः**) दस्युको बाहर निकाल दिया। (ऋचा 9)

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन्।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्॥ (1.33.10)

उन्होंने द्यौ और पृथिवीके अंतको नहीं पाया और वे अपनी मायाओंसे ऐश्वर्यप्रदाता (इन्द्र)को पराजित नहीं कर सके; वृषभ इन्द्रने वज्रको

अपना सहायक बनाया, **प्रकाश** द्वारा उसने जगमगाती गौओंको अंधकारमेंसे दुह लिया।" (ऋचा 10)

यह युद्ध पृथिवीपर नहीं, किंतु अन्तरिक्षके परले किनारेपर होता है, दस्यु वज्रकी ज्वालाओं द्वारा द्यौसे बाहर निकाल दिये जाते हैं, वे पृथिवीका चक्कर काटते हैं और द्यौ तथा पृथिवी दोनोंसे बाहर निकाल दिये जाते हैं; क्योंकि वे द्यौमें या पृथिवीमें कहीं भी जगह नहीं पा सकते, क्योंकि द्यावापृथिवी सारा-का-सारा अब इन्द्रकी महत्तासे व्याप्त हो गया है, न ही वे इन्द्रके वज्रोंसे बचकर कहीं छिप सकते हैं; क्योंकि **सूर्य** अपनी किरणोंसे इन्द्रको गुप्तचर दे देता है और उन गुप्तचरोंको वह इन्द्र चारों तरफ नियुक्त कर देता है, और उन किरणोंकी चमकमें पणि ढूँढ़ लिये जाते हैं। यह आर्य तथा द्राविड़ जातियोंके बीच हुए किसी पार्थिव युद्धका वर्णन नहीं हो सकता; न यह वज्र ही भौतिक वज्र हो सकता है, क्योंकि भौतिक वज्रका तो **रात्रि**की शक्तियोंके विनाशसे तथा अंधकारमेंसे **उषा**की गौओंके दुहे जानेसे कोई संबंध नहीं है। तब यह स्पष्ट है कि ये यज्ञ न करनेवाले, ये शब्दके द्वेषी जो इसके विचारनेतकमें असमर्थ हैं, कोई आर्य संप्रदायके मानवीय शत्रु नहीं हैं। ये तो वे शक्तियाँ हैं जो स्वयं मनुष्यके ही अंदर द्यौ तथा पृथिवीको अधिगत करनेका प्रयत्न करती हैं। ये दानव हैं, द्रविड़ नहीं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वे शक्तियाँ "पृथिवी तथा द्यौकी सीमा (अंत)"को पानेका यत्न तो करती हैं, पर पानेमें असफल रहती हैं; हम अनुमान कर सकते हैं कि ये शक्तियाँ पृथिवी तथा द्यौसे परे स्थित उस उच्चतर लोकको जो केवल **शब्द** और **यज्ञद्वारा** ही जीता जा सकता है, **शब्द** या **यज्ञ**के बिना ही अधिगत कर लेना चाहती हैं। वे **अज्ञान**के नियमसे शासित होकर **सत्य**को अधिगत करना चाहती हैं; पर पृथिवी या द्यौकी सीमाको पानेमें असमर्थ रहती हैं; केवल **इन्द्र** और **देव** ही इस प्रकार मन, प्राण और शरीरके विधि-नियमको पार करके आगे जा सकते हैं, जब कि पहले वे इन तीनोंको अपनी महत्तासे परिपूर्ण कर लेते हैं। सरमा (10. 108. 6 में) पणियोंकी इसी महत्त्वाकांक्षाकी तरफ संकेत कर रही प्रतीत होती है—"हे पणियो! तुम्हारे वचन कुछ भी प्राप्त करनेमें असमर्थ रहें, तुम्हारे शरीर पापी और अशुभ हों; अपने चलनेके लिये तुम मार्गको पद-दलित न कर सको; बृहस्पति तुम्हें (दिव्य तथा मानुष) दोनों लोकोंके सुखको न दे।"[1]

1. **असेन्या वः पणयो वचांसि, अनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।**
अबृष्टो व एतवा अस्तु पन्थाः, बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥ (10. 108. 6)

पणि सचमुच गर्वके मदमें यह प्रस्ताव रखते हैं कि 'हम इन्द्रके मित्र हो जायँगे, यदि वह हमारी गुफा में आ जायगा और हमारी गौओंका रखवाला बन जायगा।'[1] इसका सरमा यह उत्तर देती है कि 'इन्द्र तो सबको पराजित करनेवाला है, स्वयं वह पराजित तथा पीड़ित नहीं हो सकता।'[2] और फिर पणि सरमासे यह प्रस्ताव करते हैं कि 'हम तुझे बहिन बना लेंगे यदि तू हमारे साथ रहने लगेगी और उस सुदूर लोकको नहीं लौटेगी जहाँसे तू देवोंकी शक्ति द्वारा सब बाधाओंका मुकाबला करके **(प्रबाधिता सहसा दैव्येन)** आयी है।'[3] सरमा उत्तर देती है, "न मैं भाईपनेको जानती हूँ, न बहिनपनेको, इन्द्र और घोर अंगिरस् जानें; गौओंकी कामना करते हुए उन्होंने मेरा पालन किया है, इसलिये मैं आयी हूँ; चले जाओ यहाँसे, ओ पणियो! किसी प्रशस्त स्थानको (मंत्र 10)। यहाँसे कहीं दूर प्रशस्त स्थानको चले जाओ, ओ पणिओ! गौएँ जिन्हें तुमने बन्द कर रखा है सत्य द्वारा ऊपर चली जायँ, वे छिपी हुई **गौएँ** जिन्हें बृहस्पतिने ढूंढ़ा है और सोमने व अभिषवके पत्थरों **(ग्रावाणः)** ने तथा प्रकाशयुक्त द्रष्टाओंने (ढूंढ़ा है)।" (मंत्र 11)[4]

सूक्त 6.53 में, जो कि पुष्टिकर्ता पूषाके नामसे सूर्यको संबोधित किया गया एक सूक्त है, हम यह विचार भी पाते हैं कि पणि स्वेच्छासे अपना खजाना दे दें।

"वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये। धिये पूषन्नयुज्महि॥ (ऋ.6.53.1)

हे मार्गके अधिपति पूषन्! हम ऐश्वर्योंको प्राप्त करनेके लिये, विचार के लिये, रथकी न्याईं तुझे नियुक्त करते हैं। (मंत्र 1)

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः॥ (6. 53. 3)

हे प्रकाशमान पूषन्! उस पणिको भी जो देता नहीं है, तू देनेके लिये प्रेरित कर; पणिके भी मनको तू मृदु कर दे। (मंत्र 3)

---

1. **आ च गच्छान् मित्रमेना दधाम, अथा गवां गोपतिर्नो भवाति।** (3)
2. **नाहं तं वेद दभ्यं दभत् सः, यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।** (4)
3. **एवा च त्वं सरम आ जगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।**
   स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥ (10.108.9)
4. **नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।**
   गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः॥ (10.108.10)
   दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
   बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥ (10.108.11)

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि। साधन्तामुग्र नो धियः ॥ (6.53.4)

उन मार्गोंको तू चुनकर पृथक् करदे जो मार्ग ऐश्वर्योंको प्राप्त करानेके लिये हैं, आक्रान्ताओंका वधकर डाल, हमारे विचार पूर्णताको प्राप्त हो जावें। (मंत्र 4)

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे। अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥ (6.53.5)

हे द्रष्टः! अपने अंकुशसे पणियोंके हृदयोंको विद्ध कर; इस प्रकार उन्हें हमारे वश कर दे। (मंत्र 5)

वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम्। अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥ (6.53.6)

अपने अंकुशसे, हे पूषन्! तू उनपर प्रहारकर और पणिके हृदयमें हमारे आनंदकी इच्छाकर, इस प्रकार उसे हमारे वश कर दे। (मंत्र 6)

यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे।
तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु ॥ (6.53.8)

जिस ऐसे अंकुशको तू धारण करता है जो शब्दको उठनेके लिये प्रेरित करनेवाला है उससे, हे प्रकाशमान पूषन्! तू सबके हृदयोंपर अपना लेख लिख दे और उन हृदयोंको छितरा हुआ कर दे, (इस प्रकार उन्हें हमारे वश कर दे)। (मंत्र 8)

या ते अष्ट्रा गोओपशाऽऽघृणे पशुसाधनी।
तस्यास्ते सुम्नमीमहे ॥ (6.53.9)

जो तेरा अंकुश ऐसा है जिसमें तेरी किरण नोकका काम करती है और जो पशुओंको पूर्ण बनानेवाला है (अभिप्राय है, ज्ञान-दर्शनके पशुओंको, **पशु-साधनी,** तुलना करो चतुर्थ ऋचामें आये **"साधन्तां धियः"**से) उस (अंकुश) का आनंद हम चाहते हैं। (मंत्र 9)

उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत।
नृवत् कृणुहि वीतये ॥ (6.53.10)

हमारे लिये उस विचारको रच, जो गौको जीत लेनेवाला है, जो घोड़ेको जीत लेनेवाला है और जो दौलतकी पूर्णताको जीत लेनेवाला है।" (मंत्र 10)

पणियोंके इस प्रतीककी हमने जो व्याख्याकी है यदि वह ठीक है तब इस सूक्तमें वर्णित विचार पर्याप्त रूपसे समझमें आ सकते हैं और इसके लिये ऐसी आवश्यकता नहीं है, जैसा कि सायण ने किया है, कि पणि शब्दमें जो सामान्य आशय अन्तर्निहित है उसे अलगकर दिया जाय और पणिका अर्थ केवल 'कृपण, लुब्ध मनुष्य' इतना ही समझा जाय और यह समझा जाय कि इस कृपणके ही संबंधमें भूखसे मारा हुआ कवि इस प्रकार दीनतापूर्वक सूर्य-देवतासे प्रार्थना कर रहा है कि तू इसे मदु करदे और देनेवाला बना दे।

वैदिक विचार यह था कि अवचेतन अंधकारके अंदर तथा सामान्य अज्ञानके जीवनमें वे सब ऐश्वर्य छिपे पड़े हैं जो दिव्य जीवनसे संबंध रखते हैं और इन गुप्त ऐश्वर्योंका फिरसे प्राप्त किया जाना आवश्यक है और उसका उपाय यह है कि पहले तो अज्ञानकी अनुतापरहित शक्तियोंका विनाश किया जाय और फिर निम्न जीवनको उच्च जीवनके अधीन किया जाय।

इन्द्रके संबंधमें, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह कहा गया है कि वह दस्युका या तो वधकर देता है या उसे जीत लेता है और उसकी दौलत आर्यको दिलवा देता है। इसी प्रकार सरमा भी पणियोंके साथ बंधुत्व कायमकर संधिकर लेनेसे इन्कार कर देती है, बल्कि उन्हें यह सलाह देती है कि तुम अपने-आपको समर्पणकर दो और देवों तथा आर्योंके आगे झुक जाओ, और कैदकी हुई गौओंको ऊपर आरोहण करनेके लिये छोड़ दो और तुम स्वयं इस अंधकारको छोड़कर किसी प्रशस्त स्थानको चले जाओ (**आ वरीयः**)। और प्रकाशमान द्रष्टा, सत्यके अधिपति पूषाके अंकुशके अविरत स्पर्शसे ही पणिका हृदय-परिवर्तन होता है—उस अंकुशके जो बन्द हृदयको भग्नकर खोल देता है और इसकी गहराइयोंसे पवित्र **शब्द**को उठने देता है, उस चमकीली नोकवाले अंकुशके जो जगमगाती गौओंको पूर्ण बनाता है, प्रकाशमान विचारोंको सिद्ध करता है; तब **सत्यका देवता** इस पणिके अंधकारपूर्ण हृदयमें भी उसीकी इच्छा करने लगता है जिसकी आर्य इच्छा करता है। इस प्रकार प्रकाश तथा **सत्य**की इस गहराई तक पहुंचनेवाली क्रिया द्वारा ही सामान्य अज्ञानमय **इन्द्रिय-क्रिया**की शक्तियां आर्यके वशमें हो जाती हैं।

परंतु साधारणतः पणि आर्यके शत्रु, दास हैं। 'दास' अधीनता या सेवाके अर्थमें नहीं बल्कि विनाश या क्षतिके अर्थमें (दासका अर्थ सेवक भी है जब कि वह करणार्थक 'दस्'से बनता है; 'दास' या 'दस्यु'का दूसरा अर्थ है शत्रु, लुटेरा और यह उस 'दस्' धातुसे बनता है जिसका अर्थ है विभक्त करना, चोट मारना, क्षति पहुंचाना; पणि आर्यके दास इस दूसरे अर्थमें ही हैं)। पणि लुटेरा है जो **प्रकाश**की गौओंको, **वेग**के घोड़ोंको और दिव्य ऐश्वर्यके खजानोंको बलपूर्वक छीन ले जाता है, वह भेड़िया है, भक्षक है, '**वृक**' है, '**अत्रि**' है; वह **शब्द**को बाधा डालकर रोकनेवाला (**निद्**) और **शब्द**को विकृत करनेवाला है। वह शत्रु है, चोर है, झूठा या बुरा विचार करनेवाला है जो अपनी लूटमारोंसे और बाधाओंसे **मार्ग**को दुर्गम बना देता है; "शत्रुको, चोरको, कुटिलको जो कि विचारको झूठे रूपमें स्थापित करता है, हमसे बहुत दूर, बिलकुल परे कर दे; हे सत्ताके पति! हमारे मार्गको

आसान यात्रावाला कर दे।.....पणिका वध कर दे, क्योंकि वह एक ऐसा भेड़िया है जो खा जानेवाला है।"[1] (6.51.13-14)।

यह आवश्यक है कि उसका आक्रमणके लिये उठना देवोंके द्वारा रोका जाय। "इस देव (सोम)ने जन्म पाकर, सहायकके रूपमें इन्द्रको साथ लेकर बलके प्रयोगसे पणिको रोक दिया"[2] (6.44.22) और स्वःको, सूर्यको तथा सब ऐश्वर्योंको जीत लिया। पणियोंको मार डालना या भगा देना अभीष्ट है जिससे उनके ऐश्वर्य उनसे छीनकर उच्चतर जीवनको समर्पित किये जा सकें। "तू जिसने पणिको लगातार भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त-कर दिया, तेरे ही ये जबर्दस्त दान हैं, हे सरस्वति। सरस्वति! देवोंके बाधकोंको कुचल डाल"[3] (6.61)। "हे अग्नि और सोम! तब तुम्हारी शक्ति जागृत हुई थी जब कि तुमने पणिके पाससे गौएं लूटी थीं और बहुतोंके लिये एक ज्योतिको पा लिया था।"[4] (1.93.4)

जब देव यज्ञके लिये उषामें जागृत होते हैं तब कहीं ऐसा न हो कि पणि भी यज्ञकी सफल प्रगतिमें बाधा डालनेके लिये जाग उठें, सो उन्हें अपनी गुफाके अन्धकारमें सोये पड़े रहने दो। "हे ऐश्वर्योंकी सम्राज्ञी उषः! उन्हें तू जगा दे जो हमें परिपूर्ण करते हैं (अर्थात् जो देव हैं), पर पणियोंको न जगाते हुए सोये पड़े रहने दे। ऐ ऐश्वर्योंकी सम्राज्ञी! ऐश्वर्यके अधिपतियोंके लिये तू ऐश्वर्योंको साथ लेकर उदित हो, हे सत्यमयी उषः! उसके लिये तू ऐश्वर्योंको साथ लेकर (उदित) हो जो तेरा स्तोता है। यौवनमें भरी हुई वह (उषा) हमारे आगे चमक रही है, उसने अरुण गौओंके समूहको रच लिया है, असत्में साक्षात् दर्शन विशाल रूपमें उदित हो गया है"[5]

---

1. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥
   ..... जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥ (6.51.13-14)
2. "अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्।" (6.44.22)
3. या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति।
   सरस्वति देवनिदो निबर्हय॥ (6.61.1, 3)
4. अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
   (अवातिरतं बृसयस्य शेषः) अविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥ (1.93.4)
5. प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु।
   रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत् स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती॥10॥
   अवेयमश्वैद् युवतिः पुरस्ताद् युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
   वि नूनमुच्छादसति प्र केतु (गृहं गृहमुप तिष्ठाते अग्निः)॥(ऋ. 1.124)

(1.124.10-11)। या फिर इसी बातको 4.51में देख सकते हैं—"देखो, हमारे आगे वह ज्ञानसे परिपूर्ण श्रेष्ठतम **प्रकाश** अन्धकारमेंसे उदित हो गया है, द्यौकी पुत्रियां विशाल रूपमें चमक रही हैं, इन उषाओंने मनुष्यके लिये मार्ग रच दिया है (मन्त्र 1)। उषाएं हमारे आगे खड़ी हुई हैं जैसे कि यज्ञोंमें स्तम्भ; विशुद्ध रूपमें उदित होती हुई और पवित्र करनेवाली उन (उषाओं)ने बाड़ेके, अन्धकारके द्वारोंको खोल दिया है (मन्त्र 2)। आज उदित होती हुई उषाएं सुख-भोक्ताओंको समृद्ध आनन्द देनेके लिये ज्ञानमें जागृत कर रही हैं, अन्धकारके मध्यमें जहां प्रकाश क्रीड़ा नहीं करता पणि न जागते हुए सोये पड़े रहें (मन्त्र 3)।"[1] इसी निम्न अन्धकारके अन्दर वे पणि उच्च लोकोंसे निकालकर डाल दिये जाने चाहियें और उषाओंको जिन्हें पणियोंने उस रात्रिमें कैद कर रखा है चढ़ाकर सर्वोच्च लोकोंमें पहुंचा देना चाहिये। इसलिये वेदमें कहा है—

"न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणोरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥ (7.6.3)

जो पणि कुटिलताकी गांठ पैदा करनेवाले हैं, जो कर्मोंको करनेका संकल्प नहीं रखते, जो वाणीको विकृत करनेवाले हैं, जो श्रद्धा नहीं रखते, जो वृद्धिको नहीं प्राप्त होते, जो यज्ञ नहीं करते, उन पणियोंको अग्निने दूर, बहुत दूर खदेड़ दिया; उस **पूर्व** अर्थात् प्रकृष्ट या उच्च (अग्नि)ने जो यज्ञ नहीं करना चाहते उन (पणियों)को सबसे नीचे, **अपर**, कर दिया॥3॥

यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार नृतमः शचीभिः...।

और उनको (**गौओंको**; **उषाओंको**) जो निम्न अन्धकारमें आनन्द ल रही थीं, अपनी शक्तियोंसे उस नृतम (अग्नि)ने सर्वोच्च (लोक)की तरफ प्रेरित कर दिया॥4॥

यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार।

उसने अपने आघातोंसे उन दीवारोंको जो सीमित करनेवाली थीं तोड़ गिराया, उसने **उषाओंको** आर्यकी सहचारिणी, **अर्यपत्नी** कर दिया॥5॥"

---

1. **इदमु त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।**
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय॥
अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः॥
उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये॥ (4.51.1-3)

नदियाँ और उषाएं जब 'वृत्र' या 'वल'के कब्जेमें होती हैं तब वे 'दासपत्नी' कही गयी हैं, देवोंकी क्रिया द्वारा वे 'अर्यपत्नी' बन जाती हैं, आर्यकी सह-चारिणी हो जाती हैं।

अज्ञानके अधिपतियोंका वधकर देना चाहिये या उन्हें सत्यका और सत्य के अन्वेष्टाओंका दास बना देना चाहिये, परन्तु पणियोंके पास जो दौलत है उसे पा लेना मानवीय परिपूर्णताके लिये अनिवार्य है; इन्द्र मानो "पणिके दौलतसे अधिकतम भरे मूर्धापर" खड़ा हो जाता है, (**पणीनां वर्षिष्ठे मूर्ध-न्नस्थात्। ऋ.** 6.45.31)। वह स्वयमेव **प्रकाशकी गौ** और (शक्तिमय) वेगका घोड़ा बन जाता है[1] और सदा प्रवृद्ध होती रहनेवाली सहस्रों गुणा दौलत बरसा देता है[2]। पणिवाली उस प्रकाशमान दौलतकी परिपूर्णता और द्यौकी तरफ आरोहण, जैसा कि हमें पहलेसे ही मालूम है, **अमरत्वका मार्ग** है और **अमरत्वका** जन्म है। "अंगिराने (सत्यकी) सर्वोच्च अभि-व्यक्ति (**वयः**)को धारण किया, उन (अंगिरसों)ने जिन्होंने कर्मकी पूर्ण सिद्धि द्वारा अग्निको प्रज्वलित किया था; उन्होंने पणिके सारे सुख-भोगको, इसके घोड़ोंवाले और गौओंवाले पशु-समूहको, अपने हस्तगत कर लिया (1.83.4)। यज्ञों द्वारा सर्वप्रथम अथर्वाने **पथका** निर्माण किया, उसके बाद **सूर्य** पैदा हुआ जो **'व्रतपा'** और **'वेन'** अर्थात् **नियमका** रक्षक और **आनन्दमय** है (**ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि**)। उशना काव्यने **गौओंको** ऊपरकी तरफ हांक दिया। हम चाहते हैं कि इनके साथ यज्ञ द्वारा वह अमरत्व पा सकें जो **नियमके अधिपतिके** पुत्रके तौरपर उत्पन्न हुआ है (1.83.5)"[3], **यमस्य जातममृतं यजामहे।**

अंगिरा द्रष्टा-संकल्प (Seer-Will)का द्योतक ऋषि है, अथर्वा **दिव्य पथपर** यात्राका ऋषि है, उशना काव्य उस द्युमुखी इच्छाका ऋषि है जो इच्छा द्रष्टा-ज्ञानमेंसे पैदा होती है। अंगिरस् उन **ज्योतियोंकी** संपदाको और सत्यकी शक्तियोंको जीतते हैं जो निम्न जीवनके तथा निम्न जीवनकी कुटिलताओंके पीछे छिपी पड़ी थीं; अथर्वा उनकी शक्तिमें **पथका** निर्माण कर

---

1. **गौरसि वीर गव्यते, अश्वो अश्वायते भव॥** (**ऋ.** 6.45.26)
2. **यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्विणी॥** (6.45.32)
3. **आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।**
   सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥4॥
   यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
   आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥5॥

देता है और तब **प्रकाशका अधिपति** सूर्य पैदा हो ताजा है जो दिव्य **नियम**-का तथा यम-शक्तिका संरक्षक है, उशना हमारे विचारकी प्रकाशात्मक गौओंको **सत्य**के उस पथपर हांकता हुआ ऊपर उस दिव्य **आनन्द** तक पहुंचा देता है जो **सूर्य**में रहता है; इस प्रकार **सत्य**के नियममेंसे वह अमरत्व पैदा हो जाता है जिसकी आर्य-आत्मा यज्ञ द्वारा अभीप्सा किया करता है।

तेईसवाँ अध्याय

परिणामोंका सार

अब हम ऋग्वेदमें आनेवाले अंगिरस्-कथानककी, सभी सम्भव पहलुओंको लेकर तथा इसके मुख्य प्रतीकों सहित, समीपताके साथ परीक्षा कर चुके हैं और इसलिये इस स्थितिमें हैं कि इससे हमने जो परिणाम निकाले हैं उन्हें यहाँ निश्चयात्मकताके साथ संक्षेपसे वर्णित कर दें। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, अंगिरसोंका कथानक तथा वृत्रकी गाथा—ये दो वेदके आधारभूत रूपक हैं, ये सारे वेदमें पाये जाते हैं और बार-बार आते हैं, ये सूक्तोंमें इस रूपमें आते हैं मानो ये प्रतीकात्मक अलंकारवर्णनाके दो आपसमें घनिष्ठतया जुड़े हुए मुख्य तार हैं और इन्हींके चारों ओर अवशिष्ट सारा वैदिक प्रतीकवाद बानेकी तरह ओतप्रोत है। यही नहीं कि ये इसके केंद्रभूत विचार हैं बल्कि ये इस प्राचीन रचनाके मुख्य स्तम्भ हैं। जब हम इन दो प्रतीकात्मक रूपकोंके अभिप्रायको निश्चित कर लेते हैं तो मानो हमने सारी ही ऋक्-संहिताका अभिप्राय निश्चित कर लिया। क्योंकि यदि वृत्र और जल बादल और वर्षाके तथा पञ्जाबकी सात नदियोंके प्रवाहित हो पड़नेके प्रतीक हैं और यदि अंगिरस् भौतिक उषाके लानेवाले हैं तो वेद प्राकृतिक घटनाओंका एक प्रतीकवाद है जिसमें इन प्राकृतिक घटनाओंको देवों और ऋषियों तथा उपद्रवी दानवोंका सजीव रूप देकर वर्णित किया गया है। और यदि 'वृत्र' और 'वल' द्राविड़ देवता हैं तथा 'पणि' और 'वृत्राः' मानवीय शत्रु हैं तो वेद द्राविड़ भारतपर प्रकृतिपूजक जंगलियों द्वारा किये गये आक्रमणका एक कवितामय तथा कथात्मक उपाख्यान है। किन्तु इस सबके विपरीत यदि वेद **प्रकाश** और **अन्धकार, सत्य** और **अनृत, ज्ञान** और **अज्ञान, मृत्यु** और **अमरता**की आध्यात्मिक शक्तियोंके मध्य होनेवाले संघर्षका एक प्रतीकवाद है तो यही असली वेद है, यही सम्पूर्ण वेदका वास्तविक आशय है।

हमने यह परिणाम निकाला है कि अंगिरस् ऋषि उषाके लानेवाले हैं, सूर्यको अन्धकारमेंसे छुड़ानेवाले हैं, पर ये उषा, सूर्य, अन्धकार प्रतीकरूप हैं जो आध्यात्मिक अर्थमें प्रयुक्त किये गये हैं। वेदका केन्द्रभूत विचार है **अज्ञानके अन्धकारमेंसे सत्यकी विजय करना और साथ ही सत्यकी विजय**

द्वारा अमरताकी भी विजय कर लेना। क्योंकि वैदिक **ऋतम्** जहाँ मनोवैज्ञानिक विचार है वहाँ आध्यात्मिक विचार भी है। यह 'ऋतम्' सत्ताका सत्य **सत्**, सत्य **चैतन्य**, सत्य **आनन्द** है जो इस शरीररूप पृथिवी, इस प्राणशक्तिरूप अन्तरिक्ष, इस मनरूप सामान्य आकाश या द्यौसे परे है। हमें इन सब स्तरोंको पार करके आगे जाना है ताकि हम उस पराचेतन सत्यके उच्च स्तरमें पहुँच सकें जो देवोंका स्वकीय घर है और **अमरत्व**का मूल है। यही **'स्व:'**का लोक है जिसतक पहुँचनेके लिये अंगिरसोंने अपनी आगे आनेवाली सन्ततियोंके लाभार्थ मार्ग ढूंढ़ा है।

अंगिरस् एक साथ दोनों हैं, एक तो दिव्य द्रष्टा जो देवोंके विश्व-सम्बन्धी तथा मानवसम्बन्धी कार्योंमें सहायता करते हैं, और दूसरे उनके भूमिष्ठ प्रतिनिधि, पूर्वज पितर, जिन्होंने सर्वप्रथम वह ज्ञान पाया था जिसके वैदिक सूक्त गीत हैं, संस्मरण हैं और फिरसे नवीन रूपमें अनुभव करने योग्य सत्य हैं। सात दिव्य अंगिरस् **अग्नि**के पुत्र या **अग्नि**की शक्तियाँ हैं, **द्रष्टा-संकल्प**की शक्तियाँ हैं और यह 'अग्नि' या 'द्रष्टा-संकल्प' है दिव्य **शक्ति**की दिव्य ज्ञानसे उद्दीप्त वह ज्वाला जो विजयके लिये प्रज्वलित की जाती है। भृगुओंने तो पार्थिव सत्ताकी वृद्धियों (उपचयों)में छिपी हुई इस **ज्वाला**को ढूंढ़ा है, पर अंगिरस् इस **ज्वाला**को यज्ञकी वेदीपर प्रज्वलित करते हैं और यज्ञको यज्ञिय वर्षके काल-विभागोंमें लगातार जारी रखते हैं, जो काल-विभाग उस दिव्य प्रयासके काल-विभागोंके प्रतीक हैं जिसके द्वारा **सत्य का सूर्य** अन्धकारमेंसे निकालकर पुनः प्राप्त किया जाता है। वे जो इस वर्षके नौ महीनोंतक यज्ञ करते हैं **नवग्वा** हैं, नौ गौओं या किरणोंके द्रष्टा हैं, जो **सूर्य**की गौओंकी खोज आरंभ करते हैं और पणियोंके साथ युद्ध करनेके लिये इन्द्रको प्रयाणमें प्रवृत्त करते हैं। वे जो दस महीनोंतक यज्ञ करते हैं **दशग्वा** हैं, दस किरणोंके द्रष्टा हैं, जो इन्द्रके साथ पणियोंकी गुफामें घुसते हैं और खोयी हुई गौएँ वापिस ले आते हैं।

यज्ञ यह है कि मनुष्यके पास अपनी सत्तामें जो कुछ है उसे वह उच्चतर या दिव्य प्रकृतिको अर्पित कर दे, और इस यज्ञका फल यह होता है कि उसका मनुष्यत्व देवोंके मुक्तहस्त दानके द्वारा और अधिक समृद्ध हो जाता है। संपत्ति जो इस प्रकार यज्ञ करनेसे प्राप्त होती है आध्यात्मिक ऐश्वर्य, समृद्धि, आनन्दकी अवस्थासे निर्मित होती है और यह अवस्था स्वयं यात्रामें सहायक होनेवाली एक शक्ति है और युद्धकी एक शक्ति है। क्योंकि यज्ञ एक यात्रा है, एक प्रगति है; यज्ञ स्वयं यात्रा करता

है जो उसकी यात्रा 'अग्नि'को नेता बनाकर दिव्य मार्गसे देवोंके प्रति होती है और 'स्व:'के दिव्य लोकके प्रति अंगिरस पितरोंका आरोहण इसी यात्राका आदर्श रूप (नमूना) है। अंगिरस्-पितरोंकी यह आदर्श यज्ञ-यात्रा एक युद्ध भी है, क्योंकि पणि, वृत्र तथा पाप और अनृतकी अन्य शक्तियाँ इस यात्राका विरोध किया करती हैं और इन्द्र तथा अंगिरस् ऋषियोंकी पणियोंके साथ लड़ाई इस युद्धका एक मुख्य कथांग है।

यज्ञके प्रधान अंग हैं दिव्य ज्वालाको प्रज्वलित करना, 'घृत'की तथा सोमरसकी हवि देना और पवित्र **शब्द**का गान करना। स्तुति तथा हविके द्वारा देव प्रवृद्ध होते हैं, उनके लिये कहा गया है कि वे मनुष्यके अन्दर उत्पन्न होते हैं, रचे जाते हैं या अभिव्यक्त होते हैं तथा यहाँ अपनी वृद्धि और महत्तासे वे पृथिवी और द्यौको अर्थात् भौतिक और मानसिक सत्ताको इनका अधिक-से-अधिक जितना ग्रहणसामर्थ्य होता है उतना बढ़ा देते हैं और फिर, इन्हें अतिक्रान्त करके, अवसर आनेपर उच्चतर लोकों या स्तरोंकी रचना करते हैं। उच्चतर सत्ता दिव्य है, असीम है, जिसका प्रतीक है चमकीली **गौ**, असीम **माता, अदिति**; निम्न सत्ता उसके अन्धकारमय रूप **दिति**के अधीन है।

यज्ञका लक्ष्य है उच्च या दिव्य सत्ताको जीतना और निम्न या मानवीय सत्ताको इस दिव्य सत्तासे युक्त कर देना तथा इसके नियम और सत्यके अधीन कर देना। यज्ञका **'घृत'** चमकीली **गौ**की देन है, यह 'घृत' मानवीय मनके अन्दर सौर प्रकाशकी निर्मलता या चमक है। **'सोमरस'** है सत्ताका अमृतरूप आनन्द जो जलोंमें और सोम-नामक पौधे (लता)में निगूढ़ रहता है और देवों तथा मनुष्यों द्वारा पान करनेके लिये निचोड़ा जाता है। **शब्द** है अन्त:प्रेरित वाणी जो **सत्य**के उस विचार-प्रकाशको अभिव्यक्त करती है जो आत्मामेंसे उठता है, हृदयमें निर्मित होता है और मन द्वारा आकृति-युक्त होता है। 'अग्नि' घृतसे प्रवृद्ध होकर और 'इन्द्र' सोमकी प्रकाशमय शक्तिसे तथा आनन्दसे सबल और शब्द द्वारा प्रवृद्ध होकर, सूर्यकी गौओंको फिरसे पा लेनेमें अंगिरसोंकी सहायता करता है।

बृहस्पति सर्जनकारी **शब्द**का अधिपति है। यदि अग्नि प्रथम अंगिरा है, वह ज्वाला है जिससे अंगिरस् ऋषि पैदा हुए हैं तो बृहस्पति वह एक अंगिरा है जो सातमुखवाला अर्थात् प्रकाशकारी विचारकी सात किरणों-वाला और इस विचारको अभिव्यक्त करनेवाले सात **शब्दों**वाला (एक अंगिरा) है, जिसकी ये सात ऋषि (अंगिरस्) उच्चारण-शक्तियाँ बने हैं। यह **सत्य**का सात सिरोंवाला अर्थात् पूर्ण विचार है जो मनुष्यके लिये यज्ञकी

लक्ष्यभूत पूर्ण आध्यात्मिक संपदाको जीतकर उसके लिये चौथे या दिव्य लोकको जीत लाता है। इसलिये अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, सोम सभी इस रूपमें वर्णित किये गये हैं कि ये **सूर्य**की गौओंको जीत लानेवाले हैं और उन दस्युओंके विनाशक हैं जो उन गौओंको छिपा लेते हैं और मनुष्यके पास आनेसे रोकते हैं। सरस्वती भी, जो **दिव्य शब्द**की धारा या **सत्य**की अन्तःप्रेरणा है, दस्युओंका वध करनेवाली और चमकीली गौओंको जीतनेवाली है, उन गौओंको ढूंढ़ा है इन्द्रकी अग्रदूती सरमाने जो सूर्यकी या उषाकी एक देवी है और **सत्य**की अन्तर्ज्ञानमयी शक्तिका प्रतीक मालूम होती है। उषा एक साथ दोनों है, स्वयं वह इस महान् विजयमें एक कार्यकर्त्री भी है और पूर्ण रूपमें उसका आगमन इस विजयका उज्ज्वल परिणाम है।

उषा दिव्य अरुणोदय है, क्योंकि **सूर्य** जो उसके आगमनके बाद प्रकट होता है **पराचेतन सत्य**का **सूर्य** है; दिन जिसको वह **सूर्य** लाता है सत्यमय ज्ञानके अन्दर होनेवाला सत्यमय जीवनका दिन है, रात्रि जिसे वह विध्वस्त करता है अज्ञानकी रात्रि है जो अबतक उषाको अपने अन्दर छिपाये है। उषा स्वयं **सत्य** है, **सूनृता** है और सत्योंकी माता है। दिव्य उषाके इन सत्योंको उषाकी गौएँ, उषाके चमकीले पशु कहा गया है, जब कि **सत्य**के वेगवान् बलोंको जो उन गौओंके साथ-साथ रहते हैं और जीवनको अधिष्ठित करते हैं उषाके घोड़े कहा गया है। गौओं और घोड़ोंके इस प्रतीकके चारों ओर वैदिक प्रतीकवादका अधिकांश घूम रहा है, क्योंकि ये ही उन सम्पत्तियोंके मुख्य अंग हैं जिन्हें मनुष्यने देवोंसे पाना चाहा है। उषाकी गौओंको अन्धकारके अधिपति दानवोंने चुरा लिया है और ले जाकर गूढ़ अवचेतनाकी अपनी निम्नतर गुफामें छिपा दिया है। वे गौएँ ज्ञानकी ज्योतियाँ हैं, **सत्य**के विचार हैं (**गावो मतयः**), जिन्हें उनकी इस कैदसे छुटकारा दिलाना है। उनके छुटकारेका अभिप्राय है दिव्य उषाकी शक्तियोंका वेगसे ऊर्ध्वगमन होने लगना।

साथ ही इस छुटकारेका अभिप्राय उस **सूर्य**की पुनःप्राप्ति भी है जो अन्धकारमें छिपा पड़ा था, क्योंकि यह कहा गया है कि **सूर्य** अर्थात् दिव्य सत्य, "**सत्यं तत्**", ही वह वस्तु थी, जिसे इन्द्र और अंगिरसोंने पणियोंकी गुफामें पाया था। उस गुफाके विदीर्ण हो जानेपर दिव्य उषाकी गौएँ जो **सत्य**के **सूर्य**की किरणें हैं आरोहण करके सत्ताकी पहाड़ीके ऊपर जा पहुँचती हैं और **सूर्य** स्वयं दिव्य सत्ताके प्रकाशमान ऊर्ध्व समुद्रमें ऊपर चढ़ता है, जो विचारक हैं वे जलमें जहाजकी तरह इस ऊर्ध्व समुद्रमें

सूर्यको आगे-आगे ले जाते हैं जबतक कि वह इसके दूरवर्ती परले तटपर नहीं पहुँच जाता।

पणि जो गौओंको कैद कर लेनेवाले हैं, जो निम्न गुफाके अधिपति हैं, दस्युओंकी एक श्रेणीमेंके हैं, जो दस्यु वैदिक प्रतीकवादमें आर्य देवों और आर्य द्रष्टाओं तथा कार्यकर्ताओंके विरोधमें रखे गये हैं। आर्य वह है जो यज्ञका कार्य करता है, प्रकाश का पवित्र शब्द प्राप्त करता है, देवोंको चाहता है और उन्हें बढ़ाता है तथा स्वयं उनसे बढ़ाया जाकर सच्चे अस्तित्वकी विशालता प्राप्त करता है; वह **प्रकाशका** योद्धा है और **सत्यका** यात्री है। 'दस्यु' है अदिव्य सत्ता जो किसी प्रकारका यज्ञ नहीं करती, दौलतको बटोर-बटोरकर जमा तो कर लेती है, पर उसका ठीक प्रकार उपयोग नहीं कर सकती, क्योंकि वह **शब्दको** नहीं बोल सकती या पराचेतन **सत्यको** मनोगत नहीं कर सकती, **शब्दसे**, देवों से और यज्ञसे द्वेष करती है और अपना कुछ भी उच्च सत्ताओंको नहीं देती, बल्कि आर्यकी संपदाको उससे लूट लेती है और अपने पास रोक रखती है। वह चोर है, शत्रु है, भेड़िया है, भक्षक है, विभाजक है, बाधक है, अवरोधक है। दस्यु अन्धकार और अज्ञानकी शक्तियाँ हैं जो सत्य तथा अमरत्वके अन्वेष्टाका विरोध करती हैं। देव हैं **प्रकाशकी** शक्तियाँ, **असीमता** (अदिति)के पुत्र, एक **'परम देवके** रूप और व्यक्तित्व जो अपनी सहायताके द्वारा तथा मनुष्यके अन्दर अपनी वृद्धि और मानुष व्यापारोंके द्वारा मनुष्यको ऊँचा उठाकर सत्य और अमरतातक पहुँचा देते हैं।

इस प्रकार आंगिरस-गाथाका स्पष्टीकरण हमें वेदके सम्पूर्ण रहस्यकी कुञ्जी पकड़ा देता है। क्योंकि वे गौएँ और घोड़े जो आर्योंसे खो गये थे और जिन्हें उनके लिये देवोंने फिरसे प्राप्त किया, वे गौएँ और घोड़े जिनका इन्द्र स्वामी और प्रदाता है और वस्तुतः स्वयं **गौ** और **घोड़ा** है यदि भौतिक पशु नहीं हैं, यज्ञ द्वारा चाही गयी संपदाके ये अंग यदि आध्यात्मिक सम्पत्तियोंके प्रतीक हैं तो इसी प्रकार इसके अन्य अंग पुत्र, मनुष्य, सुवर्ण, खजाना आदि भी जो सदा इनके साथ सम्बद्ध आते हैं, इन्हीं अर्थोंमें होने चाहियें। यदि **गौ** जिससे 'घृत' पैदा होता है कोई भौतिक गाय नहीं है, बल्कि जगमगानेवाली **माता** है तो स्वयं घृतको भी जो जलोंमें पाया गया है और जिसके लिये यह कहा गया है कि पणियोंने उसे **गौके** अन्दर त्रिविध रूपमें छिपा दिया था, भौतिक हवि नहीं होना चाहिये; न ही सोमका मधु-रस भौतिक हवि हो सकता है जिसके विषयमें यह भी कहा गया है कि वह नदियोंमें होता है और समुद्रसे एक मधुमय लहरके

रूपमें उठता है तथा ऊपर देवोंके प्रति धारारूपमें प्रवाहित होता है। और यदि ये प्रतीकरूप हैं तो यज्ञकी अन्य हवियोंको भी प्रतीकरूप ही होना चाहिये; स्वयं बाह्य यज्ञ भी एक आन्तर प्रदानके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। और यदि अंगिरस् ऋषि भी अंशतः प्रतीकरूप हैं या देवोंकी तरह यज्ञमें अर्ध-दिव्य कार्यकर्ता और सहायक हैं तो वैसे ही भृगुगण, अथर्व-गण (अथर्वाणः), उशना और कुत्स तथा अन्य होने चाहियें जो उनके कार्यमें उनके साथ सम्बद्ध आते हैं। यदि अंगिरसोंकी गाथा तथा दस्युओंके साथ युद्धकी कहानी एक रूपक है, तो वैसा ही अन्य आख्यायिकाओं-को भी होना चाहिये जो ऋग्वेदमें उस सहायताके विषयमें पायी जाती हैं जो दानवोंके विरुद्ध लड़ाईमें ऋषियोंको देवों द्वारा प्रदान की गयी थी, क्योंकि वे आख्यायिकाएँ भी उन्हीं जैसे शब्दोंमें वर्णित की गयी हैं और वैदिक कवियोंने उन्हें सतत रूपसे अंगिरसोंके कथानकके साथ इस तरह एक श्रेणीमें रखा है जैसे कि ये इनके समान आधारवाली हों।

इसी प्रकार ये दस्यु जो दान और यज्ञका निषेध करते हैं और शब्दसे तथा देवोंसे द्वेष करते हैं और जिनके साथ **आर्य** निरन्तर युद्धमें संलग्न रहते हैं, ये वृत्र, पणि व अन्य यदि मानवीय शत्रु नहीं हैं, बल्कि अन्धकार, अनृत और पापकी शक्तियाँ हैं, तो आर्योंके युद्धोंका, आर्य-राजाओंका तथा आर्योंकी जातियोंका सारा विचार आध्यात्मिक प्रतीक और आध्यात्मिक उपाख्यानका रूप धारण करने लगता है। वे अविकल रूपमें ऐसे हैं या केवल अंशतः ही—यह अपेक्षाकृत अधिक ब्यौरेवार परीक्षाके बिना निर्णीत नहीं किया जा सकता, और यह परीक्षा इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा वर्तमान उद्देश्य केवल यह देखना है कि हम जो इस विचारको लेकर चले हैं कि वैदिक-सूक्त प्राचीन भारतीय रहस्यवादियोंकी प्रतीकात्मक पवित्र पुस्तकें हैं और उनका अभिप्राय आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है —अपने इस विचारकी पुष्टिके लिये हमारे पास प्राथमिक पर्याप्त सामग्री है या नहीं। इस प्रकारकी पर्याप्त प्राथमिक सामग्री विद्यमान है यह हमने स्थापित कर दिया है, क्योंकि अबतक हमने जितना विचार-विवेचन किया है उससे ही हमारे पास इसके लिये पर्याप्त आधार है कि वेदके पास हमें गंभीरताके साथ इसी दृष्टिकोणको लेकर पहुँचना चाहिये और कि वेद भावनामय काव्यमें लिखे गये इसी प्रकारके प्रतीकवादके ग्रंथ हैं इस दृष्टिको ही सामने रखकर इनकी ब्यौरेवार व्याख्या करनी चाहिये।

तो भी अपने पक्षको पूर्णतया सुदृढ़ करनेके लिये यह अच्छा होगा कि वृत्र तथा जलों-सम्बन्धी दूसरी सहचरी गाथाकी भी परीक्षा कर ली

जाय जिसे हमने अंगिरसों तथा प्रकाशकी गाथाके साथ इतना निकट रूपसे सम्बद्ध पाया है। इस सम्बन्धमें पहली बात यह है कि वृत्रहन्ता 'इन्द्र', अग्निके साथ, वैदिक विश्वदेवतागणके मुख्य दो देवताओंमेंसे एक है और उसका स्वरूप तथा उसके व्यापार यदि समुचित रूपसे निर्धारित हो सकें तो आर्योंके देवोंका सामान्य रूप सुदृढ़तया नियत हो जायगा। दूसरे यह कि मरुत् जो इन्द्रके सखा हैं, पवित्र गानके गायक हैं, वैदिक पूजाके विषयमें प्रकृतिवादी मतके सबसे प्रबल साधक-बिन्दु हैं; वे निःसन्देह आँधीके देवता हैं और अन्य बड़े-बड़े वैदिक देवोंमेंसे दूसरे किसीका भी, अग्निका या मित्र-वरुणका या त्वष्टाका और वैदिक देवियोंका या यहाँतक कि सूर्यका भी या उषाका भी ऐसा कोई प्रख्यात भौतिक स्वरूप नहीं है। यदि इन आँधीके देवताओंके विषयमें यह दर्शाया जा सके कि ये एक आध्यात्मिक स्वरूप और प्रतीकवादको रखे हुए हैं तब वैदिक-धर्म तथा वैदिक कर्मकाण्ड के गम्भीरतर अभिप्रायके सम्बन्धमें कोई सन्देह अवशिष्ट नहीं रह सकता। अन्तिम बात यह कि वृत्र और उससे सम्बद्ध दानवों, शुष्ण, नमुचि आदिकी निकट रूपसे परीक्षा करनेपर यदि पता चले कि ये आध्यात्मिक अर्थमें दस्यु हैं तथा यदि वृत्र द्वारा रोके जानेवाले आकाशीय (दिव्य) जलोंके अभिप्रायका और अधिक गहराईमें जाकर अनुसन्धान किया जाय तब यह विचार कि वेदमें ऋषियों और देव तथा दानवोंकी कहानियाँ रूपक हैं एक निश्चित आरम्भ-बिंदुको लेकर चलाया जा सकता है और वैदिक लोकोंका प्रतीकवाद एक सन्तोषजनक व्याख्याके अधिक समीप लाया जा सकता है।

इससे अधिक प्रयत्न करना इस समय हमारे लिये संभव नहीं; क्योंकि वैदिक प्रतीकवाद जैसा कि सूक्तोंमें प्रपञ्चित किया गया है अपने अंग-उपांगोंमें अत्यधिक पेचीदा है, अपने दृष्टि-बिन्दुओंमें अत्यधिक विविधता रखता है, अपनी प्रतिच्छायाओंमें और अवान्तर निर्देशोंमें व्याख्या करने-वालेके लिये अत्यन्त अधिक अस्पष्टताओं तथा कठिनाइयोंको उपस्थित करता है और सबसे बढ़कर यह कि विस्मृति और अन्यथाग्रहणके पिछले युगों द्वारा यह इतना अधिक धुंधला हो चुका है कि एक ही पुस्तकमें इसपर समुचितरूपसे विचार कर सकना शक्य नहीं। इस समय हम इतना ही कर सकते हैं कि मुख्य-मुख्य मूलसूत्र ढूँढ़ निकालें और जहाँतक हो सके उतना सुरक्षित रूपमें ठीक-ठीक आधारोंको स्थापित कर दें।

द्वितीय खण्ड

सूक्तरत्न-संग्रह

पहला अध्याय

इन्द्र और अगस्त्यका संवाद

ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 170

इन्द्र

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ॥1॥

वह (न नूनम् अस्ति) न अब है (नो श्वः) न कल होगा; (तद् कः वेद यद् अद्भुतम्) उसे कौन जानता है जो सर्वोच्च और अद्भुत है? (अन्यस्य चित्तम्) अन्यकी चेतना (अभि सञ्चरेण्यम्) इसकी गति और क्रियासे संचारित तो होती है, (उत आधीतम्) पर जब हम विचार द्वारा इसके समीप पहुँचते हैं, तब (वि नश्यति) यह लुप्त हो जाता है ॥1॥

अगस्त्य

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥2॥

(इन्द्र किं नः जिघांससि) हे इन्द्र! तू क्यों हमारा वध करना चाहता है? (मरुतः तव भ्रातरः) ये मरुत् तेरे भाई हैं। (तेभिः साधुया कल्पस्व) उनके साथ मिलकर तू पूर्णताको सिद्ध कर; (समरणे) हमें जो संघर्ष करना पड़ रहा है उसमें (नः मा वधीः) तू हमारा वध मत कर ॥2॥

इन्द्र

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥3॥
अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ॥4॥

(किं, भ्रातः अगस्त्य) क्यों, ऐ मेरे भाई अगस्त्य! (सखा सन्) तू मेरा मित्र है तो भी (नः अतिमन्यसे) अपने विचारको मुझसे परे रखता है? खैर, (विद्म हि) मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ (यथा) कि क्यों तू (ते मनः) अपने मनको (अस्मभ्यम् इत् न दित्ससि) हमें नहीं देना चाहता ॥3॥

वे मरुत (वेदिम् अरं कृण्वन्तु) वेदि तैयार कर लें, (पुरः अग्निम् समिन्धताम्) अपने आगे अग्नि प्रज्वलित कर लें। (तत्र) वहीं अर्थात् उसी अवस्थामें (अमृतस्य चेतनम्) चेतना अमरत्वकी प्राप्तिके लिये जागृत होगी। आ, (ते यज्ञं तनवावहै) हम दोनों मिलकर तेरे लिये तेरे फल-साधक यज्ञका विस्तार करें ॥4॥

अगस्त्य

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः सं वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ॥5॥

(वसूनां वसुपते) हे वसुओंके, सब जीवन-तत्त्वोंके शासक, वसुपते! (त्वम् ईशिषे) तू शक्तिशाली स्वामी है। (मित्राणां मित्रपते) हे प्रेम-शक्तियोंके शासक प्रेमाधिपते! (त्वं धेष्ठः) तू स्थितिमें प्रतिष्ठित करनेके लिये सबसे अधिक सबल है। (इन्द्र) हे इन्द्र! (त्वं मरुद्भिः संवदस्व) तू मरुतोंके साथ सहमत हो जा, (अध) और तब (ऋतुथा) सत्यकी सुव्यस्थित पद्धतिके अनुसार (हवींषि प्राशान) हवियोंका स्वाद ले ॥5॥[1]

भाष्य

इस सूक्तमें जो आधारभूत विचार है उसका संबंध आध्यात्मिक प्रगतिकी एक अवस्थासे है, और यह अवस्था वह है जब मनुष्यका आत्मा केवल विचार-शक्तिके द्वारा ही शीघ्रताके साथ आगे बढ़कर पार हो जाना चाहता है ताकि समयके पहले ही,—सचेतन क्रियाकी जो क्रमशः एकके बाद दूसरी अवस्थाएँ आती हैं उन सबमें पूर्ण विकास पाये बिना ही,—वह सब वस्तुओंके मूल कारण (स्रोत)तक पहुँच जाय। देव जो मानव-विश्व और विराट्-विश्व दोनोंके शासक हैं उसके इस प्रयत्नका विरोध करते हैं और मनुष्यकी चेतनाके अंदर एक जबर्दस्त संघर्ष चलता है, जिसमें एक तरफ तो अपनी अहंभावप्रेरित अति उत्सुकतासे युक्त व्यक्तिगत आत्मा होता है और दूसरी तरफ विश्व-शक्तियाँ जो विश्वके दिव्य उद्देश्यको पूर्ण करना चाह रही होती हैं।

ऐसे क्षणमें ऋषि अगस्त्यकी, अपनी आन्तर अनुभूतिमें, इन्द्रसे भेंट

---

1. यह अनुवाद मैं सामान्य पाठकों के लिये दे रहा हूं। अमुक शब्द का अर्थ अमुक तौर पर मैंने क्यों किया है इसके विस्तार में जाना, इसके लिये भाषाविज्ञान-संबंधी तथा अन्य प्रकार के प्रमाण देना यहां संभव नहीं होगा और वैसे भी यह थोड़े से अन्वेषक विद्वान् लोगों के लिये ही रुचिकर होगा, इसलिये यहां इसे मैं छोड़ दे रहा हूं या स्थगित कर रहा हूं।

होती है। इन्द्र स्वःका अधिपति है और 'स्वः' है विशुद्ध प्रज्ञाका लोक। दिव्य सत्यमें पहुँचनेके लिये आरोहण करते हुए आत्माको इस लोकके बीचमें से होकर गुजरना होता है।

सर्वप्रथम इन्द्र कहता है कि हे अगस्त्य! वस्तुओंका वह मूल स्रोत अविज्ञेय है जिसे पानेके लिये तुम ऐसी अधीरताके साथ यत्न कर रहे हो। वह कालमें नहीं पाया जा सकता (वह कालातीत है)। वह वर्तमानकी वास्तविक वस्तुओंके अंदर नहीं रहता, न ही वह भविष्यमें फलित होनेवाली संभाव्य वस्तुओंमें है। वह न अब है, न अबके बाद होता है। उसका अस्तित्व देश और कालसे अतीत है, और इसलिये वह स्वयं उससे नहीं जाना जा सकता जो देश और कालमें सीमित है। वह अपने रूपों और अपनी क्रियाओंके द्वारा अपने-आपको उसकी चेतनाके अंदर व्यक्त करता है जो वह स्वयं नहीं है (**अन्यस्य**) और उन क्रियाओंका अभिप्राय यह है कि उसकी उन क्रियाओं द्वारा ही उसका साक्षात्कार किया जाना चाहिये। पर यदि कोई सीधा स्वयं इसके पास पहुँचनेका और इसके स्वरूपका अध्ययन करनेका यत्न करता है तो झट यह उस विचारमेंसे जो इसे ग्रहण करना चाहता है निकलकर अन्तर्धान हो जाता है और ऐसा हो जाता है मानो यह है ही नहीं (देखो, मंत्र 1)।

अगस्त्य अबतक नहीं समझ पाता कि भला क्यों अपने लक्ष्यके अनुसरणमें उसका ऐसा जबर्दस्त विरोध किया गया है, वह तो उसीका अनुसरण कर रहा था जो सब मनुष्योंका अंतिम लक्ष्य है और उसके सब विचार तथा उसके सब अनुभव जिसकी माँग कर रहे हैं। 'मरुत्' विचारकी शक्तियाँ हैं जो अपनी अग्रगतिकी सबल तथा दीखनेमें विनाशक क्रियाके द्वारा उस सबको तोड़ गिराती हैं जो अबतक निर्मित हुआ है तथा नवीन रचनाओंकी उपलब्धिमें सहायक होती हैं। इन्द्र है विशुद्ध प्रज्ञाकी शक्ति, वह मरुतोंका भाई है, अपनी प्रकृतिमें उनका सजातीय है यद्यपि सत्तामें उनसे ज्येष्ठ है। तो इन्द्रको उन मरुतोंकी सहायतासे उस पूर्णताको निष्पन्न करना ही चाहिये जिसके लिये अगस्त्य इतना प्रयत्नशील है, उसे शत्रु नहीं बन जाना चाहिये, उसके मित्र (अगस्त्य)को लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये जो यह भीषण संघर्ष करना पड़ रहा है उसमें इन्द्रको उसका वध नहीं करना चाहिये (देखो, मन्त्र 2)।

इन्द्र उत्तर देता है कि हे अगस्त्य! तुम मेरे मित्र और भाई हो, (आत्मतः अगस्त्य इन्द्रका भाई इस तरह है कि ये दोनों एक परम सत्ताके पुत्र हैं, मित्र इस तरह है कि ये दोनों एक प्रयत्नमें सहयोगी होते हैं तथा

दिव्य प्रेममें, जो देव और मनुष्यको जोड़नेवाला है, ये दोनों एक होते हैं), और इसी मित्रता तथा बन्धुताके सहारे तुम उत्तरोत्तर आनेवाली पूर्णतामें बढ़ते हुए वर्तमान अवस्थातक पहुँच पाये हो; पर अब तुम मेरे प्रति ऐसा व्यवहार कर रहे हो जैसे कि मैं कोई अवर कोटिकी, घटिया दर्जेकी शक्ति हूँ और देवके राज्यमें अपनेको सिद्ध किये बिना ही तुम परे पहुँच जाना चाहते हो। क्योंकि अगस्त्य अपनी बढ़ी हुई विचार-शक्तियोंको सीधे अपने लक्ष्यकी तरफ ही फेरना चाहता है, इसकी जगह कि वह उन्हें विराट् प्रज्ञामें सौंप देवे जिससे कि वह विराट् **प्रज्ञा** अपनी सिद्धियोंको अगस्त्य द्वारा सारी मानवतामें सुसमृद्ध कर सके तथा अगस्त्यको सत्यके मार्गपर अग्रसर कर सके। इसलिये इन्द्र कहता है, अहंभावसे भरा हुआ प्रयत्न रोक दो, महान् यज्ञको ग्रहण करो, यज्ञके प्रधान अंग तथा यात्राके पथ-प्रदर्शकके तौरपर अपने आगे अग्निको, दिव्य शक्तिकी ज्वालाको, प्रज्वलित कर लो। मैं (इन्द्र) और तुम (अगस्त्य), **विराट् शक्ति** और मानव आत्मा, दोनों मिलकर फलसाधक आन्तरिक क्रियाको समस्वरताके साथ विशुद्ध प्रज्ञाके स्तरपर विस्तृत करेंगे, ताकि यह क्रिया वहाँ अपनेको सुसमृद्ध कर सके और पार होकर लक्ष्यको पहुँच सके। क्योंकि जब निम्न सत्ता अपने-आपको उत्तरोत्तर दिव्य क्रियाओंके अर्पण करती चलती है, ठीक तभी मर्त्यकी सीमित तथा अहंभावसे परिपूर्ण चेतना जागृत होकर असीमता तथा अमरत्वकी उस अवस्थातक पहुँच सकती है जो उसका लक्ष्य है, (देखो, मंत्र 3, 4)।

अगस्त्य इस देवकी इच्छाको स्वीकार कर लेता है और उसे आत्म-समर्पण कर देता है। वह इस बातपर सहमत हो जाता है कि वह इन्द्रकी क्रियाओंमें भी **सर्वोच्च** शक्तिको देखे और उसे सिद्ध करे। अपने स्वकीय लोकसे इन्द्र जीवनके उन सब तत्त्वों (वसुओं)पर सर्वोच्च अधिपतिके रूपमें शासन करता है जो मन, प्राण और शरीरके त्रिगुण लोकमें अभिव्यक्त होते हैं, और इसलिये उसमें ऐसी शक्ति है कि वह उस दिव्य **सत्य**की सिद्धिके लिये, जो विश्वमें अपनेको अभिव्यक्त करता है, इस त्रिगुण लोककी रचनाओंको —प्रकृतिकी क्रियामें—उपयोगमें ला सके। साथ ही इन्द्र सर्वोच्च अधिपति है प्रेम और आनंदका जो प्रेम और आनंद उसी (मन, प्राण और शरीरके) त्रिगुण लोकमें व्यक्त होते हैं और इसलिये उसमें ऐसी शक्ति है कि वह इसकी रचनाओंको समस्वरताके साथ—प्रकृतिकी स्थितिमें—यथास्थान स्थापित कर सके। अगस्त्यको जो कुछ भी सिद्धि हुई है उस सबको वह, यज्ञकी हविकी तरह, इन्द्रके हाथोंमें सौंप देता है ताकि इन्द्र उसे अगस्त्यकी चेतनाके सुप्रतिष्ठित भागोंमें धारण करा सके तथा नवीन रचनाओंको संपन्न

करनेके लिये उसे गति दे सके। इन्द्रको एक बार फिर अगस्त्यके जीवनकी ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा-शक्तियों (मरुतों)के साथ मैत्री-संलाप करना है और उस ऋषिके विचारों तथा उस **प्रकाश**के बीचमें, जो हम तक विशुद्ध **प्रज्ञा**के द्वारा आता है, एकता स्थापित करानी है। वह शक्ति (इन्द्र-शक्ति) तब अगस्त्यके अंदर यज्ञकी हवियोंका उपभोग करेगी, वस्तुओंके उस उचित नियमक्रमके अनुसार उपभोग करेगी जो उस पार रहनेवाले सत्यसे व्यवस्थित तथा शासित होता है, (देखो, मंत्र 5)।

दूसरा अध्याय

इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रदाता

ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 4

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥1॥

(सुरूपकृत्नुम्) जो पूर्ण रूपोंका निर्माता है (गोदुहे सुदुघामिव) और गो-दोहकके लिये एक खूब दूध देनेवाली गौके समान है उस [इन्द्र][1] को हम (ऊतये) वृद्धिके लिये (द्यविद्यवि जुहूमसि) दिन प्रतिदिन पुकारते हैं ॥1॥

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद्रेवतो मदः ॥2॥

(नः सवना उप आगहि) हमारी सोम-रसकी हवियोंके पास आ। (सोमपाः) हे सोम-रसोंके पीनेवाले! (सोमस्य पिब) तू सोम-रसका पान कर; (रेवतः मदः) तेरे दिव्य आनंदका मद (गोदाः इत्) सचमुच प्रकाश देनेवाला है ॥2॥

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥3॥

(अथ) तब अर्थात् तेरे सोम-पानके पश्चात् (ते अन्तमानां सुमतीनाम्) तेरे चरम सुविचारोंमेंसे कुछको (विद्याम) हम जान पावें। (मा नः अति ख्यः) उनको हमें अतिक्रमण करके मत दर्शा, (आगहि) आ ॥3॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥4॥

(परेहि) आ जा, (इन्द्रं पृच्छ) उस इन्द्रसे प्रश्न कर (विपश्चितम्) जो स्पष्टदर्शी-मनवाला है, (विग्रम्) बड़ा शक्तिशाली है एवं (अस्तृतम्) अपराभूत है, और (यः ते सखिभ्यः) जो तेरे सखाओंके लिये (वरम् आ) उच्चतर सुख लाया है ॥4॥

---

1. [ ] ऐसे वर्गाकार कोष्ठोंमें दिखाये गये शब्द मूल अंग्रेजी ग्रन्थमें नहीं हैं और वे अनुवादको सुबोध बनानेके लिये जोड़े गये हैं। —अनुवादक

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥5॥

(उत निदः नः ब्रुवन्तु) और हमारे अवरोधक[1] भी हमें कहें कि "नहीं, (इन्द्रे इत् दुवः दधानाः) अपनी क्रियाका आधार इन्द्रपर रखते हुए तुम (अन्यतः चित् निः आरत) अन्य क्षेत्रोंमें भी निकलकर आगे बढ़ते जाओ" ॥5॥

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥6॥

(उत) और (दस्म) हे कार्यसाधक! (अरिः) योद्धा, (कृष्टयः) कर्मके कर्ता[2] (नः सुभगान् वोचेयुः) हमें पूर्ण सौभाग्यशाली कहें; (इन्द्रस्य शर्मणि इत् स्याम) हम इन्द्रकी शांतिमें ही रहें ॥6॥

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन्मन्दयत्सखम् ॥7॥

(आशवे) तीव्रताके लिये (आशुम्) तीव्रको (आ), (मन्दयत्सखम्) अपने सखाको आनंदित करनेवाले [इन्द्र] को (पतयत्) मार्गमें आगे ले आता हुआ तू (ईम् नृमादनं यज्ञश्रियम् आभर) इस यज्ञश्रीको ले आ जो मनुष्यको मदयुक्त कर देनेवाली है ॥7॥

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥8॥

(अस्य पीत्वा) इस [सोम-रस]का पान करके (शतक्रतो) हे सैंकड़ों क्रियाओंवाले! (वृत्राणां घनः अभवः) तू आवरणकर्ताओंका वध कर

---

1. या निन्दक, 'निदः'। 'निद्' धातु, मेरा विचार है, वेद में बंधन, सीमा एवं घेरेके अर्थमें आयी है, और ये अर्थ इसे भाषाविज्ञान द्वारा भी पूर्ण निश्चयात्मकताके साथ प्रदान किये जा सकते हैं। 'निदित' अर्थात् बद्ध और 'निदान' अर्थात् बन्धन-रज्जु, इन दोनों शब्दोंका भी आधार यही धातु है। पर साथ ही इस धातुका अर्थ निन्दा करना भी है। गुह्य कथन की इस अद्भुत शैलीके अनुसार विभिन्न सन्दर्भोंमें कहीं एक अर्थ प्रधान होकर रहता है कहीं दूसरा, पर कहीं भी एक अर्थ दूसरे अर्थ का पूर्ण बहिष्कार नहीं करता।
2. 'अरिः कृष्टयः' का अनुवाद "आर्य लोग" या "रणप्रिय जातियाँ" भी हो सकता है। 'कृष्टि' और 'चर्षणि', जिसका अर्थ सायणने "मनुष्य" किया है, 'कृष्' तथा 'चर्ष्' धातुओंसे बने हैं जिनका मूल अर्थ है 'श्रम, प्रयत्न या श्रमसाध्य कर्म'। इन शब्दोंका अर्थ कहीं-कहीं 'वैदिक कर्म का कर्ता' और कहीं स्वयं 'कर्म' भी हो जाता है।

डालनेवाला हो गया है, और तूने (वाजिनम्) समृद्ध मनको (वाजेषु) उसकी समृद्धियोंमें (प्र आवः) रक्षित किया है ॥8॥

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ।
धनानामिन्द्र सातये ॥9॥

(वाजेषु वाजिनं तं त्वा) अपनी समृद्धियोंमें समृद्ध हुए उस तुझको (इन्द्र शतक्रतो) हे इन्द्र ! हे सैंकड़ों क्रियाओंवाले ! (धनानां सातये) अपने प्राप्त ऐश्वर्योंके सुरक्षित उपभोगके लिये (वाजयामः) हम और अधिक समृद्ध करते हैं ॥9॥

यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥10॥

(यः महान् रायः अवनिः) जो अपने विशाल रूपमें एक दिव्य सुखका धाम है, (सुन्वतः सुपारः सखा) जो सोम-प्रदाताका ऐसा सखा है कि उसे सुरक्षित रूपसे पार कर देता है, (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्रके प्रति गान करो ॥10॥

सायणकी व्याख्या

1. (सुरूपकृत्नुम्) शोभनरूप [वाले कर्मों]के कर्ता, इन्द्रको हम (ऊतये) अपनी रक्षाके लिये (द्यविद्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) बुलाते हैं, (गोदुहे सुदुघाम् इव) जैसे गोदोहकके लिये सुष्ठुदोग्ध्री गायको [कोई बुलाया करता है]।

2. (सोमपाः) हे सोम-पान करनेवाले इन्द्र ! (नः सवना उप आगहि) तू हमारे [तीन] सवनोंमें आ, और (सोमस्य पिब) सोमको पी; (रेवतः मदः) तुझ धनवान्‌की प्रसन्नता (गोदाः इत्) सचमुच गौओंको देनेवाली है, अर्थात् जब तू हमसे प्रसन्न हो जाता है तब निश्चय ही हमें बहुत-सी गौएँ देता है।

3. (अथ) तेरे उस सोम-पानके अनंतर हम, (ते अन्तमानां सुमतीनाम्) जो तेरे अत्यंत समीप हैं ऐसे सुमतियुक्त पुरुषोंके मध्यमें [स्थित होकर] (विद्याम) तुझे जान लें। (नः अति मा ख्यः) तू हमारा अतिक्रमण करके [अन्योंको अपने स्वरूपका] कथन मत कर, [किंतु] (आगहि) हमारे पास ही आ।

4. होता यजमानसे कहता है कि हे यजमान ! (परेहि) तू इन्द्रके पास जा और जाकर (इन्द्रम्) उस इन्द्रसे (विपश्चितम्) मुझ बुद्धिमान् होताके विषयमें (पृच्छ) पूछ [कि मैंने उसकी सम्यक् प्रकारसे स्तुति की है वा नहीं], उस इन्द्रसे जो (विप्रम्) मेधावी है, (अ-स्तृतम्) अहिंसित

है और (यः ते सखिभ्यः) जो तेरे सखाओं [ऋत्विजों]को (वरम्) श्रेष्ठ धन [आप्रयच्छति][1] सब तरफसे प्रदान करता है।

5. (नः) हमारे [अर्थात् हमारे ऋत्विज] (ब्रुवन्तु) कहें [अर्थात् इन्द्रकी स्तुति करें],—(उत) और साथ ही (निदः) ओ निन्दा करनेवाले पुरुषो! तुम [यहाँसे] तथा (अन्यतः चित्) अन्य स्थानसे भी (निः आरत) बाहर निकल जाओ,—[हमारे ऋत्विज] (इन्द्रे इत् दुवः दधानाः) इन्द्रकी सदैव परिचर्या करनेवाले हों।

6. (दस्म) हे [शत्रुओंके] विनाशक! (अरिः उत) हमारे शत्रुतक (नः सुभगान् वोचेयुः) हमें शोभन धनोंका मालिक कहें,—(कृष्टयः) मनुष्य [अर्थात् हमारे मित्र तो ऐसा कहेंगे ही, इसमें कहना ही क्या]; (इन्द्रस्य शर्मणि स्याम इत्) इन्द्रके [प्रसादसे प्राप्त हुए] सुखमें हम अवश्य होवें।

7. हे यजमान! (आशवे) [समस्त सोमयागमें] व्याप्त इन्द्रके लिये (ईम् आभर) इस [सोम]को ला, [जो सोम] (आशुम्) [तीनों सवनोंमें] व्याप्त होनेवाला है, (यज्ञश्रियम्) यज्ञकी संपदा है, (नृमादनम्) मनुष्यों, अर्थात् ऋत्विजों व यजमानोंको हर्षित करनेवाला है, (पतयत्) यज्ञविधियोंमें आनेवाला है, (मन्दयत्सखम्) [यजमानको] आनंदित करनेवाले [इन्द्र]का सखा है।

8. (शतक्रतो) हे अनेक कर्मोंवाले इन्द्र! (अस्य पीत्वा) इस सोमका अंश पीकर तू (वृत्राणां घनः अभवः) वृत्रोंका [अर्थात् वृत्र जिनका मुखिया है ऐसे शत्रुओंका] हन्ता बन गया है, और तूने (वाज़ेषु) रणोंमें (वाजिनम्) अपने योद्धा भक्तकी (प्रावः) पूर्णतया रक्षा की है।

9. (शतक्रतो) हे अनेक कर्मोंवाले या अनेक प्रज्ञाओंवाले इन्द्र! (घनानां सातये) धनोंके संभजनके लिये (वाजेषु) युद्धोंमें (वाजिनं तं त्वा) बलवान्[2] उस तुझको (वाजयामः) हम बहुत सारे अन्नोंसे युक्त करते हैं।

---

1. इति शेषः।

2. देखो कि सायण ८वें मंत्रमें 'वाजेषु वाजिनम्'का अर्थ करता है "रणोंमें योद्धा" और इससे ठीक अगले ही मंत्रमें इसीका अर्थ "युद्धोंमें बलवान्" यह कर देता है। और 'वाजेषु वाजिनं वाजयामः' इस वाक्यांशमें उसने मूल शब्द 'वाज'के ही भिन्न-भिन्न तीन अर्थ कर डाले हैं, "युद्ध", "बल" और "अन्न"। यह सायणकी शैलीकी अत्यधिक असंगतियुक्तताका एक उदाहरणरूप नमूना है।

मैंने यहां दोनों (अपने तथा सायणके) अर्थोंको इकट्ठा दे दिया है ताकि पाठक

10. (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्रके स्तुतिगीत गाओ (यः) जो (रायः अवनिः) धन-दौलतका रक्षक है, (महान्) महान् गुणोंवाला है, (सुपारः) [कर्मोंको] उत्तमताके साथ पूर्ण करनेवाला है, (सुन्वतः सखा) और सोमयाग करनेवाले यजमानका मित्रवत् प्रिय है।

भाष्य

विश्वामित्रका पुत्र ऋषि मधुच्छन्दस् सोम-रसकी हवि लेकर इन्द्रका आवाहन कर रहा है। इन्द्र है प्रकाशमय मनका अधिपति, इन्द्रका आवाहन वह इसलिये कर रहा है कि वह प्रकाशमें वृद्धिगत हो सके। इस सूक्तमें प्रयुक्त सब प्रतीक सामुदायिक यज्ञके प्रतीक हैं। इस सूक्तका प्रतिपाद्य विषय यह है कि इन्द्र आकर सोमका, अमरताके रसका, पान करे और उस सोमपानके द्वारा उसके अंदर बल तथा आनंदकी वृद्धि हो, और उसके परिणामस्वरूप मनुष्यमें प्रकाशका उदय हो जाय जिससे उसके आन्तरिक ज्ञानमें आनेवाली बाधाएँ हट जायँ और वह उन्मुक्त मनके उच्चतम वैभव प्राप्त कर ले।

पर यह सोम क्या वस्तु है, जिसे कहीं-कहीं ग्रीक शब्द अम्ब्रोशिया (Ambrosia)का वाच्य तत्त्व अमृत भी कहा गया है, मानो यह अपने-आपमें अमरताका सार-पदार्थ हो? सोम है उस दिव्य आनन्द किंवा आनन्द-तत्त्वका प्रतीक जिसमेंसे, वैदिक विचारके अनुसार, मनुष्यकी सत्ता उद्भूत हुई है, यह मानसिक जीवन निकला है। एक गुप्त आनंद है जो सत्ताका आधार है, सत्ताको धारण करनेवाला वातावरण या आकाश है, सत्ताका लगभग सार-तत्त्व ही है। इस आनंदके लिये तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा गया है कि यह दिव्य सुखका आकाश है जो यदि न हो तो किसीका भी अस्तित्व न रहे[1]। ऐतरेय उपनिषद्में बताया गया है कि सोम, चंद्र-देवताके रूपमें,

---

दोनों शैलियोंकी तथा दोनोंसे निकलनेवाले परिणामोंकी एक दूसरेके साथ सुगमतासे तुलना कर सकें। जहां कहीं सायणको अर्थ के पूरा करनेके लिये या उसे आसानीसे समझमें आने लायक बनानेके लिये अपनी तरफसे अध्याहार करना पड़ा है उसे मैंने [ ] इस प्रकारके कोष्ठमें प्रदर्शित कर दिया है। मेरी समझमें, एक ऐसा पाठक भी जो संस्कृतसे अपरिचित है, अकेले इसी नमूनेको देखकर, उन युक्तियोंका समर्थन कर सकेगा जिनके आधार पर आधुनिक समालोचक मनको यह युक्तियुक्त जंचता है कि वह यह माननेसे इन्कार कर दे कि वैदिक संहिताकी व्याख्याके लिये सायण एक विश्वसनीय अंतिम प्रमाण है।

1. देखो तै० 2।7—"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।"

विराट् पुरुषके इन्द्रियाधिष्ठित मनसे पैदा होता है और जब मनुष्यकी रचना होती है तब वही चंद्रमा फिर मनुष्यके अंदर इन्द्रियाधिष्ठित मन-रूप होकर अभिव्यक्त हो जाता है।[1] क्योंकि आनंद ही इन्द्रिय-संवेदनके अस्तित्वका हेतु है; या हम यों कह सकते हैं कि सत्ताका जो गुप्त आनंद है उसे भौतिक चेतनाकी परिभाषाओंमें रूपांतरित करनेका एक प्रयत्न ही इन्द्रिय-संवेदन है। उस भौतिक चेतनाको प्रायः 'अद्रि' अर्थात् पहाड़ी, पत्थर या घनीभूत पदार्थके प्रतीकसे निरूपित किया गया है। उसके अंदर दिव्य प्रकाश और दिव्य आनंद दोनों ही छिपे और बंद हुए पड़े हैं और इन्हें वहाँसे मुक्त या निष्कासित किया जाना है। आनंद, रसके रूपमें, सार-तत्त्वके रूपमें, इन्द्रियाधिष्ठित विषयों तथा इन्द्रियानुभूतियोंमें, पृथ्वी-प्रकृतिकी उपजरूप पौधों व वनस्पतियोंमें रखा हुआ है, और इन वनस्पतियोंमें से रहस्यपूर्ण सोमलता सब इन्द्रिय-क्रियाओं तथा उनके सुखभोगोंके पीछे रहने-वाले उस तत्त्वका प्रतीक है जो दिव्य रस प्रदान करता है, जिससे दिव्य रस निचोड़ा जाता है। इस दिव्य रसको इसमेंसे क्षरित करना होता है और एक बार क्षरित हो जाय तो फिर इसे विशुद्ध करना और तीव्र बनाना होता है जबतक कि यह प्रकाशयुक्त, किरणोंसे परिपूर्ण, आशुगतिसे परिपूर्ण, बलसे परिपूर्ण, 'गोमत्', 'आशु', 'युवाकु' न हो जाय। सोमका यह दिव्य रस देवोंका मुख्य भोजन बन जाता है, वे देव सोम-हविके लिये बुलाये जानेपर, आकर आनंदका अपना भाग ग्रहण करते हैं और उस दिव्य आनंदके बलमें वे मनुष्यके अंदर प्रवृद्ध होते हैं, मनुष्यको उसकी उच्चतम शक्यताओंतक ऊँचा उठा देते हैं और उसे दिव्य उच्च अनुभूतियोंको पा सकने योग्य बना देते हैं। जो अपने अंदरके आनंदको हवि बनाकर दिव्य शक्तियोंके लिये अर्पित नहीं कर देते, बल्कि अपने-आपको इन्द्रियों तथा निम्न जीवनके लिये सुरक्षित रखना पसंद करते हैं वे देवोंके पूजक नहीं किंतु पणियोंके पूजक हैं। पणि इन्द्रिय-चेतनाके अधिपति हैं, इस चेतनाकी सीमित क्रियाओंमें व्यवहार करनेवाले हैं, वे रहस्यपूर्ण सोम-रसको नहीं निचोड़ते, विशुद्ध हवि अर्पित नहीं करते, पवित्र गान नहीं गाते। ये पणि ही प्रकाशमयी चेतनाकी दिव्य किरणोंको, सूर्यकी उन जगमगाती गौओंको हमारे पाससे चुरा ले जाते हैं, और उन्हें ले जाकर अवचेतनकी गुफामें,

---

1. देखो ऐत० खण्ड 1-2—"मनसश्चन्द्रमाः" ।...."चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् ।"

भौतिकताकी घनी पहाड़ीमें, बंद कर देते हैं, और देवशुनी सरमा, प्रकाशमय अन्तर्ज्ञान, जब उन गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करते-करते पणियोंकी गुफाके पास पहुँचती है तब उसे भी ये कलुषित कर देते हैं।

पर इस सूक्तमें जो विचार दिया गया है वह हमारी आन्तरिक प्रगतिकी एक विशेष अवस्थासे संबंध रखता है। यह अवस्था वह है जब कि पणियोंका अतिक्रमण किया जा चुका है और 'वृत्र' या 'आच्छादक' भी जो हमसे हमारी पूर्ण शक्तियों तथा क्रियाओंको पृथक् किये रखता है और 'वल' भी जो प्रकाशको हमसे रोके रखता है, पराजित हो चुके हैं। परंतु अब भी कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो हमारी पूर्णताके मार्गमें बाधक बनकर आ खड़ी होती हैं। वे हैं सीमामें बाँधनेवाली शक्तियाँ, अवरोधक या निन्दक, जो यद्यपि समग्ररूपमें किरणोंको छिपा तो नहीं लेते, न बलोंको रोक ही लेते, हैं, पर तो भी हमारी आत्म-अभिव्यक्तिकी त्रुटियोंपर निरंतर बल देकर वे यह यत्न करते हैं कि इस (आत्म-अभिव्यक्ति)का क्षेत्र सीमित हो जाय और वे अबतक सिद्ध हुए आन्तरिक विकासको आगे आनेवाले विकासके लिये बाधक बना देते हैं। तो ऋषि मधुच्छन्दस् इन्द्रका आवाहन कर रहा है कि वह आकर इस दोषको दूर कर दे और इसके स्थानपर एक वृद्धिशील प्रकाशको स्थिर कर दे।

वह तत्त्व जो यहाँ 'इन्द्र' नामसे सूचित किया गया है मनःशक्ति है जो प्राणमय चेतनाकी सीमाओं और धुंधलेपनसे मुक्त है। यह वह प्रकाशमयी प्रज्ञा है जो विचार या क्रियाके उन सत्य और पूर्ण रूपोंको निर्मित करती है जो प्राणके आवेगोंसे विकृत नहीं होते, इन्द्रियोंके मिथ्याभावोंसे प्रतिहत नहीं होते। इसकेलिये यहाँ एक ऐसी गायकी उपमा दी गयी है जो गोदोग्धाको प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली है, दोग्ध्री है। 'गो' शब्दके संस्कृतमें दोनों अर्थ होते हैं, गाय और प्रकाशकी किरण। वैदिक प्रतीकवादियोंने इस द्विविध अर्थका प्रयोग एक दोहरे रूपकको दिखानेके लिये किया है और वह रूपक उनके लिये निरा अलंकार ही नहीं बल्कि उससे अधिक कुछ था, क्योंकि प्रकाश, उनकी दृष्टिमें, विचारका एक उपयुक्त काव्यमय प्रतीक ही नहीं है बल्कि सचमुचमें उसका एक भौतिक रूप भी है। इस प्रकार 'गौएँ' जो दुही जाती हैं, सूर्यकी गौएँ हैं, सूर्य है स्वतःप्रकाशयुक्त और अन्तर्ज्ञानयुक्त मनका अधिपति; या वे गौएँ उषाकी गौएँ हैं, और उषा वह देवी है जो सौर महिमाको अभिव्यक्त किया करती है। ऋषि इन्द्रसे यह कामना कर रहा है कि हे इन्द्र! तू मेरे पास आ और अपनी पूर्णतर क्रियाशीलता द्वारा अपनी किरणोंको अत्यधिक मात्रामें मेरे

ग्रहणशील मनपर डालता हुआ तू मेरे अंदर दिन प्रतिदिन सत्यके इस प्रकाशकी वृद्धि करता जा। (मन्त्र 1)

दिव्य सत्ता और दिव्य क्रियामें रहनेवाला जो आनन्द है उसे आलंकारिक रूपमें सोमरस कहकर वर्णित किया गया है। उसकी हमारे अंदर चेतना-युक्त अभिव्यक्ति होनेसे ही विशुद्ध प्रकाशमय प्रज्ञाकी क्रिया स्थिर और वृद्धिंगत हो जाती है। क्योंकि वह प्रज्ञा इसीपर फूलती-फलती है, उसकी क्रिया अन्तःप्रेरणाका एक मदयुक्त आनंद बन जाती है जिसके द्वारा किरणें प्रचुरताके साथ और उल्लासके साथ प्रवाहित होती हुई अंदर आती हैं। "जब तू आनंदमें होता है तब तेरा मद सचमुच प्रकाशको देनेवाला होता है", **गोदा इद् रेवतो मदः।** (मंत्र 2)

क्योंकि तभी उन बाधाओंको जिन्हें अवरोधक शक्तियाँ अब भी आग्रह-पूर्वक बीचमें डाले हुए हैं, तोड़-फोड़कर, परे जाकर हम ज्ञानके उन अंतिम तत्त्वोंके कुछ अंशतक पहुँच सकते हैं जो प्रकाशमय प्रज्ञाको प्राप्य हैं। सत्य विचार, सत्य संवेदन—यह है 'सुमति' शब्दका पूर्ण अभिप्राय; क्योंकि वैदिक 'मति'में केवल विचार ही नहीं बल्कि मनोवृत्तिके भावमय अंश भी सम्मिलित हैं। 'सुमति' है विचारोंके अंदर प्रकाशका होना; साथ ही यह आत्मामें होनेवाली प्रकाशयुक्त प्रसन्नता और दयालुता भी है। परंतु इस संदर्भमें अर्थका बल सत्य विचारपर है, न कि मनोभावोंपर। तो भी यह आवश्यक है कि सत्य विचारमें प्रगति उस चेतनाके क्षेत्रमें ही प्रारंभ हो जाय जिस चेतनातक हम पहुँचे हुए हों; यह नहीं होना चाहिये कि जरा देरके लिये होनेवाली दीप्तियां और चकाचौंध करनेवाली क्षणिक अभिव्यक्तियाँ हमारे सामने आवें जो हमें अतिक्रमण किये हुए, हमारी शक्तिसे परेकी होनेके कारण अपनेको सत्य रूपमें व्यक्त करनेमें अशक्त रहें और हमारे ग्रहणशील मनको गड़बड़ीमें डालती रहें। इन्द्रको केवल प्रकाशक ही नहीं होना चाहिये, किंतु सत्य विचार-रूपोंका रचयिता, **सुरूप-कृत्नु** भी होना चाहिये। (मंत्र 3)

आगे ऋषि सामुदायिक योगके अपने किसी साथीकी ओर अभिमुख होकर, या संभवतः अपने ही मनको संबोधन करता हुआ, उसे (साथीको या अपने मनको) प्रोत्साहित करता है कि आ, तू इन उलटे सुझावोंकी बाधाको जो तेरे विरोधमें खड़ी की गयी है पार करके आगे बढ़ जा और दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र)से पूछ-पूछकर उस सर्वोच्च सुखतक पहुँच जा जिसे इस प्रज्ञा द्वारा अन्य पहले भी पा चुके हैं। क्योंकि यह वह प्रज्ञा है जो स्पष्टतया विवेक कर सकती है और सब प्रकारकी गड़बड़ी व सब प्रकारके

घुंघलेपनका, जो अबतक भी विद्यमान है, हल निकाल सकती या उसे हटा सकती है। गतिमें तीव्र, प्रचण्ड, शक्तिशाली होती हुई यह, अपनी शक्तिके कारण, प्राणमय चेतनाके आवेगोंकी तरह अपने मार्गोंमें स्खलनको प्राप्त नहीं होती (अस्तृतम्) अथवा संभवतः इस शब्दका अधिक ठीक आशय यह हो सकता है कि अपनी अपराजेय शक्तिके कारण यह प्रज्ञा आक्रमणोंके वशीभूत नहीं होती, वे आक्रमण आच्छादकों (वृत्रों)के हों या उन शक्तियोंके जो सीमामें बाँधनेवाली हैं। (मंत्र 4)

इसके आगे उन फलोंका वर्णन किया गया है जिन्हें पानेकी ऋषि अभीप्सा करता है। इस पूर्णतर प्रकाशके हो जानेसे, जो मानसिक ज्ञानके अंतिम रूपोंके आ जानेपर खुलकर प्रकट हो जाता है, यह होगा कि बाधाकी शक्तियाँ संतुष्ट हो जायँगी, स्वयमेव आगेसे हट जायँगी तथा और अधिक उन्नति और नवीन प्रकाशपूर्ण प्रगतियोंको आनेके लिये रास्ता दे देंगी। फलतः वे कहेंगी, "लो, अब तुम्हें वह अधिकार दिया जाता है जिसे अबतक हम, उचित तौरसे ही, तुम्हें नहीं दे रही थीं। तो अब न केवल उन क्षेत्रोंमें जिन्हें तुम पहले ही जीत चुके हो बल्कि अन्य क्षेत्रोंमें तथा अक्षुण्ण पड़े प्रदेशोंमें भी अपनी विजयशील यात्रा जारी करो। अपनी यह क्रिया पूर्णरूपसे दिव्य प्रज्ञाको समर्पित करो, न कि अपनी निम्न शक्तियोंको। क्योंकि महत्तर समर्पण ही तुम्हें महत्तर अधिकार प्रदान करता है।"

'आरत' शब्द जिसका अर्थ गति करना या यत्न करना है, अपने सजातीय 'अरि', 'अर्य', 'आर्य', 'अरति', 'अरण' शब्दोंकी तरह वेदके केंद्रभूत विचारको अभिव्यक्त करनेवाला है। 'अर्' धातु हमेशा प्रयत्नकी या संघर्षकी गतिको अथवा सर्वातिशायी उच्चताकी या श्रेष्ठताकी अवस्थाको निर्दिष्ट करती है; यह नाव खेना, हल चलाना, युद्ध करना, ऊपर उठाना, ऊपर चढ़ना अर्थोंमें प्रयुक्त की जाती है। तो 'आर्य' वह मनुष्य है जो वैदिक क्रिया द्वारा, आन्तर या बाह्य 'कर्म' अथवा 'अपस्' द्वारा, जो देवोंके प्रति यज्ञरूप होता है, अपने-आपको परिपूर्ण करनेकी इच्छा रखता है। पर यह कर्म एक यात्रा, एक प्रयाण, एक युद्ध, एक ऊर्ध्वमुख आरोहणके रूपमें भी चित्रित किया गया है। आर्य मनुष्य ऊँचाइयोंकी तरफ जानेका यत्न करता है, अपने प्रयाणमें, जो एक साथ एक अग्रगति और ऊर्ध्वारोहण दोनों है, संघर्ष करके अपना मार्ग बनाता है। यही उसका आर्यत्व है, 'अर्' धातुसे ही निष्पन्न एक ग्रीक शब्दका प्रयोग करें तो यही उसका 'अरेटे' गुण है। 'आरत'का अनुवाद अवशिष्ट वाक्यांशके साथ मिलाकर

यह किया जा सकता है कि, "निकल चलो और संघर्ष करके अन्य क्षेत्रोंमें भी आगे बढ़ते जाओ।" (मंत्र 5)

शब्द-प्रतिध्वनियों द्वारा विचार-संबंधोंको सूचित करनेकी सूक्ष्म वैदिक पद्धतिके अनुसार इसी विचारको अगले मंत्रके 'अरिः कृष्टयः' शब्दों द्वारा फिर उठाया गया है। मेरे विचारमें ये 'अरिः कृष्टयः' पृथ्वीपर रहनेवाली कोई आर्य जातियाँ नहीं हैं (यद्यपि यह अर्थ भी संभव है जब कि समूहात्मक या राष्ट्रगत योगका विचार अभिप्रेत हो), बल्कि ये वे शक्तियाँ हैं जो मनुष्यको उसके ऊर्ध्वारोहणमें सहायता देती हैं, ये उसके आध्यात्मिक सबंधु हैं जो उसके साथ सखा, मित्र, बंधु, सहयोगी (सखायः, युजः, जामयः)के रूपमें बँधे हुए हैं, क्योंकि जो उसकी अभीप्सा है वही उनकी अभीप्सा है और उसकी पूर्णता द्वारा वे परिपूर्ण होते हैं। जैसे अवरोधक शक्तियाँ संतुष्ट हो गयी हैं और उन्होंने रास्ता दे दिया है वैसे ही उनको भी संतुष्ट होकर अन्ततः अपने उस कार्यकी पूर्ति घोषित करनी चाहिये जो पूर्ति मानवीय आनंदकी पूर्णता द्वारा संसिद्ध हुई है। और ऐसी दशामें आत्मा इन्द्रकी उस शांतिमें विश्राम पायेगी जो दिव्य प्रकाशके साथ आती है—इन्द्रकी शांति अर्थात् उस पूर्णताप्राप्त मनोवृत्तिकी शांति जो संपिरपूर्ण चेतना और दिव्य आनंदकी ऊँचाइयोंपर स्थित है। (मंत्र 6)

इसलिये दिव्य आनंद वेगयुक्त तथा तीव्र किया जानेके लिये आधारमें उँड़ेला गया है और इन्द्रको, उसकी तीव्रताओंमें सहायक होनेके लिये, समर्पित कर दिया गया है। क्योंकि आन्तरिक संवेदनोंमें अभिव्यक्त यह अगाध आनंद ही वह दिव्य परमानंद प्रदान करता है जिससे मनुष्य या देव सबल होता है। दिव्य प्रज्ञा तब अभीतक अपूर्ण रही अपनी यात्रामें आगे बढ़नेमें समर्थ होगी और देवके मित्रके प्रति अवरोहण करती हुई उसे सोमाहुतिके प्रतिफलके रूपमें आनंदकी नवीन शक्तियाँ प्रदान करेगी। अर्थात् इन्द्र अब और आगे बढ़ सकेगा तथा सोमपानके बदलेमें सखाको ऊपरसे आनेवाला आनंद प्रदान कर सकेगा। (मंत्र 7)

क्योंकि इसी बलको प्राप्त करके मनुष्यस्थ मनने उन सबको नष्ट किया था जो आच्छादक या अवरोधक होकर इसके संकल्प और विचारकी शतगुणित प्रगतियोंमें बाधा डालते थे; इसी बलके द्वारा इसने बादमें उन भरपूर तथा विविध ऐश्वर्योंकी रक्षा की जो पहले हुए युद्धोंमें, 'अत्रियों' और 'दस्युओं'से—अर्थात् उनसे जो अधिगत ऐश्वर्योंको हड़प जाने और लूट लेनेवाले हैं—जीते जा चुके थे। (मंत्र 8)

ऋषि मधुच्छन्दस् अपने कथनको जारी रखता हुआ आगे कहता है

कि यद्यपि वह प्रज्ञा पहलेसे ही इस प्रकार समृद्ध और विविध निधियोंसे पूर्ण है तो भी हम अवरोधकों और वृत्रोंको हटाकर इसकी समृद्धिकी शक्तिको और अधिक वृद्धिगत करना चाहते हैं ताकि हमें निश्चित तथा भरपूर रूपमें अपने ऐश्वर्योंकी प्राप्तियाँ हो सकें। (मंत्र 9)

क्योंकि यह प्रकाश, अपनी संपूर्ण महत्ताकी अवस्थामें सीमा या बाधासे सर्वथा स्वतंत्र यह प्रकाश, आनंदका धाम है; यह शक्ति वह है जो मनुष्यके आत्माको अपना मित्र बना लेती है और इसे युद्धके बीचमेंसे सुरक्षित रूपसे पार कर देती है, यात्राके अन्ततक, इसकी अभीप्साके अंतिम प्राप्तव्य शिखरपर, पहुँचा देती है। (मंत्र 10)

तीसरा अध्याय

इन्द्र और विचार-शक्तियाँ

ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 171

प्रति व एना नमसाहमेमि सूक्तेन भिक्षे सुमतिं तुराणाम् ।
ररणता मरुतो वेद्याभिर्नि हेडो धत्त वि मुचध्वमश्वान् ॥1॥

(एना नमसा) इस नमनके साथ (अहम् वः प्रति एमि) मैं तुम्हारे प्रति आता हूँ, (सूक्तेन) पूर्ण शब्दके द्वारा मैं (तुराणाम् सुमतिं भिक्षे) उनसे सत्य मनोवृत्तिकी याचना करता हूँ जो यात्रामें तीव्र गतिवाले हैं। (मरुतः) हे मरुतो! (वेद्याभिः ररणत) ज्ञानकी वस्तुओंमें आनंद लो, (हेडः) अपना क्रोध (निधत्त) एक तरफ रख दो, (अश्वान्) अपने घोड़ोंको (विमुचध्वम्) खोल दो ॥1॥

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः ।
उपेमा यात मनसा जुषाणा यूयं हि ष्ठा नमस इद् वृधासः ॥2॥

(मरुतः) हे मरुतो! (एष वः स्तोमः) देखो, यह तुम्हारा स्तोत्र है; (नमस्वान्) यह मेरे नमनसे परिपूर्ण है, (हृदा तष्टः) यह हृदय द्वारा रचा गया था, (देवाः) हे देवो! (मनसा धायि) यह मन द्वारा धारण किया गया था, (इमाः उपयात) मेरे इन स्तोत्रोंके पास पहुँचो (मनसा जुषाणाः) और इन्हें मन द्वारा सेवित करो; (हि) क्योंकि (यूयम्) तुम (नमसः) नमनके[1] (इद्) निश्चयपूर्वक (वृधासः स्थाः) बढ़ानेवाले हो ॥2॥

स्तुतासो नो मरुतो मृळयन्तूत स्तुतो मघवा शंभविष्ठः ।
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा ॥3॥

(स्तुतासः मरुतः) स्तुति किये हुए मरुत् (नः मृळयन्तु) हमारे लिये सुखप्रद हों, (उत स्तुतः मघवा) स्तुति किया हुआ ऐश्वर्यका अधिपति

---

1. सायणने यहां सर्वत्र 'नमस्'का वही अपना प्रिय अर्थ 'अन्न' किया है; क्योंकि "प्रणामके बढ़ानेवाले" यह अर्थ, स्पष्ट ही, नहीं हो सकता। इस संदर्भसे तथा अन्य कई संदर्भोंसे यह स्पष्ट है कि यह शब्द नमस्कारके मौलिक अर्थके पीछे अपने साथ एक आध्यात्मिक अर्थ भी रखता है जो यहां साफ तौर पर अपनी मूर्त्त प्रतिमा छोड़कर सामने आ गया है।

[इन्द्र] तो (शंभविष्ठः) पूर्णतया सुख का रचयिता हो गया है। (नः कोम्या वनानि) हमारे वांछनीय आनंद[1] (ऊर्ध्वाः सन्तु) ऊपरकी ओर उत्थित हो जायँ, (मरुतः) हे मरुतो! (विश्वा अहानि) हमारे सब दिन (जिगीषा) विजयेच्छाके द्वारा (ऊर्ध्वा सन्तु) ऊपरकी ओर उत्थित हो जायँ ।।3।।

अस्मादहं तविषादीषमाण इन्द्राद् भिया मरुतो रेजमानः।
युष्मभ्यं हव्या निशितान्यासन् तान्यारे चकृमा मृळता नः ।।4।।

(अस्मात् तविषाद् ईषमाणः) इस महाशक्तिशाली द्वारा अधिकृत हुए (इन्द्राद् भिया रेजमानः अहम्) इन्द्रके भयसे काँपते हुए मैंने (मरुतः) हे मरुतो! (युष्मभ्यं हव्या निशितानि आसन्) जो हवियाँ तुम्हारे लिये तीव्र बनाकर रखी थीं (तानि) उन्हें (आरे चकृम) दूर रख दिया है। (नः मृळत) हमपर कृपा करो ।।4।।

येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम्।
स नो मरुद्भिर्वृषभ श्रवो धा उग्र उग्रेभिः स्थविरः सहोदाः ।।5।।

(येन) जिसके द्वारा (मानासः) मनकी गतियाँ (व्युष्टिषु) हमारे प्रभातकालोंमें (शश्वतीनां शवसा[2]) शाश्वतिक उषाओंकी प्रकाशमयी शक्तिके द्वारा (चितयन्तः) सचेतन और (उस्राः[3]) प्रकाशसे जगमग हो जाती हैं (स वृषभ[4]) उस तूने, हे गौओंके पति! (मरुद्भिः) मरुतोंके

1. 'वन' शब्दके दोनों अर्थ हैं "जंगल" और "सुखभोग" या विशेषणके रूपमें लें तो "सुखभोगके योग्य"। वेदमें प्रायः यह द्विविध अर्थको लिये हुए आता है—हमारी भौतिक सत्ताकी "सुखदायी वृद्धियां", वनानि पृथिव्याः।
2. वेदमें सामर्थ्य, बल, शक्तिके लिये बहुतसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं और उनमेंसे प्रत्येक अपने साथ एक विशेष सूक्ष्म अर्थभेद रखता है। 'शवस्' शब्द प्रायः शक्तिके साथ प्रकाशके अर्थको भी देता है।
3. स्त्रीलिंगमें 'उस्रा' यह शब्द 'गो'के पर्यायवाचीके रूपमें प्रयुक्त हुआ है, जिसके एक साथ दोनों अर्थ हैं, गाय और प्रकाशकी किरण। 'उषा' भी गोमती है अर्थात् किरणोंसे परिवृत या सूर्यकी गौओंसे युक्त। मूल मंत्रमें 'उस्रा'को स्वरसाम्य रखनेवाले एक शब्दके साथ मिलाकर अर्थगर्भित प्रयोग किया गया है 'उस्रा व्युष्टिषु'; यह वैदिक ऋषियों द्वारा प्रयुक्त उन सामान्य युक्तियोंमेंसे एक है जो ऐसे विचार या संबंधको ध्वनित करती हैं जिसे ऋषि स्पष्ट तौरसे खोल देना आवश्यक नहीं समझते।
4. 'वृषभ'का अर्थ है बैल, पुरुष, अधिपति या वीर्यशाली। इन्द्रको सतत रूपसे 'वृषभ' या 'वृषन्' कहा गया है। कहीं यह शब्द अकेला स्वयं प्रयुक्त हुआ है जैसे कि यहां; और कहीं इसके साथ अन्वित (संबद्ध) किसी दूसरे शब्दके साथ, जो इसके साथ गौओं-के विचारको ध्वनित करनेके लिये आता है जैसे "वृषभः मतीनाम्" अर्थात् 'विचारोंका अधिपति', जहां स्पष्ट ही बैल और गौओंका रूपक अभिप्रेत है।

साथ मिलकर (नः श्रवः धाः) हमारे अंदर अन्तःप्रेरित ज्ञान निहित कर दिया है,—उस तूने जो (उग्रः) बलशाली (स्थविरः) स्थिर और (सहोदाः) बलप्रदाता है, (उग्रेभिः) उन बलशालियोंके साथ मिलकर [हमारे अंदर अन्तःप्रेरित ज्ञान निहित कर दिया है] ॥5॥

त्वं पाहीन्द्र सहीयसो नॄन् भवा मरुद्भिरवयातहेळाः।
सुप्रकेतेभिः सासहिर्दधानो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥6॥

(इन्द्र) हे इन्द्र! (त्वम्) तू (सहीयसः) प्रवृद्ध बलवाली (नॄन्[1]) शक्तियोंकी (पाहि) रक्षा कर; (मरुद्भिः अवयातहेळाः भव) मरुतोंके प्रति तेरा जो क्रोध है उसे तू दूर कर दे,—(सासहिः) तू जो शक्तिसे परिपूर्ण है और (सुप्रकेतेभिः) सत्य बोधसे युक्त उन [मरुतों]के द्वारा (दधानः) धारण किया हुआ है। हम (वृजनम् इषं विद्याम) ऐसी प्रबल प्रेरणा प्राप्त करें जो (जीरदानुम्) बाधाओंको वेगपूर्वक छिन्न-भिन्न कर देनेवाली है ॥6॥

भाष्य

यह सूक्त इन्द्र और अगस्त्यके संवादका उत्तरवर्ती सूक्त है और अगस्त्यकी तरफसे कहा गया है। इसमें अगस्त्य मरुतोंको मना रहा, प्रसन्न कर रहा है, क्योंकि उसने उनके यज्ञको शक्ततर देव (इन्द्र)के आदेशसे बीचमें रोक दिया था। अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष रूपसे, विचारकी दृष्टिसे इस सूक्तका संबंध इसी (पहले) मण्डलके 165वें सूक्तके साथ है। यह 165वां सूक्त इन्द्र और मरुतोंका संवादरूप है, जिसमें स्वर्गके अधिपति (इन्द्र)की सर्वोच्चता घोषित की गयी है और इन अपेक्षाकृत अल्प-प्रकाशमान मरुतोंको उसके अधीन शक्तियां स्वीकार किया गया है जो मनुष्योंको इन्द्रसे संबंधित उच्च सत्योंकी तरफ प्रेरित करती हैं। "इनके (मनुष्योंके) चित्रविचित्र प्रकाशवाले विचारोंको अपने प्राणका बल देते हुए इनके अंदर मेरे (मुझ इन्द्रके) सत्योंको ज्ञानमें प्रेरित करनेवाले बन जाओ। जब कर्ता कर्मके लिये क्रियाशील हो जाय और विचारककी प्रज्ञा हमें उसके अंदर रच दे

---

1. प्रतीत होता है कि आरंभमें 'नृ' शब्दका अर्थ 'क्रियाशील', 'वेगवान्' या 'दृढ़' था। हमारे सामने 'नृम्ण' शब्द है जिसका अर्थ बल है, और 'नृतमो नृणाम्' जिसका अर्थ है शक्तियोंमें सबसे अधिक शक्तिशाली। बादमें इसका अर्थ 'पुरुष' या 'मनुष्य' हो गया और वेदमें यह प्रायः उन देवोंके लिये प्रयुक्त हुआ है जो पुरुष-शक्तियां हैं जो प्रकृतिकी शक्तियों पर प्रभुत्व करती हैं, और जिनके मुकाबलेमें स्त्रीलिंग शक्तियां हैं 'ग्ना' या 'गना'।

तब, हे मरुतो! निश्चिततया तुम उस प्रकाशयुक्त द्रष्टा (विप्र)के प्रति गति करने लगो"[1]—ये हैं उस संवादके अंतिम शब्द, उन अल्पतर देवों (मरुतों)को दिया गया इन्द्रका अंतिम आदेश।

ये ऋचाएँ पर्याप्त स्पष्ट तौरपर मरुतोंका आध्यात्मिक व्यापार निश्चित कर देती हैं। मरुत् तत्त्वतः विचारके देवता नहीं, बल्कि शक्तिके देवता हैं, तो भी उनकी शक्तियाँ सफल होती हैं मनके अंदर। साधारण अशिक्षित (अदीक्षित) आर्य पुजारीके लिये ये मरुत् वायु, आँधी और वर्षाकी शक्तियाँ थे। उनके लिये प्रायः आँधी-तूफानके रूपक ही प्रयुक्त किये गये हैं और उन्हें 'रुद्र' अर्थात् उग्र, प्रचण्ड कहा गया है;—यह 'रुद्र' नाम मरुतोंके साथ शक्तिके देवता अग्निको भी दिया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं इन्द्रको मरुतोंमें ज्येष्ठ वर्णित किया गया है,—**इन्द्रज्येष्ठो मरुद्गणः**,—तो भी पहले पहल यही प्रतीत होगा कि ये अपेक्षया वायुके लोकसे संबंध रखते हैं, और वायु है पवन-देवता, वैदिक संप्रदायमें जीवनका अधिपति, प्राण नामसे वर्णित उस जीवन-श्वास या क्रियाशील बलका स्रोत और प्रेरक जो मनुष्यके अंदर वातिक और प्राणमय क्रियाओंसे द्योतित होता है। पर यह मरुतोंके बाह्य रूपका केवल एक भाग है। उग्रताकी ही तरह भ्राजिष्णुता भी उनकी विशेषता है। उनसे संबद्ध प्रत्येक वस्तु तेजोयुक्त है, वे स्वयं, उनके चमकीले शस्त्रास्त्र, उनके स्वर्णिल आभूषण, उनके देदीप्यमान रथ—ये सभी भ्राजमान हैं। न केवल वे वर्षाको, जलोंको, आकाशीय विपुल ऐश्वर्यको नीचे भेजते हैं, और नवीन प्रगतियों तथा नवीन निर्माणोंके लिये मार्ग बनानेके लिये दृढ़-से-दृढ़ वस्तुओंको तोड़ गिराते हैं, बल्कि अन्य देवों, इन्द्र, मित्र, वरुणकी तरह जिनके साथ मिलकर वे इन व्यापारोंको करते हैं, वे भी सत्यके सखा हैं, प्रकाशके रचयिता हैं। इसी लिये ऋषि गौतम राहूगण उनसे प्रार्थना करता है:—

यूयं तत्सत्यशवस आविष्कर्तं महित्वना। विध्यता विद्युता रक्षः॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

ऋग्० 1.86.9,10

"सत्यके तेजोमय बलसे युक्त मरुतो! अपनी शक्तिशालितासे तुम उसे अभिव्यक्त कर दो; अपने विद्युद्-वज्रसे राक्षसको विद्ध कर दो।

1...**मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त एषां भूत नवेदा म ऋतानाम्॥**
आ यद् दुवस्याद् दुवसे न काररस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा।
ओ षु वर्त्त मरुतो विप्रमच्छ...(1.165.13, 14)

आवरण डालनेवाले अंधकारको छिपा दो, प्रत्येक भक्षकको दूर हटा दो, उस प्रकाशको रच दो जिसे हम चाह रहे हैं।"

और एक दूसरे सूक्तमें अगस्त्य उनसे कहता है—

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु घृष्वयः। 1.66.2

"वे अपने साथ (आनंदका) माधुर्य लिये हुए हैं, जैसे कि अपने शाश्वत पुत्रको लिये हों, और अपना खेल खेल रहे हैं,—वे जो ज्ञानकी क्रियाओंमें तेजस्वी हैं।"

इसलिये मरुत् मानस सत्ताकी शक्तियां हैं, ये वे शक्तियां हैं जो ज्ञानमें सहायक होती हैं। स्थिरीभूत सत्य, प्रसृत प्रकाश उनमें नहीं है, उनकी सम्पदा है गति, खोज, विद्युद्दीप्ति, और जब सत्य प्राप्त हो जाय तब उसके पृथक्-पृथक् प्रकाशोंका अनेकविध खेल।

हम देख चुके हैं कि अगस्त्यने इन्द्रके साथ अपने संवादमें एक से अधिक बार मरुतोंकी चर्चा की है। उन्हें इन्द्रका भाई कहा है और यह कहा है कि इन्द्रको अगस्त्यपर जब कि वह पूर्णताके लिये संघर्ष कर रहा है, प्रहार नहीं करना चाहिये। उस पूर्णता-प्राप्तिमें मरुत् उसके (इन्द्रके) उपकरण हैं, और क्योंकि ऐसा है इसलिये इन्द्रको उनका उपयोग करना चाहिये। और समर्पण तथा मैत्रीसंधानकी उपसंहाररूप उक्तिमें अगस्त्य इन्द्रसे प्रार्थना करता है कि तू फिर मरुतोंके साथ संलाप कर और उनके साथ एकमत हो जा ताकि यज्ञ दिव्य सत्यकी क्रिया और नियमक्रममें आगे उस तरफ चल सके जिस तरफ यह चलाया गया है। उस समय अगस्त्यके अंदर जो संकट पैदा हुआ था जिसने उसके मनपर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव छोड़ा उसका स्वरूप एक उग्र संघर्षका था, जिसमें उच्चतर दिव्य शक्ति (इन्द्र)ने अगस्त्य तथा मरुतोंका सामना किया और उनकी रभसपूर्ण प्रगतिका विरोध किया। इस अवसरपर दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र) जो विश्वपर शासन करती है, तथा अगस्त्यके मनकी रभसपूर्ण अभीप्साशक्तियों (मरुतों)के बीचमें परस्पर एक रोष तथा कलह चलता रहा। दोनों ही शक्तियाँ मानवसत्ताको उसके लक्ष्यपर पहुँचाना चाहती हैं। पर उसकी यात्रा, प्रगति वैसे संचालित नहीं होनी चाहिये जैसा कि क्षुद्रतर दिव्य शक्तियाँ (मरुत्) पसंद करती हैं, बल्कि यह वैसे संचालित होनी चाहिये जैसे कि गुप्त दिव्य प्रज्ञाने, जिसे सत्य सदा प्राप्त है, अबतक सत्यकी खोज कर रही अभिव्यक्त प्रज्ञाके लिये ऊर्ध्व स्तर पर दृढ़तया संकल्पित और निश्चित कर रखा है। इसलिये मानवसत्ता (अगस्त्य)का मन बृहत्तर शक्तियोंके लिये एक रणक्षेत्र बना रहा है और अभीतक भी वह उस अनुभूतिके त्रास और भयसे कांप रहा है।

इन्द्रको समर्पण किया जा चुका है, अगस्त्य अब (इस सूक्तमें) मरुतोंसे विनती कर रहा है कि वे मैत्री-संघानकी शर्तें स्वीकार कर लें ताकि उसके आन्तरिक जीवनकी पूर्ण समस्वरता फिरसे स्थापित हो जाय। महान् देव (इन्द्र)के प्रति वह जो समर्पण कर चुका है उस समर्पणभावके साथ वह मरुतोंके पास आता है और उसे उनके तेजोयुक्त सैन्यतक विस्तृत करता है। मानसिक भूमिका तथा उसकी शक्तियोंकी पूर्णता जिसे अगस्त्य चाह रहा है, उनकी निर्मलता, सरलता, सत्यदर्शनकी शक्ति तबतक अधिगत नहीं हो सकती जबतक उच्चतर ज्ञानके प्रति विचार-शक्तियों (मरुतों)के प्रयाणमें तीव्र वेग न आ जाय। पर ज्ञानके प्रति वह गति जब गलत तरीकेसे चलायी गयी, समुचित प्रकारसे प्रकाशमय नहीं हुई, तब वह इन्द्रके जबर्दस्त विरोधके कारण रुक गयी और कुछ समयके लिये अगस्त्यके मनसे पृथक् हो गयी। इस प्रकार बाधा पाकर मरुत् अगस्त्यको छोड़ अन्य यज्ञ-कर्ताओंके पास चले गये हैं; अब अन्यत्र ही उनके देदीप्यमान रथ चमकते हैं, अन्य क्षेत्रोंमें ही उनके वायुवेग घोड़ोंके सुम वज्रनिर्घोष करते हैं। ऋषि उनसे प्रार्थना कर रहा है कि अपना रोष एक तरफ रख दो, एक बार फिर ज्ञानके अनुसरणमें और इसकी क्रियाओंमें आनंद लो; अब और अधिक मुझे छोड़कर परे मत जाओ, अपने घोड़े खोल दो, यज्ञके आसनपर अवतीर्ण हो जाओ और वहाँ अपना स्थान ग्रहण करो, हवियोंका अपना भाग स्वीकार करो (देखो, मंत्र 1)।

वह फिर इन शोभाशाली शक्तियों (मरुतों)को अपने अंदर सुस्थित, दृढ़ करना चाहता है, और इसके लिये वह उनके प्रति जो कुछ अर्पित कर रहा है वह है एक स्तोत्र, वैदिक ऋषियोंका 'स्तोम'। रहस्यवादियोंकी पद्धतिमें, जो भारतीय योगके संप्रदायोंमें कुछ-कुछ बची हुई है, शब्द एक शक्ति है, शब्द रचना किया करता है। क्योंकि रचनामात्र एक अभि-व्यंजन है, उच्चारण है, प्रत्येके वस्तु असीमके गुह्यधाममें पहलेसे ही विद्यमान है, **गुहा हितम्**, और यहाँ वह क्रियाशील चेतना द्वारा केवल व्यक्त रूपमें लायी जानी है। वैदिक विचारके भी कुछ संप्रदाय लोकोंको शब्दकी देवी (वाग्देवी) द्वारा रचित मानते हैं और यह समझते हैं कि ध्वनि प्रथम आकाशीय कंपनके रूपमें रचना की पूर्ववर्ती हुआ करती है। स्वयं वेदमें ही ऐसे संदर्भ मिलते हैं जो पवित्र मंत्रोंके कवितात्मक छन्दों—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती, गायत्री—को उन छन्दों व स्वरोंका प्रतीकभूत कहते हैं जिनमें वस्तुओंकी विश्वव्यापी गति ढाली गयी है।

तो शब्दोच्चारण द्वारा हम रचना करते हैं और मनुष्योंके लिये तो

यह भी कहा गया है कि वे मंत्र द्वारा अपने अंदर देवोंको रचित करते हैं। फिर, जिसे हमने अपनी चेतनाके अंदर शब्द द्वारा रचा है, उसे हम वहाँ शब्द द्वारा इस प्रकार सुस्थापित भी कर सकते हैं कि वह हमारी आत्माका अंग बन जाय और न केवल हमारे आन्तरिक जीवनमें बल्कि बाह्य भौतिक जगत्पर भी प्रभाव डालनेवाला हो जाय। उच्चारण द्वारा हम रचते हैं, स्तोत्र द्वारा स्थापित करते हैं। उच्चारणकी शक्तिके तौरपर शब्दको 'गीः' या 'वचस्' नाम दिया जाता है; स्तोत्रकी शक्तिके तौरपर 'स्तोम'। दोनों ही रूपोंमें इसे 'मन्म' या 'मंत्र' और 'ब्रह्म' ये नाम दिये गये हैं; 'मन्म' या 'मंत्र'का अर्थ है मनके अंदर विचारका व्यक्तीकरण और 'ब्रह्म'का अर्थ है हृदय या आत्माका व्यक्तीकरण। (क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि 'ब्रह्मन्'[1] शब्दका प्रारंभिक अर्थ यही रहा होगा, बादमें यह परमात्मा या विराट् सत्ताके लिये प्रयुक्त होने लगा।)

मंत्रके निर्माणकी पद्धति दूसरी ऋचामें वर्णित की गयी है और इसकी फलसाधकताके लिये जो आवश्यक शर्तें हैं वे भी वहाँ बता दी गयी हैं। अगस्त्य मरुतोंको स्तोम अर्पित करता है, जो एक साथ स्तुति और समर्पण दोनोंका स्तोत्र है। हृदय द्वारा रचा गया यह स्तोम, मन द्वारा संपुष्ट होकर मानस सत्ताके अंदर अपना समुचित स्थान प्राप्त करता है। मंत्र यद्यपि मनके अंदर विचारको अभिव्यक्त करता है तथापि वह अपने तात्त्विक अंशमें बुद्धिकी रचना नहीं है। उसके एक पवित्र तथा फलोत्पादक शब्द होनेके लिये यह आवश्यक है कि वह अन्तःप्रेरणाके रूपमें उस अतिमानस लोकसे आया हो जिसे वेदमें 'ऋतम्' अर्थात् सत्य नाम दिया गया है, और साथ ही वह हृदय द्वारा या प्रकाशमयी प्रज्ञा, मनीषा द्वारा बाह्य चेतनाके अंदर गृहीत हुआ हो। हृदय, वैदिक अध्यात्मविज्ञानमें, भावावेशोंके स्थानतक ही सीमित नहीं है; यह स्वतःप्रवृत्त मनके उस सारे विशाल प्रदेशको समाविष्ट किये हुए है जो हमारे अंदर अवचेतनके अधिक-से-अधिक समीप पहुँचा हुआ है तथा जिसमें से संवेदन, भावावेश, सहजज्ञान, आवेग उठते हैं और वे सब अन्तर्ज्ञान तथा अन्तःप्रेरणाएँ भी उठती हैं जो बुद्धिमें आकार प्राप्त करनेसे पहले इन उपकरणोंमेंसे गुजरकर आती हैं। यह है वेद और वेदान्तका "हृदय", जिसके वाचक शब्द वेदमें 'हृदय', 'हृद्' या 'ब्रह्मन्'

---

1. यह शब्द बृह् (बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति) रूपमें भी पाया जाता है; और ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्राचीनतर रूप बृहन् और ब्रहन् भी रहे होंगे। बहुत संभव है कि ब्रहन् (षष्ठी-ब्रह्नस्) से ही, ग्रीक शब्द फ्रेन, फ्रेनोस् (phren, phrenos) बने हों, जिनका अर्थ है मन।

हैं। उस हृदयके अंदर, मनुष्यकी जैसी वर्तमान अवस्था है उसमें, 'पुरुष' केंद्रभूत होकर आसीन हुआ माना गया है। अवचेतनकी विशालताके समीप उस हृदयमें, सामान्य मनुष्यके अंदर—जो अभीतक उन्नत होकर उस उच्च लोकतक नहीं पहुँचा, जहाँ असीमके साथ संपर्क प्रकाशमय और घनिष्ठ तथा साक्षात् हो जाता है—विराट् आत्माकी अन्तः-प्रेरणाएँ अधिकतम सरलताके साथ प्रविष्ट हो सकती हैं और अत्यधिक तीव्रताके साथ व्यक्तिगत आत्मापर अधिकार पा सकती हैं। इसलिये हृदयकी शक्ति द्वारा ही मंत्र रचित होता है। परंतु इस मंत्रको हृदयके बोधमें ही नहीं अपितु मन (प्रज्ञा)के विचारमें भी ग्रहण तथा धारण करना होता है; क्योंकि विचारका सत्य जिसे शब्दका सत्य अभिव्यक्त करता है तबतक दृढ़तापूर्वक अधिगत नहीं किया जा सकता या तबतक सामान्यतः फलसाधक नहीं हो सकता जबतक प्रज्ञा इसे ग्रहण नहीं कर लेती, बल्कि अंडेकी तरह इसे से नहीं लेती। हृदय द्वारा विरचित होकर यह मन द्वारा सुस्थित किया जाता है।

पर एक और अनुमोदन भी अपेक्षित है। वैयक्तिक मनने स्वीकृति दे दी है, विश्वकी फलसाधक शक्तियोंकी भी स्वीकृति मिलनी चाहिये। मन द्वारा धारण किये गये स्तोत्रके शब्दोंने एक नवीन मानसिक स्थितिके लिये आधार सुरक्षित कर दिया है जिसमेंसे भविष्यमें आनेवाली विचार-शक्तियोंको प्रकट होना है। मरुतोंको आवश्यक तौरपर उन (स्तोत्रके शब्दों)के पास पहुँचना चाहिये तथा उनको अपना आधार बनाना चाहिये, इन विराट् शक्तियोंका जो मन है उसे व्यक्तिगत मनकी रचनाओंको स्वीकृति देनी चाहिये तथा उनके साथ अपने-आपको जोड़ना चाहिये। केवल इसी तरह हमारी आन्तरिक या बाह्य क्रिया अपनी उच्च फलसाधकता प्राप्त कर सकती है।

मरुतोंके पास ऐसा कोई कारण नहीं कि वे अपनी अनुमति देनेसे इन्कार करें या अपने विरोधको और लंबे कालतक जारी रखनेपर आग्रह करें। दिव्य शक्तियाँ स्वयमेव व्यक्तिगत आवेगकी अपेक्षा एक उच्चतर नियमका पालन करती हैं, उनका यह नैसर्गिक स्वभाव है और उनका यह कार्य भी होना चाहिये कि वे मर्त्यकी सहायता करें जिससे वह अमरके प्रति अपना समर्पण कर दे और उस सत्यके, बृहत्के प्रति आज्ञा-पालकताको अपने अंदर बढ़ाये जिसके लिये उसकी मानवीय शक्तियाँ अभीप्सा कर रही हैं (देखो, मंत्र 2)।

इन्द्र स्तुत और स्वीकृत हो चुकनेके बाद अब मर्त्यके साथ अपने संपर्कमें कष्टप्रद नहीं रहा है; दिव्य संस्पर्श अब पूर्णतया शांति और सुखका सृजन

करनेवाला हो गया है। मरुतोंको भी, स्तुत और स्वीकृत हो जानेपर, अपनी हिंसा एक तरफ रख देनी चाहिये। अपने सौम्य रूप धारण करके, अपनी क्रियामें सुखप्रद होकर, आत्माको कष्ट तथा बाधाओंके बीचमेंसे न ले जाते हुए, उन्हें भी शक्तिशाली एवं विशुद्ध-रूपसे उपकारशील सहायक बन जाना चाहिये।

इस पूर्ण समस्वरताके स्थापित हो चुकनेपर, अगस्त्यका योग विजयके साथ अपने लिये निर्दिष्ट किये हुए नवीन तथा सरल मार्गपर चल पड़ेगा। लक्ष्य सर्वदा यह है कि हम जहाँ हैं वहाँसे चढ़कर एक उच्चतर स्तरपर पहुँच जायँ,—उस स्तरपर जो विभक्त तथा अहंभावपूर्ण संवेदन, भावावेश, विचार और क्रियाके सामान्य जीवनकी अपेक्षा उच्चतर है। और यह उत्थान सर्वदा इसी प्रबल संकल्पसे अनुगत होना चाहिये कि जो विरोध करते हैं तथा मार्गमें रुकावट डालते हैं उन सबपर हमें विजय प्राप्त करनी है। पर यह होना चाहिये सर्वाङ्गीण उत्थान। सब सुख (वनानि) जिन्हें मनुष्य पाना चाहता है और मनुष्यकी जागृत चेतनाकी—वेदकी संक्षिप्त प्रतीकात्मक भाषामें कहें तो उसके 'दिनों'की—सभी क्रियाशील शक्तियाँ उस उच्च स्तरतक उठ जानी चाहियें। 'वनानि'से अभिप्रेत हैं वे ग्रहणशील संवेदन जो सब बाह्य विषयोंमें आनंद प्राप्त करना चाहते हैं, जिस आनंदके अन्वेषणके लिये ही उनकी सत्ता है। ये संवेदन भी बहिष्कृत नहीं रखे गये। किसीका भी वर्जन नहीं करना है, सबको दिव्य चेतनाके विशुद्ध धरातलोंतक उठा ले जाना है (देखो, मन्त्र 3)।

पहले अगस्त्यने मरुतोंके लिये दूसरी अवस्थाओंमें हवि तैयार की थी। उसके अंदर जो कुछ भी था जिसे वह इन विचार-शक्तियों (मरुतों)के हाथोंमें रख देना चाहता था उस सबको उसने इसके लिये खोल दिया था कि मरुत् उसमें अपनी गर्भित शक्तिका पूर्णतम उपयोग कर सकें; पर उसकी हविमें दोष होनेके कारण मध्य-मार्गमें ही उसके सामने एक बड़ा शक्तिशाली देव (इन्द्र) शत्रुके तौरपर आ पहुँचा था और केवल भय तथा महान् कष्टके पश्चात् ही अगस्त्यकी आँखें खुली थीं और उसके आत्माने समर्पण कर दिया था। अबतक भी उस अनुभूतिके भावोद्वेगोंसे कांप रहा वह बाध्य कर दिया गया है कि उन क्रियाओंका अब वह परित्याग कर दे जिन्हें उसने ऐसी प्रबलताके साथ तैयार किया था। पर अब वह फिर मरुतोंको हवि देने लगा है, किंतु अबकी बार उसने उस शानदार नामके साथ और भी अधिक प्रबल 'इन्द्रके देवत्व'को जोड़ लिया है। तो मरुतोंको चाहिये कि वे उस पहली हविमें भंग पड़नेके लिये रोष न करें,

बल्कि इस नवीन और अपेक्षाकृत अधिक उचित रूपसे परिचालित कर्मको स्वीकार कर लें (देखो, मंत्र 4)।

अंतिम दो ऋचाओंमें अगस्त्य मरुतोंसे हटकर इन्द्रके अभिमुख होता है। मरुत् तबतक मानवीय मनके प्रगतिशील प्रकाशके प्रतिनिधि रहते हैं जबतक मनकी गतियां अपनी प्रथम धुंधली गतियोंसे, जो अभी-अभी अवचेतनके अंधकारमेंसे बाहर निकली होती हैं, उस प्रकाशमयी चेतनाकी प्रतिमामें रूपांतरित नहीं हो जातीं जिस चेतनाका अधिपति पुरुष, प्रतिनिध्यात्मक पुरुष है इन्द्र। धुंधलेपनसे निकल वे (मनकी गतियाँ) सचेतन हो जाती हैं, संध्याकालीन जैसे अल्प प्रकाशसे प्रकाशित, अर्ध-प्रकाशित या भ्रांतिजनक प्रतिबिंबोंमें परिणत हुई अवस्थासे ऊपर उठ वे इन अपूर्णताओंको अतिक्रान्त कर जाती हैं और दिव्य ज्योतिको धारण कर लेती हैं। यह इतना बड़ा विकास कालमें क्रमशः सिद्ध होता है, मानवीय आत्माके प्रभातोंमें, उषाओंके अविच्छिन्न क्रमिक आगमनके द्वारा सिद्ध होता है। क्योंकि उषा वेदमें मनुष्यकी भौतिक चेतनामें दिव्य प्रकाशके नूतन आगमनोंकी प्रतीकभूत देवी है। वह अपनी बहिन रात्रिके साथ बारी-बारीसे आया करती है; परन्तु वह स्वयं अंधकारमयी भी प्रकाशकी एक जननी है और उषा सर्वदा उसे ही प्रकट करने आया करती है जिसे इस काली भौंओंवाली माता (रात्रि)ने तैयार कर रखा होता है। तो भी यहाँ ऋषि सतत उषाओंका वर्णन करता प्रतीत होता है, प्रतीयमान विश्रामके और अंधकारके इन व्यवधानोंसे विच्छिन्न उषाओंका नहीं। क्रमागत प्रकाशोंके उस सातत्यसे संभूत दीप्यमान शक्तिके द्वारा मनुष्यकी मानसिक सत्ता तीव्रतापूर्वक आरोहण करती हुई पूर्णतम प्रकाश पा लेती है। पर वह बल जो इस रूपांतरको संभव बनाता है और इसका अधिष्ठाता है, सदा ही इन्द्रका पराक्रम होता है। यह (इन्द्र) वह परम प्रज्ञा है जो उषाओंके द्वारा, मरुतोंके द्वारा, अपने-आपको मनुष्यके अंदर उँड़ेल रही है। इन्द्र है प्रकाशमयी गौओंका वृषभ, विचार-शक्तियोंका स्वामी, प्रकाशमान उषाओंका अधिपति।

अब भी इन्द्रको चाहिये कि वह मरुतोंको प्रकाशप्राप्तिके लिये अपने उपकरणके तौरपर प्रयुक्त करे। उनके द्वारा वह द्रष्टाके अतिमानस ज्ञानको प्रतिष्ठित करे। उनकी (मरुतोंकी) शक्ति द्वारा मानवीय स्वभावके अंदर उसकी (इन्द्रकी) शक्ति प्रतिष्ठित होगी और वह (इन्द्र) उस मानवस्वभावको अपनी दिव्य स्थिरता, अपनी दिव्य शक्ति प्रदान कर सकेगा, ताकि वह (मानवस्वभाव) आघातोंसे लड़खड़ा न जाय या प्रबल क्रिया-

शीलताकी बृहत्तर क्रीड़ाको जो हमारी सामान्य क्षमताके मुकाबलेमें अत्यधिक महान् है, धारण करनेमें विफल न हो जाय (देखो, मंत्र 5)।

मरुत् इस प्रकार शक्तिमें प्रबल होकर सदा उच्चतर शक्तिके पथ-प्रदर्शन और रक्षणकी अपेक्षा करेंगे। वे हैं पृथक्-पृथक् विचार-शक्तियोंके अधिपति पुरुष, इन्द्र है इकट्ठा सब विचार-शक्तियोंका अधिपति एक पुरुष। उस (इन्द्र)में वे (मरुत्) अपनी परिपूर्णता तथा समस्वरता पाते हैं। तो अब इस अङ्गी (इन्द्र) तथा इन अंगों (मरुतों)के बीच कलह और विरोध नहीं रहना चाहिये। मरुत् इन्द्रको स्वीकार कर उससे उन वस्तुओंका उचित बोध पा लेंगे जिनका जानना अभीष्ट होगा। वे आंशिक प्रकाशकी चमक द्वारा भ्रांतिमें नहीं पड़ेंगे या सीमित शक्तिसे ग्रस्त होकर लक्ष्यसे बहुत दूर नहीं जा पड़ेंगे। वे इस योग्य हो जायँगे कि इन्द्रकी क्रियाको धारण किये रख सकें, जब कि वह (इन्द्र) उन सबके विरोधमें अपनी शक्ति लगाये जो अब भी आत्माके और उसकी संपूर्णताके बीचमें बाधक होकर खड़े हो सकते हैं।

इस प्रकार इन दिव्य शक्तियोंकी तथा इनकी अभीप्साओंकी समस्वरतामें मानवीयता वह प्रेरणा पा सकेगी जो इस जगत्के सहस्रों विरोधोंको तोड़-फोड़ डालनेमें पर्याप्त सबल होगी और वह मानवीयता, संघटित व्यक्तित्व-वाले व्यक्तिमें या जातिमें, सत्वर उस लक्ष्यकी तरफ प्रवृत्त हो जायगी जिस लक्ष्यकी झांकी तो निरंतर मिला करती है पर तो भी जो उस मनुष्यके लिये भी अभी बहुत दूर ही है जिसे अपने संबंधमें यह प्रतीत होने लगा है कि मैंने तो लक्ष्यको लगभग पा ही लिया है (देखो, मंत्र 6)।

चौथा अध्याय

अग्नि, प्रकाशपूर्ण संकल्प

ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 77

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान् ॥1॥

(कथा अग्नये दाशेम) कैसे हम अग्निको हवि दें? (का देवजुष्टा गीः) कौन-सा देव-स्वीकृत शब्द (भामिने अस्मै) देदीप्यमान ज्वालाके अधिपति इस [अग्नि]के लिये (उच्यते) बोला जाता है? (यः) जो (मर्त्येषु अमृतः) मर्त्योंमें अमर, (ऋतावा) सत्यसे युक्त, (यजिष्ठः होता) यज्ञका साधकतम होता हुआ (देवान् कृणोति इत्) देवोंको विरचित कर देता है ॥1॥

यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम्।
अग्निर्यद् वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति मनसा यजाति ॥2॥

(यः) जो अग्नि (अध्वरेषु होता) यज्ञोंमें 'होता' है, (शंतमः) शांतिसे परिपूर्ण है, (ऋतावा) सत्यसे परिपूर्ण है (तम् उ) उसे तुम अवश्य (नमोभिः) अपने समर्पणों द्वारा (आकृणुध्वम्) अपने अंदर रचो; (यद् अग्निः) जब अग्नि (मर्ताय) मर्त्यके लिये (देवान् वेः) देवोंको अभिव्यक्त[1] करता है, तब (स बोधाति) वह उनका बोध रखता है, और (मनसा यजाति च) मन द्वारा उनका यजन भी करता है, उन्हें हवि भी प्रदान करता है ॥2॥

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते दस्ममारीः ॥3॥

(हि) क्योंकि (स क्रतुः) वह संकल्प है, (स मर्यः) वह बलरूप है, (स साधुः) वह पूर्णताको सिद्ध करनेवाला है, वह (मित्रः न) मित्रकी तरह (अद्भुतस्य रथीः भूत्) परम सत्ताका रथी हो जाता है। (तं प्रथमं दस्मम्) उस सर्वप्रथमके प्रति, उस परिपूर्ण करनेवालेके प्रति (मेधेषु) समृद्धियुक्त यज्ञोंमें (देवयन्तीः आरीः विशः) देवत्वको चाहनेवाली आर्य प्रजाएँ (उपब्रुवते) शब्द उच्चारित करती हैं ॥3॥

---

1 या "देवान् वेः=देवों के अन्दर प्रविष्ट होता है।"

स नो नृणां नृतमो रिशादा अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम् ।
तना च ये मघवानः शविष्ठा वाजप्रसूता इषयन्त मन्म ॥4॥

(नृणां नृतमः) शक्तियोंमें सबलतम और (रिशादाः) विनाशकोंको हड़प जानेवाला (सः अग्निः) वह अग्नि (अवसा) अपनी उपस्थितिके द्वारा (गिरः) शब्दोंको और (धीतिम्) उनके विचारको (वेतु) अभिव्यक्त कर दे,[1] (ये च) और वे जो (तना) अपने विस्तारसे (मघवानः) ऐश्वर्यके अधिपति तथा (शविष्ठाः) सबसे अधिक बलशाली हैं (वाजप्रसूताः [स्युः]) अपने ऐश्वर्यको बिखेरनेवाले हो जायँ, और (मन्म इषयन्त) विचारको अपनी अन्तःप्रेरणा देवें ॥4॥

एवाग्निर्गोतमेभिर्ऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदाः ।
स एषु द्युम्नं पीपयत् स वाजं स पुष्टिं याति जोषमा चिकित्वान् ॥5॥

(एव) इस प्रकार (ऋतावा अग्निः) सत्यसे युक्त अग्नि (गोतमेभिः) गोतमों—प्रकाशके स्वामियों[2]—द्वारा (अस्तोष्ट) स्तुत किया गया है, (जातवेदाः) वह लोकोंको जाननेवाला अग्नि (विप्रेभिः) विप्रों—निर्मलमनों—द्वारा [स्तुत किया गया है]। (स एषु) वह इन [गोतमों या विप्रों]के अंदर (द्युम्नं पीपयत्) प्रकाशकी शक्तिको पोषित करेगा, (स वाजम्) वह समृद्धिको [पोषित करेगा]; (चिकित्वान् सः) बोधयुक्त वह [अपने बोधों द्वारा] (पुष्टिं) पुष्टि और (जोषम्) समस्वरता (आयाति) प्राप्त करेगा ॥5॥

भाष्य

गोतम राहूगण इस सूक्तका ऋषि है, सूक्त अग्निकी स्तुतिमें गाया गया है, अग्नि है दिव्य संकल्प जो विश्वमें कार्य कर रहा है।

'अग्नि' वैदिक देवोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, सबसे अधिक व्यापक

---

1. या "गिरः धीतिं वेतु = शब्दोंमें तथा विचारमें प्रविष्ट हो जाय।"
2. बाहरी अर्थ लें तो 'गोतमेभिः'का अर्थ होगा इस सूक्तका द्रष्टा जो गोतम राहूगण ऋषि है उसके परिवारके व्यक्तियों द्वारा। परंतु हम निरंतर देखते हैं कि मंत्रोंमें जहां ऋषियोंके नाम प्रयुक्त किये गये हैं वहां साथ ही उनका अर्थ बतानेवाले गूढ़ संकेत भी रख दिये गये हैं। इस संदर्भमें 'गोतमेभि ऋतावा, विप्रेभिर्जातवेदाः' इस प्रकार शब्दोंको जोड़कर रखनेसे 'गोतम' कौन हैं इसकी एक असंदिग्ध व्याख्या निकल आती है, अर्थात् गोतम विप्र ही हैं और कोई नहीं, जैसे कि इसी सूक्तकी तीसरी ऋचामें 'तं प्रथमंदेवयन्तीः, दस्मम् आरीः' इस प्रकारकी शब्दयोजनासे यह स्वयमेव व्याख्यात हो जाता है कि आर्य प्रजाएं वे हैं जो 'देवयन्तीः' हैं, देवत्वको चाहनेवाली हैं।

है। भौतिक जगत्में वह सामान्य भक्षक और उपभोक्ता है। साथ ही वह पवित्रकर्ता भी है, जब वह भक्षण करता है और उपभोग करता है तब भी वह पवित्रकर्ता है। यह वह आग है जो तैयार करती है और पूर्णता लाती है; साथ ही यह वह अग्नि है जो सात्म्य करती है और शक्तिकी वह उष्णता है जो रूप बनाती है। यह जीवनकी उष्णता है और वस्तुओंमें रसको, अर्थात् उनकी तात्त्विक सत्ताके सारको और उनके आनंदके सारको उत्पन्न करती है।

इसी तरह वह प्राणका भी संकल्प है, क्रियाशील जीवन-शक्ति है, और उस शक्तिके रूपमें भी वह उन्हीं व्यापारोंको करती है। भक्षण और उपभोग करती हुई, पवित्रीकरण करती हुई, तैयार करती हुई, सात्म्य करती हुई, रूप बनाती हुई वह सदा ऊपरकी तरफ उठती है और अपनी शक्तियोंको 'मरुतों', मनःशक्तियोंके रूपमें परिणत कर देती है। हमारे मनोविकार और धुंधले भावावेग इस अग्निके ज्वलनका धुआँ हैं। केवलमात्र इसीका अवलंब पाकर हमारी सब नाड़ीगत शक्तियाँ अपनी क्रिया करनेमें सुनिश्चितता पाती हैं।

जहाँ वह (अग्नि) हमारी प्राणमय सत्तामें स्थित संकल्प है और क्रियाके द्वारा इसे (प्राणको) पवित्र करता है, वहाँ वह मनमें स्थित संकल्प भी है और अभीप्साके द्वारा मनको निर्मल करता है। जब वह बुद्धिके अंदर प्रविष्ट होता है तब वह अपने दिव्य जन्मस्थान और घरके समीप आ रहा होता है। वह विचारोंको फलसाधक शक्तिकी तरफ ले जाता है; वह सक्रिय शक्तियोंको प्रकाशकी तरफ ले जाता है।

यद्यपि वह सर्वत्र ही जन्मा हुआ है और सभी वस्तुओंमें निवास करता है तथापि उसका दिव्य जन्मस्थान और घर है सत्य, असीमता, वह बृहत् विराट्-प्रज्ञा जहाँ ज्ञान और शक्ति आकर एक हो जाते हैं। कारण, वहाँ समस्त संकल्प वस्तुओंके सत्यके साथ समस्वर होकर रहता है और इसलिये फल-साधक होता है; समस्त विचार उस प्रज्ञाका अंश होकर रहता है जो कि दिव्य नियम है, और इसलिये वह दिव्य क्रियाको पूर्णरूपेण नियमित करने-वाला होता है। 'अग्नि' चरितार्थता प्राप्त करके अपने स्वकीय घरमें—सत्यमें, ऋतमें, बृहत्में—शक्तिमान् हो जाता है। वहीं पहुँचानेके लिये वह (अग्नि) मनुष्यजातिकी अभीप्साको, आर्यकी आत्माको, विराट् यज्ञके मूर्धाको ऊपरकी तरफ ले जा रहा है।

जब एक महान् अतिक्रमण किये जानेकी, मनसे अतिमानसमें संक्रान्तिकी, जो बुद्धि अबतक मनोमय सत्ताकी नेत्री बनी हुई थी उसके एक दिव्य

प्रकाशमें रूपांतरित हो जानेकी प्रथम संभावना होने लगी उस क्षणमें,—जब वैदिक योगके बीचमें आनेवाला ऐसा अति गंभीर और कठिन समय आया उस समय ऋषि गोतम राहूगण अपने अंदर अन्तःप्रेरित शब्द लाना चाह रहा है। वह शब्द उसे तथा अन्योंको उस शक्तिके अनुभव करनेमें सहायता देगा जो अवश्यमेव उस संक्रान्तिको कर देगी और प्रकाशमान समृद्धिकी वह अवस्था ला देगी जिससे वह रूपांतर-कार्य प्रारंभ हो सकेगा।

आध्यात्मिक दृष्टिसे देखें तो वैदिक यज्ञ उस विराट् तथा व्यक्तिगत क्रियाका प्रतीक है जो स्वतः-सचेतन, प्रकाशमान तथा अपने लक्ष्यसे अभिज्ञ हो गयी है। विश्वकी सारी प्रक्रिया अपने स्वरूपसे ही एक यज्ञ है, वह स्वेच्छापूर्वक किया जाय या अनिच्छापूर्वक। आत्मोत्सर्ग करनेसे आत्म-पूर्णताकी प्राप्ति, त्याग करनेसे वृद्धि, यह एक विश्वव्यापक नियम है। यदि कोई आत्मोत्सर्ग करनेसे इन्कार करता है, तो भी वह विश्वकी शक्तियोंका ग्रास तो बनता ही है। "खानेवाला (भोक्ता) स्वयं भी खाया जाता है"[1] यह एक अर्थपूर्ण और भीषण उक्ति है जिसमें उपनिषद्ने विश्वके इस रूपको संगृहीत कर दिया है, और एक दूसरे संदर्भमें मनुष्योंको देवोंके पशु[2] कहा गया है। जब इस नियमको पहचान लिया जाता है और स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है तभी—केवल तभी—इस मृत्युके राज्यको पार किया जा सकता है तथा यज्ञ (त्याग)के कर्मों द्वारा अमरता संभव बनायी तथा प्राप्त की जा सकती है। इसके लिये मानवीय जीवनकी सभी शक्तियाँ तथा संभाव्यताएँ, यज्ञके प्रतीक-रूपमें, विश्वके दिव्य जीवनके प्रति उत्सर्ग कर दी जाती हैं।

ज्ञान, बल और आनंद ये दिव्य जीवनकी तीन शक्तियाँ हैं; विचार और विचार-जनित रचनाएँ, संकल्प और संकल्प-जनित कार्य, प्रेम और प्रेम-जनित समस्वरताएँ ये उनके अनुरूप तीन मानवीय क्रियाएँ हैं जिन्हें ऊपर उठाकर दिव्य स्तरतक पहुँचाया जाना है। सच और झूठ, प्रकाश और अंधकार, वैचारिक उचितता और अनुचितताके द्वंद्व ज्ञानकी गड़बड़ें हैं जो अहंकार-रचित विभागसे पैदा होती हैं; अहंकार-जनित प्रेम और घृणा, सुख और दुःख, हर्ष और पीड़ाके द्वंद्व प्रेमकी गड़बड़ें हैं, आनंदके विकार हैं; सबलता और निर्बलता, पाप और पुण्य, कर्मण्यता और अकर्मण्यताके द्वंद्व संकल्पकी गड़बड़ें हैं जो दिव्य बलको बिखेरनेवाली हैं।

---

1. अहमन्नम्, अन्नमदन्तमधि। तै० उप० 3.10.6
2. पशुरेव स देवानाम्। बृ० उप० 1.4.10

और ये सब गड़बड़ें इसलिये उठती हैं, और यहाँतक कि हमारी क्रियाकी आवश्यक अंग बन जाती हैं, क्योंकि दिव्य जीवनकी ये त्रिविध शक्तियाँ (ज्ञान, बल, प्रेम) विभक्त करनेवाले अज्ञानके कारण एक दूसरेसे अलग हो जाती हैं—ज्ञान तो बलसे, प्रेम दूसरे दोनों (बल और ज्ञान)से। इस अज्ञानको, प्रबल विश्वव्यापक मिथ्यात्वको ही हटाया जाना है। अतः सत्यके द्वारा ही वास्तविक समस्वरताका, अखंड सौख्यका, दिव्य आनंदके अंदर प्रेमकी अंतिम कृतार्थता या परिपूर्णताका मार्ग खुल सकता है। इसलिये जब मनुष्यके अंदरका संकल्प दिव्य तथा सत्यसे अभिव्याप्त, **अमृतः ऋतावा,** हो जाता है केवल तभी वह पूर्णता, जिसकी तरफ हम अग्रसर हो रहे हैं, मानव-जातिके अंदर सिद्ध की जा सकती है।

तो 'अग्नि' वह देव है जिसे मर्त्यके अंदर सचेतन होना है। अन्तःप्रेरित शब्द को उसे ही अभिव्यक्त करना है, इस द्वारवाले प्रासाद (मंदिर) में और इस यज्ञकी वेदीपर सुप्रतिष्ठित करना है।

"किस प्रकार हम अग्निको हवि दें?" ऋषि पूछता है। देनेके लिये यहाँ जो शब्द 'दाशेम' प्रयुक्त हुआ है उसका शाब्दिक अर्थ है 'बांटें'; इसका एक गूढ़ संबंध विवेकके अर्थमें आनेवाली 'दश्' धातुसे भी है। वस्तुतः यज्ञ एक व्यवस्थापन या वितरण है, मानवीय क्रियाओं और सुखोपभोगोंको उन विभिन्न विराट् शक्तियोंके लिये बांटना है, जिनके क्षेत्रमें वे (मानवीय क्रियाएँ और सुखोपभोग) उनके अधिकारसे ही आते हैं। इसी लिये वेदमंत्रोंमें बार-बार देवोंके भागका उल्लेख आया है। यज्ञकर्ताके सामने समस्या यह होती है कि वह अपने कर्मोंकी उचित व्यवस्था कैसे करे, उनका उचित विभाग कैसे करे, क्योंकि यज्ञ हमेशा नियम तथा दिव्य विधान (ऋतु; बादके साहित्यमें जिसे 'विधि' नाम दिया गया है)के अनुसार ही होना चाहिये। मर्त्यके अंदर उच्च नियम तथा सत्यका शासन हो जाय इसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण तैयारी है उचित व्यवस्था करनेका संकल्प होना।

इस समस्याका हल निर्भर करता है उचित उपलब्धिपर और उचित उपलब्धि प्रारम्भ होती है सच्चे आलोक देनेवाले शब्दसे, उस अन्तः-प्रेरित विचारकी अभिव्यक्तिसे जो (विचार) द्रष्टाके पास 'बृहत्'से आता है। इसलिये आगे ऋषि पूछता है, "कौन-सा शब्द अग्निके प्रति उच्चारित किया जाता है?" कौन-सा स्तुत्यात्मक शब्द, कौन-सा उपलब्धिकारक शब्द? दो शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं। पहली यह कि वह शब्द अन्य दिव्य शक्तियोंसे स्वीकृत होना चाहिये, अर्थात्, वह इस प्रकारका होना चाहिये कि उस अनुभूतिकी संभाव्यताको खोल देता हो या उस अनुभूतिके प्रकाशको

अपने अंदर रखता हो जिसके द्वारा दिव्य कार्यकर्ता अर्थात् देव अपने-अपने व्यापारोंको मानवीयताकी बहि:स्थ चेतनाके अंदर अभिव्यक्त करनेके लिये तथा वहाँ अपने उन व्यापारोंमें खुले तौरपर लगे रहनेके लिये प्रेरित किये जा सकें। और दूसरी यह कि वह (शब्द) 'अग्नि'के, देदीप्यमान ज्वालाके इस देवताके, द्विविध स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला होना चाहिये। 'भाम'के दोनों अर्थ हैं, ज्ञानका प्रकाश और कर्मकी ज्वाला। 'अग्नि' एक ज्योति भी है और एक शक्ति भी।

शब्द आता है। **यो मर्त्येषु अमृतः ऋतावा।** 'अग्नि' विशेष रूपसे मर्त्योंमें अमर है। अग्निके द्वारा ही असीमताके अन्य प्रकाशमान पुत्र परमदेवके उस आविर्भाव और आत्म-विस्तार (**देववीति, देवताति**)को सिद्ध करनेमें समर्थ होते हैं जो विराट् तथा मानवीय यज्ञका उद्देश्य भी है और उसकी पद्धति भी है। क्योंकि 'अग्नि' है वह दिव्य संकल्प जो सदा सब वस्तुओंमें उपस्थित है, सदा विनाश कर रहा और रच रहा है, सदा निर्माण कर रहा और पूर्ण कर रहा है, विश्वकी जटिल प्रगतिको सदा सहारा दे रहा है। यही है जो सब मृत्यु और परिवर्तनके बीच स्थिर बना रहता है। यह शाश्वतिक तौरपर और अविच्छेद्य रूपमें सत्य-युक्त है। प्रकृतिके अंतिम धुंधलेपनमें, भौतिकताकी निम्नतम प्रज्ञाशून्यतामें, यह संकल्प ही एक छिपा हुआ ज्ञान है तथा यह इन सब अंधकारपूर्ण गतियोंको, यंत्रचालितकी तरह, दिव्य नियमके अनुसार चलनेके लिये तथा उनकी प्रकृतिका जो सत्य है उसका अनुवर्तन करनेके लिये बाध्य करता है। यही है जो बीजके अनुसार वृक्षको उगाता है और प्रत्येक कर्मको उचित फलसे युक्त करता है। मनुष्यके अज्ञानके अन्धकारमें,—जो भौतिक प्रकृतिके अन्धकारकी अपेक्षा कम है तो भी उससे अधिक बड़ा है,—यह दिव्य संकल्प ही शासन करता है और पथप्रदर्शन करता है, उसकी अंधताके अभिप्रायको तथा उसकी पथभ्रष्टताके उद्देश्यको जानता है और उसके अंदर विराट् मिथ्यात्वकी जो कुटिल क्रियाएँ हो रही हैं उनमेंसे विराट् सत्यकी उत्तरोत्तर अभिव्यक्तिको विकसित करता जाता है। भास्वर देवोंमें अकेला वही बड़ी चमकके साथ प्रज्वलित होता है और रात्रिके अंधकारमें भी वैसे ही पूर्ण आलोक (दर्शनशक्ति)से युक्त रहता है, जैसे कि दिनकी जगमगाहटोंमें। अन्य देव हैं **'उषर्बुधः'**, उषाके साथ जागनेवाले।

इसलिये वह **'होता'** (हवि देनेवाला ऋत्विज्) है, यज्ञके लिये सबलतम या सबसे अधिक योग्य है, वह जो सर्वशक्तिमान् होता हुआ सर्वदा सत्यके नियमका अनुसरण करता है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि 'हव्य'

हमेशा 'कर्म'के अर्थको देता है तथा मन या शरीरका प्रत्येक कर्म यह समझा गया है कि वह विराट् सत्ता और विराट् इच्छाके अंदर अपने प्रचुर ऐश्वर्यमेंसे उत्सर्ग करना है। अग्नि, दिव्य संकल्प, वह है जो हमारे कर्मोंमें हमारे मानवीय संकल्पके पीछे खड़ा रहता है। जब हम सचेतन होकर हवि देते हैं तब वह सामने आ जाता है; यह वह ऋत्विज् है जो सम्मुख निहित (पुरोहित) है, हविका पथप्रदर्शन करता है और इसकी फलोत्पादकताका निर्णायक होता है।

इस स्वतःपरिचालित सत्य द्वारा, इस ज्ञान द्वारा जो विश्वमें एक निर्भ्रान्त संकल्पके रूपमें कार्य कर रहा है, वह मर्त्योंके अंदर देवोंको रच देता है। अग्नि मृत्युसे परिवेष्टित शरीरके अंदर देवत्वकी संभाव्यताओंको आविर्भूत कर देता है; 'अग्नि' उन (संभाव्यताओं)को समर्थ वास्तविक रूप तथा परिपूर्ति (सिद्धि) प्राप्त करा देता है। वह हमारे अंदर अमर देवोंके जाज्वल्यमान रूप रच देता है। (मंत्र 1)

यह कार्य वह इस रूपमें करता है कि वह एक विराट् शक्ति है जो विद्रोह करनेवाली मानवीय सामग्रीपर क्रिया करती है, तब भी क्रिया करती है जब कि हम अपने अज्ञानमें ग्रस्त होकर ऊर्ध्वमुखी अन्तःप्रेरणाका प्रतिरोध करते जाते हैं और, अपने कर्मोंको अहंकारपूर्ण जीवनके प्रति समर्पित करनेके अभ्यस्त होनेके कारण, अबतक भी दिव्य समर्पणको करनेके लिये तैयार नहीं होते या अभीतक कर नहीं सकते। पर अग्नि स्वयं हमारे अंदर विरचित हो जाय यह उसी अनुपातमें होता है जिस अनुपातमें हम अपने अहंभावका दमन करना सीखते हैं और यह सीखते हैं कि प्रत्येक कार्यमें इस अहंभावको विराट् सत्ताके आगे झुकनेके लिये बाध्य करें और कार्यकी छोटी-से-छोटी क्रियाओंमें सचेतन होकर इसे दिव्य संकल्पके सिद्ध करनेमें लगावें। इस प्रकार दिव्य संकल्प मानवीय मनके अंदर साक्षात् उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है और इसे दिव्य ज्ञान से आलोकित कर देता है। इसी प्रकार वह अवस्था प्राप्त की जाती है जिसमें यह कहा जा सकता है कि मनुष्यने अपने परिश्रम द्वारा महान् देवोंको रचा।

'रचने'के लिये संस्कृतका जो शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है वह है 'आ-कृणुष्वम्'। 'कृणुष्वम्'से पहले जो 'आ' उपसर्ग लगा है वह इस विचारको देता है कि बाहरकी किसी वस्तुको अपनेपर खींच लाना है और अपनी स्वकीय चेतनाके अंदर लाकर उसे घड़ना या विरचित करना है। 'आ-कृ' अपने प्रतिलोम 'आ-भू' प्रयोगके अनुरूप है; 'आ-भू' प्रयुक्त होता है उस अवस्थाको बतानेके लिये जब कि देव अमरताके संस्पर्शके साथ मर्त्यके पास

आते हैं और, देवताके दिव्य रूपके मानवताके रूपपर पड़नेसे, वे उस (मर्त्य)के अंदर "होते हैं", "बनते हैं", आकृति पाते हैं। विराट् शक्तियाँ विश्वमें क्रिया करती हैं और वहाँ विद्यमान रहती हैं; मनुष्य उनको अपनेपर लेता है, अपनी स्वकीय चेतनामें उनकी एक प्रतिमा बनाता है और उस प्रतिमाको उस जीवन तथा शक्तिसे समन्वित करता है, जो जीवन और शक्ति सर्वोच्च सत्ताने अपने निजके दिव्य रूपोंके अंदर तथा विश्वशक्तियोंके अंदर फूंके हैं।[1]

जब इस प्रकार 'अग्नि' मर्त्यके अंदर वैसे ही उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है जैसे घरमें 'घरका मालिक'[2] रहता है, तब वह अपनी दिव्यताके वास्तविक स्वरूपमें प्रकट होता है। जब हम अंधकाराच्छन्न होते हैं और सत्य व नियमसे अभिद्रोह कर रहे होते हैं तब हमारी प्रगति एक अज्ञानसे दूसरे अज्ञानमें ठोकरें खाती हुई प्रतीत होती है और दुःख तथा विघ्नसे भरपूर होती है। सत्यके प्रति सतत समर्पणों द्वारा, **नमोभिः**, हम अपने अंदर दिव्य संकल्पकी उस प्रतिमाको रचते हैं जो उपर्युक्त अवस्थाके विपरीत शांतिसे परिपूर्ण होती है, क्योंकि वह निश्चित रूपमें सत्य व नियमसे युक्त होती है। आत्माकी समता[3] जो विश्वव्यापी प्रज्ञाके प्रति समर्पण द्वारा रचित होती है, हमें एक निरतिशय शांति और निर्वृति प्रदान करती है। और क्योंकि वह प्रज्ञा सत्यके सरल मार्गपर रखे गये हमारे सब पगोंकी पथप्रदर्शक होती है, इसलिये उसकी सहायतासे हम सब स्खलनों (दुरितानि)से पार हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, जब अग्नि हमारी मानव-सत्ताके अंदर सचेतन हो जाता है तो उसके साथ यह भी होता है कि हमारे अंदर जो देवोंकी रचना हो रही है वह एक वास्तविक प्रकट वस्तु बन जाती है, परदेके पीछे हो रही वस्तु नहीं रहती। हमारे अंदरका संकल्प वर्धित होते हुए देवत्वके प्रति सचेतन हो जाता है, इस अभिवृद्धिकी प्रक्रियाके प्रति जागृत हो जाता है, इस की दिशाओंको अनुभव करने लगता है। मानवीय कर्म तब बुद्धिपूर्वक संचालित और विश्वशक्तियोंके प्रति अर्पित होकर पहलेकी तरह कोई यंत्रवत् परिचालित, अनिच्छापूर्वक दी गयी या अपूर्ण हवि नहीं

---

1. हिन्दू प्रतिमापूजाका यही वास्तविक आशय और यही वास्तविक कल्पना है, जिसमें इस प्रकार महान् वैदिक प्रतीकोंको भौतिक रूप दे दिया गया है।
2. गृहपति; और 'विश्पति' भी, अर्थात् प्राणीमें अवस्थित स्वामी या राजा।
3. गीताप्रोक्त 'समता'।

रहता; विचारशील और निरीक्षणशील (द्रष्टा) मन भी तब भाग लेने लगता है और उस यज्ञिय संकल्पका उपकरण बन जाता है। (मंत्र 2)

अग्नि सचेतन सत्ताकी शक्ति है, जिसे हम 'संकल्प' नामसे पुकारते हैं, यह संकल्प मन तथा शरीरके व्यापारोंके पीछे क्रिया करता है। अग्नि हमारे अंदर रहनेवाला वह सबल (**मर्यः**, मजबूत, पुरुष) देव है जो अपने बलको सब आक्रामक शक्तियोंके विरोधमें लगाता है, जड़ताको रोकता है, हृदयकी और शक्तिकी प्रत्येक असमर्थताको दूर करता है, पुरुषत्वकी सब न्यूनताओंको निकाल बाहर करता है। अग्नि उस वस्तुको वास्तविक रूप दे देता है, सिद्ध कर देता है जो उसके बिना एक असिद्ध अभीप्सा या निष्फल विचार ही बनी रहती। वह योगका कर्ता (**साधु**) है; अपनी भट्ठीपर काम करता हुआ वह दिव्य शिल्पी हथौड़ेकी चोटें लगा-लगाकर हमारी पूर्णताको गढ़ता है। यहाँ उसके विषयमें कहा गया है कि वह परम सत्ताका रथी बनता है। वह 'परम' और 'अद्‌भुत' जो गति करता है और अपने-आपको "अन्यकी चेतनाके अंदर"[1] सिद्ध करता है,—यहाँ वही शब्द 'अद्‌भुत' प्रयुक्त हुआ है, जो इन्द्र और अगस्त्यके संवादमें आ चुका है,—क्रियाकी लगामोंको पकड़नेवाली रथीरूप इस शक्ति (अग्नि)से ही अपनी उस गतिको संचालित करता है। मित्र भी, जो प्रेम तथा प्रकाशका देवता है, एक ऐसा ही रथी है। क्योंकि प्रेम जब प्रकाशमय हो जाता है तो वह समस्वरताको पूर्ण (सिद्ध) कर देता है जो दिव्य क्रियाका लक्ष्य है। पर साथमें संकल्प तथा प्रकाशके इस देवता (अग्नि)की शक्ति भी अपेक्षित है। शक्ति और प्रेम जब मिल जाते हैं और दोनों ज्ञानकी ज्योतिसे आलोकित होते हैं तब वे जगत्‌में परम देवको पूर्ण (सिद्ध) कर देते हैं।

संकल्प सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है, मुख्य वास्तविक रूप देनेवाली शक्ति है। इसलिये जब मर्त्यजाति सचेतन होकर महान् लक्ष्यकी तरफ मुँह मोड़ती है और, अपनी समृद्धता-प्राप्त शक्तियोंको द्यौके पुत्रोंके लिये समर्पित करती हुई, अपने अंदर दिव्यताको रचनेका यत्न करती है तब वह द्यौके पुत्रोंमें प्रथम और मुख्य अग्निके प्रति ही सिद्धिदायक विचारको उत्थापित करती है, सर्जनकारी शब्दको निर्मित करती है। क्योंकि आर्य वही हैं जो इस कर्मको करते हैं तथा इस प्रयत्नको स्वीकार करते हैं—कर्म जो सब कर्मोंमें बृहत्तम है, प्रयत्न जो सब प्रयत्नोंमें महत्तम है,—

---

1. देखो, ऋग्वेद 1.170 जिसकी व्याख्या इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें आ चुकी है।

और अग्नि है वह शक्ति जो दिव्य क्रियाका आलिंगन करती है और उस क्रिया द्वारा कार्यको परिपूर्ण करती है। वह क्या आर्य है जो दिव्य संकल्पसे, अग्निसे रहित है, उस अग्नि (संकल्प)से जो श्रम तथा युद्धको स्वीकार करता है, कार्य करता और जीतता है, कष्ट सहन करता और विजय प्राप्त करता है? (मंत्र 3)

इसलिये यह संकल्प ही है जो उन सब शक्तियोंको उच्छिन्न कर डालता है जो प्रयत्नको विनष्ट करनेमें लगी होती हैं, यही है जो सब दिव्य शक्तियोंमें सबलतम है, जिसमें परम पुरुषने अपने-आपको प्रतिमूर्त कर रखा है, इसलिये इसे चाहिये कि यह इन मनुष्यरूपी पात्रोंको अपनी साक्षात् उपस्थितिसे कृतार्थ करे। वहाँ यह मनको यज्ञके उपकरणके तौरपर प्रयुक्त करेगा और अपनी उपस्थितिमात्रसे उन अन्तःप्रेरित सिद्धि-दायक शब्दोंको अभिव्यक्त कर देगा जो मानो ऐसे रथ हैं जो देवोंके संचारके लिये रचे गये हैं, और ध्यानशील विचारको यह आलोकित कर देनेवाली वह समझ प्रदान करेगा जो दिव्य शक्तियोंके रूपोंको इसके लिये अनुमति देगी कि वे हमारी जागृत चेतनाके अंदर अपनी बाह्य रूप-रेखा बना लें।

उसके बाद वे अन्य शक्तिशाली देव जो अपने साथ उच्चतर जीवनके ऐश्वर्य लाते हैं,—इन्द्र और अश्विनौ, उषा और सूर्य, वरुण और मित्र और अर्यमा,—अपने उस रचनात्मक विस्तारके साथ मनुष्यके अंदर अपने तेजस्वितम बलोंको धारण कर सकते हैं। वे अपने ऐश्वर्योंको, हमारी सत्ताके गुह्य स्थानोंसे बरसाकर, हमारे अंदर इस प्रकार रच दें कि वे (ऐश्वर्य) हमारे दिनकी तरह प्रकाशमान प्रदेशोंमें उपयोगमें लाये जा सकें और उनकी प्रेरणाएँ दिव्यीकारक विचारको ऊपर दिव्य मनमें तबतक संचालित करती जायँ जबतक कि वह (विचार) अपने-आपको उच्च दीप्तियोंमें रूपांतरित न कर दे। (मंत्र 4)

इस पाँचवें मंत्रके साथ सूक्त समाप्त होता है। इस प्रकार, अन्तः-प्रेरित शब्दोंमें, दिव्य संकल्प, अग्नि, गोतमोंके पवित्र गानों द्वारा स्तुत किया गया है। ऋषि अपने नाम और अपने वंशके नामको एक प्रतीकात्मक शब्दके तौरपर प्रयुक्त कर रहा है; इसमें "प्रकाशमान"के अर्थ में आने-वाला वैदिक 'गो' शब्द विद्यमान है, और 'गोतम'का अर्थ है "पूर्णतः प्रकाश-युक्त"। जो प्रकाशपूर्ण प्रज्ञाके प्रचुर ऐश्वर्यको धारण कर लेते हैं (गोतम बन जाते हैं) उन्हींके द्वारा दिव्य सत्यका स्वामी (अग्नि) समग्र रूपसे प्राप्त किया जा सकता है तथा इस लोकमें, जो एक अपेक्षाकृत क्षुद्र रश्मिका

लोक है, स्तुत और सुस्थित किया जा सकता है,—**गोतमेभिर्ऋतावा**। और जिनके मन शुद्ध हैं, निर्मल और खुले हैं, जो 'विप्र' हैं, उन्हींमें उन महान् जन्मोंका, उन जात लोकोंका सत्य ज्ञान उदित हो सकता है, जो इस भौतिक लोकके पीछे छिपे हैं और जिनमेंसे यह (भौतिक लोक) अपने बलोंको प्राप्त करता और धारण करता है,—**विप्रेभिर्जातवेदाः**।

अग्नि **'जातवेदस्'** है, जातको अर्थात् जन्मों, जात (उत्पन्न) लोकोंको जाननेवाला है। वह पाँचों लोकों[1]को पूर्ण रूपसे जानता है, अपनी चेतनामें वह इस सीमित और पराश्रित भौतिक समस्वरतातक ही सीमित नहीं है। वह तीन उच्चतम अवस्थाओं[2]में, रहस्यमयी गौ[3]के ऊधस्में, चार सींगोंवाले बैल[4]के विपुल ऐश्वर्यमें भी प्रवेश रखता है। उस विपुल ऐश्वर्यमेंसे वह इन 'आर्य' अन्वेषकोंके अंदर प्रकाशको पोषण प्रदान करेगा, उनकी दिव्य शक्तियोंकी प्रचुरताको परिवर्धित करेगा। अपने प्रकाशमय बोधोंकी उस परिपूर्णता और प्रचुरताके द्वारा वह विचारसे विचारको, शब्दसे शब्दको जोड़ता जायगा, जबतक कि मानवीय प्रज्ञा इतनी समृद्ध और समस्वर न हो जायगी कि वह सहार सके और दिव्य विचार बन जाय। (मंत्र 5)

---

1. वे लोक जिनमें क्रमशः भौतिक तत्त्व, प्राण-शक्ति, मन, सत्य और आनन्द सारभूत शक्तियां हैं। वे क्रम से भूः, भुवः, स्वः, महस् और 'जन या मयस्' कहे जाते हैं।
2. दिव्य सत्ता, चैतन्य, आनन्द,—सच्चिदानन्द।
3. अदिति, असीम चेतना, लोकोंकी माता।
4. दिव्य पुरुष, सच्चिदानन्द; तीन उच्चतम अवस्थाएं और चौथा सत्य—ये उसके चार सींग हैं।

पांचवां अध्याय

सूर्य सविता—रचयिता और पोषक

ऋग्वेद, मण्डल 5 सूक्त 81

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥1॥

(विप्राः) प्रकाशपूर्ण मनुष्य (मनः युञ्जते) अपने मनको योजित करते हैं (उत धियः युञ्जते) और अपने विचारोंको योजित करते हैं, उस [सविता] के प्रति योजित करते हैं (विप्रस्य) जो प्रकाशपूर्ण है, (बृहतः) विशाल है और (विपश्चितः) स्पष्ट विचारवाला है। (वयुनावित्) सब दृश्योंको जाननेवाला वह (एकः इत्) अकेला ही (होत्रा विदधे) यज्ञकी शक्तियोंको क्रममें स्थापित कर देता है। (मही) महान् है (सवितुः देवस्य) सविता देवकी, दिव्य रचयिताकी (परिष्टुतिः) सब वस्तुओंमें व्याप्त स्तुति ॥1॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥2॥

(कविः) वह द्रष्टा (विश्वा रूपाणि) सब रूपोंको (प्रति मुञ्चते) अपनेमें धारण करता है, और वह उनसे (द्विपदे चतुष्पदे) द्विगुण और चतुर्गुण सत्ताके लिये (भद्रं प्रासावीत्) भद्रको रचता है। (सविता) वह रचयिता, (वरेण्यः) वह परम वरणीय (नाकं वि-अख्यत्) द्यौको पूर्णतः अभिव्यक्त कर देता है, और (उषसः प्रयाणम् अनु) जब वह उषाके प्रयाणका अनुसरण करता है तब (विराजति) सबको अपने प्रकाशसे व्याप्त कर लेता है ॥2॥

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥3॥

(यस्य प्रयाणम् अनु) जिसके प्रयाणके पीछे-पीछे (अन्ये देवाः इत्) अन्य देव भी (ओजसा) उसकी शक्तिके द्वारा (देवस्य महिमानं ययुः) दिव्यताकी महिमाको पा लेते हैं, (यः) जो वह (महित्वना) अपनी महिमासे (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव प्रकाशके लोकोंको (विममे) माप डालता है, (स देवः सविता) वह दिव्य रचयिता है, (एतशः) बड़ा तेजस्वी है ॥3॥

उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥4॥

(उत) और (सवितः) हे सविता देव! तू (त्रीणि रोचना) तीन प्रकाशमान लोकोंमें (यासि) पहुँचता है; (उत) और तू (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी किरणों द्वारा (समुच्यसि) सम्यक्तया व्यक्त किया गया है; (उत) और तू (रात्रीम्) रात्रिको (उभयतः) दोनों पार्श्वोंसे (परीयसे) घेरे हुए है; (उत) और (धर्मभिः) अपने कर्मोंके नियमों द्वारा, तू (देव) हे देव! (मित्रः भवसि) प्रेमका अधिपति होता है ॥4॥

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे ॥5॥

(उत त्वम् इत्) और तू अकेला ही (प्रसवस्य ईशिषे) प्रत्येक रचना करनेके लिये शक्तिमान् है (उत देव) और हे देव! (यामभिः) गतियों द्वारा तू (पूषा भवसि) पोषक बनता है; (उत) और तू (इदं विश्वम् भुवनं) संभूतियोंके इस संपूर्ण जगत्को (विराजसि) पूर्णतया प्रकाशित करता है। (श्यावाश्वः) श्यावाश्वने (सवितः) हे सवितः! (ते स्तोमम् आनशे) तेरा स्तोम प्राप्त कर लिया है ॥5॥[1]

भाष्य

अपने चर्मकीले गणों (मरुतों) सहित 'इन्द्र', और आर्यके यज्ञको परिपूर्ण करनेवाला दिव्य शक्ति 'अग्नि'—ये दोनों वैदिक संप्रदायके सबसे महत्त्वपूर्ण देव हैं। अग्निसे आरंभ होता है और अग्निपर ही समाप्ति होती है। यही संकल्पाग्नि, जो ज्ञानरूप भी है, मनुष्यके अमरतालक्षी ऊर्ध्वमुख प्रयत्नका प्रारंभ करनेवाला है; इसी दिव्य चेतनाको, जो दिव्य शक्ति भी है, हम अमर्त्य सत्ताके मूल आधारके तौरपर अंतमें पहुँचते हैं। और इन्द्र, स्वर्लोकका अधिपति, हमारा मुख्य सहायक है। यह वह प्रकाशमान प्रज्ञा है जिसमें हमें अपने धुंधले भौतिक मनको रूपांतरित कर देना है ताकि हम दिव्य चेतनाको प्राप्त करनेके योग्य हो जायँ। यह रूपांतर इन्द्र और मरुतोंके द्वारा सिद्ध होता है। मरुत् हमारी पाशविक चेतनाको, जो प्राण-मनके आवेगोंसे बनी होती है, अपने हाथमें लेते हैं, इन आवेगोंको

---

1. अनुवाद मुहावरेदार और साहित्यिक हो तथा मूलमें जो आशय और एकलयता है वह अनुवादमें ठीक वैसे ही आ जाय इसके लिये संस्कृतके शब्दोंको आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तित कर लेनेकी स्वतन्त्रता अपेक्षित है। इसलिए मैंने इन संस्कृतके वाक्यांशोंका अधिक शाब्दिक अनुवाद यहां मन्त्रार्थमें न देकर अपने भाष्यमें दिया है।

अपने प्रकाशोंसे नियन्त्रित करते हैं और इन्हें सत्ताकी पहाड़ीपर स्व:के लोककी तरफ तथा इन्द्रके सत्योंकी तरफ हांक ले जाते हैं। हमारा मानसिक उत्क्रमण इन पाशव सेनाओं, इन "पशुओं"से आरंभ होता है, ज्यों-ज्यों हम आरोहणमें प्रगति करते हैं, ये पशु सूर्यके जगमगाते पशु, 'गाव:', किरणें, वेदकी दिव्य गौएँ, बन जाते हैं। यह है वैदिक प्रतीक-वर्णनाका आध्यात्मिक तात्पर्य।

तो फिर यह सूर्य कौन है जिससे ये किरणें निकलती हैं? वह सत्यका अधिपति है, आलोकप्रदाता—'सूर्य'—है, रचयिता—'सविता'—है, पुष्टि-दायक—'पूषा'—है। उसकी किरणें अपने स्वरूपमें स्वत:प्रकाश ज्ञान (Revelation)की, अन्त:प्रेरणा (Inspiration)की, अन्तर्ज्ञान (Intuition) की, प्रकाशपूर्ण विवेक (luminous discernment) की अतिमानस क्रियाएँ हैं और इन चारोंसे ही उस सर्वातिशायी तत्त्वकी क्रिया निर्मित है जिसे वेदांत 'विज्ञान' कहता है और जिसे वेदमें 'ऋतम्', दिव्य 'सत्य' कहा गया है। परंतु ये किरणें मानवीय मनके अंदर भी अवतरित होती हैं तथा इसके ऊर्ध्वप्रदेशमें प्रकाशमय प्रज्ञाके लोकको, 'स्व:'को निर्मित करती हैं, जिसका अधिपति इन्द्र है। क्योंकि, यह 'विज्ञान' एक दिव्य शक्ति है, कोई मानवीय शक्ति नहीं। मनुष्यका मन स्वत:प्रकाश सत्यसे निर्मित नहीं है, जैसा कि दिव्य मन होता है; यह तो एक इन्द्रियाधिष्ठित मन है जो सत्यको ग्रहण कर तथा समझ[1] तो सकता है, पर सत्यके साथ एकरूप नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानके प्रकाशको कुछ इस तरहसे अपनेको परिवर्तित करके हमारी इस मानवीय बुद्धि (समझ)के अंदर आना है जिससे इस (ज्ञानप्रकाश)के रूप हमारी भौतिक चेतनाकी क्षमताओं और सीमाओंके उपयुक्त हो सकें। और इसे यह करना है कि यह हमारी मानवीय बुद्धिको क्रमश: आगे ले जाकर उसके वास्तविक स्वरूपतक पहुँचा दे, हमारे अंदर मानसिक विकासके लिये उत्तरोत्तर आनेवाली उत्कर्षकी अवस्थाओंको अभिव्यक्त करता जाय। इस प्रकार जब सूर्यकी किरणें हमारी मानसिक सत्ताको निर्मित करनेके लिये यत्न करती हैं, तो वे मनके तीन क्रमिक लोक रचती हैं जो एक दूसरेके ऊपर स्थित होते हैं,—एक तो संवेदनात्मक, सौंदर्यलक्षी और भाव-प्रधान मन, दूसरा विशुद्ध बुद्धि, तीसरा दिव्य प्रज्ञा। मनके इन त्रिविध लोकोंकी परिपूर्णता और संपन्नता सत्ताके केवल विशुद्ध मानसिक लोक[2]में

1. समझ या बुद्धि के लिये वैदिक शब्द है 'धी' अर्थात् वह जो ग्रहण करती है और यथा-स्थान धारण करती है।

2. स्पष्ट ही, हमारी सत्ता का स्वाभाविक लोक मौतिक चेतना है, पर अन्य लोक भी हमारे लिये खुले हैं, क्योंकि हमारी सत्ता का अंश उनमेंसे प्रत्येक में रहता है।

निवास करती है, जहाँ वे (लोक) तीनों आकाशों, **तिस्रो दिवः**,से ऊपर उनकी तीन दीप्तियों, **त्रीणि रोचनानि**के रूपमें जगमगाते हैं। पर उनका प्रकाश भौतिक चेतनापर अवतरित होता है और इसके लोकोंमें, वेदोक्त **'पार्थिवानि रजांसि'**, अर्थात् प्रकाशके पार्थिव लोकोंमें, तदनुरूप रचनाएँ बनाता है। वे पार्थिव लोक भी त्रिगुण हैं, **तिस्रः पृथिवीः**, तीन पृथिवियाँ। और इन सब लोकोंका रचयिता है सविता सूर्य।

इन विविध आध्यात्मिक स्तरोंमेंसे प्रत्येकको एक स्वतंत्र लोक माना गया है, इनके रूपकमें हमें वैदिक ऋषियोंके विचारोंकी एक कुंजी मिल जाती है। मानव-व्यक्ति सत्ताकी एक संगठित इकाई है जो विश्वके रचनाविधानको प्रतिबिंबित करती है। यह अपने अंदर उसी अवस्था-क्रमको और शक्तियोंके उसी खेलको दोहराती है। मनुष्य आधार होकर सब लोकोंको अपने अंदर रखे हुए है, और आधेय होकर वह सब लोकोंमें रखा हुआ है। सामान्यतः ऋषि अमूर्तकी अपेक्षा मूर्त रूपमें वर्णनको अधिक पसंद करते हैं, और इसलिये भौतिक चेतनाको वे भौतिक लोक—भूः, पृथिवी—के नामसे वर्णित करते हैं। विशुद्ध मानसिक चेतनाको वे 'द्यौ' नामसे कहते हैं, जिस द्यौका ऊर्ध्व प्रदेश है 'स्वः' अर्थात् प्रकाशमान मन। मध्यस्थ क्रियाशील, प्राणमय या वातिक चेतनाको वे या तो अन्तरिक्ष (अर्थात् अन्तरालमें दिखायी देनेवाला) या 'भुवः' नाम देते हैं,—यह 'अन्तरिक्ष' या 'भुवः' वे विविध क्रियामय लोक हैं जो पृथिवीके निर्मापक होते हैं।

कारण, ऋषियोंके विचारमें लोक मुख्य रूपसे तो चेतनाकी रचना है, वस्तुओंकी भौतिक रचना यह केवल गौण रूपसे है। लोक 'लोक' है, वह एक प्रकार है जिसमें सचेतन सत्ता अपने-आपको निरूपित करती है, कल्पित करती है। और लोकके रूपोंका रचयिता है कारणात्मक सत्य, जिसे यहाँ सविता सूर्य नामक देवता द्वारा प्रकट किया गया है। क्योंकि, असीम सत्ताके अंदर रहनेवाला कारणात्मक विचार ही है—जो निर्वस्तुक नहीं, किंतु वास्तविक और क्रियामय है,—नियमका, शक्तियोंका, वस्तुओंकी रचनाओंका तथा उनकी संभाव्यताओंके निश्चित रूपोंमें तथा निश्चित प्रक्रियाओं द्वारा कार्यरूपमें परिणत होनेका मूल स्रोत होता है। चूँकि यह कारणात्मक विचार सत्ताकी एक वास्तविक शक्ति है इसलिये इसे सत्यम्, सत्तात्मक सत्य, कहा गया है; चूँकि यह सब क्रियाशीलता तथा रचनाका निश्चायक सत्य है इसलिये इसे ऋतम्, गतिमय सत्य कहा गया है; चूँकि यह अपनी आत्म-दृष्टिमें, अपने क्षेत्रमें तथा अपनी क्रियामें विस्तीर्ण और असीम है इसलिये इसे बृहत्, विशाल या विस्तृत, कहा गया है।

सविता **सत्य** द्वारा 'रचना करनेवाला' है, पर 'रचना करनेवाला' उन अर्थोंमें नहीं जैसे कि कृत्रिम तौरपर कुछ बनाया जाता है या मशीनसे कुछ वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। सविता शब्दमें जो धातु है उसका अर्थ है अंदरसे धकेलना, आगे प्रेरित कर देना या बाहरको निकालना,—इस धातुमें रचनाके अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले सामान्य शब्द 'सृष्टि'का भाव भी है,—और इस प्रकार यह उत्पत्तिके अर्थको देती है। कारणात्मक **विचार**की क्रिया कृत्रिम तौरपर निर्माण नहीं करती, बल्कि **तपस्** द्वारा, अपनी स्वकीय सत्तापर चेतनाके दबाव द्वारा, उसे ही अभिव्यक्त कर देती है जो इसके अंदर छिपा हुआ है, जो संभाव्य रूपमें अप्रत्यक्ष पड़ा है और जो सत्य रूपमें पहलेसे ही **परात्पर**के अंदर विद्यमान है।

होता यह है कि भौतिक जगत्की शक्तियाँ और प्रक्रियाएँ, एक प्रतीकके रूपमें, उस अतिभौतिक क्रियाके सत्योंको दोहराती हैं जिसके द्वारा इस (भौतिक जगत्)का जन्म हुआ है। और चूँकि हमारा आन्तरिक जीवन और इसका विकास उन्हीं शक्तियोंसे और उन्हीं प्रक्रियाओंसे शासित होता है जो भौतिक और अतिभौतिक लोकोंमें एक-सी हैं, इसलिये ऋषियोंने भौतिक प्रकृतिकी घटनाओंको ही आन्तर जीवनके व्यापारोंके लिये प्रतीक रूपसे स्वीकार कर लिया और यह उनका एक कठिन कार्य हो गया कि वे उन आन्तर जीवनके व्यापारोंका एक ऐसी पवित्र कविताकी मूर्त्त भाषामें वर्णन करें जो साथ ही देवोंको इस दृश्य जगत्की शक्तियाँ मानकर की जानेवाली बाह्य पूजाका प्रयोजन भी सिद्ध करे। सौर बल (भौतिक सूर्यकी शक्ति) **सूर्य** देवताका ही भौतिक रूप है, जो देवता **प्रकाश** और **सत्य**का अधिपति है; इस **सत्य** द्वारा ही हम वह **अमरता** प्राप्त कर पाते हैं, जो वैदिक साधनाका अंतिम लक्ष्य है। इसलिये **सूर्य** और **सूर्य**की किरणोंके, उषा और दिन और रात्रिके, तथा प्रकाश व अंधकार इन दो ध्रुवोंके बीचमें गुजरनेवाले मानव जीवनके रूपकको लेकर आर्य द्रष्टाओंने मानवीय आत्माके उत्तरोत्तर वृद्धिशील **प्रकाश**को निरूपित किया है। सो इसी प्रकार अत्रिके परिवारका श्यावाश्व इस सूक्तमें **सविता**की, **रचयिता, पोषक, प्रकाशक**की, स्तुति कर रहा है।

सूर्य सत्यके प्रकाशोंसे मन व विचारोंको आलोकित करता है। वह **विप्र** है, प्रकाशमान है। वह ही अपनेपनके तथा अपनी परिस्थितिके घेरेसे घिरी हुई चेतनामेंसे व्यक्तिगत मानवीय मनको छुड़ाता है और उसकी सीमित गतिको विशाल कर देता है, यह सीमित गति इस मनपर इसलिये थुप गयी है क्योंकि यह अपने निजी व्यक्तिभावमें ही पहलेसे निमग्न या

ग्रस्त है। इसलिये वह **बृहत्** है, विशाल है। पर उसका प्रकाश धुंधला प्रकाश नहीं है, न ही उसकी विशालता अपनेको तथा विषयको गड़बड़, अस्पष्ट तथा द्रवित दृष्टिसे देखनेके कारण बनी होती है; वह तो अपने अंदर वस्तुओंका—उनके समुदायी रूपका तथा उनके अलग-अलग अवयवों और उनके परस्पर-संबंधोंका—स्पष्ट विवेक रखता है। इसलिये वह **विपश्चित्** है, विचारमें स्पष्टता-युक्त है। मनुष्य ज्यों ही इस सौर ज्योतिका कुछ अंश अपनेमें ग्रहण करने लगते हैं त्यों ही वे अपनी संपूर्ण मनोमय सत्ताको और इसकी विचार-सामग्रीको उस सविताके प्रति संयोजित करनेका यत्न करते हैं जो उनके अंदर दिव्य **सूर्य**की सचेतन सत्ता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि वे अपनी सारी धुंधली (तमोग्रस्त) मानसिक अवस्थाको और अपने सारे भ्रांत विचारोंको अपने अंदर अभिव्यक्त हुए इस **प्रकाश**के साथ मानो योजित कर देते हैं, जोड़ते हैं, ताकि वह **प्रकाश** मनके धुंधलेपनको निर्मलतामें परिणत कर दे तथा विचारके भ्रमोंको उन सत्योंमें बदल दे जिन सत्योंको वे (विचार-भ्रम) विकृत रूपमें प्रदर्शित करते हैं। यह जोड़ना ही (**युञ्जते**) उनका **योग** हो जाता है। "वे मनको योजित करते हैं और अपने विचारोंको योजित करते हैं, वे जो कि प्रकाशमान (विप्र) हैं, उस सविताके (अर्थात् उसके प्रति, या इसलिये कि वे उसके अंग बन सकें या उससे संबद्ध हो सकें) जो **प्रकाशमान** (विप्र), **विशाल** (बृहत्), और **स्पष्ट विचारोंवाला** (**विपश्चित्**) है।"[1]

तब वह **सत्यका अधिपति** उसे सौंपी गयी सब मानवीय शक्तियोंको सत्यके नियमोंके अनुसार व्यवस्थित कर देता है; क्योंकि वह मनुष्यके अंदर एकमात्र और सर्वोपरि **शक्ति** हो जाता है जो सब ज्ञान और कर्मको शासित करती है। विरोधी शक्तियोंसे विघ्नित न होता हुआ, वह पूर्ण तौरसे शासन करता है; क्योंकि वह सब अभिव्यक्तियोंको जानता है, उनके कारणोंको समझता है, उनके नियम और पद्धतिसे युक्त होता है, उनको

---

1. "युञ्जते मनः, उत युञ्जते धियः, विप्राः, विप्रस्य—बृहतः—विपश्चितः।" 'विप्रस्य', 'बृहतः', 'विपश्चितः' इनमें विभक्ति षष्ठी है, इसलिये इनका अर्थ होगा 'विप्रके', 'बृहत्के', 'विपश्चित्के'। इसलिये शब्दार्थ करते हुए 'के' ऐसा षष्ठीपरक अर्थ ही किया है, पर आगे कोष्ठ में अर्थ स्पष्ट कर दिया है कि 'विप्र, बृहत्, विपश्चित्के' इसका अर्थ है 'विप्र, बृहत्, विपश्चित्के प्रति'। अथवा, यह वाक्यरचना ऐसी है कि 'विप्रस्य, बृहतः, विपश्चितः'के आगे 'भवितुम्'का अध्याहार करनेसे जो अर्थ निकलता है वही इसका अर्थ होगा कि 'विप्र, बृहत, विपश्चित् का हो सकनेके लिये', अर्थात् इसलिये कि उसके अंग बन सकें या उससे संबद्ध हो सकें।—अनुवादक

उचित परिणामके लिये बाध्य करता है। मनुष्यके अंदर ये यज्ञिय शक्तियाँ (**होत्राः**) सात हैं, जिनमेंसे प्रत्येक क्रमशः मनुष्यकी आध्यात्मिक सत्ताके घटक सात तत्त्वों—अर्थात् शरीर, जीवन (प्राण), मन, विज्ञान (Supermind), आनंद, संकल्प (चित्) और सारभूत सत्ता (सत्)—से संबंध रखती है। इनकी अनियमित क्रिया या मिथ्या संबंध ही, जो मनके अंदर ज्ञानके तमोग्रस्त हो जानेसे पैदा होते हैं और कायम रहते हैं, सब स्खलनों और दुःखोंके, सब पापमय क्रियाओं और पापमय अवस्थाओंके कारण हैं। **ज्ञानका अधिपति सूर्य** इनमेंसे प्रत्येक को यज्ञमें उसके उचित स्थानपर स्थापित कर देता है। "सब दृश्यजातका ज्ञाता अकेला वह यज्ञिय शक्तियोंको क्रममें स्थापित कर देता है", **वि होत्रा दधे वयुनावित् एक इत्।**

इस प्रकार मनुष्य अपने अंदर इस दिव्य **रचयिता**की विशाल और सर्वव्यापी स्तुति पर—वह ऐसा ही है ऐसे दृढ़, श्रद्धापूर्ण कथनपर—जा पहुँचता है। यह इसी संदर्भमें संकेतित कर दिया गया है और अगली ऋचामें तो और भी अधिक स्पष्टताके साथ निर्दिष्ट कर दिया गया है कि इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यकी पूर्ण सत्ताके जगत्की एक उचित और सुखमय रचना होने लगती है—क्योंकि हमारी सारी ही सत्ता एक सतत रचना ही है। "महान् है सविता देवकी व्यापक स्तुति", **महो देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।** (मंत्र 1)

सूर्य द्रष्टा है, प्रकट करनेवाला है। उसका **सत्य** अपने प्रकाशमें वस्तुओंके सब रूपोंको, सब दृग्गोचर विषयोंको और अनुभूतियोंको जिनका बना हुआ हमारा यह जगत् है, तथा विराट् **चेतना**की उन सब आकृतियोंको लिये हुए है जो हमारे अंदर और हमसे बाहर हैं। यह उनके अंदरके सत्यको, उनके अभिप्रायको, उनके प्रयोजनको, उनके औचित्य तथा ठीक प्रयोगको प्रकट करता है। यज्ञकी शक्तियोंको समुचित प्रकारसे क्रममें स्थापित करता हुआ यह हमारी समग्र सत्ताके नियमके तौरपर भद्रको रचता या पैदा करता है। क्योंकि सभी वस्तुएँ अपनी सत्ताका कोई समुचित कारण रखती हैं, अपना उत्तम उपयोग और अपना उचित आनंद रखती हैं। जब वस्तुओंके अंदर यह सत्य पा लिया जाता है और उपयोगमें ले आया जाता है तब सब वस्तुएँ आत्माके लिये भद्र पैदा कर देती हैं, इसका आनंद बढ़ा देती हैं, इसके ऐश्वर्यको विशाल कर देती हैं। और यह दिव्य क्रान्ति दोनोंके अंदर होती है, निम्न भौतिक सत्ताके अंदर (**द्विपदे**) तथा अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण उस आन्तरिक जीवनके अंदर (**चतुष्पदे**), जो अपनी अभिव्यक्तिके लिये इस (भौतिक जीवन)का उपयोग करता

है।[1] "वह द्रष्टा सब रूपोंको धारण करता है, वह द्विगुण (द्विपद)के लिये और चतुर्गुण (चतुष्पद)के लिये भद्रको प्रकट कर देता है (रच देता या अभिव्यक्त कर देता है)", **विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः, भद्रं प्रासावीद् द्विपदे चतुष्पदे।**

इस नवीन रचनाकी पद्धति सूक्तके शेष भागमें वर्णित की गयी है। **सूर्य**, रचयिता बनकर, परम वरणीय बनकर, हमारी मानवीय चेतनामें उस (चेतना)के छिपे हुए दिव्य शिखरको विशुद्ध मनके स्तरोंपर अभिव्यक्त कर देता है और हम इस योग्य हो जाते हैं कि अपनी भौतिक सत्ताकी पृथिवीपरसे ऊपरकी ओर देख सकें और हम **अज्ञान**रूपी रात्रिके अंधकारोंसे छूट जाते हैं। वह, प्राकृतिक सूर्यकी तरह, **उषा**के प्रयाणका अनुसरण करता है तथा हमारी सत्ताके सब प्रदेशोंको, जिनके ऊपर इसका प्रकाश पड़ता है, यह आलोकित कर देता है; क्योंकि इससे पहले कि स्वयं **सत्य**, अति-मानस तत्त्व, इस निम्न सत्तापर अधिकार पा ले, हमेशा मानसिक प्रकाशका पहले आना अपेक्षित होता है। "वह रचयिता, वह परम स्पृहणीय, सारे द्यौको अभिव्यक्त कर देता है, और उषाकी अग्रमुख गति (प्रयाण)के बाद उसके अनुसार अनुगमन करता हुआ व्यापक रूपमें प्रकाशित हो उठता है", **वि नाकमख्यत् सविता वरेण्यः, अनु प्रयाणमुषसो विराजति।** (मंत्र 2)

अन्य सब देव सूर्यके इस प्रयाणमें उसके पीछे-पीछे आते हैं और वे उसके प्रकाशकी शक्ति द्वारा उसकी **बृहत्ता**को पा लेते हैं। अभिप्राय यह कि जब मनुष्यके अंदर **सत्य** और **प्रकाश**का विस्तार हो जाता है तब उसके साथ-साथ अन्य सब दिव्य शक्तियाँ या दिव्य संभाव्यताएँ भी उसके अंदर विस्तारित हो जाती हैं; आदर्श अतिमानस तत्त्व (विज्ञान)के बल द्वारा वे उचित सत्ता, उचित क्रिया और उचित ज्ञानकी वही असीम विशालता पा लेती हैं। **सत्य** जब अपनी विशालतामें होता है तब सबको असीम और विराट् **जीवन**के रूपोंमें ढाल देता है, सीमित वैयक्तिक सत्ताको हटाकर उसके स्थानपर इन्हें ला देता है, भौतिक चेतनाके लोकोंको जिन्हें इसने सविता बनकर रचा था, उनकी वास्तविक सत्ताके स्वरूपोंमें पूर्णतया सुव्यवस्थित कर देता है। यह भी हमारे अंदर एक रचना ही है, यद्यपि असलमें यह केवल उसे व्यक्त करता है जो पहलेसे ही विद्यमान है पर हमारे अज्ञानके अंधकारसे ढका हुआ है,—ठीक उसी तरह जैसे कि भौतिक

---

1. "द्विपदे" और "चतुष्पदे" शब्दोंके प्रतीकवादकी इससे भिन्न व्याख्या भी की जा सकती है। यहाँ इस विषयमें विवाद उठावें तो वह बहुत अधिक स्थान ले लेगा।

पृथिवीके प्रदेश अंधकारके कारण हमारी आँखोंसे छिपे होते हैं, पर तब प्रकट हो जाते हैं जब सूर्य अपने प्रयाणमें उषाका अनुसरण करता है और एक-एक करके उन पार्थिव प्रदेशोंको दृष्टिके आगे मापता चलता है। "जिसके प्रयाणका अनुसरण करते हुए अन्य देव भी, उसकी शक्ति द्वारा, दिव्यताकी महत्ता पा लेते हैं। दीप्तिमान् वह सविता देव अपनी महत्ता द्वारा प्रकाशके पार्थिव लोकोंको पूरे तौरसे माप देता है", **यस्य प्रयाणमनु अन्ये इद् ययुः, देवाः देवस्य महिमानम् ओजसा। यः पार्थिवानि विममे स एतशः, रजांसि देवः सविता महित्वना॥** (मंत्र 3)

परंतु इतना ही नहीं कि यह दिव्य सत्य केवल हमारी भौतिक या पार्थिव चेतनाको ही इसकी पूरी क्षमता तक आलोकित करता है और इसे पूर्ण क्रियाके लिये तैयार कर देता है, बल्कि यह विशुद्ध मनके तीन प्रकाशमान लोकों (**त्रीणि रोचना**)को भी व्याप्त करता है; यह हमारे अंदर संवेदनों और भावोद्वेगोंको, प्रज्ञाको, अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धिको सब दिव्य संभाव्यताओंके संस्पर्शमें ले आता है और उच्चतर शक्तियोंको उनकी सीमासे तथा भौतिक जगत्के साथ उनके सतत संपर्कसे छुड़ाता हुआ यह हमारी समस्त मानसिक सत्ताको परिपूरित कर देता है। इसकी क्रियाएँ अपनी पूर्णतम अभिव्यक्तिको पा लेती हैं; वे सूर्यकी किरणों द्वारा, अर्थात् हमारे अंदर व्यक्त हुए दिव्य अतिमानस तत्त्व (विज्ञान)की पूर्ण दीप्ति द्वारा, पूर्ण सत्यके जीवनमें आकर इकट्ठी हो जाती हैं। "और हे **सवितः**! तू तीन प्रकाशमान लोकोंमें जाता है, और तू **सूर्य**की किरणों द्वारा पूरे तौरसे अभिव्यक्त किया गया है (या, किरणों द्वारा एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है)", **उत यासि सवितः त्रीणि रोचना, उत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।**

तब यह होता है कि **अमरता**का, प्रकाशित हुए **सच्चिदानंद**का, उच्च साम्राज्य इस लोकमें पूरे तौरसे चमक उठता है। इस अतिमानस स्वतः-प्रकाशकी ज्योतिमें उच्च और निम्नका वैर शांत हो जाता है। **अज्ञान, रात्रि**, हमारी पूर्ण सत्ताके दोनों पार्श्वोंमें प्रकाशित हो उठती है, न कि केवल एक पार्श्वमें जैसी कि वह हमारी वर्तमान अवस्थामें है, यह उच्च साम्राज्य **आनंद**के तत्त्वमें पहलेसे ही घोषित है और वह आनंदका तत्त्व हमारे लिये **प्रेम** और **प्रकाश**का तत्त्व है जिसका प्रतिनिधित्व मित्र देवता करता है। **सत्य**का **देवता** (सविता) जब अपने-आपको पूर्ण देवत्वमें प्रकट करता है, तो वह **आनंदका देवता** (मित्र) हो जाता है। उसकी सत्ताका नियम, उसकी क्रियाओंको नियमित करनेवाला तत्त्व, प्रेमका रूप धारण करता

हुआ देखा जाता है; क्योंकि ज्ञान तथा क्रियाके उचित व्यवस्थामें आ जानेपर प्रत्येक ही वस्तु यहाँ भद्र, ऐश्वर्य, आनंदके रूपोंमें परिवर्तित हो जाती है। "और तू रात्रिको दोनों पार्श्वोंसे घेर लेता है, और हे देव! तू अपनी क्रियाके नियमोंसे मित्र बन जाता है", **उत रात्रीमुभयतः परीयसे, उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः।** (मंत्र 4)

दिव्य सत्ताका सत्य अंततः अकेला हमारे अंदर सब रचनाओंका एकमात्र अधिपति हो जाता है; और अपने सतत अभ्यागमनों द्वारा या अपनी निरंतर प्रगतियों द्वारा वह **रचयिता पोषक** बन जाता है, **सविता पूषा** बन जाता है। वह एक सतत, उत्तरोत्तर प्रगतिशील रचनाके द्वारा हमें तबतक समृद्ध करता चलता है, जबतक कि वह हमारी संभूतिके (जो कुछ हुआ है उसके) समस्त लोक (**विश्वं भुवनम्**)को आलोकित नहीं कर देता। हम बढ़ते हुए पूर्ण, विराट्, असीम हो जाते हैं। इस प्रकार अत्रिकुलका श्यावाश्व सविताको अपनी सत्ताके अंदर एक ऐसे आलोकप्रदाता सत्यके रूपमें स्तुत—सुस्थापित—कर लेनेमें सफल हो सका है जो रचयिता है, प्रगतिशील है, मनुष्यका पोषक है,—जो मनुष्यको अहंभावकी सीमामेंसे निकालकर विश्वव्यापक बना देता है, सीमितसे हटाकर असीम कर देता है। "और तू अकेला ही रचनाके लिये शक्ति रखता है; और हे देव! तू गतियों द्वारा पोषक बनता है, और तू इस समस्त लोकको (**भुवनम्**, शाब्दिक अर्थ है 'संभूतिको') पूर्णतः प्रकाशित कर देता है। श्यावाश्वने, हे सवितः! तेरे स्तवनको प्राप्त कर लिया है", **उत ईशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत्, उत पूषा भवसि देव यामभिः। उत इदं विश्वं भुवनं विराजसि, श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे॥**

छठा अध्याय

दिव्य उषा

ऋग्वेद, मण्डल 3 सूक्त 61

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥1॥

(उषः) हे उषा! (वाजेन वाजिनि) हे सारतत्त्वके भण्डारसे समृद्धिशालिनि! (प्रचेताः) प्रचेता तू, (गृणतः) जो तुझे अभिव्यक्त करता है उसके (स्तोमं) स्तोमका, स्तोत्र-वचनका (जुषस्व) सेवन कर, (मघोनि) हे विपुलवैभवसपन्ने! (देवि) हे देवि! (पुराणी युवतिः) तू पुरातन होती हुई भी सदा युवती है, (पुरंधिः) तू बहुत विचारोंवाली होकर (व्रतम् अनुचरसि) अपने क्रिया-नियमका पालन करती हुई चलती है, (विश्ववारे) हे सब वरोंको धारण करनेवाली! ॥1॥

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णाः[1] पृथुपाजसो ये ॥2॥

(देवि उषः) हे दिव्य उषा! (अमर्त्या विभाहि) अमृत हो चमक उठ, (चन्द्ररथा) आनंदपूर्ण प्रकाशके अपने रथमें बैठी हुई और (सूनृताः ईरयन्ती) सत्यकी आनंदमयी वाणियोंको प्रेरित करती हुई। (त्वा सुयमासः अश्वाः आवहन्तु) सुनियन्त्रित घोड़े तुझे यहाँ ले आवें, (ये हिरण्यवर्णाः पृथुपाजसः) जो रंगमें सोने जैसे चमकीले तथा गति व शक्तिमें विशाल और महान् हैं ॥2॥

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या वयुत्स्व ॥3॥

(उषः) हे उषा! तू (विश्वा भुवनानि प्रतीची) सब लोकोंके सम्मुख होकर (ऊर्ध्वा तिष्ठसि) ऊपर खड़ी होती है (अमृतस्य केतुः) और उनके

---

1. श्रीअरविन्दने यहां इस पदको प्रथमाका बहुवचन माना है और 'अश्वाः'के विशेषणके रूपमें इसका अर्थ किया है। वेदके पदपाठमें यह 'हिरण्यवर्णाम्' इस प्रकार पठित है, अर्थात् द्वितीयाका एकवचन है और उषा (त्वा)का विशेषण है। पदपाठके अनुसार मन्त्रके उत्तरार्द्धका अर्थ होगा—महान् और विशाल शक्तिवाले सुनियन्त्रित अश्व स्वर्णाभ मास्वरवर्ण तुझ उषाको यहां ले आवें।—अनुवादक

लिये अमरताका दर्शन है। (समानम् अर्थं चरणीयमाना) एक सम क्षेत्रपर गति करती हुई तू, (नव्यसि) हे नूतन-दिन-रूप! (चक्रम् इव आ ववृत्स्व) उनपर पहियेकी तरह घूम ॥3॥

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।
स्वर्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद् दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः ॥4॥

(मघोनी) अपने प्रचुर ऐश्वर्यसे परिपूर्ण (उषाः) उषा (स्यूम अव चिन्वती इव) मानो सिये हुए चोगेको उतारती हुई, (स्वसरस्य पत्नी) आनन्दमयकी पत्नीके रूपमें (याति) विचरती है। (स्वर् जनन्ती) 'स्वः'को उत्पन्न करती हुई, (सुदंसाः) अपनी क्रियामें पूर्णतायुक्त, (सुभगा) अपने भोगोंमें पूर्णतायुक्त वह (आ दिवः अन्तात्) द्युलोकके छोरसे लेकर (आ पृथिव्याः) पृथिवीके किनारेतक (पप्रथे) विस्तृत होती है ॥4॥

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥5॥

(वः) तुम (देवीम् उषसं) देवी उषाका (अच्छ) अच्छी तरह स्वागत करो, (विभातीम्) जब वह तुम्हारे प्रति विस्तृत रूपसे प्रकाशमान होती है। (वः) तुम (नमसा) उसके प्रति समर्पणके द्वारा (सुवृक्ति) अपने पूर्ण बलको (प्रभरध्वं) बाहर निकालो। (मधुधा) मधुरताको स्थापित करती हुई वह, (ऊर्ध्वं दिवि) ऊपर द्युलोकमें (पाजः) जो बल है उसका (अश्रेत्) आश्रय लेती है; वह (रोचना) प्रकाशमान लोकोंको (प्ररुरुचे) अच्छी तरह जगमगा देती है और (रण्वसंदृक्) परमानन्दका दृश्य उपस्थित करनेवाली है ॥5॥

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥6॥

(दिवः अर्कैः) द्युलोकके प्रकाशनों द्वारा वह उषा (ऋतावरी) सत्यके धारण करनेवाली [के रूपमें] (आ अबोधि) अनुभवकी जाती है, देखी जाती है; और (रेवती) आनन्दपूर्ण होकर वह (रोदसी) द्यावापृथिवीमें (चित्रं) चित्रविचित्र प्रकाशसे युक्त (आ अस्थात्) आती है। (अग्ने) हे अग्नि! (विभातीम् आयतीम् उषसं) चमकती हुई आती उषासे (भिक्षमाणः) माँगता हुआ तू (वामं द्रविणम्) आनन्दके पदार्थको (एषि) पा लेता है ॥6॥

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥7॥

(ऋतस्य, उषसाम् बुध्ने) **सत्य**के आधारमें, उषाओंके आधारमें (इषण्यन्) अपनी प्रेरणओंको प्रवर्तित करता हुआ (वृषा) उनका **स्वामी** (मही रोदसी) विशाल द्यावापृथिवीमें, द्यावापृथिवीकी **विशालतामें** (आविवेश) प्रविष्ट होता है। (मित्रस्य वरुणस्य मही माया) **मित्र**की, **वरुण**की महती प्रज्ञा (चन्द्रा इव) मानो सुखपूर्ण प्रकाशसे युक्त होकर (भानुं) ज्योतिको (पुरुत्रा विदधे) नानाविध रूपसे व्यवस्थित करती है ॥7॥

भाष्य

सूर्य सविता अपना प्रकाश फैलानेका कार्य तभी करता है जब कि पहले **उषा**का उदय हो चुका होता है। एक अन्य सूक्तमें वर्णन किया गया है कि निरन्तर आनेवाली उषाओंकी प्रकाशमय शक्तिके द्वारा मनकी गतियाँ सचेतन और चमकीली होती गयीं। वेदमें सर्वत्र ही **द्यौ**की पुत्री **उषा**का यही व्यापार बतलाया गया है। अन्य देवताओंकी जागृतिकी, कार्यशीलताकी और वृद्धिकी यह माध्यम है; वैदिक सिद्धि प्राप्त करनेकी यह—उषाका उदय—पहली शर्त है। इसके बढ़ते हुए प्रकाशको पाकर मनुष्यकी सम्पूर्ण प्रकृति विशद, निर्मल हो जाती है; इसके द्वारा वह (मनुष्य) **सत्य**को पहुँचता है, इसके द्वारा वह परम पदका उपभोग करता है। ऋषियों द्वारा वर्णित दिव्य उषाके उदयनका मतलब उस दिव्य **प्रकाश**का निकल आना है जो एकके बाद एक आवरणके पर्देको हटाता जाता और मनुष्यके क्रिया-कलापमें प्रकाशमय देवत्वको प्रकट करता जाता है। इसी प्रकाशमें **कर्म** किया जाता है, यज्ञ चलाया जाता है और इसके अभीष्ट फल मानव-जाति द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।

निस्सन्देह ऐसे सूक्त अनेक हैं जिनमें **उषा**के भौतिक रूपके उज्ज्वल, सुन्दर, सजीव वर्णन द्वारा उषा देवीका यह आन्तरिक सत्य छिप जाता है, पर महान् ऋषि विश्वामित्रके इस सूक्तमें वैदिक उषाकी आध्यात्मिक प्रतीकता प्रारम्भसे अन्ततक स्पष्ट दिखायी देती है, खुले तौरपर प्रकट की गयी है, विचारके ऊपरी तलपर विद्यमान है। वह उषासे कहता है, 'हे उषः, हे अपने सारतत्त्वके समृद्ध भण्डारवाली! प्रचेता तू उसके स्तोमका सेवन कर जो तुझे अभिव्यक्त करता है, हे तू! जो विपुलतायुक्त है'। 'प्रचेता' यह शब्द तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाला 'विचेता' शब्द, ये वैदिक भाषा-सरणिके पारिभाषिक शब्द हैं; इनका आशय उन्हीं विचारोंके अनुरूप प्रतीत होता है जिन्हें आगे चलकर वैदान्तिक भाषामें 'प्रज्ञान और विज्ञान' शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। प्रज्ञान वह चेतना है जो सब

वस्तुओंको अपने निरीक्षणके सम्मुख आनेवाले विषयोंके रूपमें जानती है; दिव्य मनके अंदर यह वस्तुओं-संबंधी वह ज्ञान है जो उनका स्रोत, उनका स्वामी और साक्षि-रूप होता है। विज्ञान वह ज्ञान है जो वस्तुओंके सत्यके साथ एक प्रकारकी एकताके स्थापन द्वारा चेतनामें उन्हें धारण करता है, उनके अंदर प्रविष्ट होता और उन्हें व्याप्त करता है। सो उषाको ज्ञानकी शक्तिके रूपमें ऋषिके प्रकाशकारक विचार तथा शब्दको व्याप्त करना है, सेवन करना है—ज्ञानकी एक ऐसी शक्तिके रूपमें कि मनुष्यमें अभिव्यक्तिके लिये विचार और शब्द द्वारा मनके सम्मुख जो कुछ भी रखा जाता है उसके सत्यको वह जानती है, उसकी प्रचेता है। यह ध्वनित किया गया है कि ऋषिका स्तोम, उषःस्तोत्र पूर्ण और विपुल होगा; क्योंकि उषा **'वाजेन वाजिनी'** है, **'मघोनी'** है, उसके सारतत्त्वका भंडार समृद्ध है, उसके पास सब प्रकारकी प्रचुरता और विपुलता है।

यह उषा देवी अपने प्रगति-पथपर सदा एक दिव्य क्रियाके नियमके अनुसार चलती है। वे विचार बहुतसे हैं जिन्हें वह इस प्रगतिमें साथ लाती है; पर उसके पग जमकर पड़ते हैं और सब वांछनीय वस्तुएँ, सब वर—आनंदके वर, दिव्य अस्तित्वके आशीर्वाद—उसके हाथोंमें हैं। यह पुरातन और सदातन है, उस **प्रकाश**की उषा है जो आदिकालसे चला आ रहा है, अद्रः **'पुराणी'** है, पर अपने आगमनमें वह सदा युवती है, सदा नई है, उस आत्माके लिये जो उसे ग्रहण करता है नित्य नई है। (देखो, मंत्र 1)

उसे चारों ओर चमक उठना है, उसे जो दिव्य **उषा** है, अमर अस्तित्वके प्रकाशके रूपमें, मनुष्यके अंदर **सत्य** और **आनंद**की वाणियों या शक्तियोंको (**सूनृताः**) जगाते हुए चमक उठना है (**सूनृताः**—यह एक शब्द है जो सत्य और सुखमय इन दोनों भावोंको इकट्ठा प्रकट करता है); क्योंकि क्या उसकी गतिका रथ इकट्ठा प्रकाश और सुखका रथ नहीं है? क्योंकि फिर, **'चंद्ररथा'**में आया चंद्र शब्द (जिसका अर्थ चंद्रमाका देवता अर्थात् **सोम** भी होता है जो मनुष्यके अंदर बरसनेवाले अमृतके आनंदका—**आनंद** और **अमृत**का—अधिपति है) दोनों, प्रकाशमय और सुखमय, अर्थोंको प्रकट करता है। और इसे लानेवाले घोड़े पूरी तरह नियंत्रित होने चाहियें—'घोड़े' यह रूपक है उन वातिक (स्थूल प्राणकी) शक्तियोंके लिये जो हमारी सब क्रियाओंको सहारा देती और आगे बढ़ाती हैं। सुनहले, चमकीले रंगवाले इन घोड़ोंका स्वभाव होना चाहिये अपनी संकेंद्रित प्रकाशमयतामें विद्यमान ज्ञानकी क्रियाशीलताका, उज्ज्वल

ज्ञानक्रियाका,[1] (क्योंकि इस प्राचीन प्रतीकवादमें रंग निदर्शक होता है गुणका, चरित्र एवं प्रकृतिका) और फिर उस संकेंद्रित शक्तिका यह पुंज होना चाहिये अपने फैलावमें विशाल या महान्—**पृथुपाजसो ये।** (देखो, मंत्र 2)

इस प्रकार दिव्य उषा अपने ज्ञानके प्रकाशके साथ, प्रज्ञानके साथ, आत्माके प्रति आती है, अपने उस ज्ञानके क्षेत्रभूत सब लोकोंके सम्मुख होकर अर्थात् हमारी विराट् सत्ताके सब प्रदेशोंके—मन, प्राण और भौतिक चेतनाके—सम्मुख होकर आती है। वह उनके ऊपर, मनसे ऊपरकी हमारी ऊँचाइयोंपर, उच्चतम लोकोंमें ऊर्ध्व होकर खड़ी होती है, उनके लिये **अमरताका** या **अमृतमयका** दर्शन बनकर, **'अमृतस्य केतुः'** होकर, उनमें शाश्वतिक और परम सुखमय अवस्थाको या नित्य सनातन आनंदमय देवको प्रकट करती हुई खड़ी होती है। इस प्रकार, ऊँची वह खड़ी होती है दिव्य ज्ञानकी गतिको संपादित करनेके लिये तैयार होकर, बिल्कुल समतल भूमिपर बिना रगड़के चलनेवाले पहियेकी तरह वह उनकी (लोकोंकी) सामंजस्ययुक्त और समतायुक्त क्रियाओंमें सनातन सत्ताके एक नए-नए प्रकाशके रूपमें, **नव्यसि,** आगे-आगे बढ़ती है, क्योंकि वे लोक (मन, प्राण और शरीरके लोक) अब, अपनी नानारूपता और बेसुरापन हट जानेके कारण, उस सम गतिमें कोई बाधा उपस्थित नहीं करते (देखो, मंत्र 3)।

अपने प्रचुरैश्वर्यसे पूर्ण वह, मानो परिश्रमसे सीये गये उस चोगेको अपनेसे जुदा करती, अपने ऊपरसे उतार डालती है जिसने वस्तुओंके सत्यको ढक रखा है और **प्रियतमकी** पत्नी, **'स्वसरस्य पत्नी'**के, तौरपर अर्थात् अपने **आनन्दस्वरूप पतिकी** शक्तिके तौरपर वह विचरती है। अपने आनन्दोपभोगमें पूर्णतायुक्त, अपनी क्रियाओंके संपादन करनेमें पूर्णतायुक्त, **'सुभगा सुदंसाः'** वह अपनी प्रकाशस्फुरणाओं द्वारा हमारे अंदर 'स्वः'को जनित करती है अर्थात् छिपे हुए **प्रकाशमान** मनको, हमारे उच्चतम मानसिक द्युलोकको उत्पन्न करती है, और इस प्रकार मानसिक सत्ताके दूरतम किनारोंसे अपने-आपको भौतिक चेतनाके ऊपर फैला देती है (देखो, मंत्र 4)।

जैसे यह दिव्य **उषा** अपने प्रकाशको विस्तृत रूपमें मनुष्यके ऊपर डालती है वैसे मनुष्यको भी चाहिये कि वह उसके दिव्य क्रिया और गतिके

---

1. यहां पदपाठके अनुसार 'हिरण्यवर्णाम्' पद मानने पर यह सब वर्णन उषाका समझना चाहिये। वस्तुतः उषा और उसके अश्व—दोनोंका स्वभाव एक ही है, दोनोंकी ज्ञानक्रिया उज्ज्वल है।—अनुवादक

नियमके प्रति समर्पण करके उसके लिये अपनी सत्ताकी और अपनी सामर्थ्यकी पूरी तरह शक्तियुक्त हुई पूर्णताको बाहर ले आवे, प्रकट करे, जिससे कि वह उसके प्रकाशका वाहन बन सके अथवा उसकी यज्ञक्रियाओंका एक स्थान बन सके (देखो, मंत्र 5 का पूर्वार्ध)।

इसके बाद ऋषि मनुष्यके अंदर दिव्य **उषा**के जो दो मुख्य कार्य हैं उनका विस्तारसे वर्णन करता है। पहला कार्य है, उषा मनुष्यको **प्रकाश**की पूरी शक्तितक ऊपर उठाती है और उसे सत्यका साक्षात्कार कराती है; दूसरा है, वह मनुष्यकी मानसिक और शारीरिक सत्तामें **आनंद** की, **अमृत**की, **सोमरस**की, अमर अस्तित्वके आनंदकी वर्षा करती है। "दिवि" अर्थात् शुद्ध मनके लोकमें वह **प्रकाश**की पूरी शक्ति और मात्रामें ऊपर उठती है—**ऊर्ध्वं पाजो अश्रेत्**, और उन शुद्ध और उच्च स्तरोंसे वह यहाँ मधुरताको, 'मधुको', **सोम**के मधुको स्थापित करती है। तीन प्रकाशमान लोकों—**'रोचना'**—को वह अच्छी तरह चमका देती है; तब वह परमानन्दका दृश्य बन जाती है या इस दृश्यको उपस्थित करनेवाली होती है (देखो, मंत्र ५ का उत्तरार्ध)। शुद्ध मानस सत्ताके कार्यसाधक प्रकाशोंसे, सिद्धिदायक मंत्रों द्वारा, **'दिवो अर्कैः'** वह **सत्य**के धारण करनेवालीके रूपमें दिखायी देती है और इस **सत्य**के साथ, मनसे ऊपरके लोकसे आकर, आनन्दसे परिपूर्ण वह अपने विविध विचार और क्रियाकी चित्र-विचित्र क्रीड़ा करती हुई मानसिक और शारीरिक चेतनामें **(रोदसी)** प्रविष्ट होती है—मानसिक और शारीरिक चेतना वे दो बद्धमूल सीमाएँ हैं जिनके बीचमें मनुष्यका कर्म गति करता है—जब यह उषा इस प्रकार समृद्धिशालिनी **(वाजेन वाजिनी)** होकर वहाँ से आती है तब इसीसे **अग्नि** (वह दिव्य **शक्ति** जो मर्त्यको ऊपर उठानेके लिये यहाँ शरीरमें और मनमें काम कर रही है) उस **सोम**को पानेकी प्रार्थना करता है और उसे पा लेता है—जो **परमानंद**का पान है, आनंदमय सारपदार्थ है (देखो, मंत्र 6)।

हमारे अंदर जो अतिमानस (विज्ञानमय) लोक है, जो **सत्य**का आधार है वही उषाओंका भी आधार है। ये उषाएँ मर्त्य प्रकृतिके अंदर उस अमर्त्य **सत्य**के प्रकाशका, **'ऋतम् ज्योतिः'**का अवतरण ही हैं। इन उषाओंका अधिपति, **सत्य**का स्वामी, **प्रकाशक, उत्पादक, व्यवस्थापक** परमदेव मनोऽतीत **सत्य**के आधारमें अपनी क्रियाओंकी प्रेरणाको प्रवर्तित करता हुआ, उनके साथ इस उषा देवीके द्वारा मानसिक और शारीरिक सत्तामें प्रविष्ट होता है जो मानसिक और शारीरिक सत्ताएँ अब अंधकाराच्छन्न नहीं रही हैं, वरन् अपने सीमाबंधनोंसे मुक्त तथा विशालताको धारण करने

योग्य हो गयी हैं, **'मही रोदसी'**। सत्यका अधिपति वस्तुओंका एकमात्र अधिपति है। वह है **वरुण, विशालता** और **पवित्रता**की आत्मा। वह है **मित्र, प्रेम, प्रकाश** और **सामंजस्य**का स्रोत। उसकी सर्जन करनेवाली प्रज्ञा—**मही मित्रस्य वरुणस्य माया**—जो अपने क्षेत्रमें अमर्यादित है (क्योंकि वह वरुण है), जो आनंद और हर्षकी ज्योतिकी तरह **(चंद्रेव)** प्रतीत होती है (क्योंकि वह मित्र है), सत्यकी गंभीर अभिव्यक्तियोंको, प्रकाशमय अभिव्यक्तियोंको, नानाविध रूपोंमें, मुक्त हुई प्रकृतिकी विशालतामें, व्यवस्थित करती है, पूर्णतया संघटित करती है। वह उन विविध ज्योतियोंको जिनके साथ उसकी उषा हमारे द्यावापृथिवी (मन, शरीर)में प्रविष्ट हुई है एकत्रित कर देता है, संयुक्त कर देता है, वह उस (उषा)की सच्ची और सुखकर वाणियोंको एक समस्वरतामें मिला देता, सामंजस्ययुक्त कर देता है (देखो, मंत्र 7)।

दिव्य उषा **परमदेव**का आगमन है। वह है **सत्य** और **परमसुख**की ज्योति जो हमपर **ज्ञान** और **आनंद**के **अधिपति**की तरफसे बरस रही है—**अमृतस्य केतुः, स्वसरस्य पत्नी**।

सातवाँ अध्याय

भग सविता, आनन्दोपभोक्ता

ऋग्वेद; मण्डल 5, सूक्त 82

तत् सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥1॥

(सवितुः देवस्य) सविता देवके (तत् भोजनम्) उस आनंदोपभोगको (वयं वृणीमहे) हम वरते हैं (श्रेष्ठम्) जो सर्वश्रेष्ठ है, (सर्वधातमम्) सबको समुचित रूपसे व्यवस्थापित करनेवाला है (तुरं) लक्ष्यपर पहुँचानेवाला है, (भगस्य) भगके उस आनंदको (धीमहि) हम विचार द्वारा ग्रहण करते हैं ॥1॥

अस्य हि स्वयशस्तरम् सवितुः कच्चन प्रियम्।
न मिनन्ति स्वराज्यम् ॥2॥

(हि) क्योंकि (अस्य [भगस्य] सवितुः) इस आनंदोपभोक्ता सविताके (कच्चन प्रियं) किसी भी वस्तुके सुखको (न मिनन्ति) वे क्षीण नहीं कर सकते, (स्वयशस्तरम्) क्योंकि यह अत्यंत आत्मविजयशील है, (न स्वराज्यम्) न ही वे उसके स्वराज्यको (क्षीण कर सकते हैं) ॥2॥

स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः।
तं भागं चित्रमीमहे ॥3॥

(स हि) वह ही (दाशुषे) उत्सर्ग करनेवालेके लिये (रत्नानि सुवाति) आनंदोंको प्रेरित करता है ([सः] सविता भगः) वह ऐसा भग-देव है जो वस्तुओंका उत्पादक है; (तं चित्रं भागम्) उसके उस विविध ऐश्वर्योपभोगको (ईमहे) हम चाहते हैं ॥3॥

अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम्।
परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥4॥

(अद्य) आज (देव सवितः) हे दिव्य रचयिता! (नः) हमपर (प्रजावत् सौभगम्) फलयुक्त आनंदको (सावीः) प्रेरित कर, (दुःष्वप्न्यम्) जो कुछ भी दुःस्वप्नसे संबंध रखता है उसे (परासुव) दूर कर ॥4॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥5॥

(विश्वानि दुरितानि) सब बुराइयोंको (देव सवितः) हे दिव्य रचयिता, तू (परासुव) दूर कर दे, (यद् भद्रं) जो श्रेयस्कर है (तत्) उसे (नः आसुव) हमपर प्रेरित कर ॥5॥

अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे।
विश्वा वामानि धीमहि ॥6॥

(अदितये) असीम सत्ताके लिये (अनागसः) निर्दोष होकर हम (देवस्य सवितुः सवे) दिव्य **रचयितासे** होनेवाले सवमें (विश्वा वामानि) आनंदकी सब वस्तुओंको (धीमहि) विचार द्वारा ग्रहण करते हैं ॥6॥

आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे।
सत्यसवं सवितारम् ॥7॥

(विश्वदेवम्) विश्वव्यापी देव (सत्पतिम्) और सत्ताके अधिपतिको (सूक्तैः) पूर्ण शब्दोंके द्वारा (अद्य आवृणीमहे) आज हम अपने अंदर स्वीकार करते हैं, (सत्यसवं सवितारम्) उस **रचयिताको** जिसकी रचना सत्यमय है ॥7॥

य इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन्।
स्वाधीर्देवः सविता ॥8॥

(यः देवः सविता) जो दिव्य **रचयिता** (अप्रयुच्छन्) कभी स्खलनको प्राप्त न होता हुआ, (स्वाधीः) अपने विचारको उचित प्रकारसे स्थापित करता हुआ (इमे उभे अहनी) इन दिन और रात दोनोंके (पुरः एति) सम्मुख जाता है ॥8॥

य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन।
प्र च सुवाति सविता ॥9॥

(यः सविता) जो **रचयिता** (श्लोकेन) लयके साथ (इमा विश्वानि जातानि) इन सब प्रजाओंको (आश्रावयति) ज्ञानमें श्रवण कराता है (प्रसुवाति च) और इन्हें उत्पन्न कर देता है ॥9॥

भाष्य

चार महान् देव वेदमें सर्वत्र अपने स्वरूप और कार्यमें निकटतया संबद्ध दिखायी देते हैं, वे हैं **वरुण, मित्र, भग, अर्यमा**। वरुण और मित्र, ऋषियोंके विचारोंमें सदा युगलरूपमें जुड़ गये हैं, कहीं-कहीं वरुण, मित्र और भग अथवा वरुण, मित्र और अर्यमाका एक त्रैत भी दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सूक्त अपेक्षाकृत बहुत कम हैं जो इनमेंसे किसी एक देवको पृथक् रूपमें संबोधित किये गये हों, यद्यपि कुछ ऐसे, महत्त्वपूर्ण सूक्त भी

अवश्य हैं जिनका देवता वरुण है। पर ऐसी ऋचाएँ जिनमें इन देवोंके नाम आ जाते हैं, वे ऋचाएँ चाहे अन्य किन्हीं देवोंकी हों या 'विश्वेदेवाः'के आवाहनमें हों, संख्यामें किसी भी प्रकार कम नहीं हैं।

ये चारों देवता, सायणके अनुसार, सौर शक्तियाँ हैं, वरुण सूर्यका अभावात्मक रूप है और इस प्रकार रात्रिका देवता है, मित्र भावात्मक रूप होनेसे दिनका देवता है, भग और अर्यमा सूर्यके नाम हैं। इन विशेष प्रकारकी तद्रूपताओंको अधिक महत्ता देनेकी आवश्यकता नहीं, पर इतना तो निश्चित है कि इन चारों देवोंको कोई सौर धर्म ही परस्पर जोड़ता है। वैदिक देवोंका यह विशेष स्वरूप कि वे अपने व्यक्तित्वों तथा व्यापारों तकमें विभिन्न होते हुए भी वास्तविक एकता रखते हैं, इन चार देवोंके विषयमें विशेष तौरसे प्रकाशमें आ जाता है। ये चारों अपने-आपमें केवल घनिष्ठताके साथ संबद्ध ही नहीं हैं, परंतु एक दूसरेके स्वभाव और धर्मोंमें भागी होते हुए भी दिखायी देते हैं और ये सब स्पष्टतः **सूर्य सविताकी** अंशविभूतियाँ हैं और **सूर्य सविता** है अपने रचनात्मक और प्रकाशक सौर रूपोंवाली दिव्य सत्ता।

सविता सूर्य **रचयिता** है। सब लोक, वस्तुओंके **सत्य**के अनुसार, **ऋतम्**के अनुरूप, दिव्य चेतनासे, उस **अदितिसे**, पैदा हुए हैं जो असीम सत्ताकी देवी है, देवोंकी माता है, अविभाज्य चेतना है, ऐसी ज्योति है जो क्षीण नहीं हो सकती, जो वध न की जा सकनेवाली रहस्यमयी **गौ**के प्रतीकसे निरूपित हुई है। उस रचनामें वरुण और मित्र, अर्यमा और भग ये चार कार्यनिर्वाहक **बल** हैं, **देवता** हैं। **वरुण** द्योतक है विशुद्ध और बृहत् सत्ताके तत्त्वका, **सच्चिदानंदके सत्**का; **अर्यमा** द्योतक है दिव्य चेतनाके एक ऐसे प्रकाशका जो **शक्ति**के रूपमें कार्य करता है; **मित्र** प्रकाश और ज्ञानका द्योतक होता हुआ, रचनाके लिये **आनंद**के तत्त्वका उपयोग करता हुआ, वह **प्रेम** है जो समस्वरताके नियमको स्थापित रखता है; **भग** द्योतक है रचनाजन्य सुख-रूपी आनंदका, वह रचनाके आनंदका उपभोग करता है, जो कुछ विरचित हुआ है उस सबका आनंद लेता है। वरुणकी, मित्रकी **माया**, उत्पादक प्रज्ञा ही **अदिति**के उस प्रकाशको विविध प्रकारसे विनियुक्त करती है जो **उषा** द्वारा लोकोंको अभिव्यक्त करनेके लिये लाया जाता है।

अपने आध्यात्मिक व्यापारमें भी ये चारों देव मानव-मनमें, मानव स्वभावमें कार्य कर रहे उपर्युक्त चार तत्त्वोंके ही द्योतक होते हैं। ये मनुष्यके अंदर उसकी सत्ताके विभिन्न स्तरोंको रचते हैं और उन्हें अंतमें

दिव्य सत्यके रूपों और वृत्तियोंमें ढाल देते हैं। विशेषतया मित्र और वरुण तो निरंतर इस रूपमें वर्णित हुए हैं कि वे अपने कर्मके नियमको दृढ़तासे धारण करते हैं, सत्यको बढ़ाते हैं, सत्यका स्पर्श करते हैं और उस सत्य द्वारा दिव्य संकल्पकी विशालताका या उसके महान् और असंबाधित यज्ञिय कर्मका आनंद लेते हैं। वरुण द्योतक है विशालता, सत्य और पवित्रताका, प्रत्येक वस्तु जो सत्यसे, पवित्रतासे, च्युत हो जाती है, वरुणकी सत्तासे परावृत्त हो जाती है और अपराधीको उसके पापके दण्डस्वरूप आघात पहुँचाती है। जबतक मनुष्य वरुणके सत्यकी विशालताको नहीं पा लेता, तबतक वह यज्ञ-पशुके रूपमें विश्वयज्ञके स्तंभोंमें मन, प्राण और शरीरके त्रिविध बंधनोंसे बँधा रहता है और स्वामी या उपभोक्ताके तौरपर मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिये ऐसी प्रार्थनाएँ बहुत-सी मिलती हैं कि हम वरुणके पाशसे, उसकी पवित्रताके प्रति किये गये अपराधसे उत्पन्न उसके रोषसे, मुक्त हो जायँ। दूसरी तरफ मित्र देवोंमें सबसे अधिक प्रिय है; वह अपनी समस्वरताकी स्थिरताओं द्वारा, वस्तुओंके विधानमें अपने-आपको चरितार्थ करनेवाले प्रेमके उत्तरोत्तर प्रकाशमान धामों द्वारा, **मित्रस्य धामभिः**, सबको एक सूत्रमें बाँध देता है। उसका नाम 'मित्र', जिसका अर्थ सखा भी है, सतत रूपसे द्व्यर्थक रूपमें प्रयुक्त किया गया है, मित्र-रूप होनेके नाते ही अन्य देव भी मनुष्यके मित्र (सखा) बन जाते हैं, क्योंकि **मित्र देव** उन सबके अंदर निवास करता है। **अर्यमा**के व्यक्तित्वकी स्पष्ट भिन्नता वेदमें बहुत कम दिखायी देती है, क्योंकि उसका निर्देश करनेवाले स्थल स्वल्प ही हैं। भगके व्यापार अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूपमें निर्दिष्ट हुए हैं, और वे बाहर विश्वमें तथा मनुष्यके अंदर दोनों जगह एक-से हैं।

सविताको कहे गये श्यावाश्वके इस सूक्तमें हमें दोनों बातें मिलती हैं, भगके व्यापार और सविता सूर्यके साथ उसकी एकता; क्योंकि सूक्त सम्बोधित तो किया गया है **सूर्य**को, **सत्य**के रचनाकारक **देव**को, पर सूर्य यहाँ विशेष तौरसे **भग**, आनंदोपभोगके देवताके रूपमें आया है। भग शब्दका अर्थ है उपभोग या आनन्दोपभोक्ता और यही अर्थ इस देव-नाम 'भग'का उचित आशय है यह बात इसी सूक्तकी ऋचाओंमें **'भोजनम्'**, **'भाग'**, **'सौभगम्'**के प्रयोगसे और भी दृढ़तापूर्वक द्योतित कर दी गयी है। हम देख चुके हैं कि सविताका अर्थ रचयिता है, पर रचनाका मतलब यहाँ विशेषतया उत्पन्न करना, अव्यक्तावस्थासे प्रेरित कर व निकाल करके व्यक्तावस्थामें लाना है। सारे सूक्तमें सतत रूपसे शब्दके इसी धात्वर्थको

लेकर सारी रचना की गयी है, जिसे अनुवादमें पूरे तौरसे ला सकना असम्भव है। पहली ही ऋचामें इस प्रकारका एक गूढ़ प्रयोग है, क्योंकि 'भोजनम्'के दोनों अर्थ हैं उपभोग (आनंदोपभोग) और खाद्य सामग्री। और यहाँ यह आशय देना अभिप्रेत प्रतीत होता है कि 'सविताका उपभोग' **सोम** है, जो देवोंका भोजन है, परम रस है, महान् **उत्पादक**की सर्वोच्च उत्पादित वस्तु है (सोम भी उसी 'षु' धातुसे बना है जिससे सविता और इसका अर्थ है उत्पन्न करना, निचोड़ना, रस क्षरित करना)। जो कुछ ऋषि चाहता है वह यह है कि वह सब विरचित वस्तुओंमें अमृतका और अमृतकारक आनंदका आस्वादन कर सके।

यही आनंद रचयिताका, सूर्य सविताका उपर्युक्त उपभोग है, **सत्य**का सर्वोच्च परिणाम है; क्योंकि **सत्य**का इस रूपमें अनुसरण किया जाता है कि वह दिव्य **आनंद**की प्राप्तिका मार्ग है। यह **आनंद** सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट उपभोग है। यह सबको समुचित रूपसे व्यवस्थित कर देता है, क्योंकि एक बार जब आनंद, सब वस्तुओंमें निहित दिव्य आनंद, प्राप्त हो जाता है तब यह सब विकृतियोंको, जगत्की सब बुराईको, ठीक कर देता है। यह मार्गकी सब बाधा हटाकर मनुष्यको लक्ष्यपर पहुँचा देता है। यदि वस्तुओंके सत्य और औचित्य (सत्य और ऋत) द्वारा हम आनंदको पा लेते हैं तो साथ ही **आनंद** द्वारा हम वस्तुओंके औचित्य और सत्यको भी पा सकते हैं। सब वस्तुओंके दिव्य तथा उचित आनंदको प्राप्त कर लेनेकी यह मानवीय क्षमता भग नाम व स्वरूपवाले दिव्य **रचयिता**से ही संबंध रखती है। जब वह 'भग' मनुष्यके मन और हृदय और प्राण (शक्तियों) और भौतिक सत्ता द्वारा आलिंगित होता है, जब यह दिव्य स्वरूप (भग) मनुष्य द्वारा अपने अंदर गृहीत किया जाता है, तब जगत्का आनंद अपने-आपको अभिव्यक्त कर देता है। (मंत्र 1)।

यह दिव्य **आनंदोपभोक्ता** वस्तुओंमें, अपने आनंदके जिस किसी भी पात्र या विषयमें, जिस आनंदको ग्रहण करता है उसे कोई भी सीमित नहीं कर सकता, कोई भी क्षीण नहीं कर सकता, न देव न ही दैत्य, न मित्र न ही शत्रु, न कोई घटित घटना न कोई इन्द्रियानुभव। क्योंकि उसके प्रकाशमान स्वराज्यको, **स्वराज्यम्**—अर्थात् **सत्य**-क्रमकी असीम सत्तामें, असीम आनंदमें और विशालताओंमें उसके अपने-आपको पूर्णतया धारित रखनेको, उसके आत्माधिकृत रहनेको—कोई भी क्षीण, सीमित या आहत नहीं कर सकता। (मंत्र 2)

इसलिये वही हवि-प्रदाताके लिये सात आनंदों, **सप्त रत्नाको** प्राप्त कराता है। वह उन्हें हमपर प्रेरित, सुत कर देता है, क्योंकि वे सब जहाँ दिव्य सत्ताके अन्दर हैं वहाँ इस संसारमें भी हैं, वे हमारे अंदर भी हैं और आवश्यकता केवल इस बातकी है कि वे हमारी बाह्य चेतनापर प्रेरित कर दिये जायँ, उत्पन्न कर दिये जायँ। इस सप्तविध आनंदकी समृद्ध और चित्र-विचित्र विपुलता, जो हमारी सत्ताके सभी स्तरोंपर पूर्णता-युक्त रहती है, संपन्न हुए यज्ञमें भग **सविताका** भाग है अर्थात् उपभोग या हिस्सा है, और यही वह चित्र-विचित्र सम्पत्ति है जिसे ऋषि यज्ञमें दिव्य **आनंदोपभोक्ताको** स्वीकृत करके अपने और अपने साथियोंके लिये पाना चाहता है। (मंत्र 3)

इसके बाद श्यावाश्व भगसे यह प्रार्थना करता है कि वह उसे कृपा करके आज वह आनंद प्रदान कर दे जो फलशून्य न हो बल्कि क्रिया-शीलताके फलोंसे लदा हो, आत्माकी प्रजासे समृद्ध हो, **प्रजावत् सौभगम्**। **आनंद** रचनाशील है, **'जन'** है अर्थात् वह आनंद है जो जीवनको और विश्वको उत्पन्न करता है; आवश्यकता केवल इस बातकी है कि जो वस्तुएँ हमपर प्रेरित हों वे सत्य द्वारा संकल्पित रचनासे युक्त हों और वह सब जो असत्यसे, दिव्य सत्यके प्रति अज्ञानके कारण पैदा होनेवाले दुःस्वप्नसे संबंध रखता है, **दुःष्वप्न्यम्,** दूर हो जाय, हमारी सचेतन सत्तासे निकल जाय। (मंत्र 4)

अगली ऋचामें वह दुःष्वप्न्यम्के आशयको और अधिक स्पष्ट कर देता है। जिसे वह चाहता है कि उसके पाससे दूर हट जाय वह है सब प्रकारकी बुराई, **विश्वानि दुरितानि**। 'सुवितम्' और 'दुरितम्'का वेदमें शाब्दिक अर्थ है 'ठीक चाल' और 'गलत चाल'। 'सुवितम्' है विचार और कर्मका सत्य, 'दुरितम्' है भूल या स्खलन, पाप और विपरीतता। 'सुवितम्' है सुखपूर्ण चलन, परम सुख, आनंदका मार्ग; 'दुरितम्' है विपत्ति एवं कष्ट, भूल और दुश्चलनका सब दुष्परिणाम। जो कुछ भी बुराई है, **विश्वानि दुरितानि,** उस सबका संबंध उस दुःस्वप्नसे है जिसे हमारे पाससे दूर हटाया जाना है। भग उसे हटाकर उसके स्थानपर हमारे पास उसे भेज देता है जो अच्छा है—**भद्रम्,** अच्छा इस अर्थमें कि वह परम सुखके अनुकूल है अर्थात् दिव्य उपभोगकी सब शुभ और मंगल-कारी वस्तुएँ, सत्य क्रिया, सत्य रचनाका सुख। (मंत्र 5)

भग सविताकी रचनाको 'सव' कहते हैं। 'सव' शब्दके दो अर्थ हैं, एक तो उत्पत्ति, रचना और दूसरा रसका क्षरण, देवोंको सोमरस अर्पित

करना। **भग सविताकी** रचनामें, उसके पूर्ण और त्रुटि-रहित 'सव' (यज्ञ)में मनुष्य **आनंद** द्वारा पाप व दोषसे मुक्त होकर, **अनागसः, अदितिकी** दृष्टिमें निर्दोष हो जाते हैं, स्वतन्त्र आत्माकी अविभक्त और असीम चेतनाके योग्य हो जाते हैं। उस स्वतंत्रताके कारण आनंद उनके अंदर विश्वव्यापी बनने योग्य हो जाता है। वे इस योग्य हो जाते हैं कि अपने विचार द्वारा सभी आनंददायक वस्तुओंको, **विश्वा वामानि,** ग्रहण कर सकें; क्योंकि 'धी'में, उस प्रज्ञामें जो ग्रहण करनेवाली और क्रमबद्ध करनेवाली है, विश्वका सब उचित क्रम रहता है, उचित संबंधका, उचित प्रयोजनका, उचित प्रयोगका और उचित परिपूर्णताका बोध होता रहता है, सब वस्तुओंके अंदर दिव्य और सुखपूर्ण अर्थ दिखलायी देता है। (मंत्र 6)

यज्ञकर्त्ता आज जिसे **भग सविताके** नामसे पवित्र मंत्रों द्वारा अपने अंदर ग्रहण करना चाह रहे हैं वह है विश्वव्यापी **देव, सत्**का वह अधिपति जिससे सब वस्तुएँ सत्यके रूपमें रची गयी हैं। यह वह रचयिता है जिसकी रचना है **सत्य,** जिसका यज्ञ है मानवीय आत्मामें अपने निजी **आनंदके,** अपने दिव्य और अचूक सुखके, वर्षण द्वारा सत्यकी वृष्टि कर देना। वह **सूर्य सविता सत्यके** अधिपतिके रूपमें दोनोंके सम्मुख जाता है, **रात्रि** और **उषाके,** अव्यक्त चेतना और व्यक्त चेतनाके, जागृत सत्ता और अवचेतन तथा अतिचेतन सत्ताके, जिनकी पारस्परिक क्रिया हमारी सब अनुभूतियोंको रचती है; और अपनी गतिमें वह किसीको उपेक्षित नहीं करता, कभी असावधान नहीं होता, कभी स्खलनको प्राप्त नहीं होता। वह दोनोंके सम्मुख जाता है, अवचेतनकी रात्रिके अंदरसे दिव्य **प्रकाशको** निकाल लाता है, सचेतनके अनिश्चित या विकृत प्रतिबिम्बोंको उस **प्रकाशकी** देदीप्यमान किरणोंमें परिवर्तित कर देता है, और सदा ही विचार उचित रूपमें रखा जाता है। सब त्रुटियोंका मूल है अनुचित विनियोग, सत्यका अनुचित रूपमें स्थापन, अनुचित क्रम-प्रदान, अनुचित संबंध, समय और स्थानमें, विषय और क्रममें अनुचित विन्यास। परन्तु सत्यके अधिपतिमें ऐसी कोई त्रुटि, ऐसा कोई स्खलन, ऐसा कोई अनौचित्यपूर्ण स्थापन नहीं होता। (मंत्र 7, 8)

सविता सूर्य, जो कि भग है, **असीमके** और (हमारे अंदर और बाहरके) विरचित लोकोंके बीचमें स्थित होता है। जिन भी वस्तुओंको रचनाशील चेतनाके अंदर उत्पन्न होना है उन सबको वह विज्ञानके अंदर ग्रहण करता है; वहाँ वह उस ज्ञानके द्वारा जो अवतरण करते हुए शब्दका श्रवण और ग्रहण करता है, इन्हें इनके उचित स्थानमें दिव्य लयके साथ स्थापित करता

है और इस प्रकार वह शब्दको वस्तुओंकी गतिके अंदर प्रेरित कर देता है, **आश्रावयति श्लोकेन प्र च सुवाति**। जब हमारे अंदर क्रियाशील आनंदकी प्रत्येक रचना, **प्रजावत् सौभगम्**, इस प्रकार वस्तुओंकी त्रुटिरहित लयके साथ ज्ञान द्वारा गृहीत होकर और ठीक-ठीक श्रवणकी जाकर, अव्यक्तमेंसे बाहर निकलती है तब हमारी वह रचना **भग सविता**की रचना होती है, और उस रचनाके सब जन्म, हमारे बच्चे, हमारी सन्तानें—**प्रजा, अपत्य**—हो जाती हैं आनंदकी वस्तुएँ, **विश्वा वामानि**। यह है मनुष्यके अंदर भगका कार्य, विश्व-यज्ञमें उसका पूर्ण भाग।

आठवां अध्याय

वायु—प्राणशक्तियोंका अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल 4, सूक्त 48

विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥1॥

(रायः विपः) आनंदके अभिव्यंजक और (अर्यः न) कर्मके कर्त्ताकी तरह, तू (अवीता होत्रा) अव्यक्त पड़ी यज्ञिय शक्तियोंको (विहि) व्यक्त कर दे; (वायो) हे वायु, (चन्द्रेण रथेन) सुखमय प्रकाशके अपने रथमें चढ़कर (आयाहि) तू आ, (सुतस्य पीतये) सोमरसको पीनेके लिये ॥1॥

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥2॥

(अशस्तीः) सब अनभिव्यक्तियोंको (निर्युवाणः) अपने पाससे दूर हटाता हुआ (नियुत्वान्) अपने 'नियुत' घोड़ों सहित और (इन्द्रसारथिः) इन्द्रको सारथिके रूपमें लेकर [हे वायु, सुखमय प्रकाशके अपने रथमें चढ़कर तू आ, सोमरसको पीनेके लिये।] ॥2॥

अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥3॥

वे दोनों (कृष्णे) जो अन्धकारावृत हैं, तो भी (वसुधिती) सब ऐश्वर्योंको धारण किये हुए हैं, और (विश्वपेशसा) जिनके अन्दर सब रूप हैं (अनुयेमाते) अपने प्रयत्नमें तेरा अनुसेवन करेंगे। [आ, हे वायु, सुखमय प्रकाशके अपने रथमें चढ़कर तू आ, सोमरसको पीनेके लिये।] ॥3॥

वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥4॥

(युक्तासः) जुते हुए, (मनोयुजः) मन द्वारा जोते जानेवाले (नवतिः नव) निन्यानवे [घोड़े] (त्वा वहन्तु) तुझे वहन करें। [हे वायु, सुखमय प्रकाशके अपने रथपर चढ़कर तू आ, सोमरसको पीनेके लिये।] ॥4॥

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥5॥

(वायो) ओ वायु, तू (पोष्याणां हरीणां शतम्) अपने सौ चमकीले घोड़ोंको जो पोष्य हैं, जिन्हें बढ़ाया जाना है (युवस्व) जोत दे, (उत वा) अथवा (ते सहस्रिणः रथः) हजार [घोड़ों] से युक्त तेरा रथ (पाजसा) अपने अति वेगके साथ (आयातु) आवे ॥5॥

भाष्य

वैदिक ऋषियोंके अध्यात्मसम्बन्धी आलोचन प्रायः एक आश्चर्यजनक गूढ़ताको लिये हुए हैं और सबसे अधिक गूढ़ता वहाँ है जहाँ वे अवचेतनके अंदरसे उद्भूत होती हुई मन और प्राणकी सचेतन क्रियाशीलताओं रूपी घटनाका वर्णन करते हैं। यहाँतक कहा जा सकता है कि यह विचार ही उस समृद्ध और सूक्ष्म दर्शन (Philosophy) का सारा आधार है जो ज्ञानकी उस प्राचीन उषामें इन अन्तःप्रेरणायुक्त रहस्यवादियों द्वारा आविष्कृत किया गया था। और ऋषि वामदेवने जैसी सूक्ष्मता तथा उत्तमताके साथ इसे व्यक्त किया है उससे बढ़कर कोई और नहीं कर सका है, यह ऋषि गंभीरतम द्रष्टाओंमेंसे एक है और साथ ही वैदिक युगके मधुरतम गायकोंमेंसे है। उसके सूक्तोंमें से एक, चतुर्थ मंडलका अंतिम सूक्त, सचमुच सबसे अधिक महत्त्वकी कुंजी है जो उस प्रतीकवादको खोलनेके लिये हमें मिली है जिसने यज्ञके रूपकोंके पीछे उन अध्यात्मसंबंधी अनुभवों व बोधोंके वास्तविक रूपोंको छिपा रखा है जिन्हें आर्य पूर्वज इतना अधिक पवित्र मानते थे।

इस सूक्तमें वामदेव अवचेतनके उस समुद्रका वर्णन करता है जो हमारे जीवन और क्रियाशीलता आदि सबके आधारमें है। उस समुद्रमेंसे संवेदनात्मक सत्ताकी 'मधुमय' लहर उठती है, जो अपने असिद्ध आनंदके बोझसे अभी मुक्त नहीं हुई है, वह 'घृत' और 'सोम'से भरपूर होकर अर्थात् ऊपरसे आनेवाले विशुद्ध मानसिक चैतन्य तथा प्रकाशमान आनंदसे भरपूर होकर ऊपर उठती है अमरताके आकाशकी ओर। मानसिक चेतनाका 'गुह्य नाम', वह जिह्वा जिससे देवता जगत्का स्वाद लेते हैं, अमरताकी नाभि, वह आनंद ही है जिसका प्रतीक 'सोम' है[1]। क्योंकि सारी रचना

---

1. **समुद्रादूर्मि र्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।**
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ 4.58.1
(समुद्रात्) समुद्रसे (मधुमान् ऊर्मिः) मधुमय लहर (उदारत्) उठती है, (अंशुना) इस सोम द्वारा मनुष्य (अमृतत्वम्) अमरताको (उप सम् आनट्) पूर्ण रूपसे पा लेता है, (यत्) जो सोम (घृतस्य गुह्यं नाम) निर्मलताका गुह्य नाम है, (देवानां जिह्वा) देवोंकी जिह्वा और (अमृतस्य नाभिः) अमृतकी नाभि (अस्ति) है।

अवचेतनके अंदर मानो चार सींगोंवाले **बैल**, दिव्य **पुरुष**, द्वारा उद्गमन कर दी गयी है, जिसके चार सींग हैं **असीम सत्ता** (सत्), **चेतना** (चित्), **सुख** (आनंद) और **सत्य** (विज्ञान)[1]। प्रागैतिहासिक युगकी प्राचीन, रहस्यमयी और प्रतीकात्मक कलाके अवशेषभूत, उच्च कोटिके विसंगत वचनों और विचित्रसे अलंकारोंकी स्मृति करा देनेवाले, बहुत ही प्रबल परस्परविरोधवाले रूपकोंके बीच, वामदेव हमारे सामने **पुरुषका** वर्णन एक ऐसे नररूप वृषभके रूपकके द्वारा करता है जिसके चार सींग हैं और वे हैं चार दिव्य तत्त्व; तीन पैर या तीन टाँगें हैं और वे हैं तीन मानवीय तत्त्व—मनोमय सत्ता, प्राणमय सक्रियता और भौतिक स्थूल तत्त्व; दो सिर हैं, अर्थात् **आत्मा** और **अनात्मा**की, या **पुरुष** और **प्रकृति**की, द्विविध चेतना; सात हाथ हैं, अर्थात् सप्तविध प्राकृतिक क्रियाएँ जो सात लोकोंके अनुसार हुआ करती हैं। "तीन स्थानोंमें बद्ध—अर्थात् मनमें बद्ध, प्राणशक्तियोंमें बद्ध, शरीरमें बद्ध—वह **बैल** जोरसे शब्द करता है; वह महान् **देव** मर्त्योंके अंदर प्रविष्ट है[2]।"

क्योंकि "घृतम्" अर्थात् मनका वह निर्मल प्रकाश जो **सत्य**को प्रतिबिंबित करता है, पणियों द्वारा, निम्न ऐन्द्रियिक क्रियाके अधिपतियों द्वारा, छिपा लिया गया है और अवचेतनके अंदर बंद कर दिया गया है; हमारे विचारोंमें, हमारी, इच्छाओंमें, हमारी भौतिक चेतनामें, तीनों स्थानोंमें, **प्रकाश** और **आनंद** स्थापित किये हुए हैं, पर वे हमसे छिपा लिये गये हैं। देवता **गौ**के अंदर, जो ऊपरसे आनेवाले **प्रकाश**का प्रतीक है, इस 'घृतम्'की शुद्ध धाराओंको पाते हैं[3]। ऋषि कहता है कि ये धाराएँ वस्तुओंके हृदयसे, अवचेतनके समुद्रसे, **हृद्यात् समुद्रात्**, उठती हैं, पर उन्हें शत्रु **वृत्र**ने सैकड़ों बाड़ोंमें घेर लिया है, ताकि वे विवेककी आँखसे बची रहें, उस ज्ञानसे बची रहें जो हमारे अंदर उसे प्रकाशित कर देनेका यत्न करता है जो अप्रकाशित छिपा पड़ा है, और उसे मुक्त कर देना चाहता है जो बंद पड़ा है[4]। आशुगामिनी होकर भी घनीभूत, वातमय क्रियासे सीमित, प्राण-शक्ति वायुकी छोटी-छोटी रचनाओंमें परिणत, **वातप्रमियः**, ये धाराएँ

---

1. **चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्**॥ 4.58.2
2. **चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।**
   त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश॥ 4.58.3
3. **त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्**॥ 4.58.4
4. **एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् शतव्रजा रिपुणा नावचक्षे**॥ 4.58.5

मार्गमें अवचेतनकी सीमाओंपर चलती हैं। सचेतन हृदय और मनकी अनुभूतियों द्वारा उत्तरोत्तर पवित्रकी जाती हुई ये **प्रकृति**की शक्तियाँ अंतमें **दिव्यसंकल्प-रूप** अग्निके साथ परिणयके योग्य हो जाती हैं, वह अग्नि इनकी सीमाओंको तोड़ गिराता है और स्वयं इनकी उन लहरोंसे जो अब प्रचुर हो गयी हैं पोषित किया जाता है[1]। यह है जीवनकी क्रांति जिससे मर्त्य प्रकृति अमरतामें परिणत होनेकी तैयारी करती है।

सूक्तकी अंतिम ऋचामें वामदेव सारी सत्ताको इस रूपमें वर्णित करता है कि वह ऊपर दिव्य पुरुषके धाममें, नीचे अवचेतनके समुद्रमें तथा **जीवनमें, धामन् ते·····अन्तःसमुद्रे हृदि अन्तरायुषि,** अधिश्रित है। तो सचेतन मन ही वह प्रणाली है, वह मध्यवर्ती साधन है, जिसके द्वारा ऊर्ध्वसमुद्र और अधःसमुद्रमें, अतिचेतन और अवचेतनमें, दिव्य प्रकाश और प्रकृतिके प्रारंभिक अंधकारमें परस्पर संबंध स्थापित होता है।

वायु है जीवनका देवता। प्राचीन रहस्यवादी ऋषि जीवनतत्त्वको ऐसा समझते थे कि वह एक महान् शक्ति है जो सारी भौतिक सत्तामें व्यापक है और इसकी सब चेष्टाओंका कारण है। यही विचार पीछे जाकर **प्राण,** जगद्व्यापक जीवन-श्वासके स्वरूपमें परिणत हो गया। मनुष्यकी सारी जीवनसूचक या वातजन्य चेष्टाएँ **प्राण**की परिभाषाके अंदर आ जाती हैं और वे **वायु**के साम्राज्यक्षेत्रसे संबंधित हैं। तो भी **ऋग्वेद**में और देवताओंकी तुलनामें इस महान् देवताके सूक्त थोड़ेसे ही हैं और उन सूक्तोंतकमें जिनमें इसका मुख्य रूपसे आवाहन किया गया है यह प्रायः अकेला नहीं, किंतु अन्योंके साथमें आया है, और वह भी इस तरह कि यह उनपर आश्रित है। विशेषतया इसे 'इन्द्र'के साथ जोड़ा गया है और यह भी प्रायः देखनेमें आयगा कि मानो वैदिक ऋषि इससे जो कार्य लेना चाहते थे उसमें इसे (वायुको) उस उच्चतर देवकी (इन्द्रकी) सहायता अपेक्षित होती थी। जब मनुष्यके अंदर जीवन-शक्तियोंकी दिव्यक्रियाका प्रश्न होता है तब **वायु**का स्थान प्रायः वैदिक अश्व या दधिक्रावाके रूपमें अग्नि ले लेता है।

यदि हम ऋषियोंके आधारभूत विचारोंको देखें तो **वायु**की यह स्थिति

---

1. **सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।** 4.58.6
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य (मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः) ॥
सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन् ऊर्मिभिः पिन्वमानः ॥ 4.58.7

स्पष्ट समझमें आ जाती है। उच्च सत्ताके द्वारा निम्न सत्ताका, दिव्यके द्वारा मर्त्यका, प्रकाशित होना उनका मुख्य विचार था। **प्रकाश** और **शक्ति, गौ** और **अश्व**—ये यज्ञके उद्दिष्ट पदार्थ थे। **शक्ति** थी आवश्यक शर्त, **प्रकाश** था मुक्त करानेवाला तत्त्व; और 'इन्द्र' तथा 'सूर्य' उस प्रकाशके मुख्य लानेवाले थे। इसके अतिरिक्त, वह अपेक्षित शक्ति थी **दिव्य संकल्प** जो सब मानवीय शक्तियोंपर अधिकार कर लेता था और अपने आपको उनमें प्रकट कर देता था; और इस **संकल्पका**, वातमय प्राणशक्तिपर अधिकार कर लेने और अपने-आपको उसमें प्रकट कर देनेवाले सचेतन बलकी इस शक्तिका, प्रतीक 'वायु'से बढ़कर अग्नि था और विशेषकर **दधिक्रावा अग्नि**। क्योंकि **अग्नि** ही **तपस्का**, अपनेको जगद्व्यापक शक्तिके रूपमें व्यवस्थित करनेवाली दिव्य **चेतनाका**, अधिपति है, **प्राण** उसका केवल निम्न सत्तामें रहनेवाला एक प्रतिनिधि है। इसलिये वामदेवके चतुर्थ मण्डलके **५८वें** सूक्तमें **इन्द्र, सूर्य** और **अग्नि** ही अवचेतनके अंदरसे सचेतन दिव्यताकी महती अभिव्यक्तिको करनेवाले हैं। **वात** या **वायु**, प्राण-संबंधी क्रिया, मनकी, उद्भूत होते हुए मनकी केवल एक प्रथम शर्त है। और मनुष्यके लिये वायुका महत्त्वपूर्ण पक्ष यही है कि प्राणका मनके साथ मिलन होता है और वह मनके उद्भवमें, विकासमें सहायता प्रदान करता है। यही कारण है कि हम **इन्द्रको** जो **मनका** अधिपति है, और वायुको जो प्राणका अधिपति है, इकट्ठा जुड़ा हुआ और वायुको कुछ अंशोंमें इन्द्रके आश्रित पाते हैं; यद्यपि मूलतः **मरुत्**, विचार-शक्तियाँ, जितनी **इन्द्रकी** शक्तियाँ प्रतीत होते हैं उतनी ही **वायुकी** भी, तो भी ऋषियोंके लिये वे स्वयं **वायुकी** अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और अपने क्रियाशील स्वरूपमें भी वे वायवीय सेनाओंके इस प्राकृतिक मुखिया(वायु देवता)की अपेक्षा अग्नि रुद्रके साथ कहीं अधिक निकटतासे संबद्ध हैं।

यह प्रस्तुत सूक्त, चतुर्थ मण्डलका ४८वाँ, उन तीनमें अंतिम है, जिनमें वामदेव सोम-रसको पीनके लिये इन्द्र और वायुका आवाहन कर रहा है। वे सम्मिलित रूपसे प्रकाशमान शक्तिके दो देवताओं, **शवसस्पती**[1]के रूपमें पुकारे गये हैं, जैसे कि इससे पूर्वके मण्डलमें आनेवाले एक अन्य सूक्त (1.23.3)में उनका आवाहन विचारके देवता, **धियस्पतीके** तौरपर किया गया है। **इन्द्र** है मानसिक शक्तिका देवता, और **वायु** वातिक या प्राण-संबंधी शक्तिका, और उन दोनोंका सम्मिलन विचार तथा क्रियाके लिये

---

1. 4.47.3

आवश्यक है। उन्हें आमंत्रित किया गया है कि वे एक ही रथमें चढ़कर आवें और मिलकर उस आनंदके रसका पान करें जो अपने साथ देवत्व प्रदान करनेवाली शक्तियाँ लाता है[1]। ऐसा कहा गया है कि वायु प्रथम घूंट पीनेका अधिकारी है[2], क्योंकि अवश्यमेव विधारक प्राणशक्तियोंको ही सर्वप्रथम दिव्य क्रियाके आनंदको ग्रहण करने योग्य हो जाना चाहिये।

इस तीसरे सूक्तमें, जिसमें यज्ञका परिणाम वर्णित किया गया है, **वायु**का आवाहन अकेले किया गया है[3], पर इस अवस्थामें भी इन्द्रके साथ उसकी सहचारिता स्पष्टतया दर्शा दी गयी है। जैसे एक अन्य सूक्तमें उषाको कहा गया है वैसे ही इस सूक्तमें वायुसे कहा गया है कि वह सुखमय प्रकाशके रथमें चढ़कर, अमृतकारक रसको पीनेके लिये आवे[4]। रथ प्रतीक है शक्तिकी गतिका, और पहलेसे ही प्रकाशमान प्राणशक्तियोंकी प्रसन्न गतिका ही वायुके रूपमें आवाहन किया गया है। इस प्रकाशमान सुखमय गतिकी दिव्य उपयोगिता प्रथम तीन ऋचाओंमें बतलायी गयी है।

इस देवको अभिव्यक्ति करनी है—इसे उन यज्ञिय शक्तियोंको जो अबतक अभिव्यक्त नहीं हुई हैं, अबतक अवचेतनके अंधकारमें छिपी पड़ी हैं, सचेतन क्रियाके प्रकाशमें लाना है—**विहि होत्रा अवीता।** कर्मकाण्ड-परक व्याख्याके अनुसार इस वाक्यका अनुवाद यह किया जा सकता है, "उन हवियोंका तू भक्षण कर जो अभक्षित पड़ी हैं", या 'वी' धातुका दूसरा अर्थ 'पहुँचना' लें तो यह अर्थ कर सकते हैं, "उन यज्ञिय शक्तियोंके पास तू पहुँच जिनके पास नहीं पहुँचा गया है"; पर प्रतीक-रूपमें इन सब अनुवादोंका निष्कर्ष वही एक आध्यात्मिक अर्थ ही निकलता है। जिन शक्तियों और क्रियाओंको अबतक अवचेतनके अंदरसे बाहर नहीं निकाला गया है उन्हें **इन्द्र** तथा **वायु**की सम्मिलित क्रियाके द्वारा उस गहन गुफाके भीतरसे मुक्त कराना है और फिर उन्हें कर्ममें विनियुक्त कराना है।

क्योंकि उन्हें प्राणमय मनकी सामान्य क्रियाके प्रति नहीं बुलाया गया है। **वायु**को इन शक्तियोंको उस प्रकार अभिव्यक्त करना है जैसे कि वह "कोई परमानंदका अभिव्यञ्जक, कोई आर्य कर्मका कर्ता" हो, **विपो न रायो अर्यः।** ये शब्द पर्याप्त रूपसे उन शक्तियोंका स्वरूप दर्शा देते हैं जिन्हें उद्‌बुद्ध किया जाना है। तो भी यह संभव है कि यह वाक्य

1. दिविष्टिषु।
2. 4.46.1
3. इससे पहलेके दोनों सूक्तों 46,47 के देवता 'इन्द्रवायू' सम्मिलित हैं।
4. **वायो आ चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये।**

गूढ़ रूपसे इन्द्रकी तरफ संकेत करता हो[1] और इस प्रकार, जैसा कि बादमें स्पष्ट तौरपर व्यक्त हो गया है, यह दर्शाता हो कि यह आवश्यक है कि **वायु**की क्रिया उस अधिक प्रकाशमान **देव** (इन्द्र)की प्रकाशपूर्ण और अभीप्सायुक्त शक्तिसे नियन्त्रित हो। क्योंकि इन्द्रका ही प्रकाश परम आनंदके प्रकट होनेका रहस्य प्राप्त करा देता है और वह (इन्द्र) इस महान् **कार्य**में सर्वप्रथम प्रयास करनेवाला है। देवोंमेंसे इन्द्र, अग्नि और सूर्यके लिये ही विशेषतः 'अर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है। एक ऐसी गहनार्थताको अपने अंदर रखता हुआ जो शब्दानुवादमें प्रकट नहीं की जा सकती यह 'अर्य' शब्द उन्हें सूचित करता है जो उच्च अभीप्साके लिये उद्यत होते हैं और भद्र तथा आनंदको पानेके लिये एक हविःप्रदानके रूपमें महान् यत्न करते हैं।

दूसरी ऋचामें हमारे लिये इन्द्रके मार्ग-दर्शनकी आवश्यकता स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर दी गयी है। वायुको उन सब नकारोंको जो अनभिव्यक्तकी अभिव्यक्तिके विरोधमें हो सकते हैं परे हटाते हुए आना है, **निर्युवाणो अशस्तीः**। 'अशस्तीः'का शाब्दिक अर्थ है 'अभिव्यक्तियोंका न होना' और इससे प्रकट होता है वृत्र जैसी आच्छादक शक्तियों द्वारा उस **प्रकाश** और **शक्ति**का निरोध कर लिया जाना जो देवोंके प्रभाव और **शब्द**के कर्तृत्व द्वारा अभिव्यक्तिमें आनेको तैयार पड़े हैं, प्रकट होनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। शब्द है वह शक्ति जो अभिव्यक्त करती है, **शस्त्रम्, गीः, वचः**। परंतु इस बातकी आवश्यकता होती है कि दिव्य **शक्तियों** द्वारा शब्दकी रक्षा की जाय और इसे इसका उचित कर्तृत्व प्रदान किया जाय। यह कार्य **वायु**को करना है; उसे नकारोंकी, बाधाओंकी, अनभिव्यक्तिकी सब शक्तियोंको बाहर निकाल देना है। यह कार्य करनेके लिये 'नियुत्' घोड़ों सहित और इन्द्रको सारथिरूपमें लेकर, **नियुत्वान् इन्द्रसारथिः**, उसे अवश्यमेव पहुँचना है। इन्द्र, वायु और सूर्य—तीनोंके घोड़ोंके अपने-अपने यथोचित नाम हैं। इन्द्रके घोड़े हैं **हरि** या **बभ्रु** अर्थात् अरुणवर्णके या भूरे; सूर्यके **हरित**, जिससे अपेक्षाकृत अधिक गहरा, पूर्ण और घना चमकीलापन सूचित होता है; वायुके **नियुत्** हैं अर्थात् नियुक्त होनेवाले घोड़े क्योंकि वे उन क्रियावान् गतियोंके द्योतक हैं जो शक्तिको उसकी क्रियामें नियुक्त कर देती हैं। यद्यपि हैं तो वे वायुके घोड़े, पर हाँके जाने हैं इन्द्रसे अर्थात् वातमय और प्राणमय शक्तिके देवकी गतियाँ मनके देवके द्वारा परिचालित होनी हैं।

1. यदि हम 'विपो न रायो अर्यः' इस वाक्यांशका यह अनुवाद करें कि "आनंदका अभिव्यञ्जक जो अर्य (इन्द्र) है उसकी तरह" तू मो।

तीसरी ऋचा[1] पहले-पहल कुछ ऐसी लगती है कि इसमें एक असंबद्ध-सा विचार चल पड़ा; इसमें अंधकारावृत और सब रूपोंको अपने अंदर रखने-वाले **द्यावापृथिवी**का वर्णन है जो, अपने प्रयत्नमें, इन्द्र-चालित रथपर बैठे **वायु**की गतियोंके आज्ञानुवर्ती होते हैं या उनका अनुसरण करते हैं। उनका यहाँ नामोल्लेख न करके इस रूपमें वर्णन किया गया है कि कोई दो हैं जो काले या अंधकारावृत हैं और वसु या ऐश्वर्यको अपने अंदर रखे हुए, **वसुधिती**, हैं। परंतु 'वसुधिती' शब्दके प्रयोगसे पर्याप्त स्पष्ट तौर पर यह पता चल जाता है कि यह पृथिवी (वसुधा) है और क्योंकि द्विवचनांत प्रयोग है इसलिये उसके साथ उसका सहचर द्यौ भी आ जाता है। यह हमें ध्यानमें ले आना चाहिये कि यहाँ जिनका उल्लेख है वे पिता द्यौ और माता पृथिवी नहीं हैं, परंतु दो बहिनें, **रोदसी**, द्यौ व पृथिवीके स्त्री-रूप, हैं जो मानसिक तथा भौतिक चेतनाकी सामान्य शक्तियोंकी प्रतीक हैं। उनकी अंधकारमय अवस्थाएँ—मानसिक और भौतिक इन दो सीमाओंके बीचकी अंधकारावृत चेतनाकी अवस्थाएँ—ही वातमय क्रिया-शीलताकी प्रसन्न गति द्वारा वायुकी गतिके अनुसार या वायुके नियंत्रणके नीचे संघर्ष करने लगती हैं और अपने छिपे पड़े रूपोंको व्यक्त करने लग पड़ती हैं; क्योंकि सभी रूप उनके अंदर छिपे पड़े हैं और अवश्य ही उन्हें उनको व्यक्त करनेके लिये बाध्य किया जाना चाहिये। इस प्रकार हमें स्पष्ट हो जाता है कि यह ऋचा अपनी पूर्ववर्ती दो ऋचाओंके भावको पूर्ण करनेवाली ही है। क्योंकि सदा ही जब वेदको समुचित रूपमें समझ लिया जाता है तो इसकी ऋचाएँ एक गंभीर युक्तियुक्त संगति और अर्थपूर्ण क्रमके साथ विचारको खोलती दिखायी देती हैं।

अवशिष्ट दो ऋचाएँ उस परिणामका वर्णन करती हैं जो द्यौ और पृथिवीकी इस क्रियासे उत्पन्न होता है और साथ ही जब वायुका रथ द्रुत वेगसे **आनंद**की ओर दौड़ता है उस समयकी वायुकी गतिपर जो वे (द्यावापृथिवी) छिपे पड़े रूपोंको और अनभिव्यक्त शक्तियोंको व्यक्त करने लग पड़ते हैं उससे भी जनित होता है। सर्वप्रथम उसके घोड़ोंको अपनी सामान्यतया पूर्ण सरल संख्याको पा लेना है। "निन्यानवे घोड़े, जो मन द्वारा जोते जाते हैं, नियुक्त किये जायँ और वे तुझे वहन करें[2]।" बार-बार आनेवाली निन्यानवे, सौ और हजारकी संख्याएँ वेदमें प्रतीकात्मक

---

1. अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा।
2. वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव।

अर्थ रखती हैं, जिसे ठीक-ठीक खोल सकना बड़ा कठिन है। रहस्य संभवतः यह है कि सातकी रहस्यपूर्ण संख्याको उसीसे गुणा करके जो उनचासकी संख्या आती है उसे दुगना करके और उसके शुरूमें और अंतमें एककी संख्या जोड़नेसे सौकी संख्या बनती है, $1+49+49+1=100$। सात है अभिव्यक्त **प्रकृति**के मुख्य तत्त्वोंकी संख्या, दिव्य चेतनाके सात रूप जो विश्व-लीलामें कार्य करते हैं। प्रत्येकको पृथक्-पृथक् लिया जाय तो वह अपने अंदर बाकी छहोंको रखता है; इस प्रकार पूर्ण संख्या 7×7 अर्थात् 49 हो जाती है, और इसमें वह ऊपरकी एक की संख्या और जोड़ दी जाती है जिसमेंसे सब कुछ विकसित होता है, तो सब मिलाकर पचासका प्रमाण (scale) हो जाता है जो सक्रिय चेतनाका पूर्ण पैमाना बनता है। पर साथ ही आरोह और अवरोहकी शृंखलासे इस (एकके साथ जुड़नेवाली 49 की संख्या)का द्विगुणीकरण भी होता है, अवरोह देवोंका, आरोह मनुष्यका। इससे निन्यानवे (1 49+49)की संख्या बनती है जो वेदमें विविध रूपमें घोड़ों, नगरों, नदियोंके लिये, प्रत्येक स्थितिमें एक जुदा किंतु सजातीय प्रतीकवादको लिये हुए, प्रयुक्त की गयी है। यदि हम नीचे एककी उस अंधकारावृत संख्याको, जिसके अंदर सब कुछ अवरोहण करके आता है, ऊपर उस प्रकाशमय संख्याके साथ, जिसकी तरफ सब आरोहण करके जाता है, और जोड़ दें तो एक सौका पूरा प्रमाण (scale) बन जाता है।

इसलिये बादकी गतिके परिणामस्वरूप जिस शक्तिको उत्पन्न होना है वह चेतनाकी एक संमिश्र शक्ति है; वह है उस मानसिक क्रियाकी पूर्णतम गतिका उद्भव हो जाना, जो अभी मनुष्यके अंदर केवल निगूढ़ और सम्भाव्य अवस्थामें है,—मन द्वारा जोते जानेवाले निन्यानवे घोड़ोंका नियुक्त किया जाना। और अगली ऋचामें ऊपरवाली अंतिम एककी संख्या जोड़ दी गयी है। वहाँ हम सौ घोड़े देखते हैं, और क्योंकि क्रिया अब पूर्ण प्रकाशमान मनःसत्ताकी हो गयी है इसलिये ये घोड़े यद्यपि अब भी **वायु** और **इन्द्र**को वहन करते हैं, तथापि अब ये केवल 'नियुत्' नहीं रहे किंतु 'हरि' हो गये हैं, जो इन्द्रके चमकदार घोड़ोंका रंग है। "ओ वायु, तू सौ चमकीले घोड़ोंको नियुक्त कर, जो पोष्य हैं, जिन्हें बढ़ाया जाना है[1]।"

पर 'पोष्य' क्यों हैं, बढ़ाये जाने योग्य क्यों हैं? क्योंकि सौकी संख्या तो विविधतया संयुक्त गतियोंकी सरल पूर्णताको ही सूचित करती है, उनकी

---

1. **वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।**

पूरी सम्मिश्ररूपताको नहीं। सौमेंसे प्रत्येकको दससे गुणित किया जा सकता है; सब अपने निज-निज प्रकारसे वर्धित या पोषित किये जा सकते हैं; क्योंकि 'पोष्याणाम्' शब्दसे जो वृद्धि सूचित होती है वह इसी प्रकारकी है। इसलिये ऋषि कहता है कि या तो तू सौकी सरल पूर्णताके साथ आ जो बादमें बढ़कर दशगुणित सौ अर्थात् हजारकी पूर्ण सम्मिश्ररूपताको प्राप्त हो जायगी, या यदि तेरी इच्छा हो तो एकदम हजारके साथ आ जा और अपनी गतिको इसकी संपूर्ण संभावित शक्तिके पूरे वेगमें आ जाने दे[1]। जिसे वह चाह रहा है वह है पूर्णतः वैविध्ययुक्त, सबको अपनी परिधिमें ले लेनेवाला, सबको शक्ति प्रदान करनेवाला मानसिक प्रकाश जो सत्ता, शक्ति, आनन्द, ज्ञान, मनःसत्ता, प्राणशक्ति, भौतिक क्रिया-शीलताकी अपनी पूर्ण उन्नतिसे युक्त है। क्योंकि यदि यह प्राप्त हो जाय तो अवचेतन बाध्य हो जाता है कि वह पूर्णता-प्राप्त मनकी इच्छापर अपने सब छिपे पड़े संभाव्य रूपोंको मुक्त कर देवे ताकि पूर्णताप्राप्त जीवन (प्राण)-की समृद्ध और प्रचुरतापूर्ण गति हो सके।

---

1. उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा।

नवां अध्याय

बृहस्पति—आत्माकी शक्ति

ऋग्वेद, मण्डल 4, सूक्त 50

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥1॥

(यः बृहस्पतिः) जिस बृहस्पतिने (त्रिषधस्थः) हमारी परिपूर्णताके त्रिविध लोकमें स्थित होकर (रवेण) आवाज द्वारा (सहसा) अपनी शक्तिसे (ज्मः अन्तान्) पृथिवीके अंतोंको (वि तस्तम्भ) थाम दिया है (तम्) उसपर (प्रत्नासः ऋषयः) प्राचीन ऋषियोंने (दीध्यानाः) ध्यान लगाया था और (विप्राः) प्रकाशपूर्ण होकर उन्होंने (मन्द्रजिह्वम्) आनंदमयी जिह्वावाले उसको (पुरः दधिरे) अपने आगे निहित किया था ॥1॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥2॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति! (धुनेतयः) अपनी गतिके अन्तर्वेगके कंपनोंसे कंपित होते हुए, (सुप्रकेतं मदन्तः) पूर्णताप्राप्त चेतनामें आनंद लेते हुए (ये) जिन्होंने अर्थात् उन ऋषियोंने (पृषन्तम्) प्रचुर, (सृप्रम्) तीव्र, (अदब्धम्) अजय्य, (ऊर्वं) विशाल (योनिम्) लोकको, जिसमेंसे यह सत्ता पैदा हुई थी, (नः अभि ततस्रे) हमारे लिये बुन दिया है। (बृहस्पते) हे बृहस्पति! (अस्य रक्षतात्) उसकी तू रक्षा कर ॥2॥

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥3॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति! (या परमा परावत्) जो सर्वोच्च परम सत्ता है उसे (अतः) यहाँसे, इस लोकसे (ते ऋतस्पृशः) वे सत्यस्पर्शी ऋषि (आ) प्राप्त करते हैं और (निषेदुः) उसमें निषण्ण हो जाते हैं। (तुभ्यम् अवताः खाताः) तेरे लिये [शहदके] कुएँ खुदे हुए हैं (अद्रिदुग्धाः) जो इस पहाड़ीमेंसे रिस रहे हैं, और (मध्वः) उनके मधुर रस (अभितः विरप्शं श्चोतन्ति) निकलकर चारों तरफ उमड़-उमड़कर बह रहे हैं ॥3॥

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥4॥

(बृहस्पतिः) बृहस्पति, (सप्तास्यः) जो सात मुखोंवाला है, (सप्तरश्मिः) सात किरणोंवाला है, (तुविजातः) बहुतसे जन्मोंवाला है, (महो ज्योतिषः) विपुल ज्योतिमेंसे, (परमे व्योमन्) सर्वोच्च द्युलोकमें, (प्रथमं जायमानः) सर्वप्रथम प्रादुर्भूत होता हुआ, (रवेण) अपनी आवाजसे (तमांसि) उन अंधकारोंको जो हमें घेरे हुए हैं (वि अधमत्) पूर्णतया दूर कर देता है ॥4॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥5॥

(सः) उस बृहस्पतिने (सुष्टुभा गणेन) स्तुति करनेवाले स्वरतालके गणसे, (सः ऋक्वता गणेन) उसने प्रकाशमान गीतोंके गणसे (रवेण) आवाजके साथ (वलं फलिगं रुरोज) 'वल'के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। (बृहस्पतिः हव्यसूदः उस्रियाः उदाजत्) बृहस्पति उन प्रकाशवती [गौओं]को, जो हमारी हवियोंको प्रेरणा देती हैं, ऊपर हाँक ले जाता है, (कनिक्रदत्) जब वह उनको ले जा रहा होता है तब वह जोरसे गर्जता है, (वावशतीः) [वह गौओंको ऊपर हाँक ले जाता है] जो रंभाकर उसका प्रत्युत्तर देती हैं ॥5॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥6॥

(एव) इस प्रकार (पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे) उस **पिता, सार्वभौम देव,** वृषा [वृषभ]के लिये, (यज्ञैः नमसा हविर्भिः) यज्ञोंसे, नमनसे, हवियोंसे, (विधेम) आओ, हम समर्पण करें। (बृहस्पते) हे बृहस्पति, (वीरवन्तः) वीरतासे अनुप्राणित और (सुप्रजाः) संततियोंसे समृद्ध होते हुए (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम आनंदोंके अधिपति हो जावें ॥6॥

स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम् ॥7॥

(यः बृहस्पतिं सुभृतं बिभर्ति) जो बृहस्पतिको अपने अंदर सुभृत रूपमें धारण कर लेता है और (वल्गूयति) आनंदमें नाचने लगता है (पूर्वभाजम् वन्दते) तथा अपने आनंदोपभोगके प्रथम फलोंको उसे अर्पित करता हुआ उसकी वन्दना करता है, (स इद् राजा) वह निश्चय ही राजा है, (विश्वा प्रतिजन्यानि) लोकोंके अंदर जो भी मुकाबिला करनेवाले हैं उन सबको वह (शुष्मेण वीर्येण) अपनी शक्तिसे, अपनी वीरतासे (अभितस्थौ) परास्त कर देता है ॥7॥

स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति ॥8॥

हाँ, (यस्मिन् राजनि) जो राजा है और जिसके अंदर (ब्रह्मा) आत्माकी शक्ति (पूर्वः एति) आगे-आगे चलती है, (स इत् सुधितः) वह सुस्थित होकर (स्वे ओकसि क्षेति) अपने निजी घरमें निवास करता है, (तस्मै इळा विश्वदानीं पिन्वते) उसके लिए इडा हर समय वृद्धिको प्राप्त होती रहती है, (तस्मै विशः स्वयमेव नमन्ते) उसके प्रति सब प्रजाएँ स्वयमेव नत हो जाती हैं ॥8॥

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥९॥

(अप्रतीतः) वह अनाक्रान्त रहता है, (धनानि संजयति) वह उन सब धनोंको पूर्णतया जीत लेता है जो (प्रतिजन्यानि) उन लोकोंके हैं जो उसके सम्मुख होते हैं (उत या सजन्या) और जो उस लोकके हैं जिसमें वह रहता है। (अवस्यवे ब्रह्मणे) अपनी अभिव्यक्तिको चाहनेवाली आत्मशक्तिके लिये (यः वरिवः कृणोति) जो अपने अंदर सर्वोच्च भद्रको रचता है (तं देवाः अवन्ति) उसकी देव पालना करते हैं ॥9॥

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥10॥

(बृहस्पते इन्द्रश्च) हे बृहस्पति! तू और इन्द्र (सोमं पिबतम्) सोमरस पिओ, (अस्मिन् यज्ञे मन्दसाना) इस यज्ञमें आनंद लेते हुए, (वृषण्वसू) ऐश्वर्यको बरसाते हुए। (इन्दवः वाम् आविशन्तु) इस सोम-रसके आनंदकी शक्तियाँ तुम्हारे अंदर प्रविष्ट हों, और वे (स्वाभुवः) अपने पूर्ण रूपको प्राप्त हों, (अस्मे सर्ववीरं रयिं नियच्छतम्) हमारे अंदर उस आनंदको जो सब प्रकारकी शक्तिसे परिपूर्ण है, नियंत्रित कर दो ॥10॥

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः ॥11॥

(बृहस्पते इन्द्र) हे बृहस्पति! हे इन्द्र! (नः सचा वर्धतं) तुम दोनों एक साथ हमारे अंदर वृद्धिको प्राप्त होओ। (सा वां सुमतिः) तुम दोनोंकी वह सुमति—मनकी परिपूर्णता (अस्मे भूतु) हमारे अंदर विरचित हो जाय। (धियः अविष्टम्) विचारोंकी पालना करो, (पुरन्धीः जिगृतम्) मनकी बहुविध शक्तियोंको प्रकट कर दो; (अरातीः) सब दरिद्रताओंको (अर्यः वनुषाम्) जो उन द्वारा लायी जाती हैं जो आर्योंको जीतकर अपने वशमें कर लेना चाहते हैं (जजस्तम्) विनष्ट कर दो ॥11॥

भाष्य

बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्मा ये तीन नाम उस देवके हैं जिसे संबोधित करके ऋषि वामदेवने यह रहस्यमय स्तुति-गीत गाया है। बादकी पौराणिक देववंशावलीमें बृहस्पति और ब्रह्मा अलग-अलग देवता हो गये हैं। ब्रह्मा है **स्रष्टा,** जो उन तीन देवोंमेंसे एक है जिनसे महान् पौराणिक देवत्रयी बनी है; बृहस्पति वहाँ कोई बहुत महत्त्वका देवता नहीं रह गया, वह देवोंका आचार्य है और प्रसंगतः बृहस्पति नामक ग्रहका संरक्षक है; ब्रह्मणस्पति जो बृहस्पति और ब्रह्मा दोनोंको जोड़नेवाली बीचकी कड़ी था, विलुप्त ही हो गया है। इन वैदिक देवोंके बाह्यरूपका पुनरुद्धार करनेके लिये हमें उस टूटी हुई शृंखलाको फिरसे जोड़ना होगा और एक दूसरेसे वियुक्त हो गये इन दो नामोंके प्रचलित अशुद्ध अर्थों (मूल्य व महत्त्व)को मूलभूत वैदिक विचारके प्रकाशमें ठीक करना होगा।

'ब्रह्मन्' वेदमें सामान्यतः 'वैदिक शब्द' या 'मंत्र'का वाची है—यहाँ 'वैदिक शब्द' या 'मन्त्र'से हमारा अभिप्राय है उसका गंभीरतम रूप, अर्थात् आत्मा या सत्ताकी गहराइयोंके अंदरसे उठता हुआ अंतःप्रेरणाका शब्द। एक तालबद्ध शब्दने ही लोकोंको सृजा है और सदैव सृजन कर रहा है। सारा जगत् एक प्रकाशन या अभिव्यंजन है, एक सृजन है जो शब्द द्वारा किया गया है। **सचेतन सत्ता** जब अपनी वस्तुओंको अपने अंदर अपने-आप ही, **त्मना,** प्रकाशमान रूपमें व्यक्त कर रही होती है तब वह अतिचेतन (superconscient) होती है; जब वह अपनी वस्तुओंको धुंधले रूपमें अपने अंदर छिपाये रखती है तब वह अवचेतन (subconscient) होती है। जो उच्चतर है, स्वतःप्रकाशमान है, वह अस्पष्टतामें, रात्रिमें, अंधकारसे ढके अंधकारमें, **तमः तमसा गढम्**में उतरता है जहाँ चेतनाके खंडोंमें विभक्त होनेके कारणसे सब कुछ रूपरहित सत्ताके अंदर छिपा पड़ा है, **तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्**। शब्दके द्वारा यह उस **रात्रि**के अंदरसे निकलकर चेतनमें अपनी विशाल एकताको पुनः विरचित करनेके लिये फिर ऊपर उठता है, **तन्महिना अजायत एकम्**। यह विशाल **सत्ता,** सबको अपने अंदर रखनेवाली, सबको सृजनेवाली यह चेतना 'ब्रह्मा' है। यह **आत्मा** है जो मनुष्यमें अवचेतनके अंदरसे उद्भूत होती है और ऊर्ध्वमुख होकर अतिचेतनकी ओर जाती है। और **सर्जक-शक्ति**का शब्द जो आत्मामेंसे निकलकर ऊपरकी तरफ जाता है वह भी 'ब्रह्मन्' है।

यह **देव** अपने-आपको आत्माकी सचेतन **शक्ति**के रूपमें व्यक्त करता है, **शब्द**के द्वारा, अवचेतनके जलोंमेंसे लोकोंको रचता है—महत्त्वपूर्ण सृष्टि-सूक्त (ऋग्० 10.129)में इन जलोंको स्पष्ट रूपसे 'अवचेतनके जल'

यह नाम दिया गया है, 'अप्रकेतं सलिलं सर्वम्'—अर्थात् अचेतन समुद्र जो सब कुछ था'। इस देवकी यही शक्ति 'ब्रह्मा' है, इस 'ब्रह्मा' नाममें जो बल है वह सचेतन आत्म-शक्तिपर ही अधिक पड़ता है न कि उस शब्दपर जो इस आत्म-शक्तिको प्रकट करता है। चेतन मानव-सत्ताके अंदर भिन्न-भिन्न लोकस्तरोंकी अभिव्यक्ति होती-होती अंतमें जहाँतक पहुँचती है वह है अतिचेतनकी, सत्य और आनंदकी, अभिव्यक्ति और यह (अति-चेतनकी) अभिव्यक्ति ही परम शब्दका या वेदका अधिकार है, विशेष कार्य है। इस परम शब्दका अधिपति है बृहस्पति, 'बृहस्पति' नाममें जो बल है वह शब्दकी शक्तिपर अधिक पड़ता है न कि उस सामान्य आत्म-शक्तिके विचारपर जो इसके पीछे रहती है। बृहस्पति देवोंको और मुख्यतः इन्द्रको जो 'मन'का अधिपति है, ज्ञानका शब्द, अतिचेतनका तालबद्ध शब्दाभिव्यंजन, प्रदान करता है, जब कि वे (देव) मनुष्यके अंदर महान् सिद्धिके लिये 'आर्य'-शक्तियोंके रूपमें कार्य करते हैं। यह आसानीसे समझमें आ सकता है कि किस प्रकार इन दोनों देवोंका विचार पौराणिक प्रतीकवादमें आकर ब्रह्मा स्रष्टा तथा बृहस्पति सुराचार्य इस विशेष रूपमें आ गया जहाँ इनका अर्थ यद्यपि कुछ विस्तृततर हो गया पर साथ ही कम सूक्ष्म और कम गंभीर भी हो गया। 'ब्रह्मणस्पति' इस नाममें ये दोनों विभिन्न बल एक हो गये हैं और बराबर हो गये हैं। यह उसी एक देवके सामान्य और विशेष रूपोंके बीचमें उन्हें जोड़नेवाला नाम है।

बृहस्पति वह है जिसने पृथिवीकी अर्थात् भौतिक चेतनाकी सीमाओं और परिच्छिन्नताओंको दृढ़ताके साथ थाम लिया है। वह सत्ता जिसमें से सब रचनाएँ बनायी गयी हैं एक घुंघली, तरल और अनिश्चयात्मक गति है,—'सलिलम्' अर्थात् 'पानी' है। प्रथम आवश्यकता यह है कि इस तरल, बहते हुए और अस्थिर तत्त्वमेंसे एक कामलायक स्थायी रचना की जाय ताकि चेतनके जीवनके लिये एक आधार तैयार हो सके। यह काम बृहस्पति भौतिक चेतना तथा इसके लोकके निर्माणके रूपमें करता है,—करता है शक्ति द्वारा, सहसा, अवचेतनके प्रतिरोधपर एक प्रकारका जबर्दस्त दबाव डालकर। इस महान् रचनाको वह निष्पन्न करता है मन, प्राण, शरीरके त्रिगुणित लोकको दृढ़तया स्थापित करके,—ये मन, प्राण, शरीर तीनों विश्वव्यापी कार्य तथा सिद्धिके इस जगत्में सदा इकट्ठे और एक दूसरेमें आवेष्टित (निवर्त्तित) रहते हैं या एक दूसरेमेंसे उद्भूत (विवर्तित) होते रहते हैं। इन तीनोंके मिलनेसे 'अग्नि'का त्रिगुणित स्थान (धाम) बनता है और वहाँ बैठकर वह परिपूर्णता या निष्पत्तिके उत्तरोत्तर कार्यको,

जो यज्ञका लक्ष्य है, सिद्ध करता है। बृहस्पति रचना करता है शब्द द्वारा, अपनी आवाज (पुकार) द्वारा, **'रवेण'** क्योंकि शब्द आत्माकी उस समयकी आवाज (पुकार) ही है जब कि वह सदा-नवीन बोधों और निर्माणोंके लिये जागृत होता है। 'बृहस्पतिने शक्ति द्वारा पृथिवीके अंतोंको दृढ़ताके साथ थाम दिया, परिपूर्णताके त्रिगुणित धाममें स्थित होकर अपनी आवाजके द्वारा थाम दिया' **यः तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिः त्रिषधस्थो रवेण।**

कहा गया है कि उस (बृहस्पति)पर पुरातन या प्राचीन ऋषियोंने ध्यान लगाया; ध्यान से वे मनमें प्रकाशपूर्ण हो गये; प्रकाशपूर्ण होकर उन्होंने उसे आनंदमयी जिह्वावाले देवता, **मन्द्रजिह्वम्**के रूपमें अपने आगे निहित किया,—आनंदमयी जिह्वाका अर्थ है वह जिह्वा जो सोमके मदजनक रस, **'मद, मधु'**का आनंद लेती है, मधुरताकी उस लहर, **मधुमान् ऊर्मिः,** का आनंद लेती है जो सचेतन सत्ताके अंदर छिपी पड़ी थी और धीरे-धीरे क्रमशः इसमेंसे निकालकर बाहर लायी गयी है।[1] पर प्रश्न यह है कि यह किनके विषयमें कहा गया है? क्या ये वे सात दिव्य ऋषि, **ऋषयोः दिव्याः,** हैं जो चेतनाको उसके सातों स्तरोंमेंसे प्रत्येकमें सिद्ध करके और उन स्तरोंको इकट्ठा समस्वर करके जगत्के विकासका निरीक्षण किया करते हैं, अथवा ये वे मानव पितर, **पितरो मनुष्याः,** हैं जिन्होंने सबसे पहले उच्च ज्ञानको खोजकर पाया था और मनुष्यके लिये सत्य-चेतनाकी असीमताको विरचित किया था? दोनोंमेंसे कोई भी क्यों न अभिप्रेत हो, पर संकेत अपेक्षाकृत मानव पितरों, **पूर्वजों,** द्वारा की गयी सत्यकी विजयकी ओर ही अधिक प्रतीत होता है। 'दीध्यानाः' शब्दके वेदमें दोनों अर्थ होते हैं, एक तो चमकना, प्रकाशमान होना और दूसरा विचारना, ध्यान करना, विचारमें केन्द्रित करना। इस शब्दका प्रयोग भी सतत रूपसे द्व्यर्थकतावाले अद्भुत वैदिक अलंकारके साथ हुआ है। पहले अर्थ की दृष्टिसे इसका संबंध 'विप्राः' के साथ जुड़ता है, और भाव यह निकलता है कि ऋषि बृहस्पतिकी विजयशाली शक्तिके द्वारा विचारमें अधिकाधिक प्रकाशमान (दीध्यानाः) होते चलते हैं और अंतमें जाकर वे **विप्राः (प्रकाशपूर्ण)** बन जाते हैं। दूसरे अर्थमें इसका संबंध 'दधिरे'के साथ होगा और भाव यह निकलेगा कि ऋषि उन अंतर्ज्ञानोंपर जो बृहस्पतिकी पवित्र और प्रकाशपूर्ण शब्दरूपी आवाजके द्वारा आत्मामेंसे ऊपर उठते हैं, ध्यान लगाकर, उन्हें विचारमें

---

1. **तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।**

दृढ़ताके साथ थामकर (दीध्याना:), मनमें प्रकाशपूर्ण हो गये जो मन पराचेतन के पूर्ण अंत:प्रवाहके लिये खुला हुआ था। इस प्रकार वे आत्माके विचारोंकी उस क्रियाशीलताको जो सदा पीछे रहकर, पर्देसे ढकी रहकर, काम करती है सचेतन सत्ताके सम्मुख ले जानेमें और उसे अपने स्वभावकी मुख्य क्रिया बना लेनेमें समर्थ हो गये। परिणामत: बृहस्पति उनके अंदर सत्ताके आनंदको, आनंदको, **अमरता**के रसको, परम आनंदको उनके लिये आस्वादन करने योग्य हो गया। नियत भौतिक चेतनाका निर्माण पहली सीढ़ी है, अंतर्ज्ञान-युक्त आत्माको अपनी सचेतन क्रियाओंके नेताके रूपमें मनमें आगे ले आकर दिव्य आनंदके प्रति यह जागरण हो जाना सिद्धि-प्राप्ति है या कमसे कम इस सिद्धिकी शर्त है। (देखो, मंत्र प्रथम)

परिणाम होता है मनुष्यके अंदर **सत्य-चेतना**का निर्मित हो जाना। प्राक्तन ऋषियोंने गतिके तीव्रतम कंपनोंको पा लिया है; चेतनाके जलकी सबसे अधिक पूर्ण और वेगवती धारा जो हमारी क्रियाशील सत्ताकी घटक होती है अब अंधकाराच्छन्न नहीं रही है, जैसे कि अवचेतनके अंदर थी, बल्कि पूर्ण चेतनाके उल्लाससे भरपूर हो गयी है,—सृष्टिसूक्त (10.129) में वर्णित समुद्रकी तरह वह 'अप्रकेतम्' नहीं रही, 'किंतु 'सुप्रकेतम्' हो चुकी है। उन (प्राक्तन) ऋषियोंका वर्णन इस प्रकार किया गया है'—**धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तः**'। मानवीय मन:सत्ताके अंदर अपने भरपूर प्रकाश और आनंदसे युक्त चेतनाकी क्रियाओंके इस वेगको प्राप्त करके उन्होंने मानवजातिके लिये इन वेग-युक्त, प्रकाशमय और उल्लासयुक्त बोधोंके तंतुओंसे **सत्य-चेतना**को, **ऋतं बृहत्**को बुना है, जो इस सचेतन सत्ताका गर्भ या उत्पत्तिस्थान है। क्योंकि पराचेतनमेंसे ही निकलकर सत्ता अवचेतनके अंदर अवतरित होती है और अपने साथ उसे लिये होती है जो यहाँ व्यक्तिगत मानव सत्ता, चेतन आत्मा, के रूपमें उद्‌भूत हो जाता है। इस **सत्य-चेतना**की प्रकृति अपने आपमें यह होती है कि यह अपने उत्सेचनमें प्रचुर होती है, **पृथन्तम्**, या (इसका यह अर्थ हो सकता है) अपने समस्वरतायुक्त गुणोंके वैविध्यकी दृष्टिसे बहुरूप होती है; अपनी गतिमें यह तीव्र होती है, **सुप्रम्**; उस प्रकाशपूर्ण तीव्रताके द्वारा यह उस सबपर विजय पा लेती है जो इसे परास्त करना या तोड़ना चाहता है, यह **अदब्धम्** होती है; सबसे बढ़कर यह कि यह विशाल, बृहत्, असीम होती है, **ऊर्वम्**। इन सब रूपोंमें यह उस पहली सीमित गतिसे उल्टी है जो अवचेतनके अंदरसे निकलती है; क्योंकि वह होती है परिमित और घूसर, मंद और निगड़ित, प्रतिद्वन्द्वी शक्तियोंके विरोध द्वारा आसानीसे पराजित और नष्टभ्रष्ट हो जानेवाली, क्षेत्रकी दृष्टिसे

अविस्तीर्ण तथा सीमित। पर मनुष्यके अंदर व्यक्त हुई यह **सत्य-चेतना** न-माननेवाली शक्तियोंके, वृत्रोंके, 'वल'के, विद्रोहके कारण फिर उससे अंधकाराच्छन्न हो सकती है। इसलिये ऋषि बृहस्पतिसे प्रार्थना कर रहा है कि तू अपनी आत्म-शक्ति की परिपूर्णताके द्वारा उस संभावित अंधकाराच्छन्नतासे मेरी रक्षा कर। (देखो, मंत्र दूसरा)

यह सत्य-चेतना उस पराचेतनका मूल आधार है जिसका स्वरूप **आनंद** है। पराचेतनके परम, **परमा परावत्**, उपनिषदोंके **परम परार्ध** किंवा सच्चिदानंदकी सत्तामेंसे ही मानव सत्ता अवतरित हुई है। इसी सर्वोच्च सत्ताकी ओर वे इस भौतिक चेतनासे, **अतः**, ऊपर उठ जाते हैं, जो पुरातन ऋषियोंकी तरह **सत्य-चेतना**का संस्पर्श प्राप्त करते हैं, **बृहस्पते या परमा परावत् अत आ ते ऋतस्पृशो नि षेदुः**। वे इसे अपना धाम और घर, **क्षय, ओकस्**, बना लेते हैं। क्योंकि भौतिक सत्ताकी पहाड़ीमें आत्माके लिये वे माधुर्यके लबालब भरे कुएँ खुदे हैं जो इस पहाड़ीकी दारुण कठोरता के अंदरसे छिपे पड़े **आनंद**को निकाल लाते हैं; सत्यका संस्पर्श होने पर शहदकी नदियाँ, अमृत-रसके वेगयुक्त झरने, क्षरित और प्रवाहित होने लगते हैं और मानवीय चेतनाके समस्त धरातलपर प्रचुरताकी बाढ़के रूपमें फूट पड़ते हैं, **तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वश्चोतन्ति अभितो विरप्शम्**। (देखो, मंत्र तीसरा)।

इस प्रकार बृहस्पति **सत्य-चेतना**के उस प्रकाशकी बृहत्ताके अंदरसे, उच्च पराचेतनाके उस सर्वोच्च दिव्य धाममें, **'महो ज्योतिषः परमे व्योमन्'**, देवोंमें सबसे पहले व्यक्त होकर अपने आपको हमारी चेतन सत्ताके पूर्ण सप्तविध रूप (सप्त-आस्य)में प्रकट करता है, स्थूल भौतिकतासे लेकर विशुद्धतम आध्यात्मिकता तक क्रमबद्ध हुए अपने सातों लोकोंकी अंतः-क्रीड़ाके समस्त रूपोंमें अनेक प्रकारसे पैदा (बहुजात) होकर, उनकी उस सप्तविध रश्मिसे, जो हमारे सब उपरिस्तरों तथा समस्त गहनस्तरोंको प्रकाशित करती है, प्रकाशमान होकर प्रकट होता है और अपनी विजयशाली आवाजसे **रात्रि**की सब शक्तियोंको, **अचेतन** के समस्त आक्रमणोंको, सब संभव अंधकारोंको निराकृत तथा छिन्न-भिन्न कर देता है। (देखो, मंत्र चौथा)।

शब्दकी शक्तियों द्वारा, आत्म-शक्तियोंके स्वरतालबद्ध गण द्वारा ही बृहस्पति सबको अभिव्यक्त करता तथा उन सारे अंधकारोंको जो हमें घेरे हुए हैं, दूर करके **रात्रि**को समाप्त कर देता है। ये (गण) वेदके "ब्रह्मा" हैं जो शब्दसे, 'ब्रह्म' या 'मन्त्र'से, आविष्ट या पूरित होते हैं, ये वे हैं जो यज्ञमें दिव्य 'ऋक्'को, 'स्तुभ्' या 'स्तोम' को द्यौकी तरफ उठाते हैं। 'ऋक्'

जिसका संबंध प्रकाश या चमकवाची 'अर्क' शब्दसे है, वह शब्द है जो प्रकाशकारक चेतनामें रहनेवाली सिद्धिदायक शक्ति समझा जाता है; 'स्तुभ्' वह **शब्द** है जो वह शक्ति समझा जाता है जो वस्तुओंके नियमित स्वर-ताल के अंदर स्तुति करती है तथा दृढ़ करती है। जिसे व्यक्त होना है वह चेतनामें साधित, स्तुत और अंततोगत्वा **शब्द**की शक्ति द्वारा दृढ़ीकृत होता है। 'ब्रह्मा'-गण या ब्राह्मण-शक्तियाँ **शब्द**के पुरोहित हैं, दिव्य स्वरताल द्वारा रचना करनेवाले हैं। उन्हींकी आवाज द्वारा बृहस्पति **'वल'**को टुकड़े-टुकड़े कर देता है।

जैसे **वृत्र** वह शत्रु, वह **दस्यु** है जो चेतन सत्ताके सप्तविध जलोंके प्रवाहको रोक लेता है—**अचेतन**का मूर्त रूप है, वैसे ही **वल** वह शत्रु, वह **दस्यु** है जो अपने बिल, अपनी गुफा **(बिलम्, गुहा)** में **प्रकाश**की गौओंको रोक लेता है; वह अवचेतनका मूर्त रूप है। **वल** अपने आपमें अंधकारपूर्ण या अचेतन नहीं है, किंतु अंधकारका कारण है। बल्कि अधिक ठीक तो यह है कि उसके अंदरका पदार्थ प्रकाशवाला है, **वलं गोमन्तम् वलं गोवपुषम्,** किंतु वह उस प्रकाशको अपने ही अंदर रोक रखता है और उसकी सचेतन अभिव्यक्ति नहीं होने देता। उसे तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देना आवश्यक होता है, ताकि उसके अंदर छिपी पड़ी ज्योतियाँ मुक्त होकर बाहर आ सकें। उनके छुड़ारेको यहाँ इस तौरपर कहा गया है कि बृहस्पति उन ज्योतिष्मतियोंको, उषाकी गौओंको (उस्रियाः) नीचे भौतिकताकी पहाड़ीकी गुफामेंसे छुड़ाकर बाहर निकाल लाता है और उन्हें ऊपर हमारी सत्ताकी ऊँचाइयोंकी तरफ हांक देता है जहाँ पर उनके साथ तथा उनकी सहायतासे हम चढ़ जाते हैं। वह उन्हें पराचेतन ज्ञानकी वाणीसे पुकारता है; वे सचेतन अंतर्ज्ञान (conscious intuition)के प्रत्युत्तरके साथ उसका अनुसरण करती हैं। वे अपने गतिक्रममें क्रियाओंको अंतर्वेग प्रदान कर देती हैं जो क्रियाएँ यज्ञकी सामग्रीका रूप धारण करती हैं और देवोंको अर्पितकी जानेवाली हवियाँ बनती हैं और ये भी ऊपर ले जायी जाती रहती हैं जब तक ये उसी दिव्य लक्ष्य तक नहीं पहुँच जातीं। (देखो, मंत्र पांचवां)।

यह स्वतःप्रकटनशील आत्मा, यह बृहस्पति, **पुरुष** है, सब वस्तुओंका **पिता** है; यह विश्वव्यापी देव है; यह **वृषभ** है, उन सब प्रकाशमय शक्तियोंका अधिपति और जनक है जो विकसित (विवर्तित) हैं या अन्तर्निहित (निवर्तित) हैं, जो दिनमें सक्रिय होती हैं या वस्तुओंकी रात्रिमें धुंधले रूपसे कार्य करती हैं, जिनसे यह संभूति या जगत्-सत्ता, **'भुवनम्'**, बनी है। बृहस्पति नामसे इसी पुरुषके प्रति ऋषि विधिबद्ध यज्ञमें हमसे

हमारे जीवन (सत्ता)की सभी सामग्रियोंको उस यज्ञिय कर्म द्वारा उत्सर्ग कराना चाह रहा है, जिसमें वे पूजा और समर्पणके साथ भेंटकी गयी, स्वीकारकी जाने योग्य हवियोंके तौर पर उस **सर्वात्माके** प्रति अर्पित कर दी जाती हैं। यज्ञके द्वारा हम इस देवकी कृपासे जीवनके संग्रामके लिये वीरोचित शक्तिसे भरपूर हो जायंगे, आत्माकी प्रजामें समृद्ध और उन आनंदोंके अधिपति हो जायंगे जो दिव्य प्रकाशमयता तथा सत्य क्रिया द्वारा अधिगत होते हैं। (देखो, मंत्र छठा)।

क्योंकि आत्माकी शक्ति तथा अतिक्रामक शक्ति उस मनुष्यके अंदर पूर्णताको प्राप्त हो जाती हैं, जो प्रकृतिमें नेत्री-शक्तिके रूपमें आगे लायी जा चुकी इस सचेतन आत्म-शक्ति (बृहस्पति)को अपने अन्दर धारण कर लेता है तथा दृढ़ताके साथ धारण किये रखनेमें समर्थ होता है, जो इस द्वारा आन्तरिक गतियोंकी त्वरित तथा आनंदपूर्ण गति तक पहुँच जाता है, जैसे कि प्राचीन ऋषि पहुँचा करते थे, अपने अंदर प्राणके घोड़ेकी उन जैसी समस्वरतायुक्त प्लुतगति और वल्गित (दुलक-चाल)को अधिगत कर लेता है, तथा सदैव इस देवको सब परिणतियों तथा आनंदभोगोंके प्रथम फल अर्पित करता हुआ, इसकी पूजा करता है। उस शक्ति (आत्माकी शक्ति) द्वारा वह उसपर हावी हो जाता है और उस सबपर प्रभुत्व पा लेता है जो जन्मोंमें, लोकोंमें, चेतनाके स्तरोंमें उसके सम्मुख आता है—चेतनाके उन स्तरोंमें जो जीवनकी प्रगतिमें उसके अनुभवके आगे खुल पड़ते हैं। वह राजा, **सम्राट्**, हो जाता है, अपनी जगत्परिस्थितियोंपर शासन करनेवाला हो जाता है। (देखो, मंत्र सातवाँ)।

क्योंकि ऐसा ही आत्मा अपने स्वकीय घरमें, **सत्य-चेतनामें**, असीम अखण्डतामें, एक दृढ़प्रतिष्ठ सत्ताको प्राप्त करता है, और उसके लिये हर समय **इडा**, सर्वोच्च वाणी, **सत्य-चेतनाकी** मुख्य शक्ति,—वह इडा जो ज्ञानके अंदर सीधी स्वतःप्रकाशयुक्त दृष्टि (revealing vision) के रूपमें आती है, और उस ज्ञानके अंदर वस्तुसंबन्धी सत्य की क्रिया, परिणाम तथा अनुभूतिकी दृष्टिसे वस्तुसंबंधी सत्यकी स्वतःस्फुरित अन्तःप्राप्ति बन जाती है,—निरंतर आकार तथा प्राचुर्यमें वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। उसके प्रति सब प्रजाएँ स्वयमेव नत हो जाती हैं, वे उसके अंदर विद्यमान सत्यके वशवर्ती हो जाती हैं क्योंकि यह सत्य और उन प्रजाओंके अंदर का सत्य एक ही होता है। क्योंकि सचेतन **आत्म-शक्ति**, जो विराट् रचयित्री तथा साधयित्री है, उसकी सब क्रियाओंमें नेतृत्व करती है; यह (आत्म-शक्ति) उसे सब प्रजाओंके साथ उसके संबंधोंमें सत्यका पथप्रदर्शन प्रदान

करती है और इसलिये वह एक पूर्ण तथा स्वत:स्फूर्त्त सिद्धहस्तताके साथ उन (प्रजाओं) पर क्रिया करता है। यही मनुष्यकी आदर्श स्थिति है कि आत्म-शक्ति, **बृहस्पति, ब्रह्मा,** जो आध्यात्मिक ज्योति तथा आध्यात्मिक मंत्री है, उसका नेतृत्व करे और वह अपने आपको **इन्द्र,** क्रियाका राज-देवता, अनुभव करता हुआ अपने आपपर तथा अपनी सब प्रजापर उनके सम्मिलित **सत्यके** अधिकारसे शासन करे। **ब्रह्मा राजनि पूर्व एति।** (देखो, मंत्र आठवां)।

यह ब्रह्मा, यह रचनाशील आत्मा, अपने आपको मानव स्वभावके राजत्व (राजापन) में व्यक्त तथा परिवर्द्धित करनेका यत्न करता है और वह मनुष्य जो प्रकाश तथा शक्तिके उस राजत्व (राजापन) को अधिगत कर लेता और अपने अंदर ब्रह्माके लिये उस सर्वोच्च मानवीय भद्रको रच लेता है, अपने आपको सदा उन सब दिव्य विराट् शक्तियों द्वारा समृद्ध, पालित तथा संवर्द्धित पाता है जो परम सिद्धि-प्राप्तिके लिये कार्य करती हैं। वह आत्माके उन सब धनोंको जीत लेता है जो आत्माके राजा हो जानेके लिये आवश्यक हैं, जो उसके निजी चेतना-स्तरसे संबंध रखते हैं और उसके सम्मुख दूसरे चेतना-स्तरोंसे आकर उपस्थित होते हैं। कोई भी उसकी विजयशालिनी प्रगतिपर आघात या आक्रमण नहीं कर सकता। (देखो, मंत्र नवां)।

इस प्रकार इन्द्र और बृहस्पति दो दिव्य शक्तियाँ हैं जिनका हमारे अंदर परिपूर्ण हो जाना तथा **सत्यको** सचेतनतापूर्वक आत्मसात् कर लेना हमारी पूर्णता-प्राप्तिकी शर्तें हैं। वामदेव उन्हें पुकार रहा है कि वे इस महान् यज्ञमें आकर आनंदके रसका पान करें, इसके आनंदोंके मदमें आनंद लें, और आत्माके सार पदार्थ तथा ऐश्वर्योंको प्रचुरताके साथ बरसा दें। यह आवश्यक है कि पराचेतन आनंदकी वे वर्षाएँ आत्म-शक्तिके अंदर प्रविष्ट तथा पूर्ण रूपसे समवस्थित हो जायँ। इस प्रकार एक आनंद रचित हो जायगा, एक नियंत्रित समस्वरता प्राप्त हो जायगी। वह समस्वरता उस पूर्ण प्रकृति की सभी शक्तियों तथा क्षमताओंसे परिपूरित होगी जो अपनी तथा अपने लोककी स्वामिनी है। (देखो, मंत्र दसवां)।

इसलिये बृहस्पति और इन्द्र हमारे अंदर वृद्धिको प्राप्त हो जायं और तब सत्य मनोवृत्तिकी वह अवस्था जिसे वे दोनों मिलकर रचते हैं, व्यक्त हो जायगी; क्योंकि वह अन्तिम शर्त है। वे दोनों उदित होते हुए विचारों की पालना करें तथा मानसिक सत्ताकी उन शक्तियोंको अभिव्यक्तिमें ले आवें जो एक समृद्ध व बहुविध विचारके द्वारा **सत्य-चेतनाके** प्रकाश तथा

उसके वेगको पा लेनेमें समर्थ हो जाती हैं। वे शक्तियाँ जो आर्य योद्धापर आक्रमण करती हैं यह चाहती हैं कि उसके अंदर मनकी दरिद्रताओंको तथा आवेशात्मक प्रकृतिकी दरिद्रताओंको, सभी असुखोंको, रच दें। आत्म-शक्ति तथा मनःशक्ति एक साथ वृद्धिगत होकर इस प्रकारकी समग्र दरिद्रता तथा अपर्याप्तताको विनष्ट कर देती हैं। वे दोनों मिलकर मनुष्यको उसका राज-पद तथा पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करा देती हैं। (देखो, मंत्र ग्यारहवां)।

दसवां अध्याय

अश्वी देव—आनन्दके अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल 4, सूक्त 45

एष स्य भानुरुदियर्ति युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि।
पृक्षासो अस्मिन् मिथुना अधि त्रयो दृतिस्तुरीयो मधुनो वि रप्शते ॥१॥

(एष स्यः भानुः उदियर्ति) देखो, वह **प्रकाश** उदित हो रहा है और (दिवः अस्य सानवि) इस द्यौके उच्च धरातलपर (परिज्मा रथः युज्यते) सर्वव्यापी रथको नियुक्त किया जा रहा है; (अस्मिन् अधि) इसके अंदर (त्रयः मिथुनाः पृक्षासः) तीन युगलोंमें तृप्तिप्रद आनंद [रखे गये हैं] और (तुरीयः, मधुनः दृतिः) चौथी, शहदकी खाल (विरप्शते) परिस्रवित हो रही है ॥1॥

उद् वां पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु।
अपोर्णुवन्तस्तम आ परीवृतं स्वर्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः ॥२॥

हे अश्वी देवो! (वां पृक्षासः मधुमन्त उदीरते) तुम्हारे आनंद शहदसे भरपूर होकर ऊपरको उठते हैं, (रथाः अश्वासः) रथ और घोड़े (उषसः व्युष्टिषु) उषाके विपुल प्रकाशोंमें [ऊपरको उठते हैं], और वे (आ परीवृतं तमः) हर तरफ घिरे हुए अधकारके पर्देको (अप-ऊर्णुवन्तः) एक तरफको समेट देते हैं और (रजः) निम्न लोकको (स्वः न शुक्रं आ तन्वन्त) प्रकाशमान द्यौ-जैसे चमकीले रूपमें फैला देते हैं ॥2॥

मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिरुत प्रियं मधुने युञ्जाथां रथम्।
आ वर्तनिं मधुना जिन्वथस्पथो दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना ॥३॥

(मधुपेभिः आसभिः) शहद पीनेवाले मुखोंसे (मध्वः पिबतम्) शहदका पान करो (उत) और (मधुने) शहदके लिये (प्रियं रथं युञ्जाथाम्) अपने प्रिय रथको नियुक्त करो। (मधुना) शहदसे (वर्तनिं) गतियोंको और (पथः) उनके मार्गोंको (आ जिन्वथः) तुम आनंदयुक्त करते हो; (अश्विना) हे अश्वी देवो! (मधुमन्तं दृतिं वहेथे) शहदसे भरपूर खालको तुम धारण करते हो ॥3॥

हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णा उहुव उषर्बुधः।
उदप्रुतो मन्दिनो मन्दिनिस्पृशो मध्वो न मक्षः सवनानि गच्छथः ॥४॥

(हंसासः ये वाम् उहुवः) वे हंस जो तुम्हें वहन करते हैं (मधुमन्तः) शहदसे भरे हैं, (हिरण्यपर्णाः) सुनहरे पंखोंवाले हैं, (उषर्बुधः) उषाके साथ जागनेवाले हैं, (अस्रिधः) ऐसे हैं जिन्हें चोट नहीं पहुँचती; (उद-प्रुतः) वे जलोंको बरसाते हैं, (मन्दिनः) आनंदसे परिपूर्ण हैं (मन्दि-निस्पृशः) और उसे स्पर्श किये हुए हैं जो आनंदवान है। (मक्षः मध्वः न) मधुमक्खियाँ जैसे मधुके स्रावके पास जाती हैं, वैसे तुम (सवनानि गच्छथः) सोम-रसोंकी हवियोंके पास जाते हो ॥4॥

स्वध्वरासो मधुमन्तो अग्नय उस्रा जरन्ते प्रति वस्तोरश्विना।
यन्निक्तहस्तस्तरणिर्विचक्षणः सोमं सुषाव मधुमन्तमद्रिभिः ॥5॥

(मधुमन्तः अग्नयः) शहदसे परिपूर्ण अग्नियाँ (स्वध्वरासः) यज्ञको सुचारु रूपसे वहन कर रही हैं, और वे (अश्विना) हे अश्वी देवो! (प्रति वस्तोः) प्रतिदिन (उस्रा जरन्ते) तुम्हारी ज्योतिकी याचना कर रही हैं, (यत्) जब कि (निक्तहस्तः) पवित्र हाथोंवाले, (विचक्षणः) पूर्ण दर्शनसे युक्त, (तरणिः) पार कराके लक्ष्यपर पहुँचानेवाली शक्तिसे युक्त मनुष्यने (अद्रिभिः) सोम निचोड़नेके पत्थरोंसे (मधुमन्तं सोमं सुषाव) मधुयुक्त सोमरसको निचोड़ लिया है ॥5॥

आकेनिपासो अहभिर्दविध्वतः स्वर्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः।
सूरश्चिदश्वान् युयुजान ईयते विश्वाँ अनु स्वधया चेतथस्पथः ॥6॥

(आके-निपासः) उनके समीप होकर सोमरसको पीती हुई [अग्नियाँ] (अहभिः) दिनोंको पाकर (दविध्वतः) अश्वारूढ़ हो जाती हैं और दौड़ने लगती हैं, और (रजः स्वः न शुक्रम् आ तन्वन्त) निम्न लोकको प्रकाशमान द्यौ-जैसे चमकीले रूपमें विस्तृत कर देती हैं। (सूरः चित्) सूर्य भी (अश्वान् युयुजानः ईयते) अपने घोड़ोंको जोतकर चल पड़ता है; (स्वधया) प्रकृतिकी आत्मनियमनकी शक्तिके द्वारा तुम (चेतथः) सचेतन होते हो, और (विश्वान् पथः अनु) सब रास्तोंपर चलते हो।[1]

प्र वामवोचमश्विना धियंधा रथः स्वश्वो अजरो यो अस्ति।
येन सद्यः परि रजांसि याथो हविष्मन्तं तरणिं भोजमच्छ ॥7॥

(अश्विना) हे अश्वी देवो! (धियंधाः [अहं] प्र-अवोचम्) अपने अंदर विचारको धारण करते हुए मैंने उसका वर्णन किया है (यः वाम्) जो तुम्हारा (अजरः) क्षीण न होनेवाला, (स्वश्वः) पूर्ण घोड़ोंसे खींचा जानेवाला (रथः अस्ति) रथ है,—(येन) जिस रथके द्वारा, तुम (सद्यः)

---

1. अथवा, तुम (विश्वान् पथः अनुचेतथः) क्रमशः सब रास्तों का ज्ञान प्राप्त करते हो।

एकदमसे (रजांसि परियाथः) सब लोकोंको पार कर जाते हो, (भोजम् अच्छ) उस आनंदको पानेके लिये [पार कर जाते हो] जो (हविष्मन्तम्) हवियोंसे समृद्ध है और जो (तरणिम्) पार कराके लक्ष्यको प्राप्त करा देनेवाला है ॥7॥

भाष्य

ऋग्वेदके जो सूक्त दो प्रकाशमान युगल-देवों (अश्विनौ)को संबोधित किये गये हैं वे ऋभु देवतावाले सूक्तोंकी तरह प्रतीकात्मक शब्दोंसे भरे पड़े हैं और वे तबतक नहीं समझे जा सकते जबतक उनके प्रतीकवादका कोई दृढ़ सूत्र हाथ न लग जाय। अश्विनोंको कहे गये इन सूक्तोंके तीन मुख्य अंग ये हैं, एक तो उनके रथ, उनके घोड़ों तथा उनकी तीव्र सर्व-व्यापी गतिकी प्रशंसा, दूसरे उनका मधुका अन्वेषण करना तथा मधुका आनंद लेना और वे तृप्तिप्रद आनंद जिन्हें वे अपने रथमें लिये रहते हैं, तीसरे, सूर्यके साथ, **सूर्य**की लड़की **सूर्या**के साथ तथा **उषा**के साथ उनके घनिष्ठ संबंधका होना।

अश्वी देव अन्य देवोंकी तरह **सत्य-चेतना**से, **ऋतम्**से उतरते हैं; वे **द्यौ**से, पवित्र **मन**से, पैदा या अभिव्यक्त होते हैं; उनकी गति सभी लोकोंको व्याप्त करती है,—उनकी क्रियाका प्रभाव शरीरसे शुरू होकर प्राणमय सत्ता और, विचारके द्वारा परा चेतन **सत्य**तक पहुँचता है। वस्तुतः यह समुद्रसे, सत्ताकी अनिश्चित अवस्थासे, शुरू होता है, जब वह (सत्ता) अवचेतनके अंदरसे उद्भूत हो रही होती है और वे (अश्वी) आत्माको इन जलोंकी बाढ़के ऊपर (पोतकी तरह) ले चलते हैं और इसकी समुद्र-यात्रामें इसे जलमें डूब जानेसे रोकते हैं। इसलिये वे **नासत्या** हैं अर्थात् गतिके अधिपति, यात्रा या समुद्रयात्राके नेता।

वे मनुष्यकी सहायता उस **सत्य**के द्वारा करते हैं जो उन्हें विशेषतः **उषा**के साथ, **सत्य**के अधिपति **सूर्य**के साथ और उसकी लड़की **सूर्या**के साथ साहचर्यसे प्राप्त होता है, पर वे अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक रूपसे अपने विशेष गुणके तौरपर सत्ताके आनंद द्वारा उसकी सहायता करते हैं। वे आनंदके अधिपति, **शुभस्पती**, हैं; उनका रथ या उनकी गति अपने सभी स्तरोंमें सत्ताके आनंदकी तृप्तियोंसे परिपूर्ण है, वे उस खालको धारण किये हैं जो परिस्रवित होते हुए मधुसे भरी है; वे मधुका, मधुरताका, अन्वेषण करते हैं और सब वस्तुओंको उस (मधु)से भर देते हैं। इसलिये वे आनंदकी कार्यसाधक शक्तियाँ हैं, उस आनंदकी जो सत्य-चेतनाके अंदरसे निःसृत होता है और अपने-आपको तीनों लोकोंमें विविध रूपसे अभिव्यक्त

करके मनुष्यको उसकी यात्रामें अवलम्ब देता है। इसलिये उनकी क्रिया सभी लोकोंमें होती है। वे मुख्यतया घुड़सवार या घोड़ेको हाँकनेवाले, **अश्विन्**, हैं जैसा कि उनका नाम सूचित करता है,—वे मनुष्यके प्राणबलको यात्राकी चालकशक्तिके तौरपर प्रयुक्त करते हैं; पर साथ ही वे विचारके अंदर भी कार्य करते हैं और उसे वे **सत्यतक** पहुँचा देते हैं। वे शरीरको स्वास्थ्य, सौंदर्य, संपूर्णता प्रदान करते हैं; वे दिव्य भिषक् हैं। सब देवोंमें वे मनुष्यके पास आनेके लिये और उसके लिये सुख व आह्लादको विरचित करनेके लिये सबसे अधिक तैयार रहते हैं, **आगमिष्ठा, शुभस्पती**। क्योंकि यही उनका विशिष्ट और पूर्ण कार्य है। वे मुख्यतः शुभके, आनंदके, अधिपति हैं, **शुभस्पती**।

अश्विनोंका यह स्वरूप प्रस्तुत सूक्तमें वामदेव द्वारा एक सतत बलके साथ दर्शाया गया है। प्रायः प्रत्येक ऋचामें, सतत पुनरुक्तिके साथ, **मधु, मधुमान्,** शब्द आ जाते हैं। यह सत्ताकी मधुरताका सूक्त है; यह सत्ताके आनंदका एक गीत है।

वह महान्, **प्रकाशोंका प्रकाश, सत्यका सूर्य, सत्य-चेतनाका उजाला** जीवनकी गतिमेंसे ऊपर उठ रहा है, उस प्रकाशपूर्ण **मन**को, **स्वः**को, रचनेके लिये उठ रहा है जिसमें निम्न त्रिगुणित लोक अपने विकासकी पूर्णताको प्राप्त होता है। **एष स्यः भानुः उदियर्ति**। मनुष्यके अंदर इस **सूर्य**का उदय हो जानेसे अश्विनोंकी पूर्ण गति संभव हो जाती है; क्योंकि सत्य द्वारा ही सिद्ध **आनंद**, द्युलोकीय **आनंद** प्राप्त होता है। इसलिये अश्विनोंका रथ इस द्यौकी ऊँचाईपर, इस देदीप्यमान मनके उच्च धरातल या स्तरपर जोता जा रहा है। वह रथ सर्वव्यापी है; उसकी गति सब जगह पहुँचती है; उसका वेग हमारी चेतनाके सब स्तरोंपर स्वतंत्रतापूर्वक संचरित होता है। **युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि**।

अश्विनोंकी पूर्ण सर्वव्यापी गति सत्ताके आनंदकी सभी संभव तृप्तियोंकी पूर्णताको ले आती है। इस बातको प्रतीकात्मक रूपमें वेदकी भाषामें यह कहकर व्यक्त किया गया है कि उनके रथके अंदर तृप्तियाँ, **पृक्षासः**, तीन युगलोंमें उपलब्ध होती हैं, **पृक्षासः अस्मिन् मिथुना अधि त्रयः**। कर्मकांडी व्याख्यामें 'पृक्षासः' शब्दका अनुवाद इसके सजातीय शब्द **प्रयः**की तरह 'अन्न' किया गया है। इसका धात्वर्थ है आनंद, परिपूर्णता, तृप्ति और इसमें 'स्वादुता' या तृप्तिप्रद भोजनका भौतिक अर्थ तथा आनंद, भोग या तृप्तिका आध्यात्मिक अर्थ दोनों हो सकते हैं। फिर तृप्तियाँ या स्वादुताएँ जो अश्विनोंके रथमें लायी जाती हैं तीन युगलोंमें हैं; अथवा

इस वाक्यांशका सीधा-सादा यह अर्थ हो सकता है कि वे हैं तो तीन पर एक दूसरेके साथ घनिष्ठतासे संबद्ध हैं। कोई भी अर्थ हो, संकेत तीन प्रकारके आनंदभोगों या तृप्तियोंकी तरफ है जो हमारी प्रगतिशील चेतनाकी तीन गतियों या तीन लोकोंसे संबंध रखती हैं,—शरीरकी तृप्तियाँ, प्राणकी तृप्तियाँ, मनकी तृप्तियाँ। यदि वे तीन युगलोंमें हैं तो यह समझना चाहिये कि प्रत्येक लोकपर आनंदकी द्विगुणित क्रिया होती है जो अश्विनोंके द्विगुणरूप और सम्मिलित युगलरूपके अनुरूप है। स्वयं वेदमें ही इस देदीप्यमान तथा आनंदमय युगलके बीचमें भेद कर सकना तथा यह मालूम कर सकना कि प्रत्येक अलग-अलग किसका द्योतक है, बड़ा कठिन है। ऐसा कोई संकेत हमारे पास नहीं है जैसा तीन ऋभुओंके विषयमें हमें मिलता है। किंतु शायद इन दो डिओस्कुरोई (Dioskouroi), **दिवो नपाता, द्यौ**के पुत्रोंके ग्रीक नाम अपने अंदर एक सूत्र रखे हुए हैं। कैस्टोर (Kastor) जो बड़ेका नाम है 'काशितृ' प्रतीत होता है जिसका अर्थ है चमकीला; पोलुडयुकस (Poludeukes)[1] संभवतः 'पुरुदंसस्' हो सकता है जो वेदमें अश्विनोंके विशेषणके तौरसे आनेवाला एक नाम है, जिसका अर्थ है 'विविध क्रियावाले'। यदि यह ठीक है तो अश्विनोंकी युगलरूप उत्पत्ति **शक्ति** और **प्रकाश, ज्ञान** और **संकल्प, चेतना** और **बल, गौ** और **अश्व**के सतत आनेवाले वैदिक द्वैतकी ही स्मारक है। अश्विनों द्वारा हमें प्राप्त करायी गयी सभी तृप्तियोंमें ये दो तत्त्व इस तरह मिले हुए हैं कि अलग नहीं किये जा सकते; जहाँ रूप **प्रकाश** या **चेतना**का है वहाँ **शक्ति** और **बल** उसमें सम्मिलित हैं; जहाँ रूप **शक्ति** या **बल**का है वहाँ **प्रकाश** और **चेतना** उसमें सम्मिलित हैं।

किंतु तृप्तियोंके ये तीन रूप ही वह सब नहीं है जिसे उनका रथ हमारे लिये धारण किये है; उसके अंदर कुछ और भी है, एक चौथी चीज है, शहद (मधु)से भरी एक खाल है और उस खालमेंसे वह शहद फूट निकलता है और प्रत्येक तरफ प्रवाहित हो पड़ता है। **दृतिः तुरीयः मधुनः वि रप्शते**। मन, प्राण और शरीर ये तीनस्तर हैं, हमारी चेतनाका एक तुरीय अर्थात् चौथा स्तर है पराचेतन, **सत्य-चेतना**। अश्विन् एक खालको, **दृति**को, शाब्दिक अर्थ लें तो काटी हुई या विदारित की हुई

1. Poludeukes का K अक्षर मूल 'श्' अक्षरका संकेत करता है; उस अवस्थामें नाम 'पुरुदंसस्'के बजाय 'पुरुदंशस्' होना चाहिये था; किन्तु कई ऊष्मा अक्षरोंके बीचमें आर्यन भाषाओंकी आरंभिक परिवर्तनशील अवस्थामें, परस्पर इस प्रकारके परिवर्तन प्रायः हो जाते थे।

वस्तुको, सत्य-चेतनाके अंदरसे लायी हुई एक आंशिक रचनाको, पराचेतन आनंदके मधुको रखनेके लिये अपने साथ लाते हैं; पर वह इसे अपने अंदर नहीं रख सकती; वह अपराजेय रूपसे प्रचुर और असीम मधुरता फूटकर निकल पड़ती है और सब जगह प्रवाहित हो पड़ती है और हमारी सारी सत्ताको आनंदसे सिंचित करने लगती है। (देखो, मंत्र पहला)

उस मधु द्वारा तृप्तियोंके तीन युगल—मानसिक, प्राणिक, शारीरिक—इस सर्वव्यापी, चारों तरफ उमड़कर बहती हुई प्रचुरतासे संसिक्त कर दिये जाते हैं और वे इसकी मधुरतासे परिपूर्ण, **मधुमन्तः**, हो जाते हैं। और ऐसे होकर वे एकदम ऊपर की तरफ गति करने लग पड़ते हैं। इस निम्न लोककी हमारी सब तृप्तियाँ दिव्य आनंदका संस्पर्श पाकर, पराचेतनकी तरफ, सत्यकी तरफ, आनंदकी तरफ आकृष्ट होकर, किसी भी प्रकार अवरुद्ध न होती हुई ऊपरकी तरफ चढ़ने लगती हैं। और क्योंकि गुप्त रूपसे या खुले रूपसे, सचेतन रूपसे या अवचेतन रूपसे सत्ताका आनंद ही हमारी क्रियाओंका, हलचलोंका नेता होता है, अतः उन तृप्तियोंके साथ—इन देवोंके सब रथ और घोड़े उसी वेगसे, ऊपरको बढ़नेवाली ऊर्ध्व-मुखी गति करने लगते हैं। हमारी सत्ताकी सभी विविध गतियाँ, शक्तिके सभी रूप जो कि उन्हें प्रेरणा देते हैं, सब-के-सब ऊपर अपने घरकी तरफ आरोहण करते हुए सत्यके प्रकाशका अनुसरण करने लग जाते हैं। **उद् वां पृक्षासः मधुमन्तः ईरते, रथाः अश्वासः उषसः व्युष्टिषु।**

"उषाके विपुल प्रकाशोंमें" वे ऊपर उठते हैं; क्योंकि **उषा** है सत्य का प्रकाश जो हमारी सत्ताके अन्धकारमें या उसकी अर्ध-प्रकाशित रात्रिमें पूर्ण चेतनाके दिनको लानेके लिये हमारी मानसिक सत्तापर उदित होता है। वह (उषा) आती है दक्षिणाके रूपमें, जो विशुद्ध अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक-शक्ति (pure intuitive discernment) है जिससे **अग्नि**, हमारे अंदरकी **देव-शक्ति**, परिपुष्ट होती है जब कि वह **सत्य**को पानेकी अभीप्सा करती है, या वह (उषा) आती है **सरमा**, अन्वेषक अन्तर्ज्ञान-शक्ति (intuition)के रूपमें जो अवचेतनकी गुफाके अंदर जा घुसती है जहाँ इन्द्रिय-क्रियाके कृपण अधिपतियों (पणियों)ने सूर्यकी जगमगाती गौओंको छिपा रखा है और वह इन्द्रको इसकी सूचना देती है। तब प्रकाशमान मनका अधिपति इन्द्र आता है और गुफाको तोड़कर खोल देता है और गौओंको ऊपर हाँक देता है, **उदाजत्**, ऊपर बृहत् सत्य-चेतना, देवोंके अपने घरकी तरफ। हमारी सचेतन सत्ता एक पहाड़ी (अद्रि) है जिसमें उत्तरोत्तर अनेक धरातल और उच्चप्रदेश, **सानूनि**, हैं; अवचेतनकी गुफा

नीचे है; हम ऊपर सत्य और आनंदके देवत्वकी ओर चढ़ते हैं जहाँ अमरताके धाम हैं, **यत्र अमृतासः आसते।**[1]

ऊपर उठी हुई तथा रूपांतरको प्राप्त हुई तृप्तियोंके अपने भार सहित, अश्विनोंके रथकी इस ऊर्ध्वमुखी गति द्वारा रात्रिका आवरण जो हमारी सत्ताके लोकोंको घेरे हुए है परे हटा दिया जाता है। ये सब लोक, मन, प्राण, शरीर, **सत्यके सूर्यकी** किरणोंके लिये खुल जाते हैं। हमारे अंदरका यह निम्न लोक, रजस्, इसकी सभी शक्तियों तथा तृप्तियोंकी ऊर्ध्वारोही गति द्वारा विस्तृत होकर, प्रकाशमान अन्तर्ज्ञानशील मन, **स्वः**के रूपमें परिणत हो जाता है; **स्वः** सीधे तौरसे उच्च **प्रकाश**को ग्रहण करनेवाला है। मन, क्रिया, प्राणमय, आवेशात्मक और मूर्त्तभूत सत्ता—सब दिव्य **सूर्य**की प्रभा और अन्तर्ज्ञान, शक्ति और प्रकाश,—**तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य**[1]—से परिपूर्ण हो जाते हैं। निम्न मानसिक सत्ता उच्च **देव**की आकृति तथा प्रतिमूर्तिमें रूपांतरित हो जाती है। **अपोर्णुवन्तः तमः आ परीवृतं, स्वः न शुक्रं तन्वन्त आ रजः।** (देखो, मंत्र दूसरा)

यह ऋचा अश्विनोंकी पूर्ण तथा अंतिम गतिका वर्णन समाप्त कर देती है। चौथी ऋचामें ऋषि वामदेव अपने निजी आरोहण, अपनी निजी सोम-हवि, अपनी यात्रा और अपने यज्ञकी तरफ आता है; इसके लिये (तीसरे मंत्रमें) वह उनकी आनंदप्रद तथा प्रकाशप्रद क्रियाके लिये अपना अधिकार प्रतिपादित कर रहा है। अश्विनोंके मुख मधु पीनेके लिये बने हैं; तो उसके यज्ञमें उन्हें वह मधु पीना चाहिये। **मध्वः पिबतं मधुपेभिः आसभिः।** उन्हें मधुके लिये अपना रथ जोतना चाहिये, अपना वह रथ जो मनुष्योंका प्रिय है; **उत प्रियं मधुने युञ्जाथां रथम्।** क्योंकि मनुष्यकी गतिको, उसकी उत्तरोत्तर क्रियाशीलताको, उसके सब मार्गोंमें वे उसी आनंदके शहद और मधुसे आह्लादयुक्त करते हैं। **आ वर्तनिं मधुना जिन्वथः पथः।** क्योंकि वे उस खालको धारण किये हैं जो शहदसे परिपूर्ण तथा इससे परिप्लावित हो रही है। **वृत्तिं वहेथे मधुमन्त-मश्विना।** अश्विनोंकी क्रिया द्वारा मनुष्यकी आनंदकी तरफ होनेवाली प्रगति ही स्वयमेव आनंदप्रद हो जाती है; उसका सारा प्रयत्न और संघर्ष और श्रम एक दिव्य सुखसे भरपूर हो जाता है। जैसे वेदमें यह कहा गया है कि **सत्य** द्वारा **सत्य**की तरफ प्रगति होती है, अर्थात् मानसिक

---

1. **ऋ. 9. 15. 2.**
   यह गायत्री (ऋ. 3.62.10)का महत्त्वपूर्ण वाक्य है।

और भौतिक चेतनाके अंदर सत्यके नियमकी उत्तरोत्तर वृद्धिके द्वारा हम अंतमें मन और शरीरसे परे पराचेतन सत्यतक पहुँचते हैं, वैसे ही यहाँ यह दर्शाया गया है कि आनंदके द्वारा आनंदकी तरफ प्रगति होती है, अपने सब अंगोंमें, अपनी सब क्रियाओंमें दिव्य आनंदकी उत्तरोत्तर वृद्धिके द्वारा हम पराचेतनात्मक आनंदतक पहुँचते हैं। (देखो, मंत्र तीसरा)

इस ऊर्ध्वमुखी गतिमें, अश्विनोंके रथको खींचनेवाले घोड़े पक्षियों, हंसों, **हंसासः**के रूपमें बदल जाते हैं। **पक्षी** वेदमें प्रायःकर तो उन्मुक्त तथा ऊपरको उड़ती हुई आत्माका प्रतीक है, अन्य स्थलोंमें उन शक्तियोंका प्रतीक है जो उसी प्रकार उन्मुक्त होकर ऊपरको गति करती हैं, ऊपर हमारी सत्ताकी ऊँचाइयोंकी तरफ उड़ती हैं, व्यापक रूपमें एक स्वच्छन्द उड़ानके साथ उड़ती हैं, **प्राणशक्ति**की, **घोड़े**की, **अश्व**की सामान्य सीमित गति या यत्नसाध्य प्लुतगतिसे आबद्ध नहीं रहतीं। ऐसी ही हैं वे शक्तियाँ जो **आनंदके इन अधिपतियों**के स्वच्छन्द रथको खींचती हैं, जब कि **सत्यका सूर्य** हमारे अंदर उदित हो जाता है। ये पंखोंवाली गतियाँ उस मधुसे भरपूर होती हैं जो उमड़कर परिस्रवित होती हुई खालमेंसे बरसता है, **मधुमन्तः**। वे आक्रान्त न होने योग्य, **अस्रिधः**, होती हैं, वे अपनी उड़ानमें किसी भी क्षतिको नहीं पातीं, या इसका यह अर्थ हो सकता है कि वे कोई भी मिथ्या या क्षतिपूर्ण गति नहीं करतीं। और वे सुनहरे पंखोंवाली, **हिरण्यपर्णाः**, होती हैं। सुवर्ण, सुनहरा, **सूर्य**के प्रकाशका प्रतीकरूप रंग है। इन शक्तियोंके पंख उसके प्रकाशमान ज्ञानकी परिपूर्ण, तृप्त, उपलब्धि-क्षम गति, **पर्ण**, ही होते हैं। क्योंकि ये वे पक्षी हैं जो **उषा**के साथ जागते हैं; ये वे पंखवाली शक्तियाँ हैं जो अपने घोंसलोंसे निकल पड़ती हैं जब कि उस द्यौकी पुत्री (उषा)के पैर हमारे मानवीय मनके स्तरोंपर, **दिवो अस्य सानवि**, दबाव डालते हैं। ऐसे हैं वे हंस जो इन तेज अश्वारोही युगलों (अश्विनौ)को वहन करते हैं। **हंसासः ये वां मधुमन्तः अस्रिधः, हिरण्यपर्णाः उहुवः उषर्बुधः**।

मधुसे भरी हुई ये पंखोंवाली शक्तियाँ जब ऊपर उठती हैं तब हमारे ऊपर आकाशके प्रचुर जलोंको, उच्च मानसिक चेतनाकी महान् वृष्टिको, बरसा देती हैं; वे प्रमोदसे, आनंदसे, अमृत-रसके मदसे परिप्लुत, भरपूर होती हैं; और वे उस पराचेतन सत्ताको स्पर्श करती हैं, उस पराचेतन सत्ताके साथ सचेतन संस्पर्शमें आती हैं, जो सनातनतया आनंदकी स्वामिनी है, सदा ही इसके दिव्य मदसे आनंदित है। **उदप्रुतः मन्दिनः मन्दिनिस्पृशः**। उन द्वारा खींचे जाकर वे **आनंदके अधिपति** (अश्विनौ) ऋषिकी सोमहविपर

आते हैं जैसे मधुमक्खियाँ शहदके स्रावोंपर; **मध्वः न मक्षः सवनानि गच्छथः**। स्वयं मधुको बनानेवाले वे मधुमक्षिकाओंकी तरह, उस सब मधुका अन्वेषण करते रहते हैं जो उनके और अधिक आनंदके लिये उपकरणके तौरपर काम आ सके। (देखो, मंत्र चौथा)

यज्ञमें सामान्य ज्ञानोद्दीपनकी गतिका वर्णन पहले यों किया जा चुका है कि वह अश्विनोंकी ऊर्ध्वारोही उड़ानका परिणाम है। उसीका वर्णन अब यों किया गया है कि वह **अग्नि**की ज्वालाओंकी सहायतासे की गई है। क्योंकि **संकल्पाग्नि**की, आत्माके अंदर जलती हुई दिव्य शक्तिकी, ज्वालाएँ भी उमड़कर प्रवाहित होती हुई मधुरतासे सिंचित हैं और इसलिये वे दिन-प्रतिदिन यज्ञ (अध्वर)[1]को उत्तरोत्तर अपने लक्ष्यपर ले जानेका अपना महान् कार्य पूर्णताके साथ करती हैं। उस उत्तरोत्तर प्रगतिके लिये वे अपनी ज्वालामयी जिह्वाओंसे, प्रकाशमान अश्विनोंके दैनिक मिलापकी याचना (अभीप्सा) करती हैं, ये अश्वी अन्तर्ज्ञानात्मक ज्योतियोंके प्रकाशसे प्रकाशमान हैं और विद्योतमान शक्तिके अपने विचार द्वारा[2] उन ज्वालाओंको धारण करते हैं। **स्वध्वरासः मधुमन्तः अग्नयः उस्रा जरन्ते प्रति वस्तोः अश्विना**।

अग्निकी यह अभीप्सा तब होती है जब **यज्ञकर्त्ता**ने पवित्र हाथोंसे, एक पूर्णतया विवेकयुक्त अन्तर्दर्शन (vision)के साथ, और अपनी आत्माकी उस शक्तिसे जो यात्राके अन्ततक पहुँचनेके लिये तत्पर है, सब बाधाओंको पार करके, सब विरोधोंको नष्ट-भ्रष्ट करके यज्ञके लक्ष्यतक पहुँच जानेके लिये सन्नद्ध है, सोम-रस निकालनेके पत्थरोंसे अमरताप्रद रस प्रस्तुत कर लिया होता है, और वह रस भी अश्विनोंके मधुसे परिपूर्ण हो चुका होता है। **यत् निक्तहस्तः तरणिः विचक्षणः सोमं सुषाव मधुमन्तमद्रिभिः**। क्योंकि वस्तुओंमें निहित व्यक्तिका (वैयक्तिक) आनंद अश्विनोंकी त्रिविध तृप्तियों द्वारा और, चौथे, सत्यसे बरसनेवाले आनंदके द्वारा ही मिलता है। **यज्ञकर्त्ता**के परिशुद्ध हाथ, **निक्तहस्तः**, संभवतः पवित्रीकृत भौतिक सत्ताके प्रतीक हैं[3]; शक्ति आती है पूर्ण किये गये प्राणमेंसे; स्पष्ट मानसिक दर्शनकी शक्ति, **विचक्षणः**,

---

1. 'अध्वर' शब्द जो यज्ञके लिये आता है, असलमें एक विशेषण है और पूरा मुहावरा है 'अध्वर यज्ञ' अर्थात् यज्ञिय कर्म जो मार्ग पर यात्रा करता है, अथवा यज्ञ जिसका स्वरूप एक प्रगति या यात्राका है। अग्नि, संकल्प, यज्ञका नेता है।
2. शवीरया धिया, ऋग्वेद 1.3.2।
3. तो भी हस्त या भुजा अधिकतर दूसरे ही प्रकारसे प्रतीक होते हैं, विशेषकर तब जब कि विचारका विषय इन्द्रके दो हाथ या दो भुजाएं होती हैं।

सत्यसे प्रकाशित मनकी सूचक होती है। मन, प्राण और शरीरकी शर्तोंके पूरा होनेपर ही अश्विनोंकी त्रिविध तृप्तियोंके ऊपर मधु उमड़कर प्रवाहित होने लगता है। (देखो, मंत्र पाँचवाँ)

जब यज्ञकर्ता इस प्रकार अपने यज्ञमें वस्तुओंके मधुपूर्ण आनंदोंको निचोड़कर प्रस्तुत कर चुकता है तब **संकल्पाग्निकी** ज्वालाएँ उन्हें समीपसे पान करने योग्य हो जाती हैं; वे इसके लिये बाध्य नहीं होतीं कि वे उन्हें थोड़ा-थोड़ा करके या कष्टके साथ चेतनाके दूरस्थ और कठिनतासे प्राप्य स्तरसे जाकर लावें। इसलिये एकदम और स्वच्छन्दतापूर्वक पान करके वे एक प्रफुल्लित शक्ति व तीव्रतासे परिपूर्ण हो जाती हैं और हमारी सत्ताके संपूर्ण क्षेत्रके ऊपर इधर-उधर तेजीसे गति करने और दौड़ लगाने लगती हैं ताकि निम्न चेतना स्वतंत्र तथा प्रकाशमान मनके जगमगाते लोककी प्रतिमाके रूपमें विस्तृत तथा रचित हो जाय। **आके-निपासः अहभिः दविध्वतः, स्वः न शुक्रं तन्वन्त आ रजः।** यह पिछला वाक्यांश बिना किसी परिवर्तनके दूसरी ऋचामें आ चुका है; पर यहाँ चतुर्विध तृप्तिसे परिपूर्ण संकल्पाग्निकी ज्वालाएँ ही कार्य करती हैं। वहाँ देवोंकी स्वच्छन्द ऊर्ध्वगति केवल **प्रकाश**के संस्पर्श द्वारा और बिना प्रयत्नके हो गयी थी; यहाँ यज्ञमें मनुष्यका कठोर श्रम और अभीप्सा हैं। इसलिये यहाँ कार्य **समय** द्वारा, **दिनों** द्वारा ही पूर्णताको प्राप्त करता है—**अहभिः**, दिनों द्वारा, अर्थात् सत्यकी क्रमसे आनेवाली उन उषाओं द्वारा जिनमेंसे प्रत्येक रात्रिपर अपनी विजयको लिये आती है, उन **बहिनों**की अविच्छिन्न परंपरा द्वारा जिनका दिव्य **उषा**के सूक्तमें हम उल्लेख देख चुके हैं। मनुष्य उस सबको एकदम पकड़ या धारण नहीं कर सकता जिसे प्रकाश उसके समीप लाता है; इसका लगातार दोहराये जाते रहना अपेक्षित है ताकि वह उस प्रकाशमें अपनी उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त कर सके।

पर केवल **संकल्प**की अग्नियाँ ही निम्न चेतनाके रूपांतरके कार्यमें निरत नहीं हैं। सत्यका **सूर्य** भी अपने देदीप्यमान घोड़ोंको जोत देता है और गतिमान् हो जाता है; **सूरः चिद् अश्वान् युयुजानः ईयते।** अश्वी भी मानवीय चेतनाके लिये इसकी प्रगतिके सब मार्गोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं, ताकि वह (चेतना) एक पूर्ण, समस्वर और बहुमुखी गति कर सके। यह गति अनेक मार्गोंमें आगेकी ओर बढ़ती हुई **प्रकृति**की उस स्वतःप्रवृत्त आत्मनियामक क्रिया द्वारा दिव्य ज्ञानके प्रकाशसे संयुक्त हो जाती है जिसे वह (प्रकृति) तब धारण करती है जब संकल्प और ज्ञान एक पूर्णतः आत्मचेतनायुक्त तथा अन्तर्ज्ञानात्मक तौरसे पथ-प्रदर्शित क्रियाकी पूर्ण

समस्वरताके साथ परस्पर आबद्ध हो जाते हैं। **विश्वान् अनु स्वधया चेतथः पथः।** (देखो, मंत्र छठा)

वामदेव अपना सूक्त समाप्त करता है। वह देदीप्यमान विचारको उसकी उच्च प्रकाशमयताके सहित, दृढ़ताके साथ ग्रहण कर लेनेमें समर्थ हो चुका है और उसने शब्दकी आकृति बनानेवाली और स्थिरता देनेवाली शक्तिके द्वारा अपने अंदर अश्विनोंके रथको अर्थात् अश्विनोंके आनंदकी अमृत-गतिको अभिव्यक्त कर लिया है, आनंदकी उस गतिको जो म्लान नहीं होती, न पुरानी पड़ती है न समाप्त ही होती है,—यह आयुरहित और अक्षय, अजरः, होती है,—क्योंकि यह खींची जाती है पूर्ण तथा उन्मुक्त शक्तियों द्वारा न कि मानवीय प्राणके सीमित और शीघ्र क्षीण हो जानेवाले, शीघ्र उच्छृंखल हो पड़नेवाले घोड़ों द्वारा। **प्र वाम् अवोचम् अश्विना धियन्धाः, रथः स्वश्वः अजरः यः अस्ति।** इस गतिमें वे एक क्षणके अंदर निम्न चेतनाके सब लोकोंके आर-पार हो जाते हैं और इसे अपने तीव्र आनंदोंसे ढक देते हैं और इस प्रकार उस मनुष्यके अंदर जो अपनी सोम-रसकी हविसे परिपूर्ण होता है ऐसा विश्वव्यापी आनंद प्राप्त कर लेते हैं जिसे पाकर वे प्रबलताके साथ उसके अंदर प्रविष्ट होकर, मनुष्यको सब विरोधियोंसे पार कराके महान् लक्ष्यतक ले जाते हैं। **येन सद्यः परि रजांसि याथः हविष्मन्तं तरणिं भोजमच्छ।** (देखो, मंत्र सातवाँ)

ग्यारहवां अध्याय

ऋभु—अमरताके शिल्पी

ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 20

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया।
अकारि रत्नधातमः ॥1॥

(अयम्) देखो, यह (देवाय जन्मने) दिव्य जन्मके लिये (विप्रेभिः) प्रकाशमान मनवालों द्वारा (आसया) मुखके प्राणसे (स्तोमः अकारि) [ऋभुओंकी] स्तुति की गयी है, (रत्नधातमः) जो पूर्णतया सुख देनेवाली है ॥1॥

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी।
शमीभिर्यज्ञमाशत ॥2॥

(ये) जिन्होंने (इन्द्राय) इन्द्रके लिये (मनसा) मन द्वारा (वचोयुजा हरी ततक्षुः) वाणीसे नियोक्तव्य उसके दो चमकदार घोड़ोंको निर्मित किया, रचा; वे (शमीभिः) अपनी कार्य-निष्पत्तियोंके द्वारा (यज्ञम् आशत) यज्ञका उपभोग करते हैं ॥2॥

तक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्।
तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम् ॥3॥

उन्होंने (नासत्याभ्याम्) समुद्रयात्राके युगल देवों [अश्विनों]के लिये (परिज्मानं) सर्वव्यापी गतिवाले (सुखं रथम्) उनके सुखमय रथको (तक्षन्) रचा; उन्होंने (सबर्दुघां धेनुं तक्षन्) मधुर दूध देनेवाली प्रीणयित्री गौको रचा ॥3॥

युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः।
ऋभवो विष्टयक्रत ॥4॥

(ऋभवः) हे ऋभुओ! जो तुम (ऋजूयवः) सरल मार्गको चाहनेवाले हो, (सत्यमन्त्राः) वस्तुओंको मनोमय रूप देनेकी अपनी क्रियाओंमें सत्यसे युक्त हो, तुमने (विष्टि) अपनी अभिव्याप्तिमें (पितरा) पिता-माताओंको (पुनः युवाना अक्रत) फिरसे जवान कर दिया ॥4॥

सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता।
आदित्येभिश्च राजभिः ॥5॥

(मदासः) सोम-रसके आनंद (वः समग्मत) तुम्हें पूर्णतया प्राप्त होते हैं, (मरुत्वता इन्द्रेण च) मरुतोंके सहचर इन्द्रके साथ, (राजभिः आदित्येभिः च) और राजा-भूत अदितिके पुत्रोंके साथ ॥5॥

उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्।
अकर्त चतुरः पुनः ॥6॥

(उत) और (त्वष्टुः त्यं नवं निष्कृतं चमसम्) त्वष्टाके इस नवीन तथा पूर्ण किये हुए प्यालेके, तुमने (पुनः चतुरः अकर्त) फिर चार [प्याले] कर दिये ॥6॥

ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते।
एकमेकं सुशस्तिभिः ॥7॥

(ते) वे तुम (सुन्वते नः) हम सोमहवि देनेवालोंके लिये (त्रिः साप्तानि रत्नानि) त्रिगुणित सप्त आनंदोंको (आ-धत्तन) धृत कर दो, (एकमेकम्) प्रत्येकको पृथक्-पृथक् (सुशस्तिभिः) उनकी पूर्ण अभिव्यक्तियोंके द्वारा धृत कर दो ॥7॥

अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया।
भागं देवेषु यज्ञियम् ॥8॥

(वह्नयः अधारयन्त) उन वहन करनेवाले [ऋभुओं]ने [उन रत्नोंको] धारण किया और स्थित कर दिया, उन्होंने (सुकृत्यया) अपने कर्मोंकी पूर्णता द्वारा (यज्ञियं भागम्) यज्ञिय भागको (देवेषु अभजन्त) देवोंमें विभाजित कर दिया ॥8॥

भाष्य

ऋभुओंके विषयमें ऐसा संकेत किया गया है कि वे सूर्यकी किरणें हैं। और यह सच भी है कि वरुण, मित्र, भग और अर्यमाकी तरह वे सौर प्रकाशकी, सत्यकी, शक्तियाँ हैं। परंतु वेदमें उनका विशेष स्वरूप यह है कि वे अमरताके शिल्पी हैं। वे उन मानव पुरुषोंके रूपमें चित्रित किये गये हैं जिन्होंने ज्ञानकी शक्ति द्वारा तथा अपने कर्मोंकी पूर्णता द्वारा देवत्वकी अवस्था प्राप्त कर ली है। उनका कार्य यह है कि दिव्य प्रकाश तथा आनंदकी जो अवस्था उन्होंने अपने दिव्य विशेषाधिकारके तौरपर स्वयं अर्जित की है, उसीकी ओर मनुष्यको उठा ले जानेमें वे इन्द्रकी सहायता करें। उन्हें संबोधित किये गये सूक्त वेदमें थोड़े ही हैं और प्रथम दृष्टिमें वे अत्यधिक गूढ़ार्थवाले प्रतीत होते हैं; क्योंकि वे कुछ रूपकों तथा प्रतीकोंसे भरे हुए हैं जो बार-बार दोहराये गये हैं। किंतु एक बार जब वेदके मुख्य-मुख्य सूत्र विदित हो जायँ तो वे उलटे अत्यधिक स्पष्ट

और सरल हो जाते हैं और एक संगतियुक्त तथा मनोरंजक विचार उपस्थित करते हैं जो अमरताके वैदिक सिद्धांतपर स्पष्ट प्रकाश डालता है।

ऋभु प्रकाशकी शक्तियाँ हैं जो **भौतिकता**के अंदर अवतीर्ण हुई हैं और वहाँ उन मानवशक्तियोंके रूपमें जनित हो गयी हैं जो देव तथा अमर बन जानेकी अभीप्सामें लगी हैं। अपने इस स्वरूपमें वे 'सुधन्वन्'[1]के पुत्र (सौधन्वनाः) कहाते हैं,—यह एक पैतृक नाम है जो केवल इसका आलंकारिक निदर्शन है कि वे भौतिकताकी परिपूर्ण शक्तियोंसे तब पैदा होते हैं जब वे शक्तियाँ प्रकाशित शक्तिसे संस्पृष्ट होती हैं। परंतु उनका असली स्वरूप यह है कि वे इस प्रकाशित **शक्ति**के अंदरसे अवतीर्ण हुए हैं और कहीं-कहीं उन्हें "इन्द्रकी संतानो! प्रकाशित शक्तिके पौत्रो!" कहकर संबोधित भी किया गया है (4.37.4)। क्योंकि **इन्द्र** अर्थात् मनुष्यमें रहनेवाला दिव्य **मन**, प्रकाशित **शक्ति**के अंदरसे पैदा हुआ है, जैसे **अग्नि** विशुद्ध **शक्ति**के अंदरसे, और इस दिव्य **मन**-रूपी इन्द्रसे पैदा होती हैं अमरताकी इच्छुक मानवीय अभीप्साएँ।

तीन ऋभुओंके नाम उनकी उत्पत्तिके क्रमके अनुसार ये हैं, पहला **ऋभु** या **ऋभुक्षन्** अर्थात् कुशल ज्ञानी या ज्ञानको गढ़नेवाला, दूसरा **विम्वा** या **विभु** अर्थात् व्यापी, आत्मप्रसारक, तीसरा **वाज** अर्थात् प्रचुरत्व। उनके अलग-अलग नाम उनका विशेष स्वरूप और कर्म दर्शाते हैं, किंतु वस्तुतः वे मिलकर एक त्रैत हैं, और इसलिये वे 'विभवः' या 'वाजाः' भी कहलाते हैं, यद्यपि प्रायः उन्हें 'ऋभवः' (ऋभु) नाम ही दिया गया है। उनमें सबसे बड़ा, ऋभु, मनुष्यके अंदर वह प्रथम ऋभु है जो अपने विचारों तथा कर्मोंके द्वारा अमरताके रूपोंकी आकृति बनाना शुरू करता है; **विम्वा** इस रचनाको व्यापकता प्रदान करता है; सबसे छोटा, **वाज**, दिव्य **प्रकाश** और उपादान-तत्त्वकी प्रचुरता प्रदान करता है जिसके द्वारा पूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। सूक्तमें यह बार-बार दोहराया गया है कि अमरताके इन कर्मों और निर्माणोंको वे **विचार**की शक्ति द्वारा, मनको क्षेत्र और सामग्री बनाकर करते हैं; वे किये जाते हैं **शक्ति**से; उनके संग रहती है रचनात्मक तथा फलोत्पादक क्रियामें परिपूर्णता, **स्वपस्यया, सुकृत्यया,** जो अमरताके गढ़े जानेकी शर्त है। इन **अमरताके शिल्पियों**की ये रचनाएँ, जैसे कि उपस्थित सूक्तमें संक्षेपसे संगृहीत कर दी गयी हैं, ये हैं,—1.

1. 'धन्वन्'का अर्थ यहां धनुष नहीं है, किन्तु भौतिकताका वह पिण्ड या मरुस्थल है जिसे दूसरे रूपमें उस पहाड़ी या चट्टानके रूपसे प्रतिरूपित किया गया है जिसमेंसे जल और किरणोंको छुड़ाकर लाया जाता है।

इन्द्रके घोड़े, 2. अश्विनोंके रथ, 3. मधुर दूध देनेवाली गाय, 4. विश्व-व्यापी पिता-माताओंकी जवानी, 5. देवोंके उस एक पीनेके प्यालेको चतुर्गुणित कर देना जिसे आरंभमें त्वष्टा, पदार्थोंके रचयिताने रचा था।

सूक्त अपने उद्दिष्ट विषयके संकेतसे आरंभ होता है। यह ऋभु-शक्तियोंकी स्तुति है जो दिव्य जन्मके लिये की गयी है, उन मनुष्यों द्वारा की गयी है जिनके मनोंने प्रकाशमयताको पा लिया है और जिनके मनोंके अंदर प्रकाशकी वह शक्ति है जिसमेंसे ऋभु पैदा हुए थे। यह की गयी है मुखके प्राण द्वारा, विश्वमें विद्यमान जीवन-शक्तिके द्वारा। इसका उद्देश्य है मानवीय आत्माके अंदर परमानंदके समस्त सुखोंको, दिव्य जीवनके जो त्रिगुणित सात आनंद हैं उनको दृढ़ करा देना। (देखो, मंत्र पहला)

यह दिव्य जन्म निर्दशित किया गया है ऋभुओं द्वारा, जो पहले मानव होकर अब अमर हो गये हैं। इस दिव्य जन्मके ऋभु निदर्शन हैं, दृष्टांत हैं। कार्यकी—मानवके ऊर्ध्वमुख विकासके उस महान् कार्यकी जो विश्व-यज्ञकी पराकोटि है,—अपनी निष्पत्तियों, कार्यपूर्त्तियों, निर्मितियों द्वारा उन्होंने उस यज्ञमें—विश्व-यज्ञमें—दिव्य शक्तियों (देवताओं)के साथ अपने दिव्य भाग और स्वत्वको प्राप्त किया है। वे निर्माणकी और ऊर्ध्वमुखी प्रगतिकी उन्नतिप्राप्त मानवीय शक्तियाँ हैं जो मनुष्यके दिव्यी-करणमें देवोंकी सहायता करती हैं। और उनकी सब निष्पत्तियोंमें, सब निर्माणोंमेंसे जो केंद्रभूत है वह है इन्द्रके दो जगमगाते घोड़ोंका निर्माण, उन घोड़ोंका जो वाणी द्वारा अपनी गतियोंमें नियुक्त किये जाते हैं, जो शब्द द्वारा नियुक्त होते हैं और रचे जाते हैं मनसे। क्योंकि प्रकाशित मनकी, मनुष्यके अंदर विद्यमान दिव्य मनकी, उन्मुक्त गति ही अन्य सभी अमरताप्रद कार्योंकी शर्त है। (देखो, मंत्र दूसरा)

ऋभुओंका दूसरा कार्य है अश्विनों, मानवीय यात्राके अधिपतियों, का रथ निर्मित करना,—अभिप्राय है, मनुष्यके अंदर आनंदकी उस सुखमय गतिको रचित करना जो अपनी क्रिया द्वारा उसके अंदरके सत्ताके सब लोकों या स्तरोंको व्याप्त कर लेती है, भौतिक पुरुषको स्वास्थ्य, यौवन, बल, संपूर्णता, प्राणमय पुरुषको सुखभोगकी तथा क्रियाकी क्षमता, मनोमय पुरुषको प्रकाशकी आनंदमयी शक्ति प्रदान करती है,—संक्षेपमें कहना चाहें तो वह उसके सब अंगोंके अंदर सत्ताके विशुद्ध आनंदका सामर्थ्य ला देती है। (देखो, तीसरे मंत्रका पूर्वार्द्ध)

ऋभुओंका तीसरा कार्य है उस गौको रचना जो मधुर दूध देती है। दूसरे स्थानपर यह कहा गया है कि यह गौ आच्छादक त्वचाके अंदरसे—

प्रकृतिकी बहिर्मुख गति तथा क्रियाके पर्देके अंदरसे—ऋभुओं द्वारा छुड़ाकर लायी गयी है, **निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः**। यह प्रीणयित्री गौ (धेनु) स्वयं वह है जो गतिके विश्वव्यापी रूपोंकी और विश्वव्यापी वेगकी गौ है, **विश्वजुवम्, विश्वरूपाम्,** दूसरे शब्दोंमें वह है आदि-**रश्मि, अदिति,** असीमित सचेतन सत्ताकी असीमित **चेतना,** जो लोकोंकी माता है। वह **चेतना** ऋभुओं द्वारा **प्रकृति**की आवरण डालनेवाली गतिके अंदरसे निकालकर लायी गयी है और उसकी एक आकृतिको उन्होंने यहाँ हमारे अंदर रच दिया है। वह द्वैत-शक्तियोंकी क्रियाके द्वारा, अपनी संतानसे, निम्न-लोकवर्ती आत्मासे, जुदा कर दी गयी है; ऋभु उसे फिरसे अपनी असीम माताके साथ सतत साहचर्य प्राप्त करा देते हैं। (देखो, तीसरे मंत्रका उत्तरार्द्ध)[1]

ऋभुओंका एक और महान् कार्य है अपने पूर्वकृत कार्यों—इन्द्रके प्रकाश, अश्विनोंकी गति, प्रीणयित्री गौके परिपूर्ण दोहन—से शक्ति पाकर विश्वके वृद्ध पिता-माताओं, **द्यौ** तथा **पृथिवी**को पुनः जवानी प्राप्त करा देना। **द्यौ** है मनोमय चेतना, **पृथिवी** है भौतिक चेतना। ये दोनों मिलकर इस रूपमें प्रदर्शित किये गये हैं कि ये चिर-वृद्ध हैं और नीचे गिर पड़े यज्ञ-स्तंभोंकी तरह लंबे भूमिपर, जीर्ण-शीर्ण और कष्ट भोगते हुए पड़े हैं, **सना यूपेव जरणा शयाना**। कहा गया है कि ऋभु आरोहण करके **सूर्य**के उस घरतक पहुँचते हैं जहाँ वह अपने **सत्य**की अनावृत दीप्तिके साथ निवास करता है, और वहाँ वे बारह दिन निद्रा लेकर, उसके बाद **द्यौ** तथा **पृथिवी**को **सत्य**की प्रचुर वृष्टिसे भरपूर करके, इन्हें पालित-पोषित करके, फिरसे जवानी तथा शक्ति प्रदान कर, इन्हें पार कर जाते हैं।[2] वे द्यौको अपने कार्योंसे व्याप्त कर लेते हैं, वे मनोमय सत्ताको दिव्य उन्नति प्राप्त करा देते हैं;[3] वे इसे और भौतिक सत्ताको एक नवीन तथा यौवनपूर्ण और अमर गति प्रदान कर देते हैं। क्योंकि **सत्य**के घरमेंसे वे अपने साथ उसे पूर्ण करके ले आते हैं जो उनके कार्यकी शर्त है, अर्थात् सत्यके सरल मार्गमें होनेवाली गतिको और मनके सब विचारों तथा शब्दोंमें अपनी पूर्ण प्रभावोत्पादकता सहित स्वयं सत्यको। इस शक्तिको निम्न लोकके अंदर अपने व्यापी प्रवेशमें साथ ले जाकर, वे उसके अंदर अमृत-तत्त्व उँडेल देते हैं। (देखो, मंत्र चौथा)

---

1. अन्य व्योरोंके लिये देखो, ऋग्० 4.33.4 व 8 ; 4.36.4 आदि।
2. देखो, ऋग्वेद 4.33.2,3,7 ; 4.36.1,3; 1.161.7
3. देखो, ऋग्वेद 4. 33. 1, 2

जिसे वे अपने कार्यों द्वारा अधिगत करते हैं और मनुष्यको उसके यज्ञमें प्राप्त कराते हैं वह इसी अमृत-तत्त्वका रस और इसके आनंद हैं। और इस सोमपानमें उनके साथ जो आकर बैठते हैं वे हैं, एक तो **इन्द्र** तथा **मरुत्** अर्थात् दिव्य **मन** तथा इसकी **विचार-शक्तियाँ,** और दूसरे चार महान् **राजा, अदितिके पुत्र, असीमता**की संतानें,—जो हैं वरुण, मित्र, अर्यमा, भग,—क्रमशः, **सत्य-चेतना**की पवित्रता और बृहत्ता, इसका प्रेम तथा प्रकाश और समस्वरताका नियम, इसकी शक्ति और अभीप्सा, इसका वस्तुओंका पवित्र तथा सुखमय भोग। (देखो, मंत्र पाँचवाँ)

और वहाँ यज्ञमें ये देव चतुर्गुणित प्याले, **चमसं चतुर्वयम्**में अमृतके प्रवाहोंका पान करते हैं। क्योंकि **त्वष्टा, पदार्थोंके रचयिता**ने आरंभमें मनुष्यको केवल एक ही प्याला, भौतिक चेतना, भौतिक शरीर, दिया, जिसमें भरकर सत्ताका आनंद देवोंको अर्पित किया जाय। ऋभु, प्रकाशमय ज्ञानकी शक्तियाँ, इस त्वष्टाकी बादकी क्रियाओंसे पुनर्नवीकृत तथा पूर्णीकृत इस प्यालेको लेते हैं और मनुष्यके अंदर चार लोकोंकी सामग्रीसे तीन अन्य शरीर (प्याले), प्राणमय, मनोमय और कारणभूत या विचारशरीर, निर्मित कर देते हैं। (देखो, मंत्र छठा)

क्योंकि उन्होंने इस आनंदके चतुर्गुणित प्यालेको रचा है और इसके द्वारा मनुष्यको **सत्य-चेतना**के लोकमें निवास करने योग्य बना दिया है, इसलिये अब वे इस योग्य हैं कि इस पूर्णताप्राप्त मानव-सत्ताके अंदर मन, प्राण और शरीरमें उँड़ेले गये उच्च सत्ताके त्रिगुणित सात आनंदोंको प्रतिष्ठित कर सकें। इन सबके समुदायमें भी वे इनमेंसे प्रत्येकको उसके पृथक्-पृथक् परम-आनंदकी पूर्ण अभिव्यक्तिके द्वारा पूरे तौरसे प्रदान कर सकते हैं। (देखो, मंत्र सातवाँ)

ऋभुओंके अंदर शक्ति है कि वे सत्ताके आनंदकी इन सब धाराओंको मानवीय चेतनाके अंदर धारण तथा स्थिर कर सकें; और वे इस योग्य हैं कि अपने कार्यकी परिपूर्त्ति करते हुए, इसे अभिव्यक्त हुए देवोंके बीचमें, प्रत्येक देवको उसका यज्ञिय भाग देते हुए, विभाजित कर सकें। क्योंकि इस प्रकारका पूर्ण विभाजन ही फलसाधक यज्ञ, पूर्णतायुक्त कार्यकी समस्त शर्त है। (देखो, मंत्र आठवाँ)

इस प्रकारके हैं वे ऋभु और ये मानवीय यज्ञमें इसलिये बुलाये गये हैं कि मनुष्यके लिये अमरताकी वस्तुओंको रचें, जैसे कि इन्होंने अपने लिये उन्हें रचा था। "वह प्रचुर ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण (वाजी) और श्रमके लिये आवश्यक बलसे परिपूर्ण (अर्वा) हो जाता है, वह आत्माभिव्यक्तिकी

शक्तिसे **ऋषि** बन जाता है, वह युद्धोंमें शूरवीर और विद्ध कर डालनेके लिये जबर्दस्त प्रहार करनेवाला हो जाता है, वह अपने अंदरकी आनंदकी वृद्धि तथा पूर्ण बल धारण कर लेता है, जिसे **ऋभुगण, वाज** और **विभ्वा,** पालित करते हैं।[1]···क्योंकि तुम द्रष्टा हो और स्पष्ट-विवेकयुक्त विचारक हो, इस प्रकारके तुमको हम अपनी आत्माके इस विचारके साथ (ब्रह्मणा) अपना ज्ञान निवेदित करते हैं।[2] तुम ज्ञानयुक्त होकर, हमारे विचारोंके चारों ओर गति करते हुए हमारे लिये सब मानवीय सुखभोग रच दो—दीप्तिमान् ऐश्वर्य (द्युमन्तं वाजम्) और फलवर्षक शक्ति (वृषशुष्मम्) और उत्कृष्ट आनंद (रयिम्) रच दो।[3] यहाँ प्रजा, यहाँ आनंद, यहाँ अन्तःप्रेरणाकी महती शक्ति (वीरवत् श्रवः) हमारे अंदर रच दो, अपने आनंदमें भरपूर होकर। हमें, हे ऋभुओ, वह अत्यधिक विविध ऐश्वर्य प्रदान कर दो, जिससे हम अपनी चेतनामें सामान्य मनुष्योंसे परेकी वस्तुओंके प्रति जागृत हो जायँ।"[4]

---

1. स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टरः।
   स रायस्पोषं स सुवीर्यं दधे यं वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविशुः॥
2. (श्रेष्ठं वः पेशो अधि धायि दर्शतं स्तोमो वाजा ऋभवस्तं जुजुष्टन।)
   धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि॥
3. यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना।
   द्युमन्तं वाजं वृषशुष्ममुत्तममा नो रयिमृभवस्तक्षता वयः॥
4. इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत् तक्षता नः।
   येन वयं चितयेमात्यन्यान् तं वाजं चित्रमृभवो ददा नः॥

ऋग्० 4. 36. 6-9

बारहवां अध्याय

विष्णु—विश्वव्यापी देव

ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 154

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥1॥

(विष्णोः नु कं वीर्याणि प्रवोचम्) विष्णुके वीरतापूर्ण कर्मोंका अब मैं वर्णन करता हूँ, (यः) जिस विष्णुने (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव लोकोंको (विममे) माप लिया है, और (यः) जो (उरुगायः) विश्व गतिवाला, (त्रेधा विचक्रमाणः) अपनी विश्वव्यापी गतिके तीन चरणोंको रखता हुआ (उत्तरं सधस्थं) हमारी आत्म-साधनाके उच्चतर धामको (अस्कभायत्) थामे हुए है ॥1॥

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥2॥

(तद्) उसको (विष्णुः) विष्णु (वीर्येण) अपनी शक्तिके द्वारा (प्र-स्तवते) उच्च स्थानपर स्थापित कर देता है, और वह (भीमः कुचरः मृगः न) एक भयानक शेरके समान है जो दुर्गम स्थानोंमें विचरता है, (गिरिष्ठाः) उसकी गुफा पहाड़की चोटियोंपर है, (यस्य) जिसकी (त्रिषु उरुषु विक्रमणेषु) तीन विशाल गतियोंमें (विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति) सब लोक निवास पा लेते हैं ॥2॥

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥3॥

(विष्णवे) सर्वव्यापी विष्णुके प्रति (शूषम्) हमारी शक्ति और (मन्म) हमारा विचार (प्र-एतु) आगे जाय, (उरुगायाय वृष्णे गिरिक्षिते) जो विष्णु एक विशाल गतिवाला बैल है जिसका निवासस्थान पर्वतपर है, (यः एकः) जिस अकेलेने (इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम्) हमारी आत्म-साधनाके इस लंबे और अत्यधिक विस्तृत धामको (त्रिभिः इत् पदेभिः) केवल तीन ही चरणोंमें (विममे) माप लिया है ॥3॥

यस्य श्री पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥4॥

(यस्य) जिस विष्णुके (त्री पदानि) तीन चरण (मधुना पूर्णा) मधु-रससे परिपूर्ण हैं और वे (अक्षीयमाणा) क्षीण नहीं होते, किंतु (स्वधया मदन्ति) अपने स्वभावकी आत्मसमस्वरता द्वारा आनंद उपलब्ध करते हैं; (यः उ) जो अर्थात् वह विष्णु (एकः) अकेला ही (त्रिधातु) त्रिविध तत्त्वको और (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी तथा द्यौको भी, (विश्वा भुवनानि) सभी लोकोंको (दाधार) धारण किये है ॥4॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥5॥

मैं चाहता हूँ कि (अस्य पाथः तत् प्रियम्) उसकी गतिके उस लक्ष्यको, आनंदको, (अभि-अश्याम्) प्राप्त कर सकूं और उसमें रस ले सकूँ (यत्र) जिसमें (देवयवः नरः) देवत्वकी इच्छुक आत्माएँ (मदन्ति) आनंद लेती हैं; (हि) क्योंकि (उरुक्रमस्य विष्णोः) विशाल गतिवाले विष्णुके (परमे पदे) सबसे ऊपरके चरणमें (सः इत्था बन्धुः) मनुष्योंका वह मित्र रहता है जो (मध्वः उत्सः) मधुरताका स्रोत है ॥5॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥6॥

(ता वां वास्तूनि) वे तुम दोनोंके निवास-स्थान हैं जिनकी (गमध्यै उश्मसि) हम अपनी यात्राके लक्ष्यके रूपमें पहुँचनेके लिये चाहना करते हैं, (यत्र) जहाँ (भूरिशृङ्गा गावः) अनेक सींगोंवाली प्रकाशकी गौएँ (अयासः) यात्रा करके पहुँचती हैं। (अत्र ह) यहीं (उरुगायस्य वृष्णः) विशाल गतिवाले वृष्ण विष्णुका (परमं पदम्) सर्वोच्च चरण (भूरि) अपनी बहुविध विशालताके साथ (अव-भाति) नीचे इस लोकमें हमपर चमकता है ॥6॥

भाष्य

इस सूक्तका देवता विष्णु है। वह ऋग्वेदमें एक दूसरे देव रुद्रके साथ, जिसने बादके धर्म-संप्रदायमें एक बहुत ऊँचा स्थान पा लिया है, घनिष्ठ किंतु प्रच्छन्न संबंध और लगभग तादात्म्य ही रखता है। रुद्र एक भयंकर और प्रचण्ड देव है जिसका एक हितकारी रूप भी है जो विष्णुकी उच्च आनंदपूर्ण वस्तुसत्ताके निकट पहुँचता है। मनुष्यके साथ तथा मनुष्यके सहायक देवोंके साथ जो विष्णुकी सतत मित्रताका वर्णन आता है उसपर एक बड़ी जबर्दस्त प्रचंडताका रूप भी छाया हुआ है। विष्णुके विषयमें यह वर्णन कि "वह कुत्सित तथा दुर्गम स्थानोंमें विचरनेवाले एक भयानक शेरके समान है" अपेक्षाकृत अधिक सामान्य तौरसे रुद्रके लिये

उचित है। रुद्र प्रचंडतापूर्वक युद्ध करनेवाले मरुतोंका पिता है; पंचम मंडलके अंतिम सूक्तमें विष्णुकी स्तुति भी 'एवया-मरुत्'के नामसे की गयी है जिसका अभिप्राय है कि विष्णु वह स्रोत है जिसमेंसे मरुत् निकले हैं, वह जो कि वे हो जाते हैं और स्वयं भी वह उनकी सन्नद्ध शक्तियोंकी एकता तथा समग्रताके साथ तद्रूप है। रुद्र वह देव है जो विश्वमें आरोहण-क्रिया करता है, विष्णु भी वही देव है जो आरोहणकी शक्तियोंकी सहायता करता और उन्हें प्रोसाहन देता है।

एक दृष्टिकोण यह था जो बहुत काल तक युरोपियन विद्वानों द्वारा प्रचारित किया जाता रहा कि पौराणिक देववंशावलियोंमें **विष्णु** तथा **शिव**की महत्ता एक बादमें हुआ विकास है और वेदमें ये देव एक बिल्कुल क्षुद्र सी स्थिति रखते हैं तथा इन्द्र और अग्निकी अपेक्षा तुच्छ हैं। अनेक विद्वानोंका यह एक प्रचलित मत बन गया है कि 'शिव' एक बादका विचार था जो द्रविड़ोंसे लिया गया और यह इस बात को प्रकट करता है कि वैदिक धर्मपर देशीय संस्कृतिने जिसपर कि इसने आक्रमण किया था आंशिक विजय प्राप्त कर ली थी। इस प्रकारकी भूलोंका उठना अनिवार्य ही है, क्योंकि वैदिक विचारको पूर्णतः गलत रूपमें समझा गया है। इस गलत समझे जानेके लिये प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथीय कर्मकाण्ड जिम्मेवार है और इसे युरोपियन विद्वानोंने वैदिक गाथाविज्ञानके गौण तथा बाह्य अंगपर अतिशय बल देकर केवल एक नया तथा और भी अधिक भ्रांतिपूर्ण रूप ही प्रदान किया है।

वैदिक देवोंकी महत्ता इस बातसे नहीं मापी जानी चाहिये कि उन देवोंके लिये सूक्तोंकी संख्या कितनी है या ऋषियोंके विचारोंमें उनका आवाहन किस हदतक किया गया है, वरन् इससे मापी जानी चाहिये कि वे क्या व्यापार करते हैं। अग्नि और इन्द्र जिनके प्रति अधिकांश वैदिक सूक्त संबोधित किये गये हैं विष्णु तथा रुद्रकी अपेक्षा बड़े नहीं हैं, किन्तु उनकी प्रधानताका कारण केवल यह है कि आन्तरिक तथा बाह्य जगत्में वे जो व्यापार करते हैं वे सबसे अधिक क्रियाकर एवं प्रधान हैं तथा प्राचीन रहस्यवादियोंके आध्यात्मिक अनुशासनके लिये प्रत्यक्ष तौरसे फलोत्पादक हैं। मरुत् जो कि रुद्रके पुत्र हैं, अपने भयावह तथा शक्तिशाली पिताकी अपेक्षा अधिक ऊँचे देव नहीं हैं; किंतु उन्हें संबोधित किये गये सूक्त अनेकों हैं तथा अन्य देवोंके साथ जुड़कर तो वे और भी अधिक सातत्यके साथ वर्णित हुए हैं, क्योंकि जो व्यापार वे संपन्न करते हैं वह वैदिक अनुशासनमें एक सतत तथा तात्कालिक महत्त्वका है। दूसरी तरफ विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति, जो बादके पौराणिक त्रैत विष्णु-शिव-ब्रह्माके वैदिक मूल हैं,

वैदिक कर्मकी आवश्यक अवस्थाओंका विधान करनेवाले हैं और वे स्वयं पीछे रहकर अपेक्षाकृत अधिक उपस्थित रहनेवाले तथा अधिक क्रियाशील देवोंके द्वारा, इस कर्ममें सहायता देते हैं, वे अपेक्षाकृत इसके कम समीप रहते हैं और देखनेमें ऐसा ही प्रतीत होता है कि वे इसकी दैनिक गतियोंमें कम नैरन्तर्यके साथ वास्ता रखते हैं।

ब्रह्मणस्पति **शब्द** द्वारा रचना करनेवाला है; वह निश्चेतनाके समुद्रके अंधकारमेंसे प्रकाशको तथा दृश्य विश्वको पुकार लाता है और सचेतन सत्ताके व्यापारोंको ऊपरकी तरफ उनके उच्च लक्ष्यकी ओर गति दे देता है। ब्रह्मणस्पतिके इस रचनाशील रूपसे ही 'सृष्टिके रचयिता ब्रह्मा'का पश्चात्कालीन विचार उठा है।

ब्रह्मणस्पतिकी रचनाओंकी ऊर्ध्वमुखी गतिके लिये शक्ति देता है रुद्र। वेदमें उसे 'द्यौका शक्तिशाली देव' यह नाम दिया गया है, परंतु वह अपना कार्य आरंभ करता है पृथ्वीपर और हमारे आरोहणके पांचों स्तरोंपर वह यज्ञको क्रियान्वित करता है। वह वह **उग्र देव** है जो सचेतन सत्ताकी ऊर्ध्वमुखी उन्नतिका नेतृत्व करता है; उसकी शक्ति सब बुराइयोंसे युद्ध करती है, पापीको और शत्रुको आहत कर देती है; न्यूनता तथा स्खलनके प्रति असहिष्णु यह रुद्र ही देवोंमें सबसे अधिक भयानक है, केवल इसीसे वैदिक ऋषि कोई वास्तविक भय मानते हैं। **अग्नि, कुमार,** जो पौराणिक 'स्कन्द'का मूल है, पृथ्वीपर इसी रुद्र-शक्तिका पुत्र है। **मरुत्,** वे प्राणशक्तियाँ जो बलप्रयोग द्वारा अपने लिये प्रकाशको रचती हैं, रुद्रके ही पुत्र हैं। अग्नि और मरुत् उस भयंकर संघर्षके नेता हैं जो रुद्रकी प्रथम पार्थिव धुंधली रचनासे शुरू होकर ऊपर विचारके द्युलोकों, प्रकाशमान लोकों, तक होता रहता है। किंतु यह प्रचण्ड और शक्तिशाली रुद्र जो बाह्य तथा आन्तरिक जीवनकी सब त्रुटिपूर्ण रचनाओंको तथा समुदायोंको तोड़ गिराता है साथ ही एक दयालु रूप भी रखता है। वह परम भिषक्, भैषज्यकर्त्ता है। विरोध किये जानेपर वह विनाश करता है; सहायताके लिये पुकारे जानेपर तथा प्रसादित किये जानेपर वह सब घावोंकोभर देता है तथा सब पापों और कष्टोंका निवारण कर देता है। युद्ध करनेवाली शक्ति उसीकी देन है, पर साथ ही चरम शांति और आह्लाद भी उसीकी देनें हैं। वैदिक रुद्रके इन रूपोंमें उस पौराणिक शिव-रुद्रके विकासके लिये आवश्यक सब आदिम सामग्रियाँ विद्यमान हैं जो पौराणिक शिव-रुद्र विनाशक तथा चिकित्सक है, मंगलकारी तथा भयानक है, लोकोंके अंदर क्रिया करनेवाली शक्तिका अधिपति तथा परम स्वाधीनता और शांतिका आनंद लेनेवाला **योगी** है।

ब्रह्मणस्पतिके शब्दकी रचनाओंके लिये, रुद्रकी शक्तिकी क्रियाओंके लिये, विष्णु आवश्यक स्थिति-शील तत्त्वोंको प्रदान करता है—अर्थात् स्थानको, लोकोंकी व्यवस्थित गतियोंको, आरोहणके धरातलोंको, सर्वोपरि लक्ष्यको प्रदान करता है। उसने तीन चरण रखे हैं और उन तीन चरणोंसे बने स्थानमें उसने सब लोकोंको स्थापित कर दिया है। इन लोकोंमें वह सर्वव्यापी देव निवास करता है और देवताओंकी क्रिया तथा गतियोंको कम या अधिक यथायोग्य स्थान प्रदान करता है। जब इन्द्रको वृत्रका वध करना होता है तब वह इस महासंग्राममें अपने मित्र और साथी[1] विष्णुकी ही सर्वप्रथम स्तुति करता है कि "ओ विष्णु! तू अपनी गतिकी पूर्ण विशालताके साथ पग उठा"[2], और उस विशालतामें वह वृत्रको जो सीमामें बांधनेवाला और आच्छादित करनेवाला है, विनष्ट कर देता है। विष्णुका परम पद या सर्वोच्च धाम आनंद और प्रकाशका त्रिगुणित लोक है, **प्रियं पदम्**, जिसे ज्ञानी मनुष्य द्यौ में फैला हुआ देखते हैं, मानो कि वह दर्शन (Vision) की चमकीली आँख हो[3]; यही विष्णुका सर्वोच्च स्थान है जो वैदिक यात्राका लक्ष्य है। यहाँ फिर वैदिक विष्णु पौराणिक **नारायण** अर्थात् **परिपालक** तथा **प्रेमके अधिपति**का पूर्ववर्ती है तथा उसका पर्याप्त मूलस्रोत है।

अवश्य ही वेदमें कथित विष्णुका आधारभूत विचार उस पौराणिक व्यवस्थाको स्वीकार नहीं करता जो वहाँ उच्च **त्रिमूर्त्ति** तथा उससे छोटे देवोंमें की गयी है। वैदिक ऋषियोंकी दृष्टिमें केवल एक विश्वात्मक **देव** था जिसके विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति, अग्नि, इन्द्र, वायु, मित्र, वरुण—सब एकसमान रूप तथा विराट् अंग थे। उनमेंसे प्रत्येक अपने आपमें संपूर्ण देव है तथा अन्य सब देवोंको अपने अंदर सम्मिलित किये है। उपनिषदोंमें जाकर इस सबसे उच्च और एक देवके विचारका पूर्ण उद्भव हो जाना जिसे वेदकी ऋचाओंमें अस्पष्ट तथा अव्याख्यात छोड़ दिया गया था और यहाँ तक कि जिसे कहीं कहीं नपुंसक लिंग में 'तत्' (वह) या 'एकात्मक सत्ता' (एकं सत्) कहकर छोड़ दिया गया था, और दूसरी तरफ अन्य देवों की कर्मकांडी सीमितता तथा उनके मानवीय या व्यक्तिगत रूपोंका क्रमशः निर्धारित हो जाना (जो विकसित होते हुए गाथाविज्ञानके दबावके अनुसार

---

1. **इन्द्रस्य युज्यः सखा**। 1.22.19
2. **अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व**। 4.18.11
3. **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्**॥ 1.22.20

हुआ)—इन दो कारणोंसे अंतमें जाकर हिन्दू देववंशावलीकी पौराणिक रचनामें ये देव पदच्युत हो गये तथा अपेक्षया कम प्रयोगमें आये हुए तथा अधिक सामान्यभूत नामों व रूपों—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र-को सिंहासन प्राप्त हो गया।

औचथ्य दीर्घतमस्के सर्वव्यापी विष्णुके प्रति कहे गये इस सूक्तमें विष्णुके अपने अद्भुत कार्यका, विष्णुके तीन पदोंकी महत्ताका गान किया गया है। हमें अपने मनसे उन विचारोंको निकाल देना चाहिये जो बाद के गाथाशास्त्रके अनुसार बने हैं। हमें यहाँ वामन विष्णु, दैत्य बलि और उन दिव्य तीन कदमोंसे कुछ वास्ता नहीं जिन्होंने पृथिवी, द्यौ तथा पातालके प्रकाशरहित अधोवर्ती लोकोंको व्याप लिया था। वेदमें विष्णुके तीन कदमोंको दीर्घतमस्ने स्पष्टतया इस रूपमें व्याख्यात किया है कि वे पृथिवी, द्यौ तथा उच्च त्रिगुणित तत्त्व, **त्रिधातु**, हैं। द्यौसे परे स्थित या इसके सर्वोच्च धरातलके रूपमें इसके ऊपर समारोपित, **नाकस्य पृष्ठे**, सर्वोच्च त्रिगुणित तत्त्व ही इस सर्वव्यापी देवका परम पद (चरण) या सर्वोच्च धाम है।

विष्णु विस्तृत गतिवाला (उरुक्रमः) देव है। यह वह है जो चारों तरफ गया हुआ है—जैसा कि ईश उपनिषद्के शब्दोंमें प्रकट किया गया है, **स पर्यगात्**,—उसने अपनेको तीन रूपोंमें, **द्रष्टा, विचारक** और **रचयिता**के रूपमें पराचेतन **आनंद**में, **मन**के द्यौमें, भौतिक चेतनाकी पृथिवीमें विस्तृत कर रखा है, **त्रेधा विचक्रमाणः**। उन तीन चरणोंमें उसने पार्थिव लोकोंको माप लिया है, उसने उन्हें उनके संपूर्ण विस्तारके साथ रच दिया है; क्योंकि वैदिक विचारमें भौतिक लोक जिसमें हम निवास करते हैं केवल अनेक पदोंमेंसे एक है. जो अपनेसे परेके प्राणमय तथा मनोमय लोकोंको ले जाता है और उन्हें थामता है। उन चरणोंमें वह पृथिवी तथा मध्यलोकमें—पृथिवी अर्थात् भौतिक लोकमें, मध्यलोक अर्थात् क्रियाशील जीवनतत्त्वके अधिपति वायुके प्राणमय लोकोंमें—त्रिगुणित द्यौको तथा इसके तीन जगमगाते हुए ऊर्ध्वशिखरोंको, **त्रीणि रोचना**, थामता है। इन द्युलोकोंको ऋषिने पूर्णता-साधक उच्चतर पदके रूपमें (उत्तरं सधस्थं) वर्णित किया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सचेतन सत्ताकी उत्तरोत्तर प्रगतिशील आत्म-परिपूर्णता प्राप्त करनेके त्रिविध स्थान (**त्रिषधस्थ**) हैं, पृथिवी है निम्नस्थान, प्राणमय लोक है मध्यवर्ती, द्यौ उच्च स्थान। ये सब विष्णुकी त्रिविध गतिमें समाविष्ट हैं। (देखो, मंत्र पहला)।

पर इससे आगे भी है; एक वह लोक भी है जहाँ आत्म-परिपूर्णता सिद्ध हो जाती है, जो विष्णुका सर्वोच्च पद (चरण) है। इस दूसरी

ऋचामें ऋषि उसे केवल 'तद्' (उसको) कहकर वर्णित करता है; "उस" को विष्णु और आगे गति करता हुआ अपनी दिव्य शक्तिके द्वारा अपने तृतीय पगमें प्रस्तुत करता है या दृढ़तया स्थापित कर देता है, **प्र-स्तवते**। इसके बाद विष्णुका वर्णन ऐसी भाषामें किया गया है जो भयावह रुद्रके साथ उसकी वास्तविक तद्रूपताको निर्दिष्ट करती है, लोकोंका भीषण और खतरनाक **शेर** जो इस क्रमविकासमें पशुओंके अधिपति, **पशुपति**के रूपमें क्रिया आरंभ करता है, और ऊपर की तरफ सत्ताके पहाड़पर, जहाँ वह निवास करता है, गति करता चलता है, अधिकाधिक कठिन और दुर्गम स्थनोंके बीचसे विचरता हुआ चलता जाता है जब तक कि वह ऊर्ध्वशिखरोंपर नहीं जा खड़ा होता। इस प्रकार विष्णुकी इन तीन विशाल गतियोंमें सब पाँचों लोक और उनके प्राणी अपना निवास प्राप्त किये हुए हैं। पृथिवी, द्यौ तथा **वह** आनंदमय लोक (तद्) ये तीन पद हैं। पृथिवी और द्यौ के बीचमें है अन्तरिक्ष अर्थात् प्राणमय लोक, शाब्दिक अर्थ लें तो "मध्यवर्ती निवास"। द्यौ तथा आनंदमय लोकके बीचमें एक दूसरा विस्तृत **अन्तरिक्ष** या "मध्यवर्ती निवास" है, **महर्लोक**, वस्तुओंके पराचेतनात्मक **सत्य**का लोक। (देखो, मंत्र दूसरा)।

मनुष्यकी शक्तिको और मनुष्यके विचारको—शक्तिको जो शक्तिशाली रुद्रसे आती है और विचारको जो **ब्रह्मणस्पति, शब्दके रचनाशील अधिपतिसे** आता है—इस महती यात्रामें इस विष्णुके लिये या इस विष्णुके प्रति आगे-आगे जाना चाहिये। यह विष्णु लक्ष्यस्थानपर, ऊर्ध्वशिखरपर, पहाड़की अंतिम चोटीपर, खड़ा हुआ है (गिरिक्षित्)। उसीकी यह विशाल विश्वव्यापी गति है; वह विश्वका बैल है जो गतिकी सब शक्तियोंका और विचारके सब पशु-यूथोंका आनंद लेता तथा उन्हें फलप्रद बना देता है। यह दूर तक फैला विस्तृत स्थान जो हमारी आत्मपरिपूर्णता साधनेके लोकके रूपमें, महान् यज्ञकी त्रिगुणित वेदिके रूपमें, हमारे सामने प्रकट होता है उस **सर्वशक्तिशाली असीम**के केवल तीन ही चरणोंके द्वारा इस प्रकार मापा गया है, इस प्रकार रचित हो गया है। (देखो, मंत्र तीसरा)

ये तीनों चरण सत्ताके आनंदके मधुरससे परिपूर्ण हैं। उन सबको यह **विष्णु** अपनी सत्ताके दिव्य आह्लादसे भर देता है। उसके द्वारा वे नित्य रूपसे घृत हो जाते हैं और वे क्षीण या विनष्ट नहीं होते किंतु अपनी स्वाभाविक गतिकी आत्म-समस्वरतामें सदा ही अपनी विशाल तथा असीमित सत्ताके अक्षय आनंदको, अविनश्वर मदको, प्राप्त किये रहते हैं। विष्णु उन्हें अक्षय रूपमें घृत कर देता है, अविनाश्य रूपमें रक्षित कर देता

है। वह एक है, वही अकेला, **एक-सत्ता-धारी देव** है, और वह अपनी सत्ताके अंदर उस त्रिविध दिव्य तत्त्व (त्रिधातु) को धारण किये है जिसे हम आनंदमय लोकमें, पृथिवीमें जहाँ कि हमारा आधार है तथा द्यौमें भी जिसे हम अपने अंदर विद्यमान मनोमय पुरुषके द्वारा स्पर्श करते हैं, अधिगत करते हैं। पांचों लोकोंको वह धारण किये है। (देखो, मंत्र चौथा)। **त्रिधातु**, त्रिविध तत्त्व या सत्ताकी त्रिविध सामग्री, वेदांतका 'सत्-चित्-आनंद' है; वेदकी सामान्य भाषामें यह **वसु** अर्थात् सत्तत्त्व, **ऊर्ज्** अर्थात् हमारी सत्ताका प्रचुर बल, और **प्रियम्** या **मयस्** अर्थात् हमारी सत्ताके वास्तविक तत्त्वके अंदर विद्यमान आनंद और प्रेम है। जो कुछ भी अस्तित्वमें है वह सब इन तीन वस्तुओंसे ही रचा गया है और इनकी पूर्णता हम तब प्राप्त करते हैं जब हम अपनी यात्राके लक्ष्यपर पहुँच जाते हैं।

वह लक्ष्य है **आनंद** जो विष्णुके तीन पदोंमेंसे अंतिम (परम) है। ऋषि अनिश्चित शब्द **"तत्"** को फिरसे लेता है जिसके द्वारा पहले उसने अस्पष्ट रूपमें इसका निर्देश किया था; यह शब्द उस आनंदको प्रकट करता है जो विष्णुकी गतिका लक्ष्य है। यह **आनंद** ही मनुष्यके लिये उसके आरोहणमें आनेवाला वह लोक है जिसमें वह दिव्य सुखका स्वाद लेता है, असीम चेतनाकी पूर्ण शक्तिसे युक्त हो जाता है, अपनी असीम सत्ताको अनुभव कर लेता है। वहाँ सत्ताके मधुरसका वह उच्च-स्थित स्रोत है जिससे विष्णुके तीन पद परिपूर्ण हैं। वहाँ उस मधुरताके रसके पूर्ण आनंदमें देवत्वकी इच्छुक आत्माएँ निवास करती हैं। वहाँ उस परम (अंतिम) पदमें, विशाल गतिवाले विष्णुके सर्वोच्च धाममें शहदके रसका झरना है, दिव्य मधुरताका स्रोत है; क्योंकि वहाँ जो निवास करता है वह परम देव है, उसकी अभीप्सा करनेवाली आत्माओंका पूर्ण मित्र और प्रेमी है, अर्थात् वहाँ विष्णुकी स्थिर और पूर्ण वस्तुसत्ता है जिसके प्रति विस्तृत गतिवाला विश्वस्थ विष्णु **देव** आरोहण करता है। (देखो, मंत्र पांचवां)

ये दो हैं, गति करनेवाला विष्णु यहाँपर, सदा-स्थिर आनंदास्वादक विष्णु **देव** वहाँपर; और इस **युगल**के उच्च निवासस्थानोंको ही, **सच्चिदानंद**के त्रिगुणित लोक को ही हम इस लंबी यात्राके, इस महान् ऊर्ध्वमुखी गतिके, लक्ष्यके तौरपर पहुँचना चाहते हैं। उधरको सचेतन **विचार**की, सचेतन **शक्ति**की बहुतसे सींगोंवाली गौएँ गति कर रही हैं—वह उनका लक्ष्य है, वह उनका निवासस्थान है। वहाँ उन लोकोंमें इस विशाल गतिवाले **बैल**के, उन समस्त बहुशृंगी गौओंके अधिपति और नेताके, **विराट् देव**, हमारी

आत्माओंके **प्रेमी** और **मित्र**, परात्पर सत्ता तथा परात्पर आनंदके अधिपति सर्वव्यापी विष्णुके परमपद, सर्वोच्च धामकी विशाल, परिपूर्ण, असीम जगमगाहट रहती है जो यहाँ हमारे ऊपर आकर चमकती है।
(देखो, मंत्र छठा)

तेरहवां अध्याय

सोम—आनन्द व अमरता का अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल 9, सूक्त 83

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥1॥

(ब्रह्मणस्पते) हे आत्माके अधिपति ! (पवित्रं ते विततम्) तुझे पवित्र करनेवाली छाननी तेरे लिये तनी हुई है; (प्रभुः) प्राणीके अंदर प्रकट होकर तू (विश्वतः गात्राणि पर्येषि) उसके सब अंगोंमें पूर्णतः व्याप्त हो जाता है। (आमः) जो अपरिपक्व है, और (अतप्ततनूः) जिसका शरीर अग्निके तापमें पड़कर तप्त नहीं हुआ है वह (तद् न अश्नुते) उस आनंदका आस्वादन नहीं कर पाता; (शृतासः इत्) केवल वे ही जो ज्वालाके द्वारा पककर तैयार हो गये हैं (तद् वहन्तः) उसे धारण करनेमें समर्थ होते हैं, और (तत् समाशत) उसका आस्वाद ले पाते हैं ॥1॥

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥2॥

(तपोः पवित्रम्) तीव्र [सोम] को शुद्ध करनेकी छाननी (दिवस्पदे विततम्) द्यौके पृष्ठ पर तनी हुई है; (अस्य तन्तवः) इसके तार (शोचन्तः) चमक रहे हैं और (व्यस्थिरन्) फैले हुए स्थित हैं। (अस्य आशवः) इसके वेगपूर्ण आनंद-रस (पवीतारम्) उस आत्माको जो उसे शुद्ध करता है (अवन्ति) प्रीणित करते हैं; वे [रस] (चेतसा) सचेतन हृदयके द्वारा (दिवः पृष्ठम् अधितिष्ठन्ति) द्यौके उच्च स्तरपर जा चढ़ते हैं ॥2॥

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः ॥3॥

(अग्रियः पृश्निः) यही वह सर्वश्रेष्ठ चितकबरा बैल है जो (उषसः अरूरुचत्) उषाओंको चमकाता है, (उक्षा) यह पुरुष (भुवनानि बिभर्ति) संभूतिके लोकोंको धारण करता है और (वाजयुः) समृद्धिके लिये प्रयत्न करता है। (मायाविनः पितरः) पितरोंने जो निर्माणकारक ज्ञानसे युक्त थे (अस्य मायया) उस [सोम]की ज्ञानकी शक्तिसे (ममिरे) उसकी प्रतिमाका

निर्माण किया; (नृचक्षसः) दिव्य दर्शनमें प्रबल उन्होंने (गर्भम् आदधुः) उसे उत्पन्न होनेवाले शिशुकी न्याईं अंदर धारण किया ।।3।।

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः ।
गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ।।4।।

(गन्धर्वः इत्था) गंधर्वके रूपमें आकर वह (अस्य पदं रक्षति) उसके सच्चे पदकी रक्षा करता है; (अद्भुतः) परमोच्च तथा अद्भुत होकर वह (देवानां जनिमानि पाति) देवोंके जन्मको रक्षित करता है, (निधापतिः) आंतरिक निधानका अधिपति वह (निधया) आंतरिक निधानके द्वारा (रिपुं गृभ्णाति) शत्रुको पकड़ता है। (सुकृत्तमाः) जो कर्मोंमें पूर्णतः सिद्ध हो गये हैं वे (मधुनः भक्षम्) उसके मधुके भोगका (आशत) स्वाद लेते हैं ।।4।।

हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं नभो वसानः परि यास्यध्वरम् ।
राजा पवित्ररथो वाजमारुहः सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत् ।।5।।

(हविष्मः) हे भोजनको अपने अंदर धारण रखनेवाले ! [सोम !] (हविः) तू वह दिव्य भोजन है, (महि) तू विशाल है, (दैव्यं सद्म) दिव्य घर है; (नभः वसानः) आकाशको चोगेकी तरह धारण किये हुए तू (अध्वरं परियासि) यज्ञकी यात्राको चारों ओरसे परिवेष्टित करता है। (पवित्ररथः राजा) निज रथ-रूप परिशुद्ध करनेवाली छाननीसे युक्त, राजा तू (वाजम् आरुहः) विपुल समृद्धिके प्रति ऊपर आरोहण करता है; (सहस्रभृष्टिः) अपनी सहस्र जाज्वल्यमान दीप्तियोंसे युक्त तू (बृहत् श्रवः जयसि) विशाल ज्ञानको जीत लेता है ।।5।।

भाष्य

वैदिक मंत्रोंका यह एक साफ दिखायी देनेवाला, एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप है कि यद्यपि वैदिक संप्रदाय उस अर्थमें जो 'एकदेवतावादी' शब्दका आज अर्थ लिया जाता है, एकदेवतावादी नहीं था, तो भी वेद-मंत्रोंमें निरंतर कभी तो बिल्कुल खुले और सीधे तौरपर और कभी एक जटिल तथा कठिन ढंगसे, यह बात सदा एक आधारभूत विचारके रूपमें प्रस्तुत की हुई मिलती है कि अनेक देव जिनका मंत्रोंमें आवाहन किया गया है असलमें एक ही देव हैं,—देव एक ही है उसके नाम अनेक हैं, अनेक रूपोंमें वह प्रकट हुआ है, अनेक दिव्य व्यक्तित्वोंके छद्मवेशमें वह मनुष्यके पास पहुँचा है। यद्यपि भारतीय मनके सामने यह दृष्टिकोण कुछ भी कठिनाई उपस्थित नहीं करता, पर पाश्चात्य विद्वान् वेदके इस धार्मिक दृष्टिकोणसे चकरा गये हैं और उन्होंने इसकी व्याख्या करनेके लिये वैदिक हीनोथीज्म (Vedic Heno-

theism) के एक सिद्धांतका आविष्कार कर लिया है। उनका विचार है कि वस्तुतः वैदिक ऋषि बहुदेवतावादी ही थे, पर वे प्रत्येक देवको ही जब कि वे उसकी पूजा कर रहे होते थे सबसे अधिक मुख्यता दे देते थे और यहाँ तक कि एक प्रकारसे उसे ही एकमात्र देव समझ लेते थे। 'हीनोथीज्म'का यह आविष्कार विदेशीय मनोवृत्तिका इस बातके लिये प्रयत्न है कि वह भारतीयोंके इस विचारको किसी तरह समझ सके और इसकी कुछ व्याख्या कर सके कि दिव्य सत्ता वस्तुतः एक ही है जो अपने आपको अनेक नामों और रूपोंमें व्यक्त करती है तथा उस दिव्य सत्ताका हर एक ही नाम और रूप उसके पूजकके लिये एक और परम देव होता है। देवविषयक यह विचार जो पौराणिक संप्रदायोंका आधारभूत विचार है, हमारे वैदिक पूर्वजोंमें पहले ही से प्रचलित था।

वेदमें पहलेसे ही बीजरूपमें 'ब्रह्म'-संबंधी वैदांतिक विचार मौजूद है। वेद एक अज्ञेय, एक कालातीत सत्ताको, उस सर्वोपरि देवको स्वीकार करता है जो न आज है न कल, जो देवोंकी गतिसे गतिमान् होता है पर स्वयं, मन जब उसे पकड़नेका यत्न करता है तो उसके सामनेसे अंतर्धान हो जाता है (ऋग्वेद 1. 170. 1)[1]। इसे नपुंसक लिंगमें 'तत्'के द्वारा वर्णित किया गया है और प्रायः अमृतसे, सर्वोच्च त्रिगुणित तत्त्वसे, बृहत् आनंदसे, जिनकी मनुष्य अभीप्सा करता है, इसकी तद्रूपता दिखायी गयी है। ब्रह्म गतिरहित (अक्षर) है, सब देवोंका एक केंद्र है। "गतिरहित ब्रह्म जो महान् है, गौ (अदिति)के पदके अंदर पैदा हुआ है,...वह महान् है, देवोंका बल है, एक है" (3.55.1)[2]। यह ब्रह्म वह एक सत्ता है जिसे द्रष्टा ऋषि भिन्न-भिन्न नाम देते हैं, इन्द्र, मातरिश्वा, अग्नि (1.164.46)[3]।

यह ब्रह्म, यह 'एक सत्', जिसे इस प्रकार भाववाचक (अपुरुषवाचक) रूपमें नपुंसक लिंगमें वर्णित किया गया है, इस प्रकार भी निरूपित किया गया है कि यह देव है, परम देवता है, वस्तुओंका पिता है जो यहाँ मानवीय आत्मा होकर पुत्रके रूपमें प्रकट होता है। वह आनंदमय है, जिसे पानेको देवोंकी गति आरोहणमें अग्रसर होती है, वह एक साथ पुरुष और स्त्री, वृषन्, धेनु, दोनोंके रूपमें व्यक्त हुआ है। देवोंमेंसे प्रत्येक ही उस परम

---

1. न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
   अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥
2. ...महद् विजज्ञे अक्षरं पदे गोः। ...महद् देवानामसुरत्वमेकम्।
3. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

देवकी एक अभिव्यक्ति है, एक स्वरूप है, एक व्यक्तित्व है। वह अपने किसी भी नाम और रूप द्वारा, इन्द्र द्वारा, अग्नि द्वारा, सोम द्वारा साक्षात्कृत किया जा सकता है, क्योंकि उनमेंसे प्रत्येक अपनेमें एक पूर्ण देव है और हमें दीखनेवाले केवल अपने उपरिपार्श्व या रूपमें ही वह औरोंसे भिन्न लगता है, वैसे वह अपने अंदर सब देवोंको धारण किये होता है।

इस प्रकार अग्निकी एक सर्वोच्च तथा विराट् देवके रूपमें स्तुतिकी गयी है, "तू, हे अग्नि! जब पैदा होता है तब वरुण होता है, जब पूर्णतः प्रदीप्त हो जाता है तब तू मित्र होता है, हे शक्तिके पुत्र! तेरे अंदर सब देव विद्यमान हैं, हवि देनेवाले मर्त्यके लिये तू इन्द्र होता है[1]। तू अर्यमा होता है जब कि तू कन्याओंके गुह्य नामको धारण करता है। जब तू गृहपति और गृहपत्नी (दम्पति) को एक मनवाला करता है तब वे तुझे किरणोंसे (गौओंसे, गोभिः) चमका देते हैं, सुघृत मित्रकी तरह[2]। तेरी महिमाके लिये हे रुद्र! मरुत् उसे अपने पूरे जोरसे चमकाते हैं जो तेरा चारु और चित्र-विचित्र जन्म है। जो विष्णुका परम पद है उसके द्वारा तू किरणोंके (गौओंके, गोनाम्) गुह्य नामका रक्षण करता है[3]। तेरी महिमा के द्वारा हे देव! देवता सत्यदर्शन पा लेते हैं और (बृहत् अभिव्यक्तिकी) संपूर्ण बहुताको अपने अंदर धारण करके वे अमृतका आस्वादन करते हैं। मनुष्य अपने अंदर यज्ञके होताके रूपमें अग्निको प्रतिष्ठित करते हैं, जब कि (अमृतकी) इच्छा करते हुए वे सत्ताकी आत्म-अभिव्यक्तिको (देवोंके लिये) अर्पित कर देते हैं[4]। तू ज्ञानी होकर पिताका उद्धार कर, जो हमारे अंदर तेरे पुत्रके रूपमें धारित है, (पाप तथा अंधकार को) दूर भगा दे, हे शक्ति के पुत्र!"[5] (5.3.9)। इन्द्रकी भी इसी प्रकारकी स्तुति वामदेव ऋषि द्वाराकी गयी है, और अन्य कई सूक्तोंकी

---

1. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥ ऋग्० 5.3.1
2. त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभि र्यद्दम्पती समनसा कृणोषि॥ ऋग्० 5.3.2
3. तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्।
पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्॥ ऋग्० 5.3.3
4. तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त।
होतारमग्निं मनुषो निषेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः॥ ऋग्० 5.3.4
5. अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे। ऋग्० 5.3.9

भांति इस 9म मंडलके 83 वें सूक्तमें, सोम भी अपने विशेष व्यापारोंसे सर्वोच्च देवके रूपमें प्रकट होता है।

सोम आनंदके रसका, अमृत-रसका अधिपति है। अग्नि ही की तरह वह पौधोंमें, पार्थिव उपचयोंमें और जलोंमें पाया जाता है। सोम-रस जो बाह्य यज्ञमें प्रयुक्त किया जाता है इसी आनंद-रसका प्रतीक है। यह पीसनेके पत्थर (अद्रि, ग्रावा)के द्वारा निचोड़ा जाता है। सोम पीसनेके इस पत्थरका विद्युद्वज्रके साथ, इन्द्रकी वज्रभूत उस विद्युत्-शक्तिके साथ जिसे 'अद्रि' ही कहा जाता है, घनिष्ठ प्रतीकात्मक संबंध है। वेदमंत्र इसी पत्थरकी प्रकाशमय गर्जनाओंका वर्णन कर रहे होते हैं जब कि वे इन्द्रके वज्रके प्रकाश और शब्दका वर्णन करते हैं। एक बार सत्ताके आनंदके रूपमें सोमको निचोड़कर निकाल लिये जानेपर फिर इसे छाननी (पवित्र)के द्वारा परिशुद्ध करना होता है और छाननीमेंसे छनकर वह अपने पवित्र रूपमें रसके प्याले (चमू)में आता है जिसमें रखा जाकर वह यज्ञमें लाया जाता है, या वह इन्द्रको पान करानेके लिये 'कलशों'में भर लिया जाता है। अथवा, कहीं कहीं इस प्याले या कलशका प्रतीक उपेक्षित कर दिया गया है, और सोमका सीधे इस तरह वर्णन किया गया है, कि वह आनंदकी धाराके रूपमें प्रवाहित होकर देवोंके घरमें, अमृतके सदनमें, आता है। ये वर्णन प्रतीकरूप हैं यह बात नवम मंडलके अधिकतर सूक्तोंमें, जो सारे ही सोमदेवतापरक हैं, बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ, यहाँ सोमरसका कलश मनुष्यके भौतिक शरीरका प्रतीक है और इस छाननीके लिये जिससे छानकर इसे परिशुद्ध किया जाता है यह कहा गया है कि वह द्यौके स्थान में, दिवस्पदे, तनी हुई है।

इस सूक्तका प्रारंभ एक आलंकारिक वर्णनसे होता है जिसमें सोमरसको छानकर शुद्ध करने तथा इसे कलशमें भरनेके भौतिक कार्योंके साथ पूरा-पूरा रूपक बाँधा गया है। द्यौके पृष्ठपर तनी हुई छाननी या परिशुद्ध करनेका उपकरण ज्ञान (चेतस्)से प्रकाशित हुआ मन प्रतीत होता है; मनुष्यका भौतिक शरीर कलश है। **पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते,** छाननी तेरे लिये फैली हुई है, हे आत्माके अधिपति; **प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः,** अभिव्यक्त होकर तू सर्वत्र अंगोंमें व्याप्त हो जाता है या अंगोंके चारों तरफ गति करने लगता है। सोमको यहाँ 'ब्रह्मणस्पति' नामसे संबोधित किया गया है, जो नाम कहीं-कहीं अन्य देवोंके लिये भी व्यवहृत हुआ है पर प्रायः जो बृहस्पति, रचनाकारक शब्दके अधिपतिके लिये नियत है। 'ब्रह्म' वेदमें वह आत्मा या आत्मिक चेतना है जो वस्तुओंके गुह्य हृदयके अंदरसे

आविर्भूत होती है, किंतु अधिकतर यह वह अन्तःप्रेरित, रचनाकारक, गुह्य सत्यसे परिपूर्ण विचार है जो उस चेतनाके अंदरसे उद्‌भूत होता है और मनका विचार, मन्म, बन जाता है। तो भी, यहाँ इसका अभिप्राय स्वतः आत्मा ही प्रतीत होता है। आनंदका अधिपति सोम वह सच्चा रचयिता है जो आत्माको धारण करता है और उस आत्मामेंसे एक दिव्य रचनाको उत्पन्न कर देता है। उसके लिये मन और हृदय प्रकाशित होकर छाननी बना दिये गये हैं; इनमें विद्यमान चेतना सर्वविध संकीर्णता और द्वैधसे मुक्त होकर व्यापक रूपमें विस्तृत कर दी गयी है ताकि वह इंद्रिय-जीवन तथा मनोमय जीवनका पूर्ण प्रवाह प्राप्त कर सके और इसे वास्तविक सत्ताके विशुद्ध आनंदमें, दिव्य आनंदमें, अमर आनंदमें परिणत कर सके।

इस प्रकार गृहीत होकर, साफ होकर, छाना जाकर जीवनका सोमरस आनंदमें परिणत होकर मानव-शरीरके समस्त अंगोंके अंदर झरता हुआ आता है, जैसे कि किसी कलशमें, और उन सबके अंदरसे गुजरता हुआ पूर्णतः उनके एक-एक भागमें प्रवाहित हो जाता है। जिस प्रकार किसी मनुष्यका शरीर तीव्र मदिराके संस्पर्श तथा मदसे परिपूर्ण हो जाता है उसी प्रकार सारा भौतिक शरीर इस दिव्य आनंदके संस्पर्श तथा मदसे परिपूरित हो जाता है। 'प्रभु' और 'विभु' शब्द वेद में बादके "स्वामी" अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुए हैं, किंतु एक नियत आध्यात्मिक अर्थमें आये हैं, जैसे कि बादकी भाषामें प्रचेतस् और विचेतस् या प्रज्ञान और विज्ञान। "विभु"का अर्थ है इस प्रकारका होना कि व्यापक रूपमें अस्तित्वमें आना, "प्रभु"का अर्थ है ऐसा होना कि चेतनाके सम्मुख भागमें एक विशेष बिन्दुपर किसी विशेष वस्तु या अनुभूतिके रूपमें अस्तित्वमें आना। सोमरस मदिराकी तरहसे छाननीमेंसे बूंद-बूंद करके निःसृत होता है और उसके बाद कलशमें व्याप्त हो जाता है; यह किसी विशेष बिंदुपर केंद्रित हुई चेतनाके अंदर उद्‌भूत होता है, **प्रभु**, या ऐसे आता है जैसे कि कोई विशेष अनुभूति, और फिर आनंद बनकर समस्त सत्ताको व्याप्त कर लेता है, **विभु**।

किंतु प्रत्येक मानव-शरीर ऐसा नहीं है कि वह उस दिव्य आनंदके प्रबल और प्रायःकर प्रचंड मदको ग्रहण कर सके, सम्हाल सके, और उसका उपभोग कर सके। **अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते,** जो व्यक्ति कच्चा है और जिसका शरीर तप्त नहीं हुआ है वह उसका आस्वादन नहीं कर सकता या उसका रस नहीं ले पाता; **शृतास इद् वहन्तः तत् समाशत,** केवल वे ही जो अग्निमें पक चुके हैं उसे धारण कर पाते हैं और पूर्णतः उसका

स्वाद ले सकते हैं। शरीरके अंदर उंडेला हुआ दिव्य जीवनका रस एक तीव्र, उमड़कर प्रवाहित होनेवाला और प्रचंड आनंद है; उस शरीरमें यह नहीं थामा जा सकता जो जीवनकी बड़ीसे बड़ी अग्नि-ज्वालाओंमें तपी गयी कठोर तपस्याओं द्वारा तथा कष्टसहन और अनुभव द्वारा इसके लिये तैयार नहीं हो चुका है। मिट्टीका कच्चा घड़ा जो आबेकी आंचसे पककर दृढ़ नहीं हो गया है सोमरसको नहीं थाम सकता; वह टूट जाता है और बहुमूल्य रसको बखेर देता है। इसी प्रकार मनुष्यका भौतिक शरीर जो आनंदका तीव्र रस पीना चाहता है, कष्टसहनके द्वारा तथा जीवनकी सब उत्पीड़नकारी अग्नियोंपर विजयके द्वारा, सोमकी रहस्यमय तथा आग्नेय तीव्रताके लिये तैयार हो चुकना चाहिये; नहीं तो उसकी सचेतन सत्ता इसे थामनेमें समर्थ नहीं हो सकेगी; वह उसे चखते ही या चखनेसे भी पहले बखेर देगी और खो देगी या वह इसके स्पर्शसे मानसिक और भौतिक तौरपर भग्न हो जायगी, टूट जायगी। (देखो, मंत्र पहला)

इस तीव्र तथा आग्नेय रसको शुद्ध करनेकी आवश्यकता है और इसे शुद्ध करनेके लिए छाननी द्यौके पृष्ठपर विस्तृत रूपमें फैलायी जा चुकी है ताकि यह उसमें आकर पड़े, **तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे**; इसके तन्तु या रेशे सब पवित्र प्रकाशके बने हैं और इस तरह लटके हुए हैं जैसे कि किरणें, **शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्**। इन रेशोंके बीचमेंसे रसकी धाराओंको प्रवाहित होकर निकलना है। यह रूपक स्पष्ट ही विशुद्धीकृत मानसिक तथा आवेशात्मक चेतना, सचेतन हृदय, चेतस्की ओर संकेत करता है, विचार और आवेश ही जिसके तन्तु या रेशे हैं। **द्यौ** है विशुद्ध मानसिक लोक जो प्राण तथा शरीरकी प्रतिक्रियाओंका विषय नहीं होता। द्यौ अर्थात् विशुद्ध मानसिक सत्ता प्राणमय तथा भौतिक चेतनासे भिन्न है। उसके पृष्ठपर विचार और आवेश सच्चे बोध तथा सुखमय भौतिक स्पन्दनकी पवित्र किरणें बन जाते हैं और उन पीड़ित तथा अंधकाराच्छादित मानसिक, आवेशात्मक और ऐन्द्रियिक प्रतिक्रियाओंको छोड़ देते हैं जो अब तक हमारे अंदर होती थीं। वे अब ऐसी संकुचित और कंपायमान वस्तुएँ रहनेके बजाय जो दुःखके तथा अनुभवके धक्कोंके बाहुल्यसे अपना बचाव करनेमें लगी रहती हैं, स्वतंत्र, दृढ़ और चमकदार बनकर खड़े होते हैं और आनंदपूर्वक अपनेको विस्तृत कर लेते हैं ताकि विश्वव्यापी सत्ताके समस्त संभाव्य संस्पर्शोंको वे ग्रहण कर सकें तथा उन्हें दिव्य आनंदमें परिणत कर सकें। इसलिये सोमको छाननेकी छाननीको सोमके ग्रहण करनेके लिये द्यौके पृष्ठपर, **दिवस्पदे**, फैली हुई बताया गया है।

इस प्रकार गृहीत तथा विशुद्धीकृत होकर ये तीव्र और प्रचण्ड रस, ये सोम-रसकी वेगवती तथा मद ला देनेवाली शक्तियाँ, अब मनको विक्षुब्ध या शरीरको आहत नहीं करतीं, अब बिखरतीं या व्यर्थ नहीं जातीं, किंतु अपने परिशुद्ध करनेवालेके मन तथा शरीरको प्रीणित करती और बढ़ाने लगती हैं, अवन्ति; **अवन्त्यस्य पवीतारमाशवः**। इस प्रकार उसके मानसिक, आवेशात्मक, संवेदनात्मक और भौतिक सत्ताके समग्र आनंदमें उसे बढ़ाते हुए वे रस उसे लेकर विशुद्धीकृत तथा आनंदपूर्ण हृदयमेंसे होकर द्यौके सर्वोच्च पृष्ठ या स्तरकी ओर उठ जाते हैं, अर्थात् स्वःके उस प्रकाशमान लोककी ओर उठ जाते हैं जहाँ मन जो अन्तर्ज्ञान (Intuition), अन्तःप्रेरणा (Inspiration), स्वतःप्रकाश ज्ञान (Revelation)को ग्रहण करनेमें समर्थ हो चुका है, सत्य (ऋतम्)की उज्ज्वलतामें स्नान कर लेता है, विशालता (बृहत्)की असीमतामें उन्मुक्त हो जाता है। **दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा**। (देखो, मंत्र दूसरा)

यहाँ तक ऋषिने सोमका वर्णन उसकी भावरूप (अपुरुषरूप) अभिव्यक्तिके तौरपर, मनुष्यकी सचेतन अनुभूतिमें आनेवाले आनंद या दिव्य सत्ताके सुखके तौरपर किया है। अब वह, जैसी कि वैदिक ऋषियोंकी प्रवृत्ति है, दिव्य अभिव्यक्तिसे दिव्य पुरुषकी तरफ मुड़ता है और तुरंत **सोम** परम **पुरुष**, उच्च तथा विश्वव्यापी **देव**, के रूपमें प्रकट होता है। **अरूरुचद् उषसः पृश्निरग्रियः**, परम **चितकबरा** होकर वह उषाओंको चमकाता है; **उक्षा बिभर्त्ति भुवनानि वाजयुः**; वह **बैल**, लोकोंको धारण करता है, समृद्धिको चाहता हुआ। **पृश्नि** (चितकबरा) शब्द दोनोंके लिये प्रयुक्त होता है, **बैल** अर्थात् परम **पुरुष** और गौ अर्थात् स्त्रीभूत शक्तिके लिये। रंगवाची सभी शब्दों, श्वेत, शुक्र, हरि, हरित्, कृष्ण, हिरण्यकी तरह वेदमें यह (पृश्नि) भी प्रतीकात्मक है; रंग, **वर्ण**, रहस्यवादियोंकी भाषामें सदा गुण, स्वभाव आदिको बताता है। चितकबरा **बैल** वह **देव** है जो अपनी अभिव्यक्तिमें विविधतावाला है, अनेकवर्ण है। सोम ही वह प्रथम सर्वश्रेष्ठ चितकबरा **बैल**, संभूतिके लोकोंका उत्पादक है, क्योंकि उस **आनंद**मेंसे, **सर्वानंदपूर्ण**मेंसे ही वे सब निकलते हैं; **आनंद** ही सत्ताओंकी विविधताका पिता है। वह **बैल** है, उक्षा है, 'उक्षन्' शब्दका अर्थ अपने पर्यायवाची 'वृषन्'की तरह वर्षक, उत्पादक, वीर्यसेचक, प्रचुरताका पिता, **बैल, पुरुष** होता है; यह वह है जो **चेतनाकी शक्ति**को, **प्रकृति**को, **गौ**को उपजाऊ बना देता है और अपनी प्रचुरताकी धाराके द्वारा लोकोंको पैदा करता तथा धारण करता है। वह **उषाओं**को,—प्रकाशकी उषाओंको, सूर्यकी

चमकीली "गौओं"की माताओंको,—चमका देता है; और वह समृद्धिकी अर्थात् सत्ता, शक्ति और चेतनाकी परिपूर्णताकी, देवत्वके बाहुल्यकी इच्छा करता है, जो दिव्य आनंदकी अवस्था है। दूसरे शब्दोंमें, **आनंदका अधिपति** (सोम) ही हमें सत्यकी दीप्तियाँ और बृहत्की विपुल समृद्धियाँ प्रदान करता है जिनके द्वारा हम अमरत्व प्राप्त करते हैं। (देखो, तीसरे मंत्रका पूर्वार्द्ध)

जिन पितरोंने सत्यको खोज लिया था उन्होंने सोमके रचनाशील ज्ञानको, उसकी मायाको ग्रहण कर लिया और परम देवकी उस आदर्शभूता (ideal) तथा कल्पिका (ideative) चेतनाके द्वारा उन्होंने मनुष्यके अंदर उस (सोम)की प्रतिमाको रच दिया, उन्होंने उसे जातिके अंदर एक अनुत्पन्न गर्भमें विद्यमान शिशुके रूपमें, मनुष्यमें वर्तमान देवत्वके बीजके रूपमें, उस जन्मके रूपमें प्रतिष्ठित कर दिया जो मानव चेतनाके कोषके अंदरसे होना है। **मायाविनो ममिरे अस्य मायया, नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः**। ये पितर हैं वे प्राचीन ऋषि जिन्होंने वैदिक रहस्यवादियोंके मार्गको खोजकर पता लगाया था, और जो, ऐसा माना जाता है कि, आध्यात्मिक रूपमें अब भी विद्यमान हैं और जातिकी भवितव्यताके अधिष्ठाता हैं और देवोंकी तरह मनुष्यके अंदर उसके अमरत्वकी प्राप्तिके लिये कार्य करते हैं। ये वे ऋषि हैं जिन्होंने प्रबल दिव्य दर्शन प्राप्त किया था, **नृचक्षसः**, उस सत्य-दर्शन (Truth-vision)को प्राप्त किया था जिसके द्वारा वे पणियोंसे लुका दी गयी गौओंको ढूंढ़ लेनेमें तथा रोदसी की, मानसिक और भौतिक चेतनाकी, सीमाओंको पार करके **पराचेतनको**, बृहत् **सत्य** और **आनंदको**, पा लेनेमें समर्थ हो सके थे। (देखो, ऋग्वेद 1.36.7; 4.1.13-18; 4.2.15-18 आदि) (मंत्र तीसरा समाप्त)।

सोम गंधर्व है, आनंदकी सेनाओंका अधिपति है, और वह देवके सच्चे पदकी, **आनंदके** पृष्ठ या स्तरकी, रक्षा करता है; **गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति**। वह सर्वोच्च है, अन्य सब सत्ताओंसे बाहर तथा उनके ऊपर स्थित है, उनसे भिन्न और अद्भुत है, और इस प्रकार सर्वोच्च तथा सर्वातीत होता हुआ, लोकोंके अंदर विद्यमान किंतु उन्हें अतिक्रमण करता हुआ वह उन लोकोंके अंदर देवोंके जन्मोंकी रक्षा करता है, **पाति देवानां जनिमानि अद्भुतः**। "देवोंके जन्म" वेदमें एक सामान्य मुहावरा है जिससे विश्वके अंदर दिव्य तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति होना और विशेषकर मनुष्यके अंदर विविध रूपोंमें देवत्वका निर्माण होना अभिप्रेत है। गत ऋचामें ऋषिने इस देवका इस रूपमें वर्णन किया था कि वह दिव्य शिशु है जो जन्म पानेके लिये

तैयार हो रहा है,–विश्वमें, मानवीय चेतनाके अंदर आवृत हुआ पड़ा है। यहाँ वह उसके विषयमें यह कहता है कि वह सर्वातीत है और वह मनुष्य के अंदर निर्मित आनंदके लोककी तथा दिव्य ज्ञानके द्वारा उसके अंदर पैदा हुए देवत्वके रूपोंकी शत्रुओं, विभाजनकी शक्तियों, असुखकी शक्तियों (द्विषः, अरातीः) के आक्रमणोंसे रक्षा करता है, साथ ही अपने अंधकारपूर्ण तथा मिथ्या रचना करनेवाले ज्ञान, अविद्या, भ्रमके रूपों सहित अदिव्य सेनाओं (अदेवीः मायाः) के विरुद्ध भी उनकी रक्षा करता है।

क्योंकि वह इन आक्रामक शत्रुओंको आंतरिक चेतनाके जालमें पकड़ लेता है; वह उस विश्व-सत्य तथा विश्वनुभूतिके निधान (विन्यास, संनिवेश) का अधिपति है जो इंद्रियों तथा बाह्य मनसे रचित निधान (विन्यास)की अपेक्षा अधिक गंभीर और अधिक सत्य है। इसी आंतरिक निधानके द्वारा वह मिथ्यात्व, अंधकार तथा विभाजनकी शक्तियोंको पकड़ता है और उन्हें सत्य, प्रकाश तथा एकताके नियम के अधीन कर देता है; **गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः**। इसलिये जो मनुष्य इस आंतरिक प्रकृतिपर शासन करनेवाले आनंदके अधिपतिसे रक्षित होते हैं वे अपने विचारों और क्रियाओंको आंतरिक सत्य तथा प्रकाशके अनुकूल कर लेनेमें समर्थ हो जाते हैं और फिर बाह्य कुटिलताकी शक्तियोंके द्वारा स्खलन को प्राप्त नहीं कराये जाते; वे सीधे चलते हैं, वे अपने कार्योंमें बिल्कुल पूर्ण हो जाते हैं और अंदर होनेवाली क्रिया तथा बाह्य कर्मके इस सत्य द्वारा सत्ताके समग्र माधुर्यको, मधुको, उस आनंदको जो आत्माका भोजन है, आस्वादन करनेके योग्य बन जाते हैं। **सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत**। (देखो, मंत्र चौथा)

यहाँ सोम इस रूपमें प्रकट होता है कि वह हव्य, दिव्य भोजन, आनंद तथा अमरताका रस, 'हविः', है और वह, उस दिव्य हवि का अधिपति, **देव ('हविष्मः')** है, ऊपर वह विशाल और दिव्य घर है, वह पराचेतन आनंद और सत्य, बृहत्, है जिसमेंसे सोम-रस अवरोहण करके हमारे समीप पहुँचता है। आनंदके रसके रूपमें वह इस यज्ञकी महान् यात्राके, जो भौतिकतासे पराचेतनकी ओर मनुष्यकी प्रगति है, चारों ओर प्रवाहित हो पड़ता है तथा उसके अंदर प्रविष्ट हो जाता है। वह धुंधले आकाश, **नभस्**, अर्थात् मनोमय तत्त्वको अपने चोगे और आवरणके तौरपर धारण किये हुए इसके अंदर प्रविष्ट होता है और इसे चारों ओरसे घेर लेता है। **हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं, नभो वसानः परि यासि अध्वरम्**। दिव्य आनंद हमारे पास मानसिक अनुभूतिके रूपोंके चमकीले-धुंधले आवरणको धारण किये हुए आता है।

उस यात्रा या यज्ञिय आरोहणमें यह संर्वानंदपूर्ण **देव** हमारी सब क्रियाओंका राजा बन जाता है, हमारी दिव्यीकृत प्रकृतिका और उसकी शक्तियोंका स्वामी हो जाता है और प्रकाशाविष्ट सचेतन हृदयको रथ बनाकर असीम तथा अमृत अवस्थाकी विपुल समृद्धिके अंदर आरोहण कर जाता है। **सूर्य** या **अग्नि**की तरह सहस्र जाज्वल्यमान शक्तियोंसे परिवृत होता हुआ वह अन्तःप्रेरित सत्यके, पराचेतन ज्ञानके, विशाल प्रदेशोंको जीत लेता है; **राजा पवित्ररथो वाजमारुहः, सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत्**। यह रूपक उस विजेता राजाका है जो शक्ति और तेजमें सूर्यसदृश होता हुआ किसी विशाल राज्यपर विजय पा लेता है। उस विशाल सत्य-चेतनामें, 'श्रवः'में जिसपर अमृत अवस्था प्रतिष्ठित है, वह मनुष्यके लिये अमरताको ही जीत लेता है। मनुष्यके अंदर छिपा हुआ वह देव अंधकार और संध्या से निकलकर उषाके प्रकाशोंमेंसे होता हुआ सौर समृद्धियोंमें आरोहण करके अपने वास्तविक धामको ही, **इत्था पदम् अस्य**, जीत लेता है। (देखो, मंत्र पांचवां)

❀

इस सूक्तके साथ मैं ऋग्वेदीय 'चुने हुए सूक्तों'की यह लेखमाला समाप्त करता हूँ। मेरा उद्देश्य यह रहा है कि मैं ठीक-ठीक उदाहरणोंसे **वेदके रहस्य**का स्पष्टीकरण करते हुए जितना भी संभव हो उतने संक्षेपमें वैदिक देवों (देवताओं)के वास्तविक व्यापारोंको, उन प्रतीकोंके आशयको जिनमें उनका विषय व्यक्त किया गया है, और यज्ञके स्वरूप तथा यज्ञके लक्ष्यको दिखाऊँ। मैंने जान-बूझकर कुछ छोटे-छोटे और सरल-सरल सूक्त ही चुने हैं और वे उपेक्षित कर दिये हैं जो बहुत ही चित्ताकर्षक गहराई, विचार और रूपककी सूक्ष्मता व जटिलता रखते हैं,—इसी तरह उन्हें भी छोड़ दिया है जिनमें आध्यात्मिक आशय स्पष्ट तौरसे और पूर्ण रूपसे उनके उपरिपृष्ठपर ही रखा हुआ है तथा उन्हें जो अपनी अति ही अद्भुतता तथा गहनताके द्वारा रहस्यवादी और पवित्र कविताओंके अपने वास्तविक स्वरूपको प्रकट करते हैं। आशा है कि ये उदाहरण पाठकको, जो खुले मनसे इनका अध्ययन करेगा, हमारी इस प्राचीनतम और महत्तम वैदिक कविताका वास्तविक आशय दर्शनेके लिये पर्याप्त होंगे। अन्य अनुवादोंके द्वारा, जो अपेक्षया अधिक सामान्य ढंगके होंगे, यह दिखाया जायगा कि ये विचार केवल कुछ ही ऋषियोंके उच्चतम विचार नहीं हैं, किंतु ये विचार और शिक्षाएँ ऋग्वेदमें व्यापक रूपसे पायी जाती हैं।

परिशिष्ट

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावलि

अ

अंकित	stamped
अंग	element
अंगभूत पद	component
अंगविच्छेदन	mutilation
अंतःप्रेरणा	inspiration
अंतःप्रेरित	inspired
अंतर्ज्ञान	intuition
अंतर्ज्ञानयुक्त	intuitive
अंतस्फुरित	inspired
अंधविश्वास	superstition
अक्ष	latitude
अटकल	conjecture
अटकल लगानेवाले	conjectural
अति (अतिशयोक्ति)	exaggeration
अतिमानुष	superhuman
अतिरिक्त	excessive
अध्यवसाय	diligence
अधूरी	fragmentary
अनगढ़	primitive
अनधिकारी	profane
अनुभूति	experience
अनुवाद	rendering
अनुसंधान	discovery, research
अपरिवर्तनीय	invariable
अपूर्व	remarkable
अपौरुषेय	impersonal
अभ्यास और क्रिया	practice and discipline
अभिजात	classical
अभिप्राय	sense, purport, interpretation
अभिप्रेत वस्तु	thing symbolised
अभिव्यक्ति	expression
अभीप्सा	aspiration
अलंकार	parable
अलौकिक	supernatural
अव्याख्येय	inexplicable
अविश्वसनीय	discredited
अस्तव्यस्त करना	disorganise
अस्थायी अनुवाद	provisional rendering
असंगति	incoherence
असंबद्ध	incoherent
असभ्य	rude
असमान	disparate
असाधारण	prodigious

आ

आख्यान-परंपरा	legend
आख्यानात्मक	legendary
आत्मनियंत्रण	self-discipline
आत्मसाधना	self-culture
आत्महवि (आत्मसमर्पण)	self-offering
आदिम	primitive
आदृत	revered
आध्यात्मिक	psychological
आन्दोलन	movement
आलंकारिक	figurative
आलोकित	illumined

आलोचनात्मक प्रणाली	critical method
आविर्भाव	appearance
आविष्कार	invention
आविष्कार करना	discover
आशय	sense

ई

ईश्वरवाद	theism

उ

उच्छृंखल	arbitrary
उज्ज्वल	brilliant
उत्तरीय ध्रुवके प्रदेश	arctic regions
उत्थान	emergence
उत्साह	vigour
उद्भव	outburst
उदात्त	noble
उन्नत	advanced
उपाय	device
उपेक्षा करना	neglect

ऋ

ऋतस्य धीति	action of that higher truth
ऋतस्य प्रेषा	thinking & impulsion of higher truth

क

कंठस्थ करना	memorise
कंडिकाएँ	formulas
कटा-छंटा	trenchant
कट्टरता	orthodoxy
कथानक	legend
कर्मकाण्डमय	ritualistic
कल्पना	phantasy
कल्पना-प्रसूत	imaginative
कविक्रतु	mystic seer-will
कुशल	ingenious
कुशाग्रता	acuteness
कोष	lexicon
कोषकार	lexicographer
कोसा गया	cursed
क्रतुः हृदि	will in the heart
क्रमिक	progressive
क्षमायाचनापूर्ण	apologetic
क्षीण रूपमें लाया गया	diluted

ख

खंडित	disproved
खुली छुट्टी	licence
ख्याति	reputation

ग

गंभीर	profound, solemn
गढ़न्त	myth
गप्प	legend
गवेषणापूर्ण नियमन	deduction
गाथा	myth
गाथा-कवितात्मक	mythopoeic
गाथानिर्माण	myth-making
गाथाविज्ञान	mythology
गाथाशास्त्र	mythology
गायक	singer
गीत	chant
गूढ़	esoteric
ग्रंथ	text
ग्रस्त रहना	to be obsessed

च

चटकीली भड़कीली भाषा	garish style

चातुर्यपूर्ण	ingenious
चिकित्सक	physician
चेतनावाद	animism

छ

छटा	grace
छन्दोबद्ध	metrical
छन्दःशास्त्र	prosody

ज

जंगली	barbarous, savage
जंगलीपन	barbarism
जनक	parent
जनसमुदाय	peoples
जाति	caste
जाति-उपजातियां	tribes
जातिविज्ञान	ethnology
जातिविज्ञान-संबंधी	ethnological
जातीय	racial
जिज्ञासा	curiosity
ज्योतिर्विद्	astronomer
ज्वाला	flame
ज्ञानालोक	illumination

त

तत्त्व	element
तद्रूपता	identification
तर्कसंगत	logical
तरीका	method
तुलनात्मक	comparative

द

दर्शन	philosophy
दरार	fissure
दिव्यत्वापादित	apotheosized
दीक्षित	initiate
दृष्टि	sense
देवताख्यान	cult
देवमाला	pantheon
द्योतक होना	represent
द्वयर्थकता	"double entendre"
द्वयर्थक प्रणाली	system of double values

ध

धर्मपुस्तक	scripture
धुंधला	obscure

न

नक्षत्रगाथा	star-myth
नक्षत्रविद्या	astronomy
नया रूप प्रदान करना	recreate
नयी गढ़न्त	fabrication
निमज्जित करना	submerge
नियत	fixed
निर्देश	indication, suggestion
निर्व्यक्तिकता	impersonality
निरुक्तिकार	etymologist
निवारण करना	check
निश्चित	scrupulous
निष्ठा (पूरी)	fidelity
निष्प्रतिबन्ध	despotic
नैतिक	moral
न्यायोचित सिद्ध करना	justify

प

पक्षपात	prepossession
पदावलि एवं वाक्यरचना	turn of phrase and syntax

परदा	veil
परंपरा	tradition
पराभौतिक	metaphysical
परिचय	familiarity
परिणाम	findings
परिपाटी	tradition
परिभाषा	term
परिभाषाशास्त्र	terminology
परिवर्तन	alteration
परीक्षणात्मक विचारके तौरपर	tentatively
पवित्रता	sanctity
पहलू, रूप	aspect
पाठान्तर	version
पांडित्य	erudition
पांडित्यपूर्ण	scholastic
पुरोहित	priest
पूजाभाव	reverence
पूरी निष्ठा	fidelity
पूर्ण	plenary
प्रकरण	context
प्रकृति	nature
प्रकृतिपरक	naturalistic
प्रकृतिपूजा	nature-worship
प्रकृतिवादी	naturalistic
प्रक्रिया	process
प्रक्षेप	interpolation
प्रचलित	customary
प्रणाली	method
प्रतिज्ञा, स्थापना	hypothesis
प्रतिभाशाली	ingenious
प्रतिषेध करना	negate
प्रतिष्ठा	prestige
प्रधान भाग	bulk
प्रबल	puissant
प्रवृत्ति	tendency
प्रवेश	penetration
प्रशंसित	vaunted
प्रश्न	problem
प्रसंग	allusion
प्रागैतिहासिक	prehistoric
प्राचीन	antique
प्राचीनता	antiquity
प्रामाणिक	authoritative, valid
प्रामाणिकता	authority, justification, validity
प्रायद्वीप	peninsula
प्रारंभिक	initial
प्रारंभिक कोठरी	antechamber
प्रार्थना	litany
प्रार्थनाविधि	litany

फ

फलोत्पादकता	effectuality
फालतू	otiose

ब

बहुदेवतावादी	polytheistic
बीज	kernel, seed
बीजगणित	algebra
बुद्धि	reason
बुद्धिकौशल	ingenuity
बुद्धिगम्य	intelligible
बुद्धिचातुर्य	ingenuity

भ

भरपूर	replete
भारभूत होना	encumbrance
भाव या रंगत	connotation or colour
भावना	spirit
भावप्रकाशन-शैली	style
भाषा	diction

भाषाविज्ञान, भाषाशास्त्र	philology
भाष्य	commentary, interpretation
भूगर्भसंबंधी घटनाएँ	geological phenomena
भौतिकवाद	materialism
भ्रांतिजनक	misleading

म

मत	formula, hypothesis
मनमौजी	fanciful
मनोरंजक	interesting
महात्मा	sage
महिमायुक्त	haloed
महो अर्ण:	upper waters
मंच	scaffolding
मंत्र	text
मंदिर का भीतरी भाग	penetralia
मानदंड	standard
मीमांसा	speculation
मुखाकृति	physiognomy
मुहावरा	expression, phrase
मूर्त	concrete
मूर्त क्रिया	embodied
मूलसूत्र	clue
मोटे अक्षर	capital letters
मौलिकता	originality

य

यज्ञ-बलिदान-विषयक	sacrificial
यज्ञयाग	ritualism
याज्ञिक कर्मकाण्ड	ritual
युक्ति, युक्ति-प्रणाली	reasoning
युक्तियुक्त	logical, sound
युक्तियुक्तता	rationality
योग्यता	faculty

र

रचना	composition
रचनात्मक	creative
रसायनशास्त्र	chemistry
रहस्यमय	mystic (adj.)
रहस्यवादी	mystic (n.)
रहस्यविद्या	mystery
रूप	aspect, form
रूपक	allegory, figure
रोचक	interesting

ल

ललकारना	challenge
लुटेरा	robber

व

वज्र	lightning
वर्णन	details
वसीयत	legacy
वाणी	diction
वाद	hypotheis, theory
वास्तविकता	reality
विकास	development
विघटन	disintegration
विचार	conception, idea, speculation
विच्छेद	break
विद्यावलेप	pedantry
विद्वन्मण्डली	scholarship
विद्वान्	erudite, scholar

विद्वेषी	malevolent
विधि	form
विधि-नियम	dogma
विधि-विधान	ceremony
विधि-विधान-संबंधी	formal
विपर्यय	conversion
विमोचन	release
विराट् प्रकृति	universal nature
विरोधी	hostile
विलोप	obscuration
विशुद्ध	scrupulous
विशेषताएँ	characteristics
विषय	substance
विस्तार	prolongation
वेदद्वेषी	veda-haters
वैद्यकशास्त्र	medicine
वैश्वानर अग्नि	universal fire
व्यक्तित्व, व्यक्तिसत्ता	personality
व्याख्या	explanation, interpretation
व्याख्याकार	interpreter
व्यापक	pervading
व्यापार	function
व्यावहारिक	pragmatic
व्युत्पत्ति	etymology
व्युत्पत्तिपरक	etymological
व्योरा	detail

श

शक्ति	power
शब्दरूपोंका अध्ययन	morphology
शब्दव्युत्पत्ति-विज्ञान	etymology
शब्दव्युत्पत्ति-संबंधी	linguistic
शब्दशः	literal
शब्दावलि	phrase
शानदार	sumptuous
शास्त्र	canon, science
शांतिकरण-संबंधी	propitiatory
शिखर	summit
शुंडाकार उभरी हुई नाक	proboscis
शुद्ध	accurate
शुद्धता	accuracy
शैली	style
शोभाशालिनी	magnificent
श्रवस्	inspiration, inspired knowledge, thing heard
श्रेणी	class

स

संकर	admixture
संक्रमण	transition
संकेत	suggestion
संकेंद्रित वचन	concentrated speech
संकोच	reserve, reservation
संगति	coherence
संग्रहीता	compiler
संदिग्ध	ambiguous, hazardous
संधि	euphonic combination
संप्रदाय	creed
संबंध	ascription
संमति	opinion

संवर्धन	culture
संस्करण	revision
संस्कृति	culture
संस्थान	system
सचाई	reality
सच्चा	conscientious
सजातीय	cognate
सतर्क	scrupulous
सत्ता	being
सत्यनिष्ठा	conscientiousness
सभ्यता	civilization
समानान्तर तरीका	system of parallelism
समालोचनात्मक	critical
समुदाय	body
सर्वत्र पायी जानेवाली	ubiquitous
सर्वदेवतावाद	pantheism
सर्वांगपूर्ण	organic
सर्वेश्वरवाद	pantheism
सर्वेश्वरवादी	pantheistic
सलिलम् अप्रकेतम्	inconscient ocean
सवर्ण	homogeneous
सहायक कृति	contribution
सह्य	tolerable
साक्षी	evidence, testimony
साधारण	exoteric
सामंजस्य	consistency
सामग्री	apparatus, substance
सामान्य अनुमान	generalisation
सार	reality
साररूपमें	substantially
साहसिक दृढ़ता	hardiness
साहित्यिक	literary
सिद्धान्त	speculation, system, theory, doctrine
सुनम्य	pliable
सुवीर्यम्	hero-force
सूक्त	hymn
सूक्ष्म	delicate, subtle
सूझ	suggestion
सूत्र	formula
सूर्यगाथा	sun-myth
सौंदर्यमय	aesthetic
सौष्ठव	grace
स्तोत्रग्रन्थ	hymnology
स्तोत्रसंहिता	hymnal
स्थानच्युत करना	displace
स्थापना	hypothesis
स्थापना करना	establish
स्थिर	patient
स्पष्ट	vivid
स्रोत	source
स्वच्छंद	free
स्वत:प्रकाश	revelation, revelatory
स्वभाव	temperament
स्वर	accent, accentuation
स्वरचिह्न	accentuation
स्वीकृत	received

ह

हल	solution
हलचल	movement
हानि	diminution
हितैषी	benevolent
हिमयुग	glacial period
हिमसंहतिका विनाश	glacial death

श्रीअरविन्द

वेद-रहस्य

(उत्तरार्द्ध)

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

वेद-रहस्य

(उत्तरार्द्ध)

श्रीअरविंद

वेद-रहस्य

(उत्तरार्द्ध)

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण १९७१
पञ्चम आवृत्ति २००९

अनुवादक : जगन्नाथ वेदालंकार, धर्मवीर वेदालंकार

Rs 190
ISBN 978-81-7058-049-2

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट १९७१
प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पॉण्डिचेरी ६०५ ००२
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

Veda Rahasya (Uttarardha) (Hindi)
The Secret of the Veda (Parts Three and Four) by Sri Aurobindo
Translators: Jagannath Vedalankar, Dharmaveer Vedalankar

First edition 1971
Fifth impression 2009

© Sri Aurobindo Ashram Trust 1971
Published by Sri Aurobindo Ashram Publication Department
Pondicherry 605 002
Web http://www.sabda.in

Printed at Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry
PRINTED IN INDIA

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

प्राक्कथन 1
रहस्यवादियोंका सिद्धान्त 9

अत्रियोंके अग्निदेवताके सूक्त—

अग्नि—भागवत संकल्पशक्ति 25
पहला सूक्त—प्रातःकालीन यज्ञका सूक्त 33
दूसरा सूक्त—भागवत शक्तिके उन्मुक्त होनेका सूक्त .. 39
तीसरा सूक्त—भागवत शक्ति—परम कल्याणकी विजेत्री .. 44
चौथा सूक्त—भागवत संकल्प—पुरोहित, योद्धा और हमारी यात्राका नेता 49
पांचवां सूक्त—देवोंके आह्वानका सूक्त 54
छठा सूक्त—यात्राकी द्रुतगामी ज्वाला-शक्तियां .. 58
सातवां सूक्त—भागवत संकल्प—अभिकांक्षी, आनंदोपभोक्ता, पशुसत्तासे आनंद और ज्ञानकी ओर प्रगतिशील .. 63
आठवां सूक्त—भागवत संकल्प—वैश्व सिद्धिका अधिष्ठाता .. 68
नौवां सूक्त—पशुसत्तासे मनोमय सत्ताकी ओर आरोहणशील भगवत्संकल्प 71
दसवां सूक्त—उपलब्धि प्राप्त करनेवाली तेजस्वी आत्माओंका सूक्त 74
ग्यारहवां सूक्त—दिव्य पुरोहित और यज्ञिय ज्वालाका सूक्त 77
बारहवां सूक्त—सत्यके प्रति मनुष्यकी अभीप्साका सूक्त .. 80
तेरहवां सूक्त—भागवत संकल्पकी स्तुतिका गीत .. 84
चौदहवां सूक्त—प्रकाश और सत्यके अन्वेषकका सूक्त .. 86
पंद्रहवां सूक्त—दिव्य धर्ता और विजेताका सूक्त .. 88
सोलहवां सूक्त—समस्त स्पृहणीय कल्याणके लानेवालेके प्रति 90
सत्रहवां सूक्त—आत्म-विस्तार और चरम अभीप्साका सूक्त .. 93
अठारहवां सूक्त—पूर्ण ऐश्वर्यके अधिपतियोंका सूक्त .. 96
उन्नीसवां सूक्त—ज्ञानप्रकाशक रश्मि और विजयशील संकल्पका सूक्त 99
बीसवां सूक्त—कर्म और उपलब्धिका सूक्त 102

इक्कीसवां सूक्त—मानवतामें निहित दिव्य अग्निका सूक्त .. 104
बाईसवां सूक्त—पूर्ण आनन्दकी ओर यात्राका सूक्त .. 106
तेईसवां सूक्त—समृद्ध और विजयशील आत्माका सूक्त .. 108
चौबीसवां सूक्त—उद्धारक और रक्षकके प्रति 110
पच्चीसवां सूक्त—प्रकाशके अधीश्वर व देवत्वके निर्माताके प्रति 111
छब्बीसवां सूक्त—पुरोहित और यज्ञिय अग्निका सूक्त .. 115
सत्ताईसवां सूक्त—शक्ति और ज्योतिका सूक्त 118
अट्ठाईसवां सूक्त—अमरताके राजा देदीप्यमान अग्निका सूक्त 122

प्रकाशके संरक्षक—

सूर्य, ज्योति और द्रष्टा 125
दिव्य उषा 134
संवर्धक पूषा 140
स्रष्टा सविता 144
चार राजा 146
वरुण 158
मित्र 168
अर्यमा 174
भग 176

प्रकाशके अधिपति मित्रावरुणके सूक्त—

सत्य और आनंदके सहस्र-स्तंभ धामके अधिपति .. 180
वृष्टिदाता 185
आनंद-धामकी ओर ले जानेवाले 189
यात्राके अधिपति 193
आत्मसाम्राज्यके प्रदाता 196
धारक और रक्षक देवयुगल 199
महान् शक्तिके अधिपति 202
प्रकाशमय लोकोंके धारक 204
सत्ताके संवर्धक और उद्धारक 207
यज्ञमें आवाहन 209
यज्ञमें आवाहन 211

वरुण देवताके सूक्त–(1) सर्वज्ञ स्रष्टाके प्रति .. 212
(2) अनंत प्रज्ञाका शक्तिशाली स्वामी 215
उषाके सूक्त—पहला सूक्त 220
—दूसरा सूक्त 224
सविता-देवताका सूक्त 227

कुछ अन्य सूक्त

रहस्यमय मदिराका देव (I) 233
" " (II) 235
एक वैदिक सूक्त 237
विचारके देवों (मरुतोंका) स्तोत्र 242
वैदिक अग्नि (I) 246
वैदिक अग्नि (II) 251
अग्निदेवका एक वैदिक स्तोत्र 254

परिशिष्ट

1. आर्यभाषाके उद्गम 259
2. I. वेद-रहस्य 294
II. ऋग्वेद 300
3. I. ऋग्वेदकी पहली ऋचा 313
II. मधुच्छंदाकी ऋचाएँ 335
III. वामदेवके अग्निसूक्त 342
IV. वेदकी व्याख्या 370

अग्नि-स्तुति

मधुच्छंदा वैश्वामित्रः सूक्त 1 377
मेधातिथिः काण्वः सूक्त 12 379
मेधातिथिः काण्वः सूक्त 13 382
मेधातिथिः काण्वः सूक्त 36 383
पराशरः शाक्त्यः सूक्त 65 389
" सूक्त 66 391

पराशरः शाक्त्यः	सूक्त 67	.. ..	393
,, ,,	सूक्त 68	.. ..	394
,, ,,	सूक्त 69	.. ..	396
,, ,,	सूक्त 70	.. ..	398
,, ,,	सूक्त 71	.. ..	400
,, ,,	सूक्त 72	.. ..	403
,, ,,	सूक्त 73	.. ..	406
,, ,,	सूक्त 127	.. ..	410
दीर्घतमा औचथ्यः	सूक्त 140	.. ..	418
अनुक्रमणिका	I	.. ..	422
,,	II	.. ..	430
,,	III	.. ..	439
,,	IV	.. ..	461
,,	V	.. ..	471
,,	VI	.. ..	505
,,	VII	(हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावलि)	527

प्राक्कथन

वेदका अनुवाद करना एक असंभव प्रयासके क्षेत्रमें प्रवेश करना है। क्योंकि जहाँ प्राचीन ज्ञानदीप्त ऋषियोंके सूक्तोंका शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद करना उनके अर्थों और अभिप्रायोंको मिथ्यारूप देना होगा, वहाँ एक ऐसा भाषान्तर जिसका लक्ष्य संपूर्ण विचारको ऊपरी तल पर लाना हो, उनके अनुवादके स्थानपर उनकी एक व्याख्या ही हो जायगा। इसलिए मैंने एक प्रकारका मध्यमार्ग अपनानेका यत्न किया है—अर्थात् अनुवादका एक ऐसा मुक्त और नमनीय रूप अपनाया है जो मूलकी कथन-शैलियोंका अनुसरण करे और फिर भी जिसमें व्याख्याके कुछ एक ऐसे साधनोंकी गुंजायश हो जिनसे वैदिक सत्यका प्रकाश प्रतीक और रूपकके पर्देमें से झलक सके।

वेद गूढ़ आंतरिक प्रतीकोंका, लगभग आध्यात्मिक सूत्रोंका ग्रन्थ है जो कर्मकाण्डमय कविताओंके संग्रहका छद्मवेष धारण किए हुए है। वेदका आंतरिक भाव आध्यात्मिक, सार्वभौम एवं निर्वैयक्तिक है, जबकि उसका प्रतीयमान अर्थ और अलंकार,—जो दीक्षितोंके प्रति उस तत्त्वको प्रकट करनेके लिए अभिप्रेत थे जिसे वे अज्ञानियोंसे छिपाए रखते थे,—प्रत्यक्षतः भद्दे रूपमें स्थूल, घनिष्ठतया वैयक्तिक, शिथिल रूपमें नैमित्तिक एवं संकेतात्मक हैं। इस शिथिल बाहरी पहरावेको वैदिक कवि कभी-कभी, सतर्क रहते हुए, एक ऐसा स्पष्ट और संगत आकार दे देते हैं जो उनके अर्थकी श्रमलभ्य आंतरिक आत्मासे बिलकुल भिन्न होता है। तब उनकी भाषा छिपे हुए सत्योंके ऊपर चतुराईसे बुना हुआ पर्दा बन जाती है। अधिकतर तो वे जिस आवरणका प्रयोग करते हैं उसके प्रति असावधान ही रहते हैं। जब वे इस प्रकार अपने कार्यके उपकरणसे ऊपर उठ जाते हैं तब उनका शाब्दिक एवं बाह्य अनुवाद हमारे सामने या तो वाक्योंका एक अंटसंट एवं असंबद्ध क्रम प्रस्तुत करता है या फिर विचार और वाणीका एक ऐसा रूप उपस्थित करता है जो अदीक्षित बुद्धिवालोंके लिए विचित्र होनेके साथ-साथ उनकी पहुँचसे परे भी होता है। किंतु जब अलंकारों और प्रतीकोंको अपने छिपे हुए अर्थोंका सुझाव देनेकी क्षमता दे दी जाती है तभी धुंधलेपनमेंसे आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं धार्मिक विचारोंका एक

घनिष्ठ, सूक्ष्म और फिर भी पारदर्शी व सुसंबद्ध क्रम उभर आता है। मैंने सुझाव देनेकी इस शैलीको ही अपनानेका यत्न किया है।

वेदका शाब्दिक भाषांतर प्रस्तुत करना संभव होता यदि उसके बाद कुछ पृष्ठोंमें एक व्याख्या भी दे दी जाती जिसमें शब्दोंके सही अर्थ और विचारका छिपा हुआ संदेश ओतप्रोत हो। परंतु यह एक बोझिल शैली होगी जो केवल एक विद्वान् और सतर्क अनुशीलकके लिए उपयोगी रहेगी। अर्थके एक ऐसे रूप (विधा) की आवश्यकता थी जिसमें बुद्धिको अपने विषय पर केवल उतना ही रुकनेको बाध्य होना पड़े जितना उसे किसी रहस्यमय तथा आलंकारिक काव्यके लिए रुकना आवश्यक होता है। ऐसे रूपका निर्माण करनेके लिए संस्कृत शब्दका अंग्रेजीमें अनुवाद करना ही पर्याप्त नहीं, अर्थपूर्ण नामका, परंपरागत अलंकारका, प्रतीकात्मक रूपकका भी बार-बार अनुवाद करना होगा।

यदि प्राचीन ऋषियों द्वारा पसन्द किए गए रूपक ऐसे होते जिन्हें आधुनिक मन सरलतासे पकड़ सकता, यदि यज्ञके प्रतीक अब तक भी हमारे परिचित होते और वैदिक देवोंके नाम अब भी अपने मनोवैज्ञानिक अभिप्रायको लिए होते—जैसे कि उच्च श्रेणीके देवताओंके यूनानी व लैटिन नाम अफ्रोडाइट (Aphrodite) या आरिस (Ares) और वीनस (Venus) या मिनर्वा (Minerva) अब भी एक सुसंस्कृत यूरोपियनके लिए अपना भाव रखते हैं—तो एक व्याख्यात्मक अनुवादकी उपाय-योजनाको टाला जा सकता था। परंतु भारतने साहित्यिक और धार्मिक विकासके एक अन्य ही मोड़का अनुसरण किया है जो पश्चिमकी संस्कृति द्वारा अनुसरण किये गए मोड़से भिन्न है। देवोंके अन्य नामोंने वैदिक नामोंका स्थान ले लिया है या फिर वही नाम बने रहे हैं, परंतु उनका अर्थ केवल बाहरी रह गया एवं क्षीण हो गया है। वैदिक कर्मकाण्ड लगभग लुप्त हो चुका है और अपने गंभीर प्रतीकात्मक अभिप्रायको खो बैठा है; आदिकालीन आर्य कवियोंके पशुपालन-संबंधी, युद्धसंबंधी और ग्राम्य-जीवन-संबंधी रूपक उनके वंशजोंकी कल्पनाशक्तिके लिए अत्यंत दूरवर्ती और अनुपयुक्त लगते हैं अथवा यदि वे स्वाभाविक व सुन्दर लगें भी तो वे प्राचीन गंभीरतर अर्थसे शून्य प्रतीत होते हैं। जब प्राचीन उषाके अतिभव्य सूक्त हमारे सामने आते हैं तो हम अपनी शून्य अबोधस्थितिसे सचेत हो जाते हैं और उन्हें एक ऐसे विद्वान्‌की चातुरीका शिकार बननेके लिए छोड़ देते हैं जो वहाँ अस्पष्टताओं और असंगतियोंके बीच जबरदस्ती लादे हुए अर्थोंको टटोलता है जहाँ कि प्राचीन कवि अपनी आत्माओंको सामंजस्य और प्रकाशमें स्नान कराते थे।

कुछ एक उदाहरण हमें यह दिखाएँगे कि यह खाई क्या है और इसकी रचना कैसे हुई। जब हम एक माने हुए और रूढ़िगत रूपककी भाषामें लिखते हैं "**लक्ष्मी** और **सरस्वती** एक ही घरमें रहनेसे इन्कार करती हैं" तो एक यूरोपियन पाठकको इसे समझ सकनेसे पूर्व इस पदावलीपर टिप्पणीकी या एक सीधे अलंकारहीन विचारके रूपमें इसके किसी ऐसे अनुवादकी अपेक्षा हो सकती है,—"लक्ष्मी और विद्या कदाचित् ही साथ-साथ रहती हैं"। परंतु प्रत्येक भारतीयको इस पदावलीका अभिप्राय पहलेसे ही अधिगत है। हाँ, यदि कोई अन्य संस्कृति और धर्म पुराणों और ब्राह्मणोंकी संस्कृति और धर्मका स्थान ले लेते और प्राचीन पुस्तकों तथा संस्कृत-भाषाका पढ़ना और समझना बंद हो जाता तो यह आजकी परिचित शब्दावलि भारतमें भी वैसी ही अर्थहीन हो जाती जैसी कि यूरोप में। हो सकता है कि कोई निर्भ्रान्त टीकाकार या चतुर अन्वेषक विद्वान् हमारे सामने पूर्णतया संतोषजनक रूपसे यह सिद्ध करता आया हो कि लक्ष्मी तो उषा है और सरस्वती रात्रि है या कि वे दो बेमेल रासायनिक द्रव्य हैं—अथवा न जाने और क्या क्या!—इस प्रकारकी किसी चीजने ही वेदके प्राचीन स्पष्ट वचनोंको आ घेरा है, उसका अभिप्राय नष्ट हो गया है और बच रही है केवल विस्मृत काव्यमय रूपकी धुंध। इसलिए जब हम पढ़ते हैं "सरमा **सत्य**के मार्गसे गोयूथोंको खोज निकालती है" तो मन एक अपरिचित भाषाके द्वारा कुन्द हो जाता और चकरा जाता है। यूरोपियनके लिए **सरस्वती**विषयक शब्दावलिकी तरह हमारे लिए अधिक सीधे और कम आलंकारिक विचारके रूपमें इस वाक्यको यूँ अनूदित करना होगा "अन्तर्ज्ञान सत्यके मार्गके द्वारा गुप्त प्रकाशों तक पहुँच जाता है।" किसी विशेष सूत्रके अभावमें हम उषा और सूर्यके विषयमें की गई चातुर्यपूर्ण व्याख्याओंमें भटकते फिरते हैं अथवा यहाँ तक कि द्युलोककी कुक्कुरी सरमाके विषयमें हम यह कल्पना कर लेते हैं कि वह लूटे गए गोधनकी पुनः प्राप्तिके लिए द्रविड़ राष्ट्रोंके प्रति भेजी हुई किसी प्रागैतिहासिक दूतीका एक व्यक्तित्वमय रूप है!

संपूर्ण वेदकी परिकल्पना ऐसे रूपकोंमें ही की गई है। इसके परिणाम-स्वरूप हमारी बुद्धिमें जो अस्पष्टता एवं अस्तव्यस्तता आ जाती है वह भयावह है और यह तुरंत प्रत्यक्ष हो जायगा कि सूक्तोंका कोई ऐसा अनुवाद जो अनुवादके साथ-साथ व्याख्यारूप होनेका यत्न न करे कितना निरर्थक होगा। एक प्रभावकारी वेद-मंत्र यूँ आरंभ होता है कि "भिन्न रूपोंवाली परंतु एक मनवाली दो बहिनें **उषा** और **निशा** एक ही दिव्य **शिशु**को दूध पिलाती हैं।" इससे हमें कुछ भी समझमें नहीं आता। **उषा** और

निशा भिन्न रूपोंवाली तो हैं परंतु एक मनवाली क्यों? और शिशु कौन है? यदि वह **अग्नि** है तो **उषा** और **निशा** एक शिशु अग्निको बारी-बारीसे दूध पिलाती हैं—इससे हम क्या समझें? परंतु वैदिक कवि भौतिक रात्रि, भौतिक उषा या भौतिक आगके विषयमें नहीं सोच रहा है। वह अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिमें बारी-बारीसे आनेवाले कालोंके विषयमें सोच रहा है, अर्थात् एक तो उदात्त और स्वर्णिम प्रकाशके कालों और दूसरे तमसाच्छन्न हो जाने या सामान्य अप्रकाशित चेतनामें फिरसे जा गिरनेके कालोंके सतत लयतालके विषयमें सोच रहा है और वह स्वीकार करता है कि उसके अंदर इन सब क्रमिक कालों और यहाँ तक कि उनके नियमित उतार-चढ़ावकी शक्तिसे ही दिव्य जीवनका शिशुबल (नवजात बल) बढ़ रहा है। क्योंकि इन दोनों ही अवस्थाओंमें गुप्त व प्रकट रूपमें वह दिव्य प्रयोजन और वही ऊँचाई तक पहुँचनेवाला प्रयास कार्य कर रहा है। इस प्रकार जो रूपक वैदिक मन के लिए स्पष्ट, ज्योतिर्मय, सूक्ष्म, गंभीर और प्रभावोत्पादक था, वह हमारे सामने यहाँ अर्थशून्य होकर या अपने अर्थमें हीनता और असंगतिसे भरा हुआ उपस्थित होता है और इसलिए वह हमें केवल एक भारी-भरकम और दिखावटी चीजके रूपमें और गड़बड़-घोटाला करनेवाले अयोग्य साहित्यिक शिल्पके आभूषणके रूपमें ही प्रभावित करता है।

इसी प्रकार जब अत्रिगोत्रका ऋषि अग्निको उच्च स्वरसे पुकारकर कहता है, "हे अग्नि! हे आहुतिके वाहक पुरोहित! तू हमारे पाशोंको काटकर पृथक् कर दे", तो वह न केवल स्वाभाविक अपितु एक समृद्ध अर्थसे गर्भित रूपकका प्रयोग कर रहा होता है। वह एक महान् विश्व-यज्ञ पुरुषमेधमें मन, प्राण और शरीरके उस त्रिविध पाशके विषयमें सोच रहा है जिसके द्वारा आत्मा एक बलि-पशुकी तरह बंधा हुआ है। वह उस दिव्य **संकल्पशक्ति**का चिंतन कर रहा है जो उसके भीतर जागृत होकर कार्य कर रही है, एक तेजोमय और अदमनीय देवके विषयमें सोच रहा है जो उसकी दबी पड़ी दिव्यताको ऊपर उठा ले जायगा और उसके बंधन की रज्जुओंको छिन्न-भिन्न कर देगा। वह उस बढ़ती हुई शक्ति और **अन्तर्ज्वाला**के सामर्थ्यके विषयमें सोच रहा है जो उसके द्वारा अर्पणकी जानेवाली समस्त हविको ग्रहण कर उसे अपने सुदूर और दुर्गम धाम अर्थात् उस ऊर्ध्वस्थित **सत्य,** उस **दूरातिदूरवर्ती** सत्ता, उस **रहस्यमय,** उस **परम**की ओर ले जा रही है। इन सब सहचारी भावोंको हम खो चुके हैं, हमारे मन कर्मकाण्डीय यज्ञ और भौतिक पाशके विचारोंसे ही अभिभूत हैं। हम शायद यह कल्पना करते हैं कि अत्रिका पुत्र किसी प्राचीन बर्बर यज्ञमें एक (वध्य पशुकी तरह)

बंधा हुआ अपने भौतिक छुटकारेके लिए **अग्नि**के देवताको ऊँचे स्वरमें पुकार रहा है!

कुछ आगे चलकर ऋषि बढ़ती हुई **ज्वाला**का स्तुतिगान करता है—"**अग्नि**देव विशाल प्रकाशके साथ विस्तृत रूपमें देदीप्यमान हो उठता है और अपनी महिमासे सब वस्तुओंको अभिव्यक्त करता है।" इससे हम क्या समझें? क्या इससे हम यह कल्पना कर लें कि अपने बंधनोंसे मुक्त हुआ स्तुतिगायक,—यह तो हम नहीं जानते कि वह कैसे मुक्त हुआ,—यज्ञिय अग्निकी उस महान् ज्वालाकी शान्तिपूर्वक स्तुति कर रहा है जिसे उसको हड़प जाना था और यह कल्पना करके हम आदिम मनके द्रुत संक्रमणोंपर (एक विचारसे सहसा दूसरे विचारपर चले जानेपर) आश्चर्य करें? जब हम यह खोज निकालते हैं कि 'विशाल ज्योति' यह शब्दावलि रहस्यवादियोंकी भाषामें मनसे परेकी विस्तृत, मुक्त और प्रकाशमय चेतनाके लिये एक नियत शब्दावलि थी, केवल तब ही हम इस ऋचाके सच्चे अर्थको पकड़ पाते हैं। ऋषि अपने मन, प्राण और शरीरके त्रिविध बंधनसे अपनी मुक्तिका और अपने अंदर विद्यमान ज्ञान और संकल्पकी चेतनाके उस स्तर तक उठ जानेका स्तुतिगान कर रहा है जहाँ सब वस्तुओंके प्रतीयमान सत्यसे परेका उनका वास्तविक सत्य अन्ततोगत्वा एक विशाल प्रकाशमें अभिव्यक्त हो जाता है।

परंतु इस गंभीर, स्वाभाविक और आंतरिक भावको दूसरोंके मनों तक हम अनुवादके द्वारा कैसे पहुँचाएँ? यह तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि हम व्याख्यात्मक ढंगसे यूँ अनुवाद न करें, "हे **संकल्प-शक्ति**! हे हमारे यज्ञके **पुरोहित**! हमारे बंधनकी रज्जुओंको काटकर हमसे अलग कर दे।" "यह **ज्वाला सत्य**की विशाल **ज्योति**से चमक उठती है और सब वस्तुओंको अपनी महानतासे प्रकट कर देती है।" तब पाठक कम-से-कम पाशके, ज्योति एवं ज्वालाके आध्यात्मिक स्वरूपको पकड़ सकेगा; वह इस प्राचीन स्तोत्रके अर्थ और भावको कुछ-न-कुछ अनुभव कर सकेगा।

अनुवादकी जिस शैलीका मैंने प्रयोग किया है वह इन उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायगी। मैंने कहीं-कहीं रूपकको एक तरफ फेंक दिया है, परंतु इस प्रकार नहीं कि उससे बाह्य प्रतीकका पूरा ढाँचा ही चकनाचूर हो जाय या टीका ही अनुवादका स्थान ले ले। यह तो अवाञ्छनीय उग्र प्रहार होता कि वैदिक विचारके अत्यधिक रत्न-जटित वेशपरसे उसके शोभायमान आभूषणोंको उतार फेंका जाय या उसके स्थान पर उसे सामान्य भाषाका मोटा पहरावा पहना दिया जाए। परंतु मैंने इसे सभी जगह, जितना संभव था उतना पारदर्शक बनाने का यत्न किया है। मैंने देवों, राजाओं और

ऋषियोंके अर्थगर्भित नामोंको भी, उनके आधे-छिपे अर्थ देते हुए अनूदित किया है,—नहीं तो उनका पर्दा अभेद्य ही रहता। जहाँ रूपक आवश्यक नहीं था वहाँ कभी-कभी मैंने उसके आध्यात्मिक अर्थके लिए उसकी बलि दे दी है। जहाँ वह आस-पासके शब्दोंकी रंगतको प्रभावित करता था वहाँ मैंने ऐसी शब्दावलिको खोजनेका यत्न किया है जो अलंकारको बनाए रखे और फिर भी उसके अर्थ की संपूर्ण जटिलताको प्रकट कर सके। कभी-कभी मैंने दोहरे अनुवादकी रीतिका भी प्रयोग किया है। इस प्रकार उस वैदिक शब्दके लिए, जो एक साथ ही प्रकाश या किरण और गौका अर्थ देता है, मैंने प्रसंगके अनुसार **'ज्योति'**, 'दीप्तियाँ', 'चमकीले गोयूथ', 'प्रकाशमय गौएँ', 'गोयूथोंकी माता ज्योति' ये अर्थ दिए हैं। वेदकी अमृतमय सुराके वाचक 'सोम' शब्दका मैंने अनुवाद किया है "आनंदकी सुरा" या "अमरताकी सुरा"।

वैदिक भाषा, अपने समूचे रूपमें, एक शक्तिशाली तथा विलक्षण उपकरण है जो संक्षिप्त, जटिल और ओजस्वी है और अर्थ से ठूँस-ठूँसकर भरा हुआ है; यह भाषा अपनी विधाओंमें तर्कसंगत और आलंकारिक वाक्यविन्यास की सीधी-सरल और सतर्क रचनाओं तथा उसके स्पष्ट संक्रमणोंका सफल प्रयोग करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक मनके विचारोंकी स्वाभाविक उड़ानका ही सावधानीसे अनुसरण करती है। परंतु यदि ऐसी भाषाको बिना किंचित् परिवर्तनके अंग्रेजीमें अनूदित किया जाय तो वह कठोर, बेढंगी और अस्पष्ट ही हो जायगी, वह तो एक निर्जीव और बोझिल गति बन जायगी जिसमें मूल भाषाकी प्रातःकालीन स्फूर्ति और बलशाली पदचापकी जरा भी झलक नहीं होगी। इसलिए मैंने यह पसन्द किया है कि इस भाषाका अनुवाद करते हुए इसे ऐसे साँचेमें ढाला जाय जो अधिक नमनीय तथा अंग्रेजी भाषाके लिए अधिक स्वाभाविक हो और साथ ही इस प्रक्रियामें मैंने ऐसी वाक्यरचनाओंका और संक्रमणकी ऐसी विधियोंका प्रयोग किया है जो मूल विचारके तर्कको सुरक्षित रखती हुई भी एक आधुनिक भाषाके लिए अत्यधिक अनुकूल हों। मैंने इसमें भी कभी संकोच नहीं किया कि वैदिक शब्दके कोषगत निःसार पर्यायको त्यागकर उसकी जगह वहाँ अंग्रेजी भाषाकी वृहत्तर शब्दावलिका प्रयोग करूँ जहाँ मूल के पूर्ण अर्थ और सहचारी भावोंको प्रकट करनेके लिए ऐसा करना आवश्यक हो। मैंने अपनी दृष्टि आद्योपांत अपने मुख्य उद्देश्यपर लगाए रखी है—वह उद्देश्य है वेदके आंतरिक अर्थको आजकी सुसंस्कृत बुद्धिकी पकड़में आने योग्य बनाना।

जब यह सब किया जा चुका तो भी कुछ टीका-टिप्पणीकी सहायता अनिवार्य रही। परंतु मैंने यह यत्न किया है कि टिप्पणियोंसे अनुवादको

बोझिल न बनाया जाय और नाहीं लम्बी-लम्बी व्याख्याओंमें पड़ा जाय। मैंने प्रत्येक पांडित्यपूर्ण वस्तुका वर्जन किया है। वेदमें ऐसे बहुतसे शब्द हैं जिनका अर्थ सन्देहास्पद है, अनेकों उक्तियाँ हैं जिनका अर्थ केवल अनुमानसे या सामयिक रूपसे ही स्थिर किया जा सकता है, ऐसे मन्त्र भी कम नहीं हैं जिनकी दो या अधिक भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की जा सकती हैं। परंतु इस प्रकारका अनुवाद-ग्रंथ विद्वान्‌की कठिनाइयों और सन्देह-विकल्पोंका किसी प्रकारका लेखा प्रस्तुत करनेका स्थान नहीं होता। मैंने मुख्य वैदिक विचारकी संक्षिप्त रूप-रेखा भूमिकाके रूपमें जोड़ दी है जो इसे समझनेके अभिलाषी पाठकके लिए अनिवार्य है।

उसे वैदिक सूक्तोंकी सामान्य दिशा और ऊपरी संकेतोंको पकड़ पानेकी ही आशा रखनी होगी। इससे अधिक कदाचित् ही संभव हो। रहस्य-वादी सिद्धांतके असली हृदयमें प्रवेश करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम स्वयं प्राचीन मार्गोंपर चल चुके हों एवं लुप्त अनुशासन व विस्मृत अनुभवको ताजा कर चुके हों। और हममेंसे कौन कुछ भी गहराई या सजीव शक्तिके साथ ऐसा करनेकी आशा कर सकता है? कौन है जिसके अंदर इस कलियुगमें पूर्वजोंके प्रकाशको पुनः प्राप्त करनेका या मन और शरीरके दो आवरणकारी आकाशोंके ऊपर उनके द्वारा उपलब्ध अनन्त सत्यके प्रकाशमय स्वर्गतक उड़ान भरनेका सामर्थ्य हो? ऋषियोंने अपने ज्ञानको अपात्रसे गुप्त रखना चाहा, शायद वे यह विश्वास करते थे कि सर्वश्रेष्ठ वस्तुका दूषित हो जाना हमें निकृष्टतम वस्तुकी ओर ले जा सकता है और साथ ही वे सोमकी प्रबल सुराको बच्चे और निर्बलको देनेमें भय भी खाते थे। परंतु क्या उन ऋषियोंकी आत्माएँ अब भी हमारे बीच मर्त्य सत्तामें, जो सूर्यके भास्वर गोयूथोंको इन्द्रिय-जीवनके अधिपतियोंकी अंधकारमय गुफामें सदाके लिये कैद रहने देनेमें संतुष्ट है, किसी विरली आर्य आत्माको खोजती हुई विचर रही हैं अथवा क्या वे (आत्माएँ) ज्योतिर्मय जगत्‌में उस घड़ीकी प्रतीक्षा कर रही हैं जब **मरुत्** एक बार फिर परेके लोकसे स्वर्गकी नदियोंको सत्तामें सर्वत्र प्रवाहित कर देंगे और द्युलोककी शुनी (कुक्कुरी) उन नदियोंको फिरसे द्रुत वेगसे नीचेकी ओर हमतक ले आयगी और स्वर्गिक नदियोंके बंद द्वार तोड़ दिये जायँगे, गुफाएँ छिन्न-भिन्न कर दी जायँगी और अमर बनानेवाली **सोमसुरा** मनुष्यके शरीरमें विद्युन्मय वज्रोंके द्वारा निचोड़कर निकाली जायगी—इस विषयमें उनका यह रहस्य उनके पास ही सुरक्षित है। इस बातकी संभावना बहुत ही कम है कि एक ऐसे युगमें जो हमारी आँखोंको बाह्य जीवनके

क्षणभंगुर वैभवोंसे चकाचौंध कर अंधा कर रहा है और जो हमारे कानोंको जड़ प्रकृति व यंत्रविद्याके ज्ञानकी विजय-दुन्दुभियों द्वारा बहरा कर रहा है, लोग बड़ी संख्यामें ऋषियोंकी प्राचीन साधनाके गुह्य वचनोंपर बौद्धिक व कल्पनात्मक कुतूहल-भरी दृष्टि डालनेसे अधिक कुछ करेंगे या उनके जाज्वल्यमान रहस्योंके अन्तस्तलमें पैठनेका यत्न करेंगे। वेदका रहस्य, पर्दा हटा दिये जानेपर भी, रहस्य ही बना हुआ है।

रहस्यवादियोंका सिद्धान्त

वेदमें उपनिषदोंका उच्च आध्यात्मिक सारतत्त्व विद्यमान है, परन्तु उसमें उनकी शब्दावलि नहीं पाई जाती। यह एक अन्तःस्फूर्त ज्ञान है जो अभी बौद्धिक और दार्शनिक परिभाषाओंसे पर्याप्तरूपसे विभूषित नहीं। वेदमें हम उन कवियों और ऋषियोंकी भाषा पाते हैं जिनके लिए समस्त अनुभव वास्तविक, सुस्पष्ट एवं बोधगम्य हैं, यहाँ तक कि मूर्तिमन्त हैं, पर वहाँ हम अभी उन विचारकों और संहिताकारों (व्यवस्थित संकलन करनेवालों) की भाषा नहीं पाते जिनके लिए मन और आत्माको गोचर होनेवाली वास्तविक सत्ताएँ अमूर्त वस्तुएँ बन गई हैं। तो भी उसमें एक पद्धति एवं सिद्धान्त अवश्य है। परन्तु उसकी बनावट लचकीली है, उसकी परिभाषाएँ मूर्त हैं, उसके विचारका ढांचा एक पुरानी सुनिश्चित अनुभूतिके संसिद्ध नमूनेके रूपमें व्यावहारिक और प्रयोगसिद्ध है,—किसी ऐसी अनुभूतिके नमूनेके रूपमें नहीं जो अभी तक बननेकी प्रक्रियामें होनेके कारण अपरिपक्व और अनिश्चयात्मक हो। यहाँ हमें एक ऐसा प्राचीन मनोविज्ञान और आध्यात्मिक जीवनकी ऐसी कला मिलती हैं जिनका दार्शनिक परिणाम एवं दार्शनिक संशोधित रूप हैं उपनिषदें और जिनका अर्वाचीन बौद्धिक परिणाम एवं तार्किक सिद्धान्त ही है वेदान्त, सांख्य और योग। परंतु समस्त जीवन की तरह, ऐसे समस्त विज्ञानकी तरह जो अबतक प्राणवंत है, यह (वेद) तर्कशील बुद्धिकी कवचबद्ध कठोरताओंसे मुक्त है। अपने स्थापित प्रतीकों और पवित्र सूत्रोंके रहते भी यह विशाल, मुक्त, लचकीला, तरल, नमनशील और सूक्ष्म है। यह जीवनकी गति और आत्माके विशाल निःश्वाससे युक्त है। और जब कि परवर्ती दर्शनशास्त्र ज्ञानकी पुस्तकें हैं और मुक्तिको एकमात्र परम निःश्रेयस मानते हैं, वेद कर्मोंकी पुस्तक है और जिस चीजकी आशासे वह हमारे वर्तमान बंधनों और क्षुद्रताको ठुकरा फेंकता है, वह है पूर्णता, आत्म-उपलब्धि और अमरता।

रहस्यवादियोंका सिद्धान्त एक ऐसी **अज्ञेय, कालातीत** और **अनाम सत्ता**को स्वीकार करता है जो सब वस्तुओंके पीछे और ऊपर विद्यमान है और मनके अध्यवसायपूर्ण अनुशीलन द्वारा ग्राह्य नहीं। निर्गुण (निर्वैयक्तिक) रूपमें वह **तत्** है, एकमेव सत्ता (**एकं सत्**) है। हमारी व्यक्तित्वमय सत्ता द्वारा

की गई खोजके प्रति वह अपने आप को वस्तुओंकी गुहामेंसे भगवान् या देवके रूपमें प्रकट करता है,—वह नामरहित है यद्यपि उसके अनेकों नाम हैं, अपरिमेय और अवर्णनीय है यद्यपि वह नाम और ज्ञान-संबंधी सभी वर्णनोंको और आकार एवं उपादान, शक्ति एवं क्रियाके सब प्रकारके परिमाणोंको अपने अंदर धारण किये है।

वेद या देवाधिदेव आदि कारण और अंतिम परिणाम दोनों हैं। वह सत्स्वरूप भगवान् है, लोकोंका निर्माता और सब वस्तुओंका स्वामी और उत्पादक, **पुरुष** और **स्त्री** (**नृ** और **गना**) है, **सत्** और **चित्** है, लोकों और उनके निवासियोंका **पिता** और **माता** है तथा उनका और हमारा **पुत्र** भी : क्योंकि वह लोकोंके अन्दर उत्पन्न हुआ **दिव्य शिशु** है जो प्राणीके विकासमें अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। वह है **रुद्र** और **विष्णु, प्रजापति** और **हिरण्यगर्भ, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वायु, सोम** और **बृहस्पति,—वरुण, मित्र, भग** व **अर्यमा,** सभी देवता (**विश्वेदेवाः**)। वह है ज्ञानमय और शक्तिशाली, मुक्तिदाता **पुत्र** जो हमारे कार्यकलाप और हमारे यज्ञसे उत्पन्न होता है, वह है हमारे युद्धोंमें **वीर,** ज्ञानका **द्रष्टा,** हमारे दिनोंके सम्मुख अवस्थित **श्वेत अश्व** जो उच्चतर **समुद्र**की ओर सरपट दौड़ रहा है।

मनुष्यका आत्मा **पक्षी** (**हंस**)के रूपमें भौतिक और मानसिक चेतनाके प्रकाशमान आकाशोंसे गुजरता हुआ उड़ता है और वह एक यात्री और योद्धाके रूपमें **सत्य**के आरोही पथके द्वारा शरीरके पृथ्वीलोक और मनके द्युलोक से परे चढ़ जाता है। वहाँ वह देखता है कि यह परमेश्वर हमारी प्रतीक्षा कर रहा है और अपनी चरम-परम सत्ताके उस गुह्य धामसे हमारी तरफ़ झुक रहा है जहाँ वह त्रिविध दिव्य **तत्त्व** (**सत्, चित्, आनंद**) में और **परम आनंद**के उद्गममें आसीन है। वह देव चाहे वहाँ उच्चासीन होकर हमें आकर्षित कर रहा हो, चाहे बृहत्तर देवोंके आकारमें यहाँ हमारी सहायता कर रहा हो, वह निश्चय ही सदा मनुष्यका **सखा** और **प्रेमी** है, **गोयूथों**के चरागाहका **स्वामी** है जो हमें अनंतताकी प्रकाशमय **गौ**के स्तनोंसे मधुर दुग्ध और शोधित नवनीत प्रदान करता है। वह दिव्य आनन्दकी अमृतमय **सुरा**का मूलस्रोत और वर्धक है और हम सत्ताकी सप्तविध धाराओंसे निकाली हुई या सत्ताकी पहाड़ी पर देदीप्यमान पौधेसे निचोड़ी हुई उस सुराका पान करते हैं और उसके हर्षोल्लासोंके द्वारा उन्नीत होकर अमर बन जाते हैं।

इस प्रकारके हैं इस प्राचीन रहस्यवादी पूजाके कुछ एक रूपक।

भगवान्ने इस विश्वको लोकोंकी एक जटिल शृंखलाके रूपमें बनाया है। इन लोकोंको हम अपने अंदर और बाहर दोनों जगह पाते हैं, अंदर

तो विषयिरूपसे संज्ञात और बाहर विषय-रूपसे इंद्रियों द्वारा गृहीत या संवेदित। यह है पृथिवियों और द्युलोकोंकी चढ़ती हुई शृंखला। यह नानाविध ज़लोंकी एक धारा है। यह सात किरणों या फिर आठ, नौ, दस किरणोंवाली **ज्योति** है। यह है अनेक उच्च धरातलोंवाली एक **पहाड़ी**। ऋषि प्रायः इसे त्रिकोंकी एक शृंखलाके रूपमें चित्रित करते हैं; तीन पृथिवियाँ हैं और तीन द्यौ। और फिर नीचे एक त्रिविध लोक भी है,—**द्यौ, पृथिवी** और मध्यवर्ती अंतरिक्ष-लोक। बीचमें है त्रिविध जगत्, **सूर्य**के तीन भास्वर द्युलोक (**त्रीणि रोचना**); एक त्रिविध लोक ऊपर भी है, ये हैं **देवाधिदेव**के परमोच्च और आनंदोल्लासमय धाम।

परन्तु अन्य तत्त्व भी बीचमें आते हैं और लोकों के इस क्रमको और भी जटिल बना देते हैं। ये तत्त्व अंतश्चेतनासे संबंध रखते हैं। क्योंकि वास्तवमें सारी सृष्टि **परम आत्मा**की एक रचना है, अतः जगतोंकी प्रत्येक बाह्य प्रणालीको अपने प्रत्येक स्तरपर भौतिक रूपमें उस चेतनाकी किसी शक्ति या बढ़ती हुई मात्राके अनुरूप बनना होगा जिसका वह बाह्य प्रतीक है और उसे वस्तुओंकी इससे मिलती-जुलती आंतरिक क्रम-व्यवस्थाको भी स्थान देना होगा। वेदको समझनेके लिए हमें इस वेदोक्त समानांतर क्रम-शृंखलाको हृदयंगम करना होगा और विश्वके उन क्रमिक स्तरोंको पृथक्-पृथक् जानना होगा जिनकी ओर यह शृंखला ले जाती है। परवर्ती पौराणिक प्रतीकोंके पीछे हम इसी प्रणालीको फिरसे पाते हैं और वहीं से हम इसकी सारणीको अत्यन्त सरल और स्पष्ट रूपमें प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि सत्ताके सात तत्त्व हैं और पुराणोंके सात लोक काफ़ी ठीक-ठीक इन्हींके अनुरूप हैं, इस प्रकार :

तत्त्व	लोक
1. **शुद्ध सत्ता—सत्**	1. सत्ताके सर्वोच्च सत्यका लोक (**सत्यलोक**)
2. **शुद्ध चेतना—चित्**	2. अनन्त संकल्पशक्ति (तपस्) या सचेतन शक्तिका लोक (**तपोलोक**)
3. **शुद्ध आनन्द—आनन्द**	3. सत्ताके सर्जनकारी आनन्दका लोक (**जनलोक**)
4. **ज्ञान या सत्य-विज्ञान**	4. **बृहत्ता**का लोक (**महर्लोक**)
5. **मन**	5. प्रकाशका लोक (**स्वः**)
6. **प्राण** (नाड़ीगत सत्ता)	6. नानाविध संभूतिके लोक (**भुवः**)
7. **अन्न** (स्थूल सत्ता)	7. अन्नमय लोक (**भूः**)

अब यह लोक-संस्थान जो पुराणमें पर्याप्त सीधा-सरल है, वेदमें बहुत ही अधिक जटिल है। वहाँ तीन सर्वोच्च लोकोंको त्रिविध दिव्य **तत्त्व**के रूपमें एक ही वर्गमें एकत्रित कर दिया गया है,—क्योंकि वे **ऋत**में सदा एक साथ रहते हैं; अनन्तता है उनका क्षेत्र, आनन्द है उनका आधार। वे **सत्य**के उन विशाल क्षेत्रोंके आश्रयपर स्थित हैं जहाँसे एक दिव्य **ज्योति स्वर्** अर्थात् **इन्द्र**के प्रदेशके तीन ज्योतिर्मय **द्युलोकों**में हमारी मनोमय सत्ताकी ओर रश्मियोंके रूपमें प्रसारित होती है। नीचे वर्गीकृत है त्रिविध संस्थान जिसमें हम निवास करते हैं।

वेदमें हम वैसे ही वैश्व स्तर पाते हैं जैसे पुराणोंमें। परन्तु उनका वर्गीकरण भिन्न प्रकारसे किया गया है,—तत्त्वोंकी दृष्टिसे लोक सात हैं, व्यवहारकी दृष्टिसे पाँच, अपने सामान्य वर्गीकरणोंकी दृष्टिसे तीन :

1. **परम सत्-चित्-आनन्द**	1. त्रिविध दिव्य लोक
2. **संयोजक लोक, विज्ञान (अतिमानस)**	2. **सत्य, ऋत, बृहत्**[1] जो अपने तीन प्रकाशमय द्युलोकों सहित **स्वः** में अभिव्यक्त है।
3. नीचेका त्रिविध लोक	3. **द्युलोक**
शुद्ध मन	(**द्यौः**, तीन द्युलोक)
प्राणशक्ति	**मध्यवर्ती क्षेत्र** (**अन्तरिक्ष**)
अन्न	**पृथिवी** (तीन पृथिवियाँ)

और जैसे प्रत्येक तत्त्व अपने अन्दर स्थित अन्योंकी अवान्तर अभिव्यक्तिके द्वारा परिवर्तित हो सकता है, वैसे ही प्रत्येक लोक अपनी सर्जनकारी चिन्मय ज्योतिके विभिन्न विन्यासों और आत्म-व्यवस्थाओंके अनुसार अनेकविध प्रदेशोंमें विभाजित किया जा सकता है। तो फिर ऋषियोंकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और उर्वर रूपकमालाकी सभी जटिलताओंको इसी ढाँचेमें स्थान देना होगा, यहाँतक कि नीचेके जो सौ नगर आज शत्रुराजाओं अर्थात् द्वैध और बुराईके **अधिपतियों**के आधिपत्यमें हैं उनको भी। परन्तु देव उन सब नगरोंके द्वार तोड़कर खोल देंगे और उन्हें **आर्य** उपासकको उसके निर्बाध आधिपत्यके लिये दे देंगे।

परन्तु ये लोक हैं कहाँ और कहाँसे सृष्ट हुए हैं? यहाँ हम वैदिक ऋषियोंका एक अन्यतम गंभीर विचार पाते हैं। मनुष्य **पृथिवी-माता**के वक्षःस्थलमें निवास करता है और केवल इस मर्त्यलोकसे ही अभिज्ञ है।

---

1. सत्यं बृहद् ऋतम्। अथर्व. 12. 1. 1.

परन्तु इससे बहुत ऊँचाईपर एक अतिचेतन लोक है जहाँ दिव्य लोक प्रकाशमय गुहामें अवस्थित है; मनुष्यकी जाग्रत् चेतनाके उपरितलीय संस्कारोंके नीचे एक अवचेतन या निश्चेतन लोक है और सब वस्तुओंको गर्भरूपमें धारण करनेवाली उस **रात्रि**से लोक,—जैसा कि वह उन्हें देखता है,—उत्पन्न हुए हैं। किन्तु ऊपरके उस ज्योतिर्मय समुद्र तथा नीचेके इस अंधकारमय समुद्रके बीचमें स्थित इन अन्यलोकोंके विषयमें तथ्य क्या है? ये यहाँ अस्तित्व रखते हैं। मनुष्य प्राण-जगत्से अपनी प्राणमय सत्ताको और मनोमय-जगत्से अपनी मनःसत्ताको ग्रहण करता है। वह सदा ही इनके साथ गुप्त आदान-प्रदान करता रहता है। यदि वह चाहे तो सचेतन रूपसे इनमें प्रवेश कर सकता है, इनके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। यहाँतक कि वह सत्यके सौर लोकोंमें भी उठ सकता है, **अतिचेतन**के मुख्य द्वारोंमें प्रवेश कर सकता है, **परमदेव**की देहरीको लाँघ सकता है। उसकी वर्धित होती हुई आत्माके लिए दिव्य द्वारोंके पट खुल जायँगे।

मानवका यह आरोहण संभव है क्योंकि प्रत्येक मानव प्राणी वस्तुतः अपने अन्दर उस सबको धारण किये है जिसे उसकी बहिर्मुखी दृष्टि मानो अपनेसे बाहर स्थित वस्तुके रूपमें देखती है। हमारे अन्दर कुछ आत्मगत शक्तियाँ गुप्त रूपमें विद्यमान हैं जो बहिर्गत विश्व-संस्थानके इन सभी स्तरों व शृंखलाओंके अनुरूप हैं और इन्हींसे हमारे लिये हमारी संभवनीय सत्ताकी इतनी अधिक भूमिकायें बन गई हैं। यह जड़प्राकृतिक जीवन और भौतिक लोककी यह हमारी संकीर्णतया सीमित चेतना ही मनुष्यको प्राप्त हो सकनेवाली एकमात्र अनुभूति नहीं है, बल्कि ये ऐसी अनुभूति होनेसे कोसों दूर हैं, चाहे मनुष्य सहस्रों गुणा **पृथिवी**का **पुत्र** क्यों न हो। यदि **पृथिवी** माताने उसे कभी गर्भ-रूपमें धारण किया था और अब उसे अपनी भुजाओंमें थामे है, तो **द्युलोक** भी उसके जनकोंमेंसे एक है और उसकी सत्तापर उसका भी दावा है। यह मार्ग मनुष्यके सामने खुला है कि वह अपने अन्दर गहनतर गहराइयों और उच्चतर ऊँचाइयोंके प्रति जाग्रत् हो जाय और ऐसा जागरण ही उसकी अभिप्रेत प्रगति है। और जैसे-जैसे वह इस प्रकार अपने सदा ऊँचे-से-ऊँचे स्तरोंपर आरोहण करता है, वैसे-वैसे नये लोक उसके जीवन और उसकी दृष्टिके सामने खुलते चले जाते हैं और उसके अनुभवका क्षेत्र और उसकी आत्माके घर बन जाते हैं। वह उन लोकोंकी शक्तियों और देवताओंके सम्पर्क और सायुज्यमें रहता है तथा अपने आपको फिरसे उनकी प्रतिमूर्त्तिमें ढाल लेता है। इस

प्रकार प्रत्येक आरोहण आत्माका एक नया जन्म है, वेद लोकोंको "जन्म" कहता है और धाम (पद) एवं निवास-स्थान भी।

क्योंकि जैसे **देवों**ने वैश्व लोकोंकी शृंखला बनायी है वैसे ही वे मनुष्यकी चेतनामें मर्त्य अवस्थासे सर्वोच्च अमरताकी अवस्थातक क्रमबद्ध भूमिकाओं और आरोही कोटि-क्रमोंकी वैसी शृंखला बनानेका प्रयास भी करते हैं। वे उसे सत्ताकी इस सीमित भौतिक अवस्थासे ऊपर उठाते हैं जिसमें हमारी निम्नतम मानवता सन्तुष्ट होकर और **द्वैध**के **अधिपतियों**के अधीन होकर निवास करती है, वे उसे **प्राण** और **कामना**के उन गतिशक्तिमय लोकोंसे मिलनेवाले अनेक वेगवान् आघातों व प्रेरणाओंसे समृद्ध एवं प्रपूरित जीवन प्रदान करते हैं जहाँ **देव** असुरोंसे युद्ध करते हैं, और साथ ही वे उसे उन विक्षुब्ध शीघ्रताओं और तीव्रताओंसे और भी ऊँचा उठाकर उच्च मानसिक सत्ताकी सुस्थिर पवित्रता और निर्मलतामें ले जाते हैं। क्योंकि शुद्ध विचार और वेदन हैं मनुष्यके आकाश और उसके द्युलोक। आवेशों, आवेगों और भाव-भावनाओंकी यह सम्पूर्ण प्राणात्मवादी (प्राणप्रधान) सत्ता,—जिसकी धुरी है कामना,—उसके लिये अन्तरिक्षका निर्माण करती है। शरीर और भौतिक जीवन उसकी पृथिवी हैं।

परन्तु शुद्ध विचार और शुद्ध चैत्य अवस्था ही मानवीय आरोहणका उच्चतम शिखर नहीं। **देवों**का धाम है निरपेक्ष **सत्य**, जो मनसे परे सौर वैभवोंमें निवास करता है। उस ओर आरोहण करता हुआ मनुष्य तब और एक विचारकके रूपमें संघर्ष नहीं करता वरन् विजयी द्रष्टा हो जाता है। तब वह आज-जैसा मनोमय प्राणी नहीं रहता, किन्तु एक दिव्य पुरुष बन जाता है। उसका संकल्प, जीवन, विचार, भावावेश, संवेदन, कार्य—सभी सर्व-शक्तिमान् **सत्य**के मूल्योंमें रूपान्तरित हो जाते हैं और वे अब मिश्रित सत्य और मिथ्याकी उलझी या निरुपाय गाँठ नहीं रहते। वह अब और पंगुवत् हमारी संकीर्ण और द्विविधापूर्ण सीमाओंमें लँगड़ाता हुआ नहीं चलता, परन्तु निर्बाध **बृहत्**में विचरण करता है, अब इन कुटिलताओंके बीच कशमकश करता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा नहीं चलता, बल्कि वेगवान् और विजयशील सीधे मार्गका अनुसरण करता है, वह अब टूटे-फूटे टुकड़ोंपर नहीं पलता, किन्तु **अनन्तता**के स्तनोंका दुग्धपान करता है। इसलिए उसे पृथिवी और द्यौके इन लोकोंको भेदते हुए इनसे बाहर निकलकर परे जाना होगा। सौर लोकोंकी दृढ़ उपलब्धिको अधिकृत करते हुए तथा अपने उच्चतम **शिखर**पर प्रवेश करते हुए उसे **अमरता**के त्रिविध तत्त्वोंमें निवास करना सीखना होगा।

मर्त्यसत्ता जो कि हम हैं और अमरताकी स्थिति जिसकी हम अभीप्सा कर सकते हैं—उनमें यह अन्तर वैदिक विचार और आचारकी कुंजी है। वेद मनुष्यकी अमरताका सबसे प्राचीन धर्मग्रन्थ है जो हमें उपलब्ध है और ये प्राचीन छन्द अपने अन्दर अमरताके अन्तःप्रेरित अन्वेषकोंके आदि-कालीन अनुशासनको छिपाये हैं।

सत्ताका सारतत्त्व, चेतनाका प्रकाश, सक्रिय शक्ति तथा प्रभुत्वपूर्ण आनन्द—ये हैं 'सत्'के घटक तत्त्व। परन्तु हमारे अंदर उनका मेल या तो सीमित, विभक्त, आहत, भग्न और अस्पष्ट हो सकता है या अनन्त, आलोकित, विशाल, अखंड और अक्षत। सीमित और विभक्त सत्ता है अज्ञान। वह है अंधकार और दुर्बलता। वह है दुःख और पीड़ा। बृहत्में, समग्र और अनन्तमें हमें सत्ताके सारतत्त्व, ज्योति, शक्ति और आनन्दके वरणीय ऐश्वर्यकी खोज करनी होगी। सीमितता है मर्त्यता। अमरता हमें अनन्तमें संसिद्ध आत्म-प्रभुत्वके रूपमें और दृढ़ विशालताओंमें रहने-सहने और चलने-फिरनेकी शक्तिके रूपमें प्राप्त होती है। इसलिए मनुष्य उसी अनुपातमें अमरताके योग्य बनता है जिस अनुपातमें वह विशाल बनता है और साथ ही वह इस शर्तपर इसके योग्य बनता है कि वह अपनी सत्ताके सारतत्त्वमें निरन्तर बढ़ता जाय, संकल्पकी सदा ऊँची-से-ऊँची ज्वालाको और ज्ञानकी विशाल-से-विशाल ज्योतिको प्रदीप्त करे, अपनी चेतनाकी सीमाओंको और आगे बढ़ाये, अपनी शक्ति, सामर्थ्य और बलके स्तरोंको ऊँचा उठाये और उनके विस्तारको और अधिक विशाल बनाये, अधिकाधिक प्रगाढ़ आनन्दको संपुष्ट करे और अपनी आत्माको अपरिमेय शांतिके अंदर मुक्त कर दे।

विशाल होनेका अर्थ है नये जन्म पाना। अभीप्सा करता हुआ देह-प्रधान जीव आयासशील प्राण-प्रधान मनुष्य बन जाता है; और इस क्रमसे वह अपने-आपको सूक्ष्म मनोमय और चैत्य सत्तामें रूपान्तरित कर लेता है; यह सूक्ष्म विचारक विकसित होता हुआ एक विशाल, बहुपक्षीय और वैश्व मानव बन जाता है जो अपने सब पार्श्वोंमें **सत्य**के सभी अनेकानेक अन्तः-प्रवाहोंकी ओर खुला होता है; वैश्व आत्मा अपनी उपलब्धिमें ऊँचा उठता हुआ एक आध्यात्मिक मनुष्यके रूपमें उच्चतर शांति, आनन्द और सामञ्जस्यके लिए प्रयत्न करता है। ये हैं **आर्य** (जनों)के पाँच नमूने, इनमेंसे प्रत्येक एक महान् (आर्य) जाति है जो समग्र मानव प्रकृतिके अपने-अपने प्रदेश या उसकी एक अवस्थाको अधिकृत किये है। परन्तु इनके अतिरिक्त एक पूर्ण एवं निरपेक्ष **आर्य** भी होता है जो इन अवस्थाओंको

जीतना चाहता है और इन्हें लाँघकर इन सबके परात्पर सामञ्जस्य तक पहुँचना चाहता है।

यह अतिमानसिक **सत्य** ही है इस महान् आंतरिक रूपांतरका करण। यह मनोमय सत्ताके स्थानपर प्रकाशमय अन्तर्दृष्टि और देवोंके चक्षुको ले आता है, मर्त्य जीवनके स्थानपर अनन्त सत्ताके श्वास और शक्तिको, तमसाच्छन्न और मृत्यु-वशीकृत उपादानके स्थानपर मुक्त और अमर चेतन-सत्ताको स्थापित कर देता है। इसलिए मनुष्यकी प्रगतिका अर्थ होना चाहिये, प्रथम तो, उसका आत्म-विस्तार, एक ऐसी शक्तिशाली प्राणमय सत्तामें आत्म-विस्तार जो क्रिया और अनुभूतिके सब स्पन्दनोंको धारण कर सकनेमें समर्थ हो, साथ ही एक स्पष्ट मानसिक और चैत्य पवित्रताकी स्थितिमें आत्म-विस्तार, दूसरे, इस मानव प्रकाश और बलको अतिक्रान्त कर इसे अनन्त **सत्य** और अमर **संकल्पमें** रूपान्तरित कर देना।

हमारा साधारण जीवन और चेतना अंधकारमय हैं या अधिक-से-अधिक वे तारोंसे जगमगाती **रात्रि** हैं। उस उच्चतर **सत्य**के **सूर्य**के उदयसे **उषा** आती है और **उषा**के साथ आता है फलप्रद यज्ञ। यज्ञ द्वारा स्वयं **उषा**को और खोये **सूर्य**को लौट-लौटकर आनेवाली **रात्रि**मेंसे बारंबार जीता जाता है एवं प्रकाशमय गोयूथोंको **पणियों**की अँधेरी गुफासे छुड़ा लिया जाता है। यज्ञ द्वारा द्युलोकके प्रचुर ऐश्वर्यकी वृष्टि हमारे लिये बरसाई जाती है और उच्चतर सत्ताकी सप्तविध धाराएँ अतिशय वेगसे हमारी पृथिवीपर उतर आती हैं, क्योंकि **ईश्वरीय मन**की चमचमाती विद्युतोंके वज्राघातसे अंधकारजनक **अजगर** (अहि)की, सर्व-आवेष्टक और सर्व-निरोधक **वृत्र**की कुंडलियाँ छिन्न-भिन्न हो चुकती हैं। यज्ञमें **सोम**सुराका स्रवण किया जाता है और वह हमें अपनी अमरताप्रद आनन्दोल्लासकी धारापर सर्वोच्च द्युलोकोंतक उठा ले जाती है।

हमारा यज्ञ है अपनी सब उपलब्धियों और कार्योंको उच्चतर सत्ताकी शक्तियोंके प्रति आहुति-रूपमें अर्पित कर देना। वैसे तो सारा जगत् ही मूक और असहाय यज्ञ है जिसमें आत्मा अदृश्य देवोंके प्रति स्वयं-समर्पित बलिके रूपमें बँधा हुआ है। मनुष्यके हृदय और मनमें मुक्तिदायक **शब्द**को ढूँढ़ना होगा, प्रकाशप्रद सूक्तको गढ़ना होगा और उसके जीवनको एक ऐसी सचेत और स्वेच्छाकृत आहुतिके रूपमें परिणत करना होगा जिसमें आत्मा यज्ञकी बलि न बना रहकर उसका स्वामी बन जाय। ठीक प्रकारके यज्ञ द्वारा और उस सर्व-सर्जक एवं सर्वाभिव्यंजक **शब्द** द्वारा जो उसके हृदयकी गहराइयोंसे देवोंके प्रति एक उदात्त सूक्तके रूपमें उठेगा, मनुष्य

सभी वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। वह अपनी पूर्णताको जीतकर रहेगा। प्रकृति एक इच्छुक और उत्कंठित वधूके रूपमें उसके पास आकर ही रहेगी। वह उसका द्रष्टा बनकर रहेगा और उसके **सम्राट्**के रूपमें उसपर शासन करेगा।

प्रार्थना और ईश्वर-आकर्षणके सूक्त द्वारा, स्तुति और ईश्वर-सम्पोषणके सूक्त द्वारा, ईश्वर-प्राप्ति और आत्म-अभिव्यक्तिके सूक्त द्वारा मनुष्य अपने भीतर देवोंको बसा सकता है और अपनी सत्ताके इस नवद्वार गृहमें उनके देवत्वकी सजीव प्रतिमाका निर्माण कर सकता है, दिव्य जन्मोंमें विकसित हो सकता है, अपनी आत्माके रहनेके लिये अपने अन्दर विशाल और प्रकाशमय लोकोंकी रचना कर सकता है। **सत्य**के शब्दके द्वारा सर्वोत्पादक **सूर्य** सृष्टि करता है, उस लयके द्वारा **ब्रह्मणस्पति** लोकोंका आह्वान कर उन्हें बाहर निकाल लाता है और **त्वष्टा** देव उनका आकार घड़ता है। मानव विचारक, मर्त्य प्राणी अपने बोधिमय हृदयमें सर्वशक्तिशाली **शब्द**को ढूँढ़कर, अपने मनमें उसे आकार देकर, अपने भीतर अपने अभिलषित सभी रूपों और सभी भूमिकाओं और अवस्थाओंको निर्मित कर सकता है तथा उन्हें उपलब्ध कर अपने लिये सत्य, प्रकाश, बल और आनन्दोपभोगकी समस्त सम्पदाको जीत सकता है। वह अपनी समग्र सत्ताका गठन करता है और बुराईकी सेनाओंका विनाश करनेके लिये अपने देवोंकी सहायता करता है, उसके आध्यात्मिक शत्रुओंके उस सैन्यगणका वध कर दिया जाता है जिसने उसकी प्रकृतिको विभक्त, विदारित तथा संतप्त कर रखा है।

वैदिक यज्ञ और देवताओंके रूपक

यज्ञका निरूपण कभी-कभी यात्रा या समुद्रयात्राके रूपक द्वारा किया जाता है; क्योंकि यह (यज्ञ) चलता है, यह आरोहण करता है; इसका लक्ष्य है विशालता, वास्तविक अस्तित्व, प्रकाश, आनंद। इससे चाहा गया है कि यह अपने उस लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये एक उत्तम, सीधा और सुखमय मार्ग खोज निकाले और उसीपर चले,—यह है सत्यका कठिन किंतु आनंदपूर्ण पथ। इसे दिव्य संकल्पके जाज्वल्यमान बल द्वारा परिचालित होकर मानो पर्वतकी एक अधित्यकासे दूसरी अधित्यकापर चढ़ना होता है, इसे मानो पोतके द्वारा सत्ताके समुद्रको पार करना होता है, इसकी नदियोंको लांघना, इसके गहरे गड्ढों और वेगवती धाराओंका अतिक्रमण करना होता है; इसका उद्देश्य होता है असीमता और प्रकाशके सुदूरवर्ती समुद्रपर पहुँचना।

यह कोई सरल या निष्कंटक प्रयाण नहीं है। यह लंबे समयोंतक एक भयंकर और क्रूर युद्ध होता है। निरंतर ही आर्यपुरुषको श्रम करना

होता है, लड़ना होता है और विजय प्राप्त करनी होती है; उसे अथक परिश्रमी, अश्रांत पथिक और कठोर योद्धा होना होता है, उसे एकके बाद एक नगरीका भेदन करना, उसे आक्रांत करना और लूटना, एकके बाद एक राज्यको जीतना, एकके बाद एक शत्रुको पछाड़ना और उसे निर्दयता-पूर्वक पददलित करना होता है। उसकी समग्र प्रगति होती है एक संग्राम—देवों और दानवोंका, देवों और दैत्योंका, इन्द्र और वृत्रका, आर्य और दस्युका संग्राम। उसे विरोधी आर्योंका भी खुले क्षेत्रमें सामना करना होता है, क्योंकि पहलेके मित्र और सहायक भी शत्रु बन जाते हैं, आर्य राज्योंके राजा जिन्हें उसे जीतना और अतिलंघन करना होता है, दस्युओंसे जा मिलते हैं और उसके मुक्त और पूर्ण अभिगमनको रोकनेके लिये चरम युद्धमें उसके विरोधमें जा खड़े होते हैं।

परंतु दस्यु हैं स्वाभाविक शत्रु। इन विभाजकों, लुटेरों, हानिकारक शक्तियोंको, इन दानवों, विभाजनकी **माता**के पुत्रोंको ऋषियोंने कई सामान्य संज्ञाओंसे पुकारा है। ये हैं 'राक्षस'; ये हैं **खानेवाले** और **हड़प जानेवाले,** भेड़िये (वृक) और चीर डालनेवाले; ये हैं क्षति पहुँचानेवाले, घृणा करनेवाले; ये हैं द्वैध करनेवाले; ये हैं सीमित करनेवाले या निंदा करनेवाले। पर ऋषि हमें कई विशेष नाम भी बताते हैं। उनमें 'वृत्र', वह सर्प, प्रधान शत्रु है; क्योंकि वह अपनी अंधकारकी कुंडलियोंसे दिव्य सत्ता और दिव्य क्रियाकी सब संभावनाको ही रोक देता है। और जब प्रकाश द्वारा वृत्रका वध कर दिया जाता है तो उसमेंसे उससे भी अधिक भयंकर शत्रु उठ खड़े होते हैं। उनमेंसे एक है **शुष्ण** जो हमें अपने अपवित्र और असिद्धिकर बलसे पीड़ित करता है, दूसरा है **नमुचि** जो मनुष्यसे उसकी दुर्बलताओं द्वारा लड़ता है, और कुछ अन्य भी हैं जिनमेंसे प्रत्येक निजी विशेष बुराईके साथ आक्रमण करता है। और फिर हैं **वल** और **पणि**—इन्द्रिय-जीवनमें लेन-देन करनेवाले लोभी बनिये, उच्चतर **प्रकाश** और उसकी ज्योतियोंको चुराने और छुपानेवाले। ये प्रकाश और उसकी ज्योतियोंको केवल अन्धकारसे आवृत कर सकते हैं और उनका दुरुपयोग ही कर सकते हैं। ये हैं अशुचिगण जो देवोंकी संपदाके ईर्ष्यालु होते हैं किन्तु यज्ञ करके कभी उन्हें हवि प्रदान नहीं करना चाहते। हमारी अज्ञानता, बुराई, दुर्बलता तथा अनेकानेक सीमाओंका साकार रूप रखनेवाले ये तथा अन्य व्यक्तित्व—जो इन अज्ञानता आदि पर व्यक्तित्वारोप या इनके मानवीकरणसे कहीं अधिक कुछ हैं—मनुष्यके साथ निरन्तर युद्ध करते रहते हैं। ये उसे समीपतासे घेरे रहते हैं या उसपर दूरसे अपने

तीर मारते रहते हैं अथवा यहाँ तक कि उसके द्वारोंवाले घरमें देवोंके स्थानमें रहते हैं और अपने आकाररहित और हकलाते हुए मुखोंद्वारा तथा अपने बलके अपर्याप्त निःश्वास द्वारा उसके आत्म-अभिव्यंजनको दूषित करते हैं। इन्हें निकाल बाहर करना होगा, वशमें कर मार डालना होगा, महान् और साहाय्यकारक देवताओंकी सहायतासे इन्हें इनके ही निम्न अंधकारमें धकेल देना होगा।

वैदिक देवता विश्वव्यापी **देवता**के नाम, शक्तियाँ और व्यक्तित्व हैं और वे **दिव्य सत्ता**के किसी विशेष सारभूत बलका प्रतिनिधित्व करते हैं। ये देव विश्वको अभिव्यक्त करते हैं और इसमें अभिव्यक्त हुए हैं। **प्रकाश**की संतान और **असीमता**के पुत्र ये मनुष्यकी आत्माके अंदर अपने बंधुत्व और सख्यको पहचानते हैं और उसे सहायता पहुँचाना और उसके अंदर अपने-आपको बढ़ाकर उसे बढ़ाना चाहते हैं जिससे कि उसके जगत्को वे अपने प्रकाश, बल और सौंदर्य द्वारा अभिव्याप्त कर सकें। **देवता** मनुष्यको पुकारते हैं एक दिव्य सख्य और साथीपनके लिये, वे उसे अपने प्रकाशमय भ्रातृत्वके लिये आकृष्ट करते और ऊपर उठाते हैं, वे **अंधकार** और **विभाजन**के पुत्रोंके विरोधमें उसकी सहायता आमंत्रित करते और अपनी सहायता उसे प्रदान करते हैं। बदलेमें मनुष्य **देवताओं**को अपने यज्ञमें आहूत करता है, उन्हें अपनी तीव्रताओं और अपने बलोंकी, अपनी निर्मलताओं और अपनी मधुरताओंकी हवि भेंट करता है—प्रकाशमय **गौ**के दूध और घीकी, **आनंद**के **पौधे**के निचोड़े हुए रसोंकी, **यज्ञ**के **अश्व**की, अपूप और सुराकी, **दिव्य-मन**के चमकीले हरिओं (घोड़ों) के लिये अन्नकी भेंट चढ़ाता है। वह उन्हें (देवोंको) अपनी सत्तामें ग्रहण करता है और उनकी देनोंको अपने जीवनमें; वह उन्हें मंत्रों और सोमरसोंसे बढ़ाता है और उनके महान् तथा प्रकाशमय देवत्वोंको पूर्णतया रचता है; वेद कहता है कि वह उन्हें ऐसे रचता है 'जैसे लोहार लोहेको घड़ता है।'

इस सब वैदिक रूपकको समझना हमारे लिये सुगम है, यदि एक बार हमें इसकी कुंजी मिल जाय, परंतु इसे केवल रूपकमात्र मान लेना गलती होगी। **देवता** निर्विशेष भावोंके या प्रकृतिके मनोवैज्ञानिक और भौतिक व्यापारोंके केवल कविकृत मानवीकरण नहीं हैं। वैदिक ऋषियोंके लिये वे सजीव सद्वस्तुएँ हैं। मानव आत्माके उलट-फेर, अवस्थान्तर एक वैश्व संघर्षके निदर्शक होते हैं, न केवल सिद्धान्तों और प्रवृत्तियोंके संघर्षके किंतु उनको आश्रय देनेवाली तथा उन्हें मूर्त्त करनेवाली वैश्व **शक्तियों**के संघर्षके भी। वे वैश्व शक्तियाँ ही हैं **देव** और **दैत्य**। वैश्व रंगमंचपर और वैयक्तिक

आत्मामें दोनों जगह एक ही वास्तविक नाटक उन्हीं पात्रों द्वारा खेला जा रहा है।

* * * *

वे **देव** कौनसे हैं जिनका यजन करना है? वे कौन हैं जिनका यज्ञमें आवाहन करना है जिससे कि यह वर्धनशील देवत्व मानवसत्ताके अंदर अभिव्यक्त हो सके और रक्षित रह सके?

सबसे पहला है **अग्नि**, क्योंकि उसके बिना यज्ञिय ज्वाला आत्माकी वेदीपर प्रदीप्त ही नहीं हो सकती। **अग्नि**की वह ज्वाला है **संकल्प**की सप्तजिह्व शक्ति; **परमेश्वर**की एक **ज्ञानप्रेरित** शक्ति। यह सचेतन (जागृत) तथा बलशाली संकल्प हमारी मर्त्यसत्ताके अंदर अमर्त्य अतिथि है, एक पवित्र पुरोहित और दिव्य कार्यकर्त्ता है, पृथिवी और द्यौके बीच मध्यस्थता करनेवाला है। जो कुछ हम हवि प्रदान करते हैं उसे यह उच्चतर **शक्तियों**तक ले जाता है और बदलेमें उनकी शक्ति और प्रकाश और आनंद हमारी मानवताके अंदर ले आता है।

दूसरा देव है शक्तिशाली इन्द्र। वह शुद्ध सत्‌की शक्ति है जो **भागवत मन**के रूपमें स्वत:-अभिव्यक्त है। जैसे अग्नि एक ध्रुव है, ज्ञानसे आविष्ट **शक्ति**का ध्रुव, जो अपनी धाराको ऊपर पृथ्वीसे द्यौकी तरफ भेजता है, वैसे ही **इन्द्र** दूसरा ध्रुव है, शक्तिसे आविष्ट **प्रकाश**का ध्रुव, जो द्यौसे पृथ्वीपर उतरता है। वह हमारे इस जगत्‌में एक पराक्रमी वीर योद्धाके रूपमें अपने चमकीले घोड़ोंके साथ उतरता है, और अपनी विद्युतों एवं वज्रोंके द्वारा अंधकार तथा विभाजनका विनाश करता है, जीवनदायक दिव्य जलोंकी वर्षा करता है, **शुनी** (अंतर्ज्ञान)की खोजके द्वारा खोयी या छिपी हुई **ज्योतियों**को ढूंढ़ निकालता है, हमारी मनोमय-सत्ताके द्युलोकमें **सत्य**के **सूर्य**को ऊँचा चढ़ा देता है।

सूर्य-देवता है उस परम सत्यका स्वामी—सत्ताके सत्य, ज्ञानके सत्य, क्रिया और प्रक्रियाके, गति और व्यापारके सत्यका स्वामी। इसलिये **सूर्य** है सब वस्तुओंका स्रष्टा, बल्कि अभिव्यंजक (क्योंकि सर्जनका अर्थ है बाहर ले आना, **सत्य** और **संकल्प** द्वारा प्रकट कर देना), और यह हमारी आत्माओंका पिता, पोषक तथा प्रकाशप्रदाता है। जिन ज्योतियोंको हम चाहते हैं वे इसी **सूर्य**के गोयूथ हैं, गौएँ हैं। यह सूर्य हमारे पास दिव्य उषाओंके पथसे आता है और हमारे अंदर रात्रिमें छिपे पड़े जगतोंको एकके बाद एक खोलता तथा प्रकाशित करता जाता है जबतक कि यह हमारे लिये सर्वोच्च, **परम आनंद**को नहीं खोल देता।

इस आनंदकी प्रतिनिधिभूत देवता है **सोम**। उसके आनंदका रस (सुरा) छिपा हुआ है पृथिवीके प्ररोहोंमें, पौधोंमें और सत्ताके जलोंमें; यहां हमारी भौतिक सत्तातकमें उसके अमरतादायक रस हैं और उन्हें निकालना है, उनका सवन करना है और उन्हें सब देवताओंको हविरूपमें प्रदान करना है, क्योंकि सोमरसके बलसे ही ये देव बढ़ेंगे और विजयशाली होंगे।

इन प्राथमिक देवोंमेंसे प्रत्येकके साथ अन्य देव जुड़े हैं जो उसके अपने व्यापारसे उद्गत व्यापारोंको पूरा करते हैं। क्योंकि यदि **सूर्य**के सत्यको हमारी मर्त्य प्रकृतिमें दृढ़तया स्थापित होना है तो कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएँ हैं जिनका स्थापित हो जाना अनिवार्य है; एक बृहत् पवित्रता और स्वच्छ विशालता जो समस्त पाप और कुटिल मिथ्यात्वकी विनाशक है—यह है **वरुण** देव; प्रेम और समग्रबोधकी एक प्रकाशमय शक्ति जो हमारे विचारों, कर्मों और आवेगोंको आगे ले जाती और उन्हें सामंजस्ययुक्त कर देती है;—यह है **मित्र** देव; सुस्पष्ट-विवेचनशील अभीप्सा तथा प्रयत्नकी एक अमर शक्ति, पराक्रम—यह है **अर्यमा**; सब वस्तुओंका समुचित उपभोग करनेकी एक सुखमय सहज अवस्था जो पाप, भ्रांति और पीड़ाके दुःस्वप्नका निवारण करती है—यह है **भग**। ये चारों **सूर्य**के **सत्य**की शक्तियाँ हैं।

सोमका समग्र आनंद हमारी प्रकृतिमें पूर्णतया स्थापित हो जाय इसके लिये मन, प्राण और शरीरकी एक सुखमय, प्रकाशमान और अविकलांग अवस्थाका होना आवश्यक है। यह अवस्था हमें प्रदान की जाती है युगल **अश्विनों**के द्वारा। **प्रकाश**की दुहितासे विवाहित, मधुको पीनेवाले, पूर्ण संतुष्टियोंको लानेवाले, व्याधि और अंगभंगके भैषज्यकर्त्ता ये **अश्विनौ** हमारे ज्ञानके भागों और हमारे कर्मके भागोंको अधिष्ठित करते हैं और हमारी मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ताको एक सुगम और विजयशाली आरोहणके लिये तैयार कर देते हैं।

मानसिक रूपोंके निर्माताके तौरपर **इन्द्र**के, **दिव्य मन**के सहायक होते हैं उसके शिल्पी **ऋभुगण**। ये ऋभु ह मानवीय शक्तियाँ जिन्होंने यज्ञके संपादनसे और **सूर्य**के ऊँचे निवासस्थानतक अपने उज्ज्वल आरोहण द्वारा अमरत्व प्राप्त किया है और जो अपनी इस सिद्धिकी पुनरावृत्ति किये जानेमें मनुष्यजातिकी सहायता करते हैं। ये मनके द्वारा **इन्द्र**के घोड़ोंका निर्माण करते हैं, **अश्विनौ**के रथका, देवताओंके शस्त्रोंका तथा यात्रा एवं युद्धके समस्त साधनोंका निर्माण करते हैं। परंतु **सत्य**के **प्रकाश**के प्रदाता तथा वृत्रहंताके रूपमें **इन्द्र**के सहायक हैं **मरुत्**। ये **मरुत्** संकल्पकी तथा वातिक

या प्राणिक बलकी शक्तियाँ हैं जिन्होंने विचारके प्रकाश और आत्मप्रकटनकी गिराको प्राप्त किया है। ये समस्त विचार और वाणीके पीछे उसके प्रेरकके रूपमें रहते हैं और **परम चेतनाके प्रकाश, सत्य** और आनंदको पहुँचनेके लिये युद्ध करते हैं।

और फिर स्त्रीलिंगी शक्तियाँ भी हैं; क्योंकि **देव पुरुष** और **स्त्री** दोनों है और देवता भी या तो सक्रिय करनेवाली आत्माएँ हैं या निष्प्रतिरोध रूपसे कार्य संपन्न करनेवाली और यथाक्रम विन्यास करनेवाली शक्तियाँ हैं। उनमें सबसे पहले आती है **अदिति, देवों**की असीम **माता,** और फिर उसके अतिरिक्त **सत्य चेतना**की पाँच शक्तियाँ भी हैं—**मही** अथवा **भारती** है वह विशाल वाणी जो सब वस्तुओंको दिव्य स्रोतसे हमारे लिये ले आती है; **इडा** है **सत्य**की वह दृढ़ आदिम वाणी जो हमें इसका सक्रिय दर्शन प्रदान करती है; **सरस्वती** है इस **(सत्य)**की बहती हुई धारा और इसकी अंतःप्रेरणाकी वाणी; **सरमा, अंतर्ज्ञान**की देवी है वह द्युलोककी शुनी जो अवचेतनाकी गुफामें उतर आती है और वहाँ छिपी हुई ज्योतियोंको ढूँढ़ लेती है; फिर है **दक्षिणा** जिसका व्यापार होता है ठीक-ठीक विवेचन करना, क्रिया और हविका विनियोग करना तथा यज्ञमें प्रत्येक देवताको उसका भाग वितीर्ण करना। इसी प्रकार प्रत्येक देवकी भी अपनी-अपनी एक स्त्रीलिंगी शक्ति है।

इस सब क्रिया और संघर्ष और आरोहणके आधार हैं हमारा **पिता द्यौ** और हमारी **माता पृथिवी, देवों**के **पितरौ,** जो क्रमशः हमारी शुद्ध मानसिक एवं आंतरात्मिक चेतनाको तथा भौतिक चेतनाको धारण करते हैं। इनका विस्तृत और मुक्त अवकाश हमारी सिद्धिके लिये एक आवश्यक अवस्था है। **वायु,** प्राणका अधिपति, इन दोनोंको अंतरिक्ष, प्राणशक्तिके लोकके द्वारा जोड़ता है। और फिर अन्य देवता भी हैं—**पर्जन्य,** द्युलोककी वर्षा देनेवाला; **दधिक्रावा,** दिव्य युद्धाश्व, अग्निकी एक शक्ति; **आधार**का रहस्यमय **सर्प** (अहिर्बुध्न्य), त्रित आप्त्य जो भुवनके तीसरे लोकमें हमारी त्रिविध सत्ताको निष्पन्न करता, सिद्ध करता है; इनके अतिरिक्त और भी हैं।

इन सभी देवत्वोंका विकास हमारी पूर्णताके लिये आवश्यक है। और वह पूर्णता हमें प्राप्त करनी चाहिये अपने सभी स्तरोंपर—पृथ्वीकी विस्तीर्णतामें, हमारी भौतिक सत्ता और चेतनामें; प्राणिक वेग और क्रिया और उपभोगके तथा वातिक स्पंदनके पूर्ण बलमें, जो **घोड़े (अश्व)**के रूपमें निरूपित किया गया है, जिस घोड़ेको हमें अपने प्रयत्नोंको आश्रय देनेके लिये अवश्य सामने लाना चाहिये; भावमय हृदयके पूर्ण आनंदमें और

मनकी एक चमकीली उष्णता और निर्मलतामें, हमारी समस्त बौद्धिक और अंतर्मानसिक सत्तामें; अतिमानस **प्रकाश**के आगमनमें, **उषा** तथा **सूर्य**के एवं गौओंकी ज्योतिर्मयी **माता**के आगमनमें, जो हमारी सत्ताका रूपांतर करनेके लिये आते हैं; क्योंकि इसी प्रकार हम **सत्य**को अधिकृत करते हैं, **सत्य**के द्वारा **आनंद**की अद्‌भुत महान् लहरको, **आनंद**में निरपेक्ष अस्तित्वकी असीम **चेतना**को आयत्त करते हैं।

तीन महान् देवता, जो पौराणिक त्रिमूर्त्तिके मूल हैं और परम **देव**की तीन बृहत्तम शक्तियाँ हैं, इस क्रमोन्नति और ऊर्ध्वमुख विकासको संभव बनाते हैं; ये ही ब्रह्मांडकी इन सब जटिलताओंको उसकी विशाल रूप-रेखाओंमें और मूलभूत शक्तियोंमें धारण करते हैं। उनमेंसे पहला **ब्रह्मणस्पति** है **स्रष्टा,** वह शब्दके द्वारा, अपने रवके द्वारा सर्जन करता है— इसका अभिप्राय हुआ कि वह अभिव्यक्त करता है, समस्त सत्ताको और सब सचेतन ज्ञानको तथा जीवनकी गतिको और अंतिम परिणत रूपोंको **निश्चेतना**के अंधकारमेंसे बाहर निकालकर प्रकट कर देता है। फिर है **रुद्र, प्रचंड** और **दयालु, ऊर्जस्वी देव,** जो जीवनके अपने-आपको सुस्थित करनेके लिये होनेवाले संघर्षका अधिष्ठाता है; वह है **परमेश्वर**की शस्त्रसज्जित, मन्युयुक्त तथा कल्याणकारी शक्ति जो सृष्टिको जबर्दस्ती ऊपरकी ओर उठाती है, जो कोई विरोध करता है उस सबपर प्रहार करती है, जो कोई गलती करता है या प्रतिरोध करता है उस सबको चाबुक लगाती है, जो कोई क्षत हुआ है और दुःखी है और शिकायत करता है तथा शरण आता है उस सबकी मरहमपट्टी करती, उसे चंगा कर देती है। तीसरा है विशाल, व्यापक गतिवाला **विष्णु** जो अपने तीन पद-क्रमोंमें इन सब लोकोंको धारण करता है। यह विष्णु ही हमारी सीमित मर्त्यसत्ताके अंदर **इन्द्र**की क्रिया होनेके लिये विस्तृत स्थान बनाता है; उसके द्वारा और उसके साथ ही हम उसके उच्चतम पदोंतक आरोहण कर पाते हैं जहाँ उस **मित्र, प्रिय, परम सुखदाता देव**को हम हमारी प्रतीक्षा करते हुए पाते हैं।

हमारी यह पृथ्वी, जो सत्ताके अंधकारमय निश्चेतन समुद्रमेंसे निर्मित हुई है, अपनी उच्च रचनाओंको और अपने चढ़ते हुए शिखरोंको द्युलोककी ओर ऊपर उठाती है। मनके द्युलोककी अपनी ही निजी रचनाएँ हैं, पर्जन्य हैं जो अपने विद्युत्-प्रकाशोंको तथा अपने जीवनजलोंको प्रदान करते हैं; निर्मलताकी तथा मधुकी धाराएँ नीचेके अवचेतन समुद्रमेंसे उठकर ऊपर चढ़ती हैं और ऊपरके अतिचेतन समुद्रको पहुँचना चाहती हैं; और ऊपरसे वह समुद्र अपनी प्रकाशकी और सत्य और आनंदकी नदियोंको नीचेकी ओर,

हमारी भौतिक सत्ताके अंदरतक भी, बहाता है। इस प्रकार भौतिक **प्रकृति**के रूपकोंके द्वारा वैदिक कवि हमारे आध्यात्मिक आरोहणका गीत-गान करते हैं।

वह आरोहण **प्राचीन पुरुषों,** मानव-पूर्वपितरों, द्वारा पहले ही संपन्न किया जा चुका है और उन महान् पूर्वजोंकी आत्मा अब भी अपनी संतानोंकी सहायता करती है; क्योंकि नवीन उषाएँ पुरानियोंकी पुनरावृत्ति करनेवाली होती हैं तथा भविष्यकी उषाओंसे मिलनेके लिये प्रकाशमें आगे झुकती हैं: कण्व, कुत्स, अत्रि, कक्षीवान्, गोतम, शुनःशेप आदि ऋषि विशेष प्रकारकी आध्यात्मिक विजयें प्राप्त करके आदर्श स्थापित कर चुके हैं जिनकी वे विजयें मानवजातिकी अनुभूतिमें सतत पुनरावृत्त होनेकी प्रवृत्ति रखती हैं। सप्त ऋषि, वे अंगिरस्, मंत्रगान करने, गुफाको तोड़ने, खोयी हुई गौओंको खोजने, छिपे हुए **सूर्य**को पुनः प्राप्त करनेको उद्यत अब भी और सदैव प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार आत्मा सहायता करनेवालों और हानि पहुँचानेवालों, मित्रों और शत्रुओंसे भरा हुआ एक युद्धक्षेत्र है। यह सब सजीव है, भरपूर है, वैयक्तिक है, सचेतन है, सक्रिय है। यज्ञ और शब्दके द्वारा हम अपने निजके लिये प्रकाशयुक्त द्रष्टाओंको, हमारे लिये लड़नेवाले वीरोंको, अपने कार्योंकी संतानोंको उत्पन्न करते हैं। ऋषिवृंद और देवता हमारे लिये चमकीली गौएँ खोज लाते हैं; **ऋभुगण** मनके द्वारा देवोंके रथ और उनके घोड़ों और उनके चमकते हुए शस्त्र निर्मित करते हैं। हमारा जीवन एक घोड़ा है जो हिनहिनाता हुआ और सरपट दौड़ता हुआ आगे-आगे और ऊपर-ऊपर हमें चढ़ाये लिये जा रहा है; इसकी शक्तियाँ द्रुतगामी अश्व हैं, मनकी मुक्त हुई शक्तियाँ विस्तृत पंखोंवाले पक्षी हैं; यह मानसिक सत्ता या यह आत्मा ऊपरकी ओर उड़नेवाला **हंस** या **श्येन** है जो सैकड़ों लोह-भित्तियोंको तोड़कर बाहर निकल आता है और आनंद-धामके ईर्ष्यालु संरक्षकोंसे **सोम**की सुराको छीन लाता है। प्रत्येक प्रकाशपूर्ण परमेश्वरोन्मुख **विचार** जो हृदयकी गुप्त अगाध गहराइयोंसे निकलता है एक **पुरोहित** है और एक स्रष्टा है और वह प्रकाशमय सिद्धि तथा पराक्रमपूर्ण कृतार्थताके दिव्यगीतका गान करता है। हम **सत्य**के चमकीले सुवर्णको खोजते हैं; हम द्युलोककी निधिकी कामना करते हैं।

मनुष्यका आत्मा सत्ताओंसे भरा एक संसार है, एक राज्य है जिसमें परम विजय पानेके लिये या उसमें बाधाएँ डालनेके लिये सेनाएँ संघर्ष करती हैं, एक घर है जिसमें देवता हमारे अतिथि हैं और जिसे असुर अधिकृत कर लेना चाहते हैं; इसकी शक्तियोंकी पूर्णता और इसकी सत्ताकी विशालता

दिव्यसत्रके लिये (देवताओंके आकर बैठनेके लिये) यज्ञका आसन (बर्हिः) बिछाकर उसे व्यवस्थित और पवित्र कर देती हैं।

ये हैं वेदके कुछ एक मुख्य रूपक और हैं उन **पूर्व-पुरखों**की शिक्षाकी बहुत संक्षिप्त और अपर्याप्त रूपरेखाएं। इस प्रकार समझा हुआ ऋग्वेद एक अस्पष्ट, गड़बड़से भरा और जंगली गीतावलि नहीं रहता, यह बन जाता है **मानवता**का एक ऊँची अभीप्सासे युक्त **गीतपाठ,** इसके सूक्त हैं आत्माकी अपना अमर आरोहण करते हुए गायी जाती वीरगाथाके आख्यान।

कम-से-कम यह है; वेदमें और जो कुछ प्राचीन विज्ञान, लुप्त विद्या, पुरानी मनोभौतिक परंपरा आदि हों उन्हें खोजना अभी शेष है।

अग्नि-देवता के सूक्त

अग्नि—भागवत संकल्पशक्ति

इस जाज्वल्यमान देवताका नाम **अग्नि** एक ऐसी धातुसे बना है जिसके अर्थका विशेष गुण है प्रमुख शक्ति या तीव्रता, वह चाहे अवस्था, क्रिया एवं संवेदनमें हो या गतिमें। परंतु इस सारभूत अर्थके गुणोंमें तारतम्य होता रहता है। इसका एक अर्थ है ज्वालामें उज्ज्वलता जिसके कारण इसका प्रयोग आगके लिए होता है। इसका अर्थ है गति, विशेषकर, वक्र या सर्पिल गति। इसका अर्थ है बल एवं शक्ति, सौन्दर्य एवं शोभा, नेतृत्व एवं प्रधानत्व। साथ ही इसने कुछ एक भावप्रधान मूल्योंको भी विकसित किया है जो संस्कृतमें लुप्त हो चुके हैं, परंतु ग्रीकमें बचे हुए हैं, जैसे एक ओर तो क्रोधात्मक आवेश और दूसरी ओर आनंद व प्रेम।

वैदिक देव **अग्नि** उन प्राचीन और प्रधान **शक्तियों**में प्रथम है जो बृहत् और रहस्यमय **देवाधिदेव**से उद्भूत हुई हैं। उस देवकी सचेतन शक्तिके द्वारा ही लोक उत्पन्न हुए हैं और वे उस अन्तर्यामीके गुप्त और आन्तरिक **नियमन**के द्वारा अन्दरसे शासित होते हैं। अग्नि इस **देव**का एक आकार एवं तेजस्वी रूप है, इसका शक्तिशाली तपस् और ज्वालामय संकल्प है। जगतोंके निर्माणके लिए ज्ञानकी एक प्रज्वलित **शक्ति**के रूपमें वह अवतरित होता है और उनके अंदर विराजमान वह प्रच्छन्न देव गति और क्रियाका सूत्रपात करता है। वह दिव्य **चिन्मय शक्ति** अपने अंदर अन्य सब देवोंको इस प्रकार धारण किये है जिस प्रकार चक्रकी नाभि अपने अरोंको धारण किये रहती है। क्रियाकी समस्त शक्ति, सत्ताका बल, रूपका सौन्दर्य, प्रकाश और ज्ञानकी दीप्ति, महिमा एवं महत्ता—ये सब **अग्नि**की अभिव्यक्ति हैं। और जब ज्वाला और शक्तिके इस देवको संसारकी कुटिलताओंके आवरणमेंसे सर्वथा मुक्त कर पूर्णतया चरितार्थ कर दिया जाता है तब वह प्रेम, सामञ्जस्य और प्रकाशके सौर देवके रूपमें अर्थात् **मित्र**के रूपमें प्रकट हो उठता है जो मनुष्योंको **सत्य**की ओर ले जाता है।

परंतु वेदवर्णित विश्वमें **अग्नि** पहले-पहल एक दिव्य **शक्ति**की मुखाकृति लिये प्रकट होता है। वह शक्ति जाज्वल्यमान ताप और प्रकाशका घनीभूत

पुंज होती है और **जड़प्रकृति**में सब पदार्थोंको आकार देती है, उन्हें अभिभूत करती, उनके अंदर प्रवेश करती और उन्हें आच्छादित करती है, उन्हें हड़पकर नये सिरेसे बनाती है। वह कोई ऐसी-वैसी आग नहीं, उसकी ज्वाला है शक्तिमय ज्वाला, दिव्य ज्ञानके प्रकाशसे परिपूर्ण। **अग्नि** है विश्वमें विद्यमान द्रष्टा-संकल्प (**कविक्रतुः**), अपने सब कार्योंमें भूल-भ्रांतिसे रहित संकल्प। अपने आवेग और बलमें वह जो कुछ भी करता है वह सब उसके अंदरके नीरव **सत्य**के प्रकाशसे परिचालित होता है। वह है **सत्य**-सचेतन आत्मा, द्रष्टा, पुरोहित और कर्मी,—मनुष्यके अंदर अमर कार्य-कर्त्ता। उसका ध्येय है—जिस किसी चीजपर वह कार्य करे उसे शुद्ध-पवित्र कर देना और **प्रकृति**में संघर्ष करती आत्माको तमस्से ज्योतिकी ओर उठा ले जाना, संघर्ष एवं संतापसे प्रेम और हर्षकी ओर, शोक-ताप और श्रमसे शांति और आनंदकी ओर ऊपर उठा ले जाना। सो वह **देव**का **संकल्पबल** व **ज्ञान-बल** ही है; **जड़प्रकृति** और उसके रूपोंका गुप्त निवासी, मानवका प्रत्यक्ष और प्रिय अतिथि अग्नि ही जगत्के प्रतीयमान प्रमादों और संभ्रमोंके बीच वस्तुविषयक **सत्य**के विधानकी रक्षा करता है। अन्य देव **उषा**के साथ ही जागते हैं, परंतु **अग्नि निशा**में भी जागता रहता है। वह अंधकारमें भी, जहाँ न चाँद होता है न तारा, अपनी दिव्य दृष्टिसे युक्त रहता है। दिव्य संकल्प और ज्ञानकी ज्वाला निश्चेतन अथवा अर्धचेतन वस्तुओंके घने-से-घने अंधकारमें भी दिखाई देती है। यह निर्भ्रान्त कर्मी तब भी उपस्थित होता है जब हम कहीं भी पथ-प्रदर्शक मनका सचेतन प्रकाश नहीं देखते।

अग्निके बिना कोई यज्ञ संभव नहीं। वह एक साथ ही यज्ञवेदीकी ज्वाला है और आहुतिका वहन करनेवाला पुरोहित भी। जब मनुष्य अपनी रात्रिसे जागकर अपने अंदर और बाहरकी क्रियाओंको अधिक सच्ची और ऊँची सत्ताके देवताओंके प्रति अर्पित करने और इस प्रकार मर्त्यतासे उस दूरवर्ती अमरतामें उठ जानेका संकल्प करता है जो उसका लक्ष्य और अभीष्ट वस्तु है, तो ऊर्ध्वमुख अभीप्साकारी **बल** और **संकल्प**की इस ज्वालाको ही उसे प्रज्वलित करना होगा। इसी अग्निके अंदर उसे यज्ञकी हवि डालनी होगी। क्योंकि यही देवोंको हविकी भेंट देता है और प्रति-फलके रूपमें समस्त आध्यात्मिक संपदाओं—दिव्य जलधारा, ज्योति, शक्ति और द्युलोककी वृष्टिको नीचे उतार लाता है। यही देवोंका आह्वान करता है और यही उन्हें यज्ञके घर तक ले आता है। **अग्नि** एक ऐसा ऋत्विक् है जिसे मनुष्य अपने आध्यात्मिक प्रतिनिधिके रूपमें अपने सामने

रखता है (**पुरोहितः**), वह एक ऐसा **संकल्प** एवं **शक्ति** है जो उसके अपने संकल्प एवं शक्तिसे अधिक महान्, उच्च और निर्भ्रान्त है, जो उसके लिए यज्ञके कार्य करती है, हविके द्रव्योंको शुद्ध करती है, उन्हें उन देवोंके प्रति भेंट करती है जिनका उसने यज्ञके दिव्य क्रियाकलापमें आह्वान किया है, अपने कार्योंके यथार्थ क्रम और कालका निर्धारण करती है एवं याज्ञिक विकासकी यात्राका संचालन करती है। प्रतीकात्मक पौरोहित्यके इन और अन्य विविध कार्य-व्यापारोंको जिनका प्रतिनिधित्व बाह्य यज्ञमें भिन्न-भिन्न यज्ञकर्त्ता पुरोहित करते हैं, अकेला **अग्नि** ही निष्पन्न करता है।

अग्नि यज्ञका नेता है और अंधकारकी शक्तियोंके विरुद्ध महान् यात्राम उसकी रक्षा करता है। इस दिव्य **शक्ति**के ज्ञान और उद्देश्यपर पूर्णतया विश्वास किया जा सकता है। वह आत्माका मित्र और प्रेमी है और इसलिए उसे धोखेसे निम्न कोटिके अशुभ देवताओंके हाथ नहीं सौंपेगा। यहाँतक कि उस मनुष्यके लिए भी जो रात्रिमें बहुत दूर बैठा है, मानवीय अज्ञानके अंधकारसे घिरा है, यह ज्वाला एक ज्योतिका काम करती है। वह ज्योति जब पूर्णतया प्रज्वलित हो जाती है और जितना-जितना वह अधिकाधिक ऊँची उठती है तब और उतना-उतना वह अपने आपको **सत्य**के विशाल प्रकाशमें विस्तृत कर लेती है। दिव्य **उषासे** मिलनेके लिए ऊपर द्युलोककी ओर धधकती हुई वह प्राणिक या वातिक अंतरिक्षलोकमेंसे और हमारे मानसिक आकाशोंमेंसे होती हुई ऊपर उठती है और अंतमें **प्रकाश**के **स्वर्ग**में प्रवेश करती है जो ऊर्ध्वमें उसका परम धाम है। वहाँ शाश्वत आनंदके आधाररूप सनातन सत्यमें सदाके लिए आनन्दोल्लसित होकर प्रकाशमान अमर देव अपने दिव्य सवनों (यज्ञके अधिवेशनों)में विराजमान हैं और असीम परम आनन्दकी मदिराका पान करते हैं।

यह सच है कि यहाँ प्रकाश छिपा है। **अग्नि** यहाँ अन्य देवोंकी तरह विश्वके माता-पिताओं, **द्यौ** और **पृथ्वी, मन** और **शरीर, आत्मा** और **जड़-प्रकृति**के शिशुके रूपमें प्रतिमूर्त है। यह पृथ्वी उसे अपनी जड़ सत्तामें गुप्त रूपमें धारण किये है और उसके पिताके सचेतन कार्योंके लिए उसे उन्मुक्त नहीं करती। यह उसे अपने सभी उद्भिदों व पौधोंमें, अपनी वृक्ष-वनस्पतियोंमें छिपाये रखती है जो उसकी ऊष्माओंसे भरे आकार हैं, ऐसे पदार्थ हैं जो आत्माके लिए उसके आनन्दोंको अपने अंदर सुरक्षित रखे हैं। परंतु अंतमें यह उसे उत्पन्न करके रहेगी। यह नीचेकी अरणि है और मनोमय सत्ता ऊपरकी। नीचेकी अरणिपर ऊपरकी अरणिके दबावसे **अग्नि**की ज्वाला उत्पन्न होगी। परंतु दबावसे ही, एक प्रकारके

मंथनसे ही, वह **अग्नि** पैदा होता है। इसलिए उसे **शक्तिका पुत्र (सहसस्पुत्रः)** कहा जाता है।

जब **अग्नि** बाहर प्रकट होता है तब भी वह अपनी क्रियाओंमें बाह्य रूपसे धूमिल ही रहता है। शुरूमें ही वह शुद्ध **संकल्प** नहीं बन जाता, चाहे असलमें वह सदा ही शुद्ध है, परंतु पहले वह प्राणिक **संकल्प** हमारे अंदर स्थित **प्राण**की कामना, धूमाच्छन्न ज्वाला, हमारी कुटिलताओंके पुत्र एवं अपनी चरागाहमें घास चरते **पशु**का तथा हड़प कर जानेवाली कामनाकी एक ऐसी शक्तिका रूप धारण करता है जो पृथ्वीकी वनस्पतियोंपर पलती है और उन सब चीजोंका विदारण और विध्वंस कर देती है जिनपर वह पलती है, और जहाँ पृथ्वीकी वनस्थलियोंका हर्ष और गौरव-गरिमा विद्यमान थी वहाँ वह अपने मार्ग-चिह्नके रूपमें काली एवं झुलसी लीक छोड़ देती है। परंतु इस सबमें शोधनका कार्य चल रहा है जो यज्ञकर्त्ता पुरुषके लिए सचेतन बन जाता है। **अग्नि** नष्ट करता एवं शुद्ध-पवित्र करता है। यहाँतक कि उसकी क्षुधा और कामना भी, जो अपने क्षेत्रमें अनन्त है, उच्चतर वैश्व व्यवस्थाकी स्थापनाकी तैयारी करती है। उसके आवेशका धुआँ वशमें कर लिया जाता है और यह प्राणिक **संकल्प-शक्ति**, प्राणमें अवस्थित यह धधकती हुई कामना एक **अश्व** बन जाती है जो हमें ऊपर सर्वोच्च स्तरोंतक ले जाता है,—ऐसा श्वेत **अश्व** जो **उषाओं**के आगे-आगे सरपट दौड़ता है।

अपनी घूम्रावृत चेष्टासे उन्मुक्त होकर वह हमारे आकाशोंमें ऊँचा प्रज्वलित होता है, शुद्ध मनके व्योमको मापता है तथा द्युलोककी पीठपर जा चढ़ता है। वहाँ उस सूक्ष्म-विरल स्तरपर उसका देवता **त्रित आप्त्य** ऊँची लपटें उठाती इस शक्तिको अपने हाथमें लेता है और इससे एक ऐसा सुतीक्ष्ण शस्त्र गढ़ता है जो समस्त अशुभ और अज्ञानका विनाश कर डालेगा। यह **द्रष्टा-संकल्प** ज्ञानकी दीप्तियोंका, सूर्यकी उन गौओंका संरक्षक बन जाता है जो द्वैध और अंधकारके **पुत्रों**के आक्रमणसे बची रहकर, ज्ञानमय संकल्पकी योद्धृशक्तिसे रक्षित होती हुई जीवनकी चरागाहोंमें चरती हैं। वह अमरता प्राप्त करता है और मानवीय प्राणीमें अपने सत्य और आनन्दके विधानको अक्षुण्ण बनाये रखता है। अंतमें हम असत्य और भूल-भ्रांतिकी समस्त कुटिलताओंको पार कर जाते हैं, नीची, टूटी-फूटी और टेढ़ी-मेढ़ी भूमिसे ऊपर उठकर सीधे-सरल मार्ग और ऊँचे एवं खुले धरातलोंमें पहुँच जाते हैं। वहाँ **संकल्प** और **ज्ञान** एक हो जाते हैं। सिद्धि-प्राप्त आत्माकी प्रत्येक अन्तःप्रवृत्ति उसकी अपनी सत्ता **(स्व-भाव)**के

सारभूत सत्यसे सचेतन हो जाती है, प्रत्येक कार्य सचेतन, हर्षमय और विजयी रूपसे आत्माको परिपूर्ण बनाता है। ऐसा है वह देव जिसतक वैदिक **अग्नि** यज्ञ करनेवाले **आर्य**को ऊँचा उठा ले जाता है। **अमर-देव** मर्त्यमें तथा उसके यज्ञके द्वारा विजयी होता है। विचारक, योद्धा, श्रमशील मानव एक द्रष्टा, आत्म-शासक एवं प्रकृतिका राजा बन जाता है।

वेद इस दिव्य **ज्वाला**का भव्य और समृद्ध रूपकोंकी शृंखलाके द्वारा वर्णन करता है। वह है यज्ञका हर्षोल्लसित पुरोहित, अपने आनन्दसे मदोन्मत्त **भगवत्संकल्प,** युवा ऋषि, निद्रारहित दूत, इस घरमें सदा जागरूक ज्वाला, हमारे द्वारयुक्त वास-स्थानका स्वामी, प्रिय अतिथि, प्राणीके अंदर विराजमान प्रभु, ज्वालामय शिखाओंका द्रष्टा, दिव्य शिशु, पवित्र और निष्कलंक **देव,** अजेय योद्धा, मार्गका ऐसा नेता जो यात्रामें प्रजाओंके आगे-आगे चलता है, मर्त्योंमें अमर, मनुष्यमें देवों द्वारा स्थापित कर्मकर्त्ता, ज्ञानमें अप्रतिहत, सत्तामें अनन्त, सत्यका विशाल और जाज्वल्यमान सूर्य, यज्ञका धारक और उसके सोपानोंका द्रष्टा, दिव्य प्रत्यक्षबोध, प्रकाश, अन्तर्दर्शन और दृढ़ आधार। संपूर्ण वेदमें इस शक्तिशाली और तेजोमय देवताका स्तुति-सत्कार करनेवाले सूक्तोंमें ही हमें ऐसे सूक्त मिलते हैं जो काव्यमय रंगतमें अतीव भव्य हैं, मनोवैज्ञानिक सुझावमें गंभीर हैं एवं अपने रहस्यमय उन्मादमें उदात्त। यह ऐसा है मानो उसकी अपनी ज्वाला, पुकार एवं ज्योतिने उसके कवियोंकी कल्पनाशक्तिको अपने अधिकारमें करके उसमें धधकता हुआ हर्षोन्माद पैदा कर दिया था।

काव्यमय रूपकोंके इस अंबारमेंसे कुछ एकका स्वरूप प्रतीकात्मक है और वे दिव्य **ज्वाला**के अनेक जन्मोंका वर्णन करते हैं। उनका असाधारण विविधताके साथ विस्तृत वर्णन किया गया है। उनमें कहीं-कहीं वह **पिता द्यौका—मन** या **आत्मा**का—और **माता पृथ्वी**का—**शरीर** या जड़ **प्रकृति**का शिशु है। कहीं-कहीं वह इन दोनों अरणियोंसे उत्पन्न ज्वाला है। कहीं-कहीं **द्यौ** और **पृथ्वी**को उसकी दो माताएँ कहा गया है, जहाँ कि रूपक अधिक प्रत्यक्ष रूपसे शुद्ध मानसिक, चैत्य तथा भौतिक चेतनाका प्रतीक है। उसकी स्तुति सात **माताओं**के शिशुके रूपमें भी की गई है—क्योंकि उसका पूर्ण जन्म उन सात तत्त्वोंकी अभिव्यक्तिका परिणाम है जो हमारी चेतन सत्ताका गठन करते हैं और जो क्रमशः सात लोकोंके आधार हैं—उनमेंसे तीन तो हैं अनन्त सत्ताके आध्यात्मिक तत्त्व, तीन सान्त सत्ताके कालगत तत्त्व और एक इन दोनोंके बीचका। अन्य देवोंकी तरह उसे भी **सत्य**से उत्पन्न कहा गया है। **सत्य** एक साथ ही उसका जन्मस्थान और धाम है। कहीं-

कहीं यह कहा गया है कि **सात प्रियतम स्वामियों**ने उसे **परम प्रभु**के लिए जन्म दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रतीक उसके उद्गमको विशुद्ध आनन्दरूपी उस दूसरे तत्त्वतक पीछे ले जाता है जो सृष्टिका आदि कारण है। उसका एक आकार है सौर ज्योति और ज्वालाका, दूसरा है द्युलोकीय जो मनमें है, तीसरा वह जो नदियोंमें निवास करता है। **उषा** और **निशा** उसीसे उन्मुक्त होती हैं, **ज्ञान** और **अज्ञान** हमारे द्युलोकोंपर एकके बाद एक अपना अधिकार स्थापित करके दिव्य **शिशु**को बारी-बारीसे स्तन्यपान कराते हैं और फिर भी **प्राण**के **स्वामी मातरिश्वाने** उसे देवोंके लिए इस ढंगसे रोपा है कि वह पृथ्वीके उद्भिदोंमें छिपा है, उसके प्राणियोंमें, मनुष्य, पशु और पौधेमें गुप्त रूपमें स्थित है, शक्तिशाली **धाराओं**में प्रच्छन्न रूपसे निहित है। ये **धाराएँ** ज्योतिर्मय लोककी सात नदियाँ हैं जो द्युलोकसे तब अवतरित होती हैं जब **भागवत मन इन्द्र** इन्हें घेरे हुए **अजगर** (अहि)का वध कर चुकता है। वे प्रकाश एवं द्युलोकके प्रचुर वैभवसे परिपूर्ण होकर, निर्मलता और मधुरतासे, मधुर दुग्ध, नवनीत एवं मधुसे भरपूर होकर अवतरित होती हैं। यहाँ इन पोषक **गौओं**से, **प्राचुर्य**की इन **माताओं**से **अग्नि**का जन्म उसके पार्थिव जन्मोंमें सबसे महान् है। **प्राण**की वेगवती **घोड़ियों**के रूपमें उनके द्वारा पोषित वह एकदम ही अपनी दिव्य महानता तक विकसित हो जाता है, सभी स्तरोंको अपने विशाल एवं प्रकाशमय अंगोंसे भर देता है और मनुष्यकी आत्मामें उनके राज्योंको दिव्य **सत्य**की प्रति-मूर्तिके रूपमें गढ़ देता है।

इन रूपकोंका वैविध्य और तरल प्रयोग—कभी-कभी यह एक ही सूक्तमें तीव्र गतिसे एकके बाद एक रूपकके द्वारा किया जाता है—सचेतन प्रतीकवादके कालसे संबंध रखता है। उस कालमें रूपक कठोर होकर गाथाके बँधे-बँधाये रूपमें नहीं बदल गया था, किंतु निरंतर एक ऐसा अलंकार एवं दृष्टांत ही बना रहा जिसका भाव अपनी मूलरूप कल्पनामें अबतक भी जीवित है, अभीतक भी नमनीय है।

अग्निके विषयमें वास्तविक उपाख्यान, एक कम साङ्गोपाङ्ग रूपकसे स्पष्टतया भिन्न दीखनेवाले विकसित कथानक या तो विरले हैं या हैं ही नहीं—यह बात **इन्द्र** और **अश्विदेवों**के नामोंके इर्द-गिर्द गाथाओंके जिस ऐश्वर्यकी भीड़ लग गई है उससे विलक्षण रूपमें विपरीत है। वह **इन्द्र**के पुराणोक्त कार्योंमें अर्थात् **सर्प**के वध, गोयूथोंकी पुनः प्राप्ति, **दस्युओं**के हननमें भाग लेता है। उसकी अपनी क्रिया सार्वभौम है परंतु अपनी परम महानताके होते हुए भी या शायद इसीके कारण वह किसी पृथक् उद्देश्यकी

सिद्धि नहीं चाहता और न अन्य देवोंकी अपेक्षा प्रधानताका दावा करता है। वह मनुष्यके लिए और सहायक देवताओंके लिए एक कार्यकर्ता होनेमें ही संतुष्ट है। वह महान् **आर्य** कर्मका कर्त्ता है और पृथ्वी और द्यौके बीच शुद्ध व महान् मध्यस्थ है। निष्काम, अनिद्र, अजेय यह दिव्य **संकल्प-शक्ति** सब भूतोंमें अवस्थित शक्तिमय विश्वात्माके रूपमें अर्थात् उस **वैश्वानर अग्नि**के रूपमें जगत्में कार्य करती है जो समस्त वैश्व देवताओंमें सबसे महान्, सबसे अधिक शक्तिशाली व तेजस्वी और सर्वाधिक निर्वैयक्तिक है।

'**अग्नि**' इस नामका अनुवाद यहाँ प्रकरणके अनुसार **शक्ति, बल, संकल्प, भागवत संकल्प** या **ज्वाला** किया गया है। ऋषियोंके नामोंको भी, जहाँ-कहीं आवश्यक हुआ, मार्मिक अर्थ दिया गया है, जैसे प्रथम सूक्तमें **गविष्ठिर** शब्दको, जिसका अर्थ है **ज्योतिमें** सुस्थिर, या सामान्य गोत्रनाम **अत्रि**को भी। **अत्रि**का अर्थ है भोक्ता या यात्री। **अग्नि** स्वयं **अत्रि** है जैसे कि वह **अंगिरस्** भी है। जगत्के रूपोंके लिये सर्वग्रासी कामनामेंसे, उनके अनुभव और उपभोगमेंसे होता हुआ वह अपनी अनन्त सत्ताके स्वामित्वमें आत्माके मुक्त सत्य और आनन्दकी ओर अग्रसर होता है।

पहला सूक्त

प्रातःकालीन यज्ञका सूक्त

[ऋषि स्तुतिगान करता है कि **उषाके** आनेपर **भागवत शक्ति**-स्वरूप **अग्नि** एक सचेतन क्रियाके रूपमें जाग्रत् हो गया है। **अग्निदेव** ज्योतिर्मय **स्वर्गलोक**की ओर उठता है जो उसका लक्ष्य है, उस **विवेक-चेतना**[1]के कार्योंसे पुष्ट होता है जो यज्ञकी आहुतियों (भेंटों) और उसके क्रियाकलापोंका देवोंमें सम्यक् विभाग करती है, वह हमारे दिनोंका नेतृत्व करनेवाली एक विशुद्ध जीवनशक्ति बन जाता है, **विशालता** और **सत्य**की ओर आरोहण करता है। **सत्य**के द्वारा वह हमारी शारीरिक तथा मानसिक चेतनाके दो आकाशोंका नये ढंगसे निर्माण करता है। यही उसका हमारे आकाशोंमें स्वर्णिम **स्तुतिगान** है।]

1

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥[2]

---

1. विवेकमयी देवी—दक्षिणा (देखो मन्त्र ३)।—अनुवादक

2. यहाँसे श्रीअरविन्द अत्रि ऋषिके अग्नि देवताके सूक्तोंका धारावाही सुस्पष्ट भावार्थ देना आरंभ करते हैं। हिन्दीमें यह भावार्थ ज्यों-का-त्यों अनूदित करके दिया गया है किन्तु पाठकोंको वेदके मूल मंत्रका—मूल शब्दोंका रस प्राप्त करानेके लिए उसी धारावाही भावार्थमें बीच-बीचमें मंत्रके शब्दोंको यथास्थान कोष्ठमें दिखला दिया गया है। इससे संस्कृतका कुछ ज्ञान रखनेवाले लोग मूल मंत्रका रसास्वादन भी कर सकेंगे, उन्हें मूल वेदके स्वाध्यायका आनन्द भी प्राप्त होगा।

शब्दके आगे लिखा गया अर्थ अनेक स्थानोंपर मूल शब्दकी विभक्ति आदिसे भिन्न प्रतीत होगा। किन्तु श्रीअरविन्दके दिये स्पष्ट, सरल और सरस भावार्थमें किसी प्रकारकी क्षति न हो इसके लिए मूल अंग्रेजीका अविकल अनुवाद उसे संस्कृतकी विभक्तिके अनुसार तोड़े-मरोड़े बिना ही दिया गया है।

पाठक इस बातको दृष्टिमें रखकर स्वाध्याय करेंगे तो मंत्रके रसास्वादनके साथ-साथ वैदिक भाषाका ज्ञान भी प्राप्त कर सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

जो हिंदी पाठक संस्कृत न जानते हों उन्हें कोष्ठमें लिखे शब्दोंपर ध्यान न देते हुए धारावाही अर्थ पढ़ना चाहिये और तब वे देखेंगे कि कैसे हृदय-स्पर्शी एवं आत्माको ऊँचा उठानेवाले हैं वेदके मंत्र। —अनुवादक

(जनानां) मनुष्योंके (समिधा) प्रदीप्त करनेसे (अग्निः) **शक्तिरूप अग्निदेव** (अबोधि) जाग उठा है और वह (उषासं प्रति) **उषा**के अभिमुख होता है जो (धेनुम् इव आयतीम्) पोषण करनेवाली **गाय**की तरह उसके पास आती है। (यह्वाःइव) जिस प्रकार शक्तिशाली सत्ताएँ (वयाम्) अपने विस्तारके लिए (प्र उत्-जिहानाः) तेजीके साथ ऊपरकी ओर जाती हैं उसी प्रकार (भानवः) उसकी दीप्तियां बढ़ती हुई (नाकम् अच्छ) द्युलोकके स्तरकी ओर (प्र सिस्रते) आरोहण करती हैं।

2

अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात्।
समिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान् देवस्तमसो निरमोचि॥

(देवान् यजथाय) देवोंके यजनके लिए (होता) हमारी स्तुतिका **पुरोहित** (अबोधि) जाग गया है। (सुमनाः) अपने अंदर यथार्थ चिन्तनको लिए हुए (अग्निः) **शक्तिरूप** अग्निदेव (प्रातः ऊर्ध्वः अस्थात्) हमारे प्रभातकालोंमें ऊर्ध्वमें स्थित हो गया है। (समिद्धस्य) वह पूरी तरह प्रदीप्त है; उसका (रुशत् पाजः अदर्शि) लालिमा प्रवाहित करनेवाला पुंज दिखाई दे रहा है और (महान् देवः) महान् देव (तमसः)) अंधकारसे (निः अमोचि) निर्मुक्त हो गया है।

3

यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः।
आद् दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः॥

(यत् ईम् अग्निः) जब वह **शक्तिरूप अग्निदेव** (गणस्य) अपने सैन्यगणकी (रशनां) लंबी रस्सीको (अजीगः) खोल चुकता है, तब वह (शुचिभिः गोभिः) विशुद्ध दीप्तिओंके[1] पुंजसे (शुचिः अङ्क्ते) शुद्ध रूपमें चमक उठता है। क्योंकि (आत्) तब (दक्षिणा) विवेक करनेवाली देवी (वाजयन्ती) परिपूर्णतामें विकसित होती है, और वह (युज्यते) अपने कार्योंमें जोती जाती है। वह अग्नि (ऊर्ध्वः) उन्नत है, (उत्तानां) वह दक्षिणा देवी ऊर्ध्वमुखी है, उस देवीके आधारपर वह (जुहूभिः) अपनी हविकी ज्वालाओंसे (अधयत्) पुष्ट होता है।

---

1. उषाकी गौओंके। दक्षिणा, दिव्य विवेककी देवी, यहाँ स्वयं उषाका ही एक रूप है।

4

अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम् ।।

(देवयतां) देवत्वमें विकास करनेवाले मनुष्योंके (मनांसि) मन (अग्निम् अच्छ) **संकल्पशक्ति**की ज्वालाकी ओर पूरी तरह गति करते हैं, (चक्षूंषि-इव सूर्ये सं चरन्ति) जैसे कि उनकी सब दृष्टियां भी उस सूर्यमें केन्द्रित होती हैं जो प्रकाश देता है।[1] (यत्) जब (विरूपे उषसा) विपरीत रूपोंवाली दो **उषाएँ**[2] (ईं सुवाते) उससे उन्मुक्त होती हैं, तब वह (अह्नाम् अग्रे) दिनोंके अग्रभागमें (श्वेतः वाजी जायते) **सफेद अश्व**के रूपमें उत्पन्न होता है।

5

जनिष्ट हि जेन्यो अग्रे अह्नां हितो हितेष्वरुषो वनेषु।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानोऽग्निर्होता नि षसादा यजीयान् ।।

(हि) निश्चयसे (अह्नाम् अग्रे) दिनोंके पूर्वभागमें, (हितेषु वनेषु) वस्तुओंके प्रतिष्ठित आनन्दोंमें (हितः) स्थित हुआ वह (अरुषः) लाल आभासे संपन्न, तेजोमय कार्यकर्ता (जेन्यः जनिष्ट) विजयी रूपमें उत्पन्न हुआ है। (दमे-दमे) घर-घरमें (सप्त रत्ना) सात परम आनन्दों[3]को (दधानः) धारण करते हुए (अग्निः) **शक्तिरूप अग्नि**ने (यजीयान् होता) यज्ञके लिए शक्तिशाली, भेंट देनेवाले **पुरोहित**के रूपमें (नि ससाद) अपना आसन ग्रहण किया है।

---

1. अर्थात् दूसरे मनुष्योंके अंधकारमें टटोलनेवाले विचारोंके स्थानपर उनकी मानसिक सत्ता अपने आपको संकल्पाग्निकी ज्ञानरूप ज्योतिर्मय ज्वालामें परिणत करती जाती है, और उनके समस्त विचार सीधी अन्तर्दृष्टिकी एक अग्निशिखा, सत्यके सूर्यकी किरणें बन जाते हैं।

2. दिन और रात—इनमेंसे रात है अज्ञानकी अवस्था जिसका सम्बन्ध हमारी भौतिक प्रकृतिके साथ है, दिन है प्रकाशपूर्ण ज्ञानकी अवस्था जिसका संबंध भागवत मनके साथ है; हमारी मानसिक सत्ता उस दिव्य-मनकी फीकी और धुंधली छाया है।

3. हमारी प्रकृतिके प्रत्येक तत्त्वके अनुरूप एक प्रकारका दिव्य आनन्दोल्लास है और प्रत्येक स्तरपर, प्रत्येक शरीर या घरमें, अग्निदेव इन आनन्दोंको स्थापित करता है।

6

अग्निर्होता न्यसीदद् यजीयानुपस्थे मातुः सुरभा उ लोके।
युवा कविः पुरुनिःष्ठ ऋतावा धर्ता कृष्टीनामुत मध्य इद्धः॥

(यजीयान्) यज्ञके लिए शाक्तशाली, (होता) हविर्दाता **पुरोहित**के रूपमें (अग्निः) **शक्तिस्वरूप** अग्निदेवने (मातुः उपस्थे) **माता**की गोदमें (न्यसीदत्) अपना आसन ग्रहण कर लिया है। (सुरभौ उ लोके) उस आनन्दोत्पादक अन्य लोक[1]में वह (युवा) युवक, (कविः) द्रष्टा, (पुरुनिःष्ठः) अपने अनेक आकारोंमें प्रकटरूपसे स्थित, (ऋतावा) **सत्य**से सम्पन्न, (कृष्टीनां धर्ता) कर्म करनेवालोंका धारक है (उत) और (मध्ये) उन दोनों लोकोंके बीच में भी (इद्धः) प्रदीप्त है।

7

प्र णु त्यं विप्रमध्वरेषु साधुर्मग्निं होतारमीळते नमोभिः।
आ यस्ततान रोदसी ऋतेन नित्यं मृजन्ति वाजिनं घृतेन॥

मनुष्य (विप्रं त्यम् अग्निं) ज्ञानसे प्रदीप्त इस अग्निशक्तिकी (नमोभिः प्र ईडते नु) समर्पणरूप प्रणामोंसे अभीप्सा करते हैं, जो अग्नि (अध्वरेषु साधुं) प्रगतिशील यज्ञोंमें हमारी पूर्णता साधित करता है और (होतारं) उनमें हविका दाता पुरोहित है, (यः) [जो वह] क्योंकि वह (ऋतेन) **सत्य**की शक्तिसे (रोदसी) हमारी सत्ताके दोनों लोकोंका—द्यावापृथिवीका—(आ ततान) निर्माण करता है। (नित्यं वाजिनं) जीवनकी प्रचुरताके उस शाश्वत अश्व [अमर घोड़े] को वे (घृतेन)[2] निर्मलतासे (मृजन्ति) मांज-मांज कर चमकाते हैं।

8

मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः कविप्रशस्तो अतिथिः शिवो नः।
सहस्रभृष्टिर्वृषभस्तदोजा विश्वां अग्ने सहसा प्रास्यन्यान्॥

(मार्जाल्यः) उज्ज्वल वह अग्नि (मृज्यते) घिस-घिसकर चमकीला बनाया जाता है, (कविप्रशस्तः) द्रष्टाके द्वारा प्रकट किया जाता है, (स्वे

---

1. माँ है पृथिवी, हमारी भौतिक सत्ता; 'दूसरा लोक' है अतिमानसिक सत्ता; प्राणिक और भावप्रधान सत्ता इन दोनोंके बीचका लोक है। अग्निदेव इन सबमें एकही साथ प्रकट होता है।
2. घृत, शोधित नवनीत प्रकाशकी गौकी उपज है और उस समृद्ध निर्मलताका प्रतीक है जो मनकी प्रकाशसे भेंट होनेपर उसके अन्दर आती है।

दमूनाः) अपने घरमें[1] स्थिर निवास करनेवाला है, (नः) हमारा (शिवः अतिथिः) कल्याणकारी अतिथि है, (सहस्रशृङ्गः वृषभः) हजारों सींगोंवाला वृषभ है। (अग्ने) हे **शक्तिरूप अग्निदेव**! (तत्-ओजाः) क्योंकि तुझमें यह सामर्थ्य[2] है अतएव तू (सहसा) अपनी शक्तिमें (अन्यान्) अन्य सबसे (प्र असि) आगे बढ़ा हुआ है।

9

प्र सद्यो अग्ने अत्येष्यन्यानाविर्यस्मै चारुतमो बभूथ।
ईळेन्यो वपुष्यो विभावा प्रियो विशामतिथि र्मानुषीणाम्॥

(अग्ने) हे **शक्तिरूप अग्निदेव**! (यस्मै चारुतमः आविः बभूथ) जिस किसीमें तू अपने सौन्दर्यकी पूरी महिमाके साथ प्रकट होता है, उसमें तू (सद्यः) तत्काल (अन्यान् प्र अत्येषि) अन्य सबको लांघकर आगे बढ़ जाता है। तू (ईळेन्यः) स्पृहणीय है, (वपुष्यः) शारीरिक पूर्णतासे युक्त और (विभावा) प्रकाशमें विस्तृत है, (मानुषीणां विशां) मानव प्राणियोंका (प्रियः अतिथिः) प्रिय अतिथि है।

10

तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात्।
आ भन्दिष्ठस्य सुमतिं चिकिद्धि बृहत् ते अग्ने महि शर्म भद्रम्॥

(यविष्ठ) हे अत्यन्त तरुणबल-सम्पन्न, (अग्ने) **शक्तिस्वरूप अग्ने**! (क्षितयः) सब लोक और उन के प्राणी (अन्तितः उत दूरात्) समीप और दूरसे (तुभ्यं) तेरे लिए (बलिं) अपनी भेंट (आ भरन्ति) लाते हैं, (भन्दिष्ठस्य सुमतिम् आ चिकिद्धि) मनुष्यके ज्ञानमें तू उसकी परम आह्लादपूर्ण स्थितिमें होनेवाली उसके मनकी यथार्थ अवस्थाके प्रति सचेतन रूपसे जागृत हो। (अग्ने) हे **शक्तिरूप अग्निदेव**! (ते) तेरी (बृहत्) विशालता (महि) महान् तथा (भद्रं) आनन्द-पूर्ण (शर्म) शान्ति ही है।

11

आद्य रथं भानुमो भानुमन्तमग्ने तिष्ठ यजतेभिः समन्तम्।
विद्वान् पथीनामुर्वन्तरिक्षमेह देवान् हविरद्याय वक्षि॥

---

1. अर्थात्, सत्यके स्तरपर, जो उसका अपना घर है, अपना स्थान ग्रहण किए हुए।

2. सत्यकी शक्ति, पूर्ण बल जो इस पूर्णज्ञानसे सम्बन्धित है।

(भानुमः अग्ने) हे ज्योतिर्मय **संकल्प**! (यजतेभिः) यज्ञके अधिपतियोंके साथ (अद्य) आज ही (समन्तं भानुमन्तं रथं) अपने सर्वाङ्गपूर्ण देदीप्यमान रथपर (आ तिष्ठ) आरोहण कर। तू जो (उरु अन्तरिक्षम्) उस विस्तृत अन्तरिक्ष-लोक[1]को, (पथीनां) उसके समस्त मार्गों सहित (विद्वान्) जानता है, (देवान्) देवोंको (हविः-अद्याय) हमारी हविके आस्वादनके लिए (इह आ वक्षि) यहाँ ले आ।

12

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत्॥

हमने (कवये) **द्रष्टा** (मेध्याय) **मेधावी**के प्रति, (वृषभाय वृष्णे) उस **वृषभ**—बैलके प्रति जो गोयूथोंको शक्तिसे उपजाऊ बनाता है, आज (वन्दारु वचः अवोचाम) अपनी स्तुतिके वचन कहे हैं, (गविष्ठिरः) **प्रकाशमें स्थिर** यजमान (नमसा) अपने समर्पणके द्वारा (अग्नौ) **संकल्पशक्ति**की ज्वालामें (अश्रेत्) उन्नत होता है, (दिवि इव) मानो वह द्युलोकमें (उरुव्यञ्चं) विशालताको प्रकट करनेवाली (रुक्मं स्तोमं) स्वर्णिम **स्तुति**की ओर (अश्रेत्) उन्नत हो रहा हो।

---

1. प्राणिक या स्नायविक स्तर हमारी भौतिक पृथिवीके ठीक ऊपर है; इसके द्वारा देवगण मनुष्यसे संलाप करने आते हैं, किन्तु यह एक अव्यवस्थित विस्तार है और इसके मार्ग अनेकों हैं पर हैं पेचीदा और उलझे हुए।

दूसरा सूक्त

भागवत शक्तिके उन्मुक्त होनेका सूक्त

[प्रकृति अपने साधारण, सीमित और भौतिक कार्यकलापोंमें **भागवत शक्ति**को अपनी गुप्त या अवचेतन सत्तामें छिपाए रखती है। जब चेतना अपने आपको **'एक'** और **असीम**के प्रति विस्तृत करती है तभी भागवत शक्ति सचेतन **मन** के लिए प्रकट और उत्पन्न होती है। उच्चतर प्रकाशकी निर्मलताएँ तब तक धारण नहीं की जा सकतीं जब तक यह **शक्तिरूप** अग्नि उनकी रक्षा न करे, क्योंकि विरोधी शक्तियाँ उन्हें छीन लेती हैं और फिरसे अपनी गुह्य गुफ़ामें छिपा देती हैं। मनुष्यमें प्रकट हुआ **भागवत संकल्प** स्वयं उन्मुक्त होकर उसे उन पाशोंसे मुक्त कर देता है जो उसे विश्व-यज्ञमें बलिके रूपमें बांधे हैं। हम इसे **इन्द्र---भागवत मन** की शिक्षाके द्वारा प्राप्त करते हैं और यह हमारे अंदर **प्रकाश**की निर्बाध क्रीड़ाकी रक्षा करता है और असत्यकी शक्तियोंका विनाश करता है जिनकी सीमाएँ इसके विकसित और उज्ज्वलित होनेमें रुकावट नहीं डाल सकतीं। यह ज्योतिर्मय **द्युलोक**से दिव्य धाराओंको, **शत्रु**के आक्रमणोंसे मुक्त दिव्य सम्पदाको लाता है और चरम शक्ति और पूर्णता प्रदान करता है।]

1

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ॥

(युवतिः माता[1]) युवती **मां** (गुहा) अपनी गुह्य सत्तामें (समुब्धं) दबे हुए (कुमारं) **बालक**को (बिभर्ति) वहन करती है और (पित्रे न ददाति) उसे **पिता**को नहीं देती। (अस्य अनीकं न मिनत्) पर उसकी शक्ति क्षीण नहीं होती। (जनासः) मनुष्य (अरतौ पुरः निहितं पश्यन्ति) पदार्थोंकी ऊर्ध्वमुखी विकास-क्रियामें उसे अपने सामने प्रतिष्ठित[2] देखते हैं।

---

1. **माता** और **पिता** सदा **प्रकृति** और **आत्मा** हैं अथवा भौतिक सत्ता और विशुद्ध मानसिक सत्ता हैं।
2. ऐसे **पुरोहित**के रूपमें जो यज्ञके कार्यका मार्गदर्शन और संचालन करता है।

2

कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान।
पूर्वीर्हि गर्भः शरदो ववर्धाऽपश्यं जातं यदसूत माता॥

(युवते) हे युवति **माँ**! (कम् एतं कुमारं) यह **बालक** कौन है जिसे (त्वं बिभर्षि) तू अपने अन्दर धारण करती है जब तू (पेषी) आकारमें संकुचित होती है, किन्तु जिसे (महिषी) तेरी विशालता (जजान) जन्म देती है। (पूर्वीः हि शरदः) बहुत-सी ऋतुओंतक (गर्भः ववर्ध) **शिशु** गर्भमें बढ़ता रहा; (जातम् अपश्यं) मैंने उसे उत्पन्न हुए तब देखा (यत्) जब (माता असूत) **मां** उसे बाहर लाई।

3

हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत् किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः॥

(आरात् क्षेत्रात् अपश्यं) मैंने बहुत दूर उसे सत्ताके क्षेत्रमें देखा जो (हिरण्यदन्तं) स्वर्णप्रकाशरूपी दांतोंवाला एवं (शुचिवर्णम्) शुद्ध-उज्ज्वल रंगवाला था और (आयुधा मिमानम्) अपने युद्धके शस्त्रोंका निर्माण कर रहा था। (अस्मै अमृतं ददानः) मैं उसे अमरता देता हूँ जो (विपृक्वत्) मेरे अन्दर सब पृथक्-पृथक् भागों[1]में विद्यमान है, और (मां किं कृणवन्) वे मेरा क्या करेंगे, (अनुक्थाः) जिनके पास न **शब्द**[2] है और (अनिन्द्राः) न **भागवत-मन**?

4

क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद् यूथं न पुरु शोभमानम्।
न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः पलिक्नीरिद् युवतयो भवन्ति॥

(क्षेत्रात् अपश्यं) मैंने क्षेत्रमें देखा, (सुमत् यूथं न) मानो वह प्रसन्न रश्मि-समूह हो जो (पुरु शोभमानम्) देदीप्यमान सौन्दर्यके अनेक आकारोंमें (सनुतः चरन्तं) लगातार संचरण कर रहा हो, (न ता अगृभ्रन्) उन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता था, (हि) क्योंकि (सः) वह अग्निदेव (अजनिष्ट) उत्पन्न हो चुका था; (पलिक्नीः इत्) उनमें जो बूढ़ी थीं वे भी (युवतयः भवन्ति) एक बार फिर जवान हो गयीं।

---

1. **सोम**, अमरताकी मदिरा देवोंको तीन भागोंमें दी गई है, हमारी सत्ताके तीन स्तरोंपर, मन, प्राण तथा शरीरमें।
2. प्रकट करनेवाला **'शब्द'** जो 'छिपी वस्तु'को प्रकट करता है, उसे अभिव्यक्त करता है जो प्रकट नहीं हुआ है।

5

के मे मर्यकं वि यवन्त गोभिर्नं येषां गोपा अरणश्चिदास ।
य ईं जगृभुरव ते सृजन्त्वाजाति पश्व उप नश्चिकित्वान् ।।

(के) वे कौन थे जिन्होंने (मे मर्यकं) मेरी शक्तिका (गोभिः) **प्रकाश**के समूहसे (वि यवन्त) सम्बन्ध-विच्छेद किया था ?—(येषां न गोपाः आस) वे जिनके सम्मुख इस युद्धमें न कोई रक्षक था और (अरणः चित्) न ही कोई कार्यकर्ता । (ये ईं जगृभुः) जिन्होंने उन्हें मुझसे ले लिया था उन्हें चाहिये कि (ते अव सृजन्तु) वे उन्हें मुक्तकर मुझे वापिस कर दें; क्योंकि वह (चिकित्वान्) ज्ञानयुक्त—सचेतन—अनुभूतियोंसे युक्त होकर (नः पश्वः) हमारे खोए दीप्ति-समूहको (उप आ अजाति) हमारी ओर प्रेरित करता हुआ आता है ।

6

वसां राजानं वसतिं जनानामरातयो नि दधुर्मर्त्येषु ।
ब्रह्माण्यत्रेरव तं सृजन्तु निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु ।।

(जनानां वसां राजानं) प्राणियोंमें रहनेवालोंके राजाको, (वसतिं) जिसमें सारे प्राणी निवास करते हैं, (अरातयः) विरोधी शक्तियोंने (मर्त्येषु) मर्त्योंके अन्दर (नि दधुः) छिपा रखा है; (तं) उसे (अत्रेः ब्रह्माणि अव सृजन्तु) पदार्थोंके **भक्षक**के आत्मिक विचार मुक्त कर दें, (निन्दितारः निन्द्यासः भवन्तु) बाँधनेवाले स्वयं बन्दी हो जाएँ ।

7

शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद् यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः ।
एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान् होतश्चिकित्व इह तू निषद्य ।।

(शुनः-शेपं चित्) आनन्दका प्रमुख नायक शुनःशेप भी (सहस्रात् यूपात्) यज्ञके हजार प्रकारके खम्भोंसे (निदितं) बंधा हुआ था । उसे (अमुञ्चः) तू ने मुक्त कर दिया है । (सः अशमिष्ट) उसने अपने कार्योंसे पूर्णताको सिद्ध किया है । (एव इह तु निषद्य) उसी प्रकार तू यहाँ हमारे अन्दर भी आसन ग्रहण कर । (चिकित्वः अग्ने) हे सचेतन दृष्टिसे युक्त **ज्वाला** ! (होतः) हे यज्ञके **पुरोहित** ! (पाशान्) बन्धनके पाशोंको (अस्मत् वि मुमुग्धि) हमसे काटकर अलग कर दे ।

8

***हृणीयमानो अप हि मदैयेः प्र मे देवानां व्रतपा उवाच ।**
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम् ।।

---

* यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि श्रीअरविन्दने इस मन्त्रमें "हृणीयमानः"

(नः मा हृणीय) तू मुझपर कुपित मत हो और (मत् अप [मा] ऐयेः हि) मुझसे दूर मत हो। (देवानां व्रतपाः) जो देवोंके कार्यके नियमकी रक्षा करनेवाला है उसने (मे प्र उवाच) मुझे तेरे विषयमें बता दिया है। (इन्द्रः) इन्द्र (विद्वान्) जान गया, (त्वा अनु) उसने तेरी खोजकी और (चचक्ष हि) तुझे देख लिया। (अग्ने) हे ज्वाला! (तेन अनुशिष्टः अहम्) उससे मैं उसका ज्ञानोपदेश अधिगत करके (आ अगाम्) तेरे निकट आ गया हूँ।

9

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥

(अग्निः) संकल्प की यह ज्वाला (बृहता ज्योतिषा वि भाति) सत्यकी विशाल ज्योतिसे चमक रही है और (महित्वा) अपनी महानतासे (विश्वानि आविः कृणुते) सब पदार्थोंको प्रकट कर देती है। वह (मायाः[1]) ज्ञानकी उन रचनाओंको (प्र सहते) अभिभूत करती है जो (अदेवीः) अदिव्य हैं और (दुरेवाः) बुरी चालवाली हैं। वह (रक्षसे विनिक्षे) राक्षसका विनाश करनेके लिए (शृङ्गे शिशीते) अपने सींगोंको तेज करती है।

10

उत स्वानासो दिवि षन्त्वग्नेस्तिग्मायुधा रक्षसे हन्तवा उ।
मदे चिदस्य प्र रुजन्ति भामा न वरन्ते परिबाधो अदेवीः॥

(रक्षसे हन्तवै उ) राक्षसका वध करनेके लिए (दिवि) हमारे द्युलोकमें

इस पदको 'हृणीय', 'मा', 'नः' इन तीन पदोंमें विभक्त कर अर्थ किया है। किन्तु पदपाठमें इसे एक ही पद माना गया है। अतः इसका तीन पदोंमें छेद पदपाठियोंकी परम्परा द्वारा अनुमोदित नहीं।

प्रचलित पदपाठके अनुसार इस मन्त्रका अर्थ यों होगा—

(हृणीयमानः) कुपित हो कर तू (मत् अप ऐयेः हि) मुझसे परे हट गया है। (देवानां व्रतपाः) देवोंके कार्यके नियमकी रक्षा करनेवालेने (मे प्र उवाच) मुझे यह बात बता दी है। (इन्द्रः विद्वान्) इन्द्र [दिव्य मन] यह सब जान गया। (त्वा अनु) उसने तेरी खोजकी और (चचक्ष हि) तुझे देख लिया। (अग्ने) हे अग्निदेव! (तेन अनुशिष्टः अहम्) उससे अनुशासित, प्रबोधित होकर मैं अब (आ अगाम) तेरे निकट आ गया हूँ।—अनुवादक

1. **माया**—मायाके दो प्रकार हैं, दिव्य और अदिव्य, सत्यकी रचनाएँ और असत्यकी रचनाएँ।

(अग्नेः स्वानासः) **ज्वाला**-शक्तिकी वाणियाँ (तिग्म-आयुधाः सन्तु) तीक्ष्ण-शस्त्रसे संपन्न हों। (उत) और (मदे चित्) उसके हर्षोल्लासके समय (अस्य भामाः) उसकी क्रोधि-दीप्तियां (प्र रुजन्ति) उस सबको तोड़-फोड़ देती हैं जो उसकी प्रगतिका विरोध करता है। (अदेवीः) अदिव्य शक्तियाँ (परिबाधः) जो हमें सब ओर से बाधा पहुँचाती हैं, (न वरन्ते) उसे रोककर नहीं रख सकतीं।

11

एतं ते स्तोमं तुविजात विप्रो रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्।
यदीदग्ने प्रति त्वं देव हर्याः स्वर्वतीरप एना जयेम॥

(तुविजात) हे अनेक आकारोंमें जन्म लिए हुए अग्निदेव! मैं (विप्रः) मनमें प्रकाशमान, (धीरः) बुद्धिमें सिद्ध और (सु-अपाः) कार्यमें पूर्ण हूँ। मैंने (ते) तेरे लिए (एतं स्तोमम्) तेरे इस स्तुतिगीतको (रथं न) मानो तेरे रथके रूपमें (अतक्षम्) निर्मित किया है। (अग्ने) हे **शक्तिरूप अग्ने**! (देव) हे देव! (यदि इत् त्वं प्रति हर्याः) यदि तुम इसके प्रत्युत्तरस्वरूप इसमें आनंद लो, तो इसके द्वारा हम (एता अपः जयेम) वे जलधाराएँ प्राप्त कर सकते हैं जो (स्वर्वतीः[1]) ज्योतिर्मय द्युलोकका प्रकाश धारण करती हैं।

12

तुविग्रीवो वृषभो वावृधानोऽशत्रुर्यः समजाति वेदः।
इतीममग्निममृता अवोचन् बर्हिष्मते मनवे शर्म यंसद्धविष्मते
मनवे शर्म यंसत्॥

(तुविग्रीवः) शक्तिशाली ग्रीवावाला[2] (वृषभः) **वृषभ** (वावृधानः) हमारे अन्दर बढ़ता है और हमारे प्रति (वेदः सम् अजाति) ज्ञानके उस **खजाने**[3]को खींचकर ले आता है जिसे (अर्यः) हमारे शत्रुने रोक रखा था। (अशत्रु) ऐसा कोई शत्रु नहीं है जो इसका विध्वंस कर सके। क्योंकि (इति) इस प्रकार (अमृताः) अमर **शक्तियोंने** (इमम् अग्निम् अवोचन्) इस **शक्तिरूप अग्निदेवसे** कहा है कि वह (मनवे शर्म यंसत्) अपनी क्रिया द्वारा उस मनुष्यके लिए शान्ति ला दे, जिसने (बर्हिष्मते) यज्ञका आसन विस्तृत किया है और उस मनुष्यके लिए (शर्म यंसत्) शान्तिको निष्पन्न कर दे जो (हविष्मते) भेंट को अपने हाथमें लिए है।

---

1. **स्वर्**—प्रकाशपूर्ण **सत्य**के प्रति खुला हुआ विशुद्ध दिव्य मन।
2. अथवा अनेक ग्रीवाओंवाला।
3. देदीप्यमान रश्मिसमूहों (गोयूथों)की सम्पदा।

तीसरा सूक्त

भागवत शक्ति—परम कल्याणकी विजेत्री

[**भागवत संकल्प-शक्ति** वह देवता है जिसके रूप ही हैं अन्य सारे देवता। जैसे-जैसे वह देव हमारे अन्दर विकसित होता है वैसे-वैसे परम **सत्य**की इन सब शक्तियोंको प्रकट करता चलता है। इस प्रकार हमें सचेतन सत्ताकी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है और वह हमारी जटिल और बहुविध सत्ताको **प्रकाश** और **आनन्द**में धारण करती है। ऋषि प्रार्थना करता है कि बुराईको उसमें फिरसे प्रकट न होने दिया जाये, और हमारे अन्दर अवस्थित गुह्य आत्मा जो सब **वस्तुओं**का **पिता** होता हुआ भी हमारे अन्दर हमारे कार्यकलाप और हमारे विकासके शिशुके रूपमें प्रकट होता है, अपने-आप विशाल **सत्य-चेतना**के प्रति उद्घाटित हो जाय। **दिव्य-ज्वाला** असत्य और अशुभकी उन सब शक्तियोंको नष्ट कर देगी जो हमें गढ़ेमें गिराना चाहती हैं और स्वर्गीय कोषको हमसे लूट लेना चाहती हैं।]

1

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥

(अग्ने) हे **संकल्प**! (यत् जायसे त्वं वरुणः) जब तू जन्म लेता है, तू **विशाल वरुण**[1] होता है, (यत् समिद्धः, त्वं मित्रः भवसि) जब तू पूरी तरह प्रदीप्त होता है तब **प्रेमका अधिपति**[2] हो जाता है। (सहसस्पुत्र) हे **शक्तिके पुत्र**! (त्वे विश्वे देवाः) सारे देव तेरे अन्दर हैं। (दाशुषे मर्त्याय त्वम् इन्द्रः) जो समर्पण करता है उस मर्त्यके लिये तू **मनोगत शक्ति**[3] है।

---

1. **वरुण**, जो व्योमसदृश पवित्रता और असीम **सत्यकी** सागरतुल्य विशालता का प्रतिनिधित्व करता है।
2. **मित्र**, सत्यकी सबका आलिंगन करनेवाली समस्वरता, और सब सत्ताओं का मित्र, इसलिए प्रेमका **अधिपति**।
3. **इन्द्र**, हमारी सत्ताका **शासक**, **भागवत मन**के देदीप्यमान लोक **स्वर्**का स्वामी।

2

त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि ।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दंपती समनसा कृणोषि ।।

(स्वधावन्) हे तू जो **प्रकृति**के आत्मविधानको धारण करता है! (यत् कनीनां[1] गुह्यं नाम बिभर्षि) जब तू **कुमारियों**के गुप्त **नाम**को धारण करता है, (त्वम् अर्यमा[2] भवसि) तू **अभीप्सा करनेवाले**की शक्ति बन जाता है। वे तुझे (गोभिः) अपनी किरणोंके **प्रकाश**से (सुधितं मित्रं न) पूर्णतया प्रतिष्ठित **प्रेम**[3]के रूपमें (अञ्जन्ति) आलोकित करते हैं, (यत् दंपती समनसा कृणोषि) जब तू **प्रभु** और उसकी **वधू**[4]को उनके प्रासादमें एकमनवाला बनाता है।

3

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत् ते जनिम चारु चित्रम् ।
पदं यद् विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम् ।।

(रुद्र) हे **रुद्ररूप**! (तव श्रिये) तेरी श्रीशोभाके लिए (मरुतः) **विचार-शक्तियाँ** अपने दबावसे, (यत् ते चारु चित्रम् जनिम) तेरा जो समृद्ध और सुन्दर जन्म[5] है उसे (मर्जयन्त) भास्वर बनाती हैं। (यद्) जब (विष्णोः उपमं पदं) **विष्णु**का वह उच्चतम चरण[6] (निधायि) अन्दर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब तू (तेन) उसके द्वारा (गोनाम् गुह्यं नाम) **ज्योतिर्मय** किरणसमूह[7]के गुप्त **नाम**की (पासि) रक्षा करता है।

---

1. बहुत संभवतः, 'कनी' शब्दका अर्थ है अपरिपक्व **दीप्तियाँ**। हमारी अभीप्साको इन्हें आत्माकी उच्चशक्तिके साथ इनका मिलाप करानेके लिये तैयार करना है। **अर्यमा** इनके गुप्त आशयको,—**नाम** को धारण करता है। वह आशय तब प्रकट होता है जब अभीप्सा ज्ञानके प्रकाश तक पहुँचती है और **मित्र** आत्मा और प्रकृतिमें सामजंस्य स्थापित करता है।
2. अर्यमन्—सत्यकी अभीप्सा करनेवाली शक्ति और क्रिया।
3. मित्र।
4. **आत्मा** और **प्रकृति**। प्रासाद है मानवीय शरीर।
5. **प्रकाश**का परम लोक। एक और जगह अग्निके विषयमें कहा गया है कि वह अपनी सत्तामें प्रकाशमान लोकोंमें उच्चतम बन जाता है।
6. विष्णुके तीन पग किंवा शक्तियाँ हैं—पृथिवी, आकाश और सर्वोच्च लोक जिनके आधार हैं **प्रकाश, सत्य** और **सूर्य**।
7. **ज्ञान**की दीप्तियोंका उच्चतम दिव्यभाव सर्वोच्च प्रकाशके अतिचेतन लोकोंमें पाया जाता है।

4

तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः॥

(देव) हे देव ! (सुदृशः) क्योंकि तू यथार्थ दृष्टिवाला है अतः (तव श्रिया) तेरी महिमासे (देवाः पुरु दधानाः) देवगण बहुविध सत्ताको धारण करते हुए (अमृतं सपन्त) अमरताका आस्वादन करते हैं। और (मनुषः) मनुष्य (होतारम् अग्निं नि षेदुः) उस **शक्ति**में अपना स्थान ग्रहण करते हैं जो हवि प्रदान करती है। (उशिजः) अभीप्सा करते हुए वे (आयोः शंसं दशस्यन्त) सत्ताकी आत्माभिव्यक्तिका देवोंमें सम्यक् विभाग करते हैं।

5

न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः।
विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद् देव मर्तान्॥

(अग्ने !) हे **ज्वाला** ! (न त्वत् पूर्वः होता) हविका ऐसा पुरोहित तुझसे पहले कोई भी नहीं हुआ और (न यजीयान्) नाहीं कोई यज्ञके लिए तुझसे अधिक शक्तिशाली हुआ है। (स्वधावः) हे तू जो **प्रकृति**की आत्म-व्यवस्थाको धारण करता है ! (काव्यैः न परः अस्ति) **ज्ञान**के विषयमें तुझसे उत्कृष्ट कोई नहीं। (यस्याः विशः च अतिथिः भवासि) और तू जिस प्राणीका अतिथि हो जाता है (सः) वह (देव) हे देव ! (यज्ञेन) यज्ञके द्वारा (मर्तान् वनवत्) उन सबपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है जो मरणशीलताके धर्मसे युक्त हैं।

6

वयमग्ने वनुयाम त्वोता वसूयवो हविषा बुध्यमानाः।
वयं समर्ये विदथेष्वह्नां वयं राया सहसस्पुत्र मर्तान्॥

(अग्ने) हे **ज्वाला** ! (त्वा-ऊताः) तुझसे पोषित और (बुध्यमानाः) जाग्रत् हुए, (वसूयवः वयम्) सारभूत ऐश्वर्यके अभिलाषी हम (हविषा) समर्पणरूप हविके द्वारा (वनुयाम) विजय-लाभ करें। (समर्ये) बड़े संघर्षमें, (अह्नां विदथेषु) हमारे दिनों[1]में—हमारे प्रकाशके कालमें होने-वाली ज्ञानकी उपलब्धियोंमें, (सहसः पुत्र) हे **शक्ति**के पुत्र ! (राया) आनन्दैश्वर्यसे (वयं मर्तान् वनुयाम) हम उन सबको पराभूत कर दें जो मरणशील हैं।

---

1. **प्रकाश**के वे काल जिनका साक्षात्कार आत्माको समय-समयपर होता है।

7

यो न आगो अभ्येनो भरात्यधीदघमघशंसे दधात।
जही चिकित्वो अभिशस्तिमेतामग्ने यो नो मर्चयति द्वयेन ।।

(यः [अघशंसः]) अशुभ प्रकट करनेवाला जो कोई (नः) हमारे अन्दर (एनः आगः अभि भराति) पाप और पथभ्रष्टता लाना चाहता है, (अघशंसे इत्) अशुभ प्रकट करनेवाले उसीके सिरपर (अघम् अधि दधात) उसकी अपनी बुराई डाल दी जाय। (चिकित्वः अग्ने) हे सचेतन ज्ञाता! (यः नः द्वयेन मर्चयति) जो हमें द्वैधभावसे उत्पीड़ित कर रहा है उसकी (एताम् अभिशस्तिं जहि) इस विरोधी आत्म-अभिव्यक्तिको नष्ट-भ्रष्ट कर दे।

8

त्वामस्या व्युषि देव पूर्वे दूतं कृण्वाना अयजन्त हव्यैः।
संस्थे यदग्न ईयसे रयीणां देवो मर्तैर्वसुभिरिध्यमानः ।।

(देव) हे **देव**! (अस्याः वि उषि) हमारी इस **रात्रि**के बाद उषा-कालमें (त्वाम्) तुझे (पूर्वे) **पूर्वजों**ने[1] (दूतं कृण्वानाः) अपना दूत बनाया और (हव्यैः) अपनी आहुतियोंसे (अयजन्त) तुझ द्वारा यज्ञ किया, क्योंकि (देवः यत्) तू वह देव है जो (वसुभिः मर्तैः) इस देहतत्त्वमें रहनेवाले मर्त्योंसे (इध्यमानः) प्रदीप्त किया जाता है और (अग्ने) हे अग्निदेव! तू (रयीणाम्) समस्त आनन्दोंके (संस्थे) मिलनस्थान[2]की ओर (ईयसे) गति करता है।

9

अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे।
कदा चिकित्वो अभि चक्षसे नोऽग्ने कदाँ ऋतचिद्यातयासे ।।

(पितरम् अव स्पृधि) तू **पिता**का उद्धार कर और (विद्वान्) अपने ज्ञानसे युक्त (सहसः सूनो) हे **शक्ति**के पुत्र! तू (योधि) उस मनुष्यसे बुराईको दूर रख (यः ते पुत्रः ऊहे) जो तेरे पुत्रके रूपमें हमारे अन्दर धारण किया गया है। (चिकित्वः) हे सचेतन ज्ञाता! (नः कदा अभि चक्षसे) कब तुम हमपर वह अन्तर्दृष्टि डालोगे? (ऋत-चित् अग्ने) हे **सत्य-सचेतन संकल्प**! (कदा यातयासे) कब हमें यात्राकी ओर प्रेरित करोगे?

---

1. प्राचीन द्रष्टाओंने जिन्होंने गुह्य नामको ढूंढ़ लिया था।
2. **सत्य** और **आनन्द**का परमोच्च लोक।

10

भूरि नाम वन्दमानो दधाति पिता वसो यदि तज्जोषयासे।
कुविद् देवस्य सहसा चकानः सुम्नमग्निर्वनते वावृधानः॥

(वसो) हे सारतत्त्वमें **निवास करनेवाले**! (पिता) **पिता** (भूरि नाम) उस विशाल[1] **नाम**को तभी (वन्दमानः दधाति) उपासनापूर्वक धारण करता है (यदि) जब तू (तत् जोषयासे) उसे इस नामको स्वीकार करने और दृढ़तासे पकड़े रहनेके लिये प्रेरित करता है (अग्निः) हमारे अन्दर अवस्थित **संकल्पशक्ति** (कुवित्) बार-बार (सुम्नं चकानः) आनन्दकी कामना करती है और (देवस्य सहसा) **देव**[2]के सामर्थ्यसे (ववृधानः) बढ़ती हुई (वनते) उसे पूरी तरह जीत लेती है।

11

त्वमङ्ग जरितारं यविष्ठ विश्वान्यग्ने दुरितानि पर्षि।
स्तेना अदृश्रन् रिपवो जनासोऽज्ञातकेता वृजिना अभूवन्॥

(अङ्ग अग्ने) हे **संकल्पशक्ति**! (यविष्ठ) हे अत्यन्त तरुण तेज! (त्वम्) तू (जरितारं) अपने स्तोताको (विश्वानि दुरिता) शोकसंताप और अशुभकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंसे (अति पर्षि) पार ले जाता है। क्योंकि (जनासः अदृश्रन्) तूने उन प्राणियोंको देख लिया है (रिपवः) जो हमें चोट पहुँचाना चाहते हैं और (स्तेनाः) अपने हृदयमें चोर हैं तथा (अज्ञात-केताः) जिनकी अनुभूतियाँ ज्ञानसे रिक्त हैं, अतएव जो (वृजिनाः अभूवन्) कुटिलतामें गिरे हुए हैं।

12

इमे यामासस्त्वद्रिगभूवन् वसवे वा तदिदागो अवाचि।
नाहायमग्निरभिशस्तये नो न रीषते वावृधानः परा दात्॥

(इमे यामासः) हमारी यात्राओंकी इन सब गतियोंने (त्वद्रिक् अभूवन्) अपने मुँह तेरी तरफ मोड़ लिये हैं, (तत् इत् आगः) और जो बुराई हमारे अन्दर है वह (वसवे वा अवाचि) हमारी सत्तामें **निवास करनेवाले**के प्रति घोषित हो चुकी है। (अयम् अग्निः) यह **संकल्पशक्ति** (ववृधानः) बढ़ती हुई (नः) हमें (अभिशस्तये रीषते) हमारी आत्माभिव्यक्तिमें बाधा डालनेवालेके प्रति, उसके हाथोंमें (न अह परा दात्) सौंपकर कभी धोखा नहीं दे सकती, (न [परा दात्]) न ही वह हमें हमारे शत्रुओंके हाथोंमें सुपुर्द करेगी।

---

1. सत्यलोकको **विशालता** या **विशाल सत्य** भी कहा गया है।
2. देव, परम **देवता**, जिसके सब देव विभिन्न **नाम** और **शक्तियाँ** हैं।

चौथा सूक्त

भागवत संकल्प—पुरोहित, योद्धा और हमारी यात्राका नेता

[ऋषि **भागवत शक्ति**की स्तुति करता है कि वह आत्माकी सत्ताके आरोहणशील स्तरोंपर उसके सभी क्रमिक जन्मोंको जानती है और उसकी ऊर्ध्वगामी तथा अग्रगामी यज्ञ-यात्राओंके पुरोहितके रूपमें उसे पवित्रता, शक्ति, ज्ञान, वृद्धिशील ऐश्वर्य, नयी रचनाकी क्षमता और आध्यात्मिक सर्जनशीलता प्रदान करती है जिससे मर्त्य अमरतामें बढ़ता है।

यह शक्ति शत्रुओं, आक्रान्ताओं, बुराईकी शक्तियोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देती है और वे जिस ऐश्वर्यको रोके रखनेका प्रयत्न करते हैं उस सबसे आत्माको समृद्ध कर देती है। यह मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक सत्ताकी त्रिविध शान्ति एवं त्रिविध परिपूर्णता प्रदान करती है, अतिमानसिक **सत्य**के प्रकाशमें प्रयास करती है और हमारे अन्दर शाश्वत आनन्दके लोकका निर्माण करती हुई यह हमें पार ले जाती है।]

1

त्वामग्ने वसुपतिं वसूनामभि प्र मन्दे अध्वरेषु राजन्।
त्वया वाजं वाजयन्तो जयेमाऽभि ष्याम पृत्सुतीर्मर्त्यानाम्॥

(अग्ने) हे **अग्निशक्ति**! (वसूनाम् वसुपतिम्) वसुओंके स्वामी अर्थात् सारतत्त्वके प्रभुओंके अधिष्ठाता (त्वाम् अभि) तेरे प्रति (अध्वरेषु प्र मन्दे) यज्ञोंकी प्रगतिमें मैं अपने आनन्दको प्रेरित करता हूँ। (राजन्) हे **राजन्**! (त्वया) तुझसे (वाजयन्तः) तेरी परिपूर्णताको बढ़ाते हुए हम (वाजं जयेम) अपनी प्रचुरता प्राप्त करें। और (मर्त्यानाम् पृत्सुतीः अभि स्याम) मर्त्य शक्तियोंके सशस्त्र आक्रमणोंको परास्त कर दें।

2

हव्यवाळग्निरजरः पिता नो विभुर्विभावा सुदृशीको अस्मे।
सुगार्हपत्याः समिषो दिदीह्यस्मद्र्यक् सं मिमीहि श्रवांसि॥

(अजरः अग्निः) अजर **अग्निबल** जो (हव्यवाट्) हविको वहन करता है (नः पिता) हमारा **पिता** है। (अस्मे) हममें (विभुः) वह अपनी सत्तामें व्यापक है, (विभावा) प्रकाशमें विस्तृत और (सुदृशीकः) दृष्टिमें पूर्ण है। (इषः सं दिदीहि) प्रेरणाकी अपनी शक्तियोंको पूरी तरह प्रज्वलित करो जो (सुगार्हपत्याः) हमारे **गृहपति**[1]से पूर्णतया संबंधित हैं। (श्रवांसि) अपने ज्ञानकी अंतःप्रेरणाओंको (सं मिमीहि) पूरी तरह निर्मित करो और (अस्मद्र्यक्) उन्हें हमारी ओर मोड़ दो।

3

विशां कविं विश्पतिं मानुषीणां शुचिं पावकं घृतपृष्ठमग्निम्।
नि होतारं विश्वविदं दधिध्वे स देवेषु वनते वार्याणि॥

(अग्निम्) **संकल्पबल**को जो (कविं) **द्रष्टा** है, (मानुषीणां विशां विश्पतिं) मानव प्रजाओंका **पति** है, (शुचिम् पावकम्) पवित्र और पवित्र-कर्ता है, (घृतपृष्ठम्) अपने उपरितलपर मनकी निर्मलताओंसे युक्त है, (विश्वविदम्) सर्वज्ञ है,—ऐसे दिव्य संकल्पको (होतारम् नि दधिध्वे) अपनी हवियोंके वाहक पुरोहितके रूपमें अपने अन्दर धारण करो, (स देवेषु वार्याणि वनते) क्योंकि वही देवोंमें तुम्हारे अभीष्ट वरोंको तुम्हारे लिए जीत लेता है।

4

जुषस्वाग्न इळया सजोषाः यतमानो रश्मिभिः सूर्यस्य।
जुषस्व नः समिधं जातवेद आ च देवान् हविरद्याय वक्षि॥

(इळया सजोषाः) **सत्य-दर्शन**की देवी[2]के साथ एकहृदयवाला होकर (सूर्यस्य रश्मिभिः यतमानः) **प्रकाशस्वरूप सूर्य**की किरणों द्वारा प्रयास करता हुआ तू (अग्ने नः जुषस्व) प्रेमसे हमारा दृढ़संगी बन जा, हे **शक्ति-देव!** (जातवेदः समिधं जुषस्व) सभी उत्पन्न पदार्थों व **जन्मों**के **ज्ञाता!** हमारे अन्दर जो तेरी समिधा है उसे हृदयसे स्वीकार कर और (देवान् आ वक्षि) देवोंको हमारे पास ले आ ताकि वे (हविः-अद्याय) हमारी भेंटोंका आस्वादन कर सकें।

---

1. अग्नि यहाँ हमारे अन्दर रहनेवाली सर्वोच्च **संकल्प-शक्ति** है। हमारी सत्ताका **पिता** और **अधिपति** है, उसे हमारे अन्दर दिव्य संकल्प और ज्ञानके साथ पूरी तरह कार्य करना होता है।
2. **इळा**।

5

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान् ।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (जुष्टः अतिथिः) प्रिय व स्वीकृत **अतिथि,** (नः दुरोणः दमूनः) हमारे नव-द्वारोंवाले घरमें स्थायी निवास करनेवाला तू (विद्वान्) अपने संपूर्ण ज्ञानके साथ (नः इमं यज्ञम्, उप याहि) हमारे इस यज्ञमें आ। (विश्वाः अभियुजः विहत्य) उन सब शक्तियोंका वध कर जो हमपर आक्रमण करनेमें प्रवृत्त होती हैं। (शत्रूयतां) जो अपने आपको हमारे शत्रु[1] बनाते हैं उनके (भोजनानि आ भर) भोगोंको हमारे पास ले आ।

6

वधेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः कृण्वानस्तन्वे स्वायै ।
पिपर्षि यत् सहसस्पुत्र देवान्त्सो अग्ने पाहि नृतम वाजे अस्मान् ।।

(दस्युं) **विभाजक**को (वधेन) अपने प्रहारके द्वारा (प्र चातयस्व हि) हमसे दूर खदेड़ दे। (स्वायै तन्वे) अपने शरीरके लिए (वयः कृण्वानः) एक खुला स्थान बना। (यत्) जब तुम (सहसः पुत्र) हे **शक्तिके पुत्र** ! (देवान् पिपर्षि) देवोंको उनके लक्ष्य[2] तक ले जाते हो, तब (अग्ने) हे **शक्ति-रूप अग्ने** (सः) ऐसे तुम (अस्मान् वाजे पाहि) हमारे परिपूर्ण ऐश्वर्यमें हमारी रक्षा करो, (नृतम) हे अत्यन्त शक्तिशाली **देवता** !

7

वयं ते अग्न उक्थैर्विधेम वयं हव्यैः पावक भद्रशोचे ।
अस्मे रयिं विश्ववारं समिन्वास्मे विश्वानि द्रविणानि धेहि ।।

(वयम्) हम (उक्थैः) अपनी स्तुतियोंसे और (वयम्) हम (हव्यैः) अपनी भेंटोंसे (ते) तेरे लिये अपने यज्ञको (विधेम) ठीक व्यवस्थित कर सकें, (पावक अग्ने) हे पवित्र करनेवाले **संकल्पदेव** ! (भद्रशोचे) हे पवित्रताकी आनन्दमयी ज्वाला। (अस्मे) हमारे अंदर (विश्ववारं रयिं समिन्व) समस्त अभीष्ट वरोंका परमानन्द व्याप्त कर दो। (अस्मे) हमारे अंदर

---

1. सभी विरोधी शक्तियां जो मनुष्यकी आत्मापर आक्रमण करती हैं कुछ ऐसा ऐश्वर्य रखती हैं जिसे वह चाहता है और अपने पूर्ण वैभव तक पहुँचनेके लिए उसे वह ऐश्वर्य उनसे छीनना होता है।
2. मनुष्यमें कार्य कर रहे **दिव्य संकल्प-बल**से हमारे अन्दरकी दिव्य शक्तियाँ **सत्य** और **आनन्द**में अपने लक्ष्य तक ले जाई जाती हैं।

(विश्वानि द्रविणानि धेहि) हमारी समृद्धियोंका संपूर्ण सारतत्त्व स्थिर कर दो।

8

अस्माकमग्ने अध्वरं जुषस्व सहसः सूनो त्रिषधस्थ हव्यम्।
वयं देवेषु सुकृतः स्याम शर्मणा नस्त्रिवरूथेन पाहि॥

(त्रिषधस्थ अग्ने) हमारे वासके तीन लोकोंमें[1] निवास करनेवाले **भगवत्संकल्प**! (सहसः सूनो) हे **शक्ति**के **पुत्र**! (अस्माकम् अध्वरं हव्यं) हमारे यज्ञ और हमारी हविका (जुषस्व) हृदयसे और दृढ़तापूर्वक सेवन कर। (वयं देवेषु सुकृतः स्याम) हम देवोंके निकट अपने कार्योंमें पूर्ण हो जायँ और तू (त्रिवरूथेन शर्मणा) तीन कवचोंसे वेष्टित अपनी शान्तिसे (नः पाहि) हमारी रक्षा कर।

9

विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धुं न नावा दुरितानि पर्षि।
अग्ने अत्रिवन्नमसा गृणानोऽस्माकं बोध्यविता तनूनाम्॥

(जातवेदः) हे **सब उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता**! (दुर्गहा) प्रत्येक कठिन चौराहे परसे और (विश्वानि दुरितानि) अशुभमें होनेवाले सब प्रकारके पतनसे (नः) हमें (सिंधुं नावा न) समुद्रके पार पहुँचानेवाले जहाजकी तरह (पर्षि) पार लगा। (अग्ने) हे **संकल्पदेव**! (अत्रिवत् अस्माकं नमसा गृणानः) **अत्रि**की तरह हमारे प्रणामोंसे प्रकट किया हुआ तू (बोधि) हमारे अंदर जागृत हो और (तनूनाम् अविता) हमारी शरीर[3]-रचनाओंका पोषक बन।

10

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्॥

---

1. मानसिक, प्राणिक, शारीरिक इन निम्नतर "जन्मों"में। हमारे **जन्मों**के ज्ञाता **दिव्य संकल्प**को इनका संपूर्ण ज्ञान है और इनके द्वारा उसे (संकल्पशक्तिको) हमारे आरोहण करनेवाले यज्ञको अतिमानस तक ले जाना होता है।
2. मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्तामें शान्ति, आनन्द और पूर्ण तृप्ति।
3. न केवल भौतिक शरीर, अपितु प्राणमय, मनोमय कोष, आत्माकी सभी देहबद्ध अवस्थाएँ या रूप।

(यः) जो मैं (कीरिणा हृदा) **दिव्यकर्म**को संपन्न करनेवाले हृदयसे (त्वा मन्यमानः) तेरा ध्यान करता हूँ और (मर्त्यः) मरणधर्मा मैं (अमर्त्यं) तुझ **अमर**को (जोहवीमि) पुकारता हूँ, (अस्मासु) उस मुझमें, हम सभीमें (अग्ने) हे **संकल्प देव**! (जातवेदः) सब उत्पन्न पदार्थों व **जन्मों**के **ज्ञाता**! (यशः धेहि) विजयश्री प्रतिष्ठित कर ताकि हम (प्रजाभिः) अपने कार्योंकी सन्ततिसे, उनके फलसे (अमृतत्वम् अश्याम्) अमरता प्राप्त कर सकें।

11

यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥

(जातवेदः अग्ने) हे **सब उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता** अग्निदेव! (यस्मै सुकृते) अपने कार्योंमें पूर्णतासे युक्त जिस मनुष्यके लिये (त्वम्) तू (स्योनं लोकं कृणवः) एक दूसरे ही आनन्दपूर्ण लोक[1] का निर्माण करता है (सः) वह (रयिं नशते) ऐसे परम आनन्द को पहुँच जाता है जिसमें (अश्विनं) उसके जीवनरूपी अश्वकी तीव्र गतियाँ, (गोमन्तं) उसके प्रकाश-यूथ, (पुत्रिणं) उसके आत्माकी सन्ततियां और (वीरवन्तं) उसकी शक्ति[2]की सेनाएँ (स्वस्ति) सानन्द विद्यमान होती हैं।

---

1. **दिव्य सङ्कल्पशक्ति**को हमारे निरन्तर विस्तार और आत्मपरिपूर्णताके परिणामस्वरूप हमारे अंदर अतिमानसिक लोकका निर्माण या सर्जन करना होता है।

2. **अश्व, गौ, पुत्र** और **वीर**के सतत वैदिक प्रतीक। पुत्र और संतानें नये आत्मिक रूप हैं जो हमारे अन्दर दिव्य **व्यक्तित्व**, नये जन्मको बनाते हैं। वीर हैं मानसिक और नैतिक शक्तियाँ जो अज्ञान, द्वैध, बुराई और असत्यके प्रहारोंका प्रतिरोध करती हैं। प्राणिक शक्तियाँ प्रेरक शक्तियाँ हैं जो हमारी यात्रापर हमें वहन किये चलती हैं और इसी लिए **अश्व** उनका प्रतीक है। किरणोंके यूथ वे दीप्तियाँ हैं जो अतिमानसके **सत्य**से हमारे पास आती हैं। वे **ज्योतिर्मय** सूर्यके किरणयूथ हैं।

पाँचवाँ सूक्त

देवोंके आह्वानका सूक्त

[यह सूक्त दिव्य **ज्वाला**के आह्वानों द्वारा प्रमुख देवोंको यज्ञमें आमन्त्रण देता है। प्रत्येकका वर्णन या आह्वान उसकी अपनी उस स्थितिमें एवं उस कार्य-व्यापारके लिए किया जाता है जिसमें उसकी आवश्यकता होती है और जिसके द्वारा वह आत्माकी पूर्णता एवं उसके दिव्य विकास और प्राप्तिमें सहायक होता है।]

1

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे॥

(जातवेदसे अग्नये) समस्त उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञाता **संकल्पबल**के प्रति, (सुसमिद्धाय शोचिषे) सुप्रदीप्त और शुद्ध एवं प्रकाशमान दिव्य **ज्वाला**के प्रति (तीव्रं घृतं) मनकी तीव्र निर्मलताकी (जुहोतन) आहुति दो।

2

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः।
कविर्हि मधुहस्त्यः॥

(नराशंसः) यह वही है जो देवताओंकी शक्तियोंको प्रकट करता है, (अदाभ्यः) वही अदमनीय शक्ति है जो (इमम् यज्ञम्) हमारे इस यज्ञको उसके मार्गपर (सुसूदति) वेग प्रदान करती है। (हि) निश्चय ही (कविः) यह एक द्रष्टा है जो (मधुहस्त्यः) मधु-रसको अपने हाथोंमें लेकर आता है।

3

ईळितो अग्न आ वहेन्द्रं चित्रमिह प्रियम्।
सुखं रथेभिरूतये॥

(अग्ने) हे **शक्तिस्वरूप देव** ! (ईळितः) हमने अपनी स्तुतिसे तुझे खोज लिया है। (इन्द्रम् इह आ वह) तू **भागवत मन**[1]को यहाँ ला जो

---

1. **इन्द्र**।

(चित्रं) भास्वर और (प्रियं) प्रिय है। उसे (ऊतये) हमारी वृद्धिके लिए (सुखैः रथेभिः) सुखपूर्ण रथों[1]के द्वारा (इह आ वह) यहाँ ला।

4

ऊर्णम्रदा वि प्रथस्वाऽभ्यर्का अनूषत।
भवा नः शुभ्र सातये॥

(ऊर्णम्रदा) अपने-आपको कोमल पर घने रूपमें आच्छादित करते हुए (वि प्रथस्व) तू अपनेको व्यापक रूपसे विस्तृत कर। (अर्काः) प्रकाशकी हमारी वाणियाँ (अभि अनूषत) तेरे प्रति उच्चरित होकर हमारे अंतःकरणको हल्का कर देती हैं। (नः) हममें (शुभ्र) धवल और उज्ज्वल (भव) बन, जिससे (सातये) हम विजय प्राप्त कर सकें[2]।

5

देवीर्द्वारो वि श्रयध्वं सुप्रायणा न ऊतये।
प्रप्र यज्ञं पृणीतन॥

(देवीः द्वारः) हे दिव्य **द्वारो**[3]! (वि श्रयध्वं) झूलते हुए खुल जाओ। (नः ऊतये) हमारे विस्तारके लिए (नः सुप्रायणाः) हमें सरल रास्ता दे दो, (प्र-प्र) आगे ही आगे हमें ले चलो और (यज्ञं पृणीतन) हमारे यज्ञको परिपूरित कर दो।

6

सुप्रतीके वयोवृधा यह्वी ऋतस्य मातरा।
दोषामुषासमीमहे॥

---

1. **भागवत मन**की बहुविध गतिका उसकी परिपूर्ण अवस्थामें संकेत करनेके लिए बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

2. यह मन्त्र **इन्द्र**को सम्बोधित किया गया है जो दिव्य **मन**की **शक्ति** है और जिसके द्वारा अतिमानसिक **सत्य**का प्रकाश आता है। इस प्रकाश-दाताके आगे बढ़ते हुए रथोंके द्वारा हम अपने दिव्य ऐश्वर्यको विजित करते हैं।

3. मनुष्यका यज्ञ है भगवानकी प्राप्तिके लिए उसका प्रयास और अभीप्सा। और इसका निरूपण यूँ किया गया है कि यह उन बंद पड़े स्वर्गीय प्रदेशोंके खुलते हुए द्वारोंमेंसे यात्रा करता है जो विस्तारशील आत्मा द्वारा एक के बाद एक जीते जाते हैं।

(दोषाम् उषासम्) **अन्धकार** और **उषा**[1]की (ईमहे) हम अभीप्सा करते हैं, जो (ऋतस्य यह्वी मातरौ) **सत्य**की दो शक्तिशाली **माताएँ** हैं, जो (सुप्रतीके) स्पष्ट रूपसे हमारे अभिमुख हैं और (वयोवृधा) हमारी विशाल सत्ताको बढ़ानेवाली हैं।

7

वातस्य पत्मन्नीळिता दैव्या होतारा मनुषः।
इमं नो यज्ञमा गतम्॥

और (मनुषः दैव्या होतारा) हे हमारी मानवसत्ताके **पुरोहितो**! (ईळिता) हे पूजित**युगल**! (वातस्य पत्मन्) **जीवन**-श्वासके मार्गसे (नः इमं यज्ञम् आ गतम्) हमारे इस यज्ञमें पधारो।

8

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥

(इळा) ज्ञानके साक्षात् दर्शनकी देवी, (सरस्वती) प्रवाहशील अन्तःप्रेरणाकी देवी, (मही) विशालताकी देवी, (तिस्रः देवीः) ये तीनों देवियाँ,[2] (मयोभुवः) जो **आनन्द**को जन्म देती हैं और (अस्रिधः) किसी प्रकारकी भूल-भ्रान्ति[3] नहीं करतीं, (बर्हिः सीदन्तु) यज्ञकी वेदीपर बिछे हुए अपने आसनोंको ग्रहण करें।

9

शिवस्त्वष्टरिहा गहि विभुः पोष उत त्मना।
यज्ञेयज्ञे न उदव॥

(त्वष्टः) हे पदार्थोंके **निर्माता**[4]! (शिवः) कल्याणकारी और (विभुः) अपनी सत्तासे सबमें व्याप्त तू (पोषः) हम सबका पोषण करता हुआ

---

1. **रात** और **दिन**। ये हमारे अंदर दिव्य और मानवीय चेतनाके बारी-बारीसे आनेके प्रतीक हैं। हमारी साधारण चेतनाकी **रात्रि** उस सबको धारण करती और तैयार करती है जिसे **उषा** हमारी सचेतन सत्ताके अंदर लाती है।
2. **इळा, सरस्वती, मही**। इनके नामोंका अनुवाद इनके कार्योंका स्पष्ट विचार देनेके लिए किया गया है।
3. या, जो अनाधृष्य हैं, अर्थात् हमारे दुख-दर्दके मूल कारण अज्ञान और अंधकारके द्वारा उनपर आक्रमण नहीं किया जा सकता।
4. **त्वष्टा**।

(त्मना) अपनी सत्ता[1]के द्वारा (यज्ञे-यज्ञे) यज्ञके बाद यज्ञमें (नः उत् अव) हमारे आरोहरणको पुष्ट कर (उत) और (इह आ गहि) यहाँ हमारे पास आ।

10

यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि।
तत्र हव्यानि गामय॥

(वनस्पते) हे वनस्पते! हे **आनन्द**[2]के **स्वामी**! (यत्र) जहाँ तुम (देवानां गुह्या नामानि) देवोंके गुह्य **नामों**को (वेत्थ) जानते हो, (तत्र) वहाँ, उस लक्ष्य[3]तक (हव्यानि गामय) हमारी भेंटोंको ले जाओ।

11

स्वाहाग्नये वरुणाय स्वाहेन्द्राय मरुद्भ्यः।
स्वाहा देवेभ्यो हविः॥

(अग्नये स्वाहा) **संकल्प-शक्ति**के प्रति समर्पण हो, (वरुणाय [स्वाहा]) **विशालता**के **अधिपति**[4]के लिए स्वाहा, (इन्द्राय स्वाहा) **भागवत-मन**के लिए स्वाहा, (मरुद्भ्यः) **विचार-शक्ति**[5]के लिए स्वाहा, (देवेभ्यः हविः स्वाहा) देवोंके प्रति हमारी आहुति[6]का अन्न स्वाहा [समर्पित] हो।

---

1. वस्तुओंके **निर्माता**के रूपमें **भगवान्** उन सबमें व्याप्त है जिन्हें वह बनाता है, व्याप्त है अपनी अक्षर स्वयंभू सत्ताके द्वारा और साथ ही वस्तुओंमें विद्यमान **अपने** उस क्षर भूतभावके द्वारा जिसकी सहायतासे आत्मा विकसित व संवर्धित होता तथा नये आकारोंको धारण करता प्रतीत होता है। इनमेंसे पहले रूपके द्वारा **वह** अंतर्वासी **प्रभु** और **निर्माता** है। अपने पिछले रूपसे **वह प्रभु** अपने ही कार्योंका उपादान है।
2. **सोम**।
3. **आनन्द**, दिव्य **परमानन्द**की अवस्था जिसमें हमारी सत्ताकी संपूर्ण शक्तियाँ अपने पूर्ण देवत्वमें प्रकट होती हैं, वह आनन्द यहाँ गुह्य है और हमसे छिपा हुआ है।
4. **वरुण**।
5. **मरुत्**, अर्थात् हमारी सत्ताकी नाड़ीगत या प्राणिक शक्तियाँ जो विचारमें सचेतन अभिव्यक्तिको प्राप्त करती हैं। वे **देव-मन इन्द्र**के प्रति स्तुतियोंके गायक हैं।
6. अर्थात् हमारे अन्दरका वह सब कुछ जिसे हम **दिव्य जीवन**के प्रति समर्पित करते हैं, दिव्य **प्रकृति**के आत्मप्रकाश तथा आत्मबलमें परिणत हो जाय।

छठा सूक्त

यात्राकी द्रुतगामी ज्वाला-शक्तियाँ

[दिव्य**संकल्परूप अग्नि**की ज्वालाएँ, जो हमारी सभी संवर्धनशील और प्रगतिशील जीवनशक्तियोंका अपना घर तथा मिलनस्थान हैं, ऐसे चित्रितकी गई हैं कि वे परम कल्याणकी तरफ हमारी मानवीय यात्राके मार्गपर द्रुतगति से बढ़ रही हैं। **भागवत संकल्प** हमारे अन्दर अन्तःप्रेरणाकी दिव्यशक्ति, प्रदीप्त और अक्षय सामर्थ्य एवं अग्निज्वालाका निर्माण करता है। उस ज्वालाको प्रचुरताके एक ऐसे अश्वके रूपमें वर्णित किया गया है जो हमारे पास उस कल्याणको लाता है और हमें उस लक्ष्य तक ले जाता है। उस अग्निकी शिखाएँ मार्गपर सरपट दौड़नेवाले घोड़े हैं जो यज्ञके द्वारा संवर्धित होते हैं, निर्बाध वेगसे आगे बढ़ते हैं और हमेशा अधिकाधिक वेग से दौड़ते हैं, वे गुप्त ज्ञानके बाड़ेमें बन्द दीप्तियोंको लाते हैं। जब दिव्य **अग्निशक्ति** यज्ञकी भेंटोंसे भर जाती और तृप्त हो जाती है तब उन अश्वोंका संपूर्ण बल और वेग एकरस हो जाते हैं।]

1

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(तम् अग्नि मन्ये) मैं उस **अग्नि-शक्ति**का ध्यान करता हूँ (यः) जो (वसुः) सारतत्त्वमें निवास करता है, (यं धेनवः अस्तं यन्ति) जिसकी तरफ हमारा पोषण करनेवाले गोसमूह ऐसे जाते हैं जैसे अपने घरकी तरफ। (आशवः नित्यासः अर्वन्तः) हमारे युद्धके द्रुतगामी सनातन अश्व[1]भी (अस्तं [यन्ति]) उसे अपना घर समझकर उसकी तरफ जाते हैं, (वाजिनः अस्तं) हमारी शाश्वत प्रचुरताकी शक्तियाँ उसे घर समझती हुई उधर जाती हैं।

---

1. वेदमें **अश्व शक्ति**का प्रतीक है, विशेषतया प्राणशक्तिका। यह नाना प्रकारका है, 'अर्वत्' था युद्धमें युद्धकारी अश्व और 'वाजिन्' अर्थात् यात्राका अश्व जो हमें आध्यात्मिक ऐश्वर्यकी प्रचुरतामें पहुँचा देता है।

(स्तोतृभ्यः इषम् आभर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये तू अन्तःप्रेरणा की अपनी शक्ति[1] ले आ।**

2

सो अग्नियो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(सः अग्निः यः वसुः) अग्नि वह **शक्ति** है जो वस्तुओंके सारतत्त्वमें निवास करती है। (गृणे) मैं उसका वर्णन करता हूँ (यं) जिसमें (धेनवः सम् आयन्ति) हमारा पालन करनेवाले हमारे गोयूथ एक साथ आकर एकत्र होते हैं[2], (रघुद्रुवः अर्वन्तः सम् आयन्ति) जिसमें हमारे द्रुतगामी युद्ध-अश्व एक साथ आ मिलते हैं, (यं) जिसमें (सुजातासः) हमारे अन्दर अपने पूर्ण जन्मको प्राप्त किये हुए (सूरयः) ज्ञानप्रदीप्त द्रष्टा (सम् आयन्ति) एकत्र होते हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

3

अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः।
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(विश्वचर्षणिः) विराट् श्रमकर्ता (अग्निः) **संकल्पाग्नि** (हि) निश्चयसे (विशे वाजिनं ददाति) मानव प्राणीको परिपूर्णताका अश्व प्रदान करता है। (अग्निः) **संकल्पाग्नि** [वाजिनं ददाति] उस अश्वको देता है जो (राये) परम आनन्दके लिए (स्वाभुवं) हमारे अन्दर पूर्ण अस्तित्वमें आता है, अर्थात् हमारे अन्दर अपना पूर्ण अस्तित्व प्राप्त कर लेता है। (सः प्रीतः) वह तृप्त होकर (वार्यं याति) मनोवांछित कल्याणकी ओर यात्रा करता है।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

---

1. वह शक्ति जो हमें हमारी सत्ताकी रात्रिमेंसे दिव्य **प्रकाश** तक यात्रा करनेके योग्य बनाती है।
2. बल और ज्ञानकी हमारी सब उन्नतिशील शक्तियाँ दिव्य **ज्ञान-शक्ति**के आविर्भावकी ओर गति करती हैं और उसमें जाकर मिल जाती और समस्वर हो जाती हैं।

4

आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(अग्ने) हे **ज्वाला**! (देव) हे **देव**! हम (ते द्युमन्तम् अजरं) तेरी उस प्रकाशपूर्ण, जीर्ण न होनेवाली अग्निको (आ इधीमहि) सब ओरसे प्रदीप्त करते हैं, (यत्) जब (ते स्या पनीयसी समित्) तेरे श्रमकी वह अधिक प्रभावकारी शक्ति (द्यवि दीदयति) हमारे द्युलोकमें देदीप्यमान होती है।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

5

आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य शोचिषस्पते।
सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ति**! (शुक्रस्य शोचिषः पते) शुद्ध भास्वर ज्वालाके अधिपति! (ते हविः) तेरी ही है वह भेंट जो (ऋचा) प्रकाशप्रद मंत्रसे (तुभ्यम् आहूयते) तेरे लिए डाली गई है। (हव्यवाट्) हे हविके वाहक! (तुभ्यम् आहूयते) वह तेरे लिए ही डाली गई है, (विश्पते) हे प्रजाके स्वामी! (दस्म) कार्योंको सम्पन्न करनेवाले! (सुश्चन्द्र) आनन्दमें पूर्ण!

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

6

प्रो त्ये अग्नयोऽग्निषु विश्वं पुष्यन्ति वार्यम्।
ते हिन्विरे त इन्विरे त इषण्यन्त्यानुषगिषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(त्ये अग्नयः) वे हैं तेरी ज्वालाएँ जो (अग्निषु) तेरी अन्य ज्वालाओंके बीच (विश्वं वार्यं) प्रत्येक वांछनीय भलाईका (प्रो पुष्यन्ति) पोषण करती हैं और उसे आगे बढ़ाती हैं। (ते हिन्विरे) वे दौड़ती हैं, (ते इन्विरे) वे सरपट आगे बढ़ती हैं, (ते आनुषक् इषण्यन्ति) वे लगातार अपनी प्रेरणाओंमें अग्रसर होती हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

7

तव त्ये अग्ने अर्चयो महि व्राधन्त वाजिनः।
ये पत्वभिः शफानां व्रजा भुरन्त गोनामिषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(अग्ने) हे अग्ने! हे **संकल्पशक्ते**! (तव ते अर्चयः) वे हैं तेरी आग्नेय किरणें और (वाजिनः) प्रचुरताके अश्व, (महि व्राधन्तः) वे विशालता में संवर्धन पाते हैं, (ये) वे ऐसे हैं जो (शफानां पत्वभिः) अपने खुरोंसे पददलन करते हुए (गोनां व्रजा भुरन्त) उन्हें देदीप्यमान गौओं[1]के बाड़ोंमें लाते हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

8

नवा नो अग्न आ भर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः।
ते स्याम य आनृचुस्त्वादूतासो दमेदम इषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ति**! (स्तोतृभ्यः) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए तू (नवा इषः आ भर) अन्तःप्रेरणाकी नई शक्तियाँ ले आ ताकि वे (सुक्षितीः) अपना निवास-स्थान[2] ठीक-ठीक पा लें। (नः ते स्याम) हम वे हो जायें (ये) जो (त्वादूतासः) तुझे अपना दूत बनानेके कारण (दमे-दमे) घर-घरमें (आनृचुः) प्रकाशका स्तवन करते हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तः-प्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

9

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर॥

---

1. गौएं—दिव्य सत्यकी दीप्तियाँ जिन्हें इन्द्रिय-क्रियाके अधिपतियोंने अवचेतनकी गुफाओंमें बाड़ेकी न्याईं बंदकर रखा है।
2. अर्थात् वे हमें सत्यके लोकमें हमारे घरकी ओर, अतिचेतनके स्तर अथवा अग्निदेवके अपने घरकी ओर ले जाती हैं। ऊपर अग्रसर होती हुई ये सब प्रेरणाएँ अपना विश्राम और निवास-स्थान पा लेती हैं। एक स्तरसे दूसरे स्तर तक आरोहणके द्वारा ही वहाँ पहुँचा जाता है। वे स्तर दिव्य प्रकाशप्रद शब्दकी शक्तिके द्वारा एकके बाद एक खुलते जाते हैं।

(सुश्चन्द्र) हे आनन्दसे परिपूर्ण ! (सर्पिषः उभे दर्वी) तीव्र गतिशील समृद्धिके दोनों[1] कड़छोंको तू (आसनि) अपने मुँह तक (श्रीणीषे) पहुँचाता है। (उत उ नः उक्थेषु उत् पुपूर्याः) हमारे वचनोंमें तू अपने आपको पूरी तरह भर दे, (शवसस्पते) हे देदीप्यमान शक्तिके अधिपति !

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तः-प्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

10

एवाँ अग्निमजुर्यमु गीर्भिर्यज्ञेभिरानुषक् ।
दधदस्मे सुवीर्यमुत त्यदाश्वश्व्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर ।।

(एव) इस प्रकार (गीर्भिः) हमारे स्तुतिवचनों और (यज्ञेभिः) यज्ञोंसे वे (अग्नि) **शक्तिरूप अग्नि**को (आनुषक्) निरन्तर (अजुर्यमुः) अग्रसर करते हैं और वशमें लाते हैं। वह (अस्मे) हमारे अन्दर (सुवीर्यं दधत्) पूर्णवीर्य[2] स्थापित करे और (त्यत् आशु अश्व्यं) उस अश्वके द्रुतगमनकी शक्ति[3] (अस्मे दधत्) हमारे अन्दर प्रतिष्ठित करे।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) **जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए तू अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।**

---

1. संभवतः, दिव्य और मानवीय आनंद।
2. युद्धशील आत्माकी वीरता-युक्त शक्ति।
3. **आशु अश्व्यम्**—वेगयुक्त अश्वशक्ति। यहाँ इन दो शब्दोंपर श्लेष है जो इन्हें "वेगशील अश्वसम शीघ्रगामिता" का अर्थ देता है।

सातवाँ सूक्त

भागवत संकल्प—अभिकांक्षी, आनन्दोपभोक्ता, पशुसत्तासे आनन्द और ज्ञानकी ओर प्रगतिशील

[इस सूक्तमें **अग्निदेव**की स्तुति ऐसी **दिव्यशक्ति**के रूपमें की गई है जो मानव सत्तामें आनन्द और सत्यकी रश्मि लानेके साथ-साथ हमारे अन्धकारकी रात्रिमें प्रकाश लाती है। वह अग्निदेव मनुष्योंको उनके प्रयासमें अपने स्तरोंतक ले जाता है। वह पार्थिव उपभोगके विषयोंका आस्वादन करता है और फिर उन्हें विदारित कर डालता है, किन्तु उसकी सब अनेकानेक कामनाएँ मानवकी विश्वमयताका निर्माण करनेके लिये हैं, मानव सत्ताके दिव्यधाममें सर्वांलिंगी उपभोगके लिये हैं। वह एक ऐसी पशुसत्ता है जो **प्रकृति**की विकासशील प्रगतिके द्वारा आनन्दोपभोक्ताके रूपमें उपलब्धि और आनन्दकी ओर गति कर रही है, जैसे कोई कुल्हाड़ा लिये वनमेंसे गुजर रहा हो। मनुष्यको उसकी यह प्रचण्ड, भावुकतापूर्ण पशुसत्ता अग्निके द्वारा प्रदान की गई है जिसे पवित्र करके शान्ति और आनन्दमें परिणत करना है। इसमें यह दिव्य प्रकाश और दिव्य ज्ञान व आत्माकी जाग्रत् अवस्थाको स्थापित करता है।]

1

सखायः सं वः सम्यञ्चमिषं स्तोमं चाग्नये।
वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते॥

(सखायः) हे मित्रो! (वः) तुम्हारे अन्दर (क्षितीनां वर्षिष्ठाय) हमारे निवास-धामोंपर[1] अपने समस्त प्रचुर ऐश्वर्यको बरसानेवाले, (ऊर्जः नप्त्रे) **ओज**के पुत्र और (सहस्वते) **शक्ति**के स्वामी (अग्नये) शक्तिस्वरूप अग्निदेवके लिये (सम्यञ्चम् इषम्) अन्तर्वेगका पूरा बल एवं (सं स्तोमं) पूर्ण स्तुतिगान हो।

2

कुत्रा चिद् यस्य समृतौ रण्वा नरो नृषदने।
अर्हन्तश्चिद् यमिन्धते संजनयन्ति जन्तवः॥

---

1. या "लोकमें निवास करनेवालों पर"।

(यस्य) जिस अग्निदेवके साथ (नरः) मनुष्यकी आत्मा (कुत्रचित्) जहाँ कहीं भी (समृतौ) पूर्ण मिलाप कर लेती है वहाँ वह (नृषदने रण्वा) अपने निवास-स्थानमें आनन्दोल्लाससे भरपूर हो जाती है, (अर्हन्तः चित्) यहाँ तक कि जो अग्निशक्तिके विषयमें विशेषज्ञ हैं वे भी (यम् इन्धते) उसकी ज्वालाको प्रदीप्त करना जारी रखते हैं और (जन्तवः) सब उत्पन्न प्राणी (संजनयन्ति) उसे पूर्ण जन्म देनेके लिये कार्य करते हैं।

3

सं यदिषो वनामहे सं हव्या मानुषाणाम्।
उत द्युम्नस्य शवस ऋतस्य रश्मिमा ददे॥

(यत्) जब हम (इषः) प्रेरणाकी शक्तियोंको और (मानुषाणाम् हव्या) उन सब चीजोंको जिन्हें मनुष्य यज्ञके रूपमें भेंट करते हैं (संवनामहे) पूर्णतया धारण करते हैं और उपभोग करते हैं (उत) तब मैं (ऋतस्य द्युम्नस्य शवसः रश्मिम्) सत्यकी किरणको उसके प्रकाश और देदीप्यमान ओजके साथ[1] (आ ददे) ग्रहण करता हूँ।

4

स स्मा कृणोति केतुमा नक्तं चिद् दूर आ सते।
पावको यद् वनस्पतीन् प्र स्मा मिनात्यजरः॥

(सः) वह अग्निदेव (नक्तं दूरे आ सते चित्) रात्रिमें बहुत दूर बैठे हुएके लिए भी (केतुम् आ कृणोति स्म) निश्चय ही अनुभूतिके प्रकाशका निर्माण करता है, (यद्) जब (अजरः पावकः) अपने-आप जीर्ण न होनेवाला, पवित्र करनेवाला वह देव (वनस्पतीन्[2] प्र मिनाति स्म) आनन्दकी वनस्थलीके अधिपतियोंसे पूरी तरह इसका निष्पीड़न करता है।

5

अव स्म यस्य वेषणे स्वेदं पथिषु जुह्वति।
अभीमह स्वजेन्यं भूमा पृष्ठेव रुरुहुः॥

[यत्] जब (यस्य वेषणे) उस अग्निके घेरेमें मनुष्य (पथिषु स्वेदम्

---

1. या "प्रकाशकी, ज्योतिर्मय शक्ति और सत्यकी रश्मिको"।
2. **वनस्पतीन्**—'वनस्पति' शब्दके यहाँ दो अर्थ हैं, 1. वृक्ष, वनके स्वामी, पृथिवीकी उपज, हमारी भौतिक सत्ता, 2. आनन्दके स्वामी। अमरत्व प्रदान करनेवाली मदिराका उत्पादक सोम एक विशेष प्रकारका वनस्पति है।

अव जुह्वति) अपने श्रमका पसीना[1] बहाते हैं मानो वे मार्गोंपर अपनी भेंट दे रहे हों, तब वे (भूम पृष्ठा-इव) उन आरोहियोंकी तरह जो विशाल स्तरों[2]पर पहुँचते हैं, (ईम् अभि अह रुरुहुः) उस स्तरकी ओर आरोहण करते हैं जहाँ वह (स्वजेन्यम्) अपने आत्मानन्दमें निमग्न[3] बैठा है।

6

यं मर्त्यः पुरुस्पृहं विदद् विश्वस्य धायसे।
प्र स्वादनं पितूनामस्ततातिं चिदायवे॥

(यं मर्त्यः विदद्) उसे मरणधर्मा मनुष्य ऐसा देव जाने कि वह (पुरुस्पृहं) मनुष्यकी कामनाओंके इस पुंजको अपने हाथमें लिए है ताकि वह (विश्वस्य धायसे) हमारे अन्दर इस सबको प्रतिष्ठित कर सके, क्योंकि (पितूनां स्वादनं प्र) वह समस्त भोजनोंके मधुर आस्वादनकी ओर आगे बढ़ता है और (आयवे) इस मानव प्राणीके लिए (अस्ततातिं चित्) घर[4] भी बनाता है।

7

स हि ष्मा धन्वाक्षितं दाता न दात्या पशुः।
हिरिश्मश्रुः शुचिदन्नृभुरनिभृष्टतविषिः॥

(सः) अग्निदेव (धन्वा अक्षितम्) इस मरुस्थली[5]को जिसमें हम निवास

---

1. यहाँ 'स्वेद' शब्दके दोहरे भावपर श्लेष है। वह भाव है (i) पसीना तथा (ii) अन्नरूपी भेंटका प्रचुरतासे टपकाना।
2. ये हैं सत्ताके विस्तृत, निर्बाध, असीम स्तर जो सत्यपर आधारित हैं, ये हैं खुले स्तर जो एक जगह विषम कुटिलताके स्तरोंके विरोधी रूपमें वर्णित किए गये हैं। ये कुटिल स्तर मनुष्योंकी अंतर्दृष्टिको सीमित करके तथा उनकी यात्रामें रोड़े अटकाकर उन्हें अपने अंदर बंद किए रखते हैं।
3. अथवा "आत्म-विजयी"।
4. मनुष्यका घर, उसके अस्तित्वका उच्चतर दिव्य लोक, जिसे देव उसकी सत्तामें यज्ञके द्वारा बना रहे हैं। यह घर है **पूर्ण परमानन्द** जिसमें सम्पूर्ण मानवीय कामनाओं तथा आनन्दोपभोगोंका रूपान्तर होता है और जिसमें वे सब अपने आपको खो देते हैं। इसी लिए **अग्निशक्ति**, जो पवित्र करनेवाली है, भौतिक सत्ता और उपभोगके सब रूपोंको निगल जाती है, ताकि उन्हें उनके दिव्य प्रतिरूपमें परिणत कर सके।
5. भौतिक सत्ता जिसे उन धाराओं या नदियोंसे सींचा नहीं जाता जो अतिचेतनाके **आनन्द** और **सत्यसे** अवतरित होती हैं।

करते हैं (दाता स्म हि) निश्चय ही टुकड़े-टुकड़े कर देता है, (पशुः न आ दाति) जैसे कि **पशु** अपने भोजनको काटकर टुकड़े-टुकड़े करता है। (हिरिश्मश्रुः) उस **पशु**की दाढ़ी स्वर्णिम प्रकाशसे युक्त है। (ऋभुः) वह शिल्पी है, (शुचिदन्) पवित्रता ही उसका दाँत है। (अनिभृष्ट-तविषिः) उसके अन्दर विद्यमान शक्ति उसके तापसे कभी संतप्त नहीं होती।

8

शुचिः ष्म यस्मा अत्रिवत् प्र स्वधितीव रीयते।
सुषूरसूत माता क्राणा यदानशे भगम्॥

(शुचिः स्म) निश्चय ही वह पवित्र है, (यस्मै) जिसके लिये (अत्रिवत्) वस्तुओंके भोक्ताके रूपमें (स्वधितिः-इव) **प्रकृति**[1]के द्वारा, मानो एक कुठारके द्वारा (प्र रीयते) प्रवाहशील विकास साधित किया जाता है। (माता सुषूः असूत) उसकी **माता** सुखपूर्ण प्रसूतिके साथ उसे बाहर लाती है, (यत्) जिससे कि वह (क्राणा) माताके कार्योंको सिद्ध कर सके और (भगम् आनशे) आनन्दोपभोग[2]का रस ले सके।

9

आ यस्ते सर्पिरासुतेऽग्ने शमस्ति धायसे।
एषु द्युम्नमुत श्रव आ चित्तं मर्त्येषु धाः॥

(अग्ने) हे अग्निशक्ति! (सर्पिः-आसुते) प्रवाहशील ऐश्वर्यको हमपर पूरी तरह चुआनेवाली! जब तू (आ [भवसि]) ऐसे व्यक्तिको प्राप्त करती है (यः) जो (ते धायसे) तेरे कार्योंको स्थापित करनेके लिये (शम्

---

1. यहाँ पुनः 'स्वधिति'के दोहरे अर्थपर श्लेष है। एक अर्थ है कुल्हाड़ा अथवा कोई और चीरनेवाला उपकरण, दूसरा **प्रकृति**की स्वयं व्यवस्था करनेवाली शक्ति—"स्वधा"। यह एक रूपक है कि दिव्य **शक्ति** मानवीय कुल्हाड़ेके साथ भौतिक सत्ताके जंगलोंमेंसे आगे बढ़ रही है, किन्तु कुल्हाड़ा है **प्रकृति**का नैसर्गिक आत्मव्यवस्था करनेवाला विकास। प्रकृतिका अर्थ है **वैश्व शक्ति**, वह **माता** जिससे यह दिव्य **शक्ति**, **बल**का पुत्र उत्पन्न हुआ है।
2. दिव्य भोग (भग) जो **भग देवता**के द्वारा अर्थात् **सत्य**की शक्तिसे **उपभोग करनेवाले** देवताके द्वारा विशेष रूपसे निरूपित होता है।

अस्ति) आनन्दपूर्ण शान्ति[1]से संपन्न है, तब तू (एषु मर्त्येषु) ऐसे मर्त्योंमें (द्युम्नं) प्रकाश और (श्रवः) अन्तःस्फूर्त ज्ञान (आ धाः) प्रतिष्ठित कर (उत) और (चित्तम्) सचेतन आत्माको भी (आ [धाः]) प्रतिष्ठित कर।

10

इति चिन्मन्युर्मध्रिजस्त्वादातमा पशुं ददे।
आदग्ने अपृणतोऽत्रिः सासह्याद् दस्यूनिषः सासह्यान्नून् ।।

क्योंकि (इति चित्) इस लक्ष्यके लिए (अध्रिजः) भौतिक सत्तामें उत्पन्न हुआ मैं (मन्युं) भावुकतापूर्ण मनको और (पशुं) पशु[2]सत्ताको (त्वा-दातम् आ ददे) तेरे उपहारके रूपमें ग्रहण करता हूँ। (आत्) और फिर (अग्ने) हे **संकल्पाग्नि**! (अत्रिः) वस्तुओंका भक्षक (अपृणतः दस्यून्) उन **विभाजकों**को[3] जो उसकी पूर्णताको पोषित नहीं करते (ससह्यात्) पराजित करे और वह (नून्) उन आत्माओंको भी (ससह्यात्) वशीभूत करे जो (इषः) उसपर अपनी प्रेरणाओंके साथ धावा करती हैं।

---

1. वेदमें 'शम्' तथा 'शर्म' शान्ति और आनन्दका अर्थ प्रकट करते हैं। यह आनन्द सुसाधित श्रम, **शमी**, से या यज्ञके कार्य से मिलता है : वहाँ जाकर संग्रामका श्रम और यात्राका श्रम अपना विश्राम पाते हैं, वहाँ ऐसे परमानन्दका आधार प्राप्त हो जाता है जो संघर्ष और परिश्रमकी पीड़ासे मुक्त हो चुका होता है।
2. इसका शब्दार्थ है वासनायुक्त मन और पशु। परन्तु पशु शब्दका अर्थ 'प्रकाशकी प्रतीकात्मक गाय' भी हो सकता है, जैसा कि वेदमें प्रायः ही होता है। उस दशामें इसका अभिप्राय होगा भावुकतापूर्ण मन और प्रकाशित मन। परन्तु पहला अनुवाद सूक्तके सामान्य आशयसे और शब्दके अपने पूर्व प्रयोगसे अपेक्षाकृत अच्छा मेल खाता है।
3. दस्युओंको जो आत्माके विकास और एकत्वको खण्ड-खण्ड करते और काटते हैं और उसकी दिव्यशक्ति, आनन्द और ज्ञानपर आक्रमण करना और उसका विनाश करना चाहते हैं। वे **अन्धकार**की शक्तियाँ हैं, **दनु** या **दिति** अर्थात् विभक्त सत्ताके पुत्र हैं।

आठवाँ सूक्त

भागवत संकल्प—वैश्व सिद्धिका अधिष्ठाता

[(अग्निको प्रदीप्त करनेके लिए) प्राचीनतम युगसे किये जा रहे महान् प्रयास और अभीप्साकी निरंतरताको घोषित करता हुआ ऋषि हमारे अन्दर अवस्थित दिव्य **संकल्प**की स्तुति करता है कि वह हमारा संगी-साथी है, यज्ञका पुरोहित और इस गृहका स्वामी है, वह वैश्व अन्तर्वेगको उसकी संपूर्ण नानाविधताके साथ चरितार्थ करता है और उसे ज्ञान और कर्ममें स्फूर्ति देता है एवं उसका नेतृत्व भी करता है।]

1

त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे प्रत्नं प्रत्नास ऊतये सहस्कृत।
पुरुश्चन्द्रं यजतं विश्वधायसं दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम्॥

(अग्ने) हे **संकल्परूप अग्नि**! (सहस्कृत) तू जो हमारे अन्दर शक्तिसे निर्मित हुआ है! (त्वां प्रत्नम्) तुझ पुरातन शक्तिको (प्रत्नासः ऋतायवः) **सत्य**के पुरातन अन्वेषकोंने (सम् ईधिरे) पूरी तरह प्रदीप्त किया ताकि वे (ऊतये) अपनी सत्तामें संवर्धित हो सकें। तू (यजतम्) यज्ञका देव है, (पुरु-चन्द्रं) अपने आनन्दोंके समूहसे संपन्न है और इसीलिए (विश्वधायसं) सबको धारण करता है[1]। वह तू (दमूनसं) हमारे अन्दर स्थिर वास करता है, (गृहपतिं) हमारे गृहका स्वामी है, (वरेण्यं) हमारा परम वरणीय **संगी है**।

2

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ति**! तू (पूर्व्यम् अतिथिम्) सर्वोच्च[2] अतिथि है, (शोचिष्केशम्) प्रकाशकी जटासे युक्त है और (गृहपतिम्) घरका स्वामी है। (त्वाम्) तुझमें (विशः) प्रजाएँ (नि षेदिरे) अपना आधार पाती हैं,

---

1. अथवा सबको पोषित करता है।
2. **पूर्व्यम्**—'प्रथम' अर्थात् आदि और सर्वोच्च दोनों।

क्योंकि तू (बृहत्केतुम्) विशाल अंतर्दर्शनसे संपन्न है और (पुरुरूपम्) नानाविध रूपोंसे युक्त है, (धनस्पृतम्) हमारे ऐश्वर्योंका सार है, (सुशर्माणम्) पूर्ण शान्ति और (स्ववसम्) पूर्ण सत्ता है तथा (जरद्विषम्) हमारे शत्रुओं[1]का विनाशरूप है।

3

त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो होत्राविदं विविचिं रत्नधातमम्।
गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्वणसं सुयजं घृतश्रियम्॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ति**! (मानुषीः विशः) मानव प्राणी (त्वाम् ईळते) तेरी वन्दना करते हैं---अपनी स्तुतिसे तुझे खोजते हैं, जो तू (होत्रा-विदम्) यज्ञकी शक्तियों[2]के ज्ञानसे संपन्न है, (विविचिम्) सम्यक्तया विवेक करता हुआ (रत्नधातमम्) हमारे लिए आनंदको पूर्णतया धारण करता है और (गुहा सन्तम्) हमारी सत्ताकी गुहामें विराजमान है। (सुभग) हे पूर्ण आनन्दोपभोक्ता! तू (विश्वदर्शतम्) विराट् अन्तर्दर्शनसे देखता, (तुवि-स्वनसम्) अपनी अनेकानेक वाणियोंकी वर्षा करता, (सुयजम्) यज्ञको ठीक प्रकारसे करता और (घृतश्रियम्) निर्मलताकी श्रीशोभासे भासित होता हुआ विराजमान है।

4

त्वामग्ने धर्णसिं विश्वधा वयं गीर्भिर्गृणन्तो नमसोप सेदिम।
स नो जुषस्व समिधानो अङ्गिरो देवो मर्तस्य यशसा सुदीतिभिः॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्तिरूप देव** (त्वां विश्वधा धर्णसिम्) तू वस्तुओंकी सार्वभौमिकताके विधानको धारण करता है। (वयम्) हम (त्वाम्) तेरे पास (नमसा उप सेदिम) समर्पणरूप नमस्कारके साथ पहुँचते हैं और तुझे (गीर्भिः गृणन्तः) स्तुतियोंसे प्रकट करते हैं। (अङ्गिरः) हे शक्तिशाली द्रष्टा! (मर्तस्य यशसा) मर्त्यकी विजय[3]से और (सुदीतिभिः) उसकी यथार्थ दीप्तियोंसे (समिधानः) सुप्रदीप्त हुआ (सः देवः) वह उक्त गुणोंवाला देव तू (नः जुषस्व) हमें स्वीकार कर और हमारा दृढ़ संगी बन।

---

1. मानवीय शत्रु नहीं अपितु विरोधी शक्तियाँ जो हमारी सत्ताकी एकता और पूर्णताको भंग करनेका यत्न करती हैं और जिनसे उन ऐश्वर्योंको बचाना है जो वस्तुतः हमारे ही हैं।
2. अथवा हवि देनेकी प्रक्रिया।
3. उपलब्धि या गौरव-गरिमा।

5

त्वमग्ने पुरुरूपो विशेविशे वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत।
पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि त्विषिः सा ते तित्विषाणस्य नाधृषे॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्तिरूप अग्ने** (पुरुस्तुतः) अनेक प्रकारसे स्तुति किया हुआ तू (विशे-विशे पुरुरूपः) मनुष्य-मनुष्यके अनुसार अनेक रूप ग्रहण करता है और (प्रत्नथा) पुरा कालकी भांति ही प्रत्येकके लिए (वयः दधासि) उसकी विशाल अभिव्यक्तिको स्थापित करता है। तू (सहसा) अपनी शक्तिसे (पुरूणि अन्ना) अनेक पदार्थोंको जो तेरे अन्न हैं (वि राजसि) प्रकाशित करता है। (तित्विषाणस्य) जब तू इस प्रकार प्रदीप्त होता है तब (ते त्विषिः) तेरे प्रकाशकी उस आभाको (न आधृषे) कोई भी दबा नहीं सकता।

6

त्वामग्ने समिधानं यविष्ठ्य देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम्।
उरुज्रयसं घृतयोनिमाहुतं त्वेषं चक्षुर्दधिरे चोदयन्मति॥

(यविष्ठ्य अग्ने) हे पूर्णयौवन-संपन्न **संकल्पाग्ने**! (त्वां) तुझे (देवाः) देवोंने (समिधानं) सुप्रदीप्त किया है और (दूतं चक्रिरे) मनुष्यके लिए अपना दूत बनाया है। (हव्यवाहनं) मनुष्यकी भेंटोंके वाहक, (उरुज्रयसं) अपनी द्रुतगतियोंमें विशाल, (घृतयोनिं) निर्मलतासे उत्पन्न, (आहुतं त्वाम्) हविको प्राप्त करनेवाले तुझ देवको उन्होंने उसके अंदर (त्वेषं चक्षुः दधिरे) एक प्रखर-दीप्त आंखके रूपमें स्थापित किया है जो (चोदयत्-मति) उसकी मनःसत्ताको प्रेरित करती है।

7

त्वामग्ने प्रदिव आहुतं घृतैः सुम्नायवः सुषमिधा समीधिरे।
स वावृधान ओषधीभिरुक्षितोऽभि ऋयांसि पार्थिवा वि तिष्ठसे॥

(अग्ने) हे **संकल्पाग्ने**! (त्वां) तुझे (सुम्नायवः) परम आनन्दके अभिलाषी मनुष्योंने (सु-समिधा समीधिरे) पूरी समिधासे सुप्रदीप्त किया है। (घृतैः प्रदिवः आहुतं) द्युलोक[1]के अग्रभागमें उनकी निर्मलताओंसे पुष्ट हुआ तू (वावृधानः) इस प्रकार बढ़ता हुआ (पार्थिवा ऋयांसि अभि) पार्थिव जीवनकी समस्त द्रुतगतिशील प्रगतियोंके अन्दर (वि तिष्ठसे) विशालतासे प्रवेश करता है।

---

1. द्युलोक और पृथिवी अर्थात् विशुद्ध मानसिक सत्ता और अन्नमय चेतना।

नौवाँ सूक्त

पशुसत्तासे मनोमय सत्ताकी ओर आरोहणशील भगवत्संकल्प

[इस सूक्तमें ऋषि भौतिक चेतनापर शुद्ध मानसिक चेतनाकी क्रियाके द्वारा भागवत **संकल्पशक्ति**के जन्मका वर्णन करता है। वह कहता है कि मनुष्यकी मर्त्य मनवाली साधारण अवस्थाका—भावनाप्रधान, स्नायविक और आवेगात्मक मनवाली अवस्थाका—लक्षण होता है कुटिल क्रियाएँ और नश्वर भोग। उस अवस्थामें भागवत संकल्पशक्तिकी क्रिया प्रच्छन्न रूपमें होती है। पीछे, हमारी सत्ताके तीसरे स्तरपर यह उभरकर प्रकट हो जाती है जहाँ इसे तपाकर मुक्ति और आध्यात्मिक विजयके लिए स्पष्ट और प्रभावशाली रूपमें गढ़ा जाता और तीक्ष्ण किया जाता है। यह हमारी सत्ताके सब जन्मों व स्तरोंको जानती है और यज्ञ तथा उसकी हवियोंको क्रमिक और सतत प्रगति द्वारा दिव्य लक्ष्य एवं धामकी ओर ले जाती है।]

1

त्वामग्ने हविष्मन्तो देवं मर्तास ईळते।
मन्ये त्वा जातवेदसं स हव्या वक्ष्यानुषक्॥

(अग्ने) हे भागवत **संकल्पशक्ति**! (हविष्मन्तः मर्तासः) हविको लिये हुए मर्त्य मनुष्य (त्वां देवम् ईळते) तुझ देवकी खोज करते हैं। (त्वा जातवेदसं मन्ये) मैं तेरा ध्यान करता हूँ, जो तू समस्त उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंका ज्ञाता है। (सः) वह तू (हव्या आनुषक् वक्षि) हमारी हवियोंको निरन्तर लक्ष्य तक ले जाता है।

2

अग्निर्होता दास्वतः क्षयस्य वृक्तबर्हिषः।
सं यज्ञासश्चरन्ति यं सं वाजासः श्रवस्यवः॥

(अग्निः) **संकल्परूप अग्नि** (होता) उस मनुष्यके लिये हविका पुरोहित है जो (दास्वतः) समर्पण करता है, (वृक्तबर्हिषः) यज्ञका आसन तैयार करता है और उसके (क्षयस्य) घरको प्राप्त करता है। क्योंकि (यं

यज्ञासः सं चरन्ति) उसीमें यज्ञके हमारे कार्य एकत्र होते हैं और उसीमें (श्रवस्यवः वाजासः) हमारी **सत्यश्रुतियोंकी** समृद्धियां (सं चरन्ति) एकत्र होती हैं।

3

उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी।
धर्तारं मानुषीणां विशामग्निं स्वध्वरम्॥

(उत स्म) और यह भी सत्य है कि (अरणी)[1] दो अरणियोंने, दो **क्रियाओंने** (यम्) जिस तुझको (यथा नवं शिशुं) नवजात शिशुकी तरह उत्पन्न किया है, वह तू (मानुषीणां विशाम् धर्तारम्) मानव प्राणियोंको धारण करनेवाला और (सु-अध्वरम् अग्निम्) एक ऐसा संकल्पबल है जो यज्ञका ठीक-ठीक नेतृत्व करता है।

4

उत स्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम्।
पुरू यो दग्धासि वनाऽग्ने पशुर्न यवसे॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (उत स्म) यह भी सत्य है कि तू (ह्वार्याणाम् पुत्रः न) कुटिलताओं[2]के पुत्रकी तरह (दुर्गृभीयसे) कठिनाईसे पकड़में आता है, (यः) जब तू (यवसे पशुः न) अपनी चरागाहमें अन्न खानेवाले **पशु**की तरह (पुरु वना दग्धा असि) आनन्दरूपी अनेक वनस्पतियोंको निगल जाता है।

5

अध स्म यस्यार्चयः सम्यक् संयन्ति धूमिनः।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मातरी यथा॥

(अध स्म) परंतु पीछे (यत्) जब (यस्य अर्चयः) उस अग्निकी किरणें (धूमिनः) अपने धूम्रयुक्त आवेगके साथ (सम्यक् संयन्ति) पूरी तरह आपसमें

दो अरणियां जिनसे आग रगड़कर निकाली जाती है। 'अरणी' शब्द का अर्थ क्रियाएँ भी हो सकता है और यह 'अर्य' शब्दसे सम्बन्धित है। **द्युलोक** व **पृथिवी** दो अरणियाँ हैं जो **अग्नि** उत्पन्न करती हैं, **द्युलोक** है उसका पिता और **पृथिवी** उसकी माता।

2. 'ह्वार्याणाम्'का शाब्दिक अर्थ है—कुटिल वस्तुओंके। वे कुटिल वस्तुएँ संभवतः हमारी सत्ताकी वे सात नदियाँ या गतिधाराएँ हैं जो हमारे मर्त्य जीवनकी बाधाओंमेंसे चक्कर काटती हुई गुजरती हैं।

मिलती हैं, (अह ईम्) अहो, तब उसे (त्रितः) वह तीसरा **आत्मा**[1] (दिवि) हमारे द्युलोकमें (उप धमति) ऐसे घड़ता है (ध्माता-इव) जैसे लोहार अपने लोहारखानेमें वस्तुओंको घड़ता है; (यथा ध्मातरि शिशीते) मानों वह आत्मारूपी लोहार अपने ही अन्दर उसे तेज करके एक तीक्ष्ण अस्त्र बना डालता है।[2]

6

तवाहमग्न ऊतिभिर्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः।
द्वेषोयुतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ति**! (तव ऊतिभिः) तेरे विस्तारोंसे (मित्रस्य प्रशस्तिभिः च) और **प्रेमके अधिपति** मित्रकी तेरे द्वारा की हुई अभिव्यक्तियोंसे मैं ही नहीं, (नः) हम सब, (द्वेषोयुतः) उन मनुष्योंकी तरह जो शत्रुओंसे आक्रान्त और विरोधोंसे घिरे हुए हैं, (मर्त्यानां दुरिता) मर्त्योंकी विघ्नबाधाओं एवं अवरोधोंमेंसे (तुर्याम) पार हो जाएँ।

7

तं नो अग्ने अभी नरो रयिं सहस्व आ भर।
स क्षेपयत् स पोषयद् भुवद् वाजस्य सातय उतैधि पृत्सु नो वृधे॥

(अग्ने सहस्व) हे **संकल्पशक्ति**! हे बलशाली देव! (नः नरः अभि) हम मानवी आत्माओंके लिये (तं रयिम् आ भर) उस परम आनन्दको ले आओ। (स क्षेपयत्) वह हमें हमारे मार्गमें तीव्र वेगसे आगे बढ़ाये। (स पोषयत्) वह हमारा पोषण और संवर्धन करे, (वाजस्य सातये भुवत्) ऐश्वर्यकी विजयके लिये हमारे अन्दर रहे। (उत नः पृत्सु एधि) और हमारे संग्रामोंमें तुम हमारे साथ अग्रसर हो, (नः वृधे) ताकि हमारी वृद्धि हो।

---

1. **त्रित आप्त्य, तीसरा** या **त्रिविध**, स्पष्टतः ही, मानसिक स्तरका **पुरुष**। परम्पराके अनुसार वह एक ऋषि है और उसके दो साथी हैं जिनके अर्थगर्भित नाम हैं—**एक**, अर्थात् एक या अकेला, **द्वित** अर्थात् दूसरा या दोहरा। वे हैं भौतिक और प्राणिक या क्रियाशील चेतनाके **पुरुष**। वेदमें वह (त्रित) वस्तुतः एक देव प्रतीत होता है।

2. मूल मन्त्र अपनी शैली और अभिप्रायमें बहुत संक्षिप्त और संहत है। वेदकी वाक्यरचना और पदावलिमें सामान्यतः जो अर्थगौरव पाया जाता है, उससे भी परेका अर्थगौरव इस मंत्रमें निहित है। "ओह! जब **त्रित** उसे द्युलोकमें लोहारकी तरह धौंकनीमें तपाकर तैयार करता है, मानो धौंकनीके द्वारा तेज करता है।" इंगलिशमें हमें इस अर्थको स्पष्ट करनेके लिये विस्तार करना पड़ता है।

दसवाँ सूक्त

उपलब्धि प्राप्त करनेवाली तेजस्वी आत्माओंका सूक्त

[ऋषि दिव्य **ज्वालारूप** अग्निदेवसे प्रार्थना करता है कि वह शक्ति, ज्ञान तथा आनन्दकी त्रिविध सामर्थ्यके द्वारा उसके अन्दर कार्य करे। वह हमारी मानवजातिमें उन ज्ञानसंपन्न तेजस्वी आत्माओंका वर्णन करता है जो **सत्य** और **विशालता**की उपलब्धि करती हैं। वे दिव्य प्रभुत्वकी ओर आरोहण करनेके लिए हमारे अन्दर कार्यरत इस परात्पर **भागवत चित्-शक्ति**की ज्वलन्त और अत्यधिक शक्तिसंपन्न ज्वाला-रश्मियाँ हैं। कई आत्माएँ ऐसी बन चुकी हैं, अन्य अभीतक अवरुद्ध हैं, परन्तु विकसित हो रही हैं। ऋषि चाहता है कि **अग्नि** स्तुति द्वारा अधिकाधिक सम्पुष्ट होता जाय ताकि समृद्ध एवं समग्र-बोधात्मक सार्वभौमिकताकी ओर सभी प्रगति कर सकें।]

1

अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।
प्र नो राया परीणसा रत्सि वाजाय पन्थाम्॥

(अग्ने) हे **ज्वाला** ! (अध्रिगो) हमारी सीमित सत्तामें रहनेवाली **रश्मि** ! (ओजिष्ठं द्युम्नं) समग्र शक्तिसे परिपूर्ण प्रकाशको (अस्मभ्यम आ भर) हमारे लिए ले आ। (परीणसा राया) सब ओरसे व्यापनेवाले परम आनन्दके द्वारा (नः वाजाय पन्थाम्) हमारे ऐश्वर्यकी परिपूर्णताके मार्गको (प्र रत्सि) आगे-आगे चीरकर बना।

2

त्वं नो अग्ने अद्भुत क्रत्वा दक्षस्य मंहना।
त्वे असुर्यमारुहत् क्राणा मित्रो न यज्ञियः॥

(अग्ने) हे **ज्वाला** ! (त्वम् अद्भुतः) तू सर्वोच्च और अद्भुत है। तू ही (क्रत्वा) संकल्पकी शक्तिसे (नः) हमारे अन्दर (दक्षस्य मंहना) विवेकबलकी महानता बन गया है। (त्वे) तुझमें ही (यज्ञियः मित्रः)

सबको समस्वर करनेवाला यज्ञ-साधक मित्र[1] (क्राणा) कार्यको सम्पन्न करता है और (असुर्यम्[2] आरुहत्) दिव्य आधिपत्यकी ओर आरोहण करता है।

3

त्वं नो अग्न एषां गयं पुष्टिं च वर्धय।
ये स्तोमेभिः प्र सूरयो नरो मघान्यानशुः॥

(अग्ने) हे शक्तिस्वरूप देव! (त्वम्) तू (एषां गयं पुष्टिं च) इनकी प्रगति[3] और विकासकी (वर्धय) वृद्धि कर (ये) जो (सूरयः नरः) ज्ञानसम्पन्न भव्य आत्माएँ हैं और (स्तोमेभिः) तेरे लिये अपने स्तोत्रोंके द्वारा (नः मघानि प्र आनशुः) हमारी पूर्णताओंको हमारे लिए प्राप्त करते हैं।

4

ये अग्ने चन्द्र ते गिरः शुम्भन्त्यश्वराधसः।
शुष्मेभिः शुष्मिणो नरो दिवश्चिद् येषां बृहत् सुकीर्तिर्बोधति त्मना॥

(अग्ने) हे शक्तिमय देव! (चन्द्र) हे **आनन्दस्वरूप**! (ते) ये हैं वे (ये अश्वराधसः) जो जीवनकी वेगशील शक्तियोंकी सुखपूर्ण समृद्धिसे युक्त हैं, (गिरः शुम्भन्ति) जो चिन्तनके शब्दोंको सुखपूर्ण प्रकाशकी ओर मोड़ते हैं, (शुष्मेभिः शुष्मिणः नरः) जिनकी आत्माएँ वीरोचित शक्तिसे शक्तिशाली हैं, (येषां) जिनके लिये (दिवः) द्युलोकमें[4] भी (बृहत्) विशालता है। (सुकीर्तिः त्मना बोधति) इनके लिए इस अग्निकी पूर्ण क्रिया अपने-आप ही ज्ञानके प्रति जागृत हो जाती है।

5

तव त्ये अग्ने अर्चयो भ्राजन्तो यन्ति धृष्णुया।
परिज्मानो न विद्युतः स्वानो रथो न वाजयुः॥

---

1. **मित्र—प्रेमका अधिपति** जो हमारे अन्दर दिव्य प्रयासकी क्रियाओंमें समस्वरताके तत्त्वका सूत्रपात करता है और इस प्रकार हमारी प्रगतिकी सब दिशाओं, हमारे यज्ञके सभी तंतुओंको संयुक्त करता चलता है जबतक कि **ज्ञान, शक्ति** और **आनन्द**की सर्वोत्कृष्ट एकतामें कार्य सिद्ध नहीं हो जाता।
2. **असुर्यम्**—देव-शक्ति, **भगवान्**की प्रभुत्वकारी कार्यशक्ति, हमारे अन्दर स्थित दिव्य "असुर"।
3. या "उपलब्धि"।
4. अर्थात् विशुद्ध मानसिक सत्ताके शिखरोंपर जहाँ मनःसत्ता अतिचेतनकी विशालताके साथ भेंट करती है तथा उसमें प्रवेश कर जाती है।

(अग्ने) हे **शक्तिमय देव**! (तव त्ये अर्चयः) ये हैं तेरी ज्वालामयी किरणें जो (घृष्णुया भ्राजन्तः यन्ति) प्रचंड रूपसे जाज्वल्यमान होती हुई गति कर रही हैं। ये (परिज्मानः विद्युतः न) उन बिजलियोंकी तरह हैं जो सब दिशाओंमें दौड़ती हैं, (स्वानः रथः न) ध्वनि करते हुए उस रथकी तरह हैं जो (वाजयुः) ऐश्वर्य-परिपूर्णताकी ओर द्रुत वेगसे जाता है।

6

नू नो अग्न ऊतये सबाधसश्च रातये।
अस्माकासश्च सूरयो विश्वा आशास्तरीषणि॥

(अग्ने) हे **शक्तिस्वरूप देव**! (नु) अब (नः सबाधसः) हममेंसे जो आक्रान्त और अवरुद्ध हैं वे सभी (ऊतये रातये च) विस्तार और आत्माकी समृद्धिको समान रूपसे प्राप्त करें। (च) और (अस्माकासः सूरयः) हमारी ये ज्ञानसंपन्न तेजोमय आत्माएँ (विश्वाः आशाः तरीषणि) सब क्षेत्रों[1]को लाँघकर पार कर जाएँ।

7

त्वं नो अग्ने अङ्गिरः स्तुतः स्तवान आ भर।
होतर्विश्वासहं रयिं स्तोतृभ्यः स्तवसे च न उतैधि पृत्सु नो वृधे॥

(अग्ने अङ्गिरः) हे **अग्निशक्ति**! हे अमोघ-**शक्तिमयी आत्मा**! जब (त्वं स्तवानः) तेरी स्तुति हो रही हो और जब (स्तुतः) तेरी स्तुति हो चुके तब (होतः) हे समर्पणके वाहक पुरोहित! (नः) हमारे लिए (स्तोतृभ्यः स्तवसे च) एवं उन सबके लिए जो तेरी स्तुति करते हैं तथा तेरे पुनः-स्तवनके लिए भी (विश्व-सहं रयिम् आ भर) सर्वव्यापक शक्तिशालिताका परम आनन्द[2] ले आ। (उत) और (नः पृत्सु एधि) हमारे संग्रामोंमें हमारे साथ अग्रसर हो, (नः वृधे) ताकि हम अभिवृद्धिको प्राप्त हों।

---

1. क्षेत्र हैं मानसिक सत्ताके द्युलोकोंके प्रदेश जिन सबको हमें पहले अपनी चेतनामें आलिंगित करना और फिर पार कर जाना होता है।
2. दिव्य उपलब्धियोंसे भरपूर आत्मामें वह ऐश्वर्य एवं प्राचुर्य जो उसका आध्यात्मिक वैभव या आनन्द है, दिव्य **आनन्द**के अनन्त भंडारकी एक प्रतिमूर्ति है और जिसके द्वारा वह अपनी सत्ताकी सदा महत्तर और अधिक सुसंपन्न विशालताकी ओर प्रगति करता है।

ग्यारहवाँ सूक्त

दिव्य पुरोहित और यज्ञिय ज्वालाका सूक्त

[ऋषि उस जागरूक और विवेकशील यज्ञिय **ज्वाला**के जन्मकी स्तुति करता है जो अन्तर्दृष्टि एवं संकल्प-शक्ति है, एक ऐसा क्रान्तद्रष्टा है जिसके प्रयासका आवेग मनके द्युलोकोंमें दिव्य ज्ञानमें परिणत हो जाता है। **दिव्य विचार**के अन्तःस्फुरित शब्दोंसे हमें इस क्रान्तदर्शी संकल्पको बढ़ाना होगा। यह संकल्प एक अमोघ-शक्तिमय तत्त्व है, **शक्ति**का **पुत्र** है और प्रकाशपूर्ण प्रबल शक्तिसे युक्त प्राचीन **आत्माओं**ने इसे पृथ्वीकी उपजोंमें तथा उन सब अनुभूतियोंमें छिपा हुआ पाया है जिनका रसास्वादन मानव आत्मा यहाँ करना चाहता है।]

1

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः॥

(जनस्य गोपाः) प्रजाकी रक्षक, (जागृविः) जागरूक तथा (सुदक्षः) पूर्ण-विवेकसंपन्न (अग्निः अजनिष्ट) **ज्वाला**का जन्म हुआ है जिससे कि (नव्यसे सुविताय) आनन्दकी ओर नया प्रयाण किया जाए। (घृत-प्रतीकः) उसका अग्रभाग निर्मलताओंसे युक्त है। (द्युमत् वि भाति) उज्ज्वल प्रकाशसे वह दूर-दूरतक इस प्रकार चमक रही है कि उसकी (बृहता दिविस्पृशा) विशालता द्युलोकको स्पर्श करती है। (भरतेभ्यः शुचिः) ऐश्वर्यको लानेवालोंके लिए वह पवित्र है।

2

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे।
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः॥

(नरः) मनुष्योंने (अग्निं) परम **ज्वाला**को (त्रिषधस्थे) यज्ञसत्रके त्रिविध लोक[1]में (समीधिरे) सुप्रदीप्त किया है ताकि वह (यज्ञस्य केतुं)

---

1. मन, प्राण और शरीरका त्रिविध लोक जिसमें हमारे यज्ञकी बैठक (सवन) होती है या जिसमें आत्मपरिपूर्णताका कार्य आगे बढ़ता है।

यज्ञमें अन्तर्दृष्टि तथा (प्रथमं पुरोहितं) अग्रभागमें स्थापित पुरोहित बन जाए। (सः) वह अग्निदेव (इन्द्रेण देवैः) **भागवत-मन** और **दिव्य-शक्तियों**के साथ (सरथं) एक ही रथमें आता है और (बर्हिषि सीदत्) यज्ञके आसनपर बैठता है। (होता) वह हविका वहन करनेवाला **पुरोहित** है जो (यजथाय सुक्रतुः) यज्ञ-क्रियाके लिए इच्छाशक्तिमें पूर्ण है।

3

असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः।
घृतेन त्वावर्धयन्नग्न आहुत धूमस्ते केतुरभवद् दिवि श्रितः॥

हे अग्निदेव! तू (मात्रोः) मातृयुगलसे (असंमृष्टः शुचिः जायसे) अपराजित एवं पवित्र[1] रूपमें उत्पन्न हुआ है; तू (विवस्वतः) प्रकाश-स्वरूप सूर्यसे (मन्द्रः कविः) आनन्दोल्लासमय द्रष्टाके रूपमें (उदतिष्ठः) उदित हुआ है। (घृतेन त्वा अवर्धयन्) उन्होंने तुझे निर्मलताकी आहुतिसे बढ़ाया है, और (आहुत अग्ने) आहुतियोंसे वर्धित हे **ज्वालारूप देव!** (ते धूमः) तेरा आवेगपूर्ण धुआँ (केतुः अभवत्) अन्तर्दृष्टि बन जाता है जब (दिवि श्रितः) वह द्युलोकमें पहुँचता है और वहाँ निवास करता है।

4

अग्निर्नो यज्ञमुप वेतु साधुयाऽग्निं नरो वि भरन्ते गृहेगृहे।
अग्निर्दूतो अभवद्धव्यवाहनोऽग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम्॥

(अग्निः) **ज्वालारूप अग्निदेव** (नः यज्ञं साधुया उप वेतु) हमारे यज्ञमें कार्यसाधक शक्तिके साथ आवे। (नरः अग्निं गृहे-गृहे वि भरन्ते) मनुष्य उस **ज्वालारूप अग्निदेव**को अपने निवासस्थानके प्रत्येक कमरेमें ले जाते हैं। (अग्निः दूतः हव्यवाहनः अभवत्) वह **अग्निदेव** हमारा दूत तथा हमारी भेंटका वहन करनेवाला बन गया है। (अग्निं वृणानाः कविक्रतुम् वृणते) जब मनुष्य उस **ज्वालारूप अग्नि**को अपने अन्दर स्वीकार करते हैं तब वे इस 'द्रष्टा संकल्प'को ही स्वीकार करते हैं।

5

तुभ्येदमग्ने मधुमत्तमं वचस्तुभ्यं मनीषा इयमस्तु शं हृदे।
त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च॥

(तुभ्य अग्ने) तेरे लिए है हे **ज्वाला**! (इदं मधुमत्तमं वचः) मधु[2]से

---

1. या "बिना साफ किये हुए शुद्ध-पवित्र।"
2. मधुमय **सोमरस**, वस्तुओंमें विद्यमान **आनन्द**-तत्त्वका बहिः-प्रवाह।

लबालब भरी यह **दिव्यवाणी**। (तुभ्यम् इयं मनीषा) तेरे लिए ही है यह **दिव्यविचार** और (हृदे शम् अस्तु) यह तेरे हृदयमें शान्ति एवं दिव्य आनन्द बन जाय। (गिरः) दिव्यविचारकी ये वाणियाँ (त्वां) तुझे (शवसा) अपने बलसे (आ पृणन्ति वर्धयन्ति च) तुष्ट करती और बढ़ाती हैं, (इव) जैसे (महीः अवनीः सिन्धुम्) वे महान् पोषण करनेवाली धाराएँ[1] उस समुद्रको भरती और बढ़ाती हैं।

6

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः॥

(अग्ने) हे **ज्वाला**! (अङ्गिरसः[2]) शक्तिसम्पन्न आत्माओंने (त्वा) तुझे (गुहा हितं) गुप्त स्थान[3]में छिपे हुए, (वने-वने शिश्रियाणं) आनन्दके प्रत्येक विषयमें निवास करते हुए (अन्वविन्दन्) ढूँढ़ लिया। (सः मथ्यमानः) हमारे द्वारा दबाव डाला जाता हुआ वह तू (महत् सहः) एक प्रबल शक्तिके रूपमें (जायसे) उत्पन्न हुआ है। इसलिये (अङ्गिरः) हे **सामर्थ्यशाली देव**! (त्वां सहसः पुत्रम् आहुः) उन्होंने तुझे **शक्ति-पुत्र** कहा है।

---

1. सात नदियाँ या गतिधाराएँ जो अतिचेतन सत्तासे अवतरित होती हैं और हमारी सत्ताके सचेतन समुद्रको भरती हैं। इन्हें **माताएँ**, पोषण करनेवाली **गौएँ**, **द्युलोक**की **शक्तिशाली सत्ताएँ**, **ज्ञान**की **जलधाराएँ**, **सत्य**की सरिताएँ इत्यादि कहा जाता है।
2. सात प्राचीन ऋषि या पितर, **अङ्गिरस् ऋषि**, **अग्नि**के पुत्र, और द्रष्टा संकल्पके दैवी या मानवीय प्रतिरूप।
3. वस्तुओंमें स्थित अवचेतन हृदय।

बारहवाँ सूक्त

सत्यके प्रति मनुष्यकी अभीप्साका सूक्त

[**ऋषि भागवत शक्ति**की इस ज्वालाका, अतिचेतन **सत्य**के इस विराट् **अधीश्वर**का, इस **सत्य-चेतनामय एकमेव**का आह्वान करता है ताकि यह उसके विचार और शब्दको अपने अन्दर ग्रहण करे, मनुष्यमें **सत्यके प्रति सचेतन** हो जाय और **सत्य**की अनेकों धारायें काटकर प्रवाहित कर दे। **सत्य**को केवल प्रयत्नके बलपर एवं द्वैधके विधानसे प्राप्त नहीं किया जा सकता अपितु स्वयं **सत्य**से ही **सत्य**को प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु यह नहीं कि केवल इस **संकल्पाग्नि**की **शक्तियाँ** ही अस्तित्व रखती हैं जो असत्यसे युद्ध करती हैं और रक्षा तथा विजयलाभ करती हैं, अपितु अन्य शक्तियाँ भी हैं जिन्होंने प्रयाणमें अब तक सहायता की है, परन्तु जो असत्यके आधारसे चिपटे रहना चाहेंगी क्योंकि वे मनुष्यकी वर्तमान आत्म-अभिव्यक्तिको कसकर पकड़े हुई हैं और उसके आगे बढ़नेसे इन्कार करती हैं। यही शक्तियाँ अपनी अहंपूर्ण स्वेच्छाके वश **सत्यके अन्वेषक**के प्रति कुटिलता-पूर्ण वाणीका उपदेश करती हैं। यज्ञ द्वारा और यज्ञमें नमनके द्वारा मनुष्य, जो सदा प्रगति करनेवाला तीर्थ-यात्री है, अपने से परेके विशाल निवास-स्थान को, **सत्य**के पद और धामको अपने निकट ले आता है।]

1

प्राग्नये बृहते यज्ञियाय ऋतस्य वृष्णे असुराय मन्म।
घृतं न यज्ञ आस्ये सुपूतं गिरं भरे वृषभाय प्रतीचीम् ।।

(यज्ञियाय) यज्ञके अधिपति, (असुराय) **शक्तिशाली** (ऋतस्य बृहते वृष्णे) **सत्य**के विशाल अधीश्वर और सत्यके प्रसारक (अग्नये) **संकल्परूप अग्निदेव**के प्रति मैं (मन्म) अपने विचारको भेंटके रूपमें (प्र भरे) आगे लाता हूँ। (आस्ये सुपूतं घृतं न) यह विचार यज्ञके निर्मल घृतके समान है जो ज्वालाके मुखमें पवित्र किया हुआ है। (गिरं भरे) मैं अपनी वाणी[1]को

---

1. विचार और शब्दको उस अतिचेतन **सत्य**के आकार और अभिव्यक्तिमें परिणत करना जो मानसिक तथा शारीरिक सत्ता के विभाजन व द्वैधभाव

आगे लाता हूँ (वृषभाय प्रतीचीम्) जो अपने प्रभु'से मिलनेके लिये उसकी ओर जाती है।

2

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुम् सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः॥

(ऋतं चिकित्वः) हे **सत्य**के सचेतन द्रष्टा! (ऋतम् इत् चिकिद्धि) मेरी चेतनामें केवल **सत्य**को ही अनुभव कर। (ऋतस्य पूर्वीः धाराः) **सत्य**की बहती हुई अनेक धाराओं[3]को (अनु तृन्धि) काटकर प्रवाहित कर दे।[3] (अहं) मैं (यातुं) यात्राको (न सहसा) न बलसे (न द्वयेन) और न द्वैध-भावसे (सपामि) सफल कर सकता हूँ और नाहीं इस प्रकार (अरुषस्य वृष्णः) दीप्तिमान् दिव्य **कर्ता** और वर्षक **प्रभु**के **सत्य**को प्राप्त कर सकता हूँ।

3

कया नो अग्न ऋतयन्नृतेन भुवो नवेदा उचथस्य नव्यः।
वेदा मे देव ऋतुपा ऋतूनां नाहं पतिं सनितुरस्य रायः॥

(अग्ने) हे **संकल्पस्वरूप अग्निदेव**! (नः कया) मेरे अन्दर स्थित किस विचारसे (ऋतेन ऋतयत्) **सत्य**से **सत्य**की खोज करता हुआ तू (नव्यः उचथस्य नवेदाः भुवः) एक नये शब्दके ज्ञानका प्रेरक बनेगा? (देवः) वह देव जो (ऋतूनाम् ऋतुपाः) **सत्य**के कालों और ऋतुओं[4]की रक्षा करता है, (मे वेदाः) मेरे अन्दर की सब बातोंको जानता है, परन्तु (अहम् न वेद) मैं उसे नहीं जानता। (अस्य सनितुः रायः पतिं) वह सब वस्तुओंको अधिकृत करनेवाले उस आनन्दका स्वामी है।

के परे छिपा हुआ है—यह था **वैदिक** साधनाका केन्द्रीय विचार और उसके रहस्योंका आधार।

1. **वृषभ**; विचारको चमकती हुई गायके प्रतीकात्मक रूपमें निरूपित किया गया है जो अपने आपको **भगवान्**के प्रति अभिमुख करके समर्पण कर रही है।
2. हमारे जीवनके अन्दर अतिचेतनका अवतरण द्युलोककी वर्षाके रूपमें चित्रित किया जाता था, यह उन सात दिव्य नदियोंका रूप लिये था जो पृथिवी-चेतनापर बहती हैं।
3. पहाड़ीकी चट्टानसे जहाँ विरोधी शक्तियाँ उनकी रक्षा कर रही हैं।
4. **ऋतु**—काल-विभाग जिनका कभी-कभी यज्ञकी प्रगतिके वर्षोंके रूपमें वर्णन किया गया है और कभी उसके प्रतीकभूत 12 महीनोंके रूपमें।

4

के ते अग्ने रिपवे बन्धनासः के पायवः सनिषन्त द्युमन्तः।
के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः॥

(अग्ने) हे **संकल्पस्वरूप अग्निदेव**! (के) वे कौन हैं जो (ते) तेरे लिये (रिपवे बन्धनासः) **शत्रु**को बन्धनमें डालनेवाले हैं? (के द्युमन्तः, पायवः, सनिषन्तः) कौनसी हैं वे देदीप्यमान सत्तायें,—रक्षक, उपलब्धि और विजयकी अभिलाषी? (के अनृतस्य धासिं पान्ति) वे कौन हैं जो असत्यके आधारोंकी रक्षा करते हैं? (के आसतः वचसः गोपाः सन्ति) वे कौन हैं जो वर्तमान शब्द[1]के रक्षक हैं?

5

सखायस्ते विषुणा अग्न एते शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन्।
अघूर्षत स्वयमेते वचोभिर्ऋजूयते वृजिनानि ब्रुवन्तः॥

(अग्ने) हे **संकल्पाग्ने**! ये हैं वे (ते सखायः) तेरे साथी जो (विषुणाः) तुझसे भटककर विमुख हो गये हैं। (एते शिवासः) ये शुभ करनेवाले थे, पर (अशिवाः अभूवन्) अशुभ करनेवाले बन गये हैं। ये (ऋजूयते) सरलता चाहनेवालेके प्रति (वृजिनानि ब्रुवन्तः) कुटिल बातें कह-कहकर (वचोभिः स्वयम् अघूर्षत) अपने वचनोंसे अपना नाश कर लेते हैं।

6

यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरुषस्य वृष्णः।
तस्य क्षयः पृथुरा साधुरेतु प्रसर्ऋाणस्य नहुषस्य शेषः॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ते**! (यः) जो (ते यज्ञं) तेरे यज्ञको (नमसा ईट्टे) नमनके साथ, समर्पण-भावके साथ चाहता है (सः) वह (अरुषस्य वृष्णः) देदीप्यमान दिव्य**कर्ता** और **वर्षक**[2] देवके (ऋतं पाति) सत्यकी रक्षा करता है। (तस्य) उसे (पृथुः क्षयः) वह विशाल गृह[3] (आ एतु) प्राप्त

1. या, "असत्य शब्द"। दोनों पक्षोंमें इसका अभिप्राय है पुराना असत्य जो **सत्य**की उस नई शक्तिके विपरीत है जिसका ज्ञान **अग्नि**को हमारे लिये उत्पन्न करना है।
2. 'चमकनेवाला **पुरुष** या **वृषभ**' (अरुषस्य वृष्णः), परन्तु इनमेंसे पिछले शब्द 'वृषन्'का अर्थ प्रचुर वैभवका वर्षक, उत्पादक या प्रसारक भी है और कभी-कभी इसका अर्थ प्रबल और प्रचुर भी होता है। पहला शब्द 'अरुष' क्रियाशील या गतिशीलका अर्थ भी रखता प्रतीत होता है।
3. मानसिक **द्युलोक** और भौतिक पृथिवीके परे अतिचेतन **सत्य**का स्तर

हो जाय जिसमें (साधुः) सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है। (प्रसर्त्राणस्य नहुषस्य) तीर्थयात्री मानवको (शेषः) अपने आगेकी यात्राको पूरा करनेके लिये जो कुछ भी सिद्ध करना शेष[1] है, वह सब भी (आ एतु) उसे प्राप्त हो जाए।

या **'स्वर्'** का लोक जिसमें वह सब सिद्ध किया जाता है जिसके लिये हम यहाँ प्रयास करते हैं। इसे विशाल निवासस्थानके रूपमें और चमकती हुई गायोंकी विस्तृत एवं भयमुक्त चरागाहके रूपमें वर्णित किया गया है।

1. कभी-कभी इस लोकको अवशेष या अतिरेकके रूपमें वर्णित किया गया है। यह सत्ताका अतिरिक्त क्षेत्र है, यह मन, प्राण और शरीरकी इस त्रिविध सत्तासे जो हमारी सामान्य अवस्था है, परे स्थित है।

तेरहवाँ सूक्त

भागवत संकल्पकी स्तुतिका गीत

[ऋषि **भागवत संकल्पकी** स्तुति करनेवाले **शब्दकी** शक्तिकी घोषणा करता है,—स्तुति किया गया यह **संकल्पाग्नि** मानवको द्युलोकका स्पर्श उपलब्ध करा देता है। शब्दके द्वारा हमारे अन्दर सम्पुष्ट यह अग्निदेव हमारे यज्ञ का पुरोहित बन जाता है और हममें दिव्य ऐश्वर्य और जयशील बलका विजेता बन जाता है। यह देवता अपनी सत्तामें अन्य सबको ऐसे धारण किये है जैसे पहियेकी नाभि अरोंको धारण करती है, इसलिये यह आध्यात्मिक आनन्दकी सारीकी सारी विविध ऐश्वर्य-सम्पदा हमारे पास ले आता है।]

1

अर्चन्तस्त्वा हवामहेऽर्चन्तः समिधीमहि। अग्ने अर्चन्त ऊतये॥

(अर्चन्तः त्वा हवामहे) प्रकाश देनेवाले शब्दको गाते हुए हम तुझे पुकारते हैं। (अर्चन्तः समिधीमहि) ज्ञानसे आलोकित करनेवाले शब्दको गाते हुए हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (हे अग्ने) हे **संकल्पाग्निदेव,** हम (ऊतये) अपनी वृद्धिके लिये (अर्चन्तः) प्रकाशप्रद शब्दको गाते हैं।

2

अग्नेः स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः। देवस्य द्रविणस्यवः॥

(अद्य) आज हम (अग्नेः देवस्य) **संकल्परूप अग्निदेवकी** (सिध्रं स्तोमं) सर्वसाधक स्तुतिको (मनामहे) मनके द्वारा दृढ़तासे धारण कर लेते हैं, उस अग्निकी स्तुतिको जो (द्रविणस्यवः) हमारे लिये दिव्य सारभूत ऐश्वर्य[1] चाहता है और (दिविस्पृशः) द्युलोकको स्पर्श करता है।

3

अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा। स यक्षद् दैव्यं जनम्॥

(अग्निः) वह **संकल्परूप अग्नि** (नः गिरः आ जुषत) हमारे स्तुतिशब्दोंको प्रेमसे स्वीकार करे, (यः मानुषेषु होता) जो यहाँ मानवोंमें पुरोहितके रूपमें स्थित है, (सः दैव्यं जनं यक्षत्) वह दिव्य जातिके प्रति यज्ञकी भेंट दे।

---

1. दिव्य सम्पदाएं जो यज्ञका लक्ष्य हैं।

4

त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः । त्वया यज्ञं वि तन्वते ।।

(अग्ने) हे **संकल्परूप अग्नि**! (त्वं सप्रथाः असि) तू बहुत विस्तृत और विशाल है, (होता) हमारी भेंटका पुरोहित है, (वरेण्यः) वरणीय तथा (जुष्टः) प्रिय है। (त्वया यज्ञं वितन्वते) तेरे द्वारा मनुष्य अपने यज्ञके स्वरूपको अत्यन्त विस्तृत करते हैं।

5

त्वामग्ने वाजसातमं विप्रा वर्धन्ति सुष्टुतम् । स नो रास्व सुवीर्यम् ।।

(अग्ने) हे **संकल्पाग्ने**! (सुष्टुतं त्वा) एक बार अच्छी तरह स्तुति किये गये तुझ देवको (विप्राः) ज्ञान-प्रदीप्त जन (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं जिससे कि तू (वाजसातमं) प्रचुर ऐश्वर्यको पूरी तरह जीत लेता है। इसलिए (सः) वह तू (सुवीर्यम् रास्व) हमें वीरोंका-सा पूर्ण बल प्रचुरतासे प्रदान कर।

6

अग्ने नेमिररां इव देवांस्त्वं परिभूरसि । आ राधश्चित्रमृञ्जसे ।।

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ति**! (नेमिः अरान् इव) जैसे रथमें पहियेका नाभिकेन्द्र अरनेमें अरोंको रखता है उसी प्रकार (त्वं देवान् परिभूः असि) तू अपनी सत्ताके अन्दर सब देवोंको धारण किये हुए है। (राधः चित्रम् आ ऋञ्जसे) तू उन ऐश्वर्योंका विविध आनन्द हमारे लिये ला।

चौदहवाँ सूक्त

प्रकाश और सत्यके अन्वेषकका सूक्त

[ऋषि घोषित करता है कि **अग्नि** यज्ञका **पुरोहित, अंधकार**की शक्तियोंका विनाशक, **सत्य-सूर्य**के लोकका—उसके भास्वर रश्मियूथों व ज्योतिर्मय जलधाराओंका अन्वेषक है, वह हमारे अन्दर स्थित द्रष्टा है जो यथार्थ चिन्तन और वाणीकी निर्मलताओंसे संवर्धित होता है।]

1

अग्निं सोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम्।
हव्या देवेषु नो दधत्॥

(अग्निं स्तोमेन बोधय) दिव्य **ज्वाला**को उसके संपोषक स्तुतिवचनसे जगाओ। (अमर्त्यं समिधानः) **अमर**को सुप्रदीप्त करो। (नः हव्या) हमारी समर्पण-रूप भेंटोंको वह (देवेषु दधत्) देवोंमें स्थापित करे।

2

तमध्वरेष्वीळते देवं मर्ता अमर्त्यम्।
यजिष्ठं मानुषे जने॥

(मर्ताः) मरणधर्मा मनुष्य (तम् अमर्त्यं देवं) उस अमर्त्य देवकी (अध्वरेषु) अपने यात्रा-यज्ञोंमें (ईळते) कामना व पूजा करते हैं, जो (मानुषे जने) मानव प्राणीमें (यजिष्ठं) यज्ञके लिए अत्यन्त समर्थ है।

3

तं हि शश्वन्त ईळते स्रुचा देवं घृतश्चुता।
अग्निं हव्याय वोळ्हवे॥

(शश्वन्तः) मनुष्यकी शाश्वत संततियाँ (घृतश्चुता स्रुचा) निर्मलताओंके चुआनेवाले चमचे[1]के साथ (तं देवम् ईळते) इस देवकी स्तुति करती हैं। (अग्निम् ईळते) वे **दिव्य संकल्प**की उपासना करती हैं (हव्याय वोळ्हवे) ताकि वह उनकी भेंटोंका वहन करे।

---

[1] यह चमचा है **सत्य** और **देवत्व**के प्रति मनुष्यकी अभीप्साकी निरन्तर उन्नीत गति।

4

अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तमः।
अविन्दद् गा अपः स्वः॥

(जातः अग्निः) उत्पन्न हुआ वह **ज्वालामय देव** (दस्यून्[1] घ्नन्) **घातकोंका** नाश करता हुआ (अरोचत) पूरी तरह चमक उठता है। वह (ज्योतिषा तमः [घ्नन्]) **ज्योतिसे अन्धकार** पर प्रहार करता है और (गाः अपः स्वः) चमकते हुए **गो-यूथों**[2], **जलधाराओं** और ज्योतिर्मय लोक'को (अविन्दत्) प्राप्त कर लेता है।

5

अग्निमीळेन्यं कविं घृतपृष्ठं सपर्यत।
वेतु मे शृणवद्धवम्॥

(अग्नि सपर्यत) **संकल्पशक्ति**की खोज और सेवा करो, (ईळेन्यं) जो हमारी पूजाका पात्र है, (घृत-पृष्ठं कविं) वह **द्रष्टा** है जो अपने उपरि-भागपर निर्मलताओंसे सम्पन्न है। (वेतु) वह आये और (हवं शृणवत्) मेरी पुकार सुने।

6

अग्निं घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्।
स्वाधीभिर्वचस्युभिः॥

(अग्नि घृतेन वावृधुः) मनुष्य दिव्य **संकल्पको** अपनी निर्मलताओंकी भेंटसे बढ़ाते हैं। (सु-आधीभिः) विचारको ठीक स्थान पर विन्यस्त करने वाले और (वचस्युभिः) सत्यप्रकाशक शब्दको पा लेनेवाले (स्तोमेभिः) स्तोत्रोंसे वे (विश्वचर्षणिं वावृधुः) अपने कार्योंके वैश्व कर्ताको संवर्धित करते हैं।

---

1. **दस्यु**, हमारी सत्ताकी एकता और समग्रताके विभाजक और **विभाजन** करनेवाली **दिति-माता**के पुत्र, जो निम्नस्थ गुफा और अन्धकारकी शक्तियाँ हैं।

2. **यूथ** और **जलधाराएं** वेदके दो मुख्य रूपक हैं। पहलेसे अभिप्रेत है दिव्य सूर्यकी एकत्र हुई **रश्मियाँ, प्रकाशपूर्ण चेतना**के यूथ; जलोंसे अभिप्रेत है दिव्य या अतिमानसिक सत्ताकी प्रकाशपूर्ण गति और प्रेरणाका प्रवाह।

3. **स्वः**, दिव्य सौर प्रकाशका लोक जिसकी ओर हमें आरोहण करना है और जो निम्नस्थ गुफासे ज्योतिर्मय यूथोंकी मुक्ति और उसके परिणाम-स्वरूप दिव्य **सूर्य**के उदय के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

पन्द्रहवाँ सूक्त

दिव्य धर्ता और विजेताका सूक्त

[ऋषि **भागवत संकल्प**की द्रष्टा और **शक्तिशाली एकमेव** एवं दिव्य **आनन्द** व **सत्य**के धर्ताके रूपमें स्तुति करता है जिसके द्वारा मनुष्य परम व्योममें स्थित देवोंको प्राप्त करते हैं। सिंहकी भाँति वह विरोधियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करता हुआ आगे निकल जाता है, आत्माके सब संभव जन्मों और आविर्भावोंको देखता है और उन्हें मनुष्यके लिए दृढ़ करता है, उसके गुप्त अतिचेतन स्तरका निर्माण करता है और ज्ञानके द्वारा उसे उस विशाल परम आनन्दमें उन्मुक्त कर देता है।]

1

प्र वेधसे कवये वेद्याय गिरं भरे यशसे पूर्व्याय।
घृतप्रसत्तो असुरः सुशेवो रायो धर्ता धरुणो वस्वो अग्निः॥

(कवये वेधसे) **द्रष्टा** और **नियन्ता**के प्रति (गिरा प्र भरे) मैं दिव्य **शब्द**की भेंट लाता हूँ जो द्रष्टा एवं नियन्ता (वेद्याय) ज्ञानका लक्ष्य है, (यशसे) यशस्वी और विजेता है तथा (पूर्व्याय) पुरातन एवं परम पुरुष है। वह (असुरः) **एकमेव शक्तिशाली प्रभु** है जो (सुशेवः) आनन्दसे परिपूर्ण है और (घृतप्रसत्तः) निर्मलताओंकी ओर अग्रसर होता है। वह (अग्निः) एक बल है जो (रायः धर्ता) आनन्दका धर्ता और (वस्वः धरुणः) सारभूत ऐश्वर्यका धारक है।

2

ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।
दिवो धर्मन् धरुणे सेदुषो नॄञ्जातैरजातॉं अभि ये ननक्षुः॥

(ये) जो लोग (जातैः [नृभिः]) अपने अन्दर उत्पन्न देवोंके द्वारा (अजातान् नॄन् अभि ननक्षुः) अप्रकट देवोंकी ओर यात्रा करते हैं और (दिवः धरुणे धर्मन् सेदुषः) द्युलोकको धारण करनेवाले **विधान**में सदाके लिए आसीन [नॄन् अभिननक्षुः] **शक्तियों**की ओर यात्रा करते हैं वे (यज्ञस्य शाके) **यज्ञ**की शक्तिमें, (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (ऋतेन) भागवत **सत्य**के द्वारा (ऋतं धारयन्त) उस **सत्य**को धारण करते हैं जो (धरुणम्) सबको धारण करता है।

3

अंहोयुवस्तन्वस्तन्वते वि वयो महद् दुष्टरं पूर्व्याय ।
स संवतो नवजातस्तुतुर्यात् सिंहं न क्रुद्धमभितः परि ष्ठुः ।।

(अंहोयुवः) अपनेसे बुराईको दूर रखते हुए वे (तन्वः वि तन्वते) आत्माके उन अत्यन्त विस्तृत आकारों और देहोंका निर्माण करते हैं जो (पूर्व्याय) इस प्रथम और परम देवके लिए (महत् वयः) विशाल जन्म और (दुस्तरम् [वयः]) अविनश्वर आविर्भाव है। (सः नवजातः) वह नया जन्म लेकर (तुतुर्यात्) उन सेनाओंको छिन्न-भिन्न करता हुआ आगे निकल जाएगा जो (संवतः) एक जगह मिलनेवाली बाढ़ोंकी तरह एकत्रित होती हैं। (अभितः परि स्थुः) वे सेनाएँ उसे चारों ओर से इस प्रकार घेरे रहती हैं (क्रुद्धं सिंहं न) जैसे शिकारी क्रुद्ध शेर को।

4

मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च ।
वयोवयो जरसे यद् दधानः परि त्मना विषुरूपो जिगासि ।।

(माता इव) तू एक माताकी तरह भी है (यत्) क्योंकि तू (पप्रथानः) अपने विस्तारमें (धायसे चक्षसे च) स्थिर आधार और अन्तर्दर्शनके लिए (जनं-जनं भरसे) जन्मके बाद जन्मको अपनी भुजाओंमें वहन करता है और (यत्) जब तू (वयः-वयः दधानः) अभिव्यक्तिके बाद अभिव्यक्तिको अपनेमें धारण करता हुआ (जरसे) उसका उपभोग करता है तब तू (त्मना) अपनी सत्ताके द्वारा (विषु-रूपः) अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें (परि जिगासि) सर्वत्र विचरता है।

5

वाजो नु ते शवसस्पात्वन्तमुरुं दोघं धरुणं देव रायः ।
पदं न तायुर्गुहा दधानो महो राये चितयन्नत्रिमस्पः ।।

(देव) हे देव ! (वाजः) हमारी ऐश्वर्य-प्रचुरता (ते शवसः अन्तम्) तेरी शक्तिकी उस चरम सीमाको (पातु नु) उपलब्ध करे, जहाँ यह (उरुम्) अपनी विशालतामें और (दोघम्) सब कामनाओंको पूरा करनेवाले प्रचुर वैभवमें (रायः धरुणम्) आनन्दको धारण करती है। तू ही है वह जो अपने अन्दर ही (तायुः न) चोरकी भाँति (गुहा पदं दधानः) उस गुप्त धामको बनाता और धारण करता है जिसकी ओर हम गति करते हैं। तू ने (अत्रिं चितयन्) वस्तुओंके भोक्ताको जाग्रत् करके (महः राये) विशाल परमानन्दके लिए (अस्पः) मुक्त कर दिया है।

सोलहवाँ सूक्त

समस्त स्पृहणीय कल्याणके लानेवालेके प्रति

[ऋषि मानवमें स्थित **भागवत संकल्प**की इस रूपमें स्तुति करता है कि वह एक होता [हविर्दाता] और पुरोहित (प्रतिनिधि) है जो प्रकाश, शक्ति, अन्तःस्फूर्त ज्ञान एवं प्रत्येक वरणीय कल्याण लाता है; क्योंकि वह एक अभीप्सु है जो कार्योंके द्वारा अभीप्सा करता है और जिसमें सब देवोंकी शक्ति और उनके बलका परिपूर्ण वैभव विद्यमान है।]

1

बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये ।
यं मित्रं न प्रशस्तिभिर्मर्तासो दधिरे पुरः ।।

(भानवे) उस भास्वर **ज्योति**के प्रति, (देवाय) उस देवके प्रति (अग्नये) **संकल्पाग्नि**के प्रति तू (बृहत् वयः) विशाल आविर्भाव का (अर्च) शब्द द्वारा स्तुतिगान कर, (यं) जिसको (मर्तासः) मर्त्य (प्रशस्तिभिः) उसके देवत्वके अनेकों वर्णन करनेवाली वाणियोंसे (मित्रं न) **मित्र**[1] के रूपमें (पुरः दधिरे) अपने सामने रखते हैं।

2

स हि द्युभिर्जनानां होता दक्षस्य बाह्वोः ।
वि हव्यमग्निरानुषग्भगो न वारमृण्वति ।।

(सः हि जनानां होता) वही **संकल्परूप अग्निदेव** मनुष्योंकी भेंटको वहन करनेवाला पुरोहित है। (बाह्वोः) अपनी दोनों भुजाओंमें (दक्षस्य द्युभिः) विवेकशील मनकी दीप्तियोंसे वह (हव्यम् आनुषक् ऋण्वति) उनकी

---

1. **मित्र। अग्नि** सब देवोंको धारण किये है और स्वयं सब देव है। मर्त्योंको **दिव्य संकल्प**की क्रियामें प्रकाश और प्रेमको, सच्चे ज्ञान एवं सच्चे अस्तित्वके सामंजस्यको अर्थात् **मित्र-शक्ति**को खोजना है, इसी रूपमें दिव्य **संकल्पाग्नि**को यज्ञके **पुरोहित**के तौरपर मानव चेतनाके अग्रभागमें स्थापित करना है।

हवियोंकी अविच्छिन्न परम्पराको उस पार ले जाता है[1] और (भगः न) दिव्य भोक्ता[2]के रूपमें (वारम् ऋण्वति) मनुष्यके कल्याणकी ओर गति करता है।

3

अस्य स्तोमे मघोनः सख्ये वृद्धशोचिषः।
विश्वा यस्मिन् तुविष्वणि समर्ये शुष्ममादधुः॥

(वृद्धशोचिषः अस्य) जब वह अग्निदेव पवित्रताकी अपनी ज्वालाको बढ़ा लेता है तब उसके (स्तोमे) स्तुतिगीतमें और (सख्ये) उसकी मित्रतामें ही (मघोनः) प्रचुर ऐश्वर्यके सब प्रभु[3], सब देव अवस्थित होते हैं, क्योंकि (यस्मिन् तुवि-स्वनि विश्वा) उसकी अनेकों वाणियोंकी ध्वनिमें सभी पदार्थ विद्यमान हैं। (अर्ये) मानवके कार्योंमें अभीप्सा करनेवाले उस देवपर (शुष्मं सम् आदधुः) उन्होंने अपनी शक्तिका सब भार डाल दिया है।

4

अधा ह्यग्न एषां सुवीर्यस्य मंहना।
तमिद् यह्वं न रोदसी परि श्रवो बभूवतुः॥

(अध हि) अब भी (अग्ने) हे **संकल्पशक्ते**! (एषां सुवीर्यस्य मंहना) उनकी समग्र शक्तिका पूरा प्राचुर्य हो। (तं यह्वं परि) इस शक्तिशाली

---

1. **पुरोहित**के रूपमें, यज्ञ में प्रतिनिधिरूप पुरोहित, यज्ञकी यात्राके रथके नेताके रूपमें। **भगवन्मुखी** कार्यके पथ-प्रदर्शन और सतत संचालनके लिए वह हमारी सब शक्तियोंका नेता बनकर हमारी चेतनाके अग्रभागमें स्थित रहता है ताकि इसमें कोई बाधा न हो और यज्ञकी व्यवस्थामें, देवोंकी ओर उसकी प्रगतिकी समुचित क्रमिक अवस्थाओंमें एवं **सत्य**के कालों और ऋतुओंके अनुसार इसकी क्रियाओंको यथावत् स्थान देनेमें कोई अन्तराल न रहे।
2. **भागवत संकल्प भोक्ता भग, मित्र**की भ्रातृशक्ति, बन जाता है जो सत्ताके समस्त आनन्दका आस्वादन करती है, किन्तु ऐसा वह **मित्र**की विशुद्ध विवेक-शक्तिके द्वारा तथा दिव्य जीवनके प्रकाश, सत्य व सामंजस्यके अनुसार ही करती है।
3. देव; **भगवती शक्ति** अन्य सभी दिव्य शक्तियोंको अपने अन्दर समाए हुए है और उनके कार्य-व्यापारमें उन्हें सहारा देती है; अतः अन्य सब देवोंकी शक्ति उसी में निहित है।

संकल्पबलके चारों ओर (रोदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक (श्रवः न) मानों अन्तःस्फुरित **ज्ञान**[1]की एकात्मक वाणी (बभूवतुः) बन गये हैं।

5

नू न एहि वार्यमग्ने गृणान आ भर।
ये वयं ये च सूरयः स्वस्ति धामहे सचोतैधि पृत्सु नो वृधे॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्तिरूप अग्निदेव**! (गृणानः नः आ इहि नु) हमारे वचनोंसे स्तुति किया हुआ तू हमारे पास अभी आ और (नः वार्यम् आ भर) हमारा अभिलषित कल्याण हमारे पास ले आ। (ये वयं ये च सूरयः) हम जो यहाँ हैं और वे जो ज्ञानके प्रकाशमय स्वामी हैं (स्वस्ति धामहे) इकट्ठे मिलकर अपनी सत्ताकी उस आनन्दपूर्ण स्थितिकी नींव डालें। (उत सः) और वह तू (नः पृत्सु) हमारे संग्रामोंमें (एधि) हमारे साथ अभियान कर ताकि (वृधे) हम अभिवृद्धि प्राप्त करें।

---

1. संपूर्ण भौतिक और संपूर्ण मानसिक चेतना एक ऐसे ज्ञानसे परिपूर्ण हो जाती हैं जो अतिमानसिक स्तरसे उनके अंदर प्रवाहित होता है मानों वे दिव्य-**द्रष्टा संकल्पके** चारों ओर अतिमानसिक प्रकाश तथा क्रियामें परिणत हो जाती हैं क्योंकि वह अपने रूपान्तरके कार्यके लिए उनके अन्दर सर्वत्र गति करता है।

सत्रहवाँ सूक्त

आत्म-विस्तार और चरम अभीप्साका सूक्त

[एक अवस्था आती है जिसमें मनुष्य बुद्धिकी निरी सूक्ष्मता और कुशाग्रताके परे चले जाता है और आत्माकी समृद्धि तथा बहुविध विशालता तक पहुँच जाता है। यद्यपि तब उसके पास अपनी सत्ताका विशाल विधान होता है जो हमारा समुचित आधार है, तथापि उसे अपने नेतृत्वके लिये एक ऐसी शक्तिकी आवश्यकता होती है जो उसकी शक्तिसे बड़ी है; क्योंकि आत्म-शक्ति और ज्ञानकी विशालता एवं अनेकविधता ही पर्याप्त नहीं, विचार, शब्द और क्रियामें दिव्य सत्यका होना भी नितांत आवश्यक है। वस्तुतः हमें विशालतायुक्त मानसिक सत्तासे परे जाकर मनोतीत अवस्थाका परम आनन्द प्राप्त करना है। **अग्नि** प्रकाश व बल, **शब्द** व सत्यप्रेरणा और सर्वग्राही ज्ञान व सर्वसाधक शक्तिसे सम्पन्न है। वह अपने रथमें दिव्य ऐश्वर्य-संपदा लाये और हमें आनन्दपूर्ण स्थिति और परम कल्याणकी ओर ले जाय।]

1

आ यज्ञैर्देव मर्त्य इत्था तव्यांसमूतये।
अग्निं कृते स्वध्वरे पूरुरीळीतावसे॥

(देव) हे देव! (मर्त्य ईळीत) मैं मर्त्य हूँ जो तुझे पुकारता हूँ, क्योंकि (तव्यांसम्) तेरी शक्ति मेरीसे बड़ी है और (यज्ञैः इत्था) अपनी क्रियाओंमें सत्यपूर्ण है। (पूरुः) अनेकविध आत्मशक्तिवाला मनुष्य जब (सु-अध्वरे कृते) अपने यज्ञको पूर्ण बना लेता है तब वह (अवसे) अपनी वृद्धिके लिये (अग्निम् ईळीत) **संकल्पाग्नि**की स्तुति करे।

2

अस्य हि स्वयशस्तर आसा विधर्मन्मन्यसे।
तं नाकं चित्रशोचिषं मन्द्रं परो मनीषया॥

हे मानव! (विधर्मन्) तू जिसने अपनी सत्ताका विशाल विधान[1]

1. सत्तामें चेतना और शक्तिकी विशालतर क्रिया जिसके द्वारा सामान्य मन, प्राण और शारीरिक सत्ताकी कठोर सीमाएँ टूट जाती हैं और

विजित कर लिया है (अस्य आसा) इस अग्निके मुखके द्वारा (स्वयशस्तरः) उपलब्धिके लिये अधिक आत्मशक्तिशाली हो जायगा, (तं चित्र-शोचिषं मन्द्रं नाकं) तू इसकी अतिसमृद्ध ज्वालाओंवाले उस आनन्दोल्लासपूर्ण स्वर्ग[1]को (मन्यसे) मनोमय रूप दे देगा जो (मनीषया परः) मनके विचारसे परे-है।

3

*[2]अस्य वासा उ अर्चिषा य आयुक्त तुजा गिरा।
दिवो न यस्य रेतसा बृहच्छोचन्त्यर्चयः॥

(यः) जिस अग्निने (अस्य वै आसा उ अर्चिषा) अपनी ज्वालाके मुख और दीप्तिके द्वारा अपने-आपको (तुजा गिरा) प्रेरणायुक्त शक्ति और शब्दके साथ (आ अयुक्त) दृढ़तासे जोड़ लिया है, (दिवः रेतसा न बृहत्) मानो द्युलोकके वीर्यके कारण विशाल उस अग्निकी (अर्चयः शोचन्ति) किरणें पवित्रताके साथ चमक रही हैं, उसकी किरणोंकी पवित्रता अपनी प्रखर दीप्ति प्रसारित कर रही है।

मनुष्य पूर्ण आंतरिक जीवनको अनुभव करनेके योग्य बन जाता है तथा अपनी सत्ता एवं वैश्व सत्ताके समस्त स्तरोंके साथ संपर्क रखनेके लिए अपनेको खोलनेमें समर्थ हो जाता है।

1. आनंदकी अवस्था जिसका आधार है 'स्वर्', अर्थात् सत्ताका अतिमानसिक स्तर।

2. 'अस्य वासा उ अर्चिषा'—इस चरणका पदपाठ श्रीअरविन्दने 'अस्य। वै। आसा। ऊम् इति। अर्चिषा।' ऐसा स्वीकार किया है। सायणने 'आसा'की जगह 'असौ' पद माना है।

दूसरे मन्त्रमें 'अस्य हि स्वयशस्तर **आसा** विधर्मन् मन्यसे'में 'आसा' पदके प्रयोगसे तीसरेमें भी उसी पदकी सम्भावना पुष्ट होती है।

इस पदके परिवर्तनसे श्रीअरविन्दकृत मन्त्रार्थमें कितना अर्थगौरव आ गया है यह विज्ञ पाठकगण सायण और श्रीअरविन्द-कृत मन्त्रार्थोंकी तुलनासे स्वयं देख सकते हैं।

"**अस्य** वै खलु अग्नेः **अर्चिषा** प्रभया **असौ** आदित्यः अर्चिष्मान् भवति।" (निश्चय ही, इस अग्निकी प्रभासे वह सूर्य दीप्यमान होता है)—सायणका यह कथन कर्मकाण्डकी अग्निमें कहाँतक संगत है यह पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। स्थूल भौतिक अग्निके लिए ऐसा कहना असंगत ही होगा। —अनुवादक

4

अस्य क्रत्वा विचेतसो दस्मस्य वसु रथ आ।
अधा विश्वासु हव्योऽग्निर्विक्षु प्र शस्यते ।।

(अस्य क्रत्वा) वह अपने क्रिया-कलापकी शक्ति द्वारा (विचेतसः) सबका आलिंगन करनेवाले ज्ञान और (दस्मस्य) सब कुछ सिद्ध करनेवाली शक्तिसे सम्पन्न है। उसका (रथः) रथ (वसु) दिव्य ऐश्वर्य-संपदाको (आ [वहति]) धारण करता है। (अध) इसलिये (विश्वासु विक्षु) सब प्राणियोंमें (अग्निः) वह अग्नि ही एक ऐसा देव है जो (प्र शस्यते) प्रकट करने योग्य है, [वह एक ऐसा सहायक है] (हव्यः) जिसे मनुष्य पुकारते हैं।

5

नू न इद्धि वार्यमासा सचन्त सूरयः।
ऊर्जो नपादभिष्टये पाहि शग्धि स्वस्तय उतैधि पृत्सु नो वृधे ।।

(नु) अभी, (नः इत् हि) हमारे लिये भी (सूरयः) ज्ञान-प्रदीप्त स्वामी (आसा) ज्वालाके मुखसे (वार्यम्) हमारे परमकल्याणके लिये (सचन्त) दृढ़तया संलग्न हों।[1] (ऊर्जो नपात्) हे शक्तिके पुत्र! (पाहि) हमारी रक्षा कर (अभिष्टये) ताकि हम अंदर प्रवेश कर सकें,[2] (स्वस्तये शग्धि) अपनी आनन्दमय स्थिति पानेके लिये शक्तिशाली हो सकें। (उत) और (नः पृत्सु) हमारे युद्धोंमें (एधि) तू हमारे साथ अभियान कर ताकि हम (वृधे) विकसित हों।

---

1. हमारे अंदर स्थित ज्योतिर्मय देवोंको चाहिये कि वे हमारी चेतनाको उस प्रकाश एवं सत्यके साथ दृढ़तासे जोड़े रखें जो संकल्पाग्निकी क्रियाओंसे लाया जाता है ताकि हम यथार्थ गति और उसके दिव्य आनंदसे च्युत न हो जायँ।

2. अथवा, हम अन्तर्मुख गति कर सकें। अभि + इष् (गतौ दिवा. प.) + क्तिन् + ङे = अभिष्टये, सवर्णदीर्घस्थाने पररूपं छान्दसम्।—अनुवादक

अठारहवाँ सूक्त

पूर्ण ऐश्वर्यके अधिपतियोंका सूक्त

[आत्मा अपनी दूसरी भूमिकामें कोरी शारीरिक सत्ताको पार कर लेती है और प्राणिक सत्ताकी पूर्ण शक्तिसे भर जाती है क्योंकि उसे देवोंने जीवनके पचास-के-पचास वेगशाली अश्व दे दिये होते हैं। इस भूमिकाके बाद दिव्य शक्तियोंके आविर्भावको पूर्ण करनेके लिए **भागवत संकल्पका** आवाहन किया जाता है। **अग्नि** वहाँ आत्माकी उस दूर-दूरतक फैली हुई सत्ताकी ज्योति एवं ज्वालाके रूपमें विद्यमान है जिसने भौतिक सत्ताकी सीमाओंको तोड़ दिया होता है। वहाँ वह इस नये और समृद्ध अतिभौतिक जीवनके आनन्दोंसे पूर्ण है। अब इस तीसरी भूमिकाको अर्थात् स्वतन्त्र मनोमयी सत्ताको विचार और वाणीकी समृद्धतया विविध एवं ज्योतिर्मय क्रीड़ाके द्वारा पूर्ण बनाना है। इस क्रीड़ाके अन्तमें मनोमय प्रदेशोंके सर्वोच्च स्तरका अर्थात् मानसिक सत्तामें अतिमानसिक **प्रकाशकी** शक्तिका आविर्भाव होगा। वहाँ अन्तर्ज्ञानात्मक और अन्तःप्रेरित मनका आविर्भाव आरम्भ होता है। अग्निको **सत्यज्ञान** (ऋत)की उस विशालता, ज्योति और दिव्यताका सर्जन करना है और इस प्रकार उससे, शक्तिके पहलेसे प्राप्त मुक्तवेगको तथा जीवन और उपभोगके विस्तृत क्षेत्रको, जो पूर्णतायुक्त और प्रभु-पूरित प्राणका अपना विशेष क्षेत्र है, विभूषित करना है।]

1

प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः।
विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति॥

(प्रातः) उषःकाल[1]में (पुरुप्रियः) अनेक आनन्दोंसे सम्पन्न, (विशः अतिथिः अग्निः) प्राणियोंके अतिथि उस **संकल्पाग्निकी** (स्तवेत) स्तुतिकी जाय (यः) जो (मर्तेषु अमर्त्यः) मर्त्योंमें अमर होता हुआ (विश्वानि हव्या) उनकी सब भेंटोंमें (रण्यति) आनन्द लेता है।

---

1. मनमें उच्चतर ज्ञानकी दिव्य **उषा**का उदय होना।

2

द्विताय मृक्तवाहसे स्वस्य दक्षस्य मंहना।
इन्दुं स धत्त आनुषक् स्तोता चित् ते अमर्त्य ।।

(मृक्तवाहसे) पवित्र की हुई मेधाको वहन करनेवाली (द्विताय)[1] दूसरी [ऊर्ध्वस्तरकी] आत्माके लिए (सः) वह अग्नि (स्वस्य दक्षस्य मंहना) अपने विवेकशील मनका पूर्ण वैभव है। तब (सः) वह आत्मा (आनुषक् इन्दुम्) आनन्दकी अविच्छिन्न मधु-मदिराको (धत्ते) अपने अन्दर धारण करती है और (ते चित् स्तोता) तेरी ही स्तुति करती है; (अमर्त्य) हे अमर!

3-4

तं वो दीर्घायुशोचिषं गिरा हुवे मघोनाम्।
अरिष्टो येषां रथो व्यश्वदावन्नीयते ।।
चित्रा वा येषु दीधितिरासन्नुक्था पान्ति ये।
स्तीर्णं बर्हिः स्वर्णरे श्रवांसि दधिरे परि ।।

(तं दीर्घायुशोचिषम्) इस दूर-दूरतक विस्तृत सत्ताकी विशुद्ध-ज्वाला-रूप तुझ अग्निदेवको मैं (गिरा हुवे) अपनी वाणीसे पुकारता हूँ, (अश्व-दावन्) हे द्रुतगतिवाले अश्वोंके दाता! (वः मघोनाम्) ऐश्वर्य-प्रचुरताके उन सब अधिपतियोंके लिये (येषां रथः) जिनका रथ (अरिष्टः) अक्षत होते हुए (वि ईयते) व्यापक[2] रूपसे संचरण करता है,—तुझे पुकारता हूँ।

पुकारता हूँ प्रचुर वैभवके उन अधिपतियोंके लिये (येषु वा चित्रा दीधितिः) जिनमें विचारका समृद्ध प्रकाश है और (ये) जो (आसन्) अपने

---

1. **द्वित**—मानवीय आरोहणके दूसरे स्तरका देव या ऋषि। यह स्तर **प्राणशक्ति**का स्तर है, पूर्णतया चरितार्थ शक्तिका, कामनाका स्तर है, उन प्राणिक शक्तियोंका मुक्त क्षेत्र है जो अब जड़ **प्रकृति**के इस साँचेकी कठोर सीमाओंसे सीमित नहीं होतीं। हम नये प्रदेशोंके सम्बन्धमें और उनके भीतर सचेतन हो जाते हैं, वे प्राणके असीम क्षेत्र हैं जिन्हें अगली ऋचामें "दूर-दूरतक विस्तृत सत्ता" कहा गया है तथा जो हमारी सामान्य भौतिक चेतनाकी आड़में छिपे हैं। **त्रित** तीसरे स्तरका देव या ऋषि है जो भौतिक मनको अज्ञात, ज्योतिर्मय मानसिक राज्योंसे पूर्ण है।

2. प्राणके नये लोकोंमें दिव्य क्रिया अब चरितार्थ हो चुकी है और **मृत्यु** तथा **अन्धकार**की शक्तियोंके "अनिष्टों"से अक्षत विचरती है।

मुँहमें (उक्था पान्ति) हमारे स्तुति-वचनोंकी रक्षा करते हैं। संपूर्ण आत्मा (स्वः-नरे) देदीप्यमान लोककी शक्ति[1]में (बर्हिः स्तीर्णम्) यज्ञके आसनकी तरह बिछी हुई है और (श्रवांसि परि दधिरे) इसकी समस्त अंतःप्रेरणाएँ उसके चारों ओर निहित हैं।[2]

5

ये मे पञ्चाशतं ददुरश्वानां सधस्तुति।
द्युमदग्ने महि श्रवो बृहत् कृधि मघोनां नृवदमृत नृणाम्॥

(ये) जिन्होंने (मे) मुझे (सधस्तुति)पूर्ण स्तुतिसे संपन्न (अश्वानां पञ्चाशतम्) अतिवेगशाली पचास अश्व[3] (ददुः) दिये हैं, उनके लिए, (मघोनां नृणाम्) उन दिव्य आत्माओंके लिए जो प्रचुर वैभवके अधिपति हैं, (अमृत अग्ने) हे **अमर ज्वाला!** (महि) महान् (बृहत्) विशाल और (नृवत्) दिव्यताओंसे पूर्ण (द्युमत् श्रवः कृधि) ज्योतिर्मय ज्ञानका सर्जन कर।

---

1. **'स्वर्णर'**—इसके विषयमें प्रायः ऐसा उल्लेख किया जाता है मानो यह एक देश हो; यह अपने-आप स्वर् अर्थात् चरम अतिचेतन स्तर नहीं है, अपितु उसकी एक शक्ति है जिसे उस लोकका प्रकाश विशुद्ध मनोमय सत्तामें निर्मित करता है। यहाँ इसकी अंतःप्रेरणाएँ और प्रभाएँ अवतरण करती हैं और यज्ञके आसनके चारों ओर अपना स्थान ग्रहण करती हैं। इन्हें दूसरी जगह सौर **देवता वरुण**के गुप्तचर कहा गया है।
2. यह ऋचा **द्वित**के प्रदेशोंसे **त्रित**के प्रदेशोंतक दिव्य गतिके अगले आरोहणका वर्णन करती है।
3. **अश्व प्राणशक्ति**का प्रतीक है जैसे **गौ प्रकाश**का। पचास, सौ एवं हजार—ये संख्याएँ पूर्णताकी प्रतीक हैं।

उन्नीसवाँ सूक्त

ज्ञान-प्रकाशक रश्मि और विजयशील संकल्पका सूक्त

[यहाँ आत्माके उस आविर्भावका गान गाया गया है जिसमें उसकी उच्चतर भूमिकाओंके सभी आवरणोंका भेदन किया जा चुका है और वे दिव्य प्रकाशकी ओर उद्घाटित हो गई हैं। यह हमारी सत्ताके सम्पूर्ण तीसरे स्तरका उद्घाटन है जो पहले एक दुर्ग-रक्षित नगर था जिसके द्वार जड़**प्रकृति**के अन्दर देहबद्ध आत्माके लिये बन्द थे। **भागवत शक्ति**की इस नयी क्रियासे मानसिक और भौतिक चेतना उच्च अतिमानसिक चेतनाके साथ परिणय-सूत्रमें ग्रथित हो गई हैं जो अभीतक उनसे पृथक् थी; जीवन-शक्ति अपने कार्योंमें दिव्य सूर्यके तापसे देदीप्यमान होती हुई दिव्य ज्ञानके सूर्यकी रश्मिकी क्रीड़ाके साथ समस्वर हो गई है।]

1

अभ्यवस्थाः प्र जायन्ते प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत।
उपस्थे मातुर्विचष्टे॥

(अवस्थाः अभि प्र जायन्ते) भूमिकापर भूमिकाका जन्म हुआ है, (वव्रेः वव्रिः) आवरण-पर-आवरण (प्र चिकेत) ज्ञानकी चेतनाकी ओर खुल गया है। (मातुः उपस्थे) अपनी **माँ**[1]की गोदमें (विचष्टे) [आत्मा] देखता है[2]।

2

जुहुरे विचितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति।
आ दूळ्हां पुरं विविशुः॥

(विचितयन्तः) सबको अपने अन्दर समा लेनेवाले ज्ञानकी ओर जाग्रत् मनुष्य तुझमें (जुहुरे) हवि डालते हैं। (अनिमिषं नृम्णं पान्ति) वे नित्य-जागरूक मानवत्वकी रक्षा करते हैं और (दूळ्हाम् पुरम् आ विविशुः) दुर्गवत् दृढ़ नगरके अन्दर प्रवेश करते हैं।

---

1. अदिति—अनन्त चेतना, सब पदार्थोंकी **माता**।
2. **अनन्त** अतिमानसिक चेतनाके सर्वालिङ्गी अंतर्दर्शनके साथ।

3

आ श्वैत्रेयस्य जन्तवो द्युमद् वर्धन्त कृष्टयः।
निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः॥

(जन्तवः) जो मनुष्य संसारमें पैदा हुए हैं और (कृष्टयः) कर्ममें यत्नशील हैं वे (श्वैत्रेयस्य) श्वेत ज्योतिवाली माँ[1]के पुत्रकी (द्युमत्) तेजोमय अवस्थाका (आ वर्धन्त) संवर्धन करते हैं। (निष्क-ग्रीवः) वह सोनेका हार[2] पहनता है, (बृहत्-उक्थः) वह विशाल शब्दका उच्चारण करता है, (एना) उसके द्वारा और (मध्वा न) मानो आनन्दकी मधुमयी मदिराके द्वारा वह (वाजयुः) ऐश्वर्य-परिपूर्णताका अभिलाषी बन जाता है।

4

प्रियं दुग्धं न काम्यमजामि जाम्योः सचा।
घर्मो न वाजजठरोऽदब्धः शश्वतो दभः॥

वह (प्रियं काम्यं दुग्धं न) माँके प्रिय और कामना करने योग्य दूध[3]की तरह है। वह (अजामि) बिना किसी साथी[4]के है, तो भी वह (जाम्योः सचा) दो साथियोंके साथ रहता है, वह (घर्मः) **प्रकाश**की गर्मी है और (वाज-जठरः) ऐश्वर्य-परिपूर्णताका उदर है। वह (अदब्धः शश्वतः) अजेय सनातन सत्ता है जो (दभः) सब वस्तुओंको अपने पैरोंके नीचे कुचल डालती है।

5

क्रीळन् नो रश्म आ भुवः सं भस्मना वायुना वेविदानः।
ता अस्य सन् धृषजो न तिग्माः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः॥

(रश्मे) हे किरण! (नः भुवः) हममें पैदा हो और (क्रीळन्) क्रीड़ा करते हुए निवास कर, (भस्मना वायुना सं वेविदानः) अपने ज्ञानको

---

1. **अदिति**; उसकी अन्धकार-पूर्ण अवस्था या उसका काला रूप है **दिति**, अन्धकारकी शक्तियोंकी माता।
2. **सत्य**के दिव्य **सूर्य**की रश्मियोंका हार।
3. **अदिति-रूपी गौ**का दूध।
4. सबका सर्जन करनेवाला और स्वयंपूर्ण अतिमानस जो ऊर्ध्व और दूरस्थ है और है हमारी चेतनामें मानसिक और भौतिक स्तरोंसे पृथक्; तो भी वस्तुतः वह वहाँ उनकी एक दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रियाके पीछे विद्यमान है। मनुष्यकी मुक्त अवस्थामें यह पृथक्ता मिट जाती है।

देदीप्यमान जीवन-देवता वायुके साथ समस्वर करते हुए निवास कर। (अस्य ताः) संकल्पकी ये ज्वालायें जो (वक्ष्यः) हमारे कर्मोंको वहन करती हैं, (धृषजः) प्रचंड, (तिग्माः) तीव्र और (सुसंशिताः सन्) पूर्ण-प्रखर रूपसे तीक्ष्ण हों। वे (वक्षणे-स्थाः) सब वस्तुओंके **वाहकमें** दृढ़ताके साथ स्थापित हों।

बीसवाँ सूक्त

कर्म और उपलब्धिका सूक्त

[ऋषि आध्यात्मिक ऐश्वर्यकी ऐसी अवस्थाकी कामना करता है जो भागवत क्रियासे भरपूर हो और जिसमें कोई भी चीज विभाजन और कुटिलताके गर्तमें न गिरने पाए। इस प्रकार अपने कार्योंसे भागवत **शक्ति**को अपने अन्दर प्रतिदिन संवर्धित करते हुए हम **परम आनन्द** एवं **सत्य, प्रकाश**का आनन्दोल्लास एवं **शक्ति**का हर्षोन्माद प्राप्त कर लेंगे।]

1

यमग्ने वाजसातम त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तं नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥

(अग्ने) हे दिव्य **संकल्प**! (वाजसातम) हे हमारी ऐश्वर्य-प्रचुरताके विजेता! (यं रयिं) जिस परम आनन्दको (त्वं चित् मन्यसे) अकेला तू ही अपने मनके अन्दर विचारमें ला सकता है (तं) उसे (नः) हमारे (गीर्भिः) स्तुति-वचनोंके द्वारा (श्रवाय्यं) अन्तःप्रेरणाओंसे भर दे और (युजम्) हमारा सहायक बनकर उसे (देवत्रा) देवताओंमें (पनय) क्रियाशील बना दे।

2

ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवसः।
अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिरे॥

(अग्ने) हे संकल्पाग्ने! (ये) तेरी जो शक्तियाँ (ते उग्रस्य शवसः वृद्धाः) तेरी ज्वाला और बलकी उग्रतामें तेरे द्वारा संवर्धित होकर भी हमें (न ईरयन्ति) मार्गपर चलनेके लिए प्रेरित नहीं करतीं, वे (द्वेषः अप सश्चिरे) दूर हटकर द्वैधभावमें ग्रस्त हो जाती हैं और (अन्यव्रतस्य ह्वरः) तेरे नियमसे भिन्न किसी नियमकी कुटिलताके साथ (अप [सश्चिरे]) चिपट जाती हैं।

3-4

होतारं त्वा वृणीमहेऽग्ने दक्षस्य साधनम्।
यज्ञेषु पूर्व्यं गिरा प्रयस्वन्तो हवामहे॥

इत्था यथा त ऊतये सहसावन् दिवेदिवे।
राय ऋताय सुक्रतो गोभिः ष्याम सधमादो वीरैः स्याम सधमादः॥

(अग्ने) हे **संकल्पशक्ते**! हम (त्वा) तुझे (होतारं) हविरूप भेंटोंके पुरोहित और (दक्षस्य साधनम्) विवेकयुक्त ज्ञानके संसाधकके रूपमें (वृणीमहे) अपने लिए वरण करते हैं। (प्रयस्वन्तः) तेरे लिए अपने सारे आनन्दोंको धारण किये हुए हम (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (गिरा) अपने स्तुति-वचनसे तुझ (पूर्व्यं) सनातन और परमका (हवामहे) आह्वान करते हैं।

(यथा इत्था हवामहे) ठीक तरहसे और इस प्रकार आह्वान करते हैं कि (सहसावन्) हे शक्तिशाली देव! (सुक्रतो) हे पूर्ण कार्यसाधक शक्ति! हम (दिवे-दिवे) दिन-प्रतिदिन (ते ऊतये) तुझे बढ़ाएँ, ताकि हम (राये) **परम आनन्द** प्राप्त कर सकें, (ऋताय) सत्य उपलब्ध कर सकें, (गोभिः) ज्ञानकी **रश्मियों**के द्वारा (सधमादः स्याम) पूर्ण आनन्दोल्लास अधिगत कर सकें और (वीरैः सधमादः स्याम) **शक्तिरूप वीरों**के द्वारा पूर्ण आनन्दोन्माद प्राप्त कर सकें।

इक्कीसवाँ सूक्त

मानवतामें निहित दिव्य अग्निका सूक्त

[ऋषि दिव्य ज्वालाका आवाहन करता है ताकि वह मानव सत्तामें दिव्य **मानव**के रूपमें प्रज्वलित हो तथा हमें **सत्य** और **परमानंद**के धामोंमें हमारी पूर्णता तक उठा ले जाय।]

1

मनुष्वत्त्वा नि धीमहि मनुष्वत् समिधीमहि।
अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान् देवयते यज॥

(मनुष्वत्) मानुषी रूप[1]में हम (त्वा) तुझे (नि धीमहि) अपने अंदर प्रतिष्ठित करते हैं, (मनुष्वत्) मानुषी रूपमें (त्वा) तुझे (सम् इधीमहि) प्रज्वलित करते हैं। (अग्ने) हे **ज्वाला**! (अङ्गिरः) हे द्रष्टृ-रूप शक्ति! (देवयते) देवोंकी कामना करनेवालेके लिए (मनुष्वत्) मानुषी रूपमें (देवान् यज) देवोंके प्रति यज्ञ कर।

2

त्वं हि मानुषे जनेऽग्ने सुप्रीत इध्यसे।
स्रुचस्त्वा यन्त्यानुषक्सुजात सर्पिरासुते॥

(अग्ने) हे **ज्वालारूप अग्निदेव**! (सुप्रीतः त्वम्) जब तू [मनुष्यकी] भेंटोंसे तृप्त होता है तब तू (मानुषे जने) मानव प्राणीमें (इध्यसे हि) प्रज्वलित होता है। उसके (स्रुचः) कड़छे (आनुषक्) निरंतर (त्वा यन्ति)

---

1. देवत्व मनुष्यके अंदर अवतरित होता हुआ मानवताका आवरण ओढ़ लेता है। भगवान् अनादि कालसे पूर्ण एवं अजन्मा है, और है सत्य एवं **आनंद**में प्रतिष्ठित; अवतरित होता हुआ वह मनुष्यमें उत्पन्न होता है, बढ़ता है, शनैः-शनैः अपना पूर्णत्व प्रकट करता है, मानों युद्ध और दुष्कर विकाससे **सत्य** और **आनंद**को प्राप्त करता है। मनुष्य है चिन्तक, भगवान् है शाश्वत द्रष्टा; परंतु मर्त्यको अमरतामें विकसित होनेमें सहायता देनेके लिए भगवान् विचार और जीवनके रूपोंके पर्दोंके पीछे अपने 'द्रष्टा'-भावको छिपाए रखता है।

तेरी ओर जाते हैं, (सुजात) हे अपने जन्ममें पूर्ण ! (सर्पिः-आसुते) हे प्रवाहशील-ऐश्वर्य-रूपी रसको निकालनेवाले !

3

त्वां विश्वे सजोषसो देवासो दूतमक्रत ।
सपर्यन्तस्त्वा कवे यज्ञेषु देवमीळते ।।

(सजोषसः) प्रेममय एकहृदयसे युक्त (विश्वे देवासः) सब देवोंने (त्वां) तुझे (दूतम् अक्रत) अपना दूत बनाया। (कवे) हे द्रष्टा ! मनुष्य (यज्ञेषु) अपने यज्ञोंमें (देवम्) देवके रूपमें (सपर्यन्त) तेरी सेवा करते हैं, (ईडते) तेरी उपासना करते हैं।

4

देवं वो देवयज्ययाऽग्निमीळीत मर्त्यः ।
समिद्धः शुक्र दीदिह्यृतस्य योनिमासदः ससस्य योनिमासदः ।।

(मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (देव-यज्यया) दिव्य शक्तियोंके प्रति यज्ञ द्वारा (देवम् अग्निम्) दिव्य संकल्पाग्निकी (ईळीत) आराधना करे। (शुक्र) हे **ज्योतिर्मय** ! (समिद्धः) प्रज्वलित होकर (दीदिहि) देदीप्यमान हो, (ऋतस्य योनिम्) **सत्य**के घरमें (आसदः) प्रवेश कर, (ससस्य योनिम्) **परम आनंद**के घरमें (आसदः) प्रवेश कर।

बाईसवाँ सूक्त

पूर्ण आनन्दकी ओर यात्राका सूक्त

[वस्तुओंका भोक्ता मनुष्य अपनी कामनाओंकी तृप्ति आनन्दकी चरम समतामें प्राप्त करना चाहता है। इस लक्ष्यके लिये उसे उस दिव्य **ज्वाला** एवं **द्रष्ट्री संकल्पशक्तिके** द्वारा पवित्र बनना होता है जो अपने अन्दर सचेतन अन्तर्दृष्टि और पूर्ण आनन्दोल्लास धारण किये है। अपने अन्दर उसे बढ़ाते हुए हम अपने प्रगतिशील यज्ञके द्वारा यात्रामें अग्रसर होंगे और देवगण हमारे अन्दर अपने आपको पूर्णतया प्रकट करेंगे। हमें इस दिव्यशक्तिका इस रूपमें स्वागत-सत्कार करना चाहिये कि वह हमारे घरका, हमारे भौतिक और मानसिक शरीरका स्वामी है, और हमें अपने सुखोपभोगके सम्पूर्ण विषय उसे उसके भोजनके रूपमें अर्पित कर देने चाहियें।]

1

प्र विश्वसामन्नत्रिवदर्चा पावकशोचिषे।
यो अध्वरेष्वीड्यो होता मन्द्रतमो विशि॥

(विश्वसामन्) हे सबमें एकसमान आत्मसिद्धि चाहनेवाले मनुष्य, (अत्रिवत्) सब पदार्थोंके भोक्ताके रूपमें तू (पावक-शोचिषे) चमकीली, पवित्र करनेवाली ज्वालाके अधिपतिके प्रति (अर्च) प्रकाशमय स्तुति-वचन गा, (यः) जो (अध्वरेषु) हमारे यज्ञोंकी यात्रामें (ईड्यः) हमारी पूजाका पात्र है, (होता) हविरूप भेंटका वाहक पुरोहित है, (विशि मन्द्रतमः) प्राणिमात्रमें अत्यधिक आनन्दसे भरपूर है।

2

न्यग्निं जातवेदसं दधाता देवमृत्विजम्।
प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः॥

(अग्नि) उस **संकल्पाग्निको** (नि दधात) अपने अन्दर स्थापित कर जो (जातवेदसं) सब उत्पन्न पदार्थोंका ज्ञाता है, (देवम् ऋत्विजं) ऋतुओंके अनुसार यज्ञ करनेवाला दिव्य याजक है। (अद्य) आज (यज्ञः) तेरा यज्ञ (आनुषक्) निरन्तर (प्र एतु) प्रगति करे। वह (देवव्यचस्तमः) देवोंके सम्पूर्ण आविर्भावको तेरे प्रति प्रकाशित करे।

3

चिकित्विन्मनसं त्वा देवं मर्तास ऊतये।
वरेण्यस्य तेऽवस इयानासो अमन्महि॥

(मर्तासः) हम मर्त्योंने (त्वा देवं) तुझ देवमें (अमन्महि) अपने मनको स्थित किया है क्योंकि तू (चिकित्वित्-मनसम्) सचेतन अन्तर्दर्शनसे युक्त मनवाला है। (इयानासः) जैसे हम यात्रा करते हैं वैसे ही (ऊतये अमन्महि) हम तेरा ध्यान करते हैं ताकि हम बढ़ें और (ते वरेण्यस्य अवसे) तुझ अत्यधिक वरणीयको भी बढ़ायें।

4

अग्ने चिकिद्धचस्य न इदं वचः सहस्य।
तं त्वा सुशिप्र दम्पते स्तोमैर्वर्धन्त्यत्रयो गीर्भिः शुम्भन्त्यत्रयः॥

(अग्ने) हे **संकल्पाग्ने**! तू हमारे अन्दर (अस्य) इस अन्तर्दर्शनके प्रति (चिकिद्धि) जाग, (नः इदं वचः) तेरे प्रति हमारा यह वचन है। (सहस्य) हे **शक्तिके अधीश्वर**! (सुशिप्र) हे **दृढ़ जबड़ेवाले** उपभोक्ता! (दम्पते) हे हमारे घरके स्वामी! (अत्रयः) वस्तुओंके भोक्ता वे (त्वां) तुझे (स्तोमैः वर्धयन्ति) अपनी स्तुतियोंसे बढ़ाते हैं और (अत्रयः) उपभोगकर्ता वे (त्वा) तुझे (गीर्भिः) अपने स्तुतिवचनोंसे (शुम्भन्ति) उज्ज्वल-आनन्दमय वस्तु बनाते हैं।

तेईसवाँ सूक्त

समृद्ध और विजयशील आत्माका सूक्त

[ऋषि **अग्निदेव**के द्वारा दिव्य **प्रकाश**के उस प्रचुर ऐश्वर्यकी कामना करता है जिसके सामने अन्धकारकी सेनाएँ टिक ही नहीं सकतीं, क्योंकि वह अग्नि अपनी ऐश्वर्य-परिपूर्णता और शक्तिसे उन्हें अभिभूत कर देता है। ऐसा वह आत्माके पुरुषार्थके सभी क्रमिक स्तरों पर करता है और इनमेंसे प्रत्येक स्तर पर मनुष्य सत्य और परात्पर **पुरुष**रूपी इस दिव्य **शक्ति**के द्वारा उन स्तरोंमें निहित सभी काम्य पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है।]

1

अग्ने सहन्तमा भर द्युम्नस्य प्रासहा रयिम्।
विश्वा यश्चर्षणीरभ्यासा वाजेषु सासहत्॥

(सहन्तम अग्ने) अत्यधिक बलपूर्वक वशमें करनेवाले **शक्तिस्वरूप अग्निदेव**! (द्युम्नस्य) **प्रकाश**की (प्र-सहा रयिम्) शक्तिपूर्ण समद्धिको (आ भर) हमारे लिए ला, (यः) जो शक्तिमय समृद्धि (विश्वाः चर्षणीः) हमारे कार्य-पुरुषार्थके सभी क्षेत्रोंमें (आसा) तेरे ज्वालारूपी मुखके द्वारा (वाजेषु) परिपूर्ण ऐश्वर्योंके अन्दर प्रवेश करनेमें (अभि ससहत्) बलपूर्वक सफल होगी।

2

तमग्ने पृतनाषहं रयिं सहस्व आ भर।
त्वं हि सत्यो अद्भुतो दाता वाजस्य गोमतः॥

(अग्ने) हे **ज्वाला**! (सहस्वः) हे **शक्तिमय देव**! (तं रयिम् आ भर) वह समृद्ध आनन्द ला जो (पृतना-सहम्) हमारे विरुद्ध युद्ध कर रही सेनाओंको प्रचण्डतासे परास्त करनेवाला हो, (हि) क्योंकि (त्वं सत्यः) तू सत्तामें सत्यतत्त्व है, (अद्भुतः) वह विश्वातीत और अद्भुत तत्त्व है जो मनुष्यको (गोमतः वाजस्य दाता) ज्योतिर्मय ऐश्वर्य-परिपूर्णता प्रदान करता है।

3

विश्वे हि त्वा सजोषसो जनासो वृक्तबर्हिषः।
होतारं सप्तसु प्रियं व्यन्ति वार्या पुरु॥

(विश्वे जनासः) ये सब मनुष्य जिन्होंने (सजोषसः) प्रेममय हृदयसे युक्त होकर (वृक्त-बर्हिषः) यज्ञके अपने आसनको निर्मल किया है, (सद्मसु) आत्माके निवास-स्थानों[1]में (त्वा) तुझे (व्यन्ति) पाते हैं,—(होतारम्) यज्ञके पुरोहित और (प्रियम्) प्रियतम तुझको प्राप्त करते हैं। वे (पुरु वार्या) अपने अनेक वरणीय पदार्थोंको [सद्मसु व्यन्ति] आत्माके निवासस्थानोंमें प्राप्त करते हैं।

4

स हि ष्मा विश्वचर्षणिरभिमाति सहो दधे।
अग्न एषु क्षयेष्वा रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत् पावक दीदिहि ।।

(सः विश्वचर्षणिः) मनुष्यके सब कार्योंमें वही कर्म करता है। (सः) वही अपने अन्दर (अभिमाति सहः दधे) सर्व-अभिभावक शक्ति रखता है। (शुक्र) हे शुभ्र-उज्ज्वल **ज्वाला**! तू (नः) हमारे (एषु क्षयेषु) इन घरों-में (रेवत्) आनन्द और समृद्धिसे भरपूर होकर (दीदिहि) चमक। (द्युमत् दीदिहि) प्रकाशसे भरपूर होकर चमक, (पावक) हे हमें पवित्र करनेवाले।

---

1. आत्माके 'सदन' या घर; आत्मा एक स्तरसे दूसरे स्तर तक विकास करता है और प्रत्येक स्तरको अपना निवासस्थान बनाता है। कहीं-कहीं इन्हें नगर कहा गया है। ऐसे स्तर सात हैं जिनमें-से प्रत्येकके अपने सात प्रदेश हैं और उनके ऊपर एक और भी स्तर है। साधारणतया हम सौ नगरोंके विषयमें सुनते हैं, यह दुगनी संख्या संभवतः प्रत्येक स्तरमें **आत्मा**की **प्रकृति** पर नीचेकी ओर दृष्टि और **प्रकृति**की **आत्मा**की ओर ऊर्ध्वमुखी अभीप्साको दर्शाती है।

चौबीसवाँ सूक्त

उद्धारक और रक्षकके प्रति

[ऋषि बुराईसे रक्षणके लिए और दिव्य प्रकाश व सारतत्त्व (वसु) की पूर्णता प्राप्त करनेके लिए **भगवत्संकल्पका** आवाहन करता है।]

1–2

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः॥

(अग्ने) हे **संकल्परूप अग्निदेव**! (त्वं नः अन्तमः भव) तू हमारा अन्तरतम सहवासी बन (उत) और तू हमारे लिए (शिवः) कल्याणकारी हो, (त्राता) हमारा उद्धारक बन, (वरूथ्यः) हमारे रक्षणका कवच बन। (वसुः) पदार्थोंके सारतत्त्वका स्वामी और (वसु-श्रवाः) उस सार-तत्त्वका दिव्यज्ञान रखनेवाला तू (अच्छ नक्षि) हमारे पास आ और (नः) हमें (द्युमत्तमं रयिं) अपने सारतत्त्वकी अत्यन्त प्रकाशमय समृद्धि (दाः) प्रदान कर।

3–4

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात्।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥

(सः) वह तू (बोधि) जाग! (नः हवं श्रुधि) हमारी पुकार सुन! (नः) हमें (समस्मात् अघायतः) उन सबसे जो हमें अशुभ व बुराईकी ओर प्रवृत्त करना चाहते हैं (उरुष्य) दूर रख। (दीदिवः) हे **ज्योतिर्मय**! (शोचिष्ठ) हे पवित्रतम **प्रकाशकी** ज्वाला! (तं त्वा) उस तुझको हम (सखिभ्यः) अपने मित्रोंके लिए (ईमहे) चाहते हैं ताकि वे (नूनम्) अभी ही (सुम्नाय) आनन्द और शान्ति प्राप्त करें।

पच्चीसवाँ सूक्त

प्रकाशके अधीश्वर व देवत्वके निर्माताके प्रति

[ऋषि अग्निको इस रूपमें स्तुति करता है कि वह एक **क्रान्तदर्शी संकल्प** है जिसकी सम्पूर्ण सत्ता ही है प्रकाश और सत्य, दिव्यताके सारतत्त्व का मुक्तहस्तसे दान। वह अग्निदेव एक पुत्र है जो द्रष्टाओंके विचारके समक्ष उत्पन्न होता है और वह मनुष्यमें उत्पन्न देवत्व (देव) के रूपमें अपने-आपको हमें दे देता है। वह देवत्व (देव) हमारे ही कार्योंका पुत्र है जो दिव्य **सत्य** और दिव्य **शक्ति**से समृद्ध है, वह संग्राम और यात्राके विजयशील अश्वके रूपमें अपने-आपको हमें प्रदान कर देता है। उस **द्रष्टा-संकल्प**की सम्पूर्ण गति है ऊपरकी ओर, अतिचेतनकी विशालता और प्रकाश-की ओर। उसकी वाणी मानो उन द्युलोकोंका गर्जनमय संगीत है। वह अपनी पूर्ण क्रियासे हमें अवश्य ही अन्धकार और सीमाके घेरेसे पार ले जायगा।]

1

अच्छा वो अग्निमवसे देवं गासि स नो वसुः।
रासत् पुत्र ऋषूणामृतावा पर्षति द्विषः॥

(वः अवसे) अपने संवर्धनके लिये (अग्निम् अच्छ) उस **संकल्पशक्ति**के प्रति, (देवम् [अच्छ]) उस देवके प्रति (गासि) गीत गाओ, क्योंकि (स नः वसुः) वह हमारे सारतत्त्वका स्वामी है और (रासत्) खुले हाथसे दान देता है, (ऋषूणां पुत्रः) ज्ञानके अन्वेषकोंका पुत्र है, (ऋतावा) **सत्य**का रक्षक है, (द्विषः पर्षति) हमारे विध्वंसकोंकी बाढ़से, हमें पार उतारता है।

2

स हि सत्यो यं पूर्वे चिद् देवासश्चिद् यमीधिरे।
होतारं मन्द्रजिह्वमित् सुदीतिभिर्विभावसुम्॥

(स हिं सत्यः) वह सत्यस्वरूप है, अपनी सत्तामें सच्चा है (यं) जिसे (पूर्वे चिद्) पुरातन द्रष्टाओंने और (यं) जिसे (देवासः चिद्) देवोंने भी (सुदीतिभिः) पूर्ण प्रभाओंके द्वारा (विभावसुम् ईधिरे) उसके प्रकाशके विशाल सारतत्त्वके रूपमें प्रदीप्त किया, (मन्द्रजिह्वम्) अपने परम आनन्द-

की जिह्वासे युक्त, (होतारम्) हविके वाहक उस पुरोहितको [उन्होंने प्रदीप्त किया]।

3

स नो धीती वरिष्ठया श्रेष्ठया च सुमत्या।
अग्ने रायो दिदीहि नः सुवृक्तिभिर्वरेण्य॥

(वरेण्य अग्ने) हे अत्यधिक वरणीय **ज्वाला**! इस प्रकार (नः श्रेष्ठया धीती) हमारे श्रेष्ठ चिंतनसे, (सुमत्या) हमारी अत्यधिक उज्ज्वल, पूर्णता-प्राप्त मतिसे, (सुवृक्तिभिः) उस मतिके द्वारा समस्त बुराईके नितान्त उच्छेदनसे (नः रायः दिदीहि) तेरा प्रकाश हमें आनन्द दे।

4

अग्निर्देवेषु राजत्यग्निर्मर्तेष्वाविशन्।
अग्निर्नो हव्यवाहनोऽग्निं धीभिः सपर्यत॥

(अग्निः) वह दिव्य **संकल्प** ही (देवेषु राजति) देवोंमें चमकता है। (अग्निः) वह दिव्य **संकल्प** ही (मर्तेषु आविशन्) मर्त्योंमें अपने प्रकाशसे प्रवेश करता है। (अग्निः) वह **संकल्प** ही (नः हव्य-वाहनः) हमारी हविका वाहक है। (अग्निम्) उस **संकल्पाग्नि**को (धीभिः) अपने सब विचारोंमें (सपर्यत) खोजो और उसकी उपासना करो।

5

अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥

(अग्निः) **संकल्पाग्नि** (दाशुषे) हविर्दाताको (पुत्रं ददाति) पुत्र देता है, उसके कार्योंसे उत्पन्न फलरूपी **पुत्र**[1] प्रदान करता है जो (तुवि-श्रवस्तमम्) अनेक अन्तःप्रेरणाओंसे परिपूर्ण है, (तुविब्रह्माणम्) आत्माकी अनेक अन्त-र्ध्वनियोंसे भरपूर है, (उत्तमम्) सर्वोच्च है, (अतूर्तं) जिसपर आक्रमण नहीं किया जा सकता, और जो (श्रवयत्-पतिम्) पदार्थोंका ऐसा **स्वामी** है जो ज्ञानके प्रति हमारे कान खोलता है।

---

1. 'यज्ञका **पुत्र**' वेदमें एक सतत रूपक है। यहाँ स्वयं **अग्निदेव** ही अपने-आपको मनुष्यको **पुत्र**के रूपमें दे देता है, ऐसे पुत्रके रूपमें जो पिताका उद्धार करता है। साथ ही **अग्नि युद्धका अश्व** एवं यात्राका घोड़ा, **श्वेत अश्व**, रहस्यमय द्रुतगतिशाली **दधिक्रावन्** भी है जो हमें युद्धमेंसे पार कर हमारी यात्राके लक्ष्य तक ले जाता है।

6

अग्निर्ददाति सत्पतिं सासाह् यो युधा नृभिः।
अग्निरत्यं रघुष्यदं जेतारमपराजितम् ॥

निश्चयसे (अग्निः) यह **संकल्पाग्नि** ही हमें (सत्पतिं ददाति) सत्ताओं-के **स्वामी**को दानमें देता है, (यः) जो स्वामी (युधा) युद्धोंमें (नृभिः) शक्तिकी आत्माओंसे (ससाह) विजयी होता है। (अग्निः) **संकल्पाग्नि** हमें (अत्यं [ददाति]) युद्धका अश्व देता है जो (रघुष्यदं) अत्यन्त सरपट दौड़ता है, (जेतारम्) सदा विजय प्राप्त करता है और (अपराजितम्) कभी जीता नहीं जा सकता।

7

यद् वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो।
महिषीव त्वद् रयिस्त्वद् वाजा उदीरते ॥

(यद् वाहिष्ठं) जो हमारे अन्दर वहन करनेमें सबसे अधिक शक्ति-शाली है (तद्) उसे हम (अग्नये) **संकल्पाग्नि**के लिये देते हैं। (विभावसो) प्रकाश ही जिसका **विशाल** सारतत्त्व है हे ऐसे अग्निदेव! तू (बृहत् अर्च) **विशाल** सत्ताके गीत गा। (त्वद् रयिः) तेरी समृद्धि (महिषी इव) मानों स्वयं **भगवती**[1]की ही विशालता है, (त्वद् वाजाः उत् ईरते) तेरी ऐश्वर्य-परिपूर्णताका तीव्र वेग ऊपरकी ओर जाता है।

8

तव द्युमन्तो अर्चयो ग्रावेवोच्यते बृहत्।
उतो ते तन्यतुर्यथा स्वानो अर्त त्मना दिवः ॥

(तव अर्चयः) तेरी ज्वालामयी दीप्तियां (द्युमन्तः) देदीप्यमान हैं; (ग्रावा इव) आनन्दरस सोमको पीसनेवाले पत्थरकी ध्वनिकी तरह (बृहत् उच्यते) एक विशाल वाणी तुझसे उठ रही है। (ते स्वानः) तेरा महान् शब्द (त्मना) अपने-आप ही इस प्रकार (अर्त) ऊपर उठ रहा है (यथा) जिस प्रकार (दिवः) द्युलोकसे (तन्यतुः) बिजलीकी गड़गड़ाहटका गीत।

9

एवां अग्निं वसूयवः सहसानं ववन्दिम।
स नो विश्वा अति द्विषः पर्षन्नावेव सुक्रतुः ॥

---

1. अदिति, विशाल **माता**।

(एव) इस प्रकार (वसूयवः) वसुको—सारतत्त्वको चाहते हुए हम (सहसानम्) जीतनेमें शक्तिशाली (अग्निम्) दिव्य संकल्पाग्निकी (ववन्दिम) वन्दना करते हैं। (सुक्रतुः सः) अपने क्रिया-कलापकी पूरी शक्तिसे सम्पन्न वह अग्नि (नः) हमें (विश्वाः द्विषः) उन समस्त शक्तियोंसे जो हमें नष्ट करना चाहती हैं (नावा इव) समुद्रमें नौकाकी तरह (अति पर्षत) पार ले जाय।

छब्बीसवाँ सूक्त

पुरोहित और यज्ञिय अग्नि का सूक्त

[**ऋषि दिव्य ज्वालाका** उसके इन सब सामान्य गुणोंके रूपमें आवाहन करता है कि वह यज्ञकर्ता है, ज्योतिर्मय लोकके अन्तर्दर्शनसे युक्त प्रकाशमय द्रष्टा, देवोंको लानेवाला, भेंटोंका वाहक, दूत, विजेता, मनुष्यमें दिव्य क्रियाओंका संवर्द्धक एवं **जन्मों**का ज्ञाता है और है देवोंका उत्तरोत्तर आविर्भाव करनेवाले यज्ञकी प्रगतिका नेता।]

1

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया।
आ देवान् वक्षि यक्षि च॥

(अग्ने) हे **ज्वालास्वरूप अग्ने** (पावक) हे पवित्र करनेवाले! (देव) हे देव! (रोचिषा मन्द्रया जिह्वया) अपनी प्रकाशमय आनन्दोल्लासपूर्ण जिह्वासे (देवान् आ वक्षि) देवोंको हमारे पास ले आ (यक्षि च) और उन्हें यज्ञस्वरूप भेंट दे।

2

तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्।
देवाँ आ वीतये वह॥

(घृतस्नो) हे निर्मलताको चुआनेवाले! (चित्रभानो) हे समृद्ध व विविध प्रकाशसे युक्त अग्ने! (तं त्वा) उस तुझको (ईमहे) हम चाहते हैं क्योंकि तू (स्वःदृशम्) हमारे **सत्यमय** लोकके अन्तर्दर्शनसे सम्पन्न है। (देवान्) देवोंको (वीतये) उनकी अभिव्यक्तिके लिए[1] (आ वह) पास ले आ।

3

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि।
अग्ने बृहन्तमध्वरे॥

---

1. या सत्यके ज्योतिर्मय लोककी ओर "यात्रा करनेके लिए", या हवियोंका "भक्षण करनेके लिए"।

(कवे) हे **द्रष्टा**! (द्युमन्तं बृहन्तम्) प्रकाश और विशालतासे युक्त, (वीति-होत्रम्) हविरूप भेंटोंको उनकी यात्रा पर ले जानेवाले (त्वा) तुझ अग्निदेवको हम (अध्वरे) अपनी यज्ञयात्रामें (सम् इधीमहि) प्रज्वलित करते हैं।

4

अग्ने विश्वेभिरा गहि देवेभिर्हव्यदातये।
होतारं त्वा वृणीमहे॥

(अग्ने) हे **संकल्परूप अग्निदेव**! तू (हव्यदातये) हमारी हवियोंको देनेके लिए (विश्वेभिः देवेभिः) सब देवोंके साथ (आ गहि) आ। (त्वा होतारं वृणीमहे) हम तुझे आहुतिके वाहक पुरोहितके रूपमें वरण करते हैं।

5

यजमानाय सुन्वत आग्ने सुवीर्यं वह।
देवैरा सत्सि बर्हिषि॥

(सुन्वते यजमानाय) आनन्दमधुको निकालनेवाले यजमानके लिए, (अग्ने) हे **ज्वालास्वरूप अग्निदेव**! (सुवीर्यम् आ वह) पूर्ण शक्ति ले आ। (बर्हिषि) आत्माकी पूर्णताके आसन पर (देवैः आ सत्सि) देवोंके साथ बैठ।

6

समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि।
देवानां दूत उक्थ्यः॥

(अग्ने) हे **ज्वालास्वरूप अग्निदेव**! तू (समिधानः) सुप्रदीप्त होकर (धर्माणि पुष्यसि) दिव्य नियमोंका संवर्धन करता है। तू (सहस्रजित्) हजारगुणा ऐश्वर्यका विजेता है, (देवानां दूतः) देवोंका ऐसा दूत है **जो** (उक्थ्यः) हमारे स्तुतिवचनको प्राप्त करता है।

7

न्यग्ने जातवेदसं होत्रवाहं यविष्ठ्यम्।
दधाता देवमृत्विजम्॥

(अग्निं निदधात) तुम अपने अन्दर उस **ज्वाला**को प्रतिष्ठित करो जो (जातवेदसं) जन्मोंको जाननेवाली है, (होत्रवाहं) भेंटका वहन करनेवाली है, (यविष्ठ्यम्) तरुणतम शक्तिसे सम्पन्न है, (ऋत्विजम्) सत्यकी ऋतुओंमें दिव्य यज्ञ करनेवाली है।

8

प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः।
स्तृणीत बर्हिरासदे ।।

(अद्य) आज (यज्ञः) [तुम्हारा] यज्ञ (आनुषक्) निरन्तर (प्र एतु) प्रगति करे, ऐसा यज्ञ जो (देवव्यचस्तमः) देवोंके पूर्ण आविर्भावको लाएगा। (बर्हिः स्तृणीत) अपनी आत्माका आसन बिछाओ (आसदे) जिससे कि वे [देव] वहाँ बैठ सकें।

9

एदं मरुतो अश्विना मित्रः सीदन्तु वरुणः।
देवासः सर्वया विशा ।।

(मरुतः)[1] **जीवन-शक्तियाँ** (इदम् आ सीदन्तु) यहाँ अपना आसन-ग्रहण करें और (अश्विना)[2] शक्तिरूप **अश्वके सवार,** (मित्रः)[3] प्रेम का **अधिपति,** (वरुणः)[4] **विशालताका अधीश्वर** एवं (देवासः) सब देव भी (सर्वया विशा) अपनी समस्त प्रजाओंके साथ [आ सीदन्तु] इस आसन पर बैठें।

---

1. मरुत्
2. युगलरूप अश्विदेव
3. मित्र
4. वरुण

सत्ताईसवाँ सूक्त

शक्ति और ज्योति का सूक्त

[अर्धदेवता त्रैवृष्ण त्र्यरुण त्रसदस्यु और द्रष्टा अश्वमेधके रूपमें ऋषि **भागवत मन** इन्द्रकी ज्योतिकी मानवीय मनमें परिपूर्णताका और **भागवत संकल्प** अर्थात् अग्निकी शक्तिकी प्राणमें परिपूर्णताका प्रतीकरूप प्रतिनिधि है। राक्षसोंके हन्ता मनोमय पुरुषने—जो मानवमें उत्पन्न इन्द्रके रूपमें ज्ञानके प्रति जाग्रत् हो चुका है—द्रष्टाको प्रकाशकी अपनी दो गौएं दी हैं जो उसका शकट खींचती हैं, अपने दो चमकीले अश्व दिए हैं जो उसका रथ खींचते हैं और ज्ञानकी उषाकी दसगुना बारह गौएं दी हैं। उसने उस कामनाको अपनी सहमति प्रदानकी है और उसे सम्पुष्ट भी किया है जिसके द्वारा **प्राणमय पुरुषने प्राणमय अश्वको** यज्ञाहुतिके रूपमें देवोंको प्रदान किया है। ऋषि प्रार्थना करता है कि त्रिविध उषाका अधिपति यह **मनोमय पुरुष** यात्रा करनेवाले **प्राण**को जो सत्यकी खोज कर रहा है, अपेक्षित मानसिक प्रज्ञा और प्रभुत्व-शक्ति प्रदान करे और स्वयं उसके बदलेमें अग्निसे शान्ति और आनन्द प्राप्त करे। दूसरी तरफ **प्राणमय पुरुषने** सौ शक्तियाँ—अर्थात् ऊर्ध्वमुखी यात्राके लिए आवश्यक प्राणशक्ति प्रदानकी है; ऋषि प्रार्थना करता है कि यह **प्राणमय पुरुष** वह विशाल शक्ति प्राप्त करे जो अतिचेतनाके स्तर पर **सत्य-सूर्य**की शक्ति है।]

1

अनस्वन्ता सत्पतिर्मामहे मे गावा चेतिष्ठो असुरो मघोनः।
त्रैवृष्णो अग्ने दशभिः सहस्रैर्वैश्वानर त्र्यरुणश्चिकेत ॥१॥

(अग्ने) हे दिव्य **संकल्पाग्ने**! (वैश्वानर) हे सार्वभौम शक्ते[1]! (चेतिष्ठः) अन्तर्दर्शनमें सर्वोच्च, (सत्पतिः) अपनी सत्ताके स्वामी (मघोनः) अपने परिपूर्ण ऐश्वर्योंके अधिपति (असुरः) शक्तिशाली एकमेव ने (मे) मुझे (गावा) **प्रकाश**की अपनी दो गौएं (मामहे) दी हैं जो (अनस्वन्ता) उसकी गाड़ी खींचती हैं। (त्रि-अरुणः) तीन प्रकारकी उषावाला, (त्रैवृष्णः)

1. अथवा, "देवता"।

त्रिविध **वृषभ**[1]का पुत्र वह (दशभिः सहस्रैः) अपने दस हजार[2] ऐश्वयोंके साथ (चिकेत) ज्ञानके प्रति जाग गया है।

2

यो मे शता च विंशतिं च गोनां हरी च युक्ता सुधुरा ददाति।
वैश्वानर सुष्टुतो वावृधानोऽग्ने यच्छ त्र्यरुणाय शर्म॥

(यः) जो तू (मे) मुझे (गोनां शता च विंशतिं च) उषाकी एक सौ बीस[3] गौएं (ददाति) देता है (च) और (युक्ता) गाड़ीमें जुते हुए, (सुधुरा) जुएको ठीक तरह वहन करनेवाले (हरी) दो चमकीले घोड़े[4] (ददाति) देता है, (अग्ने) हे दिव्य **संकल्पाग्ने**! (वैश्वानर) हे सार्वभौम शक्ते! (सुष्टुतः) सम्यक्तया स्तुति किया हुआ और (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता हुआ वह तू (त्रि-अरुणाय) त्रिविध उषाके स्वामीके लिए (शर्म) शान्ति और परम आनन्द (यच्छ) प्रदान कर।

---

1. **त्रिविध बैल** है **इन्द्र,—स्वर्** अर्थात् **भागवत मन**के तीन ज्योतिर्मय प्रदेशोंका अधिपति। **त्र्यरुण त्रसदस्यु** अर्धदेव है, **इन्द्र**-रूपमें परिणत मानव है। इसलिए इसे इन्द्रके सब प्रचलित विशेषणों—"**असुर**", "**सत्पति**", "**मघवन्**"—के द्वारा वर्णित किया गया है। त्रिविध उषा है उक्त तीन प्रदेशोंकी उषा जो मानवीय मन पर उदित हुआ करती है।

2. सहस्रकी संख्या परम परिपूर्णताका प्रतीक है, परन्तु ज्योतिर्मय मनकी दस सूक्ष्म शक्तियाँ हैं जिनमेंसे प्रत्येकको अपना समग्र पूर्णैश्वर्य प्राप्त करना होता है।

3. यह दिव्य ज्ञानकी ज्योतियोंकी प्रतीकात्मक संख्या है, ये ज्योतियाँ वर्षके बारह महीनों और यज्ञकी बारह ऋतुओंकी उषाओं (गौओं)की शृंखला ही हैं। ये ज्योतियाँ पुनः दस गुना बारह हैं जो दस सूक्ष्म बहिनोंसे अर्थात् प्रदीप्त मनोमय सत्ताकी शक्तियोंसे सम्बन्ध रखती हैं।

4. **इन्द्र**के दो चमकीले अश्व बहुत सम्भवतः वही हैं जो प्रथम मन्त्रकी दो प्रकाशरूपी गौएं हैं; वे अतिमानसिक सत्य-चेतनाकी दो दृष्टि-शक्तियाँ हैं—दायीं और बायीं, बहुत सम्भवतः साक्षात् सत्य-विवेक और सम्बोधि-ज्ञान। ज्ञानके प्रकाशकी प्रतीकात्मक गौओंके रूपमें वे अपने आपको भौतिक मनके साथ, गाड़ीके साथ जोतते हैं; ज्ञानकी शक्तिके प्रतीकात्मक अश्वोंके रूपमें वे अपने आपको इन्द्र—मुक्त विशुद्ध मनके रथके साथ जोतते हैं।

3

एवा ते अग्ने सुमतिं चकानो नविष्ठाय नवमं त्रसदस्युः।
यो मे गिरस्तुविजातस्य पूर्वीर्युक्तेनाभि त्र्यरुणो गृणाति॥

(अग्ने) हे संकल्पाग्निदेव! (ते सुमतिं) तुम्हारी सुमतिकी (चकानः) अभीप्सा करते हुए उसने (एव) ऐसा किया है। यह सुमति (नविष्ठाय) उसे नई-नई प्रदानकी गई है, (नवमम्) उसके लिए नई-नई प्रकट हुई है। वह अग्निदेव (त्रसदस्युः) दस्युओंको दूर भगानेवाला[1] और (त्रि-अरुणः) त्रिविध उषाओंका स्वामी है (यः) जो (युक्तेन) समाहित मनसे (मे तुविजातस्य) मेरे अनेक जन्मोंकी[2] (पूर्वीः गिरः) अनेक वाणियोंका (अभि गृणाति) प्रत्युत्तर देता है।

4

यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये।
ददद्ऋचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते॥

(यः) जो (मे इति प्रवोचति) मुझे अपनी सहमतिसे प्रत्युत्तर देता है वह (अश्वमेधाय सूरये) अश्वमेध[3] यज्ञके इस ज्ञानप्रदीप्त दाताके लिए (ऋचा) प्रकाशपूर्ण स्तुतिवचनके द्वारा (यते सनिं) उसकी यात्राके लक्ष्यकी उपलब्धि (ददत्) प्रदान करे और (ऋतायते) सत्यके अभिलाषीके लिए (मेधां ददत्) मेधाशक्ति प्रदान करे।

---

1. **त्रसदस्यु**; यह सब वस्तुओंमें इन्द्रके विशेष गुणोंको प्रतिमूर्त्त करता है।
2. उच्चतर स्तर पर इस आत्म-परिपूर्तिके द्वारा द्रष्टा मानों चेतनाके अनेक प्रदेशोंमें उत्पन्न होता है। इन प्रदेशोंमेंसे प्रत्येकसे उसकी वाणियाँ ऊपर उठती हैं जो उसमें विद्यमान प्रेरणाओंको प्रकट करती हैं, ये प्रेरणाएं दिव्य-परिपूर्त्तिकी खोज करती हैं। **मनोमय पुरुष** इनको प्रत्युत्तर और अनुमति देता है। यह अभिव्यक्तिकारी शब्दको उसके अनुरूप उत्तरमें प्रकाशपूर्ण वाणी प्रदान करता है और **सत्य**के अन्वेषक **प्राण**को बुद्धिकी वह शक्ति प्रदान करता है जो **सत्य**को खोज लेती और धारण करती है।
3. **अश्वमेध** यज्ञका अर्थ है **प्राण-शक्ति**को उसके सब आवेगों, कामनाओं और उपभोगों सहित दिव्य सत्ताके प्रति भेंट करना। **प्राणमय पुरुष (द्वित)** स्वयं यज्ञरूपी भेंटका दाता है, वह यज्ञको तब निष्पन्न करता है जब वह **अग्नि**-शक्तिके द्वारा अपने प्राणिक स्तर पर अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, और जब वह इस सूक्तमें वर्णित रूपकके अनुसार ज्योतिर्मय द्रष्टा—**अश्वमेध**—बन जाता है।

5

यस्य मा परुषाः शतमुद्धर्षयन्त्युक्षणः।
अश्वमेधस्य दानाः सोमा इव त्र्याशिरः॥

(शतम् परुषाः उक्षणः) प्रसारके एक सौ सशक्त बैल[1] (मा उत् हर्षयन्ति) मुझे आनन्दकी तरफ ऊपर उठा ले जाते हैं। (अश्वमेधस्य) अश्वमेध यज्ञके कर्ताकी (दानाः) भेंटें (सोमा इव) सोम—आनन्दमदिरा[2]के ऐसे प्रवाहोंके समान हैं जो (त्रि-आशिरः) अपने तीन प्रकारके अन्तर्मिश्रणोंसे युक्त हैं।

6

इन्द्राग्नी शतदाव्न्यश्वमेधे सुवीर्यम्।
क्षत्रं धारयतं बृहत् दिवि सूर्यमिवाजरम्॥

(इन्द्राग्नी) **ईश्वरीय मन** और **ईश्वरीय संकल्प** (अश्वमेधे) अश्वमेध यज्ञके कर्तामें और (शतदाव्नि) सौ अश्वोंके दातामें, (दिवि अजरं सूर्यम् इव) द्युलोकमें अक्षय प्रकाशमय सूर्यकी तरह, (सुवीर्यं) पूर्ण शक्ति और (बृहत् क्षत्रं) युद्धका विशाल बल[3] (धारयतम्) धारण करायें।

---

1. **प्राण**की पूरी-की-पूरी सौ शक्तियाँ जिनके द्वारा प्राणिक स्तरके सारे प्रचुर वैभवकी वृष्टि विकसित होते मनुष्यपर की जाती है। क्योंकि प्राणिक शक्तियाँ कामना और उपभोगके साधन हैं इसलिए यह वर्षण आनन्द-मदिराके उस प्रवाहके समान है जो आत्माको नये और मादक हर्षोल्लासोंकी ओर ऊँचा ले जाता है।
2. सत्तासे निचोड़कर निकाले गए आनन्दको **सोम**की मधु-मदिराके रूपमें निरूपित किया गया है; यह 'दूध', 'दही' और 'धान्य'से मिश्रित है, दूध है ज्योतिर्मय गौओंका दूध, दही है बौद्धिक मनमें गौओंकी उपज (दूध) का स्थिरीकरण, धान्य है भौतिक मनकी शक्तिमें प्रकाशकी रूपरचना। ये प्रतीकात्मक भाव प्रयुक्त शब्दों (गो, दधि, यव) के दोहरे अर्थसे इंगित किये गए हैं।
3. प्राणिक सत्ताकी पूर्ण और विशाल शक्ति जो मनोमय सत्तामें निहित **सत्य**की अनन्त और अमर ज्योतिके अनुरूप है।

अट्ठाईसवाँ सूक्त

अमरता के राजा देदीप्यमान अग्नि का सूक्त

[**ऋषि** ज्ञानकी उषामें सुप्रदीप्त **संकल्पाग्नि**का इस रूपमें स्तुति-सम्मान करता है कि वह **अमरता**का **राजा** है, आत्माको उसकी आध्यामिक समृद्धि व परम आनन्द एवं **प्रकृति** पर सुशासित स्वामित्व प्रदान करता है। वह हमारी हवियोंका वाहक है, हमारे यज्ञका ज्ञानप्रदीप्त मार्गदर्शक है जो उसे उसके दिव्य और वैश्व लक्ष्य तक ले जाता है।]

1

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची॥

(अग्निः) **संकल्पाशक्ति**की **ज्वाला** (समिद्धः) प्रज्वलित होकर (दिवि) मनके द्युलोकमें (शोचिः अश्रेत्) निर्मल प्रकाशकी ओर उठती है। (उर्विया वि भाति) वह अपनी ज्योतिका विस्तार करती है और (उषसम् प्रत्यङ्ङ) **उषा**को अपने सामने रखती है। (घृताची) निर्मलतासे देदीप्यमान और (विश्ववारा) समस्त वरणीय पदार्थोंसे परिपूरित वह उषा (नमोभिः) समर्पणकी क्रियाओंसे और (हविषा) हविसे (देवान् ईळाना) देवोंको ढूंढ़ती हुई, (प्राची) ऊपरकी ओर गति करती हुई (एति) आती है।

2

समिध्यमानो अमृतस्य राजसि हविष्कृण्वन्तं सचसे स्वस्तये।
विश्वं स धत्ते द्रविणं यमिन्वस्यातिथ्यमग्ने नि च धत्त इत् पुरः॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (समिध्यमानः) जब तू सुप्रदीप्त होता है तब (अमृतस्य राजसि) अमरताका राजा होता है और (हविष्कृण्वन्तं) यज्ञ-कर्त्ताको (स्वस्तये) वह आनन्दपूर्ण स्थिति देनेके लिये (सचसे) उसका आलिंगन करता है। (सः) वह तू (यम् आतिथ्यम् इन्वसि) जिसका अतिथि बनकर आता है (सः विश्वं द्रविणं धत्ते) वह अपने अन्दर सम्पूर्ण सारभूत ऐश्वर्य धारण करता है (च) और (पुरः इत् निधत्ते) वह तुझे अपने अन्दर सामनेकी ओर प्रतिष्ठित करता है।

3

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि॥

(अग्ने) हे **ज्वालारूप अग्निदेव**! (महते सौभगाय) आनन्दका विशाल उपभोग[1] करनेके लिये (शर्ध) अपनी युद्ध करनेवाली शक्ति प्रकट कर। (तव उत्तमानि द्युम्नानि सन्तु) तेरी सर्वोत्तम दीप्तियाँ प्रकट हों, (सुयमं सं जास्पत्यम्) **प्रभु** और उसकी **सहचरी शक्ति**के सुनियन्त्रित एकत्व का (आ कृणुष्व) निर्माण कर, (शत्रूयतां महांसि अभि तिष्ठ) विरोधी शक्तियों के महान् बलपर अपना पैर रख।

4

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे॥

(अग्ने) हे **ज्वाला**! मैं (तव) तेरी (समिद्धस्य प्रमहसः श्रियं) सुप्रदीप्त सामर्थ्यकी गरिमाका (वन्दे) वन्दन करता हूँ। (द्युम्नवान् वृषभः असि) तू देदीप्यमान **वृषभ**—पुरुषशक्ति—है, (अध्वरेषु सम् इध्यसे) हमारे यज्ञोंकी प्रगतिमें तू सम्यक्तया प्रज्वलित होती है।

5

समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर।
त्वं हि हव्यवाळसि॥

(आहुत अग्ने) हे हमारी भेंटोंको ग्रहण करनेवाले ज्वालारूप अग्निदेव! (सु-अध्वर) हे यज्ञके पूर्ण पथ-प्रदर्शक! तू (समिद्धः) सुप्रदीप्त होकर (देवान् यक्षि) देवोंको हमारी हवि अर्पण कर, (हि) क्योंकि (त्वं) तू (हव्यवाट् असि) हमारी भेंटोंका वाहक है।

6

आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे।
वृणीध्वं हव्यवाहनम्॥

---

1. वैदिक अमरता एक विशाल निःश्रेयस है, दिव्य और असीम सत्ता-का विस्तृत उपभोग है जो **आत्मा** और **प्रकृति**के पूर्ण एकत्व पर अवलंबित है। आत्मा अपना तथा अपने वातावरणका **राजा** बन जाता है जो अपने सभी स्तरों पर सचेतन होता है, उनका स्वामी होता है और **प्रकृति** होती है उसकी वधू जो विभाजनों और विरोधों-से मुक्त होकर अनन्त और प्रकाशपूर्ण समस्वरतामें पहुँच जाती है।

(अग्निम् आ जुहोत) हविरूप भेंट अग्निमें डालो। (अध्वरे प्रयति) जब तुम्हारा यज्ञ अपने लक्ष्यकी ओर प्रगति कर रहा हो तब (अग्नि दुवस्यत) अपनी कायासे दिव्य संकल्पाग्निकी सेवा करो[1]। (हव्यवाहनम् वृणीध्वम्) हमारी हविके वाहक अग्निदेवको स्वीकार करो[2]।

1. या, "संकल्पाग्निको क्रियारत करो।"

2. इस सूक्तके साथ अग्निके प्रति संबोधित ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके पहिले अट्ठाईस सूक्तोंकी यह शृंखला समाप्त होती है।

प्रकाशके संरक्षक

सूर्य---ज्योति और द्रष्टा

ऋग्वेद प्राचीन **उषा**मेंसे एक सहस्रवाचामय स्तोत्रके रूपमें उद्‌भूत हुआ है जो मनुष्यकी आत्मासे सर्व-सर्जक **सत्य** और सर्व-प्रकाशक **ज्योति**के प्रति उठा है। वैदिक ऋषियोंके विचारमें **सत्य** और **प्रकाश** पर्यायवाची या समानार्थक शब्द हैं जैसे कि उनके विरोधी शब्द **अन्धकार** और **अज्ञान** भी पर्यायवाची हैं। वैदिक देवों और असुरोंका संग्राम **दिन** और **रात**के बीच होनेवाला सतत संघर्ष है; यह द्यौ, अंतरिक्ष और पृथिवीके त्रिविध लोकपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये, मानव प्राणीके मन, प्राण और शरीरके मोक्ष या बन्धनके लिये, उसकी मर्त्यता या अमरताके लिये किया जा रहा है। यह परम **सत्य**की **शक्तियों** और परम **प्रकाश**के **अधिपतियों** द्वारा उन दूसरी अन्धकारमय **शक्तियों**के विरुद्ध लड़ा जा रहा है। वे अन्धकारमय शक्तियाँ इस असत्यके आधारको जिसमें हम निवास करते हैं, तथा अज्ञानके इन सैकड़ों दुर्गबद्ध नगरोंकी लोहमय दीवारोंको कायम रखनेके लिये संघर्ष करती हैं।

प्रकाश और **अन्धकार**के बीच एवं **सत्य** और **असत्य**के बीच यह जो विरोध है उसकी जड़ें उस मूल वैश्व विरोधमें हैं जो प्रकाशयुक्त **अनन्त** और अन्धकारमय सान्त चेतनाके बीच पाया जाता है। **अदिति,** अनन्त एवं अखण्ड चेतना, **देवों**की माता है, **दिति** या **दनु,** द्वैधभाव, पृथक्कारी चेतना **असुरों**की। इसलिये मनुष्यमें विराजमान **देवता** प्रकाश, अनन्तता और एकताकी ओर गति करते हैं, **असुर** अपनी अन्धकाररूपी गुहामें निवास करते हैं और मनुष्यके ज्ञान, संकल्प, बल, आनन्द और अस्तित्वको खण्ड-खण्ड, बेसुरा, क्षत-विक्षत और सीमित करनेके लिये ही गुफासे बाहर निकलते हैं। **अदिति** मूलतः एकमेव तथा स्वतःप्रकाशमय अनन्त सत्ताकी विशुद्ध चेतना है। वह एक ऐसी **ज्योति** है जो सब वस्तुओंकी **माता** है। अनन्त सत्ताके रूपमें वह **दक्ष**को अर्थात् विवेक और संविभाग करनेवाले दिव्य **मन**के **विचार**को जन्म देती है, उस वैश्व अनन्त सत्ता अथवा रहस्यमयी **गौ**के रूपमें, जिसके स्तन समस्त लोकोंका पोषण करते हैं, वह स्वयं दक्षसे उत्पन्न होती है।

दक्षकी यह दिव्य पुत्री ही देवोंकी माता है। विश्वमें **अदिति** है वस्तुओंकी अखण्ड-अनन्त एकता जो द्वैध-भावसे रहित, **अद्वय,** है और **दिति** अर्थात् पृथक्कारी, द्वैधकारी चेतना है उस अदितिकी वैश्व सृष्टिका उल्टा पासा,—परवर्ती गाथामें उस अदितिकी बहन और सपत्नी। यहाँ निम्नतर सत्तामें जहाँ वह पृथिवीतत्त्वके रूपमें अभिव्यक्त है, उसका पति निम्न या अमंगलमय पिता है जिसका वध उसके शिशु इन्द्रके द्वारा किया जाता है, इन्द्र है दिव्य मनकी निम्न सृष्टिमें अभिव्यक्त शक्ति। सूक्तमें कहा गया है कि इन्द्र अपने पिताको पैरोंसे घसीटते हुए उसका वध कर डालता है और अपनी माताको विधवा बना देता है। एक दूसरे रूपकमें जो हमारी आधुनिक रुचिकी मर्यादाके प्रतिकूल होता हुआ भी प्रबल और भावप्रकाशक है, **सूर्य**को अपनी बहन **उषा**का प्रेमी और अपनी माता **अदिति**का दूसरा पति कहा गया है। और उसी रूपकको बदलकर **अदिति**की स्तुति सर्वव्यापक **विष्णु**की पत्नीके रूपमें की गई है, जो विष्णु वैश्व सृष्टिमें अदितिके पुत्रोंमें से एक है और **इन्द्र**का छोटा भाई है। ये रूपक जो अपने गुह्य अर्थकी कुंजीके अभावमें स्थूल और उलझे प्रतीत होते हैं, कुंजीके मिलते ही तत्काल पर्याप्त स्पष्ट हो जाते हैं। अदिति विश्वमें एक अनन्त चेतना है जो सीमित मन और शरीरके द्वारा कार्य करनेवाली निम्नतर सर्जक शक्तिसे परिणीत होकर अधिकृत कर ली जाती है। किन्तु मनुष्यकी मनोमय सत्तामें अदितिसे उत्पन्न दिव्य या प्रदीप्त **मन** (इन्द्र)की शक्तिके द्वारा उस दासतासे मुक्त हो जाती है। यह इन्द्र ही **सत्य**ज्योतिःस्वरूप **सूर्य**का द्युलोकमें उदय कराता है और उससे अन्धकारों और असत्योंको एवं पृथक्कारी मनकी संकुचित दृष्टिको दूर करवाता है। **विष्णु** वह विशालतर सर्वव्यापक सत्ता है जो तब हमारी मुक्त एवं एकीभूत चेतनाको अपने अधिकारमें कर लेता है, किन्तु वह (विष्णु) हमारे अन्दर तभी उत्पन्न होता है जब **इन्द्र** अपने बलशाली और ज्योतिर्मय रूपमें प्रकट हो चुकता है।

यह **सत्य** है **सूर्य**की ज्योति, उसका शरीर। इसका वर्णन यों किया गया है कि यह **सत्य, ऋत** और **बृहत्** है, **स्वर्**का ज्योतिर्मय अतिमानसिक द्युलोक—"बृहत् **स्वर्,** महान् **सत्य**"—है जो हमारे द्युलोक और हमारी पृथिवीके परे छिपा हुआ है; **सूर्य** है **"वह सत्य"** जो अन्धकारमें खोया हुआ पड़ा है और अवचेतनकी गुप्त गुफामें हमसे रोककर रखा हुआ है। यह छिपा हुआ **सत्य बृहत्** है, क्योंकि यह केवल उस अतिमानसिक स्तरपर स्वतंत्र और व्यक्त रूपमें निवास करता है जहाँ अस्तित्व, संकल्प, ज्ञान

और आनन्द हर्षोल्लासमय तथा असीम अनन्ततामें गति करते हैं, जहाँ वे उस प्रकार सीमित व अवरुद्ध नहीं हैं जैसे कि निम्नतर सत्ताका निर्माण करनेवाले मन, प्राण और शरीरके इस चारदीवारीसे घिरे हुए अस्तित्वमें। उच्चतर सत्ताकी इस विशालताकी ओर ही हमें दो घेरनेवाले मानसिक तथा भौतिक आकाशोंको भेदकर पार करते हुए आरोहण करना है। इसका वर्णन एक ऐसी दिव्य सत्ताके रूपमें किया गया है जो अपने सीमा-रहित विस्तारमें मुक्त एवं विशाल है, यह एक ऐसी विशालता है जहाँ न कोई बाधा है और न सीमाका अवरोध, यह है **सूर्य**के देदीप्यमान यूथोंकी एक भयमुक्त चरागाह; यह है **सत्य**का धाम और सदन, **देवों**का अपना ही घर, सूर्यलोक, सच्ची ज्योति जहाँ आत्माके लिये कोई भय नहीं, उसकी सत्ताके विशाल तथा सम आनन्दको किसी प्रकारकी चोट पहुँचनेकी संभावना नहीं।

यह अतिमानसिक विशालता सत्ताका आधारभूत सत्य भी है, **'सत्यम्'**, जिसमेंसे इसका क्रियाशील सत्य सहजभावसे, श्रमके संघर्षके बिना, एक पूर्ण व निर्दोष गतिके रूपमें स्रवित होता है, क्योंकि उन शिखरोंपर चेतना और शक्तिके बीच कोई विभाजन नहीं, कोई खाई नहीं, ज्ञान और संकल्पके बीच कोई सम्बन्ध-विच्छेद नहीं, हमारी सत्ता और उसकी क्रियामें कोई असामञ्जस्य नहीं, हर चीज वहाँ 'ऋजु' है, वहाँ "कुटिलताकी रत्तीभर भी संभावना नहीं।" इसलिये विशालता और सत्य सत्ताका यह अतिमानसिक स्तर "ऋतम्" भी है अर्थात् वस्तुओंकी यथार्थ क्रिया भी है। यह है गति, क्रिया, अभिव्यक्तिका परम सत्य; संकल्प, हृद्भाव और ज्ञानका निर्भ्रान्त सत्य; विचार, शब्द और भावावेशका पूर्ण सत्य। यह है स्वतः-स्फूर्त **ऋत**, स्वतंत्र **विधान**, वस्तुओंकी मूल दिव्य व्यवस्था जो विभक्त तथा पृथक्कारी चेतनाकी असत्यताओंसे अछूती है। यह है विशाल, दिव्य तथा स्वतःप्रकाश समन्वय जो आधारभूत एकतासे उत्पन्न होता है, हमारी क्षुद्र सत्ता तो उसका केवल दीन-हीन, आंशिक, भग्न एवं विकृत, खंडात्मक रूप और विश्लेषण है। ऐसा था वह सूर्य जो वैदिक पूजाका ध्येय था, वह प्रकाशमय स्वर्ग जिसकी हमारे पितर अभीप्सा करते थे, अदितिके पुत्र सूर्यका वह लोक एवं देह।

अदिति एक अनन्त **ज्योति** है जिसकी रचना है दिव्य लोक। उस अनन्त ज्योतिकी सन्तानरूप देवता, जो ऋत के अन्दर उससे उत्पन्न हुए हैं और उसकी गतिके इस क्रियाशील सत्यमें व्यक्त हुए हैं, अव्यवस्था तथा अज्ञानके विरुद्ध इसकी रक्षा करते हैं। वे देवता ही ब्रह्माण्डमें **सत्य**की

अज्ञेय क्रियाओंको स्थिर बनाये रखते हैं, वे ही इसके लोकोंको सत्यकी प्रतिमूर्तिमें परिणत करते हैं। वे उदार दानी मनुष्यपर सत्ताके प्रबल प्रवाहोंको बरसाते हैं जिनका रहस्यवादी कवियोंने इन विविध रूपकों द्वारा वर्णन किया है कि वे प्रवाह सप्तविध सौर जल हैं, द्युलोककी वर्षा, **सत्य**की धाराएं, द्युलोककी सात शक्तिशाली नदियाँ हैं, ज्ञानमय जल हैं, ऐसे प्रवाह हैं जो आच्छादक वृत्रके नियंत्रणको छिन्न-भिन्न करते हुए आरोहण करते हैं और मनको आप्लावित कर देते हैं। द्रष्टा और प्रकाशक वे देव मनुष्यके मनके तमसाच्छन्न आकाशपर **सत्य**के प्रकाशका उदय कराते हैं, उसकी प्राणिक सत्ताके वातावरणको उसकी ज्योतिर्मय, मधुवत् मधुर तृप्तियोंसे भर देते हैं और उसकी भौतिक सत्ताके धरातलको सूर्यकी शक्ति द्वारा उसकी विशालता एवं प्रचुरतामें रूपान्तरित कर देते हैं, सर्वत्र दिव्य **उषा**का सर्जन करते हैं।

तब मनुष्यमें **सत्य**की ऋतुएँ, दिव्य क्रियाएँ,—जिन्हें कभी-कभी **आर्य** क्रियाएँ कहा जाता है—स्थापित हो जाती हैं। **सत्य**का विधान मनुष्यके कार्यको अपने अधिकारमें लाकर परिचालित करता है; **सत्य**का शब्द उसके विचारमें सुनाई देता है। तब सत्यके सीधे-सरल और अविचल पथ, **द्युलोक**की वाट और घाट, देवों और पितरोंके जानेके मार्ग (देवयान-पितृयान) दिखाई देने लगते हैं; क्योंकि इस पथपर दिव्य क्रिया-कलापको कोई क्षति नहीं पहुँचती, यह ऋजु, निष्कंटक और सुखद है और जब एक बार इसपर हमारे पैर जम जाते हैं और प्रकट हुए देवता हमारे रक्षक होते हैं तो इसपर चलना सुगम हो जाता है, इस पथके द्वारा ही ज्योतिर्मय पितरोंने **शब्द**की शक्तिसे, **सोमसुरा**की शक्ति और **यज्ञ**की शक्तिसे अभय **ज्योति**में आरोहण किया और वे अतिमानसिक सत्ताके विशाल और खुले स्तरोंपर जाकर प्रतिष्ठित हुए। उनके वंशज मनुष्यको भी उन्हींकी तरह पृथक्कारी चेतनाकी कुटिल गतियोंके स्थानपर **सत्य-सचेतन** मनकी सरल और ऋजु क्रियाओंको प्रतिष्ठित करना होगा।

क्योंकि **सूर्य**के संचरण, दिव्य अश्व **दधिक्रावन्**की सरपट दौड़ें, देवोंके रथके पहियोंकी चाल—ये सब सदा ही विस्तृत और समतल क्षेत्रोंमें सीधे मार्गपर यात्रा करते हैं जहाँ सब कुछ खुला है और दृष्टि सीमित नहीं; परन्तु निम्नतर सत्ताके मार्ग कुटिल और चक्करदार हैं, गड्ढों और विघ्न-बाधाओंसे घिरे हैं और वे दिव्य प्रेरणासे वंचित होकर एक ऐसी ऊबड़-खाबड़ एवं विषम भूमिपर रेंगते हैं जो मनुष्योंसे उनके लक्ष्य, उनके पथ, उनके संभव सहायकों, उनकी प्रतीक्षा कर रहे संकटों, उनकी घातमें बैठे

शत्रुओंको पर्देके पीछे छिपा देती है। देवोंके सीधे और पूर्ण नेतृत्वमें मन और शरीरकी सीमाएँ अन्ततोगत्वा पार हो जाती हैं, हम उच्चतर द्यौके तीन प्रकाशमान लोकोंको अधिकृत कर लेते हैं, परमानन्दमय अमरताका उपभोग करते हैं, विकसित होकर देवोंका प्रकट रूप धारण कर लेते हैं और अपनी मानवीय सत्तामें उच्चतर या दिव्य सृष्टिकी वैश्व रचनाओंका निर्माण करते हैं। मनुष्य तब दिव्य और मानवीय दोनों जन्म धारण करता है; वह दोहरी गतिका अधिपति होता है, **अदिति** और **दिति** दोनोंको एक साथ धारण करता है, व्यष्टिमें विश्वात्मभावको चरितार्थ करता है, सान्तमें **अनन्त** बन जाता है।

यही है वह विचार जिसका मूर्तरूप है सूर्य। सूर्य **सत्य**का प्रकाश है जो दिव्य उषाके बाद मानव चेतनापर उदित होता है, वह **उषा**का इस प्रकार अनुसरण करता है जैसे प्रेमी अपनी प्रियाका, और उन पथोंपर चलता है जो उस उषाने अपने प्रेमीके लिए अंकित किये हैं। क्योंकि, द्युलोककी पुत्री और अदितिकी मुखाकृति अथवा शक्ति-रूपी **उषा** मानव सत्तापर दिव्य ज्योतिका सतत उन्मीलन ही है। वह है आध्यात्मिक ऐश्वर्योंका आगमन, एक ज्योति, एक शक्ति, एक नया जन्म, द्युलोककी स्वर्णिम निधिका मनुष्यकी भौतिक सत्तामें वर्षण। 'सूर्य' शब्दका अर्थ है ज्ञानप्रदीप्त या ज्योतिर्मय, जैसे कि ज्ञानदीप्त मनीषीको भी 'सूरि' कहा जाता है। परन्तु साथ ही इस शब्दकी धातुका अभिप्राय है : सर्जन करना या, अधिक शाब्दिक अर्थ करना हो तो, ढीला छोड़ देना, विनिर्मुक्त करना, वेग प्रदान करना,—क्योंकि भारतीय विचारमें सृष्टि-रचनाका अर्थ है पीछेकी ओर रोक रखी हुई वस्तुको ढीला छोड़कर सामने ले आना, अनन्त **सत्ता**में जो कुछ छिपा है उसकी अभिव्यक्ति करना। ज्योतिर्मय दृष्टि और ज्योतिर्मय सृष्टि—ये सूर्यके दो कार्य हैं। वह स्रष्टा सूर्य (सूर्य सविता) है, और है सत्यप्रकाशक चक्षु, सर्व-द्रष्टा सूर्य।

वह क्या निर्मित करता है? सर्वप्रथम लोक, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त **सत्-स्वरूप** परमेश्वरके जाज्वल्यमान प्रकाश और सत्यमेंसे उत्पन्न हुई है, उस **सूर्य**के देहमेंसे बाहर निकली है जो **उस पुरुष**की अनन्त आत्म-दृष्टिका प्रकाश है, उस **अग्नि**से बनी है जो उस आत्म-दृष्टिका सर्वदर्शी संकल्प है, उसकी सर्वज्ञ सृष्टि-**शक्ति** एवं देदीप्यमान सर्वशक्तिमत्ता है। दूसरे, मनुष्यकी अंधकारावृत चेतनाकी रात्रिमें, भूत-मात्रका यह **पिता**, सत्यका यह **द्रष्टा** उस अशुभ और निम्नतर सृष्टिके स्थानपर,—जिसे वह तब हमसे दूर हटा देता है,—दिव्य लोकोंके अपरिमेय सामंजस्यको अपने अंदरसे

प्रकट करता है। ये दिव्य लोक आत्म-सचेतन अतिमानसिक सत्यसे और आविर्भूत देवत्वके सजीव विधानसे शासित होते हैं। तो भी जब इस सृष्टिका प्रश्न होता है तब सूर्यका नाम विरले ही लिया जाता है; यह नाम अनन्त **ज्योति** और सत्य-साक्षात्कारके विग्रहके रूपमें उसके निष्क्रिय पक्षोंके लिए आरक्षित है। अपनी क्रियाशील शक्तिमें वह अन्य नामोंसे संबोधित किया गया है। तब वह **सविता (सवितृ)** होता है—'सविता' शब्द उसी धातुसे बना है जिससे स्रष्टा-वाची **'सूर्य'** शब्द। अथवा तब वह वस्तुओंको आकार देनेवाला **त्वष्टा** या संवर्धक **पूषा** होता है। ये संज्ञाएँ कभी-कभी **सूर्य**के समानार्थक शब्दोंके रूपमें प्रयुक्त होती हैं और कभी-कभी यूँ प्रयुक्त होती हैं मानो ये इस वैश्व देवत्वके अन्य रूपोंको, यहाँतक कि अन्य व्यक्तित्वोंको प्रकट करती हों। और फिर **सविता** चार महान् और क्रियाशील देवों—**मित्र, वरुण, भग** और **अर्यमा,** अर्थात् प्रकाशमय **सामंजस्य,** विशुद्ध **विशालता,** दिव्य **उपभोग,** उच्च-स्थित **शक्ति**के **अधिपतियों**के द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है, विशेषकर तब जब कि वह मनुष्यमें सत्यकी रचना करता है।

परन्तु यदि सूर्य स्रष्टा सविता है, जो वेदकी भाषामें समस्त चराचरका आत्मा है, और यदि यह सूर्य एक ऐसा दिव्य "विद्योतमान **सत्य** भी है जो द्युलोकके धारण करनेवाले विधानमें प्रतिष्ठित है", तब सब लोकोंको **सत्य**के उस विधानको प्रकट करना चाहिये और वे सब बहुतसे द्युलोक होने चाहिएँ। तो फिर ये हमारी मर्त्य सत्ताके असत्य, पाप, मृत्यु, दुःख-संताप कहाँसे आते हैं? हमें बताया गया है कि वैश्व **अदिति**के आठ पुत्र हैं जो उसके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं, उनमेंसे सातसे वह देवोंकी ओर गति करती है, परन्तु आठवें पुत्र **मार्तंड**को जो मर्त्य सृष्टिसे संबंध रखता है, वह अपनेसे दूर फेंक देती है; सातसे वह देवोंके परम जीवन एवं उनके आदि युगकी ओर गति करती है, परन्तु **मार्तंड**को उस निश्चेतनसे, जिसके अंदर उसे झोंक दिया गया था, मर्त्यके जन्म-मरण पर शासन करनेके लिए वापिस निकाल लाती है।

यह **मार्तंड** या आठवां सूर्य काला या अंधकारमय, खोया एवं छिपा हुआ सूर्य है। असुरोंने इसे लेकर अपनी अन्धकारमय गुफामें छिपा दिया है, और देवों और द्रष्टाओंको इसे यज्ञकी शक्तिके द्वारा वहांसे मुक्तकर तेज, गरिमा और स्वतन्त्रताके रूपमें प्रकट करना होगा। कम आलंकारिक भाषा-में कहें तो मर्त्य जीवन एक उत्पीड़ित, गुप्त, छद्मवेषी **सत्य**से शासित है; जिस प्रकार दिव्य-द्रष्टृ-संकल्प-रूप **अग्निदेव** पहले-पहल मानवीय आवेश और

स्वेच्छाके धुंएसे धूमिल और तिरोहित होकर पृथ्वीपर कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार दिव्य-**ज्ञान**-स्वरूप **सूर्य** रात्रि और अन्धकारमें छिपा पड़ा है और अप्राप्य है, साधारण मानवीय सत्ताके अज्ञान और भूल-भ्रांतिमें आवृत और अंतर्निहित है। **द्रष्टा** अपने विचारोंमें विद्यमान सत्यकी शक्तिसे अन्धकारमें पड़े हुए इस **सूर्य**को ढूंढ़ निकालते हैं, वे हमारी अवचेतन सत्तामें छिपे हुए इस ज्ञानको, अखंड और सर्वस्पर्शी दृष्टिकी इस शक्तिको, देवोंकी इस आंख-को उन्मुक्त कर देते हैं। वे उसकी दीप्तियोंको मुक्त करते हैं, वे दिव्य **उषा**को जन्म देते हैं। दिव्य-**मनःशक्ति**रूपी **इन्द्र, द्रष्टा-संकल्परूप अग्नि,** अंतःप्रेरित शब्दका **अधिपति बृहस्पति,** और अमर-**आनन्द**-स्वरूप **सोम** मनुष्य-में उत्पन्न होकर पर्वत (भौतिक सत्ता)के दृढ़ स्थानोंको छिन्नभिन्न करनेमें ऋषियोंकी सहायता करते हैं, असुरोंकी कृत्रिम बाधाएँ खंड-खंड हो जाती हैं और यह सूर्य ऊपर चढ़ता हुआ हमारे द्युलोकोंमें जगमगा उठता है। उदित होकर यह अतिमानसिक सत्यकी ओर आरोहण करता है। "वह उस पथपर अपने लक्ष्यकी ओर जाता है जिसे देवोंने उसके लिए बाजकी तरह चीरकर बनाया है।" वह अपने सात तेजस्वी अश्वोंके साथ उच्चतर सत्ताके पूर्णतया ज्योतिर्मय समुद्र तक आरोहण करता है। वह एक जहाज-में द्रष्टाओं द्वारा उस पार ले जाया जाता है। सूर्य संभवतः अपने-आपमें एक स्वर्णिम जहाज है जिसमें संवर्धक **पूषा** मनुष्योंको बुराई, अन्धकार और पापसे पार कराकर सत्य और अमरता तक ले जाता है।

यह **सूर्य**का प्रथम पक्ष है कि वह सत्यकी परम **ज्योति** है जो मानवको **अज्ञान**से मुक्त होनेके बाद प्राप्त होती है। "इस अन्धकारसे परे उच्चतर **ज्योति**को देखते हुए हमने उसका अनुसरण किया है और उस उच्चतम ज्योति-तक पहुंच गये हैं, जो दिव्य**सत्ता**में दिव्य **सूर्य** है।" (ऋ० 1.50.10[1])। यह उस विचारको प्रस्तुत करनेकी वैदिक शैली है जिसे हम **उपनिषदों**में अधिक खुले रूपमें अभिव्यक्त पाते हैं, सूर्यका वह उज्ज्वलतम रूप जिसमें मनुष्य "वही मैं हूँ" इस मुक्त दृष्टिसे सर्वत्र एकमेव **पुरुष**को देखता है। सूर्यकी उच्चतर ज्योति वह है जिसके द्वारा अन्तर्दृष्टि हमारे अन्धकारमय स्तर पर उदित होती है और अतिचेतनकी ओर गति करती है, उच्चतम ज्योति है इस अन्तर्दृष्टिसे अन्य वह महत्तर सत्य-दृष्टि जो प्राप्त

---

1. **उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।**
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ऋ. 1.50.10

हो जानेपर **अनन्त**के दूरतम परम लोकमें गति करती है। (ऋ. X.37.3-4[1])

यह तेजोमय **सूर्य** मनुष्यके देवोन्मुख संकल्पसे निर्मित होता है। यह दिव्य कार्योंके कर्ताओंसे पूर्णतया गढ़ा जाता है। क्योंकि यह ज्योति परम-देवका वह दर्शन है जिस तक मनुष्य अपनी सत्ताके यज्ञ या योगसे, प्रच्छन्न सत्यकी शक्तियोंके प्रति आत्मोत्थान और आत्म-दानके दीर्घ प्रयास द्वारा प्राप्त अपनी सत्ता और परमदेवके ऐक्यसे पहुंचता है। ऋषि पुकारकर कहता है, "हे **सूर्य**! तू है सर्व-दर्शी प्रज्ञा, हम जीवधारी तुझे महान् **ज्योति**-को हमारे पास लाते हुए देखें, साथ ही परमानन्दके दर्शनके-बाद-दर्शनके लिए हमपर देदीप्यमान होते हुए और अपनी ऊर्ध्वस्थ शक्तिके विशाल पुंजमें आनन्दकी ओर ऊपर आरोहण करते हुए देखें!" (ऋ. X. 37.8[2])। हमारे अन्दर स्थित **प्राण**शक्तियोंको, पवित्र करनेवाले मरुत् देवताओंको, जो ज्ञानके लिए युद्ध करते हैं, दिव्य-मन-स्वरूप **इन्द्र**के द्वारा सृष्ट होते हैं और दिव्य पवित्रता तथा विशालता-स्वरूप **वरुण**के द्वारा अनुशासित होते हैं, इस सूर्यकी ज्योतिके द्वारा अपना आनंदोपभोग प्राप्त करना है।

सूर्यकी ज्योति उस दिव्य अंतर्दृष्टिका एक स्वरूप एवं देह है। सूर्यका वर्णन यूं किया गया है कि वह **सत्य**की विशुद्ध और अन्तर्दृष्टियुक्त शक्ति है जो उसका उदय होनेपर द्युलोकके स्वर्णकी तरह चमक उठती है। वह एक महान् देवता है जो **मित्र** और **वरुण**की अन्तर्दृष्टि है, वह उस साक्षात् **बृहत्ता** एवं उस **सामंजस्य** का विशाल और अजेय चक्षु है। **मित्र** और **वरुण**का चक्षु **सूर्य**की अंतर्दृष्टिका महान् समुद्र है। वह विशाल सत्य-दर्शन जो उसका साक्षात् करनेवालोंको हमसे ऋषिका नाम दिलवाता है, इस **सूर्य**का ही सत्य-दर्शन है। अपने आप "विशाल-दर्शी" होता हुआ "वह **सूर्य** अर्थात् इन देवोंके त्रिविध ज्ञान और इनके अधिक शाश्वत जन्मोंको जाननेवाला वह द्रष्टा" उस सबको देखता है जो कुछ कि देवों और मनुष्योंमें है; "मर्त्योंमें सरल तथा कुटिल वस्तुओं पर दृष्टि डालता हुआ वह उनकी चेष्टाओंको नीची निगाहसे देखता है।" प्रकाशकी इस आंखसे ही इन्द्र जिसने सुदूर

---

1. **प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य॥**
ऋ. X. 37.3
येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
ऋ. X. 37.4

2. **महि ज्योतिर्बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषेचक्षुषे मयः।**
आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य॥
ऋ. X. 37.8

दृष्टिके लिए सूर्यका उदय कराया है, प्रकाशकी सन्तानोंको अन्धकारकी सन्तानोंसे पृथक् करते हुए, आर्य-शक्तियोंका दस्युकी शक्तियोंसे भेद करता है ताकि वह इनका विनाश कर सके किन्तु उन्हें उनकी पूर्णता तक ऊँचा उठा सके।

परन्तु ऋषित्व (क्रान्तदर्शिता) अपने साथ न केवल दूर-दर्शन अपितु दूर-श्रवण भी लाती है। जैसे ऋषिकी आंखें प्रकाशकी ओर खुली होती हैं वैसे ही उसका कान अनन्त स्पन्दनोंको ग्रहण करने के लिए उद्घाटित होता है। सत्यके समस्त प्रदेशोंसे उसके अन्दर उसका **शब्द** स्पन्दन करता हुआ आता है जो उसके विचारोंका स्वरूप बन जाता है। जब "विचार सत्यके धामसे उठता है" तभी **सूर्य** अपनी किरणोंके द्वारा **प्रकाश**की रहस्यमयी गौको विशालतामें मुक्त कर देता है। **सूर्य** अपने आप न केवल "द्युलोकका एक पुत्र है जो देवोंसे उत्पन्न दूर-दर्शी ज्ञानचक्षु है" (ऋ. X. 37.1[1]), अपितु वह परम शब्दका वक्ता भी है तथा प्रकाशित और प्रकाशक विचारका प्रेरक भी। "हे **सूर्य**! निष्पाप रूपमें उदित होते हुए तू आज जिस सत्यको मित्र और **वरुण**के प्रति कहता है उसीको हम भी कहें और हे **अदिति**! तेरे प्रिय होते हुए, हे **अर्यमन्**! तेरे प्रिय होते हुए हम **परमदेव**में निवास करें" (ऋ. VII. 60.1[2])। और **गायत्री**में जो प्राचीन वैदिक धर्मका चुना हुआ मंत्र है, **सविता-देव सूर्य**के परम प्रकाशका वरणीय पदार्थके रूपमें आवाहन किया गया है और यह प्रार्थना की गई है कि वह **देव** हमारे समस्त विचारोंको अपनी प्रकाशपूर्ण प्रेरणा प्रदान करे।

सूर्य है सविता अर्थात् स्रष्टा; क्योंकि मनुष्यके अन्दर विद्यमान दिव्य-दृष्टि पर इस प्रकार देवत्वका आरोपण करनेमें द्रष्टा और स्रष्टा फिरसे मिल जाते हैं। उस अन्तर्दृष्टिकी विजय, "**सत्य**के अपने धामके प्रति" इस ज्योतिका आरोहण, **सूर्य**की उस अन्तर्दृष्टिके, जो अनन्त **विशालता** और अनन्त **सामंजस्य**की चक्षु है, इस महान् सागरका परिप्लावन वास्तवमें दूसरी या दिव्य सृष्टिके अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि तब हमारे अन्दर स्थित **सूर्य** सब लोकों और सब उत्पन्न पदार्थोंको एक सर्वग्राही दृष्टिसे इस रूपमें देखता है कि वे दिव्य प्रकाशके गोयूथ हैं और अनन्त **अदिति**के देह हैं।

---

1. **नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।**
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत॥ ऋ. X. 37.1
2. **यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम्।**
वयं देवत्रादिते स्याम तव प्रियासो अर्यमन् गृणन्तः॥
ऋ. VII. 60.1

समस्त वस्तुओंको इस प्रकार नयी दृष्टिसे देखना, विचार, कार्य, वेदन, संकल्प और चेतनाको नये सिरेसे **सत्य, आनन्द, ऋत** और **अनन्तता**के रूपोंमें ढालना, एक नयी सृष्टि है। यह है हमारे अन्दर "उस महत्तर सत्ता का" आगमन "जो इस लघुतर सत्ताके दूसरी ओर उस पार विद्यमान है और जो, यदि वह भी **अनन्त** देवका एक स्वप्न ही हो तो भी, असत्यको इससे दूर हटा देती है"।

मनुष्यको प्रकाश प्रदान करना और उसकी ऊर्ध्वमुखी यात्राके द्वारा उसके लिए नया जन्म और नयी सृष्टि तैयार करना ही दिव्य ज्योति तथा द्रष्टा-स्वरूप **सूर्य**का कार्य है।

दिव्य उषा

जैसे **सूर्य** दिव्य **सत्य**के स्वर्णिम **प्रकाश**की प्रतिमूर्ति और देवता है उसी प्रकार **उषा** हमारे मानवीय अज्ञानकी रात्रिपर परम प्राकाशके उन्मीलनकी प्रतिमूर्ति और देवता है। **द्युलोक**की पुत्री **उषा** और उसकी बहिन **रात्रि** एक ही शाश्वत **अनंत**का सीधा और उलटा पार्श्व हैं। **चरम रात्रि,** जिसमेंसे लोक उदित होते हैं, **निश्चेतन**का प्रतीक है। वही है निश्चेतन **समुद्र,** वही है अंधकारके भीतर छिपा अंधकार जिसमेंसे **एकमेव** अपने तपस्की महिमासे प्रादुर्भूत होता है। परंतु इस जगत्में, जहाँ वस्तुओंको देखनेकी हमारी दृष्टि तमसाच्छन्न मर्त्य दृष्टि है, **अज्ञान**की एक **अल्पतर** रात्रि शासन करती है जो द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्षलोकको, हमारी मानसिक और भौतिक चेतना तथा हमारी प्राणिक सत्ताको ढके हुई है। यहाँ ही **द्युलोक**की **पुत्री** उषा अपने **सत्य**की दीप्तियोंके साथ, अपने वरदानोंके आनंदके साथ उदित होती है। अंधकारको काले चोग़ेकी तरह उतार फेंकती हुई, प्रकाशका परिधान पहरे हुई युवतीकी न्याईं परम आनंदके ज्योतिर्मय **प्रभु**की यह वधू अपने वक्षःस्थलकी शोभाओंका अनावरण करती है, अपने चमकीले अंगोंको प्रकाशमें लाती है और **सूर्य**को लोकोंकी ऊर्ध्वारोही शृंखलापर आरोहण कराती है।

हमारे अंधकारकी यह रात्रि सर्वथा प्रकाशरहित ही नहीं है। यदि और कुछ भी न हो, यदि सब कहीं घना अंधकार ही अंधकार हो तो भी क्रान्तदर्शी-संकल्परूपी **अग्नि (कवि-क्रतुः)**की दिव्य ज्वाला घने अंधकारको चीरकर प्रज्वलित होती है और उस व्यक्तिको प्रकाश देती है जो उसकी छाया तले दूर बैठा होता है। यद्यपि वह अभीतक यज्ञकी वेदीपर उस प्रकार प्रदीप्त नहीं होती जैसे कि वह उषाकालमें होगी, तो भी वह पार्थिव

सत्तापर आवेग और कामनाके इस सारे आच्छादक धुएँके होते हुए भी, देवोंमेंसे सबसे निचले और फिर भी सबसे बड़े देवके रूपमें गुप्त **ज्योति**के संकल्प और कार्योंको पूरा करती है। और रातको अनंत **सम्राट्**के अजेय कार्यकलापको प्रकट करते हुए तारे चमक उठते हैं और उनके साथ चंद्रमा भी आता है। इसके अतिरिक्त **रात्रि** सर्वदा अपनी ज्योतिर्मय बहिनको अपने वक्षःस्थलमें छिपाये रखती है; हमारा यह अज्ञानमय जीवन मनुष्यके अंदर प्रच्छन्न रूपसे कार्य करते हुए देवों द्वारा प्रबोधित होकर दिव्य **उषा**के जन्मकी तैयारी करता है ताकि वह (उषा) वेगपूर्वक प्रचालित होकर ज्योतिर्मय **त्वष्टा**की सर्वोच्च सृष्टिको प्रकट कर सके। क्योंकि दिव्य **उषा अदिति**की ही एक शक्ति या मुखाकृति है, वह देवोंकी माता है। वह उन्हें हमारी मानवसत्तामें उनके उन सच्चे रूपोंमें जन्म देती है जो अब और दबकर हमारी क्षुद्रताका रूप नहीं धार लेते और हमारी दृष्टिके प्रति ढके नहीं रहते।

परंतु यह महान् कार्य **सत्य**के व्यवस्थित क्रमोंके अनुसार उसकी नियत ऋतुओंमें, यज्ञके बारह महीनोंमें, **सूर्य-सविता**के दिव्य वर्षोंमें संपन्न किया जाना है। इसलिये निशा और उषाका सतत लयताल तथा क्रमिक आगमन, **ज्योति**के प्रदीपन और उसके निर्वासनके काल, हमारे अंधकारके आवरणोंके उद्घाटन और उसका हमारे ऊपर एक बार फिर आ जमना—यह सब तब तक होता रहता है जब तक दिव्य **जन्म** साधित नहीं हो जाता और फिर तब तक भी जब तक वह अपनी महत्तामें, अपने ज्ञान, प्रेम और बलमें परिपूर्ण नहीं हो जाता। ये बादमें आनेवाली रात्रियाँ उन चरम-अन्धकारमय अवस्थाओंसे भिन्न हैं जिन्हें यह मानकर भयानक समझा जाता है कि वे शत्रुको अवसर देनेवाली हैं और हड़प जानेवाले विभाजक असुरोंके अड्डे हैं। ये तो वस्तुतः सुहावनी रात्रियाँ हैं जो दिव्य और धन्य हैं, जो **उषा**के समान ही हमारे अभिवर्धनके लिये प्रयास करती हैं। इस प्रकार **निशा** और **उषा** भिन्न-भिन्न रूपोंवाली होती हुई भी एक-मनवाली हैं और उसी एक ज्योतिर्मय शिशुको बारी-बारीसे दूध पिलाती हैं। तब हमें अन्धकारकी गतियोंके द्वारा भी सुखकर रात्रियोंमें शुभ्रतर देवीकी सत्य-प्रकाशक प्रभाओंका ज्ञान होता है। इसलिए **कुत्स** ऋषि इन दो बहिनोंकी इस रूपमें स्तुति करता है कि "एक ही प्रेमीवाली और परस्पर-संगत वे **अमर** बहिनें **प्रकाश**के रंग-रूपका निर्माण करती हुई द्यावापृथिवीमें विचरण करती हैं; इन दोनों बहिनोंका एक ही अनंत पथ है, अपने रूपोंमें भिन्न होती हुई भी समान मनवाली वे देवोंसे शिक्षित होकर उसपर एक-एक

करके चलती हैं" (ऋ०I.113.2,3)।[1] क्योंकि इनमेंसे एक है गोयूथोंकी तेजस्वी **माता,** दूसरी है अंधकारमय **गाय,** कृष्णवर्ण **अनंत** सत्ता, जिसके काली होनेपर भी उससे हमारे लिए द्युलोकका प्रकाशमय दूध दोहा जा सकता है।

इस प्रकार त्रिदश या तीस उषाएँ—तीस हमारी मनोमय सत्ताकी संख्या है—निरंतर बारी-बारीसे आकर एक मास बनाती हैं जिससे कि अंतमें मानवजातिके सुदूर अतीत युगमें हमारे पूर्वजोंको हुआ आश्चर्यमय अनुभव किसी दिन हमपर प्रस्फुटित हो उठे। उस अतीत युगमें उषाएँ बीचमें किसी भी रात्रिके बिना एक दूसरीके बाद आती थीं, वे अपने प्रेमीके समान **सूर्य**के पास आकर उसके चारों ओर चक्कर लगाती थीं और उसके नियत कालपर आगमनोंके अग्रदूतके रूपमें फिर-फिर लौटकर नहीं आती थीं। पूर्वजोंके अनुभवका यह प्रस्फुटन तब साधित होगा जब अतिमानसिक चेतना मानस सत्तामें चरितार्थ होकर प्रकाशित हो उठेगी और हम उस वर्ष-व्यापी दिनको अधिकृत कर लेंगे जिसका रसास्वादन देवगण सनातन पर्वतके शिखरपर करते हैं। "सर्वश्रेष्ठ" या सर्वोच्च, अत्यंत महिमामय उषाका उदय तब होगा, जब यह "**शत्रु**को दूर भगाती हुई, **सत्य**की संरक्षिका, सत्यमें उत्पन्न, आनंदसे पूर्ण, सर्वोच्च **सत्यों**का उच्चारण करनेवाली, सब वरोंमें परिपूर्ण होकर देवत्वोंके जन्म और आविर्भावको लायेगी" (ऋ० 1.113. 12[2])। इस बीच प्रत्येक **उषा** आनेवाली उषाओंकी लंबी परंपरामें पहली उषाके रूपमें आती है और उन उषाओंके पथ और लक्ष्यका अनुसरण करती है जो उससे पहले ही आगे जा चुकी हैं। प्रत्येक उषा आती हुई जीवनको ऊपरकी ओर प्रेरित करती है और हमारे अंदर "किसी एकको जो मर चुका था" जगा देती है (ऋ. 1.113.8)[3]। देवोंकी **माता, अनंत**की शक्ति,

---

1. **रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।**
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥
समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥
ऋ. I. 113.2,3

2 **यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती।**
सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ॥
ऋ. I. 113.12

3. **परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम्।**
व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती॥
ऋ. I. 113.8

यज्ञसे जागत होनेवाली विशालदृष्टिरूप उषा आत्माके विचारको अभिव्यक्त कर देती है एवं जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उस सबमें हमें विश्वव्यापी जन्म प्रदान करती है (ऋ. 1.113.19[1])।

भौतिक **प्रकृति**की सुंदरता और महिमासे गहरे प्रभावित वैदिक ऋषि, अन्तःप्रेरित कवि उन रूपकोंसे अधिकाधिक लाभ उठाये बिना नहीं रह सके जो उन्हें पार्थिव उषाके उदयके इस भव्य और आकर्षक प्रतीकसे प्राप्त हुए थे, यहाँ तक कि यदि हम असावधानीसे या काव्यमय रूपकके प्रति अत्यधिक आसक्तिके साथ उनका अध्ययन करें तो हम उनका गंभीर भाव खो देंगे या उसका वर्जन ही कर देंगे। परंतु अपनी सुंदर देवीके प्रति गाये हुए किसी सूक्तमें वे हमारे सामने उन उज्ज्वल संकेतों, प्रकाशप्रद विशेषणों, गंभीर रहस्यमय पदावलियोंको प्रस्तुत करना नहीं भूलते जो हमें प्रतीकके दिव्य भावका स्मरण करायेंगे। विशेषकर वे किरणोंके अर्थात् तेजस्वी गौओंके यूथके उस अलंकारका प्रयोग करते हैं जिसके चारों ओर उन्होंने अंगिरस् ऋषियोंकी रहस्यमय गाथाको गूंथा है। उन्होंने उषाका आवाहन किया है कि वह हमपर उस प्रकार चमके जिस प्रकार वह सप्तमुखी (सप्तास्य) अंगिरस्पर, नौ रश्मियों और दस रश्मियोंवाले ऋषियोंकी एकात्मतापर चमकी थी जिन्होंने आत्माके चरम विचारके द्वारा, प्रकाशप्रद शब्दके द्वारा उन दुर्गबद्ध बाड़ों, "अंधकारके बाड़ों"को तोड़कर खोल डाला था जिनमें **पणियों**ने, **रात्रि**के कृपण स्वामियों और व्यापारियोंने सूर्यके तेजस्वी गोयूथोंको बंदकर रखा था। **उषा**की रश्मियां हैं 'इन तेजस्वी गौओंका विमोचन'; स्वयं उषाएँ मानो उन यूथ-बद्ध प्रभाओंकी उन्मुक्त ऊर्ध्वमुख गतियाँ हैं। पवित्र और पावक होती हुई वे बाड़ेके द्वारोंको तोडकर खोल देती हैं, **उषा** यूथोंकी ऐसी माता है जो **सत्य**की स्वामिनी है, वह अपने आप एक तेजस्वी **गौ** है और उसका दूध द्युलोकसे उपजा दिव्य रस है, एक ऐसा प्रकाशमय दुग्ध है जो देवोंकी सुरासे मिश्रित है।

यह उषा न केवल हमारी पृथ्वीको अपितु समस्त भुवनोंको प्रकाशित करती है। वह हमारी सत्ताके क्रमिक स्तरोंको प्रकट करती है ताकि हम सब 'नानाविध जीवनों' पर दृष्टिपात कर सकें जिन्हें हम धारण करने में समर्थ हैं। वह सूर्यकी आंखसे उन्हें प्रकाशमें लाती है तथा 'संभूतिके लोकोंके' अभिमुख होकर 'अमरताकी दिव्य दृष्टिके रूपमें उन सबके ऊपर

---

1. **माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि।**
प्रशस्तिकृद् ब्रह्मणे नो व्युच्छा नो जने जनय विश्ववारे॥ ऋ. I.113.19

ऊर्ध्वमें स्थित होती है।' (ऋ. III. 61.3[1])। वह स्वयं एक ऐसी दिव्य दृष्टि है जो **चक्षु**के रूपमें विस्तृततया चमक उठती है और वह अपने प्रेमी सूर्यकी तरह केवल अन्तर्दृष्टि ही नहीं अपितु शब्द भी प्रदान करती है; "वह प्रत्येक विचारकके लिए वाणी खोज लाती है", वह आत्माके भीतर विद्यमान विचारको अभिव्यक्ति प्रदान करती है। जो केवल अल्प ही देखते हैं उन्हें वह विशाल दृष्टि प्रदान करती है और उनके लिए सारे लोकोंको प्रकट कर देती है। क्योंकि वह विचारकी देवी है, "अनेक विचारोंसे सम्पन्न युवती और सनातन देवी है जो दिव्य विधानके अनुसार गति करती है" (ऋ. III..61. I[2])। वह प्रत्यक्ष-अनुभवरूपी ज्ञानकी देवी है जिसके पास पूर्ण सत्य है। वह सब ज्योतियोंकी परम ज्योति है और वैविध्ययुक्त तथा सर्वालिंगी चेतन दृष्टिके रूपमें उत्पन्न हुई है। वह एक ज्ञानपूर्ण ज्योति है जो अंधकारमेंसे निकलकर ऊपरको उठती है। ऋषि पुकारकर कहता है, "हम इस अंधकारको पार कर इसके दूसरे किनारेपर पहुँच गए हैं", "**उषा** फूट रही है और वह ज्ञानमय जन्मोंका सर्जन कर रही और उन्हें रूप प्रदान कर रही है" (ऋ. I. 92.6[3])।

सत्यका विचार निरन्तर इस ज्योतिर्मय **उषा** देवीके साथ सम्बद्ध है। वह द्युलोककी प्रभाओंके द्वारा **सत्य**से परिपूरित देवीके रूपमें जागरित होती है। वह सत्यके शब्द उच्चारित करती हुई आती है। उसके उदय अपने पदार्पणमें प्रकाशमय होते हैं, क्योंकि **सत्य**से उत्पन्न होनेके कारण वे सत्यमय हैं। सत्यके धामसे ही वे उषाएँ जागरित होती हैं। वह पूर्ण सत्योंकी तेजस्वी नेत्री है जो हमें अनुभवमें चित्र-विचित्र विविध प्रकाशोंसे युक्त पदार्थोंके प्रति जागरित करती है और सब द्वारोंको खोल देती है। प्रचंड **अग्निदेव सत्य**के आधारमें, जो **उषा**ओंका भी आधार है, अपनी प्रेरणा पाकर हमारे द्युलोक और पृथ्वीके महान् विस्तारमें प्रवेश करता है; क्योंकि इस **उषा**के देदीप्यमान होनेका अर्थ है "**मित्र** और **वरुण**का बृहत् ज्ञान और

---

1. **उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।**
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व॥ ऋ. III.61.3
2. **उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।**
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे॥
ऋ. III.61.1
3. **अतारिष्म तमसस्पारमस्योषा उच्छन्ती वयुना कृणोति।**
श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती सुप्रतीका सौमनसायाजीगः॥
ऋ. I.92.6

वह आनन्दमय वस्तुकी भांति प्रकाशको सर्वत्र अनेक रूपोंमें व्यवस्थित कर देता है" (ऋ. III. 61.7[1])।

इसके अतिरिक्त उषा हमें हमारे अभीष्ट ऐश्वर्य प्रदान करती है तथा मनुष्यको दिव्य पथ पर ले जाती है। वह सब वरोंकी सम्राज्ञी है और जो धन-संपदा वह देती है, जिसे **गौ** और **अश्व**के गुह्य प्रतीकोंसे प्रकट किया गया है, वह उच्चतर स्तरोंका शुभ्र विपुल वैभव है। **अग्निदेव** उससे उनके आनंदपूर्ण सारतत्त्वकी याचना करता है और उसके प्रकाशमय आगमनके समय उससे वह सारतत्त्व प्राप्त कर लेता है। वह मर्त्यको अन्तःप्रेरित ज्ञान, प्रचुर ऐश्वर्य एवं प्रेरक बल व विशाल ऊर्जा प्रदान करती है। वही अपने प्रकाशसे मर्त्योंके लिए **पथ**का निर्माण करती है। वह उनके लिए उन अच्छे मार्गोंको बनाती है जो सुखद और सुगम हैं। वह मानवको उसकी यात्रापर अग्रसर करती है। ऋषि कहता है, "तू यहाँ बल, ज्ञान और महान् प्रेरणाके लिए विद्यमान है, तू लक्ष्यकी ओर हमारी गति है, तू हमें यात्रापथपर चलाती है।" उसका पथ प्रकाशका पथ है और वह **सत्य**से जोते गए अश्वोंके द्वारा उसपर गति करती है, वह स्वयं **सत्य**से संपन्न है और है **सत्य**की शक्तिसे विशाल। वह **सत्य**के पथका प्रभावशाली रूपमें अनुसरण करती है और एक ज्ञानीकी तरह इसकी दिशाओंका उल्लंघन नहीं करती। सूक्तमें आगे गाया गया है, "इसलिए हे दिव्य **उषा**! आनंदके अपने रथमें **सत्य**के शब्दोंका उच्चारण करती हुई तू अमर रूपमें हमपर प्रकाशित हो जा। अपने विशाल बलसे युक्त सुनियन्त्रित, सुनहरे रंगवाले, अश्व तुझे यहाँ लावें" (ऋ. III 61.2[2])

पथके अन्य नेताओंकी तरह वह भी शत्रुओंका नाश करनेवाली है। जब कि आर्य उषामें जागता है, **जीवन** और **ज्योति**के संबंधमें कृपण **पणि** अंधकारके अन्तस्तलमें जहाँ उषाकी चित्र-विचित्र ज्ञानकिरणें नहीं हैं, बिना जागे सोए पड़े रहते हैं। सशस्त्र वीरकी भांति वह हमारे शत्रुओंको दूर भगा देती है और आक्रमण करनेवाले युद्धके घोड़ेकी तरह अंधकारको तितर-बितर कर देती है। द्युलोककी पुत्री शत्रुओं और सब अंधकारोंको परे

---

1. **ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश।**
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं विदधे पुरुत्रा॥
ऋ. III. 61.7

2. **उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।**
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णाः पृथुपाजसो ये॥
ऋ. III. 61.2

धकेलती हुई ज्योतिके साथ आती है। और यह **ज्योति** उस स्वर्लोककी—ज्योतिर्मय लोक की ज्योति है जिसका सर्जन **सविता सूर्य** हमारे लिए करेगा। क्योंकि वह प्रकाशमय मार्गोंकी दिव्य **उषा** है, सत्यसे विशाल है और हमारे लिए **सत्य**का भास्वर लोक लाती है, इसलिए ज्ञान-आलोकित मनुष्य अपने विचारोंसे उसकी आराधना करते हैं। परम आनन्दके **अधिपति**की वधू उषा मानों चोगेको उतारती हुई अपने परिपूर्ण कार्य और परिपूर्ण आनन्दोपभोगसे **'स्वर्'**का निर्माण करती है और द्युलोकके अंतिम छोरोंसे संपूर्ण पृथ्वीपर अपनी महिमासे विशाल रूपमें फैल जाती है। आनन्द-मधुको स्थापित करती हुई वह द्युलोकमें **ऊर्ध्वस्थित** शक्तिको प्राप्त करती है और उस लोकके तीन ज्योतिर्मय प्रदेश इस महती **उषा**की आनंदपूर्ण दृष्टिसे भासित हो उठते हैं।

इसीलिए ऋषि पुकार-पुकारकर कहता है, "उठो, जीवन और बल हमारे पास आ गए हैं, अंधकार दूर हो गया है, **ज्योति** आ गई है, **उषा**ने **सूर्य**की यात्राके लिए पथ खाली कर दिया है। आओ हम उधर चलें जहाँ देवगण हमारी सत्ताको इन सीमाओंसे परे आगे ले जाएँगे" (ऋ. 1.113.16[1])।

संवर्धक पूषा

क्योंकि हमारे अन्दर दिव्य कार्य सहसा ही संपन्न नहीं हो सकता, देवत्वका निर्माण एकदम ही नहीं किया जा सकता, अपितु केवल उषाओंके क्रमिक आगमनसे, प्रकाशप्रद सूर्यके समय-समयपर पुनः-पुनः उदयनोंसे होनेवाले ज्योतिर्मय विकास एवं सतत पोषणके द्वारा ही साधित हो सकता है, अतः **सौर-शक्ति**-स्वरूप **सूर्य** अपने-आपको एक दूसरे रूपमें—**संवर्धक पूषा**के रूपमें प्रकट करता है। इस नामकी मूलभूत धातुका अर्थ है बढ़ाना, पालन-पोषण करना। ऋषियों द्वारा अभिलषित आध्यात्मिक संपदा वह है जो इस प्रकार "दिन प्रतिदिन" अर्थात् इस पोषक **सूर्य**के प्रत्येक पुनरावर्तनके समय वृद्धिको प्राप्त होती है। पुष्टि और वृद्धि प्रायः ही ऋषियोंकी प्रार्थना का उद्देश्य होती है। **पूषा सूर्य-शक्ति**के इस पहलूका प्रतिनिधित्व करता है। वही है "प्रचुर ऐश्वर्यों (वाजों)का प्रभु एवं स्वामी, हमारी अभिवृद्धियोंका अधिपति, हमारा संगी-साथी"। **पूषा** हमारे यज्ञको समृद्ध करनेवाला है। विशाल **पूषा** हमारे रथको अपने सामर्थ्यसे अग्रसर करेगा। वह हमारे

1. **उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।**
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥
ऋ. I. 113.16

प्रचुर ऐश्वर्योंके संवर्धनमें समर्थ होगा। **पूषा**का वर्णन इस रूपम किया गया है कि वह अपने-आप दिव्य ऐश्वर्योंकी धारा है और है उनके सारतत्त्वकी अपरिमित राशि। वह **दिव्य ऐश्वर्यों**के **हर्ष**के विशाल कोषका प्रभु है और हमारे आनंदमें साथी-संगी है।

क्रमानुगत उषाओंके बीच अज्ञानकी जो रात्रि आती है उसके प्रत्यागमनका चित्रण इस प्रकार किया गया है कि वह **सूर्य**के उन देदीप्यमान गोयूथोंका विलोप है जिन्हें **पणि** वारंवार ऋषिके पास से चुरा लेते हैं और कभी-कभी उसका चित्रण इस रूपमें किया गया है कि वह स्वयं **सूर्य**का ही विलोप है जिसे **पणि** अपनी अंधकारमय अवचेतनकी गुफामें पुनः छिपा देते हैं। **पूषा** जो पुष्टि प्रदान करता है वह **सत्य**के इन विलुप्त होते हुए आलोकोंको पुनः प्राप्त करनेपर निर्भर करती है। इसलिए यह देव उनकी बलपूर्वक पुनः प्राप्तिमें **इन्द्र**से संबद्ध है जो दिव्य **मन**की **शक्ति** है और इसका भाई, सखा एवं संग्राममें सहायक है। वह हमारे सहायक गणको, जो गोयूथोंकी खोज करता है, पूर्ण बनाता और संसिद्ध करता है ताकि वह गण जीते और अधिकृत करे। "**पूषा** हमारे ज्योतिर्मय गोयूथोंका पीछा करे, **पूषा** हमारे युद्ध-अश्वोंकी रक्षा करे, पूषा हमारे लिए प्रचुर बलों व ऐश्वर्यों (वाजों) को जीत लाए...हे **पूषा**! हमारी गायोंके पीछे जा। **पूषा** अपना दायां हाथ हमारे ऊपर सामनेकी ओर रखे। जो गौएँ हमने खोई हैं, उन्हे **पूषा** हमारे पास हांक लाए" (ऋ. VI.54.5,6,10[1])। इसी प्रकार वह खोए हुए **सूर्य**को भी वापिस लाता है। "हे तेजस्वी **पूषा**! ज्वालाकी चित्रविचित्र पूर्णताके अधिपति **देवता**को जो हमारे द्युलोकको धारण किये है, हमारे पास इस प्रकार ले आ मानो वह हमारा खोया हुआ पशु हो। **पूषा** उस भास्वर **सम्राट्**को ढूंढ़ लाता है जो हमसे छिपा और गुफ़ामें गुप्त पड़ा था" (ऋग्वेद 1.23.13-14[2])। साथ ही हमें एक ऐसे प्रदीप्त अंकुशके विषयमें बताया गया है जिसे यह ज्योतिर्मय देवता वहन करता है और जो आत्माके विचारोंको प्रेरित करता है तथा देदीप्यमान प्रभापुंजकी परिपूर्णताका साधन है। जो कुछ वह हमें देता है,

---

1. **पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्ववर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः॥** ऋ. VI.54.5
पूषन्ननु प्र गा इहि..... ऋ. VI.54.6
परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥
ऋ. VI. 54.10

2. **आ पूषञ्चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः। आजा नष्टं यथा पशुम्॥**
पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितम्। अविन्दच्चित्रबर्हिषम्॥
ऋ. I.23.13-14

वह सुरक्षित है। क्योंकि उसके पास ज्ञान है, वह गोयूथको गंवाता नहीं और हमारी संभूतिके लोकका संरक्षक है। क्योंकि उसे हमारे सब लोकोंका एक अन्तर्दर्शन है जो जितना अविकल और एकीभूत है उतना ही विविध रूपसे व्यवस्था करनेवाला और सर्वग्राही भी है, इसलिए वह हमारा पोषक और संवर्धक है। वह हमारे परम आनंदका अधिपति है जो हमारे ज्ञानकी उपलब्धिको गंवाता नहीं, और जबतक हम उसकी क्रियाओंके विधानमें निवास करते हैं तबतक हमें कोई चोट या क्षति नहीं पहुँच सकती। आत्माकी जो सुखमय अवस्था वह हमें प्रदान करता है वह इससे समस्त पाप और बुराईको दूर हटा देती है तथा हमारी वैश्वसत्तामें संपूर्ण देवत्वका निर्माण करनेके लिए आज और कल सतत सहायक होती है।

क्योंकि **सूर्य ज्ञान**का अधिपति है, **पूषा** भी विशेषकर द्रष्टाके तेजोमय विचारोंका ज्ञाता, चिंतक और संरक्षक है,—गोयूथोंका पालक है जो विचारमें आनंद लेता है, संपूर्ण विश्वमें अंतर्यामी रूपसे स्थित है और सर्वव्यापी होता हुआ सर्जन करनेवाले ज्ञानके सब रूपोंका पोषण करता है। यह **संवर्धक पूषा** ही ज्ञानप्रदीप्त मनुष्योंके मनोंको स्पंदित और प्रेरित करता है एवं उनके विचारोंकी सिद्धि और पूर्णताका साधन है। वह द्रष्टा है जो मननशील मानवमें प्रतिष्ठित है और उसके आलोकित मनका संगी-साथी है जो उसे मार्गपर परिचालित करता है। वह हमारे अंदर उस विचारको प्रकट करता है जो **गाय** और **अश्व** तथा धन-संपदाके समस्त प्राचुर्यको जीत लेता है। वह प्रत्येक विचारकका मित्र है। वह विचारको उसके संवर्धनमें इस प्रकार संजोता है जैसे प्रेमी अपनी वधूको लाड़-प्यारसे पोसता है। परमानंदकी खोज करनेवाले विचार ऐसी शक्तियाँ हैं जिन्हें पूषा अपने रथमें जोतता है, वे हैं "अज[1] शक्तियाँ" जो उसके रथके जूएको अपने ऊपर ले लेती हैं।

रथका, यात्राका तथा मार्गका रूपक पूषाके साथ संबद्ध रूपमें निरंतर ही आता है, क्योंकि यह विकास जिसे वह प्रदान करता है, परे विद्यमान सत्यकी पूर्णताकी ओर एक यात्रा है। वेदमें वर्णित **पथ** सदा ही इस **सत्य**का पथ होता है। इस प्रकार ऋषि पूषासे प्रार्थना करता है कि वह हमारे लिए **सत्य**का सारथि बने और वैदिक विचार और ज्ञानका भाव तथा इस पथका

---

1. 'अज' शब्दका दोहरा अर्थ है—बकरी और अजन्मा। गौ अर्थवाले शब्दकी तरह वेदमें भेड़ और बकरी अर्थवाले शब्द भी एक गूढ़ आशयके साथ प्रयुक्त किये जाते हैं। **इन्द्र**को **भेड़** और **बैल** दोनों ही कहा जाता है।

भाव प्रायः एक दूसरेके साथ गुंथे हुए हैं। **पूषा** पथका अधिपति है जिसे हम इस प्रकार जोतते हैं मानो वह विचारके लिए और ऐश्वर्यकी विजय के लिए एक रथ हो। वह हमें हमारे मार्गोंका विवेकपूर्ण ज्ञान कराता है ताकि विचार सिद्ध व पूर्ण बनाए जा सकें। वह हमें ज्ञानके द्वारा उन मार्गोंपर ले जाता है, शक्तिशाली रूपमें हमें सिखाता है और कहता है कि "यह इस प्रकार है और केवल इसी प्रकार है" ताकि हम उससे उन धामोंका ज्ञान प्राप्त कर सकें जिनकी ओर हम यात्रा करते हैं। द्रष्टाके रूपमें ही वह हमारे रथोंके अश्वोंका प्रचालक है। **उषा**की तरह वह हमारे लिए सुखके सुगम मार्ग बनाता है। क्योंकि वह हमारे लिए संकल्प और बल खोज लाता है—और उन मार्गोंको पार करनेके द्वारा हमें बुराईसे मुक्त कर देता है। उसके रथका पहिया हानि पहुँचाने नहीं आता, नाही उसकी गतिमें कोई कष्ट व क्लेश है। निःसंदेह मार्गमें शत्रु हैं, परंतु वह हमारी यात्राके इन बाधकोंका अवश्य वध कर डालेगा। "हे पूषा! हे वृक (विदारक)! जो आनंदका बाधक हमें बुराई सिखाता है उसे प्रहारके द्वारा मार्गसे दूर भगा दो, जो विरोधी है और कलुषित हृदयवाला, लुटेरा या दस्यु है उसे हमारी यात्राके पथसे दूर धकेल दो। द्वैधकी जो कोई भी शक्ति हममें बुराईको प्रकट करती है उसके दुःखदायी बलको पद-दलित कर दो" (ऋ. I. 42. 2-4[1])।

इस प्रकार मनुष्यकी आत्माका दिव्य और ज्योतिर्मय संवर्धक **पूषा** हमें हमारे रथके पहियोंके साथ चिपकी हुई सब विघ्नबाधाओंसे परे उस प्रकाश तथा आनंदकी ओर ले जाएगा जिसका सर्जन **सूर्य-सविता** करता है। "**जीवन-शक्ति** जो सभीका जीवन है तेरी रक्षा करेगी, **पूषा** तेरे सामने खुले पड़े प्रगतिके पथमें तेरी रक्षा करेगा, और जहाँ शुभ कार्यके कर्ता आसीन हैं, जहाँ वे जा चुके हैं, वहीं दिव्य **सविता** तुझे प्रतिष्ठित करेगा। **पूषा** सब क्षेत्रोंको जानता है और वह हमें उस रास्ते से ले जाएगा, जो भय-संकटसे नितांत मुक्त है। परम आनंदका दाता, देदीप्यमान देव जो समस्त बल-वीर्यसे संपन्न है, हमारा अगुआ बनकर अपने ज्ञानसे हमें स्थिरता-पूर्वक आगे-आगे ले चले। द्यावापृथिवीमेंसे होकर जानेवाले पथोंपर तेरी

---

1. **यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि॥**
अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुतेरज॥
त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्य चित्। पदाभि तिष्ठ तपुषिम्॥
ऋ. I. 42.2,3,4

अग्रगामी यात्रामें पूषाका जन्म हो गया है, क्योंकि वह उन दोनों लोकोंमें विचरण करता है जो हमारे लिए आनंदसे भरपूर बनाए गये हैं। यहाँ वह अपने ज्ञानमें विचरता है और यहाँसे परे भी यात्रा करता है।" (ऋग्वेद X. 17.4-6[1])

स्रष्टा सविता

तेजस्वी उषाओंके **प्रयाण**के, **सूर्य**के दिव्य पुनरावर्तनोंके, **पूषा**के संवर्धनों एवं **मार्ग**पर उसके नेतृत्वके परिणामको साररूपमें ज्योतिर्मय **स्रष्टा सविता**की सृष्टि कहकर वर्णित किया गया है। **सविता** देव ही हमें वहाँ प्रतिष्ठित करता है जहाँ कर्मके प्राचीन कर्ता हमसे पहले जा चुके हैं। इस दिव्य **स्रष्टा**की उस वरणीय ज्वाला और तेज पर ही ऋषिको ध्यान करना होता है[2] और उस तेजकी ओर ही यह देव हमारे विचारोंको प्रेरित करता है, **सविता** देवके आनंदके विविध रूपोंपर ही हमारी आत्माको ध्यान करना होता है जब कि वह उसकी ओर यात्रा करती है। उस परम सृष्टिमें ही अखंड और अनंत देवी अपनी **वाणी** उच्चरित करती है और सर्व-शासक राजा **वरुण, मित्र** तथा **अर्यमा** भी वहीं अपनी वाणी उच्चरित करते हैं। उस परम सिद्धिकी ओर ही इन सब देवताओंकी शक्ति संयुक्त सहमतिके साथ मुड़ती है।

वह दिव्य वाणी **सत्य**की ही वाणी है। क्योंकि अतिचेतन **सत्य** गुप्त पड़ा है और उस अनंत सत्ताका आधार है जो हमारे आरोहणके उन उच्चतर शिखरोंपर प्रकाशित हो उठती है। जिसे हम आज जीवन मानते हैं वह

---

1. **आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।**
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥
ऋ. X.17.4

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्मां अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्॥
ऋ. X.17.5

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः।
उभे अधि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्॥
ऋ. X. 17.6

2. **तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥**
ऋ. 3.62.10; यजु. 3.35; साम. 1462

दुःस्वप्न है, एक मृत्यु है जो हमपर शासन करती है, क्योंकि हम मिथ्या ज्ञानमें, एक सीमित और विभक्त अस्तित्वमें निवास करते हैं जो प्रत्येक भक्षकके प्रति खुला है। वह असली जीवन नहीं। जीवनके लिए हमें सूर्यपर चिरकाल तक दृष्टि जमानेमें समर्थ होना होगा। जीवनके लिए हमें अपने विचारमें ऐसा ज्ञान और शब्द धारण करनेमें समर्थ होना होगा जो सर्वोच्च अनुभूतिसे पूर्ण हों। हमें एक आहुतिके रूपमें **सत्य**को आगे लाना होगा ताकि ज्योतिर्मय देव **प्रकाश**से पूर्ण अपने स्वर्णिम हाथोंके साथ हमारे द्युलोकोंमें ऊँचा उदित हो सके और हमारा शब्द सुन सके। जो **शक्तिशाली एकमेव** ज्ञानके विचारसे संपन्न है और देवोंके लिए अमरता व परमोच्च आनंदोपभोगका सर्जन करता है उसकी उस परम और विशाल अवस्थाको हमें अपने अंदर वरण और ग्रहण करना होगा। हमें **सविता** देवका सूत्र विस्तारित करना होगा, ताकि वह हमें जीवनकी उन उच्चतर भूमिकाओंकी ओर उन्मुक्त कर दे जो मनुष्योंके लिए प्राप्य बना दी गई हैं और उनकी सत्तासे समस्वरित हैं। उस परम आनंदको धारण करनेके लिए हमें **वरुण**की विशालता और पवित्रतामें, **मित्र**की सर्वांगिण समस्वरतामें, **सविता**की परम सृष्टिमें पाप और बुराई से मुक्त होना होगा।

तब **सविता** देव दुःस्वप्नके दुखदर्दको हमसे दूर कर मिटा देगा। ऋजुताके अभिलाषीके लिए वह अपने अस्तित्वकी वर्धनशील विशालताका सर्जन करेगा ताकि हम अपने अधूरे ज्ञानके साथ भी अपनी सत्तामें देवोंकी ओर अभिवर्धित हों। देवताओंके द्वारा वह हमारे ज्ञानको पोषित करेगा तथा हमें अनंत **अदिति**की अखंड चेतनामें देवोंके उस विश्वमय स्वरूपकी ओर ले जाएगा जिसे हमने अपना लक्ष्य चुन लिया है। हमने अपने अज्ञानमें, पदार्थोंके अपने खंडित और संकुचित अवलोकनमें, अपनी निरी मर्त्य संभूति और मानवीयतामें देवों या मनुष्योंके विरुद्ध जो कुछ भी किया है उस सबको वह मिटा देगा तथा हमें पापसे मुक्त कर देगा। क्योंकि वह **ऋत**का स्रष्टा है, वह एक ऐसा रचयिता है जो **सत्य**का सर्जन करता है।

हमारी भौतिक सत्ताकी महान् विशालता तथा शक्तिमें, हमारे मनकी समृद्ध विपुलतामें वह उस **सत्य**का सर्जन करेगा एवं उस सत्यकी अक्षय विशालताके द्वारा हमारी सत्ताके सब लोकोंको धारित करेगा। इस प्रकार, **सत्य** ही जिसकी सृष्टि है ऐसे **सविता**की एवं **मित्र** और **वरुण**की क्रियामें, देवगण उस सत्यके विविध प्रकाशके सारतत्त्वको और उसके सामर्थ्यों और आलोकोंके आनंदको हमारे अंदर तब तक धारण करते रहेंगे जब तक संपूर्ण अस्तित्व, हमारे पीछे और आगे, नीचे और ऊपर, **सवितृ**देव-रूप ही

नहीं बन जाता और जबतक हम सुविस्तृत जीवन अधिगत नहीं कर लेते एवं अपनी सत्ताका विश्वमय रूप निर्मित नहीं कर लेते। इस विश्वमय रूपका सर्जन वह हमारे लिए तब करता है जब वह स्वर्णिम प्रकाशके हाथोंसे, मधुर सोमरस का आस्वादन करनेवाली जिह्वासे, **सत्य**के उच्चतम द्युलोकके त्रिविध ज्ञानमें संचरण करता है, देवोंमें उस दिव्य लयको प्राप्त करता है जिसे वह अपने पूर्णतः चरितार्थ **विधान**के लिए बनाता है, और जब प्रकाशका अंबर पहने हुए वह **कवि,** जिसने विश्वका निर्माण करनेके लिए प्रारम्भमें ज्ञान और शक्तिकी अपनी दोनों भुजाओंको फैलाया था, अपने उस स्वर्णिम सामर्थ्यमें निज धाममें आसीन हो जाता है। वस्तुओंको आकार देनेवाले **त्वष्टा**के रूपमें जिसने सदा नृ-देवताओं और उनकी स्त्रीरूप शक्तियोंके साथ अर्थात् **पुरुष**की शक्तियों और **प्रकृति**की शक्तियोंके साथ मिलकर सब वस्तुओंकी रचनाकी है और करता है, वही **सविता**के रूपमें मानवके लिये, देहमें उत्पन्न मननशील प्राणीके लिए, उसी **सत्य** और **अमरता**का अवश्यमेव सर्जन करेगा।

चार राजा

सविता सूर्यकी सृष्टि दिव्य **उषा**के पुनः पुनः उदयोंसे आरंभ होती है और हमारे अंदर **पूषा सूर्य**के कार्यके द्वारा उषाकी आध्यात्मिक देनों और संपदाओंके सतत पोषणसे वह अभिवर्धित होती है। परंतु वास्तविक रचना, सर्वांगीण पूर्णता सब देवों (**विश्वेदेवाः**)के, **अदिति**के पुत्रोंके, विशेषकर चार महान् प्रकाशमय **राजा**ओं—**वरुण, मित्र, भग, अर्यमा**के हमारे अंदर जन्म और विकासपर निर्भर करती है। **इन्द्र, मरुत्** और **ऋभु, वायु, अग्नि, सोम** तथा **अश्विन्** वस्तुतः प्रधान कार्यकर्ता हैं। **विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति,** भावि-लक्ष्यभूत शक्तिशाली **त्रिदेव** विकासकी अनिवार्य अवस्थाओंपर शासन करते हैं,—क्योंकि उनमेंसे एक अपने चरणपातसे उन अंतर्लोकोंके विशाल ढाँचेका निर्माण करता है जिनमें हमारे आत्माकी क्रिया घटित होती है, दूसरा अपने मन्यु व बल और रौद्र दयाशीलताके द्वारा महान् विकासको बलपूर्वक आगे बढ़ाता तथा विरोधी एवं विद्रोही और अनिष्टकर्तापर प्रहार करता है, और तीसरा सदा ही आत्माकी गहराइयोंसे सर्जक शब्दका बीज प्रदान करता है। इसी प्रकार **पृथ्वी** और **द्युलोक,** दिव्य **जलधाराएँ,** महान् देवियाँ और पदार्थोंको आकार देनेवाला **त्वष्टा** जिसकी वे देवियाँ सेवा करती हैं—ये सब या तो विकासका क्षेत्र प्रदान करते हैं या उसकी सामग्री लाते एवं बनाते हैं; परन्तु संपूर्ण सर्जनपर, उसके सर्वांगपूर्ण विशाल व्योमपर, शुद्ध

ताने-बानेपर, उसके सोपानोंके मधुर और व्यवस्थित सामंजस्यपर, उसकी परिपूर्तिके प्रदीप्त बल एवं सामर्थ्यपर, और उसके समृद्ध, पवित्र और प्रचुर आनंदोपभोग एवं हर्षोल्लासपर **सौर** देव **वरुण, मित्र, अर्यमा** और **भग** अपनी दिव्य दृष्टिकी महिमा और सुरक्षाकी छत्रच्छाया रखते हैं।

वे पवित्र कविताएँ जिनमें सब देवों (विश्वेदेवाः), अनंतसत्ताके पुत्रों—**आदित्यों** तथा **अर्यमा, मित्र** और **वरुण**की स्तुतिकी गई है,—जो यज्ञमें औपचारिक आवाहनके सूक्तमात्र नहीं हैं,—उन अति-सुन्दर, पावक और गंभीर कविताओंमेंसे हैं जिन्हें मनुष्यकी कल्पनाशक्तिने आविष्कृत किया है। **आदित्यों**का वर्णन अनुपम गरिमा और उदात्तताके सूत्रोंमें किया गया है। ये मेघ, सूर्य और वृष्टिधाराके पौराणिक बर्बर देवता नहीं हैं, नाहीं आश्चर्य-चकित जंगली लोगोंके अस्तव्यस्त अलंकार हैं, अपितु उन मनुष्योंकी पूजाके पात्र हैं जो आंतरिक रूपसे हमारी अपेक्षा कहीं अधिक सुसभ्य और आत्म-ज्ञानमें कहीं अधिक गहरे पहुँचे हुए थे। संभव है उन्होंने अपने रथोंके साथ बिजलीको न जोता हो, नाहीं सूर्य तथा तारेको तोला हो और न **प्रकृति**की सभी विनाशक शक्तियोंको जनसंहार और आधिपत्यमें उनकी सहायता पानेके लिये मूर्तरूप दिया हो, परंतु उन्होंने हमारे अंदरके सभी द्युलोकों और पृथ्वियोंको माप लिया था और उनकी थाह पा ली थी। उन्होंने अपना लंबसीस निश्चेतन, अवचेतन तथा अतिचेतनके अंदर डाला था। उन्होंने मृत्युकी पहेलीका अध्ययन किया था और अमरताका रहस्य ढूँढ़ लिया था तथा **एकमेव** भगवान्‌को खोजा और पा लिया था और **उस**की ज्योति व पवित्रता और प्रज्ञा व शक्तिकी महिमाओंमें उसे जान लिया था और **उस**की पूजा की थी। ये थे उनके देव, जो उतनी ही महान् और गहन परिकल्पनाओंके मूर्तरूप थे जितनी महान् परिकल्पनाओंने कभी मिस्र-निवासियोंके गूढ़ सिद्धान्तोंको अनुप्राणित किया था अथवा जिन्होंने पुराने आदिकालीन यूनानके उन मनुष्योंको अंतःप्रेरित किया था जो ज्ञानके पिता थे, जिन्होंने ओरफियस (Orp' eus) की रहस्यमय रीति-रस्मोंको या एलियूसिस (Eleusis) की गुप्त दीक्षाको स्थापित किया था। परंतु इस सबके ऊपर थी एक **"आर्य-ज्योति"**,[1] एक विश्वास एवं हर्ष और देवोंके साथ एक सुखद समस्तरीय मित्रता जिसे आर्य अपने साथ जगत्‌में लाया था। वह ज्योति उन अंधकारमय छायाओंसे मुक्त थी जो प्राचीनतर जातियोंके साथ, गंभीर-विचारमग्न

---

1. **प्रथामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्।**
ऋ. 10.43.4

पृथ्वीमाताके **पुत्रों**के साथ संपर्क होनेसे मिस्रदेशपर पड़ी थीं। इन जातियोंका दावा था कि **द्युलोक** उनका पिता है और इनके ऋषियोंने हमारे भौतिक अंधकारमेंसे उस **द्युलोक**के **सूर्य**को उन्मुक्त किया था।

आर्य-विचारवालोंका लक्ष्य है स्वयंप्रकाश **एकमेव**; इसलिये ऋषियोंने उसकी पूजा **सूर्य**के रूपमें की। उस **'एकं सत्'**को ऋषियोंने विविध नामोंसे पुकारा है—इन्द्र, अग्नि, वायु, मातरिश्वा। उस **सर्वोच्च** देवके सम्बन्धमें और यहाँ **उस**के कार्योंकी प्रतिमूर्ति अर्थात् **सूर्य**के सम्बन्धमें वेदमें "वह एक", "वह सत्य"[1] ये पद निरंतर आते हैं। एक उदात्त तथा रहस्यमय स्तोत्रमें यह टेक बार-बार दोहराई गई है, **"देवों**की बृहत् शक्तिशालिता,—वह **एक**" (ऋ. III.55.1)[2]। वहीं है **सत्य**के पथसे सूर्यकी उस यात्राका लक्ष्य जो, हम देख चुके हैं कि, जागृत और ज्ञानप्रदीप्त आत्माकी यात्रा भी है। "तुम्हारा", मित्र और वरुणका "वह **सत्य** इस सत्यसे छिपा हुआ है, जहाँ (उस सत्यमें) वे सूर्यके घोड़े खोल देते हैं। वहाँ दस सौ रश्मियाँ इकट्ठी मिलती हैं,—मैंने उस **एकमेव**को, मूर्तिमान् देवोंके **परमदेव**को देख लिया है" (ऋ. V.62.1)[3]।

परन्तु अपने आपमें वह **एकमेव** कालातीत है और हमारा मन और मानव सत्ता **कालमें** अस्तित्व रखते हैं। "वह न आज है न कल, उसे कौन जानता है जो परात्पर है, जब उसके पास पहुँचते हैं तो वह हमसे तिरोहित हो जाता है" (ऋ. I.170.1)[4]।

इसलिये अपनेमें देवोंको जन्म देते हुए, उनके बलशाली और भास्वर रूपोंका संवर्धन करते हुए, उनके दिव्य शरीरोंका निर्माण करते हुए[5] हमें उस एककी ओर विकसित होना है और यह नव-जन्म और आत्मनिर्माण यज्ञका सच्चा स्वरूप है, यह यज्ञ एक ऐसा यज्ञ है जिसके द्वारा हमारी चेतनाका अमरता[6]की ओर जागरण होता है।

---

1. 'तद् एकं, तत् सत्यम्' ये दो ऐसे वाक्यांश हैं जिनकी व्याख्याकारोंने सदैव सतर्क रूपसे अशुद्ध व्याख्या की है।
2. **....महद् देवानामसुरत्वमेकम्।।** ऋ. III.55.1
3. **ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।**
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्।। ऋ. V.62.1
4. **न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।**
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति।। ऋ. I.170.1
5. **देववीति, देवताति।**
6. **अमृतस्य चेतनम्।** ऋ. 1.170.4

अनंतके पुत्रोंका जन्म दो प्रकारका होता है। ऊपर तो उनका जन्म भागवत **सत्य**में लोकोंके स्रष्टाओं और दिव्य **विधान**के संरक्षकोंके रूपमें होता है। और दूसरे वे यहाँ भी, स्वयं इस लोकमें तथा मनुष्यमें, **भगवान्**की वैश्व और मानवी शक्तियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। इस दृश्य जगत्में वे विश्वकी पुंल्लिङ्गी और स्त्रीलिङ्गी शक्तियाँ एवं ऊर्जाएं (नृ और ग्ना) हैं और **सूर्य, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी** और **व्योम**के देवोंके रूपमें, जड़-प्राकृतिक सत्तामें सदा विद्यमान चेतन शक्तियोंके रूपमें उनका यह बाहरी पहलू हमें **आर्यपूजा**का बाह्य या चैत्य-भौतिक पक्ष प्रदान करता है। जगत्के विषयमें यह प्राक्कालीन विचार कि वह केवल जड़प्राकृतिक सद्वस्तु ही नहीं अपितु चैत्य-भौतिक सद्-वस्तु है, मंत्रके प्रभाव और मनुष्यके बाह्य जीवनके साथ देवोंके सम्बन्धके विषयमें प्राचीन विचारोंके मूलमें है। इसलिये प्रार्थना और पूजामें और भौतिक फलोंके लिए यज्ञके अनुष्ठानमें शक्ति मानी जाती है; इसी कारण सांसारिक जीवनके लिए और तथाकथित जादू-टोनेमें इनका उपयोग किया जाता है जो अथर्ववेदमें प्रमुख रूपसे प्रकाशमें आया है और ब्राह्मणग्रन्थोंके प्रतीकवादके अधिकांशके पीछे भी कार्य कर रहा है।[1] परन्तु स्वयं मनुष्यमें देवता सचेतन मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ हैं। "संकल्पकी शक्तियाँ होते हुए वे संकल्पके कार्य करते हैं; वे हमारे हृदयोंमें चितन-रूप हैं; वे आनंदके अधिपति हैं जो आनंद लेते हैं; वे विचारकी सब दिशाओंमें यात्रा करते हैं।" उनके बिना मनुष्यकी आत्मा न अपने दाएँ और बाएँमें भेद कर सकती है, न अपने आगे और पीछेमें और नाहीं मूर्खतापूर्ण और बुद्धिमत्तापूर्ण बातोंमें। उनसे परिचालित होकर ही यह "अभय **ज्योति**" तक पहुंच सकती और उसका रसास्वादन कर सकती है।[2] इसी कारण उषाको यों सम्बोधित किया गया है—"हे तू जो मानवी और दिव्य है", और देवोंका वर्णन निरंतर उन्हें "मानुष" या मानवीय शक्तियाँ (मानुषाः, नराः) कहकर किया गया है। वे हैं हमारे "प्रकाशमय द्रष्टा", "हमारे वीर", "हमारे वाजपति" (प्रचुर ऐश्वर्य और बलके पति)। वे अपनी मानवीय सत्ताकी हैसियतसे (मनुष्वत्) यज्ञको संचालित करते हैं

1. वेदके बाह्य अर्थका असली रहस्य यही है। आधुनिक विद्वानोंने केवल इसी अर्थको देखा है और इसे भी अत्यन्त अधूरे रूपम समझा है। बाह्याचारी धर्म भी निरी प्रकृतिपूजासे अधिक कुछ था।

2. **न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।**
पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥
ऋ. II.27.11

और अपनी उच्च दिव्य सत्तामें उसे ग्रहण करते हैं। **अग्नि** हमारी आहुति का वाहक पुरोहित है और **बृहस्पति** शब्दका। इस भावमें **अग्नि**को मनुष्य-के हृदयसे उत्पन्न कहा गया है। सभी देव इसी प्रकार यज्ञके द्वारा उत्पन्न होते और बढ़ते हैं तथा अपनी मानवी क्रियासे अपने दिव्य देह धारण करते हैं। जगत्के आनंदकी सुरारूप सोम मनमेंसे, जो उसे पवित्र करनेवाली एक "प्रकाशमय एवं विस्तीर्ण" छलनी है, वेगपूर्वक गुजरता हुआ, वहाँ दस बहिनोंसे शोधित होकर देवोंको जन्म देता हुआ स्रवित होता है।

परन्तु इन आंतरिक शक्तियोंका स्वभाव सदा ही दिव्य होता है और इसलिए इनकी प्रवृत्ति **ज्योति,** अमरता तथा अनंतताकी ओर ऊपर जाने-की होती है। वे **"अनंतके पुत्र"** हैं, अपने संकल्प और क्रियामें एकमय, पवित्र, परिपूत धाराओंवाले, कुटिलतासे मुक्त, निर्दोष और अपनी सत्तामें अक्षत। विशाल, गंभीर, अपराजित, विजयशील, अंतर्दृष्टिके अनेक करणोंसे संपन्न वे हमारे अन्दर कुटिल वस्तुओं और पूर्ण वस्तुओंको देखते हैं। सब कुछ इन राजाओंके निकट है, यहाँ तक कि वे वस्तुएँ भी जो सर्वोच्च हैं। **अनंतके पुत्र** होते हुए वे जगत्की गतिमें निवास करते हैं और उसे आश्रय देते हैं। वे देवता होनेके कारण उस सबके संरक्षक हैं जो विश्वके रूपमें प्रकट होता है; दूरगामी विचारसे युक्त और सत्यसे परिपूर्ण होते हुए वे **बल-वीर्य**की रक्षा करते हैं (ऋ. II.27.2,3,4)[1]। वे विश्वके, मानवके और विश्वकी सब प्रजाओंके राजा हैं **(नृपति, विश्पति),** आत्मशासक, विश्व-शासक (स्वराट्, सम्राट्) हैं, वे उन **दस्युओं**की तरह शासक नहीं हैं जो असत्य और द्वैधभावमें रहनेका यत्न करते हैं, परन्तु इसलिए शासक कहलाते हैं कि वे **सत्य**के राजा हैं। क्योंकि उनकी माता है **अदिति** "जिसमें कोई द्वैधभाव नहीं है", "ज्योतिर्मय अखंड **अदिति** जो प्रकाशमय लोकके दिव्य-धामको धारण करती है।" और उसके पुत्र "सदा जागते हुए उसके साथ दृढ़तासे चिपके रहते हैं।" वे अपनी सत्तामें, अपने संकल्प, विचार, आनंद, क्रिया और गतिमें "अत्यंत ऋजु" हैं, "वे **सत्य**के विचारक हैं जिनकी प्रकृति-

---

1. **इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त।**
आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः॥
त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भर्यक्षाः।
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति॥
धारयन्त आदित्यासो जगत् स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि॥
ऋ. II.27.2,3,4

का विधान **सत्य**का विधान है।" "वे सत्यके द्रष्टा और श्रोता हैं।" वे "**सत्य**के सारथि हैं, जिनका आसन उसके प्रासादोंमें है, वे पवित्र विवेकवाले और अजेय हैं, विशालदृष्टि-संपन्न **नर** हैं।" "वे **अमर** हैं जो **सत्य**को जानते हैं।" इस प्रकार असत्य और कुटिलतासे मुक्त ये आंतरिक दिव्य सत्ताएँ हमारे अन्दर अपने स्वाभाविक स्तर, धाम, भूमिका और लोक तक उठ जाती हैं। "द्विविध जन्मोंवाले ये देवता अपनी सत्तामें सच्चे हैं और **सत्य**पर अधिकार रखते हैं, **प्रकाश**में बहुत विशाल और एकीभूत हैं और हैं इसके प्रकाशमय लोकके स्वामी।"

इस ऊर्ध्वोन्मुख गतिमें वे अशुभ और अज्ञानको छिन्न-भिन्न करके हमसे दूर कर देते हैं। ये वे हैं "जो पार होकर निष्पापता और अविभक्त सत्ता-में पहुँच जाते हैं"। इसी लिए ये हैं "वे देव जो उद्धार करते हैं"। शत्रु, आक्रामक किंवा अनिष्टकर्ताके लिए उनका ज्ञान मानो दूर-दूर तक फैले हुए जाल बन जाता है, क्योंकि उसके लिये प्रकाश अंधताका कारण होता है, शुभकी दिव्य गति अशुभका अवसर और मार्गका रोड़ा। परन्तु आर्य ऋषि-की आत्मा रथके साथ वेगसे दौड़ती हुई घोड़ीकी तरह इन संकटोंसे पार हो जाती है। देवोंके नेतृत्वमें आर्य ऋषि बुराईके अन्दर होनेवाले सब प्रकार-के स्खलनोंसे ऐसे बच जाता है जैसे अनेकों खोह-खड्डोंसे। **अदिति, मित्र** और **वरुण**की विशाल एकता, पवित्रता और समस्वरताके विरुद्ध उसने जो पाप किया हो उसे ये देव क्षमा कर देते हैं ताकि वह विशाल तथा "अभय **ज्योति**" का रसास्वादन करनेकी आशा कर सके और लंबी रात्रियाँ उसपर न आवें। वैदिक देव निरी भौतिक प्रकृति-शक्तियाँ ही नहीं हैं अपितु जगत्की सब वस्तुओंके पीछे और अन्दर विद्यमान चैत्य सचेतन शक्तियाँ हैं—यह बात उनके वैश्व स्वरूपमें और पाप व असत्यसे हमें इस प्रकार छुड़ानेमें जो संबंध है उससे पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि तुम वे हो जो अपने ज्ञानात्मक मनकी शक्तिसे जगत्पर शासन करते हो, चर और अचर सभी भूतोंके अन्दर स्थित विचारक हो, इसलिये हे देवो! तुम हमें, जो कर्म हमने किया है और जो नहीं किया है उसके पापसे पार करके आनंदकी ओर ले जाओ। (ऋ. X.63.8)[1]

पथ और यात्राका रूपक वेदमें सदा देखनेमें आता है। वह पथ है

---

1. **य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।**
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥

ऋ. X.63.8

सत्यका पथ, जिसपर हम दिव्य नेतृत्वके द्वारा आगे ले जाये जाते हैं। हे **अनन्तके पुत्रो**! हमारे लिए निर्भय शान्ति संपादित करो, हमारे लिए आनन्दके सुगम सन्मार्ग बनाओ (ऋ. X.63.7)[1]।

"तुम्हारा पथ सुगम है हे अर्यमा, हे मित्र, वह पथ है निष्कंटक और पूर्ण, हे वरुण" (ऋ. II.27.6)[2]।

"जिन्हें **अनंतताके पुत्र** अपने उत्तम मार्गदर्शनोंके द्वारा आगे ले जाते हैं, वे सब पाप और बुराईसे पार होकर आनंदमें पहुँच जाते हैं" (ऋ. X.63.13)[3]। सदा ही वह लक्ष्य होता है परम कल्याण, विशाल आनंद और शान्ति, अखंड **ज्योति**, बृहत् **सत्य** और **अमरता**। "तुम हे देवो! विरोधी (विभाजक) शक्तिसे हमें दूर रखो, हमें आनंद-प्राप्तिके लिये व्यापक शान्ति प्रदान करो" (ऋ. X.63.12)[4]। "**अनंतताके पुत्र** हमें अक्षय **प्रकाश** देते हैं।" "हमारे यज्ञ-संबन्धी ज्ञानसे सम्पन्न मनके अधिपतियो! प्रकाशका सर्जन करो।" "तुम्हारा जो बढ़ता हुआ जन्म है, जो, हे अर्यमा, भयके इस जगत्में भी परम आनन्दका सर्जन करता है, उसे हम आज ही जानना चाहते हैं, हे **अनन्तके पुत्रो**!" क्योंकि जिसका सर्जन किया जाता है वह है "अभय **ज्योति**" जहाँ मृत्यु, पाप, ताप, अज्ञानका कोई संकट नहीं—वह है वस्तुओंके अन्दर स्थित, अखंड, अनन्त और अमर, आनन्दोल्लसित परम **आत्मा**की ज्योति। क्योंकि "ये **अमरता**के आनन्दोल्लसित स्वामी हैं, यही सर्वव्यापी अर्यमा, मित्र और वरुण।"

तो भी **स्वर्**के अर्थात् दिव्य **सत्य**के लोकके रूपकमें ही लक्ष्य ठोस रूपमें चित्रित हुआ है। अभीप्सा यह की गई है "आओ उस **ज्योति**में पहुँचें जो **स्वर्**लोककी है, उस **ज्योति**में जिसे कोई खंड-खंड नहीं कर सकता"। स्वर् है मित्र, वरुण और अर्यमाका महान्, अखंडनीय जन्म-धाम जो आत्माके प्रकाशमय द्युलोकोंमें निहित है। क्योंकि वे सर्व-शासक **राजा** पूर्ण रूपसे वर्धित होते हैं और उनमें कोई कुटिलता नहीं है, अतः वे द्युलोकमें हमारे वास-धामको धारण करते हैं। वह है त्रिविध लोक जिसमें मनुष्यकी उन्नीत चेतन-सत्ता तीन दिव्य तत्त्वोंको अर्थात् उसकी अनंत सत्ता, उसकी अनंत

---

1. **ता आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये।**
ऋ. X.63.7

2. **सुगो हि वो अर्यमन् मित्र पन्था अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति।**
ऋ. II.27.6

3. **यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥** ऋ. X.63.13

4. **आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥** ऋ. X.63.12

चेतन्-शक्ति और उसके अनंत आनंद[1]को प्रतिबिम्बित करती है। "वे अपने अंदर ज्ञानमें तीन पृथिवियों, तीन द्युलोकोंको, इन देवोंके तीन कार्य-व्यापारोंको धारण करते हैं। हे **अनंत**के **पुत्रो** ! तुम्हारी वह विशालता **सत्य**से महान् है, हे अर्यमन् ! हे मित्र ! हे वरुण ! वह विशालता महान् और रमणीय है। वे प्रकाशके तीन स्वर्गिक लोकोंको धारण करते हैं, स्वर्णसम भास्वर वे देव जो स्वयं पवित्र हैं और जिनकी धाराएँ पवित्र हैं। कभी न सोनेवाले अजेय वे देव पलक नहीं झपकाते, अपनी विशालता उस मर्त्यके प्रति प्रकट करते हैं जो सरल है" (ऋ. 2.27.8.9)[2]। सबको पवित्र करनेवाली ये धाराएँ उस वृष्टि और प्रचुरताकी धाराएँ हैं, **सत्य**के द्युलोककी नदियाँ हैं। "वे ज्योतिके रथमें बैठे हैं, ज्ञानमें शक्तिशाली, निष्पाप ; परम कल्याणके लिए वे द्युलोककी वर्षा और प्रचुरताका परिधान पहने हुए हैं" (ऋ.10.63.4)[3]। उस प्रचुरताकी वर्षाके द्वारा वे हमारी आत्माओंको उसके स्रोत तक आरोहण करनेके लिए तैयार करते हैं, वह स्रोत है एक उच्चतर समुद्र जिससे ज्योतिर्मय धाराएँ अवतरित होती हैं।

हम देखेंगे कि **सब-देवों (विश्वेदेवाः)** के प्रति तथा **अनंत माता**के **पुत्रों**के प्रति सम्बोधित सूक्तोंमें इस महान् त्रयी—**वरुण, मित्र** और **अर्यमा**का निरूपण कितने विस्तारसे किया गया है। इस त्रयीका शिखरभूत चौथा देव है **भग**। इसके साथ वे तीनों पूर्ण सत्य और अनंतताके पुंज और चरम शिखर के प्रति ऋषियोंकी चरम अभीप्सामें उनके विचारपर छाये रहते हैं। उनकी इस प्रधानताका कारण है उनका विशिष्ट स्वभाव और व्यापार, जो निस्संदेह प्रायः किसी बड़ी भारी प्रमुखताके साथ तो नहीं प्रकट होते किन्तु उनके साँझे कार्य, उनकी संयुक्त प्रकाशमय प्रकृति, उनकी निर्विशेष उपलब्धिकी पृष्ठभूमिके रूपमें हमारे सामने आते हैं। क्योंकि उनके पास एक ज्योति है, एक कार्य है, वे हमारे अंदर एक अखंड **सत्य**को पूर्ण बनाते हैं; हमारे सहमृति देनेवाले विश्वात्मभाव[4]में सब देवोंका यह

---

1. त्रिधातु।
2. **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।**
   ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु॥
   त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः।
   अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय॥ ऋ. II.27.8-9
3. **नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।**
   ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ ऋ. X.63.4
4. विश्वदेव्यम्।

ऐक्य ही इन **आदित्य**-सूक्तोंमें वैदिक विचारका उद्देश्य है। तो भी यह ऐक्य उनकी शक्तियोंके सम्मिलनसे साधित होता है और इसलिए इसमें उनमेंसे प्रत्येकका निजी स्वभाव और व्यापार होता है। इन **चारों**का सम्मिलित स्वभाव और व्यापार है समग्र दिव्यता या भगवत्ताको उसके चार सारभूत तत्वोंकी स्वाभाविक परस्पर-क्रियाके द्वारा सर्वांगीण रूपमें निर्मित करना। भगवान् सर्वस्पर्शी, अनंत और शुद्ध सत्ता है। वरुण हमारे पास दिव्य आत्माका अनंन्त सागरसम विस्तार और उसकी आकाशीय तात्त्विक पवित्रता लाता है। भगवान् निस्सीम चेतना है जो ज्ञानमें पूर्ण और पवित्र है और इसलिए वस्तुओंके अपने अवलोकन और विवेचनमें प्रकाशमय ढंगसे यथार्थ, उनके विधान और स्वभावको समस्वर करनेमें पूर्णतः सामंजस्यमय और सुखमय है। **मित्र** हमारे लिए इस प्रकाश और सामंजस्यको, इस यथार्थ विवेक और परस्पर-सम्बन्ध और मैत्रीपूर्ण सुसंवादको लाता है, साथ ही वह मुक्तात्माके उन सुखद विधानोंको भी लाता है जिनके अनुसार वह अपने समस्त समृद्ध विचारमें, अपने उज्ज्वल कार्योंमें और सहस्रविध हर्षोपभोगमें अपने साथ और परम **सत्य**के साथ समरस होता है। भगवान् अपनी सत्तामें शुद्ध और पूर्ण शक्ति है और हमारे अंदर वस्तुओंके मूल स्रोत और सत्यकी ओर जानेकी एक ऊर्ध्वमुख प्रवृत्ति है। **अर्यमा** हमारे पास सर्व-समर्थ बलको और पूर्ण-मार्गदर्शन-युक्त, सुखमय, आंतरिक अभ्युत्थानको लाता है। भगवान् एक ऐसा पवित्र निर्भ्रांत, सर्वस्पर्शी, अक्षुब्ध आनंदोल्लास है जो अपनी अनंत सत्ताका उपभोग करता है और उस सबका भी समान रूपसे उपभोग करता है जिसका वह अपने अंदर सर्जन करता है। **भग** हमें मुक्त आत्माके उस आनन्दातिरेकको और आत्माके अपने ऊपर और जगत्के ऊपर स्वतंत्र और अच्युत स्वामित्वको भी राजकीय ढंगसे प्रदान करता है।

राजाओंका यह चतुष्टय वस्तुतः **सच्चिदानंद, सत् चित्** और **आनंद**की परवर्ती सारभूत त्रयी है जिसमें आत्म-संविद् और आत्म-शक्ति, अर्थात् **चित्** और **तपस् चेतना**की दो अवस्थाएँ गिने जाते हैं। परंतु इस चतुष्टयको यहाँ इसकी वैश्व अवस्थाओं और वैश्व पर्यायोंके रूपमें परिणत कर दिया गया है। **राजा वरुण**का आधार है **सत्**की सर्व-व्यापी पवित्रतामें ; **देवों**के प्रियतम, **आनंदमय** और **शक्तिशाली मित्र**का **चित्**के सर्व-एकीकारक प्रकाशमें, अनेक रथोंवाले **अर्यमा**का गति और **तप**की क्रिया और सर्व-दर्शिनी शक्तिमें, **भग**का **आनंद**के सर्वालिङ्गी हर्षमें। तथापि ये सब चीजें चरितार्थ देवत्वमें एकरूप हो जाती हैं, क्योंकि त्रयीका प्रत्येक तत्व अपने आपमें दूसरोंको अन्तर्निहित

रखता है और उनमेंसे कोई भी दूसरोंसे पृथक् रूपमें नहीं रह सकता, इस लिए **चारों**मेंसे प्रत्येक अपने सारभूत गुणकी शक्तिसे अपने भाइयोंकी प्रत्येक सर्वसामान्य विशेषताको भी धारण करता है। इसी कारण यदि हम वेदको उतनी सावधानीसे न पढ़ें जितनी सावधानीसे यह लिखा गया था, तो हम इसके भेद-प्रभेदोंको खो बैठेंगे और इन प्रकाशमय **राजा**ओंके अविभेद्य सर्व-साधारण व्यापारोंको ही देखेंगे, क्योंकि निस्संदेह सूक्तोंमें आद्योपान्त पाई जानेवाली सब देवोंकी "भिन्नतामें एकता" मनोवैज्ञानिक सत्यकी सूक्ष्मताओंसे अपरिचित मनके लिए इस बातको कठिन बना देती है कि वह देवताओंमें सर्वसामान्य या परस्पर-परिवर्तनीय गुणोंके अस्त-व्यस्त पुंजके सिवाय और कुछ देखे। ये भेद-प्रभेद वहाँ हैं ही और इनका उतना ही बड़ा बल और महत्त्व है जितना कि यूनानी और मिस्री प्रतीकवादमें। प्रत्येक देव अपने अंदर अन्य सबको धारण किये है, परंतु उसके अपने विशिष्ट व्यापारमें उसका अपनापन तब भी बना रहता है।

इन चारों देवोंके बीच भेदका यह स्वरूप वेदमें उनकी घटती-बढ़ती प्रधानताकी व्याख्या कर देता है। **वरुण** सहज ही इन सबमें प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अनंत सत्ताका साक्षात्कार वैदिक पूर्णताका आधार है। दिव्य सत्ताकी विशालता एवं पवित्रता जब एक बार प्राप्त हो जाती है तब शेष सब उसमें अन्तर्निहित ऐश्वर्य, सामर्थ्य और गुणके रूपमें अनिवार्य रूपसे प्राप्त हो जाता है। **मित्र**की स्तुति **वरुण**के साथ संयुक्त रूपमें या फिर दूसरे देवोंके नाम और आकारके रूपमें,—अधिकतर वैश्व कर्मकर्ता **अग्नि**के नाम और आकारके रूपमें,—की गई है, इनके बिना तो कदाचित् ही। उस संयुक्त स्तुतिमें वे देव अपनी क्रियामें सामंजस्य और प्रकाशतक पहुँचते हुए अपने अंदर दिव्य **मित्र**को प्रकट कर देते हैं। प्रकाश-मय राजाओंके सूक्तोंमेंसे अधिकतर **मित्रावरुण**की युगल-शक्तिके प्रति सम्बोधित हैं। कुछ सूक्त पृथक् रूपसे **वरुण**के प्रति या **वरुण-इन्द्र**के प्रति, एक **मित्र**के प्रति, दो या तीन **भग**के प्रति सम्बोधित किये गये हैं, **अर्यमा**के प्रति एक भी नहीं। क्योंकि अनंत विशालता और पवित्रता स्थापित हो जानेपर, उनके आधारपर और उनकी नींवपर, हमारी सत्ताके आध्यात्मिक स्तरसे लेकर अन्नमय स्तरपर्यन्त सभी विभिन्न स्तरोंके परस्पर-सम्बद्ध नियमोंसे, देवोंकी क्रियाओंके द्वारा प्रकाशमय सामंजस्य प्राप्त करना होगा; और यही है मित्र और वरुणका द्वन्द्व। **अर्यमा**की शक्तिको कदाचित् ही एक स्वतंत्र तत्त्वके रूपमें देखा जाता है; वह तो एक ऐसा तत्त्व है जैसा कि विश्वमें विद्यमान शक्ति,—विश्वगत शक्ति सत्ताकी केवल एक अभिव्यक्ति

एवं गति है या उसका एक महत्त्वपूर्ण क्रियाशील रूपमात्र है, वह चेतना वा ज्ञानका, वस्तुओंके अंतर्निहित **सत्य**का क्रियान्वित एवं उन्मुक्त होना मात्र है, जिसके द्वारा वे (चेतना वा ज्ञान आदि) शक्तिके सार-तत्त्वके रूपमें और प्रभावकारी आकारके रूपमें परिणत हो जाते हैं, अथवा वह (विश्वगत शक्ति) एक ऐसी स्व-उपलब्धिकारी और स्वायत्तकारी गतिका एक प्रभावशाली रूपमात्र है जिसके द्वारा **सत्** और **चित्** अपने-आपको आनंदके रूपमें चरितार्थ कर लेते हैं। इसलिए **अर्यमा**का आवाहन सदा ही **अदिति** या **वरुण** या **मित्र**के साथ संयुक्त रूपमें किया जाता है अथवा महान् सिद्धिकारक त्रयीमें या राजाओंके चरितार्थ चतुष्टयके रूपमें या **सब-देवों (विश्वेदेवाः)** और आदित्योंके सर्वसामान्य आवाहनमें।

दूसरी ओर **भग** हमारी सत्ताके छिपे हुए दिव्य **सत्य**की उपलब्धिकी ओर हमारी गतिका चरम शिखर है; क्योंकि उस **सत्य**का सार है परम आनन्द। **भग** साक्षात् सविता ही है; **सर्व-उपभोक्ता भग** एक ऐसा **स्रष्टा**-सविता है जो अपनी सृष्टिके दिव्य उद्देश्यमें कृतार्थ हो गया है। इसलिए वह साधनकी अपेक्षा कहीं अधिक एक साधित परिणाम है या फिर सबसे अन्तिम साधन है, हमारे आध्यात्मिक ऐश्वर्यके दाताकी अपेक्षा कहीं अधिक उसका स्वामी है।

सब-देवों (विश्वेदेवाः)के प्रति ऋषि वामदेवका सूक्त विशद स्पष्टताके साथ उस उच्च अभीप्सामय आशाको दर्शाता है जिसके प्रति कृपालु होनेके लिए और जिसे सुखमय सिद्धि तक पहुँचानेके लिए इन वैदिक देवताओंका आह्वान किया जाता था।

"तुममेंसे कौन हमारा उद्धारक है? कौन हमारा त्राता है? हे **पृथ्वी** और **द्यौ**! द्वैध-भावसे मुक्त तुम हमारा उद्धार करो। हे **मित्र**! हे **वरुण**! इस मर्त्यभावसे हमें बचाओ जो हमारे मुकाबलेमें अतीव प्रबल है! हे देवो! तुममेंसे कौन हमारे लिए यज्ञकी यात्रामें परम कल्याणको दृढ़तया सम्पुष्ट करता है? जो हमारे उच्च मूल धामोंको प्रदीप्त करते हैं, ज्ञानमें निस्सीम जो देव हमारे अंधकारको दूर करते हुए उदित होते हैं, वे अविनश्वर सर्वनियंता देव ही हमारे लिए उन सबका विधान करते हैं। **सत्य**के चिन्तक वे सिद्धिकर्ता ज्योतिमें देदीप्यमान होते हैं। प्रकाशप्रद शब्दोंके द्वारा मैं **अदिति**रूप बहती हुई नदीको जो दिव्य आनंदमय है, अपना साथी बनानेके लिए खोजता हूँ। हे अजेय **निशा** और **उषा**! कृपा करके ऐसा अवश्य करो कि दोनों **दिन** (दिनका प्रकाशमय और अंधकारमय रूप) हमारी पूर्णतया रक्षा करें। **अर्यमा** और **वरुण** विवेकपूर्वक **पथ** दर्शाते हैं, और प्रेरणाका

अधिपति **अग्नि** विवेकपूर्वक आनंदमय लक्ष्यका **मार्ग** दिखलाता है। हे **इन्द्र** और **विष्णु**! स्तुति किये हुए तुम हमारे लिए पूर्णतया उस शान्तिका विस्तार करो जिसमें सब **शक्तियाँ** और महती सुरक्षा विद्यमान हैं। **पर्वत**के, **मरुत्**के और हमारे दिव्य त्राता **भग**के संवर्धनोंका मैं सहर्ष वरण करता हूँ। सब पदार्थोंका स्वामी जगत्-सम्बन्धी पापसे हमारी रक्षा करे और **मित्र** उसके विरुद्ध किये जानेवाले पापसे हमें बहुत दूर रखे। अब स्तोता अभीष्ट वस्तुओंके द्वारा जिन्हें हमें प्राप्त करना है, **अहिर्बुध्न्य** (आधारस्थित सर्प) के साथ **द्यौ** और **पृथिवी**--इन देवियोंकी स्तुति करे, मानो अपने विशाल संचरणके द्वारा उस **समुद्र**को अधिकृत करनेके लिए उन्होंने उन (छिपी हुई) नदियोंको खोल दिया हो जो जाज्वल्यमान **ज्योति**से मुखरित हैं। **अदिति** देवी देवोंके साथ हमारी रक्षा करे, दिव्य परित्राता सदा जागरूक रहता हुआ निरंतर हमारा उद्धार करे। **मित्र** और **वरुण**के मूल धामकें और **अग्नि**के उच्च स्तरके नियमोंका हम कभी उल्लंघन न करें। **अग्नि** ऐश्वर्य-सम्पदाओंके उस विशाल सारतत्त्वका और सर्वांगपूर्ण उपभोगका स्वामी है। वह उन प्रचुर ऐश्वर्योंको हमपर मुक्त हस्तसे लुटाता है। हे **उषा**! हे सत्यकी वाणी! बल और ऐश्वर्यकी सम्राज्ञी! हमारे पास बहुतसे अभीष्ट वर ला, तू जिसमें उनका समस्त वैभव है। इसी लक्ष्यकी ओर **सविता, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, इन्द्र** हमारे परम आनंदके ऐश्वर्योंके साथ हमारे लिए सम्यक्तया गति करें" (ऋ. IV.55)[1]।

---

1. **को वस्त्राता वसवः को वरूता द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।**
सहीयसो वरुण मित्र मर्तात् को वोऽध्वरे वरिवो धाति देवाः ॥1॥
प्र ये धामानि पूर्व्याण्यर्चान् वि यदुच्छान् वियोतारो अमूराः।
विधातारो वि ते दधुरजस्रा ऋतधीतयो रुरुचन्त दस्माः ॥2॥
प्र पस्त्यामदितिं सिन्धुमर्कैः स्वस्तिमीळे सख्याय देवीम्।
उभे यथा नो अहनी निपात उषासानक्ता करतामदब्धे ॥3॥
व्यर्यमा वरुणश्चेति पन्थामिषस्पतिः सुवितं गातुमग्निः।
इन्द्राविष्णू नृवदु षु स्तवाना शर्म नो यन्तममवद् वरूथम् ॥4॥
आ पर्वतस्य मरुतामवांसि देवस्य त्रातुरवि भगस्य।
पात् पतिर्जन्यादंहसो नो मित्रो मित्रियादुत न उरुष्येत् ॥5॥
नू रोदसी अहिना बुध्न्येन स्तुवीत देवी अप्येभिरिष्टैः।
समुद्रं न संचरणे सनिष्यवो धर्मस्वरसो नद्यो अप व्रन् ॥6॥
देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
नहि मित्रस्य वरुणस्य धासिमर्हामसि प्रमियं सान्वग्नेः ॥7॥

वरुण

'वरुण' शब्द हमें एक ऐसी धातुसे प्राप्त हुआ है जिसके अर्थ हैं—चारों ओरसे घेरना, आच्छादित या व्याप्त करना। इस नामके इन अर्थोंसे प्राचीन रहस्यवादियोंके काव्यमय चक्षुके सामने ऐसे रूपक उभरे जो हमारे लिए **अनंत**का निकटतम ठोस प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने **भगवान्**को हमारे ऊपर छाए उच्चतम **द्युलोक**के रूपमें देखा, दिव्य सत्ताको सर्वतोव्यापी सागरके समान अनुभव किया, उसकी असीम उपस्थिति में उन्होंने ऐसे निवास किया मानों शुद्ध और सर्वव्यापी व्योममें निवास कर रहे हों। **वरुण** है यह उच्चतम द्युलोक, आत्माको चतुर्दिक् व्याप्त करनेवाला यह सागर, यह है आकाशीय प्रभुता और अनंत व्यापकता।

इसी धातुने उन्हें अंधकारपूर्ण **आच्छादक**—विरोधी **वृत्र**—के लिए भी नाम प्रदान किया था, क्योंकि इस धातुके अनेक सजातीय अर्थोंमेंसे कुछ ये भी हैं—बाधा डालना और प्रतिरोध करना, पर्दा डालना या बाड़ लगाना, घेरना और परिवेष्टित करना। परन्तु अंधकारपूर्ण **वृत्र** सघन बादल और आवरणकारी छाया है। उसका ज्ञान—क्योंकि उसे भी ज्ञान है जिसे **माया** कहते हैं—सीमित सत्ताका बोध है और अन्य सारी समृद्ध और विशाल सत्ताका जो हमारी होनी चाहिए, अवचेतन **रात्रि**में छिपाए रखना है। सर्जनशील ज्ञानके इस निषेधके लिए और उसकी विरोधिनी शक्तिके लिए वह **देवों**के विरुद्ध दृढ़तासे खड़ा होता है,—यह **प्रभु** और मानवके दिव्य अधिकारके विरुद्ध उसका अदिव्य अधिकार है। **वरुण** अपनी विशाल सत्ता और बृहत् दृष्टिसे इन सीमाओंको पीछे धकेल देता है; उसकी प्रभुता हमें अपने प्रकाश से चतुर्दिक् व्याप्त करती हुई उस चीजको प्रकट कर देती है जिसे अंधकारमय **वृत्र**के पुनः-पुनः आक्रमणने रोक रखा और तिरोहित कर रखा था। उसका देवत्व आलिंगनकारी और प्रकाशप्रद **अनंतता**की एक आकृति या आध्यात्मिक प्रतिमा है।

इस कारण **वरुण**की भौतिक आकृति जाज्वल्यमान **अग्नि** या देदीप्यमान **सूर्य**

(पिछले पृष्ठकी टिप्पणीका शेष भाग).

अग्निरीशे वसव्यस्याऽग्निर्महः सौभगस्य। तान्यस्मभ्यं रासते ॥8॥
उषो मघोन्या वह सूनृते वार्या पुरु। अस्मभ्यं वाजिनीवति ॥9॥
तत् सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा। इन्द्रो नो राधसा गमत् ॥10॥

ऋ. IV. 55.1-10

और ज्योतिर्मय **उषा**की अपेक्षा बहुत कम सुनिश्चित है। प्राचीन भाष्यकारोंने विचित्र ढंगसे यह कल्पनाकी कि वह **रात्रिका देवता** है। **पुराणों**में वह जलोंका देवता है और उसका पाश, जो **वेद**में मनोवैज्ञानिक रूपकसे अधिक कुछ होनेका दावा कभी नहीं करता, समुद्र-देवताका उग्र चाबुक बन गया है। यूरोपीय विद्वानोंने उसे यूनानी देवता **यूरेनस**से अभिन्न माना है और उसकी आदिम आकाशीय प्रकृतिके कुछ अंश देखकर एक विचारगत परिवर्तनकी कल्पना की है जो वरुणका ऊर्ध्ववर्ती नीलाकाशसे अधोवर्ती नीलाकाशकी ओर एक प्रकारका पतन या पदच्युति तक है। संभवतः **इन्द्र**के अन्तरिक्षका स्वामी और देवोंका राजा बन जानेसे आदि राजा **वरुण**को जलोंके आधिपत्यसे संतुष्ट होना पड़ा। यदि हम रहस्यवादियोंकी प्रतीकात्मक पद्धतिको समझें तो हम देखेंगे कि ये सब कल्पनाएँ अनावश्यक हैं। उनकी पद्धति है एकत्र रखे हुए नाना विचारों और रूपकोंको एक ऐसे सर्वसामान्य विचारमें संयुक्त कर देना जो उन्हें जोड़नेवाली सभी कड़ियाँ प्रदान करता है। इस प्रकार वेदका **वरुण** राजा है—वास्तविक द्युलोकोंका नहीं, क्योंकि उनका राजा है द्यौष्पिता, प्रकाशके द्युलोकोंका भी नहीं, क्योंकि उनका राजा है इन्द्र, बल्कि वह सबपर छाए हुए उच्चतम व्योमका और साथही सब सागरोंका राजा है। सब विस्तार **वरुण**के हैं, प्रत्येक अनन्तता उसीका ऐश्वर्य और संपदा है।

रहस्यवादी विचारमें आकाश और सागर परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं; इस एकताका उद्गम ढूँढ़नेके लिए दूर जानेकी जरूरत नहीं। सृष्टिके विषयमें हिमालयसे आंडिज (Andes) तक सारे संसारमें जो प्राचीन धारणा थी उसमें यह कल्पना की गई थी कि पदार्थोंका उपादान-तत्त्व है जलोंका आकाररहित विस्तार, जो प्रारंभमें अंधकारसे आच्छादित था और जिसमेंसे दिन और रात तथा द्युलोक और पृथ्वी और सब लोक बाहर निकले हैं। यहूदियोंके सृष्टयुत्पत्ति-प्रकरणमें कहा गया है कि "समुद्रके ऊपरी तल पर अंधकार था और ईश्वरकी आत्मा जलोंपर विचरण कर रही थी।" शब्दके द्वारा उसने समुद्रको अंतरिक्षसे विभक्त किया, जिसके परिणामस्वरूप अब यहाँ दो समुद्र हैं, एक पार्थिव जो अंतरिक्षके नीचे है, दूसरा द्युलोकीय जो अंतरिक्षके ऊपर है। इस सार्वभौम विश्वासको या इस वैश्व रूपकको गुह्यवादियोंने पकड़ा और इसमें अपने समृद्ध मनोवैज्ञानिक मूल्योंको भर दिया। एक अंतरिक्षकी जगह उन्होंने दो को देखा,—एक पार्थिव और दूसरा दिव्य। दो सागरोंके स्थानपर उनकी अनावृत दृष्टिके सामने तीन सागर प्रसारित हो उठे।

जो कुछ उन्होंने देखा वह एक ऐसी वस्तु थी जिसे मानव कभी आगे चलकर देखेगा जब प्रकृति और जगत्‌को देखनेकी उसकी भौतिक दृष्टि आंतरात्मिक दृष्टिमें बदल जायगी। उनके नीचे उन्होंने देखी अगाध **रात्रि** और तरंगित होता हुआ तमस्, अंधकारमें छिपा अंधकार, निश्चेतन समुद्र जिससे **'एकमेव'** के शक्तिशाली तपस्‌के द्वारा उनकी सत्ता उद्‌भूत हुई थी। उनके ऊपर उन्होंने देखा प्रकाश और मधुरताका दूरवर्ती समुद्र जो उच्चतम व्योम है, आनन्दस्वरूप **विष्णु**का परम पद है, जिसकी ओर उनकी आकर्षित सत्ताको आरोहण करना होगा। इनमेंसे एक था अंधकारपूर्ण आकाश, आकारहीन, जड़, निश्चेतन **असत्**; दूसरा था ज्योतिर्मय व्योमसदृश **सर्व-चेतन** एवं निश्चेतन सत्। ये दोनों **'एकमेव'**के ही विस्तार थे, एक अंधकारमय, दूसरा प्रकाशमय।

इन दो अज्ञात अनन्तताओंके अर्थात् अनन्त संभाव्य शून्य और अनन्त परिपूर्ण 'क्ष'के बीच उन्होंने अपने चारों ओर अपनी आंखोंके सामने, नीचे, ऊपर, नित्य विकसनशील चेतन सत्ताका तीसरा समुद्र देखा, एक प्रकारकी असीम तरंग देखी, जिसका उन्होंने एक साहसपूर्ण रूपकके द्वारा इस प्रकार वर्णन किया कि वह द्युलोकसे परे परमोच्च समुद्रों तक आरोहण करती या उनकी ओर प्रवाहित होती है। यह है वह भयानक समुद्र जो हमें पोत द्वारा पार करना है। इस समुद्रमें **शक्तिशाली** और **प्रचण्ड-वेगमय राजा** तुग्रका पुत्र, आनन्दोपभोगका अभिलाषी भुज्यु डूबने ही वाला था, क्योंकि उसे उसके मिथ्याचारी साथियोंने, दुष्टाचारी सत्ताओंने इसमें फेंक दिया था, परन्तु **अश्विनीकुमारों**का रथ-पोत उसे बचानेके लिये द्रुत गतिसे आ पहुंचा। यदि हम ऐसे संकटोंसे बचना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हमारा सीमित संकल्प और विवेक **वरुण**के विशाल **ऋत** और **सत्य**के द्वारा अनुशासित हों। हम किसी मानवीय नाव पर न सवार हों, अपितु "निर्दोष और अच्छे चप्पूवाली दिव्य नौकापर आरोहण करें जो डूबती नहीं, जिसके द्वारा हम पाप और कलुषको पार कर सुरक्षित रूपसे समुद्रके पार पहुंच सकें।" इस मध्यवर्ती समुद्रके बीचमें पृथ्वीके 'ऊपर' हमने **ज्ञान**के सूर्यको निश्चेतनाकी गुहासे उदित होते हुए और द्रष्टाओंके नेतृत्वमें समुद्र-यात्रा करते हुए देखा है। क्योंकि यह भी तो एक समुद्री आकाश है। अथवा हम यूं कहें कि यह आकाशोंकी क्रमपरंपरा है। यदि हम इस वैदिक रूपकमालाका अनुसरण करना चाहें तो हमें यह कल्पना करनी होगी कि सागरके ऊपर सागर रखा हुआ है। यह जगत् ऐसी चोटियोंकी शृंखला है जो कि गहराइयां हैं और हैं अन्तहीन विशालताओंका एक दूसरीमें अवगुण्ठित होना

और एक दूसरीमेंसे विकसित होना। अधःस्थ व्योम ऊपरके सदा अधिकाधिक ज्योतिर्मय व्योमकी ओर उठता है, चेतनाका प्रत्येक स्तर बहुतसे निम्न स्तरोंपर आधारित है और बहुतसे उच्चतर स्तरोंकी अभीप्सा करता है।

परन्तु हमारे दूरतम आकाशोंसे परे प्रकाशके परम सागरमें और उच्चतम अतिचेतनात्मक विस्तारमें हमारा द्युलोक **सत्य**के रूपमें हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। वह सत्य निम्नतर सत्यसे उसी प्रकार छिपा है जिस प्रकार निश्चेतन **रात्रि**में अन्धकार उत्तरोत्तर बड़े अन्धकारके द्वारा परिवेष्टित और रक्षित होता है। वह है राजा **वरुण**का सत्य। उस ओर **उषाएँ** चमकती हुई उदित होती हैं, नदियां यात्रा करती हैं और सूर्य वहाँ अपने रथके अश्व खोल देता है। **वरुण** इस सबको अपनी विशाल सत्ता में तथा अपने असीम ज्ञानके द्वारा धारण करता है, देखता है और इसपर शासन करता है। ये सब सागर उसीके हैं, और **निश्चेतन** समुद्र एवं उसकी रात्रियांतक जो अपने बाह्य रूपमें उसकी प्रकृतिके इतनी विपरीत हैं, उसीकी हैं। उसकी प्रकृति तो है सुखमय ज्योति और सत्यके एकमेव सनातन विशाल सूर्यकी विस्तृत जाज्वल्यमान प्रभा। **दिन और रात,** प्रकाश और अंधकार, उसकी अनंतता में प्रतीक-रूप हैं। "ज्योतिर्मय **वरुण** रात्रियोंको आलिंगित किए है, वह **उषाओं**को अपने सर्जनशील ज्ञानके द्वारा अपने अन्दर धारण करता है। अंतर्दृष्टिसे संपन्न वह प्रत्येक पदार्थके चारों ओर विद्यमान है।"

सागरोंके इस विचारसे ही संभवतः वैदिक नदियोंकी मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाका उदय हुआ। ये नदियां सर्वत्र विद्यमान हैं। ये वे धाराएं हैं जो पर्वतसे नीचेकी ओर बहती हैं और **वृत्र**के अंधकारमय रहस्योंमेंसे गुजरती हुई और उन्हें अपने प्रवाहसे प्रकाशित करती हुई मनकी ओर आरोहण करती हैं; वे हैं **द्युलोक**की शक्तिशाली धाराएँ जिन्हें **इन्द्र पृथ्वी**पर लाता है; वे हैं **सत्य**की धाराएँ; वे हैं इसके ज्योतिर्मय आकाशोंसे पड़नेवाली वर्षा; वे हैं सात शाश्वत बहिनें और सहेलियां; वे हैं दिव्य धाराएँ जिनके पास ज्ञान है। वे पृथ्वीपर उतरती हैं, सागरसे उद्भूत होती हैं, सागरकी ओर बहती हैं, **पणियों**के द्वारोंको तोड़कर बाहर निकल जाती हैं, परम समुद्रोंकी ओर आरोहण करती हैं।

सागरसदृश **वरुण** इन सब धाराओंका राजा है। यह कहा गया है कि "नदियोंके उद्भवमें वह सात बहिनोंका भाई है, वह उनके मध्यमें स्थित है" (ऋ. VIII. 41 2)[1]। एक दूसरे ऋषिने गाया है "नदियोंमें **वरुण** अपने

1. **नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ।।** ऋ. VIII. 41.2

कार्योंके विधानको धारण करता हुआ, साम्राज्यके लिए अपने सौंकल्पमें पूर्णता से युक्त होकर बैठा है" (ऋ. I. 25.10)[1]। वशिष्ठ ऋषि उन धाराओं के विषयमें मनोवैज्ञानिक संकेतोंका स्पष्ट अंबार लगाते हुए कहता है कि "वे दिव्य, पवित्र, पावक और मधुस्रावक हैं जिनके मध्यमें **राजा वरुण** प्राणियोंके सत्य और असत्यको देखता हुआ प्रयाण करता है" (ऋ. VII. 49.3)[2]। वरुण भी इन्द्रकी तरह जिसके साथ प्रायः ही उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है जलधाराओंको मुक्त करता है; उसके शक्तिशाली हाथोंसे वेगपूर्वक प्रचालित होकर वे भी उसकी तरह सर्वव्यापक बन जाती हैं और असीम लक्ष्यकी ओर प्रवाहित होती हैं। "विशाल धारक, **अनंतता**के **पुत्र**ने उन्हें सब ओर मुक्त कर दिया है; नदियां वरुणके सत्यकी ओर यात्रा करती हैं" (ऋ. II.28.4)[3]।

न केवल लक्ष्य अपितु प्रयाण भी उसीका है। "शक्ति और सहस्रविध दृष्टिसे युक्त वरुण इन नदियोंके लक्ष्यको देखता है। वह राज्योंका राजा है, वह नदियोंका साक्षात् रूप है, उसीके लिए है परम और वैश्व शक्ति।" उसकी समुद्रीय गति सत्ताके साम्राज्योंको आच्छादित किए है और द्युलोकोंके भी द्युलोकके **स्वर्ग**की ओर आरोहण करती है। यह कहा गया है कि "यह है गुप्त सागर और द्युलोकको पार करता हुआ वह ऊपर आरोहण करता है; जब वह इन उषाओंमें यज्ञीय शब्दको स्थापित कर चुकता है, तब अपने ज्योतिर्मय पगसे भ्रांतियोंको रौंदकर चूर-चूर कर देता है और **स्वर्ग**की ओर आरोहण करता है" (ऋ. VIII. 41.8)[4]। हम देखते हैं कि वरुण जब उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होकर भगवन्मुक्त ऋषिकी आत्मामें अपनी अनन्त विशालता एवं परमानन्दकी ओर उठता है, तब वह प्रच्छन्न भगवान्‌की समुद्रीय तरंग ही होता है।

वह अपने पदचापसे जिन भ्रांतियोंको छिन्न-भिन्न करता है वे **पाप**के

---

1. **नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥**
ऋ. I. 25.10

2. **यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।**
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥
ऋ. VII.49 3

3. **प्र सीमादित्यो असृजद् विधर्ता ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति॥**
ऋ. II. 28.4

4. **स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे।**
स माया अचिना पदाऽस्तृणान्नाकमारुहन्नभन्तामन्यके समे॥
ऋ. VIII. 41.8

अधिपतियोंकी मिथ्या कृतियां हैं। क्योंकि वरुण दिव्य **सत्य**का यह व्योम एवं दिव्य सत्ताका सागर है, इसलिए वह एक ऐसी सत्ता है कि कोई **मानवी-कृत** भौतिक समुद्र या आकाश वैसी सत्ता कभी नहीं बन सकता। वह है पवित्र और महामहिम सम्राट् जो बुराईका ध्वंस करता और पापसे मुक्त करता है। पाप है दिव्य **सत्य** और **ऋत**की पवित्रताका उल्लंघन; इसकी प्रतिक्रिया है **पवित्र** और **बलशाली** देवका कोप। जो लोग **अंधकार**के **पुत्रों**-की तरह अपने अहंकी इच्छा और अज्ञानकी गुलामी करते हैं उनके विरुद्ध दिव्य **विधान**का राजा वेगपूर्वक अपने अस्त्र फेंकता है, उनपर उसका पाश उतर आता है। वे **वरुण**के जालमें फंस जाते हैं। परन्तु जो यज्ञके द्वारा **सत्य**की खोज करते हैं वे रस्सेसे खोले गए बछड़ेकी तरह या वध-स्तंभसे छोड़े गए पशुकी तरह पापके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं। ऋषिगण **वरुण**की प्रतिशोधात्मक हिंसाकी बारबार निन्दा करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें पापसे और उसके प्रतिफल-रूप मृत्युसे मुक्त कर दे। वे ऊंचे स्वरसे पुकारते हैं कि "**विनाश**को हमसे दूर हटा दे। जो पाप हमने किया है उसे भी हमसे अलग कर दे"; अथवा सदा ही शृंखला व बंधनके उसी प्रसिद्ध अर्थमें वे कहते हैं कि "पापको पाशके समान मुझसे काटकर पृथक् कर दे।"

पाप स्वभावगत दुष्टताका परिणाम है,—इस अपरिपक्व धारणाको इन गंभीर मनीषियों और सूक्ष्म मनोविज्ञान-वेत्ताओंके विचारमें कोई स्थान नहीं था। जो कुछ उन्होंने अनुभव किया वह थी **अज्ञान**की बड़ी हठीली शक्ति, या तो मनमें ऋत एवं सत्यको न अनुभव करना या इच्छाशक्तिमें उसे न पकड़ पाना या उसका अनुसरण करनेमें प्राणकी सहजप्रेरणाओं और कामनाओंकी असमर्थता या दिव्य विधानकी महत्ताकी ओर उठनेमें भौतिक सत्ताकी निरी अक्षमता। वशिष्ठ एक भावुकतापूर्ण स्तोत्रमें शक्तिशाली **वरुण**-को पुकारकर कहता है "हे पवित्र! हे बलशाली देव! संकल्पकी दीनता-के वश ही हमने तुम्हारे विरुद्ध आचरण किया है, हमारे प्रति दयालु हो, हमपर कृपा करो। तुम्हारे स्तोताको तृष्णाने आ घेरा है यद्यपि वह जलोंके बीच खड़ा है; हे बलशाली प्रभो! दया दिखाओ, कृपा करो। हे **वरुण**! जो कुछ हम मानवप्राणी करते हैं वह चाहे जो भी हो, **दिव्य जन्म**के विरुद्ध हम जो अभिद्रोह करते हैं, जहां कहीं भी **अज्ञान**से हमने तुम्हारे नियमोंकी अव-हेलना की है, हे प्रभो! उस पापके लिए हमपर प्रहार मत करो" (ऋ. VII. 89.3-5)[1]।

1. **ऋत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥**
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय।

पापकी यह जननी **अविद्या** अपने सारभूत परिणाममें एक त्रिविध पाश-का—सीमित मन, कार्य-अक्षम प्राण और तमसाच्छन्न भौतिक पाशविक सत्ता की त्रिविध रज्जुका—रूप धारण करती है, जिससे ऋषि शुनःशेपको बलि-पशुके रूपमें यज्ञ-स्तंभसे बांधा गया था। इसका पूरा परिणाम है सत्ताकी संघर्षरत या निष्क्रिय दीनता। मर्त्य निरानंदताकी तुच्छता और सत्ताकी अपूर्णता ही प्रतिक्षण पतनको प्राप्त होती हुई मृत्युकी ओर जा रही है। जब **शक्तिशाली वरुण** आता है और इस त्रिविध बंधनको काट फेंकता है तब हम ऐश्वर्य और अमरताकी ओर मुक्त हो जाते हैं। हमारे अन्दरका वास्तविक पुरुष उन्नीत होता हुआ अविभक्त सत्तामें अपने सच्चे राजत्वकी ओर उठता है। ऊर्ध्व पाश ऊपर उडता है और **जीवात्मा**के पंखोंको अति-चेतन शिखरोंमें खोल देता है। मध्यका पाश दोनों ओर और सब ओर खुल पड़ता है,—संकुचित जीवन अपनी सीमाएँ तोड़कर सत्ताके सुखमय विस्तारमें जा मिलता है; नीचेका पाश खुलकर नीचे गिर जाता है और हमारी शारीरिक सत्ताकी मिश्रधातुको अपने साथ ले जाता है ताकि वह लुप्त हो जाए एवं **निश्चेतन**की मूल धातुमें विलीन हो जाए। यह मुक्ति ही शुनःशेपके दृष्टांत तथा वरुणके प्रति उसके दो महान् सूक्तोंका आशय है।

जैसे सत्तामें विद्यमान अज्ञान या असत्य—वेद साधारणतया कम गूढ़ शब्दा-वलीको पसंद करता है—पाप और तापका कारण है, उसी प्रकार **ज्ञान** या **सत्य** वह साधन है जो पवित्र और मुक्त करता है। जिस आंखसे **वरुण** देखता है वह है ज्योतिर्मय प्रतीकात्मक **सूर्य**। इस आंखके कारण ही वह पवित्र करनेवाला है। दिव्य **विचार**का शिक्षण देते समय जबतक वह हमारे संकल्पपर शासन नहीं करता और हमें विवेक नहीं सिखाता तबतक हम देवोंकी नौकापर आरूढ़ नहीं हो सकते और न ही उसके द्वारा सब पाप और स्खलनसे परे जीवन-सागरके पार पहुंच सकते हैं। हमारे अन्दर ज्ञान-संपन्न मनीषीके रूपमें निवास करता हुआ **वरुण** हमारे किए पापको काटकर पृथक् कर देता है; हमारी अज्ञानावस्थाके ऋणोंको वह अपनी राजशक्तिसे रद्द कर देता है। या एक भिन्न रूपकका प्रयोग करते हुए वेद हमें बतलाता है कि इस **सम्राट्**की सेवामें एक हजार चिकित्सक हैं, उनके द्वारा हमारी

(पिछले पृष्ठकी टिप्पणीका शेष)

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥

ऋ. VII. 89.3,4,5

मानसिक तथा नैतिक दुर्बलताओंका उपचार हो जानेपर ही हम **वरुण**की विशाल और गंभीर सुमति[1]में एक सुरक्षित आधार पाते हैं।

महान् वरुणका राजत्व है समस्त सत्तापर असीम साम्राज्य। वह है शक्तिशाली विश्व-शासक राजाधिराज, 'सम्राट्'! उसके विशेषण और वर्णन ऐसे हैं जिन्हें धार्मिक और साथ-ही-साथ दार्शनिक मनवाला मनीषी बिना परिवर्तनके या बहुत ही कम परिवर्तनके साथ परम तथा वैश्व **देव**के लिए प्रयुक्त कर सकता है। वह साक्षात् विशालता और बहुविधता है। उसके सामान्य विशेषणोंमें कुछ ये हैं—विशाल वरुण, प्राचुर्यमय वरुण, ऐसा **वरुण** जिसका निवासस्थान है विस्तार, बहुत जन्मोंवाला[2] **वरुण**। परन्तु उसकी बलशाली सत्ता न केवल एक वैश्व विस्तार है वह एक वैश्व शक्ति और सामर्थ्य भी है। वेदने उसका वर्णन ऐसे शब्दोंमें किया है जिनके दोनों अर्थ हैं—बाह्य और आंतरिक। "तेरी शक्ति और सामर्थ्य एवं मन्यु-को न तो ये पक्षी अपने प्रयाणमें प्राप्त कर सकते हैं, न निर्निमेष गति करती हुई ये धाराएँ, और न ही वे प्राप्त कर सकते हैं जो वायुकी विपुलतामें बाधा डालते हैं" (ऋ. I. 24.6)[3]। यह वैश्व सत्ताकी एक शक्ति है जो सब जीवधारियोंके चारों ओर और उनके अन्दर सक्रिय है। शक्ति और सत्ता-की इस विशाल विश्वमयताके पीछे विश्वमय ज्ञानकी विशाल विश्वमयता निरीक्षण और कार्य कर रही है। राजत्वका विशेषण निरंतर ही ऋषित्वके विशेषणके साथ युगल-रूपमें प्रयुक्त किया गया है, निष्प्रभाव ढंगसे नहीं अपितु प्रबल, अर्थगर्भित प्राचीन शैलीसे। वरुण शूरवीरकी अनेकविध ऊर्जा और मनीषीकी विशाल अभिव्यक्तिसे संपन्न है: वह शक्तिकी महिमासे मंडित देवताके रूपमें हमारे पास आता है और उसी गतिमें हम उसमें विशाल-दृष्टिमय आत्मा पाते हैं।

उसके लिये राजा और ऋषिके इन दो विशेषणोंके सतत संयोजनका पूरा तात्पर्य उसकी प्रभुताके द्विविध स्वरूपमें प्रकट होता है। वह है 'स्वराट्' और 'सम्राट्', आत्मशासक और सर्वशासक। आर्य राजत्वके ये दो

---

1. **शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।**
ऋ. I. 24.9

2. **विश्वायुः।** ऋ. 4.42.1

3. **नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।**
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥
ऋ. I.24.6

पहलू हैं। मानवमें ये हैं विचार और कार्यकी प्रभुता एवं प्रज्ञा और संकल्पका पूर्ण वैभव; **राजर्षि** और **वीर मनीषी**। उस **देव**में अर्थात् "सर्व-शक्तिमान्, सर्वज्ञ, सहस्राक्ष **सत्य-स्वरूप**" **वरुण**में, ये हमें परात्पर तथा वैश्व तत्त्वों तक उठा ले जाते हैं; हम दिव्य और शाश्वत प्रभुसत्ताको, चेतनाके पूर्ण ऐश्वर्य और **शक्ति**के संपूर्ण वैभवको, सर्वशक्तिमान् **प्रज्ञा**, सर्वज्ञ **शक्ति**, समर्थित **विधान** और पूर्णतया चरितार्थ **सत्य**को प्रकाशित हुआ देखते हैं।

इस भव्य परिकल्पनाके वैदिक प्रतीक **वरुण**का वर्णन सुन्दर ढंगसे यूं किया गया है कि वह विराट् मनीषी एवं **सत्य**का संरक्षक है। यह कहा गया है कि उसीमें समस्त प्रज्ञाएं अवस्थित हैं और वहीं अपने केन्द्रमें एकत्रित हैं। वह है दिव्य **द्रष्टा** जो मनुष्यके ऋतदर्शी ज्ञानोंको इस प्रकार पोषित करता है मानों द्युलोक अपना रूप विस्तारित कर रहा हो। यहां हम ज्योतिर्मय गौओंके प्रतीककी कुंजी पाते हैं। क्योंकि उसके विषयमें कहा गया है कि लोकोंका आश्रयदाता वह इन तेजस्वी गौओंके गुप्त नाम जानता है और द्रष्टाओंके विचार उस विशाल दृष्टिवालेकी कामना करते हुए उसकी ओर बहुत परे जाते हैं जैसे गौएं चरागाहकी ओर जाती हैं। उसके विषयमें यह भी कहा गया है कि वह ज्ञानमें महिमायुक्त **मरुतों**के लिए मनुष्योंके विचारोंकी इस प्रकार रक्षा करता है जैसे यूथकी गौओंकी।

यह है विचारका पक्ष; इसीके समानान्तर कार्यके पक्षके भी वर्णन पाए जाते हैं। महान् वरुण जगत्के उदीयमान विचारोंकी तरह ही उनके ऊर्ध्वीकृत बलोंका भी आधार और केन्द्र है। अविजित क्रियाएँ जो **सत्य**से स्खलित नहीं होतीं उसमें ऐसी प्रतिष्ठित हैं जैसे कि एक पर्वतपर। क्योंकि वह परात्पर वस्तुओंको इस प्रकार जानता है, अतः वह हमारी सत्तापर सर्वोच्च प्रभुताकी महिमामयी दृष्टि डालनेमें समर्थ है और वहां वह "जो कार्य किए जा चुके हैं और जो अभी किए जाने शेष हैं" (ऋ. 1.25.11)[1], जिन चीजोंको करना बाकी है—और जिन्हें जानना भी बाकी है उन सबको देखनेकी क्षमता रखता है। **वरुण**की प्रज्ञा हमारे अन्दर उस दिव्य शब्दको घड़ती है जो अन्तःप्रेरित और अन्तर्ज्ञानमय होनेके कारण नये ज्ञानका द्वार खोल देता है। ऋषि पुकारकर कहता है, "हम **पथ**के अन्वेषकके रूपमें उसकी कामना करते हैं, क्योंकि वह हृदयके द्वारा विचारको अनावृत कर देता है; नये सत्यका जन्म हो।" क्योंकि यह **राजा** पाशविक और मूढ़

---

1. **अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति।**
कृतानि या च कर्त्वा॥ ऋ. I. 25.1

चक्रका चालक नहीं; उसके चक्र तिरर्थक **विधान**के निष्फल चक्र नहीं; वहां है एक **पथ** ; वहां है एक सतत प्रगति एवं लक्ष्य।

वरुण इस पथपर हमारा नेता है। शुनःशेप पुकारकर कहता है, "संकल्पमें पूर्ण, **अनन्तता**का **पुत्र** हमें सन्मार्गसे ले चले और हमारे जीवनको आगे-आगे बढ़ाये। **वरुण**ने अपना प्रकाशका सुनहरा वस्त्र पहन रखा है और उसके गुप्तचर उसके चारों ओर विद्यमान हैं" (ऋ. 1.25.12,13)[1]। ये गुप्तचर हमारे हृदयके वेधक, **प्रकाश**के प्रच्छन्न शत्रुओंको ढूंढ़ निकालते हैं—जो, हमारी समझमें, हृदयके द्वारा **सत्य**-विचारके अनावरणको रोकना चाहते हैं। क्योंकि, हम इस यात्राको, जिसे हम धाराओंके प्रयाणके रूपमें देख चुके हैं, सूर्यकी यात्राके रूपमें भी देखते हैं जिसका **पथ-प्रदर्शक** है सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् **राजा**। उस बृहत्में, जहां कोई आधार नहीं है, **वरुण**-ने अग्निके लिए यज्ञके ईंधनका एक ऊंचा स्तूप बनाया है जो दिव्य **सूर्य**की जाज्वल्यमान सामग्री ही होना चाहिये। "उसकी किरणें नीचेकी ओर प्रेरित हैं, उनका आधार ऊपर है; ज्ञानकी उनकी अनुभूतियाँ हमारे अन्दर स्थापित हों। **राजा वरुण**ने **सूर्य**के चलनेके लिए एक विशाल पथ बनाया है; जहाँ चरण रखनेकी कोई जगह नहीं वहां भी उसने उसके चरण रखने-के लिए स्थान बनाये हैं। वह हृदयके वेधकोंको भी प्रकाशमें लायगा" (ऋ. I. 24.7, 8)[2]। उसकी पवित्रता है आत्माको हानि पहुंचानेवालेकी महान् भक्षिका।

पथ है नए सत्य, नयी शक्तियों, उच्चतर उपलब्धियों और नये लोकोंकी सतत रचना और निर्माण। वे सारी चोटियाँ, जिनकी ओर हम अपनी भौतिक सत्ताकी नींवसे आरोहण कर सकते हैं, एक प्रतीकात्मक अलंकारके द्वारा पृथ्वीपर विद्यमान पर्वत-शिखरोंके रूपमें वर्णितकी गई हैं तथा अन्त-र्दृष्टिमय **वरुण** उन सबको अपने अन्दर धारण करता है। किसी महान्

---

1. **स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।**
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥
बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्।
परि स्पशो नि षेदिरे॥ ऋ. I. 25.12,13

2. **अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।**
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः॥
उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ॥
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित॥
. I.24.7,8

पर्वतके एक स्तरसे उत्तरोत्तर उच्च स्तरके रूपमें लोकके बाद लोकमें पहुंचा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि **वरुण**के अग्रगामी प्रयाणमें यात्रा करनेवाला पथिक उन सब वस्तुओंपर अपनी पकड़ रखता है जो किन्हीं भी भूमिकाओंमें उत्पन्न होती हैं। परन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य **देव**का उच्चतम त्रिविध लोक ही होना चाहिए। "तीन आनन्दपूर्ण **उषाएं** उसकी क्रियाओंके विधानके अनुसार बढ़ती हैं। सर्वदर्शी **प्रज्ञा**से युक्त वह देव तीन श्वेत उज्ज्वल भूमियोंमें निवास करता है। **वरुण**के तीन उच्चतर लोक हैं जहाँसे वह सात और सातके सामंजस्योंपर शासन करता है। वह उस मूलधामका निर्माता है जिसे वरुणका **'वह सत्य'** कहते हैं, और वही है संरक्षक और संचालक" (देखो ऋ. VIII. 41.9-10)[1]।

तो साररूपमें, **वरुण** विशाल सत्ता, विशाल ज्ञान और विशाल सामर्थ्यका द्युलोकीय, सागर-सदृश, अनन्त **सम्राट्** है, एकमेव **परमात्मा**की क्रियाशील सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताकी अभिव्यक्ति है, **सत्य**का शक्तिशाली संरक्षक, दंडदाता तथा उपचारकर्ता है, पाशका **अधिपति** व बंधनोंसे **मुक्ति देनेवाला** है जो विचार और क्रियाको सुदूरवर्ती व ऊर्ध्वस्थित सत्यकी विशाल ज्योति और शक्तिकी ओर ले जाता है। **वरुण** सब राज्यों और समस्त दिव्य और मर्त्य सत्ताओंका **राजा** है; पृथ्वी और द्युलोक तथा प्रत्येक लोक केवल उसीके अधिकार-क्षेत्र हैं।

मित्र

यदि **वरुण**की पवित्रता, अनंतता और सबल प्रभुता दिव्य सत्ताका भव्य एवं विशाल आधार और गरिमामय सारतत्त्व हैं तो **मित्र** उसका सौन्दर्य और पूर्णत्व है। अनंत, पवित्र और स्वराट्-सम्राट् बनना ही दिव्य मानवका स्वभाव होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार ही वह परमात्माके स्वभावमें सहभागी बनता है। परन्तु वैदिक आदर्श दिव्य प्रतिमूर्तिकी एक विशाल और अचरितार्थ योजनासे ही संतुष्ट नहीं होता। इस विशाल आधारमें उत्कृष्ट

---

1. **यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षितः।**
त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः
स सप्तानामिरज्यति नभन्तामन्यके समे॥
यः श्वेतां अधिनिर्णिजश्चक्रे कृष्णां अनुव्रता।
स धाम पूर्व्यं ममे यः स्कम्भेन वि रोदसी
अजो न द्यामधारयन्नभन्तामन्यके समे॥
ऋ. VIII.41.9,10

तथा समृद्ध सामग्री भी होनी चाहिए। हमारी सत्ताका अनेक-कक्षीय भवन वरुणमें प्रतिष्ठित है और मित्रको उसकी उपयोगिता और साज-सामानके समुचित सामंजस्यमें उसकी व्यवस्था करनी है।

क्योंकि वरुणदेव अनंततांके साथ-साथ प्रचुरता भी है। वह आकाशीय स्वर्गके समान ही एक सागर भी है। उसका सबल सारतत्त्व आकाशकी तरह निर्मल और सूक्ष्म होते हुए भी निष्क्रिय शान्तिकी गंभीर शून्यता या सहज धूमिलता नहीं है, अपितु हमने इसमें विचार और क्रियाका तरंगित प्रयाण देखा है। वरुणका वर्णन हमारे सामने इस प्रकार किया गया है कि वह नाभि-केन्द्र है जिसमें संपूर्ण प्रज्ञा संगृहीत है, और एक ऐसी पहाड़ी है जिसपर देवोंकी मूल और अस्खलित क्रियाएँ आश्रय लेती हैं। **राजा वरुण** ऐसा देव है जो सोता नहीं, अपितु सदा ही जागृत और नित्य-शक्तिशाली है, शाश्वत कालसे वह प्रभावकारी शक्ति है, **सत्य** और **ऋत**के लिए कार्य करनेवाला है। तो भी वह सत्य का घटक अंग होनेके बजाय उसके संरक्षकके रूपमें कार्य करता है अथवा वह उन अन्य देवोंकी क्रियाके द्वारा निर्माण करता है जो उसकी विशालता और तरंगित शक्तिसे लाभ उठाते हैं। वह तेजस्वी गोयूथोंको पालता है और उन्हें प्रचालित भी करता है, परन्तु उन्हें चरागाहोंमें एकत्रित नहीं करता, हमारे अंगोंका निर्माता होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक वह हमारी शक्तियोंका धारक और हमारी विघ्नबाधाओं एवं शत्रुओंका निवारक है।

तो फिर इसके केन्द्रमें ज्ञानको कौन संगृहीत करता है, अथवा कार्योंके इस धारणकर्तामें दिव्य कर्मकी कड़ीको कौन जोड़ता है? मित्र सामंजस्यकारी है, रचयिता है, मित्र ही निर्माणकारी प्रकाश है, मित्र ही वह देव है जो उस यथार्थ एकताको साधित करता है जिसका वरुण एक सारतत्त्व है और है अनंततया आत्म-विस्तार करनेवाली परिधि। ये दो राजा अपने स्वभावमें और अपने दिव्य कर्मोंमें एक दूसरेके पूरक हैं। इन्हींमें हम विशालताके अन्दर सामंजस्य देखते हैं, इन्हींके द्वारा हम उसे प्राप्त करते हैं। इस देवमें हम निर्दोष पवित्रताके दर्शन करते हैं और उसे बढ़ाते हैं, जो पवित्रता प्रज्ञा में निष्कलंक प्रेमका आधार बनती है। इसलिए ये दोनों आत्म-परिपूरक परमेश्वरका एक महान् युग्म हैं और वैदिक वाणी विशालसे विशालतर यज्ञके प्रति इनका एक साथ आह्वान करती है, जिस यज्ञमें ये वर्धनशील **सत्य** के अविभाज्य निर्माताके रूपमें आते हैं। **मधुच्छंदस्** हमें उनकी एकीभूत दिव्यताका प्रधान स्वर प्रदान करता है। "मैं पवित्र विवेक-शक्तिवाले मित्र, और शत्रुके भक्षक वरुणका आह्वान करता हूँ। सत्यके

संवर्धक, सत्यका स्पर्श प्राप्त किए हुए **मित्र** और **वरुण** सत्यके द्वारा संकल्प की विशाल क्रियाको प्राप्त करते हैं। विशालतामें निवास करनेवाले, अनेकविध जन्म लेनेवाले **द्रष्टा** सत्यके कार्योंमें विवेकको धारण किए रहते हैं।" (ऋ. 1. 2. 7-9)[1]।

'मित्र' यह नाम एक ऐसी धातुसे आया है जिसका मूलतः अर्थ था दबावके साथ धारण करना और, इस प्रकार, आलिंगन करना और इसीने हमें सखाके लिए साधारण संस्कृत शब्द 'मित्र' दिया है और साथ ही आनंद के लिए पुरातन वैदिक शब्द 'मयस्'। 'मित्र' शब्दके प्रचलित भावपर ही वैदिक कवि इस प्रत्यक्ष सूर्यदेवताके मनोवैज्ञानिक व्यापारकी अपनी गुप्त कुंजीके लिए लगातार निर्भर करते हैं। जब दूसरे देवोंको और विशेषकर तेजोमय **अग्नि**को यज्ञकर्ता मानवके सहायक मित्रोंके रूपमें वर्णित किया जाता है, तब उनके विषयमें कहा जाता है कि वे **मित्र** हैं, या **मित्र**की तरह हैं, या **मित्र** बन जाते हैं;—अब हमें यूं कहना चाहिए कि दिव्य **संकल्पशक्ति** या देवकी कोई भी अन्य शक्ति एवं व्यक्तित्व अंतमें अपने आपको दिव्य **प्रेम**के रूपमें ही प्रकट करता है। इसीलिए हमें कल्पना करनी चाहिए कि इन प्रतीकवादियोंके लिए **मित्र** सारतः **प्रेम**का **अधिपति,** दिव्य सखा, मनुष्यों और अमर देवोंका दयालु सहायक था। वेदमें उसे देवोंमें प्रियतम कहा गया है।

वैदिक द्रष्टाओंने **प्रेम**पर ऊर्ध्वसे अर्थात् इसके स्रोत और मूलस्थानसे दृष्टिपात किया और उन्होंने अपनी मानवतामें उसे दिव्य **आनन्द**के प्रवाहके रूपमें देखा और ग्रहण किया। मित्रदेवके इस आध्यात्मिक वैश्व आनंदकी, वैदांतिक आनंद अर्थात् वैदिक **मयस्**की व्याख्या करती हुई तैत्तिरीय उपनिषद् इसके विषयमें कहती है कि **"प्रेम** इसके शीर्षस्थान पर है"। परन्तु **प्रेम**के लिए वह जिस शब्द 'प्रियम्'को पसंद करती है उसका ठीक अर्थ है आत्माके आंतरिक सुख और संतोषके विषयोंकी आनन्ददायकता। वैदिक गायकोंने इसी मनोवैज्ञानिक तत्त्वका उपयोग किया। उन्होंने "मयस्" और "प्रयस्"का जोड़ा बनाया है,—'मयस्' है सब विषयोंसे स्वतंत्र आंतरिक आनंदका तत्त्व और 'प्रयस्' है पदार्थों और प्राणियोंमें आत्माको मिलनेवाले हर्ष और सुखके रूपमें उस आनन्दका बहिःप्रवाह। वैदिक सुख है यही दिव्य

1. **मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥**
ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। ऋतुं बृहन्तमाशाथे॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम्॥
ऋ. I.2. 7-9

आनंद जो अपने साथ पवित्र उपलब्धिका और सब पदार्थोंमें निष्कलंक सुखके अनुभवका वरदान लाता है। यह वरदान विशाल विश्वमयताकी स्वतंत्रता-में **सत्य** और **ऋत**के अमोघ स्पर्शपर आधारित है।

मित्र देवोंमें प्रियतम है, क्योंकि वह इस दिव्य भोगको हमारी पहुंचके अन्दर ले आता है और हमें इस पूर्ण सुखकी ओर ले जाता है। **वरुण** हमारे अन्दर सीधे ही बलको उत्पन्न करता है; हम उस शक्ति और संकल्पको खोज निकालते हैं जो पवित्रतामें विशाल होते हैं। अभीप्साकारी **अर्यमा** अपनी शक्तिके विस्तारमें **वरुण**की अनंतताके द्वारा सुरक्षित होता है। वह वरुणकी विश्वमयताकी शक्तिके द्वारा अपने विशाल कार्य संपन्न करता है और अपनी महान् गतिको साधित करता है। मित्र सीधे ही आनंद उत्पन्न करता है। **उपभोक्ता भग मित्र**के सर्व-समन्वयकारी सामंजस्यके द्वारा, उसके यथार्थ विवेकके पवित्रीकारक प्रकाशके द्वारा, दृढ़ आधार प्रदान करने-वाले विधानके द्वारा निर्दोष उपलब्धि एवं दिव्य भुक्तिमें प्रतिष्ठित होता है। इसीलिए **मित्र**के विषयमें यह कहा गया है कि सभी सिद्धि-प्राप्त आत्माएँ "इस अक्षत **प्रियदेव**के आनंदको" दृढ़तया पकड़े रहती हैं या उसके साथ स्थिरतया संसक्त रहती हैं, क्योंकि इसमें न पाप है, न व्रण न स्खलन। समस्त मर्त्य आनंदमें उसका अपना मर्त्य संकट रहता है; परन्तु अमर प्रकाश एवं विधान मनुष्यकी आत्माको निर्भय आनंदमें सुरक्षित रखता है। विश्वा-मित्र कहता है (ऋ. III. 59. 2)[1] कि जो मर्त्य मित्रके विधानसे, **अनन्तताके इस पुत्र**के विधानसे शिक्षा प्राप्त करता है वह **प्रयस्**को उपलब्ध किये हुए है, वह आत्माकी अपने विषयोंमें तृप्ति प्राप्त किये हुए है। ऐसी आत्माका वध नहीं किया जा सकता, न उसे जीता जा सकता है, न ही कोई बुराई निकटसे या दूरसे उसपर अधिकार कर सकती है। क्योंकि **मित्र** देवों और मनुष्योंमें ऐसी प्रेरणाओंको गढ़ता है जिनकी क्रिया आत्माकी सब अभिलाषाओं को सहज भावसे पूरा कर देती है।

सर्वाधिपत्यकी वह सुखमय स्वतंत्रता हमें उस देवकी विश्वमयता और उसके सामजस्यकारी ज्योतिर्मय सर्वभूत-आलिंगनमेंसे प्राप्त होती है। **मित्र**का तत्त्व समस्वरताका तत्त्व है जिसके द्वारा **सत्य**की बहुविध क्रियाएँ परस्पर पूर्णतया परिणयबद्ध ऐक्यमें ग्रथित हो जाती हैं। 'मित्र' इस नामकी

---

1. **प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।**
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥
ऋ. III. 59.2

धातुके दोनों अर्थ हैं—आलिंगन करना, समा लेना तथा धारण करना और फिर निर्मित या घटित करना अर्थात् समग्रके अंगों और उपादानोंको इकट्ठे जोड़ना। आराध्य **मित्रदेव** हमारे अंदर पदार्थोंके आनन्दपूर्ण व्यवस्थापक और परम शक्तिशाली राजाके रूपमें जन्म लेता है। **मित्र** द्युलोक और पृथ्वीको धारण किए है और लोकों और प्रजाओंपर निर्निमेष दृष्टि डालता है, और उसकी जागरूक और पूर्ण विधि-व्यवस्थाएँ हमारे अन्दर मन और हृद्भावकी सुखमय यथायुक्त स्थिति—**सुमति,** जिसे हम 'आत्मप्रसाद'की-सी स्थिति कह सकते हैं—उत्पन्न करती हैं, जो हमारे लिए अक्षत निवासस्थान बन जाती है। वेदमंत्र कहता है, "समस्त निरानन्द स्थितिसे मुक्त होकर, **वाग्देवी**में हर्षातिरेकसे उल्लसित होते हुए, पृथ्वीकी विशालतामें घुटने नवाते हुए हम **मित्र**के—**अनन्तता**के **पुत्र**के—क्रिया-विधानमें अपना निवास-धाम प्राप्त करें और उसकी 'सुमति'में निवास करें" (ऋ. III. 59. 3)[1]। जब **अग्नि मित्र** बन जाता है, जब दिव्य **संकल्प** दिव्य **प्रेम**को उपलब्ध कर लेता है तभी, वैदिक रूपकके शब्दोंमें, ईश्वर और ईश्वरी अपने प्रासादमें समस्वर होकर निवास करते हैं।

सत्यका समस्वरित सुख मित्रके कार्यका विधान है क्योंकि यह समस्वरता और पूर्णताप्राप्त मनःस्थिति **सत्य** और दिव्य **ज्ञान**पर ही आधारित है। ये **मित्र** और **वरुण**की **माया**से बनायी जाती, स्थिर और सुरक्षित रखी जाती हैं। यह प्रसिद्ध शब्द **माया** उसी धातुसे बना है जिससे मित्र। माया समग्रबोधात्मक, मात्री और निर्मात्री प्रज्ञा है जो चाहे दैवी हो या अदैवी, **अदिति**की अविभक्त सत्तामें सुरक्षित हो या **दिति**की विभक्त सत्तामें संघर्षरत, संपूर्ण नाटक एवं परिवेशको रचती है और उसकी संपूर्ण अवस्था को, उसके विधान और व्यापारको मर्यादित और निर्धारित करती है। माया क्रियाशील उत्पादनकर्त्री और निर्धारक दृष्टि है जो प्रत्येक प्राणीके लिए उसकी अपनी चेतनाके अनुसार उसका जगत् बनाती है। परन्तु मित्र है **प्रकाश**का **अधिपति, अनन्तता**का **पुत्र, सत्य**का **संरक्षक** और उसकी माया है एक अनन्त, परम, निर्भ्रांत सर्जनशील प्रज्ञाका अंग। **मित्र** हमारी सत्ताके अनेकानेक स्तरोंके सब क्रमिक सोपान और क्रमबद्ध धाम निर्मित करता है और उन्हें एक प्रदीप्त सामंजस्यमें परस्पर संयुक्त करता है। जो कुछ भी **अर्यमा**

---

1. **अनमीवास इळया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः।**
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम॥
ऋ. III.59.3

अपने पथ पर अभीप्सा करता है उसे **मित्र**के 'धारणों' (धर्मों) या विधानों और उसके आधारों, भूमिकाओं और धामोंसे साधित करना होता है, **मित्रस्य धर्मभिः, मित्रस्य धामभिः**। क्योंकि 'धर्म' अर्थात् विधान वह है जो वस्तुओंको इकट्ठे धारण किए रखता है और जिसे हम पकड़े रहते हैं। 'धाम'का अर्थ है धर्म या विधानको प्रतिष्ठित सामंजस्यमें स्थापित करना, जो हमारे लिए हमारे जीवनकी भूमिकाका, हमारी चेतना, क्रिया और विचार-के स्वरूपका निर्माण करता है।

अदितिके अन्य पुत्रोंकी तरह **मित्र** ज्ञानका अधिपति है। वह ऐसे प्रकाशका स्वामी है जो नानाविध अन्तःप्रेरणाओंसे पूर्ण है, या वैदिक परिभाषाके अधिक निकट रहना चाहें तो यूं कह सकते हैं कि, ज्ञानके समृद्धतया विविध श्रवण (श्रुति)से पूर्ण है। सत्ताकी जिस विशालताका वह वरुणके साथ सांझे रूपमें आनंदोपभोग करता है उसमें वह **सत्य**की सत्ता-की महिमासे द्युलोकका प्रभुत्व प्राप्त करता है या उसके **ज्ञान**की इन अन्तः-प्रेरणाओं या अन्तःश्रवणों द्वारा पृथ्वी पर अपना विजयशील आधिपत्य विस्तारित करता है। इसलिए पांचों प्रकारकी आर्य प्रजाएँ इस तेजस्वी और सुन्दर **मित्र**को पानेके लिए प्रयास करती और उसकी ओर यात्रा करती हैं, वह अपनी ज्योतिर्मय शक्तिके साथ उनके भीतर आता है और अपनी विशालतामें सब **देवों**का वहन करता है। वह महान् और आनन्दमय देव है जो जगत्में उत्पन्न प्राणियोंको उनके पथपर आरूढ़ कराकर उन्हें आगे ले चलता है। एक ऋचामें मित्र और वरुणमें यह भेद दिखाया गया है कि वरुण आत्माके परम पदका प्रभुत्वपूर्ण यात्री है, मित्र उस यात्रामें मनुष्योंको अग्रसर करता है। ऋषि कहता है, "अब भी मैं लक्ष्यकी ओर गति कर सकूं और मित्रके पथपर यात्रा कर सकूं।"

क्योंकि **मित्र** अपने सामंजस्यको **वरुण**की विशालता और पवित्रताके बिना परिपूर्ण नहीं कर सकता, इसलिए उस महान् देवके संग इसका भी निरंतर आह्वान किया जाता है। आत्माकी सर्वोच्च भूमिकाएँ या स्तर उन्हींके हैं। मित्र और वरुणके आनन्दको ही हमारे अन्दर बढ़ना है। उनके विधानसे हमारी चेतनाका वह विशाल स्तर हमपर चमक उठता है और द्युलोक व पृथ्वी उनकी यात्राके दो मार्ग हैं। क्योंकि उनकी माता सत्यस्वरूप **अदिति**ने उन्हें सर्वशक्तिमत्ताके लिए सर्वज्ञ और सर्वमहान्के रूप-में अपने अन्दर वहन किया है, और अखंड सत्ता, ज्योतिर्मय **अदिति**के साथ वे प्रतिदिन जागरूक रहते हुए चिपके रहते हैं, वही माता हमारे लिए प्रकाश-के उस जगत्में हमारे निवास-स्थानोंको धारण किए है और वे दोनों देव

उस लोककी देदीप्यमान शक्तिशालिताको प्राप्त करते हैं। वे हैं दो **पुत्र** जो सनातन कालसे अपने जन्मोंमें पूर्ण हैं और हमारे कार्यके विधानको धारे रहते हैं। वे एक विशाल ज्योतिर्मय शक्तिकी ही संतानें हैं, दिव्य विवेक-शील विचारकी संतति हैं और संकल्पमें पूर्ण हैं। वे सत्यके संरक्षक हैं, परम व्योममें इसके विधानको अपने अंदर धारण किए हैं। **स्वर्** है उनका स्वर्णिम सदन और जन्मस्थान।

मित्र और **वरुण** अक्षत दृष्टिसे संपन्न हैं और हमारी दृष्टिकी अपेक्षा वे **पथ**के अधिक अच्छे ज्ञाता हैं, क्योंकि **ज्ञान**में वे **सत्य**के द्रष्टा हैं। अपने विवेकशील विचारके संवेगसे वे आच्छादक असत्यको उस **सत्य**से परे हटा देते हैं जिसकी ओर हमें पथ द्वारा पहुंचना है। वे उस विशाल **सत्य**की घोषणा करते हैं जिसके वे स्वामी हैं। क्योंकि वे इसके स्वामी हैं और इसके साथ-साथ संकल्पकी पूर्णताके भी स्वामी हैं जो सत्यका परिणाम होती है, इसीलिए वे हमारे अन्दर साम्राज्यके लिए आसीन हैं और सामर्थ्यके स्वामियोंके रूपमें हमारे कार्योंको थामे रहते हैं। वे पदार्थोंके ऊपर अपनी प्रभुतासे हमारे विचारोंको परिपुष्ट करते हुए **सत्य**से **सत्य**को प्राप्त करते हैं और अपने परिपूत विवेकसे मनुष्योंमें स्थित इन्द्रियानुभूतिके द्वारा चेतनाकी आंखको संपूर्ण प्रज्ञाकी ओर खोल देते हैं। इस प्रकार सर्वदर्शी और सर्वज्ञ वे **मित्र** और **वरुण** विधानके द्वारा अर्थात् शक्तिशाली प्रभुकी **माया**के द्वारा हमारे कार्योंकी रक्षा करते हैं, जैसे कि वे **सत्य**की शक्तिसे सारे जगत् पर शासन करते हैं। वह **माया** द्युलोकोंमें प्रतिष्ठित है, प्रकाशमय **सूर्य**के रूप-में वहां विचरण करती है; वह उनका समृद्ध व आश्चर्यमय शस्त्र है। वे दूर-दूर तक सुननेवाले हैं, सत्य सत्ताके स्वामी हैं, स्वतः सत्यमय हैं, और प्रत्येक मानव प्राणीमें सत्यके संवर्धक हैं। वे तेजोमय गोयूथोंका पोषण करते हैं एवं द्युलोकके प्रचुर ऐश्वर्यकी वर्षा करते हैं, **शक्तिशाली प्रभु**की **माया**के द्वारा द्युलोककी वृष्टि कराते हैं। और वह दिव्य वृष्टि ही आध्या-त्मिक आनन्दकी निधि है जिसकी द्रष्टागण अभीप्सा करते हैं—यही है अमरता[1]।

अर्यमा

चार महान् सौर देवोंमेंसे तीसरा, **अर्यमा**, ऋषियोंके आवाहनोंमें सबसे कम मुख्य है। उसे कोई पृथक् सूक्त संबोधित नहीं किया गया और यदि

1. **वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे।** ऋ. 5.63.2

उसका नाम बार-बार आता है, तो भी वह जहां-तहां बिखरी ऋचाओंमें ही। ऋचाओंका ऐसा कोई प्रबल समुदाय नहीं जिससे हम उसके कार्य-व्यापारोंके संबंधमें अपना विचार दृढ़तापूर्वक बना सकें अथवा उसके बाह्य स्वरूपका गठन कर सकें। बहुधा उसका आवाहन केवल उसके कोरे नामसे, **मित्र** और **वरुण**के साथ किया जाता है अथवा **अदिति**के पुत्रोंके बृहत्तर समुदायमें प्रायः सदा ही अन्य सजातीय देवोंके साथ संयुक्त रूपमें। फिर भी ऐसी छः-सात आधी ऋचाएँ पाई जाती हैं जिनसे उसका एक मुख्य और विशिष्ट कार्य **सत्य**के **अधिपतियों**के सामान्य विशेषणोंके द्वारा प्रकट होता है, वे विशेषण **ज्ञान, आनन्द, अनन्तता** और **शक्ति**के द्योतक हैं।

परवर्ती परंपरामें अर्यमाका नाम उन **पितरों**की सूचीमें शीर्षस्थान पर रखा गया है जिन्हें उनके उपयुक्त हविके रूपमें प्रतीकात्मक अन्न दिया जाता है, जिसे अन्त्येष्टि और श्राद्ध-संबंधी पौराणिक संस्कारोंमें पिंड कहा जाता है। पौराणिक परंपराओंमें पितरोंकी दो श्रेणियाँ हैं—दिव्य और मानवीय पितर, जिनमेंसे पिछले हैं हमारे पूर्वज, हमारे दिवंगत पितरोंकी आत्माएँ। परन्तु जिन **पितरों**की आत्माएँ स्वर्ग और अमरत्व प्राप्त कर चुकी हैं, उनके प्रसंगमें ही हमें अर्यमाके विषयमें विचार करना चाहिए। गीतामें श्रीकृष्णने पदार्थों और प्राणियोंमें विद्यमान सनातन **देव**की मुख्य शक्तियों और विभूतियोंको गिनाते हुए अपने विषयमें कहा है कि मैं कवियोंमें **उशना,** ऋषियोंमें **भृगु** मुनियोंमें **व्यास, आदित्यों**में **विष्णु** और **पितरों**में **अर्यमा** हूँ। यहाँ वेदमें **पितर** वे प्राचीन ज्ञानप्रदीप्त पुरुष हैं जिन्होंने **ज्ञान**का आविष्कार किया, **पथ**का निर्माण और अनुसरण किया, **सत्य**को प्राप्त किया और **अमरता**को जीत लिया; उन थोड़ी-सी ऋचाओंमें, जिनमें अर्यमाका पृथक् व्यक्तित्व प्रकट हुआ है, उसकी स्तुति पथके **प्रभु**के रूपमें की गई है।

उसका नाम अर्यमा व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे 'अर्य', 'आर्य' और 'अरि' इन शब्दोंका सजातीय है। इन शब्दोंके द्वारा उन मनुष्यों या जातियोंका विशेष निर्देश किया जाता है जो वैदिक संस्कृतिका अनुसरण करती हैं तथा उन देवताओंका भी निर्देश किया जाता है जो उनके युद्धों और उनकी अभीप्साओं में उनकी सहायता करते हैं। अतएव 'अर्यमा' नाम इन्हीं शब्दोंकी तरह विशेष अर्थका सूचक है। '**आर्य**' है **पथ**का यात्री, दिव्य यज्ञके द्वारा अमरता का अभीप्सु, **प्रकाश**का एक दीप्तिमान् पुत्र, **सत्य**के **स्वामियों**का पुजारी, मानवीय यात्राका विरोध करनेवाली अंधकारकी शक्तियोंके विरोधमें किए जानेवाले युद्धमें योद्धा। **अर्यमा** एक देवता है जिसकी दिव्य **शक्ति**पर इस **आर्यत्व**की नींव निहित है। वही है यज्ञकी, अभीप्साकी, युद्धकी, पूर्णता और प्रकाश एवं

स्वर्गीय आनंदकी ओर यात्राकी यह **शक्ति** जिसके द्वारा पथका निर्माण किया जाता है, उसपर यात्राकी जाती है, समस्त प्रतिरोध और अंधकारको पार करते हुए उसके ज्योतिर्मय और सुखद लक्ष्य तक उसका अनुसरण किया जाता है।

परिणामस्वरूप, अर्यमा अपने कार्यमें **पथके** नेताओं—मित्र और वरुणके गुणोंको अपनाता है। यही **शक्ति** उस **प्रकाश** और **समस्वरता**की सुखद प्रेरणाओंको और उस पवित्र **विशालता**के अनंत ज्ञान और सामर्थ्यकी गतिको चरितार्थ करती है। मित्र और वरुणकी तरह वह मनुष्योंको पथ पर यात्राके लिए प्रेरित करता है, वह मित्रके पूर्ण आत्मप्रसादसे भरा हुआ है। वह यज्ञके संकल्प व कार्यकलापमें पूर्ण है। वह और वरुण मर्त्योंके लिए पथको विशेष रूपसे निर्धारित करते हैं। वह वरुणकी तरह एक ऐसा देव है जो अपने जन्मोंमें अनेकविध है, उसकी तरह वह मनुष्योंके हिंसकके क्रोधका दमन करता है। अर्यमाके महान् पथके द्वारा ही हम असत्य या अशुभ विचारवाली उन सत्ताओंको पार कर जायेंगे जो हमारे पथमें बाधाएँ डालती हैं। इन **राजाओं**की माता अदिति और अर्यमा हमें सुखद यात्राके मार्गोंसे समस्त विरोधी शक्तियोंसे परे ले जाते हैं। जो मनुष्य मित्र और वरुणकी क्रियाओंके ऋजुपथकी खोज करता है और शब्द व स्तुतिकी शक्तिसे अपनी समस्त सत्ताके द्वारा उनके विधानका आलिंगन करता है, वह अर्यमाके द्वारा अपनी प्रगतिमें रक्षित होता है।

परन्तु अर्यमाके कार्य-व्यापारको अत्यंत स्पष्ट करनेवाली ऋचा वह है जो उसका वर्णन इस प्रकार करती है, "अर्यमा अक्षत मार्ग और अनेक रथोंवाला है जो विविध आकारोंवाले जन्मोंमें यज्ञके सप्तविध होता की तरह निवास करता है" (ऋ. X.64.5)[1]। वह मानवीय यात्राका देवता है जो उसे उसकी अदम्य प्रगतिमें आगे ले जाता है और जब तक यह दिव्य **शक्ति** हमारी नेत्री है तबतक शत्रुके आक्रमण इस प्रगतिको परास्त नहीं कर सकते, न इसे सफलतापूर्वक रोक ही सकते हैं। यह यात्रा हमारे विकासकी बहुविध गतिके द्वारा और अर्यमाके अनेक रथों द्वारा साधित होती है। यह मानवीय यज्ञकी यात्रा है जो अपनी क्रियामें सप्तविध शक्तिसे युक्त है, क्योंकि हमारी सत्तामें सात प्रकारके तत्त्व विद्यमान हैं जिन्हें उनकी सर्वांगीण पूर्णतामें चरितार्थ करना होता है। अर्यमा यज्ञीय कर्मका स्वामी है जो **दिव्य जन्म**के देवताओंके प्रति इस सप्तविध क्रियाकी भेंट देता है। हमारे अन्दर स्थित अर्यमा हमारी सत्ताके आरोही स्तरोंमें हमारे जन्मके विविध रूप विकसित करता है, इन आरोही स्तरोंके द्वारा अर्यमाके मार्गके

1. **अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु।** ऋ. X.64.5

यात्री पितरोंने आरोहण किया था, और इन्हींके द्वारा अमरताके उच्चतम शिखर तक आरोहण करनेकी अभीप्सा आर्य आत्मामें होनी चाहिए।

इस प्रकार **अर्यमा** अपने अन्दर मनुष्यकी उस संपूर्ण अभीप्सा और गतिविधि को समेटे हुए है जो अपनी दिव्य पूर्णताकी ओर उसके सतत आत्म-विस्तार एवं आत्म-अतिक्रमणमें लगी हुई है। अटूट मार्गपर अर्यमाकी सतत गतिसे मित्र, वरुण तथा अदितिके पुत्र मानवीय जन्ममें अपनेको चरितार्थ कर लेते हैं।

भग

इस मार्गका लक्ष्य है दिव्य परमानन्द, सत्यका, हमारी सत्ताकी अनंतता-का अपरिमित हर्ष। **भग** देवता ही इस हर्ष और परमानन्दको मानव चेतनामें लाता है; वह मनुष्यके अन्दर दिव्य आनंदोपभोक्ता है। जीव-मात्रका लक्ष्य और ध्येय है—अस्तित्वका यह दिव्य उपभोग, इसकी खोज वह चाहे ज्ञानसे करे या अज्ञानसे, दिव्य सामर्थ्यसे करे अथवा अपनी अभी-तक अविकसित शक्तियोंकी दुर्बलतासे। "बलशाली मनुष्य अपने संवर्धनके लिए भगका आह्वान करता है, जो बलहीन है वह भी उसीको पुकारता है, तब वह आनंदकी ओर प्रयाण करता है" (ऋ. VII. 38.6)[1]। "हम उषाकालमें भगका आवाहन करें जो शक्तिशाली और विजयी है, अदितिका ऐसा पुत्र है जो विशाल आश्रयदाता है, आर्त, योद्धा और राजा जिसका ध्यान करते हैं और वे उस उपभोक्तासे कहते हैं 'हमें आनंदोपभोग प्रदान करो' " (ऋ. VII. 41.2)[2]। दिव्य **भोक्ता** (भग) ही आनंदोपभोगका स्वामी बने, और उसीके द्वारा हम भी आनंदोपभोगके स्वामी बनें। "हे भग! तुझे प्रत्येक मनुष्य पुकारता है, अवश्य ही तू हमारी यात्राका नेता बन, हे उपभोक्ता," (VII. 41.5)[3]। अपनी दिव्य उपलब्धियोंके विकासमें आनंद लेती हुई आत्माका वृद्धिशील एवं विजयशील आनंद जो हमें यात्रामें अग्रसर होने तथा विजय पानेके लिये तब तक बल देता रहता है जबतक हम अपने

---

1. भगमुग्रोऽवसे जोहवीति भगमनुग्रो अध याति रत्नम्॥
ऋ. VII. 38.6
2. प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह॥
ऋ. VII. 41.2
3. भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह॥
ऋ. VII. 41.5

असीम परमानंदमें पूर्णताके लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाते,—यह है मनुष्यके अन्दर **भग**के जन्मका चिह्न और यही है उसका दिव्य कार्य-व्यापार।

निश्चय ही समस्त उपभोग—मर्त्य और दिव्य—**भग-सवितासे** आता है; "मनुष्योंके लिए विस्तृत और विशाल शक्तिका सर्जन करता हुआ वह उनके लिए मर्त्य उपभोग लाता है।" किन्तु वैदिक आदर्श है संपूर्ण जीवनका समावेश और दिव्य और मानवीय संपूर्ण हर्ष का, पृथिवीके विस्तार और प्राचुर्यका, द्युलोककी विशालता एवं विपुलताका और उस मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ताकी निधियोंका समावेश जिसे ऊँचा उठाकर और पवित्र करके अनंत और दिव्य **सत्य**के रूपमें सर्वांगपूर्ण बना दिया गया हो। सबको समाविष्ट करनेवाला यह आनंद ही भगकी देन है। मनुष्योंको उस **उपभोक्ता**का आह्वान करना चाहिए क्योंकि वह अनेक ऐश्वर्योंसे संपन्न है और सब आनन्दोंकी पूर्णतया व्यवस्था करता है,—उन त्रिगुणित सात आनंदोंकी जिन्हें वह अपनी माता **अदिति**की सत्तामें धारण किये है। जब हम अपने अन्दर "विस्तृत और विशाल शक्ति"का सर्जन कर लेते हैं और जब **भगवान् भग, उषा** और अनन्त-अविभक्त **अदिति**के रूपमें असीम चेतनाकी दीप्तियोंको परिधानकी तरह धारण कर लेता है और बिना विभाजनके सभी वांछनीय वरोंका वितरण करता है तभी दिव्य आनंद अपनी पूर्णतामें हमारे पास आता है। तब वह (भग) उस महत्तम आनंदका पूर्ण उपभोग मानव प्राणीको प्रदान करता है। इसलिए **वसिष्ठ** उसे पुकार-पुकारकर कहता है (ऋ. VII. 41.3)[1], "हे भग! हे हमारे पथप्रदर्शक, हे **सत्य**की संपदासे संपन्न भग, हमें अपनी संपदा प्रदान करते हुए हमारे अन्दर इस विचारको" इस **सत्य** विचारको जिसके द्वारा आनंद प्राप्त होता है "उन्नत और संवर्धित करो, हे **भग**!"

भग स्रष्टा सविता है, जो अव्यक्त **भगवान्**से दिव्य विश्वके सत्यको ले आता है, इस निम्नतर चेतनाके उस दुःस्वप्नको हमसे दूर कर देता है जिसमें हम सत्य और असत्य, बल और दुर्बलता, हर्ष और शोकके विषम जालमें लड़खड़ाते रहते हैं। बन्दी बनानेवाली सीमाओंसे मुक्त एक अनंत सत्ता, दिव्य **सत्य**को विचारमें ग्रहण करने और संकल्पमें क्रियान्वित करनेवाला अनंत ज्ञान एवं बल, द्वैध, दोष या पापके बिना सबको अधिकृत करने और उनका उपभोग करनेवाला अनंत परमानन्द,—यही है भग-सविताकी

---

1. **भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।**
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥

ऋ. VII. 41.3

सृष्टि, यही है वह महत्तम **आनन्द**। "दिव्य **स्रष्टा**की इसी सृष्टिके बारेमें अदिति देवी हमें बतलाती है, इसीके बारेमें सर्वशासक वरुण, मित्र और अर्यमा एक मन और एक हृदयके साथ हमें बताते हैं।" चारों **राजा** अपनेमें सबसे छोटे और सबसे महान् **आनंदोपभोक्ता** भगकी मनुष्यमें आनंदमय पूर्णताके द्वारा अपने आपको अपनी अनंत **माता**के साथ परिपूरित और चरितार्थ पाते हैं। इस प्रकार चतुर्विध सविताकी दिव्य सृष्टि वरुणपर आधारित, मित्र द्वारा समन्वित और परिचालित, अर्यमा द्वारा निष्पादित और **भग**में उपभुक्त होती है : अनंत **मां अदिति** अपनी तेजस्वी संतानोंके जन्म और कार्योंके द्वारा अपने आपको मनुष्यमें चरितार्थ करती है।

प्रकाशके अधिपति मित्रावरुणके सूक्त

पहला सूक्त

ऋ. 5.62

सत्य और आनंदके सहस्र-स्तंभ धामके अधिपति

[ऋषि उस शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय **सत्य**की स्तुति करता है जिसे परिवर्तनशील पदार्थोंका **सत्य** आवृत किये है। वही दिव्य ज्ञानके आविर्भूत **सूर्य**की यात्राका ध्येय है। वह है सभी सत् पदार्थों और उस **परमदेव**की शाश्वत एकता जिसके कि सभी **देवता** विविध रूप हैं। उसीमें यज्ञद्वारा प्राप्त सत्ता और ज्ञान तथा शक्ति व परम आनंदकी संपूर्ण संपदा एकत्र होती है। वही है **वरुण**की विस्तृत निर्मलताओं एवं **मित्र**के उज्ज्वल सामंजस्योंकी बृहत् विशालता। वहाँ नित्य, स्थिर ज्ञानकी दिव्य ज्योतियोंके गोयूथ निवास करते हैं, क्योंकि वही सुखद क्षेत्र है जिसकी ओर वे यहाँ यात्रा कर रहे हैं। वैश्व गति और यात्राका **प्रेरक** हमारे अन्दर आन्तरिक प्रकाशकी उषाओंके द्वारा ऐसे ज्ञानको उंडेलता है जो रश्मिरूपी गायोंका दूध है। वहीं अमर्त्य सत्ताकी धाराएँ अवतरित होती हैं जिसके बाद उन **मित्र** और **वरुण** अर्थात् **प्रकाश** और **पवित्रता**की, **सामंजस्य** और **अनन्तता**की एक ही अखंड और पूर्ण गतिधारा प्रवाहित होती है। यही है द्युलोककी वर्षा जिसे ये दोनों **देवता** भौतिक सत्ताको उसके फलोंमें और दिव्य सत्ताको उसके प्रकाशकी सामूहिक प्रभाओंमें धारण करते हुए बरसाते हैं। इस प्रकार वे मनुष्यके अंदर दिव्य ज्ञानसे भरपूर शक्तिका और एक विशाल सत्ताका सर्जन करते हैं जिसकी वे रक्षा व संवर्धन करते हैं, और जो यज्ञके लिए बिछाया गया एक आसन होती है। इस सहस्रस्तंभयुक्त ज्ञान-शक्तिको वे अपने लिए एक धाम बनाते हैं और वहाँ **शब्द**के साक्षात्कारोंमें निवास करते हैं। यह अपनी आकृतिमें ज्योतिर्मय है और इसके जीवनके स्तंभ लौहशक्ति और स्थिरतासे युक्त हैं। वे उषःकालमें और ज्ञानसूर्यके उदयमें इसकी ओर आरोहण करते हैं और अपनी दिव्य दृष्टिके उस नेत्रसे अनंत और सांत सत्ताको एवं वस्तुओंकी अविभाज्य एकता और उनकी बहुविधताको निहारते हैं। यह है वह धाम जो परमके माधुर्य और हर्षोल्लास, अभेद्य

शक्ति और आनंदसे भरपूर और विशाल है और जिसे हम उनके पालक-पोषक रक्षणके द्वारा जीतना और अधिकृत करना चाहते हैं।]

1

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥

(ऋतेन) **सत्य**[1]से (वां) तुम दोनोंका (ध्रुवम् ऋतं) वह ध्रुव-**सत्य**[2] (अपिहितम्) ढका हुआ है (यत्र) जहाँ वे (सूर्यस्य) सूर्यके (अश्वान्) घोड़ोंको (विमुचन्ति) खोल देते हैं। वहाँ (दश शता) दस सौ[3]-हजार रश्मियां—(सह तस्थुः) एक साथ स्थिर रूपसे स्थित हैं। (तत् एकं) वह एक है। (वपुषाम् देवानाम्) देहधारी देवोंमें (श्रेष्ठं) सबसे महान् देव[4]के रूपमें (अपश्यम्) मैंने उसके दर्शन किये हैं।

2

तत्सु वां मित्रावरुणा महित्वमीर्मा तस्थुषीरहभिर्दुदुह्रे।
विश्वाः पिन्वथः स्वसरस्य धेना अनु वामेकः पविरा ववर्त्त॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (वां) तुम दोनोंकी (तत् सु महित्वम्) यही पूर्ण विशालता है। (ईर्मा) गति का अधिपति अपनी (तस्थुषीः) स्थिर दीप्तिओंकी गौओंको (अहभिः) दिनोंमें- प्रकाश-कालमें (दुदुह्रे) दोहता है। (स्वसरस्य विश्वाः धेनाः) आनंदमय भगवान्की संपूर्ण

---

1. वस्तुओंका क्रियाशील वैश्व **सत्य**। वस्तुएं अपनी देशकालगत परिवर्तनशीलता और विभाज्यतामें प्रसारित और व्यवस्थित हैं। उनका क्रियाशील जागतिक मत्य उस शाश्वत तथा अविकारी सत्यको आवृत किये है जिसका वह आविर्भाव है।
2. शाश्वत **सत्य** दिव्य **प्रकाश** का लक्ष्य है जो हमारे अंदर उदित होता है और चमकते हुए ऊर्ध्व समुद्रसे होता हुआ ऊपरकी ओर ऊँचेसे ऊँचे द्युलोकोंमें यात्रा करता है।
3. दिव्य ऐश्वर्यका संपूर्ण प्राचुर्य अपने ज्ञान, शक्ति और आनंदकी वृष्टिधाराओं सहित।
4. **एकमेव** अर्थात् वह देव जो दिव्य **सूर्य**-रूपी अपने स्वरूपसे ढका हुआ है। तुलना करो ईशोपनिषद्के इस वचनसे, "हे **सूर्य**! जो तेज तेरा अत्यन्त कल्याणकारी रूप हैं उसके दर्शन मुझे करने दो। वहाँ, वहाँ **जो पुरुष है वही** मैं हूँ"—"तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।"

धाराओंको (वां) तुम दोनों (पिन्वथः) बढ़ाते हो और (एकः पविः) तुम्हारे रथका एक पहिया[1] (अनु आ ववर्त्त) उनके रास्तेमें गति करता है।

3

अधारयतं पृथिवीमुत द्यां मित्रराजाना वरुणा महोभिः।
वर्धयतमोषधीः पिन्वतं गा अव वृष्टिं सृजतं जीरदानू॥

(मित्रराजाना वरुणा) हे मित्रराजा और राजा वरुण (महोभिः) अपनी महानतासे तुम दोनों (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्युलोकको (अधारयतम्) धारण करते हो। तुम (ओषधीः वर्धयतम्) ओषधियों, पृथिवीकी वनस्पतियोंको बढ़ाते हो। (गाः पिन्वतम्) द्युलोकके चमकते गोयूथोंको पुष्ट करते हो, (वृष्टिम् अव सृजतम्) इसकी जलधाराओंकी वर्षा लाते हो, (जीरदानू) हे वेगशाली शक्तिसे युक्त!

4

आ वामश्वासः सुयुजो वहन्तु यतरश्मयः उप यन्त्ववर्वाक्।
घृतस्य निर्णिगनु वर्तते वामुप सिन्धवः प्रदिवि क्षरन्ति॥

हे मित्र और वरुण (वां) तुम दोनोंके (अश्वासः) अश्व (यतरश्मयः) सुनियंत्रित प्रकाशकी लगामोंसे (सुयुजः) अच्छी तरह जुते हुए (उप यन्तु अर्वाक् आ वहन्तु) तुम्हें हमारे पास नीचे ले आवें। (घृतस्य निर्णिक्) निर्मलता का स्वरूप (वाम् अनु वर्तते) तुम्हारे आनेपर साथ-साथ आता है, (सिन्धवः) नदियाँ (प्रदिवि) द्युलोकके संमुख (उप क्षरन्ति) बहती हैं।

5

अनु श्रुताममतिं वर्धदुर्वीं बर्हिरिव यजुषा रक्षमाणा।
नमस्वन्ता धृतदक्षाधि गर्ते मित्रासाथे वरुणेळास्वन्तः॥

(अमतिं वर्धत्) उस शक्तिको बढ़ाते हुए जो (श्रुताम् अनु) हमारे ज्ञानके श्रवण तक आती है, (यजुषा) यज्ञिय शब्द[2] से (बर्हिः इव उर्वीम् रक्षमाणा) अपने विशाल राज्यकी रक्षा करते हुए[3] मानो वह हमारे

---

1. एकीभूत गति, जब कि **सूर्य**का निचला पहिया पृथक् कर दिया जाता है: निम्नतर सत्य जो उस उच्चतर सत्यकी एकतामें ऊँचा उठा ले जाया जाता है जिससे वह अब अपनी गतिमें पृथक् हुआ प्रतीत होता है।
2. **यजुः**। **ऋक्** वह शब्द है जो अपने साथ प्रकाश लाता है, **यजुः** वह शब्द है जो ऋक्के अनुसार यज्ञिय कर्मका पथप्रदर्शन करता है।
3. अथवा "विशाल शक्तिका संवर्धन और रक्षण करते हुए"।

यज्ञका आसन हो, (नमस्वन्ता) नमनको लाते हुए, (धृतदक्षा) विवेकपर दृढ़ रहते हुए, (मित्र) हे मित्र ! (अधिगर्ते आसाथे) तुम अपना स्थान अपने घरमें ग्रहण करते हो। (वरुण) हे वरुण ! (इळासु अन्तः) ज्ञानके साक्षात्कारोंमें तुम भी (आसाथे) अपना स्थान ग्रहण करते हो।

6

अक्रविहस्ता सुकृते परस्पा यं त्रासाथे वरुणेळास्वन्तः।
राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथः सह द्वौ ।।

(वरुणा) हे मित्र और वरुण ! तुम (अक्रवि-हस्ता) ऐसे हाथोंवाले हो जो कुछ बचा नहीं रखते, ऐसे तुम (सुकृते) पूर्ण कार्य करनेवालेके लिए (परस्पा) परात्पर अवस्थाके रक्षक हो, (यं) जिसे तुम (त्रासाथे) मुक्त भी करते हो। वह (इळासु अन्तः) ज्ञानके साक्षात्कारोंमें निवास करता है। (अहृणीयमाना राजाना) आवेगोंसे मुक्त राजाओ ! (द्वौ) तुम दोनों (सह) मिलकर (सहस्रस्थूणम्) सहस्र स्तंभोंवाले (क्षत्रम्) बलको (बिभृथः) धारण करते हो।

7

हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्यश्वाजनीव।
भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य ।।

(अस्य हिरण्यनिर्णिक्) इसका रूप स्वर्णमय प्रकाशका है, (अस्य स्थूणा अयः) इसका स्तंभ लोहमय है, वह (दिवि वि भ्राजते) द्युलोकमें ऐसे चमकता है (अश्वाजनी-इव) मानो वह वेगयुक्त बिजली[1] हो। वह (भद्रे क्षेत्रे) सुखद क्षेत्र[2]में (तिल्विले वा) या प्रकाशके क्षेत्र[3]में (निमिता) गढ़ा हुआ है। (मध्वः सनेम) हम उस स्वादु मधु[4]को अधिकृत कर सकें (अधिगर्त्यस्य) जो उस घरमें विद्यमान है।

8

हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ।।

---

1. अथवा, 'घोड़ी', प्राणरूपी अश्वकी शक्ति।
2. आनन्द, आनन्दमय लोक।
3. उषाओंकी चमकका क्षेत्र, प्रकाशका लोक।
4. सोम।

(वरुण मित्र) हे वरुण ! हे मित्र ! (उषसः व्युष्टौ) उषाके फूटने पर, (सूर्यस्य उदिता) सूर्यके उदयकालमें (गर्तम् आ रोहथः) तुम उस घरकी ओर आरोहण करते हो (हिरण्य-रूपम्) जिसका स्वरूप स्वर्णमय है, (अयः-स्थूणम्) जिसके स्तंभ लोहमय हैं और (अतः) वहाँसे तुम (दितिम् अदितिं च) सान्त और अनन्त सत्ता[1]पर (चक्षाथे) दृष्टिपात करते हो।

9

यद् बंहिष्ठं नातिविधे सुदानू अच्छिद्रं शर्म भुवनस्य गोपा।
तेन नो मित्रावरुणावविष्टं सिषासंतो जिगीवांसः स्याम॥

(भुवनस्य गोपा) हे विश्वके शक्तिशाली रक्षक ! (शर्म) तुम्हारा वह आनंद (यत्) जो (बंहिष्ठम्) अत्यधिक विशाल और पूर्ण है और (अच्छिद्रम्) छिद्ररहित है, उसे कोई भी (सुदानू न अतिविधे) भेदकर पार नहीं कर सकता। (तेन नः अविष्टम्) उस आनंदसे तुम हमें पोषित करो, (मित्रावरुणौ) हे **मित्र,** हे **वरुण**। (सिषासंतः) हम जो उस शांतिको अधिकृत करना चाहते हैं (जिगीवांसः स्याम) विजयी हों।

---

1. **अदिति** और **दिति**।

दूसरा सूक्त

ऋ. 5 . 63

वृष्टिदाता

[**मित्र और वरुण** अपनी संयुक्त सार्वभौमिकता और सामंजस्यसे दिव्य **सत्य** तथा उसके दिव्य **विधानके** संरक्षक हैं, जो सत्य और विधान हमारी परमसत्ताके व्योममें अनादि कालसे पूर्णावस्थामें विद्यमान हैं। वहाँसे वे कृपापात्र आत्मापर द्युलोकोंके प्रचुर ऐश्वर्य एवं इसके परमानन्दकी वर्षा करते हैं। क्योंकि वे स्वभावतः ही मनुष्यमें सत्यके उस लोकके द्रष्टा हैं, और सत्यलोकके विधानके संरक्षक होनेसे वे इस समस्त व्यक्त सृष्टिके शासक हैं, अतः वे आध्यात्मिक संपदा एवं अमरताकी वर्षा करते हैं। प्राण-शक्तियां पृथ्वी और आकाशमें सत्यान्वेषी विचारकी वाणीके साथ चारों तरफ फैल जाती हैं और वे दोनों **सम्राट्** उनकी पुकारपर सर्जक जलोंसे भरपूर देदीप्यमान मेघोंके साथ आ पहुँचते हैं। **माया**के द्वारा ही, जो प्रभुकी दिव्य सत्य-प्रज्ञा है, वे इस प्रकार द्युलोककी वृष्टि करते हैं। वह दिव्य प्रज्ञा है **सूर्य, प्रकाश, मित्र तथा वरुण**का शस्त्र जो अज्ञानका विध्वंस करनेके लिए चारों तरफ विचरता है। प्रारंभमें **सूर्य**, जो **सत्य**का साकार रूप है, अपनी वृष्टियोंके झंझावेगमें छिपा होता है और तब जिस चीजका अनुभव होता है वह है केवल हमारे जीवनमें उनकी धाराओंके प्रवेशका माधुर्य। परन्तु मरुत् **प्राणशक्तियों** और **विचारशक्तियों**के रूपमें हमारी सत्ताके समस्त लोकोंमें गुप्त ज्ञानकी उन भास्वर किरणोंकी खोज करते हुए जिन्हें प्रदीप्त संपदाओंके रूपमें एकत्र किया जाना है, चारों ओर विचरते रहते हैं। दिव्य **वर्षा**का नाद प्रकाशकी प्रभाओं एवं दिव्य **जलधाराओं**की गतिसे परिपूर्ण है। उसके मेघ मरुतों—**प्राणशक्तियों**के लिए परिधान बन जाते हैं। इस सबके बीचमें से दोनों राजा **सत्य**के शक्तिशाली प्रभुके निर्माणकारक ज्ञानसे तथा **सत्य**के विधानसे हमारे अन्दर दिव्य क्रियाओंको जारी रखते हैं, सत्यके द्वारा हमारी संपूर्ण सत्तापर शासन करते हैं और अन्तमें इसके आकाशमें सूर्यदेवको, जो अब प्रकट हो जाता है, एक ऐसे रथके रूपमें प्रतिष्ठित करते हैं, जो ज्ञानकी समृद्धतया विविध प्रभाओंसे संपन्न है और आत्माकी सर्वोच्च द्युलोकोंकी ओर यात्राका रथ है।]

1

ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।
यमत्र मित्रावरुणावथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत्पिन्वते दिवः॥

(ऋतस्य गोपौ) **सत्य**के संरक्षक तुम दोनों (रथम् अधितिष्ठथः) अपने रथ पर आरोहण करते हो। (परमे व्योमनि सत्यधर्माणा) परम आकाश[1]में सत्यका विधान तुम्हारा ही है। (मित्रावरुणा) हे विशालता और सामंजस्यके स्वामियो! (युवं) तुम दोनों (अत्र) यहाँ (यम् अवथ) जिसका पालन-पोषण करते हो (तस्मै) उसके लिए (दिवः वृष्टिः) द्युलोककी वृष्टि (मधुमत् पिन्वते) मधुसे परिपूर्ण होकर वर्धित हो जाती है।

2

सम्राजावस्य भुवनस्य राजथो मित्रावरुणा विदथे स्वर्दृशा।
वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी विचरन्ति तन्यवः॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (सम्राजौ) हे सम्राट्[2]-युगल (अस्य भुवनस्य राजथः) हमारी संभूतिके इस लोकके ऊपर तुम दोनों शासन करते हो। (विदथे स्वर्दृशा) ज्ञानकी प्राप्तिमें तुम प्रकाशके राज्यके द्रष्टा हो। (वां) तुम दोनोंसे हम (वृष्टिं राधः अमृतत्वम् ईमहे) वर्षा, आनंदमय समृद्धि तथा अमरताकी कामना करते हैं। वह देखो! (तन्यवः) **गर्जनेवाले मरुत्[3]-देव** (द्यावापृथिवी विचरन्ति) द्यावापृथिवीमें चारों ओर विचरण करते हैं।

3

सम्राजा उग्रा वृषभा दिवस्पती पृथिव्या मित्रावरुणा विचर्षणी।
चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया॥

(सम्राजौ) हे सम्राट्-युगल! (उग्रा वृषभा) प्रचुर ऐश्वर्यके शक्तिशाली वर्षक वृषभो! (दिवः पृथिव्याः पती) हे द्युलोक और पृथ्वीलोकके स्वामियो, (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण! (विचर्षणी) अपनी क्रियाओंमें सार्वभौम तुम दोनों (रवम्) उनकी पुकारपर (चित्रेभिः अभ्रैः उप तिष्ठथः)

---

1. अतिचेतन सत्ताकी अनन्तता।
2. **सम्राट्**—आत्मगत और बहिर्गत सत्ताके ऊपर आधिपत्य रखनेवाले।
3. **मरुत्**—प्राणशक्तियां और विचारशक्तियां जो हमारी समस्त क्रियाओंके लिए सत्यको खोज निकालती हैं। इस शब्दका अर्थ "आकार देनेवाला" या 'निर्माता' भी हो सकता है।

अपने विविध प्रकाशके मेघोंके साथ आ पहुंचते हो और (असुरस्य[1] मायया[2]) शक्तिशाली देवके ज्ञानकी शक्तिसे (द्यां वर्षयथः) द्युलोककी वर्षा करते हो।

4

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (वां माया दिवि श्रिता) यह है तुम्हारा ज्ञान जो द्युलोकमें प्रतिष्ठित है, (सूर्यः) यही है **सूर्य**, (ज्योतिः) यही है **ज्योति**। (चित्रम् आयुधं चरति) यह तुम्हारे समृद्ध व विविध शस्त्र के रूपमें सर्वत्र विचरण करता है। तुम (दिवि) आकाशमें (तम्) इसे (अभ्रेण वृष्ट्या गूहथः) मेघ और वर्षाके द्वारा छिपाये हुए हो। (पर्जन्य) हे द्युलोककी वर्षा करनेवाले देव! (मधुमन्तः द्रप्साः) मधुसे भरपूर तेरी धाराएं (ईरते) प्रवाहित हो उठती हैं।

5

रथं युञ्जते मरुता शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु।
रजांसि चित्रा विचरन्ति तन्यवो दिवः सम्राजा प्रयसा न उक्षतम्॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (मरुतः) प्राणशक्तियाँ (गविष्टिषु) प्रकाशके यूथोंकी अपनी खोजोंमें (सुखं रथम्) अपने सुखमय रथको (शुभे) आनन्दकी प्राप्तिके लिए (युञ्जते) जोतती हैं, (शूरः न [रथम्]) जैसे कोई शूरवीर युद्धके लिए रथ जोतता हो। (तन्यवः) गर्जना करती हुई वे (चित्रा रजांसि विचरन्ति) चित्र-विचित्र लोकोंमें परिभ्रमण करती हैं। (सम्राजा) हे राजकीय शासको! (नः दिवः पयसा उक्षतम्) हम-पर द्युलोकके जलकी वृष्टि करो।

6

वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।
अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम्॥

---

1. **असुर**—वेदमें यह शब्द देवके लिए प्रयुक्त हुआ है जैसे कि जिदावस्तामें देव अहुरमज्दके लिए। पर साथ ही इसका प्रयोग उस देवकी अभिव्यक्त शक्तियों—देवताओंके लिए भी किया गया है। केवल थोड़े ही सूक्तोंमें यह अंधकारमय दैत्योंके लिए प्रयुक्त हुआ है और वहां इसकी एक और ही काल्पनिक व्युत्पत्ति है—**अ-सुर**, प्रकाशरहित, अ-देव।
2. **माया**—देवका सर्जनशील ज्ञान-संकल्प, चित्-तपस्।

(मित्रावरुणौ) हे मित्र तथा वरुण! (पर्जन्यः) द्युलोककी वृष्टिका देवता (वाचं[1] वदति) अपनी ऐसी भाषा बोलता है जो (सु चित्रां त्विषीमतीम् इरावतीम्) समृद्ध और विविध ज्योति और गतिशक्तिसे पूर्ण है। (मरुतः) प्राणशक्तियोंने (अभ्रा) तुम्हारे मेघोंको (वसत) वेषभूषाके रूपमें पहन लिया है। (सु मायया) पूर्णतया अपने ज्ञानसे ही तुम (द्यां वर्षयतम्) ऐसे द्युलोककी वर्षा करते हो जो (अरुणाम्) उज्ज्वल रक्तवर्णवाला और (अरेपसम्) पापसे रहित है।

7

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम्॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! तुम (विपश्चिता) चेतनामें प्रदीप्त हो। (धर्मणा) देवके विधानसे और (असुरस्य मायया) शक्तिशाली देवके ज्ञानसे तुम (व्रता[2] रक्षेथे) क्रियाविधानोंकी रक्षा करते हो। (ऋतेन) **सत्य**के द्वारा (विश्वं भुवनं वि राजथः) हमारी संभूतिके समस्त लोकपर विशालतासे शासन करते हो। तुम (दिवि) द्युलोकमें (सूर्यम्) सूर्यको और (चित्र्यं रथं) विविध प्रभासे संपन्न रथको (आ धत्थः) स्थापित करते हो।

---

1. यहां हम तूफानके प्रतीकमें 'तन्यवः' शब्दका आंतरिक अर्थ पाते हैं। यह सत्यके शब्दका बहिर्गर्जन है जैसे कि बिजली इसके भावका बाह्य-स्फुरण।
2. **व्रतानि**—आर्योचित या दिव्य क्रियाएँ **'व्रतानि'** कहलाती हैं,—सत्यके उस दिव्य विधानकी क्रियाओंको 'व्रतानि' कहते हैं जिसे मनुष्यमें प्रकट किया जाना है। **दस्यु** या अनार्य, चाहे वह मानव हो या अतिमानव, वह है जो इन दिव्यतर क्रियाओंसे रहित है, अपनी अंधकारयुक्त चेतनामें इनका विरोध करता है और इस संसारमें इनका विध्वंस करनेकी चेष्टा करता है। इसलिए **अंधकारके स्वामी** दस्यु अर्थात् विनाशक कहलाते हैं।

तीसरा सूक्त

ऋ. 5. 64

आनंदधामकी ओर ले जानेवाले

[ऋषि अनंत विशालता और सामंजस्यके **अधिपतियों**का आवाहन करता है, जिनकी भुजाएँ **सत्य** और **आनंद**के सर्वोच्च आत्मिक स्तरका आलिंगन करती हैं ताकि वे उद्‌बुद्ध चेतना और ज्ञानकी अपनी उन भुजाओंको उसकी ओर फैलाएं जिसके फलस्वरूप वह उनका सर्व-आलिंगी आनंद प्राप्त कर सके। **मित्र**के पथसे वह उसके सामंजस्योंके उस हर्षोल्लासकी अभीप्सा करता है जिसमें न घाव है न घात। प्रकाशदायी शब्दकी शक्तिसे सर्वोच्च सत्ताका ध्यान और धारण करता हुआ वह उस भूमिकामें अपनी अभिवृद्धिकी अभीप्सा करता है जो देवोंका उपयुक्त धाम है। दोनों महान् देव उसकी सत्तामें अपने दिव्य बल और बृहत्ताके उस विशाल लोकका सर्जन करें। वे दिव्य प्रकाश और दिव्य शक्तिकी उषामें उसके लिए इस लोकका प्रचुर ऐश्वर्य और परम आनन्द ले आवें।]

1

वरुणं वो रिशादसमृचा मित्रं हवामहे।
परि व्रजेव बाह्वोर्जगन्वांसा स्वर्णरम्॥

(रिशादसं वरुणं) शत्रुके नाशक वरुण और (मित्रं) मित्रका, (वः) इन दोनोंका (ऋचा हवामहे) हम प्रकाशपूर्ण शब्दसे आवाहन करते हैं। उनकी (बाह्वोः) भुजाएं (स्वर्णरम्[1]) **प्रकाश**की शक्तिके लोकको (परि जगन्वांसा) इस प्रकार परिवेष्टित करती हैं (व्रजा-इव) मानो चमकते हुए गोयूथोंके बाड़ेके [परि जगन्वांसा] चारों तरफ डाली हुई हों।

2

ता बाहवा सुचेतुना प्र यन्तमस्मा अर्चते।
शेवं हि जार्यं वां विश्वासु क्षासु जोगुवे॥

1. स्वर्णरम्—'स्वर्' सत्यका सौर लोक है और इसके गोयूथ सौर दीप्तियोंकी किरणें हैं। इसलिए इसकी तुलना चमकती हुई वैदिक गौओंके बाड़ोंसे की गई है।

(अस्मा) उस मनुष्यके प्रति (अर्चते) जो प्रकाशप्रद वाणीसे तुम्हारी अर्चना करता है (ता सुचेतुना[1] बाहवा) अपनी उन जागृत ज्ञानकी भुजाओं-को (प्र यन्तम्) फैलाओ। (वां) तुम दोनोंका (शेवं) आनंद (जार्यं हि) वंदनीय है जो (विश्वासु क्षासु) हमारी सब भूमिकाओंमें[2] (जोगुवे) व्याप्त हो जायगा।

3

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥

(मित्रस्य पथा) मित्र[3]के मार्गसे (यायाम्) मैं चल सकूं (यत् नूनं) जिससे कि मैं इस क्षण ही (गतिम् अश्याम्) अपनी यात्राके लक्ष्यको प्राप्त कर लूं। इसलिए मनुष्य (अस्य प्रियस्य) उस प्रिय मित्रके (शर्मणि सश्चिरे) आनंदके साथ दृढ़तासे संलग्न हो जाते हैं (अहिंसानस्य) जिसमें कोई चोटकी वेदना नहीं है।

4

युवाभ्यां मित्रावरुणोपमं धेयामृचा।
यद्ध क्षये मघोनां स्तोतृणां च स्पूर्धसे॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र! हे वरुण! (ऋचा) प्रकाशदायी शब्दके द्वारा (युवाभ्याम् उपमं) मेरा विचार उस सर्वोत्तमको धारण करे जो तुम्हारी निधि है; ताकि (यत् मघोनां स्तोतृणां च) वह विचार ऐश्वर्यशलियोंके लिए तथा उन मनुष्योंके लिए जो तुम्हारी स्तुति करते हैं, (क्षये स्पूर्धसे ह) प्रचुर ऐश्वर्यके स्वामियोंके धामको प्राप्त करनेकी अभीप्सा करे[5]।

---

1. बाहुओंका विशेषण 'सुचेतुना' (अर्थात् जागृत-ज्ञानरूपी) यह प्रकट करता है कि देवताओंके शरीर और अंगोपांग तथा उनकी अन्य भौतिक संपदाएं—अस्त्र-शस्त्र, रथ, घोड़े—कितने पूर्ण रूपमें प्रतीकात्मक हैं।
2. हमारी सत्ताके सब स्तरोंमें।
3. **मित्र,** जो हमारी उच्चतर दिव्य सत्ताके पूर्ण तथा अक्षुण्ण सामंजस्योंका सर्जन करता है।
4. गति—यह शब्द आज भी मनुष्यके पृथ्वीपर किये गये कार्य या प्रयत्नोंसे प्राप्त आध्यात्मिक या अतिपार्थिव स्थितिके लिए प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु इसका मतलब लक्ष्य या पथकी ओर गति भी हो सकता है: "ऐसी कृपा कर कि मैं अब भी **पथ** प्राप्त कर सकूं, मित्रके पथ पर गति कर सकूं।"
5. अर्थात्, मनुष्योंमें प्रकट होता हुआ वह उनको अपने निज धाम—सत्यके स्तर तक उठा ले जानेका यत्न करेगा।

5

आ नो मित्र सुदीतिभिर्वरुणश्च सधस्थ आ।
स्वे क्षये मघोनां सखीनां च वृधसे॥

(मित्र) हे मित्र! तुम (वरुणश्च) और वरुण (सुदीतिभिः) अपने पूर्ण दानोंके साथ (नः सधस्थे आ) हमारे समान-वासस्थानके लोकमें हमारे पास आओ। (मघोनां स्वे क्षये वृधसे) प्रचुर ऐश्वर्योंके स्वामियों[1]के अपने घरमें वर्धित होनेके लिए तथा (सखीनां च [वृधसे])[1] अपने साथियोंकी वृद्धिके लिए (नः आ) हमारे पास आओ।

6

युवं नो येषु वरुण क्षत्रं बृहच्च बिभृथः।
उरु णो वाजसातये कृतं राये स्वस्तये॥

(वरुण युवं) हे मित्र और वरुण, तुम दोनों (येषु) अपने उन दानोंमें (नः) हमारे पास (क्षत्रं बृहत् च) बल[2] और विशालता (बिभृथः) लाओ। (वाजसातये) प्रचुर ऐश्वर्योंकी विजयके लिए, (राये) आनंदके लिए और (स्वस्तये) हमारी आत्माकी प्रसन्नताके लिए (नः उरु कृतम्) हमारे अन्दर विशाल लोककी रचना करो।

7

उच्छन्त्यां मे यजता देवक्षत्रे रुशद्गवि।
सुतं सोमं न हस्तिभिरा पड्भिर्धावतं नरा बिभ्रतावर्चनानसम्॥

(यजता) हे यज्ञके अधिपतियो! (उच्छन्त्यां) उषाके फूटने पर, (रुशत्-गवि) रश्मिके चमकनेपर (देवक्षत्रे) देवोंकी शक्तिमें (मे आ धावतम्) मेरी तरफ दौड़ते हुए आओ। एवं (नरा हस्तिभिः सुतं सोमं न) मेरे सोमरसकी ओर जो मानो[3] मनुष्योंके हाथोंसे निचोड़कर निकाला गया है, (पड्भिः)

---

1. देवताओं। स्वर् देवताओंका "अपना घर" है।
2. सत्य-सचेतन सत्ताकी दिव्य शक्ति, जिसे अगली ऋचामें 'देवताओंकी शक्ति' कहा गया है। 'बृहत्' शब्दसे उस स्तर या 'विशाल लोक' का सतत वर्णन किया गया है जो **सत्यम्, ऋतम्, बृहत्** है।
3. "मानो" इस शब्दका प्रयोग, जैसा कि प्रायः देखनेमें आता है, यही दिखलाता है कि सोमरस और उसका निष्पीडन रूपक और प्रतीक हैं।

आ धावतम्) पैरोंसे रौंधते हुए अपने घोड़ोंके साथ द्रुतवेगसे आओ। (बिभ्रतौ) हे दानोंके वहन करनेवाले देवो! (अर्चनानसम्[1]) प्रकाशके पथिककी ओर आओ।

1 अर्चनानस—वह जो शब्दसे जनित प्रकाशकी ओर यात्रा करता है। यह इस सूक्तके अत्रिवंशीय ऋषिका अर्थगर्भित नाम है।

वौथा सूक्त

ऋ. 5. 65

यात्राके अधिपति

[ऋषि हमारी सत्तामें अवस्थित, सत्यके दो महान् संवर्धकोंका आवाहन करता है ताकि वे हमारे सच्चे अस्तित्वकी उन प्रचुर सम्पदाओंकी ओर, उसकी उस विशालताकी ओर हमारी यात्रामें हमारा नेतृत्व करें, जिन्हें वे हमारी वर्तमान अज्ञानमय एवं अपूर्ण मानसिक सत्ताकी संकुचित सीमाओंमेंसे हमें निकालकर, हमारे लिए अधिकृत करते हैं।]

1

यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः।
वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः ।।

(यः) जो (चिकेत) ज्ञानके प्रति जागृत हो गया है (सः सुक्रतुः) वह संकल्पमें पूर्ण हो जाता है, (सः) उसे (देवत्रा) देवोंके बीच (नः) हमारी पुकार (ब्रवीतु) पहुँचानें दो। (दर्शतः वरुणः) अन्तर्दर्शनसे संपन्न **वरुण** (वा) और (मित्रः) **मित्र** (यस्य गिरः) उसके स्तुतिवचनोंमें (वनते) आनंद लेते हैं।

2

ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने ।।

(ता हि राजाना) वे ऐसे **सम्राट्** हैं जो (श्रेष्ठवर्चसा) प्रकाशमें अत्यधिक तेजस्वी हैं, (दीर्घश्रुत्तमा) सुदूर श्रवण[1]की शक्तिसे संपन्न हैं। (ता) वे (जनेजने) प्राणी-प्राणीमें (सत्पती) सत्ताके स्वामी हैं, (ऋत-वृधा) हमारे अन्दर **सत्यके** संवर्धक हैं क्योंकि (ऋतवाना) **सत्य** उनका ही है।

3

ता वामियानोऽवसे पूर्वा उप ब्रुवे सचा।
स्वश्वासः सु चेतुना वाजाँ अभि प्र दावने ।।

---

1. उनके पास दिव्य दृष्टि और दिव्य श्रुति हैं, **प्रकाश** और **शब्द** हैं।

(इयानः) पथपर यात्रा करता हुआ मैं (अवसे) अपनी अभिवृद्धिके लिए (ता वाम्) उन तुम दोनोंका (सचा उप ब्रुवे) एक साथ आवाहन करता हूँ जो (पूर्वा) आदि और सनातन हो। जैसे ही {सु-अश्वासः) पूर्ण अश्वों[1] के साथ हम यात्रा करते हैं, हम उन्हें जो (सु चेतुना) ज्ञानमें परिपूर्ण हैं (वाजान् अभि प्र दावने) प्रचुर ऐश्वर्योंके दानके लिए (उप ब्रुवे) पुकारते हैं।

4

मित्रो अंहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते।
मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः॥

(मित्रः) **मित्र** (अंहोः[2] चित् आत्) हमारी संकुचित सत्तामेंसे भी हमारे लिए (उरु) विशालताको (वनते) जीत लेता है। (क्षयाय गातुं वनते) वह हमारे घरकी ओर जानेवाले मार्गको जीतता है।

(हि) क्योंकि (मित्रस्य सुमतिः अस्ति) **मित्र**का मन तब पूर्णतासे संपन्न होता है जब कि वह (विधतः) सबका सामंजस्य करता है और (प्रतूर्वतः) सब बाधाओंको पार करता हुआ लक्ष्यके प्रति शीघ्रतासे आगे बढ़ता है।

5

वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे।
अनेहसस्त्वोतयः सत्रा वरुणशेषसः॥

(वयं) हम (मित्रस्य अवसि स्याम) **मित्रदेव**के उस संवर्धनमें निवास करें जो हमें (सप्रथस्तमे) पूर्ण विस्तार प्रदान करता है। तब (वरुण-शेषसः) **विशालता**के **अधिपति**की संतानें (सत्रा) सदा (त्वा-ऊतयः) तुझसे पोषित होती हुई (अनेहसः) आघात और पापसे मुक्त हो जाती हैं।

6

युवं मित्रेमं जनं यतथः सं च नयथः।
मा मघोनः परि ख्यतं मो अस्माकमृषीणां गोपीथे न उरुष्यतम्॥

---

1. अश्व यहाँ सदाकी भाँति क्रियाशील शक्तियों एवं प्राणशक्तियों आदिका प्रतीक है, जिनके द्वारा हमारा संकल्प, हमारे कर्म और हमारी अभीप्सा अग्रसर होते हैं।
2. **अंहोः**—पीड़ा और बुराईसे भरी संकीर्णता हमारे सीमित मनकी अप्रकाशित स्थिति है। **मित्रदेव**की कृपासे प्राप्त पूर्ण मनःसत्ता—**सुमति**—विशालतामें हमारा प्रवेश कराती है।

(मित्र) हे **मित्रदेव**! (युवं) तुम दोनों (इमं जनं) इस मानवप्राणीको (यतथः) यात्रा करनेके लिए अपने मार्गपर लगाते हो (च) और (सं नयथः) उसका पूरी तरह पथप्रदर्शन करते हो। (अस्माकं मघोनः मा परि ख्यतम्) हमारे ऐश्वर्यके अधिपतियोंके चारों ओर अपनी बाड़ मत लगाओ और ([अस्माकम्] ऋषीणां मो [परि ख्यतम्]) हमारे सत्यके द्रष्टाओंके चारों ओर भी अपनी बाड़ मत लगाओ। (गो[1]पीथे) हमारे प्रकाश (सुधा)के पानमें (नः उरुष्यतम्) हमारी रक्षा करो।

---

1. **गो—प्रकाश** अथवा **गाय**। यहाँ इस शब्दका अभिप्राय **प्रकाश**की **माता**का "दूध" या सार (गोरस) है।

पांचवां सूक्त

ऋ. 5 66

आत्मसाम्राज्यके प्रदाता

[ऋषि **वरुण** और **मित्रका** आवाहन करता है,—वरुण जो सत्यका विशाल रूप है, मित्र जो प्रिय है और **सत्यके** सामंजस्यों तथा बृहत् आनंदका देवता है। वे हमारे लिए सच्ची और अनंत सत्ताकी पूर्ण शक्तिको जीतते हैं, ताकि हमारी अपूर्ण मानवीय प्रकृतिको अपनी दिव्य क्रियाओंकी प्रतिमामें रूपांतरित् कर सकें। तब **सत्यका** सौर **द्युलोक** हममें प्रकट होता है, उसके प्रकाशके गोयूथोंकी विशाल चरागाह हमारे रथोंकी यात्राका क्षेत्र बन जाती है, द्रष्टाओंके उच्च विचार, उनका विशुद्ध विवेक, उनकी शीघ्रगामी प्रेरणाएँ हमारी हो जाती हैं, हमारी अपनी भूमि तक उस विशाल **सत्यका** लोक बन जाती है। क्योंकि तब वहाँ एक पूर्ण गति होती है, पाप-तापके इस अंधकार-का अतिक्रमण हो जाता है। हम आत्मसाम्राज्य प्राप्त कर लेते हैं जो हमारी अनंत सत्ताकी समृद्ध, पूर्ण और विशाल उपलब्धि है।]

1

आ चिकितान सुक्रतू देवौ मर्त रिशादसा।
वरुणाय ऋतपेशसे दधीत प्रयसे महे॥

(चिकितान मर्त्त) हे ज्ञानके प्रति जागृत मर्त्य! तू (देवौ आ) उन देवोंका अपने प्रति आवाहन कर जो (सुक्रतू) संकल्पमें पूर्ण हैं और (रिशा-दसा) तेरे शत्रुओंके विध्वंसक हैं। (वरुणाय) उस वरुणके प्रति (दधीत) अपने विचारोंको प्रेरित कर जिसका (ऋतपेशसे) स्वरूप सत्य ही है और (महे प्रयसे [दधीत]) परम आनंद[1]की ओर अपने विचार प्रेरित कर।

---

1. **मित्र**द्वारा प्रदत्त वह तृप्ति जो **सत्य**-स्तरके विशाल आनंदका आधार स्थापित करती है। अनंतताका देवता वरुण सत्यका विशाल रूप प्रदान करता है और सामंजस्योंका देवता **मित्र सत्य**की शक्तियोंका पूर्ण आनंद, उसका पूर्ण सामर्थ्य।

2

ता हि क्षत्रमविह्रुतं सम्यगसुर्यमाशाते।
अध व्रतेव मानुषं स्वर्ण धायि दर्शतम्॥

(हि) क्योंकि (ता) वे ही (अविह्रुतम् असुर्यं क्षत्रं) अविकृत बल और पूर्ण सामर्थ्यको (सम्यक् आशाते) अच्छी तरह प्राप्त करते हैं। (अध) और तब (मानुषं) तेरी मानव सत्ता ऐसी हो जाएगी मानो (व्रता-इव) इन देवोंकी क्रियाएँ हों, (दर्शतं स्वः[1] न धायि) मानो प्रकाशका दर्शनीय द्युलोक तेरे अंदर स्थापित हो गया हो।

3

ता वामेषे रथानामुर्वीं गव्यूतिमेषाम्।
रातहव्यस्य सुष्टुतिं दधृक् स्तोमैर्मनामहे॥

इसलिये, हे मित्रावरुण, (ता वाम् एषे) उन प्रसिद्ध तुम दोनोंकी मैं कामना करता हूँ। (एषां रथानाम्) इन रथोंके दौड़नेके लिए मैं (उर्वीं गव्यूतिम् एषे) तुम्हारी गोयूथोंकी विस्तृत चरागाह चाहता हूँ। (रात-हव्यस्य) जब देव हमारी मुक्त हस्तोंसे प्रदत्त भेंटोंको ग्रहण करता है तब (स्तोमैः सुष्टुतिं दधृक् मनामहे) हमारे मन अपने स्तोत्रोंके द्वारा उसकी पूर्ण स्तुतिको प्रबल रूपसे धारण कर लेते हैं।

4

अधा हि काव्या युवं दक्षस्य पूर्भिरद्भुता।
नि केतुना जनानां चिकेथे पूतदक्षसा॥

(अध हि) तब निश्चयसे, (अद्भुता) हे सर्वातीत देवो! (युवं) तुम (दक्षस्य पूर्भिः) प्रकाशयुक्त विवेकके पूर्ण प्रवाहोंको लाकर (काव्या) द्रष्टा-की प्रज्ञाओंको अधिगत करते हो। (पूतदक्षसा केतुना) परिपूत विवेकवाले अनुभवके द्वारा (जनानाम्) इन मानवीय जीवोंके लिये तुम (निचिकेथे) ज्ञानको प्रत्यक्ष करते हो।

5

तदृतं पृथिवि बृहच्छ्रवएष ऋषीणाम्।
त्र्यसानावरं पृथ्वति क्षरन्ति यामभिः॥

---

1. अथवा "दृष्टिशक्ति-संपन्न स्वर्", प्रकाशका लोक जहाँ सत्यका पूर्ण दर्शन विद्यमान है।

(पृथिवि) हे विशाल **पृथिवि,** (ऋषीणां श्रवः-एषे) ऋषियोंके अन्तः-प्रेरित ज्ञानकी गतिके लिये (बृहत्) वह **विशालता** ! (तत् ऋतम्) वह **सत्य** ! (पृथु अरं ऋयसानौ) तुम दोनों विशालतासे, पूरी क्षमताके साथ गति करते हो। हमारे रथ (याममिः) अपनी यात्राओंमें (अति क्षरन्ति) धाराकी तरह गति करते हुए परे[1] तक पहुंच जाते हैं।

6

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

(मित्र) हे मित्र, (यत् वाम्) जब तुम दोनों (ईय-चक्षसा) सुदूरगामी, समुद्रपारगामी दृष्टिसे संपन्न होते हो (च) और (वयं सूरयः) हम ज्ञान-प्रदीप्त द्रष्टा होते हैं, तब हम (स्वराज्ये आ यतेमहि) उस आत्मसाम्राज्यकी अपनी यात्राके प्रयासमें लक्ष्य तक पहुंच जायं, जो स्वराज्य[2] (व्यचिष्ठे) विस्तारसे चारों ओर फैला हुआ है और (बहुपाय्ये) अपनी अनेकानेक सत्ताओं पर शासन करनेवाला है।

---

1. अंधकार और शत्रुओंसे तथा निम्न सत्ताके पाप-तापसे परे।
2. **स्वराज्य, स्वाराज्य और साम्राज्य,** अन्दर और बाहर पूर्ण साम्राज्य, अपनी आन्तरिक सत्ताका शासन और अपने वातावरण व परिस्थितियों पर प्रभुत्व—यह था वैदिक ऋषियोंका आदर्श। यह केवल अपने मर्त्य मनसे परे अपनी सत्ताके प्रकाशपूर्ण **सत्य**की ओर, अपने अस्तित्वके आध्यात्मिक स्तर पर विद्यमान अतिमानसिक अनंतताकी ओर आरोहण करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

छठा सूक्त

ऋ. 5. 67

धारक और रक्षक देव-युगल

[**मित्र** और **वरुण** अतिचेतन सत्ताकी उस विशालताको पूर्ण करते हैं जो यज्ञका लक्ष्य है। वे उसकी शक्तिके पूर्ण प्राचुर्यसे संपन्न हैं। जब वे उस ज्योतिर्मय मूलस्रोत और धाम तक पहुंचते हैं तो वे यज्ञिय कार्यके लिए प्रयास करनेवाले मनुष्योंको उसकी शान्ति और आनंद देते हैं। उस लक्ष्यकी ओर जाते हुए वे मर्त्यकी उसके उन अध्यात्म-सत्ताके शत्रुओंसे रक्षा करते हैं जो उसकी अमरताके मार्गमें बाधा डालना चाहते हैं; क्योंकि वे अपनी उच्चतर क्रियाओं और उच्चतर चेतनाके उन स्तरोंके साथ दृढ़तासे संसक्त रहते हैं जिनके साथ उन क्रियाओंका सम्बन्ध है और जिनकी ओर मनुष्य अपने आरोहणमें ऊपर उठता है। विश्वव्यापी और सर्वज्ञ वे उन शत्रुओंका विध्वंस कर देते हैं जो अहंकार और प्रतिबंधक अज्ञानकी शक्तियाँ हैं। अपनी सत्तामें सच्चे वे देव ऐसी शक्तियाँ हैं जो प्रत्येक व्यक्तिगत सत्तामें **सत्य**को स्पर्श करती और अधिकृत करती हैं। यात्रा और युद्धके नेता वे हमारे संकीर्ण और आर्त मर्त्यभावमेंसे भी उस उच्चतर चेतनाकी विशालताका सर्जन करते हैं। यही है वह सर्वोच्च सत्ता जिसके लिए अत्रि-ऋषियोंका विचार अभीप्सा करता है और जिस तक वह विचार मानव आत्मा द्वारा अधिष्ठित "शरीरों"में महान् देवों—**मित्र, वरुण** तथा **अर्यमा**को प्रतिष्ठित करके पहुंचता है।]

I

बळित्था देव निष्कृतमादित्या यजतं बृहत्।
वरुण मित्रार्यमन् वर्षिष्ठं क्षत्रमाशाथे॥

(देवा) हे देवताओ! (आदित्या) हे अनन्त **माता अदिति**के तुम दो पुत्रो! (बट्) सचाई यह है कि (यजतं बृहत्) वह **विशालता** जिसके लिये हम यज्ञ करते हैं (इत्था निष्कृतम्) तुम्हारे द्वारा यथावत् पूर्ण की हुई है। (वरुण मित्र अर्यमन्) हे वरुण! हे मित्र! हे अर्यमन्! (वर्षिष्ठं क्षत्रम् आशाथे) तुम इसकी अधिक-से-अधिक विपुल शक्तिको धारण करते हो।

2

आ यद् योनिं हिरण्ययं वरुण मित्र सदथः।
धर्तारा चर्षणीनां यन्तं सुम्नं रिशादसा॥

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! (चर्षणीनां धर्त्तारा) मनुष्योंको उनके प्रयासमें आश्रय देनेवालो! (रिशादसा) शत्रुका संहार करनेवालो! (यत्) जब तुम (हिरण्ययं योनिम्) अपने सुवर्णमय प्रकाशके आदिधाममें (आ सदथः) प्रवेश करते हो, तब तुम उन्हें (सुम्नं यन्तम्) आनंद प्राप्त कराओ।

3

विश्वे हि विश्ववेदसो वरुणो मित्रो अर्यमा।
व्रता पदेव सश्चिरे पान्ति मर्त्यं रिषः॥

(वरुणः मित्रः अर्यमा) वरुण, मित्र और अर्यमा (हि) निश्चय ही (विश्वे) विश्वव्यापी और (विश्ववेदसः) सर्वज्ञ हैं। (व्रता सश्चिरे) अपनी क्रियाओंके विधानमें वे दृढ़ रहते हैं, (पदा-इव) उसी तरह जैसे कि वे अपने उन स्तरोंपर भी अडिग रहते हैं जिनपर वे पहुंचते हैं। वे (मर्त्यम्) मर्त्य मनुष्यकी (रिषः पान्ति) उसके शत्रुओंसे रक्षा करते हैं।

4

ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जनेजने।
सुनीथासः सुदानवोंऽहोश्चिदुरुचक्रयः॥

(ते हि सत्याः) क्योंकि वे अपनी सत्तामें सच्चे हैं इसलिए वे (जने-जने ऋतस्पृशः) प्राणी-प्राणीमें सत्यको स्पर्श करते हैं और (ऋतवानः) सत्यको धारण किए रहते हैं। (सुनीथासः) यात्राके पूर्ण पथप्रदर्शक, (सुदानवः) युद्धके लिए पूर्ण-शक्तिसंपन्न वे (अंहोः चित्) इस संकुचित सत्तामेंसे भी (उरुचक्रयः) विशालता का सर्जन करते हैं।

5

को नु वां मित्रास्तुतो वरुणो वा तनूनाम्।
तत्सु वामेषते मतिरत्रिभ्य एषते मतिः॥

(मित्र) हे मित्र! (वां कः वरुणः वा) तुम दोनोंमेंसे वह कौन है, तू या वरुण, जो (तनूनाम्) हमारे शरीरों[1]में (अस्तुतः नु) स्तुति द्वारा

1. केवल भौतिक शरीर नहीं; आत्मा यहाँ पांच कोषों या शारीरिक आवरणोंमें निवास करती है।

प्रतिष्ठित नहीं हुआ? (मतिः) हमारा विचार (वाम्) तुम दोनोंसे (तत् सु एषते) पूर्णतया **उस परमतत्त्वको** चाहता है, (अत्रिभ्यः[1] मतिः [तत्] एषते) **भोक्ताओंके** लिए हमारा **विचार उसीकी** अभिलाषा करता है।

1. **अत्रि**—शाब्दिक अर्थ है भोक्ता; इस शब्दका अर्थ **यात्री** भी हो सकता है।

सातवाँ सूक्त

ऋ. 5. 68

महान् शक्तिके अधिपति

[**मित्र** और **वरुण** **सत्य**की महान् क्षात्रशक्तिको धारण किये हुए हैं, अतः वे हमें उस **सत्य**की विशालता तक ले जाते हैं। उसी शक्तिसे वे सम्राट् के समान सबपर शासन करते हैं। वे **सत्य**की निर्मलताओंसे संपन्न हैं और उनकी शक्तियां सब देवोंमें प्रकट होती हैं। इसलिए मित्र और वरुणको इन देवोंमें अपनी शक्ति स्थापित करनी चाहिये ताकि मानव परम आनन्दको और द्यावापृथिवीमें निहित **सत्य**की संपदाको अधिकृत कर सके। वे **सत्य**के द्वारा **सत्य**को प्राप्त करते हैं; क्योंकि वे सत्यके उस प्रेरणापूर्ण विवेकको रखते हैं जो ज्ञान तक सीधा जाता है। इसलिये **अज्ञान**के अनिष्टोंमें गिरे बिना वे दिव्य भावसे वर्धित होते हैं। उस शक्तिशाली प्रेरणाके अधिपति होते हुए वे मर्त्यपर ज्योतिर्मय वर्षाके रूपमें द्युलोकोंको उतारते हैं और विशालताको अपने एक गृहके रूपमें अधिकृत कर लेते हैं।]

1

प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा।
महिक्षत्रावृतं बृहत्॥

(वः) तुम सब (मित्राय वरुणाय) **मित्र** और **वरुण**के प्रति (गिरा) उस वाणीसे (प्र गायत) स्तुतिगीत गाओ जो (विपा) प्रकाश देती है; क्योंकि (महिक्षत्रौ) वे उस महान् शक्तिसे संपन्न हैं और (ऋतं बृहत्) **सत्य** और **बृहत्** उनका ही है।

2

सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च।
देवा देवेषु प्रशस्ता॥

(उभा) वे, हां वे दोनों, (मित्रः च वरुणः च) **मित्र** और **वरुण** (सम्राजा) सर्वशासक हैं, (घृतयोनी) निर्मलताके गृह हैं। वे (देवा) ऐसे देव हैं (या) जो (देवेषु प्रशस्ता) देवोंके अन्दर स्तुतिवचन द्वारा प्रकट किये गए हैं।

3

ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य।
महि वां क्षत्रं देवेषु॥

इसलिये (ता) ऐसे तुम दोनों (नः) हमें (दिव्यस्य पार्थिवस्य) द्युलोक और पृथ्वीलोकके (महः रायः) महान् आनंद[1]-ऐश्वर्य प्राप्त करानेके लिए (शक्तम्) अपनी शक्ति लगाओ। क्योंकि (देवेषु) देवोंमें (वां क्षत्रं महि) तुम्हारी शक्ति महान् है।

4

ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते।
अद्रुहा देवौ वर्धेते॥

(ऋतेन) सत्यके द्वारा तुम (ऋतं) सत्यके ज्ञानको (सपन्त) प्राप्त करते हो। तुम (इषिरं दक्षम्) प्रेरक-शक्ति[2]के विवेकको (आशाते) धारण किए हुए हो। (देवौ) हे देवो! (अद्रुहा वर्धेते) तुम दोनों बढ़ते हो और कभी हिंसित नहीं होते।

5

वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः।
बृहन्तं गर्तमाशाते॥

(वृष्टि-द्यावा) द्युलोकको वर्षामें परिणत करते हुए, (रीति-आपा) प्रवाहशील गतिके विजेता (दानुमत्याः इषः पती) इस शक्तिपूर्ण प्रेरणाके स्वामी तुम (बृहन्तं गर्तम् आशाते) विशाल गृहको अधिकारमें कर लेते हो।

---

1. विशाल **सत्यचेतना**का वह आनंद या सुखद संपदा जो न केवल हमारी चेतनाके उच्चतर मानसिक स्तरोंमें अपितु हमारी भौतिक सत्तामें भी आविर्भूत है।
2. सीधी-सरल प्रेरणा जिसे देव धारण किये हुए हैं। मनुष्य अज्ञानसे **सत्य**-की ओर अज्ञान ही के सहारे गति करता हुआ एक वक्रिल और डांवा-डोल गतिका अनुसरण करता है। उसका विवेक असत्यके कारण विक्षुब्ध हो जाता है और वह अपने विकासमें निरन्तर ठोकरें खाता हुआ पाप और तापमें जा गिरता है। अपने अन्तरमें देवोंके संवर्धन द्वारा वह बिना ठोकर खाए, बिना दुःख-पीड़ाके **सत्य**से अधिक विशाल सत्यकी ओर सीधे और हर्षोल्लासके साथ गति करनेमें समर्थ होता है।

आठवाँ सूक्त

ऋ. 5. 69

प्रकाशमय लोकोंके धारक

[ऋषि **मित्र** और **वरुण**का सत्ताके लोकों या स्तरोंके धारकोंके रूपमें आवाहन करता है, विशेषकर उन तीन प्रकाशमय लोकोंके धर्त्ताओंके रूपमें जिनमें त्रिविध मानसिक, त्रिविध प्राणिक, त्रिविध भौतिक स्तर अपनी सत्ताके प्रकाशको और अपनी शक्तियोंके दिव्य विधानको पा लेते हैं। उनके द्वारा आर्य योद्धाका बल बढ़ जाता है और वह उस अविनश्वर विधानमें रक्षित रहता है। प्रकाशमय लोकोंसे सत्यकी नदियाँ अपने आनंदके फलके साथ अवतरित होती हैं। उनमेंसे प्रत्येकमें एक ज्योतिःस्वरूप **पुरुष सत्य**की त्रिविध विचार-चेतनाके रूपको उर्वर बनाता है। ये लोक जो आत्माके ज्योतिर्मय दिवसका निर्माण करते हैं, मनुष्यमें दिव्य और अनंत चेतनाको स्थापित करते ह और उसमें उस दिव्यशक्ति और सक्रियताको स्थापित करते हैं जिनके द्वारा हमारी सत्ताकी विस्तृत विश्वमयतामें समृद्ध आनंद और देवत्वका निर्माण साधित होता है। प्राणिक और भौतिक सत्ताके साधारण जीवनमें दिव्य क्रियाएं देवोंके द्वारा कुंठित और सीमित कर दी जाती हैं। परन्तु जब **मित्र** और **वरुण** हमारे अन्दर ज्योतिर्मय लोकोंको धारण करते हैं जिनमें इन क्रियाओंमेंसे प्रत्येक अपने सत्य और शक्तिको प्राप्त कर लेती है, तब वे सदाके लिए पूर्ण और दृढ़ हो जाती हैं।]

1

त्री रोचना वरुण त्रीँरुत द्यून् त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि।
वावृधानावमतिं क्षत्रियस्यानु व्रतं रक्षमाणावजुर्यम्॥

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! तुम दोनों (त्री रोचना) प्रकाशके तीन लोकोंको, (त्रीन् द्यून्) तीन द्युलोकोंको (उत) और (त्रीणि रजांसि) तीन अंतरिक्ष-लोकोंको (धारयथः) धारण करते हो। तुम दोनों (क्षत्रियस्य अमतिं) योद्धाके बलको (ववृधानौ) बढ़ाते हो, (अजुर्यं व्रतम् अनु) अपनी क्रियाके अविनश्वर विधानके अनुसार (रक्षमाणौ) उसकी रक्षा करते हो।

2

इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद् वां सिन्धवो मित्र दुह्रे ।
त्रयस्तस्थुर्वृषभासस्तिसृणां धिषणानां रेतोधा वि द्युमन्तः ।।

(वरुण मित्र) हे वरुण ! हे मित्र ! (वां) तुम्हारी (धेनवः[1]) पोषक गौएं (इरावतीः) धाराओंसे संपन्न हैं, (वां सिन्धवः) तुम्हारी नदियां (मधुमत् दुह्रे) अपने मधुमय रसको स्रावित करती हैं। वहां (त्रयः द्युमन्तः वृषभासः[2]) तीन प्रकाशपूर्ण वृषभ (वि तस्थु॰) विशालताओंमें स्थित हैं और (तिसृणां धिषणानां रेतोधाः) तीन विचारोंमें अपना बीज डालते हैं।

3

प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य ।
रायेमित्रावरुणा सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शं योः ।।

(प्रातः) प्रभातवेलामें, (मध्यंदिने) मध्याह्नकालमें तथा (सूर्यस्य उदिता) सूर्यके उदयके समय मैं (अदितिं देवीं) असीम दिव्य **माता**को (जोहवीमि) पुकारता हूँ। मैं (मित्रावरुणा) मित्र और वरुणसे (सर्वतातां[3]) वैश्व सत्ताके निर्माणमें (तोकाय तनयाय) सर्जन और प्रजनन[4]के लिए और (राये) आनन्द-ऐश्वर्यके लिए (शं योः) शान्ति और गतिकी (ईळे) प्रार्थना करता हूँ।

4

या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य ।
न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि ।।

(या) [जो तुम दोनों] क्योंकि तुम दोनों (रोचनस्य रजसः) अंतरिक्षके ज्योतिर्मय क्षेत्रके (धर्तारा) धारण करनेवाले हो (उत) और (पार्थिवस्य

---

1. **धेनवः**—ये **सत्य**की नदियां हैं, जैसे **गावः**, प्रकाशमय गौएं, इसके प्रकाशकी किरणें हैं।
2. **वृषभ** है **पुरुष,** आत्मा या सचेतन सत्ता ; **गौ** है **प्रकृति,** चेतनाकी शक्ति। देवत्वका, भागवत **पुत्र**का सर्जन, सत्य सत्ताकी त्रिविध प्रकाशमय आत्माके द्वारा त्रिविध प्रकाशमय चेतनाको उर्वर करनेसे साधित होता है, जिसके फलस्वरूप वह उच्चतर चेतना मनुष्यमें सक्रिय, सर्जनशील और फलप्रद बन जाती है।
3. यज्ञका कार्य वैश्वसत्ता और दिव्यसत्ताके निर्माण या "विस्तार"में, **सर्वतातिं** और **देवतातिमें**, निहित है।
4. **पुत्र**का, मानव सत्ताके भीतर निर्मित देवत्वका सर्जन एवं प्रजनन।

[रजसः] धर्तारा)] पृथ्वीके प्रकाशमय क्षेत्रके धारक हो, इसलिए (आदित्या दिव्या) हे अनंततासे दिव्य पुत्रो ! (मित्रावरुण) हे मित्र ! हे वरुण ! (वां व्रतानि) तुम दोनोंकी क्रियाओंको जो (ध्रुवाणि) सदाके लिए दृढ़ हैं (अमृताः देवाः) अमर देव (न आ मिनन्ति) क्षति नहीं पहुंचाते ।[1]

1. अर्थात्, प्राणिक-स्तर और भौतिक-स्तरकी साधारण क्रियाएं अप्रकाशित हैं, अज्ञान और दोषसे पूर्ण हैं, इसलिए उनमें हमारी दिव्य और असीम सत्ताका विधान कुंठित और विकृत हो जाता है, और साथ ही वह सीमाओंके भीतर और विकारोंके साथ कार्य करता है। यह पूर्ण, स्थिर और निर्दोष रूपमें केवल तभी प्रकट होता है जब अतिमानसिक सत्य स्तर मित्र और वरुणकी विशुद्ध विशालता और सामंजस्यके द्वारा हमारे अन्दर धारण किया जाता है, और वह प्राणिक तथा भौतिक चेतनाको अपनी शक्ति तथा प्रकाश में उठा ले जाता है।

नौवां सूक्त

ऋ. 5. 70

सत्ताके संवर्धक और उद्धारक

[ऋषि हमारी सत्ता और उसकी शक्तियोंके उस विशाल व बहुविध पोषणकी कामना करता है जिसे **वरुण** और **मित्र** प्रदान करते हैं, साथ ही वह यह भी कामना करता है कि वे दिव्य स्थितिकी समग्र प्रतिष्ठाकी ओर हमारे बलको पूर्ण रूपसे प्रेरित करें। वह उनसे प्रार्थना करता है कि वे **विध्वंसकों**से उसकी रक्षा व उद्धार करें एवं उनके विरोधी नियंत्रणको हमारे नाना कोषों व देहोंमें देवत्वकी वृद्धिको कुंठित करनेसे रोकें।]

1

पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नूनं वां वरुण।
मित्र वंसि वां सुमतिम् ॥

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! (वाम्) तुम दोनोंका (अवः) हमारी सत्ताका पोषण, (चित् हि नूनम्) अब निश्चयपूर्वक, (उरुणा) विशालता[1]के कारण (पुरु अस्ति) बहुविध है। (वां सुमतिं) तुम दोनोंके मनकी पूर्णताका (वंसि) मैं उपभोग करना चाहूंगा।

2

ता वां सम्यगद्रुह्वाणेषमश्याम धायसे।
वयं ते रुद्रा स्याम ॥

हे मित्र और वरुण! (अद्रुह्वाणा) तुम वे हो जो हमें द्रोह व अनिष्ट[2] के हाथोंमें नहीं सौंपते। (धायसे) अपने आधारकी स्थापनाके लिए हम

---

1. अपने आध्यात्मिक तत्त्वोंके बहुविध ऐश्वर्य सहित असीम **सत्य**-भूमिकाकी विशालता। इसकी शर्त है दिव्य प्रकृतिकी अपने निजी विचार-मानस और चैत्य मनकी पूर्णता—**सुमति**—जो देवोंकी कृपाके रूपमें मनुष्यको प्राप्त होती है।
2. दस्युओंके, हमारी सत्ताके विनाशकों और उसकी दिव्य उन्नतिके शत्रुओंके तथा **सीमा** और **अज्ञान**के पुत्रोंके किए हुए अनिष्ट।

(ता वां) उन तुम दोनोंकी (सम्यक् इषम्) प्रेरणाकी पूर्णशक्तिका (अश्याम) उपभोग करें। (रुद्रा) हे तुम प्रचंड देवो! (वयं ते स्याम) हम ऐसे हो जाएं।

3

पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा।
तुर्याम दस्यून् तनूभिः॥

(रुद्रा) हे प्रचंड देवताओ[1]! तुम (पायुभिः) अपने रक्षणोंसे (नः पातम्) हमारी रक्षा करो (उत) और (सुत्रात्रा) अपने पूर्ण परित्राणसे (त्रायेथाम्) हमारा उद्धार करो। (दस्यून्) विध्वंस करनेवाले शत्रुओंको हम (तनूभिः) अपनी शारीरिक सत्ता द्वारा (तुर्याम) चीरकर पार कर जाएं।

4

मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः।
मा शेषसा मा तनसा॥

(अद्भुतक्रतू) हे संकल्पशक्तिमें सर्वातीत देवो! (तनूभिः) अपनी शारीरिक सत्ताओंमें हम (कस्य) किसीका भी[2] (यक्षम्) नियंत्रण (मा भुजेम) सहन न करें, (मा शेषसा) न अपनी सन्ततिमें, (मा तनसा) नाहीं अपनी रचनामें [यक्षं भुजेम] किसीका नियंत्रण सहन करें।

---

1. **रुद्र** देवो। रुद्र **भगवान्** है जो हिंसा और युद्धके द्वारा होनेवाले हमारे विकासका स्वामी है। वह **अंधकार**के **पुत्रों**का तथा उनके द्वारा मनुष्यमें निर्मित की गई बुराईका घातक और विध्वंसक है। **वरुण** और **मित्र** दस्युओंके विरुद्ध ऊर्ध्वमुख संघर्षमें सहायकके रूपमें इस **रुद्रत्व**को धारण करते हैं।
2. अर्थात् **विनाशकों**मेंसे किसी का भी।

दसवां सूक्त

ऋ. 5. 71

यज्ञमें आवाहन

[ऋषि उन **वरुण** और **मित्र**का सोम-हविके आस्वादनके लिए आवाहन करता है जो शत्रुओंके विध्वंसक हैं, हमारी सत्ताको महान् बनानेवाले हैं एवं अपने प्रभुत्व और प्रज्ञाके द्वारा हमारे विचारोंके सहायक हैं।]

1

आ नो गन्तं रिशादसा वरुण मित्र बर्हणा।
उपेमं चारुमध्वरम् ॥

(वरुण मित्र) हे वरुण ! हे मित्र ! (रिशादसा) हे शत्रुका संहार करनेवाले देवो[1] ! (बर्हणा) अपनी महान् बनानेवाली शक्तिके साथ (नः इमं चारुम् अध्वरम्) हमारे इस आनन्दपूर्ण यज्ञमें (उप आगन्तम्) हमारे पास आओ।

2

विश्वस्य हि प्रचेतसा वरुण मित्र राजथः।
ईशाना पिप्यतं धियः ॥

(वरुण मित्र) हे वरुण ! हे मित्र ! तुम (हि) निश्चयसे (विश्वस्य राजथः) प्रत्येक मनुष्यके शासक हो और (प्रचेतसा) मेधावी विचारक हो। तुम (ईशाना) सबके स्वामी हो, (धियः पिप्यतम्) तुम हमारे विचारोंका पोषण करो।

3

उप नः सुतमा गतं वरुण मित्र दाशुषः।
अस्य सोमस्य पीतये ॥

---

1. हमारी सत्ता, संकल्प और ज्ञानको कलुषित और क्षीण बनानेवाले शत्रुओं और घातकोंका विध्वंस करके वे हमारे अन्दर "बृहत् **सत्य**"की अपनी विशिष्ट विशालताओंका संवर्धन करते हैं। जब वे शासन करते हैं तो **दस्युओं**का नियंत्रण हट जाता है और **सत्य**का ज्ञान हमारे विचारोंमें बढ़ जाता है।

(वरुण मित्र) हे वरुण ! हे मित्र ! (नः सुतम्) हमारी सोमकी भेंट ग्रहण करनेके लिए (दाशुषः उप आ गतं) आत्मादानीके यज्ञमें पधारो, ताकि (अस्य सोमस्य पीतये) तुम इस सोममधुका पान कर सको।

ग्यारहवाँ सूक्त

ऋ. 5. 72

यज्ञमें आवाहन

[ऋषि **मित्र** और **वरुण**को यज्ञमें ऐसे देवताओंके रूपमें आवाहित करता है जो मनुष्यको सत्यके विधानके अनुसार मार्ग पर ले जाते हैं और उस विधानकी क्रियाओंके द्वारा हमारी आध्यात्मिक उपलब्धियोंको संपुष्ट करते हैं।]

1

आ मित्रे वरुणे वयं गीर्भिर्जुहुमो अत्रिवत् ।
नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये ।।

(वयं) हम (गीर्भिः) वाणियोंसे (अत्रिवत् मित्रे वरुणे आ जुहुमः) अत्रिकी तरह **मित्र** और **वरुण**के प्रति यज्ञ करते हैं।

हे मित्र और वरुण! (सोमपीतये) सोममधुका पान करनेके लिए (बर्हिषि नि सदतम्) विशालताके आसन पर विराजो।

2

व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना ।
नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये ।।

हे मित्र और वरुण तुम (व्रतेन) अपनी क्रियाके द्वारा (ध्रुवक्षेमा स्थः) कल्याणकी उपलब्धियोंको स्थिर रूपमें सुरक्षित रखते हो और (धर्मणा) अपने विधानके द्वारा (यातयत्-जना) मनुष्योंको ठीक मार्ग पर चलाते हो।

(सोमपीतये) सोममधुका पान करनेके लिए (बर्हिषि नि सदतम्) विशालताके आसन पर विराजो।

3

मित्रश्च नो वरुणश्च जुषेतां यज्ञमिष्टये ।
नि बर्हिषि सदतां सोमपीतये ।।

(मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण (नः यज्ञं जुषेताम्) हमारे यज्ञमें आनंद लें, (इष्टये) जिससे कि हम अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकें।

(सोमपीतये) सोममधुका पान करनेके लिए वे (बर्हिषि नि सदताम्) विशालताके आसन पर विराजें।

वरुण-देवताका सूक्त

ऋ. 5. 85

[यह सूक्त आद्योपान्त लगातार द्वयर्थक है। बाह्य अर्थमें वरुणकी **असुरके** रूपमें स्तुति की गई है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु और स्रष्टा है, ऐसा **देव** है जो अपनी सर्जनात्मक प्रज्ञा और शक्तिसे युक्त है, जो लोकका निर्माण करता है तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकोंमें वस्तुओंके विधानको यथावत् बनाए रखता है। गुह्य अर्थमें बाह्य जगत्के भौतिक दृश्य पदार्थ प्रतीक बन जाते हैं। यहाँ अमीम **देवाधिदेव** अपनी सर्व-व्यापक प्रज्ञा और निर्मलतासे संपन्न है और उसकी स्तुति इस रूपमें की गई है कि वह हमारी सत्ताके तीनों लोकोंको ज्ञानके सूर्यकी ओर उद्घाटित करता है, सत्यकी धाराओंको बरसाता है एवं आत्माको उसकी सत्ताके असत्य और पापसे निकालकर पवित्र करता है। इस सूक्तको यहाँ क्रमशः इसके बाह्य और गुह्य अर्थमें अनूदित किया गया है।]

1

सर्वज्ञ स्रष्टाके प्रति

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय॥

(श्रुताय सम्राजे वरुणाय) प्रख्यात सर्वशासक वरुणके प्रति (ब्रह्म प्र अर्च) ऐसी वाणीका गान करो जो (बृहत्) विशाल है (गभीरं) गंभीर है तथा (प्रियम्) प्रिय है। ऐसे **वरुण**के प्रति गाओ (यः) जिसने (चर्म शमिता इव) पशुओंकी खाल उतारनेवालेकी तरह (पृथिवीं वि जघान) पृथिवीका विदारण करके उसे अलग किया है ताकि उसे (सूर्याय उपस्तिरे) सूर्यके नीचे बिछा सके।

2

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ॥

(वरुणः) उस **वरुण**ने (वनेषु अन्तरिक्षं वि ततान) वृक्ष-शिखरोंपर अंतरिक्षको विस्तृत किया है, (अर्वत्सु वाजम्) घोड़ोंमें बलको, (उस्रियासु

पयः) गौओंमें दूधको, (हृत्सु क्रतुम्) हृदयोंमें संकल्पको, (अप्सु अग्नि) जलधाराओंमें अग्नि[1]को, (दिवि सूर्यं) द्युलोकमें सूर्यको तथा (अद्रौ सोमम्) पर्वतपर सोमवल्लीको (अदधात्) निहित किया है।

3

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥

(वरुणः) वरुणने (नीचीनवारं कबन्धं) जलोंके धारक मेघको जिसकी खिड़कियाँ नीचेकी ओर खुली हैं (रोदसी अन्तरिक्षं) **द्यावापृथिवी** और **अंतरिक्ष**पर (प्रससर्ज) बरसाया है। (तेन) उसके द्वारा (विश्वस्य भुवनस्य राजा) सकल विश्वका राजा (भूम वि उनत्ति) भूमिको ऐसे आप्लावित करता है (वृष्टिः यवं न) जैसे वर्षा जौ के खेतको।

4

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः॥

(वरुणः) वरुण (पृथिवीं भूमिम्) विस्तृत पृथिवीको (उत) और (द्यां) द्युलोकको (उनत्ति) आप्लावित करता है। निश्चय ही (यदा दुग्धं वष्टि) जब वह द्युलोकके दूधकी कामना करता है, (आत् इत्) तभी (उनत्ति) इसे बरसाता है। (पर्वतासः) पर्वत (अभ्रेण) मेघके परिधानसे (सं वसत) पूरी तरह आच्छादित हैं। (वीराः[2] तविषीयन्तः) प्रचंड वीर अपने बलको प्रकट करते हैं और (श्रथयन्त) उनके सामने सब कुछ शिथिल पड़ जाता है।

5

इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।
मानेनेव तस्थिवां अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण॥

(सु श्रुतस्य आसुरस्य) प्रख्यात और शक्तिशाली (वरुणस्य) वरुणकी (इमां महीं मायां[3]) इस विशाल सर्जनात्मक प्रज्ञाको मैंने (प्र वोचम् ऊ) घोषित किया है, (यः) जो वरुण (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (मानेन-इव

---

1. सायण व्याख्या करता है कि यह मेघोंमें रहनेवाली वैद्युत अग्नि अथवा सागरमें रहनेवाला वडवानल है।
2. वीराः—वीर। यहाँ इसका अर्थ है आंधी-तूफानके देवताके रूपमें मरुत्।
3. **माया**—इस शब्दकी धातुके मूल अर्थमें मापने, बनाने, निर्माण करने या योजना बनानेका प्रबल भाव है।

तस्थिवान्) मानो मापदंड लिए खड़ा है। उसने (पृथिवीं) पृथिवीको (सूर्येण वि ममे) सूर्यसे विस्तृत रूपसे माप डाला है।

6

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरा सिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्॥

(कवितमस्य देवस्य) कवियों—द्रष्टाओंमें सबसे महान् इस देवकी (इमाम् महीम् मायाम् ऊ नु) इस विशाल प्रज्ञाका (नकिः आ दधर्ष) कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। (यत्) यही कारण है कि (समुद्रम् एकम्) समुद्र एक है, पर (एनीः अवनयः) ये दौड़ती हुई नदियां (आ सिञ्चन्तीः) अपनेको उसमें उंडेलती हुई भी उसे (उद्ना न पृणन्ति) जलसे नहीं भर सकतीं।

7

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥

(वरुण) हे वरुण! (यत् सीम् आगः) जो भी कुछ पाप हमने (अर्यम्यं मित्र्यं वा) **अर्यमाके** अथवा **मित्रके** विधानके विरुद्ध, (सखायं वा) मित्रके प्रति (सदम् इत् भ्रातरं वा) अथवा सदैव अपने भाईके प्रति, (नित्यं वेशं वा) नित्य पड़ोसी या (अरणं वा) शत्रु[1]के विरुद्ध (चकृम) किया है, (वरुण) हे **वरुणदेव**! (तत् शिश्रथः) उसें हमसे दूर फेंक दो।

8

कितवासो यद्रिरिपुर्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाऽधा ते स्याम वरुण प्रियासः॥

(दीवि कितवासः न) द्यूतके नियमका भंग करनेवाले धूर्त जुआरियोंकी तरह हमने (यत् रिरिपुः) जो पाप किया है, (यद् वा घा सत्यम् [रिरिपुः]) या सत्यके विरोधमें जो पाप किया है, (उत यत् न विद्म [रिरिपुः]) अथवा अज्ञानमें जो पाप किया है, (ता सर्वा) उन सबको (शिथिरा-इव) ढीले लटके हुए फलोंकी तरह (देव) हे देव! (वि स्य) काटकर परे फेंक दो। (अध ते प्रियासः स्याम) तभी हम तेरे प्रिय हो जाएँगे, (वरुण) हे **वरुण**!

---

1. अथवा परदेशी।

II

अनन्त प्रज्ञाका शक्तिशाली स्वामी

[ऋषि वरुणकी स्तुति अनन्त पवित्रता और प्रज्ञाके अधिपतिके रूपमें करता है जो हमारी पार्थिव सत्ताको ज्ञान-सूर्यके मेघमुक्त प्रकाशकी ओर खोल देता है, **सत्य**की धाराओंको हमारी समस्त त्रिविध—मानसिक, प्राणिक और भौतिक—सत्तापर बरसाता है और अपनी शक्तिसे हमारे जीवनोंमेंसे समस्त पाप, बुराई व असत्यताको निकाल दूर करता है। वह हमारी कामनाके प्रिय व सुखद विषयोंके लिए हमारी खण्डित खोजके ऊपर हमारी प्राणिक सत्ताकी मुक्त विशालताका सर्जन करता है, हमारी युद्ध-रत प्राणशक्तियोंमें प्रचुर बल स्थापित करता है और विचारके चमकते हुए गोयूथोंमें द्युलोकका दूध, स्वर्गका रस। उसने हमारे हृदयोंमें संकल्पको, सत्ताकी धाराओंमें दिव्य-शक्ति—**अग्नि**को, मनके सर्वोच्च द्युलोकमें दिव्य-ज्ञानके सूर्यको प्रतिष्ठित किया है, और हमारी सत्ताके अनेक उच्चस्तरोंवाले पर्वतपर आनन्द-मदिराको स्रावित करनेवाले पौदेको रोपा है। ये हैं सब साधन जिनके द्वारा हम अमरता प्राप्त करते हैं। वह वरुण अपनी प्रज्ञासे हमारे समग्र भौतिक जीवनकी, ज्ञान-सूर्यकी सत्य-ज्योतिके अनुसार, योजना बनाता है और हमारे अन्दर **सत्य-स्तर**की उन सातों नदियोंके साथ अपनी अनन्त सत्ता और चेतनाकी एकताका निर्माण करता है जो ज्ञानकी अपनी धाराओंको उसकी अनन्त सत्ताके अंदर उंडेलती तो हैं, परन्तु उसकी अनन्तताको भर नहीं पातीं।]

1

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय॥

(श्रुताय सम्राजे[1] वरुणाय) उस वरुणके प्रति जो दूर-दूर तक श्रवणकी जानेवाली अन्तःप्रेरणाओंका स्वामी है और सर्वशासक है, (ब्रह्म) आत्माके उस देदीप्यमान, अन्तःस्फूर्त शब्दको (प्र अर्च) उज्ज्वल रूपमें गाओ जो (गभीरं बृहत् प्रियं) गभीर, विशाल और आनन्दमय है; (यः चर्म शमिता-इव) क्योंकि वह वरुण एक ऐसे व्यक्तिकी तरह है जो पशुसे चमड़ा काटकर पृथक्

1. ये दो विशेषण दिव्य सत्ताके दो पक्षों—'सर्वज्ञान', 'सर्वशक्ति'को द्योतित करनेके लिए अभिप्रेत हैं; "मायाम् असुरस्य श्रुतस्य"। मनुष्यको अपने आपको दिव्य बनाते हुए द्रष्टा और सम्राट् देवकी प्रतिमूर्ति बनना होता है।

कर देता है, (वि जघान) अन्धकारको सब तरफ़से छिन्नभिन्न कर देता है, ताकि (पृथिवीं सूर्याय उपस्तिरे) वह हमारी पृथिवीको अपने ज्योतिर्मय सूर्यके नीचे विस्तृत कर सके[1]।

2

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ॥

(वरुणः) उस वरुणने (वनेषु अन्तरिक्षं) पार्थिव आनन्दके वनोंके ऊपर अन्तरिक्षको (वि ततान) विस्तृत रूपसे फैला दिया है, (अर्वत्सु[2] वाजम्) हमारे जीवनके युद्धाश्वोंमें उसने अपना बल-प्राचुर्य और (उस्रियासु[4] पयः) ज्ञानके हमारे प्रदीप्त गोयूथोंमें उनका द्युलोकीय दूध (अदधात्) निहित किया है। **वरुणने** (हृत्सु क्रतुं[5]) हमारे हृदयोंमें संकल्पको (अप्सु अग्निं) जलधाराओंमें[7] दिव्य अग्नि[7]को, (दिवि सूर्यम्) हमारे द्युलोकमें **प्रकाश-स्वरूप सूर्य**को (अदधात्) प्रतिष्ठित किया है और (अद्रौ सोमम्) हमारी सत्ता[8]के पर्वतपर **आनन्दवल्ली**को (अदधात्) रोपित किया है।

3

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥

---

1. विज्ञान-ज्योतिके साक्षात्कारों तथा अंतःप्रेरणाओंको ग्रहण करनेके लिए भौतिक मनकी सीमाएँ दूर धकेल दी गई हैं और इसे महान् विशालतामें फैला दिया गया है।
2. वन, या पृथिवीके आनन्दमय प्ररोह ('वन'का अर्थ सुख भी है) अन्तरिक्ष-लोकका,—हमारे अंदरके उस प्राणलोकका आधार हैं जो **प्राण-देवता** वायुका प्रदेश है। वही कामनाओंकी तृप्तिका लोक है। ज्ञानके और **सत्य**के विधानके द्वारा आनन्द या दिव्य हर्षको ग्रहण करनेके लिए इसे भी इसकी पूर्ण विशालतामें फैला दिया गया है जो सीमाओंसे रहित है।
3. **अर्वत्सु**—'अर्वत्' शब्दके दोनों अर्थ हैं "युद्धकर्ता, संघर्षकर्ता" और "अश्व"।
4. **उस्रियासु**—'उस्रियाः'के दोनों अर्थ हैं, "उज्ज्वल रश्मियां" और "गौएँ"।
5. **क्रतु**—दिव्य कार्यके लिए संकल्प, यज्ञिय संकल्प।
6. सत्ताका समुद्र अथवा सत्ताकी धाराएँ जो ऊपरसे अवतरित होती हैं।
7. अग्नि—दिव्य संकल्पकी अग्नि जो यज्ञको ग्रहण करती और उसका पुरोहित बन जाती है।
8. हमारी सत्ताको सदा एक पर्वतकी उपमा दी जाती है जो अनेकों धरातलोंसे युक्त होता है, प्रत्येक धरातल सत्ताका एक क्षेत्र या स्तर है।

(वरुणः) **वरुणने** (रोदसी अन्तरिक्षं) द्यावापृथिवी और अन्तरिक्षके ऊपर (कबन्धं प्र ससर्ज) प्रज्ञाके उस धारकको बरसाया है (नीचीनवारं) जिसके द्वार नीचे[1]की ओर खुले हैं। (तेन) उसके साथ (विश्वस्य भुवनस्य राजा) हमारी समस्त सत्ताका राजा (भूम वि उनत्ति) हमारी पृथिवीको ऐसे आप्लावित करता है (वृष्टिः यवं न) जैसे वर्षा जौको आप्लावित कर देती है।

4

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्टचादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः॥

(वरुणः) वरुण (पृथिवीं भूमिं) हमारी विशाल पृथ्वीको (उत) और (द्यां) हमारे द्युलोकको (उनत्ति) आप्लावित कर देता है। हाँ, (यदा) जब वह (दुग्धं वष्टि) दूध[2] चाहता है तो उसे (उनत्ति) बरसा देता है। (आत् इत्) उसके अनंतर (पर्वतासः) पर्वत (अभ्रेण) बादलसे (सं वसत) आच्छादित हो जाते हैं। (वीराः) उसके वीर[3] (तविषीयन्तः) अपने बलको प्रकट करते हैं और (श्रथयन्त) उसे [बादलको] दूर हटा देते हैं।

5

इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण॥

(श्रुतस्य आसुरस्य वरुणस्य) जिसकी वाणी दूर-दूर तक सुनी जाती है और जो शक्तिशाली अधिपति है उस वरुणकी (इमां महीं मायाम् ऊ सु) इस विशाल प्रज्ञाको मैं (प्र वोचम्) घोषित करता हूँ, क्योंकि वह (अन्तरिक्षे) हमारे अन्तरिक्षमें (मानेन-इव तस्थिवान्) मानो मानदण्ड लिये खड़ा है, (यः)

---

1. विज्ञान **अनन्त**को उसके संकल्प और ज्ञानमें ग्रहण करनेके लिए ऊपरकी ओर उद्घाटित होता है। यहाँ उसके द्वार निम्नतर सत्ताको आप्लावित करनेके लिए नीचेकी ओर खुलते हैं।
2. अनन्त-चेतनारूपी **गाय**—अदिति—का दूध।
3. मरुत्—पूर्ण विचारात्मक ज्ञानको प्राप्त करनेवाली प्राण-शक्तियां। वे मेघ या आच्छादक **वृत्र**को छिन्न-भिन्न करनेमें इन्द्रकी सहायता करते हैं और **सत्य**की जलधाराएँ बरसाते हैं तथा गुप्त सूर्यके **बल** द्वारा छिपाए हुए प्रकाशको लानेमें भी सहायता पहुँचाते हैं। यहाँ दोनों विचारोंको एक अन्य रूपकमें मिला दिया गया है।

जो (पृथिवीं) हमारी पृथिवीको (सूर्येण) अपने ज्योतिर्मय सूर्य[1]से (वि ममे) पूरा-पूरा मापता है।

6

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्॥

(कवितमस्य देवस्य) द्रष्टा-ज्ञानमें सबसे महान् **वरुण देव**की (इमां महीं मायाम् ऊ नु) इस विशाल प्रज्ञाको (नकिः आ दधर्ष) कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। (यत्) क्योंकि (एकं समुद्रम्) उस एक, सागर-स्वरूप वरुणमें (एनीः अवनयः) उज्ज्वल पोषक नदियाँ[2] (आ सिञ्चन्तीः) अपनी धाराएँ डालती हुई भी (उद्ना न पृणन्ति) उसे जलसे भर नहीं सकतीं।

7

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥

(वरुण) हे **वरुण** ! (यत् सीम् आगः) जो कोई भी पाप हमने (अर्यम्यं) तेरी **अर्यमा**-शक्तिके रूपमें तेरे प्रति, (वा) या (मित्र्यं) तेरी **मित्र**-शक्तिके रूपमें तेरे प्रति, (वा) या (सखायं) सखाके रूपमें, (वा) या (भ्रातरं) भाईके रूपमें, (वा) या (नित्यं वेशम्) शाश्वत अन्तर्वासी (वा) अथवा अरणम्) योद्धा[3]के रूपमें तेरे प्रति (चकृम) किया है (तत्) उस सबको (सदम् इत्) सदाके लिए (शिश्रथः) दूर फेंक दे, (वरुण) हे **वरुण**!

8

कितवासो यद्रिरिपुर्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाऽधा ते स्याम वरुण प्रियासः॥

---

1. मनुष्य भौतिक सत्तामें निवास करता है। वरुण उसमें विज्ञानकी ज्योति लाता है और उसे माप डालता है अर्थात् वह हमारे पार्थिव जीवनको विज्ञान-सूर्यसे प्रकाशित मनके द्वारा **सत्य**के माप-दण्डके अनुसार गढ़ता और योजनाबद्ध करता है। वह हमारे प्राणिक स्तरमें, जो मानसिक और भौतिक स्तरके बीचकी कड़ी है, **असुर**के रूपमें अपना स्थान ग्रहण करता है ताकि वह वहाँ प्रकाशको ग्रहण करके उसे सर्जनात्मक और निर्धारक शक्तिके रूपमें भौतिक स्तर तक पहुँचा सके।
2. सात नदियोंको, जो **सत्य**के स्तरसे अवतरित होती हैं, यहाँ 'अवनयः' कहा गया है। इस शब्दका धात्वर्थ वही है जो 'धेनवः' का, अर्थात् पोषक गौएँ। दस्युओंके विरुद्ध योद्धा।

(कितवासः न) जैसे चालाक जुआरी (दीवि रिरिपुः) अपने जुएके खेलमें अपराध करते हैं उसी तरह (यत् [रिरिपुः]) हमने जो पाप किया है, (यद् वा घ) अथवा जो पाप हमने (सत्यं [रिरिपुः]) सत्यके विरोधमें किया है (उत) और (यत्) जो पाप (न विद्म) अज्ञानवश किया है (सर्वा ता) उन सबको (शिथिरा-इव) शिथिल वस्तुओंकी तरह (वि स्य) चीर-फाड़कर पृथक् कर दे। (अध) तब हम (ते प्रियासः स्याम) तेरे प्रिय हो जाएँ, (देव वरुण) हे **वरुणदेव** !

उषाके सूक्त

पहला सूक्त

ऋ. 5. 79

[ऋषि सत्य-ज्योतिकी **उषा**के निज-समस्त-अपरिमित-शोभा-सहित पूर्ण आविर्भावके लिये प्रार्थना करता है। वह अपने देवों व ऋषियोंके समस्त उदार गणोंके साथ, अपने विचारके प्रकाशमय यूथोंके साथ, अपने बलके दौड़ते हुए अश्वोंके साथ, विज्ञान-**सूर्य**की प्रदीप्त रश्मियोंके साथ, स्वभावतः ही अपने संगमें रहनेवाली ज्योतिर्मय प्रेरणाके साथ आविर्भूत हो, जिन सबके साथ कि वह आया करती है। **उषा**को आने दो, फिर कार्य कभी लम्बा व मन्द नहीं होगा।]

1

महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥

(उषः) हे उषा-देवि! तू (दिवित्मती) द्युलोककी अपनी समस्त श्रीशोभाके साथ आ और (अद्य) आज ही (नः बोधय) हमें जगा, (यथा चित्) जैसे कि तू पहले एक बार (नः) हमें (महे राये) महान् आनन्दके प्रति, (वाय्ये) ज्ञानके जन्मके पुत्र-भावमें, (सत्यश्रवसि[1]) **सत्य**के अंतःप्रेरित श्रवणमें (अबोधयः) जगा चुकी है।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

2

या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥

(दिवः दुहितः) हे द्युलोककी पुत्री! (या) तू जो (वि औच्छः) उस मनुष्यमें उषाके रूपमें प्रस्फुटित हो उठती है जिसे (शौचत्-रथे[2]) प्रकाशके जाज्वल्यमान रथका (सुनीथे) पूर्ण नेतृत्व प्राप्त है, उसी प्रकार (सा) वह तू (सहीयसि)

---

1. ऋषिका नाम, सत्यश्रवस्, यहां मनुष्यमें **सूर्य**के जन्मके विशेष लक्षणोंका गुप्त प्रतीक है।
2. यह भी वही रूपक है पर अन्य नामके साथ। यह **सूर्य**के जन्मका परिणाम दर्शाता है।

हे अपनी शक्तिमें और अधिक महत्तर! (वाय्ये) ज्ञानके जन्मके पुत्रभावमें, (सत्यश्रवसि) सत्यके अंत:प्रेरित श्रवणमें आज भी (वि उच्छ) प्रस्फुटित हो।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

3

सा नो अद्याभरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥

(दिवः दुहितः) हे द्युलोककी पुत्रि (आभरत्-वसुः सा) निधियोंका वहन करनेवाली वह तू (अद्य) आज ही (नः) हमारे लिये (वि उच्छ) प्रकाशके रूपमें प्रस्फुटित हो जा, (या उ) जो तू (सहीयसि) हे अपनी शक्तिमें और अधिक महत्तर! (वाय्ये) ज्ञानके जन्मके पुत्रभावमें, (सत्यश्रवसि) सत्यके अंत:प्रेरित श्रवणमें (वि औच्छः) पहले एक बार प्रस्फुटित हो चुकी है।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

4

अभि ये त्वा विभावरि स्तोमैर्गृणन्ति वह्नयः।
मघैर्मघोनि सुश्रियो दामन्वन्तः सुरातयः सुजाते अश्वसूनृते॥

(विभावरि) हे विशाल और भास्वर उषादेवि! (वह्नयः) यज्ञ-हविके वाहक[1] (ये) जो लोग (त्वाम्) तुझे (स्तोमैः) अपने स्तोत्रोंसे (अभिगृणन्ति) अपनी वाणीमें अभिव्यक्त करते हैं वे (मघैः सुश्रियः) तेरे प्रचुर ऐश्वर्यसे यशस्वी हैं (मघोनि) हे राज्ञि, (दामन्वन्तः) उनके उपहार उदारतापूर्ण हैं, (सुरातयः) उन्हें प्राप्त वरदान परिपूर्ण हैं।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पद-चापमें ही निहित है!

5

यच्चिद्धि ते गणा इमे छदयन्ति मघत्तये।
परि चिद्वष्टयो दधुर्ददतो राधो अह्रयं सुजाते अश्वसूनृते॥

---

1. मानवीय पुरोहित नहीं अपितु दिव्यशक्तियाँ, उषाके गण या दल, 'गणाः', जो एक साथ ही आन्तर यज्ञके पुरोहित, द्रष्टा और संरक्षक हैं तथा दिव्य ऐश्वर्यके विजेता और दाता भी हैं।

(यत् चित् हि) जब (ते इमे गणाः) तेरे देवोंके ये गण (मघत्तये छदयन्ति) तेरे प्रचुर ऐश्वर्योंकी आशामें तुझे प्रसन्न करना चाहते हैं तब वे (वष्टयः चित् परिदधुः) अपनी अभिलाषाओंको चारों ओर प्रतिष्ठित करते हैं, (अह्नयं राधः ददतः) तेरे अविचल आनंदैश्वर्यका मुक्तहस्तसे दान करते हैं।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है। (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

6

एषु धा वीरवद्यश उषो मघोनि सूरिषु।
ये नो राधांस्यह्नया मघवानो अरासत सुजाते अश्वसूनृते॥

(उषः) हे उषा-देवि! (मघोनि) हे प्रचुर ऐश्वर्यकी राज्ञि! (एषु सूरिषु) अपने इन द्रष्टाओंमें (वीरवत् यशः) अपनी वीरतापूर्ण शक्तियोंके तेजोमय यशको (आ धाः) निहित कर। (ये मघवानः) जो तेरे प्रचुर ऐश्वर्यके अधिपति हैं वे (नः) हमें (अह्नया राधांसि) तेरे अविचल आनंद-ऐश्वर्यका (अरासत) मुक्तहस्तसे दान करें।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

7

तेभ्यो द्युम्नं बृहद्यश उषो मघोन्या वह।
ये नो राधांस्यश्व्या गव्या भजन्त सूरयः सुजाते अश्वसूनृते॥

(उषः) हे उषा-देवि! (मघोनि) हे प्रचुर ऐश्वर्यकी रानी! (तेभ्यः) उन द्रष्टाओंके लिये (द्युम्नं) अपनी दीप्ति और (बृहत् यशः) विशाल यश (आ वह) ले आ; (ये सूरयः) जो द्रष्टा (नः) हमें (अश्व्या राधांसि) तेरे अश्वोंके आनन्दका और (गव्या राधांसि) तेरे गोयूथोंके आनन्दका (भजन्त) आस्वादन प्रदान करें।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

8

उत नो गोमतीरिष आ वहा दुहितर्दिवः।
साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः सुजाते अश्वसूनृते॥

(दिवः दुहितः) हे द्युलोककी पुत्रि! तू (गोमतीः इषः उत) अपने प्रकाशके पंजसे भरी हुई प्रेरणाकी शक्तियोंको भी (नः आ वह) हमारे लिए ले आ।

(सूर्यस्य रश्मिभिः साकं) अपने सूर्यकी उन रश्मियोंके संग उन्हें आने दो जो उसके (शुक्रैः शोचद्भिः अर्चिभिः) शुभ्र, जाज्वल्यमान प्रकाशके दानोंकी निर्मलतासे युक्त हैं।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

9

व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः।
नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते॥

(दिवः दुहितः) हे द्यौकी पुत्रि! तू (वि उच्छ) प्रकाशके रूपमें प्रस्फुटित हो, (अपः चिरं मा तनुथाः) कार्यको बहुत लम्बा मत फैला क्योंकि (सूरः) सूर्य (अर्चिषा) अपनी प्रदीप्त किरणोंसे (त्वा न इत् तपाति) तुझे संतप्त नहीं करता, (यथा) जैसे वह (स्तेनं) चोरको और (रिपुं) शत्रुको तपाता है[1]।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

10

एतावद्वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि।
या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते॥

(उषः) हे उषा-देवि। (त्वं) तू (एतावत् वा इत् दातुम् अर्हसि) इतना दे (वा) अथवा (भूयः दातुम् अर्हसि) इससे अधिक भी दे, (या) जो तू [क्योंकि तू] (स्तोतृभ्यः) अपने स्तोताओंके प्रति (विभावरि) अपने वैभवोंके पूर्ण विस्तारमें प्रस्फुटित होती है, (उच्छन्ती न प्रमीयसे) अपने उदयमें तू सीमित नहीं होती।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

---

1. सत्यकी सत्ताकी ओर प्रयास लम्बा और दूभर होता है क्योंकि अन्धकार और विभाजनकी शक्तियाँ, हमारी सत्ताकी निम्नतर शक्तियाँ ज्ञानकी उपलब्धियों-पर अपना स्वत्व और अधिकार जमा लेती हैं, वे उन्हें या तो निरर्थक पड़े रहने देती हैं या उनका दुरुपयोग करती हैं। वे यज्ञ-हविकी वाहक नहीं वरन् उसे विकृत करनेवाली हैं। वे सूर्यकी पूर्ण रश्मिसे आहत होती हैं। परन्तु ज्ञानकी यह **उषा** पूर्ण ज्योतिको सहन कर सकती है और महान् कार्यको द्रुत वेग से समाप्त करा सकती है।

दूसरा सूक्त

ऋ 5. 180

[ऋषि द्युलोककी पुत्री दिव्य उषाकी इस रूपमें स्तुति करता है कि वह **सत्य** एवं आनन्दको और प्रकाशपूर्ण द्युलोकोंको लानेवाली है, प्रकाशकी स्रष्ट्री है, अन्तर्दृष्टिकी दात्री है, सत्यके मार्गोंकी निर्मात्री, अनुगामिनी और नेत्री है, अन्धकारको मिटानेवाली है एवं भगवान्‌की ओर हमारी यात्रामें शाश्वत तथा नित्य-युवती इष्टदेवी है।]

1

द्युतद्यामानं बृहतीमृतेन ऋतावरीमरुणप्सुं विभातीम्।
देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रति विप्रासो मतिभिर्जरन्ते॥

(द्युतत्-यामानं) प्रकाशमय यात्राकी **उषा**की, (ऋतावरीं) सत्यकी रानी और (ऋतेन बृहतीं) **सत्य**से विशाल **उषा**की, (अरुणप्सुं विभातीं) जिसके गुलाबी अंगोंसे छिटकनेवाली प्रभा कितनी ही विशाल है ऐसी **उषा**की, (स्वर् आवहन्तीं देवीम् उषसम्) अपने साथ प्रकाशमय द्युलोकको लानेवाली भगवती उषाकी (विप्रासः) द्रष्टा लोग (मतिभिः) अपने विचारोंसे (प्रति जरन्ते) स्तुति करते हैं।

2

एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान्पथः कृण्वती यात्यग्रे।
बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर्यच्छत्यग्रे अह्नाम्॥

(एषा) यही है वह उषा जो (दर्शता) अन्तर्दर्शनसे संपन्न है। वही (जनं बोधयन्ती) जन-जनको जागृत करती है, (पथः सुगान् कृण्वती) उसके मार्गोंको यात्रा करनेके लिए सुगम बनाती है और (अग्रे याति) उसके आगे-आगे चलती है। (बृहद्रथा) कितना विशाल है उसका रथ! (बृहती विश्वम्-इन्वा) कितनी विशाल और सर्वव्यापक है वह देवी! (उषाः अह्नाम् अग्रे ज्योतिः यच्छति) अहो कैसे वह दिनोंके आगे-आगे ज्योति लाती है!

3

एषा गोभिररुणेभिर्युजानाऽस्रेधन्ती रयिमप्रायु चक्रे।
पथो रदन्ती सुविताय देवी पुरुष्टुता विश्ववारा वि भाति॥

(एषा) यही है वह उषा जो (अरुणेभिः गोभिः युजाना) गुलाबी प्रकाशकी अपनी गौओंको जोतती है। (अस्रेधन्ती) उसकी यात्रा कभी विफल नहीं होती और (अप्रायु रयिं चक्रे) वह जिस निधिको बनाती है वह कभी नष्ट नहीं होती। (सुविताय पथः रदन्ती) वह आनन्दके लिए हमारे मार्गोंको काटकर बनाती है। (देवी) वह दिव्य है, (वि भाति) अत्यन्त भास्वर है उसकी प्रभा! (पुरु-स्तुता) अनेकानेक स्तोत्र उसकी ओर उठते हैं, (विश्व-वारा) वह अपने साथ प्रत्येक वर लाती है।

4

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥

(द्विबर्हा) पृथ्वी और द्युलोककी उसकी द्वयात्मक शक्तिमें उसे देखो, (एषा वि-एनी भवति) किस प्रकार वह अपनी शुभ्रतामें प्रकट होती है और (तन्वं पुरस्तात् आविष्कृण्वाना) अपने शरीरको हमारे सामने खोल देती है! (प्रजानती इव) एक ऐसे व्यक्तिकी तरह जो बुद्धिमान् और ज्ञानी है वह (ऋतस्य पन्थां साधु अन्वेति) सत्यके मार्गका पूरी तरह अनुसरण करती है और (दिशः न मिनाति) हमारे क्षेत्रोंमें कोई बाधा नहीं डालती।

5

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥

देखो, (एषा शुभ्रा तन्वः न) कैसा भास्वर होता है उसका शरीर जब उसे (विदाना) पा और जान लिया जाता है! किस प्रकार वह (स्नाती) प्रकाशमें नहाती हुई-सी (ऊर्ध्वा इव अस्थात्) ऊर्ध्वमें स्थित है ताकि (नः दृशये) हम अन्तर्दर्शन प्राप्त कर सकें। (द्वेषः तमांसि) समस्त शत्रुओं और सम्पूर्ण अन्धकारको (अप बाधमाना) दूर भगाती हुई (दिवः दुहिता उषाः) द्युलोककी पुत्री उषा (ज्योतिषा आ अगात्) प्रकाशके साथ आ गई है।

6

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः॥

देखो, (भद्रा योषा इव) हर्षसे परिपूर्ण स्त्रीकी तरह (दिवः एषा दुहिता) द्युलोककी यह पुत्री (नॄन् प्रतीची) देवोंसे मिलनेके लिए उनकी ओर

गति करती है और (अप्सः नि रिणीते) उसका रूप सदा उनके अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है। (दाशुषे) यज्ञहविके दाताके लिए (वार्याणि) समस्त आशीर्वादोंको (वि-ऊर्णवती) अनावृत करती हुई (युवतिः) उस नित्य-युवती देवीने (पुनः) एक बार फिर (ज्योतिः अकः) प्रकाशका सर्जन किया है जैसे उसने (पूर्वथा) आदिकालमें किया था।

सविता-देवका सूक्त

ऋ. 5. 81

[ऋषि **सूर्यदेव**की स्तुति इस प्रकार करता है कि वह दिव्य ज्ञानका स्रोत और आन्तरिक लोकोंका स्रष्टा है। उसमें, **द्रष्टा**में, प्रकाशके अभिलाषी अपने मन और विचारोंको लगाते हैं। ज्ञानके समस्त रूपोंका एकमात्र ज्ञाता वह देव यज्ञका एकमात्र परम नियन्ता है। वह सब आकारोंको अपनी सत्ता और सर्जनात्मक दृष्टिके परिधानके रूपमें ग्रहण करता है और लोकोंमें दो प्रकारके जीवोंके लिए परम शुभ और सुखकी सृष्टि करता है। वह दिव्यज्ञानकी उषाके मार्गमें चमकते हुए स्वर्गिक लोकको प्रकट करता है। उसी मार्गपर दूसरे देवता उसका अनुसरण करते हैं। उसके प्रकाशकी महानताको ही वे अपनी समस्त शक्तियोंका लक्ष्य बनाते हैं। उसने हमारे लिए हमारे पार्थिव लोकोंको अपनी शक्ति और महानतासे माप दिया है। परन्तु दिव्य सूर्यकी रश्मियोंमें अपनी अभिव्यक्तिकी असली महिमाको तो वह प्रकाशके तीन लोकोंमें ही प्राप्त करता है। तब वह अपनी सत्ता और अपने प्रकाशसे हमारे अन्धकारकी रात्रिको घेर लेता है और **मित्र** बन जाता है जो अपने नियमोंसे हमारे उच्चतर और निम्नतर लोकोंका ज्योतिर्मय सामंजस्य उत्पन्न करता है। हमारी समस्त रचना का स्रष्टा एकमात्र वही है और अपने अग्रगामी प्रयाणोंके द्वारा वह इसे संवर्धित करता रहता है जब तक कि हमारी संभूतिका समस्त लोक उसके प्रकाशसे पूरित नहीं हो उठता।]

I

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महो देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

(विप्राः) ज्ञानप्रदीप्त मनुष्य (विप्रस्य) ज्योतिर्मय, (बृहतः) विशाल और (विपश्चितः) चेतनामें प्रकाशमय देवमें (मनः युञ्जते) अपना मन लगाते हैं, (उत) और (धियः युञ्जते) अपने विचारोंको लगाते हैं। (एकः इत् वयुन-वित्) ज्ञानकी समस्त अभिव्यक्तिका वह एकमात्र ज्ञाता (होत्राः वि दधे) यज्ञके सभी नियमोंका व्यवस्थापक है। (सवितुः देवस्य परि-स्तुतिः महो) महान् है सृष्टिकर्ता सविता-देवकी स्तुति!

2

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥

(कविः) द्रष्टा (विश्वा रूपाणि) सब रूपोंको (प्रति मुञ्चते) वस्त्रकी तरह पहिनता है ताकि वह (द्विपदे चतुष्पदे[1]) द्विपाद् और चतुष्पाद् प्राणियोंके लिए (भद्रं प्रासावीत्) कल्याण और आनन्दका सर्जन कर सके। (सविता) **सविता** अपने प्रकाशसे (नाकम्) हमारे आनन्दमय द्युलोककी (वि अख्यत्) रूपरेखा बनाता है। (वरेण्यः) वह परम और वरणीय है। (उषसः प्रयाणम् अनु) **उषा**के प्रयाणमें (वि राजति) उसकी दीप्तिका प्रकाश विशाल होता है।

3

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥

और (प्रयाणम् अनु) उसी प्रयाणमें (अन्ये इत् देवाः) अन्य सब देव (ओजसा) अपने बलसे (यस्य देवस्य महिमानम् [अनु] ययुः) [जिस] इस देवकी महिमा का अनुसरण करते हैं। (सः एतशः सविता देवः) यह वही उज्ज्वल **सविता**-देव है (यः) जिसने (महित्वना) अपनी शक्ति और महानतासे (पार्थिवानि रजांसि) हमारे पार्थिव प्रकाशमय लोकोंको (विममे) माप डाला है।

4

उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः॥

परन्तु (सविता) हे सविता! तू (त्रीणि रोचना उत) द्यौके चमकते हुए तीनों लोकोंकी ओर भी (यासि) जाता है (उत) और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी रश्मियोंके द्वारा तू (सम् उच्यसि) प्रकट किया जाता है, (उत) और तू (रात्रीम्) **रात्रि**को (उभयतः) दोनों तरफसे (परि ईयसे) घेर लेता है,

1. द्विपद् और चतुष्पद्का शाब्दिक अर्थ है दोपाया और चौपाया, परन्तु 'पद'का अर्थ सोपान या तत्त्व भी होता है, जिसपर आत्मा अपनेको प्रतिष्ठित करता है। चतुष्पादका गुह्य अर्थ है चार तत्त्वोंवाले अर्थात् वे जो निम्नतर लोकके चार प्रकारके तत्त्वोंमें निवास करते हैं और द्विपादका गुह्य अर्थ है दो तत्त्वोंवाले अर्थात् वे जो देव और मानवके दोहरे तत्त्वमें निवास करते हैं।

(उत) और (देव) हे देव! तू (धर्मभिः मित्रः भवसि) सत्यके स्थिर विधानोंसे संपन्न **मित्र** बन जाता है।

5

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे॥

(उत) और (त्वम् एकः इत्) तू अकेला ही (प्रसवस्य ईशिषे) सर्जनमें समर्थ है, (उत पूषा भवसि) और तू ही पोषक बन जाता है। (उत) और (देव) हे देव! (यामभिः) अपने मार्गपर अपने प्रयाणोंसे तू (इदं विश्वं भुवनं) संभूतिके इस समस्त लोकको (वि राजसि) देदीप्यमान करता है। (सवितः) हे सविता देव! (श्यावाश्वः) श्यावाश्वने (ते स्तोमम्) तेरे देवत्वकी स्तुति को (आनशे) प्राप्त कर लिया है।

कुछ अन्य सूक्त

रहस्यमय मदिराका देव[1]

I

ऋ. IX. 75

1

अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विश्वञ्चमरुहद्विचक्षणः॥

(चनः-हितः) आनन्दमें स्थित वह सोम (प्रियाणि नामानि) प्रिय **नामों**की ओर (अभि पवते) प्रवाहित होता है, (येषु) जिन नामोंमें (यह्वः अधि वर्धते) वह शक्तिशाली देव बढ़ता है। (बृहन्) विशाल और (विचक्षणः) बुद्धिमान् वह (बृहतः सूर्यस्य) विशाल सूर्यके (रथं) रथपर, (विश्वञ्चम् [रथम्]) विश्वव्यापी गतिके रथपर (अधि आ अरुहत्) आरोहण करता है।

2

ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं नाम तृतीयमधि रोचने दिवः॥

वह सोम (पवते) प्रवाहित होता है जो (ऋतस्य जिह्वा) **सत्य**की जिह्वा है, (प्रियं मधु) आनन्दमय मधु[2] है एवं (अस्याः धियः) इस **विचार**का (वक्ता पतिः) वक्ता और अधिपति है तथा (अदाभ्यः) अजेय है। (पुत्रः) वह **पुत्र** (दिवः रोचने) द्यौके ज्योतिर्मय लोकमें (पित्रोः) **माता-पिता**[3] के (तृतीयम् अपीच्यं नाम) तीसरे गुह्य **नाम**को (अधि दधाति) प्रतिष्ठित करता है।

---

1. सोमदेवके इन दो सूक्तों (ऋ. 9.75 और 9.42)का यथासंभव अक्षरशः अनुवाद किया गया है ताकि वेदके मौलिक प्रतीकवादको, उसके आध्यात्मिक अर्थोंमें उसका अनुवाद किये बिना, दर्शाया जा सके।
2. **सोम**की मधुर मदिरा।
3. **द्यौ** और **पृथिवी**। तीन द्युलोक और तीन पृथिवियां हैं और शिखर पर है **द्यौ** का त्रिविध ज्योतिर्मय लोक, जिसे स्वर् कहा गया है। उसके निम्न स्तरमें उसका यूं वर्णन किया गया गया है कि वह **उषा**में विद्यमान त्रिविध पृष्ठ या त्रिवृत् स्तर है। वह "विशाल सूर्य" का लोक है और उसे अपने आपमें **"सत्यम्, ऋतम्, बृहत्"**के रूपमें वर्णित किया गया है।

3

अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमानः कोश आ हिरण्यये।
अभीमृतस्य दोहना अनूषताऽधि त्रिपृष्ठ उषसो वि राजति॥

(द्युतानः) प्रकाशके रूपमें प्रस्फुटित होता हुआ वह (नृभिः आयेमानः) मनुष्योंके द्वारा ले जाया जाता हुआ (कलशान्) [देहरूप] घटोंमें और (हिरण्यये कोशे) सुवर्णमय कोशमें (अव अचिक्रदत्) शब्द करता हुआ पड़ता है। (ईम्) उसीमें (ऋतस्य दोहनाः अभि अनूषत) **सत्यके** दोहे गए रस उषाके रूपमें प्रस्फुटित होते हैं[1]। (उषसः त्रिपृष्ठः अभि) **उषाकी** त्रिविध पीठपर वह (वि राजति) विशाल रूपमें प्रदीप्त होता है।

4

अद्रिभिः सुतो मतिभिश्चनोहितः प्ररोचयन् रोदसी मातरा शुचिः।
रोमाण्यव्या समया वि धावति मधोर्धारा पिन्वमाना दिवेदिवे॥

(अद्रिभिः सुतः) पत्थरोंसे निष्पीड़ित किया हुआ, (मतिभिः चनः-हितः) विचारोंसे आनन्दमें निहित किया हुआ, (शुचिः) निर्मल, (मातरा रोदसी) दोनों माताओं—**द्यौ** और **पृथिवी**को (प्ररोचयन्) देदीप्यमान करता हुआ वह सोम (अव्या रोमाणि समया) **भेड़ों**के समस्त केशोंमेंसे होता हुआ (वि धावति) समरूपसे प्रवाहित होता है। (मधोः धारा) उसकी मधु-धारा (दिवे-दिवे) दिन-प्रतिदिन (पिन्वमाना) बढ़ती जाती है।

5

परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभि वासयाशिरम्।
ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्॥

(सोम) हे **सोम**! (स्वस्तये) हमारे सुख-आनन्दके लिए (परि प्र-धन्व) सर्वत्र तीव्र गतिसे संचार कर। (नृभिः पुनानः) मनुष्योंसे शुद्ध-पवित्र किया हुआ तू अपनेको (आशिरं) रस-मिश्रणोंसे (अभि वासय) आच्छादित[2] कर। (ये ते मदाः) तेरे जो हर्षोल्लास (आहनसः) आघात

---

1. अथवा "**सत्यके** दोहनेवाले उसके प्रति उच्च स्वरसे स्तोत्रगान करते हैं।"
2. छलनी, जिसमेंसे **सोम**को शुद्ध किया जाता है, भेड़की ऊनसे बनी होती है। इन्द्र है भेड़ा (मेष), इसलिए भेड़का अर्थ अवश्य ही **इन्द्र**की शक्ति है, बहुत संभवतः दिव्यता-प्राप्त इन्द्रिय-मन, **इन्द्रियम्**।
3. **सोम**को पानी, दूध तथा अन्य द्रव्योंके साथ मिलाया जाता था; यह कहा गया है कि सोम अपने-आपको **जल-धाराओं** और **'गौओं'** अर्थात् **उषारूपी** चमकीली **गौके** रसों या दीप्तियोंके परिधानसे आच्छादित करता है।

कर रहे हैं और (विहायसः) विशाल रूपसे विस्तृत हैं (तेभिः) उनसे तू (इन्द्रम्) इन्द्रको (मघम् दातवे) प्रचुर-ऐश्वर्यका दान करनेके लिए (चोदय) प्रेरित कर।

II

ऋ. IX. 42

1

जनयन् रोचना दिवो जनयन्नप्सु सूर्यम्।
वसानो गा अपो हरिः॥

(दिवः रोचना जनयन्) द्युलोकके ज्योतिर्मय लोकों[1]को जन्म देता हुआ, (अप्सु सूर्यं जनयन्) जलों[2]में सूर्यको जन्म देता हुआ (हरिः) देदीप्यमान देव [सोम] (अपः गाः[3] वसानः) अपने-आपको जलों और रश्मियोंके परिधानसे आवृत करता है।

2

एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि।
धारया पवते सुतः॥

(देवेभ्यः परि एषः देवः) देवोंको घेरे हुए वह देव (प्रत्नेन मन्मना) सनातन विचारके द्वारा (धारया सुतः) धारारूपमें निचोड़कर निकाला हुआ (पवते) प्रवाहित होता है।

3

वावृधानाय तूर्वये पवन्ते वाजसातये।
सोमाः सहस्रपाजसः॥

(सहस्रपाजसः) सहस्रों बलोंसे युक्त (सोमाः) **सोमरस** उस व्यक्तिके लिए (पवन्ते) प्रवाहित होते हैं जो (वावृधानाय) बढ़ रहा है और (तूर्वये) द्रुत गतिसे प्रगति कर रहा है[4] ताकि वह (वाजसातये) प्रचुर बल व ऐश्वर्य जीत सके।

---

1. स्वर्के तीन लोकों।
2. **अग्नि, सूर्य** और स्वयं **सोम**के भी विषयमें कहा गया है कि वे जलोंमें या सात नदियोंमें पाए जाते हैं।
3. **गाः**—इसके दो अर्थ हैं, गौएँ और रश्मियाँ।
4. **वावृधानाय तूर्वये**—सब बाधाओंमेंसे होते हुए मार्गपर बढ़ने और प्रगति करनेके लिए। यज्ञको मनुष्यका विकास और एक यात्रा—इन दोनों रूपकोंके द्वारा वर्णित किया गया है।

4

दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यते ।
क्रन्दन्देवाँ अजीजनत् ।।

(दुहानः) दोहा गया (प्रत्नम् इत् पयः) वह सनातन अन्नरस (पवित्रे) शुद्ध करनेवाली छाननीमें (परि सिच्यते) डाला जाता है और (क्रन्दन्) जोरसे शब्द करता हुआ वह (देवान् अजीजनत्) देवोंको जन्म देता है।

5

अभि विश्वानि वार्याऽभि देवाँ ऋतावृधः ।
सोमः पुनानो अर्षति ।।

(सोमः) **सोम** (पुनानः) अपने-आपको पवित्र करता हुआ (विश्वानि वार्या अभि) सब वरणीय वरोंकी ओर तथा (देवान् अभि) उन देवोंकी ओर (अर्षति) यात्रा करता है जो (ऋतावृधः) **सत्य**को बढ़ाते हैं।

6

गोमन्नः सोम वीरवदश्वावद्वाजवत्सुतः ।
पवस्व बृहतीरिषः ।।

(सोम) हे **सोम**, (सुतः) निष्पीड़ित होकर तू (गोमत् वीरवत् अश्ववत् वाजवत्) **गौओं, वीरों** और **अश्वों**से युक्त तथा प्रचुरतासे सम्पन्न ऐश्वर्य (नः पवस्व) हमपर प्रवाहित कर, (बृहतीः इषः)[1] विशाल प्रेरणाओंको [पवस्व] प्रवाहित कर।

---

1. कर्मकाण्डीय भाष्यकारके अनुसार 'बृहतीः इषः'का अर्थ है "विपुल अन्न"। क्योंकि यहाँ उसकी सामान्य व्याख्याके अनुसार 'अन्न' अर्थवाले दो शब्द हैं—"इष्" और "वाज", अतः यहाँ वह 'वाज' शब्दका एक और अर्थ करके मंत्रकी इस प्रकार व्याख्या करता है, "हमें एक ऐसा धन दो जिसके साथ गौएँ, मनुष्य, घोड़े और युद्ध हों, और साथ ही हमें प्रचुर अन्न भी दो।"

एक वैदिक सूक्त

ऋ. 7. 60

1

यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन्मित्राय वरुणाय सत्यम् ।
वयं देवत्रादिते स्याम तव प्रियासो अर्यमन्गृणन्तः ।।

(सूर्य) हे **सूर्य**, हे **प्रकाश** ! (यत् अद्य) क्योंकि आज (उद्यन्) अपने उदयमें (अनागाः) निर्दोष होते हुए तूने (मित्राय) **प्रेमके अधिपति** और (वरुणाय) **पवित्रताके अधिपति**के प्रति (सत्यं ब्रवः) **सत्य**की घोषणा की है, इसलिए (अदिते) हे असीम **माता** ! (वयं) हम (तव प्रियासः) तेरे प्रिय होकर, (अर्यमन्) **हे बलके अधिपति** ! (तव प्रियासः) तेरे प्रिय होकर (गृणन्तः) अपने समस्त संभाषणमें (देवत्रा स्याम) देवत्वमें निवास करें।

2

एष स्य मित्रावरुणा नृचक्षा उभे उदेति सूर्यो अभि ज्मन् ।
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ।।

(मित्रावरुणा) हे **मित्र** ! हे **वरुण** ! (एषः स्यः नृचक्षाः) यह ही है वह देव जो आत्माके लिए देखता है, (सूर्यः) वह **सूर्य** जो (उभे अभि) द्यौ और पृथिवी दोनोंके ऊपर (ज्मन्) व्यापक विस्तारमें (उदेति) उदित होता है। (विश्वस्य स्थातुः जगतः च गोपाः) वह स्थावर और जंगम सभीकी रक्षा करता है, क्योंकि वह (मर्तेषु) मर्त्योंमें (ऋजु वृजिना च) सरल-सीधी और टेढ़ी वस्तुओंको (पश्यन्) देखता है।

3

अयुक्त सप्त हरितः सधस्याद् या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः ।
धामानि मित्रावरुणा युवाकुः सं यो यूथेव जनिमानि चष्टे ।।

इस **देदीप्यमान देवने** आज (सधस्थात्) हमारी उपलब्धिके लोकमें (सप्त हरितः) सात तेजोमय शक्तियों [अश्वों]को (अयुक्त) जोत दिया है (याः) जो (घृताचीः) अपनी निर्मलतासे युक्त होती हुई (ईम् सूर्यं वहन्ति) इस सूर्यको वहन करती हैं ; (यः) जो यह देव, (मित्रावरुणा) हे मित्र, हे वरुण, (युवाकुः) तुम दोनोंको चाहनेवाला है, (धामानि

जनिमानि) आत्माके धामों तथा जन्मस्थानोंकी (यूथा-इव संचष्टे) उस प्रकार देख-रेख करता है जैसे पशुपालक अपने यूथोंकी।

4

उद् वां पृक्षासो मधुमन्तो अस्थुरा सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः।
यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः॥

(वां मधुमन्तः पृक्षासः) तुम्हारी मधुमय तुष्टियां (उत् अस्थुः) ऊपरकी ओर उठती हैं, क्योंकि (सूर्यः) हमारा सूर्य (शुक्रम् अर्णः) निर्मल प्रकाशके सागरमें (आ अरुहत्) आरोहण कर चुका है, (यस्मै) जिसके लिये [उसके लिये] (आदित्याः) अनन्त माता अदितिके पुत्र (अध्वनः रदन्ति) उसके मार्गको काटकर बनाते हैं। (मित्रः) **प्रेमका अधिपति,** (अर्यमा) **बलका अधिपति** और (वरुणः) **पवित्रताका अधिपति** भी (सजोषाः) परस्पर समस्वर होकर [अध्वनः रदन्ति] उसका मार्ग बनाते हैं।

5

इमे चेतारो अनृतस्य भूरे मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः॥

(इमे हि सन्ति मित्रः अर्यमा वरुणः) यही हैं वे **प्रेम, बल** और **पवित्रताके अधिपति** मित्र, अर्यमा और वरुण जो (भूरेः अनृतस्य चेतारः) हमारे भीतरके अत्यधिक असत्यको पहचानकर उसे पृथक् करते हैं। (इमे शग्मासः अदब्धाः अदितेः पुत्राः) असीम माता अदितिके ये शक्तिशाली व अजेय पुत्र (ऋतस्य दुरोणे) सत्यके गृहमें (ववृधुः) बढ़ते हैं।

6

इमे मित्रो वरुणो दूळभासोऽचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः।
अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्तस्तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति॥

(इमे दूळभासः मित्रः वरुणः) ये हैं वे **प्रेम, पवित्रता** [और शक्ति]के देवता मित्र, वरुण [और अर्यमा] जिनका दमन करना कठिन है। वे (दक्षैः) अपनी विवेकशील क्रियाओंसे (अचेतसं चित् चितयन्ति) अज्ञानी को भी ज्ञान देते हैं; उसके लिये वे (सुचेतसम्) समीचीन अंतर्दृष्टिसे युक्त (क्रतुम् अपि) संकल्पकी प्रेरणाएँ भी (वतन्तः) लाते हैं और उसे (सुपथा) सन्मार्ग से (अंहः तिरः चित् नयन्ति) पाप और बुराईसे परे ले जाते हैं।

7

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्॥

(इमे) ये मित्र, वरुण [और अर्यमा] (दिवः) द्युलोकसे (अनिमिषा) निर्निमेष आँखोंसे (पृथिव्याः अचेतसम्) अज्ञानी मानवकी पार्थिव सत्तामें उसके लिये (चिकित्वांसः) देखते और जानते हैं तथा (नयन्ति) उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं। (प्रव्राजे चित्) अपनी अग्रगामी गतिमें भी मनुष्य (नद्यः गाधम् अस्ति) नदीके अथाह गढ़ेमें जा पहुँचता है। तो भी वे (नः) हमें (अस्य विष्पितस्य) इस विशालताके (पारं पर्षन्) दूसरे पार तक ले जाएंगे।

8

यद्गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे।
तस्मिन्ना तोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेळनं तुरासः॥

(यत्) जो (गोपावत्) रक्षण, (शर्म) शान्ति और (भद्रम्) सुख-आनन्द (अदितिः) **अनन्त मां** और (मित्रः वरुणः) **प्रेम और पवित्रताके अधिपति** (सुदासे यच्छन्ति) यज्ञके सेवकको प्रदान करते हैं (तस्मिन्) उसीमें (तोकं तनयम् आ दधानाः) हम अपने समस्त सर्जन और निर्माणको प्रतिष्ठित करें। (तुरासः) हे द्रुतगामी पथिको! (देवहेळनं मा कर्म) हम देवके किसी नियमका उल्लङ्घन न करें।

9

अव वेदिं होत्राभिर्यजेत रिपः काश्चिद्वरुणध्रुतः सः।
परि द्वेषोभिरर्यमा वृणक्तूरुं सुदासे वृषणा उ लोकम्॥

(वरुण-ध्रुतः सः) जिसे **पवित्रताके अधिपति वरुणने** धारण कर रखा है वह (होत्राभिः) यज्ञकी शक्तियोंके द्वारा (काश्चित् रिपः) विघातकोंको, चाहे वे कैसे भी हों, (वेदिं) अपनी वेदीसे (अव यजेत) दूर रखता है। (अर्यमा) हे **बलके अधिपति**! (सुदासे) यज्ञके सेवकमेंसे (द्वेषोभिः परि वृणक्तु) द्वेष तथा विभाजनका उन्मूलन कर दे। उसके अंदर (उरुम् उ लोकम्) अन्य विशाल लोकका निर्माण करो (वृषणौ) हे प्रचुर ऐश्वर्य-वृष्टिके दाताओ!

10

सस्वश्चिद्धि समृतिस्त्वेष्येषामपीच्येन सहसा सहन्ते।
युष्मद्भिया वृषणो रेजमाना दक्षस्य चिन्महिना मृळता नः॥

(एषां समृतिः हि) इन देवोंका एक साथ आना निश्चय ही (सस्वः चित्) देदीप्यमान बल और (त्वेषी) प्रकाशमय लोकका आगमन है। ये देव (अपीच्येन सहसा) अपनी समीपस्थ और समीप आती हुई शक्तिसे (सहन्ते) हमें अभिभूत कर लेते हैं। देखो! (वृषणः) हे प्रचुर ऐश्वर्यके वर्षक देवो! हम (युष्मत् भिया रेजमानाः) तुम्हारे भयसे कांप रहे हैं, (दक्षस्य चित् महिना) अपने विवेककी महिमासे (नः मृळ) हमें सुख-शान्तिमें प्रतिष्ठित करो।

11

यो ब्रह्मणे सुमतिमायजाते वाजस्य सातौ परमस्य रायः।
सीक्षन्त मन्युं मघवानो अर्यं उरु क्षयाय चक्रिरे सुधातु॥

क्योंकि (यः) जो मनुष्य (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानके लिए, (वाजस्य सातौ) प्राचुर्यकी प्राप्तिके लिए और (परमस्य रायः [सातौ]) **परम आनन्द**की विजयके लिए जब भी (सुमतिम् आयजाते) यज्ञ द्वारा मनकी समीचीन स्थितिको अधिगत कर लेता है, तब (अर्यः मघवानः) शक्तिशाली **योद्धा** एवं **निधि**के **स्वामी** देवता (मन्युं सीक्षन्त) उसके भावुक हृदयके साथ दृढ़तया संलग्न हो जाते हैं और (क्षयाय) उसके निवासस्थानके लिए वहाँ (उरु चक्रिरे) **विशाल** लोकका निर्माण करते हैं तथा उस लोकको (सुधातु [चक्रिरे]) पूर्ण और पक्की धातका बनाते हैं।

12

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

(देवा मित्रावरुणौ) हे देवो. हे मित्र और वरुण, (युवभ्यां) तुम दोनोंके लिए हमने (यज्ञेषु) अपने यज्ञोंमें (इयं पुरोहितिः अकारि) दिव्य प्रतिनिधिके इस कार्यको सामने रखा है। (नः विश्वानि दुर्गा तिरः पिपृतम्) हमें सब दुर्गम स्थानोंसे निकालकर सुरक्षित पार ले जाओ। (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) हमें सदा शाश्वत सुख-आनन्दोंके संग में रखो।

विचारके देवों (मरुतों)का स्तोत्र*

जगमगाता हुआ देवगण, विचारके देवताओंका गण मेरी आत्मामें उदित हो गया है। वे देव ऊपरकी ओर प्रयाण करते हुए एक स्तोत्र गाते हैं, जो हृदयके प्रकाशका एक सूक्त है। हे मेरी आत्मा! तू उन देवोंके प्रचण्ड और बलशाली संगीतके सुर पर अति वेगसे आगे बढ़ती जा। वस्तुतः वे एक ऐसी अंतप्रेरणाके आनन्दसे मदोन्मत्त हैं, जो छल-कपट करके असत्यके पक्षमें नहीं चली जाती, क्योंकि शाश्वत **प्रकृति**का सत्य उसका पथप्रदर्शक है।[1] वे स्थिर और देदीप्यमान **प्रकाश**के साथी हैं और प्रकाशके बलपर वे अपने उत्तुंग आक्रमणोंको कार्य-रूप देते हैं। विजयशील वे अपने पथपर प्रचण्ड वेगसे बढ़ते चले जाते हैं, स्वतः ही रक्षण करनेवाले वे असत्यके विरुद्ध हमारी आत्माकी स्वयमेव रक्षा करते हैं;[2] क्योंकि वे अनेक हैं और अपने तेजस्वी दलोंमें बिना व्यवधानके प्रयाण करते हैं। द्रुतगतिसे दौड़ते हुए वृषभोंके झुंडकी तरह वे उग्र हैं। उनके सामने रात्रियाँ आती हैं, परन्तु वे उन रात्रियोंको कूदकर पार कर जाते हैं। वे हमारे विचारोंमें पृथिवीको अधिकृत करते हैं और उन्हींके साथ द्युलोकोंकी ओर ऊपर उठ जाते हैं। वे न अर्ध-प्रकाश हैं और नाहीं शक्तिहीन वस्तुएँ, अपितु आक्रमणमें सशक्त और प्राप्तिके लिए महाशक्तिशाली हैं। वे प्रकाशके भालोंको पकड़े हुए हैं और उन्हें अपने हाथोंसे **अन्धकार**की संतानपर छोड़ते हैं। विचारके देवोंकी कौंधती बिजली रात्रिकी तलाश करती है और उनके युद्ध-आह्वानपर द्युलोक का प्रकाश हमारी आत्माओंपर अपने आप उदित हो जाता है। सत्य उनका प्रकाशमय बल है। विचारके देवोंके गण आत्माके शिल्पी हैं और वे इसकी अमरताको गढ़ते हैं। वे हमारे जीवनके रथके आगे अपने द्रुतगामी अश्व जोतते हैं और उन्हें सरपट गतिसे आनन्दकी ओर हाँकते हैं जो जीवनका लक्ष्य है।

* ऋग्वेदके 5 वें मण्डलके ७ सूक्तों (52-58) पर आधारित।

1. **प्र यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः।**
   ये अद्रोघमनुष्वधं श्रवो मदन्ति यज्ञियाः॥
2. **ते हि स्थिरस्य शवसः सखायः सन्ति धृष्णुया।**
   ते यामन्ना धृषद्विनस्मना पान्ति शश्वतः॥ ऋ. V. 52-1, 2

उन्होंने अपने अंग-प्रत्यंगको परुष्णीके—अपरिमित धाराओंवाली नदीके जलोंमें स्नान कराया है। उन्होंने दिव्य वेश धारण किया है और अब वे अपने रथोंके पहियोंसे **प्रकृति**की समस्त गुह्य गुफाओंको तोड़कर खोल देते हैं।[1] कभी तो वे शाखा-प्रशाखाओंवाले सहस्रों मार्गोंपर प्रयाण करते हैं और कभी अपने लक्ष्य पर सीधे दौड़ते हैं। कभी तो उनके मार्ग अन्दर ही अन्दर होते हैं और कभी वे बाह्य प्रकृतिके हजारों मार्गोंका अनुसाण करते हैं। विश्व-यज्ञ उनके देवत्वके अनेक नामोंसे तथा उनके सदा विस्तृत होते हुए प्रयाणसे अपने आपको पूरा करता है, किसी समय वे अपने आपको हमारे जीवनकी सरपट दौड़नेवाली शक्तियाँ बना लेते हैं, तो किसी वक्त वे देवता और आत्माकी शक्तियाँ बन जाते हैं। अन्तमें वे परम लोकके आकार, अन्तर्दृष्टिके आकार व प्रकाशके आकार धारण कर लेते हैं। उन्होंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। वे विश्वके लयतालोंको आश्रय देते हैं, वे गान करते हुए वस्तुओंके असली स्रोतके ही चारों ओर अपने भव्य नृत्यका ताना-बाना बुनते हैं। वे परमोच्च आकारके स्रष्टा हैं। वे आत्माको अन्तर्दृष्टिमें विशाल बनाते हैं और हमें प्रकाशकी दिव्य प्रखर ज्वाला बना देते हैं। कारण, ये देव सत्यके वेगशाली अन्वेषक हैं; सत्यके लिए ही इनकी बिजलियां प्रहार करती और खोज करती हैं। वे द्रष्टा हैं, स्रष्टा और विधाता हैं। उनके आक्रमण द्युलोकके सामर्थ्य और शक्तिसे अंतःप्रेरित होते हैं। इसलिए हमारे विचारोंमें पुष्ट किए हुए वे हमें अपने मार्गपर विश्वासके साथ द्रुतवेगसे बढ़ाए लिए चलते हैं। जब मन उनसे भरा होता है, वह देवत्वकी ओर आगे ले जाया जाता है, क्योंकि उनमें मार्गकी भास्वर अन्तःप्रेरणा होती है।

कौन है वह जिसने उनके जन्मस्थानको जान लिया है? या कौन है वह जो उनके परम आनन्दोंमें उनके साथ (एक आसनपर) बैठा है?[2] वह कौन है जो परे स्थित अपने **सखा**की अभिलाषा और खोज करता है? अपनी आत्मामें अनेक रंगरूपवाली एक **'मां'**ने उन्हें अपने अंदर वहन किया और उस मांके विषयमें वे उसे बताते हैं। एक रौद्र देव (रुद्र) उनका **पिता** था जिसकी प्रेरणा सभी उत्पन्न प्राणियोंको परिचालित करती है और उसीको वे प्रकट करते हैं। सात और सात **विचार**-स्वरूप देव मेरी ओर

---

1. **उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः।**
   उत पव्या रथानामर्द्रि भिन्दन्त्योजसा॥ ऋ. V. 52. 9
2. **को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम्।** ऋ. V. 53. 1

आए और उन्होंने सात वार सौगुना (ऐश्वर्य) दिया। मैं अपने विचारोंके उज्ज्वल यूथोंको, जो उन्होंने प्रदान किए हैं, यमुनामें स्नान कराऊँगा और अपनी आत्माकी नदीमें अपने तीव्र वेगोंको शुद्ध-पवित्र करूँगा।[1]

देखो! वे अपने दलों और संघोंमें प्रयाण करते हैं। हम अपने चिन्तनोंकी चालके साथ उनके कदमोंपर चलें। क्योंकि, वे अपने साथ सृष्टिका अविनश्वर बीज और अमर रूपोंका परमाणु वहन करते हैं और इसे यदि वे आत्माके खेतोंमें बो दें तो वहाँ वैश्व जीवन और परात्पर आनन्दकी फसल उग आएगी। वे उस सबसे किनारा करेंगे जो हमारी अभीप्साका उपहास करता है और उस सबको पार कर जाएँगे जो हमें सीमित करता है। वे सब प्रकारके दोषों और जड़ताओं तथा आत्माकी दरिद्रताओंको नष्ट कर देंगे। कारण, द्युलोकके प्राचुर्यकी वर्षा उन्हींकी है और उन्हींके हैं वे तूफान जो जीवनकी नदियोंको बहाए रखते हैं। उनकी विद्युत्-गर्जनाएँ हैं देवोंके सूक्तका गान और सत्यका उद्घोष। वे हैं एक आँख जो हमें सुखद मार्गपर ले जाती है और जो उनका अनुसरण करता है, वह लड़खड़ाता नहीं, और नाहीं वह पीड़ा वा आघात प्राप्त करता है और न जरा व मृत्यु।[2] उनके वैभव नष्ट नहीं होते और नाहीं उनके आनन्द क्षीण होते हैं। वे मानवको द्रष्टा और राजा बना देते हैं। उनकी विशालता है दिव्य सूर्यकी दीप्ति। वे हमें अमरताके धामोंमें प्रतिष्ठित कर देंगे।

वह सब जो पुरातन था और वह सब जो नूतन है, वह सब जो आत्मासे उठता है और वह सब जो अभिव्यक्त होना चाहता है—उस सबके प्रेरक वे ही हैं।[3] वे उच्च, निम्न और मध्य द्युलोकमें स्थित हैं। वे सर्वोच्च परम सत्तासे अवतीर्ण हुए हैं। वे सत्यसे उत्पन्न हुए हैं। वे मनके

---

1. सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
यमुनायामधि श्रुतमुद् राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे॥
ऋ. V. 52.17

2. . . . अध स्मा नो अरमति सजोषसश्चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्। . . .
न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
ऋ. V. 54.6-7

3. यत्पूर्व्यं महतो यच्च नूतनं यदुद्यते वसवो यच्च शस्यते।
विश्वस्य तस्य भवथा नवेदसः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥
ऋ. V. 55.8

ज्योतिर्मय नेता हैं। वे आनन्दकी मधुर मदिरा का पान करेंगे और हमें सर्वोच्च अन्तःप्रेरणाएँ प्रदान करेंगे। भगवती देवी उनके साथ है जो व्यथा, तृष्णा और कामनाको हमसे दूर कर देगी और मनुष्यके मनको फिरसे देवत्वके रूपमें गढ़ देगी। देखो! ये सत्यके ज्ञाता हैं, ऐसे द्रष्टा हैं जिन्हें सत्य अन्तःप्रेरित करता है, ये हैं अभिव्यक्तिमें विशाल, प्रसारणमें बृहत्, नित्य युवा और अमर।[1]

1. हये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अनृता ऋतज्ञाः।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥
ऋ. V. 58.8

वैदिक अग्नि

I*

1

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(जातवेदसे) उस सर्वज्ञ अग्निदेवके लिये जो हमारी सत्ताके विधानको जानता है और (अर्हते) अपने कार्योंके लिए स्वतः-पर्याप्त है, (मनीषया) अपने विचारसे हम (इमं स्तोमं सं महेम) उसके सत्यका यह गीत रचें और इसे (रथम् इव [सं महेम]) एक ऐसा रथ-सा बनाएँ जिसपर वह आरोहण करे। (अस्य संसदि हि) जब वह हमारे साथ निवास करता है तब (नः भद्रा प्रमतिः) एक कल्याणकारी बुद्धि हमारी सम्पदा बन जाती है। (अग्ने) हे अग्ने! (तव सख्ये) तेरी मित्रतामें अर्थात् जब तू—वह[1]—हमारा मित्र बन जाता है तब (वयं मा रिषाम) हम कभी नष्ट व हिंसित नहीं हो सकते।

2

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(यस्मै त्वम् आयजसे) जिसके लिये तू यज्ञ करता है अर्थात् जो कोई भी तुझे अपने यज्ञका पुरोहित बनाता है (सः साधति) वह पूर्णताको प्राप्त करता है जो उसके श्रमका फल है। (अनर्वा क्षेति) वह अपनी सत्ताके

---

* ऋ. I. 94

1. श्रीअरविन्दने इस सारे सूक्तमें मध्यम पुरुष (तव, त्वम् आदि)को प्रथम पुरुषके अर्थमें लिया है, इस सूक्तके अनुसार वैदिक अग्निका स्वरूप प्रतिपादित करनेके लिये त्वम्, तव आदिका अर्थ "वह, उसका" आदि किया है। वस्तुतः इस सूक्तकी व्याख्यामें उनका अभिप्राय है वैदिक अग्निके स्वरूपका वर्णन, न कि सूक्तका शाब्दिक अर्थ। हमने यहाँ मूल शब्दोंके सामने श्रीअरविन्दके दिए भावार्थ और सीधे-सादे शब्दार्थ दोनोंको प्रस्तुत कर दिया है। श्रीअरविन्दका दिया भावार्थ 'पुरुष व्यत्यय'का उदाहरण भी माना जा सकता है जो वेदमें बहुलतासे पाया जाता है।—अनुवादक

शिखरपर एक ऐसे धाममें निवास करता है जहाँ न कोई युद्ध है, न शत्रु। (सुवीर्यं दधते) वह अपने अंदर विपुल सामर्थ्यको दृढ़तया धारण करता है। (स तूताव) वह अपने बलमें सुरक्षित रहता है। (अंहतिः एनम् न अश्नोति) बुराई उसपर अपने हाथ नहीं रख सकती। शेष पूर्ववत्।

3

शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।
त्वमादित्याँ आ वह तान् ह्यु श्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

यही है हमारे यज्ञकी अग्नि। (त्वा समिधं शकेम) हम तुझे [उसे] ऊँचे-सा-ऊँचा प्रदीप्त करनेमें समर्थ हों, (धियः साधय) हमारे विचारोंको तू पूर्ण बना [वह पूर्ण बनाए]। (त्वे आहुतं हविः देवाः अदन्ति) देवता तेरे अन्दर डाली गई आहुतिका ही भक्षण करते हैं, अर्थात् जो कुछ भी हम देते हैं वह सब इसी अग्निमें डाला जाना चाहिए ताकि वह देवोंके लिए अन्न बन जाए। (आदित्यान् त्वम् आ वह तान् हि उश्मसि) अनन्त चेतनाके देवोंको, जिन्हें हम चाहते हैं, हमारे पास ले आ [यह अग्नि ले आए] शेष पूर्ववत्।

4

भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम्।
जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

(वयं ते इध्मं भराम) हम तेरे लिए [इस अग्निके लिए] समिधा इकट्ठी करें, (हवींषि कृणवाम) हवियोंको तय्यार करें, (पर्वणा-पर्वणा चितयन्तः) तेरे [इसके] कालों और ऋतुओंकी संधियोंसे अपनेको सचेतन बनाएं। (धियः साधय) तू [वह] हमारे विचारोंको इस प्रकार बना [बनाए] कि वे (प्रतरं जीवातवे) हमारी सत्ताका विस्तार करें और हमारे लिए एक बृहत्तर जीवनका निर्माण करें। शेष पूर्ववत्।

5

विशां गोपा अस्य चरन्ति जन्तवो द्विपच्च यदुत चतुष्पदक्तुभिः।
चित्रः प्रकेत उषसो महाँ अस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

यह अग्निदेव (विशां गोपाः) जगत् और उसके प्राणियोंका संरक्षक है, इन सब यूथोंका पालक है। (जन्तवः, यत् च द्विपत् उत चतुष्पत्) वह सब जो उत्पन्न हुआ है, द्विपाद् और चतुष्पाद् दोनों प्रकारके प्राणी (अस्य अक्तुभिः चरन्ति) उसकी रश्मियोंके द्वारा गति करते हैं और उसकी

ज्वालाओंसे प्रेरित होते हैं। (उषसः चित्रः महान् प्रकेतः असि) तू है [यह है] हमारे अन्दरकी **उषाका** समृद्ध तथा महान् विचार-जागरण। शेष पूर्ववत्।

6

त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः।
विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(त्वम् अध्वर्युः असि) तू [यह] है वह अध्वर्यु जो यज्ञके प्रयाणका संचालक है, (उत) और (पूर्व्यः होता) वह प्रथम और सनातन जो देवोंका आवाहक है और उन्हें हवि देता है, (प्रशास्ता पोता) वह प्रशासक और पावक जिसका कार्य है प्रशासन और पवित्रीकरण। (जनुषा पुरोहितः) हमारे यज्ञका पुरोहित तू [वह] अपने जन्मसमयसे ही हमारे अग्रभागमें स्थित है। (विश्वा आर्त्विज्या विद्वान्) तू [वह] इस दिव्य पौरोहित्यके सब कार्योंको जानता है, क्योंकि तू [वह] (धीर पुष्यसि) हमारे अन्दर बढ़नेवाला **चिंतक** है। शेष पूर्ववत्।

7

यो विश्वतः सुप्रतीकः सदृङ्ङसि दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे।
रात्र्याश्चिदन्धो अति देव पश्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(यः विश्वतः सुप्रतीकः) तुझ अग्निदेवके [उस अग्निदेवके] मुख हर तरफ हैं और तू [वह] पूर्णतया सब वस्तुओंके संमुख स्थित है। (सदृङ् असि) तेरे [उसके] चक्षु है, और है अंतर्दृष्टि। (दूरे सन् चित् तळित् इव) जब हम तुझे [उसे] दूरसे देखते हैं तो भी तू [वह] हमारे निकट प्रतीत होता है, क्योंकि तू [वह] (अति रोचसे) इतनी तेजस्वितासे खाइयोंके पार चमकता है। (देव) हे अग्निदेव! तू [वह अग्निदेव] (रात्र्याः अन्धः चित् अति पश्यसि) हमारी रात्रिके अंधकारके परे भी देखता है, क्योंकि तेरी [उसकी] दृष्टि दिव्य है। शेष पूर्ववत्।

8

पूर्वो देवा भवतु सुन्वतो रथोऽस्माकं शंसो अभ्यस्तु दूढ्यः।
तदा जानीतोत पुष्यता वचोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(देवाः) हे तुम देवो! (अस्माकं सुन्वतः रथः) हम यज्ञ करनेवालोंका रथ (पूर्वः भवतु) सदा संमुख रहे। (अस्माकं शंसः) हमारा स्पष्ट और ओजस्वी शब्द (दुःध्यः अभि अस्तु) उस सबको परास्त करे जो असत्यका

विचार करता है। (देवाः) हे देवो! तुम (तत् आ जानीत) हमारे लिए, हमारे अन्दर उस सत्यको जानो (उत) और (वचः पुष्यत) उस वाणीको बढ़ाओ जो उसको पा लेती है तथा उसे उच्चरित करती है। शेष पूर्ववत्।

9

वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! तू (वधैः) वध करनेवाले प्रहारोंसे, (दुःशंसान् दुः-ध्यः) उन शक्तियोंको जो बोलनेमें लड़खड़ाती हैं और विचारमें डगमगाती हैं, (ये के चित् अत्रिणः) जो हमारी शक्ति और हमारे ज्ञानकी भक्षिका हैं, (अन्ति वा दूरे वा) जो हमपर निकटसे कूदती हैं या हमें दूरसे निशाना बनाती हैं, (अप जहि) हमारे मार्गसे दूर फेंक दे। (अथ) और फिर (यज्ञाय गृणते सुगं कृधि) यज्ञके [तेरा स्तवन करनेवाले यजमानके] मार्गको एक प्रशस्त और सुखद यात्रा बना दे। शेष पूर्ववत्।

10

यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(अग्ने) हे दिव्य संकल्प! (यत्) जब तू (रोहिता) अपने लाल घोड़ोंको जो (अरुषा) उज्ज्वल हैं और (वातजूता) तेरे आवेगके झंझावातसे खींचे जाते हैं, (रथे) अपने रथमें (अयुक्थाः) जोतता है तब (ते रवः वृषभस्य इव) तू वृषभकी न्याईं गर्जना करता है, (आत्) उसके बाद तू (वनिनः) जीवनके वनोंपर, उसके उन रमणीय वृक्षोंपर जो तेरे रास्तेका अवरोध करते हैं, (धूमकेतुना इन्वसि) अपने उस आवेगके धूएँसे टूट पड़ता है जिसमें विचार तथा दृष्टि है। शेष पूर्ववत्।

11

अध स्वनादुत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्सा यत्ते यवसादो व्यस्थिरन्।
सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(अध) तब (स्वनात्) तेरे आगमनके शोरसे (पतत्रिणः उत) आकाशमें उड़नेवाले पक्षी भी (बिभ्युः) डर जाते हैं, (यत्) जब कि (ते यवसादः) चरागाहमें चरनेवाले तेरे पशु (द्रप्साः वि अस्थिरन्) वेगसे इतस्ततः दौड़ते हैं। (तत्) सो तू (तावकेभ्यः रथेभ्यः ते सुगम्) अपने रथोंके

लिये अपने राज्यकी ओर जानेवाला अपना मार्ग प्रशस्त बनाता है ताकि वे उसकी ओर आसानीसे दौड़ सकें। शेष पूर्ववत्।

12

अयं मित्रस्य वरुणस्य धायसेऽवयातां मरुतां हेळो अद्भुतः।
मृळा सु नो भूत्वेषां मनः पुनरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(अयं) यह तेरा भयावह उत्पात,--(अवयाताम् मरुताम् अद्भुतः हेळः) क्या यह हमपर टूट पड़ते हुए **प्राण**के देवताओंका अद्भुत और अतिशय कोप नहीं है, जिससे कि यहाँ (वरुणस्य मित्रस्य धायसे) **असीम**की पवित्रता और **प्रेमी**की समस्वरता स्थापित हो? (मृळ अग्ने) कृपा कर, हे प्रचण्ड अग्नि! (एषां मनः) उनके मन (नः) हमारे प्रति (पुनः सु भूतु) फिरसे मधुर और हर्षप्रद हो जाएँ। शेष पूर्ववत्।

13

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(देवानां देवः असि) तू देवोंका देव है क्योंकि तू (अद्भुतः मित्रः) अद्भुत प्रेमी और मित्र है। (वसूनां वसुः असि) निधिके स्वामियों और घरके संस्थापकोंमें तू सबसे अधिक समृद्ध है, क्योंकि तू (अध्वरे चारुः) तीर्थयात्रा तथा यज्ञमें अति उज्ज्वल व रमणीय है। (तव सप्रथस्तमे शर्मन् स्याम) तेरे परमानन्दकी शान्ति बहुत विशाल और दूर-दूर तक विस्तृत है; वही हमारा विश्राम-धाम हो। शेष पूर्ववत्।

14

तत्ते भद्रं यत्समिद्धः स्वे दमे सोमाहुतो जरसे मृळयत्तमः।
दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(तत् ते भद्रम्) वह है तेरा [उसका] सुख और आनन्द; क्योंकि (यत्) जब तू [यह संकल्पशक्ति-रूप अग्निदेव] (स्वे दमे) अपने दिव्य घरमें (समिद्धः) उच्च और पूर्ण ज्वालाके रूपमें प्रदीप्त होकर (जरसे) हमारे विचारोंसे पूजित होता है, तब तू [वह] (मृळयत्तमः) अत्यन्त दयामय और आनन्दप्रद होता है। (दाशुषे रत्नं द्रविणं च दधासि) तू [वह] अपनी मधुर सरसता लुटाता है और जो कुछ हमने तेरे [उसके] हाथोंमें दिया है उस सबके प्रतिफलके रूपमें हमें तू [वह] अपना ऐश्वर्य और सारतत्त्व प्रदान करता है।

15

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥

(सुद्रविणः अदिते) हे [उत्तम ऐश्वर्यसे सम्पन्न] अनन्त और अखण्ड सत्ता! (यस्मै त्वम् अनागास्त्वं सर्वताता ददाशः) अपने जिन कृपा-पात्रोंके लिए तू यज्ञके द्वारा आत्माकी निष्पाप विश्वमय अवस्था निर्मित या प्रदान करती है, (यम्) अपने जिन कृपापात्रोंको तू (ते भद्रेण शवसा) अपने सुखद और प्रकाशमय बलके द्वारा तथा (प्रजावता राधसा) अपने आनन्दके फल-दायक वैभवके द्वारा (चोदयासि) प्रेरणा और अंतःस्फुरणा प्रदान करती है; (स्याम) हमारी गणना भी उन्हीं कृपापात्रोंमें हो जाए।

16

स त्वमग्ने सौभगत्वस्य विद्वानस्माकमायुः प्र तिरेह देव।
(तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः)॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (स त्वम्) वह तू (सौभगत्वस्य विद्वान्) परमानन्दका ज्ञाता है और (इह अस्माकम् आयुः प्र तिर) यहाँ हमारी आयु बढ़ानेवाला है तथा हमारी सत्ताकी अभिवृद्धि व प्रगति साधित करने-वाला है। (त्वम् देव) सचमुच तू देव है।.....

II*

1

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघम्॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे। (रयिम् आ शुशुग्धि) हमें आनन्दकी ज्वालासे देदीप्यमान कर। (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

2

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम्॥

(सुक्षेत्रिया सुगातुया) सुखद क्षेत्रकी ओर ले जानेवाले पूर्णता-युक्त मार्गके लिए (च) और (वसूया) अमित ऐश्वर्य-निधिके लिए जब हम

* ऋ. 1.97

(यजामहे) यज्ञ करें, तब (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

3

प्र यद्वन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अप नः शोशुचदघम्॥

(अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे, (यत्) जिससे कि (एषां भन्दिष्ठः) इन सब अनेकानेक देवोंमेंसे सबसे अधिक आनन्दमय देव (प्र) हमारे अन्दर उत्पन्न हो और (अस्माकासः सूरयः प्र) क्रान्तदर्शी ऋषि, जो हमारे विचारके अन्दर पैठकर देखते हैं, वृद्धिको प्राप्त करें।

4

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अप नः शोशुचदघम्॥

(अग्ने) हे **दिव्य ज्वाला**! (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे, (यत्) जिससे कि (ते) तेरे (सूरयः) द्रष्टा (प्र) वृद्धिको प्राप्त करें (वयं ते प्र जग्येमहि) हम तेरे होकर नव-जन्म प्राप्त करें।

5

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः।
अप नः शोशुचदघम्॥

(यत्) जब (सहस्वतः अग्नेः भानवः) तेरी शक्तिकी जाज्वल्यमान किरणें (विश्वतः प्र यन्ति) प्रचण्डतासे चारों ओर दौड़ती हैं तब (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

6

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम्॥

(विश्वतोमुख) हे भगवन्, तेरे मुख सब तरफ हैं! (त्वं हि विश्वतः परिभूः असि) तू अपनी सत्तासे हमें सब तरफसे घेरे हुए है। (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

7

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम्॥

(द्विषः विश्वतोमुख) तेरा मुख शत्रुका सामना करे, जिधर भी वह मुंह फेरे, (नावा इव नः अति पारय) हमें भयंकर समुद्रपरसे अपने जहाजसे पार ले जा। (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

8

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम्॥

(नावया सिन्धुम् इव) जैसे जहाज समुद्रसे पार ले जाता है, वैसे ही (सः) वह तू अग्निदेव (नः स्वस्तये अति पर्ष) हमें वहन करके, भवसागरसे पार लगाकर अपने आनन्दमें पहुँचा दे। (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

अग्निदेवका एक वैदिक स्तोत्र

वैश्व दिव्य शक्ति एवं संकल्पका सूक्त[1]

1

वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते।
वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद् ययन्थ ।।

(अग्ने) हे अग्नि! (अन्ये अग्नयः ते वयाः इत्) अन्य ज्वालाएँ तेरे तनेकी शाखाएँमात्र हैं। (त्वे विश्वे अमृताः मादयन्ते) सब देव तुझमें ही अपना हर्षोन्मादपूर्ण आनन्द प्राप्त करते हैं। (वैश्वानर) हे विश्वव्यापी देव! तू (क्षितीनां नाभिः असि) पृथिवी-लोकों और उनके निवासियोंकी नाभि है। तू (जनान्) सभी उत्पन्न मनुष्योंको (स्थूणा इव) एक स्तम्भकी तरह (ययन्थ) वशमें करता है और (उपमित्) उन्हें आश्रय देता है।

2

मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः।
तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय ।।

(अग्निः) दिव्यज्वालारूप अग्नि (दिवः मूर्धा) द्युलोकका मस्तक और (पृथिव्याः नाभिः) पृथिवीकी नाभि है (अथ) और वह (रोदस्योः अरतिः अभवत्) एक ऐसी शक्ति है जो द्युलोक और पृथिवीलोक दोनोंमें कार्यरत एवं गतिशील है। (वैश्वानर) हे वैश्वानर! (देवासः) देवोंने (तं त्वा देवम् अजनयन्त) उस तुझ देवको जन्म दिया जिससे कि तू (आर्याय ज्योतिः इत्) आर्यके लिए ज्योति बन सके।

3

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि।
या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा ।।

(सूर्ये ध्रुवासः रश्मयः न) जैसे सूर्यमें स्थिर रश्मियाँ दृढ़तासे स्थित होती हैं उसी प्रकार (वसूनि) समस्त कोष (वैश्वानरे अग्ना) इस विश्व-

---

1. वैश्वानर अग्निके प्रति नोधा गौतमके एक सूक्त (ऋ. मंडल 1 सूक्त 59)से।

व्यापी देव और ज्वालारूप अग्निमें (आ दधिरे) स्थापित हैं। (तस्य राजा असि) तू उन सब ऐश्वर्योंका राजा है (या ओषधीषु पर्वतेषु अप्सु) जो पृथिवीकी ओषधियों, पर्वतों और जलोंमें हैं, [तस्य राजा असि] उन सब संपदाओंका भी राजा है (या मानुषेषु) जो मनुष्योंमें हैं।

4

बृहती इव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो न दक्षः।
स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वीर्वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः॥

(रोदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक ऐसे बढ़ते हैं (सूनवे बृहती इव) मानो पुत्रके लिए बृहत्तर लोक हों। वह (होता) हमारे यज्ञका पुरोहित है और (दक्षः मनुष्यः न गिरः) विवेकशील कुशलतासे संपन्न व्यक्तिकी तरह हमारी वाणियोंको गाता है। (नृतमाय वैश्वानराय) वह इस परम बलशाली देव वैश्वानरके लिए गाता है जो अपने साथ (स्वर्वते पूर्वीः यह्वीः) सूर्यलोकके प्रकाशको और उसकी अनेकों बलशाली धाराओंको लाता है क्योंकि (सत्यशुष्माय) उसका बल सत्यका बल है।

5

दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम्।
राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥

(वैश्वानर) हे विश्वव्यापी देव! (जातवेदः) हे सब उत्पन्न वस्तुओंके ज्ञाता! (ते महित्वम्) तेरी अतिशय महिमा (बृहतः दिवः चित् प्र रिरिचे) महान् द्युलोकको आप्लावित कर उससे भी ऊपर चली जाती है। (कृष्टीनां मानुषीणां राजा असि) तू श्रम करनेवाले मानव प्राणियोंका राजा है। (युधा) युद्धके द्वारा तूने (देवेभ्यः वरिवः चकर्थ) देवोंके लिए परम कल्याणका निर्माण किया है।

7

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो विभावा।
शातवनेये शतिनीभिरग्निः पुरुणीथे जरते सूनृतावान्॥

(वैश्वानरः) यह है विश्वव्यापी देव जो (महिम्ना) अपनी महिमासे (भरत्-वाजेषु विश्वकृष्टिः) समस्त प्रजाओंमें ज्ञान, बल व कर्मकी प्राप्तिके लिए श्रम करता है। यह (यजतः विभावा) यज्ञका देदीप्यमान स्वामी (शतिनीभिः अग्निः) सैकड़ों ऐश्वर्योंसे युक्त ज्वाला है। (सूनृतावान्) यही है वह जिसके पास सत्यकी वाणी है।*

* ऋ. 1.59 के पहले पांच और 7वें मन्त्रका भावानुवाद। —अनुवादक

परिशिष्ट

आर्यभाषाके उद्गम

प्रास्ताविक

उन्नीसवीं शताब्दी जिन अनेकों आशाजनक प्रारंभोंकी साक्षी थी, उनमेंसे संभवतः संस्कृति और विज्ञानके जगत्में इतनी अधिक उत्सुकतासे किसीका स्वागत नहीं किया गया जितना तुलनात्मक भाषाशास्त्रके विजयी प्रारंभका। किन्तु शायद अपने परिणामोंमें इससे अधिक निराशाजनक भी कोई नहीं रहा। निःसंदेह भाषाशास्त्री अपने अनुशीलनकी दिशाको बड़ा महत्त्व देते हैं,—उसकी सब त्रुटियोंके होते हुए भी इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं,—और वे इसे विज्ञानका नाम देनेपर बल देते हैं, किन्तु वैज्ञानिकोंकी सम्मति इससे बिल्कुल भिन्न है। जर्मनीमें—जो विज्ञान और भाषाशास्त्र दोनोंकीही राजधानी है—'भाषाशास्त्र' यह शब्द निंदा वा अप्रतिष्ठाका सूचक पद बन गया है और भाषाशास्त्री इसका प्रतिवाद करनेकी स्थितिमें नहीं हैं। भौतिक विज्ञान अत्यंत युक्तियुक्त और सावधानतापूर्ण विधियोंसे चला है और उसने एक निर्विवाद परिणामसमूहको जन्म दिया है जिसने अपने विस्तार और दूरगामी परिणामोंसे जगत्में क्रांति उत्पन्न कर दी है और अपने विकासके युगको न्यायपूर्वक आश्चर्यजनक शताब्दीकी उपाधिका अधिकारी बना दिया है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र अपने उद्गमोंसे कदाचित् ही एक कदम आगे बढ़ा हो, शेष सब तो आनुमानिक और चातुर्यपूर्ण विद्याका पुंज रहा है, जिसमें जितनी प्रतिभा है उतनी ही अनिश्चितता और अप्रामाणिकता भी। रनाँ जैसे एक महान् भाषाशास्त्रीको भी जिसने अपना जीवन-कार्य इतनी असीम आशाओंसे आरंभ किया था, आगे चलकर उन "क्षुद्र आनुमानिक विज्ञानों"के लिए विरोधसूचक खेद प्रकट करना पड़ा जिनमें उसने अपने जीवनकी समस्त शक्तियां लगा दी थीं। इस शताब्दीके शब्दशास्त्रविषयक अनुसंधानोंके आरंभमें,—जब संस्कृतभाषाका आविष्कार हो चुका था, जब मैक्समूलर अपने "पिता, पाटैर, पातैर, फाटॅर, फादर" इस घातक सूत्रके कारण हर्षसे फूला नहीं समाता था,—ऐसा लगता था कि भाषाविज्ञान प्रकट होने ही वाला है। किन्तु शताब्दीभरके परिणामस्वरूप प्रसिद्ध विचारक निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि भाषाविज्ञानका विचार ही एक कोरी कपोल-कल्पना है। इसमें संदेह नहीं कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके विरोधी पक्षको अत्युक्तिसे स्थापित

किया गया है। यदि इसने भाषाविज्ञानकी खोज नहीं भी की तो भी इसने कमसे कम हमारे पूर्वजोंकी कुछ एक केवल कल्पनामूलक, निरंकुश और लगभग नियमरहित निरुक्तिओंको उखाड़ फेंका है! इसने प्रचलित भाषाओंके परस्पर-संबंधों और विज्ञान, इतिहास तथा उन प्रक्रियाओंके विषयमें हमें अधिक न्यायसंगत विचार प्रदान किये हैं, जिनके द्वारा पुरानी भाषाएँ ह्रासको प्राप्त होकर ऐसा मलवा बन गई हैं जिसमेंसे भाषाका एक नया रूप अपनेको गढ़ता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसने हमें यह दृढ़मूल विचार दिया है कि भाषाविषयक हमारे अनुसंधानोंका उद्देश्य होना चाहिये भाषाके नियमों और विधानोंकी खोज, न कि व्यक्तिगत निर्वचनोंके अंदर स्वच्छंद और निरंकुश उछल-कूद। मार्ग तैयार कर दिया गया है। हमारे मार्गकी बहुत-सी कठिनाइयोंको साफ कर दिया गया है। तथापि वैज्ञानिक भाषाशास्त्रका अस्तित्व अभी तक भी नहीं है। भाषाविज्ञान की खोजकी ओर कोई वास्तविक पहुँच और भी कम हुई है।

क्या इसका तात्पर्य यह है कि भाषाविज्ञानकी खोज ही असंभव है? कमसे कम भारतमें, जिसकी महान् वैज्ञानिक प्रणालियाँ सुदूर प्रागैतिहासिक कालतक जाती हैं, हम सुगमतासे यह विश्वास नहीं कर सकते कि प्रकृतिकी नियंत्रित व व्यवस्थित प्रक्रियाएँ ध्वनि और वाणीके सब व्यापारोंके मूलमें नहीं हैं। यूरोपीय भाषाशास्त्रको सत्यका मार्ग मिला ही नहीं, क्योंकि अपूर्ण, गौण और प्रायः भ्रामक सूत्रोंको पकड़ने और बढ़ा-चढ़ाकर दिखानेके अत्यधिक उत्साह और आतुर जल्दबाजीने इसको ऐसी पगडंडियोंमें ला घसीटा है जो किसी विश्रांति-स्थान पर नहीं पहुँचातीं; किन्तु फिर भी कहीं-न-कहीं मार्ग है अवश्य। यदि वह है तो उसे खोजा भी जा सकता है। आवश्यकता है केवल यथार्थ सूत्रकी और एक ऐसी मानसिक स्वतंत्रताकी भी जो पक्षपातोंके नीचे न दबकर और विद्वानोंके कट्टर सिद्धांतोंसे विचलित न होकर उस सूत्रका अनुसरण कर सके। सबसे बड़ी बात यह है कि यदि भाषाशास्त्रको तुच्छ आनुमानिक विज्ञानोंमें गिने जानेसे मुक्त होना है—जिनमें रनाँको भी उसका वर्गीकरण करनेको विवश होना पड़ा—तो उसे उतावलीभरे व्यापक सिद्धान्त बनाने, हलके और धृष्टतापूर्ण अनुमान करने, चतुराइओंके पीछे दौड़ने, कुतूहलपूर्ण एवं विद्वत्ताभरी परिकल्पनाको तुष्ट करनेकी आदत को दृढ़तापूर्वक छोड़ना पड़ेगा; क्योंकि ये सब शब्दजाल-पूर्ण पांडित्यके छद्मगर्त हैं, और इन्हें मानवजातिकी रद्दीकी टोकरीमें फेंकना पड़ेगा, इनकी गणना ऐसे आवश्यक खिलौनोंमें करनी होगी जिनको हमें शिशुगृहमेंसे निकलनेके पश्चात् उपयुक्त कबाड़खानेमें डाल देना चाहिए। आनु-

मानिक विज्ञानका अर्थ है मिथ्या विज्ञान, क्योंकि निश्चित, गंभीर और सिद्ध करने योग्य आधार और पद्धतियाँ, जो अनुमानोंसे मुक्त हों, विज्ञानकी मुख्य शर्त है। जहाँ साक्षी पर्याप्त न हो या परस्परविरुद्ध समाधान तुल्यरूपसे संभव हों, वहाँ विज्ञान खोजके प्रथम पगके रूपमें आनुमानिक प्राक्-कल्पनाओंको मान्यता दे देता है। किन्तु हमारे मानवीय अज्ञानको दी गई इस छूटका दुरुपयोग, ज्ञानकी सुनिश्चित उपलब्धियोंके रूपमें सारहीन अनुमानों को खड़ा कर देने की आदत भाषाशास्त्रका अभिशाप है। एक विज्ञानको जिसमें नौ-दशांश भाग अटकलपच्चू ही है, मानवीय प्रगति की इस अवस्थामें अपनी डींगें हांकने और अपनेको मानवजातिके मनपर लादनेकी चेष्टा करनेका कोई अधिकार नहीं। इसके लिए उचित मनोभाव है नम्रता, इसका मुख्य कार्य है सदा ही निश्चिततर आधारोंको और अपने अस्तित्वके अधिक न्यायसंगत औचित्य को ढूंढ़ना।

इस प्रस्तुत कृतिका लक्ष्य ऐसे ही दृढ़तर और निश्चिततर आधारकी खोज करना है। यह यत्न सफल हो सके—इसके लिए पहले-पहल यह आवश्यक है कि भूतकालमें जो भूलें की गई हैं उनका निरीक्षण करके उन्हें दूर किया जाए। भाषाशास्त्रियोंने संस्कृतभाषाकी महत्त्वपूर्ण खोजके पश्चात् जो पहली भूल की वह अपनी प्रारंभिक उथली खोजोंके महत्त्वको बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की थी। प्रथम दृष्टिके उथले होनेकी संभावना रहती ही है, आरंभिक सर्वेक्षणसे निकाले प्रत्यक्ष प्रमाणोंको सुधारनेकी आवश्यकता होती ही है। तो यदि हम उनसे इतने चकाचौंध हो जाते या उनके प्रवाहमें इतने बह जाते हैं कि उन्हें अपने भावी ज्ञानकी असली कुंजी, उसका केंद्रीय आधार उसका मूल आदर्शमंत्र बना लेते हैं, तो हम अपने लिए घोर निराशाओंको तैयार करते हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्रने, जो इस भूलका दोषी है, एक छोटेसे सूत्र का संकेत पकड़ लिया है और गलतीसे उसीको एक बड़ा या मुख्य संकेत समझ लिया है। जब मैक्समूलरने अपने आकर्षक अध्ययन-अनुशीलनमें जगत्के सम्मुख "पिता, पाटैर, पातैर, फाटॅर, फादर" इस महान् और घनिष्ठ संबंधका ढोल बजाया था, तब वह एक प्रकारसे नवीन विज्ञानका दिवाला पीटनेकी तैयारी कर रहा था। वह इसे पीछे विद्यमान अधिक सच्चे सूत्रों एवं अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्योंसे परे ले जा रहा था। इस दुर्भाग्यपूर्ण सूत्रके संकुचित आधारपर अत्यन्त असाधारण और शानदार पर निःसार भवन खड़े किये गए। सर्वप्रथम, प्राचीन और नवीन भाषाओंके भाषाशास्त्रीय वर्गीकरणके आधारपर सभ्य मानवजातिको आर्य, सेमेटिक, द्राविड़ और तुरानी प्रजातिओंमें विस्तृत रूपसे विभक्त कर दिया गया।

अधिक बुद्धिसंगत और सावधानतापूर्वक किए गए विचारने हमें दिखा दिया है कि भाषाकी समानता रक्तकी समानता या मानववंश-संबंधी एकताका प्रमाण नहीं है। क्योंकि फ्रांसीसी अपभ्रष्ट और सानुनासिक लैटिन बोलते हैं इससे वे लैटिन जातिके नहीं बन जाते, और न ही बल्गेरियाके लोग रक्तकी दृष्टिसे इस कारण स्लैव बन जाते हैं कि उग्रो-फिनिश जातियोंको सभ्यता और भाषामें पूरी तरहसे स्लैव बना दिया गया है। एक अन्य प्रकारके वैज्ञानिक अनुसंधानोंने इस उपयोगी और सामयिक निषेधका समर्थन किया है। उदाहरणार्थ, भाषाशास्त्रियोंने भारतीय जातियोंको भाषागत भेदोंके बलपर उत्तरीय आर्यजाति और दाक्षिणात्य द्रविड़जातिमें विभक्त कर दिया है, किन्तु गंभीर निरीक्षण एक ही शारीरिक जातिरूप दर्शाता है जिसमें कन्याकुमारीसे लेकर अफ़गानिस्तान तक संपूर्ण भारतमें छोटे-मोटे भेद व्याप्त हैं। इसलिए भाषाको मानववंशके घटक तत्त्व के रूपमें स्वीकार नहीं किया जाता। हो सकता है कि भारतकी प्रजातियाँ विशुद्ध द्राविड़ हों, यदि सचमुच द्राविड जाति जैसी कोई सत्ता है या कभी रही है; अथवा हो सकता है कि वे सभी विशुद्ध आर्य हों, यदि सचमुच आर्य प्रजाति जैसी कोई सत्ता है या कभी थी; अथवा वे सभी एक मिश्रित प्रजाति हो सकती हैं जिनके स्वभावका प्रधान स्वर एक ही हो, किन्तु जो भी हो, भारतकी बोलियोंका संस्कृत और तामिल परिवार की भाषाओंमें विभाजन इस समस्यामें कुछ भी महत्त्वका नहीं। किन्तु आकर्षक व्यापक सिद्धान्तों और अत्यधिक लोकप्रिय भूलोंकी शक्ति इतनी अधिक है कि सारा संसार इस भारी भूलको लगातार दोहराता हुआ भारत-यूरोपीय प्रजातियोंकी चर्चा करता चला जाता है, आर्यजातिके साथ उनके संबंधका दावा करता या उसका खंडन करता रहता है और असत्यके इस आधारपर बहुत दूरगामी, राजनैतिक अथवा मिथ्या-वैज्ञानिक परिणामोंकी रचना करता चला जाता है।

किन्तु यदि भाषा मानव-वंशविज्ञानविषयक अनुसन्धानका युक्तियुक्त घटक नहीं है, तो भी इसे एकसमान सभ्यताओंके प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है और प्राचीन सभ्यताओंके लिए उपयोगी और विश्वसनीय मार्गदर्शकके रूपमें इसका उपयोग किया जा सकता है। आर्यवंशोंके तितर-बितर होनेसे पूर्वकी प्राचीन आर्य-सभ्यताका चित्र खींचनेके लिए शब्दोंके अर्थोंके बलपर बहुत ही विशाल, पांडित्यपूर्ण और कष्टसाध्य यत्न किये गए हैं। वैदिक विद्वानोंने इस आनुमानिक भाषाशास्त्रके आधारपर और वेदोंकी एक शानदार एवं चातुर्यपूर्ण और आकर्षक किन्तु सर्वथा कल्पित और अविश्वसनीय व्याख्याके आधारपर भारतमें एक प्राचीन, अर्धजंगली

आर्यसभ्यताका उल्लेखनीय, सूक्ष्म और मोहक चित्र खींचा है। इन चकाचौंध करनेवाली रचनाओंको भला हम कितना महत्त्व दे सकते हैं? कुछ भी नहीं, क्योंकि इनका कोई सुनिश्चित वैज्ञानिक आधार ही नहीं है। तीन संभावनाएँ हैं—वे रचनाएँ सत्य और अंतिम हो सकती हैं, वे आंशिक रूपमें सत्य हो सकती हैं जिनमें फिर भी गंभीर संशोधनकी आवश्यकता रहेगी, वे सर्वथा असत्य हो सकती हैं और संभव है कि इस विषयपर मानवीय ज्ञानके अंतिम परिणाममें उनका कोई चिह्न भी शेष न रहे। इन तीन संभावनाओंमेंसे किसी एकका निर्धारण करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं। वेदके जिस दृढ़प्रतिष्ठित (कर्मकाण्डीय) अनुवादका इस समय इस कारण राज्य चला रहा है कि आलोचनात्मक दृष्टिसे और सूक्ष्मता (?) के साथ उसकी अभी परीक्षा ही नहीं की गई, उसपर निश्चय ही अविलंब प्रबल आक्रमण और शङ्का की जायगी। किंतु एक बातकी विश्वासपूर्वक आशा की जा सकती है कि चाहे कभी भारतपर उत्तर दिशासे सूर्य और अग्निके पुजारियों द्वारा आक्रमण किया गया हो, उसे उपनिवेश बनाया गया हो या उसे सभ्य बनाया गया हो, तो भी उस आक्रमणका जो चित्र भाषाशास्त्रके विद्वानोंने ऋग्वेदके आधारपर समृद्ध रूपसे खींचा है वह एक आधुनिक दंतकथा सिद्ध होगा, न कि प्राचीन इतिहास। और यदि मान भी लिया जाय कि प्राचीन कालमें भारतमें एक अर्धजंगली आर्य सभ्यता थी तो भी वैदिक भारतके आश्चर्यजनक रूपसे विस्तृत आधुनिक वर्णन भाषाशास्त्रीय मृगमरीचिका और मायाजाल ही सिद्ध होंगे। ठीक इसी प्रकार प्राचीन आर्य सभ्यताके अधिक विस्तृत प्रश्न को तबतक स्थगित रखना होगा जबतक हमारे पास अधिक प्रामाणिक सामग्री एकत्र न हो जाए। वर्तमान वाद सर्वथा भ्रामक है क्योंकि यह इस बातको मानकर चलता है कि समान शब्दोंका अंतर्निहित अर्थ है समान सभ्यता,—यह मान्यता अति और न्यूनता दोनों दोषोंकी अपराधिनी है। इसमें अतिशयोक्तिका दोष है; उदाहरणके रूपमें, यह युक्ति नहीं दी जा सकती कि क्योंकि रोमनिवासी व भारतीय किसी पात्रविशेषके लिए एक ही शब्दका प्रयोग करते हैं इसलिए उनके एक दूसरेसे पृथक् होनेसे पहले उनके पूर्वजोंके पास वह पात्र समान रूपसे विद्यमान था। हमें सबसे पहले दो प्रजातियोंके पूर्वजोंके संपर्कका इतिहास ज्ञात होना चाहिए; हमें इस बातका निश्चय होना चाहिये कि वर्तमान कालमें प्रचलित रोमन शब्द उस मौलिक लैटिन शब्दसे नहीं लिया गया जो भारतीयोंके पास नहीं था। हमें इस बातका निश्चय होना चाहिए कि रोमनिवासियोंने हमारे आर्य पूर्वजोंके साथ कभी किसी प्रकारका तादात्म्य, संबंध और संपर्क स्थापित किए बिना उस शब्दको

ग्रीक व केल्ट लोगोंसे संक्रमण द्वारा नहीं लिया था। इसी प्रकार अन्य अनेक संभावित समाधानोंके विरुद्ध हमें दृढ़रूपसे सुरक्षित रहना चाहिए जिनके विषयमें भाषाशास्त्र हमें कोई निषेधात्मक या विधेयात्मक आश्वासन नहीं दे सकता। भारतीय शब्द 'सुरंग' ग्रीक 'स्युरिग्स (Surinx)' माना जाता है। इसके आधारपर हम यह युक्ति नहीं दे सकते कि ग्रीक और भारतीय अपनी जुदाईसे पूर्व सुरंग बनानेकी एक ही कलासे संपन्न थे अथवा यहाँ तक कि भारतीय, जिन्होंने ग्रीससे इस शब्दको उधार लिया,—मेसिडोनियाके इंजिनियरोंसे भूमिगत खुदाईके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेसे पहले इस विषयमें कभी कुछ भी नहीं जानते थे। टेलिस्कोप (Telescope) के लिए बंगाली शब्द दूरबीन है, जिसका उद्गम यूरोपीय नहीं। इससे हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि यूरोपीयोंके संपर्कमें आनेसे पूर्व बंगालियोंने दूरबीनका आविष्कार स्वतंत्र रूपसे किया था। तथापि लुप्त संस्कृतियोंके आनुमानिक पुनरुत्थानके कार्योंमें भाषाशास्त्री जिन सिद्धांतोंसे परिचालित प्रतीत होते हैं उनके आधारपर जिन परिणामोंपर हम पहुँचेंगे वे ठीक यही हैं। यहाँ हमारे पास अपनी परिकल्पनाओंको सुधारनेके लिए ऐतिहासिक तथ्योंका ज्ञान है, किन्तु प्रागैतिहासिक युगोंके संबन्धमें भूलसे बचावके लिये इस प्रकारका कोई साधन नहीं। वहाँ तो ऐतिहासिक सामग्रीका सर्वथा अभाव है और हमें शब्दों और उनके भ्रामक संकेतोंकी दयापर छोड़ दिया जाता है। किन्तु भाषाओंके उलटफेरपर थोड़ासा भी विचार, विशेषकर भारतमें अंग्रेजीभाषाका हमारी साहित्यिक भाषाओंपर जो प्रभाव पड़ा उससे उत्पन्न भाषासंबंधी विचित्र तथ्योंका किञ्चित् अध्ययन, वह पहला धावा जिसके द्वारा अंग्रेजी शब्दोंने, बातचीत और पत्रव्यवहारमें, हमारे सामान्य देशी शब्दोंको भी अपने हितमें निकाल बाहर करनेका यत्न किया और वह प्रतिक्रिया जिसके द्वारा प्रदेशीय भाषाएँ यूरोपीयों द्वारा प्रचालित नयी धारणाओंको व्यक्त करनेके लिए अब नया संस्कृत शब्द ढूंढ़ रही हैं,—ये सब चीजें किसी भी विचारशील मनको, यह विश्वास दिलानेके लिए पर्याप्त होंगी कि इन भाषाशास्त्री संस्कृति-पुनरुद्धारकोंकी स्थापनाएँ कितनी अविवेकमय और कैसी अत्युक्तिपूर्ण और तर्कहीन हैं। उनके वे निष्कर्ष केवल अतिशयोक्तिके ही नहीं अपितु न्यूनताके भी दोषी हैं। वे इस सुस्पष्ट तथ्यकी सतत उपेक्षा करते हैं कि प्रागैतिहासिक और प्राक्-साहित्यिक कालोंमें प्रारंभिक भाषाओंके शब्दकोष एक शताब्दीसे दूसरी शताब्दीमें इतने परिवर्तित हो जाते होंगे कि हम उच्च कोटिकी प्राचीन और आधुनिक साहित्यिक भाषाओंसे लिए गये भाषासंबंधी विचारोंसे उसकी कल्पना भी

नहींके बराबर ही कर सकते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि यह मानव-विज्ञानका सुप्रतिष्ठित तथ्य है कि अनेक जंगली भाषाओंके शब्दकोष एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें बदल जाते हैं। इसलिए यह पूर्णतया संभव है कि सभ्यताके वे उपकरण और संस्कृतिके वे विचार जिनके लिए दो आर्यभाषाओंमें समान शब्द विद्यमान नहीं हैं, अपनी जुदाईसे पूर्व साझी संपत्ति रहे हों; क्योंकि संभव है कि उनमेंसे प्रत्येकने एक दूसरेसे अलग होनेके पश्चात् गढ़े हुए नये शब्दके प्रयोगके लिए प्रारंभिक साझे शब्दका त्याग कर दिया हो। भाषाका चमत्कार साझे शब्दोंके संरक्षणमें है न कि उनके लुप्त होनेमें।

इसलिए मैं नृवंशविज्ञानके सभी निष्कर्षोंको, — शब्दोंके आधारपर उनका प्रयोग करनेवाले मनुष्यों वा प्रजातियोंकी संस्कृति और सभ्यता-विषयक सभी परिकल्पनाओं व अनुमानोंको, चाहे वे परिकल्पनाएँ कितनी भी प्रलोभक क्यों न हो, चाहे वे अनुमान कितने ही आकर्षक, मनोरंजक और संभाव्य क्यों न हों जिन्हें अपने अध्ययनकी प्रक्रियामें निकालनेके लिए हम प्रलुब्ध होते हैं,—भाषाशास्त्रके क्षेत्रसे जैसा कि मैं उसे समझता हूँ, बहिष्कृत करता हूँ, और मेरा ऐसा करना उचित ही है। भाषाशास्त्रीका नृवंश-विज्ञानसे कोई संबंध नहीं। भाषाशास्त्रीका समाजशास्त्र, मानवविज्ञान और पुरातत्त्वविज्ञानसे भी कोई सरोकार नहीं। उसका एकमात्र प्रयोजन शब्दोंके इतिहाससे है, और साथ ही विचारकी प्रतिनिधि-भूत ध्वनियाँ जिन रूपोंको प्रकट करती हैं उनके साथ विचारोंके संबंधके इतिहाससे है; अथवा इससे ही होना चाहिये। अपने आपको कठोरतापूर्वक इस क्षेत्र तक ही सीमित करके, एक ऐसे आत्म-त्यागके द्वारा जिससे वह अपने कुछ नीरस और धूलिमिश्रित मार्गपर सब असंबद्ध विक्षेपों और हर्षोंका परित्याग कर दे, वह अपने असली कार्यपर एकाग्रता बढ़ा सकेगा और उन प्रलोभनोंसे बच सकेगा जो उसे महान् अन्वेषणोंसे दूर ले जा सकते हैं। वे अन्वेषण इस बुरी तरह खोजे जा रहे ज्ञानक्षेत्रमें मानवजातिकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

किन्तु भाषाओंके परस्पर घनिष्ठ सादृश्य, कमसे कम, भाषाशास्त्र के प्रयासोंका एक उपयुक्त क्षेत्र हैं। तथापि यहाँ भी मैं यह माननेको विवश हूँ कि यूरोपके विद्वानोंने अध्ययनके इस विषयको भाषाशास्त्र के उद्देश्योंमें प्रथम स्थान देनेमें एक बड़ी भूल की है। क्या हमें सचमुच पूरा निश्चय है कि हम जानते हैं कि दो भिन्न-भिन्न भाषाओंमें,—उदाहरणार्थ, इतनी भिन्न जैसी लैटिन और संस्कृत, संस्कृत और तामिल, तामिल और लैटिन हैं,—मूलकी समानता और विषमताका अर्थ क्या है? लैटिन, ग्रीक और संस्कृतको भगिनी आर्यभाषाएँ माना जाता है। तामिलको इनसे इतर

और द्राविड़ मूलकी मानकर पृथक् रखा जाता है। यदि हम इस बातकी जाँच करें कि यह भिन्न और प्रतिकूल व्यवहार किस आधारपर निर्भर है तो हम पाएँगे कि मूलकी समानता दो मुख्य कारणोंसे मानी जाती है, साधारण और परिचित शब्दोंका एकसरीखा समुदाय तथा व्याकरण-विषयक रूपों और प्रयोगोंकी काफी अधिक समानता। हम फिरसे उसी प्रारंभिक सूत्रपर वापिस आते हैं—पिता (pitā), पाटैर (patêr), पातैर (pater), फाटॅर (vater), फादर (father)। यह पूछा जा सकता है कि भाषासंबंधी बंधुत्वका निश्चय करनेके लिए और क्या कसौटी पाई जा सकती है? संभवतः कोई नहीं, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक जरा-सा निष्पक्ष विचार हमें इसके लिये आधार प्रदान करेगा कि इस क्षुद्र आधारपर अत्यन्त विश्वासके साथ भाषाओंका वर्गीकरण करनेसे पहले हमें रुककर बहुत देर तक तथा गंभीरतासे विचार कर लेना चाहिये। यह स्वीकार किया जाता है कि समान शब्दोंके एक बड़े समूहको रखनामात्र बंधुत्वको स्थापित करनेके लिए पर्याप्त नहीं। यह संपर्क अथवा सहनिवाससे अधिक किसी चीजकी स्थापना नहीं कर सकता। तामिलके समृद्ध शब्दकोषमें संस्कृत शब्दोंका बड़ा भारी समुदाय है, किन्तु इस कारणसे यह संस्कृत-संबद्ध भाषा नहीं बन जाती। उभयनिष्ठ शब्द वे होने चाहियें जो साधारण और परिचित विचारों और पदार्थोंको प्रकट करनेवाले हों, जैसे, पारिवारिक संबंध, संख्याएँ, सर्वनाम, आकाशीय पदार्थ, 'होना', 'रखना'-संबंधी विचार इत्यादि,—वे शब्द जो मनुष्योंके, विशेषतः आदिम आदमियोंके मुखोंमें बहुत सामान्य रूपसे रहते हैं और इसलिए, क्या हम यूं कहें कि, जिनमें परिवर्तन की बहुत कम संभावना हो सकती है? पिताको संबोधित करते हुए संस्कृतभाषा 'पितर्'का प्रयोग करती है, ग्रीकभाषा पाटैर (patêr), लैटिन पातैर (pater) का, किन्तु तामिल कहती है 'अप्पा'। माताको संबोधित करते हुए संस्कृत 'मातर्'का प्रयोग करती है, ग्रीक मेटेर (mêter), लैटिन मातैर (māter) किन्तु तामिल अम्माका। 'सात' संख्याके लिए संस्कृत 'सप्तन्' या 'सप्त'का प्रयोग करती है, ग्रीक हेप्टा (hepta), लैटिन सेप्ता (septa) का, किन्तु तामिल एळु (elu) का। उत्तम पुरुषके लिए संस्कृत कहती है 'अहम्', ग्रीक एगौ या एगौन (egô या egôn), लैटिन एगो (ego), किन्तु तामिल नान्का प्रयोग करती है। सूर्यके लिए संस्कृत कहती है सूर या सूर्य, ग्रीक हेलियोस (helios), लैटिन सौल (sol) किन्तु तामिल भाषा ञायिर् (ñāyir)। होनेके विचारके लिए संस्कृतमें शब्द है अस्,

अस्मि, ग्रीकमें आयनाई और आयमी (einai और eimi), लैटिनमें ऐस्स और सुम (esse और sum) किन्तु तामिलमें इरु (iru)। इस प्रकार भेदका आधार आकर्षक स्पष्टताके साथ सामने आ जाता है। इस विषयमें कोई संदेह ही नहीं। संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषासंबंधी एक परिवारके साथ संबंध रखती हैं, जिसे हम अपनी सुविधाके अनुसार 'आर्य' या भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवारके नामसे कह सकते हैं और तामिलका संबंध दूसरे परिवारसे है जिसके लिए द्राविड़से बढ़कर सुविधा-जनक कोई शब्द नहीं मिल सकता।

यहाँ तक तो ठीक है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक दृढ़ आधारपर खड़े हैं और हमारे पास ऐसा नियम है जिसे लगभग वैज्ञानिक परिशुद्धताके साथ प्रयोगमें लाया जा सकता है। किन्तु जब हम कुछ और आगे जाते हैं, तो यह उज्ज्वल आशा कुछ धूमिल हो जाती है, हमारी दृष्टिके क्षेत्रमें संदेहका कुहरा छाने लगता है। माता-पिता तो समान हैं पर अन्य पारि-वारिक संबंधी भी तो हैं! गृहकी पुत्रीके विषयमें जो प्रारंभमें दूध दोहनेवाली होती थी, आर्य-परिवारकी भगिनी-भाषाओंमें भेदभावका किंचित् आरंभ दिखाई देने लगता है। संस्कृतभाषी पिता उसे 'दुहितर्', हे दूध दुहनेवाली, इस पुराने रूढ़ ढंगसे पुकारता है; ग्रीक, जर्मन और अंग्रेज माता-पिता भी इसी रीतिका अनुसरण करते हुए उसे क्रमशः थुगाथैर (thugather), तोक्खतर (tochter), और डॉटर (daughter) इन शब्दोंसे संबोधित करते हैं, किन्तु लैटिनने अपने पशुपालकोंके-से विचारोंका परित्याग कर दिया है, उसे दुहिताका कोई ज्ञान नहीं और वह फिलिया (filia) शब्दका प्रयोग करती है जिसका दुग्ध-पात्रके साथ किसी प्रकारका भी कल्पनीय संबंध नहीं और सजातीय भाषाओंके पुत्री-विषयक भिन्न-भिन्न शब्दोंसे भी कोई संबंध नहीं। तब क्या लैटिन एक मिश्रित भाषा थी जिसने पुत्रीत्वके विचारके लिए अनार्य भाषा-भंडारमें से शब्द ग्रहण किया? किन्तु यह तो एक अकेला और नगण्य अंतर है। जब हम और आगे चलकर पुत्रवाचक शब्दपर आते हैं तो पाते हैं कि इन आर्य भाषाओंमें निराशा-जनक अंतर दिखाई देता है और वे एकता का आभास तक त्याग देती हैं। संस्कृत कहती है 'पुत्र', ग्रीक कहती है हुइओस (huios), लैटिन कहती है फिलियुस (filius)। तीन भाषाएँ तीन शब्दोंका प्रयोग करती हैं, जिनमें परस्पर कोई भी संबंध नहीं। इससे हम वस्तुतः इस निष्कर्षपर नहीं पहुँच सकते कि पितृत्व और मातृत्वके विचारके संबंधमें तो ये भाषाएँ आर्य भाषाएँ थीं, परंतु पुत्रत्व एक द्राविड़ विचार है जैसे

कि कई आधुनिक प्रामाणिक लेखकोंके अनुसार वास्तुकला, अद्वैतवाद और बहुतसे अन्य सभ्य विचार भी द्राविड़ हैं। क्योंकि लैटिनमें बच्चे या पुत्रके लिए एक साहित्यिक शब्द है...[1] जिसके साथ हम जर्मन सौन (sohn), इंग्लिश सन (son) और अधिक दूरस्थ रूपमें ग्रीक हुइओस (huios) का संबन्ध जोड़ सकते हैं। तब इस भेदकी व्याख्या हम इस कल्पनाके आधारपर करते हैं कि इन भाषाओंमें मूलतः पुत्रके लिए एक समान शब्द था, बहुत संभवतः वह 'सूनु' था, जिसे इनमेंसे बहुतोंने, कम-से-कम भाषामें, छोड़ दिया। संस्कृतने इसका प्रयोग उत्कृष्ट साहित्यकी भाषाको सौंप दिया। ग्रीकने उसी धातुसे बना एक अन्य रूप अपना लिया। लैटिनने उसे बिलकुल खो दिया, और उसके स्थानपर फिलियुस (filius) शब्दको ला बिठाया, जैसे कि उसने दुहिताके स्थानपर फिलिया (filia) शब्दको ग्रहण कर लिया है। मालूम होता है कि अत्यंत सामान्य शब्दोंमें भी इस प्रकारकी तरलता प्रचलित रही है। ग्रीकने भ्राताके लिए प्रयुक्त मूल शब्द फ्रातौर (phrator) को खो दिया जिसे उसकी भगिनियोंने संभाल रखा है, और उसके स्थानपर वह आडेल्फोस (adelphos) का प्रयोग करने लगी है जिसके सदृश कोई शब्द अन्य आर्य भाषाओंमें नहीं है। संस्कृतने एककी संख्याके लिए सामान्य शब्द उनूस (unus), आएन (ein), वन (one) का परित्याग कर दिया है और इनके स्थानपर 'एक' शब्दका प्रयोग किया है जो अन्य किसी आर्य भाषामें नहीं पाया जाता। अन्य पुरुषके सर्वनामके विषयमें भी इन सब भाषाओंमें भेद है। चंद्रके लिए ग्रीकमें सेलेने (selene), लैटिनमें लुना (luna) और संस्कृतमें 'चंद्र'का प्रयोग होता है। किन्तु जब हम इन तथ्योंको स्वीकार करते हैं तो हमारे वैज्ञानिक आधारका बहुत ही आवश्यक भाग रिस-रिस कर बह जाता है और हमारा भवन धराशायी होने लगता है। क्योंकि हम इस घातक तथ्यपर वापिस आते हैं कि अत्यधिक सामान्य शब्दके विषयमें भी प्राचीन भाषाएँ अपने मूल शब्दकोषको खोने लगी थीं और एक दूसरीसे इतनी परे हटने लगी थीं कि यदि इस प्रक्रियाको प्राचीन साहित्य द्वारा न रोका जाता तो इनके परस्पर-संबंधका स्पष्ट प्रमाण सारेका सारा सहज ही लुप्त हो जाता। संयोगवश, प्राचीन और अविच्छिन्न संस्कृत साहित्यका अस्तित्व ही हमें आर्य भाषाओंकी मूलभूत एकताको स्थापित करनेके योग्य बनाता है। यदि संस्कृतके प्राचीन ग्रंथ विद्यमान न होते और व्यावहारिक

1. यहाँ शब्द मूल पाण्डुलिपिमें सुपाठ्य नहीं।

संस्कृतके साधारण शब्द ही बचे रहते तो इन संबंधोंके विषयमें किसको निश्चय हो सकता? अथवा कौन विश्वासके साथ अपने साधारण घरेलू शब्दोंवाली बोलचालकी बंगालीको तेलगू या तामिलकी अपेक्षा अधिक निश्चित रूपसे लैटिनके साथ संबद्ध कर सकता? तब हमें कैसे यह निश्चय हो सकता है कि आर्यभाषाओंके साथ स्वयं तामिलके विसंवादका कारण प्राचीन काल में उसका उनसे पृथक् हो जाना और प्राक्साहित्यिक युगोंमें उसके शब्दकोषका अत्यधिक परिवर्तन ही नहीं हैं? इस अनुसंधानके पिछले भागमें मैं इस कल्पनाके लिए कुछ आधार प्रदान कर सकूँगा कि तामिलके संख्यावाचक शब्द प्राचीन आर्य शब्द हैं जिनका संस्कृतने परित्याग कर दिया है, किन्तु जिनका चिह्न वेदोंमें अब भी पाया जाता है अथवा जो विभिन्न आर्यभाषाओंमें बिखरे पड़े एवं अंतर्हित हैं और इसी प्रकार तामिल सर्वनाम भी प्रारंभिक आर्य नामधातु हैं जिनके चिह्न भाषाओंमें पाये जाते हैं। मैं यह दिखानेमें भी समर्थ होऊँगा कि विशुद्ध तामिल समझे जानेवाले बड़े शब्द-परिवार आर्य शब्द-परिवारके साथ सामूहिक रूपमें एकरूप हैं, यद्यपि एक-एक करके नहीं। किन्तु तब हम युक्तिपूर्वक इस निष्कर्षपर पहुँचनेपर विवश होते हैं कि समान विचारों और पदार्थोंके लिए समान शब्दकोशका अभाव आवश्यक रूपसे उद्गमके भिन्न-भिन्न होनेका प्रमाण नहीं है। व्याकरण-संबंधी रूपोंकी भिन्नता? किन्तु क्या हमें इस बातका निश्चय है कि तामिल रूप अपने ही समान पुराने ऐसे आर्य रूप नहीं हैं जो तामिल बोलीकी प्राचीन तरलताके कारण अपभ्रंश-रूपको प्राप्त हो गए हैं परन्तु सुरक्षित हैं। उनमेंसे कई आर्य भाषाओंके समान हैं किन्तु संस्कृतके लिए वे अपरिचित हैं और इसलिए कइयोंने इससे यह निष्कर्ष भी निकाला है कि आर्यभाषाएँ मूल रूपमें अनार्य बोलियाँ थीं जिनपर विदेशी आक्रांताने भाषागत अधिकार कर लिया। यदि ऐसा हो तो भला हम अनिश्चयताकी किन दलदलोंमें नहीं फँस जाते? वैज्ञानिक आधारकी हमारी छाया, भाषापरिवारोंका हमारा निश्चित वर्गीकरण शून्यताके परिवर्तनशील प्रकोष्ठोंमें विलुप्त हो गये हैं।

एक अधिक परिपक्व विचार भाषाशास्त्रियोंके द्वारा स्थिर किये गये सिद्धान्तपर जो भीषण अनर्थ ढाता है वह केवल इतना ही नहीं है। हमने तामिलके सामान्य शब्दोंमें और उन शब्दोंमें जो 'आर्य' बोलियोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं, भारी विषमता पाई है। किन्तु इन विषमताओंको हमें कुछ अधिक गहराईसे देखना चाहिये। पिताके लिए तामिल शब्द 'अप्पा' है, पिता नहीं। संस्कृतमें इससे मिलता-जुलता कोई शब्द नहीं

है, किन्तु "अपत्यम्" (पुत्र), अप्त्यम् और अप्न (संतान)—इनमें हम अप्पा शब्दका एक रूप पाते हैं जिसे हम शब्द-विपर्यय कह सकते हैं। ये तीन शब्द निश्चित रूपसे एक संस्कृत धातु 'अप्'का निर्देश करते हैं जिसका अर्थ है उत्पन्न करना या सृजन करना, जिसके लिए और भी साक्ष्य प्रचुर मात्रामें पाया जा सकता है। हमें यह कल्पना करनेसे क्या चीज रोक सकती है कि पिताके अर्थमें अप्पा शब्द इस धातुसे बने (कर्तृवाचक) एक प्राचीन आर्य शब्दका तामिल रूप है, जो इसीसे बने (कर्मवाचक) अपत्य शब्दके सदृश है। तामिलमें माताके लिए 'अम्मा' शब्द है माता नहीं; किन्तु संस्कृतमें अम्मा कोई शब्द नहीं। संस्कृतमें माताके लिए सुप्रसिद्ध शब्द है 'अम्बा', तामिलके अम्माको अम्बाका पर्याय आर्य रूप समझनेसे हमें कौन रोक सकता है? यह अम्बा शब्द 'अम्ब्' उत्पन्न करना, इस धातु से बना है जिससे पिताके वाचक अम्ब तथा अम्बक, माताके वाचक अम्बा, अम्बिका और अम्बी तथा घोड़े या किसी भी जानवरके बच्चेका वाचक अम्बरीष —ये शब्द निकले हैं। संस्कृतका एक उत्कृष्ट कोटिका शब्द सोदर तामिलमें भाई के लिए सामान्य व्यावहारिक शब्द है और उत्तरकी उपभाषामें प्रयुक्त भाई और संस्कृतमें प्रचलित 'भ्राता'का स्थान लिए हुए है। 'अक्का' जो संस्कृतमें कई विभिन्न रूपोंमें प्रचलित है तामिलमें बड़ी बहनके लिए प्रयुक्त होनेवाला बातचीतका शब्द है। इन सब उदाहरणोंमें हम देखते हैं कि एक लुप्त वा उच्च साहित्यिक संस्कृत शब्द तामिलमें बोलचालका साधारण शब्द है, जैसे कि हम देखते हैं कि उच्च साहित्यिक शब्द 'सूनु' बोलचालकी जर्मनमें सौन (sohn) और अंग्रेजीमें सन (son) के रूपमें प्रकट हुआ है। अविभक्तके अर्थमें एक आर्य शब्द 'अदल्भ' जो निश्चय ही एक उच्च कोटिका साहित्यिक शब्द है पर अब लुप्त हो चुका है, बोलचालकी ग्रीकमें भ्राताके वाचक आडेल्फोस (adelphos) के रूपमें दिखाई देता है। इन तथा इस प्रकारके अन्य अनेकानेक उदाहरणोंसे जो इस कृतिके दूसरे खंडमें प्रकाशित होंगे, हम क्या परिणाम निकालें? क्या यह कि तामिल ग्रीक और जर्मनकी तरह एक आर्य उपभाषा है? निश्चय ही नहीं;—इसके लिए साक्ष्य पर्याप्त नहीं है; किन्तु यह कि किसी अनार्य भाषाके लिए यह संभव है कि वह अपने अत्यंत सामान्य और परिचित शब्दोंके स्थानपर आर्य शब्दोंको प्रचुरता और स्वतंत्रतासे ले ले और अपनी सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्तिको खो दे। किन्तु फिर हम कठोर तर्क द्वारा इस निष्कर्षपर पहुँचनेके लिए बाधित होते हैं कि जैसे सामान्य और घरेलू

शब्दोंके लिए एकसमान शब्दकोषका अभाव विभिन्न उद्गमका कोई निश्चित प्रमाण नहीं, ऐसे ही इन शब्दोंके लिए लगभग समान शब्दकोषका होना भी समान उद्भवका निश्चित प्रमाण नहीं। ये चीजें अधिक-से-अधिक एक घनिष्ठ संपर्क या पृथक् विकासको सिद्ध करती हैं, इससे अधिक कुछ भी सिद्ध नहीं करतीं और न अपने आपमें इससे अधिक कुछ सिद्ध कर ही सकती हैं। तब किस आधारपर हम भिन्न-भिन्न भाषापरिवारोंका भेद और वर्गीकरण करें? क्या हम बिलकुल निश्चयात्मक रूपसे कह सकते हैं कि तामिल एक अनार्य भाषा है अथवा ग्रीक, लैटिन और जर्मन आर्य-भाषाएँ हैं? व्याकरण-संबन्धी रूपों और 'प्रयोगों' (?) के संकेतसे हम जिन भाषाओंकी तुलना कर सकते हैं उनके द्वारा उत्तराधिकारमें प्राप्त शब्दोंकी भिन्नता वा एकरूपतासे उत्पन्न सामान्य प्रभावसे क्या हम ऐसा कह सकते हैं? किन्तु इनमेंसे प्रथम प्रमाण बहुत ही तुच्छ और अनिश्चयात्मक है, दूसरा भी बहुत अधिक परीक्षणात्मक, अनिश्चित और प्रवंचनापूर्ण परख है। दोनों वैज्ञानिकताके ठीक विपरीत हैं; विचार करनेसे ज्ञात होगा कि दोनों हमें बहुत ही लंबी और अत्यंत मूलगामी भूलोंकी ओर ले जा सकते हैं। ऐसे सिद्धांतके आधारपर निष्कर्ष निकालनेकी अपेक्षा यह अच्छा है कि हम कोई भी निष्कर्ष निकालनेसे पृथक् रहें और एक अधिक समग्र और लाभदायक आरंभिक प्रयासकी ओर बढ़ें।

मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि भाषाविज्ञान-विषयक अनुसंधानके इतिहासमें हमने अभीतक इतना कच्चा और दुर्बल आधार तैयार किया है कि उसपर वैज्ञानिक नियमों और वैज्ञानिक वर्गीकरणोंका बड़ा भवन खड़ा करना उतावलीपूर्ण होगा। हम अभी उन मानव भाषाओंके, जो बोलचाल, अभिलेख वा साहित्यके रूपमें अबतक विद्यमान हैं, गंभीर और अनिश्चित वर्गीकरणपर नहीं पहुँच सकते। हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे विभाजन लोकप्रिय तो हैं किन्तु वैज्ञानिक नहीं, वे ऊपरी साम्योंपर आधारित हैं न कि विज्ञानके लिए उपयुक्त एकमात्र सही आधारपर, जो यह है कि भिन्न-भिन्न भाषा-जातियोंका गर्भावस्थासे लेकर अंतिम रूपतक जो विकास होता है उसका अध्ययन किया जाए, अथवा यदि आवश्यक सामग्रीके अभावके कारण यह संभव न हो तो, इससे विपरीत दिशामें अनुशीलन करते हुए उनके अंतिम रूपोंसे उनके गर्भ-रूपोंतक पहुँचकर और गहरे खोदकर भाषाके गुप्त मूल गर्भोंको खोज निकाला जाय। एक सच्चे वैज्ञानिकका भाषाशास्त्रके तुच्छ, आनुमानिक मिथ्या-विज्ञानपर आक्षेप न्यायसंगत ही है। इसे एक अधिक स्वस्थ पद्धति और अधिक महान्

आत्मानुशासनको अपनाकर, भड़कीली ऊपरी समानताओंको त्यागकर और अपेक्षाकृत अधिक सावधानतापूर्ण, जिज्ञासाभरी और धैर्यपूर्ण अनुसंधान-प्रणाली अपनाकर इस आक्षेपको दूर करना होगा। इसलिए कितना भी आकर्षक प्रलोभन क्यों न हो, उथले अध्ययनकर्ताको तथ्य कितने भी प्रबल क्यों न दिखाई दें, इस प्रस्तुत कृतिमें मैं भिन्न-भिन्न भाषाओंकी समानताओं या सम्बन्धोंके आधारपर, प्रारंभिक मानवीय सभ्यताओंके स्वरूप और इतिहासके सम्बन्धमें भाषाशास्त्रके साक्ष्यके आधारपर अनुमान करनेके समस्त प्रयत्नका परित्याग करता हूँ, अथवा अन्य जो कोई भी विषय कठोर रूपसे मेरे विषयकी चारदीवारीके भीतर नहीं आता उसका भी मैं परित्याग करता हूँ। मेरा विषय है मानवीय भाषाका उद्गम, वृद्धि एवं विकास, जैसा कि वह साधारणतया संस्कृतके नामसे प्रसिद्ध भाषा और तीन अन्य प्राचीन भाषाओंके भ्रूण-विज्ञानसे हमारे समक्ष प्रकट होता है। उन तीनमेंसे दो, लैटिन और ग्रीक, मर चुकी हैं और एक तामिल जीवित है। तीनों प्रत्यक्ष ही कम-से-कम इसके (संस्कृतके) सम्पर्कमें आ चुकी हैं। मैंने सुविधाके लिए अपनी रचनाको 'आर्यभाषाके उद्गम (The origins of Aryan Speech)' नाम दिया है। किन्तु मैं यह चाहूँगा कि यह बात स्पष्ट रूपसे समझ ली जाय कि इस परिचित गुणवाचक नामके प्रयोगसे मैं एक क्षणके लिए भी अपने इस सर्वेक्षणके अंतर्गत इन चार भाषाओंके परस्पर-सम्बन्ध अथवा इनके बोलनेवाले लोगोंके प्रजातिगत मूलके विषयमें अपनी कोई सम्मति नहीं प्रकट करना चाहता, नाहीं मैं संस्कृतभाषी लोगोंके नृकुल-सम्बन्धी उद्गमोंके विषयमें कोई सम्मति प्रकट करना चाहता हूँ। मैं 'संस्कृत' शब्दका भी प्रयोग दो कारणोंसे नहीं करना चाहता था, एक तो इसलिए कि यह केवल 'सुसंस्कृत या शुद्ध'का वाचक शब्द है जो स्त्रियों और साधारण लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषाओंसे भिन्न प्राचीन भारतीय साहित्यिक भाषाका द्योतक है और दूसरे इसलिए कि मेरा क्षेत्र उत्तरीय हिंदुओंकी उच्चकोटिकी भाषाकी अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत है। मैं अपने निष्कर्षोंका आधार संस्कृत-भाषाकी साक्षीपर रखता हूँ जिसमें मुझे ग्रीक, लैटिन और तामिल भाषाके उन भागोंकी सहायता प्राप्त होती है जो संस्कृत शब्द-परिवारोंके सजातीय हैं। और 'आर्यभाषाके उद्गम'से मेरा अभिप्राय विशेषतया मानवभाषाके उद्गमसे है, जैसा कि उसे उन लोगोंने प्रयुक्त और विकसित किया जिन्होंने इन शब्द-परिवारों, इनके तनों और प्ररोहोंका निर्माण किया। मैं आर्य शब्दका यहाँ जिस रूपमें प्रयोग कर रहा हूँ उसका तात्पर्य इससे अधिक कुछ नहीं।

ऐसी खोजबीनके समय यह स्पष्ट है कि एक प्रकारका भाषाविषयक भ्रूणविज्ञान प्रथम आवश्यक वस्तु है। दूसरे शब्दोंमें, जिस अनुपातमें हम आधुनिक और सभ्य मनुष्यों द्वारा प्रयोगमें लायी जानेवाली सुघटित मानवीय भाषाके प्रतीयमान तथ्योंसे अपनेको दूर रखेंगे, जिस अनुपातमें हम अधिक प्राचीन और आदिम भाषाओंकी रचनाके प्रथम धातुओं और आरंभिक रूपोंके समीप पहुँचेंगे, उसी अनुपातमें हम वस्तुतः फलप्रद खोजें करनेका अवसर प्राप्त करेंगे। जैसे कि रूपान्वित बाह्य मनुष्य, पशु और पौधोंके अध्ययनसे विकासके महान् सत्योंकी खोज नहीं हो सकती अथवा, यदि उनकी खोज हो भी जाय, तो उन सत्योंको स्थिर रूपसे निश्चित नहीं किया जा सकता, जैसे कि घड़े-घड़ाए जन्तुसे उसके अस्थिपंजर और अस्थि-पंजरसे भ्रूणकी ओर पीछेतक जानेसे ही इस महान् सत्यकी स्थापना हो सकी कि जड़ प्रकृतिमें भी यह महान् वैदान्तिक सूत्र लागू होता है कि विश्व-पुरुषकी इच्छासे एक बीजसे बहुतसे रूपोंके विकास द्वारा जगत् निर्मित होता है, **एकं बीजं बहुधा यः करोति,** ऐसी ही बात भाषाके सम्बन्धमें भी है। यदि मानवभाषाका उद्गम और एकता खोजकर स्थापित की जा सकती है, यदि यह दिखाया जा सकता है कि उसका विकास निश्चित नियमों और प्रक्रियाओं द्वारा शासित था तो उसके प्राचीनतम रूपोंतक पीछे जाकर ही मूलकी खोज करनी होगी और इसके प्रमाणोंको स्थापित करना होगा। आधुनिक भाषा अधिकांशमें एक निश्चित और लगभग कृत्रिम-सा रूप है, ठीक-ठीक जीवावशेष तो नहीं, किन्तु एक ऐसा जीव-संस्थान है जो गतिरोध और पाषाण-रूपकी ओर जा रहा है। इसके अध्ययनसे जो विचार हमें सूझते हैं, उनके विषयमें यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि वे हमें बिलकुल भटकानेवाले हैं। आधुनिक भाषामें शब्द एक निश्चित एवं रूढ़ प्रतीक है, प्रथावश उसके साथ हम जो अर्थ जोड़नेके लिए विवश हैं वह किसी भी ज्ञात उचित कारणसे उसका अर्थ होता नहीं। हम अंग्रेजीके 'वुल्फ' (wolf) शब्दसे एक विशेष प्रकारके पशुका अर्थ ग्रहण करते हैं। किन्तु इस अर्थके लिए हम क्यों इस ध्वनिका प्रयोग करते हैं, किसी अन्यका नहीं, इस विषयमें हम, इसके अतिरिक्त कि यह एक ऐतिहासिक विकासका नियमरहित तथ्यमात्र है, कुछ भी नहीं जानते और नाहीं सोचनेकी परवाह करते हैं। कोई भी अन्य ध्वनि इस प्रयोजनके लिए हमारे लिए समान रूपसे अच्छी होगी, बशर्ते कि हमारी रूढ़िबद्ध मनोवृत्तिको, जो हमारे वातावरणमें व्याप्त है, उसे अनुमति देनेके लिए प्रेरित किया जा सके। जब हम प्राचीन भाषाओंकी ओर पीछेतक

जाते हैं और, उदाहरणार्थ, यह देखते हैं कि भेड़ियेके लिए प्रयुक्त संस्कृत शब्द (वृक)का मूलार्थ "फाड़ना" है, केवल तभी हमें भाषाके विकासके कम-से-कम एक नियमकी झाँकी मिलती है। और फिर आधुनिक भाषामें हमें वाक्यके निश्चित अंग मिलते हैं—संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण; ये हमारे लिए पृथक्-पृथक् शब्द हैं, चाहे इनके रूप एकसमान भी हों। जब हम फिर अधिक प्राचीन भाषाओंकी ओर पीछेतक जाते हैं केवल तब ही हम इस आश्चर्यजनक और प्रकाशप्रद तथ्यकी झाँकी पाते हैं कि अत्यंत आधारभूत रूपोंमें एक अकेला एकमात्रिक शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया और क्रियाविशेषण—इनका समान रूपसे काम देता था, और बहुत संभवतः मनुष्य भाषाके अपने प्राचीनतम प्रयोगमें इन भिन्न-भिन्न शब्दोंके बीच अपने मनमें बहुत ही कम भेद करता था अथवा किसी प्रकारका सचेतन भेद करता ही नहीं था। आधुनिक संस्कृतमें हम 'वृक' शब्दका प्रयोग 'भेड़िया' अर्थकी सूचक एक संज्ञाके रूपमें ही देखते हैं। वेदमें इसका अर्थ केवल 'फाड़ना' वा 'फाड़नेवाला' है, वहाँ इसका प्रयोग संज्ञा अथवा विशेषणके रूपमें बिना विशेष भेदके किया जाता है। संज्ञा-रूपमें जब इसका प्रयोग होता है तब भी इसमें विशेषण-जैसी बहुत कुछ स्वतंत्रता होती है और यह भेड़िया, राक्षस, शत्रु, विध्वंसक शक्ति अथवा किसी भी फाड़नेवाली वस्तुके लिए स्वतंत्र रूपसे प्रयुक्त किया जा सकता है। हम वेदमें यह पाते हैं कि यद्यपि वहाँ ई (e) और तेर (ter) से बननेवाले लैटिन क्रियाविशेषणके अनुरूप क्रियाविशेषणात्मक शब्द पाये जाते हैं तो भी स्वयं विशेषणका ही निरंतर एक विशुद्ध विशेषणके रूपमें और धातुरूप और उससे सूचित क्रियाके साथ संबद्ध रूपमें प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग क्रिया-विशेषणों और क्रियाविशेषणात्मक या उपसर्गात्मक पदावलियों या गौण क्रियाविशेषणात्मक खंडवाक्योंके आधुनिक प्रयोगसे मिलता-जुलता है। इससे भी अधिक विलक्षण बात हम यह पाते हैं कि संज्ञा और विशेषणपदोंको प्रायः क्रियाओंके रूपमें भी प्रयुक्त किया जाता है तथा उनके साथ द्वितीया विभक्तिमें कर्मका प्रयोग किया जाता है, जो धातुगत क्रियासंबंधी विचारपर आश्रित होता है। इसलिए हम यह खोज निकालनेके लिए प्रस्तुत हैं कि आर्यभाषाके अत्यंत सरल और सबसे प्राचीन रूपोंमें शब्दका प्रयोग बिलकुल तरल था। उदाहरणार्थ, 'चित्' जैसे शब्दका प्रयोग 'जानना', 'जाननेकी क्रिया', 'जानता है', 'जाननेवाला', 'ज्ञान' या 'ज्ञानपूर्वक'—इन अर्थोंमें समान रूपसे किया जा सकता था, और वक्ताको इस बातका कोई स्पष्ट विचार नहीं आता था कि वह ऐसे लचकीले शब्दका

किस विशेष भावमें व्यवहार कर रहा है। और फिर आधुनिक भाषाओंमें निश्चितताकी यह प्रवृत्ति,—शब्दोंका प्रयोग स्वयं विचारको जन्म देनेवाले जीवित तत्त्वोंके रूपमें नहीं अपितु केवल विचारोंके प्रतिरूपो और प्रतीकोंके रूपमें ही करनेकी यह प्रवृत्ति,—अनेक भिन्न-भिन्न अर्थोंके लिए एक ही शब्दके प्रयोगपर कठोर प्रतिबन्ध लगानेकी प्रवृत्तिको और साथ ही एक ही पदार्थ अथवा विचारकी अभिव्यक्तिके लिए अनेक भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग न करनेकी प्रवृत्तिको जन्म देती है। जब हम श्रमिकों द्वारा अपनी इच्छासे और संगठित रूपमें कार्य बंद कर देनेके भावको सूचित करनेके लिए 'strike' (स्ट्राइक) इस शब्दको पा लेते हैं तो हम संतुष्ट हो जाते हैं। हम बड़ी उलझनमें पड़ जायँगे यदि हमें इस शब्द, और इसी भावको प्रकट करनेवाले, समान रूपसे प्रचलित अन्य पन्द्रह शब्दोंमेंसे किसी एकका चुनाव करना पड़े। हम और भी अधिक कठिनाई अनुभव करेंगे यदि एक ही शब्दके अर्थ प्रहार, सूर्यकिरण, क्रोध, मृत्यु, जीवन, अंधकार, आश्रय, घर, भोजन और प्रार्थना—ये सब हो सकते हों। तथापि ठीक यही तथ्य—मैं फिर कहता हूँ कि यही अत्यंत ध्यानाकर्षक और प्रकाशप्रद तथ्य—हम भाषाके प्राचीन इतिहासमें पाते हैं। पीछेकी संस्कृतमें भी एक ही शब्दके प्रत्यक्षतः-असंबद्ध अर्थोंका आश्चर्यजनक भंडार देखनेमें आता है। किन्तु वैदिक संस्कृतमें तो यह आश्चर्यजनकसे कहीं अधिक कुछ है और आर्य सूक्तोंका बिलकुल ठीक-ठीक और निर्विवाद अर्थ निश्चित करनेके लिए किये गये आधुनिक विद्वानोंके किसी भी प्रयत्नके मार्गमें यह गंभीर बाधा उपस्थित करता है। इस कृतिमें मैं यह परिणाम निकालनेके लिए प्रमाण दूंगा कि और भी अधिक प्राचीन भाषामें यह स्वतंत्रता इससे कहीं अधिक थी, प्रत्येक शब्द अपवाद-रूपमें ही नहीं अपितु साधारण नियमके रूपमें अनेक भिन्न-भिन्न अर्थोंका द्योतक हो सकता था, और प्रत्येक पदार्थ या विचार अनेक शब्दोंसे और प्रायः ही, पृथक्-पृथक् धातुसे निष्पन्न पचासतक भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता था। हमारे विचारोंके अनुसार इस प्रकारकी अवस्था केवल नियमरहित गड़बड़झालेकी ही होगी जो भाषाके किसी नियम अथवा भाषाविज्ञानकी किसी भी संभावनाके विचारतकका खंडन कर डालेगी। किन्तु मैं यह दिखाऊँगा कि यह असाधारण स्वतंत्रता और नमनीयता मानव भाषाकी प्रारंभिक प्रवृत्तियोंके असली स्वरूपसे ही अनिवार्य रूपमें प्रकट हुई और ठीक उन्हीं नियमोंके परिणामके रूपमें प्रकट हुई जो इसके आदिकालीन विकासको शासित करते थे।

इस प्रकार आधुनिक भाषामें एक विकसित वाणीके कृत्रिम प्रयोगसे पीछेकी ओर जाकर और अपने अधिक प्राचीन पूर्वजों द्वारा प्रयुक्त आदिम भाषाके स्वाभाविक प्रयोगके समीप पहुँचकर हमें दो आवश्यक चीजें प्राप्त होती हैं। हम ध्वनि और उसके अर्थमें रूढ़िगत निश्चित संबंधके विचारसे मुक्त हो जाते हैं और यह देखते हैं कि एक विशेष ध्वनिसे एक विशेष पदार्थको इसलिए सूचित किया जाता है, कि किसी कारणसे यह ध्वनि उस पदार्थकी एक विशेष और उल्लेखनीय क्रिया या विशेषताको प्राचीनतर मानव मनके सम्मुख विशेष रूपसे प्रस्तुत करती थी। आजकलके कृत्रिम और जटिल प्रकृतिवाले मनुष्यके समान प्राचीन मानव अपने मनमें यह नहीं कहता था "देखो, यहाँ है एक हिंस्र मांसाहारी पशु जिसकी चार टाँगें हैं, जो कुत्तेकी जातिका है, जो झुंडमें शिकार करता है और मेरे मनमें जिसका संबंध विशेष रूपसे रूसदेश, शीत ऋतु, हिम और घासके मैदानके साथ है, आओ उसके लिए हम एक उपयुक्त नाम ढूँढ़ें।" उसके मनमें भेड़िएके विषयमें आजकी अपेक्षा बहुत कम विचार थे, वैज्ञानिक वर्गीकरणके विचारोंमें वह कतई व्यस्त नहीं था। भेड़िएके साथ अपने संपर्कके स्थूल तथ्यमें वह बहुत अधिक ग्रस्त था। इस मुख्य और सर्वाधिक आवश्यक तथ्यको चुनकर ही वह अपने साथीके संमुख, "यहाँ है एक भेड़िया" ऐसा न कहकर, केवल यह है "एक फाड़नेवाला", **अयं वृकः**, इन शब्दोंमें चिल्ला उठा। अब प्रश्न यह रहता है कि किसी अन्य शब्दकी अपेक्षा 'वृक' शब्द ही फाड़नेका भाव क्यों सूचित करता था। संस्कृत-भाषा हमें एक कदम पीछे ले जाती है, किन्तु अभी अंतिम कदमतक नहीं। यह कार्य वह हमें यह दिखाकर करती है कि बने-बनाए 'वृकः' शब्दसे हमारा कोई वास्ता नहीं, हमारा वास्ता है 'वृच्' शब्दसे, उस 'वृच्' धातुसे जिसके अनेक प्ररोहोंमेंसे 'वृक' केवल एक है। क्योंकि, दूसरा मोह, जिससे मुक्त होनेमें यह हमें सहायता देती है, यह है—एक विकसित शब्दका किसी विचारकी उस एक सुनिश्चित छायाके साथ आधुनिक संबंध जिसे प्रकट करनेके लिए हमने इसके पुनः-पुनः प्रयोगके द्वारा इसे प्रचलित किया है। 'डिलिमिटेशन (delimitation)' यह शब्द और वह जटिल अर्थ (सीमानिर्धारण) जिसे यह प्रकट करता है हमारे लिए एक साथ जुड़े हुए हैं। हमें यह स्मरण करनेकी आवश्यकता नहीं कि यह शब्द 'लाइम्स (limes)' से बनता है जिसका अर्थ सीमा है और एकमात्रिक 'लाइम् (lime)' शब्द, जो 'डिलिमिटेशन' का मेरुदण्ड है, अपने-आपमें भावके मूलभूत सारको हमारे सामने प्रकट नहीं करता। किन्तु मैं समझता हूँ यह दिखाया जा

सकता है कि वैदिक कालमें भी 'वृक' शब्दका प्रयोग करते हुए मनुष्योंके मनमें 'वृच्' धातुका अर्थ प्रमुख रूपमें रहता था और यह धातु ही उनके मनके लिए भाषाका कठोर एवं निश्चित महत्त्वपूर्ण भाग था। पूरा शब्द अभीतक तरल अवस्थामें था और वह अपने प्रयोगके लिए अपने मूल धातुके द्वारा जगाए गये सहकारी संस्कारोंपर निर्भर करता था। यदि ऐसा ही हो तो हम आंशिक रूपसे यह देख सकते हैं कि क्यों शब्द अपने अर्थमें तरल रहे। बोलनेवालेके मनमें धातुकी ध्वनि द्वारा जगाए गये विशेष विचारके अनुसार उनका अर्थ परिवर्तित होता था। हम यह भी देख सकते हैं कि क्यों स्वयं यह धातु भी न केवल अपने अर्थोंमें अपितु अपने प्रयोगमें भी तरल अवस्थामें था और क्यों बने-बनाए और विकसित शब्दमें भी, वेदमें पाई जानेवाली भाषाकी अपेक्षाकृत अर्वाचीन अवस्थामें भी, संज्ञारूप, विशेषणात्मक क्रियारूप और क्रियाविशेषणात्मक प्रयोगोंमें भेद अत्यंत अपूर्णतासे किया जाता था, वे बहुत ही कम कठोर और पृथक्-पृथक् होते थे, एक दूसरेसे बहुत ही अधिक मिले-जुले रहते थे। हम भाषाकी निर्धारक इकाईके रूपमें सदा धातुपर ही पहुँचते हैं। हमारे संमुख खोजका विशेष विषय यह है कि भाषाविज्ञानका आधार क्या है, इस विषयमें हम प्रगतिके एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थलपर आ पहुँचे हैं। हमें यह जाँच करनेकी आवश्यकता नहीं कि 'वृक'का अर्थ 'फाड़नेवाला' क्यों था! इसके स्थानपर हम यह जाँच करेंगे कि प्राचीन 'आर्य'भाषा-भाषी प्रजातियोंके लिए 'वृच्' ध्वनिका क्या अर्थ था और इसके अंदर हम जिस एक वा जिन अनेक विशेष अर्थोंको सचमुचमें निहित पाते हैं, वे अर्थ इसके क्यों होते थे। हमें यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं कि डोलाब्रा (dolabra) का अर्थ लैटिनमें कुल्हाड़ा क्यों है, दल्मि (dalmi) का अर्थ संस्कृतमें इन्द्रका वज्र क्यों है, दलप (dalapa) और दल (dala) शस्त्रोंके लिए क्यों प्रयुक्त होते हैं या क्यों 'दलनम्' का अर्थ 'ध्वंस करना' है, अथवा ग्रीकमें गुफाओं और घाटियोंवाले स्थानको डेल्फी (delphi) नाम क्यों दिया गया है। किन्तु हम अपने-आपको उस निर्मायक मूलधातु 'दल्'के स्वरूपकी खोजतक ही सीमित रख सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप ये सब भिन्न-भिन्न पर सजातीय प्रयोग उत्पन्न हुए हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन सब शब्दोंमें हम जो भेद देखते हैं उनका कोई महत्त्व नहीं किन्तु उनका महत्त्व गौण और अवान्तर है। वस्तुतः हम भाषाके उद्गमोंके इतिहासको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, एक तो भ्रूणसंबंधी जिसके विषयमें अनुसंधानको प्रथम महत्त्व देकर

तत्काल आरंभ करना चाहिये, और दूसरा संरचनात्मक जो अपेक्षया कम महत्त्वपूर्ण है और इसलिए जिसे उत्तरकालीन और सहायक अनुसंधानके लिए रख छोड़ा जा सकता है। पहलेमें हम भाषाके धातुओंपर ध्यान-पूर्वक दृष्टि डालते हैं और यह जिज्ञासा करते हैं कि 'वृच्'का अर्थ 'फाड़ना' और 'दल्'का अर्थ 'विभक्त करना' अथवा 'कुचलना' कैसे हो गया। क्या ऐसा मनमाने ढंगसे हो गया अथवा प्रकृतिके किसी नियमकी क्रियासे? दूसरेमें हम उन विकारों व आगमोंपर ध्यान देते हैं जिनसे वे धातु बढ़ते-बढ़ते शब्दों, शब्दसमुदायों, शब्दपरिवारों और शब्दवंशोंके रूपमें परिणत हो जाते हैं और हम इस बातपर भी ध्यान देते हैं कि क्यों उन विकारों और आगमोंका अर्थ और शब्दपर वह प्रभाव पड़ा जिसे, हम देखते हैं कि, उन्होंने डाला है, क्यों 'अन' (ana) प्रत्यय 'दल्' धातुको एक विशेषण वा संज्ञा बना डालता है, और आब्र (ābra), भि (bhi), भ (bha), डेल्फोय (delphoi) दल्भाह् (dalbhāh), आन् (ग्रीक औन्, ôn) और अन (ana)—इन विविध प्रत्ययोंका मूलस्रोत और तात्पर्य क्या है।

प्राचीन भाषामें निर्मित शब्दकी अपेक्षा धातुका यह उच्चतर महत्त्व भाषाके उन अंतर्हित तथ्योंमेंसे एक है जिनकी उपेक्षा विज्ञानके रूपमें भाषा-शास्त्रकी वैज्ञानिक विफलताके मुख्य कारणोंमेंसे एक सिद्ध हुई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञानके प्रथम प्रवर्तकोंने एक घातक भूलकी जब निर्मित शब्दमें ही अत्यधिक तल्लीनतासे भ्रांत होकर उन्होंने पिता (pitā), पाटैर (patêr), पातैर (pater), फाटैर (vater), फादर (father)—इन सब शब्दोंके संबंधको अपने विज्ञानकी कुंजी या मूलमंत्र निर्धारित किया और इसके आधारपर तर्क कर वे सब प्रकारके युक्त या अयुक्त परिणाम निकालने लगे। सच्चा मूलमंत्र या सच्चा परस्पर-संबंध इस दूसरे सामंजस्यमें मिलता है—दल्भि (ḍalbhi), दलन (dalana), डोलाब्रा (dolabra), डोलोन (dolon)[1], डेल्फी (delphi), जो समान मातृ-धातु, समान शब्द-परिवारों, समान शब्दवंशों, संबद्ध शब्दजातियोंके विचारकी ओर, अथवा, जैसा कि हम उन्हें कहते हैं, भाषाओंके विचारकी ओर ले जाता है। और यदि इस बातको भी ध्यानमें रखा जाता कि इन सब भाषाओंमें 'दल्'का अर्थ बहाना या कपट भी है और इसके कुछ दूसरे एकसमान या सजातीय अर्थ भी हैं

1. डोलोस (dolos), धूर्तता; डोलोन (dolon), छुरा; डुलोस (doulos) दास।

और एक ही ध्वनिके इन विविध महत्त्वपूर्ण अर्थोंमें प्रयोगके कारणकी खोजके लिए कुछ यत्न किया जाता तो वास्तविक भाषाविज्ञानकी आधार-शिला रखी जा सकती थी। प्रासंगिक रूपसे हम संभवतः प्राचीन भाषाओंके वास्तविक संबंध और तथाकथित आर्यजातियोंकी एक-सी मनोवृत्तिकी भी खोज कर लेते। हम कुल्हाड़ेके लिए लैटिनमें 'डोलाब्रा (dolabra)' शब्द पाते हैं। ग्रीक अथवा संस्कृतमें कुल्हाड़ेके लिए हमें इससे मिलता-जुलता कोई शब्द नहीं मिलता। इसके आधारपर यह तर्क करना कि आर्यपूर्वजोंने अपनी जुदाईसे पूर्व एक शस्त्रके रूपमें कुल्हाड़ेका आविष्कार नहीं किया था और नाहीं उसे अपनाया था, निरर्थक और तमसाच्छन्न अनिश्चितताओं और अविवेकपूर्ण अनुमानोंके क्षेत्रमें उतरनेके समान होगा। किन्तु जब हम इस बातको देख चुकते हैं कि लैटिनमें डोलाब्रा (dolabra), ग्रीकमें डोलोन (dolon), संस्कृतमें दल, दलप और दल्भि—ये सभी 'दल्', विभक्त करना इस धातुसे स्वतंत्रतापूर्वक विकसित विभिन्न रूप थे और इन सबका प्रयोग इसी प्रकारके शस्त्रके लिए होता था, तो हम एक फलप्रद और समुज्ज्वल निश्चयपर पहुँच जाते हैं। हम एकसमान या आदिकालीन मनोवृत्तिको काम करते हुए देखते हैं। हम यह देखते हैं कि कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो दीखनेमें तो स्वतंत्र और विशृंखल हैं पर वस्तुतः नियमबद्ध हैं, जिनके द्वारा शब्दोंका निर्माण हुआ था। हम यह भी देखते हैं कि बिलकुल समान, अभिन्न, निष्पन्न शब्दोंका संग्रह नहीं, अपितु किसी विशेष पदार्थ या विचारको प्रकट करनेके लिए एक धातुका चुनाव और उसी धातुकी अनेक संतानोंमेंसे किसी एकका चुनाव ही आर्य-भाषाओंके शब्दकोषके साझे तत्त्व और उन विशाल तथा स्वतंत्र भेद-प्रभेदोंका रहस्य था जिन्हें हम वहाँ वस्तुतः पाते हैं।

मैं इस कृतिमें जिस प्रकारका अनुसंधान करनेका विचार रखता हूँ उसका स्वरूप दिखानेके लिए मैं काफी कुछ कह चुका हूँ। हमारे संमुख जो समस्या है उसके असली स्वरूपसे ही, जिन प्रक्रियाओंसे भाषाका उद्भव और निर्माण हुआ उनसे ही, हमारे अनुसंधानका यह स्वरूप आवश्यक रूपमें उद्भूत होता है। भौतिक विज्ञानोंमें अध्ययनकी एक सरल और सजातीय सामग्री हमारे सामने होती है, क्योंकि शक्तियाँ या कार्यरत उपादान कितने भी जटिल क्यों न हों, वे सब एक प्रकृतिके होते हैं और नियमोंकी एक ही श्रेणीका अनुसरण करते हैं। सब उपादान भौतिक आकाशके स्पंदनसे विकसित रूप ही होते हैं, सब शक्तियाँ इन्हीं आकाशीय स्पंदनोंकी शक्तियाँ होती हैं जिन्होंने या तो अपने को पदार्थोंके इन औपचारिक घटकोंके रूपमें

ग्रथित कर लिया होता है और जो उनमें क्रियारत होती है या फिर बाहरसे उनपर अब भी स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर रही होती है। किन्तु मानसिक विज्ञानोंमें हमारे संमुख विजातीय सामग्री और विजातीय शक्तियाँ वा शक्तियोंकी क्रियाएँ होती हैं। पहले हमें एक भौतिक सामग्री और माध्यमसे व्यवहार करना होता है, जिसकी प्रकृति और कार्यका अध्ययन अपने आपमें हमारे लिए काफी सुगम और अपनी क्रियामें पर्याप्त-नियमित होगा बशर्ते कि वहाँ वह दूसरा तत्त्व अर्थात् मानसिक साधन विद्यमान न हो जो अपने भौतिक माध्यम और सामग्रीमें तथा उसपर कार्य करता है। हम एक क्रिकेटकी गेंद को आकाशमें उड़ता देखते हैं। हम क्रिया और स्थिति-विज्ञानके उन तत्त्वोंको जानते हैं जो उसकी उड़ानके अंदर और ऊपर कार्य करते हैं और काफ़ी सुगमतासे हम न केवल यह बतला सकते हैं कि वह किस दिशामें उड़ेगी बल्कि यह भी कि वह कहाँ गिरेगी। हम एक पक्षीको हवामें उड़ता देखते हैं,—क्रिकेटकी गेंद-जैसे एक स्थूल पदार्थको उसी भौतिक माध्यममेंसे उड़ता देखते हैं; किन्तु न हम यह जानते हैं कि वह किस दिशामें उड़ेगा और न यह कि वह कहाँ उतरेगा। सामग्री वही है, एक दृश्य भौतिक पदार्थ, माध्यम वही है, भौतिक वायुमंडल, कुछ अंश तक शक्ति भी वही है जो जड़ प्रकृतिमें अंतर्निहित है, भौतिक प्राणशक्ति, जैसा कि हमारे दर्शनशास्त्रमें इसे कहा जाता है। किन्तु एक और अभौतिक शक्तिने इस भौतिक शक्तिको अधिकारमें कर रखा है, वह इसके अंदर और इसके ऊपर कार्य कर रही है और जहाँ तक स्थूल माध्यम अनुमति देता है वहाँ तक वह उसके द्वारा अपनेको चरितार्थ कर रही है। यह शक्ति मानसिक शक्ति है और इसकी उपस्थिति क्रिकेटकी गेंदमें पाई जानेवाली शुद्ध या व्यूहाणविक (molecular) प्राणशक्तिको पक्षीमें पाई जानेवाली मिश्रित या स्नायविक शक्तिमें बदलनेके लिए पर्याप्त है। किन्तु यदि हम अपने मानसिक प्रत्यक्षों को इतना विकसित कर सकें कि पक्षीके उड़नेके समय उसे अनुप्राणित करनेवाली प्राणिक शक्तिके बलको निर्णय द्वारा आंकने या गणना द्वारा मापनेमें समर्थ हों तो भी हम उसकी उड़ानकी दिशा वा उद्देश्यका निश्चय नहीं कर सकेंगे। कारण यह है कि उसमें केवल शक्तिका ही भेद नहीं है, अभिकरण या साधनका भी भेद है। वह साधन वा अभिकरण है निरे भौतिक पदार्थमें रहनेवाली शक्ति, मानसिक संकल्पकी शक्ति जो न केवल अंतर्निवास करती है अपितु कुछ अंशतक स्वतंत्र भी है। पक्षीकी उड़ानमें एक सोद्देश्य संकल्प होता है; यदि हम उस संकल्पको देख सकें तो हम यह निर्णय कर सकते हैं कि वह किस दिशामें उड़ेगा

और कहाँ उतरेगा, हाँ, इसमें यह शर्त सदा आवश्यक है कि वह अपने संकल्पमें परिवर्तन न कर ले। क्रिकेटकी गेंद भी एक मानसिक अभिकर्ता द्वारा एक उद्देश्यके साथ फेंकी जाती है। किन्तु वह अभिकर्ता गेंदसे बाहर होने और उसके अंदर न रहनेके कारण, जब वह गेंद एक बार किसी दिशामें विशेष बलके साथ प्रेरित कर दी जाती है तो वह उस दिशाको बदल नहीं सकती और नाहीं उस शक्तिका अतिक्रम कर सकती है, जब तक वह अपनी उड़ानमें आनेवाले किसी नये पदार्थ के द्वारा मोड़ न दी जाए या आगे धकेल न दी जाए। स्वयं वह स्वतंत्र नहीं है। पक्षी भी एक मानसिक अभिकर्ताके द्वारा, उद्देश्यके, साथ किसी विशेष दिशामें, अपनी उड़ानमें प्राणिक शक्तिके किसी विशेष बलके साथ प्रेरित किया जाता है। यदि उसे चलानेवाली मानसिक इच्छामें कोई परिवर्तन न हो तो उसकी उड़ानका क्रिकेटकी गेंदकी उड़ानकी तरह संभवतः अनुमान और निर्धारण किया जा सके। उसे रास्तेमें टकरानेवाले किसी पदार्थके द्वारा भी मोड़ा जा सकता है, उदाहरणार्थ मार्गके किसी वृक्ष या संकटके द्वारा अथवा मार्गसे बाहरके किसी आकर्षक पदार्थके द्वारा। किन्तु उसके अंदर एक मानसिक शक्ति निवास करती है और हमें कहना चाहिये कि वह यह चुननेमें स्वतंत्र है कि वह इधर-उधर मुड़ जाएगा या नहीं, वह अपने मार्गपर निरंतर चलता रहेगा या नहीं। किन्तु इस बातमें भी वह स्वतंत्र है कि वह बिना किन्हीं बाह्य कारणोंके अपने आरम्भिक उद्देश्यमें परिवर्तन कर ले, अपने अंदर उत्पन्न होनेवाली प्राणिक शक्तिकी मात्राको घटा या बढ़ा ले और उसे कर्ममें प्रयुक्त करे, उसे किसी ऐसी दिशामें और ऐसे लक्ष्यके लिए लगाए जो उसकी उड़ानके प्रारंभिक उद्देश्यसे बिलकुल विजातीय हो। हम उन भौतिक और प्राणिक शक्तियोंका, जिन्हें यह पक्षी काममें लाता है, अध्ययन कर सकते और उनका अनुमान कर सकते हैं। किन्तु हम पक्षीकी उड़ानका कोई विज्ञान तब तक नहीं बना सकते जब तक हम जड़ प्रकृति और उसकी शक्तिके पीछे नहीं जाते और इस सचेतन अभिकर्ताकी प्रकृतिका तथा उन नियमोंका (यदि वे कोई हों तो) अध्ययन नहीं कर लेते जो इसकी प्रतीयमान स्वतंत्रताको निर्धारित, निराकृत या मर्यादित करते हैं।

भाषाविज्ञान एक ऐसे ही मानसिक विज्ञानको बनानेका प्रयत्न है,—क्योंकि भाषाके ये दो पक्ष हैं; इसकी सामग्री भौतिक है अर्थात् वे ध्वनियाँ हैं जो वायुके स्पंदनों पर मानव जिह्वाकी क्रियासे बनती हैं; जो शक्ति इसका प्रयोग करती है वह प्राणिक है, मस्तिष्ककी एक व्यूहाणविक प्राणक्रिया है जो वाणी-संबंधी अभिकरणोंका प्रयोग करती है और स्वयं मानसिक शक्तिसे

प्रयुक्त और आपरिवर्तित होती है, वह एक प्राणिक आवेग है जो संवेदनकी स्थूल सामग्रीमेंसे विचारकी स्पष्टता और सुनिश्चितताको प्रकट करने या बाहर लानेके लिए प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग करनेवाला अभिकर्ता एक मानसिक संकल्प है। जहाँ तक हम देख सकते हैं वह उस उद्देश्यके लिए शाब्दिक ध्वनियोंके संपूर्ण क्षेत्रके प्रयोगको परिवर्धित वा निर्धारित करनेमें स्वतंत्र है, किन्तु वह अपनी भौतिक सामग्रीकी सीमाओंके अंदर ही स्वतंत्र है न कि उनके बाहर। मेरा उद्देश्य इस समय सामान्य रूपसे मानव भाषाके उद्गमोंका नहीं, अपितु आर्यभाषाके उद्गमोंका अध्ययन करना है। हमारे सामने विचारार्थ प्रस्तुत किसी मानव भाषाके निर्माणका शासन करनेवाले नियमोंपर पहुँचनेके लिये, हमें पहले उस विधिकी परीक्षा करनी होगी जिससे अभिकर्ता द्वारा वाचिक ध्वनिके उपकरणोंका निर्धारण और प्रयोग किया गया है, दूसरे हमें उस विधिकी भी परीक्षा करनी होगी जिसके द्वारा प्रकट किये जानेवाले किसी विशेष विचार तथा उसे प्रकट करनेवाली विशेष-ध्वनि या ध्वनियोंके संबंधको निर्धारित किया गया है। भाषामें ये दो तत्त्व सदा ही अवश्य विद्यमान होते हैं, एक तो भाषाकी संरचना, उसके बीज, उसके मूल धातु, उसका निर्माण और विकास, और दूसरा उसकी संरचनाके उपयोग का मनोविज्ञान।

आर्यभाषाओंमें से केवल संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसकी वर्तमान संरचना आर्य संरचनाके इस मौलिक नमूनेको अब तक सुरक्षित रखे हुई है। केवल इस प्राचीन भाषामें ही हम, पूर्ण रूप से सभी आदिकालीन रूपोंमें तो नहीं पर इसके प्रारंभिक आवश्यक भागोंमें, एवं रचनाके नियमोंमें इस भाषा-संस्थानके ढांचों, अवयवों और आंतड़ियोंको देखते हैं। तो फिर संस्कृत-भाषाके इस अध्ययनसे ही, विशेष रूपसे अन्य आर्यभाषाओंमें से अधिक नियमित और समृद्ध रचनावाली भाषाओंसे हम जो प्रकाश पा सकते हैं उसकी सहायतासे ही, हमें भाषाके मूल स्रोतोंकी खोज करनी होगी। जो संरचना हम संस्कृतमें पाते हैं वह असाधारण प्रारंभिक सादगीसे युक्त है, साथ ही वह निर्माणकी असाधारण रूपसे गणितसंबंधी और वैज्ञानिक नियमितितासे भी संपन्न है। हमें संस्कृतमें चार विवृत ध्वनियां या शुद्ध स्वर मिलते हैं, अ, इ, उ, ऋ, और उनके दीर्घ रूप भी मिलते हैं, आ, ई, ऊ, ॠ (यहाँ हमें एक विरले स्वर ऌका भी उल्लेख करना होगा पर क्रियात्मक प्रयोजनोंके लिए हम इसे छोड़ सकते हैं)। इन स्वरोंकी परिपूर्ति होती है दो अन्य विवृत ध्वनियोंसे, उन दो ध्वनियोंको वैयाकरण अशुद्ध स्वर वा 'इ' और 'उ'के विकार मानते हैं, उनका ऐसा मानना बहुत संभवतः ठीक है। वे स्वर हैं 'ए' और 'ओ',

इनमेंसे प्रत्येकका और आगे विकार होकर 'ऐ' और 'औ' बनते हैं। फिर हम संवृत ध्वनियों या व्यंजनोंके पांच समरूप वर्ग पाते हैं,—कण्ठ्य (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्), तालव्य (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्), मूर्धन्य (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) जो अंग्रेजी दन्त्य वर्णोंके समान हैं; शुद्ध दन्त्य (त्, थ्, द्, ध्, न्,) जो केल्टिक तथा यूरोपीय दन्त्य अक्षरोंसे मिलते-जुलते हैं, जिन्हें हम आयरिश, फ्रेंच, स्पैनिश या इटालियनमें पाते हैं, और ओष्ठ्य (प्, फ्, ब्, भ्, म्)। इनमेंसे प्रत्येक वर्गमें एक कठोर ध्वनि (अघोष वर्ण क्, च्, ट्, त्, प्) भी विद्यमान है जिसकी अपनी एक महाप्राण ध्वनि है (ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्) और इनसे मिलती-जुलती ध्वनियाँ (ग्, ज्, ड्, द्, ब्) भी हैं जिनके साथ उनकी महाप्राण ध्वनियाँ (घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्) हैं और साथमें एक वर्ग अनुनासिकोंका भी है (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्), किन्तु इन अनुनासिक अक्षरोंमें पिछले तीन की ही पृथक् सत्ता और महत्ता है, शेष तो सामान्य अनुनासिक ध्वनि (म्, न्)के विकाररूप हैं जो अपने वर्गके दूसरे व्यंजनोंके साथ संयुक्त रूपमें ही पाये जाते हैं और संयोगके द्वारा ही जन्म लेते हैं। मूर्धन्य-वर्ग भी एक विलक्षण वर्ग है, मूर्धन्य वर्णोंका दन्त्य अक्षरोंके साथ ध्वनि और प्रयोगमें इतना घनिष्ठ संबंध है कि उन्हें मौलिक पृथक् वर्गकी अपेक्षा लगभग दन्त्याक्षरोंका कुछ परिवर्तित रूप ही माना जा सकता है। अन्तमें हम इन साधारण स्वरों और व्यंजनोंके अतिरिक्त चार तरल वर्णों (य्, र्, ल् व्) से बना एक वर्ग पाते हैं जिन्हें स्पष्टतः ही अंतस्थ वर्ण माना जाता है, य् इ का अंतस्थ रूप है, व् उ का, र् ऋ का, ल्, ऌ का,—र् और ल् का यह अंतस्थ स्वरूप ही इस बातका कारण है कि लैटिन छंदःशास्त्रमें उन्हें सदा व्यंजनका पूरा महत्त्व नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, उनका अंतस्थ स्वरूप ही इस बातका भी कारण है कि वोलुअरिस (volueris) में यू (u) को विकल्पसे ह्रस्व और दीर्घ माना जाता है। साथ ही हम तीन ऊष्म अक्षर श्, ष्, स् भी पाते हैं जिनमेंसे श तालव्य, ष् मूर्धन्य और स् दन्त्य है। इसके बाद हम पाते हैं शुद्ध महाप्राण ह्। मूर्धन्य-वर्ग और परिवर्तनशील अनुनासिकोंके संभावित अपवादको छोड़कर मैं समझता हूँ कि इसमें कदाचित् ही संदेह हो सकता है कि संस्कृत वर्णमाला आर्योंकी भाषाके आदिकालीन वाचिक यंत्रका प्रतिनिधित्व करती है। इसका नियमित, सम-मित और प्रणालीबद्ध स्वरूप प्रत्यक्ष ही है और वह हमें इसमें किसी वैज्ञानिक बुद्धिकी सृष्टिको देखनेके लिए प्रलोभित कर सकता है; यदि हम यह न जानते हों कि प्रकृतिमें, उसकी विशुद्ध भौतिक क्रियाके एक विशेष अंशमें, ठीक ऐसी ही नियमितता, सममितता और निश्चितता है और

मन, कमसे कम अपनी प्राचीनतर बौद्धिकभाव-रहित क्रियामें जब मनुष्य संवेदन, आवेग और उतावले बोधसे अधिक परिचालित होता है, अनियमितता एवं मनमौजके तत्त्वको ही लानेकी ओर झुकाव रखता है, न कि किसी महान् प्रणाली और सममितताकी ओर। पूर्ण और निरपेक्ष रूपसे तो नहीं, परंतु भाषासंबंधी उपलब्ध तथ्यों और कालोंकी सीमाके भीतर हम यह भी कह सकते हैं कि सममितता और अचेतन वैज्ञानिक नियमितता जितनी ही अधिक होगी, भाषाकी अवस्था उतनी ही अधिक प्राचीन होगी। भाषाकी उन्नत अवस्थाओंमें निरंतर बढ़ता हुआ वर्णलोप, तरलता, मनमाना परिवर्तन एवं उपयोगी ध्वनियोंका विलोप देखनेमें आता है; साथ ही यह भी दिखाई देता है कि एक ही ध्वनि कभी अस्थायी रूपमें और कभी स्थायी रूपमें छोटे-छोटे और अनावश्यक परिवर्तनोंमेंसे गुजरती हुई पृथक्-पृथक् अक्षरोंकी महत्ताको प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकारका परिवर्तन, जो स्थायी होनेमें सफल नहीं होता, वेदमें देखा जा सकता है, जहाँ कोमल मूर्धन्य ड् तरल मूर्धन्य ळ् में आपरिवर्तित हो जाता है। यह ध्वनि पीछेकी संस्कृतमें लुप्त हो गई है किन्तु तामिल और मराठीमें इसने अपनेको स्थिर रखा है। ऐसा है वह सरल उपकरण जिसके द्वारा संस्कृतभाषाकी भव्य और अभिव्यंजक सुस्वरताएँ निर्मित हुई हैं।

प्राचीनतर आर्यों द्वारा शब्दोंके निर्माणके लिए इस उपकरण (अक्षरमाला) का प्रयोग समान रूपसे सममित, प्रणालीबद्ध और वाचिक अभिव्यक्तिके भौतिक तथ्योंसे घनिष्ठतया संबद्ध रहा है। इन अक्षरोंका प्रयोग अनेक बीजध्वनियोंके रूपमें किया गया है। इनसे आदिम धातु बनते हैं। वे चार स्वरोंके अथवा कभी-कभी उनके विकारसे बने संयुक्त स्वरोंके एक-एक व्यंजनके साथ सरल संगोगसे बनाये जाते हैं। इस प्रक्रियामें दो पराश्रित अनुनासिकों ङ और ञ् और मूर्धन्य अनुनासिकको छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार द् को आधारभूत ध्वनिके रूपमें लेकर प्राचीन आर्यलोग अपने लिए धातु-ध्वनियोंको बनानेमें समर्थ हुए और उनका उन्होंने धातु-गत विचारोंको प्रकट करनेके लिए संज्ञाओं, विशेषणों, क्रियाओं या क्रियाविशेषणोंके रूपमें बिना किसी भेदके प्रयोग किया, यथा द, दा, दि, दी, दु, दू, दृ, दॄका। इनमेंसे सबके सब धातु पृथक् शब्दोंके रूपमें नहीं टिक पाये। किन्तु जो टिके रहे वे अपने पीछे प्रायः शक्तिशाली संतानोंको छोड़ गये, जो अपने जनकके अस्तित्वकी साक्षी अपने अंदर सुरक्षित रखे हुए हैं। विशेषकर लघु अ से बने धातु बिना एक भी अपवादके प्रयोगमें अप्रचलित हो गए। इसके अतिरिक्त, आर्य यदि चाहते तो दे दै, दो दौ—इन आपरि-

वर्तित धातुभूत ध्वनियोंको भी बना सकते थे। स्वरात्मक आधारोंको भी धातु-ध्वनियों और धात्वीय शब्दोंके रूपमें प्रयुक्त किया गया क्योंकि भाषाकी प्रकृति इसकी अनुमति देती थी। किन्तु स्पष्टतः ही, भाषाका यह सारतत्त्व यद्यपि आदिम जंगली लोगोंके लिए पर्याप्त हो सकता था फिर भी यह मानव भाषाकी अपने आपको विस्तृत करनेकी प्रवृत्तिको तृप्त करनेके लिए अपने क्षेत्रमें बहुत सीमित है। इसलिए हम देखते हैं कि आदिम धातुमें कोई एक व्यंजन-ध्वनि और जोड़कर इससे द्वितीय कोटिकी धातु-ध्वनियों और धातु-शब्दोंका एक वर्ग विकसित हो जाता है। वह जोड़ी गई व्यंजन-ध्वनि पहलेसे विद्यमान धातु-गत विचारमें एक आवश्यक अथवा स्वाभाविक आपरिवर्तन कर देती है। इस प्रकार, अब लुप्त हो चुके आदिम 'द' धातुके आधारपर यह संभव था कि चार कण्ठ्य, लघु, द्वितीयस्थानीय धातु, दक्, दख्, दग्, दघ् और साथ ही चार दीर्घ धातु, दाक्, दाख्, दाग्, दाघ् बन जाएँ जिन्हें या तो पृथक् शब्द माना जा सकता है या लघु धातुके दीर्घ रूप। इसी प्रकार आठ तालव्य, आठ मूर्धन्य जो अपने दो सानुनासिक रूपों, दण्, दाण्के साथ दस बन जाते हैं, दस दन्त्योष्ठ्य, छः ऊष्म और दो महाप्राण द्वितीयस्थानीय धातु भी बन सके। यह भी संभव था कि इनमेंसे किसी भी रूपको सानुनासिक बना दिया जाय, उदाहरणार्थ, दङक्, दङख्, दङग्, दङघ्को प्रचलित कर दिया जाय। यह कल्पना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती कि ये सब धातु आर्योंकी भाषाके अतिप्राचीन रूपोंमें विद्यमान थे। किन्तु हमारे प्रथम साहित्यिक अभिलेखोंका समय आने तक इनमेंसे बहुतसे नष्ट हो गए, कुछ अपने पीछे थोड़ी या अधिक संतति छोड़ गए, दूसरे अपने निर्बल वंशजोंके साथ ही नष्ट हो गए। यदि हम आदिम आधारभूत धातु 'म' का एकाकी उदाहरण लें तो हम पाते हैं कि 'म' तो स्वयं मर चुका है किंतु वह अपने म, मा, मन्, मतः, मतम्,—इन नामिक रूपोंमें विद्यमान है। 'मक्' केवल अपने सानुनासिक रूप 'मङक्' और अपने वंशजों 'मकर', 'मकुर', 'मकुल' इत्यादिमें और अपनी तृतीय-स्थानीय रचनाओं अर्थात् मक्क् और मक्ष्में ही बच रहा है। 'मख्' अपने रूपों मख्, मङख्में एक धात्वीय शब्दके रूपमें अभीतक बचा हुआ है। 'मग्' और 'मघ्' अपने वंशजों और सानुनासिक रूपों 'मङग्' और 'मङघ्'के रूपमें ही विद्यमान हैं। 'मच्' अभी भी जीवित है, परंतु अपने सानुनासिक रूप 'मञ्च्' को छोड़कर निःसंतान है। 'मछ्' अपनी संतति सहित मर चुका है; मज् अपने वंशजों और सानुनासिक रूप 'मञ्ज्' के रूपमें ही जीवित है; 'मझ्' बिलकुल लुप्त हो चुका है। दीर्घ रूपोंमें हम

'मा' और 'माक्ष्' को पृथक् धातुओं और शब्दोंके रूपमें तथा 'माक्', 'माख्', 'माघ्', 'माच्' और 'माछ्'को उनके महत्त्वपूर्ण अंगोंके रूपमें पाते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होगा कि ये सब धातु दीर्घ रूपवाले किसी पृथक् धातुसे नहीं बने अपितु अधिकतर लघु धातुको दीर्घ करने से बने हैं। अन्तमें तीसरे दर्जेके धातु कम नियमित रूपमें किन्तु फिर भी कुछ स्वतंत्रताके साथ बनाये गये हैं। वे पहले या दूसरे वर्गके धातुकी बीजध्वनिमें अंतस्थ अक्षरको जोड़कर बनाये गये हैं और इस प्रकार वे हमें 'घ्यै', 'ध्वन्', 'सृ', 'ह्लाद्' जैसे धातु प्रदान करते हैं। अथवा, जहाँ किन्हीं अन्य व्यंजनोंका मेल संभव था वहाँ वे उन्हें मिलाकर बनाये गये हैं और इस प्रकार वे हमें 'स्तु', 'श्नु', 'ह्राद्' आदि जैसे धातु देते हैं। या फिर वे दूसरे वर्गके धातुके अंतिम अक्षरमें अन्य व्यंजनके योगसे बनाये गये हैं और इस प्रकार वे हमें 'वल्ग्', 'मज्ज्' इत्यादि रूप प्रदान करते हैं। ये शुद्ध धातुरूप हैं। परन्तु स्वरको गुण या वृद्धि करके, उदाहरणार्थ, स्वर 'ऋ' को अर् और 'ॠ' को 'आर्' में बदलकर, एक प्रकारके अवैध, तीसरे दर्जेके धातु बनाए जाते हैं, हमें वैकल्पिक रूप 'ऋक्' और 'अर्च्' वा 'अर्क्' प्राप्त होते हैं। इसी तरह 'वृष्' और 'चृ' का स्थान 'वर्ष्' और 'चर्' ले लेते हैं, वे 'वृष्' और 'चृ' अब मर चुके हैं। 'मृज्' और 'मर्ज्' इत्यादि रूप भी इसी प्रकार बनते हैं। साथ ही हम व्यंजनके परिवर्तनोंकी कुछ एक प्राचीन प्रवृत्तियाँ भी पाते हैं। च्, छ्, ज्, झ्—इन तालव्य वर्णोंको त्यागकर इनके स्थान पर क् और ग् करनेकी आरंभिक प्रवृत्ति पाई जाती है। यह प्रवृत्ति लैटिनमें पूर्ण रूपसे चरितार्थ हुई किन्तु संस्कृतमें आधी पूरी होकर बीचमें ही रोक दी गई। गुण करनेका सिद्धांत भाषाके भौतिक निर्माण और उसके मनोवैज्ञानिक विकासके अध्ययनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर इसलिए कि यह संरचनाकी स्पष्टतामें, जो अन्यथा स्फटिक-सम उज्ज्वल थी, और निर्माणकी पूर्ण यांत्रिक नियमिततामें संशय और संभ्रमका प्रारंभिक तत्त्व ला घुसाता है। गुणनामक स्वर या आपरिवर्तन, या तो 'इ'के स्थानपर 'ए', 'उ' के स्थानपर 'ओ' करनेसे निष्पन्न होता है, जिससे हमें 'वी' से विभक्ति-रूप 'वेओ' ('वेः'), 'जनु'से विभक्तिरूप 'जनोः' मिलता है; अथवा वह गुणनामक स्वर या आपस्विर्तन विशुद्ध अर्ध-स्वरकी ध्वनि 'इ'के स्थान पर शुद्ध अंतस्थ य्, 'उ' के स्थानपर व्, ॠ के स्थानपर 'र्' अथवा कुछ अशुद्ध रूपमें रा करके अपना कार्य करता है जिससे कि हमें 'वि'से धातुजन्य रूप 'व्यन्तः', 'शू'से अश्वः, 'वृ' या 'वृह्' से संज्ञापद 'व्रह' मिलते हैं, अथवा यह गुणरूपी आपरिवर्तन स्वरसहित अंतस्थ ध्वनि अर्थात्

इ के स्थानपर 'अय्', उ के स्थानपर 'अव्', ऋके स्थानपर 'अर्', लृ के स्थान पर 'अल्' करके अपना कार्य करता है जिससे हमें 'वि' से संज्ञा 'वयस्', 'श्रु' से 'श्रवस्' और 'सृ' से 'सरस्', 'क्लृप्' से 'कल्प'—ये शब्द प्राप्त होते हैं। लघु रूप स्वरध्वनि अ, इ, उ, ऋ, लृ को सरल ढंगसे गुण करनेसे बने हैं। इनके अतिरिक्त, स्वरका एक दीर्घ विकार या वृद्धि, अर्थात् दीर्घ करनेके नियमका विस्तार, भी हम पाते हैं जो हमें दीर्घ रूप प्रदान करता है। इस नियमसे हमें इ से ऐ अथवा 'आय्', उ से औ अथवा 'आव्' ऋ से 'आर्', लृ से 'आल्' प्राप्त होता है जब कि अ की कोई वास्तविक वृद्धि नहीं होती, केवल आ के रूपमें उसे दीर्घ हो जाता है। ध्वनि-विकासके सरल स्वरूपसे यह जो प्रारम्भिक विचलन होता है उससे उत्पन्न होनेवाली मुख्य अव्यवस्था यह है कि एक नियमित द्वितीय कोटिके धातु और गुण करनेसे बने अनियमित धातुके बीच प्रायः ही अनिश्चितता रहती है। उदाहरणार्थ, हम एक नियमित धातु 'अर्' पाते हैं जो आदिम धातु अ से निकलता है और एक अवैध धातु 'अर्' पाते हैं जो आदिम धातु 'ऋ' से निकलता है। हमारे सामने 'कल' और 'काल' दो रूप हैं जिन्हें यदि उनकी संरचनाके आधारपर ही परखा जाए तो वे या तो क्लृ से निकल सकते हैं या कल् से। हमारे पास 'अयुस्' और 'आयुस्' शब्द हैं, उन्हें भी यदि इसी प्रकार केवल संरचनासे परखा जाए तो, या तो वे 'अ' और 'आ' इन धातु-रूपोंसे निकल सकते हैं, या 'उ' और 'इ' इन धातु-रूपोंसे। संस्कृतमें व्यंजनसंबधी मुख्य आपरिवर्तन संरचनात्मक हैं और वे समान व्यंजनोंको आत्मसात् करनेकी क्रियासे साधित होते हैं। एक कठोर ध्वनि कोमल ध्वनिके साथ मिलने पर कोमल हो जाती है, एक कोमल ध्वनि कठोर ध्वनिके साथ मेल होनेसे कठोर बन जाती है। महाप्राण अक्षर किन्हीं विशेष व्यंजनोंके संयोगमें आनेपर अपने अनुरूप अल्पप्राण ध्वनिमें बदल जाते हैं और बदलेमें अपने साथी वर्णको भी बदल देते हैं, जैसे, 'लभ्' धातुसे 'लप्स्यते' और 'लब्धुम्' बनते हैं जो लभ्-स्यते और लभ्-तुम्के स्थानापन्न रूप हैं, व्यूह्से व्यूढ बनता है जो व्यूह्तका स्थान ले लेता है। पारस्परिक आपरिवर्तनकी ये कुछ एक सूक्ष्म, पर आसानीसे पहचानमें आनेवाली प्रवृत्तियाँ अपने आपमें कई छोटे-मोटे और गौण संदेहोंको हमारे सामने लाती हैं। संस्कृतमें, इन प्रवृत्तियोंके पीछे चलनेकी इस प्रवृत्तिसे परे वस्तुतः अपभ्रंश-जनक एकमात्र प्रवृत्ति यह है कि, तालव्य वर्णोंके परिवारके लोपका आवेग निरुद्ध हो गया है। यह प्रवृत्ति इतनी दूर चली गई है कि 'केतु' जैसे रूपोंको भारतीय वैयाकरण बिलकुल गलत ढंगसे 'चित्' धातुसे निकला

मान सकते हैं न कि 'कित्' से, जो इसका स्वाभाविक जनक है। परन्तु, वस्तुतः, एकमात्र सच्चे तालव्य आपरिवर्तन वे हैं जो संधिमें होते हैं, जो किसी शब्दके अन्तमें अक्षरोंके किन्हीं विशेष संयोगोंमें च् के स्थान पर क् और ज्के स्थानपर ग् कर देते हैं, यथा 'लज्न'के स्थानपर 'लग्न', 'वच्तृ'के स्थानपर 'वक्तृ', 'वच्व' के स्थानपर 'वक्व', 'वच्' धातुसे संज्ञापद 'वाक्य', लिट् लकार (परोक्ष भूत) के रूप 'चिकाय' और 'चिक्ये'। इन विकार-जन्य संयोगोंके साथ-साथ हमें कई नियमित रूप भी मिलते हैं, जैसे, यज्ञ, वाच्य, चिचाय और चिच्ये। यहाँ तक कि यह भी संदेहास्पद है कि क्या 'चिकाय' और 'चिक्ये'—ये रूप अधिक ठीक तौरपर 'कि' धातुसे नहीं बने हैं, इसकी अपेक्षा कि ये उस जनक धातु 'चि' के वास्तविक वंशज हों, जिसके घोंसलेमें इन्होंने आश्रय पाया है।

विभिन्नताके इन तत्त्वोंको दृष्टिमें ला चुकनेपर हम इस स्थितिमें पहुँच गये हैं कि भाषाके पुष्पित होनेकी दूसरी अवस्थाका अनुसंधान करें, धातुकी अवस्थासे उस अवस्था तक जाएँ जिसमें हम एक स्वाभाविक संक्रमण द्वारा भाषाके संरचनात्मक विकास तक जा पहुँचते हैं। अबतक हमने एक ऐसी भाषाको पाया है जो सादेसे सादे और अधिकसे अधिक नियमित तत्त्वोंसे बनी है, बीज-ध्वनियाँ, आठ स्वर और उनके विकार वा परिवर्तित रूप जो संख्यामें चार हैं; व्यंजनों और अनुनासिकोंके पांच वर्ग; तरल अक्षरों या अंतस्थोंका एक चतुष्टय; तीन ऊष्मवर्ण; इनमेंसे प्रत्येक पर आधारित एक महाप्राण; इन सबके प्रथम विकास, प्राथमिक और जनक धातु; उदाहरणार्थ, बीज-ध्वनि व् से प्राथमिक धातुसमूह व, वा, वि, वी, वृ, वृ और संभवतः वु, वू, वे, वै, वो, वौ; प्रत्येक प्राथमिक धातुके चारों ओर उसका द्वितीयस्थानीय धातुओंका परिवार, यथा, प्राथमिक 'व' धातुके चारों ओर उसका परिवार अर्थात् वक्, वख्, वग्, वघ्, वच्, वछ्, वज्, वझ्, वट्, वड्, वढ्, वण्, वत्, वथ्, वद्, वध्, वन्, वप्, वफ्, वब्, वभ्, वम् और संभवतः वय्, वर्, वल्, वव्, वश्, वष्, वस्, वह्,—इस वर्गके आठ या इससे अधिक परिवारोंके मिलनेसे एक धातु-गोत्र बनता है, तृतीय-स्थानीय आश्रित धातुओं, जैसे, वञ्च्, वङ्ग्, वल्द्, वल्ग्, वंश्, वंक्, व्रज् इत्यादिकी एक परिवर्तनशील संख्या भी इस गोत्रके अंतर्गत है। इस प्रकारके चालीस गोत्र प्राथमिक भाषाका संपूर्ण क्षेत्र होंगे। जिस प्रकार मानव समाजके प्राथमिक संविधानमें प्रत्येक मनुष्य एक साथ ही नाना कार्य करता है उसी प्रकार भाषाके प्राथमिक स्वरूपमें प्रत्येक शब्द संज्ञा, क्रिया, विशेषण व क्रियाविशेषण—इन सबके विभिन्न कार्योंको एक साथ पूरा करेगा, वाच्यका परिवर्तन, हाव-भाव

का प्रयोग और नैसर्गिक प्रवृत्तिका तीव्र वेग—ये सब शब्दोंके सूक्ष्म भेद-प्रभेदोंमें पाई जानेवाली सुकुमारता और सुस्पष्टताके अभावको पूरा करते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारकी भाषा एक छोटेसे क्षेत्रमें सीमित होती हुई भी एक बड़ी सादगी से एवं निर्माणकी यांत्रिक नियमिततासे संपन्न होगी, अपने लघु क्षेत्रमें प्रकृतिकी स्वचालित प्रणालियों द्वारा एक पूर्ण ढंगसे बनी होगी और मानव-जातिकी प्रथम भौतिक और संवेगात्मक आवश्यकताओंको वाणीका रूप देनेके लिए पर्याप्त होगी। किन्तु बुद्धिकी बढ़ती हुई ांगें उसे, समय आनेपर, उसके नये विकास और रूपोंके अधिक जटिल ुटनके लिए बाध्य कर देंगी। ऐसे विकासमें प्रथम उपकरण, अ ावश्यकता, महत्त्व और कालकी दृष्टिसे प्रथम साधन होगा—क्रिया, कर्ता और कर्ममें अधिक औपचारिक रूपसे भेद करनेका आवेग, और इसलिए संज्ञाके भाव और क्रियाके भावमें एक प्रकारका औपचारिक भेद स्थापित करनेका आवेग, चाहे वह प्रारंभमें कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो। संभवतः इसके साथ-साथ उसी समय दूसरा आवेग भी होगा अर्थात् क्रियाकी विभिन्न दिशाओं और अर्थसंबंधी छायाओंमें संरचनात्मक दृष्टिसे भेद करनेका आवेग,—क्योंकि संभव है कि एक परिवारके भिन्न-भिन्न धातुरूपोंका प्रयोग पहलेसे ही इस उद्देश्यसे किया जाता हो—और साथ ही आधुनिक भाषामें कालसूचक रूपों, वाच्यों और क्रियाभावों (लोट्, लिङ् आदि लकारों) को स्थापित करनेका आवेग। तीसरा आवेग होगा—नानाविध विभेदक शब्दोंमें, जैसे कि लिंग और वचनमें और क्रियाके साथ स्वयं कर्ता और कर्मके नाना संबंधोंमें औपचारिक भेद करना, कारकरूपों और एकवचन, द्विवचन और बहुवचनके रूपोंको स्थापित करना। प्रतीत होता है कि विशेषण और क्रियाविशेषणके लिए विशेष रूपोंका सविस्तार निर्माण संरचनात्मक विकासके कार्योंमें पीछेका कार्य रहा होगा, इनमें से क्रियाविशेषणके रूपोंका विस्तार तो वस्तुतः सबसे पीछेका कार्य रहा होगा, क्योंकि प्राचीन मनोवृत्तिमें इन भेदोंकी आवश्यकता सबसे कम महत्त्वपूर्ण थी।

जब हम इस बातकी परीक्षा करते हैं कि प्राचीन आर्यभाषा-भाषियोंने इन आवश्यकताओंकी पूर्तिका, भाषावृक्षके इस नवीन और समृद्ध विकासका प्रबंध कैसे किया तो हम पाते हैं कि उनमें प्रकृति अपनी प्रथम क्रियाओंके सिद्धान्तके प्रति पूर्णतया सत्यनिष्ठ थी, और संस्कृतभाषाकी समस्त शक्ति-शाली संरचना उसकी मौलिक प्रवृत्तिको जरा-सा ही विस्तृत करके बनाई गई थी। यह विस्तार अ, इ, उ और ऋ—इन स्वरों तथा इनके दीर्घ रूपों और विकारोंको परसर्ग-रूप (enclitic) या आश्रयभूत ध्वनियोंके रूपमें

प्रयुक्त करनेकी सरल, आवश्यक व अनिवार्य युक्तिके द्वारा पाला, पोसा और संभव बनाया गया था, इन ध्वनियोंको आगे चलकर कभी धातुओंके उपसर्गोंके रूपमें प्रयुक्त किया जाने लगा, किन्तु आरंभमें उनका प्रयोग केवल अनुबद्ध ध्वनियों (अनुबंधों)के रूपमें ही किया जाता था। जिस प्रकार आर्योंने प्राथमिक धातुध्वनियोंमें व्यंजन-ध्वनियाँ जोड़कर धातु बनाए थे, उदाहरणार्थ, व में द् और ल् जोड़कर उन्होंने वद् और वल् धातु बनाए थे, उसी प्रकार अब वे इस उपर्युक्त युक्तिकी सहायतासे संरचनात्मक ध्वनियाँ बनानेके लिए अग्रसर हुए। इनकी रचना उन्होंने विकसित धातुमें कोई-सी वैसी ही शुद्ध या अन्योंसे मिश्रित व्यंजनध्वनि जोड़कर की और उसमें परसर्गीय ध्वनिको या तो संबंधयोजक आश्रय या निर्माणकारी आश्रयके रूपमें या दोनों रूपोंमें प्रयुक्त किया; या फिर केवल परसर्गीय ध्वनिको एक सारभूत अनुबंधके रूपमें जोड़कर इनकी रचना की गई। इस प्रकार वद् धातुको लेकर उसमें त् व्यंजन जोड़कर वे इससे अपनी इच्छानुसार ये सब रूप बना सकते थे,—वदत्, वदित्, वदुत्, वदृत् या वदत, वदित, वदुत, वदृत, या वदति, वदिति, वदुति, वदृति या वदतु, वदितु, वदुतु, वदृतु, या फिर वदत्रि, वदित्रि, वदुत्रि, वदृत्रि; अथवा वे केवल परसर्गीय ध्वनिका प्रयोग करके वद, वदि, वदु, वदृ इन रूपोंको बना सकते थे या संयुक्त ध्वनियों,—त्र्, त्य्, त्व्, त्म्, त्न् का प्रयोग कर वदत्र, वदत्य, वदत्व, वदत्म, वदत्न—ऐसे रूप उत्पन्न कर सकते थे। सच पूछो तो हम इन सब संभावनाओंको किसी एक ही शब्दके दृष्टान्तमें वस्तुतः प्रयुक्त हुआ नहीं पाते और नाहीं पानेकी आशा कर सकते हैं। बुद्धिकी बौद्धिक समृद्धि और यथार्थताके विकासके साथ मनकी संकल्प-क्रियामें भी तदनुरूप विकास होगा और मनकी यांत्रिक प्रक्रियाओंको पदच्युत करके उनके स्थानपर मनकी अधिक स्पष्ट और सचेतन रूपसे वरणात्मक प्रक्रियाएँ प्रतिष्ठापित हो जाएँगी। तो भी हम आर्योंके शब्द-राष्ट्रके धातुरूपी गोत्रों और परिवारोंके संपूर्ण क्षेत्रमें व्यवहारतः इन सभी रूपोंको बंटा हुआ अवश्य पाते हैं। हम एकमात्र परसर्गके जोड़नेसे बने सरल नामपदोंको प्रायः सर्वत्र ही समृद्ध रूपमें बंटा हुआ देखते हैं। प्राचीनतर आर्यभाषामें रूपोंकी समृद्धता परवर्ती साहित्यकी अपेक्षा कहीं अधिक है, उदाहरणार्थ, 'सन्' धातुसे हम वैदिक भाषामें सन्, सनि, सनु (जो संकुचित होकर स्नु बन गया है) पाते हैं किन्तु पीछेकी संस्कृतमें ये सब रूप लुप्त हो गये हैं। साथ ही हम वेदमें चरथ व चरुथ, रह व राह-जैसे रूपभेद पाते हैं, परन्तु परवर्ती संस्कृतमें चरथको त्याग दिया गया है, रह और राहको सुरक्षित रखा गया है, किन्तु उनके अर्थोंमें

कठोरतासे भेद किया गया है। हम बहुतसे संज्ञापदोंको अकारान्त संज्ञाके रूपमें, कुछको इकारान्त और कइओंको उकारान्त संज्ञाके रूपमें देखते हैं। हम पाते हैं कि सादे कठोर व्यंजनको महाप्राणकी अपेक्षा अधिक पसंद किया जाता है और फ् और भ् की अपेक्षा कोमल प् संरचनात्मक संज्ञामें अधिक बहुलतासे पाया जाता है किन्तु फ् और भ् ये दोनों भी पाये जाते हैं, ब् की अपेक्षा प् अधिक बहुलतासे पाया जाता है, परंतु ब् भी आता है। हम देखते हैं कि कुछ व्यंजनोंको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक पसंद किया जाता है, विशेषतया क्, त्, न्, स् को अपने आपमें या और व्यंजनोंके साथ संयुक्त रूपमें। हम कुछ अनुबद्ध रूपोंको, जैसे अस्, इन्, अन्, अत्, त्रि, वत्, वन् को संज्ञाओं और क्रियाओंके नियमित प्रत्ययोंका विधिबद्ध रूप दिया गया पाते हैं। हम द्विविध अनुबंध देखते हैं, 'जित्व'—इस सादे शब्दके साथ-साथ हम जित्वर, जित्वन् आदि शब्द भी बना सकते हैं। संस्कृत-भाषाकी वर्तमान अवस्थाके पीछे हम सर्वत्र निर्माणका एक विस्तृत, स्वतंत्र और नैसर्गिक श्रम देखते या उसका अनुमान करते हैं, जिसके बाद वर्जन और वरणकी संकीर्णकारी प्रक्रिया आई। किन्तु संज्ञाकी संरचनाका संपूर्ण आधार एवं साधन सदा वही एक आदितत्त्व ही है और बना रहता है। उस तत्त्वका प्रयोग सरल या विषम रूपमें, मूलभूत स्वरों और व्यंजनोंमें कुछ परिवर्तन करके या कोई परिवर्तन किये बिना ही किया जाता है।

क्रियाके विभिन्न रूपोंमें, कारककी रचनामें हम सदा एक ही सिद्धान्त पाते हैं। धातु मि, सि, ति इत्यादि और म्, य्, ह्, त, व जैसे प्रत्ययोंके योगसे क्रियारूप बनाता है (मि, सि आदि ऐसे रूप हैं जो प्रातिपदिकके रूपोंकी संरचनाके लिए भी प्रयुक्त होते हैं)। ये प्रत्यय या तो अकेले प्रयुक्त होते हैं अथवा अ, इ, या विरले ही उ—इन परसर्गोंके सहारेके साथ। ये परसर्ग ह्रस्व, दीर्घ या आपरिवर्तित हो सकते हैं; इनसे हमें वच्मि, वद्नान्, वक्षि, वदसि, वदासि, वदत्, वदति, वदाति ऐसे रूप प्राप्त होते हैं। क्रियारूपोंमें अन्य युक्तियोंका प्रयोग किया जाता है, जैसे कि सादे स्वर-रूपी परसर्गकी अपेक्षा न्, ना, नु या नि जैसे अनुबंध जोड़ना अथवा बढ़ा देना, कालसंबंधी अर्थके निश्चयमें सहायता करनेके लिए धातु के शुरूमें संलग्न (परसर्गीय) अ या आगमको जोड़ना, धातुके सारभागका नाना प्रकारसे द्वित्व करना इत्यादि। हम एक महत्त्वपूर्ण तथ्य देखते हैं कि यहाँ भी वैदिक संस्कृत अपने रूपभेदोंमें कहीं अधिक समृद्ध और स्वतंत्र है। संस्कृत अभी तक अधिक संकुचित, कठोर और चयनकारी है जब कि वैदिक संस्कृत भवति, भवः, भवते इन जैसे वैकल्पिक रूपोंका भी प्रयोग करती है। संस्कृत

भवतिको छोड़कर और सभी रूपोंको त्याग देती है। कारकोंके रूप क्रियारूपोंसे अपने सिद्धान्तमें या अपने आपमें भी भिन्न नहीं, केवल इस बातमें भिन्न हैं कि क्रियारूपोंके शुरूमें आगम या उपांग जोड़े जाते हैं; अस्, अम्, आस्, ओस्, आम्—ये सब तिङ्-विभक्तियाँ (क्रिया-प्रत्यय) भी हैं और सुप्-विभक्तियाँ (प्रातिपदिकोंके प्रत्यय) भी। किन्तु सारतः समस्त भाषा, अपने रूपों और विभक्तियोंके समेत, मनुष्यमें प्रकृतिद्वारा प्रयुक्त की गई ध्वनिनिर्माणकी एक ही समृद्ध युक्तिका, एक ही निश्चित सिद्धान्तका अवश्यंभावी परिणाम है। इस युक्ति या सिद्धान्तको प्रकृति आश्चर्यजनक-रूपसे-अल्प भेदोंके साथ, विस्मयजनक रूपसे निश्चित, अटल और लगभग निष्ठुर नियमितताके साथ, पर साथ ही रचनाकी एक स्वतंत्र और यहाँ तक कि निरर्थक आदिकालीन प्रचुरताके साथ प्रयोगमें लाती है। आर्योंकी भाषाका यह विभक्तिमय स्वरूप स्वयं कोई आकस्मिक घटना नहीं, अपितु ध्वनिप्रक्रियाके प्रथम बीज-चयनका लगभग स्थूल रूपसे अनिवार्य परिणाम है, वैयक्तिक सत्ताके नियमके उस मूल, प्रत्यक्षतः-तुच्छ चुनावका अटल परिणाम है जो प्रकृतिकी समस्त, अनन्ततया-विविध नियमितताओंका आधार है। पहलेसे चुने हुए सिद्धान्तके प्रति निष्ठाका यदि एक बार पालन किया जाय तो शेष सब प्रयुक्त किये जानेवाले ध्वनि-उपकरणके असली स्वभावसे और उसकी आवश्यकताओंसे आपसे आप निकल आता है। इसलिए, भाषाके बाह्य रूपमें हम एक ऐसे नियमित प्राकृतिक नियमकी क्रिया देखते हैं जो लगभग ठीक उसी प्रकारसे कार्य करता है, जिस प्रकार प्रकृति भौतिक जगत्में एक वनस्पति अथवा एक पशुजाति और उसकी उपजाति बनानेका कार्य करती है।

भाषाके उद्भव और विकासका शासन करनेवाले नियमोंका बोध प्राप्त करनेमें हम एक कदम आगे बढ़ आये हैं। किन्तु वह कदम तब तक कुछ नहीं है या नहींके बराबर है जबतक हम एक विशेष अर्थका विशेष ध्वनिके साथ संबंध निर्धारित करनेमें एक इसी प्रकारकी नियमितताका, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे एक निश्चित प्रक्रियाके इसी प्रकारके शासनका पता नहीं लगा पाते। किसी मनमाने या बौद्धिक चुनावने नहीं, अपितु एक स्वाभाविक चुनावने सरल या संरचनात्मक ध्वनियोंके विकास और व्यवस्थाका उनके अपने समुदायों और परिवारोंके रूपमें निर्धारण किया है। क्या यह एक मनमाना या बौद्धिक चुनाव है अथवा स्वाभाविक चुनावका एक नियम है जिसने उनके अर्थोंका निर्धारण किया है? यदि पिछला तथ्य ठीक हो और वह ठीक होना ही चाहिये, यदि भाषाका विज्ञान संभव

हों तो अर्थध्वनियोंकी इस विशिष्ट व्यवस्थाके होते हुए कुछ सत्य अनिवार्य रूपसे प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम : बीजध्वनि 'व्' के अंदर कोई ऐसा तत्त्व अंतर्निहित होना चाहिये जिसने इसे आरंभमें भाषाकी प्रथम स्वाभाविक अवस्थामें मनुष्यके मनमें आदिम भाषाकी प्राथमिक धातुओं व, वा, वि, वी, वु, वू, वृ, वॄ के वास्तविक अर्थोंके साथ संबद्ध किया। द्वितीय : इन क्रियाओंके अर्थोंमें जो भेद हैं उनका निर्धारण मूलत: परिवर्तनशील या स्वरात्मक तत्त्व अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ के अंदर निहित किसी स्वाभाविक अर्थसूचक प्रवृत्तिके द्वारा होना चाहिये। तीसरा : 'व्' पर आश्रित द्वितीयस्थानीय धातुओं—व, वच्, वज्, वञ्, वम्, वल्, वप्, वह्, वष्, वस् इत्यादिके अर्थोंमें एक सर्वसामान्य तत्त्व होना चाहिये, और जहाँतक वे अर्थ प्रारंभमें भिन्न थे वहाँ तक वे एक भेदजनक तत्त्व अर्थात् क्रमश: च्, ज्, ञ्, म्, ल्, प्, ह्, ष्, स् इन व्यंजनरूपी अनुबंधोंके परिणामस्वरूप ही भिन्न हुए होंगे। अन्तमें, भाषाकी संरचनात्मक अवस्थामें यद्यपि सचेतन चुनावकी वर्धमान शक्तिके परिणामस्वरूप विशेष शब्दोंके लिए विशेष अर्थोंके चुनावके क्षेत्रमें कुछ और निर्णायक तत्त्वोंने भी प्रवेश किया होगा, तो भी यह नहीं हो सकता कि मूलतत्त्व पूर्णतया निष्क्रिय हो गया हो। और वदन, वदत्र, वद इत्यादि जैसे रूप अपने अर्थके विकासमें प्रमुख रूपसे अपने सारभूत और साझे ध्वनितत्त्वके द्वारा शासित हुए होंगे, और कुछ अंशमें ही अपने परिवर्तनशील तथा गौणतत्त्वके द्वारा। संस्कृतभाषाकी परीक्षा द्वारा मैं यह दिखानेका यत्न करूँगा कि आर्योंकी भाषाके विषयमें ये सब नियम वस्तुत: सत्य हैं और इनका सत्य भाषाके तथ्यों द्वारा संदेहकी लेशमात्र भी छायाके बिना प्रमाणित होता है अथवा बहुधा स्थापित भी होता है।

परिशिष्ट 2[1]

1

वेद-रहस्य

वेद-संहिता भारतवर्षके धर्म, सभ्यता और अध्यात्म-ज्ञानका सनातन स्रोत है। किंतु इस स्रोतका मूल अगम्य पर्वत-गुहामें विलीन है। इसकी पहली धारा भी अति प्राचीन घनकंटकमय अरण्यमें पुष्पित वृक्ष-लता-गुल्मके विचित्र आवरणसे आवृत है। वेद रहस्यमय हैं। उनकी भाषा, कथन-शैली, विचार-धारा आदि अन्य युगकी सृष्टि हैं, अन्य प्रकारके मनुष्योंकी बुद्धिकी उपज हैं। एक ओर तो वे अति सरल हैं, मानो निर्मल वेगवती पर्वतीय नदीके प्रवाह हों, दूसरी ओर यह विचार-प्रणाली हमें इतनी जटिल लगती है, इस भाषाका अर्थ इतना संदिग्ध है कि मूल विचार तथा पंक्ति-पंक्तिमें व्यवहृत सामान्य शब्दके विषयमें भी प्राचीन कालसे तर्क-वितर्क और मतभेद होता आ रहा है। परम पंडित सायणाचार्यकी टीका पढ़नेपर मनमें यह धारणा बनती है कि वेदोंका कभी कोई संगत अर्थ नहीं रहा, अथवा यदि कुछ था तो वह वेदोंके परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी रचनाके बहुत पहले ही सर्वग्रासी कालके अतल विस्मृति-सागरमें निमग्न हो गया।

सायण वेदोंका अर्थ करते समय बड़ी भारी धाँधलीमें जा फँसे हैं, मानो इस घोर अंधकारके, मिथ्या प्रकाशके पीछे खड़ा कोई बार-बार फिसला जाता हो, गर्त्तमें, पंकमें, गंदे जलमें जा गिरता हो, परेशान हो रहा हो, फिर भी छोड़ न पा रहा हो। वेद आर्यधर्मके असली ग्रंथ हैं, इनका अर्थ करना ही पड़ता है, किंतु इनमें इतनी पहेलियां हैं, इतने रहस्यमय नानाविध निगूढ़ विचारोंसे विजड़ित संश्लेषण हैं कि हजारों स्थलोंका अर्थ किया ही नहीं जा सकता, जैसे-तैसे, जहाँ अर्थ हो भी जाता है वहाँ भी प्रायः संदेहकी छाया आ पड़ती है। इस संकटसे बहुत बार निराश हो सायणने ऋषियोंकी वाणीमें ऐसी व्याकारण-विरोधी भाषाका, ऐसी कुटिल, जटिल और भग्न वाक्यरचनाका तथा इतने विक्षिप्त असंगत विचारोंका आरोप किया है कि

---

1. इसमें श्रीअरविन्दकी वेदविषयक मूल बंगला रचनाओंका अविकल अनुवाद दिया गया है।—अनुवादक

उनकी टीका पढ़नेके बाद इस भाषा और विचारको आर्य न कह बर्बर या पागलका प्रलाप कहनेकी प्रवृत्ति होती है। सायणका कोई दोष नहीं। प्राचीन निरुक्तकार यास्कने भी वैसी ही धांधली मचायी है और यास्कके पूर्ववर्ती अनेक ब्राह्मणकारोंने भी वेदका सरल अर्थ न पानेके कारण कल्पनाकी सहायतासे, गाथा-सर्जक शक्ति (mythopœic faculty) का आश्रय ले दुरूह ऋचाओंकी व्याख्या करनेकी विफल चेष्टा की है।

इतिहासकारोंने इसी प्रणालीका अनुसरण कर, नानाविध कल्पित इतिहासका आडंबर खड़ा कर वेदके परिष्कृत सरल अर्थको विकृत और जटिल बना डाला है। एक ही उदाहरणसे इस अर्थविकृतिका रूप और मात्रा समझमें आ जायगी। पंचम मंडलके द्वितीय सूक्तमें अग्निकी निष्पेषित या आच्छन्न (गुंठित) अवस्था और तुरत उसके बृहत् प्रकाशकी बात कही गयी है—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्त्ति न ददाति पित्रे।....
कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान।
पूर्वीर्हि गर्भः शरदो ववर्धाऽपश्यं जातं यदसूत माता। ऋ. 5. 2. 1-2

इसका अर्थ है: "युवती माता कुमारको ढककर गुहामें अर्थात् गुप्त स्थानमें, अपने जठरमें वहन करती है, पिताको देना नहीं चाहती। हे युवती, वह कुमार कौन है जिसे तुम संपिष्ट हो अर्थात् अपनी संकुचित अवस्थामें, अपने भीतर वहन करती हो? माता जब संकुचित अवस्था छोड़ महती बनती है तब वह कुमारको जन्म देती है। गर्भस्थ शिशु लगातार कई वर्षोंतक बढ़ता रहा, जब माताने उसे जन्म दिया तब मैं उसे देख सका।" वेदकी भाषा सर्वत्र ही थोड़ी सघन, संहत, सारयुक्त है, थोड़े शब्दोंमें अधिक अर्थ प्रकट करना चाहती है, फिर भी अर्थकी सरलता, विचारोंके सामंजस्यमें कोई क्षति नहीं होती। ऐतिहासिकगण इस सूक्तके इस सरल अर्थको नहीं समझ सके, जब माता 'पेषी' होती है तब कुमार 'समुब्ध' होता है, माताकी संपिष्ट अर्थात् संकुचित अवस्थामें कुमारकी भी निष्पिष्ट अर्थात् ढकी हुई अवस्था होती है, ऋषिकी भाषा और विचार-संबंधी इस सामंजस्यको वे न तो देख सके और न हृदयंगम ही कर सके। उन्होंने 'पेषी' को पिशाची समझा, सोचा किसी पिशाचिनीने अग्निका तेज हरण किया है, 'महिषी' का अर्थ राजाकी महिषी समझा, 'कुमारं समुब्धम्' से किसी ब्राह्मण-कुमारको रथके पहियेसे निष्पेषित हो मरा हुआ समझा। इस अर्थके सहारे एक अच्छी-खासी आख्यायिकाकी भी सृष्टि हो गयी।

फलतः सीधी ऋक्का अर्थ दुरूह बन गया, कुमार कौन है, जननी कौन है, पिशाचिनी कौन है, अग्निकी कहानी है या ब्राह्मणकुमारकी, कौन किसे किस विषयमें कह रहा है कुछ समझमें नहीं आता, सब घपला हो गया है। सर्वत्र ऐसा ही अत्याचार दिखायी देता है, अनुचित कल्पनाके उपद्रवसे वेदका प्रांजल पर गभीर अर्थ विकृत और विकलांग हो गया है, अन्यत्र जहाँ भाषा और विचार कुछ जटिल हैं, टीकाकारकी कृपासे दुर्बोधताने भीषण अस्पृश्य मूर्ति धारण कर ली है।

अलग-अलग ऋक् अथवा उपमा ही क्यों, वेदके यथार्थ मर्मके विषयमें अति प्राचीन कालमें भी बहुत अधिक मतभेद था। ग्रीस देशके यूहेमेर (Euhemeros)के मतानुसार ग्रीक जातिके देवता चिरस्मरणीय वीर और राजा थे, कालक्रमसे अन्य प्रकारके कुसंस्कारने तथा कवियोंकी उद्दाम कल्पनाने उन्हें देवता बना स्वर्गमें सिंहासनारूढ़ कर दिया। प्राचीन भारतमें भी यूहेमेर-मतावलम्बियोंका अभाव नहीं था। दृष्टांतस्वरूप, वे कहते, असलमें अश्वि-द्वय (अश्विनौ) न देवता है न नक्षत्र, वरन् थे दो विख्यात राजा, हमारी तरह ही रक्त-मांसके मनुष्य, हो सकता है मृत्युके बाद देव-पद पा गये हों। दूसरोंके मतानुसार यह सब solar myth है अर्थात् सूर्य, चन्द्र, आकाश, तारे, वृष्टि इत्यादि बाह्य प्रकृतिकी क्रीड़ाको कवि-कल्पित नाम-रूपोंसे सजा मनुष्याकृतिसंपन्न देवता बना दिया गया है। वृत्र मेघ है, वल भी मेघ है, और जितने दस्यु, दानव, दैत्य हैं वे सब आकाशके मेघमात्र हैं, वृष्टिके देवता इन्द्र इन सब सूर्यकिरणोंको रोकनेवाले जलवर्षण-विमुख कृपण जलधरोंको विद्ध कर वृष्टि प्रदान करते तथा उससे पंचनदकी सप्त नदियोंके अबाध स्रोतका सृजन कर भूमिको उर्वर, आर्यको धनी और ऐश्वर्यशाली बना देते हैं। अथवा, इन्द्र, मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, विष्णु आदि सबके सब सूर्यके नाम-रूपमात्र हैं; मित्र दिनके देवता हैं, वरुण रात्रिके; जो ऋभुगण मनके बलसे इन्द्रके अश्व, अश्विनीकुमारोंके रथका निर्माण करते हैं, वे भी और कुछ नहीं, सूर्यकी ही किरणें हैं। दूसरी ओर असंख्य कट्टर वैदिक लोग भी थे जो कर्मकांडी थे। उनका कहना था कि देवता मनुष्याकृति देवता भी हैं और प्राकृतिक शक्तिके सर्वव्यापी शक्तिधर भी, अग्नि एक साथ ही विग्रहवान् देवता और वेदीकी आग हैं, पार्थिव अग्नि, वडवानल और विद्युत् इन तीन मूर्तियोंमें प्रकटित हैं। सरस्वती नदी भी है और देवी भी, इत्यादि। इनका दृढ़ विश्वास था कि देवतागण स्तव-स्तुतिसे संतुष्ट हो परलोकमें स्वर्ग, इहलोकमें बल, पुत्र, गाय घोड़ा, अन्न और वस्त्र देते हैं, शत्रुका संहार करते हैं, स्तोताके बेअदब

निंदक समालोचकका मस्तक वज्राघातसे चूर-चूर कर देते हैं और इस तरहके शुभ मित्र-कार्य संपन्न करनेके लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं। प्राचीन भारतमें यह मत ही प्रबल था।

तथापि ऐसे विचारशील लोगोंका अभाव नहीं था जो वेदके वेदत्वमें, ऋषिके प्रकृत ऋषित्वमें आस्था रखते थे, ऋक्-संहिताके आध्यात्मिक अर्थको खोज निकालते थे, वेदमें वेदांतका मूल तत्त्व खोजते थे। उनके मतानुसार ऋषिगण देवताके सम्मुख जिस ज्योतिके दानके लिये प्रार्थना करते थे वह भौतिक सूर्यकी नहीं वरन् ज्ञानसूर्यकी, गायत्री-मन्त्रोक्त सूर्यकी ज्योति थी जिसके दर्शन विश्वामित्रने किये थे। यह ज्योति वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं देवस्य भर्गः' थी, वे देवता वही 'यो नो धियः प्रचोदयात्' थे जो हमारे सभी विचारोंको सत्य-तत्त्वकी ओर प्रेरित करते हैं। ऋषि तमसे डरते थे—रात्रिके नहीं बल्कि अज्ञानके घोर तिमिरसे। इन्द्र जीवात्मा अथवा प्राण हैं; वृत्र न मेघ है न कविकल्पित असुर जो हमारे पुरुषार्थको घोर अज्ञानके अंधकारसे आवृत कर रोक रखता है, वरन् जिसमें देवगण पहले निहित और लुप्त रहते, पीछे देववाक्यजनित उज्ज्वल ज्ञानालोकसे निस्तारित और प्रकटित होते हैं वही है वृत्र। सायणाचार्यने इन लोगोंको "आत्मविद्" नामसे अभिहित कर बीच-बीचमें इनकी वेद-व्याख्याका उल्लेख किया है।

इस आत्मवित्-कृत व्याख्याके दृष्टांतरूप रहूगण पुत्र गौतम ऋषिके मरुत्स्तोत्रका उल्लेख किया जा सकता है। उस सूक्तमें गौतम मरुद्गणका आवाहन कर उनसे "ज्योति" की भिक्षा मांगते हैं—

यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना। विध्यता विद्युता रक्षः॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

ऋ. 1. 86. 9-10

कर्मकांडियोंके मतसे इन दोनों ऋचाओंकी व्याख्यामें ज्योतिको भौतिक सूर्यकी ही ज्योति समझना होगा। "जिस राक्षसने सूर्यके आलोकको अंधकारसे ढक दिया है उस राक्षसका विनाश कर मरुद्गण सूर्यकी ज्योतिको पुनः दृष्टिगोचर करें।" आत्म-विद्के मतसे दूसरे प्रकारसे अर्थ करना उचित है, जैसे, "तुम सत्यके बलसे बली हो, तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व प्रकाशित हो, अपने विद्युत्-सम आलोकसे राक्षसको विद्ध करो। हृद्-गुहामें प्रतिष्ठित अंधकारको छिपा दो अर्थात् वह अंधकार सत्यके आलोककी बाढ़में निमग्न, अदृश्य हो जाय। पुरुषार्थके समस्त भक्षकोंको अपसारित कर, हम जो ज्योति चाहते हैं उसे प्रकट करो।" यहाँ मरुद्गण मेघहंता वायु नहीं,

पंचप्राण हैं। तम है हृदयगत भाव-रूप अंधकार, पुरुषार्थके भक्षक हैं षड् रिपु, **ज्योतिः** है परमतत्त्वके साक्षात्कार-स्वरूप ज्ञानका आलोक। इस व्याख्यासे वेदमें अध्यात्मतत्त्व, वेदांतका मूल सिद्धांत, राजयोगकी प्राणायाम-प्रणाली—सब एक साथ मिल गये।

यह तो हुई वेदसंबंधी स्वदेशी धांधली। उन्नीसवीं शताब्दीमें पाश्चात्य पंडितोंके कमर कसकर अखाड़ेमें उतर आनेसे इस क्षेत्रमें घोरतर विदेशी धांधली मची है। उस जलप्लावनकी विपुल तरंगमें हम आज भी डूबते-उतराते बह रहे हैं। पाश्चात्य पंडितोंने प्राचीन निरुक्तकार तथा ऐतिहासिकोंकी पुरानी नींवपर ही अपने चमचमाते नवीन कल्पना-मंदिरका निर्माण किया है। वे यास्कके निरुक्तको उतना नहीं मानते, बर्लिन और पेट्रोगार्डमें नवीन मनोनीत निरुक्त तैयार कर उसीकी सहायतासे वेदकी व्याख्या करते हैं। उन्होंने प्राचीन भारतवर्षीय टीकाकारोंकी 'सौर गाथा' (solar myth) की विचित्र नवीन मूर्ति गढ़, प्राचीन रंगपर नवीन रंग चढ़ा, इस देशके शिक्षित संप्रदायकी आंखें चौंधिया दी हैं। इस यूरोपीय मतके अनुसार भी वेदोक्त देवतागण बाह्य प्रकृतिकी नानाविध क्रीड़ाके रूपकमात्र हैं। आर्य लोग सूर्य, चंद्र, तारे, नक्षत्र, उषा, रात्रि, वायु, आंधी, झील, नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष इत्यादि दृश्य वस्तुओंकी पूजा करते थे। इन सबको देख आश्चर्यसे अभिभूत बर्बर जाति कविप्रदत्त रूपकके बहाने इन्हीं सबकी विचित्र गतिका स्तवगान करती थी। फिर उन्हींके अंदर नाना देवताओंकी चैतन्यपूर्ण क्रिया समझ उन शक्ति-धरोंके साथ मित्रता स्थापित करती तथा उनसे युद्धमें विजय, धन-दौलत, दीर्घ जीवन, आरोग्य और संततिकी कामना करती थी, रातके अंधकारसे अत्यंत भयभीत हो यज्ञ-यागद्वारा सूर्यकी पुन-रुपलब्धि करती थी। उन्हें भूतका भी आतंक था, भूतको भगानेके लिये वे देवताओंसे कातर प्रार्थना करते थे। यज्ञसे स्वर्ग-प्राप्तिकी आशा और प्रबल इच्छा इत्यादि प्रागैतिहासिक बर्बर जातिके उपयुक्त एक धारणा और कुसंस्कार है।

युद्धमें विजयलाभ, पर युद्ध किसके साथ? वे कहते हैं कि पंचनदनिवासी आर्यजातिका युद्ध वास्तवमें भारतवासी द्राविड़ जातिके साथ था और पड़ोसियोंके बीच जैसे युद्ध-विग्रह सदा होता रहता है वैसे आर्य-आर्यमें आपसी कलह था। जिस तरह प्राचीन ऐतिहासिक वेदकी अलग-अलग ऋचाओं अथवा सूक्तोंको आधार बना नाना प्रकारका इतिहास तैयार करते थे इनकी भी ठीक वही प्रणाली है। अतः विचित्र अतिप्राकृतिक घटनाओंसे भरी विचित्र कहानी न गढ़, जैसे जार (जरपुत्र) वृष ऋषिके सारथ्यमें रथके

चक्केसे ब्राह्मणकुमारके निष्पेषण, मंत्रद्वारा पुनर्जीवन-दान, पिशाची द्वारा अग्नि-तेज-हरण आदि-आदिकी अद्‌भुत कल्पना न कर, ये आर्य तृत्सुराज सुदासके साथ मिश्रजातीय दस राजाओंके युद्ध, एक ओर वशिष्ठ और दूसरी ओर विश्वामित्रका पौरोहित्य, पर्वतगुहानिवासी द्राविड़ जातिद्वारा आर्योंके गोधनका हरण तथा नदी-प्रवाहका बंधन, देवशुनी सरमाकी उपमाके बहाने द्राविड़ोंके निकट आर्योंका दूत या राजदूतीका प्रेरण आदि सत्य या मिथ्या संभव घटनाओंको ले प्राचीन भारतका इतिहास लिखनेकी चेष्टा करते हैं। इस प्राकृतिक क्रीड़ाके परस्परविरोधी रूपकमें और इस इतिहास-संबंधी रूपकमें मेल बैठानेकी चेष्टा करते हुए पाश्चात्य पंडितमंडलीने वेदके विषयमें जो अपूर्व गोलमाल किया है वह वर्णनातीत है। परंतु उनका कहना है कि आखिर हम करें क्या, प्राचीन बर्बर कवियोंके मनमें ही गोलमाल था, इसी कारण इस तरह जोड़-तोड़ करना पड़ा है, किंतु हमारी व्याख्या बिल्कुल ठीक, विशुद्ध और निर्भ्रान्त है। जो हो, फलस्वरूप प्राच्य पंडितोंकी व्याख्यासे जिस तरह वेदका अर्थ असंगत, गड़बड़, दुरूह और जटिल हो गया है वैसे ही पाश्चात्योंकी व्याख्यासे भी। सभी बदला फिर भी सब वही है। टेम्स, सेन (sein) और नेवा (Neva) नदीके सैकड़ों वज्रधरोंने हमारे मस्तकपर नवीन पांडित्यकी स्वर्गीय सप्त नदियोंको बरसाया है सही, परंतु उनमेंसे कोई भी वृत्रकृत अंधकारको नहीं हटा सका। हम जिस तिमिरमें थे उसी तिमिरमें हैं।

II

ऋग्वेद

(भूमिका)

"आर्य" पत्रिकामें "वेद-रहस्य"[1]में वेदसंबंधी जो नवीन मत प्रकाशित हो रहा है उसी मतके अनुसार है यह अनुवाद। उस मतके अनुसार वेदका यथार्थ अर्थ आध्यात्मिक है; किंतु गुह्य और गोपनीय होनेके कारण अनेक उपमाओं, सांकेतिक शब्दों, बाह्य यज्ञ-अनुष्ठानोंके उपयुक्त वाक्योंद्वारा वह अर्थ आवृत है। आवरण साधारण मनुष्योंके लिये अभेद्य था, पर दीक्षित वैदिक लोगोंके लिये झीना और सत्यके सब अङ्गोंकी प्रकाशक वस्तुमात्र था। उपमा इत्यादिके पीछे इस अर्थको खोजना होगा। देवताओंके "गुप्त नामों" तथा उनकी अपनी-अपनी क्रियाओं, "गों", "अश्व", "सोमरस" इत्यादि सांकेतिक शब्दोंके अर्थों, दैत्योंके कर्मों और गूढ़ अर्थों, वेदके रूपकों, गाथाओं (myths) इत्यादिका तात्पर्य जान लेनेपर वेदका अर्थ मोटे तौरपर समझमें आ जाता है। निस्संदेह, उसके गूढ़ अर्थकी वास्तविक और सूक्ष्म उपलब्धि विशेष ज्ञान और साधनाका फल है, बिना साधनाके केवल वेदाध्ययनसे वह नहीं होती।

इस सकल वेदतत्त्वको अपने पाठकोंके सम्मुख रखनेकी इच्छा है। अभी तो वेदकी केवल मुख्य बात ही संक्षेपमें बतायेंगे। यह है: जगत् ब्रह्ममय है, पर ब्रह्मतत्त्व मनके लिये अज्ञेय है। अगस्त्य ऋषिने कहा है: **तत् अद्भुतम्,** अर्थात् सबसे ऊपर और सबसे अतीत, कालातीत है वह। आज या कल कब कौन उसे जान सका है? और सबकी चेतनामें उसका संचार होता है, किंतु मन यदि नजदीक जाकर निरीक्षण करनेकी चेष्टा करता है तो **तत्** अदृश्य हो जाता है। केनोपनिषद्के रूपकका भी यही अर्थ है, इन्द्र ब्रह्मकी ओर सवेग गति करते हैं, निकट जाते ही ब्रह्म अदृश्य हो जाता है। फिर भी **तत्** "देव"-रूपमें ज्ञेय है।

---

1. सन् 1914 से 1919 तक प्रकाशित "आर्य"पत्रिकामें श्रीअरविन्दने "वेद-रहस्य" शीर्षकसे जो लेखमाला लिखी थी यहाँ उसीकी तरफ संकेत है।

"देव" भी "अद्भुत" हैं किंतु त्रिधातुके अंदर प्रकाशित हैं—अर्थात् देव सन्मय, चित्-शक्तिमय, आनंदमय हैं। आनंदतत्त्वमें देवको प्राप्त किया जा सकता है। देव नाना रूपोंमें, विविध नामोंसे जगत्में व्याप्त हैं और उसे धारण किये हुए हैं। ये नाम-रूप हैं वेदके सब देवता।

वेदमें कहा गया है कि दृश्य जगत्के ऊपर और नीचे दो समुद्र हैं। नीचे अप्रकेत "हृद्य" वा हृत्समुद्र है, जिसे अंगरेजीमें अवचेतन (subconscient) कहते हैं,—ऊपर सत्-समुद्र है जिसे अंगरेजीमें अतिचेतन (superconscient) कहते हैं। दोनोंको ही गुहा या गुह्यतत्त्व कहा जाता है। ब्रह्मणस्पति अप्रकेतसे वाक्द्वारा व्यक्तको प्रकट करते हैं, रुद्र प्राणतत्त्वमें प्रविष्ट हो रुद्र-शक्तिद्वारा विकास करते हैं, जोर लगाकर ऊपरकी ओर उठाते हैं, भीषण ताड़नाद्वारा गन्तव्य पथपर चलाते हैं, विष्णु व्यापक शक्तिद्वारा धारण कर इस नित्यगतिके सत्-समुद्र या जीवनकी सप्त नदियोंके गंतव्य स्थलको अवकाश देते हैं। अन्य सभी देवता हैं इस गतिके कार्यकर्त्ता, सहाय और साधन।

सूर्य सत्य-ज्योतिके देवता हैं, सविता—सृजन करते हैं, व्यक्त करते हैं; पूषा—पोषण करते हैं, "सूर्य"—अनृत और अज्ञानकी रात्रिमेंसे सत्य और ज्ञानालोकको जन्म देते हैं। अग्नि चित्-शक्तिका "तपः" हैं, जगत्का निर्माण करते हैं, जगत्की वस्तुओंमें विद्यमान हैं। वे भूतत्त्वमें हैं अग्नि, प्राणतत्त्वमें कामना और भोगप्रेरणा, जो पाते हैं भक्षण करते हैं, मनस्तत्त्वमें हैं चिन्तनमयी प्रेरणा और इच्छाशक्ति और मनोतीत तत्त्वमें ज्ञानमयी क्रियाशक्तिके अधीश्वर।

प्रथम मण्डल

सूक्त 1

मूल और व्याख्या

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

मैं अग्निकी उपासना करता हूँ जो यज्ञके देव, पुरोहित, ऋत्विक्, होता एवं आनंद-ऐश्वर्यका विधान करनेमें श्रेष्ठ हैं।

ईळे—भजामि, प्रार्थये, कामये। उपासना करता हूँ।

पुरोहितम्—जो यज्ञमें पुरः, सामने स्थापित हैं; यजमानके प्रतिनिधि और यज्ञके संपादक।

ऋत्विजम्—जो ऋतुके अनुसार अर्थात् काल, देश, निमित्तके अनुसार यज्ञका संपादन करे।

होतारम्—जो देवताका आह्वान करके होम-निष्पादन करे।

रत्नधाः—सायणने रत्नका अर्थ रमणीय धन किया है। आनंदमय ऐश्वर्य कहना यथार्थ अर्थ होगा। धा का अर्थ है जो धारण करता है या विधान करता है अथवा जो दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः ईड्यो नूतनैः उत। स देवाँ एह वक्षति ॥2॥

जो अग्नि-देव प्राचीन ऋषियोंके भजनीय थे वे नवीन ऋषियोंके भी (उत) भजनीय हैं। क्योंकि वे देवताओंको इस स्थानपर ले आते हैं।

मंत्रके अंतिम चरणद्वारा अग्नि-देवके भजनीय होनेका कारण निर्दिष्ट किया गया है। 'सः' शब्द उसीका आभास देता है।

एह वक्षति—इह आवहति। अग्नि अपने रथपर देवताओंको ले आते हैं।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषम् एव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥3॥

रयिम्—रत्नका जो अर्थ है वही रयिः, राधः, रायः इत्यादिका भी। फिर भी "रत्न" शब्दमें "आनंद" अर्थ अधिक प्रस्फुटित है।

अश्नवत्—अश्नुयात्। प्राप्त हो या भोग करे।

'पोषम्' प्रभृति रयि के विशेषण हैं। पोषम् अर्थात् जो पुष्ट होता है, वृद्धिको प्राप्त होता है।

यशसम्—सायणने यशका अर्थ कभी तो कीर्ति किया है और कभी अन्न। असली अर्थ प्रतीत होता है सफलता, लक्ष्य-स्थानकी प्राप्ति इत्यादि। दीप्ति अर्थ भी संगत है, किंतु यहाँ वह लागू नहीं होता।

अग्ने यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभूः असि। स इद् देवेषु गच्छति ॥4॥

जिस अध्वर यज्ञको चारों ओरसे व्यापे हुए तुम प्रादुर्भूत होते हो वही यज्ञ देवताओंतक पहुँचता है।

अध्वरम्—'ध्वृ' धातुका अर्थ है हिंसा करना। सायणने 'अध्वर'का अर्थ अहिंसित यज्ञ किया है; किंतु 'अध्वर' शब्द स्वयं यज्ञवाचक हो गया है। "अहिंसित"के वाचक शब्दका ऐसा अर्थ-परिवर्तन संभव नहीं। "अध्वन्" का अर्थ है पथ, अतः अध्वरका अर्थ 'पथगामी' अथवा 'पथस्वरूप' ही होगा। यज्ञ था देवधाम जानेका पथ और यज्ञ देवधामके पथिकके रूपमें सर्वत्र विख्यात है। यही है संगत अर्थ। 'अध्वर' शब्द भी 'अध्वन्' की तरह 'अध्' धातुसे बना है। इसका प्रमाण यह है कि 'अध्वा' और 'अध्वर' दोनों ही आकाशके अर्थमें व्यवहृत थे।

परिभूः—परितो जातः (चारों ओर प्रादुर्भूत)।
देवेषु—सप्तमीके द्वारा लक्ष्यस्थान निर्दिष्ट है।
इत्—एव (ही)।

अनुवाद

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

जो देवता होकर हमारे यज्ञके पुरोहित, ऋत्विक् और होता बनते हैं तथा अशेष आनन्दका विधान करते हैं, उन्हीं तपोदेव अग्निकी मैं उपासना करता हूँ ॥1॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः ईड्यो नूतनैः उत। स देवाँ एह वक्षति ॥2॥

प्राचीन ऋषियोंकी तरह आधुनिक साधकोंके लिये भी ये तपोदेवता उपास्य हैं। वे ही देवताओंको इस मर्त्यलोकमें ले आते हैं ॥2॥

अग्निना रयिमश्नवत् पोषम् एव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥3॥

तपः-अग्निद्वारा ही मनुष्य दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त करता है। वही ऐश्वर्य अग्निबलसे दिन-दिन वर्द्धित, अग्निबलसे विजयस्थलकी ओर अग्रसर तथा अग्निबलसे ही प्रचुर-वीरशक्तिसंपन्न होता है ॥3॥

अग्ने यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभूः असि। स इद् देवेषु गच्छति ॥4॥

हे तपः-अग्नि, जिस देवपथगामी यज्ञके सब ओर तुम्हारी सत्ता अनुभूत होती है, वह आत्मप्रयासरूपी यज्ञ ही देवताओंके निकट पहुंचकर सिद्ध होता है ॥4॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत् ॥5॥

जो तपः-अग्नि होता, सत्यमय हैं, जिनकी कर्मशक्ति सत्यदृष्टिमें स्थापित है, नानाविध ज्योतिर्मय श्रौत ज्ञानमें जो श्रेष्ठ हैं, वही देववृंदको साथ ले यज्ञमें उतर आवें ॥5॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः ॥6॥

हे तपः-अग्नि, जो तुम्हें देता है तुम तो उसके श्रेयकी सृष्टि करोगे ही, यही है तुम्हारी सत्य सत्ताका लक्षण ॥6॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥7॥

हे अग्नि, प्रतिदिन, अहर्निश हम बुद्धिके विचारद्वारा आत्मसमर्पणको उपहारस्वरूप वहन करते हुए तुम्हारे निकट आते हैं ।।7।।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्द्धमानं स्वे दमे ।।8।।

जो समस्त देवोन्मुख प्रयासके नियामक, सत्यके दीप्तिमय रक्षक हैं, जो अपने धाममें सर्वदा वर्द्धित होते हैं, उन्हींके निकट हम आते हैं ।।8।।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ।।9।।

जिस तरह पिताका सामीप्य संतानके लिये सुलभ है उसी तरह तुम भी हमारे लिये सुलभ होओ। दृढ़संगी बन कल्याणगति साधित करो ।।9।।

आध्यात्मिक अर्थ

विश्व-यज्ञ

विश्वजीवन बृहत्-यज्ञस्वरूप है। उस यज्ञके देवता हैं स्वयं भगवान् और प्रकृति है यज्ञदात्री। भगवान् हैं शिव और प्रकृति उमा। उमा अपने अंतरमें शिव-रूपको धारण करनेपर भी प्रत्यक्षमें शिवरूपविरहित हैं, प्रत्यक्षमें शिव-रूपको पानेके लिये लालायित। यही लालसा है विश्व-जीवन-का निगूढ़ अर्थ।

किन्तु किस उपायसे मनोरथ सफल हो? पुरुषोत्तमतक पहुंच पानेका कौनसा पथ प्रकृतिके लिये निर्दिष्ट है? अपने स्वरूपको पा पुरुषोत्तमके स्व-रूपको पानेका क्या उपाय है? आंखोंपर अज्ञानका आवरण, चरणोंमें स्थूलके सहस्र बंधन। स्थूल सत्ताने मानो अनंत सत्को भी सान्तमें बांध लिया है, मानो स्वयं भी बन्दी हो गयी है, स्वयंरचित इस कारागारकी खोयी चाबी अब और हाथ नहीं लग रही। जड़-प्राणशक्तिके अवश संचारसे अनंत, उन्मुक्त चित्शक्ति मानो विमूढ़, विलीन, अभिभूत, अचेतन हो गयी है। अनंत आनंद तुच्छ सुख-दुःखके अधीन प्राकृत चैतन्य बन छद्मवेशमें घूमते-घूमते मानो अपने स्वरूपको ही भूल गया है, अब उसे खोज ही नहीं पाता, खोजते-खोजते दुःखके और भी असीम पंकमें निमज्जित हो जाता है। सत्य मानो अनृतकी द्वैधमयी तरंगमें डूब गया है। मानसातीत विज्ञानतत्त्व अनंत सत्य-का आधारस्थल है। विज्ञानतत्त्वकी क्रिया पार्थिव चैतन्यके लिये या तो

निषिद्ध है या विरल, मानो परदेके पीछेसे क्षणिक विद्युत्का उन्मेषमात्र हो। सत्य और अनृतके बीच दोलायमान, भीरु, खंज, विमूढ़ मानसतत्त्व घूम-फिरकर सत्यको खोजता रहता है, राक्षसी प्रयाससे सत्यका आभास पा भी सकता है, किन्तु सत्यके पूर्ण, प्रकृत, ज्योतिर्मय, अनंत रूपको नहीं पाता। जैसे ज्ञानमें वैसे ही कर्ममें भी वही विरोध, वही अभाव, वही विफलता। सहज सत्य-कर्मके हास्यमय देवनृत्यके बजाय होती है प्राकृत इच्छाशक्तिकी शृंखलाबद्ध चेष्टा जो सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, विष-अमृत, कर्म-अकर्म-विकर्मके जटिल पाशमें छटपटाया करती है। वासनाहीन, वैफल्यहीन, आनंदमय, प्रेममय, ऐक्यरसमें मत्त भागवती क्रियाशक्ति मुक्त, अकुंठित, अस्खलित होती है, उसका सहज-स्वाभाविक विश्वमय संचरण प्राकृत इच्छाशक्तिके लिये असंभव है। सांत-के अनृत जालमें पड़ी हुई इस पार्थिव प्रकृतिके लिये उस अनंत सत्, उस अनंत चित्-शक्ति, उस अनंत आनंद-चैतन्यको प्राप्त करनेकी भला क्या आशा है, उपाय ही क्या है?

यज्ञ ही है उपाय। यज्ञका अर्थ है आत्मसमर्पण, आत्मबलिदान। जो कुछ तुम हो, जो कुछ तुम्हारा है, जो कुछ भविष्यमें निज चेष्टासे या देव-कृपासे बन सकते हो, जो कुछ कर्मप्रवाहमें अर्जित या संचित कर सको, सब उसी अमृतमयको लक्ष्य कर हवि-रूपमें तपः-अग्निमें डाल दो। क्षुद्र सर्वस्वका दान करनेसे अनंत सर्वस्व प्राप्त करोगे। यज्ञमें योग निहित है। योगसे आनन्त्य, अमरत्व और भागवत आनन्दकी प्राप्ति विहित है। यही है प्रकृति-के उद्धारका पथ।

जगती-देवी इस रहस्यको जानती हैं। अतएव इस विपुल आशासे वे अनिद्रित, अशांत, दिन-रात, वर्षपर वर्ष, युगपर युग यज्ञ ही कर रही हैं। उनके सभी कर्म, सभी प्रयास हैं उसी विश्वयज्ञके अंगमात्र। जो कुछ भी वे उत्पादित कर सकी हैं उसीकी बलि चढ़ा रही हैं। वे जानती हैं कि सबमें वही लीलामय अकुंठित मनसे रसास्वादन कर रहे हैं, यज्ञ-रूपमें सब प्रयत्न, सब तप ग्रहण कर रहे हैं। वही विश्वयज्ञको धीरे-धीरे, घुमा-फिराकर टेढ़े-मेढ़े उत्थानमें, पतनमें, ज्ञानमें, अज्ञानमें, जीवनमें, मृत्युमें निर्दिष्ट पथसे निर्दिष्ट गन्तव्य धामकी ओर सर्वदा अग्रसर कराते हैं। उन्हींके भरोसे प्रकृतिदेवी निर्भीक, अकुंठित, विचारहीन हैं। वे सर्वत्र ही, सर्वदा ही भागवती प्रेरणा समझ सृजन और हनन, उत्पादन और विनाश, ज्ञान और अज्ञान, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, कच्चा-पक्का, कुत्सित-सुन्दर, पवित्र-अपवित्र, जो हाथमें पाती हैं सब उसी बृहत् चिरंतन होमकुण्डमें निक्षिप्त करती हैं। स्थूल है सूक्ष्म यज्ञकी हवि, जीव है यज्ञका बद्ध पशु। यज्ञके मन-प्राण-

देह-रूप त्रिबन्धन-युक्त यूपकाष्ठमें जीवको बांध प्रकृतिदेवी उसे अहरह बलि दे रही हैं। मनका बंधन है अज्ञान, प्राणका बन्धन दुःख, वासना और विरोध, देहका बंधन मृत्यु।

प्रकृतिका उपाय तो निर्दिष्ट हुआ किन्तु इस बद्ध जीवका क्या उपाय होगा? उपाय है यज्ञ, आत्मदान, आत्मबलि। पर प्रकृतिके अधीन न हो, प्रकृतिद्वारा प्रदत्त न हो स्वयं उठ खड़े हो, यजमान बन सर्वस्व दे देना होगा। यही विश्वका निगूढ़ रहस्य है कि पुरुष ही जैसे यज्ञका देवता है, वैसे पुरुष ही यज्ञकी वस्तु भी। जीव भी पुरुष है। पुरुषने अपने मन, प्राण और शरीरको बलि-रूपमें, यज्ञके प्रधान उपायके रूपमें प्रकृतिके हाथ समर्पित कर दिया है। उनके इस आत्मदानमें यह गुप्त उद्देश्य निहित है कि एक दिन चैतन्य प्राप्त कर, प्रकृतिको अपने हाथमें ले, प्रकृतिको यज्ञकी सहधर्मिणी बना वे स्वयं यज्ञ संपन्न करेंगे। इसी गुप्त कामनाको पूरी करनेके लिये हुई है नरकी सृष्टि। नर-मूर्त्तिमें वे वही लीला करना चाहते हैं। आत्मस्वरूप, अमरत्व, अनंत आनन्दका विचित्र आस्वादन, अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति, अनंत प्रेमका भोग नरदेहमें, नर-चैतन्यमें करना होगा। यह सब आनंद तो पुरुषके अपने अंदर है ही, पुरुष अपने अंदर सनातन रूपसे सनातन भोग कर रहे हैं। किन्तु मानवकी सृष्टि कर वे बहुमें एकत्व, सान्तमें अनन्त, बाह्यमें आंतरिकता, इन्द्रियमें अतीन्द्रिय, पार्थिवमें अमरलोकत्व, इस विपरीत रसको ग्रहण करनेमें तत्पर हैं। हमारे अंदर मनके ऊपर, बुद्धिके उस पार, गुप्त सत्यमय विज्ञानतत्त्वमें बैठ, फिर हमारे ही अन्दर हृदयके नीचे चित्तका जो गुप्त स्तर है, जहाँ हृदयगुहा है, जहाँ अंतर्निहित गुह्य चैतन्यका समुद्र है, हृदय, मन, प्राण, देह और बुद्धि जिस समुद्रकी छोटी-छोटी तरंगे हैं, वहीं बैठ वे पुरुष प्रकृतिके अंध प्रयास, अंध अन्वेषण, द्वंद्व-प्रतिघातद्वारा ऐक्य-स्थापनकी चेष्टाका रसास्वादन करते हैं। ऊपर सज्ञान भोग है, नीचे अज्ञानपूर्ण भोग, इस प्रकार दोनों एकसंग चल रहे हैं। किन्तु चिरकाल तक इसी अवस्थामें मग्न रहनेसे उनकी निगूढ़ प्रत्याशा, उनका चरम उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। इसी लिए प्रत्येक मनुष्यके जागरणका दिन विहित है। अंतरस्थ देवता एक दिन अवश, पुण्यहीन, प्राकृत आत्मबलि त्यागकर सज्ञान, समंत्र यज्ञ-संपादन करना आरम्भ करेंगे। यही सज्ञान, समंत्र यज्ञ वेदोक्त "कर्म" है। उसका उद्देश्य द्विविध है, विश्वमय बहुत्वमें पूर्णता-लाभ जिसे वेदमें विश्वदेव्य और वैश्वानरत्व कहा गया है, और एकात्मक परम-देवसत्तामें अमरत्व-लाभ। ये वेदोक्त देवतागण अर्वाचीन, साधारण लोगोंके हेय इन्द्र, अग्नि, वरुण-नामक क्षुद्र देवता नहीं, ये हैं भगवान्‌की ज्योतिर्मयी,

शक्तिसंपन्न नाना मूर्त्तियाँ। और यह अमरत्व पुराणोक्त तुच्छ स्वर्ग नहीं, है वैदिक ऋषियोंका अभिलषित स्वः, अनंत लोकका आधार, वेदोक्त अमरत्व, सच्चिदानंदमय अनंत सत्ता और चैतन्य।

प्रथम मण्डल

सूक्त 17

मूल और अनुवाद

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे। ता नो मृळात ईदृशे ॥1॥

हे इन्द्र, हे वरुण, तुम्हीं सम्राट् हो, तुम देवोंको ही हम रक्षक-रूपमें वरण करते हैं,—ऐसे तुम इस अवस्थामें हमारे ऊपर उदित होओ ॥1॥

गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः। धर्तारा चर्षणीनाम् ॥2॥

कारण, जो ज्ञानी शक्ति धारण कर पाते हैं, उन्हींके यज्ञस्थलमें तुम देव रक्षा करनेके लिये उपस्थित होते हो। तुम ही सब कार्योंके धारणकर्त्ता हो ॥2॥

अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ। तां वां नेदिष्ठमीमहे ॥3॥

आधारके आनंद-प्राचुर्यमें यथाकामना आत्मतृप्ति अनुभव करो, हे इन्द्र और वरुण, हम तुम्हारे अत्यंत निकट सहवास चाहते हैं ॥3॥

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम् ॥4॥

जो शक्तियाँ एवं जो सुबुद्धियाँ आंतरिक ऋद्धि बढ़ाती हैं, उन्हीं सबके प्रबल आधिपत्यमें हम मानो प्रतिष्ठित रहें ॥4॥

इन्द्रः सहस्रादाव्नां वरुणः शंस्यानाम्। ऋतुर्भवत्युक्थ्यः ॥5॥

जो-जो शक्तिदायक हैं उनके इन्द्र, और जो-जो प्रशस्त और महत् हैं उनके ही वरुण स्पृहणीय प्रभु हों ॥5॥

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि। स्यादुत प्ररेचनम् ॥6॥

इन दोनोंके रक्षणसे हम स्थिर सुखके साथ निरापद रहते एवं गभीर ध्यानमें समर्थ होते हैं। हमारी पूर्ण शुद्धि हो ॥6॥

इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे। अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम् ॥7॥

हे इन्द्र, हे वरुण, हम तुमसे चित्र-विचित्र आनंद प्राप्त करनेके लिये यज्ञ करते हैं; हमें सर्वदा विजयी बनाओ ॥7॥

इन्द्रावरुण नू नु वां सिषासन्तीषु धीष्वा। अस्मभ्यं शर्म यच्छतम् ॥8॥

हे इन्द्र, हे वरुण, हमारी बुद्धिकी सभी वृत्तियाँ हमारी वश्यता स्वीकार करें, उन सभी वृत्तियोंमें अधिष्ठित हो हमें शान्ति प्रदान करो ॥8॥

प्र वामश्नोतु सुष्टुतिरिन्द्रावरुण यां हुवे। यामृधाथे सधस्तुतिम् ॥9॥

हे इन्द्र, हे वरुण, यह जो सुन्दर स्तव हम तुम्हें यज्ञरूपमें अर्पित करते हैं, वह तुम्हारा भोग्य हो, उस साधनाके लिये तुम ही स्तव-वाक्यको पुष्ट और सिद्धियुक्त बना रहे हो ॥9॥

व्याख्या

प्राचीन ऋषि जब आध्यात्मिक युद्धमें अंतर-शत्रुका प्रबल आक्रमण होनेपर देवताओंकी सहायता पानेके लिये प्रार्थना करते, साधनापथपर किञ्चित् अग्रसर होनेपर अपूर्णताका अनुभवकर पूर्णताकी प्रतिष्ठाकी, मनमें **वाज:** अथवा शक्तिकी स्थायी घनीभूत अवस्थाकी कामना करते अथवा अन्तर-प्रकाश और आनंदकी परिपूर्णतामें उसीकी प्रतिष्ठा करनेमें योगदान देने या उसकी रक्षा करनेके लिये देवताओंका आह्वान करते, तब हम देखते हैं कि वे प्राय: युग्म-रूपमें अमरगणके सम्मुख एक वाक्य, एक स्तवद्वारा पुकारकर अपना मनोभाव प्रकट करते थे। अश्वि-युगल (अश्विनौ), इन्द्र और वायु, मित्र और वरुण ऐसे संयोगोंके उदाहरण हैं। इस स्तवमें इन्द्र और वायु नहीं हैं, मित्र और वरुण भी नहीं। इन्द्र और वरुणका इस प्रकारका संयोग कर कण्ववंशज मेधातिथि आनंद, महत्त्वसिद्धि और शान्तिके लिये प्रार्थना कर रहे हैं। इस समय उनके मनका भाव उच्च, विशाल और गंभीर है। वे चाहते हैं मुक्त और महत् कर्म, चाहते हैं प्रबल तेजस्वी भाव, किन्तु वह बल प्रतिष्ठित होगा स्थायी, गम्भीर और विशुद्ध ज्ञानपर, वह तेज शान्तिके दो विशाल पक्षोंपर आरूढ़ हो कर्मरूपी आकाशमें विचरण करेगा। आनंदके अनंत सागरमें निमग्न होनेपर भी, आनंदकी चित्र-विचित्र तरंगोंपर आंदोलित होनेपर भी वे चाहते हैं वही स्थैर्य, महिमा और चिरप्रतिष्ठाका अनुभव। उस सागरमें डूब आत्म-ज्ञान खोनेको, उन तरंगोंपर लुलितदेह गोता खानेको वे अनिच्छुक हैं। उस महाकांक्षाकी प्राप्ति करानेके योग्य सहायता देनेवाले देवता हैं इन्द्र और वरुण—राजा इन्द्र, सम्राट् वरुण। समस्त मानसिक

वृत्तियों, अस्तित्व और कार्यकारित्वके, मानसिक तेज और तपःके दाता इन्द्र ही हैं, वृत्रोंके आक्रमणसे उसकी रक्षा वे ही करते हैं। चित्त और चरित्रके जितने भी महत् और उदार भाव हैं, जिनके अभावमें मन और कर्ममें उद्धतता, संकीर्णता, दुर्बलता या शिथिलताका आना अवश्यंभावी है, उनकी स्थापना और रक्षा वरुण करते हैं। अतएव इस सूक्तके प्रारम्भमें ऋषि मेधातिथि इन दोनोंकी सहायता और मित्रताका वरण करते हैं। **इन्द्रावरुणयोरहमव आ वृणे। 'सम्राजोः', क्योंकि वे ही सम्राट् हैं। अतएव ईदृशे,** इस अवस्थामें (मनकी जिस अवस्थाका वर्णन किया है उसमें) या इस अवसरपर वे अपने लिये और सबके लिये उनकी प्रसन्नताकी प्रार्थना करते हैं—**ता नो मृळात ईदृशे।** जिस अवस्थामें देह, प्राण, मन तथा विज्ञानांशकी सभी वृत्तियाँ और चेष्टाएँ अपने स्थानमें समारूढ़ और आवृत रहती हैं, किसीका भी जीवपर आधिपत्य, विद्रोह अथवा यथेच्छाचार नहीं होता, सभी अपने-अपने देवताकी पराप्रकृतिकी वश्यता स्वीकार कर अपना-अपना कर्म भगवन्निर्दिष्ट समयपर और परिमाणमें आनंदके साथ करनेमें अभ्यस्त होती हैं, जिस अवस्थामें गभीर शान्ति तथा साथ ही तेजस्विनी, सीमारहित, प्रचण्ड कर्म-शक्ति होती है, जिस अवस्थामें जीव स्वराज्यका स्वराट् एवं अपने आधारभूत आन्तरिक राज्यका यथार्थ सम्राट् होता है और उसीके आदेशसे या उसीके आनंदके लिये सभी वृत्तियाँ सुचारु रूपसे परस्पर सहायता करती हुई कर्म करती हैं अथवा उसकी इच्छा होनेपर गंभीर तमोरहित नैष्कर्म्यमें मग्न हो अतल शान्तिके अनिर्वचनीय आनंदका आस्वादन करती हैं, उसी अवस्थाको प्रथम युगके वैदान्तिक स्वराज्य वा साम्राज्य कहा करते थे। इन्द्र और वरुण उसी अवस्थाके विशेष अधिष्ठाता हैं, सम्राट् हैं। इन्द्र सम्राट् बन अन्य सभी वृत्तियोंको चालित करते हैं, वरुण सम्राट् बन अन्य सभी वृत्तियोंपर शासन करते और उन्हें महिमान्वित करते हैं।

इन महिमान्वित देवता-द्वयकी संपूर्ण सहायता प्राप्त करनेके अधिकारी सभी नहीं होते। जो ज्ञानी हैं, धैर्य-प्रतिष्ठित हैं वे ही हैं अधिकारी। 'विप्र' होना होगा, 'मावान्' बनना होगा। विप्रका अर्थ ब्राह्मण नहीं। 'वि' धातुका अर्थ है प्रकाश, 'विप्' धातुका अर्थ है प्रकाशकी क्रीड़ा, कंपन या पूर्ण उच्छ्वास। जिसके मनमें ज्ञानका उदय हुआ है, जिसके मनका द्वार ज्ञानकी तेजस्वी क्रीड़ाके लिये मुक्त है, वही है विप्र। 'मा' धातुका अर्थ है धारण करना। जननी गर्भमें संतान धारण करती है, इसीलिये वह 'माता' नामसे अभिहित है। आकाश समस्त भूतके, समस्त जीवके जन्म, क्रीड़ा और मृत्युको अपने गर्भमें धारण कर स्थिर, अविचलित बना रहता है, इसलिये

वह समस्त कर्मके प्रतिष्ठापक, प्राणस्वरूप वायुदेवता मातरिश्वाके नामसे विख्यात है। आकाशकी तरह ही जिसमें धैर्य और धारण-शक्ति है, जब प्रचण्ड बवण्डर दिङ्मण्डलको आलोड़ित कर प्रचण्ड हुंकारके साथ वृक्ष, पशु, गृहतकको उड़ाता हुआ रुद्र-भयंकर रासलीलाका नृत्य-अभिनय करता है तब आकाश उस क्रीड़ाको जिस प्रकार सहन करता है, चुपचाप आत्मसुखमें मग्न रहता है, उसी तरह जो प्रचण्ड, विशाल आनन्दको, प्रचण्ड-रुद्र कर्मस्रोतको, यहाँतक कि शरीर या प्राणकी असह्य यंत्रणाको भी, अपने आधारमें उस क्रीड़ाके लिये उन्मुक्त क्षेत्र प्रदान कर, अविचलित और आत्मसुखमें प्रफुल्ल रहता हुआ, साक्षी-रूपसे धारण करनेमें समर्थ होता है वही है 'मावान्'। जिस समय ऐसे मावान् विप्र, ऐसे धीर ज्ञानी अपने आधारको वेदी बना यज्ञके लिये देवताओंका आवाहन करते हैं, उस समय इन्द्र और वरुणकी वहाँ अबाध गति होती है, वे स्वेच्छासे भी उपस्थित होते हैं, यज्ञकी रक्षा करते हैं, उसके समस्त अभीप्सित कर्मके आश्रय और अवलंब बन **(धर्त्तारा चर्षणीनाम्)** विपुल आनंद, शक्ति और ज्ञानका प्रकाश प्रदान करते हैं।

प्रथम मण्डल

सूक्त 75

जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्। हव्या जुह्वान आसनि ॥1॥

मैं जिसे व्यक्त करता हूँ वह अतिशय विस्तृत और बृहत् है एवं देवता-के भोगकी सामग्री है, उसे तुम प्रेमसहित आत्मसात् करो। जितना भी हव्य प्रदान करो, सब अपने ही मुंहमें अर्पण करो ॥1॥

अथा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्। वोचेम ब्रह्म सानसि ॥2॥

हे तपः-देव! हे शक्तिधारियोंमें श्रेष्ठ तथा उत्तम विधाता! मैं हृदयका जो मंत्र व्यक्त करता हूँ वह तुम्हें प्रिय हो और मेरी अभिलषित वस्तुओंके विजयी भोक्ता बनो ॥2॥

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः। को ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥3॥

हे तपः-देव अग्नि! जगत्में कौन तुम्हारा साथी और भाई है? तुम्हें देवगामी सख्य देनेमें कौन समर्थ है? तुम ही कौन हो? किसके अन्तरमें अग्निदेवका आश्रय है? ॥3॥

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सख्ये ईड्यः ॥4॥

हे अग्नि। तुम ही सब प्राणियोंके भ्राता हो, तुम ही जगत्के प्रिय बन्धु हो, तुम ही सखा और अपने सखाओंके काम्य हो ।।4।।

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम् ।।5।।

मित्र और वरुणके लिये, देवताओंके लिये, बृहत् सत्यके लिये यज्ञ करो। हे अग्नि! वह सत्य तुम्हारा अपना ही घर है, उसी लक्ष्य-स्थलपर यज्ञको प्रतिष्ठित करो ।।5।।

तृतीय मण्डल

सूक्त 46

मूल और अनुवाद

युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वेः।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्याणीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि ।।1।।

जो देवता पुरुष, योद्धा, ओजस्वी, स्वराट् हैं, जो देवता नित्ययुवा, स्थिर-शक्ति, प्रखर, दीप्तिस्वरूप और अक्षय, अति महान् हैं, वही हैं श्रुतिधर, वज्रधर इन्द्र, अति महान् हैं उनके समस्त वीरकर्म ।।1।।

महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ।।2।।

हे विराट्! हे ओजस्वी! तुम महान् हो, अपनी विस्तार-शक्तिके कर्मद्वारा तुम अन्य सबपर जोर-जबर्दस्ती कर उनसे हमारा अभिलषित धन छीन लो। तुम एक हो, समस्त जगत्में जो कुछ दृष्ट हो रहा है उस सबके राजा हो, मनुष्यको युद्धकी प्रेरणा दो, उसके जेय स्थिर-धाममें उसे स्थापित करो ।।2।।

प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः।
प्र मज्मना दिव इन्द्रः पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी ।।3।।

इन्द्र दीप्ति-रूपमें प्रकट होकर जगत्की समस्त मात्राका अतिक्रमण कर जाते हैं, देवताओंको भी सब ओरसे अनंतभावसे अतिक्रम कर सबके लिये अगम्य हो जाते हैं।...साथ ही, ऋजुगामी ये शक्तिधर इन्द्र अपनी ओज-स्वितासे मनोजगत्, विस्तृत भूलोक एवं महान् प्राणजगत्को भी अतिक्रम कर जाते हैं ।।3।।

उरुं गभीरं जनुषाभ्युग्रं विश्वव्यचसमवतं मतीनाम्।
इन्द्रं सोमासः प्रदिवि सुतासः समुद्रं न स्रवत आ विशन्ति ॥4॥

इस विस्तृत और गभीर, इस जन्मतः उग्र और तेजस्वी, इस सर्वविकास-कारी और सर्वविचारधारक इन्द्र-रूप समुद्रमें जगत्के सभी मद्यकर रसप्रवाह मनोलोककी ओर अभिव्यक्त होकर स्रोतस्विनी नदियोंकी तरह प्रवेश करते हैं ॥4॥

यं सोममिन्द्र पृथिवीद्यावा गर्भं न माता बिभृतस्त्वाया।
तं ते हिन्वन्ति तमु ते मृजन्त्यध्वर्यवो वृषभ पातवा उ ॥5॥

हे शक्तिधारी, जिस तरह माता अजात शिशुको धारण करती है उसी तरह इस आनंद-मदिराको मनोलोक और भूलोक तुम्हारी ही कामनासे धारण करते हैं। हे वर्षक इन्द्र! अध्वरका अध्वर्यु तुम्हारे ही लिये, तुम्हारे ही पानके लिये उस आनंदप्रवाहको दौड़ाता है, तुम्हारे लिये ही उस आनंदको परिशुद्ध करता है ॥5॥

ऋ. 9.1.1

मूल और अनुवाद

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः ॥1॥

स्वादिष्ठ, मादकतम धारामें, पवित्र स्रोतमें बहो, हे सोमदेव, इन्द्रके पानार्थ तुम अभिषुत हो ॥1॥

परिशिष्ट 3[1]

ऋग्वेदकी पहली ऋचा

प्रथम मण्डल

प्रथम सूक्त

विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दस्का गायत्री-छन्दमें लिखा अग्नि-सूक्त। इसका पहला मन्त्र देवभाषामें इस प्रकार है :—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

इसका अर्थ है :—"मैं अग्निकी उपासना करता हूँ जो परमेश्वरके सम्मुख स्थित है, सत्यका द्रष्टा देव है, योद्धा है, आनन्दका शक्तिशाली विधाता है।"

इस प्रकार ऋग्वेद अग्निके आवाहनसे, विशुद्ध, शक्तिमान् और तेजोमय परमेश्वरकी उपासनासे आरम्भ होता है। "अग्नि (जो अग्रणी, सर्वप्रधान और शक्तिशाली है)", ऋषि आह्वान करता हुआ कहता है, "उसीकी मैं उपासना करता हूँ।" अन्य सब देवोंसे पहले अग्निकी ही क्यों? क्योंकि वही यज्ञ अर्थात् पदार्थोंके दिव्य स्वामीके सम्मुख स्थित है; क्योंकि वही एक ऐसा देव है जिसकी जाज्वल्यमान आँखें **सत्य (सत्यम्)** अर्थात् विज्ञान **(विज्ञानम्)**को सीधे देख सकती हैं, जो **सत्य,** जो **विज्ञान** ऋषिका अपना विशेष लक्ष्य और काम्य है और जिसपर संपूर्ण वेद प्रतिष्ठित है; क्योंकि वही एक ऐसा योद्धा है जो अज्ञान और सीमाके उन सब कुटिल आकर्षणोंके साथ **(अस्मज्जुहुराणम् एनः)** जो योगीके मार्गमें निरन्तर रोड़े अटकाते हैं, युद्धकर उन्हें दूर हटा देता है; क्योंकि सत्ताके गुप्त उच्चतर गोलार्द्ध **(अव्यक्त, परार्द्ध)**से प्रवाहित होनेवाले **तपस्,** विशुद्ध भागवत अतिचेतन शक्तिके माध्यमके रूपमें वह, अन्य किसीसे भी अधिक, दिव्य आनन्दका प्रस्फुटन और विधान करता है। यह है मन्त्रका तात्पर्य।

---

1. इसमें समाविष्ट, प्रकीर्ण वेदविषयक लेख मूल अंग्रेजीसे अनूदित किये गये हैं। अंग्रेजी और हिन्दीमें ये पहली बार श्रीअरविन्दकी वेदविषयक कृतिके शताब्दी-संस्करणमें पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं।—अनुवादक

यह यज्ञ कौन है और यह अग्नि ही कौन है? यज्ञ जगत्का प्रभु, विराट् चैतन्यमय प्राज्ञ (मूर्तिमती प्रज्ञा) है जो अपने जगत्का स्वामी और नियन्ता है, यज्ञ है परमेश्वर। अग्नि भी चैतन्यमय प्राज्ञ है जो उस **'पुरुष'**से ही, उसका कार्य करने और उसकी शक्तिका प्रतिनिधित्व करनेके लिए, निर्गत एवं सृष्ट हुआ है; अग्नि एक देव है। स्थूल इन्द्रिय न ईश्वरको देखती है न देवोंको, न यज्ञको, न अग्निको; वह तो देखती है केवल (पञ्च) भूतों और उनकी रूप-रचनाओंको, दृश्य भौतिक पदार्थोंको और उनकी या उनके अन्दर होनेवाली क्रियाओंको। वह **अग्नितत्त्व**को नहीं, आगको देखती है; वह परमेश्वरको नहीं देखती, वह पृथ्वीको हरा-भरा तथा सूर्यको आकाशमें देदीप्यमान देखती है और सरसराती हवाको अनुभव करती और बहते जलों को देखती है। इसी प्रकार वह मनुष्यके शरीर या आकारको देखती है न कि स्वयं पुरुषको; वह दृष्टि या हाव-भावको देखती है पर दृष्टि या हाव-भावके पीछे स्थित विचारसे सचेतन नहीं होती। तथापि शरीरके अन्दर पुरुषका अस्तित्व तो है ही और दृष्टि या हाव-भावके अन्दर विचार रहता ही है। इसी प्रकार आगमें अग्नितत्त्व और जगत्में ईश्वर हैं ही। वे आगके बाहर तथा उसके अन्दर और जगत्के बाहर तथा उसके अन्दर भी रहते हैं।

आगमें या जगत्में वे किस प्रकार रहते हैं?—जैसे 'पुरुष' अपने शरीर-में और विचार दृष्टि या हाव-भावमें रहता है। शरीर 'स्वयं पुरुष' नहीं है और हाव-भाव 'स्वयं विचार' नहीं है; शरीर है अभिव्यक्तिगत (अभि-व्यक्तिमें आया हुआ) पुरुष और हाव-भाव है अभिव्यक्तिगत विचार। इसी-प्रकार आग 'स्वयं अग्नि' नहीं बल्कि अभिव्यक्तिगत अग्नि है और जगत् 'स्वयं ईश्वर' नहीं वरन् अभिव्यक्तिगत ईश्वर है। 'पुरुष' केवल अपने शरीरसे ही अभिव्यक्तिको नहीं प्राप्त होता, बल्कि अपने कर्म और चेष्टासे भी, और इनके द्वारा वह शरीरकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण रूपमें अभि-व्यक्त होता है। विचार केवल दृष्टि और हाव-भावसे ही व्यक्त नहीं होता, बल्कि वह इससे कहीं अधिक पूर्ण रूपमें कार्य और वाणी द्वारा भी प्रकट होता है। इसी प्रकार 'अग्नि' केवल आगके द्वारा ही प्रकट नहीं होता, अपितु जगत्में ताप, दीप्ति और शक्तिके तत्त्वकी सूक्ष्म और स्थूल-भौतिक जो भी क्रियाएँ होती हैं उन सबके द्वारा भी वह और भी अधिक पूर्ण रूप-में व्यक्त होता है। परमेश्वर केवल इस जड़भौतिक जगत्के द्वारा ही व्यक्त नहीं होता बल्कि जड़भौतिक आकारोंको आश्रय देने एवं अनुप्राणित करनेवाली चेतनाकी क्रियाकी सभी गतिविधियों और समस्वरताओंके द्वारा भी कहीं अधिक पूर्ण रूपमें प्रकट होता है।

तो यज्ञ अपने आपमें क्या है और अग्नि ही अपने-आपमें क्या है? यज्ञ है सत्, चित् और आनन्द; वह है चित् और आनन्दसे युक्त सत्, क्योंकि चित् और आनन्द सत्में अपरिहार्य हैं। जब वह अपनी सत्ता, चैतन्य और आनन्दमें गुणको छिपाए रखता है तो वह **निर्गुण सत्** कहलाता है, अर्थात् वह एक ऐसी निर्व्यक्तिक सत्ता होता है जिसमें चित् और आनन्द या तो उसके अपने अन्दर सिमटे हुए एवं निष्क्रिय होते हैं,—वे (क्रियासे) **निवृत्त** होते हैं और वह भी **निवृत्त** होता है,—या फिर वे उसकी निर्गुण (निर्व्यक्तिक) सत्तामें एक निर्लिप्त क्रियाके रूपमें कार्यरत होते हैं, अर्थात् वे **क्रिया**में **प्रवृत्त** होते हैं वह क्रियासे **निवृत्त** होता है। तब उसे 'यज्ञ' नामसे नहीं पुकारना चाहिए, क्योंकि तब वह अपने-आपको क्रियाका **द्रष्टा** अनुभव करता है न कि उसका **स्वामी**। परन्तु जब वह अपनी सत्तामें गुणको अभिव्यक्त करता है तो वह **सगुण सत्**, सव्यक्तिक सत्ता कहलाता है। तब भी संभव है कि वह (क्रियासे) **निवृत्त** हो, अर्थात् अपने सक्रिय चैतन्य और आनन्दके साथ उसका इसके सिवाय कोई संबन्ध न हो कि वह उनकी निर्लिप्त क्रियाका साक्षिमात्र रहे। पर वह अपनी शक्ति द्वारा उनकी क्रियामें प्रवेश कर अपने विश्वको अधिकृत और अनुप्राणित भी कर सकता है **(प्रविश्य, अधिष्ठित)** अर्थात् वह भी **प्रवृत्त** हो और वे (चित् और आनन्द) भी। तभी वह अपनेको **ईश्वर**के रूपमें जानता है और यथार्थ रूपमें यज्ञ कहलाता है। केवल वह ही यज्ञ नहीं कहलाता बल्कि समस्त कार्य भी यज्ञ कहलाता है, और योग भी, जिसके द्वारा ही किसी कार्यकी प्रक्रिया साध्य हो सकती है, यज्ञके नामसे पुकारा जाता है। क्रियाप्रधान भौतिक यज्ञ तो यज्ञका केवल एक रूप है। जब मनुष्य फिरसे भौतिकता-प्रधान होने लगा तब यज्ञके इस रूपने पहले तो प्राथमिक और फिर अद्वितीय महत्त्व ग्रहण कर लिया और तब मनुष्योंमेंसे उस मनुष्यके लिए यह समस्त कर्म एवं समस्त यज्ञका प्रतिनिधित्व करता था। पर ईश्वर हमारे समस्त कर्मोंका स्वामी है; उसीके लिए हैं वे सब कर्म, उसीकी सेवामें वे अर्पित हैं, जाने या अनजाने **(अविधिपूर्वकम्)** हम अपने कर्मोंको सदा उन्हींके स्रष्टाके प्रति अर्पित कर रहे हैं। अतएव प्रत्येक कर्म उसके प्रति आहुति ही है और जगत् हमारे जीवनव्यापी यज्ञ-सत्रकी वेदी। इस विश्वव्याप्त कर्मकाण्डमें वेदके मन्त्र यथोचित कर्म **(ऋतम्)**के शिक्षक हैं और इसी कारण वेद उसका वर्णन 'यज्ञ'-के नामसे करता है, किसी अन्य नामसे नहीं।

यह यज्ञ (-रूप परमेश्वर), जो सगुण सत् है, अपने आप्त (अर्थात् **अपनी सत्ता, सत्**के द्वारा) कर्म नहीं करता, बल्कि वह अपने अन्दर, अपनी सत्ता,

सत्में अपनी चित्-शक्ति, अपनी चेतनाके द्वारा कार्य करता है। क्योंकि वह चित्की किसी प्रक्रिया द्वारा अपने अन्दर वस्तुओंसे सचेतन होता है इसीलिए वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, आविर्भूत होती हैं अर्थात् उसकी सर्व-धारक अव्यक्त सत्तामेंसे उसकी व्यक्त **आत्म-सत्ता**में प्रकाशित होती हैं। चित् और शक्ति एक ही वस्तु हैं और यद्यपि सुविधाके लिए **'चित्की शक्ति'**की बात करते हैं, तो भी इस प्रयोगका अर्थ वास्तवमें **'चित्की शक्ति'** नहीं बल्कि 'चित्' जो कि शक्ति है (शक्तिरूप चित्) ऐसा समझना चाहिए। 'चित्'-मात्र ही शक्ति है और समस्त शक्ति अपने अन्दर चित्को छिपाए है। जब शक्तिरूप चित् कार्य करना आरम्भ करती है तो वह अपने आपको क्रियाशील शक्ति, **तपस्**के रूपमें प्रकट करती है और उसे समस्त क्रियाका आधार बनाती है। वास्तवमें, क्योंकि समस्त शक्ति अन्तरतः चित् ही है, अतः समस्त शक्ति बाह्यतः प्रकाशसे युक्त होती है; पर प्रकाश नाना-प्रकारके हैं, क्योंकि चित्की अभिव्यक्तियाँ नाना प्रकारकी हैं। सात रश्मियों-ने इस दृश्यमान जगत्को उस सनातन ज्योतिमेंसे बाहर प्रक्षिप्त किया है, जो परम सत्ताके **सूर्य**की भांति अपने अंतिम विलोप, **तमस्**, से परे स्थित है, **आदित्यात् तमसः परस्तात्**, और अपने अन्तःस्वरूपमें स्थित इन सात रश्मियों द्वारा अन्तर्लोक अभिव्यक्त होता है तथा अपने बाह्य स्वरूपमें स्थित इन सात रश्मियों द्वारा बाह्य प्रपञ्चात्मक जगत् अभिव्यक्त होता है। सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मनस्, प्राण, अन्न ज्योतिर्मय ब्रह्मकी सप्तविध अन्तःसत्ता हैं। प्रकाश, अग्नि, विद्युत्, ज्योति, तेजस्, दोषा, छाया उसकी सप्तविध बाह्य सत्ता हैं। अग्नि तपस्के वाहनका स्वामी है। तपस्का यह वाहन क्या है जिसका प्रभु है अग्नि? यह है आग्नेय ज्योति। अग्नि है तपस्की ज्योति, उसका वाहन और आधार। प्रभुका परिचय उसके राज्यके नामसे होता है। सामर्थ्य, ताप, भास्वरता, पवित्रता, ज्ञानपर प्रभुत्व और तटस्थता उसके गुण हैं। वह यज्ञ है जो तपस्की ज्योतिके प्रभुके रूपमें अभिव्यक्त है, जिसके द्वारा चैतन्य, विचार, वेदन किंवा कर्मकी समस्त सक्रिय शक्ति इस जगत्में अभिव्यक्त होती है जिसे यज्ञने अपनी सत्तामेंसे ही निर्मित किया है। यही कारण है कि उसे यज्ञके सम्मुख स्थित (पुरोहित) कहा गया है। अग्नि या उससे परिपूरित विद्युत् या सूर्य ज्योतिकी वह जाज्वल्यमान प्रभा है जिसमें योगी दिव्य दृष्टि द्वारा परमेश्वरको देखते हैं। वह उस जागतिक व्यापारका कारण है जिसमें यज्ञ अपनी सत्ताको एक साथ प्रकाशित एवं गोपित करता है।

अग्नि एक देवता है—वह देवों अर्थात् दीप्यमान सत्ताओं, प्रकाशके

अधिपतियों, विश्वक्रीड़ाके महान् खिलाड़ियों, लीलाके निम्नतर स्वामियोंमें से एक है। वह उन देवों...मेंसे एक है जिन देवोंका महेश्वर या सर्वशक्तिमान् प्रभु है यज्ञ। वह अग्नि है और है बन्धनरहित या फिर वह अपनेको केवल लीलामें ही बांधता है। वह स्वभावसे ही शुद्ध है और जिन अपवित्र वस्तुओंका वह भक्षण करता है उनके स्पर्शसे वह न तो प्रभावित होता है न कलुषित ही। वह शुभ-अशुभकी क्रीड़ाका रस लेता है और अशुभको शुभकी ओर ले जाता और उठाता है या फिर उसे शुभ बननेके लिए बाध्य कर देता है। वह पवित्र करनेके लिए ही जलाता है। वह रक्षा करनेके लिए ही नष्ट करता है। जब साधकका शरीर तपस्की ऊष्मामें जल उठता है तो उस समय यह अग्नि ही उसके अन्दर गरज रहा होता है, मलिनता और विघ्न-बाधाओंको ग्रस और जला रहा होता है। वह भयानक, शक्तिशाली, आनन्दमय, निर्दय और प्रेममय देव है, उन सबका दयालु और रौद्र सहायक है जो उसकी मित्रताकी शरण लेते हैं।

अग्निमें ज्ञान उसके जन्मके साथ ही उत्पन्न हुआ था—इसीलिए उसे **जातवेदस्** कहा जाता है।

विवेचन

1. अग्निम्

अग्नि एक देवता है, बुद्धिप्रधान मनके अत्यन्त भास्वर और शक्तिशाली प्रभुओंमेंसे एक। वैदिक मनोविज्ञान (अध्यात्मविज्ञान)के अनुसार मनुष्य सात तत्त्वोंसे संघटित है जिनके खोलों (कोशों)में आत्मा अन्तर्निहित है। वे हैं **अन्न,** स्थूल जड़तत्त्व, **प्राण,** प्राणिक शक्ति, **मनस्,** बौद्धिक मन, **विज्ञानम्,** 'विज्ञान'मय आदर्श मन, **आनन्द,** शुद्ध या तात्त्विक सुख, **चित्,** शुद्ध या तात्त्विक चैतन्य, **सत्,** शुद्ध या तात्त्विक सत्ता। हमारे विकासकी वर्तमान अवस्थामें साधारण मानवने अपने नित्य व्यवहारके लिए **अन्न, प्राण** और **मन**का विकास किया है, और सुविकसित मनुष्य सामर्थ्यपूर्वक **विज्ञान**का प्रयोग करनेमें सक्षम होते हैं, पर वह विज्ञान तब अपने निजधाममें **(स्वे दमे)** किंवा अपने **स्वरूप**में स्थित होकर कार्य नहीं करता, बल्कि वह मनमें स्थित होकर तर्कशक्ति, बुद्धिके रूपमें कार्य करता है। असाधारण मनुष्य विज्ञान द्वारा वास्तविक मन और बुद्धिकी क्रियामें सहायता पहुंचानेमें समर्थ होते हैं पर वह विज्ञान तब निःसन्देह बुद्धिप्रधान मनमें क्रियारत होता है और अतएव अपने

वास्तविक क्षेत्रसे बाहर रहकर ही कार्य करता है, पर करता है अपनी विज्ञानमय चेतनाके रूपमें ही। यह मानसिक और विज्ञानमय क्रियाका संयोग है जिससे चेतनाकी उस अवस्थाका निर्माण होता है जिसे प्रतिभा, **प्रतिभानम्**, कहते हैं, अर्थात् मनमें उच्चतर विचार-क्रियाकी प्रतिच्छाया या उसके प्रति प्रकाशपूर्ण उत्तर। योगी इससे भी परे साक्षात् विज्ञान तक जा पहुंचता है अथवा यदि वह याज्ञवल्क्यकी भांति एक महत्तम ऋषि हुआ तो, आनन्द-तक भी। साधारण समयोंमें कोई भी जाग्रत् अवस्थामें आनन्दसे परे नहीं जाता, वस्तुतः चित् और सत् केवल **सुषुप्ति**में ही उपलब्ध हो सकते हैं, क्योंकि अब तक केवल पहले पांच कोश ही इतने पर्याप्त रूपमें विकसित हुए हैं कि (साधारण मानवको) प्रत्यक्ष हो सकें; हां, सत्ययुगके मनुष्योंकी बात दूसरी है और उन्हें भी अन्य दो कोश पूर्णतया गोचर नहीं होते। **विज्ञान**से **अन्नतक अपरार्द्ध** या सत्ताका निम्नतर भाग है जहां विद्यापर अविद्याका आधिपत्य है, आनन्दसे सत् तक परार्द्ध या उच्चतर अर्द्ध है जिसमें अविद्यापर विद्याका प्रभुत्व है और वहां अज्ञान, पीड़ा या सीमाका नाम नहीं।

मनुष्यमें, जैसा कि वह इस समय विकसित है, बुद्धिप्रधान मन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक शक्ति है और बुद्धिप्रधान मनको इसकी उच्चतम शुद्धता एवं क्षमता तक विकसित करनेके उद्देश्यसे ही वेदके सूक्त लिखे गए हैं। इस मनमें क्रमिक रूपसे ये तत्त्व विद्यमान हैं (1) **सूक्ष्म अन्न**, स्थूल अन्नका परिष्कृत सूक्ष्म रूप जिससे मनःकोष या सूक्ष्म देहका भौतिक भाग बनता है; (2) **सूक्ष्म प्राण**, मनोगत प्राण-शक्ति जो नाड़ियोंमें या सूक्ष्म देहके नाड़ीमण्डलमें कार्य करती है और जो कामनाका करण है; (3) **चित्त** या ग्रहणशील चेतना जो तामसिक प्रतिक्रिया द्वारा बाहर और भीतरसे सभी संस्कार ग्रहण करती है, पर जो तामसिक होनेके कारण उन्हें सात्त्विक चेतना या बुद्धि-चैतन्यके प्रति, जिसे हम ज्ञान कहते हैं, प्रत्यक्ष नहीं होने देती। परिणामस्वरूप, ध्यानपूर्वक देखी या न देखी प्रत्येक वस्तुकी स्मृति हम चित्त द्वारा अपने अन्दर संजोए हैं, पर वह ज्ञान तमसाच्छन्न पड़ा होनेके कारण हमारे जीवनके लिए निरर्थक है; (4) **हृदय (हृत्)**, या चित्तपर पड़े संस्कारोंके प्रति राजसिक प्रतिक्रिया जिसे हम वेदन या भावावेश कहते हैं, अथवा जब यह हमारे अभ्यासका अंग बन जाती है तो इसे स्वभाव कहते हैं; (5) **मनस्** या सक्रिय, सुनियत, इन्द्रियबोधात्मक चेतना जो सब प्रकारके संस्कारोंको एक सात्त्विक प्रतिक्रियाके द्वारा—जिसे बोधशक्ति या विचार कहते हैं और जो मनुष्योंकी तरह पशुओंमें भी पाई जाती है—प्रत्यक्ष बोध

या प्रत्ययमें बदल देती है; (6) **बुद्धि** या तार्किक, कल्पना-कुशल और बौद्धिकतः स्मृतिसहायक शक्ति, जो निरीक्षण और संधारण करती है, तुलना, तर्क-वितर्क, समबबोध, संयोजन और सर्जन करती है, इन व्यापारोंके संमिश्रण को ही हम बुद्धि कहते हैं; (7) **मानस आनन्द,** या सत्ताका विशुद्ध आनन्द जो अपवित्र मन, देह और प्राण द्वारा अपवित्र रूपमें अर्थात् नाना प्रकारकी व्यथा-वेदनासे मिश्रित रूपमें प्रकट होता है, पर जो **अहैतुक** (निःस्वार्थ) होनेके कारण अपने-आपमें शुद्ध है; (8) **मानस तपस्,** या शुद्ध संकल्पशक्ति जो अशुद्ध मन, देह और प्राण द्वारा अशुद्ध रूपमें, अर्थात् दुर्बलता, जड़ निष्क्रियता एवं अज्ञान या भ्रान्तिसे मिश्रित रूपमें, ज्ञान, वेदन, और कर्मके संपादन के लिए क्रिया करती है, पर वह अपने-आपमें शुद्ध ही है क्योंकि वह **अहैतुक,** निःस्वार्थ होती है, किसी ऐसे परोक्ष प्रयोजन या अभिरुचिसे शून्य होती है जो विचार, कार्य और भावावेगके सत्यमें हस्तक्षेप कर सके; (9) **अहैतुक सत्,** या सत्ताकी शुद्ध उपलब्धि जो अशुद्ध करणोंके द्वारा **अहंकार** और **भेद**की शक्तिके रूपमें क्रिया करती है, पर अपने-आपमें वह शुद्ध ही है और है भेदमें अभेदके प्रति सचेतन, क्योंकि वह अहैतुक है, अभिव्यक्तिमें किसी विशेष नाम या रूपके प्रति आसक्त नहीं; और अन्तमें, (10) मनमें अवस्थित **आत्मा**। यह **आत्मा** सत् और असत् है, भावात्मक और अभावात्मक, **सत् ब्रह्म** और **शून्यं ब्रह्म;** भावात्मक और अभावात्मक दोनों **सः** या **वासुदेव** तथा **सत्** या **परब्रह्म**में अन्तर्निहित हैं, और **सः** एवं **तत्** दोनों एक ही हैं। पुनश्च, बुद्धि कई शक्तियोंमें विभक्त है—(1) **मेधा** जो इन्द्रियानुभवके द्वारा प्रदत्त ज्ञानका प्रयोगमात्र करती है और मनस्, चित्त, हृत् तथा प्राणके समान ही **अधीन, अनीश,** है, इन्द्रियानुभव पर आश्रित है; (2) **तर्क-शक्ति** या यथार्थ बुद्धि, (**स्मृति** या **धी** जिसे प्रज्ञा भी कहते हैं), जो इन्द्रियानुभवसे श्रेष्ठतर है और उच्चतर ज्ञानकी विभक्त ज्योतिमें इसका प्रतिषेध करती है, और (3) प्रत्यक्ष **ज्ञान, सत्य,** या सत्त्व जो अपने आपमें उच्च ज्ञानकी वही ज्योति है। इन सब शक्तियोंके अपने-अपने देवता हैं, एक या अनेक; प्रत्येक देवताके अपने **गण** या अधीनस्थ मन्त्री हैं। इन शक्तियोंका प्रयोक्ता जीव **हंस** कहलाता है, हंस अर्थात् वह जो ऊपरकी ओर उड़ता या विकसित होता है; जब वह निम्न शक्तियोंको त्याग देता है और मनमें सच्चिदानन्दकी ओर उठ जाता है, केवल सत्, चित् और आनन्दका ही प्रयोग करता है तथा **सद् आत्मा** या वासुदेवमें प्रतिष्ठित रहता है तब वह **परब्रह्म** कहलाता है, अर्थात् वह जो क्रमविकासकी उस अवस्थामें पराकाष्ठा तक पहुंच गया या विकसित हो चुका है। वेदका आधारभूत ज्ञान यही है,

जिसका विलोप, **निरुक्त**की विकृतिके साथ मिलकर, उसके अर्थकी वर्तमान अव्यवस्था एवं हीनताका कारण बना है।

चन्द्र स्मृति या प्रज्ञाका देवता है; **सूर्य** सत्यका; **इन्द्र** मेधा और मनस्का; **वायु** सूक्ष्म प्राणका; **मित्र, वरुण, अर्यमा** और **भग** भावप्रधान मन या स्वभावके चार अधिपति हैं; **बृहस्पति** सहैतुक चित् या ज्ञानके तपका देवता है; **ब्रह्मा** सहैतुक सत्का; **अग्नि** सहैतुक तपस्का इत्यादि। यह एक संकेतमात्र है। देवोंके विविध गुण-कर्म-स्वभाव और शक्तियाँ तो स्वयं वेदकी परीक्षासे उत्तमतया प्रकट होती हैं। देवता प्रभु या यज्ञके लिए, ईशके लिए अर्थात् **आधार** या अभिव्यक्तिके सप्तविध माध्यमके स्वामीके लिए पूर्णताके साथ कार्य करनेका यत्न करते हैं; दैत्य, जो देवोंकी तरह ही भगवान्की संतानें हैं, इस पूर्व कार्य-व्यापारको उलट देनेकी चेष्टा करते हैं। उनका कार्य है—जो कुछ स्थापित हो चुका है उसे उलट-पलट देना जिससे मनुष्यको नीचे ढकेला जा सके, या फिर जो कुछ अपने-आपमें अच्छा और सामंजस्यमय था पर था अपूर्ण उसे तोड़कर मनुष्यको और ऊंचा उठनेका अवसर प्रदान करना; और चाहे जो हो, पूर्णतासे ओछी किसी भी वस्तुसे उसे सन्तुष्ट न रहने देना और उसे निरन्तर अनन्तकी ओर परिचालित करना, या तो **उत्तमगति** द्वारा वासुदेवकी ओर प्रेरित करना या, यदि वह उसे प्राप्त नहीं करना चाहता तो उसे **अधमगति**से प्रकृतिकी ओर धकेल देना। वैदिक आर्य देवोंकी सहायतासे दैत्यों या दस्युओं को अभिभूत करनेका यत्न करते थे; तदनन्तर स्वयं देवोंको भी अभिभूत (अतिक्रान्त) करना होता था जिससे मनुष्य अपने लक्ष्य पर पहुंच सके।

भौतिक शक्तियोंके क्षेत्रमें अग्नि है **तेजस्**का अधिपति, वैदिक प्रकृति-विज्ञानके विदित पांच तत्त्वोंमेंसे तीसरा और मध्यगत भौतिक तत्त्व। स्वयं **तेजस्** सात प्रकारका है, (1) **छाया** या अभावात्मक प्रकाश जो अन्न-कोषका तत्त्व है; (2) **दोषा** या सान्ध्य प्रकाश, जो प्राणकोषका आधार है और छायाके द्वारा विकृत तेजस् है; (3) वास्तविक **तेजस्** या सरल विशदता एवं उज्ज्वलता, शुष्क प्रकाश, जो मनःकोषका आधार है; (4) **ज्योति**, या सौर प्रकाश, वह प्रोज्ज्वल प्रभा जो विज्ञानकोषका आधार है; (5) **अग्नि** या आग्नेय प्रकाश, जो चित्कोषका आधार है; (6) **विद्युत्** या वैद्युत प्रकाश, जो आनन्दकोषका आधार है और (7) **प्रकाश**, जो सत्कोषका आधार है। सातोंमेंसे प्रत्येककी अपनी अनुरूप शक्ति है; क्योंकि शक्ति तात्त्विक सद्वस्तु है और प्रकाश तो शक्तिका एक विशिष्ट सहचारी तत्त्वमात्र है। इन सबमें **अग्नि** जगत्में सबसे महान् है, **विद्युत्**से भी महान्—यद्यपि

वैद्युत शक्तिका देव है स्वयं **विष्णु** जो **आनन्दका अधिपति** है, उपनिषदोंका वैद्युत मानव (**वैद्युतो मानवः**) है। **विज्ञानमें**, सूर्य एवं विष्णु अग्निसे अधिक महान् हैं, किन्तु यहाँ वह और विष्णु दोनों अग्निकी प्रभुत्वपूर्ण शक्तिके अधीन और इन्द्रकी तुष्टिके लिए कार्य करते हैं,—उपनिषदोंमें विष्णु **इन्द्रसे** छोटा, **उपेन्द्र** है। भौतिकीकी भाषामें अनुवाद करें तो इसका अर्थ यह हुआ कि अग्नि ताप और शीतका नियन्ता होनेके कारण प्रकाश और तापके समस्त दृग्विषयके पीछे स्थित आधारभूत सक्रिय शक्ति है; सूर्य तो केवल प्रकाश और तापका एक भण्डार है, सूर्यकी अपनी विलक्षण देदीप्यमान प्रभा **तेजस्**का केवल एक रूप है और जिसे हम आतप (धूप) कहते हैं वह सत्कोषके आधारभूत प्रकाश या सारभूत ज्योतिकी स्थितिशील शक्तिसे, वैद्युत ऊर्जा या **वैद्युतम्** से तथा अग्निके उस तेजस्से बना है जो सूर्यकी प्रकृतिके द्वारा किंचित् परिवर्तित हो गया है और प्रकाशके अन्य सब रूपोंका निर्धारण करता है। प्रकाश और **वैद्युतम्** केवल तभी सक्रिय बन सकते हैं जब वे अग्निमें प्रवेश कर जाते हैं और उसकी सत्ताकी अवस्थाओंके अधीन कार्य करते हैं; सूर्यकी शक्ति देनेवाला है स्वयं अग्नि, वही ज्योतिको रचता है, वही तेजस्को रचता है, और वही, अभावात्मक रूपमें, छायाको रचता है। ठीक हो या गलत, यही है वेदकी भौतिकी। इसे मनोविज्ञानकी भाषामें अनूदित किया जाय तो इसका अभिप्राय यह होगा कि बुद्धिप्रधान मनमें, जो इस समय सत्तापर प्रभुत्व रखता है, न तो ज्ञानका पूर्ण विकास किया जा सकता है न आनन्दका, यद्यपि यह बुद्धिप्रधान मन तत्त्वतः मनसे उत्कृष्ट है; यहाँ तक कि **सोम** अर्थात् तार्किक बुद्धि भी वास्तवमें शासन नहीं कर सकती; बल्कि **सोम** से परिपूर्ण **इन्द्र** ही, अर्थात् इन्द्रियोंपर आधारित और बुद्धिके द्वारा सम्पुष्ट मेधा ही, परमोच्च शासिका है और इसीकी तुष्टिके लिए **सोम, सूर्य, अग्नि** और यहाँ तक कि सर्वोच्च **विष्णु** कार्य करते हैं। जिस तर्कबुद्धिपर मनुष्य गर्व करता है वह तो मनसे विज्ञानकी ओर होनेवाले विकासमें एक कड़ीमात्र है। और इसे या तो इन्द्रियोंकी या आदर्श संबोधकी सेवा करनी होगी; यदि वह अपने लिए ही काम करे तो वह केवल अज्ञेयवाद, दार्शनिक संदेह और ज्ञानमात्रके अवरोधकी ओर ही ले जाती है। ऐसा बिल्कुल नहीं सोचना चाहिए कि वेद इन (देवोंके) नामोंका प्रयोग केवल मनोवैज्ञानिक और भौतिक शक्तियोंके मानवीकृत भावोंके अर्थमें ही करता है; वह तो इन देवोंको मनोवैज्ञानिक और भौतिक क्रियाओंके पीछे स्थित सच्ची सत्ताएँ मानता है, क्योंकि कोई भी शक्ति अपना संचालन आप नहीं कर सकती, बल्कि सभी शक्तियोंको किसी चेतन केन्द्र या किन्हीं

चेतन केन्द्रोंकी आवश्यकता पड़ती है, जिस (जिन) से या जिस (जिन) के द्वारा वे क्रियामें प्रवृत्त होती हैं। एक सन्देह स्वभावतः ही उत्पन्न होगा, कैसे वह परमोच्च प्रभु विष्णु वेदोंका **उपेन्द्र** हो सकता है? उत्तर यह है कि विकासकी किसी विशेष अवस्थामें जो भी शक्ति सर्वाधिक महत्त्वकी होती है उसे **विष्णु-विराट्** उसकी विशेष देखभालके लिए अपने हाथमें ले लेते हैं। हम देख चुके हैं कि आनन्द अब समुन्नत विकासमें सबसे उच्च तत्त्व है। अतएव अब विष्णु प्रमुख रूपसे आनन्दका अधिपति है और जब वह जड़ जगत्में उतरता है तो वह सूर्यमें एक परमोच्च वैद्युत शक्तिके रूपमें स्थित होता है। यह वैद्युत शक्ति अग्निमें अन्तर्निगूढ़ है और उसमें से विकसित होती है, यह आनन्दका भौतिक प्रतिरूप है और इसके बिना संसारमें कोई क्रिया आरम्भ नहीं हो सकती। विष्णु अवर (कोटिका) नहीं है, हां केवल सेवा करनेके बहाने वह अपने को दूसरे के अधीन कर देता है, जब कि वास्तवमें सेवाके द्वारा वह शासन करता है। पर **उपेन्द्रत्व** विष्णुकी अभिव्यक्तिका उच्चतम स्तर, परमधाम नहीं है, सच पूछो तो वह यहाँ उसके निम्नतम **धाम** का विशेष व्यापार है। उपेन्द्रत्व विष्णुत्व नहीं वरन् उसका केवल एक अन्यतम कार्यमात्र है।

अतएव अग्नि **तेजस्**का, विशेषतया आग्नेय **तेजस्**का स्वामी है और मनमें सहैतुक **तपस्**का कारण है। आधुनिक मनोविज्ञानकी भाषामें, यह सहैतुक **तपस्** है क्रियारत **संकल्प,**—कामना नहीं, बल्कि कामनाका आलिंगन करके उसका अतिक्रमण कर जानेवाला **संकल्प**। यह पसंदगी, इच्छा या मनोरथ भी नहीं। वैदिक विचार-पद्धतिमें **संकल्प** तत्त्वतः ज्ञान ही है जो शक्तिका रूप धारण कर लेता है। अतएव अग्नि विशुद्ध रूपमें मानसिक शक्ति है जो सब प्रकारकी एकाग्रताके लिए आवश्यक है। एक बार जब हम इस वैदिक परिकल्पनाको हृदयंगम कर लेते हैं तो हम अग्निका अपरिमित महत्त्व अनुभव करते हैं और जिस सूक्तका हम अब अध्ययन कर रहे हैं उसे समझने योग्य स्थितिमें होते हैं।

अग्निम्

'अग्नि' शब्द **'अग्'** धातुसे संज्ञावाची 'नि' प्रत्यय लगानेसे बना है। **'अग्'** धातु स्वयं "होना" अर्थवाली एक मूल धातु **'अ'**से बना है जिसके चिह्न अनेक भाषाओंमें पाये जाते हैं। 'ग्' शक्तिके भावको सूचित करता है और इसलिए 'अग्'का अर्थ है शक्तिके साथ प्रधान रूपमें अस्तित्व रखना—तेजस्वी, बलशाली, श्रेष्ठ होना और अग्निका अर्थ है शक्तिमान्, परम महान्,

तेजोमय, प्रबल, दीप्तिमान्। यूनानी शब्द agathos (ऑगॉथोस्, जिसका अर्थ है उत्तम, और मूलत: जिसका अर्थ बलशाली, श्रेष्ठ वीर था), agan, ऑगॉन् अर्थात् अत्यधिक मात्रामें, ago, आगो अर्थात् मैं नेतृत्व करता हूँ, लैटिन शब्द ago, age, aglaos, आगो, आगे, आग्लाओस् अर्थात् दीप्तिमान्, व्यक्तिवाचक नाम Agis, Agamemnon, आगिस, आगामेम्नोन् तथा संस्कृत शब्द **'अग्र'** और **'अगस्ति'**—इन सभीमें हम यही 'अग्' धातु पाते हैं। यह अपने बंधु धातु **'अज्'**से परस्पर परिवर्तनीय है, जिस (अज्) से यूनानी शब्द ago (आगो) के कुछ अर्थ निकलते हैं। प्रतीत होता है कि इसका अर्थ 'प्रेम करना' भी रहा होगा जो अर्थ 'आलिङ्गन'के विचारसे निकला होगा, तुल० यूनानी agape (आगापे), पर इस अर्थमें प्राचीन संस्कृत 'अंग्' धातुका प्रयोग पसन्द करती थी। अग्, अंग् इन दो धातुओंमें संबन्धके लिए इन शब्दोंकी तुलना कीजिए—**अंगति,** जिसका अर्थ है अग्नि, **अंगिर:** जो अग्निका एक नाम है, **अंगार:,** जलता हुआ अंगारा।

ईळे

इस शब्दमें जो धातु है उसके दो रूप हैं **इळ्** और **ईळ,** जैसे सरल संस्कृत धातुओंके होते हैं। मूल धातु था इळ् जिसके अर्थ हैं प्रेम करना, आलिंगन करना, चाटुकारी या प्रशंसा करना, स्तुति करना, मूर्धन्य 'ळ्' बाद का रूप है,—एक उपभाषागत विशेषता है जो द्वापर-युगकी कुछ एक प्रभुत्वपूर्ण जातियोंसे सम्बद्ध है। इस विशेषताने कुछ काल तक अपने को प्रतिष्ठित रखा पर अपना अधिकार जमाए नहीं रख सकी और या तो **'ळ'** फिरसे **'ल'**में बदल गया या और भी बदलकर कोमल मूर्धन्य **'ड'** बन गया जिसके साथ इसका परिवर्तन किया जा सकता था[1]। अतएव ठीक इसी अर्थमें हमें 'ईळ्' धातुका 'ईड्' रूप भी मिलता है। इस धातुमें बड़े की आराधनाका भाव निश्चित रूपसे अन्तर्निहित हो ऐसी बात नहीं, प्रधान भाव हैं प्रेम, प्रशंसा और कामना। यहाँ (इस मन्त्रमें) इसका अर्थ "प्रशंसा" या पूजा करना नहीं, बल्कि "कामना" या "उत्कण्ठा" वा "अभीप्सा" करना है।

पुरोहितम्

यहाँ दो पद हैं, एक नहीं। वेदकी परवर्ती कर्मकाण्डीय व्याख्यामें इस समस्त पदका "पुरोहित" यह जो अर्थ किया गया है वह इस सूक्तमें कतई

1. **डलयोरभेद:** अर्थात् 'ड' और 'ल'में कोई भेद नहीं, इन्हें परस्पर बदला जा सकता है।—अनुवादक

नहीं है। 'पुरः' शब्द मूलतः 'पुर्'का षष्ठ्यन्त रूप था जिसका प्रयोग क्रिया-विशेषणकी भांति होता था। पुर्का अर्थ था द्वार, कपाट, सम्मुख भाग, दीवार, बादमें इसका अर्थ हो गया घर या नगर; तुल० यूनानी pule (प्यूंले, द्वार), pulos (प्यूंलोस्, प्राकार-वेष्टित नगर या किला), polis (पोलिस्, नगर); इस प्रकार 'पुरः'का अर्थ है सामने। हितम् 'हि' धातुसे बना कृदन्त विशेषण है, 'हि'का अर्थ है झोंक देना, फेंक देना, रोपना, रखना। यह धातु ग्रीकमें cheo (खेओ) इस रूपमें दिखाई देता है जिसका अर्थ है 'मैं डालता हूँ' (haya, हया), अतएव **पुरोहितम्**का अर्थ है सामने स्थापित या रोपित (सामने रखा या रोपा हुआ)।

यज्ञस्य

यज्ञ शब्दका वेदमें सर्वोच्च महत्त्व है। कर्मकाण्डीय व्याख्यामें यज्ञका अर्थ सदा याज्ञिक क्रियाकलाप ही समझा जाता है और किसी अन्य अर्थकी परिकल्पनाको स्वीकार ही नहीं किया जाता। यदि इस आधिभौतिक व्याख्याको स्वीकार कर लिया जाय तो यह समझमें ही नहीं आ सकता कि कैसे वेद सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिकता एवं दिव्य ज्ञानका उद्गम है। वास्तवमें यज्ञ स्वयं परम प्रभु विष्णुका नाम है; इसका अर्थ धर्म या योग भी है और आगे चलकर एक विशेष अर्थकी पसंदगीके कारण यह याज्ञिक कर्मके अर्थको सूचित करने लगा, क्योंकि द्वापर-युगके उत्तर भागमें याज्ञिक क्रियाकलाप एकमात्र धर्म एवं योग बन गया जिसने अन्य सबको अपने अधिकारमें कर लिया और अधिकाधिक उनका स्थान लेने लगा। अतः निरुक्तके द्वारा इस महत्त्वपूर्ण शब्दका ठीक अर्थ फिरसे खोज निकालना आवश्यक है, और ऐसा करनेके लिए निरुक्तका सिद्धान्त संक्षेपमें प्रतिपादित करना अनिवार्य है।

संस्कृतभाषा देवभाषा है या वह मूल भाषा है जिसे वर्तमान मन्वन्तरके आरम्भमें उत्तर मेरुके निवासी बोलते थे; पर अपने विशुद्ध रूपमें यह द्वापर या कलियुगकी संस्कृत नहीं है, यह सत्ययुगकी भाषा है जो वाक् और अर्थके सच्चे और पूर्व सम्बन्ध पर प्रतिष्ठित है। इसके प्रत्येक स्वर एवं व्यंजनमें एक विशेष एवं अविच्छेद्य शक्ति है जो वस्तुओंकी निज प्रकृतिके कारण ही अपना अस्तित्व रखती है न कि विकास या मानवीय चुनावके कारण, ये मूलभूत ध्वनियाँ हैं जो तान्त्रिक बीज-मन्त्रोंके आधार हैं और स्वयं मन्त्रका प्रभाव निर्मित करती हैं। मूलभाषामें प्रत्येक स्वर और प्रत्येक व्यंजनके कुछ एक प्राथमिक अर्थ थे जो इस मूलभूत शक्तिसे उद्भूत होते थे तथा

अपनेसे निकले दूसरे अर्थोंके आधार थे। स्वयं स्वर स्वरों एवं व्यञ्जनोंके साथ मिलकर और उनके साथ मिले बिना भी अनेक प्राथमिक धातु बनाते थे जिनसे अन्य व्यंजनोंके संयोगसे, द्वितीय श्रेणीके धातु विकसित हुए। सभी शब्द इन धातुओंसे बनाए गए, सरल शब्द इनमें पुनः शुद्ध या मिश्रित स्वर-एवं-व्यंजन-रूप प्रत्यय लगाकर धातुमें कुछ परिवर्तन करके या बिना किए, बनाए जाते थे तथा अधिक जटिल शब्द संयोजनके सिद्धान्तके अनुसार। यह भाषा अर्थ और ध्वनिमें अधिकाधिक विकृत होकर त्रेता, द्वापर और कलियुगकी परवर्ती संस्कृत बन जाती है, कभी-कभी कुछ शुद्ध होकर फिर बिगड़ जाती है और कभी फिर अशंतः शुद्ध हो जाती है। परिणामतः यह अपने मूल रूप और रचनाके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्धको पूर्ण रूपसे कभी नहीं खोती। अन्य प्रत्येक भाषा, चाहे वह इससे कितनी ही दूर पड़ गई हो, एक अपभ्रंश ही है जो मूल भाषामें घिसाई, ह्रास एवं विकार होकर उसके प्राकृतमें या प्राकृतकी प्राकृतमें और इसी प्रकार और भी आगे अशुद्धता-की बढ़ती हुई अवस्थाओं तक बदल जानेसे बना है। भारतीय भाषाकी उत्कृष्ट शुद्धता ही वह कारण है जिससे इसे संस्कृत नामसे पुकारा जाता है और इसे कोई स्थानीय नाम नहीं दिया गया, इसका आधार सार्वभौम और सनातन है; और आदि भाषाके रूपमें संस्कृतवाणीकी पुनर्गवेषणा ही सदा पहले तो मानवको सच्चे रूपमें समझनेके लिए और दूसरे, स्वयं संस्कृतको भी नये सिरेसे शुद्ध करनेके लिए भूमि तैयार करती है।

यह विशेष धातु 'यज्' जिससे 'यज्ञ' शब्द बना है 'य्' व्यंजनके आधारपर बनी द्वितीयस्थानीय (यौगिक) धातु है, 'य्'के गुण (अर्थकी विशेषताएँ) हैं क्रिया, गति, रचना और सम्पर्कमें प्रयुक्त की गई सामर्थ्य और मृदुता। 'य्'से बनी प्राथमिक धातुएं है य, यि और यु और दीर्घीकृत रूप हैं या, यी, और यू—क्योंकि मूल देवभाषा केवल तीन शुद्ध स्वर मानती थी, शेष या तो किंचित् परिवर्तित या मिश्रित स्वर हैं। यज्की प्राथमिक धातु है 'य' जिसका मूल अर्थ है शान्त-स्थिरभावसे गति करना, शान्तिसे और बल तथा स्थिरताके साथ कार्य करना या काममें लगना, स्थिर मनोयोगके द्वारा (ज्ञान या किसी वस्तु या व्यक्तिको) अधिकृत करना, भद्रताके साथ या प्रीतिपूर्वक और प्रभावकारी रूपसे किसीके संपर्कमें आना या किसीके संपर्कमें लाना, स्पष्टताके साथ आकार देना या अभिव्यक्त करना इत्यादि। इनमें से पहला भाव दीर्घीकृत रूप 'या' में, 'यक्ष्'में और यम् आदि धातुओंके एक अन्यतम अर्थमें दिखाई देता है, पर इसका रंग घिस चुका है; दूसरा भाव 'यत्' और 'यश्'में; तीसरा यज्, यम् और यन्त्रमें; चौथा यज् और याच्में

जो मूलतः 'यच्' (देना)का प्रेरणार्थक है, यह 'यच्' धातु अब 'यम्'के कुछ एक तिङन्त रूपोंको छोड़कर लुप्त हो चुका है, पांचवां 'यम्'के एक अन्यतम अर्थ (दिखाना)में इत्यादि। यच्के अतिरिक्त अन्य लुप्त धातु भी हैं—(१) 'यल्' जिसका अर्थ है खोजना, प्रेम करना, कामना करना (ग्रीक iallo, याल्लो), (२) यश्, इसका अर्थ भी यल्के अर्थसे मिलता-जुलता है। इससे हमें 'यशः' शब्द प्राप्त होता है जो आरम्भमें एक विशेषण था जिसका अर्थ था कमनीय, मोहक। यह एक संज्ञा भी था जिसका अर्थ कभी तो प्रेम या खोजका विषय होता था और कभी सौन्दर्य, महत्त्वाकांक्षा, कीर्ति इत्यादि, या स्वयं प्रेम भी, एवं अनुग्रह व पक्षपात। मूल भाषामें, जैसी कि वह आज भी देखी जा सकती है, जिस विधिका अनुसरण किया जाता था उसका यह एक संक्षिप्त उदाहरण है, हां, उस भाषाके अर्थोंके विभेद और छायाएं तो मिल-मिला गई हैं और शब्दोंके रंग मिट गए हैं।

'यज्' धातुमें 'ज्' व्यंजनकी भावशक्ति अर्थका निर्णय करती है। उसका तात्त्विक स्वभाव है क्षिप्रता, निर्णायकता, तीव्र भास्वरता और आतुरता। अतएव इसमें पौनःपुन्य और आतिशय्यकी, बारंबार और अतिशय मात्रामें करनेकी, यङ् प्रत्ययकी शक्ति है। इसका अर्थ है स्वभाववश और उत्कट रूपसे प्रेम करना, अतएव पूजा एवं उपासना करना। इसका अर्थ है मुक्त-भावसे, सम्पूर्ण या सतत रूपसे देना; अर्थकी इन्हीं छायाओंसे यज्ञका अर्थ आता है। इसका अर्थ है पूर्ण रूपसे प्रभुत्व स्थापित करना, स्वभाववश, प्रभुत्व-स्थापनकी क्रियाकी सतत आवृत्तिके साथ प्रभुत्व प्राप्त करना, 'यत्' धातुका अर्थ है यत्न, पर यह नहीं हो सकता कि 'यज्'का अर्थ कभी यत्न रहा हो, यह अत्यन्त निर्णयात्मक एवं विजयशील है और अवश्य ही इसका अर्थ होना चाहिए—प्रभुत्वकी उपलब्धि, इस उपलब्धिके परिणामका क्रिया-मय भाव। अतएव इसका अर्थ है राज्य करना, शासन करना, व्यवस्था करना, उपलब्ध करना। यही कारण है कि यज्ञ है विष्णु, इस अर्थमें कि वह सर्वशक्तिमान् शासक है, मनुष्यके कार्य, तन और मनका स्वामी है, परमेश्वर है जो मनुष्यमें स्थित उच्चतर शक्ति-स्तरसे, परार्द्ध या सच्चि-दानन्दके स्तरसे शासन करता है।

'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातुसे 'न' प्रत्यय लगानेसे बना है जो एक कार्यवाचक नामिक (संज्ञा बनानेवाला) प्रत्यय है। यह विशेषणात्मक या संज्ञावाचक हो सकता है। यह कर्त्ता, करण, करनेकी विधि या कार्यके फलके भोक्ता-को सूचित कर सकता है। अतएव 'यज्ञः' का अर्थ हो गया—वह जो राज्य करता है, शासक या प्रभु; प्रेम और आराधना करनेवाला, साथ ही प्रेमका

विषय भी, प्रभुत्व-प्राप्तिका साधन और अतएव योग,—योगकी प्रक्रियाएं न कि उसकी उपलब्धियाँ; प्रभुत्वकी रीति और अतएव धर्म, अर्थात् कार्य या आत्मशासनका नियम; आराधना या पूजाकी क्रिया, यद्यपि यह अर्थ सामान्यतया 'यजु:'के लिए रखा गया था जिसका अभिप्राय है देना, अर्पण या उत्सर्ग करना। विष्णुके नामके रूपमें, प्रधानतया, यज्ञका अर्थ था **'प्रभु'** जो संचालित और प्रेरित करता है तथा शासन करता है; परन्तु **प्रेमी** और **प्रियतम,** दाता और समस्त कर्मोंके लक्ष्य, कर्ममात्रके विधि-विधान और पूजा-पाठका विचार भी पूजकके संस्कारोंमें यज्ञके अन्दर आ घुसा और कभी-कभी तो यह प्रमुख हो उठता था।

विष्णुपुराण हमें बताता है कि सत्ययुगमें विष्णु यज्ञके रूपमें अवतरित होते हैं, त्रेतामें विजेता और राजा तथा द्वापरमें व्यास, संकलनकार, संहिता-कार, शास्त्रकारके रूपमें। उसका अर्थ यह नहीं कि वे याज्ञिक कर्मके रूपमें अवतरित होते हैं। सत्ययुग मानव पूर्णताका युग है जिसमें सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था स्थापित होती है, पूर्ण या चतुष्पाद् धर्मका युग है जिसका पालन योगकी पूर्ण और सार्वभौम उपलब्धिपर या परमेश्वरके साथ सीधे संबन्ध पर निर्भर करता है और फिर योगकी उपलब्धि या परमेश्वरके साथ अप-रोक्ष संबन्ध इसपर निर्भर है कि मानवावतीर्ण विष्णु पूजापात्र, प्रभु और धर्म एवं योगके केन्द्रके रूपमें सतत उपस्थित रहें। चतुष्पाद् धर्म है ब्राह्मण (ब्राह्मणत्व), क्षत्र (क्षत्रियत्व) वैश्यत्व और शूद्रत्व–इन चारों धर्मोंका पूर्ण सामंजस्य। इसी कारण सत्ययुगमें पृथक् वर्ग अस्तित्व नहीं रखते। त्रेता में ब्राह्मण्यका ह्रास होने लगता है, पर वह क्षत्र (क्षत्रियत्व)की सहायता करनेके लिए एक गौण शक्तिके रूपमें बना ही रहता है। उस समय क्षत्र ही मानवजाति पर शासन करता है। मनुष्यजाति तब पहलेकी तरह अन्त-र्निष्ठ **ब्रह्मज्ञानसे** सहजतया धारित **वीर्य** या **तपस्के** द्वारा रक्षित नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसे वीर्य या तपस् द्वारा रक्षित होती है जो कुछ कठिनाई से ही ब्रह्मज्ञानको पोषित करता है और उसे ध्वस्त होनेसे बचाता है। तब विष्णु क्षत्रिय अर्थात् **वीर्य** और **तपस्के** विग्रहधारी केन्द्रके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। द्वापरमें ब्राह्मण्य और अधिक ह्रासको प्राप्त होकर कोरे ज्ञान या बौद्धिकतामें परिणत हो जाता है; क्षत्र वैश्यत्वको आश्रय देनेवाली एक अधीनस्थ शक्ति बन जाता है और वैश्यत्वको अपने प्रभुत्वका अवसर प्राप्त होता है। वैश्यके मुख्य गुण हैं—(1) **कौशलम्,** व्यवस्था और प्रणाली, और इसीलिए द्वापर संहिता-निर्माण, कर्मकाण्ड और शास्त्रका युग है, जो ह्रासोन्मुख आन्तरिक आध्यात्मिकताको बनाए रखनेके लिए बाह्य उपकरण

हैं; (2) **दानम्,** और अतएव अतिथि-सेवा, तर्पण, यज्ञ और दक्षिणा अन्य धर्मोंको निगलने लगते हैं—यह **यज्ञिय युग** है, यज्ञ का युग, (3) **भोग,** और इसीलिए वेदका उपयोग इहलोक और परलोकमें भोग-सम्पादनके लिए किया जाता है; **भोगैश्वर्यगतिं प्रति।** इसमें विष्णु बुद्धि और **अभ्यास**की अर्थात् बौद्धिक ज्ञान पर आधारित नित्य अनुष्ठानकी सहायतासे धर्मके ज्ञान और आचरणको सुरक्षित रखनेके लिए स्मृतिकार, कर्मकाण्डी और शास्त्रकार-के रूपमें अवतरित होते हैं। कलिमें शूद्रके धर्म प्रेम और सेवाके सिवाय सब कुछ छिन्न-भिन्न हो जाता है, इस शूद्र-धर्मके द्वारा ही मानवताका धारण एवं रक्षण और समय-समय पर पवित्रीकरण भी होता है; क्योंकि **ज्ञान** (ज्ञानम्) छिन्न-भिन्न हो जाता है और उसका स्थान सांसारिक, व्यावहारिक बुद्धि ले लेती है, **वीर्य** (वीर्यम्) छिन्न-भिन्न हो जाता है और उसका स्थान ले लेते हैं ऐसे आलस्यपूर्ण यान्त्रिक साधन जिनसे सब कार्य निर्जीव ढंगसे, कमसे कम कष्टके साथ कराए जा सकें, **दान, यज्ञ** और **शास्त्र** छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उनके स्थानपर नपी-तुली उदारता, कोरा कर्मकाण्ड और तामसिक सामाजिक रूढ़ियां एवं शिष्टाचार प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन निर्जीव रूपोंको छिन्न-भिन्न करनेके लिए अवतार प्रेमको उतार लाते हैं जिससे जगत्को नवयौवन प्रदान किया जा सके और एक नई व्यवस्था एवं नया सत्ययुग जन्म ले सके, जब कि परमेश्वर पुनः **यज्ञ**के रूपमें अर्थात् ज्ञान, बल, सुखोपभोग और प्रेमरूपी **चतुष्पाद् धर्म**की पूर्ण अभिव्यक्तिसे संपन्न परम **विष्णु**के रूपमें अवतीर्ण होंगे।

यह कहा गया है कि हमारे विकासकी वर्तमान अवस्थामें विष्णु प्रमुख-रूपसे आनन्दके अधिपति हैं पर वे **सन्मय** एवं **तपोमय ब्रह्म** भी हैं। सन्मय ब्रह्मके रूपमें ही वे यज्ञ हैं—ऐसे सत् हैं जो चित् या तपस् और आनन्दको अपने अन्दर रखे हैं। यह स्मरण रखना होगा कि जहाँ अपरार्द्धमें हम ब्रह्मको विचार, वेदन, कार्य आदि द्वारा अपनी दृष्टिमें लाते हैं, वहाँ परार्द्ध में हम उसे विचार, वेदन और कार्यसे ऊँचे एक सारभूत साक्षात् अनुभव द्वारा दृष्टिगत करते हैं। आनन्द (आनन्द-ब्रह्म)में हम तात्त्विक आह्लाद अनुभव करते हैं; चित् (चिद्-ब्रह्म)में तात्त्विक शक्ति, प्रज्ञा और संकल्प, सत् (सद्-ब्रह्म)में तात्त्विक सत्य या सत्-त्व। अतएव सत्को **महासत्यम्** और **महाब्रह्म** कहा जाता है, अर्थात् वह अभिव्यक्तिगत उच्च-तम सत्य जिसमेंसे प्रत्येक वस्तु निःसृत होती है। यह महासत्य **(महासत्यम्)** उस साधारण सत्य या कारण **(सत्यम्, कारणम्)**से भिन्न है जिसे बाह्यतः **महत्** कहा जाता है और अन्तरतः **विज्ञानम्,** जो

सात भूमिकाओंमेंसे चौथी है। इस **महासत्यम्** द्वारा ही यज्ञरूप विष्णु सत्ययुगमें धर्म और योगको धारण करते हैं। वे अभिव्यक्तिमें सद्ब्रह्म हैं। जब हम **'ऋत्विजम्'** शब्दका विवेचन करेंगे तो हम देखेंगे कि किस अर्थमें अग्नि परमेश्वरके पहले स्थित है।

देवम्

देवताको—'देव' शब्द द्वितीय-स्थानीय (यौगिक) धातु 'दिव्' से बना है जिसका अर्थ है चमकना, दमकना, स्पंदित होना, क्रीड़ा करना। 'द्' व्यंजनके गुण हैं शक्ति, भारी उग्रता, घनता, सघन प्रवेश, सघन गति। इस व्यंजनके आधारपर दमें ये धातु मिलते हैं—**दा** (काटना), **दि** (स्पंदित होना) और दु (पीड़ा पहुंचाना) और **दि** से हमें **द्यु** और **दिव्** या **दीव्** धातु प्राप्त होते हैं जिनका अर्थ है जगमगाते हुए स्पंदित होना, चमकना, टिमटिमाना या क्रीड़ा करना। देव वे हैं जो प्रकाशकी क्रीड़ा करते हैं,—उनका निज धाम विज्ञान (**विज्ञानम्**), **महर्लोक, कारण-जगत्** में है, जहाँ अन्न **(जड़तत्व)** ज्योतिर्मय है और सभी वस्तुएं अपनी स्वभावसिद्ध दीप्तिसे, **स्वेन धाम्ना,** प्रकाशमान हैं, और जहाँ जीवन व्यवस्थित लीला है। अतएव जब भागवत पुराण स्वर्गमें देवताओंके जीवनको देखनेकी शक्तिकी चर्चा करता है तो वह उस विशेष सिद्धिको **देवक्रीडानुदर्शनम्** (देवताओंके खेल देखना)का नाम देता है, क्योंकि उनके लिए समस्त जीवन लीला ही है। परन्तु हमारे लिए देवता नीचेके स्वर्लोक अर्थात् चन्द्र-लोकमें निवास करते हैं जिसका शिखर है कैलास और आधार स्वर्ग जिसके ठीक ऊपर है पितृ-लोक। तथापि वहाँ भी वे अपना ज्योतिर्मय एवं लीलामय स्वरूप और अपनी उन प्रकाशमान देहों तथा स्वयं-सत् आनन्दके लोकोंको सुरक्षित रखते हैं जो मृत्यु और चितासे मुक्त हैं।

ऋत्विजम्

वेदकी यज्ञानुष्ठान-परक व्याख्यामें इस शब्दको ऋत्विक् अर्थात् यज्ञके पुरोहितके अर्वाचीन अर्थमें लिया जाता है, और इसकी व्याख्या इसे **'ऋतु-इज्'** इस प्रकार विभक्त करके की जाती है, जिससे इसका अर्थ बनता है, 'वह जो ऋतुके अनुसार यज्ञ करता है'। वास्तवमें **ऋत्विज्** एक बहुत ही पुराना शब्द है जो प्राचीन संस्कृतमें सन्धिके अर्वाचीन नियमोंकी रचनासे पहले ही समासके रूपमें बन चुका था। यह **ऋत्** (सत्य) और **विज्**

(आनन्दोन्माद या आनन्दोन्मत्त) इन दो शब्दोंसे बना है। इसका अर्थ है 'वह जो सत्य (सत्यम्)के आनन्दोन्मादसे युक्त है'।

ऋत् एक भाववाचक संज्ञा (नामपद) है। यह 'ऋ' धातुसे बना है जिसका मूल अर्थ था स्पन्दन करना, हिलना, झपटना, सीधे जाना; और इन अर्थोंसे निकले इसके अन्य अर्थ हैं—पहुंचना, अधिगत करना, या फिर आक्रमण करना, चोट या आघात पहुंचाना, या सीधा होना, उठना या उठाना; चमकना, सोचना, सत्यको उपलब्ध करना इत्यादि। 'सीधे जाना' इस अर्थ-से यौगिक धातु ऋज् और तज्जन्य विशेषण ऋजु (सीधा, सरल) बने हैं, तुल० लैटिन rego, rectus (रेगो, रेक्टुस्); इसी प्रकार उससे ये शब्द भी बने हैं—**ऋत्** अर्थात् सीधा, यथातथ, सच्चा; **ऋतम्**, सत्य, याथातथ्य, प्रतिष्ठित विधि-विधान या आचार; (**'सत्यम्'** शब्दका प्रयोग परब्रह्मके लिए होता है, इस अर्थमें कि वे सत्य या महाकारण,—**सत्यम्, महाकारणम्**—हैं), ऋतु, नियम, सुनिश्चित व्यवस्था, सुनिश्चित काल या ऋतु; ऋषि, विचारक, सत्यका साक्षात् द्रष्टा, तुल० लैटिन reor (रेओर, मैं विचार करता हूँ), ratio (रातियो, विधि, क्रमव्यवस्था, तर्क, स्थापना इत्यादि)। विलुप्त शब्द ऋत्का अर्थ था अपरोक्षता, सत्य, विधान, नियम, विचार, सत्यम्।

'विज्' शब्द 'विज्' धातुसे बनी संज्ञा या विशेषण है। इस धातुके अर्थ हैं—हिलना, क्षुब्ध या उत्तेजित होना, कांपना, आनन्दोन्मत्त या हर्षोत्फुल्ल होना, हर्षोल्लास, परमाह्लाद या हर्ष-विभोर शक्तिसे परिपूर्ण होना। तुल० लैटिन vigeo और vigor (विजेओ और वीगोर) जिससे अंग्रेजीका vigour (विगर अर्थात् बल, उत्साह) शब्द आता है। अतएव **ऋत्विज्** वह है जो सत्य (सत्यम्) की पूर्ण समृद्धिसे आनन्दविभोर है। यह दिखाया जा चुका है कि अग्नि **तपस्** या शक्ति का देवता है जो बुद्धिके स्तरपर निःस्वार्थ भावसे कार्यरत है, उच्चतर देवोंमेंसे एक है जो निम्न स्तरपर अवर देवता इन्द्रको सेवार्थ कार्य कर रहा है। वह सीधे **चित्**से उद्भूत होता है। यह चित् जब सक्रिय होती है तो **महातपस्** या चिच्छक्तिके नामसे पुकारी जाती है, **महातपस्** या चिच्छक्तिका अभिप्राय है सद्-ब्रह्म, यज्ञ या विष्णुमें विद्यमान तात्त्विक प्रज्ञाकी शक्ति। शक्ति निश्चल सद् आत्मामें क्षोभ या आनन्दोन्मत्त स्पन्दन के द्वारा सर्जन आरम्भ करती है और यह आनन्दोन्मत्त स्पन्दन या **विज् (वेगः)** एक गति, शक्ति, ताप (**तपः**) या अग्निके रूपमें निर्गत होता है जो (गति आदि) जीवन एवं अस्तित्वका आधार है। चिच्छक्ति (शक्ति, देवी, काली, प्रकृति) से उत्पन्न यह **तपस्** अपनेको अभिव्यक्त कर रहे **सत्** या **महासत्य** (महासत्यम्) की आनन्दोन्मत्त गतिसे

परिपूर्ण है। इस कारण अग्निको **ऋत्विज्**, अर्थात् सत्य (सत्यम्) से आनन्दोन्मत्त हो स्पन्दन करता हुआ, कहा गया है। इसी कारण उसे **जातवेदाः** भी कहा जाता है, अर्थात् वह जिससे उच्चतर ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि वह वेद या सत्य (सत्यम्)को अपने अन्दर धारण किए है और उसे प्रकट करता है; **तपस्** चित् (चैतन्य) की समस्त एकाग्रताका (पतञ्जलि-प्रोक्त संयमका) आधार है। चित् (चैतन्य) की अपने विषय पर एकाग्रता या **संयम (ज्ञानयोग** एवं **अध्यात्मयोग)** के द्वारा ही सत्य और वेद योगीके सम्मुख साक्षात् स्वतः-व्यक्त एवं प्रकाशित हो जाते हैं। **संयम** (एकाग्रता)के बिना कोई भी योग संभव नहीं, किसी प्रकारकी कोई भी फलप्रद क्रिया संभव नहीं। जब ब्रह्माने सृष्टि-क्रियाकी ओर अपना मन मोड़ा, तो कारणसमुद्र (**महाकारणम्** या **सद्ब्रह्मन्**) की धाराओंपर "**तपस्, तपस्**"का घोष ही सुनाई दिया। अतः **ऋत्विज्**के रूपमें योगीके लिए अग्निका अपरिमित महत्त्व हमारे सामने सुप्रकट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों वह यज्ञका पुरोहित है **(पुरोहितं यज्ञस्य)**, क्योंकि **तपस्** ही **सत्य**से पहले स्थित होता है; पहले हम इस **सत्य**पर पहुँचते हैं और उसके बाद ही 'सत्' को प्राप्त कर सकते हैं। चिच्छक्ति ही हमें सत् की ओर ले जाती है,—देवी, शक्ति या काली ही हमें ब्रह्म, वासुदेव तक पहुँचाती है, इसीलिए अग्नि जो मनमें **तपस्** के लिए उस शक्तिका एक विशेष अभिकरण है, हमारे और यज्ञके बीच एक विशेष मध्यस्थ है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यज्ञ विष्णु, वासुदेव या ब्रह्म ही है जो बुद्धिके स्तरपर सच्चिदानन्द या परार्द्धमें स्थित है। औसत मनुष्य अभी जहाँ तक पहुँचा है वह बस अग्नि द्वारा यज्ञ-रूप विष्णु की प्राप्ति ही है। यही कारण है कि अग्नि ऋषियोंके लिए इतना महान् देव था। निरे यज्ञकर्त्ताओं और कर्मकाण्डियोंके लिए तो वह केवल इस रूपमें महान् था कि वह उनके समस्त क्रियाकलापके लिए अनिवार्य आगका देवता है, पर योगीके लिए उसका महत्त्व कहीं अधिक महान् है, उतना महान् जितना प्रकाशके अधिपति **सूर्य** और अमृतके अधिपति **सोम**का। वेदमें जिन प्रणालियोंपर प्रकाश डाला गया है और जिनमें वह सहायता भी पहुँचाता है उनके अत्यन्त अनिवार्य सहायकों में अग्नि भी एक था।

होतारम्

यह एक और शब्द है जिसका वेदमें अधिक महत्त्व है। वेदकी सभी उपलब्ध व्याख्याओंमें **"होता"**का अर्थ 'आहुति देने वाला पुरोहित' किया जाता है, **"हविः"**का अर्थ 'आहुति' और 'हु' का 'आहुति डालना'। इन शब्दोंके अर्थोंके विषयमें यह विचार, जो वेदके सभी महत्त्वपूर्ण शब्दोंके साथ जोड़े गए याज्ञिक अर्थोंके कई सहस्राब्दियों तक प्रभुत्व रहनेके कारण उत्पन्न हुआ है, इतना रूढ़ हो चुका है कि इनका कोई दूसरा अर्थ असम्भव ही समझा जायगा। पर मूल वेदमें 'होता'का अर्थ 'यज्ञका पुरोहित' नहीं था नाहीं **हविः**का अर्थ 'आहुति'। अग्निको रूपकालंकारके द्वारा यज्ञका पुरोहित कहा जा सकता है यद्यपि इस अलंकारमें कोई बहुत अधिक संस्कृतानुरूप यथार्थता नहीं होगी, पर किसी भी तरह वह 'आहुति डालनेवाला' नहीं हो सकता। वह हविका भक्षण करता है, हवि देता या डालता नहीं। अतएव **'होता'**का कोई अन्य अर्थ अवश्य होना चाहिए जो तथ्य और साधारण बुद्धिका उल्लंघन किए बिना अग्निके लिए प्रयुक्त हो सके।

'हा' और 'हि' धातुओंके समान 'ह' धातु भी 'ह्' व्यंजनपर आधारित है, जिसके मूल गुण (अर्थ) हैं—उग्रता, प्रचण्ड क्रिया, तीव्रता, जोर-जोरसे श्वास लेना, और अतः ललकारना, आह्वान आदि। 'ह', 'हा' और 'हि' के समान इस धातु 'हु'का भी अर्थ, मूलरूपमें, प्रहार करना या पटक देना, आक्रमण करना, वध करना था, 'उ' स्वरने इन अर्थोंमें व्यापकताका भाव जोड़ दिया जो इसमें सहज ही युद्धका विचार ले आया। अतएव हम देखते हैं कि इस धातुका अर्थ था आक्रमण करना, युद्ध करना जैसे कि **'आहवः'** (युद्ध) में; बुलाना, चिल्लाना, आह्वान देना, जैसे कि 'ह्वे' (मूलतः 'हवे') इत्यादि में; फेंकना, उखाड़ फेंकना, नष्ट करना, निक्षिप्त करना, डालना, आहुति देना। इस अन्तिम अभिप्रायसे ही इसका अधिक आधुनिक अर्थ निकला। धातुका अर्थ बदलकर युद्धसे यज्ञ हो जानेका समानान्तर दृष्टान्त है यूनानी शब्द mache 'माखे' (युद्ध) जो निश्चय ही संस्कृतका यज्ञवाची 'मखः' शब्द ही है। यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन आर्योंके लिए योगका अभिप्राय था देवों और दैत्योंके बीच युद्ध, देव योद्धा होते थे जो मनुष्यके लिए दैत्योंसे लड़ते थे और योगकी क्रिया या उसके प्रभावशाली अभ्यासोंसे बलवान् और विजयी बनते थे। दैत्य थे दस्यु या यज्ञ और योगके शत्रु। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जायगी। जीवन एवं योगके विषयमें (योग जीवनका उदात्तीकरण ही है) यह दृष्टि कि वह देवों और दैत्योंके बीच एक संघर्ष है वेद, पुराण एवं तन्त्रके और

हिन्दुधर्मकी प्रत्येक क्रियात्मक प्रणालीके अत्यन्त आधारभूत विचारोंमेंसे एक है। अग्नि सर्वोत्कृष्ट योद्धा है जिससे दैत्योंको डरना ही होगा क्योंकि वह एक ऐसे **अहैतुक तपस्**से परिपूर्ण है जिसके विरुद्ध कोई बुरी शक्ति विजयी नहीं हो सकती यदि यजमान या योगी उसे ठीक प्रकारसे प्रयोगमें लाए और प्रश्रय दे। **अहैतुक तपस्** उन सभी शक्तियोंको नष्ट कर डालता है। वह एक अति प्रबल, प्रभावक्षम और युद्धशील शक्ति है जिसे यदि एक बार अपने अन्दर पुकार लाया जाय तो वह हमें पूर्ण सिद्धिके लिए और अपनी प्रकृति एवं अपनी परिस्थितियोंपर एक लगभग सर्वशक्तिशाली प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिए तैयार कर देती है। जब तपस् अशुद्ध, अपवित्र होता है तब भी वह **'तमस्'**-रूपी शत्रुसे युद्ध करता है, और जब वह शुद्ध होता है, अग्निकी साक्षात् क्रिया होता है तो वह **वीर्य** लाता है, **ज्ञान** लाता है, **आनन्द** लाता है और लाता है **मुक्ति**। अतएव **'होतारम्'**का अर्थ है योद्धा, दैत्योंका संहारक, **जातवेदस् अग्नि; हविस्** और **हवम्**का अर्थ है युद्ध या प्रचण्ड क्रियामें निरत बल, ये 'हु' (युद्ध करना) धातुसे बने हैं।

रत्नधातमम्

यह 'रत्नधा' शब्दका अतिशयबोधक (आतिशायनिक) रूप है, 'रत्नधा' का अर्थ है हर्षप्रद, आनन्दका विधाता। हमारे सामने 'रत्' धातु है जो प्राथमिक धातु 'र'से निकलता है। 'र', 'रि', 'रु' ये तीन धातु स्वयं अपने मूल 'र'के प्रभेद हैं जिसका तात्त्विक अर्थ है सतत सकम्प स्पन्दन। 'र'का तात्त्विक अर्थ है स्पन्दित होना, हिलना, सब ओर कांपना; 'अ' स्वर, तात्त्विक रूपसे, निरपेक्षता एवं विशालता तथा सीमारहितता का भाव सूचित करता है जब कि इसके विपरीत 'इ' स्वर संबन्धका तथा एक नियत बिन्दुकी ओर दिशा-दानका भाव बतलाता है। इस मूल भावसे 'क्रीड़ा करना' और चमकना ये तज्जन्य अर्थ निकलते हैं; जैसे कि **रत्नम्, रत्न** (मणि), **रतिः, रम्, रञ्ज्, रजतम्** (चांदी), **रजः** (धूलि), **रजनी, रात्रि** (रात) इत्यादिमें देखनेमें आते हैं। 'क्रीड़ा करना' इस पहले अर्थसे ये भाव निकलते हैं—प्रसन्न या आनन्दित करना, प्रेम करना, आराधना करना इत्यादि, जैसे **रामा, रामः, राध्, रज्, रजः** (रजोगुण) इत्यादि में हैं। 'रत्' धातुसे बने 'रत्न' शब्दके प्राचीन संस्कृतमें दो अर्थ-समूह थे, आनन्द, सुख, क्रीड़ा, मैथुन संसर्ग, आनन्दकी वस्तु, गृहिणी इत्यादि; और प्रभा, ज्योति, द्युति, दीप्ति, भास्वर वस्तु, रत्न—जो आधुनिक अर्थ है। प्रथम दृष्टिमें ऐसा प्रतीत होगा कि द्युति, दीप्तिका अर्थ 'अग्नि'के लिए अधिक उपयुक्त है, और यह मनका

अन्धकार मिटानेवाले योद्धापर भी ठीक घटेगा, पर सूक्तका केन्द्रीय विचार प्रकाश-का-अधिपति-रूप **अग्नि** नहीं,—वह तो **सूर्य** है,—बल्कि शक्ति (तपस्)का अधिपति-रूप **अग्नि** है, जो वह उद्गम है जिसमेंसे आनन्द उद्भूत होता है। परार्द्धके तीन तत्त्व हैं सत्, चित् और आनन्द। सत्में चित् रहती है और उसीसे उद्भूत भी होती है। उद्भूत होते ही वह **चिच्छक्ति**-रूप तपःशक्तिको उत्पन्न करती है, जो सम्पूर्ण विश्वमें क्रीड़ा करती है, यह क्रीड़ा **(रत्न)** है चित्में आनन्द और यह चित्से उद्भूत होता है। अतएव समस्त **तपस्** आनन्द उत्पन्न करता है, और शुद्ध **सहैतुक तपस्** शुद्ध सहैतुक आनन्द उत्पन्न करता है। वह आनन्द विश्वव्यापी एवं स्वयं-सत् है और, अपने स्वभावसे ही, दुःखके किसी प्रकारके भी मिश्रण से कलुषित नहीं हो सकता। अतएव वह सर्वाधिक सुनिश्चित, विशाल और तीव्र है। इसी कारण अग्नि अत्यन्त हर्षदायक और आनन्दका महान् विधायक है। 'धा' धातुका अर्थ है स्थापित करना, उत्पन्न करना, देना, विधान या व्यवस्था करना; इस मन्त्रमें 'धा' प्राचीन आर्यभाषाका एक संज्ञावाची शब्द है जो 'कर्तृ'कारकका अर्थ प्रकट करता है और बहुधा विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होता है।

मधुच्छन्दा की ऋचाएँ

ऋ. 1. 1. 1-5

अनुवाद और टिप्पणियाँ

अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

ऋचा १—**ईळे**, ईड्—स्तुति करना, याज्ञिक अर्थमें। किन्तु 'ईड्'के अङ्गभूत धातु 'ई' का अर्थ है खोजना, किसी वस्तु की ओर जाना, प्राप्त करना, कामना करना, उपासना करना, प्रार्थना या याचना करना (द्रष्टव्य—**स मातरमन्नमंट्ट**)। इनमें से पहले कुछ अर्थ लुप्त हो गए हैं और केवल "कामना करना", "प्रार्थना या याचना करना", ये अर्थ ही पीछेकी संस्कृतमें बच रहे हैं। पर दूसरे अर्थ भी अवश्य रहे होंगे, क्योंकि इच्छा करने एवं याचना करनेका भाव किसी भी धातुका प्राथमिक अर्थ कभी नहीं होता, बल्कि वह "जाना, खोजना, पहुँचना" इन स्थूल अर्थोंसे लाक्षणिक रूपमें निकला अर्थ होता है। अतः हम 'ईडे'का अर्थ या तो "खोज करता हूँ", "कामना करता हूँ", "उपासना करता हूँ" ऐसा कर सकते हैं या फिर "प्रार्थना करता हूँ"।

पुरोहितम्। सायण—"पुरोहित", या फिर "आहवनीय अग्निके रूपमें यज्ञमें सम्मुख रखा हुआ अग्नि"। वेदोक्त पुरोहित यज्ञमें एक प्रतिनिधिरूप शक्ति है जो चेतना और कर्मके सम्मुख स्थित रहकर यज्ञका परिचालन करती है। "सम्मुख रखने"का जो विचार सूक्तोंमें इतने सामान्य रूपसे पाया जाता है उसका सदा यही भाव होता है। साधारणतया यह स्थान यज्ञके नेता अग्निका होता है।

देवम्। सायण—**दानादिगुणयुक्तम्,** दान आदि गुणोंसे युक्त। 'देव' शब्दके साथ सायणका व्यवहार विचित्र है। कभी-कभी वे इसका अर्थ केवल "देवता" करते हैं, कभी वे इसे धात्वर्थके अनुसार दान, देवन (प्रकाशित होना) आदि कुछ अर्थ प्रदान करते हैं, किन्हीं और स्थलोंमें वे इसका अर्थ

---

1. पुरानी रचनाओंसे।

'पुरोहित' करते हैं। वेदमें ऐसा एक भी स्थल नहीं जहाँ इसका साधारण अर्थ "देवता", "दिव्य सत्ता" एक स्पष्ट, पर्याप्त और सर्वोत्तम भाव न प्रदान करता हो। निःसन्देह, वैदिक कवियोंने इसका धात्वनुसारी अर्थ कभी दृष्टिसे ओझल नहीं किया : देव दीप्यमान सत्ताएँ हैं, प्रकाशके अधिपति हैं, जैसे कि दस्यु अन्धकारमय या काली सत्ताएँ हैं, अन्धकार के पुत्र हैं।

ऋत्विजम्। इसका बाह्य या कर्मकाण्डीय अर्थ है "वह जो ठीक ऋतुमें यज्ञ करता है।" किन्तु, जैसा कि हम देखेंगे, वेदमें 'ऋतु'का अर्थ है सत्यका विधान, उसका व्यवस्थित नियम, काल एवं परिस्थिति। अग्नि वह प्रतिनिधिरूप पुरोहित है जो 'ऋत' के नियम, विधान तथा कालके अनुसार यज्ञ करता है।

होतारम्। सायण—"क्योंकि वह मन्त्रका उच्चारण करता है" और इस अर्थ की पुष्टिमें वे यह उद्धरण देते हैं 'अहं होता स्तौमि' (मैं 'होता' स्तुति करता हूँ), परन्तु कभी-कभी वे इसका अर्थ करते हैं 'आह्वाता' (आह्वान करनेवाला) और कभी 'होमनिष्पादकः' (यज्ञका निष्पादन करनेवाला) और किन्हीं स्थलोंमें वे हमारे सामने दो विकल्प रख देते हैं। निःसन्देह, 'होता' हविसे संबद्ध पुरोहित है जो हवि देता है; यह शब्द 'हु आहुति देना' धातुसे बना है न कि 'हू (ह्वे) बुलाना' इस धातुसे। सूक्त हविका सहचारी तत्त्व होता था, अतः आह्वान या स्तवन भी 'होता'के हिस्से में पड़ सकता था; किन्तु ऋग्वेदकी प्रणालीमें मन्त्रपाठीका वास्तविक नाम है ब्रह्मा। अग्नि होता (होतृ) है और बृहस्पति ब्रह्मा।

रत्नधातमम्। सायण—**यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा** अर्थात् यज्ञके फलरूप रत्नोंके अत्यधिक धारक या पोषक। 'धा' धातुका अर्थ है धारण और पोषण करना (तुलनीय, धात्री अर्थात् दाई)। किन्तु अन्य स्थलोंमें सायण रत्नका अर्थ 'रमणीयं धनम्', 'रमणीय धन' करते हैं। इससे पता चलता है इसका शाब्दिक अर्थ उन्होंने "आनन्ददायक" माना और फिर इसका अर्थ बना डाला 'धन', जैसे वे द्युम्नका शाब्दिक अर्थ करते हैं चमकीला और फिर इसका अनुवाद कर डालते हैं "धन"। हमें उनका अनुसरण करनेकी आवश्यकता नहीं। 'रत्नम्' का अर्थ है आनन्द (तुलनीय, रम्—रतिः, रण्—रण्व, राध्, रञ्ज् इत्यादि), जिस प्रकार 'द्युम्नम्'का अर्थ है "प्रकाश"। धा का अर्थ है धारण करना या फिर स्थापित करना।

अनुवाद :

याज्ञिक

मैं यज्ञके पुरोहित अग्निकी[1] स्तुति करता हूँ, देव[2], ऋत्विक्, अत्यधिक धनको धारण करनेवाले होता की।

आध्यात्मिक

मैं भगवत्सङ्कल्प-रूप अग्निको प्राप्त करनेकी अभीप्सा करता हूँ, उस पुरोहितको जो हमारे यज्ञके अग्रणीके रूपमें स्थापित है, दिव्य होताको जो सत्य के नियम-क्रमके अनुसार यज्ञ करता है और आनन्दका पूर्णतया विधान करता है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥2॥

ऋचा 2—**ऋषिः**, यह शब्द 'ऋष्' गति करना धातुसे बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है "खोज या अभीप्सा करनेवाला, प्राप्त करनेवाला", अतएव "जाननेवाला" भी। **इह देवान्**—मर्त्य जीवन और मर्त्य सत्ताके अन्दर दिव्य शक्तियोंको। **वक्षति**=**वह्**+**स**+**ति**। ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द में 'स' प्रत्ययका अर्थ या तो 'पुनः-पुनः', 'निरन्तर' रहा है, "वह निरन्तर या नित्य नियमसे वहन करता है", या फिर इसका अर्थ रहा है "अतिशय", वह पूर्णतया वहन करता है, अथवा इच्छा-कामना, "वह वहन करनेकी इच्छा करता या इरादा रखता है।" इस पिछले अर्थके कारण 'स' प्रत्ययका प्रयोग भविष्यकालके लिए भी होता है। तुलनीय, नी—नेष्यामि, ग्रीक—ल्युओ (luo, I loose, मैं ढीला छोड़ता हूँ), luso—ल्युसो, मैं ढीला छोड़ूँगा, और अंग्रेजीका प्रयोग 'I will go' भी तुलनीय है, जहाँ इच्छार्थक "will" (इच्छा करना, इरादा रखना) शब्द साधारण भविष्यका वाचक हो गया है।

अनुवाद :

भगवत्सङ्कल्पाग्नि जैसे प्राचीन ऋषियोंके लिए वैसे ही नयोंके लिए भी स्पृहणीय है, क्योंकि वही यहाँ देवोंको लाता है।

---

1. या, अग्निकी जिसे सामने रखा हुआ है।
2. या, दानशील।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ।।3।।

ऋचा 3—**अश्नवत्**। सायण—प्राप्नोति। परन्तु 'अश्' धातुका यह विशेष रूप एक प्रकारका अर्द्ध-आज्ञार्थक भाव प्रदान करता है अथवा कार्यके नियम या घटनाके विधानका भाव द्योतित करता है। अतः इसका भावार्थ है "वह अवश्य प्राप्त करेगा।" 'अश्' धातुके अर्थ हैं—उपलब्ध होना, रखना, प्राप्त करना, उपभोग करना। ग्रीक—एखो (echo) = I have, मैं रखता हूँ।

यशसम्। सायण—**दानादिना यशोयुक्तम्**, दान आदिके कारण यशसे युक्त, अतएव "प्रसिद्ध"; किन्तु "प्रसिद्ध और मनुष्योंसे अतिशय पूर्ण धन"—कहनेका यह ढंग अनर्गल प्रतीत होता है। 'यश्' धातुका शाब्दिक अर्थ है—गति करना, प्रयास करना, प्राप्त करना। यहाँ यशस् का अर्थ है—सफलता, यश। 'यश्' धातुके एक और अर्थ "चमकना"से 'यशस्'का अर्थ "दीप्ति" भी है। 'यश्' धातु अपने अर्थमें 'या', 'यत्', 'यस्' धातुओंसे संबद्ध है। वेदमें हमें 'रयि' (धन या आनन्द) का वर्णन प्रायः "विस्तारशील, व्यापक, मार्गकी बाधाओंको चूर-चूर कर देनेवाला" इन शब्दोंमें किया गया मिलता है। अतः 'यशसं रयिम्'का अर्थ "सफलता प्राप्त करनेवाला आनन्द" या "विजय-शील ऐश्वर्य" ऐसा करना अनुपयुक्त नहीं, न इसमें कोई जोर-जबरदस्ती ही है।

वीरवत्तमम्। सायण—**अतिशयेन पुत्रभृत्यादि-वीरपुरुषोपेतम्**, पुत्र, भृत्य आदि वीर पुरुषोंसे अतिशय युक्त। 'वीर' शब्दको 'पुत्र'के अर्थ में लेना, जैसा कि सायण करते हैं, नितान्त अयुक्तियुक्त है। इसका अर्थ है "मनुष्य, वीर पुरुष, नानाविध बल-सामर्थ्य" और प्रायः ही यह 'नृ' शब्दके समानार्थकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। 'नृ' शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें भृत्योंके लिए कभी नहीं हुआ।

रयिम्। यह शब्द दो प्रकारका है। एक 'रयि' शब्द 'रि गति करना' धातुसे बनता है और दूसरा 'रि प्राप्त करना, आनन्द लेना' इस धातुसे। इनमेंसे पिछलेका अर्थ है "आनन्दोपभोग" या "उपभोगकी गई वस्तुएँ", "आनन्द, समृद्धि, ऐश्वर्य"। पहले अर्थमें 'रयि' शब्द उपनिषद्में मिलता है जहाँ 'रयि' (गति या जड़प्रकृति)को 'प्राण'के विपरीत तत्त्वके रूपमें प्रस्तुत किया गया है।

अनुवाद :

याज्ञिक

अग्निके द्वारा मनुष्य धन प्राप्त करता है जो प्रतिदिन बढ़ता है, जो प्रसिद्ध और मनुष्योंसे अत्यधिक पूर्ण होता है।

आध्यात्मिक

भगवत्सङ्कल्पके द्वारा व्यक्ति एक ऐसे आनन्दका उपभोग करेगा जो प्रतिदिन बढ़ता जायगा और जो विजयशील तथा वीरशक्तियोंसे अतिशय पूर्ण होगा।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद् देवेषु गच्छति ॥4॥

ऋचा 4—**अध्वरम्**। सायण—**हिंसारहितम्,** क्योंकि वह राक्षसोंके द्वारा नष्ट नहीं किया जाता, निषेधार्थक अ+ध्वर ('ध्वृ' हिंसा करना)। किन्तु 'अध्वर' शब्द अकेला यज्ञके अर्थमें प्रयुक्त किया जाता है और यह बिल्कुल असंभव है कि "हिंसारहित" अर्थवाला शब्द अकेला प्रयोग किया हुआ यज्ञ का वाचक बन गया हो। इसे यज्ञके किसी मूलभूत गुणको अवश्य प्रकट करना चाहिए, नहीं तो यह इस प्रकार अकेला ही यज्ञके अर्थमें प्रयुक्त नहीं हो सकता था। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जब इस मन्त्रकी भाँति वर्णनीय विषय यह होता है कि यज्ञ अपने पथ पर देवोंकी ओर यात्रा या गति करता है तब 'अध्वर' शब्द यज्ञके लिए बराबर ही प्रयुक्त होता है। अतएव मैं 'अध्वर'को 'अध्' गति करना, इस धातुसे बना हुआ मानता हूँ और इसे मार्गवाचक 'अध्वन्' शब्दसे संबद्ध समझता हूँ। इसका अर्थ है गति या यात्रा करनेवाला यज्ञ, जो आत्मा या उसकी भेंटोंकी देवोंकी ओर तीर्थयात्रा समझा जाता है।

अनुवाद :

याज्ञिक

हे अग्नि, वह अक्षत (अहिंसित) यज्ञ जिसे तुम सब ओरसे घेरे रहते हो—वही देवोंकी ओर जाता है।

आध्यात्मिक

हे भगवत्सङ्कल्पाग्ने! पथ पर यात्रा करनेवाले जिस भी यज्ञको तुम अपनी सत्तासे सब ओरसे व्यापे रहते हो वही निःसन्देह देवों तक पहुंचता है।

अग्नि र्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत् ॥5॥

ऋचा 5—**कविक्रतुः**। सायणने यहाँ 'कवि' शब्दको 'क्रान्त'के अर्थमें लिया है और 'क्रतु'को ज्ञान या कर्मके अर्थमें। तब इसका अर्थ होता है वह पुरोहित ('होता') जिसका कर्म या ज्ञान गति करता है। परन्तु 'कवि' शब्दको उसके स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय अर्थसे भिन्न किसी अर्थमें लेनेका तनिक भी कारण नहीं। 'कवि'का अर्थ है द्रष्टा, जिसे दिव्य या अतिमानसिक ज्ञान हो। 'क्रतु' शब्द 'कृ' धातुसे या, अधिक ठीक रूपमें, एक प्राचीन धातु 'क्र'से बना है जिसके अर्थ हैं विभक्त करना, बनाना, रूप देना, कार्य करना। "विभक्त करना" इस अर्थसे 'विवेकशील मन', सायणके अनुसार 'प्रज्ञा' अर्थ निकलता है; तुलनीय ग्रीक क्रिटोस अर्थात् न्यायाधीश इत्यादि, और तमिलके 'करुथि' शब्दका, जिसका अर्थ मन है, आशय भी यही है। किन्तु 'करना' इस अर्थसे 'क्रतु' शब्दका अभिप्राय होता है (1) कर्म (2) कर्मकी शक्ति, सामर्थ्य, तुलनीय ग्रीक क्रटोस, सामर्थ्य (3) मनका संकल्प या उसकी कार्यशक्ति। इस अन्तिम अर्थके लिए ईशोपनिषद्के 'क्रतो कृतं स्मर' इस वाक्यसे तुलना करो जिसमें 'क्रतो कृतम्' इन शब्दोंका सह-विन्यास यह दर्शाता है कि यहाँ मनकी वह शक्ति अभिप्रेत है जो कर्म या कार्यका परिचालन या निर्देशन करती है। अग्नि भागवत द्रष्टृ-संकल्प है जो पूर्ण अतिमानसिक ज्ञानके साथ कार्य करता है।

सत्यः। इसपर सायणकी व्याख्या है "अपने फलोंमें सच्चा"। परन्तु "द्रष्टृ-संकल्प" और "अन्तःश्रुत ज्ञान (श्रवः)" इन शब्दोंका सह-विन्यास, अधिक सही रूपमें, "अपनी सत्तामें सच्चा" और अतएव "ज्ञान (श्रवः)में एवं संकल्प (क्रतु)में सच्चा" इस अर्थको ही सूचित करता है। **श्रवः** है अतिमानसिक ज्ञान जिसे **"ऋतम्"** कहते हैं और जो उपनिषदोंमें 'विज्ञान'के नाम से वर्णित है। 'कविक्रतुः'का अर्थ है उस ज्ञानसे परिपूर्ण संकल्पसे अर्थात् विज्ञानमय संकल्प या दिव्य 'ज्ञान'से सम्पन्न। 'सत्यः'का अर्थ है "अपने सारतत्त्वमें विज्ञानमय"।

चित्रश्रवस्तमः। सायण—'अत्यन्त विविध प्रकारके यशसे युक्त',—यह देवताके लिए एक नीरस और निरर्थक विशेषण है। 'श्रवः' शब्द 'श्रुति'की तरह अन्तःप्रेरित सूक्तको द्योतित करनेके लिए प्रयुक्त होता है; अतः अवश्य ही इसे 'अन्तःप्रेरित ज्ञान' इस अर्थको देनेमें समर्थ होना चाहिए। अतिमानसिक ज्ञान दो प्रकारका होता है, दृष्टि और श्रुति, अर्थात् सत्यका साक्षात्कार और अन्तःश्रवण। किन्तु 'श्रवः' शब्द सामान्यतया अतिमानसिक क्षमताओंके द्वारा प्राप्त ज्ञानको सूचित करनेके लिए प्रयुक्त होता है।

अनुवाद :

याज्ञिक

अग्नि जो पुरोहित है, जो ज्ञान (या कर्म)को गतिशील करता है, अपने फलमें सच्चा है, अत्यन्त विविध यशसे युक्त है, वह देवता देवताओंके साथ आये।

आध्यात्मिक

भगवत्सङ्कल्पाग्नि जो हमारी हविका वाहक पुरोहित है, अपनी सत्तामें सच्चा और द्रष्टाके संकल्पसे युक्त है, अन्तःप्रेरित ज्ञानकी समृद्धतम विविधतासे संपन्न है,—ऐसा वह देव दिव्य शक्तियोंके साथ हमारे पास आये।

III

वामदेव के अग्नि-सूक्त

भूमिका

ऋग्वेदकी व्याख्या संभवतः सबसे कठिन और विवादास्पद प्रश्न है जिसके साथ आजके विद्वानोंको निपटना है। यह कठिनाई एवं विवाद वर्तमान समीक्षाकी उपज नहीं; यह अत्यन्त प्राचीन युगसे विभिन्न रूपोंमें विद्यमान रहा है। इस अनिश्चितताका कारण क्या है? निःसन्देह कुछ अंश में इसका कारण यह है कि वेद की भाषा इतने पुराने ढंगकी है कि इसके अनेक शब्द तभी लुप्त हो चुके थे जब प्राचीन भारतीय विद्वानोंने वेद-विषयक परम्परागत ज्ञानको व्यवस्थित करनेका यत्न किया और विशेषकर यह कि संस्कृतके पुराने शब्दोंके अनेकों विभिन्न अर्थ हो सकते हैं। परन्तु एक और कठिनाई एवं समस्या भी है जो अधिक महत्त्वपूर्ण है। वेदके सूक्त रूपकों और प्रतीकोंसे भरे पड़े हैं, —इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता, —और प्रश्न यह है कि ये प्रतीक किस वस्तुको द्योतित करते हैं, इनका धार्मिक या अन्य अर्थ क्या है? क्या ये केवल गाथात्मक रूपक हैं जिनके पीछे कोई गहरा अर्थ नहीं? क्या ये पुरानी प्रकृति-पूजाके काव्यमय रूपक हैं जो पौराणिक, ज्यौतिषिक और प्रकृतिवादीय हैं या भौतिक दृग्विषयोंके एक ऐसे कार्यके प्रतीक हैं जिसे देवताओंका कार्य कहकर वर्णित किया जाता है? अथवा इनका कोई अन्य अधिक गुप्त अर्थ है? यदि यह प्रश्न किसी असंदिग्ध निश्चितताके साथ हल किया जा सके तो भाषाकी कठिनाई कोई बड़ी बाधा नहीं होगी; कुछ सूक्त और मन्त्र अस्पष्ट रह सकते हैं किन्तु प्राचीन सूक्तोंका सामान्य अभिप्राय, तात्पर्य और आशय स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु वेदकी अनूठी विशेषता यह है कि इनमेंसे कोई भी समाधान—कम-से-कम, जिस रूपमें अब तक इन्हें व्यवहारमें लाया गया है उस रूपमें, —स्थिर और सन्तोषजनक परिणाम नहीं देता। सूक्त अव्यवस्थित, बेतुके और असम्बद्ध ही रहते हैं, और विद्वानोंको इस निर्मूल कल्पनाकी शरण लेनी पड़ती है कि यह असम्बद्धता मूलग्रन्थका जन्मजात स्वभाव है और यह इसके केन्द्रीय अर्थके सम्बन्धमें उनके अज्ञानसे उत्पन्न

नहीं होती। परन्तु जब तक हम इस विचार-बिन्दुसे आगे नहीं जा सकते तब तक सन्देह और विवाद बने ही रहेंगे।

कुछ वर्ष हुए मैंने एक लेखमाला[1] लिखी थी जिसमें मैंने वेद के स्वरूप के अस्पष्ट होनेका कारण सुझाया था। मेरा सुझाव इस केन्द्रीय विचारपर अवलम्बित था कि ये सूक्त धार्मिक संस्कृतिकी एक ऐसी अवस्थामें लिखे गए थे जो यूनान तथा अन्य प्राचीन देशोंके एक ऐसे ही कालके अनुरूप थी। मेरा कथन यह नहीं है कि ये समकालीन थे या पूजापद्धति और विचारमें अभिन्न थे। किन्तु जिस काल या अवस्थामें ये लिखे गए थे उसमें प्रचलित धर्मका रूप द्विविध था, जनसाधारणके लिए, संसारी मनुष्योंके लिए तो इसका रूप बाह्य था और दीक्षितोंके लिए आन्तरिक, यह काल गुह्य विद्याओंका प्रारम्भिक काल था। वैदिक ऋषि गुह्यवेत्ता थे जो अपना अन्तर्ज्ञान दीक्षितोंके लिए ही सुरक्षित रखते थे; जनसाधारणसे वे उसे कुछ ऐसे संकेतोंकी वर्णमालाके प्रयोगके द्वारा छुपाए रखते थे जो दीक्षाके बिना सहज-तया समझमें नहीं आते थे पर जब एक बार चिह्न पता लग जाता तो वे पूर्णतया स्पष्ट और सुव्यवस्थित लगते थे। ये प्रतीक यज्ञके विचार और रूपोंके चारों ओर केन्द्रित थे; क्योंकि यज्ञ प्रचलित पूजापद्धतिकी सार्वभौम और केन्द्रीय संस्था था। सूक्त इस यज्ञ-संस्था को केन्द्र बनाकर लिखे गए थे और जनसाधारण इन्हें प्रकृतिके देवों, **इन्द्र, अग्नि, सूर्य-सविता, वरुण, मित्र** और **भग, अश्विनौ, ऋभु, मरुत्, रुद्र, विष्णु, सरस्वती**की स्तुतिमें लिखे गए ऐसे यज्ञ-स्तोत्र समझते थे जिनका उद्देश्य यज्ञके द्वारा देवताओंको इस बातके लिए प्रेरित करना था कि वे अपने उपहार—गाय, घोड़े, सोना तथा चरवाहा-जातिके और प्रकारके धन, शत्रुओंपर विजय, यात्रामें सुरक्षा, पुत्र, नौकर-चाकर, ऐश्वर्य और प्रत्येक प्रकारका सांसारिक सौभाग्य हमें प्रदान करें। किन्तु आदिम और जड़वादीय प्रकृतिवादके इस पर्देके पीछे एक और गुप्त पूजा-पद्धति भी छुपी थी। जब एक बार हम वैदिक प्रतीकोंके अर्थमें पैठ जाते तो वह पद्धति स्वयं प्रकट हो जाती थी। यदि प्रतीकोंका अर्थ एक बार पकड़में आ जाए और ठीक-ठीक पढ़ लिया जाय तो संपूर्ण ऋग्वेद स्पष्ट, तर्कसंगत, सूक्ष्मताके साथ बनी हुई किन्तु फिर भी सीधी-सादी सुन्दर रचना बन जायगा।

---

1. लेखमालासे यहाँ 'वेद-रहस्य (पूर्वार्द्ध)' के पहले तेईस अध्याय अभिप्रेत हैं जो पहले-पहल Arya (आर्य) में अगस्त 1914 से जुलाई 1916 तक धारावाहिक लेखमालाके रूपमें प्रकाशित हुए थे।—अनुवादक

मेरे सिद्धान्तके अनुसार इन गुह्य परिभाषाओंमें बाह्य यज्ञ आत्मदान और देवताओंके साथ अन्तःसम्पर्कके आन्तरिक यज्ञको सूचित करता है। ये देवता बाहरी तौरपर भौतिक प्रकृतिकी शक्तियाँ हैं और आन्तरिक तौरपर चैत्य प्रकृतिकी। इस प्रकार अग्नि बाहरी तौरपर अग्निरूपी भौतिक तत्त्व है, पर आन्तरिक तौरपर वह भगवन्मुखी चैत्य ज्वाला किंवा शक्ति, संकल्प एवं तपस्का अधिष्ठातृदेव है। सूर्य बाह्यतः सौर प्रकाश है, अन्तरतः प्रकाशप्रद सत्योद्भासक ज्ञानका देवता है, सोम बाह्यतः चन्द्रमा और सोम-मधु या अमृतमय सोम-वनस्पति है, अन्तरतः आध्यात्मिक हर्षोल्लास, आनन्द का देवता है। इस आन्तरिक वैदिक उपासना-विधिका प्रधान चैत्य विचार सत्य, दिव्य नियम और बृहत् सत्ताका, **सत्यम्, ऋतम्, बृहत्**का विचार था। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक भौतिक, प्राणिक, मानसिक सत्ताके प्रतीक थे, पर यह **सत्य** एक महत्तर द्युलोकमें, त्रिविध अनन्तताके उस आधारमें प्रतिष्ठित था जिसका वैदिक ऋचाओंमें वस्तुतः ही प्रकट रूपसे उल्लेख किया गया है। और अतएव इस सत्यसे एक आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक प्रकाशकी अवस्था अभिप्रेत थी। पृथ्वी और अन्तरिक्षके परे स्वर् या सूर्यलोक तक पहुँचना अर्थात् इस प्रकाशके स्थान, देवोंके घर, सत्यके आधार और धाम तक पहुँचना प्राचीन पितरोंकी, **पूर्वे पितरः**, और वैदिक धर्मके प्रतिष्ठापक सात अंगिरस् ऋषियोंकी उपलब्धि थी। सौर देवता, अनन्तताके पुत्र, आदित्य **सत्यमें** उत्पन्न हुए थे और सत्य ही उनका घर था। पर वे नीचेके स्तरोंमें अवतरित हुए और प्रत्येक स्तरमें उनके अपने उपयुक्त व्यापार थे, उनकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक वैश्व गतियाँ थीं। वे मनुष्यके अन्दर **सत्य**के संरक्षक और संवर्धक थे और **सत्य**के द्वारा, **ऋतस्य पन्थाः**, उसे आनन्द और अमृतत्वकी ओर ले जाते थे। मनुष्यके अन्दर उनका आह्वान करना और उन्हें बढ़ाना होता था, उनकी क्रियाको उसके अन्दर गठित करना, उन्हें उसके अन्दर लाना या उत्पन्न करना होता था, **देववीति**, विस्तारित करना होता था; **देवताति**, जिससे मनुष्य उनकी विश्वमयतामें उनके साथ एक हो जाय, **वैश्वदेव्य**।

यज्ञका निरूपण एक साथ ही आत्मदान और पूजा, युद्ध और यात्राके रूपमें किया जाता था। यह एक युद्धका केन्द्र था जिसमें एक पक्षमें तो होते थे देवता जिनकी सहायता आर्य लोग करते थे और विरोधी पक्षमें होते थे दानव या विनाशक, दस्यु, वृत्र, पणि, राक्षस जो आगे चलकर दैत्य और असुर कहलाने लगे, अर्थात् यह सत्य या प्रकाश की शक्तियों और असत्य, विभाजन एवं अन्धकारकी शक्तियोंके बीच युद्धका केन्द्र था। यह

एक यात्रा थी इस कारण कि यज्ञ पृथ्वीसे द्युलोक-स्थित देवोंकी ओर यात्रा करता था, पर इस कारण भी कि यह उस मार्गको तैयार करता था जिसके द्वारा स्वयं मनुष्य सत्यके धामकी यात्रा करता था। यह यात्रा जिसका दस्यु, चोर, लुटेरे, विदारक (वृक) और वृत्र विरोध करते थे स्वयं एक युद्ध थी। इस यज्ञमें आहुति-प्रदान एक अन्तर्दान था। बाह्य यज्ञकी सभी आहुतियाँ, गाय और उसका दूध, अश्व और सोम सत्यके अधिपति देवोंके प्रति आन्तरिक शक्तियों और अनुभूतियोंके समर्पणके प्रतीक थे। देवताओंके उपहार अर्थात् बाह्य यज्ञके फल भी आन्तरिक दिव्य उपहारोंके प्रतीक थे, गौएं दिव्य प्रकाशका प्रतीक थीं जिसे सूर्यकी गौएं (या गोयूथ) कहकर संकेतित किया जाता था, घोड़ा था सामर्थ्य और शक्तिका प्रतीक, पुत्र था अन्तःस्थ देवता या दिव्य मानवका प्रतीक जो यज्ञके द्वारा जन्म लेता था, और इसी प्रकार फलोंकी सम्पूर्ण सूची ही प्रतीकात्मक थी। यह प्रतीकात्मक दोहरापन वैदिक शब्दोंके द्विविध अर्थके कारण सुगमतया साधित हो जाता था; उदाहरणार्थ, 'गो' शब्दके गाय और किरण दोनों अर्थ हैं; उषा और सूर्यकी गौएं, द्युलोककी boes Helio (बोस हेलियो) सूर्य-देवताकी, सत्य-दर्शनके अधिपतिकी किरणें हैं, जैसे यूनानी गाथाविज्ञानमें सूर्यका देवता अपोलो काव्य और भविष्यवाणी का प्रभु भी है। घृतका अर्थ है शुद्ध किया हुआ मक्खन (घी), पर इसका अर्थ उज्ज्वल वस्तु भी है; सोमका अर्थ है सोम नामक पौधेका आसव, पर इसका अर्थ आनन्द, मधु, माधुर्य भी है। यह एक रूपकात्मक विचार है, रूपकके अन्य सब अंगोपांग इस केन्द्रीय विचारके सहायक हैं। यह प्रतीकात्मक या सांकेतिक पद्धति मुझे पूर्णतया सरल प्रतीत होती है, जो न तो अप्रासंगिक एवं दुरूह है और न प्राचीन मानव प्रजातियोंकी मानसिक स्थितिके लिए अस्वाभाविक।

किन्तु इस सिद्धान्तके विरुद्ध कुछ अनुभव-निरपेक्ष आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पाश्चात्य विद्वानोंकी ओरसे व्यक्ति इसका विरोध करनेके लिए प्रेरित हो सकता है। यह आक्षेप किया जा सकता है कि इस सब गुह्यीकरणकी आवश्यकता ही नहीं, वेदमें इसका कोई भी चिह्न नहीं, हाँ यदि हम स्वयं आदिम गाथा-विज्ञानके अन्दर इसे पढ़ना पसन्द करें तो दूसरी बात है, धर्मके या वैदिक धर्मके इतिहाससे इसका समर्थन नहीं होता। यह संस्कृतिकी एक ऐसी सूक्ष्मता है जो प्राचीन एवं बर्बर मनके लिए असम्भव थी। इनमेंसे कोई भी आक्षेप सचमुचमें ठहर नहीं सकता। मिश्र, यूनान तथा अन्य देशोंमें गुह्य रहस्य बहुत ही प्राचीन कालसे प्रतिष्ठित थे और वे ठीक इसी प्रतीकात्मक सिद्धान्तके आधार पर अग्रसर होते थे जिसके

अनुसार बाह्यगाथा, धार्मिक अनुष्ठान और पूजा-द्रव्य आन्तरिक जीवन या ज्ञानके रहस्योंके प्रतीक थे। अतः यह युक्ति नहीं दी जा सकती कि प्राचीन युगोंमें यह मानसिक स्थिति थी ही नहीं या संभव नहीं थी अथवा मिश्र और यूनानकी अपेक्षा उपनिषदोंके देश भारतमें कुछ अधिक असाध्य या असंभाव्य थी। प्राचीन धर्मका इतिहास यह अवश्य दिखाता है कि भौतिक प्रकृति-देवताओंका चैत्यशक्तियोंके प्रतिनिधियोंमें परिवर्तन हुआ, वरंच उनके भौतिक व्यापारोंमें चैत्य व्यापार आकर जुड़ गए; किन्तु कुछ दृष्टान्तोंमें भौतिक व्यापारोंने अपना स्थान कम बाह्य व्यापार (या अर्थ) को दे दिया। मैं उदाहरण दे चुका हूँ कि बादके युगोंमें हेलिओस (Helios) का स्थान अपोलोने ले लिया; ठीक इसी प्रकार वैदिक धर्ममें सूर्य निःसन्देह आन्तरिक प्रकाशका देवता बन जाता है। प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र और इसका गुह्य अर्थ इस बातको सिद्ध करनेके लिए विद्यमान हैं ही, और इसके साथ ही हैं उपनिषदोंके मन्त्र भी जिनमें उपनिषदें वैदिक ऋचाओं या वैदिक प्रतीकोंकी साक्षीका निरन्तर आश्रय लेती एवं उनकी ओर हमारा ध्यान खींचती हैं। उन ऋचाओं एवं प्रतीकोंको वे मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अर्थमें लेती हैं, उदाहरणके लिए देखिये ईश उपनिषद्के अन्तिम चार मन्त्र। हर्मिज और एथिना उच्चकोटिके गाथा-विज्ञानमें चैत्य व्यापारोंके द्योतक हैं, पर मूल रूपमें वे प्राकृतिक देवता थे, एथिना बहुत संभवतः उषा-देवी थी। मैं दावेके साथ कहता हूँ कि वेदमें उषा अपने आरम्भमें ही हमें इस परिवर्तनको दर्शाती है, सुरा-देवता डायोनिसियस रहस्योंके साथ घनिष्ठतया संबद्ध था; उसे वेदोंके सुरा-देवता सोमके सदृश ही कार्य सौंपा गया था।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह दर्शानेवाला कोई तथ्य है कि वेदमें सचमुच ही देवताओंके व्यापारोंकी ऐसी द्विविधता थी। अब, पहली बात तो यह है कि वेदोंकी तथाकथित शुद्धभौतिकवादी प्रकृति-पूजासे उपनिषदोंके असाधारण मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर यह संक्रमण कैसे संपन्न हुआ, उन उपनिषदोंके जिनकी सूक्ष्मता और उदात्तताको प्राचीन युगमें कोई नहीं लांघ सका? इसकी तीन संभव व्याख्याएं हो सकती हैं। पहली, यह आकस्मिक आध्यात्मिकता बाहरसे लाई गई हो सकती है; कुछ विद्वान् जल्दबाजीमें यह सुझाते हैं कि यह तथाकथित उच्च-आध्यात्मिक आर्येतर दाक्षिणात्य संस्कृतिसे ली गई; पर यह एक पूर्वधारणा है, एक निराधार प्राक्कल्पना है जिसके लिए कोई भी प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया गया। एक हवाई अनुमानकी भांति यह भी किसी आधार पर स्थित नहीं। दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि यह आध्यात्मिकता किसी ऐसे परिवर्तनके द्वारा,

जिसका निर्देश मैं कर चुका हूँ, अन्दरसे ही विकसित हुई, पर इसका विकास सबसे अर्वाचीन वैदिक सूक्तोंको छोड़कर अन्य सबकी रचनाके बाद ही हुआ होगा। किन्तु फिर भी इसका विकास वैदिक सूक्तोंके आधार पर ही साधित हुआ ; उपनिषदें दावा करती हैं कि वे वैदिक ज्ञानसे, वेदान्तसे ही विकसित हुई हैं, वे बारंबार वेदमन्त्रोंकी साक्षी देकर उनकी ओर ध्यान खींचती हैं, वेदको ज्ञानका ग्रन्थ मानती हैं। जिन लोगोंने वैदान्तिक ज्ञान दिया उन्हें सर्वत्र वेदकी शिक्षा देनेवालेके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। तो फिर क्यों हमें आग्रहपूर्वक यह मानना चाहिए कि यह विकास अधिकतर वैदिक मन्त्रोंकी रचनाके पश्चात् ही हुआ ? क्योंकि तीसरी संभावना यह है कि सारी भूमि वैदिक रहस्यवादियोंने पहल ही सचेतन रूपसे तैयार कर रखी थी। मैं यह नहीं कहता कि आन्तरिक वैदिक ज्ञान ब्रह्मवादसे अभिन्न था। उसकी परिभाषाएँ भिन्न थीं, उसका सारतत्त्व अत्यधिक विकसित किया गया, उसमेंसे बहुत कुछ लुप्त हो गया या त्याग दिया गया, उसमें बहुत कुछ बढ़ा दिया गया, पुराने विचारोंको छोड़ दिया गया, नई व्याख्याएं की गई, प्रतीकात्मक तत्त्व न्यूनतम कर दिया गया और उसका स्थान स्पष्ट और खुले दार्शनिक पद-समुदायों एवं विचारोंने ले लिया। निश्चय ही, वैदिक मन्त्र ब्राह्मण-ग्रन्थोंके कालमें ही अस्पष्ट और दुर्बोध्य बन चुके थे। किन्तु फिर भी आधारका काम आरम्भसे सम्पन्न हुआ हो सकता है। निःसन्देह, अन्तमें यह एक तथ्यका प्रश्न है, किन्तु इस समय मेरा दावा केवल यही है कि मेरी स्थापनामें कोई स्वतःसिद्ध असम्भवता नहीं है; वरंच मेरे सुझावके पक्षमें बहुत काफी संभाव्यता या कमसे कम एक प्रबल संभावना विद्यमान है। मैं अपनी युक्ति इस प्रकार प्रस्तुत करूंगा। पीछेके सूक्तोंमें निःसन्देह ब्रह्मवादका आरम्भ विद्यमान है; इसका आरंभ कैसे हुआ, क्या प्राचीनतम मन्त्रोंमें इसका कोई मूल-स्रोत नहीं था ? यह निश्चित ही है कि वरुण और सरस्वती जैसे कुछ एक देवता भौतिक व्यापारकी तरह आध्यात्मिक व्यापार भी रखते थे। मैं इससे भी आगे बढ़कर यह कहता हूँ कि यह दोहरा कार्य वेदमें अन्य देवोंके सम्बन्धमें भी सर्वत्र पाया जा सकता है, उदाहरणार्थ, अग्नि और यहाँ तक कि मरुतोंके लिए भी। तब क्यों न इन लीकों पर खोजको निरन्तर जारी रखते हुए यह देखा जाय कि यह कहां तक जायगी ? कम-से-कम विचार करनेके लिए एक प्रत्यक्ष आधार तो है ही और शुरू करनेके लिए मैं इससे अधिक की मांग भी नहीं करता। सूक्तोंके असली मन्त्रोंकी परीक्षा ही यह दिखा सकती है कि यह खोज कहाँ तक उचित ठहरेगी या अत्यधिक महत्त्वके परिणाम उत्पन्न करेगी।

दूसरा सहजात आक्षेप कट्टरपंथी परम्पराकी ओरसे आता है। इस आक्षेपका अर्थ यह है कि सायणके प्रमाण और प्राचीन कोषकार यास्कके परे क्यों जाना चाहिए, उस सायणके जो वेदसे कम-से-कम दो-तीन हजार साल बादके युगका है। और फिर, वेदको प्रचलित रूपमें कर्मकांड, याज्ञिक क्रियाकलापका ग्रन्थ माना जाता है और केवल वेदान्तको ही ज्ञानकाण्ड, ज्ञानका ग्रन्थ। परले सिरेके रूढ़िवादी दृष्टिकोणसे यह आपत्तिकी जाती है कि तर्क, आलोचना-शक्ति एवं ऐतिहासिक युक्तिका इस प्रश्नसे कोई सम्बन्ध नहीं; वेद ऐसी परीक्षाओंसे परे हैं, अपने रूप और सारतत्त्वमें सनातन हैं, इनका अर्थ-निर्णय करते हुए इनकी व्याख्या परम्परागत प्रमाणके द्वारा ही करनी चाहिए। यह एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं; मैं इस विषयके सत्यकी खोज कर रहा हूँ और परम्पराके विरुद्ध किसी सत्यकी खोज करनेके मेरे अधिकारको अस्वीकार करके मुझे खोज करनेसे रोका नहीं जा सकता। किन्तु यदि अधिक सन्तुलित रूपमें यह युक्ति दी जाय कि जब एक अविच्छिन्न और सुसंगत प्राचीन परम्परा विद्यमान है तब उससे पीछे हटनेमें कोई औचित्य नहीं, तो हमारा स्पष्ट उत्तर यह है कि ऐसी कोई चीज है ही नहीं। सायण एक सतत अनिश्चितताके बीच विचरण करते हैं, विविध संभावनाएं प्रस्तुत करते हैं, अपनी व्याख्याओं-में डांवाडोल होते रहते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि कर्मकाण्डीय एवं बाह्य अर्थके प्रति सामान्यतया निष्ठावान् रहते हुए भी कभी-कभी व्याख्याके नानाविध प्राचीन सम्प्रदायोंमें भेद दर्शाते तथा उन्हें उद्धृत करते हैं, जिनमेंसे एक आध्यात्मिक एवं दार्शनिक भी है, और उपनिषदोंके भावको वेदमें पाते हैं। यहां तक कि कभी-कभी वे इस आध्यात्मिक सम्प्रदायके निर्देशोंका अनुसरण करनेके लिए अपनेको बाध्य अनुभव करते हैं, यद्यपि ऐसा होता है बहुत विरले ही। और यदि हम प्राचीनतम कालतक पीछे जायं तो हम देखते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदकी गुह्य याज्ञिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उपनिषदें ऋग्वेदको कर्मकाण्डका नहीं बल्कि आध्यात्मिक ज्ञानका ग्रन्थ समझती हैं। अतः ऋग्वेदका मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक तात्पर्य निश्चित करनेके प्रयत्न में ऐसी कोई भी बात नहीं जो विलक्षण रूपसे नयी या क्रान्तिकारी हो।

अब रहा यह अन्तिम आक्षेप कि वेदकी व्याख्या अत्यन्त असाधारण कौशलके प्रयोगका क्षेत्र रही है। प्रत्येक प्रयत्न अतीव भिन्न परिणामोंपर पहुंचता रहा है और मेरा केवल एक और अधिक बड़ा कौशल है। यदि ऐसा है तो मैं अच्छे लोगोंकी संगतिमें हूँ। सायणकी व्याख्याएँ ऐसी कौशल-पूर्ण युक्तियोंसे भरी पड़ी हैं जिनमें अत्यधिक जोर-जबरदस्ती, खींचतान और

क्लिष्ट कल्पना है। वे प्रायः ही हलके भावसे व्याकरण, वाक्यरचना, अन्वय, संगतिका बलपूर्वक उल्लङ्घन करती हैं, इस विचारके बल पर कि ऋषि लोग इन चीजोंसे किसी प्रकार भी नियन्त्रित नहीं थे। यास्कका निरुक्त व्युत्पत्ति-सम्बन्धी तथा अन्य कुशल कल्पनाओंसे भरा पड़ा है जिनमेंसे कुछ अत्यन्त आश्चर्यजनक ढंगकी हैं। यूरोपके विद्वानोंने चतुरतापूर्वक अनुमानों तथा निगमनोंकी पद्धतिसे एक नया ही अनुवाद कर डाला है और आर्योंके आक्रमण तथा आर्यों और द्रविड़ोंके संघर्षका यथार्थ या काल्पनिक इतिहास तैयार कर दिया है, पर वेद-व्याख्याके दीर्घ इतिहासमें पहले कभी किसीका इस आक्रमण एवं संघर्षपर संदेह तक नहीं गया। स्वामी दयानन्दके भाष्य पर भी ऐसा ही दोष लगाया गया है। तथापि इस पद्धतिकी विश्व-व्यापकता इसे सच्चा सिद्ध नहीं कर देती और मुझे इस बहानेकी शरण लेनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं क्योंकि यह कोई उचित युक्ति नहीं है। यदि मेरी या और किसीकी व्याख्या मूल मन्त्रोंमें खींचतान करके, स्वैर या काल्पनिक अनुवाद या विदेशसे आयातित अर्थके द्वारा प्राप्त होती है तो उसका कोई वास्तविक मूल्य नहीं हो सकता। वर्तमान ग्रन्थका, जो मुझे आशा है कि ग्रन्थमालाका पहला भाग होगा, उद्देश्य है मेरी पद्धतिको वस्तुतः क्रियात्मक रूपमें दिखाना और आधार तथा उचित हेतु दिखलाकर उपर्युक्त आक्षेपको दूर करना।

मेरे मतमें वेदकी प्रामाणिक व्याख्याके लिए तीन प्रक्रियाएं आवश्यक हैं। सर्वप्रथम, मूलमन्त्रोंका सीधा-सादा शब्दशः अनुवाद होना चाहिए जो वास्तविक शब्दोंके द्वारा एकदम सुझाए गए सीधे-सादे और सरल अर्थ के साथ दृढ़तापूर्वक संबद्ध हो, भले ही उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। फिर, इस परिणामको लेकर यह देखना होगा कि इसका यथार्थ अर्थ और तात्पर्य क्या है। वह अर्थ अपने आपमें संगत एवं सुसंबद्ध होना चाहिए, उसे यह दिखाना चाहिए कि प्रत्येक सूक्त अपने आपमें एक अखण्ड सूक्त है जो एक विचारसे दूसरे विचारकी ओर बढ़ता है, अपने-आपमें क्रमबद्ध है, जैसे कि मानव मनकी किसी भी साहित्यिक कृतिको क्रमबद्ध होना ही चाहिए जो पागलोंके द्वारा नहीं लिखी गई या केवल असंबद्ध प्रलापोंकी शृंखला ही नहीं है। यह कल्पना करना संभव नहीं कि इन ऋषियों ने जो सुयोग्य छन्दोवित् थे, महती शक्ति और गतिसे युक्त शैलीके धनी थे, विचारोंकी किसी ऐसी शृंखलाके बिना ही रचनाकी जो समस्त उपयुक्त साहित्यिक कृतिका लक्षण है। और यदि हम उन्हें ईश्वरके द्वारा अनुप्रेरित तथा ब्रह्म या सनातन भगवान्के प्रतिनिधि मानते हैं तो यह कल्पना करनेका कोई

आधार नहीं कि दिव्य प्रज्ञा अपनी वाणीमें मानव मनकी अपेक्षा अधिक असंबद्ध है, वरन् उसे अपनी समग्रतामें अधिक प्रकाशपूर्ण और तृप्तिकारक होना चाहिए। अन्तिम प्रक्रिया यह है कि यदि मूल ग्रन्थके किसी भागकी प्रतीकात्मक व्याख्या की जाय तो वह स्वयं वेदके संकेत और भाषासे ही सीधे और स्पष्ट रूपमें उद्‌भूत होनी चाहिए न कि उसके अन्दर बाहरसे लादी जानी चाहिए।

इनमेंसे प्रत्येक बातपर कुछ शब्द कहना उपयोगी होगा। पहला नियम जिसका मैं अनुसरण करता हूँ यह है—ऋचाके उस अधिकसे अधिक सरल और सीधे अर्थको पानेका यत्न करना जो उसका खुला एवं प्रकट अर्थ हो, खींचतान न करना, तोड़ना-मरोड़ना नहीं और नाहीं जटिलता पैदा करना। वैदिक शैली अति संक्षिप्त पर स्वाभाविक है, इसमें ओजस्वी संक्षेप और कुछ अध्याहार पाए जाते हैं, किन्तु फिर भी वह तत्त्वतः सरल है और अपने लक्ष्य पर सीधे ढंगसे ही जाती है। जहां यह अस्पष्ट प्रतीत होती है वहां उसका कारण यह होता है कि हम शब्दोंका अर्थ नहीं जानते या विचारका मूल सूत्र हमारे हाथ नहीं आता। यदि दो एक स्थलों पर इसमें खींचतान की गई प्रतीत हो भी तथापि यह कोई कारण नहीं कि हम सम्पूर्ण वेदको ताक-पर रख दें अथवा इन स्थलोंमें भी अर्थ पर पहुंचनेके प्रयत्नमें इसमें और भी बुरी तरहसे खींचतान करें। जहाँ किसी शब्दका अर्थ निश्चित करना होता है, वहाँ कठिनाई या तो इसलिए आती है कि सच्चे अर्थका सूत्र हमारे पास नहीं होता या फिर इसलिए कि संस्कृतभाषामें उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। इनमेंसे दूसरी अवस्थामें मैं कुछ निश्चित सिद्धान्तोंका अनुसरण करता हूँ। प्रथम, यदि वह शब्द वेदके उन नियत शब्दोंमेंसे है जो उसके धार्मिक सिद्धान्तसे घनिष्ठतया संबद्ध हैं, तो सबसे पहले मुझे उसका एक अभिन्न अर्थ ढूंढ़ना होगा जो जहाँ कहीं भी वह आए वहाँ ठीक लग सके। मुझे इस बातकी स्वाधीनता नहीं कि मैं शुरूसे ही अपनी खुशी या मनमौज या फिर तात्कालिक उपयुक्तताकी भावनाके अनुसार उसका अर्थ बदलता चला जाऊँ। यदि मैं गूढ़ ईसाई धर्म-विज्ञानकी किसी पुस्तककी व्याख्या करूं तो मुझे इस बातकी छूट नहीं कि उसमें जो 'ग्रेस' (grace) शब्द निरन्तर और पुनः-पुनः आता है उसका अर्थ स्वच्छन्दतापूर्वक करूं, कभी तो 'दिव्य अनुग्रह का अन्तःप्रवाह' यह अर्थ करूं और कभी 'तीन प्रकारकी ग्रेसमें-से एक', कभी 'सौन्दर्यकी मोहकता', कभी 'परीक्षामें दिए गए कृपांक', कभी कभी 'एक लड़कीका नाम'। यदि एक स्थल पर वह स्पष्टतया यह या वह अर्थ रखता है और उसका दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि उसका

साधारण अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तब निःसंदेह दूसरी बात है; पर जहाँ सामान्य अर्थ प्रकरणमें ठीक बैठ जाय वहाँ मुझे इन दूसरे अर्थोंमेंसे कोई भी नहीं लगाना चाहिए। दूसरी बातोंमें मुझे बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, पर यह स्वतन्त्रता विकृत होकर निरंकुशतामें नहीं बदल जानी चाहिए। इस प्रकार हमें बताया जाता है कि, 'ऋतम्' शब्दके अर्थ हो सकते हैं, सत्य, यज्ञ, जल, गति तथा दूसरी बहुत-सी वस्तुएं। सायण स्वच्छन्दतापूर्वक और बिना किसी स्पष्ट नियम या कारणके इनमेंसे किसी भी अर्थके अनुसार व्याख्या कर देते हैं और कभी-कभी तो वे हमारे सामने कोई विकल्प भी नहीं रखते; न केवल वे विभिन्न सूक्तोंमें उसकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या करते हैं, बल्कि एक ही सूक्तमें या यहाँ तक कि एक पंक्तिमें भी तीन विभिन्न अर्थोंमें व्याख्या करते हैं। मैं इसे सर्वथा अनुचित समझता हूँ। 'ऋतम्' वेदका एक स्थिर पारिभाषिक शब्द है और इसको मुझे सदा एक सुसंगत अर्थमें ही लेना चाहिए। यदि उस स्थिर परिभाषाके रूपमें मैं इसका अर्थ 'सत्य' समझता हूँ, तो मुझे सदा इसका यही अर्थ करना चाहिए, जब तक ऐसा न हो कि किसी विशेष स्थलमें इसका स्पष्ट अर्थ "जल", "यज्ञ" या "गया हुआ मनुष्य" ही हो तथा वहाँ इसका अर्थ 'सत्य' हो ही न सकता हो। 'ऋतस्य पन्थाः' जैसी हृदयग्राही पदावलीका अनुवाद एक स्थल पर "सत्यका मार्ग" करना, दूसरे पर "यज्ञका मार्ग", एक अन्यपर "जलका मार्ग" और फिर किसी और स्थल पर यह अर्थ करना कि "उस व्यक्तिका मार्ग जो चला गया है"—यह निरा स्वेच्छाचार है। और यदि हम ऐसी पद्धतिका अनुसरण करें तो वेदका हमारी व्यक्तिगत मौजके अर्थके सिवा कोई अर्थ नहीं हो संकता। फिर इसी प्रकार हमारे सामने 'देव' शब्द है, जिसका अर्थ निःसन्देह सौमेंसे निन्यानवे स्थानोंमें 'प्रकाशमय सत्ताओं-मेंसे एक' अर्थात् 'देवता' होता है। यद्यपि यह 'ऋतम्'के समान अनिवार्य महत्त्वपूर्ण शब्द नहीं है तथापि जहाँ 'देवता' शब्द इसका एक अच्छा और पर्याप्त अर्थ देता हो वहाँ मुझे इसको पुरोहित या बुद्धिमान् मनुष्यके अर्थमें या किसी और अर्थमें नहीं लेना चाहिए, जब तक यह न दिखाया जा सके कि यह ऋषियोंकी वाणीमें निःसन्देह एक और अर्थ रख सकता है। दूसरी ओर, 'अरि' जैसे शब्दका अर्थ कभी तो 'योद्धा', 'अपने पक्षका वीर पुरुष' होता है, कभी शत्रु-पक्षका योद्धा, आक्रामक एवं शत्रु और कभी-कभी यह शब्द विशेषण होता है और 'अर्य' या यहाँ तक कि 'आर्य' शब्दके लगभग समान अर्थवाला प्रतीत होता है। पर ध्यान देनेकी बात है कि ये सभी अर्थ परस्पर अच्छी तरह संबद्ध हैं। दयानन्द व्याख्या करनेमें और भी

अधिक स्वतन्त्रताका आग्रह करते हैं जिससे कि वह प्रकरणके अनुकूल बैठ सके। वे कहते हैं सैन्धवका अर्थ है घोड़ा या खनिज लवण; जहाँ खानेका प्रसंग हो वहाँ हमें इसका अर्थ नमक करना चाहिए, जहाँ सवारी करनेका प्रसंग हो वहाँ घोड़ा। यह बात तो सर्वथा स्पष्ट है; पर वेदमें सारा प्रश्न यह है कि प्रकरणका अभिप्राय क्या है, उसकी संबन्धकी कड़ियाँ क्या हैं? प्रकरणका क्या अर्थ होना चाहिए इस विषयमें अपनी व्यक्तिगत भावना के अनुसार यदि हम अर्थ करें तब तो हम चोर-रेतकी नींव पर इमारत बना रहे हैं। एकमात्र सुरक्षित नियम यह है कि उस अर्थको निर्धारित किया जाय जो वेदमें सामान्यतया प्रचलित हो और उससे भिन्न अर्थोंको केवल वहीं स्वीकार किया जाय जहाँ प्रकरणसे वे स्वतः स्पष्ट हों। जहाँ साधारण अर्थसे एक अच्छा भावार्थ निकलता हो वहाँ मुझे इसे स्वीकार करना चाहिए; यदि यह वह अर्थ न हो जो मैं चाहता हूँ कि इसका होना चाहिए या यह वेद-विषयक मेरे सिद्धान्तके अनुकूल न हो तो इस बातकी कुछ परवा नहीं। पर उस अर्थको कैसे निर्धारित किया जाय? स्पष्टतः ही, अर्थका निर्धारण हम केवल इस प्रकार कर सकते हैं कि जिन स्थलोंमें कोई विशेष शब्द आता है उन सबकी पूरी-की-पूरी या शेष-बची-हुई साक्षी उस अर्थके पक्षमें हो और फिर वह अर्थ वेदके सामान्य आशयके साथ मेल भी खाता हो। यदि मैं यह दिखा दूँ कि सभी संदर्भोंमें 'ऋत' शब्दका अर्थ 'सत्य' हो सकता है, बहुतसे स्थलोंमें—पर किसी भी तरह सभी स्थलों में नहीं—इसका अर्थ यज्ञ भी हो सकता है और केवल थोड़ेसे स्थलोंमें जल,- 'गति' तो शायद ही किसी स्थलमें संभव हो, और 'सत्य' यह अर्थ वेदके सामान्य तात्पर्यके साथ ठीक भी बैठता है, तो मैं समझूंगा कि इसे इस अर्थमें ही लेनेके लिए एक अकाट्य स्थापना मैंने कर दी है। अनेक शब्दोंके सम्बन्ध में ऐसा किया जा सकता है, दूसरोंके विषयमें हमें संभव अर्थोंका तुलन-फल निकालना होगा। तब बाकी रहे वे शब्द जिनका अर्थ, स्पष्ट कहें तो, हमें मालूम नहीं। यहाँ हमें व्युत्पत्ति-शास्त्रके सूत्रका प्रयोग करना होगा और तब हम जिस अर्थ या जिन संभव अर्थोंपर पहुंचें उन्हें उन स्थलोंमें जहाँ वह शब्द आया है, लगाकर परखें, जहाँ आवश्यक हो वहाँ केवल पृथक्-पृथक् ऋचाओंको ही नहीं वरन् आसपासके प्रकरणको तथा वेदके सामान्य भावको भी विचारमें लावें। कुछ ही स्थलोंमें कोई शब्द इतना विरला और अस्पष्ट होता है कि उसे केवल एक सर्वथा आनुमानिक अर्थ ही दिया जा सकता है।

जब हमें मूल मन्त्रका अनुवाद प्राप्त हो जाय तब हमें यह देखना होगा

कि उसका तात्पर्य क्या है। यहाँ जो हमें करना होगा वह यह है—पहले हम स्वयं मन्त्रमें प्रकाशित विचारोंके परस्पर-सम्बन्धोंको देखें, उसके बाद उससे पहले और पिछले मन्त्रोंमें आये विचारोंके साथ तथा सूक्तके सामान्य आशयके साथ उसका कोई सम्बन्ध हो तो उसे भी देखें, तत्पश्चात् समानान्तर स्थलों, विचारों और सूक्तोंको और अन्तमें वेदके विचारोंकी योजनामें प्रकृत संपूर्ण सूक्तका स्थान भी देखें। इस प्रकार ऋ० IV.7 में हम एक पंक्ति देखते हैं—**अग्ने कदा त आनुषग् भुवद् देवस्य चेतनम्,** और इसका अनुवाद मैं यूँ करता हूँ, "हे अग्ने, कब तुम देवका (दीप्तिमान् या ज्योतिर्मय एकमेवका) (ज्ञान या चेतनाके प्रति) निरन्तर जागरण होगा?" परन्तु जो प्रश्न मुझे करना होगा वह यह है, "क्या इसका अर्थ है वेदी पर स्थूल अग्निका सतत प्रज्वलन तथा भौतिक यज्ञका व्यवस्थित क्रम, अथवा क्या इसका अर्थ है मनुष्यमें दिव्य अग्निका सतत विकासोन्मुख ज्ञानके प्रति या ज्ञानकी व्यवस्थित सचेतन क्रियाके प्रति जागरण?" विचार करने पर मैं देखता हूँ कि अगली, तीसरी ऋचामें अग्निका वर्णन उसे सत्यका (या यज्ञका?) स्वामी, पूर्णज्ञानी, **ऋतावानं विचेतसम्,** कहकर किया गया है, चौथीमें उसे प्रत्येक प्राणीके लिए चमकता हुआ अन्तर्दर्शन या ज्ञान या अन्तर्बोध कहकर, **केतुं भृगवाणं विशे-विशे,** छठीमें गुहामें निहित, पूर्ण ज्ञानी, उज्ज्वलवर्ण सत्ता कहकर, **चित्रं गुहा-हितं सुवेदम्।** सातवीं और आठवींमें उसका वर्णन यों किया गया है कि जब देवता सत्यके धाममें आनन्द लेते हैं तो वह यज्ञके लिए सत्यसे युक्त होकर आता है, वह दूत है, **ऋतस्य धामन् रणयन्त देवाः...वेरध्वराय सदमिदृतावा, दूत ईयसे।** यह सब अग्निको वेदी पर स्थूल ज्वालाके रूपमें ही नहीं बल्कि दिव्य ज्ञानकी एक ऐसी ज्वालाके रूपमें लेनेके लिए प्रचुर प्रमाण है जो यज्ञका परिचालन तथा मनुष्य और देवताओंके बीच मध्यस्थका कार्य करती है। इस विषयके प्रमाणका तुलन-फल भी, निर्विवाद रूपमें न सही, इस पक्षमें है कि इसे (अग्निको) बाह्य प्रतीकोंके परदेके पीछे अन्तर्यज्ञका संकेत करनेवाला मानना चाहिए, क्योंकि यदि भौतिक फलोंके लिए भौतिक यज्ञका ही प्रश्न हो तो दिव्य ज्ञानपर इतना अधिक बल देना ही क्यों चाहिए? मैं देखता हूँ कि वह पुरोहित, ऋषि, दूत, हवियोंका भोक्ता, द्रुत यात्री और योद्धा है। कैसे ये दोनों विचार जो वेदमें एकके बाद एक आते हैं और गुंथे हुए भी हैं, एक दूसरेके साथ संबद्ध हैं? क्या यह भौतिक पवित्र ज्वाला है जो ये सब चीजें हैं या यह आन्तर पवित्र ज्वाला है? इसे अस्थायी तौरपर अर्न्तज्वालाके रूपमें लेनेके लिए भी पर्याप्त प्रमाण हैं; पर पूर्ण निश्चयके लिए मैं इस एक ऋचा पर ही निर्भर नहीं कर सकता। मुझे

अन्य सूक्तोंमें इन विचारोंके विकासपर भी ध्यान देना होगा, जो सूक्त अग्नि-को अर्पित हैं या जिनमें उसका उल्लेख है उन सबका अध्ययन करना होगा और यह देखना होगा कि क्या ऐसे स्थल हैं जिनमें वह निःसन्देह अन्त-र्ज्वाला ही है और वे उसके संपूर्ण रूप पर क्या प्रकाश डालते हैं। केवल तभी मैं वैदिक अग्निके तात्पर्यका निश्चित रूपसे निर्णय करनेकी स्थितिमें हूंगा।

यह उदाहरण दिखा देगा कि तीसरे प्रश्न, वैदिक प्रतीकोंकी व्याख्याके विषयमें मैं किस पद्धतिका अनुसरण करता हूँ। सूक्तोंमें अनेकानेक रूपक और प्रतीक हैं इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। चौथे मण्डलके इस सातवें सूक्तमें आये उदाहरण यह दिखानेके लिए अपने आपमें पर्याप्त हैं कि वे कितना बड़ा भाग लेते हैं। ऋषिगण उनका जो अर्थ लगाते थे उसके संबन्धमें किसी तत्कालीन साक्षीके अभावमें हमें उनका अर्थ स्वयं वेदमें ही ढूँढ़ना होगा। स्पष्टतः ही जहाँ हम नहीं जानते वहाँ हम प्राक्कल्पनाके बिना काम नहीं चला सकते, और मेरी प्राक्कल्पना यह है कि बाह्य भौतिक रूप आन्तर आध्यात्मिक अर्थका एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। परन्तु इस या किसी भी प्राक्कल्पनाका कोई वास्तविक मूल्य नहीं हो सकता यदि वह बाहर-से लायी जाय, यदि वह स्वयं वेदके शब्दों एवं संकेतोंसे ही न सुझाई जाय। ब्राह्मणग्रन्थ कौशलपूर्ण व्याख्याओंसे अतीव परिपूर्ण हैं; वे मूल पाठके अन्दर यों ही अटकलपच्चू बहुत ही अधिक, बहुत ही अधिक अर्थोंको पढ़ते चले जाते हैं। उपनिषदें अधिक अच्छा प्रकाश देती हैं और हम अधिक अर्वाचीन ग्रन्थसे तथा यहाँ तक कि सायण और यास्कसे भी संकेत पा सकते हैं; किन्तु साथ ही इस अतिशय प्राचीन धर्मग्रन्थमें परवर्ती मनके विचारोंको अक्षरशः पढ़ना संकटपूर्ण भी होगा। वेदकी व्याख्या करनेके लिए हमें वेदसे ही आरम्भ करना और वेद पर ही निर्भर करना होगा। सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि क्या वहाँ कोई सीधे-सादे और स्पष्ट मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विचार हैं, यदि हैं तो वे क्या हैं और वे हमें क्या सूत्र प्रदान करते हैं, दूसरे, क्या भौतिक प्रतीकोंके मनोवैज्ञानिक अर्थोंके कोई संकेत वहाँ हैं और बाह्य भौतिक पक्ष आन्तर मनोवैज्ञानिक पक्षके साथ कैसे सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ, ज्वालारूप अग्निको द्रष्टा और ज्ञाता क्यों कहा गया है? क्यों नदियोंको ज्ञानसे युक्त जल कहा गया है? क्यों उन्हें मन तक आरोहण करती या उस तक पहुँचती कहा गया है? और इसी प्रकारके अन्य अनेकों प्रश्न हैं। इनका उत्तर भी फिर स्वयं वैदिक सूक्तोंके सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययनके द्वारा पाना होगा। इस ग्रन्थमें मैं अर्थके स्वाभाविक विकासके द्वारा अग्रसर होता हूँ। मैं प्रत्येक सूक्तको लेता हूँ, उसके प्रथम अर्थपर

पहुँचता हूँ, मैं देखता हूँ कि क्या वहाँ कोई मनोवैज्ञानिक संकेत हैं और यदि हैं तो उनके भावका बल क्या है तथा वे आपसमें किस प्रकार गुंथे हुए हैं और आसपासके अन्य विचारोंके साथ उनका क्या संबन्ध है। मैं इस प्रकार सूक्तसे सूक्तकी ओर बढ़ता हूँ, उन्हें उनके अभिन्न या सदृश विचारों, रूपकों, वर्णन-शैलियोंके द्वारा एक दूसरेके साथ जोड़ता चलता हूँ। इस रीतिसे वेदकी स्पष्ट और संबद्ध व्याख्यापर पहुँचना संभव हो सकता है।

इस पद्धतिमें यह माना गया है कि ऋग्वेदके सूक्त एक अखण्ड कृति हैं जो विभिन्न ऋषियोंके द्वारा रची गई है, रची गई है एक सारतः अभिन्न एवं सदा समान ज्ञानके और रूपकों तथा प्रतीकोंकी एक ही प्रणालीके आधारपर। यह, मैं समझता हूँ, वेदके उपरितलपर भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसका एकमात्र प्रत्यक्ष अपवाद हैं कुछ विशेष सूक्त जो दसवें मण्डलमें हैं और परवर्ती विकाससे संबद्ध प्रतीत होते हैं, उनमेंसे प्रायः कुछ विशुद्ध रूपसे कर्मकाण्डीय हैं और अन्य कुछ एक प्रतीककी दृष्टिसे मूल ऋक्समूहकी अपेक्षा अधिक जटिल एवं विकसित हैं, कुछ और सूक्त दार्शनिक विचारोंको कमसे कम प्रतीक की सहायतासे स्पष्ट रूपमें घोषित करते हैं,—वे प्रथम वाणियां हैं जो उपनिषदोंके आगमनकी घोषणा करती हैं। कुछ सूक्त अतीव पुरातन ढंगके हैं, अन्य अधिक स्पष्ट और अपेक्षाकृत आधुनिक ढंगके। पर अधिकांशमें हम सर्वत्र एक ही सारतत्त्वको पाते हैं, समान रूपकों, विचारों, स्थायी पारिभाषिक शब्दों, समान पदावलियों और अभिव्यञ्जनाओंको देखते हैं। अन्यथा समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा; जैसी कि वस्तुस्थिति है, वेद स्वयं वेदकी कुंजी प्रदान करता है।

आरम्भके लिए मैंने जो सूक्त चुने हैं वे वामदेवके पन्द्रह अग्नि-सूक्त हैं। मैं उन्हें उस क्रमसे लेता हूँ जो मेरे अनुकूल पड़ता है, क्योंकि आरम्भके कुछ सूक्त प्रतीकसे अत्यधिक परिपूर्ण हैं और अतएव हमारे लिए अस्पष्ट और गहन हैं। सरलसे कठिन की ओर बढ़ना अधिक अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार ही हम उस प्रारम्भिक सूत्रको अधिक अच्छी तरहसे पायेंगे जो हमें प्राचीनतर सूक्तोंकी अस्पष्टताको पार करनेमें सहायता पहुँचा सकता है।

अग्नि, अग्निका अधिपति देव, भौतिक रूपमें यज्ञिय ज्वालाका देवता है, अरणियों, पौधों और जलोंमें पाया जानेवाला अग्नि है, विद्युत् है, सूर्यकी अग्नि है, ताप और प्रकाश, **तपस्** और **तेजस्**-रूपी आग्नेय तत्त्व है, वह चाहे कहीं भी प्राप्त हो। प्रश्न यह है कि क्या वह चैत्यलोकमें वही

तत्त्व भी है। यदि हां तो वह वही मनोवैज्ञानिक तत्त्व होना चाहिए जिसे पीछेके परिभाषा-शास्त्रमें तपस् कहा गया है। वैदिक अग्निके दो विशेष गुण हैं, ज्ञान और देदीप्यमान शक्ति, प्रकाश और आग्नेय शक्ति। इससे यह सूचित होता है कि वह विश्वव्यापी देवाधिदेवकी शक्ति है, ज्ञानसे अनुप्राणित सचेतन शक्ति या संकल्प है—यही है तपस्का स्वरूप,—जो विश्वको व्यापे है और इसके सब क्रिया-व्यापारोंके पीछे स्थित है। अतएव अग्नि अपने व्यापारोंके चैत्य और आध्यात्मिक अर्थमें उस संकल्पकी अग्नि ही होगा जो अपने अन्तर्निहित और सहजात ज्ञानके कार्य करता है। वह द्रष्टा, **कविः**, है, विचारका परम प्रेरक, **प्रथमो मनोता**, और वाणी एवं ईश्वरीय शब्दका भी प्रेरक है, **उपवक्ता जनानाम्**, हृदयस्थ शक्ति है जो कार्य करती है, **हृदिस्पृशं ऋतुम्**, क्रिया और गतिका प्रेरक है, यज्ञ-कार्यमें मनुष्य का दिव्य मार्गदर्शक है। वह यज्ञका **पुरोहित** है, **होता (होतृ)** है जो देवोंको पुकारता और ले आता है और उन्हें हवि देता है, वह **ऋत्विक्** है जो ठीक विधि-व्यवस्थाके साथ तथा ठीक ऋतुमें यज्ञ करता है, वह **पोता** (पोतृ) नामका पुरोहित है जो पवित्र करता है, वह **पुरोहित** है जो यजमानके प्रतिनिधिके रूपमें आगे स्थापित होता है, वह यज्ञका परिचालक, **अध्वर्यु**, है; वह इन सब पवित्र अधिकारोंको अपनेमें संयुक्त किए है। यह प्रत्यक्ष ही है कि ये सब व्यापार मनुष्यमें अवस्थित उस दिव्य संकल्प या चेतन शक्तिसे सम्बन्ध रखते हैं जो अन्तर्यज्ञमें जाग उठती है। इस अग्निने सब लोकोंको रचा है, यह सर्जक शक्ति, जातवेदस् अग्नि, सब जन्मों अर्थात् जात (उत्पन्न) पदार्थोंको, उस सबको, जो इन लोकोंमें है, जानता है। वह एक दूत है जो पृथ्वीको जानता है, द्युलोककी विकट ढलानपर, **आरोधनं दिवः**, चढ़ना जानता है, सत्यके धामका मार्ग जानता है; वह मनुष्य और ईश्वरके बीच मध्यस्थता करता है। ये चीजें भौतिक आगके देवतापर कठिनाईसे ही लागू होती हैं; पर यदि हम अग्नि-देवताके दिव्य स्वरूप और व्यापारोंपर अधिक विशालतासे दृष्टिपात करें तो ये उसके लिए आश्चर्यजनक रूपसे उपयुक्त हैं। वह पृथ्वीका देवता अर्थात् पार्थिव सत्ताकी शक्ति है, **अवमः**, पर वह कामनाके अन्दर प्राणिक इच्छा-शक्ति प्रतीत होता है, जो अपने धूमके द्वारा भक्षण करता और जलाता है, और फिर वह मानसिक शक्ति भी है। मनुष्य उसे तारोंसे युक्त द्युलोकके समान देखते हैं, **द्यामिव स्तृभिः**, द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी उसके अंश हैं। फिर वह 'स्वर्' का देवता भी है, सौर देवताओंमें से एक वह अपनेको सूर्यके रूपमें अभिव्यक्त करता है, वह **सत्यमें** उत्पन्न हुआ **(ऋतजात)** है; **सत्य** का स्वामी है, सत्य और अमरत्व का

रक्षक है, चमकीली गायोंको प्राप्त करने और उनकी रक्षा करनेवाला है, नित्य **यौवन (सदायुवा)** है और इन गुह्य पशुओंके यौवनको फिरसे नया करता है। वह **अनन्त**के अन्दर तीन रूपोंमें फैला हुआ है। ये सब कार्य-व्यापार भौतिक अग्निके देवताके (विषयमें) नहीं कहे जा सकते; पर ये सब मनुष्य और विश्वमें विद्यमान चेतन दिव्य संकल्पके उपयुक्त गुण हैं। वह युद्धका अश्व है एवं अति वेगशाली अश्व है, और फिर वह श्वेत अश्व भी प्रदान करता है; वह पुत्र है और मनुष्यके लिए पुत्रको उत्पन्न करता है। वह योद्धा है और मनुष्यके लिए उसके युद्धके वीरोंको लाता है। वह दस्यु और राक्षसको अपनी ज्वालासे विनष्ट कर देता है; वह वृत्रका वध करनेवाला है। क्या यहाँ हमें केवल निष्ठुर एवं अनम्य द्रविड़ोंके या यज्ञका विरोध करनेवाले राक्षसोंके वधकर्ताको ही देखना है? वह सैंकड़ों प्रकारसे उत्पन्न होता है; पौधोंसे, अरणिसे, जलोंसे। उसकी जनक हैं दो अरणियां, किन्तु फिर उसके जनक द्यौ और पृथ्वी भी हैं, और यह (अरणि) एक ऐसा शब्द है जो अपने अन्दर दोनों अर्थोंको मिलाता प्रतीत होता है। तो क्या दो अरणियां द्यौ और पृथ्वीके प्रतीक नहीं हैं; इस बातके प्रतीक नहीं हैं कि अग्नि मर्त्योंके लिए भौतिक सत्ता (पृथिवी) पर दिव्यतर मानसिक सत्ता (द्यौ) की क्रियासे उत्पन्न होता है। दस बहिनें उसकी माताएँ हैं—टीकाकार कहता है कि ये दस अंगुलियाँ हैं; हां, पर वेद इनका वर्णन यों करता है कि ये दस विचार या विचार-शक्तियाँ, **दश धियः**, हैं। सात नदियां, द्युलोककी शक्तिशाली नदियां, ज्ञानसे संपन्न जलधाराएँ, स्वर्की जलधाराएँ भी उसकी माताएँ हैं। इस प्रतीकात्मक वर्णनका तात्पर्य क्या है, क्या हम वस्तुतः इसकी यों व्याख्या कर सकते हैं कि यह केवल और एकमात्र प्राकृतिक दृग्विषयोंका, अग्निरूपी भौतिक तत्त्वका या उसके कार्योंका रूपकात्मक वर्णन है? यदि इस बातको तुच्छ-से-तुच्छ रूप एवं शब्दोंमें रखा जाय तो यह कह सकते हैं कि कमसे कम यहाँ तो अग्निके एक अधिक गंभीर मनोवैज्ञानिक व्यापारकी प्रबल संभावना है। ये हैं हल करने योग्य मुख्य बातें। तो अब हम यह देखें कि अग्निका बाह्य स्वरूप ऋचाओंमें किस प्रकार विकसित होता है; अपने मनोंको खुले रखते हुए हम इस बातकी परीक्षा करें कि अग्निके विषयमें यह परिकल्पना कि वह वैदिक रहस्योंके अन्तर्गत देवताओंमेंसे एक है, टिक सकती है या नहीं। और इसका अर्थ यह है कि क्या वेद कर्मकाण्डीय सूक्तोंकी अर्द्धबर्बर पुस्तक है, आदिम प्रकृति-पूजाकी पुस्तक है या ऋषियों और गुह्यवेत्ताओंका धर्मग्रन्थ।

इस परीक्षाके लिए हम ऋग्वेदके चौथे मण्डलका 7वाँ सूक्त लेते हैं।

छन्दः—जगती, 2-6 **अनुष्टुप्,** 7-11 **त्रिष्टुप् :**

अयमिह प्रथमो धायि धातृभि होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीडयः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥१॥

आलोचनात्मक टिप्पणियां

धातृभिः—सायण 'धातृ' शब्दकी यों व्याख्या करते हैं, वह जो यज्ञके लिए कार्य करता है, अतएव पुरोहित, किन्तु अधिक स्वाभाविक रूपमें, 'धातारः'का अर्थ यहाँ देवता, वस्तुओंके स्रष्टा और विधाता होगा, यद्यपि इसे 'यज्ञिय कार्यकी व्यवस्था करनेवाले'के अर्थमें लेना भी संभव है। **'धायि धातृभिः'** इन शब्दोंको एक साथ पास-पास रखना कदाचित् सर्वथा अर्थहीन नहीं हो सकता। देवता वे हैं जो सृष्टिके क्रमको स्थापित या व्यवस्थित करते हैं, प्रत्येक पदार्थको उसके अपने स्थान पर, उसके अपने नियम तथा कार्य-व्यापारके अनुसार स्थापित या व्यवस्थित करते हैं। उन्होंने अग्निको यहाँ, **इह,** स्थापित किया है। 'यहाँ'का अर्थ हो सकता है—यज्ञमें, पर अधिक व्यापक रूपमें इसका अर्थ होगा—यहाँ पृथ्वीपर।

होता—'होता' शब्दको सायण कभी-कभी "देवोंका आह्वान करनेवाला" इस अर्थमें लेते हैं और कभी "होम करनेवाला या अग्निमें आहुति देनेवाला" के अर्थमें। वास्तवमें इसमें दोनों ही अर्थ हैं। अग्नि 'होता'के रूपमें देवताओंको मन्त्रके द्वारा यज्ञमें बुलाता है और उनके आनेपर उन्हें आहुति देता है।

अध्वरेषु—'अध्वर' शब्दकी व्याख्या निरुक्तमें यह की गई है कि इसका शाब्दिक अर्थ है—अहिंस्रः, "अहिंसक (हिंसा न करनेवाला)", अ+ध्वर ('ध्वृ हिंसायां' धातुसे), और इस प्रकार इसका अर्थ हुआ अहिंसित यज्ञ, और इसलिए केवल 'यज्ञ'। निश्चय ही, यह यज्ञकी विशेषता बतानेवाले विशेषण-के रूपमें प्रयुक्त होता है, **अध्वरो यज्ञः।** अतः इसे किसी ऐसे गुणका वाचक अवश्य होना चाहिए जो यज्ञमें इतने स्वाभाविक रूपसे विद्यमान हो कि वह अकेला अपने-आपमें उस—'यज्ञ'—अर्थको प्रकट करनेमें समर्थ हो। पर "अहिंसक (अध्वर)" शब्द अकेला अपने-आपमें यज्ञका वाचक कैसे बन सकता है? मेरा सुझाव यह है कि जैसे 'असुर'में 'अ'को निषेधार्थक मानना भूल है और यह (अस्से नहीं) **'असु** क्षेपणे (असु फेंकना)' इस धातुसे बना है और इसका अर्थ है प्रबल, बलशाली, शक्तिमान्, उसी प्रकार **'अध्वर'** मार्ग और यात्राके वाचक 'अध्वन्' शब्दसे बना है। इसका अभिप्राय है यात्रारूपी यज्ञ,

एक ऐसा यज्ञ जो पृथ्वीसे द्युलोककी ओर यात्रा करता है और इस यात्रामें अग्नि उसे देवोंके मार्गसे ले चलता है। यदि हम 'अध्वर' शब्दको 'ध्वृ' धातुसे ही बनायें तो यह अधिक अच्छा होगा कि हम 'ध्वृ'[1]का साधारण अर्थ लेकर अध्वरका अर्थ करें अकुटिल, सीधा-सरल और तब भी इसका अर्थ होगा यज्ञ जो ऋजु मार्गके द्वारा सीधे, बिना विचलित हुए, देवोंकी ओर जाता है, **पन्थाः अनृक्षरः, ऋजुना पथा** (ऋ० 1.41.4-5), **अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः** (ऋ० 10.85.23)।

ईड्यः—सायणने इसका अर्थ किया है: ऋत्विजोंके द्वारा "जिसकी प्रशंसा या स्तुति की जाती है"। किन्तु तब इसका अर्थ होना चाहिए "स्तुति-के योग्य"। आरम्भमें ईळ्, ईड्का अर्थ रहा होगा गति करना, पास जाना; पीछे इसका अर्थ हो गया प्रार्थना करना, याचना या कामना करना, **याचामहे**। मैं इसे "काम्य" या "उपास्य"के अर्थमें लेता हूँ।

वनेषु—वेदमें **वन**का अर्थ होता है वृक्ष, जंगल, पर साथ ही लट्ठ और इमारती लकड़ी भी। **चित्रम्**—कभी सायण 'चित्रम्'का अर्थ करते हैं, **पूज्ये, चायनीयम् पूज्यम्,** और कभी विचित्र, नानाविध या अद्भुत। यहां उन्होंने अर्थ किया है "विविध रूपसे सुन्दर"। मैं इसे वेदके सभी सन्दर्भोंमें, जैसे कि '**इन्द्र चित्रभानो**'में, 'नानाविध प्रकाश या सौन्दर्य'के इस अन्तिम अर्थमें ही लेता हूँ। मैं ऐसा कोई भी कारण नहीं देख पाता कि कहीं भी इसे पूजनीयके अर्थमें लिया जाए।

विभ्वम्—सायणः—प्रभु, स्वामी। परन्तु ऋग्वेदमें 'विभु'का अर्थ निश्चय ही यह है: "व्यापक रूपसे होनेवाला" या "सत्तामें व्यापक" या "व्यापक, प्रचुर, समृद्ध"। मुझे ऐसा कोई स्थल नहीं मिला जहां इसका अर्थ आवश्यक रूपसे 'प्रभु' ही होना चाहिए। 'प्रभु' तो इसका एक ऐसा अर्थ है जो आगे चलकर अभिजात साहित्यमें हो गया। 'विभ्व'का अर्थ अवश्यमेव वही होना चाहिए जो विभुका है।

अनुवाद :

"देखो, यहाँ पर विधाताने स्थापित कर दिया है होता को (आहुतिके पुरोहितको), उस 'होता'को जो परम है, यज्ञ करनेमें सर्वाधिक शक्तिशाली

---

1. पाणिनीय धातुपाठमें 'ध्वृ हूर्च्छने' ऐसा पाठ है। हूर्च्छनका अर्थ है कौटिल्य, कुटिलता, यद्यपि इस धातुका प्रयोग हिंसाके अर्थमें भी देखनेमें आता है। —अनुवादक

है, यात्रा-यज्ञोंमें उपास्य है, जिसे अप्नवान और भृगुओंने प्रत्येक मानव प्राणी-के लिए वनोंमें सर्वव्यापक, चित्र-विचित्र, समृद्धियुक्त अग्निके रूपमें चमकाया।"

यह पहली ऋचा है; इसमें ऐसा कुछ नहीं है जिसका तात्पर्य असंदिग्ध रूपसे मनोवैज्ञानिक हो। बाह्य अर्थमें यह यज्ञके पुरोहितके रूपमें अग्निके गुणोंका वर्णन है। उसका निर्देश उसके यज्ञिय अग्निवाले रूपमें किया गया है जिसे पुरोहित प्रदीप्त करते हैं, यज्ञमें उसके अपने स्थान पर स्थापित करते हैं या वहाँ उसका आधान करते हैं। यह निर्देश इस स्पष्ट कथनके तुल्य है कि यह पावन ज्वाला यज्ञके लिए एक महान् शक्ति है, देवोंमें प्रधान देव है जिसकी स्तुति या उपासना करना आवश्यक है, सबसे पहले अप्नवान और अन्य भृगुओंने ही अग्निके (यज्ञिय) उपयोगका आविष्कार किया और सब लोगोंके द्वारा उसका उपयोग कराया। यहाँ वनकी अग्निका वर्णन अनुपयुक्त प्रतीत होता है जब तक कि इसका यह अभिप्राय न हो कि अग्नि-को वनकी आगके रूपमें विस्तृत और सुन्दर रूपसे जलते देखकर उन्हें यह विचार आया कि उन्होंने अग्निको शाखाओंके परस्पर रगड़नेसे उत्पन्न होते देखकर उसका आविष्कार किया या कि सबसे पहले उन्होंने वनकी अग्निके रूपमें ही इसे प्रज्वलित किया। नहीं तो यह एक आलंकारिक एवं निरर्थक वर्णनमात्र है।

किन्तु यदि हम क्षणभरके लिए यह मान लें कि इस रूपकके पीछे अग्नि-का संकेत अंतर्यज्ञके **होता**के रूपमें किया गया है, तो यह देखने योग्य होगा कि इन रूपकोंका अर्थ क्या है। प्रारम्भके शब्द हमें यह बताते हैं कि सचेतन **संकल्प**की यह ज्वाला, हमारे अन्दर स्थित यह महान् वस्तु, **अयम् इह,** यहाँ मनुष्यमें देवताओंके द्वारा, विश्वव्यवस्थाके विधाताओंके द्वारा स्थापित की गई है, एक ऐसी शक्ति बननेके लिए स्थापित की गई है जिसके द्वारा मनुष्य अभीप्सा करता है और अन्य दिव्य शक्तियोंको अपनी सत्ताके अन्दर पुकारता है और अपने ज्ञान, संकल्प एवं आनन्दको तथा अपने अन्तर्जीवनके समस्त ऐश्वर्यको एक-एक यज्ञ-कार्यके रूपमें **सत्यके अधिपतियों**के प्रति अर्पित करता है। तो ये प्रथम शब्द दीक्षितके लिए यही अर्थ रखते हैं कि ये वैदिक रहस्योंका आधारभूत विचार, यज्ञका अर्थ तथा मनुष्यमें स्थित भग-वत्संकल्प, मर्त्योंमें स्थित **अमर्त्य, अमर्त्यं मर्त्येषु,** का विचार प्रतिपादित करते हैं। इस ज्वालाके विषयमें कहा गया है कि यह परम या प्रथम शक्ति है। भगवन्मुखी संकल्प अन्य सभी भगवन्मुखी शक्तियोंका नेतृत्व करता है; उसकी उपस्थिति सत्य और अमरत्वकी ओर गतिका आरम्भ है और वह यात्राका

नायक भी है। गुह्य साधनाके संचालनमें वह महत्तम शक्ति है—**यजिष्ठ** है, यज्ञ करनेके लिए सर्वाधिक शक्तिशाली है। मनुष्यका यज्ञ एक तीर्थ-यात्रा है और दिव्य **संकल्प-शक्ति** उसकी नेत्री है, अतएव प्रत्येक यज्ञ-कार्यमें हमें इसीकी उपासना या प्रार्थना करनी चाहिए अथवा इसीकी उपस्थितिकी कामना करनी चाहिए।

ऋचाकी दूसरी पंक्ति मनुष्योंमें इस ज्वालाके प्रथम अन्वेषण या जन्मका वर्णन हमारे सामने प्रस्तुत करती है। क्योंकि आत्मा मनुष्यमें वहाँ हमारी सत्ताकी अन्तर्गुहामें गुप्त रूपसे विद्यमान है, **गुहा हितम्**, जैसा कि वेदों और उपनिषदोंमें कहा गया है; और उसकी संकल्पशक्ति आध्यात्मिक संकल्पशक्ति है जो वहाँ आत्मामें निगूढ़ है, निश्चय ही वह हमारी समस्त बाह्य सत्ता और क्रियामें विद्यमान है, क्योंकि समस्त सत्ता और क्रिया आत्मा ही है, किन्तु फिर भी उसकी वास्तविक प्रकृति, उसकी सहजात क्रिया छुपी हुई है, वह यहाँ परिवर्तित रूपमें ही विद्यमान है, भौतिक जीवनमें वह अपने आध्यात्मिक-शक्तिके सच्चे स्वरूपमें प्रकट नहीं है। यह वैदिक चिंतनका एक आधारभूत विचार है; और यदि हम इसे अच्छी तरह मनमें रखें तो हम वेदकी अनूठी रूपकमालाको हृदयंगम कर सकेंगे। पृथ्वी भौतिक सत्ताका प्रतीक है; भौतिक सत्ता, भौतिक आनन्द और कार्य इत्यादि 'पृथ्वी'के ही प्ररोह या उपज हैं; इसलिए उनका प्रतीक है वन, वृक्ष, पौधे, सब प्रकारकी ओषधि-वनस्पतियां, **वन, वनस्पति, ओषधि**। अग्नि वृक्षों और पौधोंमें छुपी हुई है, वह पृथ्वीपर उगनेवाले प्रत्येक पदार्थमें, **वनेषु**, छुपा हुआ ताप और आग है। भौतिक जीवनमें हम जिस किसी भी पदार्थमें आनन्द लेते हैं वह आत्माकी गुप्त-ज्वालाकी उपस्थितिके बिना अस्तित्वमें नहीं आ सकता था या 'पुरोहित' (सम्मुख स्थापित) नहीं हो सकता था। अरणियोंको मथकरके, अरणि नामक सुदाह्य काष्ठके दो टुकड़ोंको परस्पर रगड़कर आगको प्रज्वलित करना अग्निको अपने रूपमें, **रूपे**, प्रदीप्त करनेका एक प्रकार है, पर इसीको एक और जगह अंगिरस् ऋषियोंका कार्य बताया गया है। यहाँ अप्नवान और भृगुओंको इस प्रकार अग्निके प्रदीप्त करनेवाले कहा गया है पर विधिका कोई निर्देश नहीं किया गया। केवल इतना ही कहा गया है कि उन्होंने इसे इस प्रकार प्रदीप्त कर दिया कि वह वनोंमें चित्र-विचित्र ज्योतिके सौन्दर्यके साथ, एक व्यापक उपस्थितिके रूपमें प्रज्वलित हो उठा, **वनेषु चित्रं विभ्वम्**। गूढ़ प्रतीकवादके अनुसार अवश्य ही इसका अर्थ होना चाहिए—मनुष्यके भौतिक जीवनमें दिव्य संकल्प और ज्ञानकी ज्वालाकी समृद्ध और नानाविध अभिव्यक्ति, जो उसके जीवनकी सब उपजों (प्ररोहों)

पर, उसके समस्त अस्तित्व, कार्य और सुख-भोग पर अधिकार करले, उसे अपना भोज्य—**अन्नम्**—बना ले और उसका भक्षण कर उसे आध्यात्मिक जीवनकी सामग्रीमें बदल दे। किन्तु मनुष्यके स्थूल भौतिक जीवनमें आत्माकी इस अभिव्यक्तिको भृगुओंने प्रत्येक मानव प्राणीके लिए, **विशे-विशे**, सुलभ बनाया था—हमें यह अनुमान करना होगा कि ऐसा उन्होंने यज्ञकी विधिके द्वारा ही किया था। इस **अग्नि**को, दिव्य **संकल्पशक्ति**की इस सर्वजनीन ज्वालाको उन्होंने यज्ञका **होता** बनाया था।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि ये भृगु कौन हैं—जिनमेंसे, हम कल्पना कर सकते हैं कि, अप्नवान कमसे-कम इस कार्यमें अग्रणी या प्रमुख है? क्या यह बात केवल ऐतिहासिक परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए कही गई है कि भृगु अंगिरस् ऋषियोंकी तरह गूढ़ वैदिक ज्ञान और साधनाके संस्थापक थे? पर यह कल्पना अपने-आपमें संभव होती हुई भी चौथे मन्त्रमें आए एक विशेषण 'भृगवाणम्'से खण्डित हो जाती है जो स्पष्टतः ही इस पहली ऋचाकी ओर संकेत करता है। सायण वहाँ इसका अर्थ करते हैं "भृगुकी भांति कार्य करते हुए" और भृगुकी भांति कार्य करनेका अर्थ है चमकना। हम यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्यको उभरते देखते हैं कि परम्परागत ऋषियों और उनके परिवारोंमेंसे कम-से-कम कुछ एक अपने स्वरूपमें प्रतीकात्मक हैं। यह तथ्य यहाँ कर्मकाण्डीय व्याख्याकारने भी एक तर्कसंगत व्यावहारिक तथ्यके प्रति अपनी आसक्तिके होते हुए भी स्वीकार कर लिया है। जिस प्रकार अंगिरस् ऋषि वेदमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे अग्निकी सात प्रभाएं हैं, **सप्त धामानि**—सायण कहते हैं कि वे आगके दहकते अंगारे हैं, पर यह तो निरा व्युत्पत्ति-कौशल है,—उनके 'सप्त-प्रभा-रूप' होनेके संकेत वेदमें सर्वत्र पाए जाते हैं, पर दसवें मण्डलमें यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी गई है, (जिस प्रकार वे सप्त-प्रभा-रूप हैं) ठीक इसी प्रकार भृगु (धात्वर्थ—भृज् प्रज्वलित करना) वेदमें स्पष्टतः ही **ज्ञानके अधिपति** सूर्यकी प्रज्वलित शक्तियाँ हैं। तो फिर प्रस्तुत मन्त्रमें प्रतिपादित सारे-का-सारा विचार निश्चयोत्पादक स्पष्टताके साथ प्रकट हो जाता है। सत्योद्भासक ज्ञानकी शक्तियाँ ही, द्रष्ट्र-प्रज्ञाकी शक्तियाँ ही, जिनके प्रतीकरूप प्रतिनिधि हैं भृगु, आध्यात्मिक संकल्पशक्तिकी यह महान् उपलब्धि या आविष्कार करती हैं और इसे प्रत्येक मानव प्राणीके लिए सुलभ बना देती हैं। अप्नवानका अर्थ है वह जो कर्म करता है या वह जो उपलब्ध एवं आयत्त करता है। द्रष्ट्र-प्रज्ञा ही मापती है और सत्य-दर्शनके प्रकाशमें उपलब्ध करती है, उस सत्य-दर्शनके परिणाम-स्वरूप ही भृगुओंको (आध्यात्मिक संकल्पशक्ति,

अग्नि की) उपलब्धि होती है। यहाँ इस ऋचाका अर्थ पूर्ण हो जाता है।

इसपर तुरन्त ही यह कहा जायगा कि यह भावराशि इतनी अपरिमित है कि इसे इस अकेली ऋचामें नहीं पढ़ा जा सकता और कि यहाँ ऐसे किसी अर्थका कोई प्रत्यक्ष संकेत-सूत्र ही नहीं है। निःसन्देह यहाँ कोई प्रत्यक्ष सूत्र नहीं है, हैं केवल प्रच्छन्न संकेत जिन्हें लांघ जाना और दृष्टिमें न लाना आसान है। गुह्यवादियोंका अभिमत भी यही था कि साधारण संसारी लोग—अदीक्षित पंडित भी जिनसे बाहर नहीं हैं,—इनके ऊपर-ऊपरसे गुजर जाएं और इनकी उपेक्षा कर दें। मैंने ये अर्थ शेष वेदके संकेतोंके आधार पर ला बिठाए हैं। परन्तु स्वयं इस सूक्तमें जहाँ तक इस पहली ऋचाका सम्बन्ध है यह सहज ही एक शुद्ध कर्मकाण्डीय ऋचा हो सकती है, पर वह केवल तभी यदि इसे अकेले लिया जाय। ज्यों ही हम इससे आगे चलते हैं, हम स्पष्ट मनोवैज्ञानिक निर्देशोंके अम्बारमें पूरी तरहसे जा उतरते हैं। यह बात बहुत शीघ्र, यहाँ तक कि दूसरी ऋचामें ही, प्रत्यक्ष होने लगेगी।

ऋचा 2

अग्ने कदा त आनुषग् भुवद्देवस्य चेतनम्।
अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्वीड्यम् ॥2॥

अग्ने हे अग्नि! **कदा** कब **ते देवस्य चेतनम्** तुझ देवका ज्ञान (या चैतन्य)के प्रति जागरण **आनुषग् भुवत्** सतत स्थायी होगा (अपनी धारामें अविच्छिन्न होगा)। **अधा हि** क्योंकि तभी (या निःसन्देह अब) **मर्तासः** मर्त्य मनुष्य **त्वा जगृभ्रिरे** तुझे अधिकारमें कर लेते हैं (ग्रहण और धारण कर लेते हैं) जो तू **विक्षु ईड्यम्** (मानव) प्राणियोंमें (या प्रजाओंमें) पूजनीय है।

आलोचनात्मक टिप्पणियां

देवस्य—सायण 'देव' शब्दको कभी तो देवताके अर्थमें लेते हैं और कभी केवल 'दीप्यमान' इस विशेषणके पर्यायके रूपमें। **देवताओं**को देवाः इसलिए कहा जाता है कि वे **प्रकाशमान सत्ताएँ** है, **प्रकाशके पुत्र** हैं। और यह भलीभांति संभव है कि यह शब्द ऋषियोंको सदा इस विचारका स्मरण कराता रहा हो पर मैं नहीं समझता कि देव वेदम कहीं भी एक कोरा रंगरूप-रहित विशेषण है; सभी स्थलोंमें "देव" या "दिव्य" यह अर्थ सर्वश्रेष्ठ भावार्थ प्रदान करता है और इसे किसी अन्य अर्थमें लेनेके लिए मैं कोई उचित कारण नहीं देखता।

चेतनम्—सायण इसका अर्थ करते हैं तेजः (तेज), किन्तु **'चित्'** धातुका अर्थ 'चमकना' नहीं है, इसका अर्थ सदा 'सचेतन होना', 'सज्ञान होना' या 'जानना' होता है, **चेतति, चेतयति**—जानता है, जनवाता है, **चेतस्**—हृदय, मन, ज्ञान, **चैतन्यम्, चेतना**—चेतनता, चैतन्यशक्ति, **चित्तम्**—हृदय, चेतना, मन। अलंकार या प्रतीकका आश्रय लिए बिना इसे यहाँ प्रकाशके अर्थमें लेना एक स्पष्ट, सीधे मनोवैज्ञानिक संकेतको, बिना किसी औचित्यके, जानबूझकर दृष्टिसे ओझल करना है।

अधा, अ-धा—इस या उस प्रकारसे, इस प्रकार, पर साथ ही इसका अर्थ होता है 'तब या अब'। सायण इसका संबन्ध 'भुवत्'के साथ जोड़कर इसका अर्थ करते हैं 'इसलिए' (होना चाहिए)। ऐसा करते हुए वे 'हि' के अपने अभिमत अर्थकी तैयारी करते हैं। वे कहते हैं, हि=क्योंकि, इस कारण। इस प्रकार, **'ते चेतनम् आनुषग् भुवत्, अधा हि'**का अर्थ सायण यों करते हैं :—तेरा प्रकाश सतत क्यों होना चाहिए? इसलिए क्योंकि—**अधा हि...**(यह एक बहुत ही जोर-जबरदस्तीसे की हुई अर्थ-योजना है जो सर्वथा अस्वाभाविक है और भावकी शृंखला, गतिधारा तथा उसके सीधे-सादे अनुक्रमके विरुद्ध है।

जगृभ्रिरे—यह एक वैदिक रूप है। इसे वैयाकरण 'ग्रह्—पकड़ना' इस धातुसे, 'ह्'के 'भ्'में परिवर्तनके द्वारा, बना हुआ मानते हैं, बहुत संभवतः यह एक पुराने धातु 'ग्रभ्'से बना है और एक अनोखा, अप्रचलित, आर्ष रूप है। यदि इसका भावार्थ है, "क्योंकि उसे वे ग्रहण कर लेते हैं", और यहाँ भूतकाल 'पूरे हो चुके कार्य'का अर्थ देता है तो हम यों कहेंगे, "ग्रहण (अधिकृत) कर चुके होंगे", अर्थात्, "जब तू सतत जानता है (सचेतन होता है)" अथवा 'अधा'को 'अब'के अर्थम लें, "निःसन्देह अब ही उन्होंने ग्रहण किया है पर अभी सतत चैतन्य **(आनुषक् चेतनम्)** प्राप्त नहीं किया।" पर इससे वैसा अच्छा अर्थ नहीं बनता और साथ ही इसमें भद्दे विपर्यय और अध्याहारके दोष भी आ घुसते हैं।

अनुवाद

"हे अग्निज्वाला, ज्ञानके प्रति तेरा जागरण कब एक अविच्छिन्न शृंखला-रूप होगा? क्योंकि तभी मनुष्य तुझे इस रूपमें ग्रहण (अधिकृत) कर लेते हैं कि तू प्राणियोंमें उपास्य देव है"।

यहाँ हम 'चेतनम्' शब्दमें पहला स्पष्ट एवं सीधा मनोवैज्ञानिक संकेत पाते हैं। पर अग्निके इस सतत सज्ञान होने या ज्ञानके प्रति जागरित होने-

का अर्थ क्या है? पहले हम मनोवैज्ञानिक संकेतसे पिण्ड छुड़ानेका यत्न करें, ऐसा समझें कि **चेतनम्**=चेतना और फिर अग्निकी चेतनाको उसके जलनेका एक काव्यमय रूपकमात्र समझें। किन्तु अगली ऋचाओंमें हम **'आनुषक् चेतनम्'** इस पदावलिकी जो आवृत्ति पाते हैं वह इस अर्थके विरोधमें जाती है। ५वीं ऋचामें इसकी आवृत्ति यों हुई है: **'आनुषक् चिकित्वांसम्'** जिसमें **'चिकित्वांसम्'** निश्चय ही 'सचेतन ज्ञान'का द्योतक है न कि केवल 'जलने'का। तीसरी ऋचामें भी 'चेतनम्'का विचार फिरसे लिया गया है और मन्त्रके शुरूके दो शब्दों **'ऋतावानं विचेतसम्'**में स्वयं **'चेतनम्'** शब्दको भी प्रतिध्वनित किया गया है। **'ऋतावानं विचेतसम्'**का अर्थ है 'सत्यसे युक्त, ज्ञान (प्रज्ञा)में पूर्ण' और ये दोनों अग्निदेवके लिए विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। इस बलपूर्ण संकेतसे आंखें मूंद लेना और 'चेतनम्'को निरे जलने, 'ज्वलनम्'के अर्थमें लेना केवल एक पैंतरेबाजी होगी। तो क्या इसका अर्थ स्थूल यज्ञकी ज्वालाका सतत प्रज्वलन है, जो इस विचारको साथ लिए हुए है कि ज्वाला अग्निदेवका शरीर है और चेतन देवकी उपस्थितिको सूचित करती है। तो फिर अग्निका ज्ञान या प्रज्ञा किस बातमें निहित है? यह कहा जा सकता है कि वह केवल **होता** और **कविः** (द्रष्टा)के रूपमें ही ज्ञानवान् है जो स्वर्गका मार्ग जानता है (मन्त्र 8)। पर तब **'ऋतावानं विचेतसम्'**का क्या होगा? वह निश्चय ही किसी महत्तर ज्ञान, किसी महान् **सत्य**की ओर संकेत करता है जिसे अग्नि धारण करता है। क्या यह सब केवल भौतिक **अग्नि**के देवकी ओर ही निर्देश करता है या एक **अन्तरग्नि**के ज्ञान एवं प्रज्ञाकी ओर, उस अन्तरग्निके जो मानवमें और जगत्में स्थित भागवत शक्ति या भगवत्संकल्पशक्तिकी अग्नि है, ज्योतिर्मय एकमेवकी, **देवस्य**, अतिथि और द्रष्टा, **अतिथिः, कविः** की। मैं इसे इस अर्थमें लेता हूँ—ऋषि इस आन्तर **अग्नि**का आवाहन कर कहता है, "कब तू मेरे यज्ञकी वेदीपर मुझमें निरन्तर प्रदीप्त होगा; कब तू प्रज्ञाके प्रत्यक्ष उन्मेषोंको, उनकी समस्त निर्बाध शृंखला, सम्बन्ध-परम्परा, व्यवस्था और संपूर्णता सहित प्रदान करनेके लिए ज्ञानकी एक सतत-स्थायी शक्ति बन जायगा, सदा-सर्वदा और सम्पूर्णतया इस प्रज्ञाके ही वचनोंको, **काव्यानि**, बोला करेगा"? यदि प्रस्तुत मन्त्र अन्तर्ज्वालासे किंचित् भी संबन्ध रखता है तो इसका अर्थ अवश्यमेव यही होना चाहिए। हमें स्मरण रखना होगा कि वैदिक प्रतीकवादके अनुसार, सारे प्रतीकात्मक वर्षभर—अंगिरसोंके यज्ञके नौ या दस महीनों तक—सतत यज्ञ करके ही **सूर्य**को, **सत्य** एवं **प्रज्ञा**के स्वामीको अन्धकारकी गुफासे प्राप्त किया गया था। बारंबार दोहराया गया यह एक ही यज्ञ,

प्रत्यक्ष प्रकट होती हुई **अन्तर्ज्वाला**के इस सातत्यकी तैयारीमात्र है। केवल तभी मनुष्य पुनः-पुनः दबावके द्वारा अग्निको समय-समय पर न केवल जगाते ही हैं, अपितु संकल्प और ज्ञानकी इस अन्तर्ज्वालाको, इस प्रत्यक्ष उपस्थित देवको प्राप्त भी कर लेते हैं तथा अपने अन्दर सतत धारण भी करते हैं, जिसे हम तब सभी सचेतन विचारशील प्राणियोंमें देखते और पूजते हैं। अथवा हम अन्तिम दो चरणोंको इस अर्थमें ले सकते हैं "अब ही निःसन्देह वे इसे ग्रहण कर लेते हैं" इत्यादि। और तब हमें इसे इससे विरुद्ध अर्थमें भी लेना पड़ेगा, अर्थात् इस अर्थमें कि इस समय मनुष्योंके पास यह सतत ज्वाला नहीं है, पर केवल यज्ञके प्रयासमें यज्ञकी वास्तविक अवधि तकके लिए वे उसे अपने अधिकारमें कर लेते हैं। यह अर्थ संभव है, पर यह उतना स्वाभाविक अर्थ नहीं है जितना मेरा दिया हुआ अर्थ; वास्तविक शब्दोंसे यह कम सरल और कम सीधे रूपमें निकलता है। अगली दो ऋचाओं (3-4)में ही अग्निके **आनुषक् चेतनम्** (सतत चैतन्य)से पहलेकी वर्तमान क्रियाका वर्णन किया गया है, जब कि पांचवीं ऋचामें ऋषि ज्ञानकी महत्तर सतत ज्वालाके विचारकी ओर फिरसे लौटता है, इस मन्त्रके **'आनुषक् चिकित्वांसम्'**में दूसरे मन्त्रके **आनुषक् चेतनम्'**को और अधिक अर्थगर्भित रूपमें दुहराता है। यह मुझे सूक्तकी विचारधाराका स्पष्ट स्वाभाविक क्रम प्रतीत होता है।

ऋचा ३

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे ॥३॥

पश्यन्तः वे उसे देखते हैं जो **ऋतावानम्** (ऋतवन्तम्) सत्यसे संपन्न है, **विचेतसम्** पूर्ण ज्ञानी है, **द्यामिव स्तृभिः** नक्षत्रमण्डित आकाशकी तरह **दमे-दमे** (गृहे-गृहे) घर-घरमें **विश्वेषाम् अध्वराणाम्** समस्त (यात्रा)-यज्ञोंका **हस्कर्तारम्** प्रकाशक है।

आलोचनात्मक टिप्पणियां

ऋतावानम्, ऋत+वन्=ऋतावान्

वैदिक प्रत्यय 'वत्'का वही अर्थ है जो लौकिक 'वन्' प्रत्ययका, **ऋतावा**=ऋतवान्, 'ऋत्' शब्द 'ऋ' 'गति करना' धातुसे बना है। इसी कारण इसका एक अर्थ है 'जल'। 'सत्य' यह अर्थ इस प्रकार निकला हो सकता है, **ऋत**=जो सीखा या जाना जाता है, शाब्दिक रूपमें **ऋत**=वह वस्तु

जिसकी खोजमें हम जाते हैं और जिसे पा लेते हैं अथवा जिसकी हम छानबीन करते हैं और इस प्रकार जिसे सीख लेते हैं (तुलनीय, **ऋषि**), पर 'सत्य' यह अर्थ 'ऋजुता'के विचारसे भी निकल सकता है, लैटिन rectum (रैक्टुम्), ऋजु। कैसे इसका अर्थ यज्ञ हो जाता है यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है, संभवतः 'रीति', अनुष्ठान, नियम (विधि) या 'अनुसृत दिशा'के विचारसे, लैटिन regula (रैगुला, rule, नियम) के विचारसे यह अर्थ आया है। या फिर इसका अर्थ **कर्म** और इस प्रकार यज्ञिय कर्म भी हो जाता है; गत्यर्थक धातुओंका अर्थ प्रायः 'क्रिया करना' भी होता है (तुल. **चरितम्, वृत्तम्**)। सायण कहते हैं कि 'ऋतावा'का अर्थ प्रायः 'सत्यसे युक्त या यज्ञसे युक्त' हो सकता है। पर यहाँ वे इसका अर्थ करते हैं सच्चा, कपटसे रहित, **अमायिनम्**। एक और जगह वे यह मानते हैं कि 'सत्य' शब्द अग्निके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुआ है, अग्नि **सत्य-फल** है, यज्ञका सच्चा फल देता है। अधिकतर तो वे **ऋत**का अर्थ **यज्ञ** करते हैं। परन्तु यहाँ यह पूर्णतया स्पष्ट है कि '**ऋतावानम्**'का अर्थ 'सत्यका धारक' ही होना चाहिए, **अग्नि**के सत्यको हम चाहे किसी भी अर्थमें क्यों न लें।

विचेतसम्। सायण :—**विशिष्टज्ञानम्** अर्थात् विशिष्ट या महान् ज्ञान रखनेवालेको; वेदमें **प्रचेताः** और **विचेताः** में अत्यधिक भेद किया गया है जैसे कि उपनिषदोंमें और परवर्ती साहित्यमें **प्रज्ञान** और **विज्ञान**में किया गया है; **चित्ति** या **चेतः** ज्ञानका वाचक है, इनमेंसे पिछला शब्द लौकिक है, वैदिक नहीं। 'प्र' किसी विषयकी ओर अभिमुख ज्ञानका भाव प्रस्तुत करता है, **प्रचेताः**=बुद्धियुक्त, सामान्य अर्थमें बुद्धिमान्। (इस प्रकार सायण इसका अर्थ करते हैं प्रकृष्टज्ञानः—प्रकृष्ट ज्ञानवाला और वे 'प्रचेताः', 'विचेताः' शब्दोंमें कोई भेद नहीं करते)। 'वि'का अर्थ है विस्तृत रूपसे, व्यापक रूपसे या फिर उच्च मात्रामें; तब **विचेताः** का अर्थ हुआ अविकल या महान् या परिपूर्ण ज्ञान अर्थात् समग्रका और अवयवोंका ज्ञान रखनेवाला।

हस्कर्तारम्। 'हस्' चमकना, चमकता हुआ, (जिससे 'हँसना' यह अर्थ निकलता है) और 'कृ'का अर्थ है बनाना। सायण कहते हैं हस्कर्तारम्—प्रकाशकम्, यज्ञोंको प्रकाशमान करनेवालेको।

दमे। इस वैदिक शब्दका (ग्रीक domos, डोमोस्, लैटिन domus, डोमुस्) अर्थ सदा 'घर' होता है; वेदमें यह 'वशीकरण, नियन्त्रण' इत्यादि परवर्ती लौकिक अर्थमें प्रयुक्त नहीं होता।

अनुवाद

"वे सत्यके स्वामी, पूर्णप्रज्ञावान् अग्निको नक्षत्रमण्डित द्युलोककी तरह देखते हैं; घर-घरमें समस्त यात्रा-यज्ञोंके प्रकाशकको।"

इस ऋचामें 'विचेतसम्' शब्द स्पष्टतः ही पिछले मन्त्रके 'चेतनम्' शब्दका ही पुनः निर्देश करता है; इसका अर्थ है पूर्ण-ज्ञानवान् और इसे यहाँ ऋतावानम्से संयुक्त कर दिया गया है जिसका अर्थ है सत्य-युक्त, सत्यसे सम्पन्न। इन विशेषणोंसे जिसका वर्णन किया गया है वह अग्निदेव ही है न कि भौतिक अग्नि। अतएव पिछले मन्त्रमें **ते चेतनम्** का अर्थ होना चाहिए "ज्ञानके प्रति जगाता हुआ" अग्नि या "अग्निका मनुष्यको ज्ञानके प्रति जागरित करना",—क्योंकि **चेतयति**का अर्थ है जानने देना या जनवाना, ज्ञान कराना और इसका अर्थ 'स्थूल-भौतिक ज्वालाका जलना' नहीं हो सकता। परन्तु अग्निका यह सत्य एवं ज्ञान है क्या? अगले मन्त्रमें फिर इसका संबन्ध यज्ञको प्रकाशमान करनेके इसके कार्यके साथ दिखाया गया है, **अध्वराणां हस्कर्तारम्**। यज्ञको वह जो प्रकाश देता है वह क्या है? और इस कथनका क्या अभिप्राय है कि वह "नक्षत्रमण्डित द्युलोककी तरह" दिखाई देता है? सायण अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण चातुरीके साथ, पर समस्त सुरुचि और साहित्यिक विवेककी, अपने अनोखे ढंगसे, उपेक्षा करते हुए कहते हैं कि आगकी बिखरती हुई चिनगारियां तारोंके समान हैं और अतएव अग्नि द्युलोकके समान है,—यद्यपि यह कल्पना करनेका कोई कारण नहीं है कि 'स्तृभिः'से ये उल्काएं अभिप्रेत हैं। मैं किसी ऐसे कविकी कल्पना ही नहीं कर सकता जो अपने सिरमें आँखें और मस्तिष्कमें विवेक एवं अनुपात-बुद्धि रखते हुए वेदीपर जलती अग्निका इस प्रकार वर्णन करेगा। पर यदि इसका अवश्यमेव यही अर्थ है, तो यहाँ हमारे सामने एक शुद्ध आलंकारिक वर्णन है और उसपर भी एक बहुत बुरा, अतिरंजित एवं दूषित अलंकार। तब मन्त्रका जो अर्थ होगा वह बस इतना ही है कि मनुष्य इस ज्ञानवान् और सत्यमय अग्निको यज्ञिय अग्निके स्थूल रूपमें देखते हैं जो यज्ञके संपूर्ण कार्यपर अपनी ज्वालाओं द्वारा प्रकाश डालता है। तब तो दो विशेषण भी निरर्थक अलंकार हैं; तब 'अग्निके ज्ञानवान् होने'का विचार और नक्षत्रयुक्त द्युलोकका अलंकार या यज्ञको आलोकित करना जो मन्त्रका मुख्य विचार है—इनमें बिल्कुल ही संबन्ध नहीं रहता। अन्य कवियोंकी भांति मैं एक और ही प्राक्कल्पनाके आधारपर आगे बढ़ता हूँ जो मेरी समझमें अनुचित नहीं है, वह यह कि वैदिक ऋषि वामदेवने अन्य कवियों की ही भांति अपने विचारोंमें इसकी अपेक्षा किसी अधिक निकट संबन्धके साथ मन्त्र-रचनाकी। हमें

स्मरण रखना होगा कि अन्तिम मन्त्रमें उसने उस वस्तुकी कामना की है जो उसके पास नहीं है अर्थात् अग्निके सतत ज्ञानकी, और उसने कहा है कि निःसंदेह तभी मनुष्य उसे धारण तथा अधिकृत करते हैं। पर उससे पहले वे उसे किस रूपमें सतत देखते हैं, यद्यपि वे उसे देख तभी सकते हैं जब भृगु प्रत्येक मानव प्राणीके उपयोगके लिए उसे पा चुकते हैं? वे उसे सत्यके अधिपति, पूर्णज्ञान-संपन्नके रूपमें देखते हैं, पर जैसा कि हमें मानना ही होगा, अभी वे उसके संपूर्ण सत्य या परिपूर्ण ज्ञानके सहित उसे अधिकृत नहीं किए होते; क्योंकि वह नक्षत्रमण्डित आकाश एवं उनके यज्ञोंके प्रकाशकके रूपमें ही दिखाई देता है। नक्षत्रमण्डित आकाश सूर्यके प्रकाशसे रहित, रात्रिका आकाश है। अग्निका वर्णन वेदमें यों किया गया है कि वह रातमें भी चमकता है, रातको भी प्रकाश देता है, रात्रियोंमें तबतक प्रज्वलित रहता है जब तक प्रभात नहीं हो जाता,—यह प्रभात भी, इन्द्र और अंगिरसोंकी सहायता करके, वह स्वयं ही लाता है। यदि अग्निका अर्थ अन्तर्ज्वाला हो तो इस वर्णनका अर्थ प्रभावकारी, उपयुक्त और गंभीर हो जाता है। वेद में अन्धकार या रात्रि अज्ञानपूर्ण मनका प्रतीक है, जैसे कि दिन और उसका सौर प्रकाश आलोकित मनका। पर जब तक दिन या सतत ज्ञान नहीं हो जाता तब तक अग्निकी प्रभाएं रातके आकाशमें तारोंके समान होती हैं। जैसे पृथिवी भौतिक सत्ता है वैसे ही द्युलोक (आकाश) मानसिक सत्ता है। अग्निका समस्त सत्य और ज्ञान वहाँ विद्यमान है, पर वह रातके अन्धकारके कारण ही छुपा हुआ है। मनुष्य जानते हैं कि यह **प्रकाश** आकाशोंको व्यापे हुए वहाँ विद्यमान है किन्तु वे केवल उन तारोंको ही देखते हैं जिन्हें अग्निने इन आकाशोंमें अपनी प्रकाशप्रद अग्नियोंके रूपमें प्रदीप्त किया है।

IV

वेदकी व्याख्या[1]

एक प्रारम्भिक समालोचना का प्रत्युत्तर[2]

अपनी समालोचनामें आपने "आर्य"की जो उदारतापूर्ण सराहनाकी है उसके लिए मैं आपका धन्यवाद करता हूँ। क्या मैं भी अपने 'The Secret of the Veda (वेद-रहस्य)'-विषयक लेखपर आपकी आलोचनाका उत्तर देनेके लिए, या यूँ कहें कि अपने दृष्टिकोणकी व्याख्याके लिए आपके दैनिक पत्रके स्तंभोंमें कुछ स्थान पानेकी अभिलाषा कर सकता हूँ। मेरे भाव-प्रकाशनकी त्रुटियोंके कारण तथा "Arya (आर्य)"में मेरे लेखके संक्षिप्त और सारांशरूप ही होनेके कारण आप मेरे दृष्टि-बिन्दुको कुछ अंशोंमें गलत समझ बैठे हैं। मुझे पता नहीं कि एक ऐसे समयमें, जब संपूर्ण संसार यूरोपको आलोड़ित करनेवाले भीषण मानवघाती संघर्षमें डूबा हुआ है, आप मेरे लेखके लिए इतना स्थान दे भी पाएंगे या नहीं।

निश्चय ही मैंने यह कहीं नहीं कहा कि "जिस ज्ञानका कोई उद्गम पहलेके मूल स्रोतोंमें नहीं पाया जा सकता उसका अवश्यमेव तिरस्कार और त्याग कर देना चाहिए।" यह निःसन्देह एक बीभत्स स्थापना होगी। मेरा असली कथ्य यह था कि ऐसा ज्ञान जब विकसित दर्शन और मनोविज्ञानको प्रकट करता हो तो उसकी ऐतिहासिक व्याख्याकी आवश्यकता है—यह एक बहुत ही भिन्न बात है। यदि हम मानवजातिमें ज्ञानके उत्तरोत्तर विकासके

---

1. वेदपर श्रीअरविन्दका सबसे पहला लेख, जो उनकी एक धारावाहिक लेखमाला 'The Secret of the Veda (वेद-रहस्य)' का पहला अध्याय ही था, अंग्रेजी मासिक पत्र "Arya (आर्य)"के पहले अंकमें 15 अगस्त, 1914 को प्रकाशित हुआ था।

   संभवतः वह अध्याय ऐसे क्रान्तिपूर्ण विचारोंसे युक्त पाया गया कि एक कट्टरपंथी पण्डित प्रो० सुन्दरराम ऐय्यरने "Hindu (हिन्दू)"के सम्पादकीयमें उसकी समीक्षाकी। श्रीअरविन्दने उसका तुरन्त उत्तर दिया जो यहाँ ऊपर प्रकाशित किया जा रहा है।

2. 27 अगस्त 1914 को मद्रासके अंग्रेजी दैनिक The Hindu (हिन्दू)में प्रकाशित एक पत्रका हिंदी अनुवाद।—अनुवादक

यूरोपीय विचारको स्वीकार करें—और मेरा तर्क इसी आधारपर आरम्भ हुआ था—तो हमें ब्रह्मवादका मूल किसी बाह्य उद्गममें ढूंढ़ना होगा, जैसे कि पहलेकी द्राविड़ संस्कृतिमें—पर यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मैं तथाकथित आर्यों और द्रविड़ोंको एक ही सरूप जाति मानता हूँ, अथवा हमें ब्रह्मवादका मूल किसी पूर्वतर विकासमें ढूंढ़ना होगा जिसके अभिलेख या तो खो गए हैं या स्वयं वेदमें ही मिलेंगे। मैं यह नहीं देख पाता कि कैसे इस तर्कमें 'अनवस्था'-दोष (regressus ad infinitum) अन्तर्भूत है सिवाय उस हद तक जिस तक कि विकास और उत्तरोत्तर कार्यकारण-भावका सारा विचार ही इस आक्षेपके प्रति खुला हुआ है। जहाँ तक वैदिक धर्मके मूल उद्गमोंका प्रश्न है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे अभी तथ्य-सामग्रीके अभावमें हल नहीं किया जा सकता। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि इसका उद्गम है ही नहीं या, दूसरे शब्दोंमें, कि मानवता विकसनशील आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा **सत्यके साक्षात्कार**के लिए तैयार ही नहीं हुई थी। और फिर उपनिषदोंके विषयमें इस वर्णनमें कि वे वेदोंके कर्मकाण्डीय आधिभौतिकवादके विरुद्ध दार्शनिक मनीषियों-का विद्रोह हैं, मेरा उद्देश्य, निश्चय ही, अपना निजी मत प्रकट करना नहीं था। यदि यह मेरा अपना मत होता तो मैं न तो प्राचीनतर श्रुति (वेद)-को अन्तःप्रेरित धर्मग्रन्थ मान सकता था और न उपनिषदोंको वेदान्त, और तब मैं 'वेदका रहस्य' खोजनेका कष्ट न उठाता। यूरोपीय विद्वानोंका मत है और मैंने यह माना था कि यदि सूक्तोंकी साधारण व्याख्याओंको, वे चाहे भारतीय हों या यूरोपीय, स्वीकार करना है तो उक्त मत उनका तर्कसंगत परिणाम होगा। यदि वैदिक सूक्त, पाश्चात्य विद्वानोंकी व्याख्यानुसार, हर्षोत्फुल्ल और हृष्ट-पुष्ट बर्बरोंकी याज्ञिक रचनाएं हैं तो उपनिषदोंको वेदों-के कर्मकाण्डीय आधिभौतिकवादके विरुद्ध विद्रोह ही समझना होगा। पर मैंने इस स्थापना और इसके परिणाम दोनोंसे ही इन्कार किया है और मैंने अन्तिम रूपसे यह निरूपित किया है कि न केवल उपनिषदें बल्कि उनके सभी परवर्ती रूप (स्मृति आदि) वैदिक धर्मसे ही विकसित हुए हैं और वे उसके सिद्धान्तोंके प्रति विद्रोह-रूप नहीं हैं। भारतीय सिद्धान्त इस कठिनाईका परिहार एक और प्रकारसे करता है, वह वेदकी व्याख्या तो याज्ञिक सूक्तोंके ग्रन्थके रूपमें करता है और उसका आदर करता है **ज्ञान**के ग्रन्थके रूपमें। वह इन दो प्राचीन सत्योंमें प्रभावी ढंगसे समन्वय स्थापित किए बिना इन्हें साथ-साथ स्थान देता है। मेरी दृष्टिमें वह समन्वय केवल तभी साधित हो सकता है यदि हम सूक्तोंके बाहरी पक्षमें भी कर्मकाण्डीय आधिभौतिकवाद

नहीं बल्कि प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड देखें। इसमें सन्देह नहीं कि कर्मकाण्डको आत्मज्ञानकी अनिवार्य आधारशिला माना जाता था। यह धार्मिक श्रद्धाकी वस्तु था और श्रद्धाकी वस्तुके नाते मुझे इसकी युक्तियुक्ततामें सन्देह नहीं। परन्तु बौद्धिक छानबीनमें मुझे बौद्धिक साधनोंसे ही अग्रसर होना होगा। कर्मकाण्ड बुद्धिके लिए तभी युक्तियुक्त बनता है यदि हम इसकी ऐसी व्याख्या करें जिससे यह दिखाया जा सके कि कैसे इसका अनुष्ठान उच्चतर ज्ञानमें सहायक होता है, उसे तैयार या साधित करता है। अन्यथा सिद्धान्त-रूपमें वेदका चाहे कितना ही अधिक सम्मान क्यों न किया जाय, व्यवहारमें उसे न तो अनिवार्य समझा जायगा न सहायक और अन्तमें क्रियात्मक रूपसे उसे एक ओर ही रख दिया जायगा जैसा कि वस्तुतः हुआ है।

मुझे ज्ञात है कि वेदके कुछ सूक्तोंकी व्याख्या याज्ञिक अर्थसे भिन्न अर्थमें की जाती है; यहाँ तक कि यूरोपीय विद्वान् भी वेदोंके "परवर्ती सूक्तों"में उच्चतर एवं धार्मिक विचारोंको स्वीकार करते हैं। मुझे यह भी विदित है कि पृथक्-पृथक् मन्त्रोंको दार्शनिक सिद्धान्तोंके समर्थनमें उद्धृत किया जाता है। मेरा कथ्य यह था कि वेदकी उपलब्ध वास्तविक व्याख्याओंमें सूक्तोंको जो सामान्य भाव-ध्वनि एवं आशय प्रदान किया गया है उसमें ऐसे अपवाद-रूप स्थल कोई हेर-फेर नहीं करते। उन व्याख्याओंके साथ हम ऋग्वेदको, समग्रतया, उच्च आध्यात्मिक दर्शनके आधारके रूपमें प्रयुक्त नहीं कर सकते, जैसा कि उपनिषदोंको समग्रतया इस रूपमें प्रयुक्त किया जा सकता है। अब मैंने वेदकी समग्र रूपमें व्याख्या और वेदके सामान्य स्वरूपके निरूपणके कार्यमें ही ध्यान लगाया है। मैं यह पूर्णतया स्वीकार करता हूँ कि एक पार्श्वधाराके रूपमें ऐसी प्रवृत्ति सदा रही है जो वेदकी समूचे रूपमें भी आध्यात्मिक व्याख्याका पोषण करती आई है। यह विचित्र बात होगी यदि इतनी अध्यात्मचेता जातिमें ऐसे प्रयत्नोंका सर्वथा अभाव ही रहा हो। किन्तु फिर भी वे पार्श्वधाराएं ही हैं और उन्हें सर्वजनीन स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। सामान्यतया भारतीय विद्वान्की दृष्टिमें केवल दो ही व्याख्याएं हैं, सायणकी और यूरोपीय। क्योंकि मैं इस सामान्य मतके माननेवालोंके लिए ही लिख रहा हूँ, अतः क्रियात्मक दृष्टिसे मेरा प्रयोजन इन दो व्याख्याओंसे ही है।

अभी भी मेरा यह मत है कि प्राचीन वेदान्तियोंकी पद्धति और परिणाम सायणकी पद्धति और परिणामोंसे पूर्णतया भिन्न थे। इसके जो कारण हैं वे मैं "Arya (आर्य)"के दूसरे और तीसरे अंकोंमें प्रस्तुत करूँगा। सिद्धान्ततः नहीं व्यवहारतः, सायणके भाष्यका परिणाम क्या है? वह भाष्य मन

पर क्या सामान्य छाप छोड़ता है? क्या यह एक महान् "ईश्वरीय ज्ञान वेद"की, उच्चतम ज्ञानके ग्रन्थकी छाप है? इसकी अपेक्षा क्या यह वास्तवमें वह छाप नहीं है जो यूरोपीय विद्वानोंने पाई और जिससे उनके सिद्धान्त आरम्भ हुए—क्या यह ऐसे आदिम पुजारियोंका चित्र नहीं है जो मित्र देवताओं, मित्र किन्तु संदिग्ध स्वभाववाले देवों, आग, वर्षा, वायु, उषा, रात, पृथ्वी और आकाशके देवताओंके प्रति धन, अन्न, गाय-बैलों, घोड़ों, स्वर्ण, अपने शत्रुओं यहाँ तक कि अपने आलोचकों एवं निन्दकोंके भी वध, युद्धमें विजय और विजितोंकी लूट-पाटके लिए प्रार्थना किया करते थे? और यदि ऐसी बात है तो किस प्रकार ऐसे सूक्त ब्रह्मविद्याके लिए एक अपरिहार्य तैयारी-रूप हो सकते हैं? निःसन्देह यह दूसरी बात है कि यह एक ऐसी तैयारी हो जो विरोधी वस्तुओं द्वारा की जाती है, अधिकतम भौतिकवादी और अहंकारमय प्रवृत्तियोंको उपभोग द्वारा समाप्त करके या उनका उत्सर्ग करके की जाती है। इसे कुछ-कुछ उसी प्रकार तैयारी कहा जा सकता है जिस प्रकार यहूदी धर्मकी पांच पुरानी अधकचरी पुस्तकोंको ईसाके अविकसित धर्मग्रन्थकी तैयारी-रूप कहा जा सकता है। मेरा अभिमत यह है कि वे सूक्त यज्ञमें निहित किसी यान्त्रिक लाभके कारण अनिवार्य नहीं थे वरन् इसलिए अनिवार्य थे कि वे अनुभव जिनकी वे सूक्त कुंजी हैं और याज्ञिक क्रियाकलाप जिनके प्रतीक होते थे, विश्वमें ब्रह्मके समग्रज्ञान और साक्षात्कारके लिए आवश्यक हैं तथा विश्वातीत ब्रह्मके ज्ञान और साक्षात्कारकी तैयारीको सम्पन्न करते हैं। शंकराचार्यके कथनको सार-रूपमें कहें तो, वे सूक्त, समस्त ज्ञानकी, चेतनाके सभी स्तरोंके ज्ञानकी खान हैं; और हमारी सत्तामें दिव्य, मानव और पाशव तत्त्वोंकी अवस्थाओं एवं उन तत्त्वोंके सम्बन्धोंको अवश्य निर्धारित करते हैं।

मैं यह दावा नहीं करता कि वेदकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करनेका सर्वप्रथम प्रयत्न यह मेरा ही है। यह वेदका गूढ़ एवं आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करनेका एक प्रयत्न है जो आदिसे अन्त तक क्रियात्मक अनुसंधानकी आधुनिकतम पद्धति पर आधारित है। यह पहला प्रयत्न है या सौवां इसका कुछ महत्त्व नहीं। वैदिक शब्दोंकी मेरी व्याख्या तुलनात्मक भाषाविज्ञानके क्षेत्रके एक बहुत बड़े भागके पुनरालोचन पर आधारित है और एक नये आधार पर किए गए पुनर्निर्माण पर प्रतिष्ठित है जो, मुझे कुछ आशा है कि, हमें भाषाके सच्चे विज्ञानके अधिक निकट ले आयगा। इस विषयकी विस्तृत विवेचना मैं एक अन्य कृति "आर्यभाषाके उद्गम"[1]में करनेका विचार

1. देखिये यही ग्रन्थ पृ० 259। —अनुवादक

रखता हूँ। मुझे यह भी आशा है कि मैं उन प्राचीन आध्यात्मिक विचारों-के आशयकी पुनरुपलब्धिका मार्गदर्शन करूंगा जिनके संकेत हमें पुराने प्रतीक और गाथासे प्राप्त होते हैं और जो मेरा विश्वास है कि, किसी समय एक सार्वजनीन संस्कृतिके अंग थे। वह संस्कृति भूमण्डलके एक बहुत बड़े भाग-में व्याप्त थी जिसका केन्द्र संभवतः भारत था। मेरी इस लेखमाला "वेद-रहस्य"की एकमात्र मौलिकता इसी बातमें है कि यह उपर्युक्त विधिबद्ध प्रयत्नसे संबद्ध है।

अग्नि-स्तुति

ऋग्वेद, प्रथम मण्डल

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः[1]

सूक्त 1

1

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(अग्निम् ईळे) मैं दिव्यज्वालारूप **अग्निदेव**की उपासना करता हूं जो (पुरः-हितम्) पुरोहित है, (यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्) **यज्ञ**का दिव्य ऋत्विक् है, (होतारम्) ऐसा आवाहक है जो (रत्नधातमम्) आनन्दैश्वर्यको अत्यधिक प्रतिष्ठित करता है।

2

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥

(पूर्वेभिः ऋषिभिः) प्राचीन ऋषियों द्वारा (ईड्यः) उपास्य वह (अग्निः) **अग्निदेव** (नूतनैः उत) नवीन ऋषियों द्वारा भी (ईड्यः) उपास्य है। (सः) वह (देवान्) **देवों**को (इह) यहाँ (आ वक्षति) लाता है।

3

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥

(अग्निना) **अग्निदेव**के द्वारा मनुष्य (रयिम् अश्नवत्) उस ऐश्वर्यका उपभोग करता है जो (दिवे-दिवे पोषम् एव) निश्चय ही दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, (यशसम्) यशसे उज्ज्वल है और (वीरवत्तमम्) वीरशक्तिसे अतिशय पूर्ण है।

4

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद् देवेषु गच्छति॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (यम् अध्वरं यज्ञं विश्वतः) जिस यात्रा-यज्ञके चारों ओर तू (परिभूः असि) अपनी सर्वतोव्यापी सत्तासे विद्यमान होता है, (सः इत्) वह यज्ञ सचमुच ही (देवेषु गच्छति) देवोंमें पहुंचता है।

---

1. श्रीअरविन्दकी कृति Hymns to the Mystic Fire (गुह्य अग्निके सूक्त) के प्रथम मण्डलके सूक्तोंका अनुवाद। —अनुवादक

5

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत्॥

(अग्निः) **अग्निदेव** (होता) आह्वान करनेवाला है, (कविक्रतुः) **क्रान्तदर्शी संकल्प** है, (सत्यः) सत्यस्वरूप है और (चित्रश्रवस्तमः) समृद्ध रूपसे विविध अन्तः-श्रवणोंसे अतिशय सम्पन्न है। (देवः) वह **देव** (देवेभिः) **देवों**के साथ (आ गमत्) आए।

6

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः॥

(अङ्ग अग्ने) हे **अग्निदेव**! (दाशुषे) आत्मदान करनेवालेके लिए (त्वम्) तू (यद् भद्रम्) जो कल्याणकारी भलाई (करिष्यसि) करेगा, (तत् तव सत्यम् इत् अङ्गिरः) वह है वह परम **सत्य** जो निश्चय ही तेरा सत्य है, [तू उसे अपना परम सत्य ही प्राप्त करा देगा] हे **अंगिरा**!

7

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (वयं) हम (दिवे-दिवे) दिन-प्रतिदिन (दोषावस्तः) अंधकार और प्रकाशके समय (धिया) अपने विचारके द्वारा (नमः भरन्तः) नमस्कारको वहन करते हुए (त्वा उप आ इमसि) तेरे निकट आते हैं।

8

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे॥

(अध्वराणां राजन्तम्) यात्रारूप यज्ञोंके शासक, (ऋतस्य दीदिविं गोपाम्) **सत्य**के देदीप्यमान संरक्षक, (स्वे दमे वर्धमानम्) अपने घरमें वर्धमान [त्वा उप आ इमसि] तुझ **अग्निदेव**के निकट हम आते हैं।

9

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥

(सः) ऐसा तू, [इसलिए तू] (अग्ने) हे **अग्निदेव**! (नः) हमारे लिए (सूनवे पिता इव) पुत्रके लिए पिताकी तरह (सु-उपायनः भव) सुगमतासे प्राप्त होनेवाला बन। (स्वस्तये) हमारी सुखपूर्ण स्थितिके लिए तू (नः सचस्व) हमारे साथ दृढ़तासे जुड़ा रह।

मेधातिथिः काण्वः

सूक्त 12

1

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥

(अग्नि वृणीमहे) हम **अग्नि**का वरण करते हैं जो (होतारं) आवाहक है, (विश्ववेदसम्) सर्वज्ञ है, (दूतं) देवोंका दूत है और (अस्य यज्ञस्य) इस यज्ञका (सुक्रतुम्) सिद्धिकारक संकल्प है।

2

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्। हव्यवाहं पुरुप्रियम्॥

(विश्पतिं) प्रजाओंके **अधिपति,** (हव्यवाहं) हमारी [समर्पणरूप] भेंटों-के वाहक, (पुरुप्रियं) **बहुविध अभिव्यक्ति**के प्रेमपात्र, (अग्निम् अग्निम्) प्रत्येक अग्नि-ज्वालाको [यज्ञके कर्ता] (हवीमभिः) **देवों**का आह्वान करनेवाले सूक्तोंके द्वारा (सदा हवन्त) सदा पुकारते हैं और [पुरुप्रियं हवन्त] उस **एकमेव** भगवान्को पुकारते हैं जिसमें अनेक प्रिय पदार्थ विद्यमान हैं।

3

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे। असि होता न ईड्यः॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! तू (जज्ञानः) उत्पन्न होकर (वृक्तबर्हिषे) उस यज्ञकर्ताके लिए जिसने पवित्र आसन बिछा रखा है (देवान् इह आ वह) **देवों**को यहाँ ला। (नः ईड्यः होता असि) तू हमारा वरणीय आवाहक पुरोहित है।

4

ताँ उशतो वि बोधय यदग्ने यासि दूत्यम्। देवैरा सत्सि बर्हिषि॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (यत्) जब तू (दूत्यम् यासि) हमारा दूत बन-कर जाता है तब (तान्) उन देवोंको (वि बोधय) जगा दे जो (उशतः) हमारी भेंटोंको चाहते हैं। तू (बर्हिषि) पवित्र कुशापर (देवैः) **देवों**के साथ (आ सत्सि) अपना स्थान ग्रहण कर।

5

घृताहवन दीदिवः प्रति ष्म रिषतो दह। अग्ने त्वं रक्षस्विनः॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (घृत-आहवन) मनकी निर्मलताओंकी भेंटोंसे पुकारे जाते हुए (दीदिवः) देदीप्यमान देव! (त्वम्) तू (रिषतः रक्षस्विनः) सीमामें बांधनेवाले द्वेषियोंका (प्रति दह स्म) अवश्य ही विरोध कर और उन्हें भस्मीभूत कर दे।

6

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः॥

(अग्निना) अग्निसे ही (अग्निः) अग्निदेव (सम् इध्यते) पूर्णतया प्रदीप्त किया जाता है जो (कविः) द्रष्टा है, (गृहपतिः) घरका स्वामी है, (युवा) युवा है, (हव्यवाट्) भेंटको वहन करनेवाला है और (जुहु-आस्यः) जिसका मुख हवियोंको ग्रहण करता है।

7

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

तू (अग्निम् उप स्तुहि) उस दिव्य अग्निके निकट पहुंच और उसके स्तुतिगीत गा जो (कविम्) द्रष्टा है और (सत्यधर्माणम्) सत्य ही जिसका विधान है, जो (देवम्) प्रकाशस्वरूप है और (अमीव-चातनम्) सब बुराइयों-का नाशक है।

8

यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति। तस्य स्म प्राविता भव॥

(देव अग्ने) हे **अग्निदेव**! (हविः-पतिः) हवियोंका जो स्वामी (दूतं त्वाम् सपर्यति) तुझ दिव्य दूतकी पूजा करता है, (तस्य प्र अविता भव स्म) उसका तू रक्षक बन।

9

यो अग्निं देववीतये हविष्मां आविवासति। तस्मै पावक मृळय॥

(यः) जो (देववीतये) देवोंके दिव्य जन्मके लिए (हविष्मान्) भेंटोंको लिए हुए (अग्निम् आविवासति) दिव्य शक्तिके पास पहुंचता है (पावक) हे पवित्र करनेवाले देव! (तस्मै मृळय) उसपर दया करो।

10

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह। उप यज्ञं हविश्च नः॥

(दीदिवः अग्ने) हे देदीप्यमान अग्नि! (पावक) हे पवित्र करनेवाले! (सः) वह तू (देवान्) देवोंको (इह) यहाँ (नः हविः यज्ञं च) हमारी भेंटों और हमारे यज्ञके (उप आ वह) पास ले आ।

11

स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीमिषम्॥

(नः नवीयसा गायत्रेण) हमारे नवीन छन्दोंसे (स्तवानः) स्तुति किया हुआ (सः) वह तू (रयिम्) आनन्दको और (वीरवतीम् इषं) वीरके सामर्थ्य से पूर्ण प्रेरणा-शक्तिको (आ भर) ले आ।

12

अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिः। इमं स्तोमं जुषस्व नः॥

(अग्ने) हे **अग्नि**! (शुक्रेण शोचिषा) अपनी शुभ्र दीप्तियोंके साथ, (विश्वाभिः देव-हूतिभिः) देवोंका आह्वान करनेवाली अपनी समस्त दिव्य ऋचाओंके साथ आकर (नः इम स्तोमम्) हमारी इस दृढ़तासाधक स्तुतिको (जुषस्व) स्वीकार कर।

मेधातिथिः काण्वः

सूक्त 13

1

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते।
होतः पावक यक्षि च ।।

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (सुसमिद्धः) पूरी तरह प्रदीप्त होकर तू (हविष्मते नः) हवि देनेवाले मुझ याजकके लिए (देवान्) देवोंको (आ वह) ले आ (च) और (पावक) हे पवित्र करनेवाले! (होतः) हे आवाहक! [देवान्] देवोंके प्रति (यक्षि) यज्ञ कर।

2

मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे।
अद्या कृणुहि वीतये ।।

(तनूनपात्) हे देहके पुत्र! [देहरूपी गृहमें उत्पन्न पुत्र!] (अद्य) आज ही (यज्ञं) यज्ञको (देवेषु) देवोंके लिए, (वीतये) उनके आनन्दोपभोगके लिए (मधुमन्तं कृणुहि) मधुमय बना, अथवा उसे देवोंके बीच मधुपूर्ण बना, (कवे) हे द्रष्टा!

3

नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञ उप ह्वये।
मधुजिह्वं हविष्कृतम् ।।

मैं (नराशंसं) [देवोंके प्रतिनिधि] उस देवका जो (प्रियं) प्रिय है, (हविष्कृतं) हवियोंका सर्जन करता है और (मधुजिह्वम्) मधुमय जिह्वासे युक्त है, (इह अस्मिन् यज्ञे) यहाँ इस यज्ञमें (उप ह्वये) आह्वान करता हूँ।

4

अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईळित आ वह।
असि होता मनुर्हितः ।।

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (ईळितः) स्तुति किया हुआ तू (सुखतमे रथे)

अपने अत्यंत सुखमय रथमें (देवान् आ वह) देवोंको यहाँ ला। [क्योंकि] तू (मनुः-हितः) मनुष्यों द्वारा स्थापित (होता असि) आवाहक है।

5

स्तृणीत बर्हिरानुषग् घृतपृष्ठं मनीषिणः।
यत्रामृतस्य चक्षणम्॥

(मनीषिणः) हे मनीषियो! तुम (बर्हिः स्तृणीत) ऐसे पवित्र आसनको बिछाओ जो (आनुषक्) अविच्छिन्न हो और यथार्थ विधिसे सम्पन्न हो, (घृत-पृष्ठं) [घृतकी] निर्मल आहुतियोंसे सींचा हुआ हो, (यत्र) जिसपर (अमृतस्य चक्षणम्) अमरताका दर्शन होता है।

सूक्त 36

1

प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते॥

(देवयतीनाम्) देवत्वको प्राप्त करनेके लिए यत्नशील (पुरूणां विशां) अनेक प्रजाओंके (यह्वं) स्वामी (अग्निम्) अग्निदेवको हम (वः) तुम्हारे लिए (सूक्तेभिः वचोभिः) पूर्ण भावाभिव्यंजक वचनोंसे (प्र ईमहे) खोज रहे हैं, (यं) जिस अग्निको (अन्ये इत्) दूसरे लोग भी (सीम्) हर जगह (ईळते) पाना चाहते हैं।

2

जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य॥

(जनासः) मनुष्य (अग्निम्) **अग्निदेवको** (सहः-वृधम्) शक्तिवर्धकके रूपमें (दधिरे) अपने अन्दर धारण करते हैं। (हविष्मन्तः) भेंटोंको लिए हुए हम (ते) तेरे प्रति (विधेम) यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। (सः त्वं) सो वह तू (नः) हमारे लिए (अद्य) आज ही (सुमनाः) सुमनाः, पूर्णतासे युक्त **मनवाला** (भव) बन और (इह) यहाँ (वाजेषु) ऐश्वर्यकी प्राप्तियोंमें (अविता भव) हमारा रक्षक बन (सन्त्य) हे सत्स्वरूप! हे सत्ताके सत्य!

3

प्र त्वा दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
महस्ते सतो वि चरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः॥

(त्वा दूतं प्र वृणीमहे) हम तुझे अपने दूतके रूपमें वरण करते हैं, जो (होतारं) हविका पुरोहित है (विश्ववेदसम्) विश्व-ज्ञानसे सम्पन्न, सर्वज्ञ है। (महः ते सतः) जब तू अपनी सत्तामें महिमा-युक्त होता है तब (अर्चयः) तेरी ज्वालाएं (वि चरन्ति) व्यापक रूपसे विचरण करती हैं, (ते भानवः) तेरी दीप्तियां (दिवि स्पृशन्ति) द्युलोकोंको स्पर्श करती हैं।

4

देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते।
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः॥

(देवासः) सब देव, (वरुणः मित्रः अर्यमा) वरुण, मित्र, अर्यमा भी (त्वां प्रत्नम् दूतम्) तुझ पुरातन दूतको (सम् इन्धते) पूरी तरह प्रदीप्त करते हैं। (अग्ने) हे **अग्निदेव**! (यः मर्त्यः) जिस मरणधर्मा मनुष्यने (ते ददाश) सब कुछ तुझे दे दिया है (सः) वह (त्वया) तेरे द्वारा (विश्वं धनं जयति) सम्पूर्ण ऐश्वर्य जीत लेता है।

5

मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।
त्वे विश्वा सङ्गतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (मन्द्रः होता) तू यज्ञका आनन्दोल्लसित पुरोहित है, (गृहपतिः) इस घरका स्वामी है और (विशाम्) प्रजाओंका (दूतः असि) दूत है। (त्वे) तुझमें (विश्वा ध्रुवा व्रता) कर्मके सारे अविचल नियम (सङ्गतानि) एकत्र स्थित हैं (यानि) जिन्हें (देवाः अकृण्वत) देवोंने बनाया है।

6

त्वे इदग्ने सुभगे यविष्ठ्य विश्वमा हूयते हविः।
स त्वं नो अद्य सुमना उतापरं यक्षि देवान्त्सुवीर्या॥

(यविष्ठ्य अग्ने) हे युवा और शक्तिशाली **अग्निदेव**! (सुभगे त्वे इत्) क्योंकि तू आनन्दसे समृद्ध है, इसलिए तुझमें ही (विश्वं हविः) प्रत्येक हवि (आ हूयते) डाली जाती है। (सः त्वं सुमनाः) इस कारण मनकी पूर्णतासे युक्त वह तू (नः) हमारे लिए (अद्य) आज (उत अपरम्) और आजके बाद भी (देवान्) देवोंके प्रति (सुवीर्या) पूर्णतायुक्त शक्तियोंको (यक्षि) अर्पित कर।

7

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
होत्राभिरग्निं मनुषः समिन्धते तितिर्वांसो अति स्रिधः॥

(तं घ ईम्) उसकी ही (नमस्विनः) आत्मसमर्पण-कर्ता मनुष्य (स्वराजम्) आत्म-शासकके रूपमें (उप आसते) उपासना करते हैं। (स्रिधः अति तितिर्वांसः मनुषः) जब मनुष्य अपनी बाधक और विरोधी शक्तियोंको जीतकर पार कर लेते हैं तब वे (होत्राभिः) हवियोंकी महानतासे (अग्निं सम् इन्धते) अग्निको पूरी तरह प्रज्वलित करते हैं।

8

घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे।
भुवत्कण्वे वृषा द्युम्न्याहुतः क्रन्ददश्वो गविष्टिषु॥

(वृत्रम् अप घ्नन्तः) आच्छादक वृत्रपर प्रहार करते हुए वे (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वीलोक दोनोंको (अतरन्) पार कर जाते हैं और (उरु) विस्तृत राज्यको (क्षयाय चक्रिरे) अपना घर बना लेते हैं। (वृषा) वह शक्तिशाली अग्निदेव (आहुतः) आहुतियोंसे पुष्ट होकर (कण्वे) कण्वमें [मेधावी यजमानमें] (द्युम्नी) एक ज्योतिर्मय ऊर्जा-शक्ति (भुवत्) बन जाए, (गो-इष्टिषु) गौओंकी चरागाहों [गोष्ठों] में (क्रन्दत्) हिनहिनाता हुआ (अश्वः) जीवनका अश्व [भुवत्] बन जाए।

9

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥

(सं सीदस्व) तू अपना सुस्थापित आसन ग्रहण कर। (महाँ असि) तू विशाल है। (देववीतमः) देवत्वको पूरी तरह प्रकट करते हुए (शोचस्व) अपनी पवित्रतामें चमक। (मियेध्य अग्ने) हे यज्ञिय **अग्निदेव**! (प्रशस्त) विशालतासे अभिव्यक्त हुआ तू (अरुषं दर्शतम् धूमम्) भावावेशके रक्तवर्ण, क्रियाशील और अन्तर्दृष्टि-पूर्ण धुएँको (वि सृज) प्रसारित कर।

10-11

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन।
यं कण्वो मेध्यातिथि र्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः॥

यमग्नि मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि॥

(हव्यवाहन) हे हविका वहन करनेवाले! (यजिष्ठं यं त्वा) यज्ञके लिए अत्यधिक शक्तिशाली जिस तुझको (देवासः) देवोंने (मनवे) मनुष्यके लिए (इह दधुः) यहाँ निहित किया है, (यं) जिसको (कण्वः मेध्य-अतिथिः) कण्व मेध्यातिथिने (धनस्पृतं) अपने अभिलषित ऐश्वर्यको अधिकृत करनेवाले-के रूपमें (इह दधुः) यहाँ प्रतिष्ठित किया है और (यं [त्वा]) जिस तुझको (वृषा) शक्तिशाली इन्द्रने और (उपस्तुतः) अपने स्तुतिगानसे तुझे सुप्रति-ष्ठित करनेवाले लोगोंने [इह दधुः] यहाँ स्थापित किया है।

(यम् अग्निम्) जिस **अग्नि**को (मेध्यातिथिः कण्वः) मेध्य-अतिथि कण्वने (ऋतात् अधि) **सत्यके** आधार पर (ईधे) अत्यन्त उज्ज्वल रूपमें प्रज्वलित किया है, (तस्य) उसकी (इषः) प्रेरणाएं (प्र दीदियुः) देदीप्यमान हो उठें। (तम् अग्निम्) उस अग्निको (इमा ऋचः) ये पूर्णता-साधक ऋचाएं [वाणियां] (वर्धयामसि) बढ़ावें और [तम् अग्निम् वर्धयामसि] उसी अग्निको हम भी बढ़ावें।

12

रायस्पूधि स्वधावोऽस्ति हि तेऽग्ने देवेष्वाप्यम्।
त्वं वाजस्य श्रुत्यस्य राजसि स नो मृळ महाँ असि॥

(स्वधावः) हे स्वयंस्थित अग्निदेव! (रायः) हमारे आनन्दैश्वर्योंको (पूधि) परिपूर्ण बना। (हि) क्योंकि (अग्ने) हे अग्निदेव! (देवेषु) देवोंमें (ते आप्यम् अस्ति) तेरी ही [तेरे द्वारा ही] क्रियाशीलता है। (त्वम्) तू (श्रुत्यस्य वाजस्य) अंतःप्रेरित ज्ञानकी सम्पदाका (राजसि) शासक है। (सः नः मृळ) सो ऐसा तू हमपर कृपा कर। (महान् असि) तू महान् है।

13

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥

(सविता देवः न) सविता देवकी तरह तू (नः ऊतये) हमारे विकासके लिए (ऊर्ध्वः ऊ सु तिष्ठ) अत्यधिक ऊर्ध्वमें स्थित रह। (ऊर्ध्वः) उन ऊंचाइयों पर स्थित होकर ही तू (नः वाजस्य) हमारे ऐश्वर्यभोगका (सनिता) रक्षक बनता है (यत्) जब कि हम तुझे (अञ्जिभिः वाघद्भिः) अभिव्यक्त करनेवाले गीतोंसे (विह्वयामहे) पुकारते हैं।

14

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः॥

(ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वस्थित होकर (केतुना) प्रत्यक्षज्ञान-युक्त मनके द्वारा तू (अंहसः नः नि पाहि) बुराईसे हमारी रक्षा कर। (विश्वम् अत्रिणम्) हमारी सत्ताके प्रत्येक भक्षकको (सं दह) पूरी तरह दग्ध कर दे। (नः) हमें (चरथाय) कर्म करनेके लिए (ऊर्ध्वान् कृधि) ऊपर उठा। (देवेषु) देवोंमें (नः दुवः) हमारी यज्ञक्रियाका (विदाः) सम्यक् विभागकर।

15

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (रक्षसः) राक्षससे (नः पाहि) हमारी रक्षा कर, (अराव्णः धूर्तेः) आनन्दविरोधी वस्तुओंसे होनेवाली हानिसे ([नः] पाहि) हमारी रक्षा कर, (रीषतः पाहि) उससे हमारी रक्षाकर जो हमपर आक्रमण करता है (उत वाजिघांसतः) और उससे भी जो हमारा हनन करना चाहता है, (बृहद्भानो) हे विशाल दीप्तिवाले! (यविष्ठ्य) हे शक्तिशाली और युवा।

16

घनेव विष्वग्वि जह्यराव्णस्तपुर्जम्भ यो अस्मध्रुक्।
यो मर्त्यः शिशीते अत्यक्तुभिर्मा नः स रिपुरीशत॥

(तपुः-जम्भ) हे शत्रुओंकी शक्तियोंको निगल जानेवाले! अथवा दुःख-संतापका हरण करनेवाले! (अराव्णः) निरानंदकी सम्पूर्ण शक्तियोंको (घना इव विश्वक् वि जहि) मानों घनाघन पड़ती चोटोंसे पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दे अथवा उन्हें (घना इव) बादलोंकी तरह (विष्वक् वि जहि) चारों ओरसे तितर-बितर कर दे और (यः अस्मध्रुक्) जो हमसे द्रोह करना चाहता है उसे भी [वि जहि] छिन्न-भिन्न कर दे। (यः मर्त्यः) जो भी मरणधर्मा मनुष्य (अक्तुभिः) अपने कार्योंकी तीव्र कुशलतासे (अति शिशीते) हमसे आगे बढ़ जाता है (सः) वह (नः रिपुः) हमारे शत्रुके रूपमें (मा ईशत) हमपर शासन न कर सके।

17

अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम्।
अग्निः प्रावन् मित्रोत मेध्यातिथिमग्निः साता उपस्तुतम्॥

(अग्निः) अग्निन (कण्वाय) कण्वके लिए (सुवीर्यं वव्ने) पूर्णतायुक्त शक्तिको जीत लिया है और (अग्निः) अग्निने उसके लिये (सौभगम्) पूर्णतायुक्त आनन्दोपभोगको (वव्ने) जीत लिया है। (अग्निः) अग्नि उसके लिए (मित्रा प्र आवत्) सभी मित्रतापूर्ण वस्तुओंकी रक्षा करता है (उत) और (अग्निः) अग्नि (उपस्तुतम् मेध्य-अतिथिम्) मेध्यातिथिको, जिसने उसे स्तुतिके गीतसे सम्पुष्ट किया है, (सातौ [प्र आवत्]) उसकी सत्तामें सदा सुरक्षित रखता है।

18

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः॥

(अग्निना) अग्निके द्वारा हम (तुर्वशं यदुम्) तुर्वश और यदुका (परावतः) ऊर्ध्वलोकके राज्योंसे (हवामहे) आह्वान करते हैं। (अग्निः) अग्नि (बृहत्-रथं तुर्वीतिम्) बृहद्रथ और तुर्वीतिको [अथवा विशाल **आनंदपूर्ण** तुर्वीतिको] (नव-वास्त्वम्) नए निवासस्थानकी ओर (नयत्) ले गया है, जो तुर्वीति (दस्यवे सहः) शत्रुके विरोधमें शक्तिस्वरूप है।

19

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः॥

(अग्ने) हे अग्निदेव, (मनुः) मनुष्य (त्वाम्) तुझे (शश्वते जनाय ज्योतिः) शाश्वत जन्मके लिए ज्योतिके रूपमें (नि दधे) अपने अन्दर स्थापित करता है। (यं) जिसे (कृष्टयः) कर्मके कर्त्ता (नमस्यन्ति) नमस्कार करते हैं ऐसा तू (ऋतजातः) सत्यमें प्रकट होकर और (उक्षितः) सत्तामें वर्धित होकर (कण्वे) कण्वमें (दीदेथ) अत्यन्त उज्ज्वल रूपमें प्रज्वलित हो।

20

त्वेषासो अग्नेरमवन्तो अर्चयो भीमासो न प्रतीतये।
रक्षस्विनः सदमिद् यातुमावतो विश्वं समत्रिणं दह॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! तेरी (अर्चयः) ज्वालाएं (त्वेषासः) प्रचण्ड, (अमवन्तः) बलशाली, (भीमासः) भयानक हैं और (प्रति-इतये न) ऐसी हैं जिनके पास पहुंचा नहीं जा सकता। (सदम् इत्) सदा ही तू (रक्षस्विनः) अवरोधक-शक्तियोंको, (यातुमावतः) दुःखकी वाहक शक्तियों को और (विश्वम् अत्रिणम्) प्रत्येक भक्षकको भी (सं दह) पूरी तरह भस्मसात् कर दे।

पराशरः शाक्त्यः

सूक्त 65

1

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्।
सजोषा धीराः पदैरनु ग्मन्नुप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः॥

अग्निदेव अपने आपको (पश्वा) अन्तर्दर्शनकी गौके साथ (गुहा चतन्तं) गुहामें छिपाए हुए है, ([पश्वा] तायुं न) जैसे कोई चोर गौ-पशुके साथ अपने-को गुफामें छिपा लेता है। (नमः युजानम्) वह हमारे नमन व स्तवन-को स्वयं स्वीकार करता है और (नमः वहन्तम्) उस नमनको वहाँ ले जाता है[1]। (धीराः सजोषाः) विचारक उसमें मिलकर आनंद लेते हैं और (पदैः अनु ग्मन्) उसके पद-चिह्नोंके अनुसार उसका अनुसरण करते हैं। हे **अग्निदेव**! (विश्वे यजत्राः) यज्ञके सब **अधिपति** (त्वा उप सीदन्) गुह्य गुहामें तेरे पास आते हैं।

2

ऋतस्य देवा अनुव्रता गुर्भुवत् परिष्टिद्यौर्न भूम।
वर्धन्तीमापः पन्वा सुशिश्विमृतस्य योना गर्भे सुजातम्॥

(देवाः) **देवगण** (ऋतस्य व्रता अनु गुः) उस अग्निके पदचिह्नों पर चलते हुए सत्यकी क्रियाओंके विधानका अनुसरण करते हैं। (परिष्टिः भुवत्) वह सबको उसी प्रकार चारों ओरसे घेरे हुए स्थित है (द्यौः भूम न) जिस प्रकार द्युलोक पृथिवीको। (आपः) **जलधाराएं** (ईं सुशिश्विम्) आनन्दमें बढ़ते हुए इस अग्निको (पन्वा वर्धन्ति) अपने प्रयाससे[2] संवर्धित करती हैं, जो अग्नि (गर्भे) उनके गर्भमें (ऋतस्य योना) **सत्यके** घरमें (सुजातम्) उत्तम रूपसे उत्पन्न हुआ है।

---

1. अथवा, यूं कहना अधिक अच्छा होगा, वह हमारे समर्पण को स्वीकार करता है और उसे अपने माथ ले जाता है।
2. अथवा, अपने स्तुतिगानसे।

3

पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु।
अत्यो नाज्मन् त्सर्गप्रतक्तः सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते॥

(रण्वा पुष्टिः न) वह मानों एक आनन्दपूर्ण पुष्टि है। (पृथ्वी न क्षितिः) वह पृथिवीकी तरह हमारा विशाल निवास-स्थान है। (गिरिः न भुज्म) वह पर्वतकी तरह उपभोग करने योग्य है। (क्षोदः न शंभु) वह तेज बहते हुए पानीकी तरह आनन्ददायक है। वह (अज्मन्) युद्धमें (सर्गप्रतक्तः) सरपट दौड़ते हुए (अत्यः न) वेगवान् अश्वकी तरह है। (क्षोदः सिन्धुः न) वह बहती हुई नदीकी तरह है[1]। (ईं कः वराते) उसके मार्गमें उसे कौन रोक सकता है?

4

जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्रामिभ्यान्न राजा वनान्यत्ति।
यद् वातजूतो वना व्यस्थादग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्याः॥

(सिन्धूनां जामिः) वह **नदियों**का निकट संगी है, (भ्राता स्वस्राम् इव) जैसे भाई बहिनोंका होता है। वह (वनानि अत्ति) पृथिवीके वनोंको उसी प्रकार हड़प जाता है (राजा इभ्यान् न) जिस प्रकार राजा अपने शत्रुओंको। (यत्) जब (अग्निः) **अग्निदेव** (वातजूतः) वायुके निःश्वाससे प्रेरित हुआ (वना वि अस्थात्) वनोंमें चारों ओर विचरता है, तब वह (पृथिव्याः) **पृथिवी**की देहके (रोम) रोमोंको (दाति) खण्ड-खण्ड कर देता है।

5

श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुषर्भुत्।
सोमो न वेधा ऋतप्रजातः पशुर्न शिश्वा विभुर्दूरेभाः॥

(सीदन् हंसः न) [जलोंमें] बैठे हंसकी तरह वह (अप्सु श्वसिति) चैतन्यकी **धाराओं**में श्वास लेता है। (उषर्भुत्) उषाकालमें जागनेवाला वह (क्रत्वा) अपने कर्मोंके संकल्पके द्वारा (विशां चेतिष्ठः) प्रजाओंको ज्ञान देनेका सामर्थ्य रखता है। (सोमः) वह **सोम** [आनन्द-मदिराके **देवता**] की तरह है (ऋत-प्रजातः) **सत्य**से उत्पन्न हुआ है और (वेधाः) एक स्रष्टा है। (शिश्वा पशुः न) वह अपने नवजात बछड़ेसे युक्त गौकी

1. या गतिशील समुद्रकी तरह है।

तरह है। (विभुः) वह व्यापक रूपमें फैला हुआ है और (दूरेभाः) उसकी ज्योति दूरातिदूरसे दृष्टिगोचर होती है।

सूक्त 66

1

रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा॥

(चित्रा रयिः न) वह समृद्ध रूपसे-विविध ऐश्वर्यकी तरह है और (सूरः संदृक् न) सूर्यकी सर्वदर्शी दृष्टिकी तरह है। (आयुः न) वह मानों जीवन है और (प्राणः) हमारी सत्ताका श्वास–प्रश्वास है। (नित्यः सूनुः न) वह मानों हमारा शाश्वत पुत्र है। (भूर्णिः तक्वा न) वह हमें वहन किए सरपट दौड़नेवाले घोड़ेकी तरह है। (वना सिसक्ति) वह वनोंके साथ चिपटा हुआ है। (पयः धेनुः न) वह दुधार गौकी तरह है। (शुचिः) वह शुभ्र-उज्ज्वल है और (विभावा) उसकी दीप्ति विशाल है।

2

दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम्।
ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो वाजी न प्रीतो वयो दधाति॥

(रण्वः ओकः न) वह एक सुखद घरकी तरह है, (क्षेमं दाधार) हमारे समस्त कल्याणको धारण किए हुए है। (पक्वः यवः न) वह पके हुए शस्य [जौ] की तरह है। (जनानां जेता) वह मनुष्योंका विजेता है। (स्तुभ्वा ऋषिः न) वह स्तुति-गायक ऋषिकी तरह है। (विक्षु प्रशस्तः) प्रजाओंमें उसकी प्रशस्ति [कीर्ति] है। (प्रीतः वाजी न) वह मानों हमारा हर्षोल्लसित तीव्रगामी अश्व है। (वयः दधाति) वह हमारे विकासको धारण करता है।

3

दुरोकशोचिः क्रतुर्न नित्यो जायेव योनावरं विश्वस्मै।
चित्रो यदभ्राट् छ्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी त्वेषः समत्सु॥

(दुरोक-शोचिः) एक ऐसे घरमें जिसमें वास करना कठिन है, वह ज्योतिःस्वरूप है।[1] (नित्यः क्रतुः न) वह हमारे अन्दर सदा-सक्रिय संकल्प

1. अथवा वह एक ऐसी ज्योति है जिसे प्रदीप्त करना कठिन है।

की तरह है। (योनौ जाया इव) वह हमारे घरमें पत्नीके समान है और (विश्वस्मै अरम्) प्रत्येक मनुष्यकी तृप्तिके लिए वह पर्याप्त है। (यत्) जब वह (चित्रः) अद्भुत ढंगसे नानारूप होकर (अभ्राट्) प्रखर रूपमें प्रदीप्त होता है तो वह (विक्षु श्वेतः न) प्रजाओंमें एक शुद्ध-शुभ्र सत्ताकी तरह होता है। (रुक्मी रथः न) वह सुवर्णमय रथके समान है। (समत्सु) हमारे संग्रामोंमें वह (त्वेषः) एक तेजःपुंज है।

4

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ।।

वह (सृष्टा सेना इव) लक्ष्यपर धावा बोलती हुई सेनाके समान है और (अमं दधाति) हमारे अन्दर बल स्थापित करता है। वह (अस्तुः) धनुर्धारीके (त्वेष-प्रतीका) तेज जलती हुई नोकवाले (दिद्युत् न) ज्वालामय बाण-की तरह है। (यमः ह जातः) युगल-रूपमें वह अग्नि वह सब कुछ है जो उत्पन्न हो चुका है (यमः जनित्वम्) युगल-रूपमें वह अग्नि वह सब कुछ भी है जिसे उत्पन्न होना है। वह (कनीनां जारः) कन्याओंका [अप्रकट शक्तियोंका] प्रेमी है और (जनीनां) माताओंका [मातृभूत शक्तियोंका] (पतिः) रक्षक है।

5

तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्।
सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनोन्नवन्त गावः स्वर्दृशीके ।।

(वयं) हम (वः चराथा वसत्या) तुम्हारी गति और स्थितिके द्वारा (तम् इद्धं नक्षन्ते) उसके पास उस समय आते हैं जब उसका प्रकाश प्रदीप्त होता है, (गावः अस्तं न) जिस तरह गौएं अपने घर बाड़ेमें आती हैं। (सिन्धुः क्षोदः न) वह अपने धारापथमें बह रही नदीकी तरह है और (नीचीः प्र ऐनोत्) अवतरित होती हुई **जलधाराओं**को आगेकी ओर प्रवाहित करता है। (गावः) **रश्मिरूप गौएं** (स्वः दृशीके) सूर्यके लोककी अभि-व्यक्तिमें[1] (नवन्त) उसकी ओर गति करती हैं।

---

1. अथवा, जब सूर्य प्रकट होता है तब।

सूक्त 67

1

वनेषु जायुर्मर्तेषु मित्रो वृणीते श्रुष्टि राजेवाजुर्यम्।
क्षेमो न साधुः क्रतुर्न भद्रो भुवत् स्वाधी र्होता हव्यवाट्॥

(वनेषु जायुः) वह वनोंमें विजेता है। (मर्तेषु मित्रः) मर्त्य मनुष्योंमें वह मित्र है। (श्रुष्टि वृणीते) वह सब ऐश्वर्योंका इस प्रकार वरण करता है (राजा अजुर्यम् इव्) जैसे कोई राजा एक अजर सदा-युवा मंत्रीका। (साधुः क्षेमः न) वह मानों हमारा पूर्ण कुशल-मंगल है[1]। (भद्रः क्रतुः न) वह ऐसा सुखकारक, कल्याणकारक संकल्प है जो (सु-आधीः) अपने चिन्तनमें यथार्थ है। वह हमारे लिए (होता) आवाहनका पुरोहित तथा (हव्यवाट्) हमारी भेंटोंका वहन करनेवाला (भुवत्) बन गया है।

2

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान् धाद् गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियंधा हृदा यत् तष्टान् मन्त्राँ अशंसन्॥

वह (विश्वानि नृम्णा) सब बलोंको (हस्ते दधानः) अपने हाथोंमें धारण किए है। (गुहा नि-सीदन्) गुप्त गुफ़ामें बैठा हुआ वह (देवान्) देवोंको (अमे धात्) अपनी शक्तिके द्वारा थामे हुए है[2]। (अत्र) यहाँ (धियंधाः नरः) अपने अन्दर **दिव्य विचार** धारण करनेवाले मनुष्य (ईं विदन्ति) उस अग्निको जान लेते हैं (यत्) जब वे (हृदा तष्टान्) हृदय द्वारा रचित [हृदयसे उद्भूत] (मंत्रान् अशंसन्) मंत्रोंका उच्चारण कर लेते हैं।

3

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥

(अजः न) अजन्माकी तरह उसने (पृथिवीं क्षां दाधार) विस्तृत पृथिवीको धारण कर रखा है। (सत्यैः मन्त्रेभिः) अपने सत्यमय मंत्रोंके द्वारा उसने (द्यां तस्तम्भ) द्युलोकको थाम रखा है। (पश्वः) दर्शनकी **गौ**के (प्रिया पदानि) प्रिय पद-चिह्नोंकी (नि पाहि) रक्षा कर। (अग्ने) हे

---

1. अथवा हमें पूर्ण बनानेवाली भलाई है।
2. अथवा स्थापित करता है।

अग्निदेव! (विश्व-आयुः) तू विश्वमय जीवन है, (गुहा गुहं) गुहाओंकी गुहामें, गुह्यतम स्थानमें[1] (गाः) प्रवेश कर।

4

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद् वसूनि प्र ववाचास्मै॥

(यः) जिसने (गुहा भवन्तम् ईम्) गहन गुहामें विद्यमान इसको (चिकेत) देख लिया है, (यः) जिसने (ऋतस्य धारां) सत्यकी धाराको (आ ससाद) प्राप्त कर लिया है, (ये) जो (ऋता सपन्तः) सत्यकी वस्तुओं-का स्पर्श करते हैं और उसे (वि चृतन्ति) प्रदीप्त कर लेते हैं, (आत् इत्) तब ऐसा हो चुकने पर वह (अस्मै) ऐसे मनुष्यके लिए (वसूनि प्र ववाच) ऐश्वर्योंके विषयमें वचन देता है।

5

वि यो वीरुत्सु रोधन्महित्वोत प्रजा उत प्रसूष्वन्तः।
चित्तिरपां दमे विश्वायुः सद्मेव धीराः संमाय चक्रुः॥

(यः) जो (वीरुत्सु) पृथिवीके **उद्भिजों**, वृक्ष-वनस्पतियोंमें (महित्वा) अपनी महिमाओंको (वि रोधत्) ऊर्ध्व-धारित करता है (उत) और (प्रजाः) उत्पन्न हुई प्रजाओंको (उत) और (प्रसूषु अन्तः) जो प्रजाएं अभी माताओंमें हैं उन्हें—इन दोनोंको [वि रोधत्] धारण करता है, वह (अपां दमे) **चैतन्य-धाराओंके** घरमें (चित्तिः) ज्ञानस्वरूप है और (विश्व-आयुः) विश्वव्यापी जीवन है। (धीराः) विचारक लोगोंने उसे (सद्म इव) एक प्रासादकी तरह (संमाय चक्रुः) मापा और निर्मित किया है।

सूक्त 68

1

श्रीणन्नुप स्थाद् दिवं भुरण्युः स्थातुश्चरथमक्तून् व्यूर्णोत्।
परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद् देवो देवानां महित्वा॥

(भुरण्युः) वहन करनेवाला वह अग्नि (श्रीणन्) प्रज्वलित होता हुआ (दिवम् उपस्थात्) द्युलोकको पहुंचता है। (अक्तून्) रात्रियोंको [उनके

---

1. या, गुप्त गुहाके गुह्य स्थानमें।

रहस्यको] (वि ऊर्णोत्) खोल देता है (स्थातुः चरथम्) स्थावर और जंगम को [वि ऊर्णोत्] प्रकट कर देता है। (यत्) क्योंकि यही वह (एकः देवः) एक **देव** है जो (एषां विश्वेषां देवानाम्) इन सब **देवों**की (महित्वा) महिमाओंको (परि भुवत्) अपनी सत्ताके द्वारा चारों ओरसे व्यापे हुए है।

2

आदित् ते विश्वे ऋतुं जुषन्त शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठाः।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः॥

(देव) **हे देव!** (यत्) जब तू (शुष्कात्) शुष्क जड़ प्रकृतिसे (जीवः) जीवन-सत्ताके रूपमें (जनिष्ठाः) उत्पन्न होता है (आत् इत्) तभी (विश्वे) सब लोग (ते ऋतुम्) तेरे कर्मोंके संकल्पके साथ (जुषन्त) दृढ़तासे संलग्न होते हैं।[1] (विश्वे) सब लोग (नाम देवत्वं) **परम नाम** और **देवत्व**का (भजन्त) प्रसन्नतापूर्वक भजन करते हैं। (एवैः) तेरी गतियोंसे वे (ऋतम् अमृतम्) **सत्य** और **अमरता**का (सपन्त) स्पर्श करते हैं।

3

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः।
यस्तुभ्यं दाशाद् यो वा ते शिक्षात् तस्मै चिकित्वान् रयिं दयस्व॥

(ऋतस्य प्रेषाः) वह **सत्य**की सकल प्रेरणा है, (ऋतस्य धीतिः) **सत्य**का चिन्तन है, (विश्वायुः) वैश्व जीवनशक्ति है जिसके द्वारा (विश्वे) सब (अपांसि चक्रुः) कर्म करते हैं। (यः) जो व्यक्ति (तुभ्यम्) तुझे (दाशात्) अपने आपको दे देता है (वा) अथवा (यः) जो (ते शिक्षात्) तुझसे कुछ प्राप्त करता है[2], (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होता हुआ तू (तस्मै) उसे (रयिं दयस्व) **दिव्य ऐश्वर्य** प्रदान कर।

4

होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्वासां पती रयीणाम्।
इच्छन्त रेतो मिथस्तनूषु सं जानत स्वैर्दक्षैरमूराः॥

(होता) वह यज्ञका पुरोहित है जो (मनोः अपत्ये) मनुके पुत्रमें (निसत्तः) विराजमान है। (सः) वह (चित् नु) निश्चय ही (आसां रयीणां पतिः) इन ऐश्वर्योंका अधिपति है। वे (तनूषु) अपने शरीरोंमें (मिथः)

1. या, तेरे कर्मोंके संकल्पमें आनन्द लेते हैं।
2. या, तुझसे कुछ सीखता है।

परस्पर (रेतः इच्छन्त) बीजकी, बीजके बढ़नेकी कामना करते हैं। (अमूराः) बुद्धिमान् लोग उसे (स्वैः दक्षैः) अपने विवेकपूर्ण विचारोंके द्वारा (सं जानत) पूरी तरह जान लेते हैं।

5

पितुर्न पुत्राः ऋतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य शासं तुरासः।
वि राय और्णोद् दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः॥

(ये) जो (अस्य शासं) इसकी शिक्षाको (श्रोषन्) ध्यानपूर्वक सुनते हैं, ([ये] तुरासः) जो अपनी यात्रामें तीव्र वेगसे बढ़नेवाले हैं वे (ऋतुं जुषन्त) उसके संकल्पकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा वा पूर्ति करते हैं, (पितुः पुत्राः न) जैसे कि पुत्र पिताके संकल्पकी। (पुरुक्षुः) वह अनेकानेक ऐश्वर्योंका धाम है और (रायः दुरः) **निधि**के द्वारोंको (वि और्णोत्) पूरी तरह खोल देता है। (दमूनाः) वह एक ऐसा अन्तर्वासी है जिसने (नाकं) द्युलोकको (स्तृभिः) उसके नक्षत्रों सहित (पिपेश) निर्मित किया है।

सूक्त 69

1

शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः।
परि प्रजातः ऋत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्॥

(उषः जारः न) **उषा**के प्रेमीकी तरह (शुक्रः शुशुक्वान्) अति भास्वर रूपमें देदीप्यमान होता हुआ तू (दिवः ज्योतिः न) **द्युलोक**की **ज्योति**की तरह (समीची पप्रा) दो समलोकोंको[1] परिपूरित करता हुआ (ऋत्वा प्रजातः) हमारे संकल्पसे उत्पन्न हुआ है और (परि बभूथ) हमारे चारों ओर सब सत्ताओंका रूप धारण करता है। तू जो कि (पुत्रः सन्) पुत्र है, (देवानां पिता भुवः) देवोंका पिता बन गया है।

2

वेधा अदृप्तो अग्निर्विजानन्नूधर्न गोनां स्वाधा पितूनाम्।
जने न शेव आहूर्यः सन् मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे॥

(विजानन् अग्निः) ज्ञानसे सम्पन्न **अग्निदेव** (अदृप्तः वेधाः) गर्वपूर्ण

---

1. अथवा, दो संगियोंको।

अविवेकसे रहित स्रष्टा है[1]। (गोनाम् ऊधः न) वह मानों **प्रकाशकी गौओं**का स्तन है, (पितूनां स्वाद्म) आनन्द-मदिराके घूंटोंको मधुमय बनानेवाला है[2]। (जने शेवः न) मनुष्यमें वह एक आनन्दपूर्ण सत्ताकी तरह है। (आहूर्यः सन्) वह ऐसा है जिसे हमें अपने अन्दर पुकारना चाहिए। वह (दुरोणे मध्ये) घरके मध्यमें (रण्वः नि-सत्तः) आनन्दमग्न होकर आसीन है।

3

पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्।
विशो यदह्वे नृभिः सनीळा अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्याः॥

(जातः) वह हमारे यहाँ उत्पन्न हुआ है, (दुरोणे रण्वः पुत्रः न) मानों हमारे घरमें कोई आनन्दोल्लसित पुत्र हो। (प्रीतः वाजी न) एक प्रसन्न वेगशाली घोड़ेकी तरह वह (विशः वि तारीत्) प्रजाओंको उनके युद्धमेंसे पार ले जाता है। (यत्) जब मैं (विशः अह्वे) उन सत्ताओंको पुकारता हूँ जो (नृभिः सनीळाः) **देवों**के साथ[3] एक निवासस्थानमें रहती हैं तब (अग्निः) **दिव्यज्वालारूप अग्निदेव** (विश्वानि देवत्वा) सब देवत्वोंको (अश्याः) प्राप्त कर लेता है।

4

नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टिं चकर्थ।
तत् तु ते दंसो यदहन्त्समानैर्नृभिर्यद् युक्तो विवे रपांसि॥

(यत्) जब तू (एभ्यः नृभ्यः) इन देवों[4]के लिए (श्रुष्टिं चकर्थ) अन्तःप्रेरित ज्ञानका सर्जन कर देता है तब (ते एता व्रता) तेरी क्रियाओंकी इन प्रणालियोंका (नकिः मिनन्ति) कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। (तत् तु) यह तो (ते दंसः) तेरा कार्य ही है (यत्)कि (समानैः नृभिः युक्तः) अपने समकक्ष **देवों**से युक्त होकर तूने (अहन्) प्रहार किया है,[5] (यत्) और यह कि (रपांसि विवेः) तूने पापकी शक्तियोंको तितर-बितर कर दिया है।

---

1. अथवा, वस्तुओंका विधाता, व्यवस्थापक है।
2. अथवा, सब अन्नोंका स्वाद लेनेवाला है।
3. अथवा, मनुष्योंके साथ
4. अथवा, इन मनुष्यों
5. अथवा, वध किया है,

5

उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै।
त्मना वहन्तो दुरो व्यृण्वन् नवन्त विश्वे स्वर्दृशीके॥

वह (उषः जारः न) **उषा** के प्रेमी की तरह (विभावा उस्रः) अति भास्वर और ज्योतिर्मय है। (अस्मै) इस मानव प्राणीके लिए (संज्ञातरूपः) उसका स्वरूप अच्छी तरह ज्ञात हो जाय और (चिकेतत्) वह उसके ज्ञानके प्रति जागृत हो जाय। उसे (विश्वे) सब (त्मना वहन्तः) अपने अन्दर वहन करें, धारण करें, (दुरः वि ऋण्वन्) **द्वारों**को खुला खोल दें और (स्वः दृशीके नवन्त) **सूर्य**लोकके साक्षात्कारकी ओर गति करते हुए उसे प्राप्त कर लें[1]।

सूक्त 70

1

वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म॥

(पूर्वीः वनेम) हम अनेक **ऐश्वर्यों**को जीत लें। (सुशोकः) अपनी ज्योतिसे जाज्वल्यमान, (मनीषा) विचारशील मनके द्वारा (अर्यः) प्रभुत्वशाली (अग्निः) **अग्निदेव** जो (दैव्यानि व्रता) दिव्य क्रियाओंके नियमोंको (आ चिकित्वान्) जानता है और (मानुषस्य जनस्य) मानव प्राणीके (जन्म) जन्मको भी [आ चिकित्वान्] जानता है, (विश्वानि अश्याः) सभी अस्तित्ववान् पदार्थोंको अधिकृत कर ले।

2

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः॥

(यः अपां गर्भः) जो जलोंका गर्भ है, शिशु है, (वनानां गर्भः) वनोंका शिशु है (च) और (स्थातां गर्भः) स्थावर वस्तुओंका शिशु है, (चरथाम् गर्भः) जंगम वस्तुओंका शिशु है, वह (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अद्रौ चित्) पत्थरमें भी विद्यमान है, (दुरोणे अन्तः) उसके घरके मध्यमें भी स्थित है। (विशां विश्वः न) वह प्रजाओंमें विश्वव्यापी सत्ताकी न्याईं है। (अमृतः) वह अमर है, (स्वाधीः) पूर्ण विचारक है।

---

1. या, सूर्यका दर्शन प्राप्त करें।

3

स हि क्षपावाँ अग्नी रयीणां दाशद् यो अस्मा अरं सूक्तैः।
एता चिकित्वो भूमा नि पाहि देवानां जन्म मर्ताञ्च विद्वान्॥

(सः अग्निः हि) वह अग्निदेव (क्षपावान्) रात्रियोंका स्वामी है। (यः) जो व्यक्ति (अस्मै) उस [अग्नि] के लिए (सूक्तैः) पूर्णता-युक्त वाणियों द्वारा, सूक्तों द्वारा (अरं) यज्ञकी तैयारी करता है उसे वह (रयीणां दाशत्) ऐश्वर्योंका दान करता है। (चिकित्वः) हे चिन्मय देव! (विद्वान्) ज्ञानवान् होता हुआ तू (एता भूमा) इन लोकोंकी, (देवानां जन्म) देवोंके जन्मकी (मर्तान् च) और मर्त्य मनुष्योंकी (नि पाहि) रक्षा कर।

4

वर्धान्यं पूर्वीः क्षपो विरूपाः स्थातुश्चरथमृतप्रवीतम्।
अराधि होता स्वनिषत्तः कृण्वन् विश्वान्यपांसि सत्या॥

(ऋतप्रवीतम्) सत्यसे प्रादुर्भूत, (स्थातुः चरथम्) स्थावर और जंगम-स्वरूप (यं) जिस अग्निको (विरूपाः) विभिन्न रूपोंवाली (पूर्वीः क्षपः) अनेक रात्रियोंने (वर्धान्) संवर्धित किया है वह (होता) आवाहनका पुरोहित (अराधि) हमारे लिए संसिद्ध किया गया है। वह (विश्वानि अपांसि) हमारे सब कर्मोंको (सत्या कृण्वन्) सत्यमय बनाता हुआ (स्वः) सूर्यलोक-में[1] (नि-सत्तः) विराजमान है।

5

गोषु प्रशस्ति वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्णः।
वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त॥

तू (गोषु) रश्मिरूपी गौओंमें और (वनेषु) वनोंमें (प्रशस्ति) अपनी प्रशस्ति, अपनी स्तुतिको (धिषे) स्थापित करता है; यह ऐसा है मानों (विश्वे) ये सभी (स्वः बलिं न) सूर्यलोकको भेंटके रूपमें (भरन्त) ला रहे हों। (पुरुत्रा) अनेकानेक प्रदेशोंमें (नरः) मनुष्य (त्वा वि सपर्यन्) तेरी सेवा करते हैं और तुझसे (वेदः वि भरन्त) उसी प्रकार ज्ञान-उपार्जन करते हैं (जिव्रेः पितुः न) जिस प्रकार वयोवृद्ध पितासे।

---

1. अथवा, सूर्यमें

6

साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु ।।

(साधुः न) वह एक कुशल कार्यसाधककी तरह है और (गृध्नुः) अधिकृत करनेको आतुर है। (अस्ता इव शूरः) वह तीर छोड़नेवाले धनुर्धरकी तरह शूरवीर है और (याता इव भीमः) धावा बोलनेवाले आक्रामककी तरह भयंकर है। (समत्सु) हमारे संग्रामोंमें वह (त्वेषः) एक तेज है।

सूक्त 71

1

उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः ।
स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रञ् चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः ।।

(सनीळाः जनयः) एक ही वासस्थानमें रहनेवाली **माताएं** (उशतीः) कामना करती हुई (उशन्तम् उप) उनकी कामना करनेवालेके पास आईं और उसे (नित्यं पतिं न) अपने शाश्वत पतिकी तरह (प्रजिन्वन्) सुख दिया। (स्वसारः अजुषन्) बहनोंने उसमें आनन्द लिया, (उषसं गावः न) जैसे **किरणवाली गौएं** उस **उषा**में आनन्द लेती हैं जब कि वह (श्यावीम्) धूमिल, (अरुषीम्) अरुण वर्णवाली और (चित्रम्) चित्र-विचित्र रंगोंमें दमकती हुई (उच्छन्तीम्) प्रकट होती है।

2

वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण ।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः ।।

(नः पितरः) हमारे पितरोंने (वीळु दृळ्हा चित्) प्रबल और दृढ़ स्थानोंको भी (उक्थैः) अपने शब्दों द्वारा (रुजन्) तोड़ डाला। (अङ्गिरसः) अंगिरस् ऋषियोंने (अद्रिं) पहाड़ी चट्टानको (रवेण) अपने महान् रव से (रुजन्) छिन्न-भिन्न कर दिया। इस प्रकार उन्होंने (अस्मे) हमारे अन्दर (बृहतः दिवः) **बृहत् द्युलोक**का (गातुम् चक्रुः) मार्ग बनाया। उन्होंने (अहः) **दिन**को, (स्वः) सूर्यलोकको और (केतुम्) अंतर्ज्ञानकी रश्मिको तथा (उस्राः) चमकते हुए गो-यूथको (विविदुः) खोज निकाला।

3

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः ।
अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः ।।

(ऋतं दधन्) उन्होंने **सत्य**को धारण किया, (अस्य) इस मानव प्राणी-के (धीतिम्) विचारको (धनयन्) समृद्ध किया। (आत् इत्) इसके बाद ही वे (विभृत्राः) **अग्नि**को व्यापक रूपमें धारण करनेवाले, (अर्यः दिधिष्वः) स्वामित्व और विचार-शक्तिसे सम्पन्न बने। (अपसः) कार्यरत शक्तियाँ (जन्म) दिव्य **जन्म**को (प्रयसा) आनन्दके द्वारा (वर्धयन्तीः) बढ़ाती हुई, (अतृप्यन्तीः) किसी और चीजकी कामना न करती हुई (देवान् अच्छ) देवोंकी ओर (यन्ति) गति करती हैं।

4

मथीद् यदीं विभृतो मातरिश्वा गृहेगृहे श्येतो जेन्यो भूत्।
आदीं राज्ञे न सहीयसे सचा सन्ना दूत्यं भृगवाणो विवाय॥

(यत्) जब (विभृतः) व्यापक रूपसे अन्दर धारण किया गया (मात-रिश्वा) **जीवन-प्राण** (ईम्) उसको (गृहे-गृहे) घर-घरमें (मथीत्) मथकर प्रकट कर देता है तब वह (श्येतः) शुभ्र और (जेन्यः) विजयी (भूत्) हो जाता है। (आत्) तब ही (ईम्) वह (भृगवाणः) **देदीप्यमान द्रष्टा** बन जाता है और (सचा सन्) हमारा संगी बनकर (दूत्यम् आ विवाय) दूतकार्यके लिए जाता है (सहीयसे राज्ञे न) जैसे कोई किसी शक्तिशाली राजाका दूत बनकर जाता है।

5

महे यत् पित्र ईं रसं दिवे करव त्सरत् पृशन्यश्चिकित्वान्।
सृजदस्ता धृषता दिद्युमस्मै स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात्॥

(यत्) जब (महे पित्रे दिवे) **महान् पिता द्यौ**के लिए (ईं रसं) इस सार-रसको उसने (कः) बना लिया तो वह (पृशन्यः) घनिष्ठ सम्पर्क रखता हुआ और (चिकित्वान्) ज्ञान-सम्पन्न होता हुआ, (अव त्सरत्) सरकता हुआ नीचे आ गया। (अस्ता) **धनुर्धर** ने (धृषता) प्रचण्डताके साथ (अस्मै) इसपर (दिद्युं सृजत्) विद्युत्का बाण छोड़ा, परन्तु (देवः) देवने (स्वायां दुहितरि) अपनी पुत्रीमें (त्विषिं धात्) तेजोमय बलको निहित किया।

6

स्व आ यस्तुभ्यं दम आ विभाति नमो वा दाशादुशतो अनु द्युन्।
वर्धो अग्ने वयो अस्य द्विबर्हा यासद् राया सरथं यं जुनासि॥

(यः) जो (स्वे दमे) तेरे अपने घरमें (तुभ्यं) तेरे लिए (आ विभाति)

प्रकाशको प्रदीप्त करता है (वा) और (अनु द्यून्) प्रतिदिन (नमः आ दाशात्) समर्पण-रूप नमनकी भेंट देता है उसे तू (उशतः) चाहता है। (अग्ने) हे **अग्नि**! (द्विबर्हा) अपनी द्विविध बृहत्तामें तू (अस्य वयः वर्धः) उसके विकासको संवर्धित कर। (यम्) जिसे तू (सरथं जुनासि) अपने साथ एक ही रथमें वेगसे ले चलता है वह (राया यासत्) ऐश्वर्य-सम्पदाके साथ यात्रा करे।

7

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः।
न जामिभिर्वि चिकिते वयो नो विदा देवेषु प्रमतिं चिकित्वान्॥

(विश्वाः पृक्षः) सब तृप्तियां (अग्निम्) अग्निके साथ (अभि सचन्ते) दृढ़तासे जुड़ी हुई हैं, (न) जैसे (सप्त यह्वीः स्रवतः) सात शक्तिशाली नदियां (समुद्रं) समुद्रमें [अभि सचन्ते] मिल जाती हैं। (नः वयः) हमारी सत्ताका विकास (जामिभिः) तेरे साथियों द्वारा (न विचिकिते) नहीं जाना गया। परन्तु (चिकित्वान्) तू जो कि जान गया है (प्रमतिं) अपना ज्ञान (देवेषु) देवोंको (विदाः) प्रदान कर[1]।

8

आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् छुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं जनयत् सूदयच्च॥

(यत्) जब (तेजः) शक्तिकी ज्वाला (नृपतिं) मनुष्योंके इस **राजा**के पास (इषे आ आनट्) प्रेरक शक्तिके रूपमें आई, (अभीके) जब उनका मिलन होनेपर (द्यौः) **द्युलोक** को उसके अंदर (शुचि रेतः) शुद्ध-पवित्र बीजके रूपमें (नि-सिक्तं) डाला गया तब (अग्निः) **अग्नि**ने (शर्धम्[2] जनयत्) एक ऐसे बलवीर्यको जन्म दिया जो (युवानम्) युवा है, (अनवद्यं) निर्दोष है और (स्वाध्यं) चिन्तनमें पूर्ण है, (च) और उसे (सूदयत्) उसके पथ पर वेगसे परिचालित कर दिया।

9

मनो न योऽध्वनः सद्य एत्येकः सत्रा सूरो वस्व ईशे।
राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा॥

---

1. या, हमारे लिए **देवों**में ज्ञान प्राप्त कर।
2. या, एक गण। इसका अभिप्राय हो सकता है मरुत्-देवोंकी सेना, **मरुतां शर्धः**।

(यः सूरः) जो **सूर्य** (मनः इव) मनकी तरह (अध्वनः) मार्गोंपर (सद्यः एति) सहसा ही चल पड़ता है वह (सत्रा) सदैव (एकः) अकेला ही (वस्वः ईशे) ऐश्वर्यनिधिका स्वामी है। (सुपाणी राजाना) सुन्दर हाथोंवाले **राजा** (मित्रावरुणा) **मित्र** और **वरुण** वहाँ (गोषु[1]) **रश्मियों**में (प्रियम् अमृत्तं) आनन्द और अमृतकी (रक्षमाणा) रक्षा करते हुए विद्यमान हैं।

10

मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कविः सन्।
नभो न रूपं जरिमा मिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि॥

(अग्ने) हे **अग्नि**! तू (यः) जो (विदुः) ज्ञाता और (कविः) द्रष्टाके रूपमें (अभि सन्) हमारी ओर अभिमुख है, सो (नः पित्र्याणि सख्या) हमारे उन प्राचीन मैत्रीभावोंको (मा प्र मर्षिष्ठाः) भुला मत देना[2]। (नभः रूपं न) जैसे कुहरा रूपको धुंधला कर देता है वैसे (जरिमा मिनाति) बुढ़ापा हमें क्षीण कर देता है। (तस्याः अभिशस्तेः पुरा) हमपर उसका आघात पड़नेसे पूर्व (अधि इहि) तू आ पहुंच[3]।

सूक्त 72

1

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।
अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा॥

(पुरूणि नर्या) देवत्वकी अनेक शक्तियों[4]को (हस्ते दधानः) अपने हाथमें धारण किये हुए वह (शश्वतः वेधसः) शाश्वत **स्रष्टा**की (काव्या) द्रष्टा-प्रज्ञाओंको (नि कः) हमारे अंदर विरचित करता है। (अग्निः) **अग्निदेव** (रयीणां रयिपतिः) ऐश्वर्य-भंडारका स्वामी (भुवत्) बन जाए, (सत्रा) सदा (विश्वा अमृतानि) सब अमर वस्तुओंका (चक्राणः) निर्माण करे[5]।

---

1. 'गोषु', रश्मिरूपी गौओंमें, सूर्यके चमकते हुए यूथोंमें।
2. अथवा, उपेक्षित नहीं करना या मिटा नहीं देना।
3. या, हमपर उसका आक्रमण होनेसे पहले ध्यान दे।
4. अथवा, अनेकानेक **बलों**
5. या, समस्त अमर्त्य वस्तुओंको एक साथ बनाता हुआ।

2

अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः।
श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः॥

(विश्वे अमृताः अमूराः) सब अमर और ज्ञानियोंने (इच्छन्तः) चाहा परंतु (अस्मे) हमारे अंदर (परि सन्तं वत्सं) उस **शिशु**को जो सब ओर विद्यमान है (न विन्दन्) नहीं पा सके। (पदव्यः श्रमयुवः) उसके पथ पर श्रम करते हुए, (धियंधाः) **विचार**को धारण किए हुए वे (परमे पदे) परम धाममें (तस्थुः) स्थित हुए और उन्होंने (अग्नेः चारु) ज्वालामय **अग्निदेव**के सौन्दर्यको (विन्दन्) प्राप्त किया।

3

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचिं घृतेन शुचयः सपर्यान्।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्वः सुजाताः॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (यत्) जब (शुचयः) उन पवित्र जनोंने (शुचिं त्वाम् इत्) तुझ पवित्रका ही (घृतेन) प्रकाशकी निर्मलताके द्वारा (तिस्रः शरदः) तीन वर्ष तक (सपर्यान्) पूजन किया और (यज्ञियानि नामानि चित्) यज्ञिय **नामों**को भी (दधिरे) धारण किया, तब (तन्वः सुजाताः) उनके शरीर पूर्ण जन्मको प्राप्त हुए और उन्होंने उन्हें (असूदयन्त) पथपर वेगपूर्वक परिचालित कर दिया।

4

आ रोदसी बृहती वेविदानाः प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियासः।
विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसम्॥

(यज्ञियासः) यज्ञके स्वामियोंने (बृहती रोदसी) **बृहत् द्यौ** और **पृथिवी**-को (आ वेविदानाः) खोज निकाला और (रुद्रिया) अपनी प्रचण्ड शक्तिके द्वारा उन्हें (प्र जभ्रिरे) धारण किया, (मर्तः विदन्) तब मर्त्य मनुष्योंने उन्हें जाना और (नेमधिता) उच्चतर गोलार्ध[1]को धारण करके (परमे पदे तस्थिवांसम्) परम पदमें, परमोच्च स्तर पर स्थित (अग्निं) **अग्निदेव**का (चिकित्वान्) प्रत्यक्ष अनुभव किया।

---

1. 'नेमि' अर्थात् आधा, यह शब्द प्रत्यक्ष ही **महान् द्युलोक** 'बृहत् द्यौ' की ओर, उच्चतर गोलार्धकी ओर संकेत करता है, जिसके परे है परम पद (परमोच्च स्तर)।

5

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः॥

(संजानाना) उसे पूर्णतया जानते हुए वे (पत्नीवन्तः) अपनी पत्नियों सहित (उपसीदन्) आये और (अभिज्ञु) उसके आगे घुटने टेककर (नमस्यं) उस वन्दनीयका (नमस्यन्) नमन द्वारा वन्दन किया। (रिरिक्वांसः) उन्होंने अपने आपको रिक्त किया। (सख्युः निमिषि सखा) मित्रकी दृष्टि-में मित्रकी तरह उन्होंने ([निमिषि] रक्षमाणाः) उसकी दृष्टिमें सुरक्षित होकर (स्वाः तन्वः कृण्वत) अपने शरीरोंका निर्माण किया।

6

त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदाविदन्निहिता यज्ञियासः।
तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातृञ्चरथं च पाहि॥

(यत्) जब (यज्ञियासः) यज्ञके स्वामी (त्वे इत् निहिता) तेरे ही अन्दर रखी हुई (त्रिः सप्त) तीन गुना सात (गुह्यानि पदा) गुप्त भूमिकाओं को (अविदन्) पा लेते हैं तो (तेभिः) इन्हींके द्वारा वे (सजोषाः) एकमत होकर (अमृतं रक्षन्ते) अमरताकी रक्षा करते हैं। तू (पशून् च) **गोयूथों**की, (स्थातृन् चरथं च) स्थावर और जंगमकी, जड़-चेतनकी (पाहि) रक्षा कर।

7

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक् छुरुधो जीवसे धाः।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव** ! (वयुनानि विद्वान्) तू हमारे ज्ञानोंको जाननेवाला है। (क्षितीनां जीवसे) प्रजाओंके जीवन धारण कर सकनेके लिए (शुरुधः) बलोंकी (आनुषक्) अविच्छिन्न परम्पराकी (वि धाः) व्यवस्था कर। (देवयानान् अध्वनः) देवताओंकी यात्राके मार्गोंका (अन्तः विद्वान्) अन्तर्यामी ज्ञाता तू (अतन्द्रः दूतः) अतन्द्रित, नित्य जागरूक दूत (हविर्वाट्) भेंटोंका वहन करनेवाला (अभवः) हो गया है।

8

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट्॥

(दिवः आ) द्युलोकसे आनेवाली (सप्त यह्वीः) सात महान् नदियोंने जो (स्वाध्यः) गंभीर विचार करनेवाली और (ऋतज्ञाः) सत्यके जाननेवाली हैं, (रायः दुरः) ऐश्वर्य-निधिके द्वारोंको (वि अजानन्) जान लिया। (सरमा) सरमाने (गव्यं) रश्मिरूपी गौओंके यूथको, (दृळ्हं) दृढ़ स्थानको और (ऊर्वं) विशालताको (विदन्) खोज लिया (येन) जिसके द्वारा (नु) अब (मानुषी विट्) मानव प्रजा (कं भोजते) आनंदका उपभोग करती है।

9

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः॥

(ये) ये वे हैं जिन्होंने (सु-अपत्यानि विश्वा) उत्तम परिणाम लानेवाली सभी वस्तुओं पर (आ तस्थुः) अपने चरण रखे और (अमृतत्वाय) अमरताके लिए (गातुं) मार्ग (कृण्वानासः) निर्मित किया। (पृथिवी) पृथिवी (महद्भिः) इन महान् सत्ताओंके द्वारा (मह्ना वि तस्थे) महिमामें विस्तृत होकर स्थित हुई। (अदितिः माता) अनन्त माता अदिति (पुत्रैः) अपने पुत्रोंके साथ (धायसे) इस पृथिवीको धारण करनेके लिए (वेः) आई।

10

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्।
अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन्॥

(यत्) जब (अमृताः) अमरोंने, अमर देवोंने (दिवः) द्युलोकके (अक्षी) दो नेत्रोंकी (अकृण्वन्) रचना की, तो उन्होंने (अस्मिन्) इसके अंदर (श्रियं चारुं) श्री और सौन्दर्यको (नि दधुः) स्थापित किया। (अध) तब (न) मानों, (सृष्टाः सिन्धवः) अपने मार्गपर छोड़ दी गई नदियां (क्षरन्ति) प्रवाहित हो उठती हैं। (अरुषीः) उसकी अरुण वर्णवाली घोड़ियां [शक्तियां] (नीचीः प्र) वेगसे नीचेकी ओर दौड़ पड़ीं और (अजानन्) उन्होंने जान लिया, (अग्ने) हे अग्निदेव!

सूक्त 73

1

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो होतेव सद्म विधतो वि तारीत्॥

(यः) जो अग्नि [वह अग्नि] (पितृवित्तः रयिः न) उस पैतृक संपत्ति-की तरह है जो (वयः-धाः) हमारे अंदर बलको धारण कराती है, (चिकितुषः) ज्ञानवान् पुरुषके (शासुः न) शासन[1]की तरह (सु-प्रनीतिः) अपने नेतृत्वमें पूर्ण है, (अतिथिः न) एक ऐसे अतिथिकी तरह है जो (स्योनशीः) सुखसे लेटा हुआ और (प्रीणानः) अच्छी तरह तृप्त है। (होता इव) वह आवाहन करनेवाले पुरोहितकी तरह है और (विधतः) अपने उपासकके (सद्म) घरको (वि तारीत्) संपन्न और समृद्ध करता है।

2

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत्॥

(यः) जो अग्नि [वह अग्नि] (देवः सविता न) दिव्य **सूर्य**की तरह है जो (सत्यमन्मा) अपने विचारोंमें सत्यमय है और (क्रत्वा) अपने संकल्पके द्वारा (विश्वा वृजनानि) हमारे समस्त दृढ़ स्थानोंकी (नि पाति) रक्षा करता है। (अमतिः) वह एक ऐसे तेजके समान है जो (पुरुप्रशस्तः) विविध रूपसे अभिव्यक्त है। (सत्यः) वह सत्यस्वरूप है, (शेवः आत्मा इव) आनन्दपूर्ण आत्माकी तरह है और (दिधिषाय्यः भूत्) हमारा अवलम्ब है[2]।

3

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥

(यः) जो अग्नि [वह अग्नि] (विश्वधायाः देवः न) विश्वको धारण करनेवाले **भगवान्**की तरह है और (हितमित्रः राजा न) हितकारी मित्र राजाकी भांति (पृथिवीम् उपक्षेति) पृथ्वीपर अधिष्ठाताके रूपमें निवास करता है। वह (पुरः-सदः) हमारे सामने बैठे हुए, (शर्मसदः) हमारे घरमें रहनेवाले (वीराः न) वीरगणकी तरह है। (अनवद्या नारी इव) वह मानों एक निर्दोष नारीकी तरह है जो (पतिजुष्टा) अपने पतिकी प्रिय है।

---

1. अथवा शिक्षण
2. अथवा वह ध्यान करने योग्य (विचारमें धारण करने योग्य) है, आत्माकी तरह आनंदमय है।

4

तं त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु।
अधि द्युम्नं नि दधुर्भूर्यस्मिन् भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम्॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (ध्रुवासु क्षितिषु) अपने निवासके शाश्वत लोकोंमें, (दमे) हमारे घरमें (नित्यम् इद्धम्) नित्य प्रदीप्त (तं त्वा) ऐसे तुझ देवके साथ (नरः आ सचन्त) मनुष्य दृढ़तासे संयुक्त रहते हैं। (अस्मिन् अधि) ऐसे तुझको आधार बनाकर उन्होंने (भूरि-द्युम्नम्) एक महान् ज्योतिको (नि दधुः) अपने अंदर स्थापित किया है। तू (रयीणां धरुणः) ऐश्वर्योंका धारण करनेवाला (विश्व-आयुः भव) विश्वमय जीवन बन।

5

वि पृक्षो अग्ने मघवानो अश्युर्वि सूरयो ददतो विश्वमायुः।
सनेम वाजं समिथेष्वर्यो भागं देवेषु श्रवसे दधानाः॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (मघवानः) ऐश्वर्यके स्वामी (पृक्षः) तेरी तृप्तियोंका (वि अश्युः) उपभोग करें। (विश्वम् आयुः ददतः) अपने संपूर्ण जीवनका दान करनेवाले (सूरयः) प्रकाशपूर्ण ज्ञानिगण (पृक्षः वि अश्युः) तेरी तृप्तियोंका उपभोग करें। (श्रवसे) अंतःप्रेरित ज्ञानके लिये (देवेषु) **देवों**में (भागं दधानाः) अपने आहुति-भागको लिये हुए हम (समिथेषु) अपने युद्धोंमें (अर्यः) शत्रुसे (वाजं सनेम) प्रचुर ऐश्वर्य जीत लें।[1]

6

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः।
परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्॥

(द्युभक्ताः) द्युलोकमें उपभोगकी हुई[2], (स्मत्-ऊध्नीः) भरे हुए स्तनोंवाली (वावशानाः) हमें चाहनेवाली (ऋतस्य धेनवः हि) **सत्य**की दुधार गौओंने (पीपयन्त) हमें अपने दूधसे पुष्ट व तृप्त किया है। (परावतः) **परेके लोक**से (सुमतिं भिक्षमाणाः) यथार्थ चिंतनकी भिक्षा मांगती हुई (सिन्धवः) **नदियां** (अद्रिम् समया) **पर्वत**के ऊपर (वि सस्रुः) विस्तृत रूपसे प्रवाहित हो उठीं।

---

1. अथवा संग्रामोंमें युद्ध करनेवाले हम प्रचुर ऐश्वर्य जीत लें।
2. अथवा द्युलोकको हिस्सेमें प्राप्त,

7

त्वे अग्ने सुमतिं भिक्षमाणा दिवि श्रवो दधिरे यज्ञियासः।
नक्ता च चक्रुरुषसा विरूपे कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (सुमतिं भिक्षमाणाः) यथार्थ चिंतनकी याचना करते हुए (यज्ञियासः) यज्ञके स्वामियोंने (त्वे) तेरे अन्दर (दिवि) द्युलोक-में (श्रवः दधिरे) अंतःप्रेरित ज्ञान स्थापित किया। उन्होंने (नक्ता उषसा च) रात्रि और उषाको (विरूपे चक्रुः) भिन्न रूपोंवाली बनाया और (कृष्णं च अरुणं च वर्णम्) काले और गुलाबी रंगको [अज्ञानरात्रिके और ज्ञानकी उषाके रंगको] (सं धुः) संयुक्त कर दिया।

8

यान् राये मर्तान्त्सुषूदो अग्ने ते स्याम मघवानो वयं च।
छायेव विश्वं भुवनं सिसक्ष्यापप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (यान् मर्तान्) जिन मर्त्य मनुष्योंको तू (राये) **ऐश्वर्य**की ओर (सुसूदः) वेगपूर्वक अग्रसर करता है, (ते स्याम) हम भी उन्हींमेंसे होवें; (मघवानः वयं च) ऐश्वर्यपति और हम (ते स्याम) वैसे ही होवें। (रोदसी) द्यावापृथिवी और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आपप्रिवान्) परिपूरित करता हुआ तू (विश्वं भुवनम्) संपूर्ण संसारके साथ (छाया इव) छायाके समान (सिसक्षि) अंग-संग रहता है।

9

अर्वद्भिरग्ने अर्वतो नृभिर्नॄन् वीरैर्वीरान् वनुयामा त्वोताः।
ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः॥

(अग्ने) हे **अग्ने**! (त्वा-ऊताः) तुझ द्वारा सुरक्षित[1] हम (अर्वद्भिः) अपने युद्धके घोड़ोके द्वारा (अर्वतः) युद्धके घोड़ोंको, (नृभिः) अपने बलशाली मनुष्योंके द्वारा (नॄन्) बलशाली मनुष्योंको, (वीरैः) अपने वीरों द्वारा (वीरान्) वीरोंको (वनुयाम) जीत लें। (नः सूरयः) हमारे प्रकाश-दीप्त ज्ञानी जन (पितृवित्तस्य) पितरों द्वारा अधिगत (रायः) ऐश्वर्य-निधि-के (ईशानासः) स्वामी बनें और (शतहिमाः) सौ हेमन्तों [वर्षों] तक जीते हुए उसे (वि अश्युः) अधिकृत कर लें।

---

1. अथवा, धारण किये हुए

10

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च।
शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो देवभक्तं दधानाः॥

(वेधः अग्ने) हे पदार्थमात्रके [जगत्के] विधाता, हे **अग्निदेव**! (एता उचथानि) ये वचन (ते) तुझे; (ते मनसे हृदे च) तेरे मन और हृदयको (जुष्टानि सन्तु) प्रीतिपूर्वक स्वीकार्य हों। (देवभक्तम्) देवों द्वारा आस्वादित[1] (श्रवः) अंतःप्रेरित ज्ञानको (ते अधि) तेरे आधार पर (दधानाः) अपने अन्दर धारण करते हुए हम (ते रायः) तेरे ऐश्वर्योंको (सुधुरः) दृढ़ जूएके द्वारा, नियंत्रण-शक्तिके द्वारा (यमं शकेम) अधिकृत करनेमें समर्थ हों।

सूक्त 127

1

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं
विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः॥

(अग्निं मन्ये) मैं **अग्निदेव**का ध्यान करता हूं जो (होतारम्) आवाहनका पुरोहित है, (वसुं दास्वन्तम्) **ऐश्वर्य-निधिका** दाता है, (सहसः सूनुम्) शक्तिका पुत्र है, (जातवेदसम्) सब उत्पन्न वस्तुओंको जाननेवाला है, (जातवेदसं विप्रं न) सब उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञाता ज्योतिर्मय देवकी न्याईं है।

(यः) जो **अग्नि** (सु-अध्वरः देवः) यात्रा-यज्ञके संपादनमें पूर्णतया कुशल एक ऐसा देव है जो (ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा) उन्नीत और देवाभिमुख स्पृहाके साथ[2], (शोचिषा) अपनी ज्वालाके द्वारा (घृतस्य विभ्राष्टिम्) प्रकाशरूप हविकी प्रचंड शिखाके लिए (अनु वष्टि) आतुर है। और (आजुह्वानस्य) आहुतिके रूपमें अपने ऊपर उंडेली गई (सर्पिषः) प्रकाशकी धाराके लिए [अनु वष्टि] उत्कण्ठित है।

---

1. अथवा, देवों द्वारा वितरित
2. अथवा, देवोंकी कामना करती हुई उज्ज्वलित प्रभाके साथ

2

यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां
विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः।
परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम्।
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः॥

(यजिष्ठम्) यज्ञ करनेके लिए अत्यंत शक्तिशाली और (अङ्गिरसां ज्येष्ठम्) अंगिरसोंमें सबसे बड़े (त्वा) तुझको (यजमानाः) यज्ञ-क्रियाका अर्पण करनेवाले यजमान (हुवेम) पुकारें, तेरा आवाहन करें। (विप्र) हे **प्रकाशमय देव**! (शुक्र) **हे देदीप्यमान अग्नि**! (मन्मभिः) अपने विचारोंके द्वारा, (विप्रेभिः मन्मभिः) अपने प्रकाशित विचारोंके द्वारा हम (त्वा हुवेम) तुझ अग्निदेवका आवाहन करें, जो तू (चर्षणीनां होतारम्) मनुष्योंके लिए आवाहक पुरोहित है[1] और (द्याम् इव) द्युलोककी तरह (परिज्मानम्) सबको चारों ओरसे व्यापे हुए है, (शोचिः-केशम्) प्रकाश-ज्वालारूपी बालोंवाला (वृषणम्) पुरुष है (यम्) जिसकी (इमाः विशः) ये प्रजाएं (प्र अवन्तु) प्रीतिपूर्वक सेवा करें, (विशः) प्रजाएं (जूतये) प्रेरणा प्राप्त करनेके लिए [प्र अवन्तु] प्रीतिपूर्वक उसकी सेवा करें।

3

स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता
दीद्यानो भवति द्रुहंतरः परशुर्न द्रुहंतरः।
वीळु चिद् यस्य समृतौ श्रुवद् वनेव यत् स्थिरम्।
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते॥

(सः हि) वह अग्नि (विरुक्मता ओजसा) व्यापक रूपसे देदीप्यमान अपनी शक्तिके द्वारा (पुरु चित्) अनेकों वस्तुओंको (दीद्यानः) आलोकित करता हुआ (द्रुहंतरः) हमें हानि पहुंचानेकी इच्छा करनेवालोंका विदारक (भवति) बन जाता है, (परशुः न) युद्धके परशुकी तरह वह (द्रुहंतरः भवति) हमें हानि पहुंचानेकी इच्छा करनेवालोंका विदारण करता है। (यस्य समृतौ) जिसकी चोट पड़नेपर (वीळु चिद्) दृढ़ वस्तु भी (श्रुवत्) टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, (यत् स्थिरम्) यहाँ तक कि जो कुछ भी दृढ़ तथा स्थिर है वह सब (वना इव) वृक्षोंकी तरह (श्रुवत्) भूमिसात्

---

1. अथवा, दृष्टिसंपन्न लोगोंके लिए आवाहनका पुरोहित है

हो जाता है, (निः-सहमानः) सबको अपने सामर्थ्यसे अभिभूत करता हुआ वह (यमते) निरन्तर श्रम किये चलता है और (न अयते) पीछे नहीं हटता। (धन्व-सहा) धनुर्धारी योद्धाकी तरह वह (न अयते) युद्धसे कभी पीछे नहीं हटता।

4

दृळ्हा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे
तेजिष्ठाभिररणिभिर्दाष्टचवसेऽग्नये दाष्टचवसे।
प्र यः पुरूणि गाहते तक्षद् वनेव शोचिषा।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा॥

वे यजमान (दृळ्हा चित्) दृढ़तया निर्मित वस्तुओंको भी (अस्मै) उस अग्निको (अनु दुः) इस प्रकार दे देते हैं (यथा) जिस प्रकार (विदे) किसी ज्ञानीको। (तेजिष्ठाभिः अरणिभिः) उसकी ज्वालामय शक्तिकी गतियोंके द्वारा (अवसे) संरक्षण पानेके लिए यजमान उसे (दाष्टि) अपने आपको दे देता है, अपने आपको (अग्नये) **अग्नि**के प्रति (दाष्टि) समर्पित करता है ताकि वह (अवसे) उसकी रक्षा करे। (यः) जो [वह अग्नि] (पुरूणि) अनेकों वस्तुओंमें (प्र गाहते) प्रवेश करता है और उन्हें (शोचिषा) अपने जाज्वल्यमान प्रकाशके द्वारा (वना इव) वृक्षोंकी तरह (तक्षत्) घड़ता है, (स्थिरा चित्) दृढ़-मूल वस्तुओंको भी वह (ओजसा) अपने ओजसे (नि रिणाति) विदारित करता है और (स्थिराणि चिद्) बद्धमूल वस्तुओंको भी (ओजसा) अपने बलवीर्यसे (अन्ना) अपना अन्न [नि रिणाति] बना लेता है।

5

तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि
नक्तं यः सुदर्शतरो दिवातरादप्रायुषे दिवातरात्।
आदस्यायुर्ग्रभणवद् वीळु शर्म न सूनवे
भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा अग्नयो व्यन्तो अजराः॥

(उपरासु) ऊर्ध्वतर स्तरों पर (अस्य) इसके (तं पृक्षम्) उस पूर्ण स्वरूपका (धीमहि) हम ध्यान करते हैं[1], उस **अग्निदेव**का ध्यान करते हैं

1. अथवा, हम धारण करते हैं,

(यः) जो (दिवातरात्) दिनकी अपेक्षा (नक्तम्) रात्रिमें (सुदर्शतरः) अधिक दर्शनीय, भास्वर होता है, (अप्र-आयुषे) इसके उस अविनाशी जीवन-के लिए इसका ध्यान करते हैं जो (दिवातरात्) दिनकी अपेक्षा रात्रिमें (सुदर्शतरः) अधिक उज्ज्वल होता है। (आत्) तब (अस्य) इसका (आयुः) जीवन (ग्रभणवत्) हमें इस प्रकार अधिकृत कर लेता और सहारा देता है (न) जिस प्रकार (वीळु सूनवे शर्म) एक दृढ़ आश्रय-धाम पुत्रको शरण देता है। (अजसः अग्नयः) जरारहित अग्नियां (भक्तम् अभक्तम्) सेवन किये गये और अभीतक सेवन न किये गये (अवः) सुखकी ओर (व्यन्तः) गति करती हैं, (अजराः अग्नयः) उसकी अजर अग्नियां (व्यन्तः) उस ओर गति करती हैं।

6

स हि शर्धो न मारुतं
तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः।
आवद्धव्यान्यादर्दिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्यां नरः शुभे न पन्थाम्॥

(अप्नस्वतीषु) हमारे श्रमसे पूर्ण (उर्वरासु) उपजाऊ भूमियोंके ऊपर (इष्टनिः) वेगसे सांय-सांय करते हुए, (आर्तनासु) बंजर भूमियों पर (इष्टनिः वेगसे सांय-सांय करते हुए (सः हि) वह (मारुतं शर्धः न) आंधी-तूफानोंकी सेना[1]की तरह (तुवि-स्वनिः) अनेक ध्वनियोंसे युक्त है। वह (हव्यानि आददिः) हविओंको ग्रहण करता है और (आदत्) उनका भक्षण करता है। वह (अर्हणा यज्ञस्य) उचित क्रियासे संपन्न यज्ञका (केतुः) अन्तर्ज्ञान-मय चक्षु है। (अध) इसलिए (विश्वे नरः) सब मनुष्य (अस्य हृषीवतः हर्षतः) इस आनन्दमय और आनन्दप्रद अग्निके (पन्थाम्) मार्गका (शुभे पन्थाम् न) सुखकी तरफ ले जानेवाले मार्गकी तरह (जुषन्त स्म) सहर्ष अनुसरण करते हैं।

---

1. अथवा, गूढ़ आंतरिक अर्थमें, **प्राणशक्तियों**की सेना जो हमारी जोती हुई भूमियों और बंजर भमियों पर उपजाऊ बनानेवाली वर्षाके साथ गति करती है।

7

द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो
नमस्यन्त उपवोचन्त भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः ।।
अग्निरीशे वसूनां शुचिर्यो धर्णिरेषाम् ।
प्रियाँ अपिधीँवनिषीष्ट मेधिर आ वनिषीष्ट मेधिरः ।।

(यत्) जब (अभिद्यवः) प्रकाशसे परिवेष्टित (कीस्तासः) कीर्तन करनेवाले (भृगवः) तेजःस्वरूप भृगु ऋषि (द्विता) अपनी द्विविध शक्तिसे संपन्न (ईम्) इस अग्निका (नमस्यन्तः) नमन करते हुए ([ईम्] उपवोचन्त) इसके प्रति अपनी वाणी उच्चरित कर चुकते हैं, जब (भृगवः) ज्वालामय ऋषि (दाशा) अपनी पूजाके द्वारा उसे (मथ्नन्तः) मंथन करके प्रकट कर लेते हैं, तब (अग्निः) **अग्निदेव** (वसूनाम् ईशे) उनके लिए ऐश्वर्योंका स्वामी बन जाता है, (यः) जो (शुचिः) पवित्र अग्नि (एषां धर्णिः) इन ऐश्वर्योंको अपने अन्दर धारण करता है। (मेधिरः) मेधावी, ज्ञानमय वह (अपिधीन्) अपने ऊपर रखी या डाली गई [अपने अन्दर अर्पित की गई] (प्रियान्) अपनेको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका (वनिषीष्ट) आस्वादन करता है, (मेधिरः) वह ज्ञानमय मेधावी (आ वनिषीष्ट) अपनी प्रज्ञामें उनका आनन्द लेता है।

8

विश्वासां त्वा विशां पतिं हवामहे
सर्वासां समानं दंपतिं भुजे सत्यगिर्वाहसं भुजे।
अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्या देवेष्वा वयः ।।

(विश्वासां विशां पतिम्) सब प्रजाओंके अधिपति, (सर्वासाम्) उन सबके (समानं दंपतिम्) सांझे घरके स्वामी (त्वा) तुझको (भुजे) आनन्दोपभोगके लिए (हवामहे) हम पुकारते हैं। (सत्यगिर्वाहसम्) सत्य वाणियोंका वहन करनेवाले तुझको (भुजे) आनन्दोपभोगके लिए [हवामहे] हम पुकारते हैं, (मानुषाणाम् अतिथिम्) मनुष्योंके अतिथिको [हवामहे] हम पुकारते हैं (यस्य आसया) जिसके सामने (अमी विश्वे अमृतासः आ) ये सब अमर देव उसी प्रकार स्थित रहते हैं (पितुः न) जिस प्रकार पिताके सामने, और ये (हव्या) हमारी हविओंको (वयः आ) अपना भोजन बनाते हैं, (देवेषु) देवोंमें (हव्या) ये हवियां (वयः [आ]) उनका अन्न बन जाती हैं।

9

त्वमग्ने सहसा सहन्तमः शुष्मिन्तमो जायसे देवतातये ।
रयिर्न देवतातये ।
शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः ।
अध स्मा ते परि चरन्त्यजर श्रुष्टीवानो नाजर ।।

(अग्ने) हे **अग्निदेव** ! (त्वम्) तू (सहसा) अपने बलके कारण (सहन्तमः) अदमनीय है, (देवतातये शुष्मिन्तमः) देवोंके निर्माणके लिए तू अत्यंत शक्तिशाली होकर (जायसे) उत्पन्न हुआ है, (देवतातये रयिः न [जायसे]) मानों देवोंके निर्माणके लिए तू ऐश्वर्यके रूपमें प्रकट होता है। (ते मदः) तेरा हर्षोल्लास (शुष्मिन्तमः हि) अत्यंत शक्तिशाली है (उत) और (क्रतुः) तेरा संकल्प (द्युम्निन्तमः) अत्यन्त ज्योतिर्मय। (अध) इसलिए (ते परिचरन्ति स्म) वे तेरी सेवा करते हैं (अजर) हे जरारहित **अग्नि** ! (श्रुष्टीवानः न [परि चरन्ति]) वे उनकी तरह तेरी सेवा करते हैं जो तेरा शब्द सुनते हैं, (अजर) हे अजर **अग्नि** !

10

प्र वो महे सहसा सहस्वत
उषर्बुधे पशुषे नाग्नये स्तोमो बभूत्वग्नय ।
प्रति यदीं हविष्मान् विश्वासु क्षासु जोगुवे ।
अग्ने रेभो न जरत ऋषूणां जूर्णिर्होत ऋषूणाम् ।।

(सहसा सहस्वते) अपने बल के द्वारा प्रबल शक्तिशाली, (उषःबुधे) उषामें जागनेवाले (अग्नये) अग्निके लिये, (पशुषे न) अंतर्दृष्टिसे संपन्न देवकी भांति (महे अग्नये) महान् देव अग्निके लिए (वः स्तोमः) तुम्हारा स्तुतिगान (प्र बभूतु) उद्भूत हो, ऊपर उठे। (यत्) जब (हविष्मान्) हवि देनेवाला (विश्वासु क्षासु) सभी भूमिकाओंमें (ईम् प्रति जोगुवे) उसे ऊंचे स्वरसे पुकारता है, तो (ऋषूणाम् अग्ने) ज्ञानियोंके सम्मुख वह (रेभः न) स्तोताकी तरह (जरते) हमारा स्तुतिगान पहुंचाता है, (ऋषूणाम् होता) ज्ञानियोंका होता अर्थात् आवाहनकारी पुरोहित वह (जूर्णिः) हमारा स्तुतिगान पहुंचाता है।

11

स नो नेदिष्ठं ददृशान आ भराग्ने देवेभिः सचनाः
सुचेतुना महो रायः सुचेतुना ।

महि शविष्ठ नस्कृधि संचक्षे भुजे अस्यै।
महि स्तोतृभ्यो मघवन्त्सुवीर्यं मथीरुग्रो न शवसा॥

(सः) वह तू [इसलिए तू] (ददृशानः) प्रत्यक्ष गोचर होता हुआ (अग्ने) हे **अग्निदेव**! (रायः) उन ऐश्वर्योंको जो (देवेभिः सचनाः) सदा देवोंके साथ रहते हैं (सुचेतुना) अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा (नः नेदिष्ठम् आ भर) हमारे अत्यंत निकट ले आ, (सुचेतुना) अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा (महः [रायः]) महान् ऐश्वर्योंको [नः नेदिष्ठम् आ भर] हमारे अत्यंत निकट ले आ। (शविष्ठ) हे अत्यन्त बलशाली अग्निदेव, (नः) हमारे लिए, (अस्यै संचक्षे) हमारे इस साक्षात्कारके लिए, (भुजे) हमारे उपभोगके लिए, (महि) जो कुछ भी महान् है उसे तू (कृधि) निर्मित कर। (मघवन्) हे प्रचुर ऐश्वर्यके अधिपति! (स्तोतृभ्यः) अपनी स्तुति करनेवालोंके लिए तू (शवसा उग्रः न) अपने तेजके द्वारा प्रबलशक्तिशाली देवकी न्यांई (महि सुवीर्यम्) महान् वीरशक्तिको (मथीः) मथकर प्रकट कर।

दीर्घतमा औचथ्यः

सूक्त 140

1

वेदिषदे प्रियधामाय सुद्युते धासिमिव प्र भरा योनिमग्नये।
वस्त्रेणेव वासया मन्मना शुचिं ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम्॥

(योनिम्) गर्भस्थ शिशुको (धासिम् इव) सुरक्षित आसनकी तरह (अग्नये) उस अग्निके प्रति (प्र भर) समर्पित कर दो जो (सुद्युते) अत्यंत भास्वर है, (वेदि-सदे) वेदी पर आसीन होता है और (प्रियधामाय) आनंद ही जिसका धाम है। (तमः-हनम्) अंधकारका वध करनेवाले अग्निको जो (शुचिम्) शुद्ध[1] है, (ज्योतिः-रथम्) जिसका रथ ज्योति ही है, (शुक्रवर्णम्) जिसका रंग शुभ्र-उज्ज्वल है (वस्त्रेण इव) वस्त्रकी न्याईं (मन्मना) अपने विचारसे (वासय) परिवेष्टित कर दो।

2

अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः।
अन्यस्यासा जिह्वया जेन्यो वृषा न्यन्येन वनिनो मृष्ट वारणः॥

---

1. अथवा, श्वेत; शुक्र=धवल उज्ज्वलता।

(द्विजन्मा) द्विजरूपमें उत्पन्न अग्नि (त्रिवृत् अन्नम् अभि) अपने त्रिविध अन्नके चारों ओर (ऋज्यते) तीव्र रूपसे गति करता है। (जग्धम् ईम्) वह खाया जाकर (संवत्सरे) एक वर्षमें ही (पुनः ववृधे) फिरसे उत्पन्न हो गया है। (अन्यस्य) किसी एककी (जिह्वया आसा) जिह्वा और मुखके द्वारा[1] वह (जेन्यः) शक्तिमय प्रभु और (वृषा) उपभोक्ता है। (अन्येन) एक अन्यके साथ वह (वनिनः) अपने आनंदप्रद पदार्थों-को (वारणः[2]) चारों ओरसे घेर लेता है और (नि मृष्ट[3]) अपने आलिं-गनमें जोरसे कस लेता है।

3

कृष्णप्रुतौ वेविजे अस्य सक्षिता उभा तरेते अभि मातरा शिशुम्।
प्राचाजिह्वं ध्वसयन्तं तृषुच्युतमा साच्यं कुपयं वर्धनं पितुः॥

वह अग्निदेव (कृष्णप्रुतौ) अंधकारमय पथपर चलनेवाली, (सक्षितौ) एक ही वासस्थानमें निवास करनेवाली (अस्य उभा मातरा) अपनी [उसकी] दोनों माताओंको (वेविजे) गति करनेकी शक्ति देता है। (शिशुम् अभि[4] तरेते) वे दोनों अपना रास्ता पार करती हुई अपने उस शिशु तक पहुंच जाती हैं, (प्राचाजिह्वम्) जिसकी जिह्वा ऊपरकी ओर उठी हुई है, (ध्वसयन्तम्) जो ध्वंस करनेवाला है, (तृषुच्युतम्) जो वेगपूर्वक गति करता हुआ पार हो जाता है; (आ साच्यम्) वरणीय है, (कुपयम्) सुर-क्षित रखने योग्य है, (पितुः वर्धनम्) अपने पिताको बढ़ानेवाला है।[5]

---

1. या, (अन्यस्य आसा) एककी उपस्थितिमें (जिह्वया) उसकी जिह्वाके साथ।
2. 'वारणः' शब्द वृ धातुसे बना है जिसका अर्थ है 'आच्छादित करना', 'घेरना'।
3. 'मृष्' धातु का प्रयोग यौन संपर्कके अर्थमें होता है।
4. या, अपने शिशुका अनुसरण करती हुई
5. व्याख्या—**द्यौ** और **पृथिवी, मन** और शरीर एक ही ढांचेमें, एक ही भौतिक जगत्में इकट्ठे निवास करते हुए अज्ञानके अंधकारमें विचरण करते हैं। उनकी क्रियाओंसे जो दिव्यशक्ति उत्पन्न होती है उसका अनुसरण करते हुए वे अंधकारसे पार हो जाते हैं। 'कुपय'का अर्थ संदिग्ध है। 'पिता' है **पुरुष** या फिर उच्चतर आध्यात्मिक सत्ताके भावमें उसका अर्थ है **द्यौ**।

4

मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊ जुवः।
असमना अजिरासो रघुष्यदो वातजूता उप युज्यन्त आशवः॥

(मानवस्यते मनवे) विचारशील बननेके इच्छुक मानवके लिए उस अग्निदेवकी (कृष्णसीतासः ऊ) अंधकारमय और प्रकाशमय, (रघुद्रुवः) तीव्र गति देनेवाली (जुवः) प्रेरणाएं (मुमुक्ष्वः) मनुष्यकी मुक्तिकी कामना करती हैं। (अजिरासः) क्रियाशील, (रघु-स्यदः) द्रुतगामी, (असमनाः) कंपायमान-से (आशवः) वे वेगशाली अश्व (उपयुज्यन्ते) अपने कार्योंकी धुराके साथ जोते जाते हैं और वे (वातजूताः) वस्तुमात्रकी **जीवनशक्ति,** प्राणशक्तिके द्वारा परिचालित होते हैं।

5

आदस्य ते ध्वसयन्तो वृथेरते कृष्णमभ्वं महि वर्पः करिक्रतः।
यत् सीं महीमवनिं प्राभि मर्मृशदभिश्वसन् स्तनयन्नेति नानदत्॥

(आत्) इसके बाद (ते) वे (अस्य) उसके लिए (ध्वसयन्तः) ध्वंसका कार्य करते हैं, (वृथा ईरते) मंद गतिसे आगेकी ओर बढ़ते हैं[1] और (कृष्णम् अभ्वम्) उसकी अंधकारमय स्थूल सत्ताका तथा (महि वर्पः) उसके शक्तिशाली प्रकाशमय रूपका (करिक्रतः) निर्माण करते हैं। (यत्) जब वह (प्र एति) आगे पहुंचकर (महीम् अवनिम्)[2] **विशाल सत्ताका** (सीम् अभि मर्मृशत्) [सब ओरसे] स्पर्श करता है, तो वह (अभिश्वसन्) उसके प्रति उच्छ्वास-पूर्वक उत्कंठित होता है और (स्तनयन्) गरजता हुआ (नानदत्) उच्च स्वरसे पुकारता है।

6

भूषन् न योऽधि बभ्रूषु नम्नते वृषेव पत्नीरभ्येति रोरुवत्।
ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः॥

---

1. या, वेगपूर्वक गति देते और व्याप लेते हैं
2. 'महीम् अवनिम्' का अर्थ विशाल पृथ्वी भी हो सकता है। किंतु अवनि शब्दका और 'पृथिवी'का भी वेदमें सदा पृथ्वीके अर्थमें ही प्रयोग नहीं होता, 'अवनि' शब्दका तो सामान्यतः नहीं ही होता, ये दोनों शब्द घूम-फिरकर अपने मूल 'सप्त अवनयः' (सात पृथिवियों) पर लौट आते हैं।

(यः) जो [जब वह] (बभ्रूषु[1] अधि) भूरे रंगकी गौओंमें [ज्ञान-रश्मियोंमें] (भूषन् न)) मानो अपना रूप धारण करना चाहता है तो वह (नम्नते) नीचेकी ओर झुकता है और (रोरुवत् अभि एति) उनकी ओर हुंकार भरता हुआ इस प्रकार जाता है (इव) जिस प्रकार (वृषा) पुरुष (पत्नीः) अपनी सहचरियोंकी ओर। (ओजायमानः) अपनी शक्तियों को प्रकट करता हुआ वह (तन्वः) उनके शरीरोंको (शुम्भते) आनंद देता है[2] (च) और (दुर्गृभिः भीमः न) पकड़में न आ सकनेवाले भयंकर पशुकी तरह (शृङ्गा) अपने सींगोंको (दविधाव) उछालकर मारता है।

7

स संस्तिरो विष्टिरः सं गृभायति जानन्नेव जानतीर्नित्य आ शये।
पुनर्वर्धन्ते अपि यन्ति देव्यमन्यद् वर्पः पित्रोः कृण्वते सचा॥

(संस्तिरः) सत्तामें संकुचित अथवा (वि-स्तिरः) व्यापक रूपसे विस्तृत होता हुआ (सः) वह (सं गृभायति) उन्हें पूरी तरह अधिकृत कर लेता है। (जानन् एव नित्यः) ज्ञानवान् होता हुआ वह नित्य अग्नि (जानतीः) ज्ञानसे संपन्न उनका (आ शये) उपभोग करता है[3]। (पुनः) तो फिर वे (वर्धन्ते) संवर्धित होती हैं और (देव्यम् अपि यन्ति) दिव्य अवस्था प्राप्त करती हैं। (सचा) संयुक्त होकर वे (पित्रोः) **माता-पिता** के लिए (अन्यत् वर्पः) दूसरे रूपका (कृण्वते) निर्माण करती हैं।

8

तमग्रुवः केशिनीः सं हि रेभिर ऊर्ध्वास्तस्थुर्मघ्रुषीः प्रायवे पुनः।
तासां जरां प्रमुञ्चन्नेति नानददसुं परं जनयञ्जीवमस्तृतम्॥

(अग्रुवः केशिनीः) अपने लहराते हुए केश-कलापके कारण शुभ्र वे (तं सं रेभिरे[4] हि) उसका पूर्ण आनन्द लेती हैं। (मघ्रुषीः[5]) जो मरने

---

1. **बभ्रूषु**—गौओंमें; इन गौओंको आगेकी एक ऋचामें 'अरुण्यः' कहा गया है अर्थात् मर्त्य मनमें ज्ञानकी रश्मियां।
2. अथवा, पदार्थके रूपोंको आनन्दमय बना देता है।
3. या, उनके साथ स्थित होता है या शयन करता है।
4. **रेभिरे**=आनन्द लेती हैं, यह अर्थ यहाँ पूर्णतया सिद्ध हो गया है।
5. **'मघ्रुषीः'** का अर्थ अनिश्चित है। इसका अर्थ मृत या म्रियमाण हो सकता है।

ही वाली थीं वे (पुनः) एक बार फिर (आयवे) उसके आगमन—स्वागत—के लिए (ऊर्ध्वाः प्र तस्थुः) ऊंचे उठ खड़ी होती हैं। क्योंकि वह (तासाम्) उनकी (जराम्) जरा, जर्जर अवस्थाको उनसे (प्रमुञ्चन्) छुड़ाता हुआ, (नानदत्) ऊंचे स्वरसे नाद करता हुआ (एति) उनके पास जाता है, वह (परम् असुम्) परम बल और (अस्तृतम् जीवम्) अजेय जीवनका (जनयन्) सर्जन करता है।

9

अधीवासं परि मातू रिहन्नह तुविग्रेभिः सत्वभिर्याति वि ज्रयः।
वयो दधत् पद्वते रेरिहत् सदाऽनु श्येनी सचते वर्तनीरह॥

(मातुः परि) प्रकृति-माताके चारों ओर विद्यमान, (अधीवासम्) दूसरेको छिपानेवाले वस्त्रावरणको (रिहन् अह) फाड़कर वह, (सत्वभिः) शुद्ध सत्स्वरूपकी झलकवाले, (तुविग्रेभिः) दिव्य बलको प्रकट करनेवाले जीवोंके साथ (ज्रयः) आनंदकी ओर (वि याति) पूरी तरह अग्रसर होता है। वह (वयः दधत्) विशालताको स्थापित करता है। (पद्वते) इस यात्रीके लिए सब कुछको पार करता हुआ (रेरिहत्[1]) लक्ष्य तक जाता है। (श्येनी) तीव्र गतिसे दौड़ता हुआ भी वह (वर्तनिः) मार्गोंका (सदा अनु सचते अह) सदा दृढ़तया अवलंबन किये रहता है।

10

अस्माकमग्ने मघवत्सु दीदिह्यध श्वसीवान् वृषभो दमूनाः।
अवास्या शिशुमतीरदीदेर्वमेव युत्सु परिजर्भुराणः॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (अस्माकम् मघवत्सु) हमारी पूर्ण ऐश्वर्यकी अवस्थाओंमें (दीदिहि) भास्वर रूपमें प्रज्वलित हो। (अध) आजसे लेकर तू (वृषभः) हमारा शक्तिशाली प्रभु बन और, (श्वसी[2]वान्) अपनी बहनोंके साथ (दमूनाः) हमारे अन्दर निवास कर। (शिशुमतीः) जो बाल-बुद्धिवाले हैं उन्हें अपनेसे (अव-अस्य) दूर रखकर तू (युत्सु वर्म इव) संग्रामोंमें कवचकी तरह (परि जर्भुराणः) हमें चारों ओरसे घेरे हुए (अदीदेः) जाज्वल्यमान हो।

---

1. 'रिहन्', 'रेरिहत्' का अर्थ निश्चित नहीं।
2. 'श्वसी' ग्रीक भाषाका कसिस् (Kasis) है और पत्नी या बहनके वाचक 'स्वसृ' शब्दका प्राचीन रूप है। इसलिए इसका प्रयोग वृषा शब्दके साथ किया गया है जैसे कि पत्नी शब्द भी 'वृषा'के साथ प्रयुक्त हुआ है।

11

इदमग्ने सुधितं दुर्धितादधि प्रियादु चिन्मन्मनः प्रेयो अस्तु ते।
यत् ते शुक्रं तन्वो रोचते शुचि तेनास्मभ्यं वनसे रत्नमा त्वम् ॥

(अग्ने) हे **अग्नि**! (इदम्) यह तत्त्व वह है जो (दुर्धितात् अधि) कु-स्थापित तत्त्वके ऊपर (सुधितम्) सम्यक्तया स्थापित है। (प्रियात् उ मन्मनः चित्) इस आनन्दपूर्ण मानसिक सत्तामेंसे भी (प्रेयः) एक बृहत्तर आनन्द (ते अस्तु) तुझसे उत्पन्न हो। (यत्) जो कुछ भी (ते) तेरे (तन्वः) देहसे (शुक्रं शुचि) शुभ्र-पवित्र रूपमें (रोचते) प्रकाशित होता है (तेन) उससे (त्वम्) तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (रत्नम्) आनन्दको (आ वनसे) जीत लेता है।

12

रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने।
अस्माकं वीरां उत नो मघोनो जनांश्च या पारयाच्छर्म या च ॥

(अग्ने) हे **अग्नि**! तू (नः) हमारे लिए (रथाय) हमारे रथके रूपमें (उत) और (गृहाय) हमारे घरके रूपमें (नित्य-अरित्रां पद्वतीम्) नित्य-विकासमय गतिके साथ यात्रा करनेवाली (नावम्) नौका (रासि) प्रदान करता है, (या) जो नौका (अस्माकम् वीरान्) हमारी वीरतापूर्ण आत्माओंको (उत) और (नः मघोनः) हमारी ऐश्वर्यपूर्ण आत्माओंको (जनान् च पारयात्) जन्मोंसे पारकर देगी और (या) जो (शर्म च) शांतिसे भी, शांतिके स्तरसे भी [पारयात्] परे ले जायगी।

13

अभी नो अग्न उक्थमिज्जुगुर्या द्यावाक्षामा सिन्धवश्च स्वगूर्ताः।
गव्यं यव्यं यन्तो दीर्घाहेषं वरमरुण्यो वरन्त ॥

(अग्ने) हे **अग्निदेव**! (नः उक्थम्) हमारी **वाणी-रूपी** धुराके (अभि) चारों ओर (नः) हमारे लिए (द्यावाक्षामा) **द्युलोक** और **पृथिवी-लोक** को (च) और (स्वगूर्ताः) स्वतः-प्रकट (सिन्धवः) नदियोंको (जुगुर्याः इत्) प्रकाशमान कर दे। (अरुण्यः) **अरुण रंगकी गौएं** (गव्यम्) ज्ञान, (यव्यम्) शक्ति और (दीर्घा अहा) सुदीर्घ प्रकाशमय दिनोंको (यन्तः) प्राप्त करें, वे (इषम्) बल और (वरम्) परम कल्याणका (वरन्त) वरण करें।

अनुक्रमणिका I

(वेद-रहस्यके पूर्वार्द्धमें आये विशिष्ट विषयों तथा उल्लेखोंकी)

विषय	पृष्ठ
अ	
अगस्त्य और इन्द्र	329-333
अग्नि	37-38
अग्नि औरअंगिरस्	217-229
अग्निका अपना घर	109
अग्निका जन्म	166-167
अग्नि और इन्द्र (की उत्पत्ति)	427-428
अग्नि और सोम	282
अग्निका स्वरूप	361
अग्निकी रचना	361-362
अंगिरस्	245,247-248
(सामान्यत: 16-19 अध्याय)	
अंगिरस् ऋषि	214-230
अंगिरस् और अग्नि	217-224
अंगिरस् और इन्द्र	227-230
अंगिरस् और उषा	228-230
अंगिरस् और बृहस्पति	223-227
अंगिरस् और मरुत्	227-229
अंगिरा (अथर्वा)	318-319
अथर्वा	318-319
अदिति	143,170,180,263
अदिति (गौ)	366
अद्रि	137
अध्वरका रूप	249-250
अध्वर यज्ञ	248
अनन्त (सांप)	153
अन्तरिक्ष (भुव:)	370
अन्तर्ज्ञानका युग	45
अपोलो	37
अमरता	263
अमरताकी वृद्धि	264
अयास्य	233-235,239
अरि: कृष्टय:	343
अर्य	398
अर्यमा	385-386
अव	130
अश्व	88
अश्व (श्वेत)	185
अश्विनौ	122-128,177-179
अश्विनौ (दो)	418
अश्विनौ और वायु	127
अश्विनौ का रथ	428
असुर और देव	85
अहि	138
आ	
आंगिरस कथा	189-190
(सामान्यत: अध्याय 14)	
आत्म-समर्पण	109
आत्मोत्सर्ग (त्याग)	359
आध्यात्मिक अर्थ	77
आनंद, ज्ञान, बल	359-360
आर्य (अर्, अर्य)	342
आर्य और दस्यु	77,294-302,306-308
आर्योंका आक्रमण	76-77
इ	
इडा (इळा)	73-74,115,139-141

विषय	पृष्ठ
इडा-सरस्वती-सरमा	278-279
इन्द्र	129-130
इन्द्र और अंगिरस्	226
इन्द्र और अगस्त्य	331
इन्द्र और अग्नि (की उत्पत्ति)	427-428
इन्द्र और मरुत्	431
(सम्पूर्ण दूसरा और तीसरा अध्याय)	
इन्द्र के घोड़े	428
इन्द्र-वायु	115-116

उ

उच्चारण और स्तोत्र	350
उपनिषद्	35-36,46-49
उशना	318-319
उषा	173-177
उषा और अंगिरस्	228-230,260
उषा और रात्रि	354
उस्रा	132

ऋ

ऋक्	245
ऋत	77-78,83-84,108-109
ऋत और सत्य	106-109
ऋत का रक्षक	109
ऋभु	108,135
ऋभुगण	426
(11 वां अध्याय)	

ए

एकदेववाद	442-445
एलूसिनियन	36,39,63

ओ-औ

ओषधि	166
औफिंक	36,39,63

विषय	पृष्ठ

क

कवि	77
कृष्टि	131
ऋतु	101-102,104
क्षीरसमुद्र	153
क्षेत्र	255,259,286

ग

गाथाशास्त्र (तुलनात्मक)	63-65
गावः (सप्त)	170
गौ	82,149,150,156
गौ (अदिति)	366
गौ (किरण)	171-173
(सामान्यतः 12 वां अध्याय)	
गौ (मधुर दूध देनेवाली)	428-429
गौ और अश्व	83
गौओंकी पुनः प्राप्ति	209-213
गौओंकी पुनः प्राप्तिमें व्यापक रूपक	196-197
गौओंकी पुनः प्राप्तिमें सब देवोंका संबन्ध	195-196
गौ और विचार	301-305
ग्रीसका गाथाशास्त्र	37
ग्रीसकी रहस्यविद्या	36

घ

घर	259
घृत	81,117-118
घृत और मधु	254-255
घृत (तीन प्रकारसे रखा हुआ)	149-150,255
घोड़े	380,381
घोड़े (इन्द्रके)	398
घोड़े (वायुके)	398
घोड़े (सूर्यके)	398

विषय	पृष्ठ
च-छ	
चन्द्र	380
चन्द्रमा और मन	339
चमस	96
चमस (चतुर्वय)	430
चर्षणि	114
चार नदियां	239
चार लोक—चौथा लोक	237
चार सींग	366,394
चार सौर देव (मित्र-वरुण-भग-अर्यमा)	385-387,430
छन्द	350
ज	
जल	131,156-158
जल और समुद्र	131
ज्ञान, आनंद, बल	359-360
ट	
टी परम शिव अय्यर	66-68
त	
तामिल भाषा	76
तिलक महाराजकी पुस्तक	67-68
तीन उच्चतम अवस्थाएं	366
तीन जन	299
तीन तृप्तियाँ	418
तीन पृथिवियां	370
तीन पैर	394
तीन मनके लोक	369
तीन रोचना	369,375,382
त्याग	359-360
दक्ष	77
दक्षिणा	112-115
द	
दधिक्रावा (अग्नि)	396
दधिक्रावा (अश्व)	395
दमम्	109-110
दयानंद-भाष्य	68-69
दशग्वा	232-235
(साधारणतः १७ वां अध्याय)	
दश मास	233-234,238,299
दस्यु और आर्य	77,294-302,
दस्युओं (पणियों) पर विजय	306-319
(22वां अध्याय)	
दास, दास वर्ण	294,315
दिति और अदिति	271-272,306-308
दिन	354
द्विपदे चतुष्पदे	274
दिव्य (अदिव्यसे दिव्य)	107-108
दीदिवि	109
दीर्घतमस् औचथ्य	98
दुरित (सुवित)	108,09,184
दूत (अग्नि)	107-108
देवता (देव)	107-108
देव-दैत्य	84-85
देवत्रयी	434-436
देवयान	259
दो सिर	393-394
द्यौ—स्वः	370
दृष्टि (और श्रुति)	42
द्रष्टा	42
द्राविड़	33
द्राविड़ भाषा	76
द्राविड़ और आर्य	36,74,76
द्व्यर्थक प्रणाली (श्रीअरविन्दकी)	70
ध	
धी	77,78,116-117
धी (और मति)	117
धेनु	95

विषय	पृष्ठ
न	
नदियां (सात)	159-160,164,265-266 (11वां अध्याय)
नदी	153
नमस्	104-105
नवग्वा	232-235
नासत्या	124
निदः (निन्दक)	340
निन्यानवेकी संख्या	399
नृ	123
प	
पदपाठ	52
पणि	150,190-192,198-199,295-297,306-308
पणि और वृत्र	295-296
पणियों (दस्युओं) पर विजय	306-319 (22वां अध्याय)
पांच लोक (पंच जनाः)	166,236-237
पांडित्य (वेदोंका पण्डितोंके हाथमें जाना)	40,41
पाजस्	137
पारसी धर्म	84-85
पाश्चात्य अनुसंधानप्रणाली	33-34
पितर	247-277 (18 वां, 19 वां अध्याय)
पितरौ (माता-पिता) की फिर जवानी	429-430
पुराण	49-50,77
पुरोहित	80-81
पूषा	375-376
पूषा का अंकुश	314-315
पृथिवी (भूः)	370
पृश्नि	445
प्रचेताः और विचेताः	379-380
प्रज्ञा (विशुद्ध विराट्)	330-333
प्रज्ञा (प्रकाशमयी, दिव्य)	340-342
प्रज्ञान और विज्ञान	381
प्रतीकवाद	80-81 (23वाँ अध्याय)
प्रभु और विभु	446
प्राण-शुद्धि	167
ब	
बल-ज्ञान-आनंद	359-360
बृहत्	83-84
बृहस्पति	404-406 (नवां अध्याय)
बृहस्पति (और अंगिरस्)	223-226, 240-241,244-245
बौद्धधर्म	49-50
ब्रह्म (शब्द)	243-244
ब्रह्म	351-405
ब्रह्मा	359
ब्रह्मगण	410
ब्रह्मणस्पति	405-406,435,445
ब्राह्मण-ग्रंथ	46-47
भ	
भग	96-97
भद्र	108
भारती मही	139-142
भाषाविज्ञान (तुलनात्मक)	65-67
म	
मंत्र, मन्म	351-352
मंत्र (वैदिक मंत्र)	43-44
मंत्र-निर्माण	351-352
मंत्र और हृदय	351-352
मति	77
मति (सुमति)	341
मति और धी	117
मधु-स्रवण	409,416-418, 421-422

विषय	पृष्ठ
मधुमय लहर(मधुमाँ ऊर्मि:)	148,152
मन और चन्द्रमा	339
मनीषा, मनीषी	77
मय:	84,108
मरुत् और अंगिरस्	227-228
मर्त्य-अमर्त्यमें आदान-प्रदान	107
मर्त्य (मानवीय) और दिव्य	275
मह:	83-84
महाकार्य	262
यहायात्रा	247-277
(18 वां, 19 वां अध्याय)	
मही (भारती)	139-142
मानव पितर या दिव्य ऋषि	407
मित्र	96,119
मित्र-वरुण	118-119
मेधातिथि (काण्व)	98
य	
यज्ञ	79
यज्ञ किसका प्रतीक	107
यज्ञ, यजमान	80
यम	291-292
यात्रा (विजययात्रा)	250-252
यात्राका लक्ष्य	260-261
यास्क-कोष	50
यास्क (निरुक्तिकार तथा कोषकार)	53-54
युद्ध-यज्ञ-यात्रा	241-243
योरोप्यिन वैदिक पांडित्य	59-61
योरोपियन भाष्य तथा सायण-भाष्य	35-36
र	
रव	245
रवेण	407
रहस्यवादका युग	38
रहस्यवाद (वैदिक)	39
रात्रि और उषा	354
राये, रयि, रत्न	79
रुद्र	435
रुद्र और विष्णु	433-434
रोदसी	399
ल	
लोक	83-84
लोक और मानव व्यक्ति	370
व	
वरुण	97,119,157-158
वरुण, मित्र	117-118
वर्ण	295-296,301-302
वल	191
वल और वृत्र	410
वसिष्ठ	98
वाज	79
वामदेव	393
वायु	395
(आठवाँ अध्याय)	
वायु-इन्द्र	115-116
विचार और गौ	301-305
विचेता: और प्रचेता:	379-380
विज्ञान और प्रज्ञान	379-380
विपश्चित्	77
विप्र	77
विभु और प्रभु	446
विरोधी शक्तियाँ	251-252,266
विश्व (विराट्) शक्तियाँ	452
विश्वामित्र	98
विश्वेदेवा:	129-133
विष्णु	153-154,433-436
(12 वाँ अध्याय)	
विष्णु और रुद्र	433-434
विष्णुके तीन क्रमण	437 439
वृक	95

विषय	पृष्ठ
वृत्र	191, 338
वृत्र और पणि	295
वेदका केन्द्रीभूत विचार	84-85,110, 120-121
वेदका विषय	43
वेदका सारभूत विचार	188-189
वेदका सार विषय	320-326 (23 वां अध्याय)
वेदकी रचना	60
वेदांत और वेद	48-49,72
व्याहृति	83-84
श	
शब्दकी शक्ति	350-351
शुनःशेप	216
श्वेत (अश्व)	185
श्रुति और दृष्टि	42,104,107
श्रवस्	77,104,187
स	
सत्य (अग्निका)	108
संस्कृति (ग्रीक, कैल्टिक)	61
संस्कृति (कैल्टिक)	62
सत्य और ऋत	106-108
सत्य, ऋत, बृहत्	83
सत्यम् ऋतं बृहत्	370-371
सत्य-चेतना की प्रकृति	408-409
सत्य की महिमा	305
सप्त	142
सवितुर्वरेण्यं भर्गः	420
सप्त ऋषि	316-317
सप्त गावः	170
सप्त लोक	83,142-143
सभ्यता (आर्य तथा मिश्र, खाल्दियन का भेद)	62
सभ्यता (चीन, मिश्र, खाल्दियन, ऐसीरिया)	61
समुद्र	153-154
समुद्र और जल	131
समुद्र (दो)	147,149,152-153,395
समुद्र (हृदय)	148-149,394
सरमा	74-75,115,278,419 (20वाँ अध्याय)
सरमा-सरस्वती-इडा	278-279
सरस्वती	37,74,115,133,138,139, 144-147,154 (9वाँ अध्याय)
सरस्वती-सरमा-इडा	278-279
सहस्रकी संख्या	400-401
सात तत्त्व	240-241,372-373
सात नदियां	159-160,164 265, (11वाँ अध्याय)
सात (वस्तुएँ)	240-241
सात लोक	236
सात हाथ	394
सात सिरोंवाला विचार	237,241 (17वाँ अध्याय)
सायणका भाष्य	49, 54, 77
सायणके अर्थ	77-78
सायण-भाष्य (तथा योरुपीय भाष्य)	34-35
सारमेयौ	291-293
सुनहला	297
सुनहले	380-381,421
सुमति	341
सुवित	108,109,184,389
सूर्य	38, 97,140,155,340
सूनृता	182-183,380
सूर्य (सविता)	369 (पाँचवाँ अध्याय)
सूर्य का फिर प्रकट होना	202-230 (15वाँ, 16वाँ अध्याय)
सूर्य की किरणें	369

विषय	पृष्ठ
सूर्य की रचना	371
सूर्या	128
सोम	38,115-116,127-129,338-339 (13वां अध्याय)
सोममद	243-244
सोम और अग्नि	382
सौकी संख्या	399-400
स्तुभ्	244-245,410
स्तोत्र और उच्चारण	35
स्तोम	350
स्वराज्यम्	388-389
स्व:	115,155-156,202-207,331,420,448
स्वत:प्रकाश ज्ञान	42-43
स्वरशुद्धि की महिमा	51
स्वसर	132

ह्

हवि:	81
हंसोंकी उड़ान	421
हविके फल	82
हीनोथीज्म	442-443
हृदय	351-352
हृदय-समुद्र	149-150
हृदय और मन	351-352

अनुक्रमणिका II

मन्त्रानुक्रमणी

(वेद-रहस्यके पूर्वार्द्धमें आये मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणी)

अ

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं.
अकर्म ते स्वपसो	IV.	2.	19	274
अक्रो न बभ्रिः	III.	1.	12	161
अगच्छदु विप्रतमः	III.	31.	6	226, 284
अग्निर्जज्ञे जुह्वा	III.	31.	3	383
अग्निर्जातो	V.	14.	4	200, 295
अग्निमच्छा	V.	1.	4	186
अग्निमुप ब्रुव	VII.	44.	3	201
अग्निर्होता कविक्रतुः	I.	1.	5	101
अग्नीषोमा चेति	I.	93.	4	194, 208,316
अचेतयद् धिय	III.	34.	5	300
अच्छा वोचेय	IV.	1.	19	271
अच्छा वो देवी०	III.	61.	5	378
अच्छा हि त्वा	VIII.	60.	2	221
अजनयत् सूर्यं	II.	19.	3	212
अजयो गा अजयः	I.	32.	12	200
अति द्रव सारमेयौ	X.	14.	10	292
अतृष्यन्तीरपसो	I.	61.	3	264
अथा ते अन्तमानां	I.	4.	3	334
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो	IV.	8.	11	436
अदितस्तं	VI.	53.	3	313
अदेदिष्ट वृत्रहा	III.	31.	21	286
अद्या नो देव सवितः	V.	82.	4	368
अध जिह्वा	VI.	6.	5	219
अधा मातुरुषसः	IV.	2.	15	273
अधा यथा नः	IV.	2.	16	274
अधारयन्त वह्नयो	I.	20.	8	425
अधा ह यद्	IV.	2.	14	273
अधा ह्यग्ने	IV.	10.	2	120
अधि श्रियं	I.	72.	10	289
अनागसो अदितये	V.	82.	6	385
अनु कृष्णे वसुधिती	IV.	48.	3	392, 399
अनूनोदत्र	V.	45.	7	233, 281
अपत्यं वृजिनं	VI.	51.	13	316
अपां गर्भं	III.	1.	13	161
अपामनीके समिथे	IV.	58.	11	152
अपो यदद्रिं	IV.	16.	8	287
अप्रकेतं सलिलं	X.	129.	3	406
अप्रतीतो जयति	IV.	50.	9	404
अभि जैत्रीरसचन्त	III.	31.	4	211, 283
अभिनक्षन्तो	II.	24.	6	240, 243
अभूदु पारमेतवे	I.	46.	11	177
अभूदुषा इन्द्रतमा	VII.	79.	3	229
अयमकृणोदुषसः	VI.	44.	23	198
अयं देवः सहसा	VI.	44.	22	194, 198
अयं देवाय जन्मने	I.	20.	1	425
अयं द्यावापृथिवी	VI.	44.	24	198
अयं द्योतयदद्युतो	VI.	39.	3	304
अयमुशानः	VI.	39.	2	304
अयं रोचयदरुचो	VI.	39.	4	304
अया रुचा हरिण्या	IX.	111.	1	302

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं.
अयुयुत्सन्ननवद्यस्य	I.	33.	6	311
अरं कृण्वन्तु वेदिं	I.	170.	4	329
अरित्रं वां	I.	46.	8	177
अरूरुचदुषसः पृश्नि	IX.	83.	3	441
अर्चन्त एके महि	VIII.	29.	10	208, 329
अवर्धयन्	III.	1.	4	160
अव स्पृधि पितरं	V.	3.	9	444
अव स्यूमेव चिन्वती	III.	61.	4	378
अवेयमश्वैद्युवतिः	I.	124.	11	316
अश्मास्यम्	II.	24.	4	236
अश्विना यज्वरी	I.	3.	4	126
अश्विना वर्ति	I.	12.	16	173
अश्विना पुरुदंससा	I.	3.	2	123
अस्थुरुचित्रा	IV.	51.	2	317
अस्मा उक्थाय	V.	45.	3	280
अस्माकमत्र	IV.	1.	13	212, 268
अस्मे वत्सं	I.	62.	2	288
असेन्या वः	X.	108.	6	312
अस्मादहं तविषा०	I.	171.	4	346
अस्य पीत्वा शत०	I.	4.	8	335
अस्य हि स्वयशस्तरं	V.	82.	2	368
अहमन्नं अन्नमदन्त० (तैत्ति० उप०)	III.	10.	6	359

आ

	मं.	सू.	मं	पृ.सं
अहभिः आकेनिपासो	IV.	45.	6	415
आ च गच्छान्	X.	108.	3	313
आदारो वां	I.	46.	5	177
आदङ्गिराः प्रथमं	I.	83.	4	318
आदित् पश्चा	IV.	1.	18	270
आदित्ते विश्वे	I.	68.	2	264
आ नो गव्या	VIII.	34.	14	198
आ नो नावा	I.	46.	7	177
आ नो यज्ञं	X.	110.	8	139
आपो यं वः	VII.	47.	1	159
आ यद् दुवस्याद्	I.	165.	14	348
आ ये विश्वा	I.	72.	9	263, 289
आ युवानः कवयो	VI.	49.	11	228
आ यूथेव क्षुमति	IV.	2.	18	274
आरे द्वेषांसि	IV.	45.	5	281
आ रोदसी बृहती	I.	72.	4	283
आ विश्वदेवं सत्पतिम्	V.	82.	6	385

इ

	मं.	सू.	मं	पृ.सं
इत्था वदद्भिः	VI.	18.	5	245
इदमु यत्	IV.	51.	5	317
इन्द्र ओषधी०	III.	34.	10	300
इन्द्र यत्ते जायते	III.	39.	1	253
इन्द्रश्च सोमं पिबतं	IV.	50.	10	404
इन्द्रस्ययुज्यः सखा	I.	22.	19	436
इन्द्रायाहि चित्रभानो	I.	3.	4	129
इन्द्रायाहि तूतुजान	I.	3.	6	129
इन्द्रायाहि धियेषितो	I.	3.	5	129
इन्द्रस्तुजो बर्हणा	III.	34.	5	301
इन्द्रस्य कर्म सुकृता	III.	32.	8	207
इन्द्रस्याङ्गिरसां	I.	62.	3	291
इन्द्रेण युजा	X.	62.	7	281
इन्द्रो नृभिः	III.	31.	15	201
इन्द्रो मधु	III.	39.	6	255
इन्द्रो या वज्री	VII.	49.	1	157
इन्द्रं मतिः	III.	39.	1	252
इन्द्रं मित्रं वरुणं	I.	164.	46	69, 97
इन्द्रं यो विदानो	VI.	21.	2	303
इन्द्रः स्वर्षा	III.	34.	4	205, 301
इमा या गावः	VI.	28	5	190
इमां धियं	X.	67.	1	233
इह प्रजामिह रयिं	IV.	36.	9	431
इळा सरस्वती	I.	13.	9	139

उ

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं.
उच्छन्तीरद्य	IV.	51.	3	317
उच्छन्नुषसः	VII.	90.	4	200, 211
उत नो गोषणिं	VI.	53.	10	314
उप त्यं चमसं	I.	20.	6	425
उत नः सुभगाँ	I.	4.	6	335
उत ब्रुवन्तु नो	I.	4.	5	335
उत यासि सवितस्त्रीणि	V.	81.	4	368
उतेशिषे प्रसवस्य	V.	81.	5	368, 376
उदु ज्योतिरमृतं	VII.	76.	1	258
उद् गा आजदभिनद्	II.	24.	3	236, 305
उद् वां पृक्षासो	IV.	45.	2	414
उप त्वाग्ने	I.	1.	7	101
उप नः सवना	I.	4.	2	172, 334
उपह्वरे यदुपरा	I.	62.	6	239
उपेदहं धनदामप्रतीतं	I.	33.	2	309
उभा पिबतमश्वि०	I.	46.	15	178, 204
उरुं नो लोकम्	VII.	47.	8	204
उरुं यज्ञाय	VII.	99.	4	201
उरूणसावसुतृपा	X.	14.	12	292
उरौ महाँ	III.	1.	11	161
उषा याति ज्योतिषा	VII.	78.	2	184
उषो देव्यमर्त्या	III.	61.	2	377
उषो वाजेन वाजिनि	III.	61.	1	377
उषः प्रतीची भुवनानि	III.	71.	3	377

ऋ

	मं.	सू.	मं.	पृ.स.
ऋतधीतिभिः	VI.	39.	2	304
ऋतयुग्भिः अश्वैः	IV.	51.	5	182
ऋतस्य देवी	IV.	51.	8	182
ऋतस्य पन्थाम्	I.	124.	3	181
ऋतस्य प्रेषा	I.	68.	3	264
ऋतस्य बुध्न उषसा	III.	71.	7	378
ऋतस्य बोधि	IV.	3.	4	275
ऋतस्य हि धेनवो	I.	73.	6	265
ऋतावरी दिवो अर्कै०	III.	71.	7	378
ऋतावानः	II.	24.	7	240
ऋतेन ऋतं	IV.	3.	9	275
ऋतेन गाव	IV.	23.	9	305
ऋतेन देवी०	IV.	3.	12	276
ऋतेन हि ष्मा	IV.	3.	10	276
ऋतेनाद्रिं	IV.	3.	11	276
ऋतेनाभिन्दन्	X.	62.	2	236
ऋतेन मित्रावरुणा	I.	2.	8	111
ऋतं चिकित्व	V.	12.	2	160
ऋतं शंसन्तः	X.	67.	2	245

ए

एकं सद् विप्रा०	I.	164.	16	69, 97, 443
एता अर्षन्ति	IV.	58.	5	394
एता धियं	V.	45.	6	281
एतायामोपगव्यन्त	I.	33.	1	309
एता विश्वा	IV.	3.	16	277
एते त्ये भानवो	VII.	75.	3	230
एतो न्वद्य सुध्यो	V.	45.	5	281
एता अर्षन्ति हृद्यात्	IV.	58.	5	151
एमाशुमाशवे भर	I.	4.	7	335
एवाग्नि गोतमेभिः	I.	77.	5	357
एवा च त्वं	X.	108.	9	313

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं.
एवा पित्रे विश्व०	IV.	50.	6	403
एवा ह्यस्य	I.	8.	8	140
एष पुरू	IX.	15.	2	128
एष वः स्तोमो	I.	171.	2	345
एष स्य भानुरुदियर्ति	IV.	45.	1	414
एषा नेत्री	VII.	76.	7	261
एषो उषा	I.	46.	1	177
एह गमन्नृषयः	X.	108.	8	233, 243

ओ

ओमासश्चर्षणी०	I.	3.	7	130

क

कथा दाशेमाग्नये	I.	77.	1	356
कमेतं त्वम्	V.	2.	2	192
कया ते अग्ने	VIII.	84.	4	221
कवि शशासुः	IV.	2.	12	273
कवी नो मित्रा०	I.	2.	9	111
कामस्तदग्रे	X.	129.	4	152
किं न इन्द्र	I.	170.	2	329
किं नो भ्रातरगस्त्य	I.	170.	3	329
कुमारं माता	V.	2.	1	192
कुविदङ्ग नमसा	VII.	91.	5	208
के मे मर्यकं	V.	2.	5	193
को ह्येवान्यात् कः (तैत्ति. उप.)	II.	2.	7	338
क्षपां वस्ता	III.	49.	4	207
क्षयं बृहन्तं परि	III.	3.	2	204
क्षेत्रादपश्यं	V.	2.	4	192

ग

गन्धर्व इत्था	IX.	83.	4	432
गवां जनित्री	I.	124.	5	184
गिरः प्रति	I.	9.	4	253
गुहाहितं गुह्यं	III.	39.	6	256
गूळ्हं ज्योति०	VII.	76.	4	245
गूहता गुह्यं तमो	I.	86.	10	348
गृणानो अङ्गिरोभिः	I.	62.	5	201, 239
गोमति अश्वावंति	I.	92.	14	183
गोमतीरश्वावती०	I.	48.	2	183
गौरसि वीर	VI.	45.	26	318

च

चक्राणासः परीणहं	I.	33.	8	311
चक्रुर्दिवो	I.	71.	2	263
चतुःशृङ्गोऽवमीद्	IV.	58.	2	394
चत्वारि शृङ्गा त्रयो	IV.	58.	3	394
चिकित्वित	IV.	52.	4	184
चित्तिमचित्तिं	IV.	2.	11	271
चोदयित्री सूनृतानां	I.	3.	11	145
चोष्कूयमाण इन्द्र	I.	33.	3	310

ज

जनयन्तो दैव्यानि	VII.	75.	3	230
जनाये चिद्	VI.	73.	2	197
जही न्यत्रिणं	VI.	51.	14	309
ज्योतिर्विश्वस्मै	I.	92.	4	173, 209
ज्योतिर्वृणीत	III.	39.	7	256

त

त इद्देवानां	VII.	76.	4	209, 267
तक्षन् नासत्याभ्यां	I.	20.	3	425
ततः सूर्यो	I.	83.	5	318
तत्तदिदश्विनो०	I.	46.	12	177
तं त्वा वाजेषु	I.	4.	9	336

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं
तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो	III.	62.	10	420
तत् सवितु र्वृणीमहे	V.	82.	1	384
तदस्य प्रिय०	I.	154.	5	433
तद्देवानां देवतमाय	II.	24.	3	209
तद् विष्णोः परमं पदं	I.	22.	20	436
तन्नः प्रत्नं	VI.	18.	5	252
तपोष्पवित्रं विततं	IX.	83.	2	441
तम आसीत्तमसा	X.	129.	3	152, 307
तमङ्गिरस्व०	III.	31.	19	221, 286
तमः तमसा गूढम्	X.	129.	3	405
तमीमण्वी०	IX.	1.	7	128
तमु नः पूर्वे	VI.	22.	2	245
तर्मूमिमापो	VII.	47.	2	159
तमेव विश्वे	II.	28.	4	237
तव श्रिया सुदृशो	V.	3.	4	444
तव श्रिये मरुतो	V.	3.	3	444
तव श्रिये व्यजिहीत	II.	23.	18	225
तवेदं विश्वम्	VII.	98.	6	211
त्वमग्ने प्रथमो	I.	31.	1	222
त्वमग्ने वाघते	IV.	2.	13	273
त्वं वलस्य	I.	11.	5	195
त्वमेतान् रुदतो	I.	33.	7	311
त्वं त्यत् पणीनां	IX.	111.	2	302
तानीदहानि	VI.	76.	3	259
ता योधिष्टमभि	VI.	60.	2	194, 200
तावस्मभ्यं दृशये	X.	14.	12	292
ता वां वास्तू०	I.	154.	6	433
त्वामग्ने अङ्गिरसो	V.	11.	6	221
तिरश्चीनो	X.	129.	5	152
तिस्रो यदग्ने	I.	72.	3	288
तुच्छ्येनाम्बपिहितम्	X.	129.	3	405
ते नो रत्नानि	I.	20.	6	426
त्रिधा हितं	IV.	58.	4	149, 394
त्रिः सप्त यद्	I.	72.	6	288
त्रिरस्य ता परमा	IV.	1.	7	269
तुरण्यवोऽङ्गिरसो	VII.	52.	3	250
ते अङ्गिरसः	X.	62.	5	218
ते गव्यता मनसा	IV.	1.	15	269
ते मन्वत प्रथमं	IV.	1.	16	269
ते मर्मृजत	IV.	1.	14	269
त्वं पाहीन्द्र सहीयसो	I.	171.	6	347
त्वमग्ने वरुणो	V.	3.	1	444
त्वमर्यमा भवसि	V.	3.	2	444
त्वमीशिषे वसुपते	I.	170.	5	330

द

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं
दधन्नृतं	I.	71.	3	263
दस्योरोको न	I.	104.	5	306
दिति च रास्व	IV.	1.	7	272
दिवश्चिदा पूर्व्या	III.	39.	2	253
दिवस्कण्वास०	I.	46.	9	177
दुरितानि परा सुव	V.	82.	5	109
दूरमित पणयो	X.	108.	11	313
दृळ्हस्य चिद्	VI.	62.	11	194
देवानां चक्षुः	VII.	77.	3	185
द्युतद्यामानम्	V.	80.	1	181
द्विता वि वव्रे	I.	62.	7	240

ध

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं
धन्या चिद्धि त्वे	VI.	11.	3	223
धामन् ते विश्वं	IV.	58.	11	149

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं
धियं वो अप्सु	V.	45.	11	233
धुनेतयः सुप्रकेतं	IV.	50.	2	402

न

नकिरेषां	III.	39.	4	212, 254
न नूनमस्ति	I.	170.	1	329, 443
न पञ्चभिर्दशभिः	V.	34.	5	298
न ये दिवः	I.	33.	10	311
नाहं तं वेद	X.	108.	4	313
नाहं वेद भ्रातृत्वं	X.	108.	10	313
नि काव्या वेधसः	I.	72.	1	287
नि गव्यता	III.	31.	9	285
निण्या वचांसि	IV.	3.	16	277
नित्यं न सूनुं मधु	I.	66.	2	349
निर्युवाणो अशस्तीः	IV.	48.	2	392
नि सर्वसेन०	I.	33.	3	310
नू नो गोमद्	VII.	75.	8	174
नैशत् तमो	IV.	1.	17	270
न्यक्रतून् ग्रथिनो	VII.	6.	3	317

प

पणीनां वर्षिष्ठे	VI.	45.	31	318
परा चिच्छीर्षा	I.	33.	5	310
परि तृन्धि	VI.	53.	5	314
परि यदिन्द्र	I.	33.	9	311
परेहि विग्रमस्तृत०	I.	44.	4	334
पवित्रं ते विततं	IX.	83.	1	441
पशुरेव स देवानाम् (बृह.उप.)	I.	4.	10	359
पावका नः सरस्वती	I.	3.	10	145
पितुश्च गर्भं	III.	1.	10	161
पितुश्चिदूधर्जनुषा	III.	1.	9	161
पित्रे चिच्चक्रुः	III.	31.	12	285
पुनाति ते	IX.	1.	6	128
पूर्वामनु प्रदिशं	IX.	111.	3	303
पूर्वे पितरो	VI.	22.	2	232
प्रजावत् सावीः	V.	82.	4	108
प्र णो दिवः	III.	31.	8	285
प्र तद् विष्णुः	I.	154.	2	432
प्रति त्वा स्तोमैरीळते	VII.	76.	6	261

प्र

प्रति यत् स्या०	I.	104.	5	279
प्रति व एना	I.	171.	1	345
प्र बोधयोषः	I.	124.	10	316
प्र ब्रह्माणो	VII.	42.	1	245, 250
प्र ब्रह्मैतु सदनाद्	VII.	36.	1	224
प्र मे पन्था	VII.	76.	2	259
प्र वामवोच०	IV.	45.	7	415
प्र विष्णवे शूषमेतु	I.	154.	3	432
प्र शर्ध आर्त	IV.	1.	12	268
प्र सप्तगुमृतधीतिं	X.	47.	6	225
प्राचोदयत् सुदुघा	V.	31.	3	209
प्राञ्चं यज्ञं	III.	1.	2	160

ब

बभ्राणः सूनो	III.	1.	8	161
बृहन्त इद्	III.	1.	14	161
बृहस्पत इन्द्र वर्धतं	IV.	50.	11	404
बृहस्पतिः प्रथमं	IV.	50.	4	194, 226, 402
बृहस्पतिः समजयत्	VI.	73.	3	195, 197
बृहस्पते या परमा	IV.	50.	3	402
ब्राह्मणासः पितरः	VI.	75.	10	244

भ

भजन्त विश्वे	I.	68.	2	264
भद्राः . . . ऋत-जात०	IV.	51.	7	182

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं.
भिनद् वलम्	II.	15.	8	201
भास्वती नेत्री	I.	92.	7	183
म				
मध्वः पिबतं	IV.	45.	3	414
मनसश्चन्द्रमाः (ऐत.उप.)	I.	2.		339
...मन्मानि चित्रा	I.	165.	13	348
मनोजवा	V.	66.	3	125
मयो दधे	III.	1.	3	160
...महद् विजज्ञे	III.	55.	1	443
महि क्षेत्रं पुरु	III.	31.	15	286
मही यदि धिषणा	III.	31.	13	286
महे नो अद्य	VII.	77.	2	230
महो अर्णः	I.	3.	12	145
महो महानि	III.	34.	6	301
मन्द्रस्य कवेः	VI.	39.	1	304
माता देवानाम्	I.	113.	19	180
मिहः पावकाः	III.	31.	20	286
मित्रं हुवे	I.	2.	7	111
य				
यः सूर्यः	II.	12.	7	207
य इन्द्र	VIII.	97.	3	199
य इन्द्राय वचोयुजा	I.	20.	2	425
य इमा विश्वा जाता	V.	82.	9	385
य इमे उभे अहनी	V.	82.	8	385
यजमाने सुन्वति	VIII.	97.	2	199
यजा नो	I.	75.	5	109
यज्ञैरथर्वा प्रथमः	I.	83.	5	318
यत्र अमृतास आसते	IX.	15.	2	420
यत्र ज्योतिरजस्रं	IX.	113.	7	292
यत्र सोमः	IV.	58	9	152
यदङ्ग दाशुषे	I.	1.	6	101
यदा वीरस्य	VII.	42.	4	249
यमस्य जातम्	I.	83.	5	318
यमा चिदत्र	III.	39.	3	253
यमिन्द्र दधिषे	VIII.	97.	2	199
यमो नो गातुं	X.	14.	2	292
यस्तस्तम्भ सहसा	IV.	50.	1	402
यस्मै त्वं सुकृते	V.	4.	11	205
यस्य त्री पूर्णा	I.	54.	4	432
यस्य प्रयाणमन्वन्य०	V.	81.	3	367, 375
यस्य मदे....अप	III.	43.	7	200
यस्य वायोरिव	VI.	45.	32	318
याः सूर्यो रश्मिभि.	VII.	47.	4	159
या आपो दिव्या	VII.	49.	2	157
या गोमतीरुषसः	I.	113.	18	186
या ते अष्ट्रा	VI.	53.	9	314
या दस्रा सिन्धू०	I.	46.	2	135
या नः पीपरदश्विना	I.	46.	6	126, 177
याभिरङ्गिरो मनसा	I.	112.	18	194
यां वहसि पुरु	VII.	81.	3	182
या शश्वन्तम्	VI.	61.	1	316
यासां राजा (वरुणो)	VII.	49.	3	157
यासां राजा वरुणो	VII.	49.	4	157
यां पूषन्	VI.	53.	8	314
युजं वज्रम्	I.	33.	10	210
युञ्जते मन उत	V.	81.	7	367, 372
युवं सूर्यं विविदथुः	VI.	72.	1	203
युवाना पितरा पुनः	I.	20.	4	425
युवोरुषा अनु	I.	46.	14	178
यूयं तत्सत्यशवस	I.	86.	9	348
यूयमस्मभ्यं धिषणा	IV.	36.	8	431

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं
यूयं हि देवी	IV.	51.	5	182
ये अग्नेः परि	X.	62.	6	218
ये ते शुक्रासः	VI.	6.	4	219
येन ज्योति०	VIII.	89.	1	208
येन मानासश्चितयन्त	I.	171.	5	346
येन सिन्धुं	VIII.	12.	3	244
येना दशग्वमधिगुं	VIII.	12.	2	244
येभिः सूर्यमुषसं	VI.	17.	5	212
यो अद्रिभित्	VI.	73.	1	195, 225,197
यो अध्वरेषु शंतम	I.	77.	2	356
यो अपाचीने	VII.	6.	4	317
यो देह्यो अनमयद्	VII.	6.	5	317
यो रायोऽवनिर्महान्	I.	4.	10	336
यौ ते श्वात्तौ	X.	14.	11	292

र

राजन्तमध्वराणां	I.	1.	8	101
रयिं श्रवस्युम्	VII.	75.	2	187
राधः दीर्घश्रुत्तमं	VII.	81.	5	187

व

वधीर्हि दस्युं	I.	33.	4	310
वयमु त्वा पथस्पते	VI.	53.	1	313
वयं नाम प्र ब्रवामा	IV.	58.	2	148
वव्राजा सीं	III.	1.	6	160
वहन्तु त्वा	IV.	48.	4	392,
वावसाना विवस्वति	I.	46.	13	178
वायो शतं हरीणां	IV.	48.	5	392, 400
वि तद्ययुररुण०	VI.	65.	2	182
वि ते विश्वग्वात०	VI.	6.	3	219
वित्वक्षणः समृतौ	V.	34.	6	298
विदद् यदी	III.	31.	6	211, 284
विदन् मर्तो	I.	72.	4	290
विदा दिवो	V.	45.	1	279
विद्याञ्चाविद्याञ्च (ईशोप०)	XI.			272
विद्वाँ अग्ने	I.	72.	7	289
वि नूनमुच्छाद्	I.	124.	11	173, 184
वि पथो वाज०	VI.	53.	4	314
वि पूषन्नारया	VI.	53.	6	314
विश्वरूपा अङ्गिरसो	X.	78.	5	228
विश्वानि देव सवित०	V.	82.	5	384
विश्वानि देवी	I.	92.	9	183
विश्वा रूपाणि प्रति	V.	81.	2	367
विश्वे अस्या	V.	45.	8	282
विश्वेषामदितिः	IV.	1.	20	271
विष्णो नु कं वीर्या०	I.	154.	1	432
वि सूर्यो अमति	V.	45.	2	280
विहि होत्रा अवीता	IV.	48.	1	392
वीळु चिद्	I.	71.	2	263
वीळौ सतीरभि	III.	31.	5	211, 284
व्यञ्जते दिवो	VII.	79.	2	229
व्यस्तभ्ना रोदसी	VII.	99.	3	204
व्युषा आवो	VII.	75.	1	182, 230
व्यू व्रजस्य तमसो	IV.	51.	2	210

श

शतपवित्राः	VII.	47.	3	159
शवीरया धिया	I.	3.	2	422
शुक्रेभिरङ्गैः रज०	III.	1.	5	160
श्रुधि ब्रह्म	VI.	17.	3	211
श्रीणन् उप स्थाद्	I.	68.	1	264
श्रेष्ठं वः पेशो अधि	IV.	36.	7	431

स

	मं.	सू.	मं.	पृ.सं.
स इत्क्षेति सुधितः	IV.	50.	8	403
स इत्तमोऽवयुनं	VI.	21.	3	303
स इद् राजा प्रति	IV.	50.	6	403
स क्षेति अस्य	IV.	1.	9	267
सखा ह यत्र	III.	39.	5	212, 232, 254
स गोरश्वस्य	VIII.	32.	5	198
स चेतयन् मनुषो	IV.	1.	9	267
स जातेभिर्वृत्रहा	III.	31.	11	285
स जायत प्रथमः	IV.	1.	11	268
सतः सतः प्रतिमानं	III.	31.	8	284
स तू नो अग्निः	IV.	1.	10	267
सतो बन्धुमसति	X.	129.	4	307
सत्या सत्येभिः	VII.	75.	7	174, 182, 193
सत्रासाहं वरेण्यं	III.	34.	8	299
सनत् क्षेत्रं सखिभिः	I.	100.	18	200
सना ता काचिद्	II.	24.	5	238
सनाद् दिवं	I.	62.	8	240
सनेम मित्रावरुणा	VII.	52.	1	250
सनेमि सख्यं	I.	62.	9	240
स नो नृणां नृतमो	I.	77.	4	357
स मातरिश्वा	I.	96.	4	291
समान ऊर्वे	VII.	76.	5	260
समीं पणेरजति	V.	34.	7	298
समुद्रज्येष्ठाः	VII.	49.	1	157
समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ	IV.	58.	1	148, 393
समुद्रार्था याः	VII.	49.	2	157
सम्यक् स्रवन्ति	IV.	58.	6	151, 395
सरण्युभिः फलिगम्	I.	62.	4	211, 239
ससानात्यां उत	III.	34.	9	300
स सुष्टुभा स स्तुभा	I.	62.	4	239, 403
स सुष्टुभा स ऋक्वता	IV.	50.	5	194, 226
सहस्रसामाग्निवेशि	V.	34.	9	298
सहस्रसावे	III.	53.	7	243
स हि क्रतुः समर्यः	I.	77.	3	356
स हि रत्नानि दाशुषे	V.	83.	3	384
सं जानाना उप	I.	72.	5	288
संपश्यमाना अमदन्नभि	III.	31.	10	285
सं यज्जनौ	V.	34.	8	298
सं वाज्यर्वा स ऋषिः	IV.	36.	6	431
सं वो मदासो	I.	20.	5	425
साकं सूर्यं	VI.	30.	5	207
सिन्धोरिव प्राध्वने	IV.	58.	7	151, 395
सुकर्माणः सुरुचो	IV.	2.	17	274
सुगस्ते अग्न	VII.	42.	2	249
सुरूपकृत्नुमूतये	I.	4.	1	172, 334
सोअङ्गिरसामुचथा	II.	20.	5	244
सो अङ्गिरोभिः	I.	100.	4	226
स्तीर्णा अस्य	III.	1.	7	161
स्तुतासो नो मरुतो	I.	171.	3	345
स्वध्वरासो	IV.	45.	5	415, 422
स्वर्यद्वेदि सुदृशीकं	IV.	16.	4	203
स्वादुषंसदः	VI.	75.	9	224
स्वाधीभिर्ऋक्वभिः	VI.	32.	2	245
स्वाध्यो दिव आ	I.	72.	8	200, 265, 289

ह

हंसाविव	V.	78.	1	125
हंसासो ये वां	IV.	45.	5	414, 421
हविर्हविष्मो महि	IX.	83.	5	442
हिरण्यदन्तम्	V.	2.	3	192

अनुक्रमणिका III

[वेद-रहस्यके उत्तरार्द्धमें आये विशिष्ट विषयों तथा उल्लेखोंकी]

विषय	पृष्ठसंख्या
अ	
अंगिरस् ऋषि—अग्निकी सात प्रभाएं	362
अंगिरस् ऋषियों की उपलब्धि	344
अंगिराः	323
अंधकार और विभाजनकी क्रिया	223
अंधकारमय गाय	136
अक्षर—बीज-ध्वनियां	284
अखंड और अनंत देवीका वाणी-उच्चारण	144
अग्नि	20,45,90,93,134,150, 170,172,216,235
अग्नि और तपस्	356
अग्नि और सूर्य देवता	
—भौतिकीकी भाषा में	321
—मनोविज्ञानकी भाषामें	321
अग्निका कार्य	28,50,369
,, देवोंका आह्वान	27
अग्निका घर सत्य	311
अग्निका धात्वर्थ	26
अग्निका स्वरूप	26,340, 355,356
,, ऋ. IV. 7 के आधारपर	301, 303,313,315,322,333,353
अग्निका सच्चा अर्थ	5
अग्निका स्वरूप और व्यापार	217,356,357,361
अग्निकी अभिव्यक्तियां—	
क्रियाकी समस्त शक्ति	26
सत्ताका बल	26
रूपका सौन्दर्य	26
प्रकाश और ज्ञानकी दीप्ति, महिमा एवं महत्ता	26
अग्निकी उत्पत्ति	28,29,30
अग्निकी माताएं—दस बहिनें, सात नदियां	357
'अग्नि'की व्युत्पत्ति	322
अग्निके जनक	357
अग्निका पवित्र अधिकार (व्यापार)	356
अग्निके रूपककी व्याख्या	4
अग्निको प्रज्वलित करनेके रूपकका अर्थ	360
अग्निदेव	112,138
अग्नि देवोंमें अग्रणी और प्रधान क्यों ?	313
अग्नि—द्रष्टा संकल्प (कविक्रतुः)	27,111
—निर्भ्रान्त संकल्प	27
—सत्य-सचेतन आत्मा	27
—अन्तर्द्रष्टा	27,86
—पुरोहित	27
—मनुष्यके अन्दर अमर कार्यकर्त्ता	27
—अज्ञान और कुटिलताके विरुद्ध जयशील योद्धा	313
—देवका संकल्प-बल	27
—देवका ज्ञान-बल	27
—जड़ प्रकृतिका गुप्त निवासी	27
—मानवका प्रत्यक्ष और प्रिय अतिथि	27
—निशामें सजग-सक्रिय	27
—भ्राता, बन्धु, सखा	311
—यज्ञका पुरोहित	86

विषय	पृष्ठसंख्या
—हमारी सत्ताकी ज्योति	96
—आत्मदृष्टिका प्रकाश	129
—प्रेरणाका अधिपति	157
—सर्वांगपूर्ण उपभोगका स्वामी	157
—यज्ञवेदीकी ज्वाला	27
—आहुतिवाहक पुरोहित	27
—ऊर्ध्वमुख अभीप्साकारी बल	27
—संकल्पकी ज्वाला	27
—ऋत्विक्	27
—यज्ञका नेता	28
—आत्माका मित्र और प्रेमी	28
—शक्तिका पुत्र	29
—संकल्पशक्ति	50
—हमारी सत्ताका पिता और अधिपति	50
'अग्नि' शब्दका अनुवाद	32
अग्निशक्ति	65
अघोष वर्ण	283
अजगर	31
अजगर और उषा	16
अज्ञान या असत्य—पाप-तापका रूप	164
अन्तरिक्ष-लोक	216
अतिचेतनका अवतरण—द्युलोककी वर्षा	81
अतिचेतन सत्तासे सात नदियोंका अवतरण	79
अतिचेतन सत्य	144
अतिचेतन सत्यका स्तर—स्वर्लोक	82, 83
अतिमानस	100
अतिमानसिक प्रकाश	23
अतिमानसिक विशालता सत्ताका आधारभूत सत्य	127
अतिमानसिक सत्य और मानवीय प्रगतिका अर्थ	16
अतिमानसिक ज्ञानके दो प्रकार	340
अत्रि	24,201
—भोक्ता या यात्री	32
अदिति	150,173,176,178,179
—देवोंकी असीम माता	22, 125,126
—अनंत चेतना	125
—अनंत ज्योति	127
अदितिका पुत्र	177
'अ' धातुका अर्थ	322
'अध्वर'का अर्थ	302
'अध्वर'की व्युत्पत्ति और अर्थ—	
—निरुक्तानुसार	358
—श्रीअरविन्दानुसार	339, 358,359
अनंतके पुत्रोंके जन्मके दो प्रकार	149
अनंतताके पुत्रका कार्य	152
अनंत परमानन्द	178
अनंत सत्ता और चेतनाकी एकताका निर्माण	215
अन्तर्ज्ञान	3
अन्तस्थ वर्ण	283
अनुनासिक (पराश्रित)—ङ् और ञ्	284
अनुनासिक वर्ण	283
अनुबन्ध	290
—द्विविध अनुबन्ध	291
अनुवादकी शैलीके प्रयोगका स्पष्टीकरण	5
अपरार्धमें ब्रह्म-दर्शन	328
अपूप	19
'अप्नवान'का अर्थ—द्रष्टृ-प्रज्ञा	362
अप्नवान कौन है ?	362
अभय ज्योति	152
अमर	151
अमरताकी प्राप्ति	15
अमरताकी मदिरा	40

विषय	पृष्ठसंख्या
अमरता-प्राप्तिके साधन	215
अमरदेव	30
अमरत्व	307
अर्चनानस्	192
अरणिका प्रतीकात्मक अर्थ	357
अर्यमा	21,45,154,156, 172,174
—मानवीय यात्राका देवता	176
—सत्यकी अभीप्सा करनेवाली शक्ति	45
—हमारी दिव्यशक्ति	176
—उसका आवाहन	156
—उसका कार्य	176
—उसकी शक्ति	155
—उसके कार्य-व्यापारोंकी प्रतिपादक ऋचा	176
'अरि' का अर्थ	351
अवनय:	218
'अर्वत्' शब्दके दो अर्थ	216
अरुण्य:—मर्त्य मनमें ज्ञानकी रश्मियां	420
अश्व	29
अश्वमेध-यज्ञका अर्थ	120
अश्व शक्तिका प्रतीक	58
अश्विदेव (अश्विनौ)	31,296
असत्य शब्दका अभिप्राय	82
असली जीवनकी प्राप्तिके उपाय	145
असीमताके पुत्र	19
असुर	187
असुर—असत्य, विभाजन, एवं अंधकारकी शक्तियां	344
असुर्यम्—देवशक्ति	75
—अन्तरस्थ दिव्य असुर	75
'अ' स्वरका अर्थ	333
अहिर्बुध्न्य	22
अहैतुक तपस्	333

विषय	पृष्ठसंख्या
आ	
आंतरिक शक्तियोंका स्वभाव	150
आगम	292
आजके जीवनका स्वरूप	145
आत्मा	200
आत्मा—एक युद्धक्षेत्र	24
आत्माका घर	109
आत्माका मित्र और प्रेमी	28
आत्माका स्थान	361
आत्माका विकास और संवर्धन	57
आत्माकी देहबद्ध अवस्थाएं	52
आत्मा—मनमें अवस्थित	319
आत्माके सात कोश (खोल)	317
आत्मा हंस या श्येन है	24
आदिकालीन मनोवृत्ति	279
आदित्य—अनन्तताके पुत्र	344
आदिम जड़वादीय प्रकृतिवाद	343
—उसके पीछे छिपी गुप्त पूजा-पद्धति	343
आध्यात्मिक युद्ध	308
आधारका रहस्यमय सर्प	22
आधार क्या है?	320
आध्यात्मिक ऐश्वर्यकी अवस्था	102
आध्यात्मिक विचार प्राचीन सार्वजनीन संस्कृतिके अंग	374
—भारत उस संस्कृतिकाकेन्द्र	374
आध्यात्मिक वैभव	76
आध्यात्मिक संपदाएं—	
दिव्य जलधारा	27
ज्योति	27
शक्ति	27
द्युलोककी वृष्टि	27
आनंद	57
—भगकी देन	178
आनन्दोपभोक्ता	179
आनन्दका स्वरूप	334

विषय	पृष्ठसंख्या
आनन्दके पौदोंके रस	19
आनन्द-ब्रह्म, चिद्-ब्रह्म, सद्-ब्रह्म	328
—उनमें विशेष तात्त्विक अनुभव	328
आनन्द—मानस	319
आर्य	32,175
आर्य ऋषि	151
आर्य और द्राविड़ एक ही सरूप जाति	371
आर्य (जनों)के पांच नमूने	15
आर्यजाति और द्राविड़जातिमें भेद निराधार एवं भ्रान्तिपूर्ण	262
आर्य ज्योति	147
आर्य पुरुषकी समग्र प्रगति एक संग्राम	18
आर्य भाषाओंके शब्दकोषके साझे तत्त्व	279
आर्यभाषाका विभक्तिमय स्वरूप	292
—उसका कारण	292
आर्यभाषाके उद्गम	259
आर्यभाषाके प्राचीन रूपोंमें शब्द-प्रयोग तरल	274
आर्यभाषामें 'आर्य' शब्दका अर्थ	272
आर्येतर दाक्षिणात्य संस्कृति एक निराधार कल्पना	346
आहुतिवाहक पुरोहित	27

इ

'इच्छा' और 'याचना' किसी धातु के प्राथमिक अर्थ नहीं	335
इन्द्र	20,31,126,234
—उसका स्वरूप	309,310, 311,312
—उसका स्वरूप और कार्य	126,309,310
—भागवत मन	31
—स्वर्का स्वामी	44,119
—दिव्य मनकी शक्ति	55
—सत्यके प्रकाश का दाता	55
इन्द्र और उपेन्द्र	321
इन्द्र और वरुणका स्तोत्र	307
इन्द्रके सहायक—शिल्पी ऋभुगण, मरुत्	21
इन्द्र-वरुणकी सहायताके अधिकारी	309
इन्द्र-सम्राट्—सब वृत्तियोंके चालक	309
इडा	22,56
'इ' स्वरका अर्थ	333

ई

'ई' धातुका अर्थ	335
'ईड्यः'का अर्थ	359
'ईळे'की व्युत्पत्ति	323
ईश्वर, ईश्वरी	172
ईश्वरीय मन और उषा	16

उ

उच्चतर सत्ताकी विशालता की ओर आरोहण	127
उपनिषदें, स्मृतियां आदि शास्त्र वेदसे विकसित	371
उपनिषदोंकी वेदविषयक मान्यता	348
उपसर्ग	290
उपेन्द्रत्व क्या है ?	322
उषा	129,134,135,138,140
—उसका स्वरूप	34
—उसका कार्य	137,139
—मानव सत्तापर दिव्य ज्योतिका उन्मीलन	129
—विचारकी देवी	138
—प्रत्यक्ष अनुभव-रूपी ज्ञानकी देवी	138

विषय	पृष्ठसंख्या
—सब ज्योतियोंकी परम ज्योति	138
—पूर्ण सत्योंकी तेजस्वी नेत्री	138
—परम आनन्दके अधिपति की वधू	140
—उसकी रश्मियाँ	137
—उसके आगमनका रूपक	16
—उस रूपकमें, यज्ञ, सूर्य, रात्रि आदि प्रतीकात्मक	16
उषा और निशा	3
उषाके आविर्भावके लिये प्रार्थना	220
उषासे अग्निदेवकी याचना	139
'उ' स्वरका अर्थ	332
उस्रिया:	216
ऊर्ध्वमुखी अभीप्साकारी बल	27
ऊष्म अक्षर	283

ऋ

ऋक्	182
ऋग्वेद	25,125
—मानवजातिकी अभीप्सा-का गीतपाठ	25
—आत्मारोहणकी वीरगाथा का आख्यान	25
—आत्माका स्तोत्र	125
ऋग्वेदकी व्याख्यामें अनिश्चितता क्यों ?	342,343
ऋग्वेदके प्रथम सूक्तका केन्द्रीय विचार	334
ऋत	126
ऋतका अर्थ—सायणानुसार	367
'ऋत्'की व्युत्पत्ति और अर्थ	330
'ऋतम्'के अर्थ	351,352
ऋतम्—वस्तुओंकी यथार्थ क्रिया	127
'ऋतस्य पन्था:' का अर्थ	351
ऋतावाका अर्थ—सायणानुसार	367
ऋतु	81
ऋत्विक्	27,356
'ऋत्विज्'का अर्थ	330,331,336
'ऋत्विज्'की कर्मकाण्डीय व्युत्पत्ति	329
'ऋत्विज्'की प्राचीन व्युत्पत्ति	329,330
'ऋतु'का वेदमें अर्थ	336
'ऋषि'का अर्थ	330,337
ऋषिका लक्ष्य और काम्य	313
ऋषियोंकी आध्यात्मिक विजय	24
ऋषिकी कामना	207
ऋषिकी प्रार्थना मानवमात्रके लिये	309
ऋषिकी पुकार	140
ऋषित्व	133
ऋषियोंकी अग्निदेवसे प्रार्थना	74
ऋषियोंका आह्वान	189
ऋषियोंके लिये अग्निकी महत्ताका कारण	331
ऋषि वशिष्ठका धारासम्बन्धी कथन	162
ऋषि वामदेवका सूक्त	156
ऋषि शुन:शेपका यज्ञस्तंभसे बांधा जाना	164
ऋषियोंके नामोंका मार्मिक अर्थ	32

ए

एकं सत्	148
एकमेव	145,148,181
एकमेवका विस्तार	160
एकमेवके तपस्से सबका उद्भव	160
ऐक्य	154

क

कक्षीवान्	24
कठोर ध्वनियां	283
कण्व	24

विषय	पृष्ठसंख्या
कर्मकाण्ड आत्मज्ञानकी आधार-शिला	372
कर्मकाण्डकी बुद्धिग्राह्य व्याख्या आवश्यक	372
कर्ममात्र ईश्वरके प्रति आहुति	315
कलियुगका स्वरूप	328
कवि	146
'कवि' का अर्थ	340
कारक-रूपों और क्रियारूपोंमें भेद	242
कारण-समुद्र और तपस्	331
कुत्स	24,135
'केतु' शब्दका मूल धातु	287
केनोपनिषद् और ब्रह्मका रूपक	300
कैलाश चन्द्रलोकका शिखर	329
'ऋतु'की व्युत्पत्ति और अर्थ	340
कौन हमारा उद्धारक ?	156
ऋतु	216
क्रियारूपों और कारकोंके समान प्रत्यय	291,292
क्षर-अक्षर	57
क्षेत्र	76

ग

गति—उत्तम और अधम	320
गण	221
'ग्' व्यञ्जनका अर्थ	322
गविष्ठिर	32
गुहा या गुह्य तत्त्व	301
गुह्य चैतन्यका समुद्र	306
गावः (गाः, गाय)	205, 207, 235
गीत	190
गुण और वद्धि	287
गुण करनेका सिद्धान्त	286
गुप्तचर	167
गुह्य आत्मा—वस्तुओंका पिता	44
गोतम	24
गो—प्रकाश अथवा गाय	195
गोयूथ—सौर दीप्तियोंकी किरणें	189
गोयूथोंकी तेजस्वी माता	136
गौ	205
गौओंकी ज्योतिर्मयी माता	23
गौ, दधि, यवके दोहरे अर्थ	121
गौएं—दिव्य सत्यकी दीप्तियां	61

घ

घृत (प्रतीकात्मक)	36
घोड़ी (प्रतीकात्मक)	183

च, छ

चतुर्विध सविताकी दिव्य सृष्टि	179
चमचेका प्रतीक	86
चार युगोंमें विष्णुके अवतारका चतुर्विध रूप	327,328
चिच्छक्ति—शक्ति, देवी, काली, प्रकृति	330
चित् और आनन्द—क्रियासे निवृत्त	315
—क्रियामें प्रवृत्त	315
चित् और शक्ति एक ही हैं	316
चित् और सत्की अनुभूति	318
चित्त	318
चित्ति	367
'चेतनम्'का अर्थ	364,365
चेतन सत्ताका गठन	30
चेतन सत्ताका तीसरा समुद्र	160
चेतना और शक्तिकी क्रिया	93
छलनी	234

ज

जगत् यज्ञकी वेदी	315
'ज्' व्यञ्जनकी भाव-शक्ति—यङ् प्रत्ययकी शक्ति	326
जातवेदस्का अभिप्राय	317,331

विषय	पृष्ठसंख्या
जीवके उद्धारका उपाय आत्मदान (यज्ञ)	306
जगत् सद्वस्तु	149
जड़ प्रकृति और वैदान्तिक सत्य का सूत्र	273
जड़ प्रकृतिका गुप्त निवासी	27
ज्योतिर्मय देवोंसे हमारी मांग	95
ज्योतिर्मय लोककी सात नदियां	31
जीवन एक घोड़ा	24
ज्ञान	185
ज्ञान या सत्य—पवित्रकारी साधन	164
ज्ञानयोग एवं अध्यात्मयोग	331

ड़

ड़् कोमल मूर्धन्य और तरल मूर्धन्य	284

त

तत्त्वों और लोकोंका पुनःविभाजन	12
तन्यवः—सत्यके शब्दका बहिर्गर्जन	188
तपस्—मानस	319
तपस्—विशुद्ध भागवत, अति-चेतन शक्ति	313
तर्कबुद्धिका यथार्थ कार्य	321
तर्कबुद्धिके दुष्परिणाम	321
तामिलके संख्यावाचक शब्द प्राचीन आर्य शब्द हैं	269
तालव्य आपरिवर्तन	288
तिङ-विभक्तियां व सुप्-विभक्तियां	292
तीन बन्धन—अज्ञान, दुःख-वासना-विरोध, मृत्यु	306
तीन महान् देवता —ब्रह्मणस्पति स्रष्टा	23
—रुद्र	23
—विष्णु	23
तीस उषाओंका कार्य	136
तेजस् और सात कोषों का संबन्ध	320
तेजस्के सात प्रकार	320
तेजस्वी आत्माएं—चित्-शक्तिकी ज्वाला-रश्मियां	74
तेजस्वी आत्माओंकी उपलब्धि	74
त्रिकोंकी शृंखला	11
त्रित 22, 29, 73,	97
—आरोहणके तीसरे स्तरका देव	97
त्रित आप्त्य 22,	29
—मनोमय पुरुष	73
त्रिदेवके कार्य	146
त्रिधातु—सत्-चित्-आनन्द	301
त्रिविध तत्त्व	153
त्रिविध लोक	153
त्रिविध लोक-संस्थानका वर्गीकरण	12
त्रीणि रोचना	11
त्रेतायुगका स्वरूप	327

द

दधिक्रावा	22
दनु या दिति—विभक्त सत्ताके पुत्र	67
'द्' व्यञ्जनके गुण	329
दृष्टि और श्रुति	340
दमका अर्थ	367
दयानन्दकी व्याख्याशैली 351,	352
द्यौ और **पृथिवी**—मन और शरीर	419
'दल्' धातुके वंशज लैटिन, ग्रीक, संस्कृतमें 278,	279
द्वापरका स्वरूप	327
द्वापर यज्ञका युग	328
दस हजार—दिव्यज्ञान की ज्योतियोंकी प्रतीकात्मक संख्या	119

विषय	पृष्ठसंख्या
द्रष्टा	27,131
द्रष्टा और प्रकाशक दोनोंका कार्य	128
द्रष्टा-संकल्प (कविक्रतुः)	27,29
दश धियः	357
दस्यु	207
—अंधकारकी शक्तियाँ	67,68
—अंधकारके स्वामी	188
दक्षिणा	22,34
—विवेककी देवी	34
—उषाका रूप	34
दिति	126
दिन और सौर प्रकाश आलोकित मनके प्रतीक	369
दिन-रात	161
दिन-रातका गूढ़ार्थ	35
दिव्य आनन्दोल्लास	35,171
दिव्य उषा	28
—परम प्रकाशकी प्रतिमूर्ति	134
—द्युलोककी पुत्री	134
—अदितिकी शक्ति	135
—देवोंकी माता	135
दिव्य चिन्मय शक्ति	26
दिव्य जल (-धाराएं)	20,27,145
दिव्यज्वाला—अग्नि	29,30
—द्यौ-पिता-पृथ्वी माताका शिशु	30
—मन या आत्मा और शरीर या जड़ प्रकृतिका शिशु	30
—मानसिक, चैत्य तथा भौतिक चेतनाका शिशु	30
—सात माताओंका शिशु	30
—उसका पूर्ण जन्म सात तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति	30
—उसका आवाहन	104
—उसका स्वरूप और कार्य	29,30,115
—उसका भव्य रूपकों द्वारा वर्णन	30
—उसके अनेक जन्म	30
दिव्य प्रकाशका प्रचुर ऐश्वर्य	108
दिव्य योग	66
दिव्य मनके चमकीले हरि	19
दिव्य मानवका स्वभाव	168
दिव्य वाणी	144
दिव्य विधानका राजा	163
दिव्य शिशु	3
दिव्य संकल्प	172
दिव्य संकल्पका कार्य	51,52
दिव्य संकल्प—जन्मोंका ज्ञाता	52
दिव्य संकल्पशक्ति	170
—उसका कार्य	53
दिव्य सत्ताओंका कार्य	151
दिव्य सत्ताके दो पक्ष	215
दिव्य सवन	28
दिव्य स्रष्टाकी वरणीय ज्वाला	144
देव	329,344
—उनका स्वरूप (बाह्य और आन्तर)	296,329, 344,358
—वे भौतिक शक्तियों आदिके मानवीकरण नहीं	321
—सच्ची सत्ताएं	321
—सचेतन मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ	149
—शक्तियोंके चेतन केन्द्र	321
—भास्वर सम्राट्	141
—पूर्णताके अधिपति	141
—उनका (चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, बृहस्पति, वायु, मित्र, वरुण, अर्यमा, भग, अग्नि, ब्रह्मका) प्रतीकात्मक स्वरूप	320

विषय	पृष्ठसंख्या
—उनके शरीर और अङ्गों पाङ्गोंका प्रतीकात्मक अर्थ	190
—उनकी माता	22
—उनका अपना घर	191,329
—उनका ज्ञान-बल	27
—उनका संकल्पबल	27
—उनकी संयुक्त स्तुति	155
—उनकी सहायतासे दैत्योंका पराभव	320
—उनके धामकी ओर आरोहण	14
—उनके सीधे और पूर्ण नेतृत्व का परिणाम	129
—उनका (अग्नि, इन्द्र, सूर्य, सोम) का वर्णन	20,21
—उनके कार्य द्विविध (बाह्य और आन्तरिक)	145,153, 301,340,347
—उनका मनुष्यसे संलाप	38
—उनका आह्वान	27, 54
—वे मनुष्यको क्यों पुकारते हैं ?	19
—उसके बदलेमें मनुष्य क्या करता है ?	19
'देव' और 'दस्यु' शब्दोंके अर्थ	336
देव और दैत्य	320,332
—उनका कार्य	320
देवक्रीडानुदर्शनम्	329
देवताओंके युगल—अश्विनौ, इन्द्र-वायु, मित्रा-वरुण, इन्द्र-वरुण	308
देवताके गण—उसके अधीनस्थ मन्त्री	319
देवताति	344
देवता प्रकृतिकी क्रीड़ाके रूपकमात्र (यूरोपीय मत)	298
देवत्वका मनुष्यमें अवतरण और कार्य	104
देववीति	344
'देव' शब्दका अर्थ	316,317,329, 351
—सायणानुसार	363
—श्रीअरविन्दानुसार	363
—वेदमें इस शब्दका संगत अर्थ	336
—इस शब्दके साथ सायणका विचित्र व्यवहार	335
दो अरणियां	72
दोहरे अनुवादकी रीति का प्रयोग	6
द्युलोक	27,28
द्युलोककी कुक्कुरी	3
द्युलोककी धाराएं	161
द्युलोककी वृष्टि	27,180,185
द्युलोकके प्रचुर वैभव	31
द्युलोक—विशुद्ध मानसिक सत्ता	70
द्युलोक—सत्यका रूप	161
द्यौ और पृथिवी	233
द्यौ—पिता	22
द्वित—आरोहणके दूसरे स्तरका देव	97
द्विपाद् और चतुष्पादका गुह्य अर्थ	228

ध

धर्म	173
—चतुष्पाद्	
धातु	271,277,284,286,327
—भाषाकी निर्धारक इकाइयां	277
—भाषाके महत्त्वपूर्ण अंग	277
—उनके स्वरूपकी खोज	277
—उनके अर्थोंका मूल कारण	271

विषय	पृष्ठसंख्या
—उनका द्वित्व	291
—उनसे शब्दोंकी रचना	325
—उनसे क्रियारूपोंकी रचना	291
—आदिम, उनकी रचना-विधि	284
—द्वितीयस्थानीय	285
—कण्ठ्य, तालव्य, दन्त्योष्ठ्य, महाप्राण, मूर्धन्य, ऊष्म	285
—तृतीयस्थानीय, आश्रित	285,286,288
—तृतीयस्थानीय की रचना-विधि	286
—अवैध, तीसरे दर्जेके	286
—नियमित और अनियमित	287
—प्राथमिक और जनक	288
—सानुनासिक	285
धातु और बारहखड़ी	284
धातुकी उपेक्षा भाषाशास्त्रकी विफलताका कारण	278
धातु-गोत्र (धातु-परिवार)	288
धातु-रूप (शुद्ध)	286
धातु-समूह (प्राथमिक)	288
धाम	180
धेनवः	205
ध्वनि और अर्थका संबन्ध	276,292
—उस संबन्धका कारण	276
ध्वनियों के अर्थोंका निर्धारण	292
—उसका नियम	292

न

नई दृष्टि	134
नई सृष्टि	134
नदियोंकी मनोवैज्ञानिक कल्पना	161
नये सत्ययुगमें **परमविष्णु**का अवतार	328
नवनीत	36
नया जन्म—दिव्य व्यक्तित्व	53
नये सत्ययुगका जन्म प्रेमके अवतरण द्वारा	328
निम्नतर सत्य	182
निर्गुण सत्	315
निर्दोष पवित्रता	169
निर्भ्रान्त संकल्प	27
निम्नतर सत्ताके मार्ग	128
निर्मित शब्दमें तल्लीनता भाषा-शास्त्री की घातक भूल	278
निरुक्तका सिद्धान्त	324
निशा और उषाका गूढ़ार्थ	135
नीचेका स्वर्लोक—चन्द्रलोक	329

प

पर्जन्य	22
पथ और यात्राका रूपक	151
पथिकका लक्ष्य	168
पणि	137
पणि और उषा	16
परम आनन्द	20
परम आनन्दको धारण करनेकी शर्तें	145
परम देवता	48
परम धाम	28
परम पद (परमोच्च स्तर)	404
परमानन्दकी प्राप्ति	93
पर्याय-विरोधी प्रवृत्ति	275
परार्द्ध (अव्यक्त)—सत्ताका उच्चतर गोलार्ध	313
'पशु' शब्दका अर्थ	67
परार्धके तीन तत्त्व	334
पशु-सत्तासे मनोमय सत्ताकी ओर आरोहण	71
पापकी जननी अविद्याका त्रिविध पाश	164
पापकी परिभाषा एवं प्रतिक्रिया	163
पाप—स्वभावगत दुष्टताका परिणाम	163

विषय	पृष्ठसंख्या
पिता—**पुरुष, द्यौ**	419
पितृलोक	329
पितर	177
पितर—प्राचीन ज्ञानप्रदीप्त पुरुष	175
पितरोंका शब्द-शक्तिसे अभय-ज्योतिमें आरोहण	128
पुरुष	181
पुरुष यज्ञका देवता और यज्ञकी हवि	306
पुरुष या **वृषभ**	82
पुरोहित	27,39,356
—उसका कार्य	91
—इस शब्दका अर्थ	335
—इसकी व्युत्पत्ति	323, 324
पूर्ण दिव्य-आनन्दकी प्राप्ति	178
पूषा	141
—द्रष्टा-रूपमें रथोंके अश्वों-का प्रचालक	143
—उसका कार्य	140,142,301
—उससे प्रार्थना	141,142,143
पृथिवी—माता	22
—हमारी भौतिक सत्ता	36
—अन्नमय चेतना	70
पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अन्न-प्राण-मनके प्रतीक	344
पृथ्वी, द्युलोक	145
'प्र' का अर्थ	367
प्रकट करनेवाला शब्द	40
प्रकाश	26
—उसकी और ज्ञानकी दीप्ति, महिमा एवं महत्ता	26
—उसका ध्रुव	20
—उसका (परम) लोक	45, 183
—उसका स्वर्ग	28
—उसकी गौ	36
—उसकी संतान	19
—उसका शक्तिसे संबन्ध	320
—उसका अंधकारसे विरोध	125
प्रकाशप्रद सूक्त	16
प्रकाशमय गुहा	13
प्रकाशमय गौके दूध और घी	19
प्रकाशदायी शब्दकी शक्तिसे सर्वोच्च सत्ताका ध्यान, धारण	189
प्रकाशमान अमर देव	28
प्रकृति	66
प्रकृति और आत्मा—माता और पिता	39
प्रकृतिके उद्धारका पथ	305
प्रकृति (जगती)—देवीका यज्ञ	305
प्रकृतिदेवीको भगवान्‌का ज्ञान और उनपर भरोसा है	305
प्रकृतिमें सोमके आनंदकी स्थापना की शर्त	21
प्रकृति यज्ञमें सहधर्मिणी	306
प्रचेता: और विचेता:	367
प्रतीकात्मक भाषाका प्रयोजन	363
प्रत्यय—अस्, इन्, अन्, आदि	291
प्रत्यय, विकार और आगम	278
—उनका शब्द और अर्थ पर प्रभाव	278
प्रत्ययोंका मूल स्रोत और अर्थ	278
प्रत्येक भाषा संस्कृतका अपभ्रंश	325
प्रत्येक वस्तु प्रकाश और सत्यसे उत्पन्न	129
'प्रतिभान' की अवस्था	318
प्रयस्	190
परमोच्च प्रभु विष्णु उपेन्द्र कैसे ?	322
परसर्ग (enclitic)	289,291
परसर्ग और उपसर्ग	290
प्रज्ञा	166
परार्द्ध और अपरार्द्ध	318
परार्धमें ब्रह्मके दर्शन	328
प्राकृतोंकी उत्पत्ति	325
प्राचीन उषाके सूक्त	2

विषय	पृष्ठसंख्या
प्राचीन आर्यभाषा	275
—उसकी पर्यायबहुलता	275
—उसमें रूपोंकी समृद्धता	290
—उसमें शब्दोंकी अनेकार्थकता	275
—उसमें शब्दकी तरलता	277
—उसमें अर्थकी तरलताका कारण	277
—उसमें एक ही शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण	274
प्राचीन मानवभाषा अति स्वतन्त्र और नमनीय	275
प्राचीन रहस्यवादी पूजाका एक रूपक	10
प्राणकी कामना	29
प्राणकी वेगवती घोड़ियां	31
प्राणके स्वामी मातरिश्वा	31
प्राणमय पुरुष	118,120
प्राणमय, मनोमय कोष	52
प्राणिक और भौतिक स्तरकी क्रियाएं	206
प्राणिक या स्नायविक स्तर	38
प्राणिक शक्तियां	121
—प्रेरणा देनेवाली	53
—यात्रामें हमें वहन किए चलनेवाली	53
—उनका प्रतीक, अश्व	53
प्राणिक सत्ता	121
प्रेम	170
प्रेमके अधिपति मित्रका कार्य	75

ब

बभ्रू (अरुणी)—मर्त्य मनमें ज्ञानकी रश्मि	420
ब्रह्मणस्पति—स्रष्टा	23
—उसका कार्य	301

विषय	पृष्ठसंख्या
बीचका लोक—प्राणिक और भावप्रधान सत्ता	36
बीजध्वनि 'व्'में अन्तर्निहित तत्त्व	293
बुद्धि	319
—उसकी शक्तियां, मेधा, तर्कशक्ति, प्रत्यक्षज्ञान	319
बुद्धिकी मांग और भाषाका विकास	289
,, वाच्योंका विकास	289
,, लकारोंका विकास	289
,, कारकोंका विकास	289
,, वचनोंका विकास	289
,, विशेषणात्मक रूपों का विकास	289
,, क्रिया-विशेषणके रूपों का विकास	289
बुद्धिप्रधान मनके घटक तत्त्व	318
बृहत्	126
बृहत् द्यौ (उच्चतर गोलार्ध, नेम)	404
'बृहतीः इषः' का अर्थ	236
बृहस्पति	150
ब्रह्म	316
—उसकी सप्तविध अन्तःसत्ता	316
—उसकी सप्तविध बाह्य सत्ता	316
ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी वेदव्याख्याके दोष	354
ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वेदकी गुह्य याज्ञिक व्याख्या	348

भ

भग	21,154
—साक्षात् सविता	156
—स्रष्टा सविता	178
—सर्व-उपभोक्ता	156

विषय	पृष्ठसंख्या
—मनुष्यके अंदर आनन्दोपभोक्ता	177
—आध्यात्मिक ऐश्वर्यका स्वामी	156
—आध्यात्मिक ऐश्वर्यका दाता	156
—उसका कार्य-व्यापार	178
—उसके प्रति वसिष्ठका स्तोत्र	178
भगवती शक्ति	91
भगवान्	154
—सर्वस्पर्शी, अनंत शुद्ध सत्ता	154
—उनका वरुण-रूप	158
भगिनी आर्यभाषाएं—लैटिन, ग्रीक, संस्कृत	265
भागवत पुत्रका सर्जन	205
भागवत संकल्प	63,88,91
—अग्निदेवकी शक्ति	118
—हविर्दाता एवं पुरोहित	90
—उसका कार्य	49,88,90
—उसके आवाहनका प्रयोजन	96
भाषा	265,273,274,282,284, 288,292
—उसका (भाषाविषयक) भ्रूण-विज्ञान	273
—उसके विकासका एक नियम	274
—उसके निर्मायक नियमित तत्त्व	288
—उसके दो आवश्यक तत्त्व, I उसकी संरचना, II. उस संरचनाके उपयोगका मनोविज्ञान	282
—उसका संरचनात्मक विकास	288
—उसके पुष्पित होनेकी दूसरी अवस्था	288
—उसके बाह्य रूपमें प्राकृतिक नियमकी क्रिया	292
—उसका क्षेत्र एवं प्रयोजन	265
—उसके प्रत्येक शब्दका नानाविध उपयोग	288
—उसकी प्राचीनताकी पहचान	284
—उसकी उन्नत अवस्थाओं के लक्षण	284
भाषाओंके बन्धुत्वकी कसौटी	266
भाषाओंके विचारका अर्थ	278
भाषा (प्राथमिक) का क्षेत्र—चालीस गोत्र	288
भाषाविज्ञान	259,260,271,278
—उसका सच्चा मूलमन्त्र (दल्भि, दलन इत्यादि)	278
—उसकी खोजके लाभ	260
—उसके लिये उपयुक्त आधार	271
—(आधुनिक) एक कपोलकल्पना	259
—(वास्तविक) की आधारशिला	279
भाषाशास्त्र और	
,, पुरातत्त्व-विज्ञान	265
,, नृवंश-विज्ञान	265
,, मानव-विज्ञान	265
,, समाजशास्त्र	265
,, वैज्ञानिक	259
,, रनां	259,260
भाषाशास्त्र—यूरोपीय	260
भाषाशास्त्रियोंकी भूलें	261,278
—उनका आर्योंके भारत-आक्रमण का चित्रण एक दंतकथा	263
भाषाशास्त्री संस्कृति-पुनरुद्धारकों की स्थापना तर्कहीन	264

विषय	पृष्ठसंख्या
भाषासाम्य एकसमान सभ्यताओंका प्रमाण	262
—नृकुल-संबंधी एकताका प्रमाण नहीं	265
भृगु	362
—ज्ञानके सूर्यकी प्रज्वलित शक्तियां	362
—आध्यात्मिक संकल्पशक्ति के आविष्कारक	362
—द्रष्टृ प्रज्ञाकी शक्तियोंके प्रतीक	362
—वैदिक ज्ञान और साधनाके संस्थापक	362
—इस शब्दका धात्वर्थ	362
भौतिक और मानसिक चेतनामें अतिमानसकी क्रिया	92
भौतिक विज्ञानोंकी मूल सामग्री और शक्तियां	279
भौतिक शरीर	52

म

विषय	पृष्ठसंख्या
मधुच्छंदस्	169
मधुमय सोमरस	78
मनकी मुक्त शक्तियां—पक्षी	24
मन, प्राण और शरीरका त्रिविध लोक	77
मनस्	318
मंत्रोंके अर्थमें सायणकी जोर-जबरदस्ती व पैंतरेबाजी	364,365
मनुष्यका द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक	14
—उसका घर-पूर्ण परमानन्द	65
—उसके लिये भृगु द्वारा अग्निकी उपलब्धि	369
—उसका लक्ष्य देवोंको भी अतिक्रांत करना	320
—उसकी आत्माका ऊर्ध्व-गमन और दिव्य तत्त्वका आकर्षण	10
—उसके अंदर अमर कार्यकर्ता	27
—उसका लोकोंमें आरोहण	13
—उसके ऊर्ध्वारोहणमें देवोंका कार्य	14
—उसके जागरणका दिन विहित	306
—उसका प्रत्यक्ष और प्रिय अतिथि	27
मनोमय पुरुष	120
—उसकी प्रकृति और कार्य	118
—उसमें दिव्य और अनन्त चेतनाकी स्थापना	204
मनःसत्ताके शिखर	75
मनःसत्ताकी पूर्णता (सुमति)	194
मयस्	270
मरुत् (विचारके देवता)	6,57,185, 186, 270
—सत्यके वेगशाली अन्वेषक	243
—द्रष्टा, स्रष्टा, विधाता	243
—एक आंख	244
—ज्योतिर्मय नेता	244
—उनका प्रकाशमयबलहै सत्य	242
—उनके माता-पिता	243
—उनका निवासस्थान	244
—उनका भव्य रूप	245
—उनकी कौंधती बिजली	242
—उनकी विद्युत्-गर्जनाएं देवोंके सूक्तगान एवं सत्यका उद्घोष	244
—वे (उनके गण) आत्माके शिल्पी	242
—उनके कार्य	243
मरुतां शर्धः—मरुत्-देवोंकी सेना	402,413

विषय	पृष्ठसंख्या
महत्तम आनंद	179
महत्तर द्युलोक	344
महान् त्रयी	153
महान् देवियां	145
महाप्राण ध्वनियां	283
महासत्यम् और **कारणम्**	328
मही अथवा भारती	22,56
मातरिश्वाका अर्थ	310
मानवीय पुरोहित	221
मानवीय शरीर-प्रासाद	45
मानसिक विज्ञानोंकी सामग्री और शक्तियां	280
मानसिक सत्ताका रूपान्तर	35
माया	187,213
—दिव्य सत्य-प्रज्ञा	185
—उसका स्वरूप	172
—उसके दो प्रकार, दिव्य और अदिव्य, सत्यकी रचनाएँ और असत्यकी रचनाएँ	42
—उसका कार्य	172
मारुतं शर्धः—प्राणशक्तियों की सेना	402,413
मार्तण्ड—आठवां सूर्य	130
मावान्का अभिप्राय	309,310
मित्र	21,154,168,172,173,190
—प्रेमका अधिपति	44,170
—उसका स्वरूप	161,171
—उसका कार्य, सामंजस्य-स्थापन	45,171,173
—इस शब्दका मूलार्थ	170
मित्र और वरुण	169,173,185,202
—सत्यकी महान् शक्तिके धारक	202
—दिव्यसत्ता एवं दिव्य विधानके संरक्षक	185
—उनके कार्य	185,202
—उनका आह्वान	169
—उनमें भेद	173
मुक्तिदायक शब्द	16
मूर्धन्य और दन्त्य वर्णोंका संबन्ध	283
मूल संस्कृतमें शब्दरचनाकी विधि	326
मूल संस्कृत शब्दोंके अर्थोंकी छायाएं लुप्त	326
मेधातिथिकी महाकाङ्क्षा	308
—उसके पूरक इन्द्र-वरुण	308
मैक्समूलरका घातक सूत्र	259
,, भ्रामक सूत्र	278

य

'य्'के गुण (अर्थकी विशेषताएं)	325
यजमान—जीव	306
यजुः	182
—इस शब्दका अर्थ	327
'य' (प्राथमिक धातु)का अर्थ	325
यज्ञ	148,235,314,344,345
—एक आत्मिक प्रयास	303
—भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयास और अभीप्सा	55
—एक तीर्थयात्रा	361
—यात्रा और युद्ध	345
—(बाह्य)अन्तर्यज्ञका प्रतीक	344
—उसकी वेदी	310
—उसका (यज्ञका) पशु जीव	305
—उसकी हवि	27
—उसके अश्व	19
—उसका नेता	28
—उसका प्रयोजन	106,205
—उसका लक्ष्य—अतिचेतन सत्ताकी पूर्णता	199
—उसके द्वारा सत्यकी खोज	163
—उसका योगसे संबन्ध	305
—उसकी सभी आहुतियां प्रतीकात्मक	345

विषय	पृष्ठसंख्या
—उसके सभी फल प्रतीकात्मक	345
—इस शब्दकी व्युत्पत्ति	325,326
—इसका अर्थ व अभिप्राय	302,305,324,326,327
यज्ञ और योग	305
यज्ञिय ज्वालाके जन्मकी स्तुति	77
यहूदियोंकी सृष्टि-उत्पत्तिकी धारणा	159
यास्कका निरुक्त	349
यास्क (निरुक्तकार) की धांधली	295
यात्राकी द्रुतगामी ज्वालाशक्ति	58
याज्ञवल्क्यकी उपलब्धि	3
युगल अश्विनौके कार्य	21
यूथ और जलधाराएं दो वैदिक रूपक	87
यूपकाष्ठ (यज्ञस्तंभ)—मन-प्राण-देह	306
योग	305,332
—जीवनका उदात्तीकरण	332
—उसका फल	305

र

रत्न	336
—इस शब्दके अर्थ	333,334, 336
रत्नधातमम्'की व्युत्पत्ति और अर्थ	333
'र' धातुका अर्थ	333
रयि, रत्न, राधः, रायःका अर्थ	302
'रयि' शब्दकी व्युत्पत्ति और अर्थ	338
रहस्यवादियोंका सिद्धान्त	9-25
राजाओंका चतुष्टय	154
राजर्षि	166
राजा तुग्रके पुत्र भुज्युका समुद्रमें डूबनेका रूपक	160
राजा वरुणका सत्य	161
रात और दिन प्रतीकात्मक	56
रात्रि	135
रात्रि और तमस् अज्ञानपूर्ण मनके प्रतीक	369
रात्रिसे लोकोंकी उत्पत्ति	13
रुद्रदेव	208
—परमेश्वरकी शस्त्रसज्जित कल्याणकारी शक्ति	23
—उसका कार्य	301

ल

ल्, ळ् और ड्	323
—'ळ्' ध्वनि एक उपभाषागत विशेषता	323
लक्ष्मी और सरस्वती	3
लुप्त आदिम धातु	285
लोक	11,13
—अतिचेतन लोक —दिव्य लोक —अवचेतन या निश्चेतन-लोक —उनका परस्पर आदान-प्रदान	13
लौकिक संस्कृत संकुचित, कठोर, चयनकारी	291,292

व

वन, वनस्पति, ओषधि भौतिक सत्ताके प्ररोहोंके प्रतीक	361
'वनस्पति' शब्दका दोहरा अर्थ	64
वरुण	21,44,154,156,158,168, 196, 209,212, 215, 218, 309-10
—भगवान्की पवित्रता और विशालताका प्रतिनिधि	44
—हमारी सत्ताके त्रिविध पाशको काटनेवाला	164
—राजा, उच्चतम व्योमका, सागरोंका	159

विषय	पृष्ठसंख्या
—दिव्यसत्ताका सागर, महा-महिम सम्राट् आदि	163,165
—विराट् मनीषी, सत्यका संरक्षक	166
—अनन्त सम्राट्	168,309
—प्रज्ञाका नाभिकेन्द्र, सत्य-ऋतका कार्यकर्ता	169
—सभी वृत्तियोंका शासक	309
—उसका अधिकार-क्षेत्र	168
—उसका कार्य	158,162,164, 215,218,309-10
उससे ऋषियोंकी प्रार्थना	163
—उसके प्रति वसिष्ठ-का स्तोत्र	163
—इस शब्दका बाह्य और गुह्य अर्थ	212
वरुण और मित्र	144,169,196,209
—सत्ताको महान् बनाने-वाले	209
—एक दूसरेके पूरक	169
—उनका आवाहन	196
—उनका कार्य	196,209
—उनकी देन	196
—उनका वाणी-उच्चारण	144
वस्तुओंका क्रियाशील वैश्व सत्य	183
वस्तुओंको आकार देनेवाला त्वष्टा	146
'वाज'का अर्थ	308
वायु	22
वासुदेव—सद् आत्मा	319
'वि'का अर्थ	367
'विज्' की व्युत्पत्ति और अर्थ	330
विज्ञान	216,217,261,304,317
—उसकी क्रिया	304,317
—उसकी मुख्य शर्त	261
—उसके साक्षात्कारों एवं अन्तःप्रेरणाओंके ग्रहणकी प्रतिक्रिया	216
'विप्र'का अभिप्राय	309
विभाजनकी माताके पुत्रोंके नाम (सामान्य और विशेष)	
—राक्षस, वृक, वृत्र, शुष्ण, नमुचि, वल, पणि	18
'विभु' और 'विम्ब'का प्राचीन अर्थ	359
विरोधी शक्तियोंके ऐश्वर्य	51
विवृत ध्वनियाँ	282
विवेक-चेतनाकी देवी दक्षिणा	33
विशाल सूर्य का लोक	233
विश्वके क्रमिक स्तर	11
विश्वजीवन	304
—एक यज्ञ	304
—उसका निगूढ़ अर्थ	304
—विश्वदेव्य	306
विश्वपुरुषकी इच्छासे एक बीजसे रूपोंका विकास	273
विश्व ब्रह्माण्ड लोकोंकी एक जटिल शृंखला	11
विश्वयज्ञ	304
विश्वव्यापी कर्मकाण्डका रूपक	315
विश्वेदेवाः	153
विष्णु	23,45,126,301,321
—सर्वव्यापक सत्ता	126
—सब लोकोंका धारण करनेवाला	23
—वैद्युत मानव	321
—उसके तीन पग	45
—उसका कार्य	301
वीर—मानसिक और नैतिक शक्तियां	53
वृकका मूलार्थ	274
वृत्र	158
—उसका ज्ञान (माया) सीमित सत्ताका बोध	158
—उसका कार्य	158

विषय	पृष्ठसंख्या
वृषभ	205
वृषभ और गौ का प्रतीक	81
वेद	1,6,8-10,15,25,164,263, 275,294-95,297-98,300-01,313,315,318-19,345-46,349-55,361-62,371-73
—उसका माहात्म्य	9
—उसका आधार सत्य और विज्ञान	313
—मनुष्यकी अमरताका गायक प्राचीनतम ग्रन्थ	15
—जीवनकी गति और आत्माके विशाल निःश्वाससे युक्त	9
—भारतके धर्म और ज्ञानका स्रोत	294
—रहस्यमय	294
—उसका रहस्योद्घाटन भी रहस्य	8
—उसके ऋषि प्रतीकात्मक	362
—उसके देवता	301
—उसका आधारभूत ज्ञान	319
—उसमें योग और अध्यात्म का तत्त्व	298
—उसका मुख्य प्रतिपाद्य (मुख्य बात)	300
—कर्म (ऋतम्) के शिक्षक	315
—उसका कर्मकाण्ड आधि-भौतिकवादी नहीं, प्रतीकात्मक	371-72
—उसका कर्मकाण्डीय भाष्य अकाट्य और निर्भ्रान्त नहीं	263
—उसके विचारका ढांचा	9
—उसका प्रतीयमान अर्थ	1
—उसके सूक्तोंका उद्देश्य	318
—उसकी (वेद-काव्यकी) शैली	350
—उसकी अनूठी रूपकमाला	361-62
—उसकी भाषा और विचारधारा	294-95
—उसके शब्द सांकेतिक (प्रतीकात्मक)	300
—उसके पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ कैसे निश्चित करें?	350-52
—उसमें शब्दोंकी अनेकार्थकताकी आवश्यकता	275
—उसका अर्थ साधना-लभ्य	300
—उसका यथार्थ अर्थ	300
—उसके मन्त्रोंका तात्पर्य-निर्णय	353
—उसकी प्रामाणिक व्याख्याके लिये तीन प्रक्रियाएं	349
—उसकी स्पष्ट और संबद्ध व्याख्याका तरीका	354-55
—उसके अनुवादकी शैली	1
—उसके गूढ़ अर्थको ग्राह्य बनाना	6
—उसका आंतरिक भाव	1
—उसकी आध्यात्मिक व्याख्या का मेरा प्रयत्न पहला नहीं	373
—यह प्रयत्न आधुनिकतम पद्धति पर आधारित	373
—उसकी (वेदकी) आध्यात्मिक व्याख्याकी प्रवृत्ति अतिप्राचीन	372
—उसकी व्याख्या 'आत्मविद्' के अनुसार	297
—उसकी गुह्यार्थकता पर आक्षेप और उनका उत्तर	345-46

विषय	पृष्ठसंख्या
—वेदविषयक प्रश्नोंका उत्तर सूक्तोंके तुलनात्मक अध्ययन से	354
वेद और शंकर	373
वेदकी कुंजी वेद	355
वेदकी व्याख्या वेदसे	354
वेदके विषयमें नवीन मत	300
वेदके विषयमें श्रीअरविन्दकी मान्यता	355
वैदिक भाषाका अंग्रेजी में अनुवाद	6
वैदिक यज्ञ और देवताओं के रूपक	17
व्यंजन-ध्वनि	283,285,286,287
—उसका अर्थपर प्रभाव	285
—उसके परिवर्तनोंकी प्रवृत्तियां	286
—उसके पांच वर्ग	283
—व्यंजन-संबंधी आपरिवर्तन संरचनात्मक	287
'व्योम' विष्णुका परम पद	160
'व्रतानि'—दिव्य क्रियाएं	188

श

शंकराचार्यकी वेदविषयक धारणा	373
शक्ति	26
शक्तिका पुत्र	29
शक्तिका ध्रुव	20
शक्तिशाली धाराएँ—ज्योतिर्मय लोककी सात नदियाँ	31
शब्द	133
शब्द और अर्थका सुनिश्चित संबंध एक मोह	276
शब्दकी अनेकार्थकताकी विरोधी प्रवृत्ति	275
शब्दप्रयोगमें निश्चितताकी प्रवृत्ति	275
शब्दशक्तिका कार्य	84
शब्दोंके अर्थोंके चुनावमें निर्णायक मूलतत्व	293
शब्दोंके मूल धातु	276
शम् और शर्मका अर्थ	67
शान्ति, आनन्द और पूर्ण तृप्ति	52
शाश्वत सत्य	181
शिशु—मन और शरीरकी क्रियाओंसे उत्पन्न दिव्य शक्ति	419
शुद्ध मनका व्योम्	29
शुद्ध महाप्राण—ह्	283
शुनी (अन्तर्ज्ञान)	20
शुनःशेप	24
—उसकी वरुणसे प्रार्थना	167
'श्रवस्'का अर्थ	340
श्रीअरविन्द और वेद	94, 350, 372-74
—उनकी व्याख्या-पद्धति	350
—उनकी वेद-शब्द-व्याख्या सच्चे भाषाविज्ञानपर आधारित	373
—उनकी व्याख्यामें समग्र दृष्टि	372
—उनके द्वारा प्रतिपादित 'वेद-रहस्य'की मौलिकता	374
—तत्कृत मन्त्रार्थका अर्थ-गौरव	94
श्वेत अश्व	29

स

संकल्पशक्तिका स्वरूप—वैदिक दृष्टिसे	5,26,27,322
—उसका कार्य	28,29,122
संधि	287
—कठोर और कोमल ध्वनियोंमें	287
—महाप्राण अक्षरों और विशेष-विशेष व्यंजनोंमें	287

विषय	पृष्ठसंख्या
संबद्ध शब्दजातियाँ	278
संयम-पतञ्जलिप्रोक्त	331
संयुक्त स्वर	284
संरचनात्मक ध्वनियाँ	290
——उनकी रचना	290
संवृत ध्वनियाँ	283
संस्कृतभाषा	270,282-84,289, 324-25
——उसका 'संस्कृत' नाम पड़नेका कारण	325
——देवभाषा	324
——उसका आधार सार्वभौम, सनातन	325
——भाषामात्रकी जननी	325
——उसकी वर्णमाला	282
——नियमित, सममित, प्रणालीबद्ध	283
——वैज्ञानिक बुद्धिकी सृष्टि	283
——उसकी संरचना शक्ति-शाली	282,289
——उसकी गाणितिक पूर्णता और वैज्ञानिक नियमितता	282
——उसके स्वरों और व्यंजनोंमें विशेष अविच्छेद्य शक्ति	324
——उसका प्रत्येक स्वर व व्यंजन सार्थक	324
——उसकी भव्य सुस्वरताएँ	284
——उसकी ध्वनियाँ मन्त्रोंके आधार और प्रभाव-स्रोत	324
——उसके स्वर-व्यंजनोंसे प्राथमिक और द्वितीयस्थानीय धातुओंकी उत्पत्ति	325
——उसके और तामिलके शब्दोंकी समानता	270
——उसमें अपभ्रंशजनक प्रवृत्ति	287
सगुण सत्	315
सच्चिदानन्द	305, 315
——उसका ईश्वर-रूप	315
——उसका अधिष्ठातृत्व	315
——उसका विश्वमें प्रवेश	315
——उसकी प्राप्तिका उपाय	305
सत्——अहैतुक	319
सत् और चित्	156
'सत्'के घटक तत्त्व और हमारे अंदर उनका मेल	15
सत्ता	40, 65, 93, 99, 128, 216
——उसका समुद्र	216
——उसका विशाल विधान	93
——उसके सात तत्त्व और पुराणोंके सात लोक	11
——उसके तीन स्तर	40
——उसके विस्तृत स्तर और कुटिल स्तर	65
——उसके तीसरे स्तरका उद्घाटन	99
——उसका बल	26
——उसके प्रबल प्रवाहोंका वर्षण	128
सत्——**महासत्यम्** और महाब्रह्म	328
सत्य	21-23, 37, 48, 61, 125-26, 128, 138, 152, 180, 185, 189, 203, 204, 223, 331
——उसका सूर्य	20, 126
——उसका सौर लोक (सत्यलोक)	48,61,189
——उसकी चेतना (सत्यचेतना) और इसकी पाँच शक्तियाँ, मही (भारती), इडा, सरस्वती, सरमा, दक्षिणा	22,203
——उसके विधान	185
——उसका स्तर	37
——उसकी शक्ति	37

विषय	पृष्ठसंख्या
—उसकी ऋतुएँ (दिव्य या आर्य क्रियाएँ)	128
—उसकी सत्ताकी ओर प्रयास	223
—उसके और वेदके स्वतः-प्रकाशका साधन	331
—उसका पथ	152
—उसे अधिकृत करनेकी प्रक्रिया	23
—उससे उषाकी उत्पत्ति	138
—उसकी नदियोंका अवतरण	204
—उसकी स्तुति	180
—उसकी और अंधकारकी शक्तियोंके बीच युद्ध	125
सत्यम्, ऋतम्, बृहत्	191,344
सत्यम्—परब्रह्म अर्थात् सत्य या महाकारण	330
सत्ययुगका स्वरूप	327
सत्य-सचेतन आत्मा	27
सनातन देवोंकी मुख्य शक्तियाँ	175
सप्त अवनयः—सात पृथिवियाँ, सात स्तर	420
'स' प्रत्ययका अर्थ	337
समान मातृधातु	278
समान शब्दपरिवार	278
समान शब्दवंश	283
समुद्रीय आकाश	160
सम्राट् (आत्मगत और बहिर्गत सत्ताका शासक)	165,186
सरमा	3,22
सर्वताति और देवताति—वैश्व और दिव्य सत्ताका निर्माण	205
सर्वांगीण पूर्णताकी सिद्धिके करण	146
सर्वोच्च उषाका उदय	136
सर्वोच्च सत्ता	199
सविता देव	130,144-45,178
—ऋतका स्रष्टा (सत्यका सर्जक)	145
—उसके कार्य	145,301
सहस्र-संख्या परिपूर्णताका प्रतीक	139
सहैतुक तपस्	322,334
—मनोविज्ञानकी भाषामें	322
सात लोक, सात तत्त्व	30
सायण	348-49,351,368,372-73
—उसका वेदभाष्य	294
—उसकी की हुई अग्निकी व्याख्या	213
—उसकी व्याख्याके दोष	348,349
—उसकी व्याख्याकी विवेक-हीनता	368
—उसके भाष्यका परिणाम	372,373
—उसके और यूरोपीय विद्वानोंके भाष्योंकी तुलना	373
—उसके और श्रीअरविन्दके किये मन्त्रार्थोंकी तुलना	94
सिद्धिप्राप्त आत्माके लक्षण	29-30
सीधी-सरल प्रेरणा	203
सुमति	172,194,207
सुरा	19
सूक्ष्म अन्न	318
सूक्ष्म प्राण	318
सूर्य	20,21,127,129-134,140, 142,167,227,235,301
—द्युलोकका पुत्र	133
—सत्यकी परम ज्योति	129,131
—उसके सत्यकी चार शक्तियाँ, वरुण, मित्र, अर्यमा, भग	21
—उसकी उच्चतर एवं उच्चतम ज्योति	131
—उसकी ज्योति और अन्तर्दृष्टि	132
—सविता स्रष्टा	133

विषय	पृष्ठसंख्या
—आन्तरिक लोकोंका स्रष्टा	227
—ज्ञानका अधिपति और स्रोत	131,142,227
—प्रकाशक विचारका प्रेरक	133
—परम शब्दका वक्ता	133
—यज्ञका नियन्ता	227
—एक स्वर्णिम जहाज	131
—उसके गोयूथ	20
—उसके कार्य, ज्योतिर्मय दृष्टि और ज्योतिर्मय सृष्टि आदि	129, 132, 134, 301
—उसके चलनेका पथ	167
—उसका आवाहन	132
—उसका संवर्धक पूषाके रूपमें प्रकट होना	140
—उसका 'मित्र' देवके रूपमें प्रकट होना	227
—इस शब्दका अर्थ और भावार्थ	129,130,132, 134,301
सोम	7,21,234,235,312,321
—आनन्द-मदिरा	7,312
—उस (आनन्द-मदिरा) के धारक मनोलोक और भूलोक	312
—तार्किक बुद्धि	321
सौर गाथा	296
सौर देवों—वरुण, मित्र, अर्यमा, भग—के कार्य	147
स्त्रीलिङ्गी शक्तियाँ (ग्नाः)	22
स्वधा	66
'स्वधिति'का दोहरा अर्थ	66
स्वर्	43,98,152,197,329,344
—प्रकाशका लोक	87,197
—विशुद्ध दिव्य मन	43
—उसकी अन्तःप्रेरणाएँ ही वरुणके गुप्तचर	98
स्वर्ग चन्द्रलोकका आधार	329
स्वर् या सूर्यलोक	344
स्वर्लोक—सत्यलोकका रूपक	152
स्वर—शुद्ध और विकृत	282-83
स्वराज्य वा साम्राज्य—पूर्ण-आन्तरिक राज्य	309
—उसके अधिष्ठाता इन्द्र-वरुण	309
स्वराट् और सम्राट् (आत्म-शासक और सर्वशासक)	165,166
स्वरोंके अंदर निहित अर्थसूचक प्रवृत्ति	293
'स्वर्णर' अतिचेतन स्तरकी एक शक्ति	98
'स्वेद' शब्दका दोहरा भाव	65

ह

हंस—जीव	319
—और परब्रह्म	319
'ह्' व्यंजनके मूल गुण (अर्थ)	332
हमारी सत्ता पर्वत-सदृश	216
'हवि' और 'हव'का अर्थ	333
हृदय (हृत्)	318
होता	356
—उसका अर्थ	333,358
—उसका प्रचलित अर्थ	332
—इस शब्दकी व्युत्पत्ति	332
होता और ब्रह्मा—अग्नि और बृहस्पति	336

अनुक्रमणिका IV

मन्त्रानुक्रमणी

('वेद-रहस्य'के उत्तरार्द्धमें आये मन्त्रों एवं मन्त्रांशोंकी वर्णानुक्रमणी)

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मं.	पृ. सं.
अ				
अंहोयुवस्तन्व०	V.	15.	3	89
अक्रविहस्ता	V.	62.	6	183
अग्न ओजिष्ठम्	V.	10.	1	74
अग्नि विश्वा	I.	71.	7	402
अग्नि स्तोमेन	V.	14.	1	86
अग्नि होतारं	I.	127.	1	410
अग्निः पूर्वेभि	I.	1.	2	302, 303, 337, 377
अग्नि घृतेन	V.	14.	6	87
अग्निनाग्निः	I.	12.	6	380
अग्निना तुर्वशम्	I.	36.	18	388
अग्निना रयिम्	I.	1.	3	302, 303, 338, 377
अग्नि तं मन्ये	V.	6.	1	58
अग्नि दूतं वृणी०	I.	12.	1	379
अग्निमग्नि	I.	12.	2	379
अग्निमच्छा	V.	1.	4	35
अग्निमीळेन्यं	V.	14.	5	87
अग्निमीळे	I.	1.	1	301, 303, 313, 335, 377
अग्निरीशे	IV.	55.	8	158
अग्निर्जातो	V.	14.	4	87
अग्निर्जुषत	V.	13.	3	84
अग्निर्ददाति	V.	25.	6	113
अग्निर्देवेषु	V.	25.	4	112
अग्निर्नो यज्ञमुप०	V.	11.	4	78
अग्निर्हि वाजिनं	V.	6.	3	59
अग्निर्होता कवि०	I.	1.	5	303, 348, 378
अग्निर्होतादास्व०	V.	9.	2	71
अग्निर्होता न्यसी०	V.	1.	6	36
अग्निस्तुविश्रव०	V.	25.	5	112
अग्ने कदा त	IV.	7.	2	363
अग्ने चिकिद्धय०	V.	22.	4	107
अग्ने त्वं नो	V.	24.	1	110
अग्ने देवाँ इहावह	I.	12.	3	379
अग्ने नेमिरराँ	V.	13.	6	85
अग्ने पावक	V.	26.	1	115
अग्ने यं यज्ञ-मध्वरम्	I.	1.	4	302, 303, 339, 377
अग्ने विश्वेभिरा	V.	26.	4	116
अग्ने शर्ध महते	V.	28.	3	123
अग्ने शुक्रेण	I.	12.	12	381
अग्ने सहन्तमा०	V.	23.	1	108
अग्ने सुखतमे रथे	I.	13.	4	382

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृष्ठ
अग्नेःस्तोमं मना०	V.	13.	2	84
अच्छा वो अग्निम्	V.	25.	1	111
अजो न क्षां दाधार	I.	67.	3	396
अतारिष्म तमसः	I.	92.	6	138
अतूर्तपंथाः	X.	64.	5	176
अतो विश्वान्यद्भुता	I.	25.	11	166
अथा ते अंगिर०	I.	75.	1	310
अद्रिभिः सुतो	X.	75.	4	234
अध स्वचनादुत	I.	94.	11	249
अध स्म यस्यार्चयः	V.	9.	5	72
अध स्मा नो	V.	54.	6	244
अधारयत पृथिवीं	V.	62.	3	182
अध हि काव्या	V.	66.	4	197
अधा ह्यग्न एषाम्	V.	16.	4	90
अधि श्रियं	I.	72.	10	406
अधीवासं परिमावृ	I.	140.	9	421
अनमीवासः	III.	59.	3	172
अनस्वन्ता	V.	27.	1	118
अनुकामं तर्पयेथा०	I.	17.	3	307
अनुश्रुताममतिं	V.	62.	5	182
अपत्यं परि०	I.	42.	3	143
अप नः शोशुचद्	I.	97.	1	251
अपां मध्ये	VII.	89.	4	163
अबुध्ने राजा	I.	24.	7	167
अबोधि होता	V.	1.	2	34
अबोध्यग्निः	V.	1.	1	33
अभि द्विजन्मा	I.	140.	2	418
अभि प्रियाणि	IX.	75.	1	233
अभि ये त्वा	V.	79.	4	221
अभि विश्वानि	IX.	42.	5	236
अभी नो अग्न	I.	140.	13	423
अभ्यवस्थाः	V.	19.	1	99
अयं मित्रस्य	I.	94.	12	250
अयमिह प्रथमो	IV.	7.	1	358
अयुक्त सप्त	VII.	60.	3	237
अर्चन्तस्त्वा	V.	13.	1	84
अर्यम्यं वरुण	V.	85.	7	214, 218
अर्वद्भिरग्ने	I.	73.	9	409
अव द्युतानः	IX.	75.	3	234
अव वेदि	VII.	60.	9	239
अव स्पृधि पितरं	V.	3.	9	47
अव स्म यस्य	V.	7.	5	64
अवोचाम कवये	V.	1.	12	38
असंमृष्टो जायसे	V.	11.	3	78
अस्माकमग्ने	V.	4.	8	52
अस्य ऋत्वा	I.	140.	10	422
अस्मे वत्सं परि०	I.	72.	2	404
अस्य वासा उ	V.	17.	3	94
अस्य स्तोमे	V.	16.	3	91
अस्य हि स्वयश०	V.	17.	2	93

आ

आ चिकितान	V.	66.	1	196
आ जुहोता दुवस्यत	V.	28.	6	123
आ ते अग्न इधी०	V.	6.	4	60
आ ते अग्न ऋचा	V.	6.	5	60
आदस्य ते ध्वस०	I.	140.	5	419
आदित् ते विश्वे	I.	68.	2	395
आद्य रथं भानुमो	V.	1.	11	37
आ नो गन्तं	V.	71.	1	209
आ मित्रे वरुणे	V.	72.	1	211
आ नो मित्र	V.	64.	5	191
आ पर्वतस्य	IV.	55.	5	157
आ पूषञ्चित्रबर्हिः०	I.	23.	13	141
आ यज्ञैर्देव मर्त्य	V.	17.	1	93
आ यदिषे नृपतिं	I.	71.	8	402
आ यद्योनिं हिर०	V.	67.	2	200
आ यद्वामीयचक्षसा	V.	66.	6	198
आ यस्ते सर्पिरासुते	V.	7.	9	66
आ ये विश्वा स्व०	I.	72.	9	406

मन्त्र प्रतीक-संख्या	मं.	सू.	मन्त्र	पृष्ठ संख्या
आ रोदसी बृहती	I.	72.	4	404
आ वामाश्वासः	V.	62.	4	182
आ श्वैत्रेयस्य	V.	19.	3	100
आयुर्विश्वायुः परि	X.	17.	4	144
इ				
इति चिन्मन्यु०	V.	7.	10	67
इत्था यथा न ऊतये	V.	20.	5	103
इदमग्ने सुधितम्	I.	140.	11	422
इन्द्रः सहस्रदाव्नां	I.	17.	5	307
इन्द्राग्नी शतदाव्नि	V.	27.	6	121
इन्द्रावरुण नू नु	I.	17.	8	308
इन्द्रावरुणयोरहं	I.	17.	1	307
इन्द्रावरुण वामहं	I.	17.	7	307
इमं स्तोममर्हते जा०	I.	94.	1	246
इमं स्तोमं सक्रतवो	II.	27.	2	159
इमामू ष्वासुरस्य	V.	85.	5	213, 217
इमामू नु कवि०	V.	85.	6	214, 218
इमे चेतारो	VII.	60.	5	238
इमे दिवो अनि०	VII.	60.	7	240
इमे मित्रो वरुणो	VII.	60.	6	238
इमे यामासस्त्व०	V.	3.	12	48
इयं देव पुरो०	VII.	60.	12	240
इरावतीर्वरुण	V.	69.	2	205
इळा सरस्वती	V.	5.	8	56
ई				
ईळितो अग्न आ०	V.	5.	3	54
उ				
उच्छन्त्यां मे यजता	V.	64.	7	191
उत नो गोमतीरिषः	V.	79.	8	222
उत यासि सवित०	V.	81.	4	228
उत स्म ते परु०	V.	52.	9	243
उत स्म दुर्गृभीयसे	V.	9.	4	72
उत स्म यं शिशुं	V.	9.	3	72
उत स्वानासो	V.	2	10	42
उतेशिषे प्रसवस्य	V.	81.	5	229
उदीर्ध्वं जीवो	I.	113.	16	140
उद्वां पृक्षासो	VII.	60.	4	238
उद्वयं तमसस्परि	I.	50.	10	131
उनत्ति भूमिं	V.	85.	4	213, 217
उप त्वाऽग्ने दिवे	I.	1.	7	303, 378
उरुं गभीरं जनु०	III.	46.	4	312
उरुं हि राजा	I.	24.	8	167
उषो मघोन्यावह	IV.	5.	9	158
उप नः सुतमा	V.	71.	3	209
उप प्र जिन्वन्	I.	71.	1	400
उभे सुश्चन्द्र	V.	6	8	61
उषः प्रतीची	III.	61.	3	138
उषो देव्यमर्त्या	III.	61.	1	138
उषो वाजेन	III.	61.	2	139
ऊ				
ऊर्णम्रदा वि प्रथ०	V.	5.	4	55
ऊर्ध्वं ऊ षु णो ऊतये	I.	36.	13	386
ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो	I.	36.	14	387
ऋ				
ऋतं चिकित्वः	V.	12.	2	81
ऋतमृतेन	V.	68.	4	203
ऋतस्य गोपावधि	V.	63.	1	186
ऋतस्य जिह्वा	IX.	75.	2	233
ऋतस्य देवा अनु०	I.	65.	2	389
ऋतस्य प्रेषा ऋत०	I.	68.	3	395
ऋतस्य बुध्ने	III.	61.	7	139
ऋतस्य हि धेनवो	I.	73.	6	408

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ. सं.
ऋतावानं विचे०	IV.	7.	3	366
ऋतेन ऋनं धरुणं	V.	15.	2	88
ऋतेन ऋतमपि हितम्	V.	62.	1	148, 181
ऋतेन मित्रावरु०	I.	2.	8	170
ए				
एतं ते स्तोमं	V.	2.	11	43
एता ते अग्न उच०	I.	73.	10	410
एतावद्वेदुषस्त्वम्	V.	79.	10	223
एदं मरुतो अश्वि०	V	26.	9	117
एवाँ अग्नि वसूयवः	V.	25.	9	113
एवाँ अग्निमजुर्यं०	V.	6.	10	62
एवा ते अग्ने	IX.	27.	3	120
एष प्रत्नेन	VII.	42.	2	235
एष स्य मित्रा०	V.	60.	2	237
एषा गोभिररुणे०	V.	80.	3	224
एषा जनं दर्शता	V	80.	2	224
एषा प्रतीची	V.	80.	6	225
एषा व्येनी. भवति	V.	80.	4	225
एषा शुभ्रा न	V.	80.	5	225
ऐ				
ऐषु धा वीरवद्	V.	79.	6	222
क				
कमेतं त्वं युवते	V.	2.	2	40
कया नो अग्न	V.	12.	3	81
कविमग्निमुप	I.	12.	7	380
कवी नो मित्रा०	I.	2.	9	170
कस्ते जामिर्जना०	I.	75.	3	310
कितवासो यद्रिरिपुर्न	V.	85.	8	214, 218
कुत्रा चिद्यस्य	V.	7.	2	63
कुमारं माता	V.	2.	1	39,
कृष्णप्रुतौ वेविजे	I.	140.	3	491
के ते अग्ने रिपवे	V.	12.	4	82
के मे मर्यकं	V.	2.	5	41
को नु वां मित्रा०	V.	67.	5	200
को वस्त्राता	IV.	55.	1	157
को वेद जान०	V.	53.	1	243
ऋत्वः समह	VII.	89.	3	163
क्रीळन् नो रश्मे	V.	19.	5	100
क्षेत्रादपश्यम्	V.	2.	4	40
क्षेमो न साधुः	I.	67.	1	393
ग				
गन्तारा हि	I.	17.	22	307
गर्भो यो अपांगर्भः	I.	70.	2	398
गूहता गुह्यं तमो	I.	86.	10	297
गोमन्नः सोम.	IX.	42.	6	237
गोषु प्रशस्ति	I.	70.	5	399
घ				
घनेव विष्व ग्वि	I.	36.	16	387
घृताहवन	I.	12.	5	380
घ्नन्तो वृत्रमतरन्	I.	36.	8	385
च				
चिकित्विन्मनसम्	V.	22.	3	107
चित्तिरपां दमे	I.	67.	5	394
चित्रा वा येषु	V.	18.	4	97
ज				
जनयन् रोचना	IX.	42.	1	235
जनस्य गोपा	V.	11.	1	77
जनासो अग्निं	I.	36.	2	383
जनिष्ट हि जेन्यो	V.	1.	5	35
जामिः सिन्धूनां	I.	65.	4	390
जुषस्व सप्रथस्तमं	I.	75.	1	310
जुषस्वाग्ने इळया	V.	4.	4	50

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ.सं.
जुष्टो दमूना:	V.	4.	5	51
जुहुरे वि चित०	V.	19.	2	99
त				
त आदित्यास:	II.	27.	3	150
तं वश्चराथा	I.	66.	5	392
तं वो दीर्घायु०	V.	18.	3	97
तं हि शश्वन्त:	V.	14.	3	86
तं घेमित्था	I.	36.	7	385
तत्ते भद्रं यत्	I.	94.	14	250
तत्सवितुर्वरेण्यं	III.	62.	10	144
तत्सु न: सविता	V.	55.	10	158
तत्सु वां मित्रा०	V.	62.	2	181
तदूतं पृथिवि	V.	66.	5	197
तं त्वा घृतस्नवी०	V.	26.	2	115
तं त्वा नरो	I.	73.	4	408
तं त्वा शोचिष्ठ	V.	24.	4	110
तं नो अग्ने अभि	V.	9.	7	73
तमग्ने पूतनाषहं	V.	23.	2	108
तमग्रुव: केशिनी:	I.	140.	8	421
तमध्वरेष्वीळते	V.	14.	2	86
तमस्य पृक्षमुप०	I.	127.	5	42
तयोरिदवसा वयं	I.	17.	6	307
तव त्ये अग्ने	V.	10.	5	75
तव त्ये अग्ने	V.	6.	7	61
तव द्युमन्तो	V.	25.	8	113
तव श्रिया सुदृशो	V.	3.	4	46
तव श्रिये मरुतो	V.	3.	3	45
तवाहमग्न ऊति०	V.	9.	6	73
ता न: शक्तं	V.	68.	3	203
तां उशतो वि बोध०	I.	12.	4	379
ता बाहवा सुचेतुना	V.	64.	2	189
ता वां सम्य०	V.	70.	2	207
ता वामियानोऽवसे	V.	65.	3	193
ता वामेषे रथानां	V.	66.	3	197
ता हि क्षत्रमवि०	V.	66.	2	197
ता हि श्रेष्ठवर्चसा	V.	65.	2	193
तिस्रो भूमीर्धार.	II.	27.	8	153
तिस्रो यदग्ने	I.	72.	3	404
तुभ्यं भरन्ति०	V.	1.	10	37
तुभ्येदमग्ने मधु०	V.	11.	5	78
तुविग्रीवो वृषभो	V.	2.	12	43
तेभ्यो द्युम्नं बृहद्	V.	79.	7	222
ते हि सत्या ऋत०	V.	67.	4	200
ते हि स्थिरस्य	V.	52.	2	242
त्रि: सप्त यद्	I.	72.	6	405
त्री रोचना दिव्या	II.	27.	9	153
त्री रोचना वरुण	V.	69.	1	204
त्वं जामिर्जनाना०	I.	75.	4	310
त्वं तस्य द्वयाविनो	I.	42.	4	143
त्वं नो अग्न एषाम्	V.	10.	3	75
त्वं हि मानुषे जने	V.	21.	2	104
त्वं हि विश्वतोमुख	I.	97.	6	252
त्वं नो अग्ने	V.	10.	7	76
त्वं नो अग्ने	V.	10.	2	74
त्वमग्ने पुरुरूपो	V.	8.	5	70
त्वमग्ने वरुणो	V.	3	1	44
त्वमग्ने सप्रथा:	V	13.	4	85
त्वमग्ने सहसा	I.	127.	9	415
त्वमध्वर्युरुत	I.	94.	6	248
त्वमङ्ग जरितारम्	V.	3.	11	48
त्वमर्यमा भवसि	V.	3.	2	45
त्वां विश्वे सजो०	V.	21.	3	105
त्वामग्न ऋतायव:	V.	8.	1	68
त्वामग्नेअङ्गिरसो	V.	11.	6	79
त्वामग्ने अतिथिं	V.	8.	2	68
त्वामग्ने धर्णसिं	V.	8.	4	69
त्वामग्ने प्रदिव:	V.	8.	7	70
त्वामग्ने मानुषी:	V.	8.	3	69
त्वामग्ने वसुपतिं	V.	4.	1	49
त्वामग्ने वाज०	V.	13.	5	85
त्वामग्ने समिधानं	V.	8.	6	70

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मं.	पृ.सं.
त्वामग्ने हवि०	V.	9.	1	71
त्वामस्या व्युषि	V.	3.	8	47
त्वे अग्ने सुमतिं	I.	73.	7	409
त्वे इदग्ने सुभगे	I.	36.	6	384
त्वेषासो अग्नेरम०	I.	36.	20	388

द

दधन्नृतं धनयन्नस्य	V.	71.	3	400
दाधार क्षेमम्	I.	66.	2	391
दुरोकशोचिः क्रतुर्न	I.	66.	3	394
दुहानः प्रत्न०	IX.	42.	4	236
दृळ्हा चिदस्मा	I.	127.	4	412
देवं वो देवयज्यया	V.	21.	4	105
देवासत्वा वरुणो	I.	36.	4	384
देवीर्द्वारो विश्र०	V.	5.	5	55
देवो न यः पृथि०	I.	73.	3	407
देवो देवानामसि	I.	94.	13	250
देवैर्नो देव्यदितिः	IV.	55.	7	157
द्युतद्यामानं बृह०	V.	80.	1	224
द्विता यदीं कीस्ता०	I.	127.	7	414
द्विताय मृक्तवाहसे	V.	18.	2	97
द्विषो नो विश्वतो०	I.	97.	7	252

ध

धर्मणा मित्रा०	V.	63.	7	188
धारयन्त आदि०	II.	27.	4	150

न

नकिष्ट एता व्रता	I.	69.	4	397
न त्वद्धोता पूर्वो	V.	3.	5	46
न दक्षिणा विचि०	II.	27.	11	149
न नूनमस्ति नो	I.	170.	1	148
नमो मित्रस्य वरु०	X.	37.	1	133
नराशंसः सुष्टुदति	V.	5.	2	25
नराशंसमिह प्रियम्	I.	13.	3	438
नवा नो अग्न आ	V.	6.	8	61
न स जीयते मरुतो	V.	54.	7	124
न हि ते क्षत्रं न	I.	24.	6	165
नाभाकस्य	VIII.	41.	2	161
नि काव्या वेधसः	I.	72.	1	403
नित्वामग्ने मनुर्दधे	I.	36.	19	388
नि षसाद धृतव्रतो	I.	25.	10	162
नीचीनबारं वरुणः	V.	85.	3	213,
नू न इद्धि वार्य०	V.	17.	5	95
नू न एहि वार्यं	V.	16.	5	92
नू नो अग्न ऊतये	V.	10.	6	76
नू रोदसी अहिना	IV.	55.	6	157
नृचक्षसो अनि०	X.	63.	4	153
न्यग्नि जातवेदसं	V.	26.	7	116
न्यग्नि जातवेदसं	V.	22.	2	106

प

परायतीनामन्वेति	I.	113.	8	136
परि सोम	IX.	75.	5	234
पश्वा न तायु	I.	65.	1	389
पातं नो रूद्रा	V.	70.	3	208
पाहि नो अग्ने	I.	36.	15	387
पितुर्न पुत्राः क्रतुम्	I.	68.	5	396
पुत्रो न जातो रण्वो	I.	69.	3	397
पुरूरुणा चिद्ध्यस्ति	V.	70.	1	207
पुष्टिर्न रण्वा	I.	65.	3	390
पूर्वो देवा भवतु	I.	94.	8	248
पूर्वी हि गर्भः	V.	2.	2	295
पूषन्ननु प्र गा	VI.	54.	6	141
पूषा गा अन्वेतु	VI.	54.	5	141
पूषा राजानमाघृणिः	I.	23.	14	141
पूषेमा आशा अनु	X.	17.	5	144
प्र णु त्यं विप्र०	V.	1.	7	36
प्र त्वा दूतं वृणीमहे	I.	36.	3	383
प्रपथे पथामजनि०	X.	17.	6	144
प्र पस्त्यामदितिं	IV.	55.	3	157

मन्त्र प्रतीक	संख्या मं.	सू.	पृष्ठ-संख्या मन्त्र	
प्र मात्राभी रिरि.	III.	46.	3	311
प्र यज्ञ एत्वानुषक्	V.	26.	8	117
प्र यत्ते अग्ने सूरयो	I.	97.	4	252
प्र यदग्नेः सहस्वतो	I.	97.	5	252
प्र यद्धन्दिष्ठ एषाम्	I.	97.	3	252
प्र ये धामानि	IV.	55.	2	157
प्र वामश्नोतु	I.	17.	9	308
प्र विश्वसामन्नत्रि.	V.	22.	1	106
प्र वेधसे कवये	V.	15.	1	88
प्र वो महे सहसा	I.	127.	10	415
प्र वो मित्राय	V.	68.	1	202
प्र वो यह्वं पुरूणाम्	I.	36.	1	383
प्र श्यावाश्व	V.	52.	1	242
प्र सद्यो अग्ने	V.	1.	9	37
प्र स मित्र मर्तो	III.	59.	2	171
प्र सम्राजे बृह०	V.	85.	1	212, 215
प्र सीमादित्यो	II.	28.	4	162
प्राग्नये बृहते	V.	12.	1	80
प्राचीनमन्यदनु	X.	37.	3	132
प्रातरग्निः पुरु०	V.	18.	1	96
प्रातर्जितं भग०	VII.	41.	5	177
प्रातर्देवीमदितिं	V.	69.	3	205
प्रियं दुग्धं न	V.	19.	4	100
प्रैषामनीकं शवसा	X.	43.	4	147
प्रो त्ये अग्नयो	V.	6.	6	60

ब

बळित्था देवनि०	V.	67.	1	199
बिभ्रद् द्रापिं	I.	25.	13	167
बृहद्वयो हि भानवे	V.	16.	1	90

भ

भग एव भगवाँ	VII.	41.	5	177
भगमुग्रोऽवसे	VII.	38.	6	177
भरामेध्मं कृण०	I.	94.	4	247

मन्त्र प्रतीक	संख्या मं.	सू.	पृ. सं. मं.	
भूरि नाम वन्द.	V.	3.	10	48
भूषन्न योऽधि	I.	140.	6	420

म

मथीद्यदीं विभृतो	I.	71.	4	401
मधुमन्तं तनू०	I.	13.	2	382
मनुष्वत्त्वा नि	V.	21.	1	104
मनो न योऽध्वनः	I.	71.	9	402
मन्द्रो होता गृहपतिः	I.	36.	5	384
महद्देवानामसु०	III.	55.	1	148
महाँ असि महिष	III.	46.	2	311
महि ज्योतिर्बिभ्रतं	X.	37.	8	132
महे नो अद्य	V.	79.	1	220
महे यत्पित्र ईं	I.	71.	5	401
मा कस्यादभुत०	V.	70.	4	208
माता देवानां	I.	113.	19	137
मातेव यद्भरसे	V.	15.	4	89
मा नो अग्ने सख्या	I.	71.	10	403
मार्जाल्यो मृज्यते	V.	1.	8	36
माया वां मित्रा०	V.	63.	4	187
मित्रं हुवे पूतदक्षम्	I.	2.	7	170
मित्रश्च नो वरु०	V.	72.	3	211
मित्रो अंहोश्चित्	V.	65.	4	194
मुमुक्ष्वो मनवे	I.	140.	4	419

य

य ईशिरे भुव०	X.	63.	8	151
य ईं चिकेत गुहा	I.	67.	4	394
यच्चिद्धि ते गणाः	V.	79.	5	221
यजमानाय सुन्वते	V.	26.	5	116
यजा नो मित्रा०	I.	75.	5	311
यजिष्ठं त्वा	I.	127.	2	411
यज्ञस्य केतुं प्रथमं	V.	11.	2	77
यत्किचेदं वरुण	VII.	89.	5	164
यत्र वेत्थ	V.	5.	10	57

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ. सं.
यदङ्ग दाशुषे	I.	1.	6	303, 378
यदद्य सूर्य	VII.	60.	1	133, 237
यदयुक्था अरुषा	I.	94.	10	249
यदीं गणस्य रस०	V.	1.	3	34
यद्गोपावद्	VII.	60.	8	239
यद् बर्हिष्ठं	V.	62.	9	184
यद्वाहिष्ठं तद्	V.	25.	7	113
यं त्वा देवासो	I.	36.	10	385
यन्नूनमश्यां	V.	64.	3	190
यमग्नि मेध्या०	I.	36.	11	386
यमग्ने वाजसा०	V.	20.	1	102
यं मर्त्यः पुरु०	V.	7.	6	65
यं सोममिन्द्र	III.	46.	5	312
यश्चिकेत	V.	65.	1	193
यः श्वेतां	VIII.	41.	10	168
यस्ते अग्ने	V.	12.	6	82
यस्त्वामग्ने	I.	12.	8	380
यस्त्वा हृदा	V.	4.	10	52
यस्मै त्वं सुकृते	V.	4.	11	53
यस्मै त्वं सुद्रविणो	I.	94.	15	250
यस्मै त्वमायजसे	I.	94.	2	246
यस्य प्रयाण०	V.	81.	3	228
यस्य मा परुषाः	V.	27.	5	121
यस्य श्वेता	VIII.	41.	9	168
या धर्तारा	V.	69.	4	205
यान्राये मर्त्यान्	I.	73.	8	409
यावयद्द्वेषा ऋत०	I.	113.	12	136
यासां राजा	VII.	49.	3	162
या सुनीथे शौच०	V.	79.	2	220
युष्मस्य ते	III.	46.	1	311
युवं नो येषु	V.	64.	6	191
युवं मित्रेमं	V.	65.	6	194
युवाभ्यां मित्रा०	V.	64.	4	190
युञ्जते मन उत	V.	81.	1	227
युवाकु हि शचीनां	I.	17.	4	307
यूयं तत् सत्य०	I.	86.	9	297
ये अग्ने चन्द्र ते	V.	10.	4	75
ये अग्ने नेरयन्ति	V.	20.	2	102
ये मे पंचाशतं ददुः	V.	18.	5	98
येन सूर्य ज्योतिषा	X.	37.	14	132
यो अग्निं देववीतये	I.	12.	9	380
यो न आगो	V.	3.	7	47
यो नः पूषन्नघो	I.	42.	2	143
यो ब्रह्मणे	VII.	60.	11	240
यो म इति प्रवो०	V.	27.	4	120
यो मे शता च	V.	27.	2	119
यो विश्वतः सुप्र०	I.	94.	7	248

र

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ. सं.
रथं युञ्जते	V.	63.	5	187
रथाय नावमुत नो	I.	140.	12	422
रयिर्न चित्रा सूरो	I.	66.	1	391
रयिर्न यः पितृ०	I.	73.	1	406
राजन्तमध्वराणाम्	I.	1.	8	304, 378
रायस्पूर्धि स्वधावो	I.	36.	12	386
रुशद्वत्सा रुशती	I.	113.	2	136

व

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ. सं.
वज्रेण दस्युं प्र हि	V.	4.	6	51
वधैर्दुशंसाँ अप	I.	94.	9	249
वनेम पूर्वीर्यो	I.	70.	1	398
वनेषु जायुर्मर्तेषु	I.	67.	1	393
वनेषु व्यन्तरिक्षं	V.	85.	2	212, 216
वयं ते अग्ने	V.	4.	7	51
वयं मित्रस्यावसि	V.	65.	5	194
वयमग्ने वनुयाम	V.	3.	6	46
वरुणं यो रिशा०	V.	64.	1	189
वसो राजानं	V.	2.	6	41

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ.सं.
वसुरग्निर्वसुश्रवा:	V.	24.	2	110
वाचं सु मित्रावरु०	V.	63.	6	187
वाजो नु ते शव०	V.	15.	5	89
वातस्य पत्मन्	V.	5.	7	56
वावृधानाय	IX.	42.	3	235.
वि ज्योतिषा	V.	2.	9	42
विद्वाँ अग्ने वयु०	I.	72.	7	405
वि पृक्षो अग्ने	I.	73.	5	408
वि यो वीरुत्सु	I.	67.	5	394
विशां कविं	V.	4.	3	50
विशां गोपा अस्य	I.	94.	5	247
विश्वस्य हि प्रचे०	V.	71.	2	209
विश्वानि नो	V.	4.	5	52
विश्वा रूपाणि	V.	81.	2	228
विश्वासां त्वा	I.	127.	8	414
विश्वे हि त्वा	V.	23.	3	108
विश्वे हि विश्व०	V.	67.	3	200
वीतिहोत्रं त्वा	V.	26.	3	115
वीळु चिद् दृळ्हा	I.	71.	2	400
वृष्टिद्यावा रीत्या०	V.	68.	5	203
वृष्टिं वां राधो	V.	63.	2	174
वेदिषदे प्रिय०	I.	140.	1	418
वेधा अदृप्तो	I.	69.	2	396
व्यर्यमा वरुण:	IV.	55.	4	157
व्युच्छा दुहितर्दिवो	V.	79.	9	223
व्रतेन स्थो ध्रुव०	V.	72.	2	211

श

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ.सं.
शकेम त्वा समिधं	I.	94.	3	247
शतं ते राजन्	I.	24.	9	165
शिवस्त्वष्टरिहा	V.	5.	9	56
शुक्र: शुशुक्वाँ	I.	69.	1	396
शुचि: ष्म यस्मा	V.	7.	8	66
शुनश्चिच्छेपम्	V.	2.	7	41
श्रीणन्नुप स्थादि.	I.	68.	1	394
श्वसित्यप्सु हंसो	I.	65.	5	390

स

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ.सं.
सं यदिषो वनामहे	V.	7.	3	64
सं सीदस्व महाँ	I.	36.	9	385
सखायस्तेविषुणा:	V.	12.	5	82
सखाय: सं व:	V.	7.	1	63
संजानाना उपसी०	I.	72.	5	405
स त्वमग्ने सौभ:	I.	94.	16	251
स न स्तवान	I.	12.	11	381
स नो धीती	V.	25.	3	112
स नो नेदिष्ठं	I.	127.	11	415
स नो बोधि श्रुधी	V.	24.	3	110
स न: पावकदीदि०	I.	12.	10	380
स न: पितेव सूनवे	I.	1.	9	304, 378
स न: सिंधुमिव	I.	97.	8	253
सप्त मे सप्त	V.	52.	17	244
समानो अध्वा	I.	113.	3	136
समिद्धस्य प्र	V.	28.	4	123
समिद्धो अग्ने	V.	28.	5	123
समिद्धो अग्नि०	V.	28.	1	122
समिधान: सहस्र०	V.	26.	6	116
समिध्यमानो अमृ.	V.	28.	2	122
सम्राजा या घृत०	V.	68.	2	202
सम्राजावस्य	V.	63.	2	186
सम्राजा उग्रा	V.	63.	3	186
ससंस्तिरो विष्टर:	I.	140.	7	420
स समुद्रो	VIII.	41.	8	162
स स्मा कृणोति	V.	7.	4	64
सस्वश्चिद्धि	VII.	60.	10	239
स हि क्षपावाँ	I.	70.	3	399
स हि द्युभिर्जना०	V.	16.	2	90
स हि पुरू चिदो०	I.	127.	3	411
स हि शर्धो न	I.	127.	6	413
स हि ष्मा धन्वा०	V.	7.	7	65
स हि ष्मा विश्व०	V.	23.	4	109

मन्त्र	प्रतीक-संख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ.सं.
स हि सत्यो यं पूर्वे	V.	25.	2	111
साधुर्न गृध्नुरस्तेव	I.	70.	6	400
सा नो अद्याभरद्०	V.	79.	3	221
स नो विश्वाहा	I.	25.	12	167
सुक्षेत्रिया सुगातुया	I.	97.	2	251
सुप्रतीके वयोवृधा	V.	5.	6	55
सुसमिद्धाय	V.	5.	1	54
सुसमिद्धो न आ	I.	13.	1	382
सेनेव सृष्टामं दधा०	I.	66.	4	392
सो अग्नियों वसु०	V.	6.	2	59
स्तृणीत बर्हिरा.	I.	13.	5	383
स्व आ यस्तुभ्यं	I.	71.	6	401
स्वादिष्ठया	IX.	1.	1	312
स्वाध्यो दिव आ	I.	72.	8	405
स्वाहाग्नये वरु०	V.	5.	11	57

ह

मन्त्र	प्रतीकसंख्या मं.	सू.	मन्त्र	पृ.सं.
हये नरो मरुतो	V.	58.	8	245
हव्यवाळग्निरजरः	V.	4.	2	49
हस्ते दधानो नृम्णा	I.	67.	2	393
हिरण्यदन्तं शुचि०	V.	2.	3	40
हिरण्यनिर्णिगयो	V.	62.	7	183
हिरण्यरूपमुषसो	V.	62.	8	183
हृणीयमानो अप	V.	2.	8	41
होतारं त्वा वृणी०	V.	20.	3	102

अनुक्रमणिका V

(वेद-रहस्यके उत्तरार्द्धके मन्त्रोंके प्रायः सभी शब्दोंके अंग्रेजी और हिन्दीमें अर्थ)

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
	अ		
अंहः-युवः	बुराईको दूर रखते हुए	putting evil away	V. 15. 3
अगृभ्रन्	पकड़ सकते थे	could seize	V. 2. 4
अग्निः	अग्नि, दिव्य संकल्प	Fire, the Will	V. 6. 6
			V. 25. 4
अघम्	बुराईको	to evil	V. 3. 7
अघायतः	जो हमें अशुभ और बुराईकी ओर प्रवृत्त करना चाहता है उसका	of that which seeks to turn us to evil	V. 24. 3, 4
अघशंसे	अशुभ प्रकट करनेवालेपर	on one who expresses evil	V. 3. 7
अङक्ते	चमक उठता है	reveals, shines	V. 1. 3
अच्छ	के पास, की ओर	towards	V. 24. 1,2
अजरम्	अक्षय, जीर्ण न होनेवाली	indestructible, unaging	V. 27. 6
अजाति (उप)	प्रेरित करता हुआ आता है	drives	V. 2. 5
अजामि	बिना किसी साथीके	that which is without a fellow	V. 19. 4
अजीगः	वह खोल चुकता है	he has uncoiled	V. 1. 3
अजुर्यमुः	वे अग्रसर करते और वशमें लाते हैं	they drive and control	V. 6. 10
अज्ञातकेताः	जिनकी अनुभूतियाँ ज्ञानसे रिक्त हैं वे	they whose perceptions are void of the knowledge	V. 3. 11
अञ्जन्ति	आलोकित करते हैं	they brighten	V. 3. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अति पर्षि	तू पार ले जाता है	carriest beyond	V. 3. 11
अतूर्तम्	जिसपर आक्रमण नहीं किया जा सकता उसे	to the unassailable	V. 25. 5
अत्यम्	युद्धके अश्वको	to the steed of battle	V. 25. 6
अदब्धः	अजेय	unconquerable	V. 19. 4
अदाभ्यः	अदमनीय	the untameable	V. 5. 2
अद्याय	आस्वादन करनेके लिए	to eat, to partake	V. 1. 11
अध	पीछे	then	V. 9. 5
अधयत्	पुष्ट होता है	feeds	V. 1. 3
अधूर्षत	वे नाश कर देते हैं	they have done violence	V. 12. 5
अध्रिजः	भौतिक सत्तामें उत्पन्न हुआ हुआ	born in the material existence	V. 7. 10
अध्वरम्	यज्ञको	to a sacrifice	V. 4. 8
अनस्वन्ता	गाड़ी खींचनेवाली	that draw his wain	V. 27. 1
अनिन्द्राः	जिनके भागवत मन नहीं है वे	those who do not possess the God-mind	V. 2. 3
अनिभृष्टतविषिः	वह जिसके अन्दर विद्यमान शक्ति उसके तापसे कभी संतप्त नहीं होती	one whose force is not afflicted by his heat	V. 7. 7
अन्वविन्दन्	ढूंढ लिया	discovered	V. 11. 6
अनुक्थाः	जिनके पास शब्द नहीं है वे	those who have not the word	V. 2. 3
अन्तम्	चरम सीमाको	to the furthest limit	V. 15. 5
अन्तितः	समीपसे	from near	V. 1. 10
अप	दूर	away	V. 20. 2
अपः	जलधाराओंको	to the waters	V. 2. 11
अभिननक्षुः	वे यात्रा करते हैं	they travel	V. 15. 2
अभिभराति	वह लाना चाहता है	he seeks to bring	V. 3. 7
अभिमाति	सर्व-अभिभावक	all-besieging	V. 23. 4
अभियुजः	जो (हमपर) आक्रमण करनेके लिए प्रवृत्त होती हैं उन्हें	to all those who set themselves to attack (us)	V. 4. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अभिशस्तिम्	विरोधी आत्माभिव्यक्तिको	(to) hostile self-expression	V. 3. 7
अमर्त्यः	अमर	immortal	V. 18. 1
अरणः	कार्यकर्ता	worker	V. 2. 5
अरणी	दो क्रियाएँ	two (tinders), workings	V. 9. 3
अरातयः	विरोधी शक्तियाँ	hostile powers	V. 2. 6
अरतौ	पदार्थोंकी ऊर्ध्वमुखी विकासक्रियामें	in the upward working of things	V. 2. 1
अरुषस्य	दीप्तिमान् दिव्यकर्ताके	of the shining worker	V. 12. 2
अर्काः	प्रकाशकी वाणियाँ	voices of illumination	V. 5. 4
अर्च	स्तुतिगान कर	sing out	V. 16. 1
अर्चयः	किरणें	rays	V. 6. 7
अर्त	ऊपर उठ रहा है	rises up	V. 25. 8
अर्ये	अभीप्सा करनेवाले पर	in the aspirer	V. 16. 3
अवनीः	पोषण करनेवाली धाराएँ	fostering streams	V. 11. 5
अव स्पृधि	उद्धार कर	deliver	V. 3. 9
अश्वदावन्	हे द्रुतगतिवाले अश्वों के दाता !	O giver of the steeds of swiftness	V. 18. 3
असंमृष्टः	अपराजित	unovercome	V. 11. 3
अस्तम्	घरकी तरफ	(to) home	V. 6. 1
अस्पः	तूने मुक्त कर दिया है	thou hast rescued	V. 15. 5
अस्रिधः	जो (किसी प्रकारकी) भूल-भ्रांति नहीं करते वे	they who stumble not	V. 5. 8
आ			
आक्षितम्	जिसमें हम निवास करते हैं उसे	(to) dwelling	V. 7. 7
आगः	पाप और पथभ्रष्टता	sin & transgression	V. 3. 7
आनुषक्	अविच्छिन्न	continuous	V. 18. 2
आनृचुः	वे प्रकाशका स्तवन करते हैं	they sing the hymn of illumination	V. 6. 8

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
आशु-अश्व्यम्	अश्वके द्रुतगमनकी शक्तिको	(to) swift-galloping force	V. 6. 10
आस्ये	मुखमें	in the mouth	V. 12. 1
इ, ई			
इत्	भी	even	V. 2. 4
	केवल	alone	V. 12. 2
इति चित्	क्योंकि (इस लक्ष्यके लिए)	for	V. 7. 10
इत्था यथा	इस प्रकार ठीक तरहसे	rightly	V. 20. 4
इद्धः	प्रदीप्त	kindled	V. 1. 6
इन्दुः	आनन्दकी मधुमदिरा	wine of delight	V. 18. 2
इन्विरे	वे सरपट आगे बढ़ती हैं	they run	V. 6. 6
इयानासः	यात्रा करनेवाले	we who journey	V. 22. 3
इळा	ज्ञानके साक्षात् दर्शन की देवी	Goddess of the vision of knowledge	V. 5. 8
इषः	प्रेरणाकी शक्तियोंको	to strengths of impulsions	V. 4. 2
ईमहे	हम अभीप्सा करते हैं	we desire	V. 5. 6
ईरयन्ति	वे प्रेरित करती हैं	(they) impel	V. 20. 2
उ			
उ	वह	that	V. 1. 6
उक्षणः	प्रसार के बैल	bulls of the diffusion	V. 27. 5
उक्षितः	पुष्ट	fed to thy fill, to full might	V. 8. 7
उत्-जिहानाः (प्र)	तेजीके साथ ऊपरकी ओर जानेवाली	rushing upwards	V. 1. 1
उपमम्	उच्चतम	highest	V. 3. 3
उपस्थे	गोदमें	in the lap	V. 1. 6
उरुव्यसम्	द्रुत गतियोंमें विशाल	wide in rapidities	V. 8. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
उरुष्य	दूर रह	Keep far from	V. 24. 4
उशिज:	अभीप्सा करते हुए	desiring, aspiring	V. 3. 4
ऊ			
ऊतये	वृद्धि के लिए	for increasing	V. 5. 3
ऊर्ज:	ओजके	of energy	V. 7. 1
ऊहे	धारण किया गया है	bears	V. 3. 9
ऋ			
ऋतचित्	सत्य-सचेतन	Truth-conscious	V. 3. 9
ऋजूयते	सरलता चाहनेवाले के प्रति	to the seeker after straightness	V. 12. 5
ऋण्वति	वह गति करता है	he moves to	V. 16. 2
ऋतम्	सत्य	Truth	V. 12. 6
ऋतूनाम् ऋतुपा:	सत्यके कालों और ऋतुओंका रक्षक	guardian of the Truth	V. 12. 3
ऋत्विजम्	याजकको	to the sacrificer	V. 22. 2
ऋभु:	शिल्पी	smith	V. 7. 7
ऋषूणाम्	ज्ञान के अन्वेषकोंका	of the seekers of knowledge	V. 25. 1
ए-ओ			
एन:	पापको	to sin	V. 3. 7
ओजिष्ठम्	समग्र शक्तिसे परिपूर्ण	full of utter energy	V. 10. 1
क			
कनीनाम्	कुमारियोंका	of the virgins	V. 3. 2
कवि:	द्रष्टा	the seer	V. 1. 6
कविक्रतु:	द्रष्टा-संकल्प	the seer-will	V. 11. 4
काम्यम्	कामना करने योग्य	desirable	V. 19. 4
काव्य:	ज्ञानके विषयों द्वारा या विषयोमें	in the things of the wisdom	V. 3. 5
कृष्टय:	कर्ममें यत्नशील	those who labour at the work	V. 19. 3
केतु:	अन्तर्दृष्टि	vision	V. 11. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
क्राणा	कार्योंको सिद्ध करे	that he may accomplish works	V. 7. 8
क्षयेषु	घरोंमें	in the habitations	V. 23. 4
क्षितयः	सब लोक और उनके प्राणी	worlds and their peoples	V. 1. 10
क्षेपयत्	वह तीव्र वेगसे आगे बढ़ावे	may he shoot forward	V. 9. 7
ग			
गणस्य	सैन्यगणकी	of the hosts	V. 1. 3
गयम्	प्रगतिको	advancing	V. 10. 3
गविष्ठिरः	प्रकाशमें स्थिर	the steadfast in the Light	V. 1. 12
गाः	चमकते हुए गोयूथोंको	to the shining Herds	V. 14. 4
गुहा	गुह्य सत्ता	secret being	V. 2. 1
गृणानः	वचनोंसे स्तुति किया हुआ	hymned by the words	V. 16. 5
गोमन्तम्	प्रकाश-यूथवालेको	to one with the herds of Light	V. 4. 11
ग्रावा इव	आनंदरस सोमको पीसनेवाले पत्थरकी ध्वनिकी तरह	like the voice of the pressing stone of delight	V. 25. 8
घ			
घृतप्रसत्तः	निर्मलताओंकी ओर अग्रसर होनेवाला	who goes forward to the clarities	V. 15. 1
घृताची	निर्मलतासे देदीप्यमान	luminous with the clarity	V. 28. 1
घ्नन्	नाश करता हुआ	slaying	V. 14. 4
च			
चकानः	अभीप्सा करता हुआ	desiring	V. 27. 13
चक्रिरे	उन्होंने बनाया है	made	V. 8. 6
चक्षसे	अंतर्दर्शनके लिए	to the vision	V. 15. 4
चचक्ष	देख लिया	saw	V. 2. 8
चंद्र	हे आनंद-स्वरूप !	O Delight	V. 10. 4
चरन्तम्	संचरण करनेवालेको	to one that ranged	V. 2. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
चातयस्व (प्र)	दूर खदेड़ दे	chase	V. 4. 6
चारुतमः	सौंदर्यकी पूरी महिमा से युक्त	one in all the glory of one's beauty	V. 1. 9
चिकित्वः	हे सचेतन ज्ञाता !	O conscious knower	V. 3. 7
चिकित्वान्	ज्ञानयुक्त, सचेतन अनुभूतियोंसे युक्त	one with one's conscious perceptions	V. 2. 5
चिकित्विन्-मनसम्	सचेतन अंतर्दर्शनसे युक्त मनवालेको	(to one) having the mind of conscious vision	V. 22. 3
चिकिद्धि	जाग	awake	V. 12. 2
			V. 22. 4
,,	सचेतन रूपसे जागृत हो	awake	V. 1. 10
चिकेत	ज्ञानके प्रति जाग गया है	has awakened to knowledge	V. 27. 1
चित्	भी	even	V. 2. 5
चितयन्	जागृत करता हुआ	awakening	V. 15. 5
चितयन्तः	(सबको अपने अंदर समा लेनेवाले) ज्ञानकी ओर जागृत (मनुष्य)	(men) awakened to an embracing knowledge	V. 19. 2
चित्तम्	सचेतन आत्माको	(to) conscious soul	V: 7. 9
चित्रभानो	हे समृद्ध और विविध प्रकाशसे युक्त	O thou of the rich and varied luminousness	V. 26. 2
चित्रशोचिषम्	अतिसमृद्ध ज्वाला-वालेको	to one of richest flamings	V. 17. 2
चेतिष्ठः	अंतर्दर्शनमें सर्वोच्च	Supreme in being	V. 27. 1
चोदयत्-मति	मनःशक्तिको प्रेरित करनेवाली	to one that urges his mentality	V. 8. 6

ज

जगृभुः	उन्होंने ले लिया था	they took	V. 2. 5
जजान	वह जन्म देती है	bearest	V. 2. 2
जन्तवः	सब उत्पन्न प्राणी, मनुष्य जो संसारमें पैदा हुए हैं	all creatures born, men born in the world	V. 7. 2 V. 19. 3
जयेम	विजित या प्राप्त कर सकें	we may conquer	V. 2. 11 V. 4. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
जरद्विषम्	शत्रुओंका विनाशरूप	the destruction of enemies	V. 8. 2
जरसे	तू उपभोग करता है	thou enjoyest	V. 15. 4
जरितारम्	स्तोताको	(to) adorer	V. 3. 11
जास्पत्यम्(सं)	प्रभु और उसकी सहचरी शक्तिके एकत्वको	to union of the Lord and his spouse	V. 28. 3
जागृवि:	जागरूक	wakeful	V. 11. 1
जातवेद:	हे सभी उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता !	O knower of the births	V. 4. 4
जातै: (नृभि:)	अपने अंदर उत्पन्न (देवोंके) द्वारा	by (the godheads) born in them	V. 15. 2
जाम्यो:	दो साथियोंका	of the two companions	V. 19. 4
जुषत	वह प्रेमसे स्वीकार करे	he may accept with love	V. 13. 3
जुषस्व	दृढ़तापूर्वक सेवन कर (हृदयसे)	cleave in heart	V. 4. 8
जुष्ट:	प्रिय	beloved	V. 13. 4
	प्रिय व स्वीकृत	loved & accepted	V. 4. 5
जुह्वरे	वे हवि डालते हैं	they cast (in thee) the offering	V. 19. 2
जुह्वभि:	हविकी ज्वालाओंसे	with the flames of the offering	V. 1. 3
जुहोत	हविरूप भेंट डालो	cast the offering	V. 28. 6
जुहोतन	आहुति दो	offer	V. 5. 1
जुह्वति (स्वेदम्)	वे (पसीना) बहाते हैं	they cast (the sweat of toil)	V. 7. 5
जेतारम्	सदा विजय प्राप्त करनेवालेको	to ever-conquering one	V. 25. 6
जेन्य:	विजयी	victorious	V. 1. 5
जोषयासे	तू स्वीकार करने और दृढ़तासे पकड़े रहनेके लिए प्रेरित करता है	thou makest to accept & cleave to	V. 3. 10
जोहवीमि	मैं पुकारता हूँ	I call	V. 4. 10

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
ज्योतिषा	प्रकाशसे, ज्योतिसे	with the light	V. 2. 9 V. 14. 4
ऋयांसि	द्रुतगतिशील प्रगतियाँ	speeding movements	V. 8. 7
त			
ततान (आ-)	वह निर्माण करता है	he shapes	V. 1. 7
तत्-ओजाः	उस सामर्थ्यसे युक्त	having that force	V. 1. 8
तमः	अंधकार	the darkness	V. 14. 4
तरीषणि	लांघकर पारकर जाएँ	may these traverse	V. 10. 6
तायुः (न)	चोर (की भांति)	a thief (like)	V. 15. 5
तिग्म-आयुधाः	तीक्ष्ण शस्त्रवाले	sharp-weaponed	V. 2. 10
तिग्माः	तीव्र	keen	V. 19. 5
तु	भी	even	V. 2. 7
तुजा	प्रेरणायुक्त शक्तिसें	with the impelling force	V. 17. 3
तुतुर्यात्	छिन्न-भिन्न करता हुआ आगे निकल जाएगा	shall break through	V. 15. 3
तुर्याम	पार हो जाए	we may traverse	V. 9. 6
तुविग्रीवः	शक्तिशाली ग्रीवा-वाला	strong-necked	V. 2. 12
तुविजात	हे अनेक आकारोंमें जन्म लिए हुए।	O born in many forms	V. 2. 11
तुविजातस्य	मेरे अनेक जन्मोंकी	of (my) many births	V. 27. 3
तुविब्रह्माणम्	आत्माकी अनेक अंतर्ध्वनियोंसे भरपूर उसको	(to one) teeming with the many voices of the soul	V. 25. 5
तुविश्रवस्तमम्	अनेक अंतःप्रेरणा-ओंसे परिपूर्ण उसको	(to one) teeming with the many inspirations	V. 25. 5
तुवि-स्वनसम् (तुविष्वणसम्)	अनेकानेक वाणियों की वर्षा करनेवालेको	(to one) pouring the multitude of voices	V. 8. 3
तुविस्वनि	अनेकों वाणियोंकी ध्वनिमें	in the sound of many voices	V. 16. 3
तृन्धि (अनु-)	काटकर प्रवाहित करदे	cleave out	V. 2. 2
त्मना	अपने आपही, अपनी सत्ताके द्वारा	of itself with (thy) self	V. 10. 4 V. 15. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
त्रसदस्युः	दस्युओंको दूर भगानेवाला	the disperser of the destroyers	V. 27. 3
त्राता	उद्धारक	deliverer	V. 24. 1
त्र्यरुणः (त्रि-अरुणः)	तीन प्रकारकी उषावाला	of the triple dawn	V. 27. 1
त्र्याशिरः (त्रि-आशिरः)	तीन प्रकारके अंतर्मिश्रणोंसे युक्त	one with triple infusions	V. 27. 5
त्रितः	तीसरा आत्मा	the third soul	V. 9. 5
त्रिवरूथेन	तीन कवचोंसे वेष्टित (शान्तिसे)	by triple-armoured (peace)	V. 4. 8
त्रिषधस्थे	सत्रके त्रिविध लोकमें	In the triple world of the session	V. 11. 2
त्रैवृष्णः	त्रिविध वृषभका पुत्र	son of the triple Bull	V. 27. 1
त्वा-ऊताः	तुझसे पोषित	fostered by Thee	V. 3. 6
त्वा-दातम्	तेरे उपहारके रूपमें प्राप्त	received as thy gift	V. 7. 10
त्वादूतासः	तुझे दूत बनानेवाले	having thee for messenger	V. 6. 8
त्विषिः	आभा	blaze of light	V. 8. 5
त्वेषम्	प्रखर-दीप्त	keen and burning	V. 8. 6
द			
दक्षस्य	विवेकशील मनका, विवेकबलका	of discering mind, of discerning power	V. 18. 2 V. 10. 2 V. 20. 3
दक्षिणा	विवेक करनेवाली देवी	the goddess who discerns	V. 1. 3
दग्धासि	तू निगल जाता है	thou devourest	V. 9. 4
ददत्	प्रदान करे	may he give	V. 27. 4
दधत्	स्थापित करे, वह प्रतिष्ठित करे	let him place, he may establish	V. 14. 1 V. 6. 10
दधात (नि-)	अपने अंदर स्थापित कर	set within thee	V. 22. 2
दधाति	वह धारण करता है	he holds	V. 3. 10
दधुः (नि)	उन्होंने छिपा रखा है	is hidden (within mortals)	V. 2. 6
दधे	वह रखता है	he holds	V. 23. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
दभ:	(सब वस्तुओं को) पैरों के नीचे कुचलने-वाला	one who tramples all things	V. 19. 4
दमूना:	स्थायी निवास करनेवाला	domiciled	V. 4. 5
दमूनसम्	(हमारे अंदर) स्थिर वास करनेवालेको	(to one) domiciled in (us)	V. 8. 1
दमे-दमे	घर-घर में	in home and home	V. 6. 8
दम्पती	प्रभु और उसकी वधूको	(to) the Lord and his spouse	V. 3. 2
दर्वी	कड़छे	both ladles	V. 6. 9
दशस्यन्त	वे सम्यक् विभाग करते हैं	they distribute	V. 3. 4
दस्म	हे कार्योंको संपन्न करनेवाले !	O achiever of works	V. 6. 5
दस्मस्य	सब कुछ सिद्ध करने-वाली शक्तिसे संपन्न (उस अग्निका)	of one who has the achieving power	V. 17. 4
दस्युम्	विभाजकको	divider	V. 4. 6
दाति (आ)	वह टुकड़े-टुकड़े कर देता है	that teareth to pieces	V. 7. 7
दाना:	भेंटें	gifts	V. 27. 5
दाशुषे	हविर्दाताको,	to the giver of sacrifice	V. 25. 5
	हवि देनेवालेको	to one who gives the offering	V. 3. 1
दास्वत:	समर्पण करनेवालेका	of one who gives the offering	V. 9. 2
दिदीहि (सं-)	प्रज्वलित करो (पूरी तरह)	kindle altogether	V. 4. 2
दिवि	द्युलोकमें	in heaven	V. 27. 6
दिवश्चित्	द्युलोकमें भी	even in hea en	V. 10. 4
दिविस्पृशा	द्युलोकको स्पर्श करनेवाली	touching the heaven	V. 11. 1
दिवे-दिवे	दिन-प्रतिदिन	day by day	V. 20. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर-कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
दीदिवः	हे ज्योतिर्मय !	O shining one	V. 24. 3, 4
दीदिहि	चमक	shine out	V. 23. 4
दीधितिः	विचारका समृद्ध प्रकाश	rich light of the thought	V. 18. 4
दीर्घायु-शोचिषम्	दूर-दूर विस्तृत सत्ता-की विशुद्ध ज्वाला-रूप (तुझे)	to the pure flame of the far-extending existence	V. 18. 3
दुरेवाः	बुरी चालवाली	of an evil movement	V. 2. 9
दुर्गहा	प्रत्येक कठिन चौराहे परसे	over every difficult crossing	V. 4. 9
दुर्गृभीयसे	तू कठिनाईसे पकड़में आता है	thou art hard to seize	V. 9. 4
दुरोणे	नव द्वारोंवाले घरमें	in gated dwelling	V. 4. 5
दुवस्यत	अपने कार्योंसे सेवा करो	serve with your works	V. 28. 6
दुस्तरम्	अविनश्वर	indestructible	V. 15. 3
दूतम्	दूतको	(to) messenger, envoy	V. 3. 8 V. 8. 6
देवः	देव	godhead	V. 8. 4
देवत्रा	देवताओंमें	in the gods	V. 20. 1
देवयज्यया	दिव्य शक्तियोंके प्रति यज्ञ द्वारा	by sacrifice to the powers divine	V. 21. 4
देवयते	देवोंकी कामना करनेवालेके लिए	for the seeker of the godheads	V. 21. 1
देवव्यचस्तमः	देवोंके संपूर्ण आविर्भावको (तेरे प्रति) प्रकाशित करनेवाला	that shall open to thee the whole epiphany of the godheads	V. 22. 2
देवाः	देव	gods	V. 8. 6
देवासः	देव	gods	V. 26. 9
देवीः द्वारः	दिव्य द्वारो !	O doors divine !	V. 5. 5
दैव्या	दिव्य	Divine	V. 5. 7
दोघम्	सब कामनाओंको पूरा करनेवाले प्रचुर वैभवसे संपन्न	one in its all-yielding abundance	V. 15. 5
द्यवि	द्युलोकमें	in heaven	V. 6. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
द्युमत्	ज्योतिर्मय	luminous	V. 18. 5
	तेजोमय अवस्था	luminous state	V. 19. 3
द्युमत्तमम्	अत्यंत प्रकाशमय	most luminous	V. 24. 1, 2
द्युमन्तः	देदीप्यमान	luminous	V. 25. 8
द्युम्नानि	दीप्तियां	illuminations	V. 28. 3
द्रविणम्	सारभूत ऐश्वर्य	all substance	V. 28. 2
द्रविणस्यवः	दिव्य सारभूत ऐश्वर्य चाहनेवाले	that seek (for us) our divine substance	V. 13. 2
द्रविणानि	समृद्धियोंका सार-तत्त्व	substance of our riches	V. 4. 7
द्विताय	दूसरी (आत्मा) के लिए	for the second soul	V. 18. 2
द्विषः	जो शक्तियां नष्ट करना चाहती हैं वे	forces that seek to destroy (us)	V. 25. 9
द्वेषः	द्वैधभावमें	into the division	V. 20. 2
द्वेषोयुतः	वे मनुष्य जो शत्रुओं से आक्रांत और विरोधोंसे घिरे हुए हैं	men assailed by enemies and besieged by discords	V. 9. 6

ध

धन्व	मरुस्थली	desert	V. 7. 7
धमति (उप-)	धड़ता है	forges	V. 9. 5
धरुणः	धारण करनेवाला	holder	V. 15. 1
		holding all	V. 15. 2
धर्णसिम्	वस्तुओंके विधानको धारण करनेवालेको	(to one) who sustainest the law of things	V. 8. 4
धर्ता	धारक	holder	V. 15. 1
धर्मन्	विधान	law	V. 15. 2
धर्माणि	दिव्य नियम	divine laws	V. 26. 6
धाः (आ-)	प्रतिष्ठित कर	establish	V. 7. 9
धामहे	हम नींव डालें	may we found	V. 16. 5
धायसे	प्रतिष्ठित कर सकने के लिये,	that he may establish,	V. 7. 6
	स्थापित करनेके लिए	for the establishing (of works)	V. 7. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
धारयतम्	वे धारण कराएं	they may uphold	V. 27. 6
धारा:	धाराएं	flowing streams	V. 12. 2
धासिम्	आधारको	(to) foundation	V. 12. 4
धीती	चिंतनसे	by thinking	V. 25. 3
धीमहि (नि-)	हम अपने अंदर प्रतिष्ठित करते हैं	we set (thee) within us	V. 21. 1
धीर:	बुद्धिमें सिद्ध	accomplished in understanding	V. 2. 11
धूमिन:	(अपने) धूम्रयुक्त आवेशसे युक्त	having (their) smoky passion	V. 9. 5
धृषज:	प्रचंड	violent	V. 19. 5
धृष्णुया	प्रचण्ड रूपसे	violently	V. 10. 5
ध्माता इव	लोहारकी तरह	like a smith	V. 9. 5
	न		
न	तरह	like	V. 9. 4
नक्तम्	रात्रिमें	in the night	V. 7. 4
नक्षि	आ	come	V. 24. 1,2
नमसा	(समर्पणरूप) प्रणाम से	with obeisance of submission	V. 4. 9
नराशंस:	देवताओंकी शक्तियोंको प्रकट करनेवाला	he that expresses the powers of the gods	V. 5. 2
नवमम्	नयी नयी को	new-manifested	V. 27. 3
नविष्ठाय	जिसे नयी-नयी प्रदान की गयी है उसके लिये	new-given for him	V. 27. 3
नवेदा:	नये शब्दके ज्ञानका प्रेरक	impeller to knowledge of a new word	V. 12. 3
नशते	पहुँच जाता है	reaches	V. 4. 11
नहुषस्य	मानवका या उसके लिये	for man	V. 12. 6
नाकम्	स्वर्गको	(to)heaven, paradise	V. 17. 2
निदितम्	बंधे हुए को	(to) bound one	V. 2. 7
निधायि	अन्दर प्रतिष्ठित हो गया है	has been established within	V. 3. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
निंदितारः	बाँधनेवाले	confiners	V. 2. 6
निंद्यासः	बंदी	confined	V. 2. 6
निष्कग्रीवः	सोनेका हार पहने हुए	one who wears the golden necklace	V. 19. 3
निषसाद	उसने अपना आसन ग्रहण किया है	he has taken his seat	V. 1. 5
निहितम्	प्रतिष्ठित (उसको)	(to one) established	V. 2. 1
नु	अब	now	V. 10. 6
नूनम्	अभी ही	even now	V. 24. 3, 4
नृणाम्	दिव्य आत्माओंका	of the godheads	V. 18. 5
नृतम	हे अत्यंत शक्तिशाली देवता !	O mightiest deity	V. 4. 6
नृम्णम्	मानवत्वको	(to) manhood	V. 19. 2
नृवत्	दिव्यताओंसे पूर्ण	full of the godheads	V. 18. 5
नेमिः	पहियेका नाभिकेन्द्र	nave of a wheel	V. 13. 6
	प		
पत्मन्	मार्ग	path	V. 5. 7
पत्वभिः	पद-दलनोंसे	with the tramplings	V. 6. 7
पदम्	चरण	stride	V. 3. 3
	धामको	(to) abode	V. 15. 5
पनय	क्रियाशील बना दे	set to labour	V. 20. 1
पनीयसी	श्रमकी अधिक प्रभावकारी (शक्ति)	more effective force of thy labour	V. 6. 4
पप्रथानः	अपने विस्तार से युक्त	thou in thy wideness	V. 15. 4
परः	परे	beyond	V. 17. 2
"	उत्कृष्ट	supreme	V. 3. 5
परि स्थुः	वे चारों ओरसे घेरे रहती हैं	they stand encompassing	V. 15. 3
परीणसा	सब ओरसे व्यापने वालेके द्वारा	by all-encompassing	V. 10. 1
परुषाः	सशक्त	strong	V. 27. 5
पर्षति	वह (हमें) बाढ़से पार उतारता है	(he) ferries (us) beyond the surge	V. 25. 1
पर्षि (अति)	पार लगा	bear (us) over	V. 4. 9
पलिक्नीः	बूढ़ी	old	V. 2. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
पश्वः	दीप्तिसमूह	herds of the radiance	V. 2. 5
पाजः	पुंज	mass	V. 1. 2
पायवः	रक्षक	guardians	V. 12. 4
पाशान्	बंधनके पाशोंको	(to) the cords of bondage	V. 2.7
पितूनाम्	समस्त भोजनोंके	of all foods	V. 7. 6
पिपर्षि	तुम ले जाते हो	thou art carrying	V. 4. 6
पुपूर्याः (उत्)	तू अपने आपको पूरी तरह भर दे	utterly fill thyself	V. 6. 9
पुरम्	दुर्गबद्ध नगरको	(to) fortified city	V. 19. 2
पुरु	अनेकविध	many	V. 17. 1
पुरुश्चन्द्रम्	आनंदोंके समूहसे संपन्न उसे	(to) one with a multitude of delights	V. 8. 1
पुरुनिःष्ठः	अपने अनेक आकारों-में प्रकट रूपसे स्थित	standing out in his multitudes	V. 1. 6
पुरुप्रियः	अनेक आनंदोंसे संपन्न	one with many delights	V. 18. 1
पुरुरूपः	अनेक रूप ग्रहण करनेवाला	one who takes many forms	V. 8. 5
पुरुष्टुतः	अनेक प्रकारसे स्तुति किया हुआ	multiply affirmed	V. 8. 5
पुरुस्पृहम्	जो कामनाओंके पुंज-को अपने हाथमें लिए हुए है उसे	(to) one who has multitude of desires	V. 7. 6
पुरोहितम्	अग्रभागमें नियत पुरोहितको	to the vicar set in front	2 V. 11.
पुष्टिम्	विकासको	(to) the growth	V. 10. 3
पुष्यन्ति (प्रो)	पोषण करती हैं	nourish	V. 6. 6
पूर्वीः	अनेक	many	V. 12. 2
पूर्वे	पुरातन	of old	V. 25. 2
पूर्व्यम्	सर्वोच्चको	(to) supreme	V. 8. 2
पृणन्ति (आ)	वे तुष्ट करती हैं	they satisfy	V. 11. 5
पृणीतन	परिपूरित कर दो	fill	V. 5. 5
पृतना-सहम्	सेनाओंको परास्त करनेवालेको	(to) that which shall overpower the armies	V. 23. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
पृत्सु	संग्रामोंमें	in the battles	V. 10. 7
पृत्सुतीः	सशस्त्र आक्रमणों को	to embattled assaults	V. 4. 1
पृथुः	विशाल	wide	V. 12. 6
पेषी	आकारमें संकुचित	compressed into form	V. 2. 2
पोषयत्	वह पोषण और संवर्धन करे	may he nourish	V. 9. 7
प्र	आगे-आगे	forward	V. 10. 1
प्र चातयस्व	दूर खदेड़ दे	chase (from us)	V. 4. 6
प्र चिकेत	ज्ञानकी चेतनाकी ओर खुल गया है	opens to consciousness of knowledge	V. 19. 1
प्रतीचीम्	मिलनेके लिए उसकी ओर जानेवाली को	(to one) going to meet	V. 12. 1
प्रत्नम्	पुरातन	pristine	V. 8. 1
प्रथमम्	परम (को)	supreme	V. 11. 2
प्रथस्व (वि)	अपनेको व्यापक रूपसे विस्तृत कर	widely spread Thyself	V. 5. 4
प्रप्र	आगे ही आगे	farther, farther	V. 5. 5
प्र भरे	लाता हूँ	I bring	V. 15. 1
प्र मन्दे	मैं अपने आनन्दको प्रेरित करता हूँ	I direct my delight	V. 4. 1
प्रमहसः	सामर्थ्यकी गरिमाका	of mightiness	V. 28. 4
प्रयस्वन्तः	सारे आनन्दोंको धारण किये हुए	holding all delights	V. 20. 3
प्र रुजन्ति	वे तोड़-फोड़ देती हैं	they break	V. 2. 10
प्रशस्तिभिः	अभिव्यक्तियोंसे	by expressings	V. 9. 6
प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य	तीर्थयात्री मानवका	of man the pilgrim	V. 12. 6
प्रसहा	शक्तिपूर्ण	forceful	V. 23. 1
प्रसहते	वह अभिभूत करती है	he overpowers	V. 2. 9
प्रीतः	तृप्त होकर	satisfied	V. 6. 3

ब

बंधनासः	बंधनमें डालनेवाले	binders	V. 12. 4
बर्हिः	अपनी आत्माका आसन	seat of thy soul	V. 26. 8

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
बर्हिष्मते	यज्ञका आसन विस्तृत करनेवाले के लिए	for the man who enlarges the seat of sacrifice	V. 2. 12
बलिम्	भेंट को	(to an) offering	V. 1. 10
बिभर्ति	वह वहन करती है	(she) bears	V. 2. 1
बुध्यमानाः	जागृत हुए	being awakened	V. 3. 6
बृहत्	विशालता	vastness	V. 1. 10
बृहदुक्थः	विशाल शब्दका उच्चारण करनेवाला	uttering the vast word	V. 19. 3
बृहत्केतुम्	उसे जो विशाल अर्न्तदर्शन से संपन्न है	(to one) with vast vision	V. 8. 2
बृहन्तम्	विशालता से युक्त	vast	V. 26. 3
बोधि	जाग	awake	V. 24. 3,4
ब्रह्माणि	आत्मिक विचार	soul-thoughts	V. 2. 6
	भ		
भगः	भोक्ता	enjoyer	V. 16. 2
भद्रशोचे	हे पवित्रताकी आनन्दमयी ज्वाला !	O happy Flame of purity	V. 4. 7
भन्दिष्ठस्य	मनुष्यकी परम आह्लादपूर्ण स्थिति-के	of man's happiest state	V. 1. 10
भर (आ)	ले आ	bring (to us)	V. 6. 8
भरतेभ्यः	लानेवालोंके लिए	for the bringers	V. 11. 1
भरन्ते	वे ले जाते हैं	they carry	V. 11. 4
भूरि नाम	विशाल नाम	vast name	V. 3. 10
भोजनानि	भोगोंको	(their) enjoyments	V. 4. 5
भ्राजन्तः	जाज्वल्यमान	flaming	V. 10. 5
	म		
मंहना	पूरा प्राचुर्य	plenitude	V. 16. 4
मघोनः	परिपूर्ण ऐश्वर्योंका अधिपति	Lord of (his) plenitude	V. 27. 1
मत्	मुझसे	from me	V. 2. 8
मथ्यमानः	(हमारे द्वारा) दबाव डाला जाता हुआ	by our pressure	V. 11. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
मदे	(उसके) हर्षोल्लास-के समय	in his ecstasy	V. 2. 10
मंद्रः	आनन्दोल्लासमय	rapturous	V. 11. 3
मंद्रजिह्वम्	उसे जो परम आनंद की जिह्वासे युक्त है	(to him) with (his) tongue of ecstasy	V. 25. 2
मधुमत्तमम्	मधुसे लबालब भरी हुई	fullest with the honey	V. 11. 5
मधुहस्त्यः	मधु-रसको अपने हाथोंमें लिए हुए	one with the sweetness in his hands	V. 5. 2
मनवे	मनुष्यके लिये	for the man	V. 2. 12
मनामहे	हम मनके द्वारा दृढ़तासे धारण कर लेते हैं	we seize with the mind	V. 3. 2
मन्म	विचार	thought	V. 12. 1
मन्युम्	भावुकतापूर्ण मनको	(to) emotional mind	V. 7. 10
मामहे	उसने (मुझे) दी हैं	he has given (me)	V. 27. 1
मयोभुवः	वे जो आनन्दको जन्म देती हैं	those who give birth to the bliss	V. 5. 8
मरुतः	जीवन-शक्तियां	life-powers	V. 26. 9
मर्चयति	वह उत्पीड़ित कर रहा है	oppresses	V. 3. 7
मर्जयन्त	वे भास्वर बनाती हैं	they make to shine	V. 3. 3
मर्ताः	मरणधर्मा मनुष्य	mortal men	V. 14. 2
मर्त्यः	,, ,,	mortal man	V. 7. 6
मर्यकम्	शक्ति	strength	V. 2. 5
महः	विशाल	vast	V. 15. 5
महित्वा	महानतासे	by the greatness	V. 2. 9
महिषी इव	मानो स्वयं भगवती की ही विशालता	as if the largeness of the Goddess herself	V. 25. 7
मानुषे जने	मानव प्राणीमें	in the human creature	V. 14. 2
मायाः	ज्ञानकी रचनाएं	formations of knowledge	V. 2. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
मिनत्	वह क्षीण होता है	is diminished	V. 2. 1
मिमानम्	निर्माण करते हुए को	(to one) shaping	V. 2. 3
मिमीहि (सम्-)	निर्माण करो	form	V. 4. 2
मुमुग्धि	काटकर अलग करदे	loose (from us)	V. 2. 7
मृक्तवाहसे	पवित्रकी हुई मेधा को वहन करनेवाली (आत्मा) के लिये	for the soul when it bears purified intelligence	V. 18. 2
मृजन्ति	वे मांज-मांजकर चमकाते हैं	they press into brightness	V. 1. 7
मेध्याय	मेधावीके प्रति	to the intelligence	V. 1. 12
	य		
यंसत्	निष्पन्न कर दे	he may work out	V. 2. 12
यक्षत्	वह यज्ञकी भेंट दे	may he offer the sacrifice	V. 13. 3
यजतम्	यज्ञका देव	the god in the sacrifice	V. 8. 1
यजमानाय	यजमानके लिए	for the sacrificer	V. 26. 5
यजीयान्	यज्ञकेलिए शक्तिशाली	mighty for sacrifice	V. 1. 5
यज्ञासः	यज्ञके कार्य	works of sacrifice	V. 9. 2
यते	यात्राका लक्ष्य	the goal of the journey	V. 27. 4
यवन्त (वि)	उन्होंने संबंध-विच्छेद किया था	they divorced	V. 2. 5
यवसे	चरागाहमें	in the pasture	V. 9. 4
यविष्ठ्य	हे पूर्ण-यौवन-संपन्न	youngest vigour	V. 8. 6
यशः	विजयश्री	victory	V. 4. 10
यह्वम्	शक्तिशाली	mighty	V. 16. 4
यह्वाः इव	शक्तिशाली सत्ताओं की तरह	like mightinesses	V. 1. 1
यातयासे	यात्राकी ओर प्रेरित करोगे	thou wilt impel to journey	V. 3. 9
याति	वह यात्रा करता है	he journeys	V. 6. 3
यामासः	यात्राओंकी गतियां	movements of journey	V. 3. 12
युक्ता	जुते हुए	yoked (to the car)	V. 27. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
युक्तेन	समाहित (मन) से	with attentive (mind)	V. 27. 3
युजम्	सहायक को	as (our) helper	V. 20. 1
यूथम्	रश्मि-समूह को	(to) herd	V. 2. 4
यूपात्	खंभेसे	from the post of sacrifice	V. 2. 7
योधि	बुराईको दूर रख	put away (evil)	V. 3. 9
	र		
रघुद्रुवः	द्रुतगामी	swiftly galloping	V. 6. 2
रघुष्यदम्	अत्यंत सरपट दौड़नेवाले को	Swift-galloping	V. 25. 6
रण्यति	वह आनन्द लेता है	takes joy	V. 18. 1
रण्वा	आनन्दोल्लाससे भर-पूर	full of delight	V. 7. 2
रत्नधातमम्	उसे जो आनन्दको पूर्णतया धारण करता है	(to) one who holdest utterly the delight	V. 8. 3
रत्सि (प्र)	आगे-आगे चीरकर बना	cleave forward	V. 10. 1
रयिः	समृद्धि	opulence	V. 25. 7
रशनाम्	लंबी रस्सीको	(to) cord	V. 1. 3
राजति	वह चमकता है	it shines out	V. 25. 4
रातये	आत्माकी समृद्धिके लिए	to attain to the soul's riches	V. 10. 6
राधः	ऐश्वर्योंका आनन्द	joy of riches	V. 13. 6
रायः	आनन्द	bliss	V. 15. 1
रासत्	वह खुले रूपसे दान देता है	he lavishes	V. 25. 1
रास्व	प्रचुरतासे प्रदान कर	lavish (on us)	V. 13. 5
रीषते	बाधा डालनेवाले-के प्रति	to the hurter	V. 3. 12
रीयते (प्र-)	प्रवाहशील विकास साधित किया जाता है	there is a flowing progression	V. 7. 8

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
रेवत्	आनन्द और समृद्धि से भरपूर	full of joy & opulence	V. 23. 4
रोदसी	सत्ताके दोनों लोक —द्यावा-पृथिवी	both firmaments— earth & heaven	V. 1. 7
	ल व		
लोके	लोकमें	in the world	V. 1. 6
वक्षणेस्थाः	सब वस्तुओंके वाहकमें दृढ़तासे स्थापित होनवाले	firmly founded in the bearer of all things	V. 19. 5
वक्षि (आ-)	ले आ (हमारे पास)	bring (to us)	V. 4. 4
वक्ष्यः	(कार्योंको) वहन करनेवाली	bearer (of all things)	V. 19. 5
वचस्युभिः स्तोमेभिः	सत्यप्रकाशक शब्द को पा लेनेवाले (स्तोत्रोंसे)	by the hymns of affirmation which find the revealing word	V. 14. 6
वधेन	(अपने) प्रहारके द्वारा	with (thy) blow	V. 4. 6
वनते	वह जीत लेता है	he wins	V. 4. 3
वनवत्	वह प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है	he prevails	V. 3. 5
वनुयाम	हम विजय लाभ करें	may we prevail	V. 3. 5
वने-वने	आनन्दके प्रत्येक विषयमें	in every object of delight	V. 11. 6
वन्दारु वचः	स्तुतिके वचन	word of adoration	V. 1. 12
वपुष्यः	शारीरिक पूर्णता-से युक्त	full of body	V. 1. 9
वयः	विशाल अभिव्यक्ति	wide manifestation	V. 8. 5
वयोवयः	अभिव्यक्तिके बाद अभिव्यक्ति	manifestation after manifestation	V. 15. 4
वयोवृधा	उन्हें जो (हमारी) विशाल सत्ताको बढ़ानेवाली हैं	(to) increasers of (our) spacious being	V. 5. 6
वयाम्	अपने विस्तारके लिए	to their expanding	V. 1. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वरन्ते	रोक कर रखती हैं	they pen in	V. 2. 10
वरिष्ठया धीती	(हमारे) श्रेष्ठ चिंतनसे	by (our) supreme thinking	V. 25. 3
वरुण:	विशालताका अधीश्वर	lord of wideness	V. 26. 9
वरूथ्य:	(रक्षणका) कवच	armour	V. 24. 1,2
वरेण्यम्	परम वरणीय को	(to) supremely desirable one	V. 8. 1
वर्धन्ति	वे बढ़ाते हैं	they increase	V. 22. 4
वषिष्ठाय	बरसानेवाले के लिए	for (the strength) that lavishes	V. 7. 1
ववन्दिम	हम वन्दना करते हैं	we adore	V. 25. 9
वव्रे: वव्रि:	आवरणपर आवरण	covering upon covering	V. 19. 1
वसवे	हमारी सत्तामें निवास करनेवाले के प्रति	to the dweller in our being	V. 3. 12
वसुपति:	सारतत्त्वके प्रभुओं-का (वसुओंका) अधिष्ठाता	master over the lords of substance	V. 4. 1
वसूयव:	वसु—सारतत्त्व को चाहते हुए (हम)	desiring subsance	V. 25. 9
वसु	दिव्य ऐश्वर्य-संपदा को	(to) divine wealth	V. 17. 4
वसुश्रवा:	सारतत्त्वका दिव्य ज्ञान रखनेवाला	one who has knowledge of that substance	V. 24. 1,2
वह (आ)	ला	bring	V. 5. 3
वाज:	ऐश्वर्य-प्रचुरता	plenitude	V. 15. 5
वाज-जठर:	ऐश्वर्य-परिपूर्णताका उदर	belly of the plenitude	V. 19. 4
वाजयु:	ऐश्वर्य परिपूर्णता-का अभिलाषी	a seeker of the plentitude	V. 19. 3
वाजसातमं	हे ऐश्वर्य-प्रचुरताके विजेता	O conquerer of (our) plenitude	V. 20. 1
वाजिन:	प्रचुरताकी शक्तियां	powers of plenitude	V. 6. 1
"	प्रचुरताके अश्व	steeds of plenitude	V. 6. 7

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वारम्	कल्याणकी ओर	to good	V. 16. .2
वार्यम्	अभिलषित कल्याणको	to the desirable good	V. 16. 5
वार्याणि	अभीष्ट वरोंको	(to) desirable boons	V. 4. 3
वाहिष्ठम्	जो वहन करनेमें सबसे अधिक शक्तिशाली है उसे	(to) that which is strongest (in us) to upbear	V. 25. 7
वि-उषि	रात्रिके बादके उषाकालमें	in the dawning of night	V. 3. 8
विक्षु	प्राणियोंमें	in the creatures	V. 17. 4
वितन्वते	वे विस्तृत करते हैं	they extend	V. 13. 4
विधर्मन्	हे विशाल विधान को विजित करनेवाले !	O thou who hast won to the wide law	V. 17. 2
विनिक्षे	विनाश करनेके लिए	to gore	V. 2. 9
विपृक्वत्	पृथक्-पृथक् भागोंमें विद्यमान	in all separate parts	V. 2. 3
विप्राः	ज्ञानप्रदीप्त जन	the illumined	V. 13. 5
वि भाति	वह चमक रहा है	shines wide	V. 11. 1
विभावसुम्	प्रकाशके विशाल सारतत्त्वसे युक्त उसको	to one with wide substance of the light	V. 25. 2
विभावा	प्रकाशमें विस्तृत	extended in light	V. 4. 2
विभुः	अपनी सत्तासे सबमें व्याप्त	pervader of all in (thy) being	V. 5. 9
विश्व-सहम्	सर्वव्यापक शक्तिशालिता से युक्त	(felicity) of an all-pervading forcefulness	V. 10. 7
विवस्वतः	प्रकाशस्वरूप सूर्यसे	from the all-luminous sun	V. 11. 3
विविचिम्	सम्यक्तया विवेक करनेवाले को	to one who has the powers of rightly discriminating	V. 8. 3
विशः	प्रजाएँ	the peoples	V. 8. 3
विशि	प्राणिमात्रमें	in the creature	V. 22. 1
विश्पतिम्	प्रजाओंके पति को	to lord of the creatures	V. 4. 3
विश्वचर्षणिः	मनुष्यके सब कार्यों में कर्मकर्ता	the labourer in all man's works	V. 23. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
विश्वदर्शतम्	विराट् अन्तर्दर्शनसे देखनेवाले को	to one seeing with a universal vision	V. 8. 3
विश्वधा	सार्वभौमिकताके साथ	in the universality	V. 8. 4
विश्वधायसम्	उसे जो सबको धारण करता है	to one who establishes the all	V. 8. 1
विश्ववारम्	समस्त अभीष्ट वर	all desirable boons	V. 4. 7
विश्वविदम्	सर्वज्ञ को	to the omniscient	V. 4. 3
विश्वसामन्	हे सबमें एक समान आत्मसिद्धि चाहने वाले मनुष्य !	O man who seekest thy equal fulfilment in all	V. 22. 1
विश्वानि	सब पदार्थ	all things	V. 2. 9
विषुणाः	वे जो भटककर विमुख हो गये हैं	those who have gone astray (from thee)	V. 12. 5
विषुरूपः	अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंवाला	one in many different forms	V. 15. 4
वीतये	अभिव्यक्ति के लिए	for manifesting	V. 26. 2
वीतिहोत्रम्	हविरूप भेंटोंको ले जानेवाले को	to one who carries the offerings	V. 26. 3
वीरवन्तम्	शक्तिकी सेनाओंसे युक्त उसको	to one with the armies of energy	V. 4. 11
वृक्तबर्हिषः	वे जिन्होंने अपने यज्ञके आसनको निर्मल किया है	those who have made clear the seat of sacrifice	V. 23. 3
वृजिनानि	कुटिल बातें	crooked things	V. 12. 5
वृणते	वे स्वीकार करते हैं	they accept	V. 11. 4
वेद्याय	जो ज्ञानका लक्ष्य है उसके लिये	for one who is the object of knowledge	V. 15. 1
वेधसे	नियन्ताके प्रति	for the Ordainer	V. 15. 1
वेविदानः	ज्ञानको समस्वर करते हुए	harmonising (thy) knowledge	V. 19. 5
वेषणे	उसके घेरेमें	in his circling	V. 7. 5
वैश्वानर	हे सार्वभौम शक्ते	O universal power	V. 27. 2
वोळ्हवे	भेंटोंको वहन करने के लिए	for bearing (the offering)	V. 14. 3
व्यन्ति	वे प्राप्त करते हैं	they reach	V. 23. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
व्रजा	गौओंके बाड़ोंमें	in the pens	V. 6. 7
	श		
शंसम्	आत्म-अभिव्यक्तिको	to self-expression	V. 3. 4
शग्धि	शक्तिशाली हो	be mighty	V. 17. 5
शतदाव्नि	सौ (अश्वोंके) दातामें	in the giver of hundred	V. 27. 6
शत्रूयताम्	विरोधी शक्तियोंके	of hostile powers	V. 28. 3
शफानां पत्वभिः	(अपने) खुरोंसे पद-दलन करते हुए	with tramplings of (their) hooves	V. 6. 7
शम्	आनन्दपूर्ण शान्ति	glad peace	V. 7. 9
शरदः	ऋतुओं (वर्षों) तक	up to (many) seasons	V. 2. 2
शर्म	शान्ति और परम-आनन्द	peace and bliss	V. 27. 2
शवसः	देदीप्यमान शक्तिके	of shining strength	V. 6. 9
शश्वतः	सनातन (सत्ता)	the eternal	V. 19. 4
शश्वन्तः	शाश्वत संततियाँ	continuous generations	V. 14. 3
शाके	शक्तिमें	in the power	V. 15. 2
शिवः	कल्याणकारी	beneficent	V. 5. 9
शिशीते	वह तेज करके तीक्ष्ण अस्त्र बना डालता है	he whets	V. 9. 5
शिश्रियाणम	निवास करते हुए को	lodging	V. 11. 6
शुक्र	हे ज्योतिर्मय !	O brightness	V. 21. 4
शुचिः	पवित्र	pure	V. 7. 8
शुचिदन्	पवित्रता ही जिसका दांत है वह	one whose fang is purity	V. 7. 7
शुचिवर्णम्	शुद्ध-उज्ज्वल रंग-वालेको	to one pure bright of hue	V. 2. 3
शुभ्र	धवल और उज्ज्वल	white and bright	V. 5. 4
शुम्भन्ति	वे (तुझे) उज्ज्वल-आनन्दमय वस्तु बनाते हैं	they make (thee) thing of bright gladness	V. 22. 4
शुष्मम्	शक्ति को	(to) strength	V. 16. 3
शुष्मिणः	शक्तिशाली	puissant	V. 10. 4
शृंगे	सींगों को	horns	V. 2. 9

वैदिक मन्त्र	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
शोचन्ति	वे चमक रही हैं	they blaze out	V. 17. 3
शोचिः	निर्मल प्रकाशकी ओर	(to) pure light	V. 28. 1
शोचिष्केशम्	उसे जो प्रकाशकी जटाओंसे युक्त है	to one with (his) locks of light	V. 8. 2
शोचिषः (शुक्रस्य)	शुद्ध-भास्वर ज्वाला-का	of the pure bright flame	V. 6. 5
शोचिष्ठ	हे पवित्रतम प्रकाशकी ज्वाला !	O flame of purest light	V. 24. 3,4
शोभमानम्	देदीप्यमान सौंदर्य-वालेको	to one of luminous beauty	V. 2. 4
श्रयध्वम् (वि-)	झूलते हुए खुल जाओ	swing open	V. 5. 5
श्रवः	अन्तःस्फुरित ज्ञान	inspired knowledge	V. 16. 4
श्रावयत्पतिम्	पदार्थोंके ऐसे स्वामीको जो ज्ञानके प्रति हमारे कान खोलता है	to the master of things who opens our ears to the knowledge	V. 25. 5
श्रवांसि	ज्ञानकी अन्तः-प्रेरणाओंको	to inspirations of knowledge	V. 4. 2
श्रवाय्यम्	अंतःप्रेरणाओंसे पूर्ण	full of inspiration	V. 20. 1
श्रितः	पहुँचा और निवास करता हुआ	reaching and lodging	V. 11. 3
श्रियम्	गरिमा को	to the glory	V. 28. 4
श्रीणीषे	तू पहुँचता है	thou approachest	V. 6. 9
श्रेष्ठया सुमत्या	अत्यधिक उज्ज्वल पूर्णताप्राप्त मतिसे	by brightest perfected mentality	V. 25. 3
श्वैत्रेयस्य	श्वेत ज्योतिवाली मांके पुत्र का	of the son of the white-shining Mother	V. 19. 3

स

सख्ये	मित्रतामें	In (his) comradeship	V. 16. 3
सचन्त	वे दृढ़तया संलग्न हों	they may be firm	V. 17. 5
सजोषसः	प्रेममय एक हृदय से युक्त	(gods) with one heart of love	V. 21. 3
सते	बैठे हुएके लिए	for one who sits	V. 7. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
सत्पतिम्	सत्ताओंके स्वामीको, अपनी सत्ताके स्वामी को	(to) Lord of existences (to) master of his being	V. 25. 6 V. 27. 1
सत्यः	अपनी सत्तामें सच्चा	true in his being	V. 25. 2
सद्मसु	निवासस्थानोंमें	in the dwelling places	V. 23. 3
सद्यः	तत्काल	at once	V. 1. 9
सधमादः	पूर्ण आनन्दोन्माद से युक्त	having perfect rapture	V. 20. 4
सधस्तुति	पूर्ण स्तुति से संपन्न	one with a perfect affirming	V. 18. 5
सन्	वे हों	may they be	V. 19. 5
सनितुः	सब वस्तुओंको अधिकृत करनेवालेके	of the all-possessing	V. 12. 3
सनिम्	लक्ष्यकी उपलब्धिको	(to) possession of the goal	V. 27. 4
सनिषन्तः	उपलब्धि और विजय के अभिलाषी	the seekers after possession and conquest	V. 12. 4
सनुतः	लगातार	continuously	V. 2. 4
सन्तम्	विराजमान (को)	seated	V. 8. 3
सपन्त	वे आस्वादन करते हैं	they taste	V. 3. 4
सपर्यत	खोजो और सेवा करो	seek and serve	V. 14. 5
सपामि	सफल सकता हूँ, प्राप्त कर सकता हूँ	achieve and attain to	V. 12. 2
सप्रथाः	बहुत विस्तृत और विशाल	very wide	V. 13. 4
सबाधसः	वे जो आक्रान्त और अवरुद्ध हैं	those that are beset and hampered	V. 10. 6
समजाति	वह खींचकर ले आता है	he drives	V. 2. 12
समनसा	एक मनवाले	of one mind	V. 3. 2
समन्तम्	सर्वांगपूर्ण	complete	V. 1. 11
समर्ये	बड़े संघर्षमें	in the great struggle	V. 3. 6
समिद्धः	प्रज्वलित होकर	burning high	V. 28. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
समिधम् (सम्-इधम्)	समिधाको	(to) fuel	V. 4. 4
समिधीमहि (सम्-इधीमहि)	हम प्रज्वलित करते हैं	we kindle	V. 21. 1
समुब्धम्	दबे हुएको	pressed down	V. 2. 1
समृतौ	पूर्ण मिलाप में	in coming to the utter meeting with (him)	V. 7. 2
संचरन्ति	वे केन्द्रित होती हैं	they converge	V. 1. 4
संजनयन्ति	वे पूर्ण जन्म देनेके लिए कार्य करते हैं	they work to bring to perfect birth	V. 7. 2
सम्यञ्चम् इषम्	अन्तर्वेगके पूरे बलको	(to) absolute force of impulsion	V. 7. 1
संयन्ति	वे आपसमें मिलती हैं	they meet together	V. 9. 5
सरस्वती	प्रवाही अन्तःप्रेरणा-की देवी	She of flowing inspiration	V. 5. 8
सर्पिः	प्रवाहशील ऐश्वर्य	running richness	V. 7. 9
ससस्य	परम आनन्दके	of the Bliss	V. 21. 4
सासहत् (ससहत्)	वह बलपूर्वक सफल होगी	it shall prevail	V. 23. 1
सासाह	वह विजयी होता है	he conquers	V. 25. 6
सहः	शक्ति	force	V. 23. 4
सहते	वह अभिभूत करता है	he overpowers	V. 2. 9
सहन्तम्	शक्तिस्वरूप	forceful	V. 23. 1
सहसानम्	जीतनेमें शक्तिशाली	one who is forceful to conquer	V. 25. 9
सहस्रजित्	हजार गुणा ऐश्वर्यका अभिजेता	conqueror of a thousand-fold riches	V. 26. 6
सहस्व	हे तुम बलशाली देव	O thou forceful one	V. 9. 7
सहस्वते	शक्तिके स्वामी-के लिए	for the master of force	V. 7. 1
सातये	विजय प्राप्त करनेके लिये,	that we may conuqer	V. 5. 4
	विजयके लिए	for the conquest	V. 9. 7
साधनम्	संसाधक	accomplisher	V. 20. 3
साधु	जिसमें सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है	in which all is perfected	V. 12. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
साधुया	कार्यसाधक शक्तिके साथ	with power to accomplish	V. 11. 4
सिध्रम्	सर्वसाधक	all-effective	V. 13. 2
सिंधुम्	समुद्रको	over the waters	V. 4. 9
सिस्रते	वह आरोहण करती हैं	they mount	V. 1. 1
सीदन्	वह बैठता है	he sits	V. 11. 2
स्वध्वर (सु-अध्वर)	हे यज्ञके पूर्ण पथप्रदर्शक	O perfect guide of the sacrifice	V. 28. 5
स्वध्वरम्	उसे जो यज्ञका ठीक-ठीक नेतृत्व करता है	to one who leads aright thes sarifice	V. 9. 3
स्वपाः (सु-अपा)	कार्यमें पूर्ण	perfect in works	V. 2. 11
स्ववसम्	पूर्ण सत्तासे युक्त (तुझको)	to one having perfect being	V. 8. 2
स्वाधीभिः (स्तोमेभिः)	विचारको ठीक स्थान पर विन्यस्त करनेवाले (स्तोत्रोंसे)	by (hymns) placing aright the thought	V. 14. 6
स्वांभुवम्	जो पूर्ण अस्तित्वमें आता है उसे	(to) that which comes into entire being	V. 6. 3
सुक्रतुः	इच्छाशक्तिमें पूर्ण	perfect in will-power	V. 11. 2
सुक्षितीः	ठीक-ठीक निवास-स्थानको पा लेनेवाली	finding dwelling aright their place	V. 6. 8
सुगार्हपत्याः	वे जो (हमारे) गृहपतिसे पूर्णतया संबंधित हैं	those that belong perfectly to the Master of (our) dwelling	V. 4. 2
सुश्चन्द्र	हे आनन्दसे परिपूर्ण!	O perfect in delight	V. 6. 9
सुजात	हे अपने जन्ममें पूर्ण!	O perfect in thy birth	V. 21. 2
सुजातासः	पूर्ण जन्मको प्राप्त किये हुए	come to perfect birth	V. 6. 2
सुदक्षः	पूर्ण विवेक-संपन्न	perfect in discernment	V. 11. 1
सुदीतिभिः	पूर्ण प्रभाओंके द्वारा	with perfect out shinings	V. 25. 2
,,	(उसकी) यथार्थ दीप्तियोंसे	by (his) right illuminings	V. 8. 4
सुदृशः	यथार्थ दृष्टिवाला	one who has right vision	V. 3. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
सुदृशीकः	दृष्टिमें पूर्ण	perfect in vision	V. 4. 2
सुधितम्	पूर्णतया प्रतिष्ठित	perfectly founded	V. 3. 2
सुधुरः	जूएको ठीक तरह वहन करनेवाले	those that bear aright the yoke	V. 27. 2
पुन्वते	आनंद-मधुको निकालनेवाले के लिए	for one who presses the wine of delight	V. 26. 5
सुपूतम्	निर्मल	purified	V. 12. 1
सुप्रायणाः	सरल रास्ता देनेवाले	giving easy passage	V. 5. 5
सुप्रतीके	स्पष्ट रूपसे अभिमुख माताओंको	(to) fairly fronting	V. 5. 6
सुप्रीतः	तृप्त होता हुआ	satisfied	V. 21. 2
सुभग	हे पूर्ण आनन्दोपभोक्ता !	O perfect enjoyer	V. 8. 3
सुमत्	प्रसन्न	happy	V. 2. 4
सुमतिम्	मनकी यथार्थ अवस्थाके प्रति	(to) right-mindedness	V. 1. 10
,,	सुमतिको	grace of mind	V. 27. 3
सुमत्या	पूर्णताप्राप्त मतिसे	by perfected mentality	V. 25. 3
सुमनाः	यथार्थ चितनसे युक्त	one with right mentality	V. 1. 2
सुम्नम्	आनन्दको	(to) bliss	V. 3. 10
सुम्नायवः	परम आनन्दके अभिलाषी	men who seek the bliss	V. 8. 7
सुम्नाय	आनन्द और शान्ति के लिये	that they may have the Bliss & peace	V. 24. 3,4
सुयजम्	यज्ञ करनेवालेको ठीक प्रकारसे	to one doing aright the sacrifice	V. 8. 3
सुरभौ (लोके)	आनन्दोत्पादक (अन्य लोकमें)	in the rapturous (other world)	V. 1. 6
सुवाते	वे दो छुटकारा पाती हैं	(they two) are delivered	V. 1. 4
सुविताय	आनन्दकी ओर प्रयाणके लिए	for a march to felicity	V. 11. 1
सुवीर्यम्	पूर्ण शक्तिको	(to) perfect energy	V. 26. 5
सुवीर्यस्य	समग्र शक्तिका	of utter force	V. 16. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
सुशिप्र	हे दृढ़ जबड़ेवाले उपभोक्ता	O strong-jawed enjoyer	V. 22.
सुसंशिता:	पूर्ण-प्रखर रूपसे तीक्ष्ण	keen and sharpend	V. 19. 4
सुषू:	सुखपूर्ण प्रसूतिवाली	with a happy travail	V. 7. 8
सुषूदति	वे वेग प्रदान करती है	he speed	V. 5. 2
सुष्टुत: (सु-स्तुत:)	सम्यक्तया स्तुति किया हुआ	rightly affirmed	V. 27. 2
सूनो	हे पुत्र !	O son	V. 3. 9
सूरय:	ज्ञानके प्रकाशमय स्वामी	luminous masters of knowledge	V. 16. 5
सूर्यम्	प्रकाशमय सूर्यको	(to) the Sun of Light	V. 27. 6
सेदिम (उप-)	हम पहुँचते हैं	we approach	V. 8. 4
सेदिरे (नि-)	वे आधार पाती हैं	they take (their) foundation	V. 8. 2
सेदुष:	आसीन: (शक्तियों की ओर)	(to the powers who are) seated	V. 15. 2
सोमा:	आनंद-मदिराके प्रवाह	outpourings of the wine of delight	V. 27. 5
सौभगाय	आनंदका उपभोग करनेके लिये	for enjoyment of bliss being affirmed	V. 28. 3 V. 10. 7
स्तवान:	स्तुति किया जाता हुआ		
स्तीर्णम्	बिछी हुई	spread	V. 18. 4
स्तोमम्	स्तुतिको	(to) affirmation	V. 1. 12
स्म	यह भी सत्य है कि	true too it is	V. 9. 3
स्याम	हम हो जाएँ	may we be	V. 6. 8
स्योनम्	आनन्दपूर्ण	blissful	V. 4. 11
स्रुचा	चमचेसे	with the ladle	V. 14. 3
स्व:	ज्योतिर्मय लोक	the luminous world	V. 14. 4
स्वर्दृशम्	(हमारे) सत्यमय लोकके अंतर्दर्शनसे संपन्न (तुझको)	(thee) who hast the vision of (our) world of the Truth	V. 26. 2
स्वर्वती:	वेजो ज्योतिर्मय द्युलोकका प्रकाश करती है	that carry the light of the luminous heaven	V. 2. 11

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
स्वजेन्यम्	अपने आत्मानंदमें निमग्नकी ओर	(to) self-joyous	V. 7. 5
स्वधावः	हे, प्रकृतिकी आत्मव्यवस्थाको धारण करनेवाले	(O thou) who possesses the self-ordering power of Nature	V. 3. 5
स्वयशस्तरः	उपलब्धिके लिए अधिक आत्मशक्तिशाली	self-mightier to attain	
स्वस्तये	आनन्दमय स्थिति पानेके लिए	to attain blissful state	V. 17. 5
स्वादनम्	मधुरआस्वादनकोओर	(to) sweet taste	V. 7. 6
स्वानः	महान् शब्द	cry	V. 25. 8
,,	ध्वनि करते हुए	resonant	V. 10. 5
स्वानासः	वाणियां	voices	V. 2. 10
स्वेदम्	पसीनेको	(to) sweat	V. 7. 5
	ह		
हन्तवै	वध करनेके लिए	to slay	V. 2. 10
हरी	दो चमकीले घोड़ोंको	(to) two shining horses	V. 27. 2
हर्याः	तू आनंद ले	answering delight	V. 2. 11
हवम्	पुकारको	(to) take call	V. 14. 5
हविः	आहुति	oblation	V. 5. 11
हविष्मते	जो भेंटको अपने हाथमें लिये हुए है उसके लिए	For one who carries in his hand the oblation	V. 2. 12
हविष्मन्तः	हविको लिये हुए	carrying the oblations	V. 9. 1
हव्यः	जिसे मनुष्य पुकारते हैं वह	one whom men call	V. 17. 4
हव्यदातये	हवियोंको देनेके लिए	for the giving of the oblation	V. 26. 4
हव्यवाट्	भेंटोंका वाहक	the bearer of the offerings	V. 28. 5
हव्यवाहन	हविका वाहक	the carrier of oblation	V. 25. 5
हव्यानि	भेटोंको	offerings	V. 5. 10

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
हि	क्योंकि	for	V. 2. 4
"	निश्चय ही	Yea	V. 7. 7
हित:	स्थित	established	V. 1. 5
हिन्विरे	वे दौड़ती हैं	they race	V. 6. 6
हिरण्यदन्तम्	स्वर्णप्रकाशरूपी दांतोंसे युक्त (को)	to one tusked with golden light	V. 2. 3
हिरिश्मश्रु:	जिसकी दाढ़ी स्वर्णिम प्रकाशसे युक्त है वह	one whose beard is of the golden light	V. 7. 7
हूयते	(आहुति) डाली जाती है	offering is cast	V. 6. 5
हृणीय मा न:	तू मुझपर कुपित मत हो	mayst thous not grow wroth	V. 2. 8
हृदा	हृदयसे	with the heart	V. 4. 10
होता	भेंटका पुरोहित	priest of the offering	V. 1. 6
होत्राविदम्	उसे जो यज्ञकी शक्तियोंके ज्ञानसे संपन्न है	to one who has the knowledge of the powers of sacrifice	V. 8. 3
ह्वार्याणाम्	कुटिलताओंके	of crookednesses	V. 9. 4

अनुक्रमणिका VI*

(वेद-रहस्यके उत्तरार्द्धके अन्तमें दिये अग्नि-सूक्तों के विशिष्ट शब्दोंके अर्थ)

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अंहसः	बुराईसे, पापसे	from the evil	I. 36. 14
अक्तुभिः	कार्योंकी कुशलतासे	by the keenness of actions	I. 36. 16
अक्षी	दो नेत्र	eyes (two)	I. 72. 10
अग्रे	सम्मुख	in front	I. 127. 10
अच्छ	की ओर	towards	I. 71. 3
अजर	हे जरारहित	ageless	I. 127. 9
अजः	अजन्मा	the unborn	I. 67. 3
अजानन्	उन्होंने जान लिया	they knew	I. 72. 8
अजिरासः	क्रियाशील	active	I. 140. 4
अजुर्यम्	अजर	unaging	I. 67. 1
अजुषन्	उन्होंने आनन्द लिया	they took joy	I. 71. 1
अतन्द्रः	जागरूक	sleepless	I. 72. 7
अतरन्	वे पार कर लेते हैं	(they) pass beyond	I. 36. 8
अतृष्यन्तीः	कामना न करती हुई	not greedy	I. 71. 3
अत्ति	वह हड़प कर जाता है	he devours	I. 65. 4
अत्यः	वेगवान् अश्व	charger	I. 65. 3
अत्रिणम्	भक्षकको	(to) eater (of being), devourer	I. 36. 14 I. 36. 20
अदीदेः	तू जाज्वल्यमान हो	(thou shouldst) burn bright	I. 140. 10
अदृप्तः	गर्वपूर्ण अविवेकसे रहित	one without proud rashness	I. 69. 2
अद्रिम्	पहाड़ी चट्टान को पर्वतको	(to) mountain rock the mountain	I. 71. 2 I. 73. 6
अध	तब, इसलिए	then, so	I. 72. 10 I. 127. 6 I. 127. 9
अध्वनः	मार्गों को	the paths	I. 71. 9 I. 72. 7

* इस अनुक्रमणिका में अंग्रेजी अर्थ में कोष्ठक के अंदर लिखा गया (to) द्वितीया विभक्ति (accusative case) का सूचक है।

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अनवद्यम्	निर्दोष	faultless	I. 71. 8
अनवद्या	निर्दोष	blameless	I. 73. 3
अनुग्मन्	उन्होंने अनुसरण किया	they followed	I. 65. 1
अनुवष्टि	वह आतुर है	he hungers	I. 127. 1
अन्तः-विद्वान्	अन्तर्यामी ज्ञाता	the knower within	I. 72. 7
अपसः	कार्यरत शक्तियाँ	the powers at work	I. 71. 3
अपांसि	कार्य	works	I. 68. 3
अपिधीन्	अर्पितकी हुई, रखी हुई वस्तुओं को	the things laid upon (him)	I. 70. 4 I. 127. 7
अप्नस्वतीषु (उर्वरासु)	हमारे श्रमसे पूर्ण (उपजाऊ भूमियोंके ऊपर)	(over lands) full of our labour	I. 127. 6
अप्रायुषे	अविनाशी जीवनके लिए	for undeparting life	I. 127. 5
अप्सु	चैतन्यकी धाराओंमें	into the Waters	I. 65. 5
अभि जुगुर्याः	तू चारों ओरसे प्रकाशमान कर दे	mayst (thou) bring to light	I. 140. 13
अभिज्ञु	आगे घुटने टेककर	knelt (before him)	I. 72. 5
अभिद्यवः	प्रकाशसे परिवेष्टित	those with illumination	I. 127. 7
अभिसस्तेः	आघातका	of the hurt	I. 71. 10
अभिश्वसन्	उच्छ्वासपूर्वक उत्कंठित होता हुआ	panting	I. 140. 5
अभिसचन्ते	वे दृढ़तासे जुड़ी हुई हैं	they cleave to	I. 71. 7
अभि सन्	अभिमुख होता हुआ	being turrned towards (us)	I. 71. 10
अभीके	मिलनमें	in (their) meeting	I. 71. 8
अभ्राट्	वह प्रखर रूपमें प्रदीप्त होता है	he blazes	I. 66. 3
अभ्वम्	स्थूल सत्ता को	(to)being of thickness	I. 140. 5
अमतिः	तेज	splendour	I. 73. 2
अमम्	बल को	(to) strength	I. 66. 4
अमवन्तः	बलशाली	forceful	I. 36. 20
अमूराः	ज्ञानी	the wise	I. 68. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अमृतम्	अमरताको	immortality	I. 68. 2
अमृतासः	अमर देव	immortals	I. 127. 8
अयते	वह हटता है	goes back	I. 127. 3
अरणिभिः	गतियोंसे	by (his) movements	I. 127. 4
अरम्	पर्याप्त	sufficient	I. 66. 3
अराधि	उसने संसिद्ध किया है	he has achieved	I. 70. 4
अराव्णः	आनंद-विरोधीका	of the undelighting	I. 36. 15
अरुणम्	गुलाबी रंगको	to rosy hue	I. 73. 7
अरुण्यः	अरुण रंगवाली (गौएं)	the red ones	I. 140. 13
अरुषम्	रक्तवर्ण, क्रियाशील	red active	I. 36. 9
अरुषीः	अरुणवर्णवाली घोड़ियां–अश्व-शक्तियां	ruddy (mares)	I. 72. 10
अरुषीम्	अरुण वर्णवाली	flushing red	I. 71. 1
अर्चयः	ज्वालाएं	flames	I. 36. 20
अर्यः	प्रभुत्वशाली	master	I. 70. 1
अर्वद्भिः	युद्धके घोड़ोंके द्वारा	by (our) war-horses	I. 73. 9
अर्हणा	उचित क्रियासे संपन्न	having its due action	I. 127. 6
अवः	सुखकी ओर	towards the happiness	I. 127. 5
अव-अस्य	दूर रखकर	casting away	I. 140. 10
अव त्सरत्	सरकता हुआ नीचे आया	he came down	I. 71. 5
अवनिम्	सत्ताको	to being	I. 140. 5
अवसे	संरक्षण पानेके लिए	for safeguarding	I. 127. 4
अविन्दन्	वे पा लेते हैं	they found	I. 72. 6
अशंसन्	वे उच्चारण कर लेते हैं	have uttered	I. 67. 2
अश्नुवत्	वह उपभोग करता है	one enjoys	I. 1. 3
अश्याः	वह प्राप्त कर लेता है, अधिकृत कर लेता है	he attains, may attain, may take possession of	I. 69. 3 I. 70. 1
अश्युः	वे उपभोग करें, अधिकृत कर लें	may they enjoy, may they possess	I. 73. 5 I. 73. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अश्व:	जीवनका अश्व	the steed of life	I. 36. 8
असमना:	कंपायमान	unharmonious	I. 140. 4
असूदयन्त	उन्होंने पथपर वेगसे परिचालित किया	they sped (them) on the way	I. 72. 3
अस्ता इव	तीर छोड़नेवाले धनुर्धरकी तरह	like one shooting arrows	I. 70. 6
अस्तु:	धनुर्धारीका	of the archer	I. 66. 4
अस्तृतम्	अजेय	unconquerable	I. 140. 8
अहन्	तूने प्रहार किया	thou hast smitten or slain	I. 69. 4
अह्वे	मैं पुकारता हूं	i call	I. 69. 3

आ

आजुह्वानस्य	आहुतिके रूपमें उंडेले गये (घृतका)	(of the offering of light) poured as an oblation	I. 127. 1
आत् इत्	इसके बाद ही	then indeed	I. 71. 3
आदत्	वह भक्षण करता है	he devours	I. 127. 6
आददि:	ग्रहण करनेवाला	one who accepts or takes	I. 127. 6
आनट्	आयी	come	I. 71. 8
आनुषक्	अविच्छिन्न परंपरा	an unbroken succession	I. 72. 7
आप:	जलधाराएं	waters	I. 65. 2
आपप्रिवान्	परिपूरित करता हुआ	filling	I. 73. 8
आप्यम्	क्रियाशीलता	effectivity	I. 36. 12
आयवे	आगमनके लिए	for coming	I. 140. 8
आयु:	जीवन	life	I 66. 1
आर्तनासु	बंजर भूमियोंपर	over (our) waste lands	I. 127. 6
आविवासति	वह पास पहुंचता है	he approaches	I. 12. 9
आशये	वह उपभोग करता है या (उनके साथ) स्थित होता है	he enjoys or lieswith them	I. 140. 7 I. 140. 7
आशव:	वेगशाली अश्व	swift steeds	I. 140. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
आसत्सि	(अपना) स्थान ग्रहण कर	take (thy) seat	I. 12. 4
आसया	उपस्थितिमें	in (whose) presence	I. 127. 8
आसा	मुखके द्वारा	with the mouth	I. 140. 2
आहुत:	आहुतियोंसे पुष्ट	fed with offerings	I. 36. 8
आहूर्य:	वह जिसे हमें अपने अंदर पुकारना चाहिये	one whom we must call in	I. 69. 2
	इ		
इत्	सचमुच ही	verily	I. 1. 4
इद्धम्	प्रदीप्त	kindled	I. 66. 5
इन्धते	वे पूरी तरह प्रज्वलित करते हैं	they light entirely	I. 36. 7
इभ्यान्	शत्रुओंको	(to) enemies	I. 65. 4
इमसि (आ)	हम (निकट) आते हैं	we come to	I. 1. 7
इषम्	बल, प्रेरणाशक्तिको	(to) the force	I. 140. 13
इषे	प्रेरक शक्तिके लिये	for impelling force	I. 71. 8
इष्टनि:	वेगसे सांय-सांय करती हुई	hurrying over	I. 127. 6
इहि	आ पहुंच	arrive	I. 71. 10
	ई		
ईधे	उसने प्रज्वलित किया है	he has kindled	I. 36. 11
ईम्	वह	It	I. 140. 2
	इसको	him	I. 65. 2,3
ईरते	वे बढ़ते हैं	they speed	I. 140. 5
ईळते	वे पाना चाहते हैं	they desire	I. 36. 1
ईळित:	स्तुति किया हुआ	adored	I. 13. 4
ईळे	मैं उपासना करता हूं	I adore	I. 1. 1
ईशत	वह शासन करे	he may have mastery	I. 36. 16
ईशे	वह स्वामी है	he is the master	I. 71. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
	उ		
उक्थम्	वाणी	word	I. 140. 13
उक्षितः	सत्तामें वर्धित होकर	increased in being	I. 36. 19
उग्रः	शक्तिशाली	puissant	I. 127. 11
उच्छन्ती	दमकती हुवी	shining out	I. 71. 1
उप	निकट	near to	I. 1. 7
	तू निकट पहुंच	(thou) approach	I. 12. 7
उप-आसते	वे उपासना करते हैं	they adore	I. 36. 7
उपक्षेति	वह निवास करता है	he inhabits	I. 73. 3
उपरासु	ऊर्ध्वतर स्तरोंपर	on the upper levels	I. 127. 5
उप वोचन्त	वे वाणी उच्चरित कर चुकते हैं	they have spoken	I. 127. 7
उपस्तुतम्	स्तुतिसे संतुष्ट करनेवालेको	(to) one who has confirmed him by the song of praise	I. 36. 17
उपस्थात्	वह पहुंचता है	he reaches	I. 68. 1
उर्वरासु	उपजाऊ भूमियोंपर	over fertile lands	I. 127. 6
उशतीः	कामना करती हुई	desiring	I. 71. 1
उषर्बुधे	उषामें जागनेवालेके लिये	for the waker in the Dawn	I. 127. 10
उस्राः	चमकते हुए गोयूथोंको	(to) shining herds	I. 71. 2
	ऊ		
ऊधः	स्तन	teat	I. 69. 2
ऊर्णोत् (वि-)	वह प्रकट कर देता है	he uncovers	I. 68. 1
ऊर्वम्	विशालताको	(to) the wideness	I. 72. 8
	ऋ		
ऋचः	पूर्णता-साधक ऋचाएं	fulfilling words	I. 36. 11
ऋता	सत्यकी वस्तुओं को	to things of the truth	I. 67. 4
ऋतात् अधि	सत्यके आधारपर	upon truth	I. 36. 11
ऋषूणाम्	ज्ञानियोंका	of the wise	I. 127. 10
	ए		
एवैः	गतियोंसे	by movements	I. 68. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
	ऐ		
ऐनोत् (प्र-)	वह आगेकी ओर प्रवाहित करता है	he sends in his front	I. 66. 5
	ओ		
ओजायमानः	शक्तियोंको प्रकट करता हुआ	putting out his forces	I. 140. 6
	औ		
और्णोत् (वि-)	वह पूरी तरह खोल देता है	he flings wide open	I. 68. 5
	क		
कः	उसने बना दिया	he had made	I. 71. 5
कनीनाम्	कन्याओंका (अप्रकट शक्तियोंका)	of the virgins	I. 66. 4
कम्	आनन्दको	(to) bliss	I. 72. 8
करिक्रतः	निर्माण करते हुए	creating	I. 140. 5
कविक्रतुः	क्रान्तदर्शी संकल्प	the seer-will	I. 1. 5
काव्या	द्रष्टृ-प्रज्ञाओंको	(to) seer-wisoms	I. 72. 1
कीस्तासः	कीर्तन करनेवाले	bards	I. 127. 7
कृण्वत्	उसने निर्माण किया	they made	I. 72. 5
कृण्वानासः	निर्मित करते हुए	making	I. 72. 9
कृपा	प्रभा के साथ स्पृहाके साथ	with lustre, with longing	I. 127. 1
कृष्टयः	कर्मके कर्ता	doers of action	I. 36. 19
कृष्णप्रुतौ	अंधकारमय पथपर	on (their) dark path	I. 140. 3
कृष्णसीतासः	अंधकारमय और प्रकाशमय	dark and bright	I. 140. 4
केतुः	अंतर्ज्ञानमय चक्षु	eye of intuition	I. 127. 6
केतुना.	प्रत्यक्षज्ञानयुक्त मनके द्वारा	by the perceiving mind	I. 36. 14
केशिनीः	लहराते केशकलाप से युक्त	those who have flowing tresses	I. 140. 8
क्रतुः	संकल्प	will	I. 127. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
ऋत्वा	संकल्पसे	by will	I. 69. 1
क्षप:	रात्रियां	nights	I. 70. 4
क्षपावान्	रात्रिका स्वामी	master of the nights	I. 70. 3
क्षरन्ति	वे प्रवाहित हो उठती हैं	they flow	I. 72. 10
क्षाम्	पृथ्वी को	(to) earth	I. 67. 3
क्षासु	भूमिकाओंमें	in planes	I. 127. 10
क्षितीनाम्	प्रजाओंके	for the people	I. 72. 7
क्षेम:	कुशल-मंगल	welfare	I. 67. 1
क्षोद:	बह रही	running in its channel	I. 66. 5
	ग		
गव्यम्	रश्मि-रूपी गौओंके यूथ को	to mass of ray-cows	I. 72. 8
गातुम्	पथ को	(to) path	I. 71. 2
गाव:	रश्मिरूप गौएं	ray-cows	I. 66. 5
गुहम्	गुप्त स्थान को	(to) secrecy	I. 67. 3
गृध्नु:	अधिकृत करनेको आतुर	hungry to seize	I. 70. 6
गृभायति (सं-)	वह पूरी तरह अधिकृत कर लेता है	he seizes utterly (on them)	I. 140. 7
गविष्टिषु	गौओंकी चरागाहोंमें	in the pastures of the kine	I. 36. 8
गोषु	सूर्य-रश्मियोंमें	in the ray-cows, the shining herds of the Sun	I. 71. 9
ग्रभणवत्	वह अधिकृत कर लेता है	he grasps	I. 127. 5
	घ		
घना	घनाघन पड़ती चोटों के द्वारा; बादल	as with thick falling blows; clouds	I. 36. 16
घृतपृष्ठम्	निर्मल आहुतिओंसे सींचे हुए(आसन)को	(to the seat) sprinkled with clear offerings	I. 13. 5
घृतस्य	प्रकाशरूप हवि का	of the offering of light	I. 127. 1
घृताहवन	हे मनकी निर्मलताकी भेंटोंसे पुकारे जाते हुए	O one who is called by the offerings of clarity	I. 12. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
च			
चक्राण:	निर्माण करता हुआ	fashioning	I. 72. 1
चरथम्	जंगमको	(to) that which is mobile	I. 72. 6
चराथा	गतिके द्वारा	by movement	I. 66. 5
चारु	सौंदर्यको	(to) beauty	I. 72. 2
चिकिते	वह जाना गया है	it has been perceived	I. 71. 7
चिकित्व:	हे चिन्मय देव !	o thou who art conscious	I. 70. 3
चिकित्वान्	प्रत्यक्ष अनुभवसे युक्त	one who has perceived	I. 71. 7 I. 72. 4
चिकेत	उसने देख लिया है	he has perceived	I. 67. 4
चित्	भी	even	I. 70. 2
चित्ति:	ज्ञान	knowledge	I. 67. 5
चित्र:	अद्‌भुत ढंगसे नाना-रूप	wonderfully manifold	I. 66. 3
चित्रम्	चित्रविचित्र रंगोंके साथ	in rich hues	I. 71. 1
चृतन्ति (वि-)	वे प्रदीप्त कर लेते हैं	they kindle	I. 67. 4
छ			
छाया इव	छायाके समान	like a shadow	I. 73. 8
ज			
जग्धम्	खाया गया	eaten	I. 140. 2
जनय:	माताएं	mothers	I. 71. 1
जरते	वह स्तुतिगान करता है	he chants	I. 127. 10
जरिमा	बुढ़ापा	age	I. 71. 10
जहि (वि-)	तितर-बितर कर दे	scatter utterly (to every side)	I. 36. 16
जानती:	ज्ञानसे संपन्न उनको	to those who know	I. 140. 7
जामिभि:	साथियों द्वारा	with companions	I. 71. 7
जायु:	विजेता	conqueror	I. 67. 1
जिन्वन्	उन्होंने सुख दिया	they gave (him) pleasure	I. 71. 1
जिव्रे:	वयोवृद्धसे	from long-lived	I. 70. 5
जुनासि	तू वेगसे ले चलता है	(thou) speedest	I. 71. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
जुवः	प्रेरणाएं	impulsions	I. 140. 4
जुषन्त	वे सहर्ष अनुसरण करते हैं	follow with pleasure	I. 127. 6
जुषस्व	स्वीकार कर	accept	I. 12. 12
जुष्टानि	प्रीतिपूर्वक स्वीकार्य	acceptable	I. 73. 10
जूतये	प्रेरणा प्राप्त करनेके लिए	for (his) urge	I. 127. 2
जूर्णिः	स्तुतिगान	one who chants the adoration	I. 127. 10
जेन्यः	शक्तिमय प्रभु, विजेता	strong master conqueror	I. 140. 2 I. 71. 4
ज्योतीरथम्	जिसका रथ ज्योति ही है उसे	to one charioted in light	I. 140. 1
ज्रयः	आनन्द	delight	I. 140. 9

त

तक्वा	सरपट दौड़नेवाला (घोड़ा)	galloper	I. 66. 1
तनूनपात्	हे देहके पुत्र !	o son of the body	I. 13. 2
तन्वः	शरीरोंको	(to) bodies or forms of things	I. 72. 3
तपुर्जम्भ	हे शत्रुओंकी शक्तियों को निगल जानेवाले, दुःख-संतापका हरण करनेवाले	o devourer of their force, or destroyer of affliction	I. 36 16
तष्टान्	रचित (मंत्रोंको)	formed	I. 67. 2
तस्तम्भ	उसने थाम रखा है	he has up-pillared	I. 67. 3
तस्थिवांसम्	स्थित (को)	to one standing	I. 72. 4
तायुः	चोर	thief	I. 65. 1
तारीत्	वह संपन्न और समृद्ध करता है	he increases	I. 73. 1
तितिर्वांसः	वे जो जीत कर पार कर चुके हैं	those who have broken through	I. 36. 7
तुरासः	यात्रामें तीव्र वेगसे बढ़नेवाले	those who are swift to the journey	I. 68. 5
तुविस्वनिः	अनेक ध्वनियोंसे युक्त	many-noised	I. 127. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
तृषुच्युतम्	वेगयुक्त गति करने-वालेको	to one rushing swiftly	I. 140. 3
त्रिवृत्	त्रिविध	triple	I. 140. 2
त्वा-ऊताः	तुझ द्वारा सुरक्षित	safe-guarded or upheld by thee	I. 73. 9
त्विषिः	तेजोमय बल	flaming energy	I. 71. 5
त्वेषः	तेज	splendour	I. 66. 3
	द		
दंसः	कार्य	work	I. 69. 4
ददृशानः	प्रत्यक्ष गोचर होता हुआ	becoming visible	I. 127. 11
दधुः (नि-)	उन्होंने स्थापित किया	they have founded, they set	I. 73. 4 I. 72. 10
दमूनाः	अंतर्यामी	dweller within	I. 68. 5
दम्पतिम्	घरके स्वामीको	to master of the house	I. 127. 8
दयस्व	प्रदान कर	give	I. 68. 3
दविधाव	उछालकर मारता है	he tosses	I. 140. 6
दस्यवे	शत्रुके विरोधमें	against the foe	I. 36. 18
दाशात्	वह दे देता है	he gives	I. 68. 3
दाशा	पूजाके द्वारा	by (their) worship	I. 127. 7
दाष्टि	वह देता है	gives	I. 127. 4
दिद्युत्	ज्वालामय बाण	flaming shaft	I. 66. 4
दिद्युम्	विद्युत्के बाणको	to arrow of lightning	I. 71. 5
दिधिषाय्यः	अवलंब, विचारमेंधारणकरनेयोग्य	support, one to be upheld in thought	I. 73. 2
दिधिष्वः	विचारशक्तिसे संपन्न	having the understanding	I. 71. 3
दिवातरात्	दिनकी अपेक्षा	than in the day	I. 127. 5
दीदिवः	हे देदीप्यमान (देव)	o shining one	I. 12. 5
दीदिहि	भास्वर रूपमें प्रज्वलित हो	burn bright	I. 140. 10
दीदेथ	अत्यंत उज्ज्वलरूपमें प्रज्वलित हो	mayst thou burn	I. 36. 19
दुः	वे देते हैं	they give	I. 127. 4
दुरः	द्वारों को	(to) doors	I. 68. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
दुरोकशोचि:	एक ऐसे घरमें जिस में वास करना कठिन है वह ज्योति:स्वरूप है, या वह एक ऐसी ज्योति है जिसे प्रदीप्त करना कठिन है	he is light in a house difficult to inhabit, or a light difficult to kindle	I. 66. 3
दूत्यम्	दूतकार्य को	(to) embassy	I. 71. 4
दूरेभा:	वह जिसकी ज्योति दूरातिदूरसे दृष्टिगोचर होती है	one whose light is seen from afar	I. 65. 5
दृशीके	अभिव्यक्तिमें	in the manisfesting	I. 66. 5
देवतातये	देवोंके निर्माण के लिए	for the forming of the gods	I. 127. 9
देवभक्तम्	देवोंके द्वारा वितरित या आस्वादित (ज्ञान को)	(to the knowledge) distributed or enjoyed by the gods	I. 73. 10
देवयानान्	देवताओंकी यात्राके मार्गों को	(to) the paths of the journey of the gods	I. 72. 7
देववीतये	देवोंके दिव्य जन्म के लिए	for the birth of the gods	I. 12. 9
देवहूतिभि:	देवोंका आवाहन करनेवाली दिव्य ऋचाओंके साथ	with the divine hymns that summon the gods	I. 12. 12
देव्यम्	दिव्य अवस्थाको	(to) divine state	I. 140. 7
दोषावस्त:	अंधकार और प्रकाशके समय	in the night and in the light	I. 1. 7
द्यावाक्षामा	द्युलोक और पृथिवीलोकको	(to) heaven & earth	I. 140. 13
द्युभक्ता:	द्युलोकमें उपभोग की गई या उससे विभक्त की गई	enjoyed in heaven, or shared by heaven	I. 73. 6
द्युम्नितम:	अत्यंत ज्योतिर्मय	most luminous	I. 127. 9
द्युम्नी	ज्योतिर्मय ऊर्जा-शक्ति	luminous energy	I. 36. 8
द्रुहन्तर:	हानि पहुँचानेकी इच्छा करनेवालों का विदारक	one who cleaves through those who would hurt	I. 127. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
ध			
धनयन्	उन्होंने समृद्ध किया	they enriched	I. 71. 3
धनस्पृतम्	ऐश्वर्यको अधिकृत करनेवालेको	(to) seizer of wealth	I. 36. 10
धाः (वि)	व्यवस्था कर	ordain	I. 72. 7
धात्	वह थामे हुए है	he upholds	I. 67. 2
धियंधाः	विचारको धारण किये हुए	upholding the thought	I. 72. 2
धिषे	तू स्थापित करता है	thou establishest	I. 70. 5
धीराः	विचारक	the thinkers	I. 65. 1
धुः (सं-)	उन्होंने संयुक्त कर दिया	they joined	I. 73. 7
ध्रुवासु	शाश्वत (लोकों)में	in the abiding worlds	I. 73. 4
ध्वसयन्तम्	ध्वंस करनेवालेको	to one destroying	I. 140. 3
न			
न	जैसे कि	like	I. 65. 2
	नहीं	not	I. 71. 7
नकिः	कोई भी नहीं	none	I. 69. 4
नक्तम्	रात्रिमें	in the night	I. 127. 5
नक्षन्ते	वे पास आते हैं	they come to	I. 66. 5
नभः	कोहरा	mist	I. 71. 10
नमः	समर्पणरूप नमन	obeisance of surrender	I. 71. 6
	नमन व स्तवन	adoration	I. 65. 1
नमस्विनः	आत्मसमर्पणकर्ता मनुष्य	men who have attained submission	I. 36. 7
नम्नते	वह नत होता है	he bends down	I. 140. 6
नर्या	देवत्वकी शक्तियोंको	(to) powers of the godhead	I. 72. 1
नववास्त्वम्	नये निवासस्थान की ओर	(to) a new dwelling	I. 36. 18
नानदत्	वह उच्च स्वरसे पुकारता है	he cries aloud	I. 140. 5
नित्य-अरित्राम्	नित्य विकासमय गतिके साथ यात्रा करनेवाली नौकाको	(to a ship travelling) with eternal progress of motion	I. 140. 12

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
निमिषि	(उसकी) दृष्टिमें	In (his) gaze	I. 72. 5
नि-रिणाति	विदारित कर देता है	he tears	I. 127. 4
निःसहमानः	सामर्थ्यसे अभिभूत करता हुआ	overwhelming with force	I. 127. 3
नि-सिक्तम्	ढाला गया	was cast	I. 71. 8
निहिता	अंदर रखी हुई	hidden	I. 72. 6
नीचीः	नीचेकी ओर अवतरित होती हुई	downward	I. 72. 10
नृम्णा	बलोंको	(to) mights	I. 67. 2
नेदिष्ठम्	अत्यंत निकट	most near	I. 127. 11
नेमधिता	उच्चतर गोलार्द्धको धारण किये हुए	by (his) holding of the upper hemisphere	I. 72. 4
प			
पतिजुष्टा	पतिकी प्रिय	beloved of her lord	I. 73. 3
पद्वतीम्	यात्रा करनेवालीको	to one travelling	I. 140. 12
पदव्यः	(उसके) पथपर चलते हुए	treading on (his) track	I. 72. 2
पन्वा	प्रयाससे,	by (their) toil,	I. 65. 2
	स्तुतिसे	by (their) chant	I. 65. 2
परावता	परेके लोकसे	from the supreme beyond	I. 73. 6
परिचरन्ति	वे सेवा करते हैं	they serve	I. 127. 9
परिजभ्राणः	चारों ओरसे घेरे हुए	encompassing (us)	I. 140. 10
परिज्मानम्	चारों ओरसे व्यापे हुए (उसको)	to one who encircles all	I. 127. 2
परिभुवत्	वह चारों ओरसे व्यापे हुए है	he envelops	I. 68. 1
परिष्टः	चारों ओरसे घेरे हुए	Encompassing	I. 65. 2
परि सन्तम्	सब ओर विद्यमान (उसको)	to one who is all around	I. 72. 2
पशुः	गौ	cow	I. 65. 5
पितूनाम्	आनंद-मदिरा के घूंटोंके	of the draughts of wine	I. 69. 2
पिपेश	वह निर्मित करता है	he has formed	I. 68. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
पीपयन्त	उन्होंने पुष्ट किया	they have fed us (with their milk)	I. 73. 6
पुरःसदः	सामने बैठे हुए	sitting in our front	I. 73. 3
पुरुक्षुः	अनेकानेक ऐश्वर्यों-का धाम	housing a multitude of (riches)	I. 68. 5
पुरुप्रशस्तः	विविध रूपसे अभिव्यक्त	manifoldly expressed	I. 73. 2
पुरुप्रियम्	बहुविध अभिव्यक्ति-के प्रेमपात्र उसको	to one in whom are many things dear	I. 12. 2
पुरोहितम्	(यज्ञके) पुरोहितको	(to) vicar (of the sacrifice)	I. 1. 1
पूर्धि	परिपूर्ण बना	complete	I. 36. 12
पृक्षः	तृप्तियां	satisfactions	I. 71. 7
	पूर्ण स्वरूप	fullness	I. 127. 5
पृशन्यः	घनिष्ठ संपर्क रखता हुआ	one close in touch	I. 71. 5
प्र-अवन्तु	वे प्रीतिपूर्वक सेवन करें	may they cherish	I. 127. 2
प्र-अविता	रक्षक	protector	I. 12. 8
प्रगाहते	वह प्रवेश करता है	he enters	I. 127. 4
प्रजभ्रिरे	उन्होंने धारण किया	they bore impetuously	I. 72. 4
प्रति स्म	विरोध कर	do thou oppose	I. 12. 5
प्रदीदियुः	वे देदीप्यमान हो उठें	may they blaze forth	I. 36. 11
प्रयसा	आनंदके द्वारा	by delight	I. 71. 3
प्रसूषु	माताओंमें	in the mothers	I. 67. 5
प्राचाजिह्वम्	जिसकी जिह्वा ऊपर-की ओर उठी हुई है उसे	to one whose tongue is lifted upwards	I. 140. 3
प्रियधामाय	आनंद ही जिसका धाम है उसके लिये	for one whose abode is bliss	I. 140. 1
प्रियात्	आनंदपूर्ण सत्तासे	out of blissful	I. 140. 11
प्रेयः	बृहत्तर आनन्द	greater bliss	I. 140. 11
बर्हिषि	पवित्र कुशापर	on the holy grass	I. 12. 4
बृहतीः	बृहत्	vast	I. 72. 4
बृहद्भानो	हे विशाल दीप्तिवाले!	o vast of lustre	I. 36. 15
बोधय (वि-)	जगा दे	awaken	I. 12. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
भक्तम्	सेवन किये हुए (सुख) की ओर	to that which is enjoyed	I. 127. 5
भजन्त	वे प्रसन्नतापूर्वक भजन करते हैं	they enjoy	I. 68. 2
भद्रम्	कल्याणकारी भलाई को	(to) happy good	I. 1. 6
भर (आ)	ले आ	bring (to us)	I. 12. 11
भरन्तः	वहन करते हुए	carrying	I. 1. 7
भिक्षमाणाः	भिक्षा मांगते हुए	asking for, praying for	I. 73. 6
भीमः	भयंकर	terrible	I. 140. 6
भुज्म	उपभोग करने योग्य	enjoyable	I. 65. 3
भूषन्	अपना रूप धारण करना चाहता हुआ	one who would become	I. 140. 6
भृगवाणः	देदीप्यमान द्रष्टा	Flaming seer	I. 71. 4
भोजते	वह उपभोग करती है	enjoys	I. 72. 8
	म		
मघवत्सु	पूर्ण ऐश्वर्यकी अवस्थामें	In fullness	I. 140. 10
मघवन्	हे प्रचुर ऐश्वर्य के अधिपति !	o Lord of plenty	I. 127. 11
मथीः	मथकर प्रकट कर	churn out	I. 127. 11
मदः	हर्षोल्लास	rapture	I. 127. 9
मन्द्रः	आनंदोल्लसित	rapturous	I. 36. 5
मनीषा	विचारशील मनके द्वारा	by the thinking mind	I. 70. 1
मन्ये	मैं ध्यान करता हूं	I meditate	I. 127. 1
ममृशत्	वह स्पर्श करता है	he touches	I. 140. 5
मरुषीः	मरने ही वाली	those who are about to perish	I. 140. 8
मर्षिष्ठाः	भुला दे, उपेक्षा कर, मिटा दे	mayst thou forget or neglect or wipe out	I. 71. 10
मह्ना	महिमासे	with the greatness	I. 72. 9
मातरिश्वा	जीवन-प्राण	the life-breath	I. 71. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
मारुतम्	आंधी-तूफानोंकी या प्राणशक्तियों की	of or belonging to the storm-winds or Life-Powers	I. 127. 6
मिनाति	वह क्षीण कर रहा है	it diminishes	I. 71. 10
मियेध्य	हे यजनीय !	(Thou) of the sacrifice	I. 36. 9
मुमुक्ष्वः	मुक्तिकी कामना करनेवाली	those which desire freedom	I. 140. 4
मृष्ट (नि-)	वह आलिंगनमें जोरसे कस लेता है	he engirdles & crushes in his embrace	I. 140. 2

य

यजिष्ठम्	यज्ञ करनेके लिए अत्यंत शक्तिशाली (तुझ) को	to one most powerful for sacrifice	I. 127. 2
यज्ञासः	यज्ञके स्वामी	masters of sarifice	I. 72. 4
यन्तः	प्राप्त करें	they may reach	I. 140. 13
यमते	श्रम किये चलता है	he toils on	I. 127. 3
यव्यम्	शक्तिको	(to) strength	I. 140. 13
यह्वीः	शक्तिशाली	mighty	I. 71. 7
याता इव	धावा बोलनेवाले आक्रामककी तरह	like assailant charging	I. 70. 6
योनौ	घरमें	in the abode	I. 65. 2
			I. 66. 3

र

रक्षस्विनः	सीमामें बांधनेवालोंको, अवरोधक शक्तियोंको	(to) those that confine, to powers detain who	I. 12. 5
			I. 36. 20
रघुद्रुवः	तीव्रगति देनेवाली	swift hastening	I. 140. 4
रघु-स्यदः	द्रुतगामी	rapid	I. 140. 4
रत्नधातमम्	जो आनंदैश्वर्यको अत्यधिक प्रतिष्ठित करता है उसको	(to) one who most founds the ecstasy	I. 1. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
रपांसि	पापकी शक्तियोंको	(to) the powers of evil	I. 69. 4
रयिम्	आनन्दको	(to) the felicity	I. 12. 11
	ऐश्वर्यको	(to) treasure	I. 1. 3
रवेण	रवसे	with (their) cry	I. 71. 2
रसम्	सार-रसको	(to) sap of essence	I. 71. 5
रायः	ऐश्वर्य	riches	I. 127. 11
रासि	तुम प्रदान करते हो	thou givest	I. 140. 12
रिरिक्वांसः	रिक्त करते हुए	making (themselves) empty	I. 72. 5
रिहन्	फाड़ता हुआ	tearing	I. 140. 9
रिषतः	द्वेषियोंको	(to) haters	I. 12. 5
रुक्मी	स्वर्णमय	golden	I. 66. 3
रुजन्	उन्होंने छिन्नभिन्न कर दिया	they shattered	I. 71. 2
रेभः	स्तोता	one who chants adoration	I. 127. 10
रेभिरे	वे पूर्ण आनंद लेती हैं	they take utter delight	I. 140. 8
रेरिहत्	वह सब कुछको पार कर लक्ष्य तक जाता है	he breaks through to the goal	I. 140. 9
रोधत्	वह धारित करता है	he holds up	I. 67. 5
रोरुवत्	हुंकार मारता हुआ	bellowing	I. 140. 6

व

वनसे	तू जीत लेता है	thou winnest	I. 140. 11
वनिनः	आनंदप्रद पदार्थोंको	(to) delightful things	I. 140. 2
वनिषीष्ट	वह आस्वादन करता है	he enjoys	I. 127. 7
वनुयाम	हम जीत लें	may we conquer	I. 73. 9
वयः	विशालताको	(to) wideness	I. 140. 9
	विकासको	(to) growth	I. 66. 2
वयोधाः	बल स्थापित करता है	founds our strength	I. 73. 1
वरम्	परम कल्याणको	(to) supreme good	I. 140. 13

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वराते	वह रोक सकता है	shall hedge	I. 65. 3
वर्तनीः (अनु)	मार्गोंको	To the paths	I. 140. 9
वर्पः	रूपको	(to) form	I. 140. 5
वव्ने	उसने जीत लिया	he has won	I. 36. 17
वसुम्	ऐश्वर्य-निधिको	(to) the treasure	I. 127. 1
वाघद्भिः	गीतोंसे	with (our) chants	I. 36. 13
वाजम्	प्रचुर ऐश्वर्य को	(to) plenitude	I. 73. 5
वातजूताः	वस्तुमात्रकी जीवन-शक्तिके द्वारा परिचालित	driven by the breath of things	I. 140. 4
वारणः	घेर लेनेवाला	the coverer, one who engirdles	I. 140. 2
वासय	परिवेष्टित कर दो	clothe	I. 140. 1
विक्षु	प्रजाओंमें	among the folk	I. 66. 2
विट्	प्रजा	creature	I. 72. 8
विदाः	सम्यक् विभाग कर, प्रदान कर या प्राप्त कर	distributes impart or gain	I. 36. 14 I. 71. 7
विधतः	उपासकके	of the worshipper	I. 73. 1
विप्रम्	ज्योतिर्मय देवको	to one illumined	I. 127. 1
विभावा	विशाल दीप्तिवाला	one with wide lustre	I. 66. 1
	अति भास्वर	very bright	I. 69. 5
विरुक्मता	व्यापक रूप से देदीप्यमान (शक्ति) के द्वारा	with wide-shining (energy)	I. 127. 3
विवाय (आ-)	वह जाता है	he goes	I. 71. 4
विश्वायुः	विश्वमय जीवन	universal life	I. 67. 3
विष्वक्	पूरी तरह या चारों ओरसे	utterly or to every side	I. 36. 16
विस्तिरः	व्यापक रूपसे विस्तृत होता हुआ	wide-extended	I. 140. 7
वीतये	आनन्दोपभोगके लिए	for enjoyment	I. 13. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वृक्तबर्हिषे	उसके लिए जिसने पवित्र आसन बिछा रखा है	for one who spreads the holy seat	I. 12. 3
वृजनानि	दृढ स्थानों को	(to) strong places	I. 73. 2
वृथा	मंद गतिसे	lightly	I. 140. 5
वृषा	उपभोक्ता	enjoyer	I. 140. 2
वधः	हे पदार्थमात्रके विधाता	o ordainer of things	I. 73. 10
वेविजे	वह गति करनेकी शक्ति देता है	he gives energy of movement	I. 140. 3
वेविदानाः	खोज निकालते हुए	discovering	I. 72. 4
व्रता	कर्म के नियम कम-प्रणालियों को	the laws of action, to the ways of workings	I. 36. 5 I. 69. 4
	श		
शकेम	हम समर्थ हों	may we have the strength	I. 73. 10
शंभु	आनंद-दायक	bliss-giving	I. 65. 3
शर्म	आश्रय-धाम	house of refuge	I. 127. 5
शासम्	शिक्षा को	(to) teaching	I. 68. 5
शासुः	शासन	the command	I. 73. 1
शिशीते (अति-)	वह आगे बढ़ जाता है	he exceeds	I. 36. 16
शिशुमतीः	बालबुद्धिवाली	those that are infant minds	I. 140. 10
शुचिः	शुद्ध-पवित्र	pure-bright	I. 66. 1
शुम्भते	वह आनंद देता है	he gives joy	I. 127. 7
शुशुक्वान्	देदीप्यमान होता हुआ	blazing out	I. 69. 1
शुरुधः	बलोंको	(to) strengths	I. 72. 7
शुष्मिन्तमः	अत्यंत शक्तिशाली	most powerful	I. 127. 9
शेवः	आनन्दपूर्ण	blissful	I. 73. 2
शोचिःकेशम्	प्रकाश-ज्वाला-रूपी बालोंवाले को	to one with hair of flaming light	I. 127. 2
श्यावीम्	धूमिल (उषा) को	dusky	I. 71. 1
श्येतः	शुभ्र	white	I. 71. 4
श्रवः	अंतःप्रेरित ज्ञानको	(to) inspired knowledge	I. 73. 10

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
श्रीणन्	प्रज्वलित होता हुआ	burning	I. 68. 1
श्रुवत्	वह टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती है	it falls asunder	I. 127. 3
श्रुष्टिम्	अंतःप्रेरणा को	to inspiration	I. 167. 1
श्रुष्टीवानः	जो (तेरा) शब्द सुनते हैं वे	thore who hear (thy) word	I. 127. 9
श्वसीवान्	बहनोंसे युक्त	one with the sisters	I. 140. 10

स

सक्षितौ	एक ही वासस्थान में निवास करने-वाली	living in their common dwelling	I. 140. 3
सचस्व	दृढतासे जुड़ा रह	cling	I. 1. 9
सत्यधर्माणम्	सत्य ही जिसका विधान है उसे	to one whose law of being is the Truth	I. 12. 7
सत्यमन्मा	विचारोंमें सत्यमय	true in (his) thoughts	I. 73. 2
सनिता	रक्षक	saviour	I. 36. 13
सपन्तः	वे जो स्पर्श करते हैं	those who touch	I. 67. 4
समत्सु	संग्रामों में	in battles	I. 70. 6
समया	ऊपर	over	I. 73. 6
समृतौ	(जिसकी) चोट पड़ने पर	in (whose) shock	I. 127. 3
संमाय	माप कर	having measured	I. 67. 5
संस्तिरः	संकुचित	contracted	I. 140. 7
सस्रुः	वे प्रवाहित हो उठीं	they flowed	I. 73. 6
सहः	शक्ति	the Force	I. 36. 18
सातौ	सुरक्षित सत्तामें	in safe being	I. 36. 17
सीम्	हर जगह	everywhere	I. 36. 1
स्वाधीः	चिन्तनमें यथार्थ	just in (his) thinking	I. 67. 1
	पूर्ण विचारक	the perfect thinker	I. 70. 2
सूपायनः (सु-उपायनः)	सुगमतासे प्राप्त होनेवाला	easy of access	I. 1. 9
स्तनयन्	गरजता हुआ	thundering	I. 140. 5
स्तुभ्वा	स्तुति-गायक	one who chants	I. 66. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
स्थाताम्	स्थावर वस्तुओं का	of things stable	I. 70. 2
स्योनशी:	सुखसे लेटा हुआ	lying happily	I. 73. 1
स्व:	सूर्य-लोक	sun-world	I. 66. 5
		world of the sun	I. 69. 5
स्वधाव:	हे स्वयं-स्थित (अग्ने)	o thou who hast the self-fixity	I. 36. 12
स्वाद्मा	मधुमय बनानेवाला या स्वाद लेनेवाला	the sweetener or the taster of all fruits	I. 69. 2

ह

हविष्कृतम्	जो हवियोंका सर्जन करता है उसे	to one who creates the offerings	I. 13. 3
हवीमभि:	देवोंका आवाहन करनेवाले सूक्तोंके द्वारा	with hymns that summon the Gods	I. 12. 2
हव्यवाट्	हमारी भेंटोंका वहन करनेवाला	the bearer of offerings	I. 67. 1
हितमित्र:	हितकारी मित्र	good and friendly	I. 73. 3
हुवेम	हम पुकारें	may we call	I. 127. 2
हृषीवत:	आनंदमय (अग्नि) का	of the joyful (Fire)	I. 127. 6
होता	आवाहन करनेवाला पुरोहित	priest of invocation	I. 73. 1
होत्राभि:	हविओंकी महानता से	by the greatness of the oblation	I. 36. 7
ह्वये (उप-)	मैं आवाहन करता हूं	I call	I. 13. 3

अनुक्रमणिका VII

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावलि

अ

अखंड	Undivided
अखंडनीय	Inviolable
अग्निज्वाला	Flame
अच्युत	Unfallen
अजेय	Invincible
अड्डा	Haunt
अतिचेतन	Superconscient
अतिभौतिक	Supraphysical
अतिमानसिक	Supramental
अतिमानसिक सत्य	Supramental truth
अत्रिगोत्र	House of Atri
अदमनीय	Untameable
अदिव्य	Undivine
अधित्यका	Plateau
अनन्त	Infinite
अनाम	Unnamable
अनावरण करना	Unveil
अनुभूति	Perception
अनुशासन	Discipline
अन्वेषक	Finder
अपरिमित	L-avish
आभा	Blaze
अभिव्यक्त	Manifest
अभिव्यक्ति	Manifestation
अभीप्सा	Aspiration
अभीष्ट	Desirable
अमरताकी सुरा	Wine of immortality
अमूर्त तत्त्व/वस्तुएं	Abstractions
अमृतमय सुरा	Ambrosial wine
अमंगलमय	Inauspicious
अरा	Spoke
अर्थपूर्ण	Significant
अर्धचेतन	Half-conscient
अर्धदेवता	Demi-god
अलंकार	Figure
अवचेतन	Sub-conscient
अवरुद्ध	Hampered
अव्यवस्था	Chaos
अशुभ	Evil
अशुभ देवता	Evil gods
अश्व	Steed
असत्य	Falsehood
असुर	Demon
अहि	Python
अज्ञेय	Unknowable

आ

आकाश	Firmament
आख्यान	Episode
आत्मदान	Self-giving
आत्मदृष्टि	Self-vision
आत्मप्रभुत्व	Self-possession
आत्मविस्तार	Self-expanding, self-enlargement
आत्मव्यवस्था	Self-ordering
आत्मानंद-निमग्न	Self-joyous
आत्मोत्थान	Self-uplifting
आत्मोपलब्धि	Self-achievement
आदिम	Primitive

आधार	Foundation
आधारभूत	Fundamental
आध्यात्मिक	Spiritual, psychological
आनंद	Delight, joy
आनंदकी सुरा	Wine of delight
आनंदातिरेक	Ecstasy
आनंदैश्वर्य	Felicity
आनंदोपभोक्ता	Enjoyer
आनंदोल्लास	Ecstasy
आरोपण (देवत्वका)	Apotheosis
आरोहणशील	Ascendent
आलोक	Illumination
आलंकारिक	Figurative, rhetorical
आवाहन करना	Invoke
आविर्भाव	Epiphany
आवेग	Passion
आहुति	Oblation
आहुतिका पुरोहित	Priest of the offering
इ	
इंद्रिय-जीवन	Sense-life
ई	
ईश्वर-आकर्षण	God-attraction
ईश्वर-प्राप्ति	God-attainment
ईश्वर-संपोषण	God-affirmation
उ	
उक्ति	Locution
उच्च श्रेणीका	Classical
उच्च-स्थित	Exalted
उज्ज्वलतम	Fairest
उदार	Bounteous
उद्धार करना	Deliver
उपजाऊ बनाना	Fertilise
उपलब्धि	Attainment, achievement
उपाख्यान	Legend
उलझा हुआ	Confused
ऊ	
ऊर्ध्वमुखी यात्रा	Upward voyaging
ऊर्ध्वस्थित	High uplifted
ऊर्ध्वारोही	Upclimbing
ऋ	
ऋत	Right
ए	
एकत्र होना	Converge
एकमेव (एकं सत्)	The One
ओ	
ओज	Energy
अं	
अंकुश	Goad
अन्तरिक्ष-लोक	Mid-world
अन्तःप्रेरणा	Inspiration
अन्तर्दृष्टि	Vision
अन्तर्यामी	Immanent
अन्तर्वेग	Impulsion
अन्तर्ज्ञान	Intuition
अन्तर्ज्ञानात्मक	Intuitive
अन्तःस्फूर्त ज्ञान	Inspired knowledge
क	
कठिन	Arduous
कथानक	Parable
कर्मकांडमय	Ritual
कलियुग	Age of iron
कल्याणकारी	Beneficial
कवि	Seer

क्रम	Gradation
क्रमबद्ध भूमिका	Ordered state
कामना	Desire
कामनाओंके पुंज	Multitude of desires
कार्य	Function
कार्यकर्ता	Agent
कालातीत	Timeless
काव्यमय रंगत	Poetic colouring
कुटिलता	Crookedness
कुपित	Wroth
कुंडली	Coil
कृतार्थता	Fulfilment
कृपण	Miser
क्षति	Diminution, violence

ग

गतिशक्तिमय	Dynamic
गुण	Attribute
गर्जनामय संगीत	Thunder-chant
गरिमा	Splendour
गहराई	Abyss
गाथा	Myth
गुफा	Cavern
गुह्य वचन	Passwords
गूढ़ आंतरिक	Esoteric

घ

घड़ा हुआ	Fashioned
घाट	Ford
घातमें बैठे	Ambushed
घृत	Clarified butter

च

चर	Mobile
चरम	Ultimate
चरम रात्रि	Utter night
चरितार्थ विधान	Accomplished law
चित्-शक्ति	Conscious force
चेतन सत्ता	Conscious Being
चेतना	Consciousness
चेतनाका प्रकाश	Light of consciousness
चोगा	Woven robe

ज

जटिल	Intricate
जटिलता	Complexity
जागरूक	Wakeful
जाज्वल्यमान	Radiant
रहस्य	Mystery
जीवन-शक्ति	Energy
ज्ञानकी रचनाएं	Formations of knowledge
ज्ञानदीप्त ऋषि	Illuminates
ज्ञानप्रकाशक	Revealing
ज्ञानप्रदीप्त	Illumined
ज्योति	Illumination, light
ज्योतिमें सुस्थिर	Steadfast in the light
ज्योतिर्मय	Luminous, resplendent
ज्योतिर्मय किरण-समूह	Herd of radiances
ज्वाला	Flame

ट

टीका-टिप्पणी	Annotation

ढ

ढांकना	Envelop

त

तत्	That

तत्त्व	Principle
तपस्	Energy
तरल	Flexible
तर्कसंगत	Logical
ताना-बाना	Texture
तार्किक सिद्धांत	Logical dogma
तीर्थयात्री	Pilgrim
तीव्र	Poignant
तीव्रता	Intensity
तेजस्वी	Splendid
तेजोमय	Brilliant
त्रैत	Trinity

द

दयाशीलता	Beneficence
दानव	Titan
दिव्य	Celestial
दिव्य जलधाराएं	Divine waters
दिव्य तत्त्व	Divine principle
दिव्य संपदा	Divine wealth
दीक्षित	Initiate
दीप्ति	Lustre
दुर्गबद्ध	Fortified
दुर्गरक्षित	Fortified
दूती	Embassy
दूध पिलाना	Suckle
दूरातिदूरवर्ती सत्ता	The Far
दूषण	Corruption
दृढ़संगी बनना	Cleave
दृष्टि	Gaze
देदीप्यमान	Radiant
देवता	Deity, godhead
देवत्व	Godhead
देवोन्मुख	Godward
दैत्य	Giant
द्युलोक	Heaven
द्रष्टा	Seer
द्रष्टा-संकल्प	Seer-will
द्रुतगामी (अश्व)	Swift (steed)
द्वैतकारी चेतना	Dualising consciousness
द्वैध करनेवाला	Dualiser

ध

धाम	Seat
धारक	Upholder
धुंधलापन	Obscurity
धूम्राच्छन्न	Smoke-obscured
ध्यान करना	Meditate

न

नमनीय	Plastic
नयी दृष्टिसे देखना	New-seeing
नये सिरेसे ढालना	New-moulding
निरपेक्ष सत्ता या अस्तित्व	Absolute being
निरंतर	Unremitting
निर्भ्रान्त	Infallible
निर्मलताकी धाराएं	Streams of clarity
निर्माता	Creator
निर्वासन	Exile
निर्वैयक्तिक	Impersonal
निश्चेतन	Inconscient
निष्पीडन करना	Compress
नृदेवता	Male godhead

प

पक्ष	Aspect
पथभ्रष्टता	Transgression
पदक्रम	Stride
पदार्थ	Object
परम	Supreme
परम-आनंद	Beatitude
परमानंदमय	Beatific

परम कल्याण	Supreme good
परम सत्य	Supreme truth
परात्पर	Transcendent
परिणीत	Espoused
परिचालक	Impeller
परिधान पहने हुए	Garbed
परिपूर्ण वैभव	Plenitude
परे	Transcendent
परंपरागत	Conventional
पशुपालन-संबन्धी	Pastoral
पाण्डित्यपूर्ण	Scholastic
पारदर्शी	Transparent
पाश	Cord
पाप	Sin
पुराणोक्त	Legendary
पुरोहित	Priest
पुंज	Mass
पूजा	Adoration
पूर्णता	Perfection
पूर्वज	Forefather
पृथक्कारी	Separative
पृथ्वीका पुत्र	Son of earth
पृथ्वीतत्त्व	Earth-principle
पृथ्वीमाता	Earth-mother
पोषण	Nurture
पोषण करना	Nourish
पौराणिक	Mythological
प्रकट करना	Reveal
प्रकाश	Illumination
प्रकाशक	Revealers
प्रकाशमय	Luminous
प्रगतिशील	Progressive
प्रचुर ऐश्वर्य	Opulence, abundance
प्रजाएं	Human peoples
प्रणाम	Obeisance
प्रतिष्ठित	Established
प्रतीक	Symbol
प्रदीप्त होना	Blaze
प्रबल प्रवाह	Floods
प्रबल शक्ति	Puissance
प्रभाव	Efficacy
प्रभुत्वपूर्ण आनंद	Possessive delight
प्रमुख	Pre-eminent
प्रवाहशील विकास	Flowing progression
प्रसूति	Travail
प्राक्कथन	Foreword
प्राक्कालीन	Antique
प्राचीन	Ancient
प्राचुर्यकी माताएं	Mothers of plenty
प्राणकी घोड़ियां	Mares of Life
प्राणमय अश्व	Life-horse
प्राणमय पुरुष	Life-soul
प्राणशक्तियां	Life-powers
प्राणशक्ति	Life-force
प्राणिक	Vital
प्राणी	Creature
प्राप्य	Accessible
प्रेरक	Impeller

ब

बलशाली	Puissant
बलसंपन्न	Vigorous
बलि	Victim
बारी-बारी	With alternation
बुद्धिमें सिद्ध	Accomplished in intellect
बंद द्वार	Seal
बंधन	Bondage
भयमुक्त	Fear-free
भय-संकट	Peril
भागवत मन	God-mind
भावप्रधान	Emotional

भासित होता हुआ	Agleam
भुवन	World
भूलभ्रांति-रहित	Unerring
भेदन करना	Penetrate
भ्रातृत्व	Fraternity

म

मधुवत् मधुर	Honey-sweet
मनकी यथार्थ अवस्था	Right-mindedness
मनोमय पुरुष	Mind-soul
मनोमय सत्ता	Mentality
मनोभौतिक	Psycho-physical
मनोवैज्ञानिक	Psychological
मन्यु	Wrath
मरणशीलता	Mortality
मरुत्-देवता	Storm-gods
मर्यादा	Decorousness
मानवता	Humanity
मार्गदर्शक	Guide
मुक्त करना	Deliver
मूर्त रूप देना	Embodying
मंत्र	Verse
मंथन	Churning

य

यात्रा	Journey
युगल	Twin
युद्धसंबंधी	Martial
यज्ञकर्ता	Officiating priest
यज्ञके अधिपति	Lords of sacrifice

र

रक्षक	Protector
रहस्य	Secret
रहस्यमय	Mystic
रहस्यमय उन्माद	Mystic intoxication
रहस्यमय गौ	Mystic cow
राक्षस	Demon
रूपक	Image
रेंगना	Crawl
रौद्र	Violent

ल

लयताल	Rhythm
लेन-देन करनेवाले	Traffickers
लोकोंका क्रम	Order of the worlds

व

वक्र	Curving
वक्षस्थल	Bosom
वज्र	Thunder-bolt
वनस्थली	Woodland
वर	Boon
वरणीय	Desirable
वर्धनशील आत्मा	Increasing soul
वशीभूत करना	Overcome
वाक्य-विन्यास	Syntax
वातावरण	Atmosphere
वासधाम	Habitation
वास्तविक सत्ता	Reality
वाहक	Bearer
विकास	Evolution
विघ्न-बाधा	Obstacle
विचारक	Thinker
विजयशील	Conquering
विदारक (वृक)	Wolf
विदारण करना	Tear up

विद्रोही	Recusant
विभाजक	Divider
विधान	Law
विरोध	Antinomy
विवेक-चेतना	Discernment
विवेकशील	Discerning
विशालता	Vastness
विश्लेषण	Analysis
विश्वके क्रमिक स्तर	Cosmic gradation
विश्वमयता	Universality
विस्तीर्ण, विस्तृत	Wide
विस्तृत पंखोंवाली	Wide-winging
विज्ञान (अतिमानस)	Supermind
वृषभ	Bull
वेदी	Altar
वैश्व	Cosmic
वैश्व सिद्धिको संपन्न करनेवाला	Universal fulfiller
वंशज	Posterity
व्यक्तित्व	Personality
व्यक्तित्वारोप	Personification
व्यवस्था करनेवाला	Ordainer
व्याख्या	Interpretation
व्याधि	Malady
व्यापार	Function
व्योम	Space

श

शक्ति	Strength
शक्तिशाली सत्ताएं	Mightinesses
शब्दावलि	Phraseology
शाश्वत	Eternal
शिखर	Altitude
शुद्ध चैत्य-अवस्था	Pure psychic state
शुद्ध मन	Pure mind
शोक-संताप	Grief
शोधित नवनीत (घृत)	Clarified butter
श्येन	Falcon

स

सक्रिय शक्ति	Active force
सत्ताका सारतत्त्व	Substance of Being
सत्य	Truth
सत्य-ऋत-बृहत्	Truth, Right, Vast
सत्यचेतना	Truth-consciousness
सत्यदर्शन	Truth-vision
सत्यश्रुतियां	Truth's inspirations
सत्य-सचेतन	Truth-conscious
सत्य-ज्ञान	Truth-knowledge
सत्र	Session
सत्स्वरूप (भगवान्)	Existent
सप्तजिह्व	Seven-tongued
समग्रबोधात्मक	All-comprehending
समग्र सत्ता	Integral being
समता	Equality
समर्पण	Offering
समस्वरता	Harmony, concordance
समस्वर करना	Harmonise
समानार्थक	Equivalent
समिधा	Fuel (Sacrificial)
समुद्र	Ocean

समृद्ध	Opulent
सरपट दौड़	Galloping
सर्पिल	Serpentine
सर्व-आवेष्टक	All-enfolding
सर्वग्राही	Comprehensive
सर्व-निरोधक	All-withholding
सर्व-प्रकाशक	All-illumining
सर्व-व्यापक	All-pervading
सर्वशक्तिशाली	All-puissant
सर्वसर्जक	All-creative
सर्वस्पर्शी	All-embracing
सर्वज्ञ	Omniscient
सर्वाभिव्यंजक	All-expressive
सर्वोच्च अनुभूति	Consummate perception
सर्वोत्पादक	All-engendering
सहमति	Acceptance
सहस्रवाचामय स्तोत्र	Thousand-voiced hymn
साधन	Device
साधना	Discipline
सामर्थ्य	Energy
सामंजस्य	Harmony
सारतत्त्व	Substance
सार्वभौम	Universal
सार्वभौमिकता	Universality
सिद्धांत	Doctrine
सिद्धि	Consummation, realisation
सीमा	Limitation
सुखमय सिद्धि	Happy culmination
सुझाव	Suggestion
सूक्त	Hymn
सूक्ष्म	Subtle
सूक्ष्मता	Subtlety
सूत्र	Formula
सृष्टि	Creation
सैन्यगण	Hosts
सौर जल	Solar water
सौर-देव	Sun-God
सौर लोक	Solar world
संकलन करनेवाला	Systematiser
संकल्प	Will
संकल्पशक्ति	Will-force
संतप्त	Afflicted
संबद्ध	Associated
संबंध-विच्छेद	Divorce
संभूति	Becoming
संयोजक लोक	Link-world
संशोधित रूप	Modification
संसिद्ध करना	Accomplish
संहिताकार	Systematiser
स्तर	Plane, strata
स्तुति	Adoration
स्तुतिगान	Affirmation
स्तोत्र	Chant
स्थूल	Gross
स्पृहणीय	Desirable
स्पंदन	Vibration
स्पंदित करना	Stir
स्रष्टा	Creator
स्व-उपलब्धिकारी	Self-discovering
स्वतः-प्रकाशमय	Self-luminous
स्वतःस्फूर्त	Spontaneous
स्वर्ग	Empyrean
स्वर्गलोक	Paradise
स्वायत्तकारी	Self-seizing
स्वोपलब्धि	Self-discovery

ह

हड़प जाना	Devour

हर्षोन्माद	Rapture	हर्षोल्लासमय	Rapturous
हर्षोल्लास	Rapture	हंस	Swan

ISBN 978-81-7058-049-2
Rs 190

... वेद तर्कशील बुद्धि की कवचबद्ध कठोरताओं से मुक्त है। अपने स्थापित प्रतीकों और पवित्र सूत्रों के रहते भी यह विशाल, मुक्त, लचकीला, तरल, नमनशील और सूक्ष्म है। यह जीवन की गति और आत्मा के विशाल निःश्वास से युक्त है। और जब कि परवर्ती दर्शनशास्त्र ज्ञान की पुस्तकें हैं और मुक्ति को एकमात्र परम निःश्रेयस मानते हैं, वेद कर्मों की पुस्तक है और जिस चीज की आशा से वह हमारे वर्तमान बन्धनों और क्षुद्रता को ठुकरा फेंकता है, वह है पूर्णता, आत्म-उपलब्धि और अमरता।... वेद मनुष्य की अमरता का सबसे प्राचीन धर्मग्रन्थ है जो हमें उपलब्ध है और ये प्राचीन छन्द अपने अन्दर अमरता के अन्तःप्रेरित अन्वेषकों के आदिकालीन अनुशासन को छिपाये हैं।

—श्रीअरविन्द